

श्री बाबू दुर्गाप्रसाद अध्यक्ष के प्रबन्ध से
श्रीदुर्गा प्रिंटिङ्ग प्रेस, धानमण्डी,
, अजमेर में मुद्रित.

* ओ३म् *

भाष्यकार की संक्षिप्त भूमिका

अथर्ववेद अर्वाचीन है ?

जगत् प्रसिद्ध चारों वेदों में चतुर्थ वेद अथर्ववेद है। बहुत से विद्वानों को इस अथर्ववेद के वेद होने में संदेह है। उनकी सम्मति में यह वेद तीन के बाद बना है। वे युक्ति देते हैं कि प्राचीन ग्रन्थों में बहुत से स्थानों पर केवल तीन वेदों का वर्णन आया है। जैसे ऐतरेय ब्राह्मण में "त्रयो वेदा अजायन्त।" तैत्तिरीय ब्राह्मण में 'वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः।' 'यम् ऋष्य-स्त्रयीविदो विदुः ऋचः सामानि यजूंषि।' इत्यादि। परन्तु उनका इस प्रकार उद्धरणमात्र को युक्ति रूप से देना असंगत है क्योंकि उन्हीं ग्रन्थों में चारों वेदों का उल्लेख भी है। जैसे मुण्डक उपनिषत् में—'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो' इत्यादि बृहदारण्यक (शतपथ) में—'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः।' इति।

तीन और चार संख्या की विषमता का समाधान यही है कि 'वेद-त्रयी' शब्द के प्रयोग के दो अभिप्राय हैं, एक तो यज्ञ का कर्म काण्ड प्रथम तीन वेदों से किया गया और चतुर्थ-वेद के ज्ञाता ब्रह्मा का यज्ञ में कोई कर्म विधान नहीं है। वह केवल साक्षी मात्र मौन होकर रहता है। अतः यज्ञ कर्म के सम्बन्ध में तीन वेदों का ही उल्लेख किया जाता है। तीन वेदों के कहने का दूसरा अभिप्राय यह है कि जैमिनीय मीमांसा के अनु-सार वेद की रचना तीन प्रकार की है, प्रथम 'ऋक्' जिसमें चरणों की व्यव-स्था है। द्वितीय 'साम' अर्थात् गीति या गायन प्रकार और तीसरी 'यजुः'

[illegible] परन्तु [illegible] ऋग्वेद का ज्ञाता होता, यजुर्वेद का ज्ञाता [illegible] उद्गाता और अथर्ववेद का ज्ञाता ब्रह्मा चारों ही [illegible] इसलिये ब्रह्मा सम्बन्धी ब्रह्मवेद या अथर्व-[illegible] से बाहर नहीं निकाल सकते और न कोई [illegible] कि जिसमें बने ग्रन्थ में तीन वेदों का वर्णन [illegible] न हो। जिन तैत्तिरीय आदि याजुष शाखा के [illegible] है उनमें ही 'अथर्वाङ्गिरोविद्' ब्रह्मा को [illegible] और [illegible] को भी स्वीकार किया गया है। जैसे ऐतरेय [illegible] बतलाये हैं एक वाणी और दूसरा मन। वाणी [illegible] यज्ञ और मन से शेष आधा यज्ञ ब्रह्मा द्वारा [illegible] अतिरिक्त अथर्व-वेद के मन्त्रों [illegible] भी जैमिनीय [illegible], साम, यजुः, पादव्यवस्था, गान, और गद्य [illegible] वेदता में कोई संदेह नहीं है। जिनको फिर [illegible] के लिये इतना लिखना पर्याप्त होगा कि चारों [illegible] प्रजापति से उत्पत्ति हुई है, इसका निदर्शक [illegible] प्रमाण है—

[illegible] सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
[illegible] तस्मात् यजुस्तस्माद् अजायत॥

[illegible] १० । [illegible] । ८॥ यजु० ३१ । ७॥ अथर्व० १७ । ६ । १३॥

इसी का अनुवाद करने हारा 'स्कम्भ' ब्रह्म-विषयक मन्त्र यह है—

यस्मादृचोऽपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ अथर्व० १० । ७ । २० ॥

उपरोक्त दोनों मन्त्रों में चारों वेदों का [illegible] होता है। जब वेद के ही भीतर चारों का नाम उल्लेख है तब उनके [illegible] ब्राह्मण

ग्रन्थ जो अत्यन्त अर्वाचीन ग्रन्थ हैं उनमें लिखे 'त्रयी' शब्द से भ्रम में पड़ना ठीक नहीं है। वेद ने अथर्व-वेद का ग्रहण 'छन्दस्' और 'अथर्वाङ्गिरस' दोनों नामों से किया है। जिन पाश्चात्यों के मत में 'त्रयी' शब्द से केवल ऋक्, यजु, साम संहितायें ली जाती हैं और अथर्व अर्वाचीन मान लिया गया है वे बहुत ही भ्रम में है। क्योंकि प्राचीन किसी भी ग्रन्थ में वे वैसा नहीं दिखा सकते। और उनको ध्यान में रखना चाहिये कि 'त्रयी' नाम केवल तीन प्रकार की रचना भेद से है। कोई कहते हैं कि पाणिनि ने 'अथर्व' का नाम नहीं लिया इसलिये 'अथर्ववेद' अर्वाचीन है। यह भी उनका भ्रम है जिस प्रकार शाकलादि शाखाओं का नाम ऋग्वेद प्रसिद्ध है उसी प्रकार शौनकादि संहिताओं का नाम अथर्ववेद प्रसिद्ध है। पाणिनिने 'शाकलाद्वा' (पा० ४। ३। १२८) और 'शौनकादिभ्यश्छन्दसि' (पा० ४। ३। १०५) दोनों ही सूत्रों में से ऋग्वेद और अथर्ववेद दोनों की शाखाओं का उल्लेख किया है। बल्कि अथर्ववेद पर प्रसिद्ध कौशिक सूत्र का भी पाणिनि को ज्ञान था जैसा 'काश्यपकौशिकाभ्यां णिनिः।' पा० ४। ३। १०३॥ सूत्र से विदित होता है। उसको अथर्व-वेद का भी ज्ञान था. इसका पता 'आथर्वणिकस्येकलोपश्च।' पा० ४। ३। १३३॥ इस सूत्र से पता लगता है। वहां 'आथर्वणिकानां धर्म आम्नायो आथर्वणः' ऐसा 'आथर्वण' शब्द सिद्ध किया है। इससे भी पूर्व निरुक्तकार यास्क तक ने अथर्व-वेद के मन्त्रों के प्रतीक दिये हैं जैसे—'शतं जीव शरदो वर्धमानः' (निरु० १२। ४। ७॥) 'एकं पाद नोत्खिदति' (निरु० १२। ३। १०) अथर्व० ११। ६। १॥ इसी प्रकार अथर्व और अंगिरा ऋषि प्रोक्त अथर्व के अनेक मन्त्र चारों वेदों में स्थल २ पर आये हैं जो पाठक प्रस्तुत ग्रन्थ में साथ दी तालिका से जान लेंगे।

वर्तमान की चारों वेद संहिताएं यज्ञ कांड के चार मुख्य स्कन्धरूप चार ऋत्विजों के निमित्त संहिताएं हैं, जैसे ऐतरेय ब्रा० (५। ३३) में लिखा है

'ऋचा एव हौत्रं क्रियते, यजुषा आध्वर्यवं, साम्ना औद्गात्रं, अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियते त्रय्या विद्यया इति ब्रूयात्।' अर्थात् होता का कार्य ऋग्वेद से, अध्वर्यु का कार्य यजुर्वेद से, उद्गाता का कार्य सामवेद से और ब्रह्मा का कार्य तीनों से किया जाता है। गोपथ ब्राह्मण में और भी स्पष्ट किया है कि 'अथर्वाङ्गिरोभिर्ब्रह्मत्वम्' अर्थात् ब्रह्मा का कार्य अथर्वाङ्गिरस वेद से किया जाता है। इस प्रकार चतुष्पाद् यज्ञ का निष्पादन करने के लिये संहिताएं चार प्रकार की प्रतीत होती हैं। इसके अतिरिक्त कर्म-काण्डप्रोक्त यज्ञ भी परम पुरुष का कर्ममय स्वरूप है। जब कर्मकाण्ड के एक चरण को करने के लिये ब्रह्मा और उसकी संहिता ब्रह्मवेद आवश्यक है तब यह यज्ञ जिस महान् परम पुरुष का प्रतिनिधि है उस का वर्णन करने के लिये भी 'ब्रह्मवेद' की आवश्यकता है। जब परमेश्वर स्वयं-प्रकाश है तो उसका वर्णन करने के लिये भी अपौरुषेय संहिताओं की ही आवश्यकता है। ऋषिगण तो उन संहिताओं के द्रष्टा, प्रयोक्ता और व्याख्याता मात्र हैं। और जिन महानुभावों को यह संदेह हो कि परमात्मा का प्रतिनिधि यज्ञ भी अथर्ववेद के बाद की कल्पना होगी उनको ऋग्वेद के नीचे लिखे मन्त्र का मनन करना चाहिये।

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतः।
अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिर्ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम॥

अथर्व० ६। १०। १॥

इस मन्त्र में विशाल यज्ञ का वर्णन यज्ञ को प्रतिनिधि रूप दर्शाते हुए किया है। और ब्रह्मा को समस्त वाणी (वेदवाणी) का 'व्योम'=स्थान बतलाया है, इसी प्रकार प्रजापति की महान् महिमा रूप ओदन वर्णन में—

ऋचा कुम्भी अधिहितार्त्विज्येन प्रेषिता॥ १४॥
ब्रह्मणा परिगृहीता साम्ना पर्यूढा॥ १५॥

अथर्व० ११। ३। १४, १५।

चारों वेदों का स्पष्ट वर्णन किया गया है। यहां 'ब्रह्म' शब्द से ब्रह्मवेद का ग्रहण है, ऋक् से ऋग्वेद का, आर्त्विज्य [ऋतु+यज्+य] से यजुर्वेद और साम से सामवेद का ग्रहण है। इसी प्रकार अथर्ववेद का वर्णन आप अथर्व० ११। ६। १३, १४॥ में भी पायेंगे।

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद के ऋषियों पर दृष्टि डालिये तो वेन भार्गव [ऋ० ६। ८५] भृगु वारुणि [६। ६५] विरूप आंगिरस [ऋ० ८। ४६] च्यवन भार्गव [१०। १६] कवि भार्गव [ऋ० ६। ४७—४६] अष्टादंष्ट्र वैरूप [ऋ० १०। १११] नभःप्रभेदन वैरूप [१०। ११२] मूर्धन्वान् आङ्गिरस [१०। ८८] बृहद्दिव आथर्वण [१०। १२०] ... आंगिरस [५। १५] प्रभूवसु आंगिरस [ऋ० ५। ३५—३६] ... आयुस्तूप आंगिरस [ऋ० १। १। २१—३५] सव्य आंगिरस [१। ५१—५६] सोमाहुति भार्गव [१। २। ५—६] आंगिरस ... की पत्नी शश्वती [ऋ० ८। १। ३४] इत्यादि अन्यान्य अथर्वा और अङ्गिरा गोत्रों के विद्वान् ऋग्वेद के ऋषि हुए हैं। यदि योरोपीयन विद्वानों का मत मान लें कि ये ऋषि ऋचाओं के कर्त्ता हैं, 'द्रष्टा' नहीं तब तो अथर्वा और अङ्गिरा और उनके वंशजों के बनाये अथर्ववेद की सत्ता ऋग्वेद के निर्माणकाल में ही सिद्ध हो जाती है। फलतः योरोपीयन लोगों का अथर्ववेद को ऋग्वेद के बाद का मानना उनके अपने मन्तव्य के अनुसार भी ठीक नहीं बैठता। हमारे मन्तव्य के अनुसार तो वे चारों वेद परमेश्वर के ज्ञान हैं और नित्य हैं, उनके मन्त्रों का साक्षात्कार ऋषियों ने किया है और उनके नाम मन्त्रों के साथ आदरार्थ जुड़े हैं।

बहुतसों का यह विचार है कि अथर्ववेद को बाद में अन्यवेदों से संगृहीत इस लिये मान लेते हैं कि उसमें अन्यवेदों के मन्त्र भी आये हैं, यदि संग्रह नहीं तो वे मन्त्र ज्यों के त्यों कैसे हैं। बहुत ठीक। परन्तु प्रश्न यह है कि

क्या भिन्न २ विचारकों के मस्तिष्कों में एक ही ज्ञान या विचार वैसा का वैसा ही आसकता है या नहीं ? यदि आ सकता है। तब तो एक ही ईश्वरीय ज्ञान (मन्त्र) दो मन्त्र द्रष्टाओं (विचारकों) के दिमाग में आगया इसमें विवाद ही नहीं। यदि कहें नहीं आता। तो यह माना नहीं जा सकता। आत्मा और शरीर के विषय में योरोपीयन तत्वज्ञ वर्गसन् और पूर्वी आचार्य वात्स्यायन के विचारों की तुलना करके देखलें। यदि दोनों की भाषाओं में भेद न होता तो प्रायः एक ही वाक्यधारा दोनों के मुख से या लेखनी से निकलती। परन्तु आर्षकाल में वेद की भाषा एक थी इस लिये उसके साक्षात् कर्त्ता ऋषियों ने उसका साक्षात्कार करके जब उपदेश किया तो स्थल २ पर एक समानता आ जाना क्या असम्भव है, अस्तु अब हम पुनः प्रकृत विषय पर आते हैं।

अथर्ववेदसंहिता

हमारे पास जो अथर्ववेद संहिताएं उपलब्ध हैं वे निम्नलिखित हैं—

(१) लीथो की छपी अथर्ववेद मूलसंहिता।

(२) अजमेर वैदिकयन्त्रालय में मुद्रित अथर्ववेदसंहिता।

(३) निर्णयसागर बम्बई में प्रकाशित अथर्ववेदसंहिता जिसका सम्पादन श्री पं० शङ्कर पाण्डुरंग एम. ए. ने सायणभाष्य सहित किया है।

(४) श्री क्षेमकरणदासजी त्रिवेदी (मेरठ) द्वारा मुद्रित निज भाषाभाष्य सहित। इन संहिताओं के अतिरिक्त अमेरिका की हार्वर्ड यूनिवर्सिटी द्वारा प्रकाशित पण्डित ह्विटनीकृत अथर्ववेद का आंग्लभाषानुवाद और उस पर पं० लेन्मन कृत विशेष टिप्पणी। एवं पं० ग्रीफ़िथ कृत आंग्लभाषानुवाद और उनकी स्वरचित टिप्पणियों से भी अथर्ववेद के मन्त्रों के नाना पाठभेद ज्ञात हुए हैं जिनका उल्लेख हमने अपने भाष्य की पाद-टिप्पणियों में प्रत्येक मन्त्र पर कर दिया है।

हमें इस संहिता के विषय में भी बहुत सा मतभेद दिखाई देता है। विशेष कर योरोपीयन विद्वानों ने अथर्ववेद संहिता के परिमाण पर बड़ी २ उलभी हुई शंकाएं उठाई हैं।

ह्विटनी के अनुवाद के भूमिका लेखक पं० लैन्मन ने लिखा है कि प्रथम १८ काण्ड तो अथर्ववेद संहिता के मूल हैं और १९, २० काण्ड पीछे से मिलाये गये हैं। आपकी युक्ति है कि—

(१) २० वां काण्ड केवल ऋग्वेद से संग्रह किया गया है। और अथर्ववेद से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसका प्रयोजन अनुमान से कल्पना किया जा सकता है।

(२) १९ वां काण्ड यह तो साफ़ परिशिष्ट है युक्ति यही कि इसका पाठ बहुत बिगड़ा हुआ है और पदपाठ भी इसका नवीन प्रतीत होता है।

(३) १ से १८ कांडों तक तो प्रपाठकों का क्रम मिलता है आगे प्रपाठक क्रम नहीं हैं।

(४) पुरानी अनुक्रमणी १८ काण्ड तक ही मिलती है।

(५) कौशिक सूत्रों में १९ वें और २० वें काण्ड के विनियोग नहीं लिखे।

(६) पञ्चपटलिका और उसके भाष्यकार ने भी अथर्ववेद का वर्णन १ से १८ तक ही किया है।

(७) पैप्पलाद शाखा में १९ वें काण्ड के मन्त्र तो बहुत से उपलब्ध होते हैं परन्तु २० वें काण्ड का कुछ भी उपलब्ध नहीं होता।

इसके अतिरिक्त पण्डित ग्रीफ़िथ महाशय ने तो ऋग्वेदादि तीनों वेदों का परिशिष्ट अथर्ववेद को माना है। साथ १९, २० दोनों काण्डों को परिशिष्ट या अर्वाचीन कहने में आपने एक और युक्ति दी है। अर्थात्—

(८) अथर्वप्रातिशाख्य में उनका वर्णन नहीं है।

योरोपीयन विद्वानों ने अथर्ववेद के परिमाण पर जो इतना विवाद उठाया है यह विवाद भारतीय विद्वानों ने कभी भी नहीं किया। इन सब के दादागुरु आचार्य सायण ने भी अथर्ववेद की शौनकीय शाखा के भाष्य करने के पूर्व इस प्रकार से १६, २० काण्डों को परिशिष्ट नहीं माना। संक्षेप से हम उपरोक्त युक्तियों पर विचार करते हैं।

(१) १६, २० काण्डों को ऋग्वेद से संग्रह किया गया है और शेष अथर्ववेद से कोई सम्बन्ध नहीं। क्या अच्छी युक्ति है। क्या १८ वें काण्ड के सूक्तों में ऋग्वेद से संग्रह किया नहीं प्रतीत हुआ? और इसी प्रकार पूर्व के काण्डों में भी कितने ही सूक्त संगृहीत कहे जा सकते हैं। तो फिर १८ वें को अथर्ववेद का मानना और १६ वें को पीछे का बनाया मानना हास्यजनक प्रतीत होता है। रही सम्बन्ध की बात, सो ह्विटनि ने हमें पूर्व १८ काण्डों तक में भी किसी एक सूक्त का दूसरे सूक्त से सम्बन्ध तक नहीं दर्शाया। फिर १८ वें पर यह दोष देना एक बाल-बुद्धि का परिचय कराता है।

(२) १६ वें काण्ड के पाठ का विगड़ा होना दूसरी युक्ति है। यदि पाठ विकृत है तो इस में शाखाभेद होने से पाठभेद होजाना कारण है न कि अथर्ववेद में इन काण्ड का पीछे से आजुड़ना। हस्तलिखित लिपियों में यदि पाठविकृति के नमूने देखने हों तो पैप्पलाद शाखा के पाठों को देखो जहां शुद्ध पाठ का पता ही नहीं चलता। लाचार होकर अशुद्ध पाठ को ही पैप्पलाद का पाठ मानकर उद्धृत कर देना पड़ा है। इससे पैप्पलाद, गत किसी मन्त्र को हम पीछे का नहीं कह सकते। लेखकों के प्रमाद से या व्याख्याता के पद-विपरिणाम से शाखाओं के मन्त्रों में पाठभेद हो जाते हैं इससे इतना ही कहा जा सकता है कि १६ वें काण्ड के पाठ-भेदों में बहुत विकार होगया है न कि उसको परिशिष्ट मान लिया जाय।

(३) प्रपाठकक्रम का न मिलना भी कोई १६, २० काण्डों के

परिशिष्ट होने में कारण नहीं, क्योंकि प्रपाठक क्रम सार्वत्रिक और सर्वसंमत नहीं। अथर्व में तो काण्ड, सूक्त, ऋचा और अनुवाक इतने ही प्रायिक विभाग हैं। किसी पाठशील आचार्य ने प्रपाठक क्रम भी इसी प्रकार बना दिया जैसे सामवेद में अध्याय क्रम पीछे से लगाया गया है। यदि हस्तलिपियों की विस्तृत कथा लिखें तो विदित हो जायगा कि बहुत कम हस्त लिपियां पूर्ण संहिता की प्राप्त हुई हैं। बहुतों में स्वर आदि एक ग्रन्थ के खंड में अंकित हैं दूसरे खण्ड में नहीं। फलतः, अभी तक योरोपीयनों के हाथ में प्रपाठक क्रम से विभक्त १९, २० काण्ड नहीं मिले यह तो ठीक है परन्तु इससे अथर्व-वेद में ये दो काण्ड नहीं है यह सिद्ध नहीं होता।

(४) पुरानी अनुक्रमणी १८ काण्ड की मिलती है यह भी कोई युक्ति नहीं क्योंकि बृहत्सर्वानुक्रमणी २० काण्ड की भी मिलती है। यह भी खण्डित ग्रन्थ से ही पं० लैन्मन् को भ्रम हुआ है।

(५) कौशिक सूत्र में विनियोग नहीं लिखे, अतः १९, २० कांड भी प्रक्षिप्त नहीं हो सकते। कारण, जिनके विनियोग नहीं हैं उनको वह लिखता भी क्यों ? उनका पाठ मात्र ही प्रयोजन है।

(६) पञ्चपटलिका और उसके टीकाकार का केवल १८ काण्डों का उल्लेख भी अथर्ववेद में १९, २० काण्डों को परिशिष्ट नहीं बना सकते क्योंकि बृहत्सर्वानुक्रमणी में २० काण्डों का विवरण दिया है। दूसरा १७, १८ काण्डों में पञ्चपटलिका ने आगा पीछा कर दिया है। इससे प्रतीत होता है कि यह पञ्चपटलिका शौनकीय संहिता की नहीं प्रत्युत किसी और १८ काण्डों वाली अथर्वशाखा की है।

(७) पैप्पलाद शाखा में २० वां कांड उपलब्ध नहीं होता अतः भी वह परिशिष्ट सिद्ध नहीं होता क्योंकि पैप्पलाद में १९ वें कांड के बहुत से मन्त्र उपलब्ध होते हैं, तिस पर १९ वें कांड को परिशिष्ट मानने का भ्रम तो पैप्पलाद ने काट दिया। और जब लेन्मन महोदय ने स्वयं देख लिया है

कि पैप्पलाद शाखा में १८ वां कांड नहीं है तो १८ वां कांड भी परिशिष्ट क्यों नहीं माना। पं० लैन्मन ने इस बात को लिख कर भी हलकी भाषा में टालना चाहा है।

(८) पं० ग्रीफ़िथ की दी प्रातिशाख्य वाली युक्ति भी संगत नहीं क्योंकि वह तो व्याकरण का ग्रन्थ है। उसमें कोई उदाहरण १६, २० कांडों में से नहीं आये इसलिये वह परिशिष्ट हैं, यह कितनी असंगत युक्ति है। यदि व्याकरण के सूत्रों के उदाहरण देते हुए किसी ग्रन्थ भाग में से कोई उदाहरण न आवे तो क्या उसका वह भाग परिशिष्ट हो जायगा? समझ में नहीं आता। क्या प्रातिशाख्य में अथर्ववेद के सभी मन्त्र उदाहरण के रूप में धर दिये हैं? क्या सभी सूक्तों में से मन्त्र प्रतीक आये हैं? नहीं। तो वे मन्त्र और सूक्त परिशिष्ट क्यों नहीं माने जाते?

बस, इस प्रकार से १६, २० काण्डों के सम्बन्ध में योरोपीयन विद्वानों के सभी तर्क संक्षेप से आलोचित कर दिये हैं।

अथर्वसंहिता की हस्तलिखित पुस्तकें

अब हम संक्षेप से अथर्व-वेद के हस्तलिखित पुस्तकों के विषय में कुछ लिखना चाहते हैं।

हस्तलिखित आदर्श पुस्तकों का अच्छा संग्रह और विवरण दो विद्वानों ने अच्छा किया है। एक तो पं० शंकर पाण्डुरंगजी एम० ए० ने, दूसरे पं० विलियम डी० ह्विटनी ने। इस कार्य में हम दोनों महानुभावों के ऋणी हैं। प्रथम ह्विटनी महोदय के निम्न लिखित आदर्श पुस्तक हैं।

पं० ह्विटनी के हस्तलिखित पुस्तक

(१) [B. P.] दो पदपाठ ग्रन्थ १८ कांडों तक। (क) [B. P.]
१-१० काण्ड तक सुन्दर शीघ्रता से लिखा गया, अधिक शुद्ध, एक समान

रीति से स्वराङ्कित। १५६३–४ ई० में लिखित किसी दूसरे ग्रन्थ से लिपि किया गया है। (ख) [B. P.[1b]] दूसरा आदर्श पुस्तक १०–१८ काण्ड तक। १८ वें कांड का अन्तिम एक पत्र नहीं है। यह तीन हाथों का लिखा है। पाठ अधिक शुद्ध है।

(२) [B. P.[2]] इस वर्ग में हस्तलिखित ग्रन्थ सम्मिलित है। (क) [B. P.[2a]] एक काण्ड मात्र, सुन्दर, उत्तमता से स्वरांकित, १६३२ ई० में लिखा गया। स्वरचिन्ह बराबर बदलते रहते हैं। (ख) [B. P.[2b]] ५–६ काण्ड तक। कागज़, आकार और हस्तलेख सर्वत्र समान है। तो भी दो भाग हैं। एक में केवल ५ वां काण्ड और दूसरे में शेष ६–६ काण्डों तक। अति शुद्ध।

(३) [B. या Bs.]—बर्लिन का आदर्श पुस्तक ६–२० तक। पाठ कुछ अशुद्ध और कीड़ों से खाई हुई। १६११ ई० में लिखित।

(४) [P. और M.] P. पैरिस पुस्तकालय की पुस्तक है। दो भागों में विभक्त। प्रथम १–१० काण्ड तक। दूसरा ११–२० काण्ड तक। M. का प्रथम भाग १–६ काण्ड तक। दूसरा ६–२० काण्ड तक। दोनों बहुत शुद्ध नहीं। सं० १८१२ वि०। स्वर रेखा से अंकित हैं।

(५) [W.] आक्सफोर्ड के बोडलीन पुस्तकालय की हस्तलिपि है। इसमें १८ वां काण्ड नहीं है। विलायती कागज़ पर लिखी गयी अर्वाचीन है। यह भी उसी मूल ग्रन्थ से उतारी गयी है जिससे P. और M. उतारी गयी है। क्योंकि इसमें प्रायः उनके समान ही अशुद्ध पाठ है। ६ वें काण्ड के अन्त में काल भी वही लिखा है। यह बहुत अशुद्ध लिखा गया है। १ म काण्ड ऋग्वेदानुसार स्वरांकित किया गया है।

(६) [E.] लंडनके इन्डियन लाईब्रेरीका ग्रन्थ है। १–२० काण्ड तक

पूर्ण है। उसमें १८ वें काण्ड का पिछला भाग नहीं है। कागज़ मोटा, भद्दा, लेख भद्दा। परन्तु पाठ शुद्ध है। स्वर चिन्ह नाना प्रकार के हैं।

(७) [I] लण्डन के ब्रिटिश म्यूज़ियम का ग्रन्थ है। अथर्ववेद दो भागों में समाप्त। प्रथम भाग में प्रथम १६, २० काण्ड लिख कर फिर १–१० काण्ड लिखे गये हैं। दूसरे भाग में अनुक्रमणी, गोपथ ब्राह्मण और फिर ६–१७ काण्ड। फिर १८ वां काण्ड। प्रत्येक खण्ड के पृथक् पत्रांक पड़े हैं। म० पोलियर के निमित्त ये सब ग्रन्थ लिखे गये प्रतीत होते हैं। इसमें आदि मन्त्र 'शं नो देवीरभिष्टये०' है।

(८) [H.] यह भी इन्डियन आफिस लाइब्रेरी का है। १–६ काण्डों तक। सुन्दर लिपि, पाठ कुछ अशुद्ध।

(६) [O.] म्यूनिच लाइब्रेरी का ग्रन्थ है। १–२० तक पूर्ण। १–६ कांडों तक पदपाठ सहित ५ भागों में। प्रथम विलायती कागज़ पर सूक्ष्माक्षरों में लिखित १–५ तक। शाके १७३७। दूसरा ६–१२ तक वामनजी लिखित सं० १६६०। जीर्ण पत्र। केवल १८ वां कांड बड़ा नियमित हाथ का लिखा है। शाके १७३५। इसके साथ १–३ तक पदपाठ और २० वां कांड। ४ थे खंड के १६ वां कांड प्रथम कांड के साथ। १–५ काण्ड तक की संहिता। ५ वें खंड में २० वां कांड ३ सरे कांड के साथ बंधा हुआ है। शाके १८३७।

(१०) [O. P.] हाग या म्यूनिच लाइब्रेरी की पदपाठ संहिता। इसमें १–४, १८ और २० वां कांड है। शाके १७३७। स्वराङ्कित, संशोधित, बहुत शुद्ध। इन खंडों में १ म खंड में १–३ तक पदपाठ और १८, २० की संहिता, २ य खंड में ४ थे कांड का पदपाठ, शाके १७३६। ३ य खंड में १८ ? का पदपाठ, शाके १७६२। २० वें कांड में अथर्ववेद के कुछ विशेष ? नहीं है।

(११) [R.] टूबिंनूजन यूनिवर्सिटी में पं० रोथ संगृहीत। दो खंडों में। १ खंड में १-१० तक, दूसरे में ११-२० कांड तक। शाके १७४६। २० वें कांड के अन्त में शाके १६२६। बनारस में एक ब्राह्मण से प्राप्त। लेखक का नाम पटुवर्धन विट्ठल। अति शुद्ध।

(१२) [T.] तंजोर के ग्रन्थ की प्रतिलिपि। १-४ तक स्वरचिन्ह रहित। शेष स्वराङ्कित। १०-२० कांड तक पूर्ण।

(१३) [D.] डेकन कालेज पूना का ग्रन्थ। १८ वां कांड स्वररहित, अशुद्धप्रायः। १७ वें का पदपाठ भी है। २० वें का पदपाठ कुछ भागों को छोड़ कर।

(१४) [L.] बर्लिन लाइब्रेरी का ग्रन्थ, केवल १७ वें कांड तक।

(१५) [K.] बीकानेर पुस्तकालय का ग्रन्थ, पूर्ण, सं० १७३५। १६०० । पत्तन नगर के राजा अनूपवर्धन के अधीन 'अम्बागशेण' द्वारा लिखित। साथ ही पदपाठ संहिता, स्वररहित।

पं० शंकर पाण्डुरंग के हस्तलिखित ग्रन्थ

(१) [A.] अहमदाबाद निवासी जयशंकर हरिशंकर अथर्व-वेदी ब्राह्मण का ग्रन्थ। २००, ४०० वर्ष प्राचीन। स्वरांकित। उदात्त चिन्ह अक्षर के शिर पर लाल बिन्दु। १८ वां काण्ड स्वर रहित। अति शुद्ध। १-१६ काण्ड तक।

(२) [B.] अथर्व-वेदी ब्राह्मण बापूजी जीवनराम बीसानगर, (लूनवाड़ा) का ग्रन्थ। शुद्ध। १६ और २० के २६-३२ सूक्तों को छोड़ कर शेष पूर्ण। गणेशभट्ट दादा संशोधित। ११ वां, १२ काण्ड दूसरे हाथ का लिखा हुआ। सं० १७२०, आश्विन शुक्र ३।

(३) [B. P.] बापूजी जीवनरामजी वैदिक ब्राह्मण को समग्र वेद कण्ठस्थ था। उसके पाठ के अनुसार शुद्ध किया हुआ ग्रन्थ। वह वैदिक

गणेशभट्टदादा का शिष्य था। १८ वां काण्ड उसे याद नहीं था। वह कांड चिता और अन्त्येष्टि विषयक होने से अनिष्टजनक समझ कर घर में नहीं पढ़ा जाता था। अतः वह काण्ड जंगल में सुनाया गया।

(४) [B.] दो खंडों में। १ में १–१० काण्ड तक। १८ वें को छोड़ कर शेष सब।

(५) [C.] प्राचीन ग्रन्थ ११–२० तक। डेकन कालेज पूना का। २० वां अतिरिक्त पत्राङ्कित। रेखा-स्वराङ्कित। अति शुद्ध।

(६) [D.] डेकन कालेज पूना का। १८ वें को छोड़ शेष सब कांड। १६, २० पृथक्-पत्राङ्कित।

(७) [E.] अति प्राचीन पुस्तक का खंड मात्र, १०–१७ तक और १० वें के पिछले २½ मन्त्र और २० वां काण्ड प्रारम्भ के ४ सूक्त, २ मंत्रों को छोड़ कर। १८, १६ दोनों काण्ड नहीं हैं। १८ के २ मन्त्र हैं। लाल विन्दु से स्वराङ्कित।

(८) [K.] केशवभट्ट विनदाजी भट्ट अथर्ववेदी ब्राह्मण। संहिता और पदसंहिता कण्ठस्थ थीं। १८ वें को छोड़ समस्त याद थी।

(६) [K^m] केशवभट्ट लिखित ग्रन्थ।

(१०) [R.] जूनागढ़ के सुन्दरजी दुर्गाशंकर का। दो खंडों में। १म में १–१० तक। २ य में ११–२० तक। सं० १६५२।

(११) [S^m.] १८ वें को छोड़ शेष सब। १८ वें के वीच के पत्र ग्रन्थ में से निकाल लिये गये थे। जूनागढ़ के सदाशंकर धनशंकर का। प्रारम्भ में—' ओं नमो ब्रह्मवेदाय ॥ ओं शन्नो देवी० '।

(१२) [V.] अथर्व-वेदी वेनकम भट्टजी का। ये उत्तम वेदपाठी और

अग्निहोत्री थे । संहिता, पदपाठ कंठस्थ । वह कौशिक गृ० सूत्र को भी जानता था ।

(१३) [Dc.] १–२० तक पूर्ण ।

(१४) [Cs] पूर्ण, १८ वां नहीं है । शुद्ध । गुजरात से प्राप्त ।

(१५) [S.] सायण भाष्य । जिसके आधार पर निर्णयसागर प्रेस में 'सायण-भाष्य' छापा गया है ।

हस्त लिपियों के संक्षिप्त विवरण से एक बात तो यह स्पष्ट हो जाती है कि किसी भी हस्तलिखित ग्रन्थ में १६, २० काण्डों को परिशिष्ट नाम से उल्लेख नहीं किया । दूसरे, पाठकों को विदित हो जायगा कि पुराने विद्वान् ब्राह्मण कितने यत्न से वेदों की रक्षा करते रहे । तीसरे, वेदों की वर्त्तमान में इतनी दुर्दशा हो गयी थी कि पूर्ण ग्रन्थ भी कितना दुष्प्राप्य हो गया था । इससे वर्त्तमान के प्रकाशित अथर्ववेद के संहिता के पुस्तकों पर भी प्रकाश पड़ता है । निर्णयसागर का प्रकाशित अथर्ववेद बहुत शुद्ध है । अजमेर मुद्रित संहिता प्रकाशित संहिताओं में सब से अधिक अशुद्ध है । हमने निर्णय सागर के मुद्रित पाठ को मुख्य मान कर ही अपने ग्रन्थ की संहिता को स्थिर किया है । और पाठान्तरों को देकर संन्दिग्ध पाठों का विवेचन किया है ।

आदि मन्त्र

व्याकरण महाभाष्यकार मुनि पतञ्जलिने परपशान्हिक में * अथर्ववेद का प्रथम मन्त्र 'शं नो देवी रभिष्टये०' माना है । परन्तु वर्त्तमान उपलब्ध अथर्वसंहिताओं में प्रथम मन्त्र 'ये त्रिषप्ताः०' है । इसका समाधान यह है

* "वैदिकाः खल्वपि 'शन्नोदेवीरभिष्टये' । इषे त्वोर्जेत्वा । अग्निमीळेपुरोहितम् । अग्न आयाहि वीतये ।" इति पातञ्जल महाभाष्ये ।

कि आदि मन्त्र ' ये त्रिषप्ताः० ' यही है। परन्तु अथर्ववेदियों में मङ्गल के रूप से प्रथम ' शं नो देवी० ' मन्त्र का पाठ मात्र कर लिया जाता था। जैसा कि ह्विटनी और पं० शंकरपांडुरंग M. A. संगृहीत हस्त लिपियों में से कई में पाया जाता है। हमने इसी रीति से आदि में ' शं नो देवी० ' मन्त्र पढ़ दिया है। दूसरे, पैप्पलाद शाखा का प्रथम मन्त्र भी ' शं नो देवी० ' मन्त्र है। और शाखाओं के ग्रन्थ सर्वथा ही प्राप्त नहीं हुए।

अथर्ववेद के शाखाभेद।

चरणव्यूह परिशिष्ट में अथर्ववेद का शाखा-भेद इस प्रकार लिखा है—

" तत्र ब्रह्मवेदस्य नव भेदा भवन्ति। तद्यथा पैप्पलादाः। स्तौदाः। मोदाः।
शौनकीयाः। जाजलाः। जलदाः। ब्रह्मवेदाः। देवदर्शाः। चारणवैद्याश्चेति ॥१॥
तेषामध्यायानां ऋचो द्वादशसहस्राणि अशीति त्रिशतानि च।
पर्यायिकं द्विसहस्राण्यन्यांश्चैवार्चिकान् बहून्। इति ॥ २ ॥
एतद्ग्राम्यारण्यकानि षट्सहस्राणि भवन्ति " ॥ ३ ॥

ब्रह्मवेद के ९ भेद होते हैं—पैप्पलाद, स्तोद, मोद, शौनकीय, जाजल, जलद, ब्रह्मवद, देवदर्श और चारणवैद्य। उन सब के अध्यायों (=पाठों) की १२३८० ऋचाएं, २००० पर्याय सूक्त और अन्य भी बहुत से आर्चिक (ऋगण) हैं। ये ग्राम्य और आरण्यक मिलकर छः सहस्र होते हैं। विष्णुपुराण में—

अथर्वणामथो वक्ष्ये संहितानां समुच्चयम्। अथर्ववेदं स मुनिः सुमन्तुरमितद्युतिः ॥१॥
शिष्यमध्यापयामास कबन्धं सोपि तं द्विधा। कृत्वा तु देवदर्शाय तथा पथ्याय दत्तवान् ॥२॥
देवदर्शस्य शिष्यास्तु मेधो[1] ब्रह्मबलिस्तथा। शौल्कायनिः पिप्पलादस्तथाऽन्यो द्विजसत्तम ॥ ३
पथ्यस्यापि त्रयः शिष्याः कृता यैर्द्विज संहिताः। जाबालिः[2] कुमुदादिश्च तृतीयः शौनको द्विज ॥४*

---

* शब्द कल्पद्रुमोद्धृतविष्णुपुराणोद्धरणे। १, 'मेधो ब्रह्म-', २, ' जाजलिः ' ।

शौनकस्तु द्विधा कृत्वा ददावेकां तु बभ्रवे । द्वितीयां संहितां प्रादात् सैन्धवाय[३] च संज्ञिने ।
सैन्धवान्[४] मुञ्जिकेशश्च द्वेधा भिन्नास्त्रिधा पुनः ॥ ५ ॥

अथर्वेद की शाखाओं के विषय में यह लिखा है कि—वेदव्यास के शिष्य सुमन्तु ने कबन्ध को पढ़ाया । उसने पुनः दो संहिताएं करके एक 'देवदर्श' को और दूसरी ' पथ्य ' को दी । देवदर्श के चार शिष्य थे, मेध, ब्रह्मबलि, शौल्कायनि, और पिप्पलाद । पथ्य के तीन शिष्य थे, जाबालि, कुमुदादि और शौनक । शौनक ने दो संहिताएं बना कर बभ्रु और सैंधव को दीं, सैंधव ने मुंजिकेश को दी । इस प्रकार यह दो संहिताएं भी तीन भेद में फट गयीं ।

वाचस्पत्य बृहदभिधान में इन नौ शाखाओं का एक और भी रूप लिखा है । "अथर्वस्य नव शाखाः । पैप्पलादा, शौनकी, दामोदा, औत्ता, ब्रह्मदा, पराशौनकी[?], देवदर्शी, चारणविद्याचेति । तेषामध्ययनं द्वादशैव सहस्राणि भवन्ति । कल्पे कल्पे पञ्चशतानि भवन्ति ।"

उक्त कोष में ही अन्यत्र लिखा है—

'अथर्ववेदस्य नव भेदा भवन्ति । पैप्पलाः, दान्ताः, प्रदान्ताः स्नाताः, स्नौताः, ब्रह्मदावलाः, शौनकी, देवदर्शती चरणविद्याश्च [दाता, प्रदाता, औत्ता, ब्रह्मदीवशी, वेदशी[?], इति भाष्येन मतान्तरम्] तेषामध्ययनं पञ्चकल्पानि भवन्ति । नक्षत्रकल्पो विधानकल्पः संहिताकल्प आंगिरसकल्पः शान्तिकल्पश्चेति ।'

उक्त कोश में ही हेमाद्रिका अवतरण दिया है—

'अथो अथर्ववेदस्य नव भेदा भवन्ति । पिप्पलादाः वर्मदाश्च भूतायनाः कातयस्तथा । जज्वला ब्रह्मवेदाश्च शौनकी कनस्त्री तथा । वेद ऋषिः चौरविद्या तेषामध्ययन शृणु ॥'

---

३. ' सैंधवायन संज्ञिने ', ४. सैधवा मुञ्जकेशाश्च भिन्नभेदा द्विधा पुनः ' । इति पाठभेदाः ॥

वाचस्पत्यबृहदभिधानोद्धृत विष्णुपुराणोद्धरणे–१ मौद्गो ब्रह्म-, ४ ' सैन्धवमुंजकेशाभ्यां भिन्ना वेदा द्विधा ' इति पाठभेदः ।

ख.

	अथर्व० परि०	वि० पु०	वाच० 1	वाच० 2	हेमाद्रि
१	पैप्पलादाः,	पिप्पलादः	पैप्पलादा	पैप्पलाः	पिप्पलादा
२	स्तौदाः ?				
३	मोदाः	मेधः, मोदः, मौद्गः ?	दामोदा		
४	शौनकीयाः,	शौनकः	शौनकी	शौनकी	शौनकी
५	जाजलाः	जाबालिः			जज्वला
६	जलदाः				
७	ब्रह्मवदाः	ब्रह्मबलिः	ब्रह्मदा	ब्रह्मदावला ? ब्रह्मदावशी ?	
८	देवदर्शाः	देवदर्शः	देवदर्शी	देवदर्शती, वेदशी ?	वेदऋषि
९	चारणवैद्याः		चारणविद्या	चरणविद्या	चौरविद्या
		कुमुदादिः	औसा ?	औसा ?	वरमंदाः ?
		बभ्रुः		दाता, दांता,	भूतायनाः
		सैंधवः, सैंधवायनः		प्रदाता, प्रदांता	कातयः ?
				स्नौता ?	कनस्वी ?
				स्नाता ?	

उपरोक्त सारणी से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये सब लेखक तुक लगा कर लिखने वाले हैं। इनमें से एकने भी नव शाखाओं को नहीं देखा। इनमें पैप्पलाद और शौनकीय शाखाएं सर्वत्र समान हैं शेषों के शुद्ध नाम भी

न... मिलते । विष्णुपुराण की 'कुमुदादि' जलद शाखा प्रतीत होती है। वाचस्पत्य प्रोक्त 'औष्ठ' 'स्तौद' शाखा है हमारी सम्मति में 'औष्ठ' और स्तौद या तौद तीनों नाम अशुद्ध प्रतीत होते हैं। यही 'स्तौत' 'स्नौत' नामसे भी कहा गया है। कदाचित् यह शुद्ध शब्द 'औत' या 'स्नौत' है। उपरिलिखित वत्मेदाः, भूतायनाः, कातयः, कनस्वी, इन ४ का पता ही ... चलता ये क्या हैं।

इन सब का अध्ययन प्रमाण १२००० श्लोक परिमाण बतलाया है। ...व्यूह परिशिष्ट में इनका परिमाण १२३८० बतलाया है। वाचस्पत्य के ...ण में "कल्पे कल्पे पञ्चशतानि भवन्ति" लिख दिया है। इससे पांचों ...पों में १५०० और ६ वों शाखाओं में १२००० ऋचा का बोध होता है। ...तु ये सब अभी जुबानी बातें हैं। इस प्रकार नये नपाये ग्रन्थों का अब भाव है।

वर्तमान अथर्ववेद में ५९७७ मन्त्र विद्यमान हैं। इस संहिता को पूर्वोक्त पांच कल्पों में संहिता कल्प के नाम से लिखा है। अभी ये ... बातें अगले खोज करने वालों के लिये हम यहां ही छोड़ते हैं।

पांच उपवेद

अथर्ववेद से उतर कर इसके पांच वेदों का उल्लेख गोपथ ब्राह्मण [१ । १०] में किया है। सर्प वेद, पिशाच वेद, असुर वेद, इतिहास वेद और पुराण वेद ये पांच अथर्ववेद के उपवेद कहे हैं, उन उपवेदों के विषय में शतपथ ब्राह्मण (१३ । ४ । ३ । ६–१३) में लिखा है—(१) वरुण ...आदित्य राजा की प्रजाएं गन्धर्व हैं। वे येही नवयुवा पुरुष हैं, उनके लिये अथर्वन् वेद है। (२) वैष्णव सोम राजा की प्रजा अप्सरायें हैं। वे सुन्दर स्त्रियां हैं। उनके लिये आंगिरस वेद है। (३) अर्बुद काद्रवेय राजा की प्रजाएं सर्प हैं, वे ये सर्प, और सर्पविद्या के जानने वाले हैं उन

के लिये 'सर्पविद्या वेद' है। (४) कुबेर वैश्रवण राजा की प्रजाएं 'रक्षः' हैं, वे ये सेलग, लोग हैं। उनके लिये 'देवजनविद्या वेद' है। (५) असित धान्व राजा की प्रजा असुर हैं वे ये कुसीदी (सूदखोर) हैं। उनका वेद मायावेद है। (६) मत्स्य सांमद राजा की प्रजा उदकचर हैं। वे ये मत्स्य और मत्स्यघाती जीव हैं उनका इतिहास वेद है। (७) वैपश्यत राजा की प्रजा 'वयस्' हैं। ये वे वायुविद्या के ज्ञाता हैं उनके वेद पुराण वेद हैं।

इस शतपथ के उद्धरण में इन वेदों को इन २ प्रजाओं का उपदेश करने का विधान भी किया है। अतः उस समय इन वेदों की पृथक् सत्ता प्रतीत होती है। नवयुवकों, स्त्रियों, सर्प चिकित्सकों, पर्वत-निवासियों, व्यापारियों, समुद्रयायियों और वायु-विहरण करने हारों के लिये उनके उपयोग के भिन्न २ वेद थे। और वे गोपथ के मत से अथर्ववेद के उपवेद माने जाते थे।

इसके अतिरिक्त, महर्षि दयानन्द ने 'आयुर्वेद' को अथर्ववेद का उपवेद माना है। चरण व्यूह के मत से अथर्व-वेद के उपवेद 'शस्त्र शास्त्र' माने हैं। हेमाद्रि ने तन्त्रों को अथर्ववेद का उपवेद माना है।

हमारी अपनी सम्मति है कि शस्त्र शास्त्र, तन्त्र आदि का समावेश गोपथ प्रोक्त पांचों वेदों में आ जाता है। इसीलिये उनको पृथक् नहीं कहा गया। उक्त सभी विद्याओं के मूल सूक्त अथर्ववेद में हैं इसमें भी कोई सन्देह नहीं है। कौनसी विद्या किस स्थान पर कही गयी है इसके लिये पाठक लोग अथर्ववेद की विषयसूची से ही देख सकेंगे और सुगमता से उस विषय को पा सकेंगे। इसी प्रसंग में हम महर्षि दयानन्द के इस सिद्धान्त को दोहराना चाहते हैं कि शाखा ग्रन्थ भी व्याख्या ग्रन्थ हैं। कदाचित् नव शाखा भेद विषय भेद से ही हों। जहां तक हमारा अनुमान है 'चारण-वैद्य' शाखा में शायद चरक-विद्या, या आयुर्वेद का विज्ञान

हो। देवदर्श शाखा में भौतिक विज्ञान हो, 'ब्रह्मवद' शाखा में ब्रह्मज्ञान, 'जलद' शाखा में जल विज्ञान, 'जाजल' या 'जज्वलि' में अग्नि विज्ञान हो। 'शौनक' शाखा में विशेष रूप से व्यापक ब्रह्म की शक्ति को प्रदर्शन किया हो, मोद' या 'मेध' शाखा में आयु और बुद्धि वर्धन के उपाय दर्शाए हों, पैप्पलाद में ब्रह्म और जीव के कर्त्तव्यों का विशेष विधान हो। जब तक इन शाखाओं के व्याख्यान रूप ब्राह्मण ग्रन्थ आदि उपलब्ध नहीं होते या प्रचलित कल्प ग्रन्थों से अतिरिक्त कोई रहस्य-ग्रन्थ नहीं प्राप्त होते तब तक हम इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सकते। तन्त्रों में विद्युज्जिह्व तन्त्र, रसार्णव तन्त्र आदि बड़े विज्ञानपूर्ण ग्रन्थ हैं। सर्प वेद या विष-विज्ञान (Toxicology=तक्षक-विद्या) भी कोई कम रहस्य का विज्ञान नहीं है। असुर-वेद या माया-वेद अर्थवेद मालूम होता है। समुद्र यात्रियों और वायु-विहारियों के लिये इतिहास और पुराणवेद का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि जैसी २ घटनाएं घटें उनसे इनको अपने कार्य के लिये विज्ञान का संग्रह करना चाहिये। शस्त्रास्त्र विद्या धनुर्वेद है।

अथर्ववेद के भाष्य और अनुवाद

हमारे सामने पं० ह्विटनी और पं० ग्रीफ़िथ के अंग्रेजी अनुवादों के अतिरिक्त शंकरपाण्डुरंग सम्पादित सायण भाष्य और श्री क्षेमकरण त्रिवेदी रचित भाषाभाष्य उपस्थित हैं। ये सभी भाष्यकार हमारे लिये आदर के पात्र हैं। हमने अपने तुच्छ श्रम से अथर्ववेद के रहस्यों को स्पष्ट करने का यत्न किया है। योरोप के अनुवादकों पर तो सायण के विचारों और कौशिक सूत्रों का गहरा रंग है। जिन कांडों पर सायण का भाष्य प्राप्त नहीं है उन स्थलों पर प्रायः कौशिक सूत्र के विनियोग देख कर तदनुसार शब्दों और वाक्यों का अर्थ कर दिया है। इस प्रकार वेदमन्त्रों में से उत्कृष्ट अर्थ निकलता है या हीन अर्थ निकलता है, बुद्धिपूर्वक सत्यार्थ निकलता है या अबुद्धिपूर्वक ऊटपटांग अर्थ निकलता है इसकी सर्वथा परवाह नहीं की गयी। और जहां वाक्य

समझ नहीं आया वहां प्रश्नार्थक चिन्ह [?] और उस पर 'अस्पष्ट' इत्यादि टिप्पणियां लगादी हैं। तो भी शब्दार्थ रचना पूर्ण करने के लिये अर्थ अवश्य कर दिया है। उनके इस तरह के अनुवादों से वेदों का गौरव कम हो गया है और अनुवादों को पढ़ने वालों के चित्त में वेद के उलटे सूधे अर्थ बैठ जाने पर फिर सत्यार्थ की प्रतीति होनी ही असम्भव हो जाती है।

उनसे बढ़ कर सायण-भाष्य है। सायणाचार्य भाष्यकारों में से एक प्रौढ़ भाष्यकार हैं। वे वैदिक साहित्य के अगाध सागर हैं। परन्तु अथर्ववेद का भाष्य करते समय कौशिक सूत्र के विनियोगों ने सायण के हृदय पर भारी शृंखलाएं बांध दी हैं। इसलिये सायण किसी स्थान पर स्वतन्त्र वेद-भाष्य न कर सके। प्रत्युत उत्तम २ सूक्तों का भी ऐसा अनर्थकारी अर्थ कर दिया है जिससे वेद की शिष्टता में भी संदेह होने लग जाता है। और इसी कारण सायण को बहुत से स्थलों पर अन्धविश्वास और अज्ञान-पूर्ण अर्थ करने पड़ गये हैं। जैसे अभीवर्त्त मणि आदि जड़ पदार्थों पर शत्रुनाश, राष्ट्रवृद्धि करने आदि अर्थ के विशेषणों का लगा देना [अथर्व० १। २९ सू०]; स्त्रियों के दुर्भगा करण आदि [अथर्व० १। १४], दुष्टाचारियों के अश्लील कार्यों का मन्त्रों में से अर्थ निकाल देना, ऊटपटांग कार्य से बड़े २ रोगों को दूर भगाने की चेष्टा करने परक अर्थ [अथर्व० १। २२] करना आदि २, कौशिक सूत्रोक्त विनियोगों के वशीभूत होकर सायणाचार्य के किये अनर्थों का अच्छा नमूना है। हमने अपने भाष्य में स्थान २ पर सायणकृत अर्थों की त्रुटियां दर्शायीं हैं।

इसी प्रकार विनियोगों के चक्र में योरोपीयन अनुवादक भी पड़े हुए हैं।

वर्तमान समय में श्री पं० क्षेमकरणदासजी त्रिवेदी ने जो अथर्ववेद का भाष्य रचा है वह स्वतन्त्र और अन्यों की अपेक्षा अधिक गम्भीर और युक्ति पूर्ण है। परन्तु लेखनशैली कई स्थानों पर प्रति-शब्दानुवाद करते हुए

इतनी अस्पष्ट हो जाती है कि नीचे लिखे भावार्थ और शब्दों में भारी अन्तर आ जाता है। और बहुत से अस्पष्ट स्थलों पर व्याकरण के बल पर अर्थ कर दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि वेद के ऊपर पं० क्षेमकरणजी का किया श्रम अवश्य प्रशंसनीय है।

अथर्ववेद में जादू टोना

कौशिक सूत्रों के विनियोगों ने ही योरोपीयन विद्वानों और सबसे प्रथम सायण, तदनुसारी अन्य विद्वानों और सर्व साधारण जनता तक के बीच में यह ज़बर्दस्त भ्रम फैला दिया है कि अथर्ववेद में 'जादू टोना' बहुत अधिक है। परन्तु इस स्थल पर हमें आश्चर्य से कहना पड़ता है कि हमें समस्त अथर्ववेद में किसी स्थान पर भी 'जादू-टोना' प्राप्त नहीं हुआ। भ्रमनिवारण के लिये हम कुछ दिग्दर्शन कराते हैं।

(१) प्रथम कांड के प्रथम सूक्त का विनियोग 'मेधा-जनन' कर्मों में किया गया है। कौशिक ने मेधाजनन कर्म बहुत से गिनाये हैं जैसे गूलर, ढाक, वट आदि की समिधाओं का आधान करना, धान, जौ, तिलों की आहुति देना, खीर, भात आदि पुष्टिप्रद पदार्थ खाना, उपाध्याय को भिक्षा देना, सोते हुए उपाध्याय के कान में सूक्त का जप करना, घी मिले धान्यों का होम करना, तिल धान की आहुति कर शेषों का खाना, तोता मैना आदि की जिह्वा का बन्धन और उनको खिलाना इत्यादि। उन कार्यों को करते हुए 'ये त्रिपप्ताः०' इत्यादि सूक्त को जपना चाहिये। इसी प्रकार उपनयन के दिन विद्यार्थी इस का जप करें। ग्रामसम्पत्ति की इच्छा से इस सूक्त से समिदाधान करें। समस्त सम्पत्ति चाहने वाले इस सूक्त से अपने बायें हाथ से रक्त निकाल उससे दधि, घी, मधु, जल मिलाकर खावें। युद्ध से शत्रु के हाथियों को भगा देने के लिये इसी सूक्त से उचित उपाय करे। पुष्टिकर्म, तेजः-प्राप्ति, पुत्र प्राप्ति आदि सभी कार्य इस सूक्त से करने लिखे गये हैं।

परन्तु पाठक देख सकते हैं कि इस सूक्त के चारों मन्त्रों में कहीं भी उक्त कार्यों का उल्लेख नहीं है। सारे सूक्त में १म वल प्रार्थना, २य-ज्ञान प्रार्थना और ३य विद्यावृद्धि की प्रार्थना की गयी है। परन्तु कल्पकार ने बुद्धिवर्धक, बल और वीर्य से सम्बद्ध सभी कार्यों से इस सूक्त का सम्बन्ध कर दिया है। कल्पकार क्योंकि केवल क्रियामात्र का निर्देश करता है और क्रिया का फल से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं दर्शाता क्योंकि क्रिया और फल का सम्बन्ध दर्शाना उसका कार्य नहीं, वह रहस्य होने से आचार्य का कर्त्तव्य है, अतः सर्व साधारण के सामने यह एक जादू के समान प्रतीत होता है और लोग इस कर्म को अन्धविश्वास से अदृष्ट द्वारा फलजनक मान लेते हैं और कोई मन्त्र का वल या कोई मन्त्रोक्त देवता का प्रसाद मान लेते हैं। ये विनियोग इस प्रकार से बड़ा अनर्थ फैलाने वाले हुए हैं। कल्पकार कौशिक ने जितने कर्म 'मेधाजनन' या बुद्धि-उत्पादक बतलाये हैं उनमें कितनी सत्यता है यह हमारा यहां विषय न होने से इस प्रसङ्ग में हम कुछ नहीं कहते, तो भी इतना अवश्य कहेंगे कि कौशिक सूत्रोक्त विधान अपने मूल में एक सत्य रखते हैं। वह सत्य सर्वत्र एकसा नहीं है, प्रत्युत भिन्न २ प्रकार का है। कल्पों का रहस्यों के सहित ज्ञान करने से उन तत्वों का पता लग सकता है। जैसे इसी स्थान पर देखिये। वेद में वाचस्पति और वसोष्पति आचार्य और परमेश्वर से शरीर में बलों की और श्रुत=वेदोपदेश को धारण करने की प्रार्थना की है। प्रथम सूक्त के चार मन्त्रों में विचार या दृढ़ संकल्प किया है। पर उसको प्राप्त कैसे करें यह प्रश्न उठता है। कल्पकार उसका उपाय दर्शाते हैं। जैसे—(१) विद्यार्थी गूलर, वट, ढाक की समिधाएं अग्नि में रखे। अर्थात् जिस प्रकार अग्नि में काष्ठ रखने से शीघ्र जल कर प्रकाशित होता है उसी प्रकार वह भी गुरु रूप अग्नि के संग से ज्ञानवान् हो जाय। (२) धान, जौ तिलों की आहुति, अर्थात् जिस प्रकार ये पदार्थ अग्नि में पड़ कर अधिक गन्ध देते और वायु शुद्ध करते हैं उसी प्रकार आचार्य के संग से तुम भी अधिक गुण प्राप्त

करो, (३) खीर आदि पुष्टिकारक पदार्थ बुद्धि और बल को बढ़ाते ही हैं। (४) तोता मैना आदि की जिह्वा का बन्धन और उनको खिलाना। इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार इन जन्तुओं के अन्य बनैले जीवों के संग न रख कर बार २ एक ही पाठ पढ़ावे और शेष समय उनका मुंह बांधे रखने से वे अच्छा पढ़ जाते हैं इसी प्रकार विद्यार्थी अपनी जिह्वा पर वश करें और व्यर्थवाद न करके वेदाध्ययन का अभ्यास करें तो उनकी बुद्धि और वाणी बढ़ेगी। (५) सम्पत्ति आदि प्राप्त करने के लिये भी बुद्धि चाहिये, युद्धादि विजय और शत्रुओं के हाथी आदि के लिये बुद्धि और बल के अद्भुत प्रयोगों की आवश्यकता है, उस अवसर पर यदि ईश्वर से बल की प्रार्थना करें तो क्या असम्भव बात है। इस प्रकार कल्प ग्रन्थ सार्थक होता है। परन्तु, कल्पोक्त विनियोग वेद के अर्थों के नियामक हैं ऐसा नहीं माना जा सकता, प्रत्युत वेदमन्त्र का अपना स्वतन्त्र अर्थ रह कर भी कल्पोक्त क्रिया साधनों को अपने साथ गौण रूप से जोड़े रख सकता है।

(२) प्रथम कांड का ७ वां और ८ वां सूक्त चातन ऋषि दृष्ट हैं। कौशिक ने इन सूक्तों पर लिखा है 'चातनानाम् अपनोदनेन व्याख्यातम्'। चातन सूक्तों का प्रयोग अपनोदन सूक्तों के समान समझना चाहिये। इस पर सायण ने लिखा है—'आविष्टभूतपिशाचाद्युच्चाटनार्थं फलीकरणतुषावतक्षणहोमादीनि इत्यपनोदनसूक्तकर्तव्यानि अपनोदनानि कर्माणि अनेन गणेन कुर्यात्।' पुरुष शरीर में घुसे भूत, पिशाचों के उच्चाटन करने के लिये चातनगण में पढ़े सूक्तों का विनियोग अपनोदन सूक्त के विनियोग के समान जानकर तुष या भूसी को कूटना और होम आदि करना चाहिये। इसका अभिप्राय यह है कि अन्न की रक्षा करने के लिये जिस प्रकार भूसी को कूट २ कर अलग फटक दिया जाता है उसी प्रकार दुष्टों को कूट २ कर फटक दे अर्थात् प्रजा से बाहर कर दे। या होम कर दे अर्थात् प्रजा के हित के लिये उनको कूड़े कचरे के समान जला दे, या मृत्यु दंड दे। कौशिकोक्त कल्प का यह तात्पर्य है। परन्तु सायण को आविष्ट भूतपिशाचों के उच्चाटन के लिये भूसी को होम करना इष्ट है अतः उसने अभि

की स्तुतिपरक सूक्त की योजना कर दी है। समस्त सूक्त में भूत पिशाच किसी का नाम नहीं है। सायण के पीछे चलने वाले योरोपीयन मत्त विद्वान् पं० ग्रीफ़िथ ने भी लिख दिया कि यह सूक्त भूत प्रेतों को नाश करने के लिये है, इस सूक्त में भी अग्नि और इन्द्र की स्तुति की गयी है। पं० ह्विटनि ने इस सूक्त का शीर्षक लिखा है 'सोर्सररर्स' अर्थात् जादूगरों के पता लगाने के लिये अग्नि की प्रार्थना।

'सोर्सरर्ज़' अर्थात् जादू टोने चलाने वालों के पता लगाने के लिये अग्नि से प्रार्थना करना यह ह्विटनी को अभिप्रत है। फलतः 'यातुधान' शब्द का अर्थ सायण भूत प्रेत समझता है। ह्विटनी के मत में 'यातु-धान'=जादूगर हैं। ग्रीफ़िथ के मत में 'ईवल स्पिरिट्स्', 'भूत प्रेत' हैं। परन्तु यह किसी ने बतलाने का यत्न नहीं किया कि सूक्त में आये 'अग्नि' और इन्द्र क्या पदार्थ हैं। यदि इन्द्र और अग्नि का रहस्य खुल जाय तो सूक्त के अर्थ ही निर्विवाद हो जांय। योरोपीयनों के मत में ये दो देवता हैं इन्द्र और अग्नि या जातवेदा नाम से पुकारे जाते हैं। सायण के मत से इस अग्नि में 'हवि' तुप आदि डाला जाता है। अब मन्त्र को लीजिये।

'स्तवानमग्ने आवह यातुधानं किमीदिनम्।
त्वं हि देव वन्दितो हन्ता दस्योर्बभूविथ॥' अथर्व० १।७।१॥

अर्थ—हे अग्ने! स्तुवान, किमीदी, यातुधान को लाओ। क्योंकि हे देव तू वन्दित होकर दस्यु का हन्ता रहा है।

दस्यु का अर्थ ग्रीफ़िथ के मत से एक असुर है जो बादलों में वर्षा को रोक लेता है। इन्द्र उसको मारता है। ह्विटनी के मत से दस्यु का अर्थ 'जंगली' (Barbarian) है। और यातुधान (Sorcerer) टोनेबाज़ और किमीदी=किमीदी है। फलतः स्तुति किया हुआ अग्नि टोनेबाज़ और किमीदी (?) को ले आवे, यह अर्थ हुआ। क्योंकि वह 'दस्यु' 'जंगली' या असुर (ग्री०) का मारने वाला रहा है।

सायण के मत में—हे अग्ने ! (स्तवानं) मेरे से दिये हवि को मेरे कर्म में (आवह) ले आ । (किमीदिनम्) 'अब क्या' २ इस प्रकार विचरते (यातुधानं) घात करने की इच्छा से गुप्त चरने वाले राक्षस को [(अपसारय) दूर कर] अथवा (स्तूयमानं=स्तूयमानः) तू स्तुति किया जाकर किमीदी यातुधान राक्षस को प्रतीकार के लिये इस मनुष्य में घुसा दे या निग्रह के लिये अपने पास ला । या हे अग्ने तेरे पास डर से तेरी स्तुति करते हुए यातुधान को तू ला । और हे (देव) दानादि गुणयुक्त ! तू (वन्दितः) हम से नमस्कार आदि से प्रार्थित होकर (दस्योः) दस्यु विनाशकारी राक्षसादि का (हन्ता) मारने वाला (बभूविथ) होता है ।

अर्थ तो सब ने कर दिया । परन्तु सब के मूलार्थ अस्पष्ट हैं । उन्होंने कोई न कोई शब्द मूल अर्थ में नहीं खोला और लाना आदि सब चेतन के कार्य अग्नि के लिये छोड़ दिये । अग्नि=आग में ये चेतन के गुण साक्षात् नहीं घटते । वह किसी को पकड़ कर नहीं लाता और न दस्यु को मारने जाता है । इसलिये इन वाक्यों में योग्यता नहीं होने से वाक्य दोषयुक्त हैं । परन्तु सायणने अपने भाष्य में सर्वगामी कौशल किया है । आप लिखते हैं कि—"अंगति गच्छति सर्वत्र जाठरवैद्युतादिरूपेण कृत्स्नं जगद् व्याप्नोति इति अग्निः । यद्वा अग्रणीत्वादिगुणयोगादग्निः ।" यह अग्नि सर्वव्यापक अग्नि लेना या अग्रणी आदि गुणों के होने से अग्नि लेना । इतना लिखकर भी यह नहीं बतलाया कि वह कौनसा अग्नि है, चेतन है या जड़ आग है ? यह संदेह रहने से सायण ने 'आ वह' शब्द के व्याख्यान में हवि आदि वहन करने वाला 'आग' पदार्थ ले लिया । या व्यापक अग्नि को लेकर भूत को आदमी में घुसा देने की प्रार्थना करके अपना सब किया परिश्रम मिट्टी में मिला दिया । वास्तविक बात क्या है ? अग्रणी आदि गुण के होने से अग्नि राजा है उसे आदेश या कर्त्तव्यों का उपदेश है कि वह हिंसक, किमीदी, यातुधान को पकड़े क्योंकि वह सर्व नमस्कृत है और दस्यु का मारने वाला देव राजा है । समस्त संस्कृतसाहित्य में राजा को 'देव' शब्द

से पुकार जाता रहा है। वह संतापकारी और अग्रणी होने से 'अग्नि' है। पीड़ा या यातना देने वाले जीव 'यातुधान' हैं, वे पाप करके सदा चित्त में 'अब क्या होगा, अब क्या होगा' ऐसी चिन्ता करते या दूसरे के जान माल को 'यह क्या' २ इस प्रकार तुच्छ जान कर नाश कर देते हैं। उनका ही दूसरा रूप 'दस्यु' (=नाशकारी) है। यातुधानों को 'अत्रिणः' [७ । ३] अर्थात् दूसरों का माल खाजाने वाले कहा है।

इसके अतिरिक्त वह अग्नि ही 'इन्द्र' राजा कहागया है। वह 'बाहुमान्' बतलाया गया है। तब अब कोई संदेह नहीं रह जाता कि यह दो हाथों वाला साक्षात् राजा ही है, कोई कल्पित देव नहीं है। योरोपीयन विद्वान् तो बड़े उदार सुने जाते हैं, परन्तु वेद के अर्थ करने के समय इन्होंने बड़ी कृपणता से कार्य किया है। उन्होंने वेदों में से उच्च सभ्यता के चिन्हों को प्रकट होने देने की चेष्टा नहीं की। प्रत्युत जंगली अर्धसभ्य आदि मानकर हमारे पूर्वज ऋषियों को वर्तमान जंगली लोगों के समान भूत प्रेत, जादू टोने आदि मूर्खता और अज्ञान से भरे कार्यों में फंसा मान लिया है। उनको ईसाइयत के प्रभाव से कदाचित् वेद के काल में भी भूत चुड़ेलों के दर्शन हुए या दादागुरु सायण की भ्रमजनक पंक्तियों की ही उन पर भी छाप लगी है। वे वेदों को अधिक सरल करने का यत्न नहीं करना चाहते। ऊपर हमने निदर्शन मात्र के लिये एक मन्त्र को खोलकर बतला दिया है। पाठक ७, ८ दोनों सूक्तों की व्याख्या को प्रस्तुत पुस्तक में देखें और देखें कि किस प्रकार अथर्ववेद एक कर्तव्य-निदर्शक धर्मग्रन्थ है।

(३) 'भगम् अस्या वर्च' [का० १ । सू० १४] इस सूक्त को कौशिक सूक्त ने स्त्री या पुरुष के दौर्भाग्य करने के लिये उनकी भोगी हुई दातुन, गेन्द, माला, केश आदि के गाड़ते हुए पढ़ने का विनियोग लिखा है। यहां कौशिक का भूत आचार्य सायण पर बड़ी प्रबलता से चढ़ गया है। खेंच तान कर सूक्त के चारों मन्त्रों का अर्थ उधर ही लगाया है।

पं० ग्रिफिथ और ह्विटनी भी उधर ही वह गये हैं। इस अवसर पर हमें हर्ष से कहना पड़ता है कि पं० वेवर लडविग और ज़िम्मर आदि महोदयों ने स्वतन्त्र होकर इस सूक्त को विवाहपरक लगाया है। इस सूक्त की वास्तविक शोभा भी विवाहपरक अर्थों में ही है। जो प्रस्तुत पुस्तक में देखने से विदित होगी। वेद जैसे पवित्र धर्मग्रन्थ से स्त्री के दौर्भाग्य करने की घृणित शिक्षा प्राप्त ही नहीं हो सकती। स्थानाभाव से हम यहां वेद के प्रत्येक शब्द पर किये अनर्थों को खोल कर नहीं बतला सकते। इसके लिये एक विशाल ग्रन्थ चाहिये।

(४) 'ये अमावास्यां रात्रिम्' [अथर्व० १। १६] सूक्त को कौशिक ने शत्रु को मारने के लिये सीसे के चूर्ण से मिले अन्न खिला देने के लिये विनियुक्त किया है। इस सूक्त में भी पिशाची के सन्तानों और 'अत्रि', 'यातु' आदि नामों से सायणने रक्षः पिशाच आदि लिये हैं। ग्रीफ़िथ ने भी 'पिशाच' शब्द से भूत, प्रेत (imps and goblins) ले लिये हैं। 'सीस' शब्द से ह्विटनी महोदय ने सीसे का तावीज़ लिया है। पं० ग्रीफिथ ने 'सीसे' शब्द से सीसे का टुकड़ा ले लिया है और मन्त्र के अर्थ कर दिये हैं। यह बतलाने का यत्न नहीं किया कि अग्नि, वरुण इन्द्र आदि देवों का सीसे से क्या सम्बन्ध है, वह सीसा जत्थे २ बनाकर आक्रमण करने वाले यातुधानों को कैसे बेधेगा? कौशिक ने तीन उपाय शत्रु के नाश के वतलाये हैं एक तो शत्रुओं को वान्ध कर सीसे का चूर्ण उनको खिला २ कर मारे, दूसरे उनको लोहे की बेड़ियां पहना दे, तीसरे वांस की छड़ी (वेंत) से ठोके। परन्तु इन तीनों कार्यों का मन्त्र गत वाक्यों से सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः देखा जाय तो सीसे की गोलियां बना कर, बारूद देकर अग्नि के बल से दुष्ट शत्रुओं का मुकाबला करने का वेद ने उपदेश किया है।

(५) 'अनुसूर्यमुदयताम्०' [अथर्व० १। २२] इस सूक्त में हृद्रोग और कामला की चिकित्सा का उपदेश किया है। परन्तु कौशिक सूत्रों में

इस सूक्त को पढ़ कर उक्त रोगों के नाश के लिये लाल बैल के रोम से मिले जलपान करने, लाल गोचर्म का ताबीज़ बांधने और हल्दी से रंगे पीले भात रोगी को खिला कर, उसके जूठे भातों से रोगी को लेप लगा कर चारपाई पर बिठला कर, नीचे तोते, खुटबढई और हरी चिड़ियों की बाईं टांग में रसी बांधना आदि लिखा है। उसी को लक्ष्य में रख कर सूक्त के मन्त्रों का अर्थ कर दिया है। और किसी भी पण्डितवर ने उस क्रिया का और तोतों आदि का हरिमा या पण्डुरोग दूर करने के कार्य से सम्बन्ध दर्शाने की चेष्टा नहीं की। इसका कारण यह है कि उन पर कौशिक सूक्तों का प्रभाव रहा है। वे सभी वेद में विद्यमान आयुर्वेद के तत्व को नहीं जान सके। कल्पकारने तो कामला रोग की शान्ति के कुछ उपायों का जो उसके समय में किये जाते होंगे संग्रह कर दिया और सूक्त का विनियोग भर दर्शा दिया है पर सूक्त के रहस्य को तो दर्शाया नहीं। परन्तु इन भाष्यकारोंने बादरायण सम्बन्ध से उस में तोतों और खुट बढ़ईयों पर रोग चिपटाने का अर्थ निकाल लिया। जो आयुर्वेद का गूढ़ ज्ञान है सो प्रस्तुत पुस्तक में दर्शाने का यत्न किया गया है कि सूर्य की किरणों से और 'शुक' आदि वृक्षौषधियों से किस प्रकार ये रोग नष्ट होते हैं। इसी प्रकार २३, २४ सूक्तों में भी कुछ चिकित्सा का रहस्य दर्शाया गया है। २५ में ज्वर की चिकित्सा और निदान कहा गया है।

(६) 'अमूः पारे पृदाकः०' (अथर्व० १। २७) इस सूक्त से कौशिक ने विजयार्थ आयुधों के देने का विधान किया है। ग्रीफ़िथ महोदय की सम्मति में इस सूक्त से सांप की केंचुली हाथ में लेकर कोई जादू करने का विधान है। ह्विटनी की सम्मति में भी बुरे लोगों के विरोध में मन्त्रपाठ है। यहां भी वही प्रश्न है कि वेदमन्त्र से वह विधान किस प्रकार निकलता है। इस सम्बन्ध में सभी चुप हैं। इसका विवरण आप प्रस्तुत पुस्तक में देखियेगा और योरोपीयन विद्वानों के किये अर्थों का निदर्शन यहां देखिये।

अमूः पारे पृदाक्वस्त्रिषप्ता निर्जरायवः । तासां जरायुभिर्वयमक्ष्यावपि -व्ययामसि
अवायोः परिपन्थिनः ॥ १ ॥

सायण के मत में—भूमि के पार नागलोक में जो कि २१ सर्प जातियां निर्जरायु=जरा रहित हैं उनकी केंचुलियों से दुष्ट शत्रु की आखों को बांध दें जिससे सांप की बड़ी केंचुलियों से आंखे ढक जाने से वे हमें न देख सकें। क्या खूब कहा कि गये युद्ध विजय के लिये और सांपों की केंचुलियों से वे वहां शत्रुओं की आंखें बन्द करेंगे जिससे वे उन्हें देखने न पावें। यदि ऐसा ही करना था तो किसी बिल में छिप जाना था।

ग्रीफ़िथ के मत में-परे तट पर २१ तरह के सांपों ने अपनी केंचुली उतार दी हैं, तो हम उनकी केंचुलियों से दुष्ट चोर की आखें बांध दें। और ढक दें।

ह्विटनि के मत में—' परले तट पर २१ अजगरनी हैं, जो केंचुली छोड़ चुकी हैं। उनकी केंचुलियों से दुष्ट, पापी, डाकू की आंखें बांध दें '।

ये दादागुरु सायण के शिष्यों ने कैसा उत्तम अर्थ किया है। परन्तु यह किसी ने नहीं बतलाया कि जिस डाकू की आंख से छिपना चाहते हैं उसकी आंखें सांप की केंचुलियों से बांधी कैसे जायेंगी? शायद योरोपीयन विद्वान् तो कहदेंगे कि इसका पता दादागुरु जानें, हमें तो शब्दार्थ से मतलब। संगति की हम क्या जानें, ये तो जादू के अगट सगट मन्त्र हैं। हिन्दू शिष्य कह देंगे कि मन्त्र के ज़ोर से आप से आप केंचुलियां आंखों पर आ लिपटेंगी और शत्रु अन्धे हो जायेंगे। पर खेद है कि बुद्धि इन असंगत अर्थों को नहीं मानती। कणाद ने कहा है—" बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे। " अर्थात वेद में वाक्य रचना अगट सगट नहीं है, वह बुद्धि पूर्वक है। और यही मन्तव्य और ऋषियों मुनियों का भी है। तो फिर इस प्रकार के अर्थों पर कब बुद्धि संतोष कर सकती है। क्षेमकरणजी ने यह मन्त्र सेना के दस्तों पर लगाया है। परन्तु हमारी तुच्छ बुद्धि में शत्रु सेना पर सांप

की कैंचुली से उत्पन्न विषैले धूएं के प्रयोग से उनकी आंखे नष्ट कर देने का उपदेश किया है। वेद ने लिखा है (अक्ष्यौ अपिव्ययामसि) आंखों को हम नाश करें, न कि बांधें। वेद ने उपाय बतला दिया। आगे कल्प और रहस्य ग्रन्थ का काम है कि उसकी क्रिया और प्रयोग विधि को बतलावे। यदि वर्त्तमान के उपलब्ध कौशिक सूत्रादि भी उसका क्रियाकलाप नहीं बतला सकते तो वे भी व्यर्थ हैं। प्राचीन काल में वेद के उपवेद उन सब की पूर्ण व्याख्या करते थे। परन्तु अब उपवेदों का लोप हो गया है। हमारी सम्मति में शत्रुविनाश के इस सूक्त के क्रियाकलाप का ज्ञान 'मायावेद' या 'पिशाचवेद' या धनुर्वेद या शस्त्रास्त्रवेद से जानना चाहिये। और पूर्वोक्त चिकित्सा भाग का ज्ञान आयुर्वेद से जानना चाहिये। अंग विद्याएं न जान कर वेदों का अर्थ करने से वास्तव में अर्थों के अनर्थ किये जायेंगे।

प्रस्तुत भाष्य की विशेषताएं दर्शाने के लिये हम ने दृष्टान्त के रूप में ये ६ सूक्त उठाकर रखें हैं वस्तुतः हमारा प्रायिक मतभेद तो सभी सूक्तों के अर्थों में न्यूनाधिक रूप में है। खासकर तब जब कि योरोप के विद्वान् देवता वाचक शब्दों से केवल देवता भर मानते हैं और मन्त्रों को बुद्धि पूर्वक वाक्य न मान कर आजकल के नजरबन्दी के जादूगरी या शौबदेबाज़ी के खेल करने वालों और ओझा झाड़ा फूंका करने वालों के अएट सएट जन्तर मन्तर के समान बैठे हैं।

विनियोग।

तब प्रश्न यह उठता है कि ये विनियोग किस प्रयोजन से हैं। कौशिक सूत्र, वैतान सूत्र, शान्तिकल्प आदि नाना कल्प ग्रन्थों में सूक्तों के पाठ, जप आदि का विनियोग किस प्रयोजन का है? उसका उत्तर यही है कि विद्वानों ने वेदविद्या की रक्षा के लिये वैयक्ति, सामाजिक, और राष्ट्रीय

विशाल कार्यों तक में विनियोगों द्वारा पद्धतियां रची हैं। परन्तु उन विनि- योगों के होने से क्या वेदमन्त्र के तत्वार्थ में भेद थोड़े ही आ सकता है? इसी कारण एक २ सूक्त के वीस २ विनियोग भी हैं जैसा हमने प्रथम सूक्त पर विवाद करते हुए भूमिका में ही दर्शाया है। कौशिकसूत्र या सायण- भाष्य में भी यह बात देखी जा सकती है। परन्तु तो भी वेदमन्त्र का एक ही सत्यार्थ है। कल्पकार कौशिक आदि ने तो अपने काल के लोक प्रचलित विनियोगों को संग्रह कर लिया है। प्राचीन ग्रन्थे लुप्त होजाने पर फिर तो नवीन गढ़न्त भी परम्परा से चल पड़ी। बाद में विनियोगों की तो इतनी अन्धपरम्परा चल पड़ी है कि एक २ शब्द का साम्य देखकर भी मन्त्र विनियुक्त होने लगे। जैसे श्रावणी कर्म में दधि-सत्तू खाने के समय 'दधिक्राव्णोरकारिषम्०' इस मन्त्र का पाठ गृह्य सूत्रों में और कर्मकाण्ड समुच्चयों में चल पड़ा। यदि पौराणिक विनियोगों को लें तो और भी हास्य होता है। पं ह्विटनी आदि ने स्वयं स्थान २ पर लिख दिया है कि यहां विनियोग असंगत, अबुद्धिपूर्वक है।

इसके अतिरिक्त योरोप के विद्वानों के चित्त में यह कभी बैठता ही नहीं कि सामान्य रूप से या विशेष रूप से अथर्ववेद के मन्त्र, किसी प्राचीन आर्षकाल में विशाल लोकसमाज के ज्ञानप्रद गुरु, पथ- दर्शक और कानून और आचार और रहस्य विद्या के मूलसूत्र भी हो सकते हैं। इसी कारण उनको वेद के काल की सभ्यताको परम उच्च सभ्यता स्वीकार करने में भी संकोच होता है। हमारा अपना विचार है कि एक काल में वेद परम मान्य ग्रन्थ, सर्वोपरि कानून और प्रभुग्रन्थ थे। और अपने काल के बादमें भी जनताके हृदयों में और ऋषि मुनियों और बड़े २ दिमागों के आचार्यों पर 'श्रुति' या वेद का प्रभुत्व रहा है। और उसीका यह फल हुआ कि यद्यपि कालक्रम से लोगों के आचार विचार और साधना में भी परिवर्तन होगये तो भी वेद महामान्य ही बने रहे। अब हम

पाठकों के ज्ञापनार्थ संक्षेप से इस खण्ड के अन्तर्गत काण्डों में से ही वेदप्रतिपादित कुछ विषयों का दिग्दर्शन कराते हैं।

कुछ विषयों का दिग्-दर्शन

१. गृहस्थ प्रकरण

वर्तमान के पाश्चात्य प्रभावों में पले दिमागों का यह एक विचार है कि प्राचीन आर्ष काल में विवाह-बन्धन नहीं था। स्त्रियां उच्छृंखल रूप से जिस किसी के साथ हो लेती थीं और कोई समाजहित के लिये विवाह का कानून नहीं था। विवाह का बन्धन बाद में चला है। इसकी पुष्टि में वे प्रायः महाभारत में लिखी उद्दालक की माता की कथा कह दिया करते हैं। परन्तु हमें प्रतीत होता है कि वे कथाएं विवाहबन्धन के अभाव की सूचक नहीं प्रत्युत किसी उच्छृंखल माथे की मनगढ़न्त है। क्योंकि वेद में हमें दृढ़ विवाह-बन्धन, स्वयंवर, उत्तम संतान उत्पत्ति और परस्पर की प्रतिज्ञाएं आदि के वे सब कानून उपलब्ध होते हैं जो एक उत्तम जनसमाज की व्यवस्था के लिये आवश्यक हैं। जैसे—पिता कन्या को उत्तम, संयमी युवा पुरुष के हाथ दान करे जिससे कि वह कुल-पालिका बने। 'एषा ते कुलपा राजन् तामु ते परि दद्मसि [१ । १४ । ३]। यह कन्या तुम्हारी स्त्री बन कर रहे— 'एषा ते कन्या राजन् वधूर्निधूयतां यम'। [१ । १४ । ३] वह विवाह बन्धन का गठजोड़ा, कन्या के माता पिता या भाई के घर में बंधे। "सा मातुर्बध्यतां गृहेऽथो मातुरथो पितुः। [१ । १४ । २] कन्या पति को स्वयं वरण करे, और पति भी कन्या को वरे, दोनों का परस्पर अभिलाषा से विवाह हो 'आ इयमगन् पतिकामा, जनिकामोहममागम्' [२ । ३० । ५] अर्थात् यह स्त्री पति=अपने रक्षक पतिदेव को प्राप्त करना चाहती है और मैं पुरुष सन्तानोत्पत्ति करने वाली स्त्री को पाना चाहता हुआ यहां यज्ञमण्डप में आता हूं। पत्नी पति को इतना चाहे कि वह पति को छोड़ कर दूसरे पुरुष के पास न जावे और पति भी उससे ऐसा प्रेम करे कि वह दूसरे को मन में न रखे। 'एवा मथ्नामि ते

मनः । यथा मां कामिनी असि । यथा मत् न अपगा असः ' [२ । ३० । १] । पति पत्नी एक दूसरे का वहन करें, अर्थात् विवाह करें, दोनों की धन सम्पत्ति एक हो, धर्म, कर्म, ऐश्वर्य सब एक हों, वे एक होकर रहें और प्रेम से एक दूसरे को चाहते हुए रहें। सं चेन्नयाथः अश्विनौ, कामिनौ सं च वक्षथः । सं वां भगासः अग्मत । सम् चित्तानि । सम् उ व्रता ॥ [२ । ३० २] विवाह को नियत करने के लिये प्रथम एक विद्वान् ब्राह्मण कन्या के घर आवे वह सब वरों में से उत्तम वर के गुण बतलावे ताकि कन्या उसे अपना पति चुन सके । ' आ नः अग्ने सुमतिं सम्भलः गमेद् इमां कुमारीं सह नो भगेन । ' [२ । ३६ । १ ।] स्त्री पति को प्राप्त करे, उत्पादन में समर्थ पति (सोम) उसको सफल मनोरथ करे, वह रानी बन कर उत्तम पुत्र जने, स्त्री पति को प्राप्त करके शोभा प्राप्त करे। 'इयमग्ने नारी पतिं विदेष्ट। सोमो हि राजा सुभगां कृणोतु। सुवाना पुत्रान् महिषी भवाति । गत्वा पतिं सुभगा विराजतु ॥ ' [२ । ३६ । २] विवाह यदि केवल पति पत्नी के परस्पर प्रेम से रहने भर का आपस का समझौता हो तो वह कोई प्रबल-दमन न होने से टूट भी सकता है । परन्तु नहीं । वेद की दृष्टि में विवाह करना सामाजिक सुव्यवस्था का कार्य है जिस पर राजनियम भी होना आवश्यक है । वेद में राजा का यह कर्त्तव्य बतलाया है कि वह पति पत्नी के बन्धन को दृढ़ करे । ' सं जास्पत्यं सुयममाकृणुष्व ।' [७ । ७३ । १०] । हे राजन् ! दम्पति के सम्बन्ध को तू खूब दृढ़ बना ।

वेद इस गृहस्थ का उत्तम परिणाम पुत्रोत्पत्ति बतलाता है । स्त्री को बराबर चिरंजीवी पुत्रों की माता बनने का उपदेश है—' भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयांश्च यान् [३ । २३ । ३] । स्त्री पुत्रों को प्राप्त करे, पुत्र उसको सुखकारी हों और वह पुत्रों को सुखकारी हो । 'विन्दस्व त्वं पुत्रं नारि यः तुभ्यं शम् असत् । शम् उ तस्मै त्वं भव [३ । २ । ३ । ५] । यदि स्त्री वंध्या हो तो उसके बांझपन को दूर करे ।

' येन वेहद् बभूविथ नाशयामसि तत् त्वत् ' [३ । ३५ । १] ।

यदि गर्भ गिर जाय तो ओषधियों से उसकी रक्षा करें—

ताः त्वा पुत्रविद्याय देवीः प्रावन्तु ओषधीः । [३ । ३९ । २] ।

गृहस्थ बसा कर स्त्री घर का पालन करे वह घर के सब पुरुषों और पशुओं को पालन करे उन्हें और पुष्ट करे । 'शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा'। [३ । २८ । ३] पशून् यमिनि पोषय । [३ । २८ । ४] क्या गृहस्थ के इन नमूनों को देखकर कोई कह सकता है कि ये आदर्श जंगलियों के हैं ? हां, वर्त्तमान सभ्यता के अभिमानी लोग अपने पर जरा आंख डालें तो उनको योरोप में होने वाले घोर व्यभिचार और गर्भ के निरोध के लिये घातक ओषधियों के प्रयोग और विलासिता के लिये शर्म अनुभव करनी चाहिये । हमें गर्व है कि ये पाप वेद के काल में नहीं थे ।

२. कृषि, व्यापर, विज्ञान आदि

सभ्यता का दूसरा दृश्य वेदोपदिष्ट कृषि, व्यापार, व्यवसाय, उद्योग और वेतन आदि के नियमों में दिखाई देता है । संक्षेप में (१) वणिग् व्यापार में बड़े धनाढ्य लोग प्रवृत्त हों । इन्द्रम् अहं वणिजं चोदयामि । मार्ग के चोर लुटेरों को दमन करके व्यापार को अभय कर दिया जाय । 'नुदन् अरातिं परिपन्थिनं मृगं' [३ । १५ । १] । अपना माल बेच कर दूसरे देशों से धन लावें । 'यथा क्रीत्वा धनम् आहराणि' [३ । १५ । २] । व्यापारियों के लिये राजा रास्तों में पडावों का उत्तम प्रबन्ध करे । 'इमाम् अग्ने शरणिम् मीमृषः नः यम् अध्वानं अगाम दूरम् ।' हम क्रय-विक्रय के ऐसे दर नियत करें जिससे हमें लाभ हो । 'शुनं नो अस्तु प्रपणः विक्रयश्च प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु ।' [३ । १५ । ४] सौदा परस्पर की सलाह से पटा लें—'इदं हव्यं संविदानौ जुषेथाम् ।' व्यापार और उससे पाया नफा सब को सुखकर हो, उससे किसी को कष्ट न हो । 'शुनं नो अस्तु चरितमुत्थितं च ।' जिस धन से हम व्यापार करें वह धन बराबर बढ़े, पूंजी कमती न हो अर्थात् लिमिटेड् कम्पनी हों । येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः । तन् मे भूयो भवतु मा कनीयः ॥

और राजा घूसखोर अधिकारियों को व्यापारों में बाधक न होने दे। 'अग्ने सातम्रो देवान् हविषा निषेध।' प्रत्युत राजा उनको स्वयं नौकरी दे।

जब समस्त सभ्यताभिमानी योरोप जंगली, होकर केवल मछली और जंगली जानवरों के शिकार पर पशु जीवन बिताता था उससे भी कितने युग पूर्व वेद में कृषि का वैज्ञानिक उपदेश है—'सीरा युञ्जन्ति कवयो। युगा वितन्वते पृथक्।' [३ । १७ । १] विद्वान् लोग हलों को चलावें और जोड़े के बैलों को जोतें। युनक्त सीरा वि युगा तनोत। कृते योनौ वपत इह बीजम्', [३ । १७ । २] हल जोतो और जोड़े खोल दे और फिर हल से जुती भूमि में बीज बो दो। 'विराजः श्नुष्टिः सभरा असत्' तब खूब गाढ़ी अन्न की फसल हो और 'नेदीयः इत सृण्यः पक्वमायवन्' पके धान को दरातियों, हंसुओं से काट लो। कृषि से ही सब पदार्थ प्राप्त हैं। 'उदिद् वपतु गामविम्०', [३ । १७ । ३]

मांस भक्षी संसार को सिवाय मांस से अपना पेट भरने के कुछ नहीं आता। परन्तु वेद धान्य और, और पुष्टिकारक ओषधियों के संग्रह का उपदेश करता है। "पयस्वतीरोषधयः पयस्वन्मामकं वचः। अथो पयस्वतीनामा भरेहं सहस्रशः॥" ओषधियां पुष्टि करती हैं, मेरा वचन पुष्टिकारक है, मैं हज़ारों पुष्टिकारक ओषधियों का संग्रह करूं। अन्न उत्पन्न करने के लिये राजा हज़ारों श्रमी लगावे और फसलें कटावे तो संसार भर के खाने का अन्न पा सकता है। "शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर। कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह॥" (३ । २४ । ५) लोकोपकार के लिये जंगल के जन्तुओं का पालन करने का भी उपदेश किया है। "सं सं स्रवन्तु पशवः समश्वाः सम् उ पूरुषः।" (१ । २६ । ५)

हम गो, दुग्ध, धान्य एकत्र करें: वीरों को उत्पन्न करें, स्त्रियों को घर पर ला कर बसें। आ हरामसि गवां क्षीरमाहार्षं धान्यं रसम्। आहुता अस्माकं वीरा आ पत्नीरिदमस्तकम्॥ (१ । २६ । ५)।

इन सब उन्नतियों के होते हुए उनको व्यवस्थित करने के लिये प्राचीन आर्ष काल में विज्ञान की उन्नति भी पर्याप्त रूप में थी। उदाहरण के तौर पर वेद ने जलों का 'उदक' नाम इसीलिये बतलाया है कि देव-विद्वान् पुरुष बहते हुए जलों को भी ऊपर उठा लेता है और अपनी इच्छानुसार ऊपर की भूमियों पर पहुंचा देता है। "एको वो देवो अपि अतिष्ठत् स्यन्दमाना यथावशम्।"

जलों के भीतर भी दो गुण हैं अग्नि और सोम। क्या यह तेजाब के बनाने वाली हाइड्रोजन और ओषजन दो तत्वों की सूचना तो नहीं है।

"अग्नीषोमौ बिभ्रत्यापः इत्ताः" (३ । १३ । ५)। जलों को जहां वैज्ञानिक विद्वान् प्रयोग में लाता है वहां वे बलपूर्वक काम करते हैं।

"इह इत्थमेत शकरीः यत्र इदं वेशयामि वः।" (३ । १३ । ७)

विद्युत् के विषय में वेद ने लिखा है कि विद्वान् लोग बिजली को शत्रुओं के ऊपर शस्त्र के रूप में फेंक कर प्रयोग करते हैं।

'यां त्वा देवा असृजन्त विश्व इषुं कृण्वा ना असनाम धृष्णुम्।' (१ । १३ । ४)॥

बन्दूकों के बनाने के विषय में वेद ने लिखा है कि दुष्टों के नाश के लिये सीसे की गोली बना कर अग्नि=बारूद से मारें। 'तं त्वा सीसेन विध्यामः।' (१ । १६ । ४)॥ इसी प्रकार और भी वैज्ञानिक बातों को लिखा है जिनका प्रस्तुत पुस्तक में विस्तार से रहस्य खोला गया है।

३. आयुर्वेद

आयुर्वेद तो अथर्ववेद का उपवेद है, इस सम्बन्ध में वेद में बहुत विज्ञान उपलब्ध होता है। जैसे आरोग्यता प्राप्त करने के लिये शिरोरोग, खांसी और शरीर के नस २ में बैठे क्षय को दूर करने के लिये रोगी जंगलों और पर्वत के वायु का सेवन करे।

'वनस्पतीन् सचतां पर्वतांश्च' (१ । १२ । ३)

शरीर में से रोग बाल्य काल से ही दूर करने चाहियें, खुली वायु वाले रोशनीदार मकान होने चाहियें। (२ । १० । ४, ५) प्रकाश और शुद्ध वायु से राजयक्ष्मा तक का रोग नाश हो जाता है। (२ । १० । ८) रोगकारी जन्तुओं का नाश करने का वेद ने बड़ी स्पष्टता से उपदेश किया है।

तया संपिनष्मि सं क्रिमीन् दृषदा खल्वाँ इव। (२ । ३१ १)

आँतों, पीठ, त्वचा आदि में फैलने वाले रोग-कीटों को भी नाश करे (२ । ३१ । ४)। रोगकारी कीट जल, भोजन, पर्वत, वन और पशुओं में भी पलते हैं। वे हमारे शरीर में घुस जाते हैं, उनको भी नाश करें। (२ । ३१ । ५) इसी प्रकार इन रोगकीटों की पसलियों को जड़ मूल से नाश करे उनके विष के अंगों को नष्ट कर दें (२ । ३२ । २–६)। देहों के सभी अंगों में से यक्ष्मा को भी दूर करे (२ । ३३ । १–७)।

महारोगों के नाश करने वाली ओषधियों को वर्णन करते हुए पृश्न-पर्णी नामक ओषधि से नाना प्रकार के घृणाजनक रोग दूर करने का उपदेश किया है (२ । २५ । १–५) ज्वर को नाश करने के लिये 'कूठ' ओषधि का वर्णन किया गया है। इसी से शिरो रोग चक्षु रोग का भी उपाय बतलाया है (४ । १० । १–१०), नपुंसकता को दूर करने के लिये वृष्य ओषधियों का प्रयोग दर्शाया है (४ । ४ । १–८)। विष की चिकित्सा के लिये 'ब्राह्मण' नामक अपूर्व ओषधि का प्रयोग है और भी नाना प्रकार के विषों की चिकित्सा (४ । ७ । १–७) के लिये 'प्रश्नि' नामक ओषधि का वर्णन है।

इसके अतिरिक्त ऐसे २ प्रयोग भी दर्शायें है जिनमें पूर्ण सर्पविद्या का विधान किया है जैसे आंख की ज्योति से सर्प के विष को रोकने और बीसियों सर्पों के विषों को रोकने वाले प्रबल प्रतिविषों के प्रयोग करने का दिग्दर्शन कराया है (५ । १३ । १–११)। इसके अतिरिक्त प्रसव-विद्या का भी वेद ने उपदेश किया है। (१ । ११ । १–६)

४. राजनीति और राष्ट्रपालन

प्रजा के पालन और उसमें सुख शान्ति के स्थापन के लिये राजा का स्थापन, उत्तम राजा के गुणों का वर्णन, दुष्टों का दमन, दण्डविधान, राजसभा, पर-राष्ट्र-विजय आदि का बराबर उपदेश किया है। उसको हम विस्तार से क्या दिखायें, विषय-सूची से ही इन विषयों को प्रस्तुत पुस्तक में पा सकेंगे। तो भी एक दो बातों पर पाठकों का ध्यान खेंचता हूं (१) वरुण वह राजा है जो प्रजा को दुष्टों से बचाता और जिसको प्रजाएं स्वयं अपना राजा वरण करती हैं। वह राज्य प्रबन्ध के लिये और दुष्टों का पता लगाने के लिये गुप्तचर विभाग रखे। उसके स्पश (स्पाईज़) सर्वत्र विचरें। सत्य-वादी को वे न पकड़ें प्रत्युत असत्यवादियों को पकड़ लें (४। १६। ६, ७)। राजा अपराधी को जब दण्ड दे तो नियमपूर्वक अपराधी के मा, बाप, वंश और कुल का नाम और दण्ड की धारा लिखकर दण्डकर्त्ता अधिकारी के हाथ सौंपे (४। १६। ६)। इस प्रकार की व्यवस्थित शासन प्रणाली का उपदेश वेदने किया है। हत्याकारी पुरुषों के लिये यही विधान किया गया है कि अपने किये का वे वही दण्ड पावें जैसा वे औरों से करते हैं (२। २४। १–८)। अपामार्ग विधान में कण्टक शोधन प्रकरण को बड़ी खूबी से रखा है (४। १७–१६।)। लोगों को गुप्त हिंसाकारी प्रयोगों से मारने वालों का दण्ड विधान करते हुए वेद ने कृत्या-प्रतिहरण सूक्त में दुष्टों का विस्तार से वर्णन किया है। गुप्त हिंसा के प्रयोगों को ही वेद ने ‘ कृत्या ’ शब्द से कहा। उनको दण्ड देने के लिये कृत्या का उन पर ही प्रयोग करने का उपदेश किया है, अर्थात् राजा उनको भी उसी दण्ड से दंडित करे। परन्तु भोले लोग उसको टोना या टोटा आदि चलाने की कोई जादू की तदबीर समझ लेते हैं। इसका विवरण कुछ अपामार्ग-विधान में और (४। १६) में और विशेष रूप से (५। ३१। १–१२) में किया है।

५. सदाचार

हम आर्यगण वेद के दर्शाये आचार को आदर्श सभ्यता स्वीकार करते हैं और विकासवाद के प्रबल प्रभाव में पले योरोपीयन लोग अभी उसको प्रारम्भिक जंगली सभ्यता बतलाना चाहते हैं। परन्तु अब हम संक्षेप से बतलाते हैं कि आदर्श वैदिक सदाचार की क्या शिक्षा है। 'मनुष्य सदा अपने को सर्वप्रिय बनाने का यत्न करे और मधुर बचन कहे उसका घर में आना, जाना और बोलना आखों से देखना तक भी मधुर प्रतीत हो (१। ३४ । ३ । ४)। गृहस्थ में पुरुष ऐसी प्रेममय चक्षु से अपनी पत्नी को देखे कि पत्नि प्रेम की मधुरता के वश होकर दूसरे के पास जाने की इच्छा तक न करे (१ । ३४ । ३ । ५)। परस्पर एक दूसरे के प्रति एकहृदय, एकचित्त, द्वेष रहित होकर रहें, एक दूसरे के प्रति इतना प्रेम करें जैसे गाय अपने बछड़े से प्रेम करती है। उसी प्रेम से एक दूसरे के पास जाया आया करें। पुत्र सदा पिता की आज्ञा पालन करे, माता सम्मान करे। पति पत्नी एक दूसरे को शान्तिदायक बचन बोलें, भाई भाई से द्वेष न करे, बहन बहन से प्रेम करे, सब एकचित्त एक कार्य में लगें और कल्याण और सुखदायी बचन बोला करें। जिस वेदज्ञान के अनुकूल चल कर विद्वान् परस्पर नहीं लड़ते और द्वेष नहीं करते ऐसे वेदज्ञान का समस्त पुरुष श्रवण करें। बड़े, छोटे सब एक कार्य में लगकर ऐसे बंधे कि एक दूसरे का साथ न छोड़ें। समस्त प्रजा के लोग आपस में सुन्दर मनोहर बातें बोला करें। सब का पीना, खाना एक हो, समान हो, सब परमेश्वर की मिलकर उपासना करें, सायंकाल प्रातःकाल सब मिलकर अपने चित्त उत्तम कर लिया करें। (३ । ३० । १–७) इस के अतिरिक्त वेद यह भी शिक्षा देता है कि प्रत्येक आदमी अपने को हर प्रकार के पाप के कार्य से मुक्त रखे (३ । ३१ । १–११) इस के लिये मनुष्य अपनी भावना को दृढ करे और पाप न करने का संकल्प करे, साथ ही पाप से मुक्त होने के लिये वह परम उपास्य परमेश्वर

की उपासना करे (४ । २३-२७) । मनुष्य अपनी आत्मशक्ति और सहिष्णुता को इतना प्रबल करे कि यदि उससे दस गुना अपवाद भी हो तो सब को वह दबा सके (५ । १५ । १-११) ।

६. परमेश्वर

मैक्समूलर, मैकडोनल आदि योरोपीयनों का अधिक विचार ऐसा है कि वेद में बहुत से देवताओं की उपासना का विधान है और उन पर विकासवाद का भी प्रभाव है कि एक परम ईश्वर की सत्ता के चरम सत्य को पूर्व ऋषियों ने क्रम से जाना है जो बाद में उपनिषदों में और दर्शनग्रन्थों में विकसित (evolved) हुआ है । परन्तु उनका यह विचार नितान्त असत्य, भ्रममूलक और वेद को न समझने के कारण है । ऋषियों ने वेद मन्त्रों में यह साक्षात् किया है कि 'प्रजापते न त्वदेतानि अन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव ।' (अथर्व० ७ । ८ । ३) 'हे प्रजा के पालक परमेश्वर ! तुझ से दूसरा कोई भी इन उत्पन्न पदार्थों के ऊपर मालिक नहीं है ।' 'वह परमात्मा की शक्ति सृष्टि के आदि, मध्य और अन्त में भी सदा पूर्ण रहती है, अतः समस्त दिव्य तेजोमय पदार्थ उसके ही आश्रय में रहते हैं' (अथर्व० ७ । ८० । २) । 'परमात्मा तो जीवों के आत्माओं में बसा एक ऐसा परम पूज्य तत्व है जिसको राजा, रङ्क, बलवान् और निर्बल, सभी उसके महान् ऐश्वर्यमय रूप का अनुभव करके चाहते हैं कि हम उसकी उपासना किया करें' (३ । १६ । २) । 'वह परमात्मा सत्यरूप में आराधना करने योग्य होने से 'सत्यराधः' है, ऐश्वर्यवान्, भजन करने योग्य होने से 'भग' है । उसकी हम प्रातः सूर्योदय काल में अवश्य उपासना करें' (३ । १६ । ४) । 'हम उसीके भजन से स्वयं ऐश्वर्यवान् हो सकते हैं, वह हमारे हरेक कार्य में प्रथम उपास्य है' (३ । १६ । ५) । 'वह सब को शरीर देता है, वह दो पाये, चौपाये सब का प्रभु है' (४ । २ । १) । 'वह अपनी महत्ता से समस्त जगत् का राजा है जिसका आश्रय लेना अमृत और परे रहना मृत्यु

है' (४ । २ । २) । 'जो ज़मीन आसमान को थामे हुए है, जिसके भय से यह पृथ्वी विचलित नहीं होती । वह समस्त लोकों का रचयिता है हम सब उसकी उपासना करें । समस्त उच्च, हिमाच्छादित पर्वत जिसकी महिमा के नमूने हैं, समुद्र में पृथ्वी का खड़ा रहना जिसका आश्चर्यजनक कार्य है । ये दिशाएं जिसकी बाहू के समान फैली हैं, उसकी हम उपासना करें' (४ । २ । ४, ५) ।

उस महान् शक्ति परमेश्वर के विषय में अथर्ववेद में बड़े आश्चर्यजनक वर्णन हैं जिनके एक २ अंश उपनिषदों का रूप धारण कर रहे हैं । केन सूक्त का एकांश केनोपनिषद् है । स्कम्भसूक्त पढ़ कर तो विस्मय होता है । वरुण सर्वव्यापक परमेश्वर का वर्णन देखिए—'वह सबसे महान् परमात्मा सर्वव्यापक होकर इतने पास से देखता है कि उससे कोई चोरी नहीं कर सकता । वह पास बैठ कर बात करने में तीसरा है, छलते, छुपते और हिंसा करते पुरुष पर भी उसकी आंख रहती है । उसकी महान कोख में बड़े समुद्र छिपे हैं तो भी वह महान् इतना सूक्ष्म है कि वह पानी के छोटे से छोटे बूंद में भी छुपा है, यह भूमि, आकाश, और उसमें स्थित दूर पासके सब लोक उसी के शासन में हैं । कोई आकाश लांघ कर भी चला जाय तो परमेश्वर के पास से छूट नहीं सकता । उसने तो मनुष्यों की झपकें तक गिन रखी हैं । उसके फन्दे सत्यवादी को अभय दान करते हैं, और असत्यवादी को जकड़ लेते हैं । वह सब जनों, देशों और विद्वानों के प्रति समान भाव से रह कर भी प्रत्येक व्यक्ति पर भी खास तौर पर शासन करता है' (४ । १५ । १-६) । इसके अतिरिक्त 'वह समस्त संसार को उठाने वाला है । वह जमीन आसमान, अन्तरिक्ष छहों दिशाओं को उठा कर समस्त संसार में व्यापक हैं । वह ऐश्वर्यवान् तीनों लोकों और तीनों कालों का स्वामी है । समस्त 'देव' दिव्य शक्तियों का वस्तुतः वही स्वयं कार्य करता है । जिससे बड़ा कोई दाता नहीं, जिससे बड़ा कोई लेने वाला नहीं, वह सब से बढ़ कर सब का पोषक, सब का कर्त्ता, तेजोमय है । वही अपने रुचिर रूप होने से

इन्द्र, विश्वधारक होने से अग्नि, पालक होने से प्रजापति, सर्वोच्च उच्च होने से परमेष्ठी, है। हे लोगो! उसी सर्वहितकारी परम पुरुष की शरण में जाओ उसने सब को थामा है, उसने सब को धारण किया है। जो उस प्रभु की प्रातः सायं और मध्य दिनमें भी उपासना करते हैं, उससे बल प्राप्त करते हैं' वे कभी नाश को प्राप्त नहीं होते (४ । ११ । १–१२)। इसी प्रभु को वेद ने 'अनड्वान्' कहा है जिससे भ्रम में पड़कर यवनों ने पृथ्वी को बैल के सींगों पर मान रखा है। और अलंकारप्रिय भक्तों ने शिव और बैल की कल्पना की है। शिवपुराणकार ने रहस्य ठीक खोल दिया है।

वृषो धर्म इति प्रोक्तः तमारूस्ततो वृषी।

धारण शक्ति=धर्म ' वृष ' है उसका स्वामी ' वृषी ' महादेव है।

इन सब विषयों के साथ सदाचार, शिक्षा, आत्मज्ञान, ईश्वरोपासना, आयु 'तेज' बल की प्रार्थना, तपस्या, इन्द्रियजय, पापपरित्याग, मोक्षमार्ग, शुक्लिसाधना आदि के और भी अनेक प्रकरणों को दर्शाया है जिनसे मनुष्य का जीवन उन्नत, ज्ञानमय और सुप्रसन्न हो सकता है और जिनको आधार में रखकर उपनिषदें और दर्शनग्रन्थ प्रवृत्त हुए हैं। योरोपीयन लोग जिनको अर्वाचीन विकास कहना चाहते हैं वे वेद के ही प्राचीन यथार्थ तत्व हैं। दर्शन तो उनकी रक्षा और व्याख्या करने वाले हैं। जिनको हम यहां विस्तारभय से नहीं दर्शाते इन सब प्रकरणों को प्रस्तुत ५ काण्डों में भी पाठक पर्याप्त मात्रा में पावेंगे फिर अगले काण्ड जो अगले खण्डों में आवेंगे उनमें भी इन और अन्यान्य भी बहुत से विषयों का समावेश है। जिनको हम अगले खण्डों की भूमिका में यथास्थान दर्शावेंगे।

ब्राह्मण ग्रन्थ और गृह्य सूत्र

हमें इस वेदभाष्य में सब से अधिक सहायता ब्राह्मण ग्रन्थ और उन के आरण्यक भागों और उपनिषदों से प्राप्त हुई है। हमने प्रायः भाष्य में स्थान २ पर ब्राह्मणों द्वारा प्रदर्शित प्राचीन वैदिक परिभाषाओं को खोजने

का यत्न किया है। और कहीं २ प्राचीन गृह्यसूत्रों में भी कोई मन्त्र किसी सूक्त का आ जाने पर उसके विनियोग से मन्त्रार्थ की दिशा जानने में साहाय्य प्राप्त हुआ है। जिसको हमने स्थान २ पर दर्शाया है। हिरण्य-केशीय मानवगृह्य सूत्र में हमें कुछ स्थल प्राप्त हुए हैं।

अन्य-संहिताएं

अथर्व-वेदके मन्त्रोंके अन्यसंहिताओंमें आये पाठान्तरोंके देखनेसे अथर्व वेद के मन्त्रों के अर्थों पर बड़ा प्रकाश पड़ता है। और स्पष्ट विदित होता है कि पैप्पलाद आदि शाखाएं किस प्रकार मूल मन्त्र के कठिन पदों को परिवर्त्तित करके रखती हैं। महर्षि-दयानन्द का यह कथन कि शाखा संहिताएं, मूल संहिता की व्याख्याएं हैं, पाठक लोग पाठान्तरों पर ध्यान पूर्वक दृष्टि डाल कर सहज ही जान सकेंगे। पैप्पलाद संहिता के बहुत से स्थल इतने विकृत और व्याकरण के नियमों से विपरीत हैं कि उनको मूल-वेद मानना ही असम्भव है। प्रत्युत उनकी संगति भी मूल-वेद की तुलना से ही लग सकती है।

उपसंहार

इस प्रकार हम ने भाष्य की दिशा पर्याप्त रूप से दिखा दी है। यद्यपि अथर्व-वेद के सम्बन्ध में अभी बहुत से विषयों पर बहुत सा कथन करना आवश्यक है तो भी उसका इस छोटी सी भूमिका में उल्लेख करना, असम्भव एवं अप्रासंगिक जान पड़ता है। मेरा विचार है कि 'अथर्व-आलोचन' नामक एक पृथक् पुस्तक निर्माण करके अथर्व वेद के सम्बन्ध के सभी विवाद-पूर्ण विषयों को उसमें स्पष्ट किया जाय। अन्तमें मैं पाठकोंसे नम्र निवेदन करता हूं कि अथर्ववेद के बहुत से गम्भीर रहस्यों को कितने ही अंशों में अभी मैं बहुत न्यून समझ सका हूं। प्राचीन ग्रन्थों के सर्वथा अभाव होने से हम लोग अथर्व-वेद के वास्तविक तत्व को जानने में असमर्थ हैं।

मैं चाहता हूं कि इस सम्बन्ध में और भी गहरा अनुसन्धान हो। इसके अतिरिक्त भाषा भाषियों के निमित्त इस छोटे से ग्रन्थ में यदि प्रत्येक सूक्त और मन्त्र पर थोड़ी २ टिप्पणी भी लगती तो यह ग्रन्थ मोटा पोथा हो जाता। परन्तु फिर मूल्य अधिक हो जाने से ग्राहकों की सुविधा नष्ट हो जाती और प्रकाशक भी बड़े विशाल ग्रन्थ से भय करते हैं तब अन्य भाष्यकारों के विस्तृत आलोचन का कार्य इतने स्वल्प स्थान में क्योंकर होना सम्भव था। यह सब समस्याएं देखकर हम अधिक कुछ नहीं लिखते केवल इतना ही निवेदन करते हैं कि यदि कोई वेदों के प्रेमी धनसम्पन्न दानवीर जन इस वेद के तत्वालोचन के निमित्त मासिक पत्र की आयोजना करें तो विशाल रूप में यह कार्य निरन्तर खण्ड २ के रूप में प्रकाशित हो सकता है। विद्वान् वाचकों से हमारा यह निवेदन है कि मेरे इस प्रयास में जो त्रुटियां वे पावें मुझे स्वयं जता कर अपनी महानुभावता प्रकट करें। इससे आगामी संस्करणों में उनकी सुझाई त्रुटियों को दूर कर मैं उनके ऋण से उऋण हो सकूंगा।

अन्त में ईश्वर से प्रार्थना है कि वह हमें इस पवित्र लोकसेवा, वेदाध्ययन रूप तप और वेदाचिन्तन रूप महायज्ञ में सफल करें।

अजमेर, केसर-गंज.
श्रावण, शुक्लाष्टमी,
१९८४ विक्रमाब्द।



विद्वानों का अनुचर
जयदेव शर्मा,
विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ।



ग्रन्थ में प्रयुक्त संकेतों का विवरण

पादटिप्पणी में संक्षेप से दर्शाने के लिये जिन संक्षिप्त संकेतों को प्रयुक्त किया गया है उनका विवरण नीचे लिखे रूप से जानना चाहिये।

यन्त्र संहिता में जात्यस्वरित के लिये हमने केवल स्वरित का चिन्ह न देकर / यह चिन्ह दिया है।

जो पाठ भेद जिस सूक्त के जिस मन्त्र के जिस चरण में आया है उस को दर्शाने के लिये सूक्त का अङ्क [ ] ऐसे कोष्ठ के बीच में दिया गया है, मन्त्र का अङ्क — डैश देकर लिखा है, विशेष पद का विवरण भाष्य में लिखे शब्द पर १, २, ३. का अङ्क देकर नीचे १. २. ३. इस प्रकार देकर लिखा गया है। प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ, सप्तम इन पादों को दर्शाने के लिये (प्र०), (द्वि०), (तृ०), (च०), (पं०), (ष०), (स०) इत्यादि संकेत दिया गया है, किसी विद्वान् के सम्मत पाठ को दर्शाने के लिये 'सम्मतः' शब्द से लिखा है और नये विद्वानों के अभिलषित संशोधन को 'कामितः' शब्द से दर्शाया है। आधार पुस्तकों के संकेत इस प्रकार जानने चाहिये।

अथर्व०=अथर्ववेदे

आश्व० गृ० सू०=आश्वलायनगृह्यसूत्रे

आश्व० श्रौ० सू०=आश्वलायनश्रौतसूत्रे

ऋ०=ऋग्वेदे

उ०=उणादिपाठे

ऐ० ब्रा०=ऐतरेयब्राह्मणे

उप०=उपनिषदि

क०=कठोपनिषदि

कौ०=कौशीतकीब्राह्मणे

कौ० अर्थ०=कौटिलीय अर्थशास्त्रे

गी०=गीतायाम्

गो० पू०=गोपथब्राह्मणे पूर्वार्धे

गो० उ०= ,, ,, उत्तरार्धे

गो० गृ० सू०=गोभिलीयगृह्यसूत्रे

गृ० सू०=गृह्यसूत्रे

छान्दो०=छान्दोग्योपनिषदि

जै० उ० ब्रा०=जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणे

तै० सं०=तैत्तिरीयसंहितायाम्

तै० ब्रा०=तैत्तिरीयब्राह्मणे

दया०=दयानन्दः

निरु०=निरुक्तयास्कीये

पा०=पाणिनीयव्याकरणे

पा० गृ० सू०=पारस्करगृह्यसूत्रे

पेट० लाक्०=सैंटपीटर्सवर्ग-लैक्सिकन्

पैप्प० सं०=पैप्पलादसंहितायाम्

मनु०=मनुस्मृतौ

मै० सं०=मैत्रायणीसंहितायाम्

ला० श्रौ० सू०=लाट्यायनश्रौतसूत्रे

शं० पा०=शंकरपाण्डरंगः एम० ए० सायणभाष्यसम्पादकः

शां० श्रौ० सू०=शांखायनश्रौतसूत्रे

शां० गृ० सू०= ,, गृह्यसूत्रे

हि० गृ० सू०=हिरण्यकेशीयगृह्यसूत्रे

विषय सूची

प्रथमं काण्डम् (१-१०१)

द्वितीयं काण्डम् (१०३–२०९)

तृतीयं काण्डम् (२१०–३५५)

चतुर्थं काण्डम् (३५६–५४८)



अथर्ववेद-विषय-दर्पण

१. **प्रार्थना**—बल (१ । १), ब्रह्मतेज, आयु (१ । २६), (२ । १३), (२ । १७, १८), (३ । २२), रक्षा (२ । १६), अभय (२ । १५), प्रेम, दमन (२ । १९–२३) दीर्घायु (२ । २८, २९) (३ । ११), ऐश्वर्य, सद्गुण (३ । २०), रक्षा (४ । ३१, ३२), (५ । २४) बल विजय (५ । ३) ।

२. **ईश्वर-स्तुति**—ईश्वर (१ । १०), ब्रह्म विवेचन (१ । ३२) ब्रह्मविद्या (१ । ३४), मोक्षमार्ग (२ । ३४–३५), ईश्वर-स्तुति (३ । १६), (४ । १, २, ११, १४, १६, ३०) (५ । १, २, ६, ११, १७), मृत्यु-तरण (४ । ३५) ।

३. **उपासना-योगसाधना**—अध्यात्म योग (३ । १७), अविद्या-नाश (३ । १८), दर्शनशक्ति (४ । २०), विभूति-साधना (४ । ३९) निन्दा-वशीकरण (५ । १५), आत्मशक्ति-वृद्धि (५ । १६), योगसाधना (५ । २६), ब्रह्मोपासना (५ । २७), ज्ञानाञ्जन (२ । ९), आत्म-ज्ञान (२ । ९), मन की दृढ़ता (५ । १०), चितिशक्ति (२ । २७), तपस्या (२ । १२), ब्रह्मचर्य (२ । १३) ।

४. **पापमोचन**—अलक्ष्मी, दुःस्वभाव त्याग (१ । १८), (२ । १४), पापमोचन (३ । ३१), पतितोद्धार-शुद्धि (४ । १३), (४ । २३–२९, ३३) ।

५. **राजधर्म**—प्रजापीड़कों का दमन (१ । ७, ८, १६, २८), (२ । २४), (३ । ९), (५ । १४–३१), शत्रुनाश (१ । १९), (४ । ४०), राजा के कर्त्तव्य (१ । २०, २१ ३०), (२ । ५, ६, ११) (३ । ८), रक्षा, सभ्यता, शान्ति (१ । २६), सेना-सञ्चालन (१ । २७) राजस्थापना (३ । ३, ४), (४ । २२), राष्ट्र-चक्र (१ । २९), प्रधान

पुरुष (३ । ५), प्रजा के कर्त्तव्य (१। ३०), वीर सैनिक (३ । ६), प्रजा की वृद्धि (३ । १४), शत्रुविजय (३ । १६), (५ । ३), राज्याभिषेक (४ । ८), शासन (४ । १६), न्याय-विधान (४ । ३६), भृत्यवेतन (५ । ७), सेनापति (५ । ८), सेना (२ । ४), दुन्दुभि, युद्धवीर राजा (५ । १६, २०), शस्त्रास्त्र (१ । २), कानून (१ । २) गमनागमन के साधन (१ । १५) ।

६. **विज्ञान**—जलविद्या (१ । ४, ६, ३३). वृष्टि (४ । १५), धान्य-संग्रह (१ । २४), भवन-निर्माण (३ । १२), कृषि (१ । १७) विद्युत् विद्या (१ । १३, १४), पशु-पालन (४ । २१) ।

७. **आयुर्वेद**—वस्ति-चिकित्सा (१ । ३), प्रसवविद्या (१ । ११), हृद्रोग, कामला-चिकित्सा (१ । २२), त्वग्दोष-चिकित्सा (१ । २४), आस्राव-चिकित्सा (२ । ३), प्रत्यंग रोग नाश (२ । ३३), आरोग्य (१ । १२), (५ । २६, ३०), शरीरनाड़ीविज्ञान (१ । १७), कुष्ठ, पलित चिकित्सा (१ । २३). ज्वर-चिकित्सा (१ । २५), (५ । २१), दीर्घजीवन (१ । ३५), (२ । २८), (३ । ११), (५ । २८), क्षेत्रिय चिकित्सा (२ । ७), नपुंसक-चिकित्सा, वृष्ययोग (४ । ४). निद्राविज्ञान (४ । ५), सर्पविष-चिकित्सा (४ । ६, ७), (५ । १३), क्षत-चिकित्सा (४ । १२), सन्तति-प्रजनन (५ । २५), रोगजन्तु-नाश (४ । ३७) (५ । ३३), सिलाची ओषधि (५ । ५), स्वास्थ्य लाभ (५ । ६), पृश्निपर्णी ओषधि (२ । २५), अञ्जन (४ । ६), कुष्ठ-चिकित्सा (५।४)

८. **सामाजिक-बन्धन, गृहस्थप्रकरण**—कन्यादान (१ । १४), स्वयंवर (१ । ३०), (३ । २५), योग्य पति-प्राप्ति (१ । ३६) परस्पर प्रेमपूर्वक रहना (३ । ३०), गर्भाधान (५ । २५) लोकोपकारक पुरुष (३ । २१), उत्तम सन्तानलाभ और उत्पत्ति की विधि (३ । ३३) ।



अथर्ववेदसंहिता



प्रथमं काण्डम्

ओ३म् । शं नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑ये॒ आपो॑ भवन्तु पी॒तये॑ ।
शं॒योर॒भि स्र॑वन्तु नः ॥ अथर्व० १ । ६ । १ ॥

[१] वाचस्पति से बलों की प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । वाचस्पतिर्देवता । १–३ अनुष्टुभः, ४ चतुष्पादुरोविराड्-
बृहती । चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

ओ३म् । ये त्रि॑ष॒प्ताः प॑रि॒यन्ति॒ विश्वा॑ रू॒पाणि॒ बिभ्र॑तः ।
वा॒चस्पति॒र्बला॒ तेषां॑ त॒न्वो॑ अ॒द्य द॑धातु मे ॥१॥

भा०—(ये) जो (त्रिषप्ताः) तीन गुना सात [२१] इक्कीस पदार्थ (विश्वा) समस्त (रूपाणि) चेतन और अचेतन पदार्थों को (बिभ्रतः) धारण करते हुए (परि यन्ति) गति कर रहे हैं । (वाचः) वाणी का (पतिः) पालक (तेषां) उनके (बला) बलों को (अद्य) आज, सदा ही, (मे तन्वः) मेरे शरीर के भीतर (दधातु) धारण करावे ।

---

[१] १–(प्र०) पर्यन्ति, (च०) 'तन्वमध्यादधाति मे' इति पैप्प० सं० ।

प्राणो वाचस्पतिः । श० ६ । ३ । १ । १९ ॥ प्रजापतिर्वै वाचस्पतिः श० ४ । १ । १ । ६ ॥ वाचस्पतिर्होता दश होतॄणाम् । तै० ३ । १२ । १५ । २ ॥ वाग् इति सर्वे देवाः । तै० १ । ६ । २ ॥ वाग् होता षड्होतॄणाम् । तै० ३ । १२ । ५ । २ ॥ वाग् वै यज्ञः । तै० ५ । २४ ॥ वाग् इति मनः । जै० उ० ४ । २१ । ११ ॥ प्रजापतिर्वा इदमासीत्, तस्य वाग् द्वितीया आसीत् । तां मिथुनं समभवत् । सा गर्भमधत्त, सा अस्मादपक्रामत् । सा इमाः प्रजा असृजत । सा प्रजापतिमेव पुनः प्राविशत् । तां० २० । १४ । २ ॥ वाग् अस्य प्रजापतेः स्वो महिमा । श० २ । २ । ४ । ४ ॥ इत्यादि ।

वाचस्पति का अर्थ प्राण, आत्मा और परमात्मा है । वाचस्पति दश होता रूप दश प्राणों का मुख्य 'होता' है । वाणी में सदैव (इन्द्रियगण ओतप्रोत हैं)। ऊपर के छः प्राणों का होता वाक् है । वाणी मन का प्रकट रूप है, वाणी प्रजापति से गर्भ ग्रहण करती है । वह इस समस्त संसार को सृष्टि को उत्पन्न करती है अर्थात् प्रकट करती है, वाणी वेदज्ञान प्रभु की अपनी महिमा है । इत्यादि, उसी समस्त ज्ञानमय प्रभु से सब भौतिक बलों और प्राणमय वाचस्पति, आत्मा से अध्यात्म बलों की प्रार्थना की गयी है ।

त्रिषप्ताः=तीन और सात । पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ ये तीन लोक, उनके तीन अधिष्ठाता अग्नि, वायु और आदित्य । प्रकृति के तीन गुण, सत्व, रजस् और तमस् । इन तीन गुणों से होने वाले तीन कार्य, सृष्टि, स्थिति और प्रलय । सप्त=सात ग्रह, सात मरुद्गण, सात लोक, सात छन्द, सात ऋषि । यद्वा, त्रिषप्ताः-तीन सत्ते=२१ । प्रसिद्ध सूर्य से अधिष्ठित प्राची दिशा को छोड़कर शेष ७ दिशाएं जिनमें आरोग, भ्राज, पटर, पतङ्ग, स्वर्णर, ज्योतिषीमान् और विभास ये सात सूर्य की शक्तियां विराजमान हैं। होता आदि सात ऋत्विग्-गण अथवा विवस्वान् को छोड़ कर मित्र, वरुण, धाता अर्यमा अंश, भग और इन्द्र ये ७ सूर्य । जैसा ऋग्वेद में (९ । ११४ । ३)

"सप्तदिशो नानासूर्याः सप्तहोता ऋत्विजः। देवा आदित्या ये सप्त।" अथवा, त्रिषप्ताः—सप्तग्रह, सप्त ऋषि और सप्त मरुद्गण अथवा—१२ मास + ५ ऋतुएँ + ३ लोक और आदित्य इक्कीसवां। अथवा शरीर के घटक पांच महाभूत पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश। पांच प्राण, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय और अन्तःकरण। ईश्वर की कृपा से ये मेरे में स्थिर रहें। पं० श्रीपाद दामोदरजी सातवलेकर के मत में वाचस्पति 'बला' नामक ओषधि है, जो वाणीप्रदा होने से वाचस्पति कहाना सम्भव है।

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह।
वसोष्पते नि रमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥२॥

भा०—हे (वाचस्पते) वेदरूप वाणी के पालक परमेश्वर! वा आचार्य! हे ब्रह्मन्! (देवेन) प्रकाशयुक्त (मनसा) मननशक्ति, ज्ञान के (सह) साथ (पुनः) वार २ (एहि) मुझे प्राप्त होइये, उपदेश कीजिये। हे (वसोः पते) वसु=प्राणियों के वास=जीवन के सम्पादक पदार्थों के पालक विद्वान्! ईश्वर! अथवा (वसोः पते) प्राणके परिपालक आत्मन्! (नि-रमय) हमें सर्वथा सुखी करो और नाना पदार्थों से आनन्दित, हर्षित, तृप्त करो। (मयि एव अस्तु) आपके दिये ये सब उत्तम पदार्थ मेरे में ही रहें और (मयि) मुझमें ही (श्रुतम्) गुरुपदेश और वेद का ज्ञान भी रहे।

इहैवाभि वि तनूभे आर्त्नी इव ज्यया।
वाचस्पतिर्नि यच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥३॥
ऋ० १०।१६६।३॥

२–(प्र०) 'उपनेह वाचस्पते', (तृ०) 'असोष्पते', इति पैप्प० सं०। (प्र०) 'उप प्रेहि', (तृ०, च०) वसुपते विरमय मय्येव तन्वं मम' इति मै० सं०।

३–(प्र०) 'तनू उभे अरत्नी' इति पैप्प० सं०। 'अवैत्रोपि नह्याम्युभे आर्त्नी इव ज्यया। वाचस्पते नियेधे मान्यथा मदधरं वदान्' इति ऋग्वेदे।

भा०—हे वाचस्पते ! इस साधक पुरुष (मयि) मुझ में (एव) ही (उभे) मेधा और सम्पत्ति, ज्ञान और कर्म दोनों को (वि तनु) विशेष रूप से इस प्रकार विस्तृत कर, बढ़ा, प्रबल कर जिस प्रकार (ज्यया) धनुष् में लगी डोरी से (उभे आर्त्नी इव) धनुष् के दोनों छोर ढीले न रख कर कस दिये जाते हैं और वे बाण को दूर फेंकने में समर्थ होते हैं, उसी प्रकार हम भी अपनी प्रखर तीक्ष्ण बुद्धि और कर्मशक्ति से बलवान् होकर सब विपत्तियों और कार्यों को साध सकें। (वाचस्पतिः) वेदवाणी का पालक ईश्वर और विद्वान् (नियच्छतु) समस्त इष्ट पदार्थों को हमें दे और उनको नियम में रखे। (मयि एव अस्तु मयि श्रुतम्) उसके दिये ये सब पदार्थ मेरे में स्थिर रहें और गुरूपदेश से प्राप्त वेदज्ञान भी मेरे में रहे।

उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान् वाचस्पतिर्ह्वयताम् ।
सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि ॥ ४ ॥

भा०—(वाचस्पतिः) वेद वाणियों और ज्ञान वाणियों का परिपालक आचार्य और परमेश्वर की (उपहूतः) सेवा, शुश्रूषा और प्रार्थना, उपासना की जाय। (वाचः पति) वाचस्पति (अस्मान्) हमें (उप ह्वयताम्) उत्तम ज्ञानों का उपदेश करे, अनुमति दे, जिससे हम (श्रुतेन) वेदोपदेश, ज्ञानोपदेश से (सं गमेमहि) युक्त हों और (श्रुतेन) वेदशास्त्र के ज्ञान से मैं (मा वि राधिषि) कभी वियुक्त न होऊं।

इस सूक्तमें मुख्य वाचस्पति ज्ञानप्रद होने से परमेश्वर है। उससे उतर कर गुरु और शरीर में प्राण और प्राण का सुधारक होने से आरोग्यप्रद विद्वान् वैद्य भी वाचस्पति है। वर्त्तमान में बंगाल में वैद्य के लिये 'कविराज' शब्द का प्रयोग 'वाचस्पति' शब्द का अनुवाद मात्र है।

४–'उपहूतोहं वाचस्पत्यु संसृतेन राधसि समृतेन विराधसि' [?] इति पैप्प० सं०।

[२] बाण, शर और कानून का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । अमृतमयः पर्जन्यश्चन्द्रमा देवता । १, २, ४, अनुष्टुप् छन्दः ३, त्रिपदाविराड् गायत्री । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं भूरिधायसम् ।
विद्मो ष्वस्य मातरं पृथिवीं भूरिवर्पसम् ॥१॥

भा०—यह सूक्त संग्राम सम्बन्धी है । ज्वर, अतिसार, अतिमूत्र, नाडीव्रण आदि व्याधियों को शान्त करने के लिये इस में मुंज्ज शरकाण्ड आदि के गुण भी बतलाये हैं।

(शरस्य) बाण, विनाशक स्वभाव शरकाण्ड के (पितरं) उत्पादक (भूरिधायसं) बहुत प्रकार से पालन पोषण करनेहारे (पर्जन्यं) मेघ के समान समस्त जनों के हितकारी और तृप्त करने हारे (पितरं) परिपालक को (विद्मः) हम जानते हैं । (अस्य) इसके (मातरं) निर्माण करने वाली उत्पादक (भूरिवर्पसं) नाना प्रकार के चर, अचर प्राणियों को धारण करने वाली पृथिवी को भी (सु विद्मः) उत्तम प्रकार से जानें ।

क्षत्रिय पक्ष में शत्रु के विनाशक राजा के सिपाही लोग शर हैं। उसका पिता—परिपालक राजा सब प्रजाओं का हितकारी, समस्त प्रजाओं का पोषक होता है । वही उत्तम सिपाही या सेना को संग्रह कर सकता है। उस सैनिक की माता पृथिवी=वह राष्ट्र स्वयं है, जिसमें नाना स्वभावों के मनुष्यों का निवास है।

भैषज्यपक्ष में—शरकाण्ड का पिता वह पर्जन्य मेघ है, जो खूब ओषधियों को जल से तृप्त करता है और नाना ओषधियों की उत्पादक भूमि ही उत्तम शर को भी उत्पन्न करती है ।

अथवा—(भूरिधायसं पर्जन्यं एव शरस्य पितरं विद्मः) नाना प्रजाओं के पोषक, मेघके समान प्रजाके हितकारी उनको सन्तुष्ट करने हारे राजा को ही (शरस्य) हिंसक सेना वा दण्डव्यवस्था (=कोड[1]) को परिपालक जानते हैं और (भूरिवर्पसं पृथिवीं अस्य मातरं सु विद्मः) नाना प्रकार की प्रजाको धारण करने वाली पृथिवी=राष्ट्र को या प्रजा को इस दण्डव्यवस्था का माता-निर्माता जानते हैं अर्थात् दण्डव्यवस्था का निर्माण करना प्रजाके हाथ में और उसका पालन करना कराना राजा के हाथ में होना उचित है।

ज्याके परि णो नमाश्मानं तन्वं कृधि।
वीडुर्वरीयोऽरातीरप द्वेषांस्या कृधि ॥ २ ॥

भा०—हे (ज्याके) धनुष्की डोरी के समान शरका प्रक्षेप करनेहारी राजसभे ! या सेने ! (नः) हमारे लिये (परि णम) उत्तम व्यवस्थाओं का सम्पादन कर या सेनापति को आज्ञा का पालन कर हे इन्द्र ! (तन्वं) इस विस्तृत राष्ट्र के शरीर को (अश्मानं) चट्टान के समान दृढ़, अजेय एवं व्यापक (कृधि) बनाओ या अपने विस्तृत व्यूह को अभेद्य करो। हे इन्द्र ! राजन् ! सेनापते ! (वीडुः) सेना के वीर भटों को संस्तम्भन करने हारा तू (अरातीः) कर प्रदान न करने हारे (द्वेषांसि) और हमसे द्वेषभाव रखनेवाले दुष्ट शत्रुओं को (अप आ कृधि) परे हटा। धनुष् की डोरी के दृष्टान्त से सेना और राजसभा के कर्त्तव्य को समझाया है।

[२] १. 'शर' या 'काण्ड' शब्द प्राचीन काल में व्यवस्थापुस्तक, स्मृति अथवा कोड् या क़ानून के लिये भी प्रयोग होते थे। इस का अपभ्रंश 'क़ानून' 'Canon' आदि शब्द हैं और शरह, शरियत आदि शब्द अरबी में इस 'शर' शब्द का अपभ्रंश है। देखो Etymological Dictionary by Keath.

वृक्षं यद्गावः परिषस्वजाना अनुस्फुरं शरमर्चन्त्यृभुम्।
शरुमस्मद्यावय दिद्युमिन्द्र ॥ ३ ॥

भा०—(यद्) जब (गावः) गोचर्म की तांत की बनी अथवा बाणों को दूर फेंकने वाली डोरियां, (वृक्षं) धनुष् को (परिषस्वजानाः) आलिङ्गन करती हुई (अनुस्फुरं) तीव्र प्रहार करने हारे (ऋभुम्) तीक्ष्ण, चम-चमाते (शरं) बाण को (अर्चन्ति) फेंकती है तब हे इन्द्र ! सेनापते ! (दिद्युम्) अतिप्रकाशमान (शरुं) शत्रु के घातक बाण को (अस्मत्) हम से (यावय) परे रख, जिससे वे हमें न सतावें। अथवा—(यद् गावः वृक्षं परिषस्वजानाः) जिस प्रकार ग्रीष्म काल में गौ आदि पशु वृक्ष के आश्रय में आती हैं उसी प्रकार (ऋभुं शरं अनुस्फुरं अर्चन्ति) ज्ञान और शक्ति से विशेष रूप से तेजस्वी शत्रु के हिंसक राजा का आश्रय लेकर प्रजाएं उसकी आज्ञा के अनुकूल चल कर उसका आदर करती हैं और कहती हैं कि—(इन्द्र दिद्युं शरुं अस्मद् यावय) हे इन्द्र ! राजन् ! अपने चमचमाते तेजस्वी, घातक, शत्रु, दुष्टविनाशक, वज्र के समान हिंसक शस्त्र को हम से परे रख, हम प्रजाओं पर उसका प्रयोग न कर।

अध्यात्म पक्ष में गावः—इन्द्रियें। ऋभु, शर और वृक्ष=आत्मा। 'परि-ष्वज्'=आलिङ्गन करना। इस शब्दप्रयोग के कारण स्त्रीपुरुष—व्यवहार में गावः=कन्याएं। वृक्ष=आश्रय पति। ऋभु=विद्वान्।

यथा द्यां च पृथिवीं चान्तस्तिष्ठति तेजनम्।
एवा रोगं चास्रावं चान्तस्तिष्ठतु मुञ्ज इत् ॥४॥

भा०—जिस प्रकार (द्यां च) द्यौलोक और (पृथिवीं च) पृथिवी लोक के (अन्तः) भीतर (तेजनम्) तेजस्वी सूर्य (तिष्ठति) विराजता है और (रोगं च) देह को तोड़ डालने वाले ज्वर, अतीसार आदि रोग

(आस्रावं च) अङ्ग प्रत्यङ्ग से बहने वाले मूत्र ,अतीसार आदि रोगों को नाश करता है उसी प्रकार शिर और मूलेन्द्रिय अथवा पैर या जंघा के बीच कटि-भाग में धारण किया हुआ (तेजनम्) तीक्ष्ण स्वभाव का या तिक्त गुण का (मुञ्जः) मूंज भी रोग और आस्राव के (अन्तः) बीच में रह कर उन पर वश करता और उनको दूर करता है।

पूर्व सूक्त में विद्यावान् वाचस्पति वैद्य से शरीर के सुख की कामना की और इस सूक्त में इन्द्र रूप राजा और वैद्य से राष्ट्र-शरीर और इस शरीर के रोगनाशक " शर " ओषधि को प्राप्त कर रोग विनाश करने का उपदेश है।

शर और मुञ्ज के गुणों के विषय में धन्वन्तरि राजनिघण्टु में इसके ४ भेद लिखे हैं काश, मुञ्ज, मृदुदर्भ, और शर, साधारण भाषा में इसको सरकण्डा, मूंज, दाभ, सर या सींक कहा जाता है।

काश के गुण—काशः स्वादू रसे तिक्तो विपाके वीर्यतो हिमः।
तर्पणो बलकृद् वृष्यः श्रमशोषभयापहः।
काशद्वयं च पित्तास्रकृच्छ्रजिन्मधुरं हिमम् ॥

काश, रस में स्वादु, पकने पर कुछ तीखा, शीतलवीर्य, बलकारी, वृष्य, श्रम और शोष का विनाशक, रक्त पित्त और मूत्र कृच्छ्र को नाश करने वाला होता है।

मुञ्ज के गुण—मुञ्जोऽनुष्णो विसर्पास्त्रमूत्रवस्त्यक्षिरोगनुत्।
बाणाह्वो मधुरः शीतः पित्तदाहतृषापहः ॥

मूंज स्वभाव में शीतल, विसर्प नामक खुजली, कुष्ठ, वस्ति=मूत्र-स्थली और आंखों के रोगों को दूर करता है। वह रस में मधुर, पित्त, दाह और प्यास को मिटाता है।

दर्भ के गुण—यज्ञमूलं हिमं रुच्यं मधुरं पित्तनाशनम्।
रक्तज्वरतृषाश्वासकामलादोषशोषकृत् ॥

दर्भौ द्वौ च गुणे तुल्यौ तथापि च सितोऽधिकः ।
यदि श्वेतकुशाभावस्त्वपरं योजयेद्भिषक् ॥

कुश के दो भेद हैं एक श्वेत दूसरा लाल । इसका स्वभाव शीतल और भोजन में रुचिकर; मधुर, पित्त का नाशक, ज्वर, प्यास, श्वास (दमा), कामला, पाण्डुरोग और शोष तपेदिक का नाशक है । प्रायः दोनों के समान गुण है, इनमें भी श्वेत दर्भ अधिक गुणकारी है ।

शर—इसके भी दो भेद हैं । एक पतला दूसरा मोटा ।

शरद्वयं स्यात् मधुरं सतिक्तं कोष्णं कफभ्रान्तिमदापहारि ।
बलं च वीर्यं च करोति नित्यं निषेवितं वातकरं च किञ्चित् ॥

दोनों मधुर, तिक्त, कुछ उष्ण स्वभाव के, कफ, माथे का घूमना, मद (जुनून) का नाशक बलवीर्य का जनक और कुछ वातकारी है । बाण के द्वारा विजय करना धनुर्वेद और ज्वर, अतिसार, अतिमूत्र और नाडीव्रणों की चिकित्सा का उपदेश आयुर्वेद के अनुसार जानना चाहिये ।



[३] शर और शलाका का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ताः पर्जन्यमित्रादयो बहवो देवताः । १—५ पथ्यापंक्तिः, ४—६ अनुष्टुभः । नवर्चं सूक्तम् ॥

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्ण्यम् । तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥१॥

भा०—(शतवृष्ण्यम्) अपरिमित वीर्य से युक्त, नाना प्रकार के सुखों के वर्षक नाना वनस्पति और पशु मृगादि प्राणियों के जीवनाधार (पर्जन्यं) पर्जन्य, मेघ, प्रजापति एवं प्रजा के हितकारक पुरुष को (शर-

स्य) शर [=सरकण्डे या शलाका] का (पिता) पिता, परिपालक जानते हैं। हे व्याधिग्रस्त पुरुष ! (तेन) उस शर से (ते) तेरे (तन्वे) शरीर में (शं) सुखकारी चिकित्सा या शत्रु के आक्रमणभय को शान्त (करं) करता हूं। (ते) तेरा (निषेचनं) मूत्रस्राव (पृथिव्यां) पृथिवी पर (बाल् इति) 'बाल्' इस प्रकार शब्द करता हुआ अथवा बल पूर्वक रोगी के प्राण बचाने के लिये (ते बहिः) तेरे शरीर से बाहर अस्तु आवे।

विद्मा शरस्य पितरं मित्रं शतवृष्ण्यम्। तेना० ॥२॥

भा०—(शतवृष्ण्यं) सैकड़ों सहस्रों, अपरिमित वीर्यवान् (मित्रं) सब के स्नेही एवं प्रकाशक सूर्य के समान वैद्य को (शरस्य) शलाका का (पितरं) पिता, पालक (विद्म) जानते हैं। (तेन ते तन्वे शं करं) उससे तेरे शरीर के लिये मैं कल्याण करता हूं। (पृथिव्यां ते निषेचनं) तेरा मूत्रास्राव पृथिवी पर (बाल् इति बहिः ते अस्तु) बल पूर्वक बाहर हो कर प्राणरक्षा का कारण हो।

विद्मा शरस्य पितरं वरुणं शतवृष्ण्यम्। तेना० ॥३॥

भा०—(शतवृष्ण्यं वरुणं शरस्य पितरं विद्म) अपरिमित बल-युक्त, सब दुःखों के निवारक, सब से श्रेष्ठ वरुण को 'शर' का पिता पालक जानते हैं। (तेना०) उससे तेरे शरीर के लिये मैं कल्याण करता हूं मूत्रादि रोगकारी पदार्थ बाहर पृथिवी पर बलपूर्वक आजाय जिससे हे रोगी ! तेरी प्राणरक्षा हो।

विद्मा शरस्य पितरं चन्द्रं शतवृष्ण्यम्। तेना० ॥४॥

भा०—(शतवृष्ण्यं चन्द्रं शरस्य पितरं विद्म) नाना बलशाली आह्लाद-जनक या चन्द्र को शर का पालक जानते हैं (तेना०) इत्यादि पूर्ववत्।

विद्मा शरस्य पितरं सूर्यं शतवृष्ण्यम्। तेना ते० ॥५॥

भा०—(शतवृष्ण्यं सूर्यं शरस्य पितरं विद्म) सैकड़ों सामर्थ्यों से युक्त सूर्य को शर का पालक जानते हैं (तेना०) उससे तेरे शरीर का कल्याण करता हूं, रोगकारी मूत्र बल पूर्वक शरीर से बाहर आवे ।

यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद्वस्तावधि संश्रुतम् ।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥ ६ ॥

भा०—(यत्) जो मूत्र (आन्त्रेषु) पुरीतत् नामक नाड़ियों, आंतों में और (यत्) जो मूत्र (गवीन्योः) मूत्र को मूत्राशय तक पहुंचाने हारी 'गविनी' नामक दो मूत्रवाहिनी नाड़ियों में और (यत्) जो (वस्तौ अधि) वस्ति=मूत्राशय के भीतर (संश्रुतं) चू कर आगया है या अटका हुआ है, वह (ते मूत्रं) हे रोगी ! तेरा मूत्र (सर्वकं) सब का सब (एवा) इस प्रकार की चिकित्सा से (बहिः) बाहर (बाल् इति) 'बाल्' इस प्रकार शब्द के साथ (मुच्यतां) छूट कर चला आवे और तू रोग से मुक्त हो जा ।

प्र ते भिनद्मि मेहनं वर्त्रं वेशन्त्या इव । एवा० ॥ ७ ॥

भा०—हे मूत्र व्याधिपीड़ित जन ! (ते) तेरी (मेहनं) मूत्र नाड़ी को मैं चिकित्सक रुके हुए मूत्र को बाहर करने के लिये (भिनद्मि) लोह-शलाका द्वारा उसी प्रकार खोलता हूं जिस प्रकार (वेशन्त्याः) जल से भरे हौज़ के (वर्त्रं) पानी के निकलने को नाली को खोल दिया जाता है। (एवा ते०) इस प्रकार तेरा सम्पूर्ण मूत्र 'बाल्' शब्द सहित भरभराता हुआ बाहर ही आजावे ।

विषितं ते वस्तिबिलं समुद्रस्योदधेरिव । एवा० ॥८॥

[३] ६—'वस्तावधि संश्रितम्' इति सायणसम्मतः पाठः । 'संस्तुतम्' इति च क्वाचित्कः पाठः ।

७—'वर्तं' इति सायणाभिमतः पाठः । 'वृत्रं' वेशन्त्या, यन्त्यः' इति पैप्प० सं० ।

८—'समुद्रस्योत [?] धिरेव' इति पैप्प० स० ।

भा०--हे मूत्ररोग से पीड़ित पुरुष ! (उदधेः समुद्रस्य) ज्वार के साथ उमड़ते हुए सागर का जल जिस प्रकार उठ कर नदियों में बहने लगता है उसी प्रकार (ते) तेरा (वस्ति बिलं) मूत्र कोष्ठ का छिद्र भी (विषितं) खुलकर मूत्र के निकलने योग्य हो जाय और (एवा०) इस प्रकार तेरा समस्त मूत्र ' वाल् ' शब्द के सहित बाहर आजाय ।

यथेषुका परापतदवसृष्टाधि धन्वनः ।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥ ६ ॥

भा०—(धन्वनः अधि) धनुष से (अवसृष्टा) छूटा हुआ (इषुका) बाण (यथा) जिस प्रकार (परा पतत्) दूर जा पड़ता है (एवा०) इसी प्रकार तेरा मूत्र भी सारा वस्ति भाग से छूट कर 'वाल्' शब्द सहित बाहर आ जाय ।



[४] जलों का वर्णन ।

अपोनप्त्रीयं सूक्तम् । सिन्धुद्वीपः कृतिश्च ऋषिः । सोम आपश्च देवताः ।
१–३ गायत्रं छन्दः । ४, पुरस्ताद् बृहती । चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम् ।
पृञ्चतीर्मधुना पयः ॥ १ ॥ ऋ० १ । २३ । १६ ॥

भा०—(अध्वरीयताम्) अध्वर—हिंसा रहित सोमयागादि करने हारे ऋत्विजों को (जामयः) भगिनियें, या स्त्रियें, जिस प्रकार (अध्वभिः) वेदि में चत्वाल और उत्कर के भागों के बीच में से जाती हैं और यज्ञ में (मधुना) सोम के मधुर रस के साथ (पयः) जल को (पृञ्चतीः) मिश्रित करती

हैं उसी प्रकार (अम्बयः) इस शरीर को पोषक रक्त-धारायें इस देहरूप वेदि में (अध्वभिः) अपने २ नाड़ी मार्गों से (मधुना) प्राण शक्ति से (पयः) पुष्टिकारक पदार्थ को (पृञ्चतीः) मिलाती हुई (अध्वरीयतां) अध्वर—जीवन यज्ञ का सम्पादन करने हारे प्राणों के (जामयः) बल को उत्पादन करती हुई (यन्ति) शरीर भर में गति करती हैं । इसी से भूमण्डल में वृष्टिरूप जलधाराओं और नदियों का भी वर्णन किया समझना चाहिये ।

अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह ।
ता नो हिन्वन्त्वध्वरम् ॥ २ ॥

ऋ० १ । २३ । १७ ॥ यजुः ६ । २४ ॥

भा०—(अमूः) ये वृष्टि जल (याः) जो (उप सूर्ये) सूर्य के आश्रय, उसकी किरणों द्वारा भूपृष्ठ से उठ कर ऊपर चले जाते हैं और (याभिः वा) जिनके (सह) साथ (सूर्यः) उनका प्रेरक सूर्य विद्यमान है (ताः) वह (नः) हमारे (अध्वरं) हिंसा रहित प्राणियों के जीवनमय यज्ञ को (हिन्वन्ति) तृप्त करते हैं, चला रहे हैं ।

अपो देवीरुप ह्वये यत्र गावः पिबन्ति नः ।
सिन्धुभ्यः कर्त्वं हविः ॥ ३ ॥ ऋ० १ । २३ । १८ ॥

भा०—(देवीः) दिव्यगुणयुक्त (अपः) जलधाराओं को (उपह्वये) अपने समीप बुलाता हूं, उनको प्राप्त करता हूं, (यत्र) जहां, जिनमें से (नः) हमारी (गावः) गौएं और भूमियां (पिबन्ति) रसपान करती हैं, सिंचती हैं, अतः (सिन्धुभ्यः) निरन्तर गतिशील बहने वाली उन जलधाराओं, नहरों के लिये (हविः) उत्तम मार्ग (कर्त्वं) तैयार करना चाहिये ।

अप्स्व१न्तरमृतमप्सु भेषजम् । अपामुत प्रशस्तिभि-
रश्वा भवथ वाजिनो गावो भवथ वाजिनीः ॥ ४ ॥

ऋ० १ । २३ । १९ ॥ यजु० ९ । ६ ॥

भा०—(अप्सु अन्तरम्) जलों के भीतर (अमृतम्) अमर जीवन शक्ति है, (अप्सु) जलों में (भेषजम्) रोगनाशक सामर्थ्य है (उत) और (अपां) जलों के (प्रशस्तिभिः) उत्तम गुणों से ही (अश्वाः) हे अश्व आदि वेगवान पशुगण ! तुम (वाजिनः) बलयुक्त (भवथ) हो जाते हो, और हे (गावः) गौ आदि दूध देने हारे पशुओ ! तुम भी (वाजिनीः) बलकारी दुग्ध आदि से सम्पन्न, पुष्ट हो जाती हो ।



[५] जलों का वर्णन ।

अपोनप्त्रीयम् । सिन्धुद्वीपः कृतिश्च ऋषिः । ऋग्वेदे त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीपो वाऽम्बरीष ऋषिः । आपो देवताः । गायत्री छन्दः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन ।
महे रणाय चक्षसे ॥ १ ॥

यजु० ११ । ५० ॥ ऋ० १० । ९ । १ ॥

भा०—हे (आपः) जलो ! या आप्त पुरुषो ! (मयोभुवः) आप सुख शान्ति के देने वाले (स्थ) हो, (ताः) वे आप (नः) हमें (ऊर्जे) बलकारी प्राण और अन्न के द्वारा (दधातन) धारण पोषण करो । और (महे) बड़े भारी पूज्य (रणाय) रमण करने योग्य निरतिशय ब्रह्मानन्द के (चक्षसे) साक्षात्कार करने के लिये हमें पुष्ट करो । अथवा—(महे

[५] पञ्चमं षष्ठं च सूक्तं शम्भुमयोभूसूक्तमुच्यते ।

रणाय चक्षसे) पूजनीय उत्तम रण=विविध उपभोग्य पदार्थों के उपभोग लाभ और जीवन के अभिमत फल दर्शन के लिये अथवा (रणाय) रमणीय शब्द, वेद, उपनिषद् द्वारा ज्ञानयोग्य परब्रह्म के साक्षात् करने के लिये हमें बल दो ।

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः ।
उशतीरिव मातरः ॥ २ ॥

यजुः ११ । ५१ ॥ ऋ० १० । ९ । २ ॥

भा०—(उशतीः) पुत्रको निरन्तर चाहने वाली प्रेममयी (मातरः) माताएं जिस प्रकार अपने पुत्रों को मधुर दुग्धरस पान करा कर पालती पोसती हैं उसी प्रकार हे (आपः) आपः (वः) तुम्हारा (यः) जो (शिवतमः) अत्यन्त अधिक कल्याणकारी (रसः) सारभूत रस है (तस्य) उससे (नः) हमें (इह) यहां (भाजयत) प्रदान कर पुष्ट करो ।

तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ ।
आपो जनयथा च नः ॥ ३ ॥

यजु० ११ । ५२ ॥ ऋ० १० । ९ । ३ ॥

हे (आपः) हे आपः देवो ! उस अलौकिक अक्षय सुखको प्राप्त करने के लिये (वः) आपको हम (अरं) अच्छी प्रकार से प्राप्त हों (यस्य) जिसके भीतर (क्षयाय) सदा निवास करने वाले आत्मा को आप (जिन्वथ) अत्यन्त तृप्त, सुखी करते हो और आप (नः) हमें और हमारे सन्तानों को (जनयथ च) उत्पन्न करते और बढाते हैं ।

ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्चर्षणीनाम् ।
अपो याचामि भेषजम् ॥ ४ ॥ ऋ० १० । ९ । ५ ॥

भा०—(वार्याणाम्) वरण करने योग्य समस्त धनों और सबसे श्रेष्ठ वरण करने योग्य प्रिय प्राणों को (ईशानाः) अपने वश करने वाले उनके स्वामी, (चर्षणीनां) दर्शनशील, इन्द्रियों या मनुष्यों को (क्षयन्तीः) निवास कराने हारे (अपः) आपः=जलों से (भेषजम्) रोगनाशक औषध की (याचामि) प्रार्थना करता हूं ॥

सब के प्राप्त करने योग्य होने से 'आपः' परमात्मा का नाम भी है। आपः-जलों के दृष्टान्त से ईश्वर से ही प्रार्थना उचित है। उस परमात्मा को भक्तों ने अपनी भावना के अनुसार नदियों, जलों या तीर्थों के रूप में उपासना की है, उसी का कल्याणतम रस परमानन्द मोक्ष है। उसी के लिये तीसरे मन्त्र में प्रार्थना है उससे ही चतुर्थ मन्त्र में भव रोग का परम भेषज मांगा है।

कौशिक सूत्र में इस सूक्त का विनियोग जलमार्जन, गौओं के रोगशमन पुष्टि, प्रजनन, जलसिञ्चन आदि कार्यों में बतलाया गया है।

[६] जलों का वर्णन।

अपोनप्त्रीयंसूक्तम्। अथर्वा कृतिः सिन्धुद्वीपश्च ऋषिः। ऋग्वेदे त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीपोऽम्बरीष ऋषिः। आपो देवताः। पथ्यापंक्तिश्छन्दः। चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

शं नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ आपो॑ भवन्तु पी॒तये॑।
शं योर॒भि स्र॑वन्तु नः ॥ १ ॥

ऋ० १० । ९ । ४ ॥ यजु० ३६ । १२ ॥

भा०—(देवीः) दिव्यगुणयुक्त (आपः) जल (नः) हमारे

[६] १-(द्वि०) 'शं नो भवन्तु पीतये' इति सामवेदे ॥

(अभिष्टये)-यज्ञ और अभीष्ट सुख साधन के लिये और (पीतये) पान करने के लिये (शं) कल्याणकारी हों और (नः) हमारे (शं) प्राप्त रोगों के शमन और (योः) अप्राप्त रोगों को दूर ही से निवारण करने के लिये (अभिस्रवन्तु) सब ओर से बहें, स्रवित हों।

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा।
अग्निं च विश्वशम्भुवम् ॥ २ ॥

ऋ० १ । २३ । २० ॥ ऋ० १० । ९ । ६ ॥

भा०—(सोमः) सौम्यगुणयुक्त, प्रेरक, परमात्मा और सब रोगों के विनाशक सोमरूप परम आयुर्वेद के विद्वान् ने (मे) मुझे (अब्रवीत्) यह उपदेश किया है कि (अप्सु, अन्तः) जलों के भीतर या रसों के भीतर ही (विश्वानि) समस्त (भेषजा) रोगों को दूर करने के सामर्थ्य हैं और उसने ही (अग्निं च) अग्नि को (विश्वशम्भुवम्) समस्त सुखों का मूल उत्पादक उपदेश किया है।

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे३ मम।
ज्योक्च सूर्यं दृशे ॥ ३ ॥

ऋ० १ । २३ । २१ ॥ १० । ९ । ७ ॥

हे (आपः) जलो ! आप (मम) मेरे (तन्वे) शरीर के लिये (वरूथं) सब रोगों के निवारक (भेषजं) औषध को (पृणीत) प्रदान करो और (ज्योक् च) चिरकाल तक (सूर्यं) सूर्य को भी (दृशे) देखने में समर्थ होकर हम आरोग्य बने रहें।

शं न आपो धन्वन्या३ः शमु सन्त्वनूप्याः।
शं नः खनित्रिमा आपः शमु याः कुम्भ-
आभृताः शिवा नः सन्तु वार्षिकीः ॥ ४ ॥

२—'आमश्च विश्वशम्भुवः' इति मै० सं०।

भा०—(नः) हमारे लिये (धन्वन्याः) मरुभूमि के उत्पन्न हुए जल भी (शं) कल्याणकारी हों और (अनूप्याः) अनूप=जलमय देश के जल भी (शम् उ) कल्याणकारी ही हों । (खनित्रिमाः) खोदकर कूओं से प्राप्त किये (आपः) जल भी (नः शं) हमें कल्याणकारी हों और (याः) जो जल (कुम्भे) घड़े और मटके में (आभृताः) रखे हों वे भी (शम् उ) कल्याणकारी हों और (वार्षिकीः) वर्षा के जल भी (नः) हमें (शिवाः) कल्याण, सुखकारी (सन्तु) हों ॥

वेद के ये दोनों सूक्त 'सलिल गण' में पठित हैं । उनमें क्रम से पंचम सूक्त के १ म मन्त्र में जलों को 'मयोभूः' और 'उर्ज्' बलकर, दिव्यदृष्टिदायक बतलाया है । संक्षेप से आयुर्वेद के अनुसार नाना जलों के गुण इस प्रकार हैं । सामान्य जल के गुण धन्वन्तरि राजनिघण्टु में:—

साधारणं जलं रुच्यं दीपनं पाचनं लघु ।
श्रमतृष्णापहं वातकफमेदोघ्नपुष्टिदम् ॥
पानीयं मधुरं हिमं च रुचिदं तृष्णाविशोषापहम्,
मोहभ्रान्तिमपाकरोति कुरुते भुक्तान्नपक्तिं पराम् ।
निद्रालस्यनिरासनं विषहरं श्रान्तार्त्तसंतर्पणम् ।
नृणां धीबलवीर्यवृद्धिजननं नष्टाङ्गपुष्टिप्रदम् ॥

साधारण जल रुचिकर, पाचन शक्ति का दीपक, हलका, प्यास, थकावट, वात, कफ, मेद के दोषों का नाशक, पुष्टिप्रद, मधुर, शीतल, तृष्णा-शोष का नाशक, मोह, भ्रम को दूर करता, अन्न को पकाने, निद्रा, आलस्य और विष को दूर करनेहारा, विद्या, बुद्धि, बल और वीर्य का वर्धक और क्षीण अङ्ग को पुष्टि करता है !

द्वितीय मन्त्र में 'शिवतम रस', तृतीय में वीर्यजनक और चतुर्थ में औषध

रूप प्राणों का आधार जल को कहा गया है। ये सब गुण नाना जलों में भिन्न २ रूप से पाये जाते हैं। जैसेः—

गगनाम्बु त्रिदोषघ्नं गृहीतं मृत्सुभाजने।
वल्यं रसायनं मेध्यं पात्रापेक्षी ततः परम्॥

आकाश से पड़ा जल तीनों दोषों का नाशक, बलकारी पवित्र रसायन है।

षष्ठ सूक्त के १ म में 'देवीः आपः'—

दिव्यवाय्वग्निसंयोगात् संहताः खात् पतन्ति याः।
शिलाप्रकारवद्धास्ताः करका अमृतोपमाः॥

दिव्य वायु और अग्नि के संयोग से शिलारूप ओला बनकर गिरने वाला जल अमृत के समान है। इसी प्रकार से आकाश से पड़े हिमों से आच्छादित पर्वतों से बहती नदियों के जल भीः—

हिमवत्प्रभवाः पथ्याः पुण्या देवर्षिसेविताः।
नद्यः पाषाणसिक्ताश्च वाहिन्यो विमलोदकाः॥

शरीर के लिये पथ्य, आरोग्यजनक और पवित्र होते हैं।

द्वितीय मन्त्र में सोम का वचन कि जल में और अग्नि में समस्त ओषधि हैं। इसके लिये राजनिघण्टु का पूर्ण प्रकरण दर्शनीय है।

तृतीय मन्त्र में—"ज्योक् च सूर्यं दृशे"। राजनिघण्टु में—रात के रखे शीतल जल का प्रातः पान का गुणः—

सोयं सद्यः पतगपतिना स्पर्धते नेत्रशक्त्या।
स्वर्गाचार्यं प्रहसति धिया द्वेष्टि दस्रौ च तन्वा॥

उसकी नेत्रशक्ति सूर्य या गरुड़ के समान होजाती है और बुद्धि बृहस्पति के और शरीर अश्विनीकुमार के समान होजाता है।

४ थं मन्त्र में ४ प्रकार के जलों का वर्णन है, 'धन्वन्य', 'अनूप्य', 'खनित्रिम' और 'कुम्भआभृत' इनके भी भिन्न २ गुण आयुर्वेद में बतलाये गये हैं वहां ही देखें।

इति प्रथमोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि षट्, ऋचश्चैकोनत्रिंशत्]

[७] प्रजा के पीड़ाकारियों का दमन ।

चातन ऋषिः । अग्निर्देवता । १–४, ६, ७ अनुष्टुभः ५, त्रिष्टुप् । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

स्तुवानमग्न आ वह यातुधानं किमीदिनम् ।
त्वं हि देव वन्दितो हन्ता दस्योर्बभूविथ ॥ १ ॥

भा०—हे (देव) प्रकाशमान ! राजन् ! (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्विन् ! (स्तुवानं) हिंसाशील (यातुधानं) पीड़ादायक, (किमीदिनं) 'अब क्या, अब क्या' इस प्रकार सदा जीवन के संकट में पड़े अथवा यह क्या, यह क्या' इस प्रकार सब के जान माल के स्वत्व को तुच्छ समझने वाले, सब के अपमानकारी पुरुष को तू (आ वह) सब तरफ से और सब तरह से पकड़ ला। क्योंकि (त्वं हि) तू (वन्दितः) सब के नमस्कार करने योग्य एवं (दस्योः) प्रजा के नाशक लोगों का (हन्ता) हनन करने वाला (बभूविथ) है।

यद्यपि 'स्तु' धातु हिंसार्थक नहीं पढ़ा है तो भी यातुधान का विशेषण होने से 'स्तु' धातु 'शस' धातु के समान स्तुति तथा भाषणार्थक होकर हिंसार्थक होना सम्भव है। (अथर्व० १ । ८ । २, ३) मन्त्रों में भी हिंसार्थक 'स्तु' धातु का प्रयोग है। सायण ने स्वयं यहां 'स्तु' धातु का अर्थ 'दान' किया है।

[७] १–(प्र०) 'स्तुवानस्तानयावह' (द्वि० तृ०) त्वं हि देवांस्तुतो हन्ता तस्योत बभूव्यथ, [?] इति पैप्प० सं० ।

आज्यस्य परमेष्ठिन् जातवेदुस्तनूवशिन् ॥
अग्ने तौलस्य प्राशान यातुधानान् वि लापय ॥ २ ॥

भा०—हे (परमेष्ठिन्) परम, सर्वोच्च पद पर अधिष्ठित ! हे (जातवेदः) सब उत्पन्न प्रजाओं को जानने हारे ! हे (तनूवशिन्) सब के शरीरों पर वश करने हारे अधिकारिन् राजन् ! हे (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्विन् ! और शत्रुतापक ! परंतप ! तू (तौलस्य) तुला से परिमित, भारी (आज्यस्य) वज्र को (प्र, अशान) धारण कर और (यातुधानान्) पीड़ा देने वाले दुष्ट पुरुषों को (विलापय) नाना प्रकार से रुला, उनका विनाश कर।

वज्रो वा आज्यम्। कौ० १३। ७। वज्रो वा आज्यम्। तद्वज्रेणैतन्नाष्ट्रा रक्षांसि अववाधते। श० ३। ३। ४। १। ३४॥ ब्रह्मयज्ञ के समान क्षत्रयज्ञ=राष्ट्रपालन में आज्य=वज्र=तलवार या खड्ग का प्रतिनिधि है। पण्डित ग्रीफिथ और ह्विटनि ने इस मन्त्र में "तौलस्य प्राशान" पाठ को "तैलस्य प्राशान" पाठ पढ़ कर यज्ञ में तैल आहुति करने का अर्थ किया है। सो यह उनका भ्रम है'।

विलपन्तु यातुधाना अत्त्रिणो ये किमीदिनः।
अथेदमग्ने नो हुविरिन्द्रश्च प्रति हर्यतम् ॥ ३ ॥

भा०—(यातुधानाः) पीड़ा देने वाले (अत्त्रिणः) दूसरों के जान, माल हड़प जाने वाले (ये) जो (किमीदिनः) दूसरों के जान माल को कुछ भी न समझने वाले, नृशंस लोग हैं वे (विलपन्तु) नाना प्रकार से विलाप करें, अपने दुःख झेलें और रोएं, चीखें। (अथ) उसके बाद हे (अग्ने) शत्रुतापन ! सेनापते ! दण्डाध्यक्ष ! आप और (इन्द्रः च) और

२–(तृ. च०) 'तूलस्य प्राशानं यातुधानाद् विलापयः' इति पैप्प० सं०।
३–(प्र०) 'यातुधानात्रिणो,' (तृ०) 'यथेदमग्ने' इति पैप्प० सं०।

इन्द्र, राजा, ऐश्वर्यवान् दोनों (नः) हमारा (हविः) दिया हुआ अन्न या षष्ठांश बलि ग्रहण करने के लिये या हमारे अभिनन्दन की पुकारों को प्राप्त करने के लिये (प्रति हर्यतम्) उद्योग करें ।

'अग्नि' राज्य का वह विभाग जो प्रजापीड़कों को खोज २ कर पता लगावे और दण्ड दिलवावे । 'इन्द्र' राज्य का वह विभाग जो प्रजापीड़कों को पकड़े परास्त करे और दण्ड दे ।

अग्निः पूर्व आ रभतां प्रेन्द्रो नुदतु बाहुमान् ।
ब्रवीतु सर्वो यातुमानयमस्मीत्येत्य ॥ ४ ॥

भा०—(पूर्वः) सब से पूर्व (अग्निः) शत्रुतापक, परंतप विभाग (आ रभतां) सब ओर से दुष्ट पुरुषों को प्राप्त करे, पकड़े, पता लगावे । और (इन्द्रः) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् राजा (बाहुमान्) उनको बांधने-पीड़ा करने के पूरे सामर्थ्य से युक्त होकर (प्र नुदतु) खूब अच्छी तरह से दबावे जिससे (सर्वः) सब (यातुमान्) प्रजापीड़क लोग (एत्य एत्य) राजा के सामने आ आ कर (ब्रवीतु) स्वीकार करें, कहें कि (अयम् अस्मि इति) यह मैं कसूरवार हूं, मैं हाज़िर हूं, मैं आपकी शरण हूं, आपका सेवक हूं ।

पश्याम ते वीर्यं जातवेदः प्र णो ब्रूहि यातुधानान् नृचक्षः ।
त्वया सर्वे परितप्ताः पुरस्तात्त आ यन्तु प्रब्रुवाणा उपेदम् ॥५॥

भा०—हे (जातवेदः) अग्ने ! सब प्रजा भर को जानने वाले ! (ते वीर्य) तेरे वीर्य, बल, सामर्थ्य को हम (पश्याम) देख रहे हैं । हे

४–(प्र०, द्वि०) "अग्निः पुरस्तादायच्छतु प्रथ इन्द्रो नुददस्वाहुम् [?]" (च०) 'अयमस्मिते य' इति पैप्प० सं० ।

५–(प्र०) 'वीर्या जातवेदः' (तृ०) 'परितप्तः' (च०) 'आयान्तु' इति पैप्प० सं० ।

(नृचक्षः) सब मनुष्यों पर अपनी आंख रखने वाले ! तू ही (नः) हमें (यातुधानान् प्र ब्रूहि) पीड़ा देने वाले दुष्ट गुण्डा लोगों को भली प्रकार शिक्षा दे, और उनको बतलादे। जब वे तेरे तेज से पीड़ित हों तब (ते) वे स्वयं (इदम्) यह (प्रब्रुवाणाः) कहते हुए ही (ते उप आयन्तु) तेरी शरण आवें कि (पुरस्तात्) पहले ही (त्वया) तुझ राजा ने (सर्वे) सब दुष्टों को (परितप्ताः) तपा रखा है, हम भय खाकर तेरी शरण हैं।

आ रंभस्व जातवेदोऽस्माकार्थाय जज्ञिषे ।
दूतो नो अग्ने भूत्वा यातुधानान् वि लापय ॥ ६ ॥

भा०—हे (अग्ने) ! जातवेदः (अस्माकार्थाय) हमारे राष्ट्र के अर्थ=हित के लिये तू (आरभस्व) अपना कार्य बराबर कर और (नः) हमारा सब का (दूतः) प्रतिनिधि होकर (यातुधानान्) पीड़ादायक प्रजा के घातक, नरपिशाचों को (विलापय) नाना प्रकार से पीड़ा दे और रुला।

त्वमग्ने यातुधानानुपबद्धाँ इहा वह ।
अथैषामिन्द्रो वज्रेणापि शीर्षाणि वृश्चतु ॥ ७ ॥

भा०—हे अग्ने ! (त्वम्) तू (यातुधानान्) प्रजा को पीड़ा और त्रास देने वाले लोगों को (उपबद्धान्) बांध २ कर (इह) इस नियत स्थान, जेलखाने में (आवह) लाकर रख । (अथ) और उसके बाद (इन्द्रः) इन्द्र=राजा (एषां) इन के (शीर्षाणि) सिरों को यदि उचित अपराध जाने तो (वज्रेण) तलवार से (अपि वृश्चतु) काट डाले, उनको प्राणदण्ड दे।

६–'आरभस्व ब्रह्मणा जातवेदो हृदि कामाय रन्धय । दूतो नो अग्निरुत तिष्ठ-यातुधानानिहानय ।' इति पैप्प० सं० ।

७–(च०) 'अप शीर्षा वृश्चतु' इति पैप्प० सं० ।

[८] प्रजाके पीड़कों का नाश करने का उपाय।

चातन ऋषिः। १, २ बृहस्पतिरग्निषोमौ च देवताः। ३, ४ अग्निर्देवता। १—३ अनुष्टुभः। ४, बार्हतगर्भा त्रिष्टुप्। चतुर्ऋचं सूक्तम्॥

इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवा वहत्।
य इदं स्त्री पुमानकरिह स स्तुवतां जनः॥ १॥

भा०—(नदी फेनम् इव) जिस प्रकार नदी फेन या झाग को (आ वहत्) बहा ले जाती है उसी प्रकार (इदं हविः) यह अन्नरूप राजकर या प्रजा का अभिनन्दन या प्रजा की राजा के प्रति पुकार ही (यातुधानान् आ वहत्) प्रजा के पीड़क लोगों को बहा देती है। (स्त्री वा पुमान् वा यः इदं अकः) जो भी नर या नारी इस आवाज़ को उठाता है (स) वही (जनः) प्रजा जन (स्तुवतां) अपने पीड़कों का नाश करता है।

अयं स्तुवान आगमदिमं स्म प्रति हर्यत।
बृहस्पते वशे लब्ध्वाग्नीषोमा वि विध्यतम्॥ २॥

भा०—जब (अयं) यह (स्तुवानः) हनन करता हुआ प्रजापीड़क दुष्ट पुरुष (आगमत्) सामने आवे तभी (इमं प्रति हर्यत स्म) इसको शीघ्र पकड़ो। हे (बृहस्पते) बड़े बड़े बलवान् पुरुषों के पालक, उस घातक प्रजापीड़क को (वशे लब्ध्वा) वश में करके, पकड़ कर, कैद करके, हे (अग्नीषोमौ) अग्नि और सोम! शत्रुतापक और राजन्! (विविध्यतम्) तुम दोनों उस नीच को वेध डालो, उसको गोलियों का या बाणों का शिकार करो या पीड़ित करो।

---

[८] १-(तृ०, च०) 'नीदं स्त्री पुमानकर्यंशम् भुवतां जनः' [?] इति पैप्प० सं०।
२-(प्र०, द्वि०) 'स्तुवानो गम त्वं स्मोत प्रति हर्यत' इति पैप्प० सं०।

यातुधानस्य सोमप जहि प्रजां नयस्व च ।
नि स्तुवानस्य पातय परमक्ष्युतावरम् ॥ ३ ॥

भा०—हे (सोमप) राजा के पद या राष्ट्र की रक्षा करने वाले अग्ने! तू (यातुधानस्य) प्रजापीड़क, नीच, डाकू आदि के (प्रजां) सन्तति को भी (जहि) विनाश कर और (नयस्व च) क़ैद में ले जा. राष्ट्र में मत रहने दे। और (निः स्तुवानस्य) नाना प्रकार से लल्लो पत्तो करते हुए या हत्याकारी हिंसक पुरुष की (परम् अक्षि उत अवरम्) दायीं और बायीं दोनों आंखें (नि पातय) निकाल डाल।

यत्रैषामग्ने जनिमानि वेत्थ गुहा सतामत्त्रिणां जातवेदः ।
तांस्त्वं ब्रह्मणा वावृधानो जह्येषां शततर्हमग्ने ॥ ४ ॥

भा०—हे (अग्ने) परंतप! हे (जातवेदः) सब के ज्ञाता! (यत्र) जहां २ (गुहा) गुफ़ा तक में (सतां) विद्यमान (एषां) इन (अत्रिणां) प्रजाभक्षक लोगों के (जनिमानि) अड्डों को, उत्पत्ति या निकासों को (वेत्थ) जान पावे, तू (ब्रह्मणा वावृधानः) ब्रह्म=ब्राह्मण्य बल अथवा वेद की व्यवस्था के बल से शक्तिशाली होकर (एषां शततर्हम्) उनमें से सैकड़ों २ के वध करा २ के (तान्) उन दुष्टों को (जहि) विनाश कर।

राष्ट्र में राजा के पक्ष में एवं शरीरपक्ष में अग्नि=आत्मा, इन्द्र=प्राण यातुधान किमीदी=मानस दुःसंकल्प, जो सदा 'अब क्या' २ इस प्रकार तृष्णा के भाव दर्शाते और सदा यातुमान्=बेचैनी प्रकट करते हैं। इसी प्रकार शरीर के विनाशक रोगों के विनाशक वैद्य आदि के पक्षमें भी लगजाता है।



३-(तृ०) 'न्यस्तुवानस्य पातय' इति पैप्प० सं०।

[६] ब्रह्मतेज और आयु की प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । १, २ वस्वादयो मन्त्रोक्ता देवताः । ३, ४ अग्निर्देवता ।
त्रिष्टुप् छन्दः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

अस्मिन् वसु वसवो धारयन्त्विन्द्रः पूषा वरुणो मित्रो अग्निः ।
इममादित्या उत विश्वे च देवा उत्तरस्मिञ्ज्योतिषि धारयन्तु ॥१॥

भा०—राज्यलक्ष्मी और ब्राह्म तेज और आयु की कामना करने के लिये इस सूक्त में उपदेश है । उपनयन के समय आचार्य ब्रह्मचारी के प्रति, राज्याभिषेक के समय पुरोहित राजा के प्रति कहता है कि—(अस्मिन्) इस राजा और ब्रह्मचारी में (वसवः) आठों वसु, विद्वान् और राजगण (वसु) तेजःस्वरूप ऐश्वर्य को (धारयन्तु) धारण करावें । (इन्द्रः[1]) ऐश्वर्यशील (वरुणः[2]) सब से श्रेष्ठ, सर्वव्यापक, आदित्य के समान योगीजन (मित्रः) सब का स्नेही, मृत्यु से बचाने हारा (अग्निः) सब का प्रकाशक, सब का अग्रणी (आदित्याः[3]) द्वादश मास, या आदित्यव्रती योगीजन (उत च) और (विश्वेदेवाः) सब विद्वान् पुरुष (इमं) इस ब्रह्मचारी और राजा को (उत्तरस्मिन्) उत्कृष्ट (ज्योतिषि) ब्रह्मरूप, ज्ञानमय प्रकाश एवं उत्कृष्ट राज्य ऐश्वर्य में (धारयन्तु) धारण करें ।

---

[६] १–(द्वि०) 'त्वष्टा वरुणो', (च०) 'उत मे देवा ज्योतिष' इति पैप्प० सं० ।

१. 'न केवलं वसवः अपि तु इन्द्रः परमैश्वर्ययुक्तो देवानामधिपतिर्देवः । यद्वा इदंकारास्पदं विश्वं कारणभूतब्रह्मात्मन अद्राक्षीदिति इन्द्रः ।' इति सायणः ॥

२. अहोरात्रे वै मित्रावरुणौ (तै० सं० २ । ४ । १०) मित्रः प्रमीतेस्त्रायते इति यास्कः । (निरु० १० । २१)

३. अदितेर्धात्रर्यमादयः पुत्राः प्रसिद्धास्तेऽपि पृथिव्याः धातृन्यायकर्त्रादयो द्वादशैव इति राजनीतिपक्षे समीचीनः । विश्वेदेवानां निर्णयस्तु तदेतन्नरराष्ट्रमिव भवतीति निरुक्तवचनाद् ध्येयम् ।

अस्य देवाः प्रदिशि ज्योतिरस्तु सूर्यो अग्निरुत वा हिरण्यम् ।
सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ २ ॥

भा०—हे (देवाः) देवगणो ! विद्वान् लोगो ! (अस्य) इस राजा के (प्रदिशि) शासन या आज्ञा में (सूर्यः) सर्वप्रकाशक (अग्निः) सब कार्यों का अग्रणी यज्ञनिष्पादक और (हिरण्यम्) सुवर्ण और चन्द्र आदि (ज्योतिः) ज्योतिष्मान् पदार्थ (अस्तु) हों (सपत्नाः) शत्रु लोग (अस्मद् अधरे) हमारे नीचे (भवन्तु) रहें और हे ईश्वर ! (इमं) इस राजा को (उत्तमं) उत्तम (नाकं) सुख सम्पन्न, समृद्ध, ऐश्वर्यमय राजपद या पारलौकिक सुख पर (अधि रोहय) स्थापित करो ।

सूर्यादिक ज्योति इसके राज्यमें प्रकाश, प्रवर्षण आदि करें और सुवर्ण आदि धन भी रहे । स्वर्ग के समान सुखकर इसका राज्य रहे । नाक=कं सुखं, अकं दुःखम् । न विद्यते अकं अस्मिन्निति नाकः स्वर्गः । सुवर्गो वै लोको नाकः, नास्मा अकं भवति (तै० सं० ५ । ३ । ७ । १) ब्रह्मचारी के पक्ष में— (अस्य प्रदिशि हे देवाः ज्योतिरस्तु) इसके वश में ज्ञानमय ज्योति हो, प्राणरूप सूर्य, जाठर अग्नि और आत्मारूप हिरण्य भी इसके शासन में हों ; काम क्रोध आदि दुष्ट वृत्तिरूप शत्रु इसके वश रहें और वह सुखमय ब्रह्म पद का लाभ करे ।

येनेन्द्राय समभरः पयांस्युत्तमेन ब्रह्मणा जातवेदः ।
तेन त्वमग्न इह वर्धयेमं सजातानां श्रैष्ठ्य आ धेह्येनम् ॥३॥

२–(प्र०) 'अस्मिन् देवाः प्रदिशा', (तृ०, च०) 'उत्तरेण ब्रह्मणा विभाहि कृण्वानो अन्यान् अधरान् सपत्नान्' इति पैप्प० सं० ।

३–(द्वि०) ' उत्तरेण ब्रह्मणा ', (च०) रायस्पोषं श्रेष्ठ्यमा धेह्यस्मै । इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'समभरन् पयांस्युत्तमेन हविषा जातवेदः । अग्ने त्वमुत वर्धय माम्, सजातानां मध्ये श्रैष्ठ्य आधेहि मा ' इति मै० सं० ।

भा०—हे (जातवेदः) समस्त संसार के उत्पन्न पदार्थों के जानने हारे परमात्मन् ! (येन) जिस (उत्तमेन) उत्कृष्ट (ब्रह्मणा) ब्रह्मतेज से (इन्द्राय) इन्द्ररूप आचार्य के लिये (पयांसि) नाना प्रकार के ज्ञान अथवा उनके प्रतिनिधिरूप अञ्जलिगत जलों को (समभरः) धारण करते हो (तेन) उसही ब्रह्मतेज से हे अग्ने ! (त्वं) तू (इमम्) इसको (वर्धय) बढ़ा, उन्नत कर और (सजातानां) समान रूप से उत्पन्न अन्य मनुष्यवर्ग में से (एनम्) इसको (श्रैष्ठ्ये) श्रेष्ठ पद में (आधेहि) स्थापन कर ।

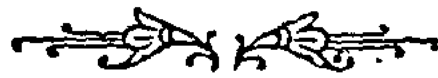
राजा के पक्ष में—(येन उत्तमेन ब्राह्मणा इन्द्राय पयांसि समभरः) जिस उत्तम ब्रह्म, वेद-व्यवस्था से इन्द्र महाराज के लिये राष्ट्रपोषक पदार्थों को उपस्थित किया जाता है हे (अग्ने) विद्वन् ! (तेन त्वं वर्धय) उससे तू इस शूर पुरुष को बढ़ा और (सजातानां श्रैष्ठ्ये आधेहि) समान पद के राजाओं में उन्नत पद पर इसको बिठला ।

ए॒षां य॒ज्ञमु॒त वर्चो॑ ददे॒ऽहं रा॒यस्पोष॑मु॒त चि॒त्तान्य॑ग्ने ।
स॒पत्ना॑ अ॒स्मद॑ध॒रे भ॑वन्तूत्त॒मं नाक॒मधि॑ रोहये॒मम् ॥ ४ ॥

भा०—(एषां) इन प्रजाजनों के (यज्ञं) राष्ट्रमय यज्ञ या संगति या प्रेम से उपाहृत दान भेट को (उत) और (वर्चः) बल को (आददे) स्वीकार करता हूं । हे अग्ने ! सब के साक्षी परमात्मन् ! इनके (रायस्पोषम्) धन और अन्न आदि पोषक पदार्थों (उत) और (चित्तानि) स्नेहभरे चित्तों को भी आददे, स्वीकार करता हूं, अपने वश करता हूं, जिससे (सपत्नाः) शत्रुगण मेरे मुकाबले में खड़े होने वाले प्रजा का पति होने का दावा करने वाले (अस्मत् अधरे) हम से निकृष्ट ही (भवन्तु) रहें और हे परमात्मन् !

४–(च०) ' उत्तमे देवा ज्योतिषि दधातन [?] इति पैप्प० सं० ।

(इमं) इस उत्तम प्रजाप्रिय राजा को (उत्तमं) उत्कृष्ट (नाकं) स्वर्ग समान समृद्ध, राज्यपद पर (अधिरोहय) स्थापित कर।



[१०] ईश्वर और राजा।

अथर्वा ऋषिः। असुरो वरुणो देवता। १, २ त्रिष्टुप्, ३ ककुम्मती अनुष्टुप्। चतुर्ऋचं सूक्तम्।

अयं देवानामसुरो वि राजति वशा हि सत्या वरुणस्य राज्ञः।
ततस्परि ब्रह्मणा शाशदान उग्रस्य मन्योरुदिमं नयामि॥ १॥

भा०—(अयं) यह राजा (देवानां) विद्वानों के बीच (असुरः) प्राण के समान देव=दिव्यपदार्थों, तेजस्वी पुरुषों के बीच अतिसामर्थ्य सम्पन्न होकर (विराजति) प्रकाशमान, यशस्वी है। (हि) क्योंकि (वरुणस्य) सब से श्रेष्ठ, परम वरणीय, पापों के निवारक (राज्ञः) राजाओं के राजा ईश्वर के ही (सत्या) समस्त सत्य ज्ञान और सत्य गुण (वशा) वश हैं और (ततः परि) उस परमात्मा के अनुग्रह से ही (ब्रह्मणा) वेदज्ञान और तप, ब्रह्मचर्य द्वारा (शाशदानः) तीक्ष्ण बुद्धि और बलवान् तपस्वी होकर मैं (इमं) इस को (उग्रस्य) सर्वशक्तिमान् (मन्योः) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर के अनुग्रह से (उत् नयामि) उन्नत, राज्यसिंहासन पद को प्राप्त कराता हूं।

नमस्ते राजन् वरुणास्तु मन्यवे विश्वं ह्युग्र निचिकेषि द्रुग्धम्।
सहस्रमन्यान् प्र सुवामि साकं शतं जीवाति शरदस्तवायम्॥२॥

[१०] १—'विशाय सत्या' इति पैप्प० सं०।

२—(तृ०, च०) 'शतं सहस्रं प्रसुवा मन्यान् अयं नो जीवा शरदो व्यपेय' इति पैप्प० सं०।

भा०—(वरुण) सर्वश्रेष्ठ, पापों के निवारक वरुण ! (राजन्) हे सर्वत्र प्रकाशमान् ! (ते मन्यवे) तेरे ज्ञानसामर्थ्य अथवा ज्ञानस्वरूप तुझे या दुष्कर्मों का फल देने वाले तेरे कोप या दण्डव्यवस्था के लिये (नमः) हम आदर भाव प्रकट करते हैं । हे (उग्र) उद्यतदण्ड ! उग्रस्वभाव ! सर्वोपरि बल ! तू (विश्वं) समस्त (द्रुग्धं) द्रोह करने वाले, हिंसक एवं अपराधी, कर्मव्यवस्था के द्रोही, उन्मार्गगामी पुरुष को (नि चिकेषि) खूब अच्छी प्रकार जानता है । मैं राजपुरोहित सब को (अन्यान्) और (सहस्रं) हजारों पुरुषों को भी (साकं) एक साथ ही (प्र सुवामि) इसी प्रकार बल प्रदान करता और सन्मार्ग पर चलाता हूं । हे प्रभो ! (तव) तेरी कृपा से (अयं) यह राजा, पुरुष (शतं शरदः) सौ वर्ष तक (जीवाति) जीए ।

यदु॒वक्थानृ॑तं जि॒ह्वया॑ वृजि॒नं ब॒हु ।
रा॒ज्ञस्त्वा॑ स॒त्यध॑र्मणो मु॒ञ्चामि॒ वरु॑णाद॒हम् ॥ ३ ॥

भा०—हे मनुष्य ! (यद् उ) जो भी तू (जिह्वया) जिह्वा, वाणी से (अनृतं) असत्य, अयथार्थ, वेदज्ञान के विपरीत (उवक्थ) बोलता है वह (बहु) बहुत ही बड़ा (वृजिनं) पाप है, उसको त्याग कर देना चाहिये । (अहं) मैं सत्यधर्म का उपदेष्टा (त्वा) तुझ अनृतवादी पुरुष को यथोचित शिक्षा देकर उस (सत्यधर्मणः) सत्यस्वरूप सच्ची धर्मव्यवस्था करने हारे, नियामक (वरुणात्) सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर या राजा के आगामी दण्ड से (मुञ्चामि) छुड़ाता हूं ।

वृजिनमनृतं दुश्चरितं, ऋजु कर्म सत्यं सुचरितम् ॥
(तै० ब्रा० ३ । ३ । ७ । १०)

३–(प्र०) 'यत्त्वमुवक्थानृतम्' इति ह्विटनिकाभिमतः पाठः । 'उवक्त' इति सायणाभिमतः पाठः ।

रोगियों के वैद्य और शिष्यों के प्रति गुरु और अपराधियों के प्रति राजा का समान रूप से वचन है।

मुञ्चामि त्वा वैश्वानरादर्णवान् महतस्परि ।
सजातानुग्रेहा वंद ब्रह्म चापं चिकीहि नः ॥ ४ ॥

भा०—हे राजन् ! (वैश्वानरात् महतः अर्णवात् त्वा परिमुंचामि) समस्त प्रजा के बड़े भारी सागर से मैं तुझे मुक्त करता हूं। हे उग्र ! (इह) इस राजपद पर (सजातान् ब्रह्म आवद) अपने समान अन्यों को ज्ञान का उपदेश कर (नः अप चिकीहि) हमें ज्ञानवान कर, दोषों से छुड़ा।

अथवा—हे पुरुष (त्वा) तुझको (महतः) बड़े भारी (वैश्वानरात्) वैश्वानर, सर्वहितकारी जाठर अग्नि के स्थान उदर में लगे हुये (अर्णवात्) जल से, जलोदर रोग से (परि मुञ्चामि) छुड़ाता हूं। रोगी का वचन। हे उग्र ! वैद्य (सजातान्) अपने सहवर्ती सहायक वर्ग को इस सम्बन्ध में (आवद) उपदेश करो और (ब्रह्म च) ज्ञानपूर्वक (अप) रोग को दूर करो और (नः) हमें (चिकीहि) आरोग्य करो।

केवल १ म मन्त्र में 'ब्रह्म' और अन्तिम मन्त्र में 'अर्णव' शब्द देख कर जलोदर रोग पर इस सूक्त को लगाने का यत्न किया जाता है।

[११] सुखपूर्वक प्रसवविद्या।

अथर्वा ऋषिः। पूषा देवता। १ पंक्तिश्छन्दः, २ अनुष्टुप्, ३–४ उष्णिग्गर्भाः ककुम्मत्यः, ४, ६, पथ्यापंक्तिः। षडृचं सूक्तम्।

वर्षट् ते पूषन्नस्मिन्त्सूतावर्यमा होतां कृणोतु वेधाः ।
सिस्रंतां नार्यृतप्रजाता वि पर्वाणि जिहतां सूतवा उं ॥१॥

४–(प्र०) 'अमुञ्चं त्वा' इति पैप्प० सं०।

भा०—इस सूक्त में गर्भिणी के उपचार अर्थात् सुख से प्रसव कराने और पुत्रजनन-विज्ञान और कर्म का उपदेश किया है। हे पूषन् ! स्त्री आदि के पोषक गृहपते ! (अस्मिन्) इस (सूतौ) वालप्रसव कार्य में (वेधाः) विद्वान् (अर्यमा) श्रेष्ठ, सत्यधर्मा (होता) याज्ञिक गृहपति (ते) तेरे सुख के लिये (वषट् कृणोतु) यज्ञ सम्पादन करे। जिससे नीरोग होकर (नारी) स्त्री (ऋतप्रजाता) ठीक रीति से जीवित वालक को प्रसव करने हारी होकर (सिस्रतां) वालक को जने। और स्त्री के शरीर के (पर्वाणि) सन्धिस्थान (सूतवा) प्रसव करने के लिये सुखपूर्वक (वि जिहतां) विशेषरूप से ढीले होजांय।

इस मन्त्र से गर्भिणी के शिर को प्रसवकाल में यज्ञ के अवपातित घृत से मिले उष्ण जल से भिगोया जाता था।

चतस्रो दिवः प्रदिशश्चतस्रो भूम्या उत ।
देवा गर्भं समैरयन् तं व्यूर्णुवन्तु सूतवे॥ २ ॥

भा०—जिस प्रकार (दिवः) सूर्य के चारों ओर (चतस्रः प्रदिशः) चार दिशाएं उसको घेरे हैं और जिस प्रकार (भूम्याः) भूमि को (चतस्रः) चारों दिशाएं घेरे हैं, उसी प्रकार (गर्भ) गर्भ को भी चारों ओर से घेरा हुआ है। (तम्) उसको (देवाः) पांचों भूत (समैरयन्) गति देते हैं। अथवा उसको (देवाः) प्राण ही गति देते हैं और वेही (सूतवे) उत्पन्न करने के लिये (विऊर्णुवन्तु) उस आवरणकारी गर्भस्थान से बाहर करते हैं।

सूषा व्यूर्णोतु वि योनिं हापयामसि ।
श्रथया सूषणे त्वमव त्वं विष्कले सृज ॥३॥

[११] २—(च०) 'व्यूर्णपन्तु' इति सायणाभिमतः पाठः। (तृ०) समैरयन्तां इति क्वाचित्कः पाठः।

३—(प्र०) 'पूषा व्यूर्णोतु गर्भं वियोनिं' इति ह्विटनिकामितः पाठः।

(३) 'त्वं पुल्कले सृज' इति पैप्प० सं०।

भा०—(सूषा) सुख से बालक को प्रसव करने वाली स्त्री, (वि उर्णोतु) अपने गर्भ को जब बाहर करे तब हम (योनिं) मूल गर्भस्थान को (विहापयामसि) विशेष रूप से विस्तृत करके गर्भ को बाहर आने दें। हे (सूषणे) सुखपूर्वक बालक का प्रसव करने हारी स्त्री ! (त्वं) तू अपने अंगों को (श्रथयं) ढीला छोड़ दे । हे (विष्कले) गर्भाशयगत अपानबल से प्रसव कराने वाली नाड़ि ! (त्वं) तू बालक को (अवसृज) नीचे को प्रेरित कर ।

नेव॑ मांसे न पीव॑सि नेव॑ मज्जस्वाह॑तम् ।
अवै॑तु पृश्नि शेव॑लं शुने॑ जराय्वत्तवेऽव॑ जरायु॑ पद्यताम् ॥४॥

भा०—जरायु जिसमें गर्भाशयगत बालक लिपटा होता है (न इव) नाहीं (मांसे) मांस में, (न) न (पीवसि) शरीरगत मेद या चर्बी में और (न इव) न (मज्जसु) मज्जाओं में ही (आहतम्) सटा, चिपका होता है, इस लिये वह (जरायु) जरायु भाग भी (पृश्नि) केवल भीतर के अंग को स्पर्शमात्र करने वाला या श्वेतवर्ण का (शेवलं) जल में उतराने वाले सेवार के समान, असम्बद्ध सा होता है । वह (जरायु) गर्भवेष्टन (शुने अत्तवे) कुत्ते आदि हीन जन्तु का खाद्य, गलित मांस के समान (अव पद्यताम्) नीचे आजावे ।

४–' नेव मांसेन ' इति सायणाभिमतपदच्छेदः पदपाठानुक्रमण्यादिविरुद्धः । नैव स्नावसु न पर्वसु न केथे(शे)पु न नखेपु च । अवैतु पृश्नि शेवलं शुने जराय्वत्तवे । नैव पौ (मां) से न पीवसि नैक(व) कस्न्यो (ट्यो) ष्व (श्च) नायुतम् । अव जरायु पद्यताम् । इति पैप्प० सं० । अवैतु पृश्निशेवलं शुने जराय्वत्तवे । नैव मांसेन पीवरि, न कस्मिंश्चिनायुतम् । अव जरायु पद्यताम् । इति पार० गृ० सू० । ' अवैतु पृश्नि केवलमिति ' ह्विटनिकामितः पाठः ।

वि ते भिनद्मि मेहनं वि योनिं वि गवीनिके ।
वि मातरं च पुत्रं च वि कुमारं जरायुणाव जरायु पद्यताम् ॥५॥

भा०—हे गर्भिणि ! (ते) तेरे (मेहनं) मूत्रद्वार को (वि भिनद्मि) खोलता हूं और बालक को सुगमता से बाहर आने देने के लिये (योनिं वि) योनिभाग गर्भाशय के मार्ग को भी फाड़ कर चौड़ा करता हूं और (गवीनिके) योनिमार्ग के पासों पर लगी दो नाड़ियाँ जो बालक के मार्ग में बाधक होती हैं उनको भी (वि) विशेष रूप से अलग अलग कर देता हूं । (मातरं वि) जननी को उस पुत्र से और (पुत्रं वि) पुत्र को गर्भाशय से भी और (कुमारं) शिशु को (जरायुणा) गर्भवेष्टन से (वि) जुदा २ करदेता हूं जिससे बालक सुखपूर्वक बाहर आजाय और सब के अनन्तर (जरायु) वह गर्भवेष्टन (अव पद्यताम्) नीचे आजाय । यहां साक्षात् ईश्वर ही प्रसवकारिणी के प्रति कह रहा है ।

यथा वातो यथा मनो यथा पतन्ति पक्षिणः ।
एवा त्वं दशमास्य साकं जरायुणा पताव जरायु पद्यताम् ॥६॥

भा०—गर्भ का बाहर आना स्वाभाविक है, (यथा) जैसे (वातः) वायु या प्राण नासिका से आपसे आप बाहर आते हैं और (यथा मनः) जिस प्रकार मन आपसे आप विषयों के प्रति जाता है और (यथा) जिस प्रकार (पक्षिणः) पक्षिगण अपने घोंसलों से निकल कर उड़ने लगते हैं

५—विते तृतामितगरिं व्योनि विगवेन्यौ । वि मातरं च पुत्रं च निगर्भं च जरायुजः । इति पैप्प० सं० ॥ पैप्पलादसंहितापाठानुसारमेव 'तक्री', 'गविन्यौ', 'जरायुत्र' इति पाठभेदाः । तैत्ति० सं० ।

६—यथा वातो यथा दद्य यथा सशद्रोयजन्त । एवा ते गर्भ एजतु निरैतु दशमास्यो बहिर्जरायुणा सह ।

(एवा) उसी प्रकार हे (दशमास्य) दश मास तक गर्भ में रहने हारे गर्भगत बालक ! (त्वं) तू (जरायुणा) गर्भकाल के वेष्टनचर्म=जेर के (साकं) साथ ही बाहर आजा और (जरायु) जेर भी (अव पद्यताम्) नीचे बाहर आजाय ।

इति द्वितीयोऽनुवाकः ।

[तत्र पञ्च सूक्तानि, पञ्चविंशतिर्ऋचः]



[१२] नीरोग रहने के उपाय ।

भृग्वंगिरा ऋषिः । यक्ष्मनाशनो देवता । जागतं छन्दः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

जरायुजः प्रथम उस्रियो वृषा वातभ्रजा स्तनयन्नेति वृष्ट्या ।
स नो मृडाति तन्व ऋजुगो रुजन् य एकमोजस्त्रेधा विचक्रमे ॥१॥

भा०—जिस प्रकार (उस्रियः) ऊपर की तरफ़ आता हुआ (वातभ्रजा) वात, प्रचण्ड वायु से प्रेरित (स्तनयन्) ध्वनि या गर्जन करता हुआ मेघ (वृष्ट्या) वृष्टि के साथ आता है उसी प्रकार (प्रथमः) प्रथम प्रथम (जरायुजः) जरायु से उत्पन्न होने वाला अर्थात् जेर में लिपटा बालक (उस्रियः) ऊपर आता है । (वृषा) माता पिता को सुख से पूर्ण करता हुआ अथवा हृष्टपुष्ट (वातभ्रजाः) गर्भस्थ अपान वायु द्वारा कम्पन करता या कुछ २

[१२] १–(द्वि०) 'वातभ्रजः' इति ह्विटनिकामितः पाठः । 'वातभ्रज्जा' इति वेबरकामितः । 'वातव्रजाः' इति सायणाभिमतः । शं० पा० मात्रादर्शग्रन्थयोर्द्वयोरुपलभ्यते च 'वातव्रजाः' इति । 'वातभ्रंजस्तनयन्' इति पैप्प० सं० । (च०) 'यस्यैकमोज' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

सरकता हुआ (स्तनयन्) स्तनों को उभारता हुआ (वृष्ट्या) योनिमार्ग से जलप्रस्रवणों सहित (एति) बाहर आता है । (सः) वह (ऋजुगः) सरल सीधे मार्ग से निकलता हुआ (नः) हमारे, प्रसवकारिणी माता के (तन्वः) शरीरों को (रुजन्) प्रसवकाल में पीड़ा देकर भी (मृडाति) सुख प्रदान करता है और (यः) जो बालक (एकम्) एक (ओजः) वीर्यस्वरूप होकर भी (त्रेधा) तीन रूपों में माता, पिता और पुत्र अथवा बालक और जरायु तथा जल इन तीन रूपों में (विचक्रमे) प्रकट होता है ।

अङ्गेअङ्गे शोचिषा शिश्रियाणं नमस्यन्तस्त्वा हविषा विधेम ।
अङ्कान्त्समङ्कान् हविषा विधेम यो अग्रभीत् पर्वास्या ग्रभीता ॥२॥

भा०—(अङ्गे अङ्गे) अङ्ग २ में (शोचिषा) दीप्ति से (शिश्रियाणं) आश्रय लेकर, व्यापक होकर विराजमान पुत्र को (नमस्यन्तः) जीवन प्रदान करते हुए, उचित उपचार पूर्वक (हविषा) हवि, उत्तम अन्न से उसको (विधेम) पुष्ट करें और (यः) जो (ग्रभीता) पकड़ लेने वाला, वातादि रोग (अस्य) इस पुरुष के (पर्वा) समस्त पर्वों, अस्थिसन्धियों में (अग्रभीत्) जड़ पकड़ गया है उस रोग की निवृत्ति के लिये हम (अङ्कान्) रोग के विशेष चिह्नों और (समङ्कान्) सहवर्त्ती लक्षणों को (हविषा) उत्तम ओषधि से (विधेम) प्रतिकार करेंगे ।

मुञ्च शीर्षक्त्या उत कास एनं परुष्परुराविवेशा यो अस्य ।
यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो वनस्पतीन्त्सचतां पर्वताँश्च ॥३॥

भा० —(अस्य) इस पुरुष के (यः) जो (कासः) खांसी, कासरोग और (शीर्षक्त्याः) शिरःपीड़ा का कारण (परुष्परुः) पर्व २ में (आविवेश) घुस

२—(प्र०, द्वि०) अङ्गे अङ्गे शोचिषा शिश्रियाणो यो ग्रहीत परस्या ग्रहीती । अंको तमंको हविषा यजामि हृदि श्रितो मनसा यो जजान । इति पैप्प० सं० ।
३—(च०) 'सजतां' इति पैप्प० सं० ।

गया है वह (एनं) इस पुरुष को (मुञ्च) छोड़ दे और (यः) जो पुरुष (अभ्रजाः) मेघ से उत्पन्न होने वाला और (यश्च) जो (वातजाः) वात से उत्पन्न होने वाला और (शुष्मः) शोष रोग वाला है वह (वनस्पतीन्) उत्तम जंगलों के वृक्षों और (पर्वतांश्च) स्वास्थ्यप्रद पर्वतों को (सचतां) जाकर वहां का वायु सेवन करे।

सायण के मत से रोगी का रोग वनस्पति और वृक्षों को लगजावे और रोगी रोग से मुक्त हो, यह संगति असंगत है। रोग ऐसा भूत या चेतन पदार्थ नहीं जो पक्षी के समान रोगी को छोड़ वृक्ष या पर्वत से चिपट जायगा, इस मन्त्र में जंगलों और पर्वतों के वायु सेवन का उपदेश पांच प्रकार के रोगियों के लिये है १ शिरो रोगी, २ कासरोगी, ३ वर्षाकाल के या मेघ के जल से उत्पन्न कीटाणुओं से हुए श्लेश्मज, तपेदिक के रोगी, ४ वातज रोगी या वातशोषी, ५ शुष्म या पित्तशोषी। इन सब रोगियों के लिये जंगल के वृक्षों की वायु और पर्वतों की हलकी रोगहर वायु स्वतः सिद्ध ओषधि है।

शं मे परस्मै गात्राय शमस्त्ववराय मे।
शं मे चतुर्भ्यो अङ्गेभ्यः शमस्तु तन्वे३ मम ॥ ४ ॥

यजु० २३ । ४४ ॥

भा०—(मे) मेरे (परस्मै) उत्कृष्ट (गात्राय) शरीर के उत्तम भाग, शिर के लिये (शं) कल्याण और सुख हो। (मे) मेरे (अवराय) नीचे के चरण

४—'शं ते परस्मै गात्राय शमस्तुपरायते। शं ते पृष्टिभ्यो मज्जभ्यश्च शमस्तु तन्वे तव'। इति पैप्प० सं० ॥ 'शं ते परेभ्यो गात्रेभ्यः शमस्त्ववरेभ्यः। शमस्थभ्यो मज्जभ्यः शम्वस्तु तन्वै तव।' इति यजु०। (च०) 'शमु ते तनुवे भवत्' इति तै० सं०।

और जघाभाग को भी (शम् अस्तु) सुख ही हो । (मे) मेरे (चतुर्भ्यः) चारों (अङ्गेभ्यः) अंगों बाहु, ऊरू, शिर और चरण को भी (शं) सुख हो । (मम) मेरे (तन्वे) समस्त शरीर को भी (शम् अस्तु) कल्याण हो ।

समष्टि भाग से चारों वर्णों और अपने शरीर के चारों भागों के कल्याण की प्रार्थना की गई है ।



[१३] विद्युत् शक्ति ।

भृग्वंगिराः ऋषिः । विद्युत् देवता । १, २ अनुष्टुप् छन्दः । ३ चतुष्पाद् विराड् जगती । ४ त्रिष्टुप् परा बृहतीगर्भा पंक्तिः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे ।
नमस्ते अस्त्वश्मने येना दूडाशे अस्यसि ॥ १ ॥

प्रथमार्धः, यजु० ३६ । २१ ॥

भा०—हे विद्युत् ! (ते) तेरी या तुझ (विद्युते) विशेप दीप्ति से चमकने वाली विद्युत् का (नमः) हम उपयोग करते हैं और (ते स्तनयित्नवे नमः) तुझ शब्द करने वाले का भी हम उपयोग करते हैं (ते) तेरे (अश्मने) ओले रूप में पड़ने वाले जल का या सर्वत्र शीघ्रता से फैलने वाली तेरा (नमः) हम उपयोग करते हैं । (येन) जिसके कारण से तू (दूडाशे) या विद्युत् शक्ति को समीप के अन्य पदार्थों को न दे देने वाले दुर्वाहक पदार्थों पर अपने को (अस्यसि) फेंकता है । काठ, वृत्त आदि दुर्वाहक पदार्थों पर अशनिपात होता है ।

---

[१३] १-(च०) 'येन दूरान् प्रदिजल्ससि [प्रत्यस्यसि]' इति पैप्प० सं० । 'नमस्ते भगवन्नस्तु यतः स्वः समीहसे' इति उत्तरार्धो यजुषि ।

नम॑स्ते प्रवतो नपाद् यत॒स्तपः॑ स॒मूह॑सि ।
मृ॒डया॑ नस्त॒नूभ्यो॒ मय॑स्तो॒केभ्य॑स्कृधि ॥ २ ॥

यजु० ३६ । २१ ॥

भा०—हे (प्रवतः नपात्) भूमि की तरफ़ वेग से गमन करने वाली विद्युत्! अथवा (प्रवतः नपाद्) वेग से गमन करने हारे वायु से न गिरती हुई या उत्पन्न होने हारे पुत्र के समान ! विद्युत् रूप! अथवा (प्रवतः) गतिशील जल को न गिराने वाले (ते नमः) तेरा यह सामर्थ्य है कि (यतः) जिससे तू (तपः) इस दीप्यमान तेज को (समूहसि) अपने भीतर एकत्र कर लेती है। तू (नः) हमारे (तनूभ्यः) शरीरों के लिये (मृडय) सुखकारी हो (तोकेभ्यः) हमारी सन्तानों के लिये भी (मयः) कल्याण (कृधि) कर।

मेघों की बिजली ही मेघ के वायुमण्डल में अधिक वेग से प्रकट होती है। वही दीप्त हो कर चमकती है। वह शरीर के रोगों को भी नाश करके आरोग्य पैदा करती है।

प्रव॑तो नपा॒न्नम॑ ए॒वास्तु तुभ्यं॒ नम॑स्ते हे॒तये॑ तपु॑षे च कृण्मः ।
वि॒द्म ते॒ धाम॑ पर॒मं गुहा॒ यत्स॑मु॒द्रे अ॒न्तर्निहि॑तासि॒ नाभिः॑ ॥३॥

भा०—हे (प्रवतः नपाद्) गतिशील, वेगवान्, बलवान् मेघ से उत्पन्न (तुभ्यं) तेरे लिये (नमः, एव अस्तु) यह वश करने का उपाय है। (तपुषे) सन्तापकारी अग्निस्वरूप (हेतये) आघातकारी इस तेरी शक्ति का (नमः) उपयोग हम (कृण्मः) करते हैं। (गुहा) निगूढ रूप से रहना

२—(च०) 'शं नस्तोकेभ्य' इति पैप्प० सं०।

३—'प्रवतां नपान्नमोऽस्तु तुभ्यं नमस्ते हेतेतिपुष्यै (?) च कृण्मः। गन्धर्वो नाम परमं गुहा यत् समुद्रे अन्तर्निहितास नाभिः। इति पैप्प० सं०।

ही (ते) तेरी (परमं) सर्वोत्कृष्ट (धाम) तेजःधारण सामर्थ्य को हम (विद्म) जानते हैं (यत्) कि तू स्वयं ही (समुद्रे) अन्तरिक्ष के (अन्तः) भीतर ही (निहिता) स्थापित (नाभिः) जल और मेघ को एकत्र बांधने वाला नाभिरूप है ।

यां त्वा॑ दे॒वा अ॒सृ॑जन्त॒ विश्व॒ इषुं॑ कृण्वा॒ना अस॑नाय धृ॒ष्णुम् ।
सा नो॑ मृड वि॒दथे॑ गृणा॒ना तस्यै॑ ते॒ नमो॑ अस्तु देवि ॥ ४ ॥

भा०—हे (देवि) दिव्यगुणसम्पन्न विद्युत् ! (यां) जिस (त्वा) तुझको (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान् गण (धृष्णुम्) शत्रु का धर्षण या मानभंग करने हारे (इषुं) बाण रूप (कृण्वाना) बनाते हुए शत्रुओं पर (असनाय) फेंकने के लिये (असृजन्त) तैयार करते हैं (सा) वह तू (विदथे) संग्राम और परोपकार के कार्यों में भी (नः) हमें (गृणाना) विद्वान् पुरुषों द्वारा उपदेश की गई (मृड) सुखकारी हो (तस्यै) उस (ते) तेरा (नमः) सदुपयोग (अस्तु) हो ।



[१४] कन्या—दान ।

भृग्वंगिरा ऋषिः । विद्युत् वरुणो, यमो वा देवता । १, ककुम्मती अनुष्टुप् । २, ४ अनुष्टुभौ । ३, चतुष्पाद् विराड् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

भग॑मस्या॒ वर्च॒ आदि॒ष्यधि॑ वृ॒क्षादि॑व॒ स्रज॑म् ।
म॒हाबु॑ध्न इव॒ पर्व॑तो॒ ज्योक् पि॒तृष्वा॑स्ताम् ॥ १ ॥

४–यं त्वा देवा अजनयन्त विश्वेषां कृण्वाना अशनाय त्रिष्वै । सनो मृड विदथे गृणाना मित्रस्य वरुणस्य प्रसृष्टौ । इति पैप्प० सं० ।

[१४] १–(प्र०) ' अहं ते भगमाददे ', (तृ०) ' महामूल इव पर्वतो ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—इस सूक्त में कन्या को उचित आयु पर उचित पात्र के हाथ में देने का उपदेश है । (वृक्षाद् अधि) जिस प्रकार वृक्ष से (स्रजम् इव) फूलमाला को तोड़ कर अलग कर लिया जाता है उसी प्रकार मैं समावर्त्तन के अनन्तर गुरुगृह से आया विवाहेच्छु ब्रह्मचारी (अस्याः) इस अपने अभिमत कन्या के (भगं) गृहस्थ सेवन करने योग्य (वर्चः) ब्रह्मचर्य को (आदिपि) स्वीकार करता हूं और यह (पितृषु) मेरे मां बाप एवं गुरु आदि के बीच (महाबुध्नः) बड़े मूल वाले (पर्वत इव) पर्वत, चट्टान के समान (आस्ताम्) गृहस्थ धर्म में दृढ़ रहे । सायण ने यह मन्त्र स्त्री के दौर्भाग्य करने अर्थ में लगाया है यह उसका भ्रम है क्योंकि स्त्री का पर्वत के समान स्थिर रहना, गृहस्थ धर्म के प्रारम्भक विवाह संस्कार में प्रतिज्ञा रूप में कराया जाता है । जैसा पारस्कर गृह्यसूत्र (का० १ । कं०) में लिखा है—

" आरोहेममश्मानं अश्मे वत्वं स्थिरा भव "

और उसी प्रकार आश्वलायन में—

परिणीय परिणीय अश्मानमारोहयति ।
इममश्मानमारोह अश्मेव त्वं स्थिरा भव ॥
(आश्व० अ० १ । क० ७)

अर्थात् प्रत्येक विवाह में कन्या का शिला पर पैर रखा २ कर पति कहे 'हे स्त्री तू चट्टान की तरह स्थिर होजा !' सायण ने इस मन्त्र में यह अर्थ किया है—'मैं स्त्रीद्वेषी पति इस स्त्री का शरीर अपने वश करता हूं कि यह पिता के घर में पहाड़ की तरह सदा बनी रहे ।' यह कितना असंगत अर्थ है । वेद में स्त्रियों से द्वेष निकालने का भाव सर्वथा निरर्गल है । सायण ने इस सूक्त के अगले मन्त्रों में और भी अनर्थ किया है सो आगे लिखेंगे । ह्विटनि आदि ने अविवाहित कन्या को ' यमकन्या ' मान कर अविवाहिता को मृतकन्या के समान माना है और फिर भी सायण का अनुसरण किया है सो उपहास योग्य है ।

एषा ते राजन् कन्या वधूर्नि धूयतां यम ।
सा मातुर्बध्यतां गृहेथो भ्रातुरथो पितुः ॥ २ ॥

भा०—कन्या के पिता का अतिथिरूप ब्रह्मचारी के प्रति वचन । हे यम ! ब्रह्मचारिन् ! हे (राजन्) ज्ञान और ब्रह्मवर्चस तेज से प्रकाशमान वर ! (एषा) यह (कन्या) कन्या (ते) तेरी (वधूः) वधूरूप होकर (नि धूयतां) गृहस्थ का आनन्द उपभोग करे (सा) वह कन्या (मातुः) माता के (अथो भ्रातुः) अथवा भाई के (अथो पितुः) या पिता के गृह में ही (बध्यताम्) गृहस्थ बन्धन में बंधे अर्थात् मां, बाप और भाई के समक्ष ही इस का विवाह संस्कार हो ।

सायण ने सोमरूप अतिथि को 'यम' शब्द से लेकर भी स्त्री को मां बाप के घर में डाल कर छोड़ देने परक अर्थ किया है, वह असंगत है ।

एषा ते कुलपा राजन् तामु ते परि दद्मसि ।
ज्योक् पितृष्वासाता आ शीर्ष्णः शमोप्यात् ॥३॥

भा०—कन्या के पिता का ब्रह्मचारी के प्रति वचन । हे (राजन्) सौम्य ! प्रथम, स्वयंवर में प्राप्त वर ! (एषा) यह कन्या (ते कुलपा) तेरे कुल का पालन करने हारी हो, इसलिये (ताम् उ) उसको हम (ते) तेरे लिये (परि दद्मसि) सब प्रकार से प्रदान करते हैं । यह कन्या (ज्योक्) अभी चिरकाल (शीर्ष्णः) शिर के बालों के (शम् ओप्यात्) कल्याणकारी संस्कार और लाजाओं के आवपन संस्कार तक ही (पितृषु)

२–(प्र०) 'यत्ते राजन्' इति पैप्प० सं० । अविवाहिता कन्या मृत्योः कन्येव परलोकं गतेवेति ह्विटनिकामितोऽर्थः । रोक्वेल लैन्मन पण्डितस्तु 'निधुवन' लिंगेन परस्पर स्वयंवरतोः प्रेमकेलिपरमेवार्थं ध्वनयति ।

३–(द्वि०) ' इमाम् उ परिदध्मसि ', ' समोप्यात् ' इति पैप्प० सं० ।

अपने पितृगृहों में (आसाता) रहे और उन दोनों संस्कारों के बाद तुम्हारे घर में चली जायगी।

'शीर्ष्णः शम्'—शिर का शमन अर्थात् कन्या के केशपाशों को वर एकान्त में खोल कर पुनः सजाता है। केश प्रसाधन के समय पूर्वकाल में कन्या के बालों में ऊन के दो गुच्छे बंधे रहते थे उनको खोला जाता था। ये दोनों वरुण के पाश कहाते थे, वे उसके कन्यात्व के द्योतक थे। इनके विषय में आश्वलायन (१२ । कं० १७)—

उर्णास्तुके केशपक्षयोर्बद्धे भवतः प्र त्वामुञ्चामि वरुणस्य पाशादिति ॥

"ओप्यात्" ओप्य संस्कार क्या है? इस प्रसंग में आश्वलायन में "ओप्य ओप्य हेके लाजान् परिणयन्ति तथा उत्तमे आहुती न संनिपततः" ये वे लाजावापाहुति हैं जो कन्याञ्जलि से वर की अंजलि में आकर अग्नि में छोड़ी जाती हैं जिनके साथ अग्नि की परिक्रमायें की जाती हैं। सायण ने इस मंत्र में दुर्भगा स्त्री का शिरःपतन अर्थात् मृत्यु तक पिता के घर में पड़े रहने परक अर्थ किया है। सो असंगत है।

असितस्य ते ब्रह्मणा कश्यपस्य गयस्य च।
अन्तःकोशमिव जामयोऽपि नह्यामि ते भगम् ॥४॥

भा०—हे नारि! (जामयः) स्त्रियां जिस प्रकार (अन्तः कोशम् इव) भीतरी गर्भाशय की रक्षा करती हैं उसी प्रकार (असितस्य) असित, निष्पाप, मुक्तभोगी (कश्यपस्य) ज्ञान के पानकर्ता, एवं सूर्य के समान सबका दर्शक और (गयस्य च) प्राण के विषयक (ब्रह्मणा) वेदमन्त्रों द्वारा (ते भगम्) तेरे सौभाग्य को (अपि नह्यामि) अधिक पुष्ट करूंगा,

---

४—'अन्तः कोशं' इति ह्विटनिकामितः पाठः, 'अन्तः कोशं व' इति अनुक्रमणीगतः पाठः।

अधिक बढ़ाऊंगा या सौभाग्य की लाज रखूंगा । असित, कश्यप और गय तीनों ऋषियों के नाम से प्रसिद्ध वेदमन्त्र हैं जैसे असित दृष्ट देखो (ऋ० ६। ५१-२४ सूक्त तक) कश्यप दृष्ट (ऋ० ६ । ६१ ६२, ११३ सू०) गयदृष्ट देखो (ऋ० १० । सू० ६३, ६४ ; स्वस्तिवाचन प्रकरण । " येभ्यो माता मधुमत् पिन्वते " इत्यादि गयदृष्ट हैं । सायण ने इन वेदमन्त्रों को एक नारी भगवन्धन या सौभाग्यनाश के लिये माना है, यह उपहासयोग्य है ।

उक्त सूक्त में विद्युत्-विद्या सम्बन्धी रहस्य ।

" 'नमस्ते अस्तु' 'भगयस्या' इति द्वे सूक्ते वैद्युते द्वे अनुष्टुभे । प्रथमं वैद्युतं परं वारुणं वा उत याम्यं वा । प्रथमेन वैद्युतमस्तौत् द्वितीयेन तदर्थं यमम् ।" इस प्रकार अथर्ववेद सर्वानुक्रमणीकार का लेख है । इसका अभिप्राय यह है कि 'नमस्ते अस्तु' (१ । १३) और 'भगमस्याः' (१ । १४) इन दोनों सूक्तों का देवता विद्युत् है अथवा प्रथम का विद्युत् दूसरे का वरुण या यम है । प्रथम से विद्युत का वर्णन करते हैं और दूसरे से उसी विद्युत् के लिये 'यम' का वर्णन करते हैं । अर्थात् 'भगमस्याः' इस सूक्तमें भी विद्युत् का वर्णन या विद्युत् के लिये यम या वरुण का वर्णन आवश्यक है । विद्युत् पक्ष में इस सूक्त के अर्थ इस प्रकार हैं ।

(१) (अस्याः भगं) इस विद्युत् के सौभाग्यकारी दिव्य सुन्दर नाना कला कौशल चलाने में समर्थ (वर्चः) तेज और बल को (आदिषि) मैं संग्रह करता हूं । (वृक्षात् अधि स्रजामिव) जिस प्रकार माली वृक्ष से फूल चुन कर संग्रह किया करता है । (महाबुध्नः पर्वत इव) जिस प्रकार विशाल आधार वाला पर्वत स्थिर रहता है उसी प्रकार वह विद्युत् चंचल होकर भी उसके बांधने और नियम में रखने और उत्पन्न करने वाले (पितृषु) विद्वान् या विद्युत् के उत्पादक यन्त्रों के बीच (ज्योक्) चिरकाल तक (आ स्ताम्) स्थिरता से रहे और कार्य करे ।

(२) हे (यम) विद्युत् का नियमन करने, उसको वश करने वाले ! राजन् ! (एषा) यह (कन्या) अति तीव्रगति वाली विद्युत् (वधूः निधूय-ताम्) ... नाना कार्यों को करने और यन्त्र, रथ आदि ढोने में समर्थ हो। (सा) वह विद्युत् (मातुः) उसको मापने में कुशल अथवा उत्पन्न करने में चतुर शिल्पी के बनाये (गृहे) घर [पावर हाउस्] में (अथो भ्रातुः अथो पितुः) अथवा उसको भरण पोषण या अधिक प्रबल करने वाले, यन्त्र के बनाने वाले या उसको पालन, सुरक्षित रखने वाले शिल्पी के कोठे में (बध्यताम्) नियमित करके रखा जाय। विद्युत् को पैदा करना, मापना, बढ़ाना और उसका संचय करना यह भिन्न २ यन्त्रों से किया जाय। उन यन्त्रों के स्थापन के लिये भिन्न २ स्थान हों उन पर भिन्न २ अधिष्ठाता हों। उन सबमें विद्युत् को नियमित रख कर व्यर्थ न जाने दिया जाय।

(३) हे (राजन् ! एषा ते कुलपा, ताम् उते परिदद्मसि) राजन् विद्वन् ! शास्त्र के निष्णात, उसके नियामक ! यह विद्युत् तेरे कुल= समस्त कार्यों का पालन करती है, पंखा चलाना, दीपक जलाना आदि सब काम करती है इसीसे घरवाली के समान है। वह विद्युत् (शीर्ष्णः समो-प्यात् पितृषु ज्योक् आस्ताम्) सिरे के मिलने तक अपने पालक कारीगरों के पावर हाउस में ही चिरकाल तक रहे। जब तक सिरे नहीं मिलाये जाते तब तक विद्युत् धारा चलती नहीं वह पात्र या पावर हाउस में ही रहती है। परन्तु जब बाहर सब तारें ठीक २ लगादी जायं और सिरे मिला दिये जायं तो वह विद्युत् और के घरों में कार्य करती है।

(४) (असितस्य कश्यपस्य गयस्य च ब्रह्मणा ते भगम् जामयः अन्तः कोशम् इव अपि नह्यामि) जिस प्रकार स्त्रियां या बहनें अपने भीतरी खज़ाने या गर्भाशय रूप कोष को सुरक्षित करके रखती हैं उसी प्रकार मैं विद्युत् विज्ञानवेत्ता तुझ विद्युत् के अलौकिक बल और तेज को खूब बांध कर सुरक्षित रखूं। इसके लिये विद्युत् के तीन प्रकार के ब्रह्म=विज्ञानों का

उपयोग करूं। (१) असित बन्धन रहित, अवश्य या अदृश्य विद्युत् के उच्छृंखल प्रबल गतिसम्बन्धी विज्ञान, (२) कश्यप=पश्यक, विद्युत् के प्रकाश सम्बन्धी विज्ञान से, और (३) (गयस्य) विद्युत् के शब्द सम्बन्धी विज्ञान से विद्युत् के भग=सेवन करने योग्य बल और सामर्थ्य को बांधता हूं।

विद्युत् सम्बन्धी इन गूढ़ अर्थों को संक्षेप में प्रकट किया गया है। इन का विस्तृत विवरण असित, गय, कश्यप नाम से प्रकट मन्त्रों के सोम प्रकरण के वैज्ञानिक मन्त्रों में देखना चाहिये, अथवा अन्य उपवेदों में इसका विवरण सुलभ हो।

---

[१५] गमनागमन के साधन।

अथर्वा ऋषिः। सिन्धुर्देवता। १, ३, ४ अनुष्टुप् छन्दः। भुरिक्पथ्यापंक्तिः। चतुर्ऋचं सूक्तम्।

सं सं स्रवन्तु सिन्धवः सं वाताः सं पतत्रिणः।
इमं यज्ञं प्रदिवो मे जुषन्तां संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥१॥

भा०—(सिंधवः) नदियें, नहरें (संस्रवन्तु) उत्तम रीति से प्रवाहित हों, (वाताः सम्) वायुएं उत्तम रीति से चलें। (पतत्रिणः) समस्त पक्षी गण, पक्षों वाले अथवा विमानचारी, रथी लोग उत्तम रीति से गमन करें और (प्रदिवः) उत्कृष्ट ज्ञानसम्पन्न, ज्ञानवृद्ध पुरुष (इमं) इस (यज्ञं) राष्ट्रयज्ञ में (जुषन्ताम्) प्रेमपूर्वक आवें और मैं (संस्राव्येण) उत्तम रीति से गमनागमन करने योग्य विमान रथ आदि (हविषा) उत्तम साधनों द्वारा (जुहोमि) सब को प्रदान करता हूं।

---

[१५] १–(द्वि०) 'सं वाताः दिव्या उत' इति पैप्प० सं०।

इहैव हवमा यात म इह संस्रावणा उतेमं वर्धयता गिरः ।
इहैतु सर्वो यः पशुरस्मिन् तिष्ठतु या रयिः ॥ २ ॥

भा०—हे देवगण ! विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (इह) यहां (मे) मेरे (हवम्) राष्ट्रमय यज्ञ में (आयात) आइये। (इह) यहां (सं स्रावणाः) उत्तम रीति से चलने वाले रथ आदि साधन हैं। (उत) और (गिरः) ज्ञानवाणियाँ भी हैं अतः आप लोग (इमं) इस राष्ट्रपति को (वर्धयत) बढ़ाइये (यः पशुः) जो भी पशु हो वह (सर्वः) सब (इह, एतु) इस राष्ट्र में आवे और (अस्मिन्) इसमें (या रयिः) जो भी धान्य सुवर्ण आदि धन है वह भी (तिष्ठतु) विद्यमान रहे।

ये नदीनां संस्रवन्त्युत्सासः सदमक्षिताः ।
तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि ॥ ३ ॥

भा०—(नदीनां) नदियों के समान ध्वनिशील (अक्षिताः) अविनाशी (ये) जो अक्षय (उत्सासः) जलमय स्रोत (संस्रवन्ति) वह रहे हैं (तेभिः) उन (मे) मेरे (सर्वैः) समस्त (संस्रावैः) प्रवाहों, गति साधनों द्वारा (धनम्) धन को (संस्रावयामसि) प्रवाहित करते रहें, उनसे व्यापार करें, जहाज चलावें।

ये सर्पिषः संस्रवन्ति क्षीरस्य चोदकस्य च ।
तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि ॥ ४ ॥

भा०—(ये) जो प्रवाह (सर्पिषः) सर्पणशील स्नेहरूप घृत के (क्षीरस्य च) और यशोरूप दुग्ध के और (उदकस्य च) और ज्ञानरूप जल के

२—(प्र०) 'इदं हव्यमुपेतनेदं संस्रावणा उत' इति पैप्प० सं० ।
३—'ये नदीभ्यः संस्रवन्त्युच्छाम [त्सासः] सर[द]मक्षिताः' इति पैप्प० सं० ।
४—(प्र०) 'ये संस्रावाः संस्रवन्ति' इति पैप्प० सं० ।

(संस्रवन्ति) सोते वह रहे हैं (तेभिः मे सर्वैः संस्रावैः) अपने उन सब प्रवाहों द्वारा हम (धनं संस्रावयामसि) अपने ज्ञान और धन को सर्वत्र बढ़ाते और फैलाते रहें।



[१६] दुष्टों के नाश का उपाय।

चातन ऋषिः । अग्नीन्द्रौ, वरुणः, सीसश्च देवताः । १–३ अनुष्टुभः
४ ककुम्मती अनुष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

ये॑ऽमावा॒स्या॒३ं रात्रि॑मु॒दस्थु॑र्व्रा॒जम॒त्रिणः॑ ।
अ॒ग्निस्तु॒रीयो॑ यातु॒हा सो अ॒स्मभ्य॒मधि॑ ब्रवत् ॥ १ ॥

भा०— ये जो दुष्ट पुरुष (अमावास्यां) सूर्य और चन्द्र के प्रकाश से रहित (रात्रिम्) रात्रि, अन्धकार के समय में (अत्रिणः) दूसरों का प्राण और धन चुरा कर खाजाने वाले लोग (व्राजं) गोल बांधकर डाका आदि मारने के लिये (उदस्थुः) उठखड़े हों या बल पकड़ जांय तो (तुरीयः) विनाशकारी, तीव्र (सः) वह (यातुहा) शत्रुनाशक (अग्निः) अग्नि, सेनानायक ही (अस्मभ्यम्) हमें (अधिब्रवत्) इस प्रकार उपदेश करता है।

सीसा॒याध्या॑ह॒ वरु॑णः॒ सीसा॑या॒ग्निरुपा॑वति ।
सीसं॑ म॒ इन्द्रः॒ प्राय॑च्छ॒त् तद॒ङ्ग या॑तु॒चात॑नम् ॥ २ ॥

[१६] १–' व्राजं ' इति सायणाभिमतः पाठः । 'अग्निस्तुर्यो यातुहा स नः पातु तेभ्यः' इति पैप्प० सं० ।

२–(तृ०) 'सीसं मैन्द्रः' प्रायच्छदमीवा यस्तु [यातु] चात [न] म् । इति पैप्प० सं० ।

भा०—(वरुणः) वरुण (सीसाय) सीसे का (अधि आह) उपदेश करता है । (अग्निः) अग्नि भी (सीसाय) सीसे के प्रयोग द्वारा ही प्रजाओं की (उपावति) रक्षा करता है । (इन्द्रः) इन्द्र राजा भी (मे) मुझे (सीसं) सीसा ही (प्र अयच्छत्) रक्षार्थ रखने की आज्ञा देता है (अङ्ग) हे पुरुषो ! (तद्) वह सीसा ही (यातुचातनम्) पीड़ाजनक दुष्ट पुरुषों का विनाशक है ।

वरुण=राष्ट्र के कष्टों का वारण करने वाला राज्य का अधिकारी जो समस्त प्रजाओं की रक्षा करता रहे । अग्निः=अग्नि के अस्त्रों का ज्ञाता या सेनापति इन्द्र=राजा ये सीसे के बल पर शत्रुओं का नाश करते हैं । अथवा वारुणास्त्र आग्नेयास्त्र और ऐन्द्रास्त्र तीनों में सीसा की ही गोलियां चलाकर शत्रु का नाश किया जाय । अर्थात् जल के वेग से, अग्नि या बारूद् के वेग से और विद्युत् के वेग से सीसे के छर्रे ही चला कर शत्रु का नाश करना उचित है ।

इ॒दं वि॒ष्कन्धं॑ सहत इ॒दं बा॑धते अ॒त्त्रिणः॑ ।
अ॒नेन॒ विश्वा॑ ससहे॒ या जा॒तानि॑ पिशा॒च्याः॑ ॥ ३ ॥

भा०—(इदं) यह सीसा ही (विष्कन्धं) विशेष सेना के दस्ते को भी (सहते) मुकाबला करता है (इदं) और यह सीसा ही (अत्रिणः) विनाशक डाकू, लुटेरों, प्रजा का प्राण धन खाजाने वालों को भी (बाधते) पीड़ा करता है (अनेन) इसके बल पर (पिशाच्याः) पिशाची, मांस-भक्षिणी जीव जाति से (जातानि) उत्पन्न हुए सब प्रकार के क्रिमों को (या) जो उपद्रव हैं उन (विश्वा) सबको भी (ससहे) दबा देने में समर्थ होता है ।

३–(प्र०) 'इदं विष्कान्दं' इति पैप्प० सं० ।

यदि॑ नो॒ गां हंसि॒ यद्यश्वं॒ यदि॒ पूरु॑षम् ।
तं त्वा॒ सीसे॑न विध्यामो॒ यथा॒ नो॒ सो॒ अवी॑रहा ॥ ४ ॥

भा०—(यदि) यदि हे राक्षस ! शत्रु पुरुष ! तू (नः) हमारी (गां) गौ को (हंसि) मारे और (यदि) यदि (अश्वं) अश्व को मारे और (यदि) यदि (पूरुषं) पुरुष, आदमी को मारे (तं त्वा) उस हत्यारे तुझको (सीसेन) सीसे की गोली से ही (विध्यामः) वेध डालें, (यथा) जिससे तू (नः) हमारे (अवीरहा) वीर पुरुषों को न मार (असः) सके ।



[१७] शरीर की नाडियों और स्त्रियों का वर्णन ।

ब्रह्मा ऋषिः । योषितो लोहितवाससो हिरा वा मन्त्रोक्ता देवताः । १ भुरिक् अनुष्टुप् । २, ३ अनुष्टुप् । ४ त्रिपदा आर्षी गायत्री । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

अ॒मूर्या यन्ति॑ यो॒षितो॑ हि॒रा लोहि॑तवाससः ।
अ॒भ्रात॑र इव जा॒मय॒स्तिष्ठ॑न्तु ह॒तव॑र्चसः ॥ १ ॥

भा०—(अभ्रातरः) जिस प्रकार विना भाई की (जामयः) कन्याएं (हतवर्चसः) तेज और प्रभाव से रहित, निर्बल होती हैं और जिस प्रकार (लोहितवाससः) लाल वस्त्र धारण करने वाली (योषितः) स्त्रियां विधवा होने के कारण निर्बल होती हैं । और वे दोनों ही अपने घर में बैठी रहती हैं परगृह में नहीं जातीं, उसी प्रकार (अमूः) ये (याः) जो (हिरा)

४–'सीसेन विध्यामस्त्वा' इति पैप्प० सं० ।

[१७] १–अमूर्या यन्ति जामयः सर्वा लोहितवाससः । अभ्रातर इव योषित स्तिष्ठन्ति हतवर्चः । इति पैप्प० सं० ।

शरीर की रक्त नाडियां (यन्ति) इधर उधर शरीर में गति कर रही हैं ये भी (तिष्ठन्तु) अपने २ स्थान पर स्थिर रहें।

तिष्ठा॑वरे॒ तिष्ठ॑ प॒र उ॒त त्वं ति॑ष्ठ मध्यमे।
कु॒नि॒ष्ठि॒का च॑ तिष्ठति॒ तिष्ठा॒दिद्ध॒मनि॒र्म॒ही ॥ २ ॥

भा०—हे (अवरे) शरीर के अधोभाग की नाडि ! (तिष्ठ) तू भी अपने स्थान पर स्थिर रह। हे (परे) ऊर्ध्व शरीर की नाडि ! तू भी (तिष्ठ) अपने स्थान पर रह। हे (मध्यमे) शरीर के मध्यभाग की नाडि ! (त्वं तिष्ठ) तू भी अपने स्थान पर रह। (कनिष्ठिका च) और छोटी से छोटी नाडि इसी प्रकार अपने स्थान पर स्थित है। और इसी प्रकार (मही, धमनिः, उत) बड़ी से बड़ी धमनी आदि नाडी भी शरीर में अपने नियत स्थान पर (तिष्ठति) ठहरी हुई है।

श॒तस्य॑ ध॒मनी॑नां स॒हस्र॑स्य हि॒राणा॑म्।
अस्थु॒रिन्म॑ध्य॒मा इ॒माः सा॒कमन्ता॑ अरंसत ॥ ३ ॥

भा०—(धमनीनां) स्थूल नाडियों (शतस्य) सैकड़ों और (हिराणां सहस्रस्य) हजारों सूक्ष्म नाडियों के (मध्यमाः) बीच के परिमाण की और (इमाः) ये (अन्ताः) अति सूक्ष्म नाडियां भी (अस्थुः) इस शरीर में विद्यमान हैं। वे सब (साकं) एक साथ ही (अरंसत) इस शरीर में अपना अपना कार्य कर रही हैं।

परि॑ वः॒ सिक॑तावती ध॒नूर्बृ॑हत्यक्रमीत्।
तिष्ठ॑ते॒लय॑ता॒ सु क॑म् ॥ ४ ॥

३–(च०) 'साकमन्त्या' इति ह्विटनिकामितः पाठः। "अस्थु निवद्धामावा [?] साकमन्तारंसत" इति पैप्प० सं० ॥

४–(प्र० द्वि०) परिवः सिकतामयी वनूस्थिरश्चरस्थिदम् [? धनूस्तिरश्चिदस्थिरन्] इति पैप्प० सं०।

भा०—हे नाडियो ! (वः परि) तुममें से ही एक (धनूः) धनुषाकार (बृहती) बड़ी (सिकतावती) रजोधर्म की नाड़ी (अक्रमीत्) गति कर रही है । (तिष्ठत) तुम सब अपने २ स्थान पर रहो और (कं) सुख (सु इलयत) प्रदान करो, सुख की वृद्धि करो ।

शस्त्राघात या रजोधर्म से अधिक बहते हुए रुधिर की चिकित्सा के समय इसका विनियोग कौशिक सूत्रों में है । बहते जख़्म पर सूखी मिट्टी की ढेली रखने आदि का उपदेश है । परन्तु इन मन्त्रों में वेद ने केवल नाड़ियों की शरीर में स्थितिमात्र का उपदेश किया है । जैसे लिखा है किः—

मध्यस्थायाः सुषुम्नायाः पर्वपन्चकसम्भवाः ।
शाखोपशाखतां प्राप्ताः सिरालक्षत्रयात् परम् ।
अर्धलक्षम् इति प्राहुः शरीरार्थविचारकाः ॥

चिकित्सक को चाहिये कि रक्त प्रवाह के अवसर पर इन नाडियों की स्थिति को पहचाने और तब ठीक २ चिकित्सा करे । जो सूक्ष्म और स्थूल नाडियों को स्थिति को नहीं जानता वह चिकित्सा में ही रोगी के प्राण लेलेता है । सायण ने 'स्था' धातु के 'तिष्ठ, तिष्ठति, अस्थुः,' इत्यादि प्रयोगों का अर्थ 'रुधिर बहाने से रुकना' किया है सो असंगत है ।

इस सूक्त का देवता 'योषितः' भी है इसलिये उपमान और उपमेय में समान धर्म होने से इस सूक्त का अर्थ योषित्=स्त्रियों के पक्ष में इस प्रकार है ।

(१) (अमूः) ये (याः) जो (हिराः) छोटी उमर की (लोहितवाससः) रंगे, रंगीले वस्त्र वाली (योषितः) स्त्रियां (यन्ति) जाती हैं वे भी (अभ्रातरः जामयः इव) विना भाई वाली बहनों के समान (हतवर्चसः तिष्ठन्तु) निस्तेज रहती हैं । रक्त वस्त्र पहनने वाली कन्याएं विना भाई की बहिनों के समान निस्तेज रहतीं हैं ।

(२) (अवरे तिष्ठ, परे तिष्ठ, मध्यमे त्वं तिष्ठ, कनिष्ठका च तिष्ठति, तिष्ठात् इत् मही धमनिः) छोटी, बड़ी, मझली और सब से छोटी और सब से बड़ी, सभी अपने पिता के घर में रहें।

(३) (धमनीनां शतस्य, सिराणां सहस्रस्य, इमाः मध्यमाः अस्थुः, साकम् अन्ताः अरंसत) सैंकड़ों बड़ी, हज़ारों छोटी और भी बहुतसी बीचकी, भी स्त्रियें गृहस्थ में रहें। और (अन्ताः) बाल्य आयु समाप्त कर चुकने पर वे गृहस्थ का सुख भोगें।

(४) (वः सिकतावती, धनुः बृहती अक्रमीत्, तिष्ठत सु ईलयत, कम्) तुममें से जो जो रजस्वला, भारनम्रा होकर बड़ी अवस्था को अतिक्रमण करें वह गृहस्थ बनाकर रहें और सुखपूर्वक गृहस्थ चलावें।



[१८] अलक्ष्मी और दुःस्वभाव के दूर करने का उपाय।

द्रविणोदाः ऋषिः। विनायको देवता। १ उपरिष्टाद् विराड्बृहती, २ निचृज्जगती, ३ विराड् आस्तारपंक्तिः, ४ त्रिष्टुप्। चतुर्ऋचं सूक्तम्।

निर्लक्ष्म्यं ललाम्यं निररातिं सुवामसि।
अथ या भद्रा तानि नः प्रजाया अरातिं नयामसि॥ १॥

भा०—हम (नः, प्रजायै) अपनी प्रजाओं के (लक्ष्म्यं) चिह्न, मुख या शरीर पर बुरे चिह्नों से युक्त (ललाम्यं) गर्भाशय के और (अराति) मन को न हरने वाले अप्रिय दोष को (निः सुवामसि) दूर करें (अथ) और (या भद्रा) जो कल्याणकारी लक्षण हों उनको अपनी प्रजा को (नयामसि) प्राप्त करावें।

निररणिं सविता साविषत्पदोर्निर्हस्तयोर्वरुणो मित्रो अर्यमा ।
निरस्मभ्यमनुमती रराणा प्रेमां देवा असाविषुः सौभगाय ॥२॥

भा०—(सविता) उत्पादक पिता और परमेश्वर (वरुणः) वरण करने योग्य, स्त्री का वृत पति, (मित्रः) उसका स्नेही, (अर्यमा) स्वामी (पदोः) चरणों में से (अरणिं) अप्रिय, कुरूपता को (निः साविषत्) दूर करे और (हस्तयोः निरः) हाथों की कुरूपता को भी दूर करे । बच्चों को सुंदर सुरूप उत्पन्न करे । (अनुमतिः) पति के अनुकूल चलने वाली स्त्री (रराणा) अपने सम्बन्धियों में सदा प्रसन्नता से रहती हुई (निर्) अपने प्रजा के दोषों को दूर करे । (देवाः) विद्वान् पुरुष, (इमां) इस स्त्री को (सौभगाय) उत्तम फललाभ, सौभाग्य के लिये (प्र असाविषुः) उत्कृष्ट रीति से प्रसव आदि कार्य करावें । अर्थात् हाथों पैरों के विकृत न होने देने का पति सदा विचार रखे । इसके लिये वह अपनी स्त्री का प्रिय, स्नेही, स्वामी बना रहे उससे सौम्यभाव से रहे । बच्चों के सौन्दर्य के लिये स्त्री स्वयं सदा गर्भकाल में प्रसन्न रहे और घर के विद्वान् लोग भी गर्भ संस्कार और जात-कर्मों द्वारा स्त्री को उत्तम रीति से प्रसव करावें ।

यत्त आत्मनि तन्वां घोरमस्ति यद्वा केशेषु प्रतिचक्षणे वा ।
सर्वं तद्वाचाप हन्मो वयं देवस्त्वा सविता सूदयतु ॥ ३ ॥

---

[१८] २—'साविषक्' इति निर्णयसागरीयः पाठः पदपाठानुमतश्च । 'साविषत् इति सायणाभिमतः, अजमेरीयश्च पाठः । 'अरणीम्' इति पदपाठविरुद्धः सायणाभिमतः पाठः । 'यद् आदित्या भवती (?) रराणा पृणसुवा [?] सविता सौभगाय' इति पैप्प० सं० ।

३—(प्र०) ' यत् त आत्मानि तन्वा घोरम्'; (तृ० च०) तत्ते विद्वान् अपबाधयेषां प्र त्वा सुवा सुविता सौभगाय " इति पैप्प० सं० ।

भा०—(ते) तेरे (आत्मनि) अन्तःकरण में और (तन्वा) देह में (यत्) जो (घोरं) पापजनक दोष (अस्ति) है और (यद् वा) जो दोष (केशेषु) केशों में (वा) और (प्रति चक्षणे) आखों में है (तत् सर्वं) उन सब दोषों को (वयं) हम (वाचा) वाणी के उपदेश से (हन्मः) विनाश करते हैं। हे पुत्र (त्वा) तुझको (सविता) उत्पादक (देवः) देव विद्वान् पिता या प्रभु (सूदयतु) सत् मार्ग में प्रेरित करें।

रिश्यपदीं वृषदतीं गोषेधां विधमामुत।
विलीढ्यं ललाम्यं ता अस्मन्नाशयामसि ॥ ४ ॥

भा०—(रिश्यपदीं) मृग की तरह से पैरों का पतला होना (वृषदतीं) बैल के समान दांतों का चौडा होना, (गोषेधां) गाय के समान चाल, (विधमाम्) विपरीत रूप में सांस लेना, (विलीढ्यं) विपरीत त्याज्य पदार्थों के चाटने की आदत और (ललाम्यं[1]) गर्भ सम्बन्धी दोष इन सबको (अस्मत्) हम लोग (नाशयामसि) अपनी संतानों से दूर करें।

प्रजा को उत्तम निर्दोष सुन्दर रूप में उत्पन्न करना चाहिये। और इनही विचारों, संकल्पों से प्रजा श्रेष्ठ होती है। यदि गर्भगत दोष रह जांय तो उनको उत्तम शिक्षा से दूर करना चाहिये।



४—'ऋष्यपदीम्' इति पाठः सायणाभिमतः।

१. ललाम पुण्ड्रं भवति। पुण्ड्रं बीजांकुरस्थानं गर्भाशयस्य प्रदेशविशेषः इति उव्वटः।

[१६] शत्रुओं का विनाश ।

ब्रह्मा ऋषिः । १ इन्द्रः २, मानुष्येषवः, ३, रुद्रः, ४, सर्वे देवा देवताः । १, अनुष्टुप् २, पुरस्ताद् बृहती, ३, पथ्या पंक्तिः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

मा नो विदन् विव्याधिनो मो अभिव्याधिनो विदन् ।
आराच्छरव्या/ अस्मद्विषूचीरिन्द्र पातय ॥ १ ॥

भा०—यह सूक्त अपराजितगण में पढ़ा है । इसका संग्राम से संबंध है । (नः) हमें (विव्याधिनः) विशेपरूप से अस्त्रादि से प्रहार करने वाले (मा विदन्) न जानें और न पकड़ सकें और (अभिव्याधिनः) सब ओर से प्रहार कराने वाले शत्रुपक्ष के पुरुष भी (मा उ विदन्) हमें न जानें और न पावें । हे इन्द्र राजन् ! सेनापते ! (विषूचीः) नाना दिशों में जाने वाले या विशेप तीक्ष्ण सूचीमुख (शरव्याः) वाण (अस्मत्) हम से (आरात्) दूर (पातय) फेंक ।

विष्वञ्चो अस्मच्छरवः पतन्तु ये अस्ता ये चास्या/: ।
दैवीर्मनुष्येषवो ममामित्रान् वि विध्यत ॥ २ ॥

भा०—(ये) जो (शरवः) हिंसक वाण (अस्ताः) फेंक दिये और (ये च) जो (आस्याः) फेंकने हैं वे सब (अस्मत्) हम से दूर ही (विश्वञ्चः) सब दिशाओं में (पतंतु) जाकर पड़ें । और (दैवीः) जल, अग्नि और वायु, विद्युत् आदि के बल से और (मनुष्येषवः) मनुष्य के बल से फेंके जाने वाले वाण और अस्त्र (मम) मेरे (अमित्रान्) शत्रुओं को (वि विध्यत) नाना प्रकार से मारें ।

---

[१९] २–(च०)' वि विध्यतु ' इति पाठः सायणाभिमतः । (तृ०) ' दिवा मनुष्या ऋषयो मित्रान् नो वि विध्यतु' इति पैप्प० सं० ।

यो नः स्वो यो अरणः सजात उत निष्ट्यो अस्माँ अभिदासति ।
रुद्रः शरव्यंयैतान् ममामित्रान् विविध्यतु ॥ ३ ॥

ऋ० ६ । ७५ । १९ । अस्याः पूर्वार्धेन समः पूर्वार्धः ।

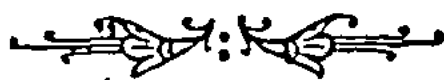
भा०—(यः) जो (स्वः) अपना सम्बन्धी और (सजातः) सहोदर या समान बलशाली (उत) और (यः निष्ट्यः) हम से निकृष्ट बल होकर भी (अस्मान्) हम को (अरणः) हमारा शत्रु होकर (अभिदासति) नाश करना चाहता है (एतान्) इन (मम, अमित्रान्) मेरे शत्रुओं को (रुद्रः) रोदनकारी, तीक्ष्ण, सेनापति (शरव्यया) शरों, बाणों, घातक हथियारों की पंक्ति से (वि विध्यतु) नाना प्रकार से ताड़ना करे ।

यः सपत्नो योऽसपत्नो यश्च द्विषञ् छपाति नः ।
देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम् ॥ ४ ॥

ऋ० ६ । ७५ । १९ । अस्या उत्तरार्धेनोत्तरार्धः समः ॥

भा०—(यः) जो (सपत्नः) शत्रु और (यः च) जो (असपत्नः) शत्रु न होकर भी (नः) हम से (द्विषन्) द्वेष करता हुआ (शपाति) बुरा भला कहता है । (तं) उसको (सर्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग (धूर्वंतु) ताड़ना करें (ब्रह्म) वेदमंत्र का सदुपदेश ही (मम) मेरा (आन्तरम्) भीतर हार्दिक (वर्म) रक्षासाधन हो ।

जो द्वेष वश होकर हमें गाली देता हो, भले आदमी उसको ताड़ना करें और हम अपने भीतर सद् विचार ही रखें ।



३–' यः समानो योऽसमानोऽमित्रो नो जिघांसति रुद्रःशर [र] व्या तान् 'मित्रान् विविधत' इति पैप्प० सं० ।

४–'सबन्धुश्चासबन्धुश्च यो न इन्द्राभिदासति' इति पैप्प० सं० ।

[२०] राजा के कर्तव्य ।

अथर्वा ऋषिः । १ सोमः, २ मरुतः, ३ मित्रावरुणौ, ४ इन्द्रो देवता ।
१ त्रिष्टुप्, २-४ अनुष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

अदारसृद् भवतु देव सोमास्मिन् यज्ञे मरुतो मृडता नः ।
मा नो विददभिभा मो अशस्तिर्मा नो विदद् वृजिना द्वेष्या या ॥१॥

भा०—हे (देव) प्रकाशमान (सोम) सब के आह्लादक राजन्! सब के प्रेरक! हमारा शत्रु (अदारसृद्) स्त्रियों का सुख प्राप्त करने वाला न (भवतु) हो। और (अस्मिन्) इस (यज्ञे) यज्ञ या संग्राम में (मरुतः) मरुद् गण, प्राण, सुभट और वैश्य गण (नः) हमें (मृडत) सुख, आनंद दें । (अभिभाः) हमारे मुकाबले पर आने वाला शत्रु (नः) हमें (मा विदद्) न पासके। (अशस्तिः) कीर्तिरहित निकृष्ट पुरुष भी (मा उ) हमें न पा सके और (वृजिना) पापी और (या) जो (द्वेष्याणि) द्वेष करने हारे या (द्वेष्याणि वृजिनानि) द्वेष के कारण उत्पन्न पाप भी (नः) हमें (मा विदद्) न प्राप्त हों।

यो अद्य सेन्यो वधोऽघायूनामुदीरते ।
युवं तं मित्रावरुणावस्मद्यावयतं परि ॥ २ ॥

भा०—हे (मित्रावरुणौ) राजन् और सेनापते! (अद्य) आज, अब (अघायूनां) पापाचारियों, हिंसकों में से (यः) जो कोई (सेन्यः) सेना

[२०] १-(प्र०) 'अदारसुर्भवतु' (च०) 'मानो प्रापदुच्छना द्वेष्या वा' इति पैप्प० सं० ।

२-'योऽद्य सैन्यो वधो जिघांसं नम उपायति' इति पैप्प० सं० । 'योद्य-सौम्यः' इति आश्व० श्रौ० सू० । 'उदीरति' इति पंचविंशे ब्रा० ॥

से होने वाला (वधः) घात, षड्यन्त्र या विप्लव (उदीरते) हमारे विपत्ति उठ खड़ा हो (तं) उसको (अस्मत्) हम से (परि यवयतं) दूर करो और नाश करो ।

इ॒तश्च॒ यद॒मुत॑श्च॒ यद्व॒धं व॑रुण यावय ।
वि म॒हच्छर्म॑ यच्छ॒ वरी॑यो यावया व॒धम् ॥ ३ ॥

भा०—हे (वरुण) शत्रुनिवारक राजन् ! (इतः) इधर से या समीप से (अमुतः च) और दूर से (यद् वधं) जो हिंसक हथियार आता हो तो उसको भी (यवय) हम से परे कर और हमें (महत्) बड़ा भारी (शर्म) सुखप्रद शरणस्थान (वि यच्छ) विशेष रूप से प्रदान कर और (वरीयः) बहुत अधिक बड़े भारी (वधं) शत्रु के आघात को (यवय) हम से परे कर ।

शा॒स इ॒त्था म॒हाँ अ॑स्यमित्रसा॒हो अ॑स्तृ॒तः ।
न यस्य॑ ह॒न्यते॑ सखा॒ न जी॒यते॑ क॒दा च॒न ॥ ४ ॥

ऋ० १० । १५२ । १ ।

भा०—(इत्था) इस प्रकार से हे इन्द्र ! राजन् ! तू (अमित्रसाहः) शत्रुओं का वशकारी (अस्तृतः) स्वयं किसी से भी हिंसित न होने वाला (महान्) बड़ा भारी (शासः) शासक (असि) है, (यस्य) जिसका (सखा) मित्र भी किसी से (न हन्यते) नहीं मारा जा सकता और वह (कदाचन) कभी भी (न जीयते) जीता नहीं जा सकता ।



१–'(द्वि०) 'यावयः' (प्र०) '-इतो यदमुतश्च ' (तृ०) विमहच्छर्म 'यच्छ नो वरीय' इति 'रौकवैल लैन्मन' कामितः पाठः ।

[२१] राजा के कर्तव्य ।

अथर्वा ऋषिः । ऋग्वेदे शासो भारद्वाज ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप् छन्दः ।

चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी ।
वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयङ्करः ॥ १ ॥

ऋ० १० । १५२ । २ ॥

भा०—(विशाम् पतिः) प्रजाओं का स्वामी (वृत्रहा) राष्ट्रों, नगरों को घेरने हारे शत्रुओं का नाशक (विमृधः) शत्रुओं को कुचल डालने वाला, (वशी) सब प्रजाओं को और काम क्रोध आदि अन्तःशत्रुओं और इन्द्रियों पर वश करने वाला (वृषा) जलों के वर्षाने वाले मेघ के समान समस्त सुखों का वर्षक, (इन्द्रः) ऐश्वर्यशील, राजा (स्वस्तिदाः) सब कल्याण, और अविनाशी, उत्तम फल का देने हारा होता है । वही (सोमपाः) विद्या-सम्पन्न, शमदमादि साधनयुक्त विद्वानों का और सुख देने वाले सब पदार्थों का पालक (अभयंकरः) सबको अभय का दान करने हारा होकर (नः) हमारे (पुरः) संग्राम में, आगे २ (एतु) चले । इस सूक्त का सांग्रामिक गण में पाठ है ।

वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः ।
अधमं गमया तमो यो अस्माँ अभिदासति ॥ २ ॥

ऋ० १० । १५२ । ४ ॥ यजु० ८ । ४४ ॥

भा०—हे (इन्द) राजन् ! (नः) हमारे संग (मृधः) संग्रामकारी शत्रुओं को (वि जहि) विनाश कर और (पृतन्यतः) सेना लेकर चढाई

[२१] १–(प्र०) स्वस्तिदा विशस्पतिः, इति पाठभेदः, ऋ० ।
(द्वि०) 'अस्यमित्रखादो अद्भुतः' इति पाठभेदः, ऋ० ।, पैप्प सं० ॥
२–(तृ०) 'योस्मां अभिदासत्यधरंगमयातमः' इति पाठभेदः, तृतीय चतुर्थ-चरणयो विपर्ययश्च ऋ०, यजु० ।

करने वाले, या सेना बटोरना चाहने वाले (नीचा) नीच पुरुषों को (यच्छ) नियम में बांध, वश कर या (नीचा यच्छ) नीचे दबा। (यः) जो (अस्मान्) हमको (अभिदासति) सब प्रकार से नाश करता है या दास या गुलाम बनाता है (अधमं) उस नीच पुरुष को (तमः) अति दुःख, शोक पूर्ण अन्धकारमय स्थान, बन्दीगृह या मृत्यु को (गमय) प्राप्त करा।

वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज।
वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासतः ॥३॥
ऋ० १० । १५२ । ३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन्! (रक्षः) राक्षस, जिससे राष्ट्र को बचाना आवश्यक है ऐसे हानिकारक पुरुष एवं पदार्थ, रोगव्याधि, कुप्रथा आदि को (विजहि) विनाश कर। हे (वृत्रहन्) राष्ट्र के घेरने हारे और विघ्नकारी पुरुष के नाशक! आप (वृत्रस्य) सर्वत्र विघ्नकारी और घेरने हारे उस दुष्ट पुरुष के (हनू) दाढ़ों को या प्रहार के साधन, दोनों बाहुओं को (विरुज) अच्छी प्रकार तोड़ डाल। हे राजन्! (अभिदासतः) हमारे क्षयकारी या हमें गुलाम बनाने की चेष्टा करने वाले (अमित्रस्य) शत्रु के (मन्युं) क्रोध, गर्व और अभिमान को (विरुज) चूर कर दे।

अपेन्द्र द्विषतो मनोऽप जिज्यासतो वधम्।
वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम् ॥ ४ ॥
ऋ० १० । १५२ । ५ ॥

भा०—हे इन्द्र! राजन्! (द्विपतः) द्वेष करने हारे, हमसे प्रेम से व्यवहार न करने वाले (जिज्यासतः) हमारी सदा हानि चाहने वाले शत्रु के (मनः) मन को या उसके सोचे हुए, गुप्त मन्त्रणारूप षड्यन्त्र को

४–(तृ०) 'विमन्योः शर्म' इति ऋ० ॥

(अप) दूर कर, विफल, नष्ट कर और (वधम्) विनाशक हथियार या आक्रमण को भी (अप) परे हटा । (महत् शर्म यच्छ) हमें बड़ा भारी रक्षास्थान प्रदान कर और (वरीयः) शत्रु के भारी (वधं) आघात को (.यवय) दूर कर । राजा विघातक शत्रु के गुप्त षड्यन्त्रों, आक्रमणों को विनाश करे और प्रजा की दुर्गरचना से रक्षा करे ।

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तानि पंच, ऋचश्च विंशतिः ।]



[२२] हृद्रोग और कामला की चिकित्सा ।

ब्रह्मा ऋषिः । सूर्यो मन्त्रोक्तो हरिमा हृद्रोगश्च देवता । अनुष्टुप् छन्दः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

अनु सूर्यमुदयतां हृद्द्योतो हरिमा च ते ।
गो रोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परि दध्मसि ॥ १ ॥

भा०—हे व्याधित पुरुष ! (ते) तेरा (हृद्द्योतः) हृदय का चमकना और (हरिमा च) शरीर के चक्षु, नख आदि में व्याप्त हरा वर्ण (सूर्यम्) सूर्य के (अनु) उदय होने के साथ ही (उदयताम्) उठ जायं, नाश होजांय । (गोः) सूर्य की किरण के (रोहितस्य) लाल रंग की किरण या सूर्य=शाल्मली वृक्ष के (वर्णेन) रोगनाशक गुण या पुष्प, फल, रस से (त्वा) तुझको (परि दध्मसि) पुष्ट करते हैं ।

इस मन्त्र में सूर्य की रक्त वर्ण की किरणों को हार्द्र या पाण्डुरोग के नाश करने के लिये प्रयोग करने का उपदेश है । लाल गौ का दूध पीना

[२२] १–(प्र०) 'अनुसूर्यमुदेतम्', (तृ०) 'यो रोहितस्य गोर्वर्णः'

उसके लाल लोमों से छान कर पानी पीना तथा लाल गौओं का स्पर्श आदि इस रोग में लाभकारी है। इसी प्रकार क्रोमियोलोजी या सूर्य किरण-वर्ण चिकित्सा के अनुसार भी हरित वर्ण या कामला और हृद्रोग के रोगी को सूर्य की किरणों में रखे लाल काच के पात्र में धरे जल को पिलाने आदि का उपदेश है।

परि॑ त्वा॒ रोहि॑तै॒र्वर्णै॑र्दीर्घायु॒त्वाय॑ दध्मसि।
यथा॒यम॑र॒पा अस॒दथो॒ अह॑रितो॒ भुव॑त् ॥ २ ॥

भा०—हे (हारिद्र) पाण्डुरोग पीड़ित पुरुष ! (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ आयु प्राप्त कराने के लिये (त्वा) तेरे (परि) चारों ओर (रोहितैः) सूर्य की किरणों में लाल, या रोहित नाम वृक्षों के (वर्णैः) प्रकाशयुक्त आवरणों या रसों से (दध्मसि) तुझे रखते, पुष्ट करते हैं। (यथा) जिससे (अयम्) यह तू रोगी (अरपाः) पाप के फलरूप रोग से रहित (असत्) होजाय और जिससे तू (अहरितः) हारिद्र या पाण्डुरोग से भी मुक्त (भुवत्) होजाय।

या रोहि॑णीर्दे॒वत्या॒ गावो॒ या उ॒त रोहि॑णीः।
रू॒पंरू॑पं॒ वयो॑वय॒स्ताभि॑ष्ट्वा॒ परि॑ दध्मसि ॥ ३ ॥

भा०—(याः) जो (देवत्याः) देव=प्रकाशस्वरूप सूर्य की (रोहिणीः) प्रातःकालिक रक्त वर्ण की (गावः) किरणें हैं और (याः) जो (रोहिणीः) लाल वर्ण की कपिला गौएं हैं या उगने वाली ओषधियां हैं उनके भीतर विद्यमान (रूपं) कान्तिजनक और (रूपं) रुचिजनक दीप्ति को और (वयः) आयुष् जनक (वयः) दुग्ध आदि अन्न को प्राप्त करके (ताभिः)

२–(तृ० च०) 'यथा त्वमरपा वसो अथो हरितो भव' इति पैप्प० सं० ॥
३–(द्वि०) 'गावो या रोहिणीस्त' (च०) 'तेन त्वा' इति पैप्प० सं० ॥

उन द्वारा (त्वा) तुझको (परि दध्मसि) सब प्रकार से परिपुष्ट करते और चिकित्सित करते हैं ।

सुकेषु ते हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि ।
अथो हारिद्रवेषु ते हरिमाणं नि दध्मसि ॥ ४ ॥

ऋ० १ । ५० । २ ॥

भा०—हे व्याधिपीड़ित पुरुष ! (सुकेषु) उत्तम सुख देने वाले कर्मों या शुक नाम वृक्षों में और (रोपणाकासु) घात आदि दूर करके व्रण भरने वाली रोहिणी नामक ओषधियों के भीतर ही (ते) तुझ रोगी को (दध्मसि) रखते हैं (अथो) और (ते) तेरे (हरिमाणं) पाण्डु रोग को भी (हारिद्रवेषु) रोगहारी द्रव पदार्थों में (नि दध्मसि) रखते हैं । अथवा (ते हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि) तेरे बलहारी हरिमा रोग को बलकारी ओषधियों के बल पर हम रोकते हैं, वश करते हैं, और इसी प्रकार (ते हरिमाणं हारिद्रवेषु नि दध्मसि) तेरे रोग को कष्टहारी रसों के बल पर दमन करते हैं ।

सायण ने इस मन्त्र में हारिद्र रोग को तोता, खुट बढ़ई और हारिद्रव नामक पक्षियों में लगा देने का अर्थ किया है वह नितरां असंगत है । सूक्त का तात्विक अभिप्राय इस प्रकार है कि हृद्योत और हरिमा दो रोग हैं उनकी चिकित्सा के लिये सूर्य की रक्तवर्ण की किरणों के प्रयोग का और कुछ ओषधिवर्ग का भी उपदेश है । जिनमें गो, रोहित, रोहिणी, सुक या शुक, रोपणाका, हारिद्रव ये शब्द चिकित्सा कारक ओषधि और उपायों के

४–(द्वि०) ' प्रपणाकाश ? दध्मसि ' पैप्प० सं० ।
'शुकेषु मे' इति पाठः ऋ० । कचित् कचिदादर्शपुस्तकेषु च 'शुकेषु' इत्येव पाठ उपलभ्यते [शं० पा०]

वाचक हैं। हृद्रोग के विषय में वाग्भट्ट अष्टांगसंग्रह (हृद्रोग निदान अ० ५) में लिखते हैं कि 'पांच प्रकार का हृदय रोग होता है वातज, पित्तज, कफज, त्रिदोषज और कृमियों से। इनके भिन्न २ लक्षण प्रकट होते हैं। इसी प्रकार पाण्डुरोग का एक विकृत रूप हलीमक है। उसमें शरीर हरा नीला पीला हो जाता है। उसमें सिर में चक्कर, प्यास, निद्रानाश, अजीर्ण और ज्वर आदि दोष अधिक हो जाते हैं। इनकी चिकित्सा में रोहिणी और हारिद्रव और गोक्षीर का प्रयोग दर्शाया गया है। रोहित, रोहिणी, रोपणाका, यह एक ही वर्ग प्रतीत होता है। हारिद्रव हल्दी और इसके समान अन्य गांठ वाली ओषधियों का ग्रहण है। शुक भी एक वृक्षवर्ग का वाचक है।

शुक=शिरीष, स्थौणेयक और तालीश पत्र इसी प्रकार गन्धक, चक्रमर्दा स्योनाक, जम्बू, अर्क, दाडिम, शिग्रु और क्षीरी वृक्ष शुकवर्ग में आते हैं इन के गुण इस प्रकार हैं (१) शिरीष 'वर्ण्यः, कुष्ठकण्डूघ्नः, त्वग्दोषश्वास-कासहा' अर्थात् शरीर की त्वचा के रंग, कोढ़ और खाज और त्वचा के दोष, सांस, कास आदि का नाशक है। (२) स्थौणेयक=कटुतिक्त, पित्त प्रकोपशमन, बलपुष्टिकारक। (३) तालीशपत्र तिक्तोष्ण, कफवातघ्न, कास हिक्का क्षय, श्वास आदि का नाशक है। (४) गन्धक विषघ्न, कुष्ठ, कण्डू, खर्जू, त्वचादोष नाशक, जाठराग्निकृत् है। (५) चक्रमर्दा कटूष्णा, वातकफनाशक, कान्ति और सौकुमार्य करती है। (६) स्योनाक पित्त, श्लेष्म, आम, वात, अतिसार, कास, अरुचि का नाशक है। (७) जम्बू-रोहिणी शोषहर क्रमिदोष-नाशक, श्रमपित्त, दाह, नाशक श्वासकासहर है, (८) अर्क—तिक्त, उष्ण, परम रक्त शोधक, कण्डु, व्रणहर, जन्तुनाशक, कुष्ठ, प्लीहा, शोष, विसर्प, उदररोग और व्रण विनाशक है। इसके राजार्क, शुक्लार्क श्वेतमन्दार आदि भी भेद हैं। इसे वेद में सूर्य कहा है। (९) दाडिम-कास वात कफ पित्त विनाशी। शिग्रु तिक्त, कटु, उष्ण, कफ, शोफ, वायु नाशक, क्रिमि, आम, विष, मेद नाशक, विद्रधि, प्लीहा और

गुल्म का नाशक है। (११) चीरी रुचिकर, वातनाशक, पित्त, हृद्रोग नाशक तर्पक, वृष्य, प्रमेह नाशक हैं। रोहिणी वर्ग में जम्बू-रोहितक, रोहिण या वट, कटुक, काश्मर्य, मंजिष्ठ, मांसी और हरीतिकी ये वृक्ष हैं। सूर्य वर्ग में अर्क, उपविष, चीरपर्णी, समस्त नक्षत्र वृक्ष, सुवर्चला, सूर्यकान्त, ऐन्द्री सूर्यादि दाह, आतप आदि हैं इनके गुण ये हैं (१) जम्बू पहले लिख आये, (२) रोहितक=शाल्मली विशेष। यकृत्, प्लीहा, गुल्म, उदरशोष नाशक, कटु और उष्ण, विषवेगनाशक, कृमिदोष, व्रण और नेत्र रोग का नाशक है। (३) कटुका-तिक्त, पित्तदोष नाशक, कटु, कफ, अरोचक, विषमज्वरनाशक, हृदयरोग का नाशक है। (४) काश्मर्य-तिक्त, गुरु, उष्ण, रक्तपित्तनाशक, त्रिदोषनाशक, श्रम, दाह, पीड़ा, ज्वर तृष्णा, विषनाशक, वृष्य, बलकारी, शोफ नाशक। (५) मंजिष्ठ—कषाय, उष्ण, कफ, उग्र व्रण, प्रमेह, रक्त-पित्त, विष, और नेत्र रोगों का नाश करता है। (६) मांसी स्वादु, कषाय, कास पित्त रक्त नाशक, विषनाशक, मारुत हृद्रोग नाशक, बलकारी, त्वचा कान्तिदायक, भूतदाह नाशक, प्रसन्नतोत्पादक। इसीका भेद गन्धमांसी है वह भी रक्त पित्त नाशक, वर्णकारी, विष भूत ज्वर आदि नाशक है। इसी का भेद आकाशमांसी जो शोफ, व्रण, नाड़ीरोग, मकड़ी गर्दभजालादि नाशक है और वर्णकारी है। (७) हरीतकी—आमा, चेतकी, पथ्या, पूतना, हरीतिकी, जया, हैमवती आदि देश भेद से नाना प्रकार की है। जिनमें से हरीतकी, उदररोग, मूत्ररोग, प्रमेह, पथरी, वात पित्त कफ का नाशक है और जया गुल्म रोग प्लीहा, रक्तातिसार, पित्तनाशक है और हैमवती सर्व रोग नाशक, नेत्ररोग नाशक है। यही प्रमेह, कोढ़, व्रण आदि का भी नाश करती है।

(१) सूर्यवर्ग में अर्क के गुण पूर्व लिख दिये हैं (२) उपविष एक वर्ग है जिसमें अह्रूक, अर्क, करवीर, कलिकारी, काकादनी, धत्तूर और अतिविषा, शरभ और खद्योत ये ओषधियां गिनी गई हैं।

नक्षत्र वृक्षों में विषमुष्टी, स्थामली, औदुम्बर, जम्बू, अगरु, वेणु, पिप्पल, चम्पका, वट, पलाश, पायरी या प्लक्ष, जाती, विल्व, अर्जुन, बबूल, नागपुष्प, सोच, शालवृक्ष, वेत, निचुल अर्क, शमी, कदम्ब, आम, रिष्ट मोहवृक्ष, इतनी वृक्षोषधियां हैं। क्षीरपर्णी अर्क को कहते हैं। सुवर्चला= आदित्यभक्ता, मण्डूकपर्णी आदित्यलता कहाती है जो कटु, उष्णा, स्फोटक-नाशनी हैं और त्वग्दोष, कण्डू, व्रण, कुष्ठ, भूतग्रह, उग्र शीतज्वर का नाश करती है। इसका एक भेद ब्राह्मी है। वह भी कुष्ठ, पाण्डु, प्रमेह, रक्त का नाशक है। इसका एक भेद क्षुद्रपत्र है, वह शोफनाशक है।

सूर्यकान्त के तीन भेद हैं—स्फटिक, सूर्यकान्त और वैक्रान्त (बिल्लौर), इनमें स्फटिक—पित्त, दाह, पीड़ा नाशक है। सूर्यकान्त—उष्ण, निर्मल रसायन है और वातश्लेस्मनाशक है, वैक्रान्त मणि क्षय, कुष्ठ और विष का नाशक, पुष्टिप्रद और रसायन है।

ऐन्द्री वर्ग में देवसर्षप और इलायची है। ऐन्द्री-कृमि, श्लेष्म और व्रण का नाशक है सब उदररोगों को भी नाश करती है। सूर्यादि दाह और आतप कटु स्वभाव, रूक्ष हैं।

इत्यादि समस्त ओषधिवर्ग का हमने संग्रह कर संक्षेप से गुण दर्शा दिये हैं, वे सभी समान स्वभाव, समान गुण और वात, पित्त, कफ, हृद्रोग रक्त, नेत्ररोग, त्वचारोग, कुष्ठ, व्रण आदि के विनाशक हैं वेद ने हृद्रोग और पण्डुरोग के विनाश के लिये इन ओषधियों का संकेत से वर्णन किया है। इति दिक्।

[२३] कुष्ठ और पलित चिकित्सा ।

अथर्वा ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । श्वेतलक्ष्मविनाशनाय ओषधिस्तुतिः । अनुष्टुप् छन्दः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

नक्तं॑ जा॒तास्यो॑षधे॒ रामे॒ कृष्णे॒ असि॑क्नि च ।
इ॒दं र॑जनि रजय कि॒लासं॑ पलि॒तं च॒ यत् ॥ १ ॥

भा०—हे (ओषधे) ओषधे ! तू (नक्तं) नक्त नामक ओषधि रूप से (जाता) उत्पन्न (असि) है । हे (रामे) रामा नाम ओषधे ! हे (कृष्णे) कृष्णानामक ओषधे ! हे (असिक्नि) असिक्नी नामक ओषधे ! हे (रजनि) रजनीनामक ओषधे ! (इदं) यह (यत्) जो (किलासं) किलास नामक कोढ़ और (पलितं) पलित नामक रोग है उसको (रजय) नाश कर । इसको उत्तम वर्ण का कर दे ।

कि॒लासं॑ च पलि॒तं च॒ निरि॒तो नां॑शया॒ पृष॑त् ।
आ त्वा॒ स्वो वि॑शतां॒ वर्णः॒ परा॑ शु॒क्लानि॑ पातय ॥ २ ॥

भा०—हे ओषधे ! (इतः) इस रोगयुक्त देह से (किलासं) किलास नामक कुष्ठ को और (पलितं च) पलित नामक रोग को (निर् नाशय) निर्मूल करके नाश करदे । और (पृषत्) त्वचा से जल बहाने वाले और दर्द करने वाले रोग को भी नाश कर । हे रोगी ! (त्वा) तेरे शरीर को स्वः) अपना (वर्णः) पूर्व नीरोग दशा का रूप (आ, विशतां) प्राप्त हो । और (शुक्लानि) श्वेत कुष्ठ के चिह्नों और बालों को (परा पातय) दूर भगा दे।

[२३] १–'रंजनी' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।
२–(द्वि०) नाशया पृथक् । इति सायणाभिमतः पाठः । (तृ०) 'आनः स्वो' इति तै० ब्रा० ।

आसितं ते प्रलयनमास्थानमसितं तव ।
असिक्न्यस्योषधे निरितो नाशया पृषत् ॥ ३ ॥

भा०—हे ओषधे ! (ते) तेरा (प्रलयनं) शरीर में लीन होजाने वाला गुण (आसितं) श्वेत रोग का नाशक है और (तव) तेरा (आस्थानं) चिपकने का गुण (असितं) सित या श्वेत कुष्ठ का नाशक है । हे ओषधे ! तू (असिक्नी) असिक्नी नाम वाली (असि) है । (इतः) इस शरीर से (पृषत्) पीड़ाकारी, जल छोड़ने वाले, विकृत या पृषत् श्वेत रंग के कुष्ठ को (निर् , नाशय) सर्वथा नाश कर दे ।

अस्थिजस्य किलासस्य तनूजस्य च यत् त्वचि ।
दूष्या कृतस्य ब्रह्मणा लक्ष्म श्वेतमनीनशम् ॥ ४ ॥

भा०—(अस्थिजस्य) हड्डियों में उत्पन्न होने वाले (च) और (तनूजस्य) त्वचा और अस्थि के बीच मांस में उत्पन्न होने वाले (किलासस्य) किलास नामक कुष्ठ को और (यत्) जो कुष्ठ रोग (त्वचि) त्वचा में उत्पन्न होगया है और (दूष्या) शरीर के रक्त आदि में विकार उत्पन्न करने वाले दूषी विष द्वारा (कृतस्य) उत्पन्न हुए कुष्ठ रोग को और उसके (लक्ष्म) शरीर की शोभा के नाशक कलंकरूप (श्वेतं) श्वेतकुष्ठ को भी मैं उत्तम वैद्य (ब्रह्मणा) 'ब्रह्म' नामक ओषधि से (अनीनशम्) दूर करता हूं ।

इस सूक्त में नक्त, रामा, कृष्णा, असिक्नी और ब्रह्म ये नाम ओषधि-वाचक हैं । धन्वन्तरि के अनुसार इनका विवेक इस प्रकार है—

(१) नक्त नाम से कालिकारी, गुग्गुलु, उलूक, प्रसहा, करंज, फंजी या भार्गी इन ओषधियों का ग्रहण होता है ।

३–(प्रा०) ' निलयनम्' इति तै० ब्रा० । (च०) 'नाशया पृथक्' इति सायणः ।

४–' धूष्या ' इति पैप्प० सं० । ' कृत्या ' इति तै० ब्रा० ।

इनके गुण इस प्रकार हैं—(१) कलिकारी (नक्तेन्दुपुष्पिका) कफ, वात नाशक, सोज, शल्य व्रण नाशक । (२) गुग्गुलु (=नक्तं च) व्रण, मेह, शोफ नाशक । कण गुग्गुलु और भूसि इसके दो भेद हैं । (३) उलूक पक्षी के मांसादि विसर्प कुष्ठ के नाशक हैं । (४) प्रसह वर्ग में काक, गीध, उल्लू चील आदि पक्षिगण । (५) करंज (नक्तमाल) या घृतकरंज व्रण, प्लीहा और कृमिनाशक और सब त्वचा दोषों को दूर करता है । उदकीर्ण और अङ्गारवल्लिका इसी के भेद हैं जिनमें अङ्गारवल्लिका भी कण्डू, विचार्चिका, कुष्ठ, त्वग्दोष, व्रण (नासूर) आदि का नाशक है । (६) फांजा या भार्गी या ब्रह्मसुवर्चला—शोफ, व्रण, कृमि का नाश करती है । इसका दूसरा नाम ब्राह्मणयष्टि भी है ।

(२) रामा नाम से आरामशीतला, गृहकन्या, रोचना, लक्ष्मणा, इनका ग्रहण होता है । जिनमें आरामशीतला दाहदोष, विस्फोट और व्रण का नाशक है और गृहकन्या या घृतकुमारी पित्त, कास, श्वास और कुष्ठ का नाशक है । शेष भी कटु तिक्त होने से रक्तशोधक हैं ।

(३) कृष्णा शब्द से काश्मर्य, कृष्णा तुलसी, कृष्णा मूली, कृष्णा, नीलपुनर्नवा द्राक्षा और पिप्पली इन ओषधियों का ग्रहण है । जिनमें से काश्मर्य (१ । १२) सूक्त में लिखा जाचुका है । इनमें से कृष्णा तुलसी जन्तु, भूत, कृमि आदि का नाशक है । नीलपुनर्नवा हृद्रोग, प्रदर, पाण्डु, सोज, श्वास वात आम आदि का नाशक है । पुनर्नवा और क्रूर ये दो भी इसी जाति के हैं । कृष्णा=काला जीरा कफशोफनाशक है । पिप्पली रक्त शोधक ये सभी कटु और तिक्त, उष्ण हैं ।

(४) 'असिक्नी' नामक ओषध वर्तमान में कोई प्रसिद्ध नहीं है तथापि असिक्नी यह असिक्नी असिशिम्बी प्रतीत होती है जो व्रण-दोष-नाशक है ।

(५) 'रजनी' शब्द से हरिद्रा, दारुहरिद्रा, उदकीर्य (करंजभेद) रोचना, शिंशपा, वनबीजपूर, यूथिका, मूर्वा ये सभी ओषधियां 'पीता' कहाती हैं और इनका गुण त्वचादोष, कुष्ठ, कण्डू आदि नाश करना है।

(६) 'ब्रह्मन्' भार्गी, फांजी, नामक ओषधी ही ब्रह्मवर्चसा या ब्राह्मण-यष्टि नाम से कही गई है वही यहां ' ब्रह्म ' शब्द से लेनी उचित है। इसका वर्णन पूर्व कर चुके हैं।



[२४] त्वचादोष का निवारण ।

ब्रह्मा ऋषिः । आसुरी वनस्पतिर्देवता । १, ३, ४ अनुष्टुभः, २ निचृत् पथ्यापंक्तिः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

सुपर्णो जातः प्रथमस्तस्य त्वं पित्तमासिथ ।
तदासुरी युधा जिता रूपं चक्रे वनस्पतीन् ॥ १ ॥

भा०—(प्रथमः) सबसे श्रेष्ठ, प्रथम (सुपर्णः) सुपर्ण नामक वनस्पति इस दोष का नाशक (जातः) विद्यमान है। हे उपरोक्त रजनी ओषधे ! (त्वं) तू (पित्तम्) पित्त रस के समान उष्णस्वभाव, बलकारी (आसिथ) है। (आसुरी) आसुरी नामक ओषधि (युधा) कूट २ कर (जिता) अनुकूल बनाई जाकर (वनस्पतीन्) नाना वनस्पतियों को भी (तद्) उस ही (रूपं) सेवन करने योग्य रूप को (चक्रे) बना देती है। इसीसे रजनी या हरिद्रा= दारुहलदी का 'पित्ता' एक नाम है।

आसुरी चक्रे प्रथमेदं किलासभेषजमिदं किलासनाशनम् ।
अनीनशत्किलासं सरूपामकरत् त्वचम् ॥ २ ॥

[२४] १-(तृ० च०) 'तदासुरी जिवांसिता रूपं चक्रे वनस्पतिः' इति पैप्प० सं० ।
२-(तृ०) ' अनेनशत् ' (च०) 'सुरूपम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(आसुरी, आसुरी नामक ओषधि प्रथमा, सबसे श्रेष्ठ है । उसने ही (इदं) यह (किलासभेषजं) किलासनामक कुष्ठ की चिकित्सा (चक्रे) की । (इदं किलासनाशन) यह स्वयं भी किलास का नाश करने हारी है । वह (किलासं) किलास=कुष्ठरोग को (अनीनशत्) नाश करती और (त्वचं) त्वचा को (सरूपाम्) सर्वत्र शरीर पर एक समान कान्ति वाला (अकरत्) बना देती है ।

सरूपा नाम ते माता सरूपो नाम ते पिता ।
सरूपकृत् त्वमोषधे सा सरूपमिदं कृधि ॥ ३ ॥

भा०—हे ओषधे ! (ते) तेरी (माता) उत्पत्ति-भूमि (सरूपा) तेरे ही समान रूप गुण वाली सरूपा नामक है और (ते) तेरा (पिता) पालक, सूर्य भी (सरूपो) नाम, 'सरूप' नाम है । हे ओषधे ! त्वं, तू स्वयं (सरूपकृत्) त्वचा का समान रूप बना देने हारी है, इसलिये (इदं) इस दोषयुक्त कुष्टी शरीर को भी (सरूपं) समान सुन्दर रूप (कृधि) कर ।

श्यामा सरूपङ्करणी पृथिव्या अध्युद्भृता ।
इदमू षु प्र साधय पुना रूपाणि कल्पय ॥ ४ ॥

भा०—(श्यामा) पूर्व मन्त्र में कही औषध ही श्यामा नाम वाली (पृथिव्याः) पृथिवी के (अधि उद्भृता) ऊपर उत्पन्न होती है । वह (सरूपंकरणी) उत्तमरूप और समानत्वचा बना देती है । हे श्यामे ! तू (इदम्) इस कुष्टी शरीर में (प्र साधय) अपना गुण दर्शा और (पुनः) बार २ (रूपाणि) नये २ रूप, त्वचाएं (कल्पय) उत्पन्न कर ।

३–' यत्तनूजं यदग्निजं चित्रा किलास जज्ञिषे तदस्तु सुकृतस्तान्वोयतस्त्वापि नयामसि ' इति पैप्पलाद संहितायामधिको मन्त्रः ।

४–(द्वि०) 'पृथिव्याभ्याभवम्' [?] (च०) 'सादय' इति पैप्प० सं० ।

इस सूक्त में सुपर्ण, आसुरी, सरूपा और श्यामा ये शब्द ओषधियों के वाचक हैं। जिनमें प्रथम सुपर्ण=सप्तपर्णी है, वह गुल्म, कृमि, कुष्ठ का नाशक है। आसुरी=राई, लाल सरसों। यह कृमि व्रण का नाशक है। सरूपा या सुरूपा शब्द से पित्ता=हल्दी, भार्गी, वार्षिकी, शालिपर्णी और लाक्षा कहाती है जिनमें से भार्गी का वर्णन पहले किया है। लाक्षा=लाख कृमिनाशक और व्रणनाशक है। 'शालिपर्णी' शोफ को नाश करती है, वार्षिकी विष, स्फोट=फुंसियों और कृमिदोष का नाशक है। 'सुपर्णी' शब्द से शालिपर्णी, पलाशी और रेणुका ली जाती है। इनमें से शालिपर्णी शोफ-नाशक और रेणुका या हरेणुका, विषकण्डु का नाश करती है। 'श्यामा' शब्द से गुडूची कस्तूरी, नीलपुनर्नवा, नीलनी, पिप्पली, रोचना, वटपत्री, और हरिद्रा ये ओषधियां लीजाती हैं। इनमें से गुडूची=गिलोय त्रिदोष-नाशक, रक्तअर्श और कुष्ठ का नाशक है। कस्तूरी-विषघ्न और किलास, कफ आदि का नाशक है, नील पुनर्नवा का पूर्व वर्णन कर आये हैं। नीलनी विष वात, रक्त और कृमिनाशक है। पिप्पली, रोचना दोनों का वर्णन पूर्व किया गया है। वटपत्री प्रमेह, कृच्छ्र और व्रण नाशक है। वन्दका—व्रण-रोपण और रसायन है, हरिद्रा का पूर्व वर्णन कर आये हैं। इस प्रकार वेद के ओषधि नाम व्यापक गुणों को दर्शाते हैं।

सायण ने कौशिक सूत्र के अनुसार भृङ्गराज, हरिद्रा, इन्द्रवारुणी, और नीलिका इनको पीसकर श्वेत कुष्ठ पर लगाने का संकेत किया है। इनमें भृङ्गराज=भांगरा, हरिद्रा=हल्दी निलिका=नीलिनी और इन्द्रवारुणी, ऐन्द्री भी कृमिदोष, कुष्ठ व्रण और श्लीपद का नाश करती हैं। इन्द्र-वारुणी विशाला को भी कहते हैं जिसका एक भेद श्वेतपुष्पी है इसको नागदन्ती और भटा भी कहते हैं इसमें कुष्ठनाशक गुण विशेष है।

उक्त दोनों सूक्तों में सायण आदि भाष्यकारों ने तत्व को बिना समझे ही अर्थ का अनर्थ किया है।

[२५] ज्वर चिकित्सा ।

भृग्वंगिरा ऋषिः । यक्ष्मनाशनोऽग्निर्मन्त्रोक्ता 'हूडु' आद्यो देवताः । १ त्रिष्टुप्, २ विराड् गर्भात्रिष्टुप् । पुरोऽनुष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

यद॒ग्निरापो॒ अद॑हत्प्र॒विश्य॒ यत्राकृ॑ण्वन् धर्म॒धृतो॒ नमां॑सि ।
तत्र॑ त आहुः पर॒मं ज॒नित्रं॒ स नः॑ संवि॒द्वान् परि॑ वृङ्ग्धि तक्मन् ॥१॥

भा०—हे (तक्मन्) शरीर को कष्ट देने वाले ज्वर ! (यत्र) जिसके आश्रय पर (धर्मधृतः) धर्म=आत्मा को धारण करने वाले शरीर धारी वात, पित्त और कफ या सप्त धातु (नमांसि) नाना शरीर के कार्यों को (अकृण्वन्) साधते हैं (तत्र) उसमें ही वे परम विद्वान् वैद्य लोग (ते) तेरा (परमः) सबसे मूलभूत (जनित्रं) उत्पत्तिस्थान (आहुः) बतलाते हैं । और जिस प्रकार (अग्निः) अग्नि (आपः) जलों में (प्रविश्य) प्रविष्ट होकर उसको उष्ण करदेता और तपाता है। उसी प्रकार हे ज्वर ! तू भी (आपः) सर्व शरीर में व्यापक रुधिरों में (प्रविश्य) भीतर घुसकर तू शरीर को (अदहत्) तपाता और उन धर्मभृत्=शरीर के भीतर मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा, रुधिर शुक्र आदि धातुओं को जलाता है । उस ज्वरकारी कारण को (विद्वान्) जानने हारा वैद्य तू (सः) वह कुशल होकर (नः सं परि वृङ्धि) उसको हम से दूर कर । अथवा हे तक्मन् ज्वर ! (सः) वह तू उक्त प्रकार से (विद्वान्) जान लिया गया है अतः योग्य चिकित्सा द्वारा (नः) हमें (सं परि वृङ्धि) छोड़ दे ।

यद्य॒र्चिर्यदि॒ वासि॑ शो॒चिः श॑कल्ये॒षि यदि॑ वा ते ज॒नित्र॑म् ।
हूडु॒र्नामा॑सि हरितस्य देव॒ स नः॑० ॥ २ ॥

[२५] १-(प्र०) 'यदग्निरापोऽदुहत्' (तृ०) 'तत्र ताहुः' इति पैप्प० सं० ।
२-(प्र०) 'यद्यार्चिर्यदिवासिधूमः' इति पैप्प० सं० । (तृ०) हूडु,=हूडु, रूडु, हूडु, हुडु इत्यादयो बहवः पाठाः । 'हुडु' इति पैप्प० सं० । रूडु रीति सायणः । प्रादुर्भावार्थस्य रुहे रौणादिकस्तुन् प्रत्ययः, होढः इति ढत्वम् ।

भा०—हे (तक्मन्) कष्टमय जीवन करने हारे! (यदि) चाहे तू (अर्चिः) अग्नि की ज्वाला के समान जलन करने वाला (यदि वा) और चाहे शोचिः) ताप जनक है (यदि वा) और चाहे (ते) तेरा (जनित्रम्) प्रादुर्भाव (शकल्यः एषि, शरीर के अङ्ग २ में व्याप्त हो तो भी हे (देव) प्रकाशमान अथवा अग्नि के विकार रूप ज्वर! तू (हरितस्य) हरित नाम कामला रोग का (ह्रूडुः) ह्रूडु नाम से प्रसिद्ध (नाम) स्वरूप ही (असि) है। (नः) हम में से (सः) वह प्रसिद्ध वैद्य इस रहस्य को (विद्वान्) जानता है उसकी चिकित्सा से तू हमें (परि वृङ्ग्धि) छोड़ दे।

यदि॒ शोको॒ यदि॑ वाभिशो॒को यदि॑ वा॒ राज्ञो॒ वरु॑णस्यासि॑ पु॒त्रः।
ह्रू॒डुर्नामा॑सि हरितस्य देव॒ स नः॑ संवि॒द्वान् परि॑ वृङ्ग्धि तक्मन् ॥३॥

भा०—हे तक्मन् ज्वर! (यदि शोकः) चाहे तू एकदेश से तापकारी है, (यदि वा) और चाहे (अभिशोकः) तू सब अङ्गों में भीतर बाहर सर्वत्र तापजनक है, (यदि वा) और चाहे तू (वरुणस्य) सबको आवरण करने वाले, सर्वत्र फैलने वाले जलीय अंश का (पुत्रः) रूपान्तर है, तो भी हे (देव) अग्नि या जलांश से उत्पन्न! (हरितस्य) पाण्डु, कामला या पैत्तिक रोग का (नाम) स्वरूप तू (ह्रूडुः असि) 'ह्रूडु' नाम से प्रसिद्ध है। इस बात को (नः) हममें से (सः) वह जानता है। अतः उसकी योग्य चिकित्सा से तू हमें (परि वृङ्ग्धि) त्याग दे।

नमः॑ शी॒ताय॑ त॒क्मने॒ नमो॑ रू॒राय॑ शो॒चिषे॑ कृणोमि।
यो अ॑न्येद्युरु॑भय॒द्युर॒भ्येति॑ तृ॒तीय॑काय॒ नमो॑ अस्तु त॒क्मने॑ ॥४॥

३–(द्वि०)=रुद्रस्य प्राणो यदिवारूपोऽसि। इति पैप्प० सं०।
४–(द्वि० तृ०) 'नमोदूराय कृत्वा वयं ते। यो अन्येद्युरुभयेम्नश्चहतत्तृ०' इति पैप्प० सं०॥

भा०—(शीताय) शीत से उत्पन्न या शीत दे कर उत्पन्न होने वाले (तक्मने) कष्टप्रद ज्वर आदि के लिये (नमः) यह उपचार है और (शोचिषे) ताप या गर्मी देकर उत्पन्न होने वाले 'रूर' या 'हूडु' नामक ज्वरव्याधि के लिये मैं (नमः कृणोमि) उसको पक्क करने का उपाय करता हूं । और (यः) जो ज्वर (अन्येद्युः) प्रतिदिन और जो (उभयेद्युः) दो दिनों के अन्तर पर (अभ्येति) प्रकट होता है उस (तक्मने) ज्वर-व्याधि के लिये (नमः, अस्तु) उसका परिपाक करना ही उपाय है ।

हाथ जोड़ने आदि से ज्वर नहीं जाता वह परिपक्क होने पर सुगमता से चिकित्सा योग्य होता है अतः सायणकृत अर्थ संगत नहीं है ।

शोचिः, अर्चिः और वरुणपुत्र ये तीनों ज्वर के रूप क्रम से वात, पित्त और कफ से उत्पन्न ज्वरों के तीन रूप हैं ।



[२६] रक्षा, सभ्यता और शान्ति ।

ब्रह्मा ऋषिः । इन्द्रादयो मन्त्रोक्ता बहवो देवताः । १ गायत्री, २ त्रिपदासाम्नी त्रिष्टुप् । ४ पादनिचृत् । २, ४ एकावसाना । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

आरे॑ऽसाव॒स्मद॑स्तु हे॒तिर्दे॑वासो असत् ।
आरे अश्मा॒ यम॒स्यथ ॥ १ ॥ ऋ० १ । १७२ । २ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! (असौ) यह (हेतिः) अस्त्र, हथियार (यम्) जिसको तुम (अस्यथ) शत्रुओं पर फेंकते हो वह (अस्मद्) हमसे (आरे अस्तु) दूर रहे और वह (अश्मा) अश्मा=दृढ़शस्त्र जिसको तुम फेंकते हो वह भी (आरे असत्) हमसे दूर ही रहे ।

---

[२६] १-(प्र० द्वि०) 'आरे सा वः सुदानवो मरुत ऋञ्जती शरुः । इति ऋ० ।

सखासावस्मभ्यमस्तु रातिः सखेन्द्रो भगः ।
सविता चित्रराधाः ॥ २ ॥

भा०—(असौ) वह (रातिः) सबको धन, ऐश्वर्य देने वाला पुरुष, (भगः) ऐश्वर्यों का स्वामी (सविता) सबका प्रेरक और (चित्रराधाः) नाना प्रकार से आराधना और साधना करने योग्य (इन्द्रः) राजा के समान परमेश्वर ही (अस्मभ्यं) हमारा (सखा) एकमात्र मित्र (अस्तु, हो ।

यूयं नः प्रवतो नपान्मरुतः सूर्यत्वचसः ।
शर्म यच्छाथ सप्रथाः ॥ ३ ॥

भा०—हे (मरुतः) मरुद्गणो, प्राणो ! या नाना प्रकार की गतियों से बहने हारे वायुगणो ! एवं व्यापार करने हारे वैश्यगणो ! तुम (सूर्यत्वचसः) सब के प्रेरक सूर्य के समान उज्वल त्वचा, स्वच्छ स्वरूप और सौम्यवेश वाले हो और हे (प्रवतः) उत्तम मार्ग से गति करने हारे सदाचारी पुरुषों को (नपात्) बन्धन में न गिराने हारे नगराध्यक्षो ! (यूयं) आप लोग (नः) हमें (सप्रथाः) अतिविस्तृत (शर्म) शरण, नगर और दुर्ग में शरण (यच्छाथ) प्रदान करो ।

सुषूदत मृडत मृडया नस्तनूभ्यः ।
मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥ ४ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! (सु सूदत) उत्तम मार्ग में सदा प्रेरणा करो ! (मृडत) सदा स्वतः सुखी रहो (नः) हमारे (तनूभ्यः) शरीरों

२–सखेव नो रातिरस्तु सखेन्द्रस्सखा सविता । सखा भगः सत्यधर्मा नोऽस्तु इति पैप्प सं० ।

३–(द्वि०) 'यच्छत सप्रथः' इति सायणाभिमतः पाठः ।

४–'सुमृडता सुषूदता मृडानो अघाभ्यः स्तोकाय तन्वे दा[ः]' इति पैप्प० सं० ।

को (मृडय,) सुखी करो और (नः तोकेभ्यः) हमारे अगले सन्तानों के लिये भी (मयः) कल्याण, सुख का (कृधि) सम्पादन करो ।



[२७] सेना—सञ्चालन ।

स्वस्त्ययनकामोऽथर्वा ऋषिः । चन्द्रमाः इन्द्राणी च देवताः । १ पथ्यापंक्तिः, २, ३, ४, अनुष्टुभः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

अमूः पारे पृदाक्व/स्त्रिषुप्ता निर्जरायवः ।
तासां जरायुभिर्व्यमक्ष्या३ वपि व्ययामस्यघायोः परिपन्थिनः ॥१॥

भा०—(अमूः) ये (पारे) दूर दूर के वनों में (त्रिषप्ताः) २१ इक्कीस (पृदाकूः) सर्प-जातियां हैं जो (निर्जरायवः) आपसे आप जरायु=कांचली से बाहर आती हैं । (तासां) उनकी (जरायुभिः) कांचली से (वयम्) हम लोग (अघायोः) पाप करने की चेष्टा में यत्नवान् (परिपन्थिनः) शत्रु के (अक्ष्यौ) आंखों को (अपि वि अयामसि) नष्ट कर डालें ।

शत्रुओं की आंखों में दोष उत्पन्न करने के लिये सर्प की कांचली को जलाकर उसके धूएं का प्रयोग किया जाता है । अर्थशास्त्रकार ने औपनिषदिक अधिकरण के 'परघात-प्रतीकार' प्रकरण में सर्प, प्रचलाक कृकण, पञ्चकुष्ठ इनके चर्म को सुखा, चूर्ण कर उनके धूम करने से नेत्रों का नाश करने का प्रयोग दर्शाया है । अथवा सर्पकार व्यूहों में व्यूहित सेनाओं से शत्रु की आंखों में भ्रम डालें । उस पक्ष में (निर्जरायवः) कभी क्षीण न होने वाली (त्रिषप्ताः) २१ प्रकार की (पृदाकवः) सर्पगति से चलने वाली

---

[२७] १–(प्र०) 'इमाः पारे' (द्वि०) 'जर्जरायवः' इति पैप्प० सं० । 'निर्जरा इव' इति सायणाभिमतः पाठः ।

सेनायें होती हैं उनकी (जरायुभिः) ऊपर के व्यूहों द्वारा (परिपन्थिनः) शत्रु की आंखों को (अपिव्ययामः) व्यर्थ चक्कर में डालें ।

विषूच्येतु कृन्तती पिनाकमिव बिभ्रती ।
विष्वक् पुनर्भुवा मनोऽसमृद्धा अघायवः ॥ २ ॥

भा०—(विषूची) सूचीव्यूह में चलने हारी या नाना प्रकार के संकेतों वाली सेना (पिनाकमिव) धनुष् के समान आयुध हाथ में (बिभ्रती) लिये हुए अथवा धनुर्व्यूह को धारण करती हुई (एतु) बराबर आवे और वह (पुनर्भुवाः) पुनः होने वाले नये रूप से या नाना रूप में व्यूह बना बना कर या (पुनर्भुवाः) नये सेनापति के साथ आयें तो (विष्वक्) सब तरफ़ (अघायवः) पापी पुरुष (मनः) मननशक्ति और ज्ञानशक्ति में (असमृद्धाः) निर्बल; सम्पत्ति और राष्ट्र से रहित रहें ।

न बहवः समशकन्नार्भका अभि दाधृषुः ।
वेणोरद्गा इवाभितोऽसमृद्धा अघायवः ॥ ३ ॥

भा०—(अघायवः) पापशील पुरुष (असमृद्धाः) राष्ट्र, दण्ड, कोश, और बल, अमात्य, प्रजा आदि सब सम्पत्तियों से हीन होने के कारण (बहवः) बहुत से होकर भी (वेणोः) बांस के (अभितः) चारों ओर लगे (अद्गाः इव) जड़ों से फूटने वाले कोमल अंकुरों के समान कभी (न सम् अशकन्) विजय करने और मुक़ाबला करने में समर्थ नहीं होते और वे (अर्भकाः) पापों के कारण थोड़े या छोटे २ क़द के, निर्बल होकर

२—(द्वि०) 'पुनर्भवा' इति सायणसम्मतः पाठः । (द्वि०, तृ०) अपेतः परिपन्थिनोऽयोधायुरपैतु' इति पैप्प० सं० ।

३—(द्वि०) 'दाद्दृषुः' (तृ०) 'वेणोरद्गा इव परितः' इति सायणाभिमतौ पाठौ । 'दाधृषु' रिति प्रातिशाख्यव्याख्याकार । (द्वि०) 'अर्भक अभिधृष्णुवम्' इति पैप्प० सं० ।

वे (न अभि दाधृषुः) शत्रुओं को परास्त नहीं कर सकते । इसलिये बलवान् समृद्धिशाली और धर्मात्मा होकर विजय करना उचित है ।

प्रेतं पादौ प्र स्फुरतं वहतं पृणतो गृहान् ।
इन्द्राण्ये/तु प्रथमाजीतामुषिता पुरः ॥ ४ ॥

भा०—(पादौ) चरणों के समान गमन करने में बलवान् शीघ्रकारी दो प्रकार के भटो ! (प्र इतं) आगे बढ़ो (प्रस्फुरतं) और भी अधिक शीघ्र गमन करो और (पृणतः) सबके पालन करने हारे राजाके (गृहान्) महलों की तरफ (वहतं) हमें ले चलो और (इन्द्राणी) इन्द्र राजा की शक्तिरूप महासेना (प्रथमा) सबसे प्रथम श्रेणी की (अजीता) किसी से न हारकर (अमुषिता) किसी से न छली जाकर (पुरः) आगे २ (एतु) बढ़े जाय ।

दो प्रकार के चर एक गुप्तचर जो शत्रुओं का गुप्तरूप से पता लगावें दूसरे सफरमैना जो मार्ग के संकटों को काटकर मार्ग बनावें । ये दोनों आगे आगे जायं और उनके बतलाये और बनाये मार्ग से राजा की सेना आगे आगे बढ़े ।

---

[२८] घृणाकारी दुष्टों का नाश ।

चातन ऋषिः । १ अग्निर्देवता, २, ३, ४ यातुधान्यो देवताः । १, २ अनुष्टुभौ, ३ विराट् पथ्याबृहती , ४ पथ्यापंक्तिः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

उप प्रागाद्देवो अग्नी रक्षोहामीवचातनः ।
दहन्नप द्वयाविनो यातुधानान् किमीदिनः ॥ १ ॥

४–प्रेतं पादौ प्रस्फुरतं वहन्तु पृणतो गृहम् । इन्द्राण्येतु प्रथमा जिहित्वा मुक्त्वा पथः । इति पैप्प० सं० । (च०) 'अजिता' इति सायणाभिमतः पदच्छेदः ।

भा०—(देवः) प्रकाशमान (रक्षोहा) राक्षसों, विघ्नकारी पुरुषों और रोगों का विनाशक (अमीवचातनः) रोगों के कीटाणुओं का समूल उच्चाटन करने वाला (अग्निः) अग्नि के समान प्रकाशमान राजा और आचार्य (उप प्र आगाद्) हमें प्राप्त है । वह (किमीदिनः) 'अब क्या' 'अब क्या' इस प्रकार बेचैन होकर विचरने वाले या दूसरों को योंही लूटने वाले, या सबके छिद्र मर्म को खोजने वाले (यातुधानान्) पीड़ाजनक (द्वयाविनः) दोनों पक्षों का आश्रय लेकर रहने वाले, उभयवेतन शत्रुप्रयुक्त पुरुषों को या वाणी और कर्म दोनों में क्रूर, या रूप से सीधे और भीतर कुटिल इस प्रकार दुरंगी चाल चलने हारे धूर्तों को (अप दह) दूर से ही जला डाल, विनाश कर, पीड़ित, दण्डित कर ।

प्रति॑ दह यातु॒धाना॒न् प्रति॑ देव कि॒मीदि॑नः ।
प्र॒तीचीः॑ कृष्णवर्त॒ने सं द॑ह यातु॒धान्यः॑ ॥ २ ॥

भा०—हे (देव) राजन् ! (यातुधानान्) पीड़ाकारी दुष्ट पुरुषों को (प्रति दह) उनके अपराधों के दण्ड में उनको भस्म कर डाल और हे देव ! (किमीदिनः) शत्रुपक्ष से छोड़े हुए हमारे देश के छिद्र पता लगाने वाले क्षुद्रवृत्ति, राजद्रोही शत्रु पुरुषों को भी उनका अपराध पकड़ २ कर उसके लिये उनको (प्रति दह) भस्म कर डाल । हे (कृष्णवर्तने) शत्रु के बलों को कर्षणकारी=विनाशक कर्तव्य को पालन करने वाले राजन् (प्रतीचीः) राष्ट्र के प्रतिकूल जाने वाली सब (यातुधान्यः) पीड़ा बढ़ा देने वाली, प्रजा का आचार नष्ट करने वाली, शत्रुओं से नियुक्त वेश्या आदि दुष्ट स्त्रियां और गुप्त सोसायटियों को भी अग्नि के समान (सं दह) समूल नाश कर ।

[२८] २—(तृ०) 'कृष्णवर्त्मने' इति सायणाभिमतः पाठः । तथाविधस्य च सम्बुद्धिरूपस्याभावात् 'कृष्णवर्तने' इत्येव साधुः पाठः ।

या शशाप शपनेन याघं मूरमादधे ।
या रसस्य हरणाय जातमारेभे तोकमत्तु सा ॥ ३ ॥

भा०—हे पुरुषो ! यातुधानी या पीड़ाजनक स्त्रियों के ये चिह्न हैं (१) (या) जो (शपनेन) निन्दाजनक वचनों से (शशाप) अपने पूज्य सम्बन्धियों को कोसती है और गृह कलह मचवाती है (२) (या) जो स्त्री (मूरं) सब पापों के मूलरूप (अघं) पुत्र, भाई, पिता, पति आदि के घात एवं पाप को (आदधे) करती है अथवा जो (मूरं) नशीले पदार्थ खिला २ कर पुरुषों के साथ (अघं) विश्वासघात कर उनको छलती लूटती और पापाचार करती है (३) (या) जो (रसस्य) विषयों की (हरणाय) प्यास बुझाने के लिये या (रसस्य) विष के (हरणाय) प्रयोग द्वारा (जातं) बच्चों को (आ रेभे) मार डालती है, उसी क्रूर स्वभाव से मनुष्यों को और (तोकम्) अपनी सन्तान को (अत्तु) खाजाती है । (सा) ऐसी क्रूर, बिगड़े दिमाग वाली स्त्रियां यातुधानी शब्द से पुकारी जाती हैं ।

पुत्रमत्तु यातुधानीः स्वसारमुत नप्त्यम् ।
अधा मिथो विकेश्यो३ वि घ्नतां यातुधान्यो३ वि तृह्यन्तामराय्यः ॥४॥

भा०—(यातुधानीः) पीड़ाजनक स्त्रियें वे होती हैं जो (पुत्रम्) अपने पुत्र को (अत्तु) खाजायँ, उसका नाश कर दें । जो (स्वसारम्) अपनी बहन को खाजायँ, मरवादें और जो (नप्त्यम्) धन के या स्वार्थ के लोभ से अपने नाती को नाश करदें और वे भी राक्षस स्वभाव की स्त्रियां होती हैं जो (विकेश्यः) बाल खोल २ कर (मिथः) आपस में (विघ्नतां) एक दूसरे पर नाना प्रकार से मारकूट करें और जो (अरायः) दानशील, उदार न होकर, धन के लोभ में पड़ कर, दरिद्र होकर (वि तृह्यन्तां)

४–'पुत्रमत्तु यातुधानी', 'अथ मिथो' इति सायणाभिमतौ पाठौ ।

औरों का नाश करती रहें। राजा को चाहिये कि उन पापाचारिणी, कुल, गृह और प्रजा की विनाशक क्रूर स्त्रियों को जीता पकड़ कर जला दे।

इति पञ्चमोऽनुवाकः।

[तत्र सूक्तानि सप्त, ऋचश्च सप्तविंशतिः]

[२९] अभीवर्त्त या रथनेमि के दृष्टान्त से राष्ट्रचक्र का वर्णन।

वसिष्ठ ऋषिः। अभीवर्त्तमणिमुद्दिश्य ब्रह्मणस्पतिर्देवता। चन्द्रमसं राजानमभिलक्ष्य, ब्रह्मणस्पतेः स्तुतिः। अनुष्टुप् छन्दः। षडृचं सूक्तम्॥

अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे।
तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्धय॥ १॥

ऋ० १०। १७४। १॥

भा०—हे (ब्रह्मणस्पते) वेद के विद्वान् मन्त्रिन्! (येन) जिस (अभीवर्तेन) सब ओर समान वेग से जाने हारे (मणिना) चक्रधारा रूप मणि से (इन्द्रः) राजा (अभिवावृधे) विशाल राष्ट्रसम्पत्ति को प्राप्त करता है (तेन) उसीसे (राष्ट्राय) इस राष्ट्र की उन्नति के लिये (अस्मान्) हमको भी (अभि वर्धय) बढ़ा। इसकी विशेष व्याख्या अगले मन्त्र में है।

अभिवृत्यं सपत्नानभि या नो अरातयः।
अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो नो दुरस्यति॥ २॥

ऋ० १०। १७४। २॥

---

[२९] १–(प्र०) 'अभीवर्तेन हविषा', (द्वि०) 'अभिवावृते' 'राष्ट्रायवर्तय' इति पाठाः ऋ०। (च०) वर्तयः, इति पैप्प सं०।

२–(च०) 'यो नो इरस्यति' इति ऋ०। (च०) दुरस्यतु इति पैप्प० सं०।

भा०—अभीवर्त मणि वह है (या) जो (सपत्नान्) हमारे इष्ट सम्पत्ति के स्वामी होजाने का दावा करने वाले शत्रुओं को (अभि वृत्य) चारों तरफ से घेर कर और (या) जो (नः) हमारे (अरातयः) कर देने से इन्कार करने वाले द्रोही सामन्त राष्ट्रों को घेर कर वश कर लेती है। ऐसी हे राजचक्र रूप मणे ! तू ही (पृतन्यन्तं) सेनाओं से चढ़ाई करने वाले का (अभि तिष्ठ) मुक़ावला कर और (यः) जो (नः) हमें (दुरस्यति) दुःखकारी दशा में डालना चाहता है उस क्रूर नीच पुरुष को भी (अभितिष्ठ) वश कर । अर्थात् शत्रुओं को घेरने, अधीन राष्ट्रों को वश करने, सेना द्वारा चढ़ाई करने शत्रुओं के, मुक़ावला करने और क्रूरों को विनाश करने की शक्ति को ही अभीवर्त्त' मणि या 'रथनेमि' मणि या 'राष्ट्रचक्रप्रवर्त्तन' मणि कहा जाता है ।

अभि त्वा देवः सविताभि सोमो अवीवृधत् ।
अभि त्वा विश्वा भूतान्यभीवर्तो यथाससि ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १७४ । ३ ॥

भा०—हे अभीवर्त्तमणे ! राष्ट्र चक्र ! (देवः) विद्वान् (सविता) सवका प्रेरक पुरोहित (त्वा) तेरी (अभि अवीवृधत्) प्रत्यक्ष वृद्धि करता है (सोमः) सौम्यगुणयुक्त विज्ञानवान् राष्ट्र तेरी (अभि अवीवृधत्) वृद्धि करता है।(यथा) जिस प्रकार, हे राष्ट्रचक्र ! तू सबको वढ़ाने वाला (असासि) होता है उसी प्रकार (विश्वा भूतानि) समस्त प्राणी भी तुझको ही वढ़ाते हैं।

अभीवर्तो अभिभवः सपत्नक्षयणो मणिः ।
राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे ॥ ४ ॥

भा०—(अभिवर्तः मणिः) राष्ट्रचक्र रूप शक्ति (सपत्नक्षयणः) शत्रुओं का नाशकारी और (अभिभवः) उनका पराजय करने वाला है।

३—(द्वि०) 'अवीवृतत्' इति ऋ० । 'अभीमृशत' इति पैप्प सं० ।

उसको (मह्यं) मेरे (राष्ट्राय) राष्ट्र की उन्नति के लिये (वध्यतां) उत्तम रूप से व्यवस्था द्वारा दृढ़ कर सुबद्ध करो। जिससे (सपत्नेभ्यः) शत्रुओं का (पराभुवे) पराजय हो।

उद॒सौ सूर्यो॑ अगा॒दुदि॒दं मा॑म॒कं वचः॑ ।
यथा॒हं श॑त्रु॒होऽसा॑न्यसप॒त्नः स॑पत्न॒हा ॥ ५ ॥

ऋ० १०। १५९ । १ ।

भा०—(असौ) वह द्यौलोक में प्रकाशित, सबका द्रष्टा (सूर्यः) सूर्यसमान सबका प्रेरक परमेश्वर (उत्, अगात्) उदय हो रहा है और उसकी साक्षिता में (मामकं) मेरा (इदं) यह (वचः) वचन भी (उत्) प्रकट होता है। परमेश्वर मेरे अन्तःकरण का सद्भाव जान कर ऐसा बल दे कि (यथा) जिससे मैं (शत्रुहः) शत्रुओं का नाशक और (सपत्नहा) मेरे राष्ट्रपर अपने स्वामित्व को चाहने वाले विरोधियों का नाशक होकर (असपत्नः) शत्रुरहित, एकच्छत्र अद्वितीय सम्राट् (असानि) होजाऊं।

स॒प॒त्न॒क्षय॑णो॒ वृषा॒भिरा॑ष्ट्रो॒ विषा॒सहिः॑ ।
यथा॒हमे॒षां वी॒राणां॑ वि॒राजा॑नि॒ जन॑स्य च ॥ ६ ॥

ऋ० १० । १७४ । ५ ॥

भा०—(सपत्नक्षयणः) शत्रुओं का विनाश करने वाला (वृषा) सब सुखों का प्रदाता (विषासहिः) नाना प्रकार के शत्रुओं के आक्रमणों, दैवी

५–(प्र०, द्वि०) 'उदसौ सूर्यो आगादुदयं मामकं वचः' इति पैप्प० सं०। 'उदसौ सूर्योऽगादुदयं मामको भगः। अहं तद्विद्वला पतिमभ्यसाक्षि विषासहिः' इति ऋ० १० । १५९ । १ ।

६–(प्र०, द्वि०, तृ०) असपत्नः सपत्नहाभिराष्ट्रो विषासहिः । यथा हमेषां भूतानां' इति ऋ० ।

विपत्तियों को भी सहने में समर्थ (अहम्) मैं राजा (अभिराष्ट्रः) अपने समस्त राष्ट्र से अभ्युदय को प्राप्त होकर । (यथा) जिस प्रकार (एषां) इन (वीराणां) वीर योद्धाओं के और (जनस्य च) समस्त प्रजाजन के बीच में (विराजानि) विशेष रूप से विराट् या सम्राट् रूप में शोभा पाऊं ।

कौशिक सूत्र के अनुसार इस सूक्त से राजा के गले में एक मणि बांधा जाता था जिसके केन्द्र में सुवर्ण और उस पर क्रम से लोह, सीस, इस्पात, चान्दी और ताम्बे के छल्ले मढ़े होते थे । जैसे अष्टधातु की अंगूठी शरीर के स्पर्श से आरोग्यकारी होती है उसी प्रकार यह छल्ला भी उसी निमित्त बांधा जाता था या इसको बांधना केवल विजय करने वाले राजा का उसी प्रकार मान चिह्न था जिस प्रकार विवाह में ग्रन्थिबन्धन और रक्षा बन्धन आदि । यह रिवाज अभीतक भी वरयात्रा के पूर्व वर की कलाई पर लोह का छल्ला बांधकर किया जाता है । वह वस्तुतः राष्ट्रशक्ति का चिह्न है जिसमें 'पंचधातु' पांचों प्रजाओं का या बीच में राजा और चारों ओर चतुरंगिणी सेना का संकेत है । मणि शब्द से मणिधारी का ग्रहण है । अथवा पदक के समान मणि शब्द पद और अधिकार का सूचक है ।



[३०] प्रजा का राजा के प्रति कर्त्तव्य ।

आयुष्कामोऽथर्वा ऋषिः । विश्वेदेवाः देवताः । वस्वादि देवस्तुतिः । १, २, ४ त्रिष्टुभः । ३ शाक्वरगर्भा विराड् जगती । चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

विश्वे॑ देवा॒ वस॑वो॒ रक्ष॑ते॒मम॒ुताद्ि॑त्या जागृ॒त यू॒यम॒स्मिन् ।
मेमं सना॑भिरु॒त वा॒न्यना॑भि॒र्मेमं प्राप॑त् पौरु॑षेयो व॒धो यः ॥१॥

[३०] १-(द्वि०) 'जाग्रत [?] यूयम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (विश्वेदेवाः) समस्त विद्वानो ! और हे (वसवः) राष्ट्र में वसने हारो ! आप लोग (इमम्) इस राष्ट्र एवं राष्ट्रपति की (रक्षत) उत्तम रूप से रक्षा करो । (उत) और हे (आदित्याः) आदान प्रतिदान करने हारे, कर और शुल्क संग्राहक पुरुषो ! (यूयम्) तुम लोग (अस्मिन्) इस राष्ट्र में (जागृत) सदा सावधान, जागृत, रहो अथवा सूर्य के समान कभी आलस्य न करने हारे विद्वानों आप सदा जागृत रहो । (इमं) इस राष्ट्रपति को (सनाभिः) कोई इसका सगोत्र सम्बन्धी पुरुष या सहोदर भाई (उत) और (अन्यनाभिः) अन्य वंश का पुरुष इसे मारने के लिये (मा प्रापत्) इस तक न पहुंच सके । और (यः) जो (पौरुषेयः) पुरुषों द्वारा किया गया (वधः) आघातकारी आक्रमण हो वह भी (इमं मा प्रापत्) इस तक न पहुंचे ।

अध्यात्मपक्ष में—बाहवः=प्राणाः, आदित्याः=प्राणाः ।

ये वो॑ दे॒वाः पि॒तरो॒ ये च॑ पु॒त्राः सचे॑तसो मे शृणुते॒दमु॒क्तम् ।
सर्वे॑भ्यो वः॒ परि॑ ददाम्ये॒तं स्व॒स्त्ये॑/नं ज॒रसे॑ वहाथ ॥ २ ॥

भा०—हे (देवाः) विद्वान् राष्ट्रवासिगणो ! आप लोग (सचेतसः) एकचित्त होकर, सावधान होकर (ये) मुझ राष्ट्र पुरोहित का या सभापति का (इदम्) यह (उक्तं) वचन (शृणुत) सुनो कि (ये) जो (वः) आप लोगों के (पितरः) जीवन के परिपालक, मां बाप और वृद्ध गुरु, आचार्य लोग हैं (ये च पुत्राः) और जो पुत्र आपको संकटों से रक्षा करने हारे हैं मैं (वः सर्वेभ्यः) आप सबके (स्वस्ति) हित के लिये (एतं) इस राष्ट्रपति को (परिददामि) सबके ऊपर अधिष्ठातृ रूप से राष्ट्रसेवा के कार्य में समर्पित करता हूं । आप लोग भी (जरसे) वृद्ध अवस्था तक उत्तम प्रकार से (एतं वहथ) आदरपूर्वक इसका शासन धारण करो ।

२—(च०) ' नयाथ ' इति पैप्प० सं० ।

ये देवा दिवि ष्ठ ये पृथिव्यां ये अन्तरिक्ष ओषधीषु पशुष्वप्स्वन्तः ।
ते कृणुत जरसमायुरस्मै शतमन्यान् परि वृणक्तु मृत्यून् ॥ ३ ॥

भा०—हे (देवाः) प्रकाशमान्, ज्ञानवान् और क्रियावान् दिव्य पदार्थों और पुरुषो! आपमें से (ये) जो (दिवि) ज्ञानमय अवस्था, द्यौलोक और सात्विक उन्नत दशा में (ष्ठ) हो और (ये) जो (पृथिव्यां) पृथिवी में हो और जो (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में विमान आदि चलाने हारे हो (ओषधीषु) और जो ओषधि वनस्पतियों में उनको उचित रूप से संग्रह और प्रयोग करने में लगे हो और (पशुषु) जो वन्य जीवों एवं पशुओं के पालन, वृद्धि और सदुपयोग में लगे हो और (अप्सु अन्तः) जो जलों के भीतर समुद्रादिक में मुक्ता आदि संग्रह और व्यापार में या कार्यों में लगे हो (ते) वे सब मिलकर (अस्मै) इस राष्ट्रपति के (जरसं) वार्धक्य काल तक (आयुः) जीवन की रक्षा (कृणुत) करें और वे (अन्यान्) और भी (शतं) सैकड़ों (मृत्यून्) मृत्युओं को (परि वृणक्तु) दूर करें।

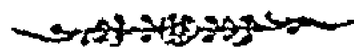
सूर्य चन्द्र आदि द्यौलोक में, जल नदी आदि पृथिवी पर और वायु विद्युत् आदि अन्तरिक्ष में दिव्य पदार्थ हैं ओषधियों में रसायन द्रव्य सोम आदि, पशुओं में गौ आदि, जलों में दिव्य जल आदि इनसे पुरुष की आयु रक्षा और कष्टों को दूर करने का भी उपदेश है।

येषां प्रयाजा उत वानुयाजा हुतभागा अहुतादश्च देवाः ।
येषां वः पञ्च प्रदिशो विभक्तास्तान् वो अस्मै सत्रसदः कृणोमि ॥४॥

३–(द्वि०) 'येऽन्तरिक्ष ओषधीष्वप्स्वन्तः' इति ह्विटनिकामितः पाठः। (द्वि०) 'ये अन्तरिक्ष ओषधीषु पशुष्वप्सु' इति पैप्प० सं०। 'परिवृणक्त मृत्यून्' इति सायणाभिमतः पाठः।

४–(च०) 'तान् नोऽस्मै सत्रसभः कृणोमि' इति पैप्प० सं०।

भा०—(येगाः) आप लोगों में से जिनके (प्रयाजाः) उत्कृष्ट मोक्षप्राप्ति के निमित्त निष्काम यज्ञ हैं (उत वा) और जिनके (अनुयाजाः) आशानुरूप कर्मफल प्राप्त करने के निनित्त सकाम कर्म हैं और जो (हुतभागाः) आहुति रूप में अग्नि में डाले गये पदार्थों को अपने भीतर ग्रहण करने वाले हैं और जो (अहुतादः) आहुति न दिये गये-केवल भिक्षामात्र से प्राप्त अन्न का भोग करने वाले (देवाः) विद्वान्‌गण हैं (वः) आप लोगों में से (येषां) जिनके (पञ्च) पांच (प्रदिशः) दिशाएं (विभक्ताः) विभक्त हैं (तान्) उन (वः) आप लोगों को मैं (अस्मै) इस राष्ट्रपति के यज्ञ में (सत्रसदः) सत्रसद् या सभासद् (कृणोमि) बनाता हूं।



[३१] जीवन की सफलता का मार्ग।

ब्रह्मा ऋषिः। आशापालाः वास्तोष्पतयश्च देवताः। १, २ अनुष्टुभौ। ३ विराट् त्रिष्टुप्। ४ परानुष्टुप् त्रिष्टुप्। चतुर्ऋचं सूक्तम्॥

आशा॑नामाशाप॒लेभ्य॑श्च॒तुर्भ्यो॑ अ॒मृते॑भ्यः।
इ॒दं भू॒तस्याध्य॑क्षेभ्यो वि॒धेम॑ ह॒विषा॑ व॒यम्॥ १॥

भा०—(आशानां) शुभ इच्छाओं या प्रजाओं के (चतुर्भ्यः) चार सब की कामनाओं को पूर्ण करने वाले (अमृतेभ्यः) परम प्राप्तव्य पुरुषार्थों धर्म अर्थ काम और मोक्ष इनके देने वाले नित्य अमृत (आशापालेभ्यः) आशापालों के लिये और (भूतस्य) इस उत्पन्न संसार के (अध्यक्षेभ्यः) साक्षात् करने वाले चार अध्यक्षरूप वेदों के लिये (इदं) यह इस प्रकार (हविषा) ज्ञान और स्वाध्याय द्वारा (वयम्) हम (विधेम) यज्ञादि अनुष्ठान करें।

[३१] १–(प्र०) "आशानां त्वा आशापालेभ्यः" इति तै० ब्रा०।

य आशानामाशापालाश्चत्वारः स्थन देवाः ।
ते नो निर्ऋत्याः पाशेभ्यो मुञ्चतांहसो अंहसः ॥ २ ॥

भा०—(ये) जो (आशानां) आशाओं, प्रजाओं के (आशापालाः) उत्तम शुभ कामनाओं को पूर्ण करते हैं वे आप (चत्वारः) चार हो (देवाः) देव (स्थन) हैं । (ते) वे आप (नः) हमें (निर्ऋत्याः) दुःखदायिनी पापप्रवृत्ति के (पाशेभ्यः) फंदों से और (अंहसः) पाप के (अंहसः) परिणाम भूत पाप के पाशों से भी (मुञ्चत) छुड़ावें । ये चार देव भी चार वेद ही हैं ।

अस्रामस्त्वा हविषा यजाम्यश्लोणस्त्वा घृतेन जुहोमि ।
य आशानामाशापालस्तुरीयो देवः स नः सुभूतमेह वक्षत् ॥३॥

भा०—(यः) जो (आशानां) कर्मफल भोगने हारी जीव प्रजाओं की (आशापालः) आशाओं का पालन करने हारा (तुरीयः देवः) चौथा देव 'ब्रह्मवेद' है (सः) वह (नः) हमें (सुभूतम्) उत्तम ज्ञान को (इह) इस जन्म में ही (वक्षत्) प्राप्त करादे । हे देव ! (अस्रामः) अखिन्नचित्त होकर मैं (त्वा) तुझको (हविषा) उत्तम ज्ञान द्वारा (यजामि) उपासना करता हूं और (अश्लोणः) व्याधिरहित, अनालस होकर (त्वा) तुझको (घृतेन) प्रकाशमान ज्ञान से (जुहोमि) तेरा अभ्यास करता हूं ।

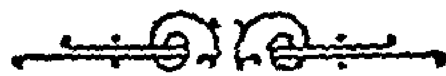
स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः ।
विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम् ॥ ४ ॥

२–(द्वि०) 'चत्वारः स्तन देवा' इति सायणाभिमतः पाठः ।

३–(प्र० द्वि०) 'अश्रोणस्ते', 'हविषा विधेममश्रामस्ते घृतेन जुहोमि', (तृ०) 'तुर्यः' इति पैप्प० सं० ।

४–'गोभ्य उत पूरुषेभ्यः,' 'ज्योगेव दृशेव सूर्यम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(नः) हमारी (मात्रे) माता को (स्वस्ति) सुख हो, (उत) और (पित्रे) पिता को सुख हो, (गोभ्यः) गौओं और (जगते) जगत् के हितकारी (पुरुषेभ्यः) पुरुषों सम जीवों के लिये (स्वस्ति) सुख और शान्ति प्राप्त हो। (विश्वं) समस्त संसार या उक्त सब मिलकर (नः) हमारे लिये (सुभूतं) सुखयुक्त उत्तम पदार्थों से सम्पन्न (सुविदत्रं) उत्तम ज्ञानों से सम्पन्न हों और हम (ज्योक् एव) चिर काल तक अपनी चक्षुओं से (सूर्यं) सूर्य और ज्ञान के प्रकाशक परमेश्वर का (दृशेम) दर्शन करें।



[३२] ब्रह्म का विवेचन।

ब्रह्माऋषिः। द्यावापृथिवी देवते। ब्रह्मसूक्तम्। १, ३, ४ अनुष्टुप् छन्दः, २ ककुम्मती। चतुर्ऋचं सूक्तम्॥

इ॒दं जना॑सो वि॒दथं॑ म॒हद् ब्रह्म॑ वदिष्यति।
न तत् पृ॑थि॒व्यां नो दि॒वि येन॑ प्रा॒णन्ति॑ वी॒रुधः॑ ॥१॥

भा०—हे (जनासः) उत्पन्न होने वाले जीवो! आप लोग (इदं) इस समस्त संसार के मूलकारण का (विदथ) ज्ञान करो। इसके (महत्) पूर्ण ज्ञान को (ब्रह्म) वेद ही (वदिष्यति) वर्णन करेगा। (तत्) वह मूलकारण (पृथिव्यां) पृथिवी=भूलोक में भी (न) नहीं है, (दिवि) सूर्यलोक और सूर्य के समान अन्य प्रकाशमय लोक में भी वह (नो) नहीं है। वह, वह पदार्थ है (येन) जिससे (वीरुधः) विविध प्रकार से उत्पन्न होने हारे, लता वनस्पति सस्य आदि के समान ये समस्त जीव (प्राणन्ति) प्राण धारण करते हैं।

[३२] १–' विदथं ' इति पैप्प० सं०।

अन्तरि॑क्ष आसां॒ स्थाम॑ श्रान्त॒सदा॑मिव ।
आ॒स्थान॑म॒स्य भू॒तस्य॑ वि॒दुष्टद् वे॒धसो॒ न वा॑ ॥ २ ॥

भा०—(श्रान्तसदाम् इव) जीवन मरण के चक्र से थककर विश्राम लेने वाले मानो (आसां) इन जीवरूप चेतन शक्तियों का (स्थाम) स्थिति प्राप्त करने का आराम करने का, विश्राम स्थान (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में है। (अस्य) इस (भूतस्य) उत्पन्न हुए समस्त संसार के (स्थानम्) आश्रयभूत परमशक्ति के (तत्) उस स्वरूप को (वेधसः) ये विद्वान या सृष्टि के रचना करने हारे पञ्चतत्व भी (न वा विदुः) कदाचित् नहीं जानते हैं।

यद् रोद॑सी॒ रेज॑माने॒ भूमि॑श्च नि॒रत॑क्षतम् ।
आ॒र्द्रं तद॒द्य स॑र्व॒दा स॑मु॒द्रस्ये॑व स्रो॒त्याः ॥ ३ ॥

भा०—(समुद्रस्य) समुद्र की ओर जाने वाली (स्रोत्याः, इव) महानदियों के समान (तत्) वह, समस्त संसार का मूलकारण रूप (अद्य) आज के समान (सर्वदा) सब कालों में सदा (आर्द्रं) भरा पूरा रहता है (यत्) जिसमें से (रेजमाने) सदा गतिशील, हे (रोदसी) द्यौलोक और (भूमिश्च) भूमि आप दोनों (निरतक्षतम्) अपनी सत्ता या चेतना का अनन्त भण्डार प्राप्त करती हो।

२–(प्र०) ‘अन्तिरिक्षंस्थाम’, (च०) विदुष्कृत् [ष्टद्] शतोदनः [वेधसो नवा] इति पैप्प० सं० । ‘आसां स्थाम स्थाम श्रान्त’ इति वेबरकामितः पाठः ।

३–(द्वि०) ‘नरत्क्षतम्’ (प्र०) ‘यद्रोधसी’ (च०) ‘विदुरस्सेव व्रतंसि’ [?] इति पैप्प० सं० । (द्वि०) ‘भूमेश्च’ इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

विश्वमन्यामभीवारं तदन्यस्यामधिश्रितम् ।
दिवे च विश्ववेदसे पृथिव्यै चाकरं नमः ॥ ४ ॥

भा०—(विश्वं) समस्त विश्व को (अभि वारं) सब ओर से आच्छादन करने वाली (अन्यां) उससे अतिरिक्त कए प्रकृति को हम लोग जानते हैं। (तत्) और वह अतिरिक्त सत्ता, भी (अन्यस्या) इससे भी अतिरिक्त ब्रह्मशक्तिमें (अधिश्रितम्) आश्रित हैं। हम (विश्ववेदसे) उस समस्त पदार्थों या ब्रह्माण्ड का ज्ञान कराने हारे (दिवे च) द्यौः प्रकाशमान, (च) और (पृथिव्यै) पृथिवी, सर्वाश्रय को भी (नमः) नमस्कार (अकरम्) करता हूं ।



[३३] मूल कारण 'आपः' और आप्तजनों का वर्णन ।

'सर्वकारणमाप' इति ज्ञानवान् शंतातिर्ऋषिः । चन्द्रमा उत आपो देवताः । त्रिष्टुप् छन्दः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका यासु जातः सविता यास्वग्निः ।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥१॥

पूर्वार्धः ऋ० ७ । ३४९ । ३ ।

भा०—(यासु) जिनमें (सविता) सब का प्रेरक परमात्मा (जातः)

४–(प्र० द्वि० तृ०) विश्वमन्याऽभिवार विश्वमन्यास्यामधिश्रितं । दिवे च विश्वविधसे इति पैप्प० सं० । (प्र०) 'अभिवारस्तद्' इति सायणाभिमतः पाठः । 'विश्वमन्याऽभिवावृवे' इति आप० । अभिऽइवऽआर=अभिवाऽऽर' इति वेबर कामितः पदच्छेदः (तृ०) 'अभिवार' इति पदपाठः ।

३३] १–(द्वि०) 'यासु जातः कश्यपो यास्विन्द्रः ।' इति पैप्प० सं०, तै० सं० । दधिरे विरूपास्ताः, इति तै० सं० ।

चित् रूप से, जीवनशक्ति द्वारा, समस्त जीव संसार को उत्पन्न करने में समर्थ हुआ और (यासु) जिनमें (अग्निः) अग्नि विद्युत् या उसके समान ज्ञानी, नेता राजा है, (याः) जो 'आपः' आप्तजन (अग्निं) अग्नि तुल्य राजा को अपने (गर्भं) भीतर, गर्भ में ही (दधिरे) धारण करते हैं (ताः) वे (सुवर्णाः) उत्तम रूप वाली, वरण करने योग्य (हिरण्यवर्णाः) हितकारी और रमणीय, हृदय को प्रिय और (शुचयः) शुद्ध, कान्तिमय (पावकाः) अग्नि के समान स्वयं मलशोधक, पवित्र (आपः) 'आपः' आप्तजन (नः) हमें (शं) कल्याणकारी (स्योनाः) सुखकारी (भवन्तु) हों।

**यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम्।
या अग्निं० ॥ २ ॥**

भा०—(यासां) जिनके (मध्ये) बीचमें (राजा) सबका अनुरंजन करने वाला या प्रकाशमान (वरुणः) सबसे श्रेष्ठ राजा के समान वरण करने योग्य, प्रभु (जनानां) समस्त प्राणियों के (सत्यानृते) सत्य और असत्य, पारमार्थिक और व्यावहारिक कर्मों को (अव पश्यत्) देखता है और (याः) जो (सुवर्णाः) उत्तम वर्ण वाले (आपः) 'आपः' आप्तजन (गर्भं) अपने को ग्रहण करने में समर्थ (अग्निं) अग्नि को (दधिरे) धारण करते हैं (ताः—आपः) वे आप्तजन (नः) हमें (शं, स्योनाः) कल्याणकारी और सुखकारी (भवन्तु) हों।

**यासां देवा दिवि कृण्वन्ति भक्षं या अन्तरिक्षे बहुधा भवन्ति।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥३॥**

भा०—(यासां) जिनका (भक्षं) भोग खाद्य (देवाः) वायु, मेघ, सूर्य, रश्मि आदि दिव्य पदार्थ (दिवि) अपने प्रकाशमय सामर्थ्य में (कृण्वन्ति)

२—(द्वि०) 'अवपश्यत् जनानाम्' इति सन्धिरहितः पाठः ((श० पा०)
३—'याः पृथिवीं पयसोन्दन्ति शुक्राः' इति तै० सं०।

उत्पन्न करते हैं (याः) जो (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (बहुधा) बहुत से रूपों में (भवन्ति) प्रकट होती हैं (याः सुवर्णाः, अग्निं गर्भं दधिरे) जो उत्तम वर्ण=सामर्थ्य से युक्त (आपः) अपने ग्रहणकारी सामर्थ्यवान्, अग्नि तेज को भीतर धारण करती है (ताः आपः नः शं स्योनाः भवन्तु) वे 'आपः' हमें कल्याण और सुखकारी हों। अन्तरिक्ष=राष्ट्र, भक्ष=कर।

शिवेन॑ मा चक्षु॑षा पश्यतापः शिवया॑ तन्वोप॑ स्पृशत त्वचं॑ मे।
घृत॒श्चुत॒ः शुच॑यो॒ याः पा॑व॒कास्ता न॒ आप॒ः शं स्यो॒ना भ॑वन्तु ॥४॥

भा०—हे (आपः) 'आपः' प्राप्त करने योग्य आप्तजन ! (मा) मुझको आप लोग (शिवेन) सुख, कल्याण, युक्त (चक्षुषा) चक्षु से (पश्यत) देखो ! और (शिवया) कल्याणकारी (तन्वा) स्वरूप से (मे) मेरी (त्वचं) त्वचा को (उपस्पृशत) स्पर्श करो। (याः) जो आप (शुचयः) कान्तिमय, शुद्ध (घृतश्चुतः) कान्ति, तेज को देने वाले और स्नेह के देने वाले (पावकाः) पवित्रकारी हैं (ताः, आपः) 'आपः' वे आप्तजन (नः) हमें (शं स्योनाः) कल्याण और सुख कारक (भवन्तु) हों।



[३४] मधुलता के दृष्टान्त से ब्रह्म विद्या और मातृशक्ति का वर्णन।

अथर्वा ऋषिः। मधुवनस्पतिर्देवता। मधुवनस्पतिस्तुतिः। अनुष्टुप् छन्दः।
पञ्चर्चं मधुकमणिसूक्तम्।

इ॒यं वी॒रुन्मधु॑जाता॒ मधु॑ना त्वा खनामसि।
मधो॒रधि॒ प्रजा॑तासि॒ सा नो॒ मधु॑मतस्कृधि ॥ १ ॥

४-(तृ०) 'घृतश्चतः' [?] इति पैप्प० सं०। शिवेनत्वा चक्षुषा पश्यन्त्वापः' इति आप० म० प०।

भा०—(इयं) यह (वीरुत्) विशेष रूप से निरन्तर बढ़ने वाली या प्रकट होने वाली, ब्रह्मविद्या या लता के समान वीर्य को जन्म देने हारी (मधुजाता) मधु=अमृतमय ब्रह्म से उत्पन्न हुई या प्रेम से प्राप्त हुई है। अतः हे ब्रह्मविद्ये या प्रिये प्रेयसि ! (त्वा) तुझको (मधुना) अमृत रूप जीव द्वारा या प्रेम द्वारा (खनामसि) श्रम से खोद कर प्राप्त करते हैं। क्योंकि तू (मधोः) मधुरूप परमात्मा से या स्नेह से (अधि प्रजातासि) साक्षात् उत्पन्न हुई है अतः वह तू (नः) हमें (मधुमतः) आत्मज्ञान से स्नेह से युक्त, (कृधि) करदे। लतापक्ष में—'मधुलता' को हम मधुररस के निमित्त खोदते हैं। मधुररस से ही वह विशेष उत्तम गुणकारी भी होती है, वह हमें सुखयुक्त करे।

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ २ ॥

भा०—हे लतास्वरूप ब्रह्मविद्ये या वीजजन्मदात्रि प्रिये ! (जिह्वायाः) जिह्वा के (अग्रे) अग्रभाग में (मधु) ब्रह्मज्ञान रहे और (जिह्वामूले) जिह्वा के मूलभाग मानस में भी (मधूलकम्) अति अधिक मधुर मनोहर ज्ञानमय संग्रह हो। हे ब्रह्म विद्ये ! (मम) मेरे (क्रतौ) क्रियावान् कर्ता रूप आत्मा में (इत् अह) अवश्य ही (असः) तू विद्यमान रह। और (मम) मेरे (चित्तम्) चित्त में भी (उपायसि) व्याप्त रह। लता पक्ष में मधुलता मन, शरीर में पुष्टि, आरोग्यता और स्वरमाधुर्य और मानस बल का सम्पादन करे। स्त्रीपक्ष में मधु=स्नेह।

---

[३४] २–'जिह्वायाग्रे मे मधु', (तृ० च०) यथामां कामिन्यसो यंवाचामामन्वायरि इति पैप्प सं०।

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम् ।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दृशः ॥ ३ ॥

पूर्वार्धः, ऋ० १० । २४ । ६ ॥

भा०—(मे) मेरा (निक्रमणं) कार्यों में प्रवृत्त होना या जाना (मधुमत्) मधु के समान मधुर, सुखकर हो । (मे परायणम्) मेरा कार्यों के समाप्ति तक पहुंचना या पुनः आना भी (मधुमत्) सुखकारी हो । (वाचा) वाणी से (मधुमत्) मधु के समान मनोहर, प्रेमयुक्त वचन (वदामि) बोलूं । और मैं सब प्रकार से (मधुसंदृशः) मधु के समान ही देखने और दीखने हारा (भूयासं) होजाऊं अथवा मधुर दृष्टि वाला होऊं ।

मधोरस्मि मधुतरो मदुघान्मधुमत्तरः ।
मामित्किल त्वं वनाः शाखां मधुमतीमिव ॥ ४ ॥

भा०—हे जनो ! मैं (मधोः) मधु से भी (मधुतरः) अधिक प्रिय, चित्तहारी (अस्मि) हूं (मधुदुघात्) ज्ञानरूप मधु के संचय करने हारे विद्वान् से भी (मधुमत्तरः) अधिक ज्ञान-मधु का संग्रह करने वाला हूं । हे पुरुष ! जिस प्रकार (मधुमतीं) मधु से युक्त (शाखां) शाखा या लता को रस का इच्छुक प्राणी सेवन करता है उस प्रकार (मामित्) मुझको

३–'विदानि' इति ह्विटनिकामितः पाठः । 'मधुमन्मे परायणं मधुमत्पुनरायणम् । तानो देवा देवता पुनरावहतादिति ' इति ऋ० । (तृ० च०) 'वाचा मधुमद् उभ्यामभक्षो मे मधुसंदृशि ।' इति पैप्प० सं० ।

४–(प्र० द्वि०) मधोरहं मधुतरो मधुमान् मधुमत्तरः' इति पैप्प० सं० । मधुवादिति क्वाचित्कः पाठः ।

ही (किल) निश्चय से (त्वं) तू (वनाः) सेवन कर । गृहपक्ष में पति का स्त्री के प्रति वचन है । मधु=स्नेह ।

परि॑ त्वा परित॒त्नुने॒क्षुणाग॒मावि॑द्विषे ।
यथा॒ मां का॒मिन्यसो॒ यथा॒ मन्नाप॑गा॒ असः॑ ॥ ५ ॥

भा०—हे प्रिये ! पत्नि ! (त्वा) तुझको (परितत्नुना) सब ओर फैलते हुए, विस्तृत (इक्षुणा) गन्ने के समान मधुर या ईक्षण=दर्शन करने वाले नयन, या इच्छाशील चित्त से तेरे सहयोग में मैं (अविद्विषे) तुझसे कभी द्वेष न करने एवं सदा प्रेम व्यवहार करने के लिये ही (परि आगाम्) सब प्रकार से प्राप्त होता हूं और ऐसा व्यवहार करूं कि (यथा) जिस प्रकार तू (मां) मुझको (कामिनी) कामना करने हारी (असः) हो और (यथा) जिस प्रकार तू (मत्) मुझसे (अपगा) दूर, पृथक् (न असः) न हो ।

[३५] दीर्घ जीवन का उपाय ।

आयुष्कामोऽथर्वा ऋषिः । हिरण्यं देवता । १–३ अनुष्टुभः । ४ अनुष्टुब्गर्भा चतुष्पदा त्रिष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

यदाब॑ध्नन् दाक्षाय॒णा हिर॑ण्यं श॒तानी॑काय सुमन॒स्यमा॑नाः ।
तत्ते॑ बध्नाम्यायु॑षे॒ वर्च॑से॒ बला॑य दीर्घायु॒त्वाय॑ श॒तशा॑रदाय ॥१॥

यजु० ३४ । ५२ ॥

५–(द्वि०, तृ०) ' यक्षुणा: कामविद्विषे । यथा न विद्वावद्दि न विभाव कदाचन [?] ' इति पैप्प० सं० ।

[३५] १–' तन्म आबध्नामि शत शारदायायुष्मान् जरदष्टिर्यथासम् ' इति यजु० ।

भा०—ब्रह्मचर्यसाधना का उपदेश करते हैं । (दाक्षायणाः) दक्ष रूप आत्मा के आश्रय पर रहने वाले योगी लोग (सुमनस्यमानाः) शुभ संकल्प वाले होकर (शतानीकाय) सैकड़ों अनीक, बल, सामर्थ्यों और आयु के शत वर्षों तक जीने हारे देह के लिये (हिरण्यं) हितकारी और अति रमणीय (यत्) जिस वीर्य को (आ बध्नन्) विषयों में नष्ट होने से रोक कर उसकी रक्षा करते हैं (तत्) उसको मैं आचार्य (ते) तुझ शिष्य के (आयुषे) आयु, (वर्चसे) तेज, (बलाय) बल और (शतशारदाय) सौ वर्षों तक के लम्बे (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन के लिये (बध्नामि) अपने अधीन व्रत रूप में नियत या व्यवस्थित करता हूं ।

नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते देवानामोजः प्रथमजं ह्येतत् ।
यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः ॥२॥

यजु० ३४ । ५१ ॥

भा०—(एनं) वीर्य की रक्षा करने हारे ब्रह्मचारी को (रक्षांसि) विघ्नकारी दुष्टभाव और ज्वरादि पीड़ाएं और (पिशाचाः) मांसभोजी पुरुष और दुर्बल करने हारे रोग कभी (न) नहीं (सहन्ते) दबाते, क्योंकि (एतत्) यह वीर्यरूप सुवर्ण, कान्तिकारी मूल पदार्थ (देवानां) समस्त इन्द्रियों में और विद्वानों में (प्रथमजं) सबसे पूर्व और श्रेष्ठ (ओजः) ओज, तेज रूप है । (यः) जो ऊर्ध्वरेता पुरुष (दाक्षायणं) मुख्य प्राण में आश्रित इस (हिरण्यं) हितकारी, रमणीय, पदार्थ शुक्र को (बिभर्त्ति) यत्न पूर्वक धारण, रक्षा करता है (सः) वह (जीवेषु) जीवों में (आयुः)

२—न तद्रक्षांसि न पिशाचास्तरन्ति, देवानामोजः प्रथमं ह्येतत् । यो बिभर्त्ति दाक्षायणं हिरण्यं स देवेषु कृणुतेदीर्घमायुः । समनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः । ' इति याजुषोमन्त्रपाठः ।

अपने आयु, जीवन काल को (दीर्घं) बहुत लम्बा, अधिक (कृणुते) करलेता है ।

" ओजो हि शरीरधारको बलहेतुरष्टमो धातुविशेषः । "

अपां तेजो ज्योतिरोजो बलं च वनस्पतीनामुत वीर्या/णि ।
इन्द्र इवेन्द्रियाण्यधि धारयामो अस्मिन् तद् दक्षमाणो
बिभरद्धिरण्यम् ॥ ३ ॥

भा०—(इन्द्रः) इन्द्र आत्मा (इन्द्रियाणि इव) जिस प्रकार इन्द्रियों को बल धारण कराता है उसी प्रकार (अपां) जलों का (तेजः) निर्मलता आदि सामर्थ्य (ज्योतिः) कान्ति, (ओजः) ओज (बलं) बल (च) और (वनस्पतीनाम्) वनस्पतियों या प्राणों के (उत) भी (वीर्याणि) रसादि सामर्थ्यों को हम (अस्मिन्) इस ब्रह्मचारी में (धारयामः) धारण कराते हैं। यह ब्रह्मचारी (दक्षमाणः) बल और शौर्य में बराबर वृद्धि करता हुआ (तत्) उस परम (हिरण्यं) वीर्य को (बिभरत्) धारण करे ।

समानां मासामृतुभिष्ट्वा वयं संवत्सरस्य पयसा पिपर्मि ।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनु मन्यन्तामहृणीयमानाः ॥ ४ ॥

भा०—(वयं) हम आचार्यगण (त्वा) तुझ ब्रह्मचारी को (समानां) बहुत वर्षों और (मासानां) मासों और (संवत्सरस्य) पूर्ण वर्ष के (पयसा) पयस=पुष्टिकारक सारभूत सामर्थ्य से और (ऋतुभिः) नाना ऋतुओं के बल से (पिपर्मि) तपद्वारा पूर्ण करते हैं । (इन्द्राग्नी) इन्द्र परमेश्वर और अग्नि तुम्हारा मुख्य आचार्य दोनों और (विश्वेदेवाः) समस्त उपस्थित विद्वान्

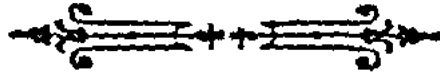
३–' इन्द्र इवाधिधारयामो ' इति व्यङ्गः पाठः ह्विटनिकामितः ।

४–' ऋतुभिस्त्वाऽहम् संव० ' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

पुरुष (अहृणीयमानाः) संकोच रहित होकर (ते) तुझे इस उत्तम कार्य के निमित्त (अनुमन्यन्ताम्) अनुमति दें ।

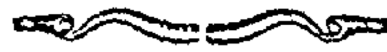
इति षष्ठोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि सप्त, ऋचश्चैकत्रिंशत्]



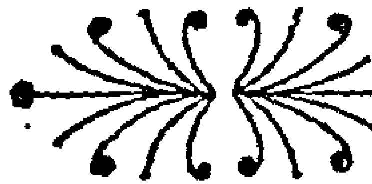
प्रथमं काण्डं समाप्तम् ।

[पञ्चत्रिंशच्च सूक्तानि त्रिपञ्चाशत् शतं ऋचः]



रामवस्वङ्कचन्द्रेऽब्दे माघे मासि बुधे दिने ।
दर्शेऽत्वथर्वणः काण्डं प्रथमं पूर्तिमभ्यगात् ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालंकारमीमांसातीर्थविरुदोपशोभितश्रीमज्जयदेवशर्मणा विरचिते अथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्ये प्रथमं काण्डं समाप्तम् ।



ओ३म्

अथ द्वितीयं काण्डम्

[१] परमात्मदर्शन ।

ब्रह्म, वेनश्च ऋषिः । ब्रह्मात्मा देवता । १, २, ४ त्रिष्टुभः । ३, जगती ।
चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

वे॒नस्तत् प॑श्यत् प॒र॒मं गुहा॒ यद् यत्र॒ विश्वं॒ भव॒त्येक॑रूपम् ।
इ॒दं पृश्नि॑रदुह॒ज्जाय॑मानाः स्व॒र्विदो॑ अ॒भ्य॑नूषत॒ व्राः ॥ १ ॥

यजु० ३२ । ८ ॥

भा०—(यत्) जो (गुहा) गुहा में, हृदय में और समस्त ब्रह्माण्ड रूप गुहा में व्यापक (परमं) सर्वोत्कृष्ट (तत्) उस परमेश्वर के रूप को (वेनः) ज्ञान ज्योतिर्मय विद्वान्, योगी (पश्यत्) साक्षात् करता है (यत्र) जिसमें (विश्वं) समस्त संसार (एकरूपम्) एकरूप, प्रलय काल में एकाकार (भवति) होजाता है, (पृश्निः) जिस प्रकार सूर्य इस लोक का रस आदान कर लेता है उसी प्रकार (पृश्निः) आनन्द-रस को स्पर्श करने हारा आदित्य योगी (इदं) इस समस्त जगत् के विज्ञान को (अदुहत्) रस रूप में प्राप्त कर लेता है । और (जायमानाः) उत्पन्न होते हुए सिद्ध, (व्राः) उसको ध्येय रूप से वरण करने वाले मुक्त जीवगण भी

---

[१] १-'वेनस्तत्पश्यन् निहितं गुहा सद् यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् । तस्मिन्निन्द्रं संच विचैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु इति यजु० । तत्र स्वयंभु ब्रह्म-ऋषिः । परमात्मा देवता । (प्र०) 'वेनस्तत् पश्यन् परंपदम्' (द्वि०) भवत्येक नडम्' (तृ०) 'इदं धेनुरदुहद्' (च०) स्वर्विदोऽभ्यनुक्तिविराट् इति पैप्प० सं० ।

(स्वर्विदः) प्रकाशस्वरूप उस मोक्षसुख को जान कर या प्राप्त करके उसी ब्रह्म को (अभि अनूषत) साक्षात् स्तुति करते हैं ।

प्र तद् वोचेदमृतस्य विद्वान् गन्धर्वो धाम परमं गुहा यत् ।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुष्पितासत् ॥२॥

यजुः ३२ । ९ ॥

भा०—(अमृतस्य) उस अमृतस्वरूप ब्रह्म को (विद्वान्) जानने हारा (गन्धर्वः) रश्मियों को धारण करने हारे सूर्य के समान वेद-वाणियों का धारण करने हारा, वेदज्ञ, आदित्ययोगी, ज्ञान का सूर्य है । वह (तत्) उस परब्रह्म का (प्रवोचेत्) उत्तम रूप से उपदेश करे । (यत्) जो (गुहा) हृदय गुफा या ब्रह्माण्ड गुफा या प्रकृति शक्ति में (परमं) सब से श्रेष्ठ (धाम) धारणशील तेजःस्वरूप है । (अस्य) इस परमेश्वर के (त्रीणि पदानि) तीन स्वरूप, तीन चरण, (गुहा) हृदय गुफा या प्रकृति में (निहिता) व्यक्त रूप से रखे हैं । तीन पाद जैसे—जगत् के सर्ग, स्थिति, प्रलय या तीन वेद या तीन काल या विज्ञानघन, आनन्द, सत्यसंकल्पादि या सत्, चित्, आनन्दरूप या परब्रह्म, अन्तर्यामि और अव्याकृत विज्ञानात्मरूप अथवा विराड्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर ये तीन या प्रणव के तीन अवयव अ, उ, म् । और इन से गम्यमान विश्व, तैजस्, प्राज्ञ और समष्टि रूप से विराट् आदि तीन रूप हैं । (यः) जो परम विद्वान् पुरुष (तानि) उक्त ब्रह्म के तीन लक्षणों को और उसके चतुर्थ अमात्र रूपको भी (वेद) जानता है (सः) वह (पितुः) पिता का भी (पिता)

२—(प्र०) 'प्रतद्वोचेदमृतंनुविद्वान्' (द्वि०) 'परमं गुहासत्' इति यजु० । (प्र०) पृथवग्वोचेदमृतमस्य (तृ०) त्रीणिपदा निहता गुहासु, (च०) यस्तद्वेदसवितुः पितासत् इति पैप्प० सं० ।

पिता (असत्) है। अर्थात् ज्ञानी को आदर से उसके मूर्ख पिता भी अपने पिता के समान जानते हैं। जैसा मनु में—

"अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः।
पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ॥
ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः।
देवाश्चैतान् समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् ॥

आङ्गिरस ने अपने पिताओं को ज्ञान के बल से सावित्री के गर्भ में लेकर पढ़ाया और उनको 'पुत्रो' ऐसा पुकारा। वे क्रुद्ध होकर देवों से पूछने गये और देवों ने बालक के सम्बोधन को ही उचित कहा। (मनु० २। १५१, १५२)

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा ॥३॥

ऋ० १०। ८२। ३। यजु० ३२। १०॥

भा०—(सः) वह परमात्मा (नः) हमारा (पिता) पालक (जनिता) और उत्पादक है (स उत) और वह ही हमारा (बन्धुः) सबको प्रेम में बांधने वाला, सहायक है, जो (विश्वा) समस्त (धामानि)

३—सनो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यत्र देवाः अमृतमानशानास्तृतीयेधामन्यध्यैरयन्त। इति यजु०। तत्रस्वयम्भुब्रह्म-ऋषिः परमात्मा देवता। (प्र०) 'स नो बन्धुर्जनिता स विधर्ताधर्माणि वेद' इति पैप्प० स०। (प्र०) 'योनः पिता, जनिता यो विधाता धामानि' (तृ०) देवानां नामधा (च०) भुवनायन्त्यन्या इति ऋ०। ऋग्वेदे विश्वकर्मा भौवन ऋषिर्विश्वकर्मा देवता।

धारण-सामर्थ्यों, स्थानों, नामों और मूलकारणों को और (भुवनानि) समस्त उत्पन्न होने हारे लोकों, पदार्थों को (वेद) जानता है और जनाता है। (यः) जो स्वयं (देवानां) समस्त देवों, दिव्यगुण वाले पदार्थों के (नामधः) नामों को भी स्वयं ही सर्वगुणसम्पन्न होने के कारण धारण करने हारा (एक एव) एक अद्वितीय है। (संप्रश्नं) उत्तम रीति से गुरु के समीप शिष्य रूप से प्रश्न कर उसके उपदेश से जानने योग्य (तं) उस परमात्मा को ही (सर्वा) समस्त (भुवना) लोक और समस्त भूतवर्ग (यान्ति) प्राप्त हैं, उसी में ओत प्रोत हैं। जैसा पूर्व मन्त्र के याजुष पाठ में लिखा है " स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु " वह प्रजाओं में सर्वव्यापक होकर उरोया पिरोया हुआ है।

परि द्यावापृथिवी सद्य आयमुपातिष्ठे प्रथमजामृतस्य ।
वाचमिव वक्तरि भुवनेष्ठा धास्युरेष नन्वे॒षो अग्निः ॥ ४ ॥

यजु० ३२ । ११, १२ इत्यनयोर्व्यत्यस्ता पादाः ॥

भा०—परमेश्वर स्वयं अपना स्वरूप बतलाता है कि मैं (सद्यः) इस संसार के उत्पन्न होने के पूर्व से ही (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी अर्थात् समस्त ब्रह्माण्ड के (परि) ऊपर अधिष्ठाता रूप (आयम्) सर्वत्र व्यापक हूं और (ऋतस्य) इस सत् स्वरूप व्यक्त जगत् के भी (प्रथमजाम्) प्रथम विद्यमान मूलकारण प्रकृति को भी मैं ही (उप-आ तिष्ठे[1]) अपने वश करता हूं। मैं ही (भुवनेष्ठाः) समस्त संसार में

४–परिविश्वा भुवनान्ययमुपाचष्टे प्रथमजामृतस्य । वाचमिव यत्परिभुवनेष्ठाः धास्नेपण [नन्वे] त्वेवो अग्निः । इति पैप्प० सं० । परिद्यावा पृथिवी सद्य इत्वा (यजु० ३२ । १२ प्र०) उपस्थाय प्रथमजामृतस्य (यजुः ३२ । ११ तृ०)

१. 'उप आऽतिष्ठे', उपऽअतिष्ठे इत्युभयथा पदपाठः । उपातिष्ठे इतिकाचित्कः पाठः ।

व्यापक परमात्मा (वक्तरि) वक्ता पुरुष में (वाचं) वाणी के (इव) समान (धास्युः) धारण करता हूं । (ननु) निश्चय से (एषः) वही परमात्मा (अग्निः) सब का प्रकाशक, ज्ञानवान् और सब के आगे विद्यमान सब का आदिकारण है ।

परि॒ विश्वा॒ भुव॑नान्यायमृ॒तस्य॒ तन्तु॒ वित॑तं दृ॒शे कम् ।
यत्र॑ दे॒वा अ॒मृत॑मानशा॒नाः स॑मा॒ने योना॒वध्यैर॑यन्त ॥ ५ ॥

भा०—मैं परमेश्वर (ऋतस्य) सत्स्वरूप इस जगत् के परम कारण रूप (तन्तुं) इसको विस्तार करने वाले या निरन्तर उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करके पुनः सर्जन करने हारे (विततं) विशेष रूप से सर्वत्र व्यापक अपने उस (कं) सुखस्वरूप का (दृशे) मानस प्रत्यक्ष कराने के लिये (विश्वा) समस्त (भुवनानि) लोकों के (परि) ऊपर विराजमान मोक्षाख्य स्थान पर (आयम्) प्राप्त हूं (यत्र) जहां (देवाः) मुक्त विद्वान्गण, और दिव्य सूर्य आदि पदार्थ (अमृतं) मोक्षाख्य अमृत परम ब्रह्मानन्द सुख को (आनशानाः) भोग करते हुए (समाने) समान, एकरस (योनौ) परम कारण, परम आश्रय, ब्रह्म में (अधि-ऐरयन्त) लीन होजाते हैं ।



५–'परीत्य भूतानि परीत्य लोकान्' इति (यजुः ३२ । ११ प्र०) ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य (यजुः ३२ । १२ तृ०) (च०) तृतीये धामन्नध्यै० इति यजु० (३२ । १० च०) (च०) समाने धामन्नध्यै इति पैप्प० सं० । (प्र०) परिद्यावापृथिवी सद्यऽऽयम् (तृ०) देवो देवत्वमभिरक्षमाण समान बन्धुमुपरिच्छद्देकः इत्यपि पैप्प० सं० ।

[२] गन्धर्व, परमात्मा और उसकी शक्तियां ।

मातृनामा ऋषिः । गन्धर्वाप्सरसो देवताः । १ विराड् जगती, २, ३ त्रिष्टुभौ, ४ त्रिपदा विराड्नाम गायत्री, ५ भूरिग् अनुष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

दि॒व्यो ग॑न्ध॒र्वो भुव॑नस्य॒ यस्पति॒रेक॑ ए॒व न॑म॒स्यो॑/वि॒क्ष्वीड्यः॑ ।
तं त्वा॑ यौमि॒ ब्रह्म॑णा दिव्य देव॒ नम॑स्ते अस्तु दि॒वि ते॑ स॒धस्थ॑म् ॥१॥

भा०—(दिव्यः) सर्वत्र रमणशील, प्रकाशस्वरूप विद्वानों और ध्यान योगियों के रमण करने योग्य (गन्धर्वः) समस्त गतिमान पदार्थ, सूर्य पृथिवी आदि पिण्डों एवं वेदवाणी को धारण करने हारा (यः) जो (भुवनस्य) समस्त जगत् का (एकः) एक (एव) ही (पतिः) पालक है वह ही (विक्षु) समस्त प्रजाओं में (ईड्यः) स्तुति करने और नमस्कार करने योग्य है । हे (दिव्य) विद्वानों के एकमात्र रमणयोग्य, (देव) सर्व-प्रकाशक परमेश्वर (तं त्वा) उस तुझको (ब्रह्मणा) वेदमय ज्ञान से (यौमि) प्राप्त होता हूं और (दिवि) ज्ञानमय मोक्षरूप परम धाम में (ते) तेरा ही (सधस्थम्) सत्संग (अस्तु) मुझे प्राप्त हो । भगवन् (ते नमः) तुझे मेरा नमस्कार है ।

दि॒वि स्पृ॒ष्टो य॑ज॒तः सूर्य॑त्वगवया॒ता हर॑सो॒ दैव्य॑स्य ।
मृ॒डाद् ग॑न्ध॒र्वो भुव॑नस्य॒ यस्पति॒रेक॑ ए॒व न॑म॒स्यः॑ सु॒शेवाः॑ ॥ २ ॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (भुवनस्य) समस्त संसार का (एक एव) एक ही (पतिः) पालक है वह (गन्धर्वः) वेदवाणी का पालक (दिवि) मोक्षधाम में (स्पृष्टः) प्राप्त होने योग्य (यजतः) स्तुति, पूजा

---

[२] १–(तृ०) 'देव दिव्य' इति पैप्प० सं० ।
२–'दिविस्पृष्टो' इति पैप्प० सं० ।

करने योग्य (सूर्यत्वग्) सूर्य आदि पदार्थों को भी आच्छादित करने हारा, एवं सूर्य के समान ज्योतिर्मय है । वह (दैव्यस्य) दिव्य पदार्थों के भी (हरसः) तेज को (अवयाता) मात करता है, वही (सुशेवाः) उत्तम सुख-सम्पन्न आनन्दघन (नमस्यः) वन्दना योग्य परमेश्वर हमें (मृडात्) सुखी करे ।

अन॒व॒द्याभि॒ः समु॑ जग्म आ॒भिर॑प्स॒रास्वपि॑ ग॒न्ध॒र्व आ॑सीत् ।
स॒मु॒द्र आ॑सां॒ सद॑नं म आहु॒र्यत॑: स॒द्य आ च॒ परा॑ च॒ यन्ति॑ ॥३॥

भा०—(अप्सरासु) समस्त लोकों में फैलने वाली शक्तियों में (अपि) भी (गन्धर्वः) वही गन्धर्व, शक्तिधर उनका स्वामी (आसीत्) विद्यमान है । वह (अनवद्याभिः) अनिन्दनीय, निर्दोष, नियम-व्यवस्था से सम्पन्न (आभिः) इन जगन्नियामक शक्तियों के (सम्, जग्मे, उँ) साथ मिल-कर तन्मय हो रहा है । (समुद्रः) जो परमात्मा इन सब लोकों का उद्भवस्थान है वही (आसां) इनका (सदनं) आश्रयस्थान भी है । (मे) मुझको वेद द्वारा ऋषिगण इसी प्रकार (आहुः) उपदेश करते हैं कि (यतः) जिससे उत्पन्न होकर ये शक्तियां (आयन्ति च) सर्वत्र फैलती हैं (च) (परायन्ति) वे पुनः उसीमें लीन होजाती हैं । जैसे उपनिषद् में लिखा है-" य एको जालवान् ईशत ईशनीभिः सर्वाँल्लोकानीशत ईशनीभिः । य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति । एक जालवान् अपनी शक्तियों से समस्त लोकों को वश किये हुए है । गन्धर्वों और अप्सराओं का विवेक यजुर्वेद (अ० १८ । मं० ३८-४३) में स्पष्ट किया है ।

गन्धर्व	अप्सराएं
ऋताषाड् ऋतधामा अग्निः	मुदः, ओषधयः

३-(प्र०) समुजग्माभि रप्सराभिरपि', (तृ० च०) 'समुद्रासां सदनमाहु स्ततस्सद्य उपाचरयन्ति' इति पैप्प० सं० ।

संहिता विश्वसामा सूर्यः	आयुवः, मरीचयः
सुषुम्णः सूर्यरश्मिः चन्द्रमाः	भेकुरयः, नक्षत्राणि
इषिरो विश्वव्यचाः वातः	ऊर्जः, आपः
भुज्युः सुपर्णः यज्ञः	स्तावाः, दक्षिणाः
प्रजापतिः विश्वकर्मा मनः	एष्टयः, ऋक्सामानि

साधारणतः गन्धर्व पुरुष और अप्सरा स्त्री में भी यह मन्त्र संगत है।

अभ्रिये दिद्युन्नक्षत्रिये या विश्वावसुं गन्धर्वं सचध्वे ।
ताभ्यो वो देवीर्नम इत् कृणोमि ॥ ४ ॥

भा०—हे (देवीः) दिव्य गुण युक्त ! हे (अभ्रिये) अभ्र=मेघ में निवास करने हारी एवं हे (दिद्युत्) निरन्तर प्रकाशमान सूर्यप्रभे ! हे (नक्षत्रिये) नक्षत्रों में विद्यमान शक्तियो ! आप (याः) जो (विश्वावसुं) समस्त लोकों में व्यापक (गन्धर्वं) ज्ञान और सूर्यों के धारक परमेश्वर के साथ (सचध्वे) संयुक्त हो (ताभ्यः वः) उन आपका (नमः, इत्) आदर (कृणोमि) करता हूं। अथवा आपका सत् उपयोग करता हूं।

याः क्लन्दास्तमिषीचयो॒ऽक्षका॑मा मनो॒मुहः॑ ।
ताभ्यो॑ गन्धर्वप॑त्नीभ्योऽप्स॒राभ्योऽकरं॒ नमः॑ ॥ ५ ॥

भा०—(याः) जो अप्सरायें, स्त्रियें (क्लन्दाः) दुःखदायिनी (तमिषीचयः) ग्लानि कराने वाली, घृणाजनक रूप और कर्मवाली, (अक्षकामाः) इन्द्रिय विषयों को ही चाहने वाली (मनोमुहः) मन को रूप आदि से मोहने वाली हैं (ताभ्यः) उन (गन्धर्वपत्नीभ्यः) गान वाद्यप्रिय पुरुषों का पालन करने हारी (अप्सराभ्यः) रूपवती स्त्रियों या शक्तियों को भी (नमः) परित्याग रूप नमस्कार (अकरम्) करता हूं।

५–'तामिषीचयोऽक्षिकामाः' इति पैप्प० सं० ।

इसी प्रकार उन भौतिक शक्तियों को भी मैं (नमः, अकरम्) अपने वश करता हूं (याः रुलन्दाः) जो प्रजा को पीड़ा देकर रुलातीं, (तमिषीचयः) अन्धकार करतीं या चक्षुशक्ति का नाश करतीं, (अक्षकामाः) इन्द्रियों में उत्तेजना उत्पन्न करतीं और (मनोमुहः) मन में भ्रम डालकर उसको तामसिक करती है।



[३] आस्राव रोग का उपचार ।

अंगिरा ऋषिः । भैषज्यायुर्धन्वन्तरिर्देवता । १-५ अनुष्टुभः, ६ निपात् स्वराट् उपरिष्टान्महाबृहती । षड्‌चं सूक्तम् ॥

अदो यदवधावत्यवत्कमधि पर्वतात् ।
तत्ते कृणोमि भेषजं सुभेषजं यथासंसि ॥ १ ॥

भा०—(अदः) वह (यत्) जो (पर्वतात् अधि) पर्वत से नीचे २ (अव धावति) फैलती है और (अवत्कम्) पर्वत की रक्षा सी करती है हे ओषधे ! (तत्) उस (ते) तुझको मैं सद्वैद्य (भेषजं) रोग के दूर करने में समर्थ (कृणोमि) इस विधि से बनाता हूं कि (यथा) जिस प्रकार से तू (सुभेषजं) उत्तम रीति से रोग दूर करने में समर्थ (असासि) हो जाता है।

आदङ्गा कुविदङ्गा शतं या भेषजानि ते ।
तेषांमसि त्वमुत्तममनास्रावमरोगणम् ॥ २ ॥

[३] १-(प्र०) 'यदवधावसि' इति क्वाचित्कः पाठः । (च०) 'यथासति' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

२-(प्र०, द्वि०) 'आदङ्गारशतं यद्भेषजानि ते सहस्रं वा च यानि ते', (च०) 'अनास्रावमरो हरणम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(अङ्ग) हे ओषधे ! (आत्) प्रयोग करने के अनन्तर और (अङ्ग) हे ओषधे ! (कुवित्) नाना प्रकार की (या , जो (ते) तेरी सजातीय (शतं) सैकड़ों (भेषजानि) रोगहारी ओषधियां हैं (तेषां) उनमें से भी (त्वं) तू (अनास्रावं) अतीसार, अतिमूत्र और नाड़ीव्रण आदि का नाशक और (अरोगणम्) शरीर की पीड़ा और देह के टूटने के कष्ट को निवारण करने में (उत्तमम्) सबसे अधिक गुणकारी है । वैद्य इसी प्रकार विचार कर ओषधि का निर्णय करे ।

नीचैः खनन्त्यसुरा अरुस्राणमिदं महत् ।
तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥ ३ ॥

भा०—(असुराः) असु=प्राण का दान करने हारे प्राणाचार्य वैद्यगण इस ओषध को (नीचैः) खूब गहरा (खनन्ति) खोद कर लाते हैं । क्योंकि (इदं) यह (महत्) बड़ा ही (अरुस्राणम्) व्रण को शीघ्र पका देता है । (तद्) वही (आस्रावस्य) अतिमूत्र, नाड़ीव्रण और अतिसार आदि रोगवर्ग की (भेषजं) उत्तम चिकित्सा है । (तद् उ) वह ही (रोगं) रोग=पीड़ाकर व्याधि को (अनीनशत्) विनाश कर देता है ।

उपजीका उद्भरन्ति समुद्रादधि भेषजम् ।
तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमशीशमत् ॥ ४ ॥

भा०—(उपजीकाः) वम्री=दीमक नाम के कीट (समुद्राद्) पृथिवी के भीतर के जलराशि से (भेषजं) औषध को (उद् भरन्ति) ऊपर ले आते हैं (तद्) वह भी (आस्रावस्य) अतीसार आदि की (भेषजं) अच्छी चिकित्सा है । (तद् उ) वह भी (रोगम्) देह की व्याधि को (अशीशमत्) शमन कर देता है ।

४–(प्र०) 'उपचीका उद्भरन्ति', (तृ०, च०) 'अलस्यानमस्य आथर्वणो रोगस्थानमस्याथर्वणम्' इति पैप्प० सं० ।

इसी सम्बन्ध में पैप्पलादसंहिता में लिखा है:—

"यस्य भूम्या उपचीका, गृहं कृण्वते त्मने ।
तस्य ते विश्वधायसो विषदूषणमुद्भरे ॥"

अर्थात् जिस भूमि में दीमकें अपना घर उठाती हैं वहां से मैं विष के नाशक पदार्थ को प्राप्त करता हूं ।

अरुस्राणमिदं महत् पृथिव्या अध्युद्धृतम् ।
तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥ ५ ॥

भा०—(इदं) यह (महत्) बड़ी (अरुस्राणं) व्रण को पकाने वाली औषध (पृथिव्या अधि) पृथिवी से (उद्भृतम्) खोदकर प्राप्त की है (तद्) वह (आस्रावस्य भेषजं) अतिसार व्रण आदि की औषध है (तत् उ रोगम् अनीनशत) वह भी देहव्याधि का नाश करती है ।

शं नो भवन्त्वाप ओषधयः शिवाः । इन्द्रस्य वज्रो अपहन्तु रक्षस आराद् विसृष्टा इषवः पतन्तु रक्षसाम् ॥ ६ ॥

भा०—(नः) हमारे लिये (आपः) जल (शं) कल्याण, सुखकारी (भवन्तु) हों और (ओषधयः) ओषधियाँ भी (शिवाः) सुखकारी हों । (रक्षसः) सुखसे वञ्चित करने वाले, रोगजनक कीटों को (इन्द्रस्य) सूर्य का (वज्रः) रोगनिवारक तेज (अपहन्तु) विनाश करे । (रक्षसाम्) उन दुःखदायी रोगकीटों पर (आराद्) दूर से (विसृष्टाः) फेंकी गई (इषवः) तीक्ष्ण किरणें (पतन्तु) पड़ें । अथवा—(रक्षसाम् इषवः आरात् पतन्तु) दुःखदायक रोगों के कष्टदायी प्रभाव हमसे सदा दूर ही रहें ।

५—' अरुस्पानमिदं महत् पृथिव्या अभ्युद्धृतम् ' इति पैप्प० सं० ।

६—' शंनो भवन्त्वपः ' इति पाठः शङ्करपाण्डुरंगसम्मतः । 'शंनो भवन्त्वापः' इति सायणाभिमतः ।

[४] जङ्गिड़ और शण दो प्रकार की सेनाएं !

अथर्वा ऋषिः । चन्द्रमा जङ्गिडो वा देवता । जङ्गिडमणिस्तुतिः । १ विराट् प्रस्तारपंक्तिः । २–६ अनुष्टुभः । पङ्चं सूक्तम् ॥

दीर्घायुत्वायं बृहते रणायारिष्यन्तो दक्षमाणाः सदैव ।
मणिं विष्कन्धदूषणं जाङ्गिडं बिभृमो वयम् ॥ १ ॥

भा०—हम (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ आयु और (बृहते) बहुत बड़े (रणाय) आनन्दप्राप्ति या संग्राम के निमित्त (सदैव) सदा ही (दक्षमाणाः) प्रयत्न और ज्ञानशील होते हुए भी (अरिष्यन्तः) किसी की हिंसा न करते हुए (विष्कन्धदूषणं) शत्रुपक्ष के छावनी में हलचल मचा देने वाले, शत्रुपक्ष में फूट डाल देने वाले (जङ्गिडं) शत्रु को निगल जाने वाले (मणिं) मन्त्र=विचार या बनाये व्यूह को (बिभृमः) उत्तमरूप से सुरक्षित बना रखें । अभीवर्तमणि या अभीवर्त व्यूह का वर्णन पूर्व होगया है । सायण ने 'जंगिड' नामक बनारस में प्रसिद्ध किसी वृक्ष विशेष की मणि धारण करने परक अर्थ किया है, वैद्यक शास्त्र में वैसा वृक्ष अप्रसिद्ध है ।

जाङ्गिडो जम्भाद् विशराद्विष्कन्धादभिशोचनात् ।
मणिः सहस्रवीर्यः परि णः पातु विश्वतः ॥ २ ॥

भा०—(जाङ्गिडः) जङ्गिड नामक (मणिः) मननपूर्वक बनाया व्यूह (सहस्रवीर्यः) सहस्रों वीरों से युक्त होता है । वह (विश्वतः) सब प्रकार के शत्रु के (जम्भाद्) चारों तरफ डाले घेरे या आगे और पीछे से

[४] १–'रणाय ऋष्यन्तो ऋक्षमाणाः' इति पैप्प० सं० । 'रक्षमाणः' इति सायणाभिमतः पाठः ।

अाये आक्रमण (विशराद्) विशेष आघात और (विःकन्धाद्) विशेष स्कन्धावार में स्थित सेना और (अभिशोचनात्) प्रस्यत्न में आई उत्तेजना से या चारों ओर की पीड़ा से (नः) हमें (परि पातु) सब तरफ से बचावे।

अयं विष्कन्धं सहतेयं बाधते अत्रिणः ।
अयं नो विश्वभेषजो जङ्गिडः पात्वंहसः ॥ ३ ॥

भा०—(अयं) यह जङ्गिड व्यूह (विष्कन्धं) शत्रु के सैन्य को (सहते) परास्त करता है। (अयं) और यह (अत्रिणः) राष्ट्र के विध्वंस करने वाले आक्रामकों को (बाधते) पीड़ा देता है। (अयं) यह (नः) हमारे (विश्वभेषजः) विश्व=राष्ट्र को सुरक्षित दृढ़ करने और उसके दोष दूर करने का उत्तम उपाय है। वह (जङ्गिडः) शत्रु को हड़प कर जाने वाला व्यूह (नः) हमारी (अंहसः) पापाचार और पापाचारियों से (पातु) रक्षा करे।

देवैर्दत्तेन मणिना जङ्गिडेन मयोभुवा ।
विष्कन्धं सर्वा रक्षांसि व्यायामे सहामहे ॥ ४ ॥

भा०—(देवैः) विद्वान् पुरुषों, सेनानायकों द्वारा (दत्तेन) प्रदान किये, उपदेश किये हुए (मयोभुवा) कल्याणजनक (जङ्गिडेन) इस जङ्गिड व्यूह से (विष्कन्धं) शत्रु की सेना के आक्रमणों को और (व्यायामे) स्वयं शत्रु पर आक्रमण करने के उद्योग के अवसर में आने वाले (रक्षांसि) विघ्नकारियों को भी (सहामहे) हम वश कर लेते हैं।

३–'इदं विष्कन्धं सहते' इति क्वाचित्कः पाठः। 'इदं विष्कन्धं साते' अयं रक्षोपबाधते। इति पैप्प० सं०।

४–(च०) 'ध्यायसे सामहे' इति पैप्प० सं०।

शणश्च मा जङ्गिडश्च विष्कन्धादभि रक्षताम् ।
अरण्यादन्य आभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः ॥ ५ ॥

भा०—(जङ्गिडश्च) जङ्गिड व्यूह और (शणश्च) शण सेना दोनों (मा) मुझ राष्ट्रपति की (विष्कन्धात्) विरुद्ध पक्ष के सेनाव्यूह से (अभिरक्षताम्) रक्षा करें। इन दोनों में भेद यह है कि (अन्यः) एक 'जङ्गिड' नामक सेनाव्यूह तो (अरण्याद्) जंगल के प्रदेश से (आभृतः) भरती किया जाता है (अन्यः) और दूसरा (कृष्याः) खेती में लगे जनता के (रसेभ्यः) सारवान्, बलवान् पुरुषों में से संग्रह किया जाता है। कृषि और अरण्य शब्द उपचार से वहां के वासी और उपजीवी जनों का वाचक है। अर्थशास्त्रों में भी 'सीता' आदि शब्द किसानों पर लगे कर आदि के वाचक प्रयुक्त होते हैं। शणः='शण, श्रणु दाने' और 'शण गतौ' (भ्वादि०) इन धातुओं से 'पचाद्यच्' करके 'शणः'। जो सेना वेतन देकर रखी जाती है वह 'शण' कही जाती है या जिसको विशेष नियमपूर्वक सेनापति की आज्ञा में चलना पड़े वह 'शण' सेना और दूसरी जांगलिक सेना जो राष्ट्र के समीपवर्ति प्रदेश में शत्रु का गुप्तघात करने में लगी रहे। वह जङ्गिड' नाम से कही जाती है। इस सम्बन्ध में कौटल्यकृत अर्थशास्त्र का आटविक बल सम्बन्धी प्रकरण देखना अभीष्ट है। अगले मन्त्र में इन दोनों प्रकार की सेनाओं के विशेष कार्य बतलाये हैं।

कृत्यादूषिरयं मणिरथो अरातिदूषिः ।
अथो सहस्वाञ् जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ६ ॥

५—' खणश्च त्वा जङ्गिडश्च ' इति पैप्प० सं० । ' अरण्यादन्याभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः ।

६—' अथो अरातिदूषणः ' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

भा०—(अयं) यह (मणिः) मन्त्रणा (कृत्यादूषिः) अपने साध्य शत्रु की प्रजा में भी फूट डाल देने वाली है और (अरातिदूषिः) कर न देने वाले शत्रु के बल में भी फूट डाल देने वाली है और यह (सहस्वान्) सब को परास्त करने हारा (जङ्गिडः) आटविक बल (नः, हमारे (आयूंषि) जीवनों को या प्रजाजनों को (प्र तारिषत्) उत्तम रूप से बचा लेता है।

अध्यात्मपक्ष में—'अजं आत्मानं गिलति आत्मसात् करोति इति जङ्गिडः= प्राणः । अत्र पूर्ववर्णलोपश्छान्दसः । (१) दीर्घायु प्राप्त करने और नाना (विष्कन्ध) रोग बाधाओं को दूर करने के लिये हम प्राण को धारण करें। (२) वही सहस्रवीर्य=सहनशील शक्ति से युक्त होकर शरीर में उत्पन्न जम्भ अर्थात् अङ्गों का अकड़ जाना विशर- अङ्गों का तीव्र पीड़ा से फटना, विष्कन्ध रोगों का नाना रूप से पीड़ा देना और अभिशोचन=प्रदाह इनको दूर करता है। (३) वह शरीर में या आमाशय और फेफड़ों में बैठे शरीर को खाने वाले कीटों का नाश करता है। (४) प्राणके व्यायाम अर्थात् दीर्घ करने अर्थात् विशेष २ प्राणायामों से सब रोगों को और जीवन के विघ्नों को दबाते हैं। (५) शण और जंगिड़ रेचक और कुम्भक दोनों शरीर के रोग से बचावें। दोनों की अभ्यास दशा में शरीर को जंगल के कन्द मूल फल और कृषि से उत्पन्न अन्न रसों से प्राण को पुष्ट किया जाय। (६) विकारों और रोगों दोनों को प्राणायाम शान्त करता है और आयुओं को बढ़ाता है। सम्भव है कि जङ्गिड ओषधि भी शरीर के उक्त रोगों को शान्त करे।



[५] राजा को उपदेश।

भृग्वाथर्वण ऋषिः । इन्द्रो देवता । आद्यया आह्वानमपराभिश्च स्तुतिः । १, २, ५–७ त्रिष्टुभः, ३ विराड् पथ्याबृहती, ४ जगती पुरो विराट् । सप्तर्चं सूक्तम् ।

इन्द्रं जुषस्व प्र वहा याहि शूर हरिभ्याम् ।
पिबा सुतस्य मतेरिह मधोश्चकानश्चारुर्मदाय ॥ १ ॥

साम० उ० । ३ । १ । २२ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यसम्पन्न राजन् ! (प्र वह) उत्कृष्ट राज्य को अपने सामर्थ्यवान् कन्धों पर उठा । हे (शूर) शत्रु के हिंसक वीर ! (हरिभ्याम्) युद्धभूमि में रथ को लेजाने वाले घोड़ों से, या दायें और बायें चलने वाले सेनापक्षों के साथ (याहि) शत्रु पर आक्रमण कर । (मतेः) मनन करने हारे मेधावी मन्त्री के (सुतस्य) उत्तम रूपसे निष्पादित, सुविचारित (मधोः) सारभूत ज्ञान को (पिब) पान कर, ग्रहण कर । और यह सोमरूप ज्ञान (चकानः) पूर्णरूप से तृप्तिकारी (मदाय) सब के आनन्द, हर्ष प्राप्त करने के लिये (चारुः) श्रेष्ठ हैं । अथवा—हे इन्द्र ! तू इस प्रकार (मदाय) प्रजाओं के हर्ष के लिये (चकानः) अति सन्तुष्ट होकर (चारुः) अति हृदयहारी होता है ।

इन्द्रं जठरं नव्यो न पृणस्व मधोर्दिवो न ।
अस्य सुतस्य स्वर्णोप त्वा मदाः सुवाचो अगुः ॥ २ ॥

साम० उ० । ३ । १ । २२ । २ ॥

---

[५] १—'इन्द्र जुषस्व याहि शूर पिब सुतश्च मधोश्चकान चारुं मदयः' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'मत्त इह' इति ह्विटनिकामितः पाठः । 'मदेह' इति वेवरकामितः पाठः । (च०) मध्वश्चकान इति आ० श्रौ० सू० । अत्रोपसर्गपदानां स्थितिः सामवेदालोकभाष्यटिप्पण्यां द्रष्टव्या । (द्वि०) याहि शूर हरिह' (तृ०) 'पिबा सुतस्य मतिर्न' इति साम० ।

२—'नव्योन' इति ह्विटनिकामितः पाठः । (प्र०) 'नव्यं न' 'सुतस्य स्वार्नोप' 'सुवाचो अस्थुः' इति सा० । 'सुवाचो अस्थुः' इति क्वचिदादर्शेऽपि ।

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! राजन् (नव्यः न) नवीन आगत अतिथि के समान आप अपने (जठरं) उदर के समान कोश को उसी प्रकार (पृणस्व) पूर्ण करो और (दिवः) सूर्य जिस प्रकार (मधोः न) पृथिवी से अपनी रश्मियों द्वारा जल को लेकर और अन्तरिक्ष रूप कोश को भर लेता है उसी प्रकार (अस्य) इस (स्वः न) स्वर्ग के समान (सुतस्य) पुत्र के समान पालन करने योग्य, स्वयं सुरक्षित राष्ट्र के (मधोः) संग्रहीत कर से (पृणस्व) अपने को पूर्ण कर। ऐसा करने से (त्वा) तेरे लिये (मदाः) आनन्द तृप्ति, और कीर्ति की जनक (सुवाचः) उत्तम वाणियां, लोकप्रशस्तियां (अगुः) प्राप्त होंगी।

मदाः—मद तृप्तियोगे (चुरादिः), मदी हर्षग्लेपनयोः, (भ्वादिः) मदी हर्षे (दिवादिः), मद स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु इत्येभ्यो धातुभ्यः पचाद्यच्। मधु—धमतिर्गतिकर्मा अन्तर्णीतण्यर्थो निःकालने दृष्टः। निर्धम्यते निःकाल्यते कररूपेण यद्धनं तन्मधु। मधु मेघोदरवर्त्तिसलिलम्। तत्र पुनर्वैद्युतात्मा दह्यमानं सरःस्वर्णेन तद् गतनैव वायुना ध्मायमानं धमति। माद्यन्तिवा तेन पती तेन प्राणिनः। मधुरस्वादुत्वाद्वा इति स्कन्दस्वामिनिर्वचनानुसरणम्। मनेर्वा औणादिरुः, नस्य च धः। मननीयं मधु, इति भट्टभास्करमिश्राः।

इन्द्र॑स्तुरा॒षाण्मि॒त्रो वृ॒त्रं यो ज॒घान॑ य॒तीर्न।
बि॒भेद॑ ब॒लं भृगु॒र्न स॑सहे॒ शत्रू॑न् मदे॒ सोम॑स्य ॥ ३ ॥

साम० उ० । ३ । १ । २२ । ३ ॥

भा०—(इन्द्रः) राजा ऐश्वर्यवान् (तुराषाट्) अति शीघ्र ही शत्रु को दबालेने हारा वही (मित्रः) प्रजा का परम मित्र है (यः) जो (यतिः न) जिस प्रकार यमनियम के पालन करने हारा योगी जितेन्द्रिय होकर

३—'इन्द्रस्तुराषाड् जघान वृत्रं ससाह शत्रून् ममच्च वज्रिमदे सोमस्य।' इति पैप्प० सं०। 'विभेद वलं' इति शंकरपाण्डुरङ्गः।

(वृत्रं) अपने नियम में बाधक अज्ञान और काम, क्रोध आदि विघ्न का नाश करता है उसी प्रकार जो अपने (वृत्रं) राष्ट्र को घेर लेने वाले शत्रु को (जघान) नाश करता है और (भृगुः न) जिस प्रकार सूर्य मेघ को छिन्न-भिन्न कर देता है उसी प्रकार जो (वलं, शत्रु के बल, सेनाव्यूह को (विभेद) तोड़ फोड़ डालता है और जो (सोमस्य) शान्ति और सुखकारक और हृदय के प्रेरक राष्ट्र के (मदे) उत्साह में आकर (शत्रून्) शत्रुओं को (ससहे) दबा लेता है वही राजा अपने राष्ट्र का (मित्रः) मित्र है ।

आ त्वा॑ विशन्तु सु॒तास॑ इन्द्र पृ॒णस्व॑ कु॒क्षी वि॑ड्ढि शक्र धि॒येह्या नः॑ ।
श्रु॒धी हवं॒ गिरो॑ मे जुषस्वेन्द्र॑ स्वयु॒ग्भिर्मत्स्वे॒ह म॒हे रणा॑य ॥ ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! (त्वा) तेरे समीप, तेरे राष्ट्र में (सुतासः) समस्त राष्ट्र के उत्पन्न पदार्थ (आ विशन्तु) आकर संगृहीत हों । (कुक्षी) जिस प्रकार मनुष्य भोजन से अपना कोख भर लेता है उसी प्रकार तू अपने दोनों कोश=धान्यकोश और द्रव्यमय कोश (पृणस्व) पूर्ण करले और (धिया) अपनी धारणावती बुद्धि और धारणपोषणशील कर्मों द्वारा हे (शक्र) शक्तिशाली राजन् ! तू (विड्ढि) क़ानून और राजनियम शासनव्यवस्थाओं का विधान कर । और इस प्रकार (नः) हमारे पास (आ, इहि) आ, हम तक पहुंच । तू (हवं) हम प्रजाओं की वाणी, पुकार

४–(प्र० द्वि०) 'आत्वा विशन्तु कविर्नं सुतास इन्द्र त्वष्टा न । पृणस्व कुक्षी सोमो न विड्ढि शूर धिया हि या नः ।' इति आश्व० श्रौ० सू० । 'अविड्ढि इति ह्विटनिकामितः पाठः । 'विड्ढि' इति शं० पा० । 'वृड्ढि' इति सायणः । (तृ०, च०) श्रुधीहवं न इन्द्रो न गिरो जुषस्व वज्री न । इन्द्र सयुग्भिर्विद्युन्न मत्स्व मदाय महे रणाय । (तृ० च०) श्रुति [धी] हव [वं] मे वि [गि] रोजुपस्य [स्व] इन्द्रस्य [स्व] गुभि [युग्भि] मत्स [स्व] मदाय महे रणाय । ' इति पैप्प० सं० ।

को (श्रुधि) श्रवण कर, (मे) मेरी, मुझ प्रजा के प्रतिनिधि की (गिरः) वाणियों को (जुषस्व) प्रेम से सेवन कर । हे इन्द्र राजन् ! (स्वयुग्भिः) अपने सहयोगी सेनापति और मन्त्रियों सहित तू (महे) बड़े भारी (रणाय) आनन्दजनक राष्ट्रशासन के लिये और युद्धोद्योग के लिये (मत्स्व) सदा तैयार रह, सदा प्रसन्न रह ।

इन्द्रस्य नु प्र वोचं वीर्याणि यानि चकार प्रथमानि वज्री ।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत् पर्वतानाम् ॥ ५ ॥
ऋ० १ । ३२ । १ ॥

भा०—(इन्द्रस्य) ऐश्वर्यशाली राजा के (वीर्याणि) उन बलयुक्त कार्यों का मैं (प्र वोचं नु) उपदेश करता हूं (यानि) जिन (प्रथमानि) श्रेष्ठ, कीर्तिजनक कामों को (वज्री) वज्र, राजदण्ड को धारण करने वाला राजा (चकार) अवश्य करे । जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों से मेघ को ताड़ित करके जलों को बहाता है और जिस प्रकार वज्रवान् विद्युत् पर्वतों के चट्टान तोड़ फोड़ कर जलस्रोत बहाता है उसी प्रकार राजा ((अहिम्) प्रजा के घातक को (अहन्) नाश करे और (अपः) नाना जलधारा या नलों को (अनु ततर्द) काट कर राष्ट्र में बहावे और (पर्वतानां) पर्वतों के (वक्षणा) वक्षस्थलों को (अभिनत्) काट २ कर साफ करे जिससे प्रजाएं सुख से बसें और वृद्धि करें । प्रजा के घातकों का नाश, कृषि के लिये जलविभाग और निवास के लिये पर्वतादि का सम करना ये बड़े २ कार्य राजा को प्रथम हाथ में लेने चाहियें ।

अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष ।
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः ॥ ६ ॥
ऋ० १ । ३२ । २ ॥

५–इन्द्रस्यनुवीर्याणि प्रवोचं इति ऋ० ।

भा०—(पर्वते) पर्वत पर (शिश्रियाणं) आश्रय लिये हुए (अहिं) मेघ को जिस प्रकार वायु अपने वेग से (अहन्) आघात करता है और (त्वष्टा) सूर्य जो मेघ का स्वयं उत्पादक पिता के तुल्य है तो भी (अस्मै) इस इन्द्र वायु के गर्जन और आघातकारी (स्वर्यं) भयङ्कर शब्द वाले, (वज्रं) आघात के साधन विद्युत् को (ततक्ष) और भी तीक्ष्ण कर देता है उसी प्रकार यह राजा (पर्वते) पर्व २ खण्ड २ करके जुड़े हुए राष्ट्र में (शिश्रियाणं) आश्रय लिये हुए (अहिं) प्रजा के घातक को (अहन्) विनाश करे और (त्वष्टा) शिल्पी लोग (अस्मै) इस राजा के लिये (स्वर्यं) गर्जन और आघातकारी, सुखकारी शासन को स्थापन करने में हितकारी (वज्रं) शस्त्र, खड्ग और तोप आदि को (ततक्ष) गढ़ २ कर तैयार करें और जिस प्रकार (वाश्राः) हंभारती हुई (धेनवः इव) गौवें राष्ट्र में दूध की धाराएं वहाती हों उसी प्रकार (आपः) जलधाराएं, नदियें, नहरें भी (स्यन्दमानाः) वहती हुई (अञ्जः) वे रोक टोक (समुद्रं) समुद्र को (अव जग्मुः) जावें, जिनसे कृषि के कार्य और समुद्रव्यापार सुख से हों ।

वृषायमाणो अवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्वपिबत्सुतस्य ।
आ सायकं मघवादत्त वज्रमहन्नेनं प्रथमजामहीनाम् ॥ ७ ॥

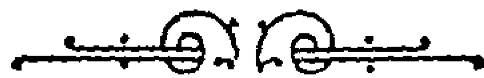
ऋ० १ । ३२ । ३ ॥

भा०—जिस प्रकार सूर्य (वृषायमाणः) स्वयं मानों वर्षण करने वाले मेघ के समान (सोमं अवृणीत) सोम=जल को समुद्रों से उठा लेता है और (सुतस्य) वाष्परूप हुए उसको (त्रिकद्रुकेषु) ज्योति, गौ, किरण और आयु, जीवन, वायु इन तीनों रूपों में (अपिबत्) उसका पान कर लेता है उसी प्रकार राजा भी (वृषायमाणः) प्रजाओं में मेघ के समान सुख संपदाओं का वर्षण करनेहारे मेघ पर्जन्य का व्रत धारण कर के (सोमं) राष्ट्रों को (अवृणीत) पालन करे और उसमें से (सुतस्य) प्राप्त हुए कर

को (त्रिकद्रुकेषु) ज्योतिः=अपना तेज, सेना, पराक्रम, गौः=पशु वृद्धि और आयु=प्रजा के स्वास्थ्य और जीवनोपयोगी कार्य तीनों में (आपिबत्) लगादे । और जिस प्रकार (मघवा) मेघवायु (वज्रं आदत्त) विद्युत् को अपने भीतर धारण करता और (अहीनां) जलों के (प्रथमजां) प्रथम उत्पन्न हुए वाष्परूप मेघ को (अहन्) आघात करता है वर्षा कर देता है उसी प्रकार (मघवा) समस्त धनों का स्वामी राष्ट्रपति (सायकं) शत्रु का अन्त कर देने वाले (वज्रं) वज्र=शत्रु के निवारक शस्त्र को (आदत्त) ग्रहण करता है और (अहीनां) प्रजा के घातक लोगों के (प्रथमजां) सबसे प्रथम, आगे प्रकट होने वाले, उनके मुख्य २ पुरुष का (अहन्) विनाश करता है ।

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[तत्र पञ्चसूक्तानि ऋचश्चैकोनत्रिंशत्]



[६] विद्वान् राजा का कर्तव्य ।

सम्पत्कामः शौनक ऋषिः । अग्निर्देवता । अग्निस्तुतिः । १–३ त्रिष्टुभः । ४ चतुष्पदा आर्षी पंक्तिः ५ विराट् । प्रस्तारपंक्तिः । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

समास्त्वाग्न ऋतवो वर्धयन्तु संवत्सरा ऋषयो यानि सत्या ।
सं दिव्येन दीदिहि रोचनेन विश्वा आ भाहि प्रदिशश्चतस्रः ॥१॥

यजु० अ० २७ । १ ॥

---

[६] १–(च०) 'आभाहि प्रदिशः पृथिव्याः' इति तै० सं० । (द्वि०) संवत्सर ऋषयो यानुसत्या । सं द्युम्नेन दीदिहि इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (अग्ने) परमात्मन् ! (मासः) मास (ऋतवः) ऋतुएं और (संवत्सराः) संवत्सर या वर्ष (ऋषयः) मन्त्रद्रष्टा ऋषिगण और और प्राण और (यानि) जो (सत्या) सत्य ज्ञानमय वेदमन्त्र हैं वे भी (त्वा) तुझको (वर्धयन्तु) बढ़ाते हैं तेरी ही महिमा का उपदेश करते हैं तू (दिव्येन) दिव्य ज्ञानमय अलौकिक (रोचनेन) सबको प्रकाशित करने हारे सामर्थ्य से (दीदिहि) प्रकाशित है और सूर्य के समान (विश्वाः) समस्त (चतस्रः) चारों दिशाएं और (प्रदिशः) चारों उपदिशाएं भी (आभाहि) प्रकाशित करता है । अथवा विद्वान् के पक्ष में हे (अग्ने) विद्वान् तुझे सब मास, ऋतु, वर्ष, ऋषिगण और सत्य वेद वाणियां बढ़ावें, तू लोकोत्तर ज्ञान-प्रकाश से प्रकाशित हो और चारों दिशा उपदिशाओं को भी प्रकाशित कर ।

सं चे॒ध्यस्वा॑ग्ने॒ प्र च॑ वर्धये॒मम॒ुच्च॑ तिष्ठ मह॒ते सौभ॑गाय ।
मा ते॑ रिषन्नुपस॒त्तारो॑ अग्ने ब्र॒ह्माण॑स्ते य॒शस॑ः सन्तु॒ मान्ये ॥ २ ॥

यजु० अ० २७ । २ ॥

भा०—हे (अग्ने) परमात्मन् ! (च) और (सम् इध्यस्व) हमारे हृदय में उत्तमरीति से प्रकाशित हो, और (इमं च) इस जीव को (प्रवर्धय) खूब शक्ति, बल, विज्ञान से बढ़ा, उन्नत कर और (महते) बड़े भारी (सौभगाय) सौभाग्य समृद्धि के लिये, (उत्तिष्ठ च) सबसे उन्नत होकर विराजमान हो, (ते) तेरे (उपसत्तारः) समीप पहुंचने हारे, तेरे भक्त, योगी, मुमुक्षु जन (मा रिषन्) कभी विनाश और क्लेश को प्राप्त न हों हे (अग्ने) ज्ञानप्रकाशक ! (ब्रह्माणः) ब्रह्म=वेद के जानने हारे विद्वान् (ते) तेरे (यशसः) यशःस्वरूप कीर्त्ति से सम्पन्न (सन्तु) हों । (मा

२–(प्र०) 'प्रच वोधयेमम्' इति क्वाचित्कः पाठभेदः । 'प्रतिवोधयेनम्' इति पैप्प० सं० ।

अन्ये) और दूसरे अविद्वान् , विलासी लोग यश को प्राप्त न हों। राजा के पक्ष में—हे अग्ने राजन् तू तेज से प्रकाशित हो, इस राष्ट्र को बड़ा और बड़े भारी सौभाग्य और लक्ष्मी के लिये सबसे ऊपर विराजमान हो, तेरे समीप जाने हारे विद्वान्, सभासद् और सेवक विनष्ट पीड़ित न हों और ब्रह्मज्ञानी, ब्रह्मचारी, विद्वान् पुरुष यश प्राप्त करें और मूर्ख, विलासी लोग प्रतिष्ठा न पावें।

त्वाम॑ग्ने वृणते ब्राह्म॒णा इ॒मे शि॒वो अ॑ग्ने सं॒वर॑णे भवा नः ।
स॒प॒त्न॒हाग्ने॑ अभिमाति॒जिद् भ॑व॒ स्वे गये॑ जागृ॒ह्यप्र॑युच्छन् ॥ ३ ॥

यजु० अ० २७ । ३ ॥

भा०—गार्हपत्य अग्नि, परमेश्वर, आत्मा और राजा इन चारों का वर्णन समान रूप से करते हैं। हे अग्ने, परमात्मन् ! राजन् ! (इमे) ये (ब्राह्मणाः) ब्रह्म के ज्ञाता, ब्रह्मचारी, विद्वान् ब्राह्मणगण (त्वा) तुझको सबसे श्रेष्ठ करके (वृणते) अपना स्वामी राष्ट्रपति रूप से वरण करते हैं। हे अग्ने ! सबके आगे चलने हारे ! सबके नेता ज्ञानवन् ! (नः) हमारे (संवरणे) रक्षाकार्य में तू (शिवः) कल्याणकारी (भव) हो। और हे (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्विन् ! तू (सपत्नहा) शत्रुओं और भीतरी शत्रु काम-क्रोध आदि का विनाशक और (अभिमातिजिद्) अभिमानी, उद्धत, अहंकार से प्रजा को खाजाने वाले दुष्ट उद्दण्ड पुरुषों को विजय करने हारा (भव) हो। और (स्वे) अपने (गये) प्राण, धन, गृह और राष्ट्र में (अप्रयुच्छन्) विना प्रमाद किये ही (जागृहि) जाग, सदा सावधान रह।

३–(द्वि०) 'शिवोऽग्ने प्रमृणो नेदिहि' (च०) 'स्वेक्ष दीदिह्यप्रयुच्छन्' इति पैप्प० सं०। 'सपत्नहा नो अभिमातिजिच्च' इति मै० सं०।

क्षत्रेणाग्ने स्वेन सं रभस्व मित्रेणाग्ने मित्रधा यतस्व ।
सजातानां मध्यमेष्ठा राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह ॥ ४ ॥

यजु० अ० २७ । ५ ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! आप (स्वेन) अपने (क्षत्रेण) क्षात्रबल से, क्षत्रिय-सैन्य-बल से (सं रभस्व) अच्छी प्रकार विजय आरम्भ कर और हे (अग्ने) राजन् ! (मित्रेण) मित्र के साथ मिलकर (मित्रधाः) मित्रशक्तियों अर्थात् मित्रभूत राजाओं को पोषण और धारण करता हुआ (यतस्व) युद्ध विजय करने का यत्न कर । और (सजातानां) समान बल के (राज्ञाम्) राजाओं के बीच में (मध्यमेष्ठाः) मध्यम वृत्ति से रहता हुआ (विहव्यः) विशेष युद्ध करने में श्रग्र, बलसम्पन्न होकर (इह) इस संसार में (दीदिहि) यशस्वी हो, विराजमान रह ।

अति निहो अति सृधोऽत्यचित्तीरति द्विषः ।
विश्वा ह्यग्ने दुरिता तर त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः ॥ ५ ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! (त्वम्) तू (निहः) समस्त प्रजानाशक, शत्रु के प्रतिभटों को (अतितर) विजय कर और (सृधः[1]) राष्ट्र का

४–(प्र०) क्षत्रेणाग्ने स्वायुः, (द्वि० 'मित्रधेये यतस्व' (तृ०) 'मध्यमस्था एधि' इति यजु० । 'मित्रधेयं वचस्व' इति पैप्प० सं० ।

५–'अतिनिदो अतिस्रिधो' इति ह्विटनिकामितः पाठः । 'अतिस्रिधो' इति श० पाण्डुरंगस्य कतिचिदादर्शेषु लभ्यते । 'अतिनुहोऽतिनिनृतीरत्यरातीरतिद्विषः विश्वाह्यग्ने दुरिताचर इति पैप्प० सं० । (द्वि०) अतिस्रिधोऽत्यचित्तिमत्यरातिमग्ने । विश्वाह्यग्ने दुरितासहस्वाथा स्मभ्य९ सहवीरां९ रयेदाः । इति यजु० ।

१. स्रेधतिः कुत्सितकर्मा इति उव्वटः ।

धन और बल शोषण करने और कुत्सित आचरण करने हारे लोगों को भी (अतितर) वश कर और (अचित्तीः) अपने देश और राजा के प्रति हितचित्त न रखने हारे द्रोही पुरुषों को भी (अतितर) वश कर । (द्विषः अति) प्रेम न करने वाले, द्वेष करने वाले लोगों को भी वश कर । हे अग्ने ! राजन् तू (विश्वा) समस्त (दुरिता) दुष्ट आचरणकारियों को (अतितर) वश कर । (अथ) और (अस्मभ्यं) हमें (सहवीरं) वीरपुत्रों सहित और वीरपुरुषों सहित (रयिं) धन लक्ष्मी को (दाः) दे, प्राप्त करा ।



[७] सहनशीलता का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । वनस्पतिर्देवता, दूर्वास्तुतिः । १ भुरिक् । २, ३ अनुष्टुभौ । ४ विराडुपरिष्टाद् बृहती । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

अघद्विष्टा देवजाता वीरुच्छपथयोपनी ।
आपो मलमिव प्राणैक्षीत्सर्वान् मच्छपथाँ अधि ॥ १ ॥

भा०—(अघद्विष्टा) पाप से प्रेम न करने हारी, पापी लोगों का विरोध करने वाली (देवजाता) विद्वानों से उत्पन्न होने वाली (शपथ-योपनी) निन्दाजनक वचनों का मूल नाश करने वाली (वीरुत्) विरुद्ध भावना या विपरीत भावना (मलम्) मल को जिस प्रकार (आपः इव) जलधाराएं दूर कर देती हैं उस प्रकार (मत्) मुझसे (सर्वान् शपथान्) सब प्रकार के निन्दावचनों को (अधि, प्राणैक्षीत्) सर्वथा नष्ट करदे ।

---

[७] १–'अथ व्युष्टा देवजाता वीडु शपथजम्भनी । आपो मलमिव प्राणिजन् अस्मत् सुशपथानधि ' इति पैप्प० सं० ।

मानसिक विरुद्ध भावना, प्रतीप-भावना या विपरीत भावना योगशास्त्र के शब्दों में विपक्ष भावना से अपने भीतर बैठी गाली देने की बुरी आदत को दूर करना चाहिये ।

यश्च॑ सा॒पत्नः॑ श॒पथो॑ जा॒म्याः श॒पथ॑श्च॒ यः ।

ब्र॒ह्मा यन्म॒न्युतः॒ शपा॑त् सर्वं॒ तन्नो॑ अध॒स्प॒दम् ॥ २ ॥

भा०—(यः) जो (च) भी (सापत्नः) द्वेष करने हारे पुरुषों का हमारे प्रति (शपथः) निन्दाजनक वचन है और (जाम्याः) स्त्रियों, भगिनियों और समाजबन्धुओं के (यः च) भी जो (शपथः) निन्दावचन गाली आदि हों (मन्युतः) क्रोध के कारण (ब्रह्मा) वेद का जानने हारा विद्वान् भी (यत्) जो कुछ हमें (शपात्) बुरा भला कहता है (तत्) वह (सर्वं) सब कुछ (नः) हमारे (अधः पदम्) चरण के नीचे रहे, हमारे योग्य न हो, हम पर उसका प्रभाव न रहे, हम उसकी उपेक्षा करें, उसको सहन करें ।

दि॒वो मूल॒मव॑ततं पृथि॒व्या अध्युत्त॑तम् ।

तेन॑ स॒हस्र॑काण्डेन॒ परि॑ णः पाहि वि॒श्वतः॑ ॥ ३ ॥

भा०—(दिवः) जिस प्रकार सूर्य का (मूलम्) किरणसमूह जड़ों के समान नीचे आकर (पृथिव्या अधि उत् ततम्) पृथिवी के ऊपर और अन्तरिक्ष में फैलकर प्रकाशित करता है उसी प्रकार (दिवः) ज्ञानमय प्रकाश का (मूलम्) आदिस्रोत मूलसंहिता मय वेदज्ञान (दिवः) उस प्रकाशमय परमात्मा से (अवततं) प्राप्त हुआ है और (पृथिव्या अधि) पृथिवी के ऊपर (उत् ततम्) उत्कृष्टरूप में सर्वत्र फैला है। हे परमात्मन् ! (तेन) उस (सहस्रकाण्डेन) सहस्रों शाखाओं उपाङ्गों और विज्ञान-शाखाओं से संपन्न ईश्वरीय ज्ञान से (नः) हमें (विश्वतः) सब प्रकार से (परि पाहि) पूर्ण रूप से पालन कर ।

ब्रह्म और ब्रह्मज्ञान का वर्णन दर्भरूप से अथर्व० १६ । ३२ । १-१०) में देखो ।

परि मां परि मे प्रजां परि णः पाहि यद्धनम् ।
अरातिर्नो मा तारीन्मा नस्तारिषुरभिमातयः ॥ ४ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! (मां) मेरी (परिपाहि) सब प्रकार से रक्षा करो, (नः) हमारी (प्रजां) प्रजा को (परिपाहि) परिपालन करो और (यत्) जो (नः) हमारा (धनं) धन है उसे भी (परि पाहि) परिपालन कर । (नः) हम पर (अरातिः) अदानी, कजूंस शत्रुजन (मा तारीत्) वश न करे । और (अभिमातयः) अभिमानी पुरुष, गर्वी लोग भी (नः) हम पर (मा तारिषुः) वश न करें ।

शप्तारमेतु शपथो यः सुहार्त् तेन नः सह ।
चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणीमसि ॥ ५ ॥

भा०—(शपथः) निन्दाजनक गाली आदि वचन (शप्तारं) निन्दा करने वाले पुरुष के पास ही (एतु) चला जावे । (यः) और जो (सुहार्त्) हमारे प्रति उत्तम हृदय वाला, मित्रभाव से रहता है (तेन सह) उसके साथ (नः) हमारा भी मैत्रीभाव है । और हम (चक्षुर्मन्त्रस्य) आंखों के इशारों से गुप्त २ सलाहें करने वाले (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय वाले पुरुष के तो (पृष्टीः) सब स्पर्शकारी, मर्मवेधक, करतूतों को (शृणीमसि) विनाश करें । या (पृष्टीः) पसलियों को भी (शृणीमसि) विनाश करें ।



४-(तृ०) 'अरातिर्णो मा' इति क्वाचित्कः पाठः ।

५-(द्वि०) 'सुहात्तेनः सह' (च०) 'पृष्ठी' इति क्वाचित्कः पाठः ।

[८] भव-रोगनाश और आत्मज्ञान ।

भृग्वंगिरा ऋषिः । यक्ष्मनाशनो वनस्पतिर्देवता । मन्त्रोक्तदेवतास्तुतिः ।
१, २, ५ अनुष्टुभौ, ३ पथ्यापंक्तिः, ४ विराट् । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके ।
वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम् ॥ १ ॥

भा०—(भगवती) लक्ष्मीसम्पन्न, उत्तम शोभा से युक्त (विचृतौ) विचृति=रोगनाशक (नाम) नामवाले (तारके) मूला नाम नक्षत्र (उद् अगातां) जब उदय को प्राप्त होते हैं तब (क्षेत्रियस्य) क्षय, कुष्ठ आदि दूषित वंशागत रोग के (अधमं) नीच घृणित वा शरीर के अधोभाग में उत्पन्न होने वाले और (उत्तमं) उत्तम अर्थात् ऊर्ध्वभाग में उत्पन्न होने वाले (पाशम्) पीड़ाजनक कष्ट जाल को (विमुञ्चताम्) छुड़ावें। अर्थात् उन तारकाओं के उदयकाल में वंशक्रमागत रोगों की चिकित्सा की जाय ।

अध्यात्मपक्ष में—शक्तिसम्पन्न (विचृतौ) विविध रोगों के विनाशक (तारके) गतिकारक प्राण और अपान (उद् अगातां) ऊर्ध्वगति करते हैं तब (क्षेत्रियस्य) क्षेत्र=देह में रहने हारे आत्मा के (अधमं) मनुष्य योनि की अपेक्षा नीच (पाशं) कर्मजाल तिर्यक् आदि योनि में लेजाने वाले पाप, कर्म्म-बन्धन और (उत्तमं पाशं) पुण्यकर्मों के फलरूप देव-लोकादि शुभकर्म बन्धन सबको (विमुंचतां) तोड़ डालें ।

अथवा देवयान और पितृयान नामक दुःखनाशक ' तारक विचृत् ' दो सृति, सरणि या दो पन्था हैं, वे दोनों मार्ग अधम तिर्यग् योनि और उत्तम देवयोनियों के पाश से मुक्त करावें । अथवा अविद्या और विद्या दो तारका हैं जिनसे आत्मा अधर्म, कर्मजाल मृत्यु और उत्तम पाश लोकैषणा से भी मुक्त होजाता है । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते । ईशोपनिषद् । इति दिक् ।

अपेयं रात्र्युच्छत्वपोच्छन्त्वभिकृत्वरीः ।
वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ २ ॥

भा०—(इयं) यह (रात्री) अन्धकारमय रात्रि, अज्ञान दशा (अप उच्छतु) दूर हट जाय । (अभिकृत्वरीः) चारों ओर प्रकाश करने हारी उपायें, या आत्मा का साक्षात् कराने वाली सात्विक दशाएं (अप उच्छन्तु) आगे आये पर्दों को हटा देवें । (क्षेत्रियनाशनी) देह में निवास करने वाली, आत्मा के देहबन्धन का नाश करने वाली (वीरुत्) सब विरुद्ध बाधाओं की विनाशिका, शुद्ध चितिशक्ति या ब्रह्मविद्यास्वरूप ब्रह्मवल्ली (क्षेत्रियम्) क्षेत्र, देह में बंधे आत्मा को (अप उच्छतु) देहबन्धन से मुक्त करदें । ओषधिपक्ष में—वंशागत क्षेत्रिय कुष्ठ, अपस्मार आदि रोगों को जिस प्रकार कुष्ठनाशनी लता विनाश करती है उसी प्रकार ब्रह्मविद्या देह बन्धन को नाश करे ।

बभ्रोरर्जुनकाण्डस्य यवस्य ते पलाल्या तिलस्य तिलपिञ्ज्या ।
वीरुत्० ॥ ३ ॥

भा०—(बभ्रोः) पीले (यवस्य) जौ के (अर्जुनकाण्डस्य) श्वेतकाण्ड या डण्डी को जिस प्रकार (पलाल्या) ऊपर के आवरणकारी तुष से अलग करलिया जाता है और जिस प्रकार (तिलस्य) तिल को (तिलपिञ्ज्या) तिलों की फली से मुक्त कर दिया जाता है उसी प्रकार (क्षेत्रियनाशनी वीरुत्) देह बन्धन का नाश करने वाली, यह उपनिषद् रूप ब्रह्मवल्ली या चितिशक्ति (क्षेत्रियं) देह में बँधे आत्मा को बन्धन से (अप उच्छतु) मुक्त करे ।

यथा उपनिषद् में—'प्रवृहेन् मुञ्जादिवेषीकं धैर्येण ।' जिस प्रकार मूंज से सींक को अलग कर लिया जाता है उसी प्रकार आत्मा को योगी अलग करे । काठक वल्ली में जिसप्रकार ' प्रवृह्यमेतमणुमाप्य ।' इत्यादि ।

२–(द्वि० तृ०) 'सुक्षेत्रियस्य मुञ्चता संग्रन्थ्या हृदयस्य च' इति पैप्प० सं० ।

नमस्ते लाङ्गलेभ्यो नम ईषायुगेभ्यः ।
वीरुत्० ॥ ४ ॥

भा०—हे योगिन् (ते) तेरे (लाङ्गलेभ्यः) जिस प्रकार उत्तम लता के बीज वपन करने के लिये क्षेत्र को सुधारने के लिये हल आवश्यक है उसी प्रकार चित्तभूमि को गोडने के लिये और उसमें विज्ञान रूप ब्रह्मज्ञानमय बीज वपन करने के लिये अपेक्षित जो योग के आठ अंग यम, नियम, आसन, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि रूप लाङ्गल अर्थात् हल हैं उनको (नमः) हम आदर की दृष्टि से देखते और उनकी साधना करते हैं और (ईषायुगेभ्यः) हल को खैंचने के लिये जिस प्रकार उसमें 'ईषा' नामक दण्ड और बैलों को जोड़ने के लिये जुआ लगा होता है उसी प्रकार यहां दो प्राण, आत्मा और बुद्धि या आत्मा और परमात्मा दोनों को जोड़ने के लिये ईषा= मानस प्रेरणारूप चितिशक्ति द्वारा योग करने हारे योगी जनों को भी (नमः) नमस्कार है । उनकी शिक्षा से (क्षेत्रियनाशनी वीरुत्) देह-बन्धन को काट डालने वाली ब्रह्मानन्द वल्ली (क्षेत्रियम् अप उच्छतु) आत्मा को बन्धन से मुक्त करे ।

नमः सनिस्रसाक्षेभ्यो नमः संदेश्येभ्यः । नमः क्षेत्रस्य पतये ।
वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यपं क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ५ ॥

भा०—(सनिस्रसाक्षेभ्यः) जिनके अक्ष=अर्थात् इंद्रियों के वेग शान्त हो गये हैं ऐसे जितेन्द्रिय, योगाभ्यासी, परम ब्रह्मज्ञानियों को (नमः) नमस्कार है । (संदेश्येभ्यः) जिनके देहरूप देश, भोगायतन जीर्ण होगये हैं या जो आत्मज्ञान का उत्तम रूप से उपदेश करते हैं उनको भी (नमः) नमस्कार है और (क्षेत्रस्य) विनाशशील अथवा आत्मा के निवासयोग्य इस देह और इस ब्रह्माण्ड के स्वामी आत्मा और परमात्मा को भी (नमः) साक्षात् आदरपूर्वक नमस्कार है । (वीरुत् क्षेत्रियनाशनी) यह ब्रह्मानन्द-

वल्ली देहबन्धन को नाश करती है वह (क्षेत्रियम् अप उच्छतु) जीवात्मा को बन्धन से मुक्त करे ।



[६] आत्मज्ञान का उपदेश ।

भृग्वङ्गिरा ऋषिः । वनस्पतिर्यक्ष्मनाशनो देवता । मन्त्रोक्तदेवतास्तुतिः ।
१ विराट् प्रस्तारपंक्तिः । २ —५ अनुष्टुभः । पञ्चर्चं सूक्तम् ।

द॒श॒वृ॒क्ष मु॒ञ्चेमं रक्ष॑सो ग्राह्या॒ अधि॒ यैनं॑ ज॒ग्राह॒ पर्व॑सु ।
अथो॑ ए॒नं व॑नस्पते जी॒वानां॑ लो॒कमुन्न॑य ॥ १ ॥

भा०—हे (दशवृक्ष) दश प्राणों के बन्धनों के काटने हारे परमात्मन् ! (इमं) इस जीव को (रक्षसः) विनाशकारी अज्ञान के (ग्राह्याः) ग्रहण करने वाली, पकड़ने वाली, फाही, भोगतृष्णा से (मुञ्च) मुक्त कर । (या) जो फाही, बांधने वाली रस्सी (एनं) इस जीव को (पर्वसु) पोरू २ पर (जग्राह) जकड़े बैठी है । हे वनस्पते ! समस्त वनों आत्माओं के पते स्वामिन् परमेश्वर ! (एनं) इस (जीवानां) समस्त जीवों के (लोकं) लोक को (उन्नय) आप उठाओ और इस देह के दुःखबन्धन या जन्म मरण के पाश से मुक्त करो ।

" ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः । " अथवा "वृक्ष इवस्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः तेनेदं पूर्णं पूरुषेण सर्वम्" । "वनमित्युपासीत" इत्यादि उपनिषद् और वेदवाक्यों में ईश्वर को वृक्ष और जीव को वन शब्द से कहा है । रक्षसो ग्राही=तमः पाश । दशवृक्ष=वृक्षो व्रश्चनात् [निरु०] । से काटन 'वृक्ष' कहाता है दशों प्राण-बन्धनों को काटने से ईश्वर 'दश वृक्ष' कहाता है ।

[६] १-(प्र०) 'दशवृक्षो सं [मुं] चेमा महिंस्तो ग्राह्याश्च' इति पैप्प० सं० ।

आ॒गा॒दुद॑गाद॒यं जी॒वानां॒ व्रात॒मप्य॑गात् ।
अभू॑दु पु॒त्राणां॑ पि॒ता नृ॒णां च॒ भग॑वत्तमः ॥ २ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! (अयं) यह (जीवानां) जीवों का (व्रातं) समूह (आगात्) तेरी शरण में आता है और (उद् अगात्) इस दुःख बंधन से ऊपर उठता है और (अपि अगात्) अप्यय या मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। और भगवन् ! आप सब (पुत्राणां) पुत्रस्वरूप जीवों के पिता (अभूत्) हो और (नृणां च) मनुष्यों में (भगवत्तमः) सब से श्रेष्ठ, ऐश्वर्य सम्पन्न भगवान् हो।

अधी॑ति॒रध्य॑गाद॒यमधि॑ जीवपु॒रा अ॑गन् ।
श॒तं ह्य॑स्य भि॒षजः॑ स॒हस्र॑मु॒त वी॒रुधः॑ ॥ ३ ॥

भा०—(अयम्) यह जीव (अधीतीः) नाना गतियों, योनियों और अवस्थाओं को (अधि अगात्) प्राप्त होता है और (जीवपुरा) नाना प्राणधारी 'पुर' देहों को भी (अधि अगन्) प्राप्त होता है। (अस्य) इस जीव के (भिषजः) भव-बन्धन की चिकित्सा करने हारे भी (शतं) सैकड़ों गुरु हैं और (वीरुधः) जिस प्रकार दुखी पुरुष के रोग के दूर करने के लिये सैकड़ों वनलताएँ हैं उसी प्रकार जन्म मृत्यु के रोग को नाश करने के लिये ब्रह्मोपदेश करने हारी वल्लियां (उत) भी (सहस्रम्) सैकड़ों हैं।

दे॒वास्ते॑ चीतिम॑विदन् ब्र॒ह्माण॑ उ॒त वी॒रुधः॑ ।
ची॒तिं ते॒ विश्वे॑ दे॒वा अवि॑द॒न् भूम्या॒मधि॑ ॥ ४ ॥

२–(तृ०) 'अभूता पुत्राणां' इति पैप्प० सं०।

३–(प्र०) 'अधीतमध्यगा' (द्वि०) 'अधिजीवपुरागात्', 'शतं तेऽस्य वीरुध सहस्रमुत भेषजः' इति पैप्प० सं०। 'शतं ह्यस्य भेषजः' इति ह्विटनिकामितः पाठः। ४–(प्र०) 'चातं ते देवा विदन्' (तृ० च०) 'चातं तेभ्यो तु मामविदम् भूम्यामधि।' इति पैप्प० सं०। चितिमिति काचित्कः पाठः।

भा०—हे (जीव) शरीरधारिन् ! (ते) तेरी (चीर्तिं) शरीर परमाणुओं के संग्रह और उपचय होने की विधि को (देवाः) विद्वान् (ब्रह्माणः) ब्रह्मज्ञानी, वेदवित् (वीरुधः) और ब्रह्मज्ञानी स्त्रियां या पुत्रोत्पादक माताएं या ब्रह्मवल्लियां ही (अविदन्) जानती हैं। (ते चीर्तिं ; तेरी देह में वृद्धि को प्राप्त होने की विधि (भूम्याम् अधि) इस पृथिवी पर (विश्वे देवाः) समस्त दिव्यगुण धारण करने हारे पदार्थ और प्राण और पञ्चभूत आदि (अविदन्) जानते और प्राप्त करते या कराते हैं।

यश्चकार स निष्करत् स एव सुभिषक्तमः ।
स एव तुभ्यं भेषजानि कृणवद् भिषजा शुचिः ॥ ५ ॥

भा०—(यः) जो परमात्मा इस देह को बनाता है (सः) वही (निष्करत्) पूर्ण रूप से ही इसका निर्माण करता है। उसमें किसी बात की त्रुटि नहीं रहने देता क्योंकि (सः, एव) वह ही (सुभिषक्तमः) सब प्रकार के मानस और शरीरपीड़ाओं का सबसे श्रेष्ठ चिकित्सक है। हे जीव बन्धनग्रस्त ! आधि-व्याधि-पीड़ित जीव ! (सः एव) वह ही (तुभ्यं) तेरे लिये (भेषजानि) नाना प्रकार के रोगों को दूर करने के साधन (कृणवत्) उत्पन्न करता है और इसी प्रकार तू (भिषजा) उस उत्तम चिकित्सक के द्वारा स्वयं भी (शुचिः) शुद्ध मन और कार्य वाला होकर सुख प्राप्त कर। अथवा तू ही (भिषजा) उस चिकित्सक के संग से (शुचिः) आवरणमल से रहित होकर मुक्त हो जा।



५-(प्र०) 'सुनिष्करत्' (तृ० च०) 'स एव तुभ्यं भेषजं चकार भिषजासि च' इति पैप्प० सं० । 'भिषजां शुचिः' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

[१०] आरोग्य और रोग विनाश ।

भृग्वंगिरा ऋषिः । निर्ऋतिर्द्यावापृथिव्यादयो नानादेवताः । १ ब्रह्मणा सह द्यावापृथिवी स्तुतिः । २ अद्भिः सह अग्निस्तुतिः । ओषधीभिः सह सोमस्तुतिश्च । ३ वातस्तुतिश्चतुर्दिक्स्तुतिश्च । ४, ६ वातपत्नी सूर्ययक्ष्मनिर्ऋतिप्रभृतिस्तुतिः । १ त्रिष्टुप्, २ सप्तपाद् अष्टिः । ३, ५, ७, ८ सप्तपादो धृतयः । सप्तपाद् अत्यष्टिः । ८ अत्रोत्तरौ द्वौ औष्णिहौ पादौ । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

क्षेत्रियात् त्वा निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥१॥

भा०—मैं (त्वा) तुझको (क्षेत्रियात्) क्षेत्र=शरीर में उत्पन्न होने वाले अथवा क्षेत्र=माता पिता के देह से प्राप्त होने वाले क्षय आदि रोग से, और (निर्ऋत्यः) ऋति=सम्यक् उपचार, लालन पालन और उत्तम शिक्षा के अभाव से होने वाले कष्ट और (जामिशंसाद्) भगिनी और स्त्रियों या बन्धुओं के वाक्-प्रहारों से और (द्रुहः) द्रोहों, अनिष्ट चिन्ताओं से और (वरुणस्य पाशात्) सबसे श्रेष्ठ परमात्मा के कर्म-कर्मफल रूप बन्धन से (मुञ्चामि) तुझे मुक्त करता हूं और (ब्रह्मणा) वेदज्ञान द्वारा (त्वा) तुझको (अनागसं) आगः=पापों से रहित शुद्ध पवित्र (कृणोमि) करता हूं । (ते) तुझे (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी, पिता और माता, प्राण अपान (उभे) दोनों (शिवे) कल्याण, सुखकारक (स्ताम्) हों ।

शं ते अग्निः सहाद्भिरस्तु शं सोमः सहौषधीभिः ।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो० ॥ २ ॥

[१०] १–(प्र०) 'क्षेत्रियै त्वा' (तृ०) 'अनागसं ब्रह्मणे त्वा करोमि' (च०) 'उभे इमे' इति हि० गृ० सू० । द्यावापृथिवीह भूतम्' इति पैप्प० सं० ।

२–शं ते अग्निः सहाद्भिरस्तु शं द्यावापृथिवी सहौषधीभिः । इति हि० गृ० सू० । शं ते अग्निः सह धीमिरस्तु शं गावः सहौषधीभिः, इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे व्याधिपीड़ित ! (ते) तुझे (अग्निः) यह अग्नि (अग्निः) जलों के (सह) साथ (शं अस्तु , कल्याण और सुखकारक हो। (सोमः) सोमलता, सूर्य और चन्द्र (ओषधीभिः सह) अन्य ओषधियों सहित (शं) कल्याणकारी हो। (एवा) इस प्रकार (अहं) मैं (त्वा) तुझको (क्षेत्रियात्, निर्ऋत्या जामिशंसात् द्रुहः०) शरीर के भीतरी उत्पन्न होने हारे मात। पिता सम्बन्धी, लालन पालन सम्बन्धी, तथा पूर्व मन्त्रोक्त अन्य दुःखों से मुक्त करता हूं (अनागसं त्वा ब्रह्मणा कृणोमि०) तुझको वेदज्ञान से पापरहित करता हूं और द्यौ और पृथिवी दोनों तुझे कल्याणकारी हों।

शं ते वातो अन्तरिक्षे वयो धात्छन्ते भवन्तु प्रदिशश्चतस्रः।
एवाहं०।० ॥ ३ ॥

भा०—हे व्याधिपीड़ित पुरुष ! (ते) तुझे (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में बहने वाला (वातः) वायु (शं) कल्याण और सुखकारी हो और (वयः) तेरी आयु को (धात्) पुष्ट करे, बढ़ावे और (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) दिशाएं (ते) तेरे लिये (शं) कल्याण और सुख को देनेहारी (भवन्तु) होवें। 'एवाहं०' इत्यादि पूर्ववत् समान है।

इमा या देवीः प्रदिशश्चतस्रो वातपत्नीरभि सूर्यो विचष्टे।
एवा०।० ॥ ४ ॥

भा०—हे व्याधिपीड़ित ! तेरे चारों ओर (याः) जो (इमाः) ये (देवीः) प्रकाश वाली और (वातपत्नीः) बहने वाले वायु के संचार को

३-(प्र०) 'शमन्तरिक्षे सह वातेन ते' इति हि० गृ० सू०। 'सह वातमस्तु ते वयो' इति पैप्प० सं०। (द्वि०) 'शन्ते प्रदिशश्चतस्रो भवन्तु' इति हि० गृ० सू०, पैप्प० सं०।

४-(प्र०) 'देवीश्चतस्रः प्रदिशः' इति पैप्प० सं०।

पालन करने वाली, उत्तम शुद्ध वायु से युक्त (चतस्रः) चार (प्रदिशः) दिशाएं हैं (सूर्यः) सूर्य, सूर्य का प्रकाश (अभि) उनके ऊपर (विचष्टे) विशेष रूपसे पड़े और उनको प्रकाशित करे। ('एवाहं०') इत्यादि पूर्ववत समान है।

तासु त्वान्तर्जरस्या दधामि प्र यक्ष्म एतु निर्ऋतिः पराचैः।
एवा०।० ॥ ५ ॥

भा०—हे व्याधिपीड़ित! (त्वा) तुझको मैं वैद्य (जरसि) वृद्धावस्था तक भी (तासु) पूर्वोक्त प्रकार से बतलाये गुण वाली दिशाओं में अर्थात् जिनमें उत्तम वायु और उत्तम सूर्य प्रकाश अच्छी प्रकार से हों उनमें ही (आदधामि) रहने का आदेश करता और तुझे रखता हूं (यक्ष्म) यक्ष्मा, राजयक्ष्मा जो सूक्ष्म जीवकीट या रोगजन्तुओं से उत्पन्न होने वाला व्याधि है वह (प्र एतु) सर्वथा दूर होजाय और (निर्ऋतिः) शरीर की सब क्लेशदशा भी (पराचैः) दूर होजाय। 'एवाहं०' इत्यादि पूर्ववत्।

अमुक्था यक्ष्माद् दुरितादवद्याद् द्रुहः पाशाद् ग्राह्याश्चोदमुक्थाः।
एवा०।० ॥ ६ ॥

भा०—हे व्याधिपीड़ित! तू (यक्ष्मात्) राजयक्ष्मा रोग से इस प्रकार (अमुक्थाः) मुक्त होगया है और उसी प्रकार (अवद्याद्) निन्दनीय (दुरिताद्) दुराचार अर्थात् दुष्टप्रवृत्तियों और उनसे उत्पन्न दुःख व्याधि से और (द्रुहः) मानस-अनिष्ट-जनक चिन्ताओं से और (पाशाद्) शरीर को फांसने वाले या जकड़ने वाले अपस्मार आदि रोग से और (ग्राह्याः) ग्रहण कर लेने वाली या शरीर में शिथिलता उत्पन्न करने वाली पीड़ा से

५—'तास्वेवं जरस आदधामि' इति पैप्प० सं०।
६—(प्र०) 'अमोचि यक्ष्माद्' इति पैप्प० सं०।

(च) भी (उद् अमुक्थाः) सर्वथा उन्मुक्त होगया है । (एवा०) इत्यादि पूर्ववत् समान है ।

अहा अरातिमविदः स्योनमप्यभूर्भद्रे सुकृतस्य लोके ।
एवा०।० ॥ ७ ॥

भा०—और हे व्याधिपीड़ित जन ! इस पूर्व उपचार से तू अपने (अरातिम्) जीवन आनन्द के विनाशक शत्रु रोग को (अहाः) विनाश कर और (स्योनं) शरीर के सुख को भी (अविदः) प्राप्त कर । अब तू पुनः कभी कुमार्ग और कुपथ्य में न गिर कर सदा (सुकृतस्य) उत्तम सदाचार और धार्मिक पुण्यकार्य के (भद्रे) कल्याणकारी सुखजनक (लोके) शास्त्रप्रदर्शित मार्ग में (अभूः) रहा कर, नहीं तो पुनः कष्टों में फंस जायगा (एवाहं०) इत्यादि पूर्ववत् समान है ।

सूर्यमृतं तमसो ग्राह्या अधि देवा मुञ्चन्तो असृजन्निरेणसः ।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् । अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ ८ ॥

भा०—(तमसः) अन्धकार से उत्पन्न होने और (ग्राह्याः) शरीर को आ चिपटने वाली रोगपीड़ा से (देवाः) विद्वान् लोग स्वयं (निरेणसः) निष्पाप धर्मात्मा होकर अन्यों को (मुञ्चन्तः) मुक्त करते हुए (सूर्यं) सबके प्रेरक सूर्यप्रकाश को ही (ऋतं) सब दुःखों के विनाशक और ठीक

७–' अविदस्योनम् ' इति काचित्कः पाठः । ' अभूद्भद्रे ' इति सायणाभिमतः पाठः ।

८–(प्र०) 'ग्राह्यायथा, देवा मुमुचन्तु असृजन् परेतसः' इति पैप्प० सं० । ' देवा अमुञ्चन्नसृजन् व्येनसः ' इत्यपि क्वचित् ।

सत्य औषध (अधि असृजन्) वतलाते और प्रयोग करते हैं । 'एवाहं०' इत्यादि पूर्ववत् ।

इस सूक्त में नाना प्रकार की शरीर-व्याधियों, मानस-व्याधियों और वंशगत तपेदिक, क्षय, अपस्मार आदि रोगों की स्थिर चिकित्सा के लिये वेद में ब्रह्मचर्य के पालन, मां वाप के सदाचार, अग्नि से पका कर जलों का पान, सोम आदि ओषधियों का सेवन, स्वच्छ वायु का विहार, निरन्तर चलने हारे पवन और प्रकाश से उज्वल स्थानों में रहने का उपदेश है और साथ ही रोगमुक्त होजाने पर भी दुराचार से वचने और सदाचार से ही रहने और अन्धकारमय रोगोत्पादक स्थानों पर न रहने के लिये विशेष वल दिया है । वर्तमान की स्वास्थ्यरक्षा सम्बन्धी शिक्षा का यह आदर्श है ।

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

[तत्र पञ्चसूक्तानि, अष्टाविंशत्यृचः]

---

[११] राजा को उपदेश ।

शुक्र ऋषिः । कृत्यादूषणं देवता । कृत्यापरिहरणसूक्तम् । स्राक्त्यमणेः सर्वरूपस्तुतिः । १ चतुष्पदा विराड् गायत्री । २-५ त्रिपदाः परोष्णिहः । ४ पिपीलिकामध्या निचृत् । पञ्चर्चं सूक्तम् ।

दूष्या दूषिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ १ ॥

भा०—हे राजन् ! (दूष्याः) प्रजा में द्रोह करने हारी शत्रुमन्त्रणा को (दूषिः) तू विनाश करने वाला (असि) है । (हेत्याः) हनन करने हारे हथियार का भी (हेतिः) प्रतिहनन करने हारा तू हथियाररूप ही

(असि) है और (मेन्याः) अस्त्र द्वारा फेंके गये घातक साधन का भी तू (मेनिः) निवारक अस्त्र ही (असि) है । जब तू स्वयं इतना बलवान् है और अपने आगे आने वाले सब कष्टों को हटाने में समर्थ है तब (श्रेयांसं) सब से श्रेष्ठ मार्ग और पदार्थ को (आप्नुहि) प्राप्त कर और (समं) अपने समान बलशाली शत्रु को (अति क्राम) लांघ जा अथवा (श्रेयांसं आप्नुहि) कल्याणकारी बलवान् धार्मिक पुरुष का आश्रय ले और अपने समान बल वाले शत्रु को (अति क्राम) विजय करले ।

स्रक्त्यो॑ऽसि प्रतिस॒रो॑ऽसि प्रत्यभि॒चर॑णो॑ऽसि ।
आप्नुहि० ॥ २ ॥

भा०—हे राजन् ! तू स्वयं (स्राक्त्यः) गतिशील, आगे बढ़ने हारा (असि) है, तू (प्रतिसरोऽसि) अपने शत्रु के बाधक बल के होते हुए भी उसके मुकाबले पर जाने में समर्थ (असि) है । और तू (प्रति अभिचरणः) अपने विरुद्ध प्रतिद्वन्द्वी को लक्ष्य करके उसपर चढ़ाई करने में समर्थ (असि) है । तब (आप्नुहि श्रेयांसम्) तू श्रेष्ठपद को प्राप्त कर और (समं अतिक्राम) अपने समान प्रतिरोधी को पार कर जा ।

प्रति॒ तम॒भि च॑र॒ यो॑३॒स्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ।
आप्नुहि० ॥ ३ ॥

भा०—हे पुरुष राजन् ! (तं प्रति) उस पर (अभिचर) चढ़ाई कर (यः) जो (अस्मान्) हमें (द्वेष्टि) प्रेमरहित होकर द्वेष करता है और (यम्) जिसके प्रति (वयम्) हम भी (द्विष्मः) द्वेष करते हैं । इस प्रकार (आप्नुहि श्रेयांसम्) श्रेष्ठ राज्यपद को प्राप्त कर और (समम् अतिक्राम) समान पद के लिये स्पर्द्धा करने हारे प्रतिस्पर्द्धी को कुचल डाल ।

सू॒रिर॑सि वर्चो॒धा अ॑सि तनू॒पानो॑ऽसि ।
आप्नुहि० ॥ ४ ॥

भा०—हे राजन् ! (सूरिः असि[1]) तू विद्वान् धर्मोपदेष्टा या शत्रुतापक है अतएव (वर्चोधा असि) तू वर्चः-तेज का धारण करने हारा है । तू (तनूपानः असि) अपने और समस्त प्रजाओं के शरीरों की भी रक्षा करने हारा है । (श्रेयांसम् आप्नुहि) इसलिये सबसे अधिक श्रेष्ठपद को तू ही प्राप्त कर और (समम्) अपने समान प्रतिस्पर्द्धी से (अति क्राम) अधिक आगे बढ़ ।

शुक्रो॑ऽसि भ्राजो॑ऽसि स्व॑रसि ज्योति॑रसि ।
आप्नुहि श्रेयां॑समति॑ स॒मं क्रा॑म ॥ ५ ॥

भा०—हे राजन् ! (शुक्रः, असि) तू राजा होने योग्य तेज और कान्ति को धारण करने वाला है । (भ्राजः असि) तू शत्रुओं को भून डालने वाला ग्रीष्म के सूर्य के समान है । (स्वः[2] असि) तू सब का प्रकाशक, उपदेशक, शत्रु का उपतापक या पीड़क है । (ज्योतिः असि) और स्वयं तेजस्वी और यशस्वी है । (श्रेयांसम् आप्नुहि) इसलिये सबसे श्रेष्ठ पद को प्राप्त कर और (समम् अतिक्राम) समान बल के प्रतिस्पर्द्धी को पार कर जा ।

इस सूक्त में राजा के चुनने और स्वयं श्रेष्ठ पद को प्राप्त करने के लिये उचित, योग्य गुणों का उपदेश किया गया है ।

---

१. सूरिः, 'स्वृ' शब्दोपतापयोः । शब्दनमुपदेशः तत्कर्त्ता सूरिर्विद्वान् अभिज्ञ, इति सायणः । अथवा उपतापकः शत्रूणां सूरिः ।

२. स्वः तापक इति सायणः । अत्रापि 'स्वृ' शब्दोपतापयोः ।

[१२] तपस्या की साधना ।

भरद्वाजप्रवरऋषिः सूक्तम् । भरद्वाज ऋषिः । नाना देवताः । प्रथमया द्यावापृथिव्योः उरुगा-यस्यान्तरिक्षस्य च स्तुतिः । द्वितीयया देवस्तुतिः । तृतीयया इन्द्रस्तुतिः । चतुर्थ्या आदित्यवस्वङ्गिरःपितॄणाम् । सौम्यानां पञ्चम्या, महाविराट् तमोऽन्यानां, षष्ठ्या मरुताम् । सप्तम्या यमसदनात् ब्रह्मस्तुति । अष्टम्या अग्निस्तुतिः । २ जगती । १, ३-६ त्रिष्टुभः । ७, ८ अनुष्टुभौ । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

द्यावा॑पृथि॒वी उ॒र्व॑१॒न्तरि॑क्षं॒ क्षेत्र॑स्य॒ पत्न्यु॑रुगा॒योऽद्भु॒तः ।
उ॒तान्तरि॑क्षमु॒रु वात॑गोपं॒ त इ॒ह त॑प्यन्तां॒ मयि॑ त॒प्यमा॑ने ॥१॥

भा०—(मयि) मेरे (तप्यमाने) तपस्या करते हुए (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी और उनके समान इस देह में प्राण और अपान और गृह में माता और पिता (उरु) यह विशाल (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष आकाश एवं हृदय देश और गृह के अन्यजन, (क्षेत्रस्य पत्नी) समस्त लोकों के निवास-स्थान तीनों लोकों की पालकशक्ति वह ईश्वरीयशक्ति और इस देह की पालिका चितिशक्ति और घर में अपनी धर्मपत्नी (उरुगायः) विशाल ब्रह्माण्ड में व्यापक बड़े २ देव विद्वानों से कीर्त्ति, महायशस्वी, परब्रह्म और देह में यह आत्मा (अद्भुतः) रहस्यमय, आश्चर्यजनक, कभी न उत्पन्न होने वाला, अभूतपूर्व, (उत) और (वातगोपम्) वायु और प्राण से सुरक्षित यह (उरु) विशाल (अन्तरिक्ष) चेतन संसार और देह का इन्द्रियसंसार (ते) वे सब (इह) इस दशा में जब कि (मयि) मैं (तप्यमाने) तपस्या करता हूं (तप्यन्तां) तपस्या करें और तप में सहायक हों ।

---

[१२] १-(च०) 'तेषु तप्यन्ताम्' इति पैप्प० सं० ।

इदं देवाः शृणुत ये यज्ञिया स्थ भरद्वाजो मह्यमुक्थानि शंसति।
पाशे स बद्धो दुरिते नि युज्यतां यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥२॥

भा०—तपस्या का प्रकार बतलाते हैं—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! और हे मेरी इन्द्रियो ! आप लोग (ये) जो यज्ञ=धर्म के अनुष्ठान में लगे हुए, एवं प्राणाहुति एवं जीव ब्रह्म की संगतिरूप समाधियज्ञ के योग्य (स्थ) हो (शृणुत) मेरी प्रतिज्ञा को सुनो । (मह्यम्) इस कार्य के लिये मुझे (भरद्वाजः) ज्ञान और अन्न से समस्त संसार का भरण पोषण करने हारा परमात्मा (उक्थानि) वेदमन्त्रों का (शंसति) उपदेश करता है और (यः) जो (अस्माकं) हमारे (इदं) इस (मनः) मननशील, आत्मा और चित्त को (हिनस्ति) विनाश करता है (सः) वह काम और क्रोध रूप शत्रु (दुरिते) दुर्दशा, दुःखमय कठिन (पाशे बद्धः) पाश में बँधा २ (नियुज्यताम्) नियुक्त रहे। मनुष्य अपने जीवन को यज्ञरूप पवित्र कार्य समझ कर वेद का स्वाध्याय, श्रवण, मनन करे और मन पर वश करने हारे काम क्रोध आदि शत्रु को अभेद्य नियन्त्रण में रख कर वश करे । इसके साथ ही जो दूसरों के चित्तों का नाश करता हो, दूसरों को गुलाम बनाता हो, उसको पाश में बांध कर दुःखदायी कार्यों में लगाना चहिये जिससे वह परतन्त्रता के कष्ट भोग कर पुनः दूसरों को पर-तन्त्र न करे ।

इदमिन्द्र शृणुहि सोमप यत् त्वां हृदा शोचता जोहवीमि ।
वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षं यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥ ३ ॥

भा०—हे (सोमप) समस्त संसार रूप सोम का पालन और प्रलय-

२-(प्र०) 'यज्ञियास्तु भरद्वाजो मह्यमुक्त्या[कथा] नि शंसतु' इति पैप्प० सं० । 'उक्थानि शंसत' इति वेबरकामितः पाठः ।

३-(तृ०) 'वृश्चासि तं कुलिशेन' इति पैप्प० सं० ।

काल में आदान करने हारे (इन्द) परमेश्वर ! (शोचता) पवित्र होते हुए (हृदा) हृदय, अन्तःकरण से (यत्) जब (त्वा) तुझे (जोहवीमि) स्मरण करता हूं तब तू (इदं) यह बात मेरी (शृणुहि) श्रवण कर कि (यः) जो (अस्माकं) हमारे (इदं) इस उत्तम (मनः) मननशील आत्मा का (हिनस्ति) घात करता और पीड़ा देता है उसको (कुलिशेन) वज्ररूप कुठार से (वृक्षं इव) जिस प्रकार वृक्ष को काट दिया जाता है या वज्र-अशनि के पात से वृक्ष फट जाते हैं उस प्रकार उस आत्मा के नाशक भीतरी मोह शत्रु को (वृश्चामि) ज्ञानमय वज्र से समूल काट डालूं, विनष्ट कर डालूं।

अशीतिभिस्तिसृभिः सामगेभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः ।
इष्टापूर्तमवतु नः पितृणामामुं ददे हरसा दैव्येन ॥ ४ ॥

भा०—मैं (अमुं) इस अन्तःशत्रु को (दैव्येन) देव=परमेश्वर सम्बन्धी परमात्मा के दिये (हरसा) मन्यु और बल से (आ ददे) अपने वश करता हूं। (नः) हमारे (पितृणाम्) परिपालन करने वाले माता, पिता, गुरु, आचार्य इनका (सामगेभिः) सामवेदी, (आदित्येभिः) आदित्य के समान व्रत आचरण करने हारे पूर्ण बाल-ब्रह्मचारी अथवा यजुर्वेदियों, (वसुभिः) २४ वर्ष तक के ब्रह्मचर्यपालक विद्वानों अथवा ऋग्वेदियों और (अङ्गिरोभिः) रुद्र नैष्ठिक ब्रह्मचारियों या ब्रह्म वेद के ज्ञाताओं, ब्रह्माओं सहित (तिसृभिः) तीन (अशीतिभिः) आस्तियों से अर्थात् ८० त्रिक सूक्तों द्वारा या तीन प्रकार की शक्तियों द्वारा किये गये (इष्टापूर्तम्) यज्ञ, दान, तप, सत्संग और आपूर्त जनता के हितकारी अन्य उपकारक कार्यों को (नः) हमारी (अवतु) रक्षा करें।

तीन प्रकार की शक्तियां—मन्त्रशक्ति, उत्साहशक्ति और प्रभुशक्ति अर्थात् वाणी, मन और काय; इन की शक्तियां अथवा ज्ञान, कर्म और उपासना।

द्यावापृथिवी अनु मा दीधीथां विश्वे देवासो अनु मा रभध्वम् ।
आङ्गिरसः पितरः सोम्यासः पापमार्छत्वपकामस्य कर्ता ॥ ५ ॥

भा०—उक्त तपस्या का फल कहते हैं । (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, माता और पिता, राजा और प्रजा (मा) मेरे (अनु) अनुकूल, मेरे पीछे २ (दीधीथां) यशस्वी हों (विश्वेदेवासः) समस्त विद्वान्गण (मा अनु) मेरी आज्ञा और इच्छा के अनुसार ही (रभध्वम्) कार्य आरम्भ करें । हे (आङ्गिरसः) अङ्ग=राष्ट्र रूप देह में बल और ज्ञान रस का संचार करने हारे (सोम्यासः) शान्त और शुभ गुणों से युक्त, उत्तम कार्यों के प्रवर्त्तक (पितरः) राष्ट्र के पालक जनो ! (अपकामस्य) निन्दनीय इच्छा का (कर्त्ता) करने हारा पुरुष (पापम्) पाप के फल को (आ ऋच्छतु) अवश्य प्राप्त हो ।

अतीव यो मरुतो मन्यते नो ब्रह्म वा यो निन्दिषत् क्रियमाणम् ।
तपूंषि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विषं द्यौरभिसंतपाति ॥ ६ ॥
ऋ० ६ । ५२ । २ ॥

भा०—हे (मरुतः) विद्वान्गण वायुओं के समान राष्ट्र में बल धारण करने हारे देवगण नेता पुरुषो ! (यः) जो अपने को (अतीव) बहुत अधिक (मन्यते) मानता है अर्थात् अभिमानी या अहंकारी है और (यः वा) जो (नः) हमारे (क्रियमाणं) किये गये (ब्रह्म) वेदानुकूल ज्ञान, ब्रह्मचर्य और ब्रह्मज्ञान आदि की (निन्दिषत्) निन्दा करता है हमारे (तपूंषि) तप या तपाने हारे आयुध (तस्मै) उसके (वृजिनानि) वर्जन

५–(प्र०) 'मादीध्यतम्' (च०) 'पापसारिच्छेत्वपकामस्य' इति पैप्प० सं० ।
६–(प्र०) 'अति वा यो मरुतो', (द्वि०) ब्रह्म वायो क्रियमाणं निनित्सात्' (च०) ' ब्रह्मद्विषमभि तं शोचतु द्यौः' इति ऋ० । (द्वि०) निदिषत् इति क्वाचित्कः पाठः ।

करने हारे (सन्तु) हों। (ब्रह्मद्विषं) वेद और वेदज्ञों का द्वेष करने हारे पुरुष को यह (द्यौः) सूर्य के समान प्रकाश भी (अभि संतपाति) पीड़ित करता है। अथवा (तस्मै वृजिनानि तपूंषि सन्तु) उसके त्याज्य, निन्दनीय पापकर्म ही उसको सन्तापकारी हों। बल्कि (ब्रह्मद्विषं द्यौः अभिसंतपाति) वेद-ज्ञान के शत्रु को तो सूर्य भी और सूर्य के समान ज्ञान भी पीड़ा देता है।

सप्त प्राणानष्टौ मन्यस्तांस्ते वृश्चामि ब्रह्मणा।
अया यमस्य सादनमग्निदूतो अरंकृतः ॥ ७ ॥

भा०—देहबन्धन को ब्रह्मयोग से विनाश करता है। (सप्त प्राणाः) इस देह में सात तो प्राण हैं जो मूर्धास्थान में रहते हैं और (अष्टौ मन्यः) और आठ धमनियां हैं। उन सब देहबन्धनकारी साधनों को (ब्रह्मणा) ब्रह्मज्ञान से (वृश्चामि) काटता हूं। हे बद्धजीव ! अब तू (अग्निदूतः) ज्ञानवान् परमात्मा को अपना एकमात्र सहायक प्राप्त करके (अरंकृतः) सुशोभित या पर्याप्त कृतकृत्य होकर (यमस्य) संसार के नियन्ता परमेश्वर के (सादने) परम आश्रय मोक्षस्थान में (अयाः) चला जा और योगाग्नि से युक्त होकर मोक्ष का सुख भोग।

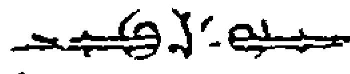
आ दधामि ते पदं समिद्धे जातवेदसि।
अग्निः शरीरं वेवेष्ट्वसुं वागपि गच्छतु ॥ ८ ॥

भा०—हे आत्मन् ! (ते) तेरे (पदं) निज स्वरूप (समिद्धे) अति देदीप्त, उज्ज्वल, तेजोमय (जातवेदसि) सर्वज्ञ, सर्वोत्पादक, परमब्रह्म में

७—यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः। यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरङ्कृतः इति ऋग्वेदे। (द्वि०) 'अष्टौ मज्ञस्तां' इति क्वाचित्कः पाठः। (तृ०) 'यमस्यगच्छ सादनम्' इति पैप्प० सं०।

८—'आददामि ते पदं' इति पैप्प० सं०।

(आदधामि) स्थापित करता हूं । और (शरीरं) इस भौतिक शरीर को (अग्निः) यह अग्नि या योगाग्नि (वेवेष्टु) सब प्रकार से व्याप्त करले और (वाक् अपि) यह वाणी भी (असुं) प्राण में (गच्छतु) लीन होजाय । इसी प्रकार सब इन्द्रियगण अपने कारण में लीन होकर आत्मा के बन्धन का कारण न हों और मैं आत्मा विदेह-प्रकृतिलय को प्राप्त होकर मोक्षानन्द को प्राप्त होजाऊं । वेदों का मुख्यप्रतिपाद्य अध्यात्म विषय होने से पूर्वमन्त्र भी उक्त प्रकार से अध्यात्म में ही लगते हैं ।



[१३] ब्रह्मचर्य व्रत में आयु, बल और दृढ़ता की प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । १ अग्निर्देवता । २, ३ बृहस्पतिः । ४, ५ विश्वेदेवाः । १ अग्निस्तुतिः । २, ३ चन्द्रमसे वासः प्रार्थना । ४, ५ आयुः प्रार्थना । १-३ त्रिष्टुभः । ४ अनुष्टुप । ५ विराड् जगती । पंचर्चं सूक्तम् ॥

आयुर्दा अग्ने जरसं वृणानो घृतप्रतीको घृतपृष्ठो अग्ने ।
घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रानभि रक्षतादिमम् ॥ १ ॥

यजु० ३५ । १७ ॥

---

[१३] १-(प्र०, द्वि०) 'आयुष्मानग्ने हविषा वृधानो घृतप्रतीको घृतयोनिरेधि' (च०) 'पितेव पुत्रमभिरक्षतादिमान् स्वाहा' इति यजु० । (प्र०) 'हविषा जुषाणः,' (च०) 'रक्षतादिमाम्' इति तै० सं० । (प्र०) 'आयुर्दा देव' (तृ०) 'घृतं पिबन्नमृतं चारु' (च०) 'पितेवपुत्रं जरसेम एमम्' इति मै० सं० । तत्र (च०) जरसेनयेमम्' इति पैप्प० सं० । तत्रैव (प्र०) 'जरसं गृणानः' इति हि० गृ० सू० । याजुषे पाठे, (प्र०) 'हविषा वृधानः' (च०) 'पितेवपुत्रमभिरक्ष' इति शौ० गृ० सू० ।

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवान् परमेश्वर ! ज्ञानप्रकाशक गुरो ! आप (आयुर्दाः) आयु, जीवन, प्राण को देने हारे हैं अतः आप (जरसं) वृद्ध अवस्था को (वृणानः) दूर करते हुए (घृतप्रतीकः) दीप्तिस्वरूप सूर्य के समान (घृतपृष्ठः) देदीप्यमान ज्ञानरसों के स्पर्श=प्रदान कराने हारे और समस्त तेजों के आश्रयभूत हैं । हे अग्ने ! परमात्मन् ! जिस प्रकार (पुत्रान्) पुत्रों को (पिता इव) पिता गाय के उत्तम मधुर घी के भोजनों से पुष्ट करता है और उनकी रक्षा करता है उसी प्रकार आप (घृतं) तेजोमय, स्नेहमय आदिस्रोत से निकले हुए (चारु आस्वादन करने योग्य, मनोहर, उत्तम (मधु) मधु के समान मधुर, अमृतस्वरूप या पुनः २ अभ्यास करने योग्य (गव्यं) आत्मा सम्बन्धी, (घृतं) ज्ञान को (पीत्वा) पान करा कर (इमम्) इस नव ब्रह्मचारी की (अभि रक्षतात्) सब प्रकार से रक्षा करें ।

परि॑ धत्त ध॒त्त नो॒ वर्च॑से॒मं ज॒राभृ॑त्युं कृणुत दी॒र्घमायुः॑ ।
बृह॒स्पतिः॒ प्राय॑च्छ॒द्वास॑ ए॒तत्सोमा॑य॒ राज्ञे॒ परि॑धात॒वा उ॑ ॥ २ ॥

अथर्व० १९ । २४ । ४ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! (परि धत्त) आप तो अपने पुत्रों को ब्रह्मचारी बना कर उनको उत्तम रीति से परिपुष्ट करें और (वर्चसा) ब्रह्मवर्चस तेज से (नः) हमारे (इमं) इस ब्रह्मचारी को (धत्त) परिपुष्ट करो और इसकी (जरामृत्युं) वृद्धावस्था में ही मृत्यु प्राप्त कराने वाली (दीर्घं) बहुत बड़ी चिर (आयुः) आयु, जीवनकाल (कृणुत) बढ़ाने का यत्न करो । (बृहस्पतिः) वेदवाणी के स्वामी, आचार्य और परमेश्वर ने ही

२—(प्र० द्वि०) 'धत्त वाससैमं शतायुषं कृणुत दीर्घमायुः' इति हि० गृ० सू० । तत्र—'वाससैनाशतायुषीम्' इति मै० ब्रा० । 'परिधत्त वर्चसे' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

(एतत्) यह तेजोमय (वासः) सर्व देवमय देहरूप, आवासयोग्य चोला (राज्ञे) प्रकाशनशील, तेजस्वी (सोमाय) चन्द्र और सूर्य के समान तेजस्वी जीवात्मा को (परिधातवा) निरन्तर धारण करने के लिये (उ) ही (प्रायच्छत्) दिया है । इसी भावना से आचार्य अपने शिष्य को ब्रह्मचारी के योग्य वस्त्र देता है और उसके शिर पर, अग्नि पर घृतलिप्त हस्त तपा २ कर आशीर्वाद देता है ।

परीदं वासो अधिथाः स्वस्तयेऽभूर्गृष्टीनामभिशस्तिपा उ ।
शतं च जीव शरदः पुरूचीं रायश्च पोषमुपसंव्ययस्व ॥ ३ ॥

भा०—हे बालक ब्रह्मचारिन् पुरुष ! (इदं वासः) इस वस्त्र के समान देहमय चोला को (स्वस्तये) सुख, कल्याण करने और स्वयं सुखी होने के लिये (परि अधिथाः) तुम अपने समस्त शरीर पर धारण करो और (गृष्टीनाम्=कृष्टीनाम्) गौवों के समान इन विषयों और सभी पदार्थों और ज्ञानों तक पहुंचने हारी या विषयों की ओर खैंच लेजाने वाली इन्द्रियों या प्रजाओं को (अभिशस्तिपाः) विनाश से बचाने वाला (उ) ही (अभूः) बन । इस प्रकार (शतं) सौ (शरदः) वर्षों तक (च) और (पुरूचीः) और इससे भी बहुत अधिक (जीव) जी । (रायः च) नाना प्रकार धन सम्पदाओं और (पोषम्) पुष्टिजनक पदार्थों को (उपसंव्ययस्व) प्राप्त कर, संग्रह कर और अपने जीवन के निमित्त उचित रीति से उपयोग कर । इस मन्त्र से पति पत्नी को और गुरु अपने शिष्य को वस्त्र धारण करने और उससे अपने देह की रक्षा करने का उपदेश भी देता है । वेद ने शरीर

३–(द्वि०) 'कृष्टीनामभिशस्तिपा' इति ह्विटनिकामितः पाठः । पारस्करगृह्यसूत्रे च 'जरां गच्छ परिधत्स्ववासो भवा कृष्टीनामभिशस्तिपावा । शतं च 'जीव शरदः सुवर्चाः रयिं च पुत्राननु संव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः ।' इति पाठः ।

धारण के साथ वस्त्र धारण करने, गौओं और इन्द्रियों की रक्षा करने और जीवनोपयोगी धन संग्रह करने, चिरकाल तक जीने का उपदेश किया है।

एह्यश्मानमा तिष्ठाश्मा भवतु ते तनूः ।
कृण्वन्तु विश्वे देवा आयुष्टे शरदः शतम् ॥ ४ ॥

भा०— हे ब्रह्मचर्य पालन करने हारे बालक ! (एहि) गुरु के समीप आ और (अश्मानं) दृढ़ चट्टान के समान नित्य कूटस्थ ब्रह्म का (आ तिष्ठ) आश्रय ले (ते) तेरा (तनूः) शरीर भी (अश्मा भवतु) शिला के समान दृढ़ हो। (विश्वे देवाः) समस्त देवगण, विद्वान्गण और दिव्य पदार्थों की दिव्यशक्तियां (ते आयुः) तेरी आयु को (शतं शरदः) सौ वर्ष तक (कृण्वन्तु) कर दें।

यस्य ते वासः प्रथमवास्यं हरामस्तं त्वा विश्वेऽवन्तु देवाः ।
तं त्वा भ्रातरः सुवृधा वर्धमानमनु जायन्तां बहवः सुजातम् ॥५॥

भा०—हे बालक ! ब्रह्मचारिन् ! (यस्य ते) जिस तुझे हम (प्रथमवास्यं) सबसे प्रथम पहनने योग्य वस्त्र को तुझे हरामः पहिनाते हैं (तं त्वा) उस तुझको (विश्वे) समस्त (देवाः) विद्वान्गण (अवन्तु) रक्षा करें। (सुवृधा) उत्तम वृद्धि, उन्नति से (वर्धमानं) उन्नति पथ पर सदा बढ़ते और (सुजातं) उत्तम रूप में विद्यासम्पन्न होते हुए (तं त्वां) उस तेरे (अनु) पीछे पीछे तेरा अनुकरण करते हुए (बहवः) बहुत (भ्रातरः) भाई (जायन्ताम्) और भी हों। वेभी तेरे समान आचार्यकुल में आकर विद्या, सुशिक्षा और ब्रह्मचर्य से सम्पन्न हों।

—०—

४–'इममश्मानमातिष्ठाश्मेव त्वं स्थिरो भव। प्रमृणीहि दुरस्यत सहस्व पृतनायतः' इति पैप्प० सं०।

५–(प्र०) 'यस्य ते विश्वे, प्रवरस्यं' इति हि० गृ० सू०।

[१४] बुरी आदतों और कुस्वभाव के पुरुषों का त्याग !

चातन ऋषिः । शालाग्निर्मन्त्रोक्ताश्च देवताः । अग्निसूतपतीन्द्रादिस्तुतिः । १, ३, ५, ६ अनुष्टुभः । २ भुरिक् । ४ उपरिष्टाद् बृहती । षड्चं सूक्तम् ।

निः सालां धृष्णुं धिषणमेकवाद्यां जिघत्स्व/म् ।
सर्वाश्चण्डस्य नप्त्यो/नाशयामः सदान्वाः ॥ १ ॥

भा०—(निः सालां) गृहशून्य, अवारागर्द, (धृष्णुं) ढीठ (धिषणं) हठी, (एकवाद्याम्) एक ही बात अर्थात् पैसा २ या भीख २ इत्यादि याचनावाक्य बार २ कहने वाली, (जिघत्स्वम्) और खाऊ होना आदि (सर्वाः) ये सब (चण्डस्य) अति प्रचण्ड क्रोधी के (नप्त्यः) साथ सम्बन्ध रखने वाली आदतें हैं (सदान्वाः) इन रुलाने या कलह कराने वाली पीड़ाओं को (नाशयामः) हम विनाश करें । अथवा-(निः नाशयामः) समूल नाश करें । सालां=अवारागर्द ।

निर्वो गोष्ठादजामसि निरक्षान्निरुपानसात् ।
निर्वो मगुन्द्या दुहितरो गृहेभ्यश्चातयामहे ॥ २ ॥

भा०—हे (मगुन्द्याः दुहितरः) मगुन्दी=ज्ञान को मिथ्या कहने की बुरी आदत से उत्पन्न होने वाली कुवासनाओं अथवा "मघं द्यति इति मगुन्दी दरिद्रता" दरिद्रता की दुहिता कन्या रूप अन्य विपत्तियो ! (वः) तुमको (गोष्ठात्) गोशाला अथवा गौ=वेदवाणी, ज्ञान कथा और आत्म के निवास-स्थान, हृदयदेश से (निः अजामसि) हम निकाल देते हैं । (अक्षात् निः) और आनन्द विनोद और व्यवहार या इन्द्रियगण से भी निकाल देते हैं (उपानसात्) अनस=यज्ञस्थान या देह से भी (निः) दूर करते हैं ।

[१४] १-'चण्डस्य नप्त्यः । इति पैप्प० सं० ।

२-(द्वि०) 'निर्योनिन्नृषा नच', (च०) 'चातयामसि' इति पैप्प० सं० ।

और (गृहेभ्यः निः चातयामहे) अपने घरों से भी हम परे करते हैं। बुरी आदत और बुरी आदत वाले दोनों को उक्त स्थानों से निकाल देने का उपदेश है।

असौ यो अधराद् गृहस्तत्र सन्त्वराय्यः ।
तत्र सेदिर्न्युच्यतु सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ३ ॥

भा०—(यः) जो (गृहः) घर, निवासस्थान (अधराद्) नीचे अन्धकारमय है (तत्र) वहां (सर्वाः) सब (यातुधान्यः) प्रजा के पीड़ा देने वाली स्त्रियां भी (अराय्यः) लक्ष्मी से रहित होकर (सन्तु) रहें। (तत्र) वहां ही (सेदिः) दुःख और भयकारक पापी जन भी (नि उच्यतु) रहा करें।

भूतपतिर्निरजत्विन्द्रश्चेतः सदान्वाः ।
गृहस्य बुध्न आसीनास्ता इन्द्रो वज्रेणाधि तिष्ठतु ॥ ४ ॥

भा०—(भूतपतिः) समस्त प्राणियों और पञ्चभूतों की शक्तियों का पति, पालन और वश करने वाला और (इन्द्रः) ऐश्वर्यशील, सूर्य के समान असह्य राजा (सदान्वाः) सदा एक दूसरे पर गालियां फेंकने वाली स्त्रियों को (इतः) हमारे इस घर से (निर् अजतु) निकाल दे। या सदा रुलाने वाली पीड़ाओं रोग व्याधियों को दूर करे और जो (गृहस्य) घर के (बुध्ने) आश्रयभूत फर्श और नींव के भाग में (आसीनाः) बैठी हों (ताः) उनको भी (इन्द्रः) राजा (वज्रेण) दूर करने के उपाय या दण्ड से (अधि तिष्ठतु) उन पर काबू करे।

३–(प्र० द्वि० तृ०) 'अनुष्मिन्नधरे गृहे सर्वास्त्वन्तारायः। तत्र पाप्मानियच्छतु' इति पैप्प० सं०।

४–' ता वज्रेणाधि तिष्ठतु ' इति पैप्प० सं०।

यदि॒ स्थ क्षै॑त्रिया॒णां यदि॑ वा॒ पुरु॑षेषि॒ताः ।
यदि॒ स्थ दस्यु॒भ्यो जा॒ता नश्य॑ते॒तः स॒दान्वाः ॥ ५ ॥

भा०—हे दुःखकर पीड़ाओ (यदि) यदि तुम (क्षेत्रियाणां) क्षेत्र= शरीर से शरीर में या मा बाप से पुत्रादि में संक्रमण करने वाले रोगों को मूल (स्थ) हो (यदि वा) या जो (पुरुषेषिताः) शत्रु पुरुषों से प्रेरित हो (यदि) या (दस्युभ्यः) विनाशकारी दुष्ट चौर डाकू आदि पुरुषों के कारण उत्पन्न हुई (स्थ) हो तो भी (सदान्वाः) सदा चिल्लाने, रुलाने और कलह कराने वाली होने के कारण तुम (इतः) यहां से तुम (नश्यत) भाग जाओ ।

परि॒ धामा॑न्यासामा॒शुर्गाष्ठा॑मिवा सरन् ।
अजै॑षं॒ सर्वा॑ना॒जीन् वो॒ नश्य॑ते॒तः स॒दान्वाः ॥ ६ ॥

भा०—हे (सदान्वाः) सदा कलह और शोर गुल मचाने वाली स्त्रियो या आपत्तियो ! (वः) तुम्हारी (सर्वान् सब (आजीन्) आक्रमणों और आगमन के उपायों और प्रतिस्पर्द्धाओं को मैं (अजैषं) जीत चुका हूं इसलिये अब तुम (इतः) यहां से (नश्यत) भाग जाओ । हे पुरुषो ! जिस प्रकार (आशुः) शीघ्रगामी घोड़ा (गाष्ठामिव[1]) अपनी परम अवधि पर पहुंच जाता है उसी प्रकार विद्वान् लोग (आसाम्) इन सब पीड़ा-

---

५–(प्र०) 'या देवा व क्षेत्रियाद्' (तृ०) यदस्तुदक्षिभो [स्युभ्यो] जाता ' इति पैप्प० सं० ।

६–' सिवासरम् ' इति ह्विटनिकामितः पाठः । ' आशुर्ल्गाष्ठामिवासरम् ' इति सायणाभिमतः पाठः । ' आशुर्गाष्ठामिवासरम् ' इति पैप्प० सं० । ' आशुर्काष्ठाम ' इति काचित्कः पाठः ।

१. ' ग्लाष्ठागन्तव्योवधिः, आज्यन्तःकाष्ठापर पर्यायः ' इति सायणः ।

कारिणी विपत्तियों, मायाविनी स्त्रियों के (धामानि) आश्रय स्थानों तक (परि असरन्) इनका पीछा करें, आक्रमण करें और उन स्थानों से उनको निकाल दें ।

अध्यात्म में - १) देह में रहने वाली चण्ड=क्रोध या काम की नातिनी स्वरूप पांच दुष्ट वृत्तियां हैं, साला=मनकी कुचेष्टा, धृष्णु=ढिठाई, एकवाद्या, निन्दाजनक वाणी, जिघत्सु=लोभ । (२) इनको गोष्ठ=यह इन्द्रियों रूप गौओं के वाड़े देह से इन्द्र=आत्मा निकाल दे । अक्ष=चक्षु इन्द्रिय से निकाल दे, नासिका से निकाल दे और (गृहेभ्यः) विषयों के ग्रहणशील इन्द्रियों से भी निकाल दे । ये सब मगुन्दी=मिथ्याज्ञान से उत्पन्न होने से उसी की प्रवृत्ति हैं । (३) सब बुरी दुष्प्रवृत्तियां अधर-गृह=उपस्थ के साथ सम्बन्ध रहती हैं । और वही सेदि=पाप अर्थात् सब दुःखों का मूल-कारण हैं । (४) भूतपति-मन और इन्द्र आत्मा गृह-शरीर के मूल आश्रय उपस्थ भाग में रहने वाली काम की दुष्प्रवृत्तियों पर ज्ञान और वैराग्य रूप वज्र से शासन करे । (५) इनमें से कुछ तो क्षेत्रिय=देह की चेष्टाओं से उत्पन्न होती हैं और कुछ पुरुष=आत्मा के भीतर बैठी वासनाओं के कारण हैं । और कुछ दुष्कर्मरूप दस्यु या भीतर काम क्रोध लोभमोहादि अन्तः शत्रुओं या इन्द्रियों के कारण उत्पन्न होती हैं । उन सबको हृदय से दूर कर देना चाहिये । (६) आशु=व्यापक या शीघ्रगामी मन बड़ी तीव्रगति से इनके सब स्थानों में परम अवधि तक पहुंच जाता है । और मैं आत्मा सब की परम सीमा तक जाकर उनको जीत कर उनसे बढ़ जाता हूं । हाऊ हाऊ मचाने वाली ये दुष्प्रवृत्तियां आत्मा से दूर हों ।



[१५] अभय की भावना ।

ब्रह्मा ऋषिः । प्राणो देवता । १ ६ त्रिपाद् गायत्रम् । पङ्चर्चं सूक्तम् ॥

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ १ ॥

भा०—यथा जिस प्रकार (द्यौः च) द्यौ लोक, सूर्य और (पृथिवी च) पृथिवी (न बिभीतः) भय नहीं करते (न रिष्यतः) कभी नष्ट भी नहीं होते (एवा) इसी प्रकार हे (मे) मेरे (प्राण) प्राण ! (मा) मत (विभेः) डर ।

यथाहंश्च रात्री च न बिभीतो० ॥ २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (अहश्च रात्री च) दिन और रात्रि (न बिभीतः) न किसी से भय करते और (न रिष्यतः) न किसी को आप नष्ट करते और न नष्ट होते हैं इसी प्रकार (एवा मे प्राण मा बिभः) हे मेरे प्राण तू भी किसी से भय मत कर ।

यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च० ॥ ३ ॥

भा०—(यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च०) और जिस प्रकार सूर्य और चन्द्र न भय करते और न किसी को नष्ट करते और न नष्ट होते हैं उसी प्रकार हे मेरे प्राण तू भय मत कर । तू भी नष्ट नहीं होगा ।

यथा ब्रह्म च क्षत्रं च० ॥ ४ ॥

भा०—(यथा ब्रह्म च) और जिस प्रकार ब्रह्मज्ञान या ब्राह्मण और (क्षत्रं च) और बल या क्षत्रिय दोनों वर्ण नहीं डरते और न नष्ट होते हैं उसी प्रकार हे मेरे प्राण तू भी भय मत कर । तू भी नष्ट नहीं होगा ।

यथा सत्यं चानृतं च० ॥ ५ ॥

[१५] १–' एवं मे प्राण माबिभ एवं प्राण मारिष ' इति मा० गृ० सू० ।

भा०—(यथा सत्यं च) और जिस प्रकार सत्य और (अनृतं च) असत्य अर्थात् व्यावहारिक प्रयोग अथवा सत्यं=परमार्थ और अनृत=ऐहिक अर्थ दोनों (न बिभीतः) भय नहीं करते और न नष्ट होते हैं इसी प्रकार हे प्राण तू भी भय मत कर और नष्ट मत हो। लोक व्यवहार प्रवाह से अनित्य होने पर भी नष्ट नहीं होता।

यथा भूतं च भव्यं च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ६ ॥

भा०—(यथा भूतं च) और जिस प्रकार भूतकाल और (भव्यं च) भविष्यत् काल दोनों (न बिभीतः) भय न करते और (न रिष्यतः) नष्ट नहीं होते उसी प्रकार हे मेरे प्राण ! तू भी भय मत कर।

—०:०:—

[१६] रक्षा की प्रार्थना।

ब्रह्मा ऋषिः। प्राणापानौ आयुश्च देवताः। १, ३ एकपदा आसुरी त्रिष्टुप्। २ एकपदा आसुरी उष्णिक्। ४, ५ द्विपदा आसुरी गायत्री। पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं स्वाहा ॥ १ ॥

भा०—हे (प्राणापानौ) प्राण और अपान ! तुम दोनों (मा) मुझ को (मृत्योः) शरीर के छूट जाने के भय से (पातं) बचाओ (स्वाहा) इस प्रकार प्रत्येक अपने आत्मा में दृढ़ संकल्प करे और प्राणायाम का अभ्यास करे।

स्वाहा—स्वाहेत्येतत् सु आहेति वा, स्वा वागाहेति वा, स्वं प्राह इति वा, स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा (नि० ८ । २०) स्वैव ते वाग् 'अब्रवीत् सोऽजुहोत् स्वाहा इति तत् स्वाहाकारस्य जन्म [तै० ब्रा० २ । १ । २ । ३ ।]

द्यावापृथिवी उपश्रुत्या मा पातं स्वाहा ॥ २ ॥

भा०—हे (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी ! (मा) मुझे (उपश्रुत्या) श्रवण शक्ति द्वारा (पातं) पालन करो । (स्वाहा) यह मैं उत्तम प्रार्थना करता हूं ।

सूर्य चक्षुषा मा पाहि स्वाहा ॥ ३ ॥

भा०—हे (सूर्य) सब के प्रकाशक सूर्य ! एवं उसके समान सब के प्रकाशक प्रभो ! (मां) मुझको (चक्षुषा) दर्शन इन्द्रिय के द्वारा (पाहि) पालन कर (स्वाहा) इस प्रकार योगी अपने प्रभु को सम्बोधन करके शक्ति प्राप्त करे ।

अग्ने वैश्वानर विश्वैर्मा देवैः पाहि स्वाहा ॥ ४ ॥

भा०—हे (अग्ने) तापकारी ! हे (वैश्वानर) समस्त शरीरों में व्यापक सब के नेता ईश्वर और एवं जाठररूप में या घर २ में विद्यमान वैश्वानर आत्मन् ! (मां) मुझको (विश्वैः) समस्त (देवैः) विद्वानों और दिव्य पदार्थों और इन्द्रियों द्वारा (पाहि) पालन कर । (स्वाहा) यह उत्तम प्रार्थना है अर्थात् ईश्वर हमारी इन्द्रियों की रक्षा करे ।

विश्वम्भर विश्वेन मा भरसा पाहि स्वाहा ॥ ५ ॥

भा०—हे (विश्वम्भर) हे समस्त संसार के भरण पोषण करने हारे परमात्मन् ! (मा) मुझे (विश्वेन) समस्त (भरसा) पोषण शक्ति से (पाहि) पालन कर (स्वाहा) ऐसी उत्तम प्रार्थना स्वयं करनी चाहिये ।

आयुष्काम पुरुष इस सूक्त का मनन किया करे ।

---

[१६] २–' उपश्रुते ' इति पैप्प० सं० ।

३–' चक्षुषी ' इति पैप्प० सं० ।

[१७] ओज, सहनशीलता, बल, आयु और इन्द्रियों की प्रार्थना ।

ब्रह्मा ऋषिः । प्राणापानौ वायुश्च देवताः । १–६ एकावसाना आसुर्यस्त्रिष्टुभः । ७ आसुरी उष्णिग् । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

ओजोस्योजो मे दाः स्वाहा ॥ १ ॥ यजु० १९ । ९ ॥

भा०—हे परमात्मन् (ओजः) आप ओज कान्ति और तेजस्वरूप हैं । आप (मे) मुझे (ओजः) कान्ति, ओज (दाः) दें । (स्वाहा) यह मेरी उत्तम प्रार्थना है ।

सहोसि सहो मे दाः स्वाहा ॥ २ ॥ यजु० १९ । ९ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! आप (सहः असि) सहनशील सब संसार की शक्तियों को सहन करने हारे हैं आप (मे) मुझे (सहः) सहनसामर्थ्य (दाः) प्रदान करें (स्वाहा) ऐसी उत्तम प्रार्थना है ।

बलमसि बलं मे दाः स्वाहा ॥ ३ ॥ यजु० १९ । ९ ॥

भा०—(बलम् असि) हे परमात्मन् ! आप बलस्वरूप हैं आप (मे बलं दाः) मुझे बल दें । (स्वाहा) यह उत्तम प्रार्थना है ।

आयुरस्यायुर्मे दाः स्वाहा ॥ ४ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! (आयुः असि) आप सबको जीवन प्राप्त करने हारे सब के आयुरूप जीवनाधार हैं । (मे आयुः दाः) मुझे दीर्घ आयु प्रदान करें (स्वाहा) मेरी यह उत्तम प्रार्थना करता हूं ।

श्रोत्रमसि श्रोत्रं मे दाः स्वाहा ॥ ५ ॥

---

[१७] २–‘ सहोदा अग्नेः सहोमेधाः स्वाहा ’ इति पैप्प० सं० ।
३–‘ बलदा अग्निर्बलं मे धाः स्वाहा ’ इति पैप्प० सं० ।
४–‘ धाः ’ इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे परमात्मन् ! आप (श्रोत्रम् असि) सबकी शुभ प्रार्थनाओं का श्रवण करने हारे और सबको श्रवणशक्ति के दाता हैं (मे श्रोत्रं दाः) मुझे भी श्रवणशक्ति का दान करें (स्वाहा) मैं ऐसी शुभ प्रार्थना करता हूं ।

चक्षुरसि चक्षुर्मे दाः स्वाहा ॥ ६ ॥

भा०—हे समस्त संसार के प्रकाशक, सब के द्रष्टा परमात्मन् ! आप (चक्षुः असि) समस्त संसार के दर्शक, प्रकाशक, चक्षुःस्वरूप हैं (मे चक्षुः दाः) मुझे भी चक्षु प्रदान करो, (स्वाहा) मैं यह उत्तम प्रार्थना करता हूं ।

परिपाणमसि परिपाणं मे दाः स्वाहा ॥ ७ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! आप (परिपाणम् असि) सब संसार के परिपालन करने हारे हो, (मे) मुझे भी (परिपाणं) समस्त इन्द्रियों और प्रजाओं के परिपालन करने का सामर्थ्य (दाः) प्रदान करो, (स्वाहा) यह उत्तम प्रार्थना करता हूं ।

इति तृतीयोऽनुवाकः ।

[तत्र सप्त सूक्तानि द्वाचत्वारिंशच्च ऋचः]



[१८] शत्रुओं के नाशक बल की प्रार्थना ।

सम्पत्कामश्चातन ऋषिः । अग्निर्देवता साम्नी बृहती । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

भ्रातृव्यक्षयणमसि भ्रातृव्यचातनं मे दाः स्वाहा ॥ १ ॥

---

[१८] १–' भातृव्य क्षीणमसि भातृव्यजम्भनमसि स्वाहा ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे परमात्मन् ! तू (भ्रातृव्यक्षयणम्) भ्रातृत्वभाव के विनाशकारी शत्रु को भी विनाश करने हारा (असि) है (मे) मुझे भी (भ्रातृव्यचातनं) शत्रु का नाशक बल (दाः) दान कर (स्वाहा) यह मेरी उत्तम प्रार्थना है।

सपत्नक्षयणमसि सपत्नचातनं मे दाः स्वाहा ॥ २ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! आप (सपत्नक्षयणं) हमारे पदार्थों पर अपना स्वामित्व चाहने वाले शत्रु का विनाश करते (असि) हो अतः (मे) मुझे भी (सपत्नचातनं) शत्रु का नाशकारी बल (दाः) प्रदान करें (स्वाहा) यह मेरी शुभ प्रार्थना है।

अरायक्षयणमस्यरायचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ३ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! आप (अरायक्षयणम् असि) दान न करने हारे कंजूस, स्वार्थी, अनुदार पुरुषों का नाश करते हो अतः (मे) मुझे भी (अरायचातनं) ऐसे लोलुप पुरुषों के विनाश करने का सामर्थ्य (दाः) प्रदान करो। (स्वाहा) यह मेरी शुभ प्रार्थना स्वीकार करें।

पिशाचक्षयणमसि पिशाचचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ४ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! आप (पिशाचक्षयणम् असि) दूसरों के मांस के लोभी हिंसक क्रूर पुरुषों के नाशक हो, अतः (मे) मुझे भी (पिशाचचातनं) ऐसे मांसाशी, क्रूर पुरुषों का नाश करने का सामर्थ्य (दाः) प्रदान करो। (स्वाहा) यह मेरी प्रार्थना स्वीकार करें।

सदान्वाक्षयणमसि सदान्वाचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ५ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! (सदान्वाक्षयणम् असि) आप निरन्तर रुलाने और कष्ट देने वाली आपत्तियों के विनाशक हो, अतः (मे) मुझे भी (सदान्वाचातनं) ऐसे परपीडक आपत्तियों के नाश करने का सामर्थ्य (दाः) दीजिये। (स्वाहा) यह मेरी प्रार्थना स्वीकार करें।

[१९] द्वेष करने वालों के लिये प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । अग्निर्देवता । १–४ निचृत् सामगायत्री, ५ भुरिग् विषमा । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

अग्ने॒ यत्ते॒ तप॒स्तेन॒ तं प्रति॑ तप॒ यो॒३ऽस्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ॥१॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान तपाने हारे परमात्मन् ! (यः) जो (अस्मान्) हमें (द्वेष्टि) द्वेष करता है (यं) और जिस पापी पुरुष को (वयं) हम भी (द्विष्मः) प्रेम नहीं करते (तं) उसको (यत्) जो तेरा (तपः) संतापकारी पापनिवारक बल है (तेन) उससे (प्रति तप) उसे संतापित कर, जिससे वह पश्चात्ताप करके पाप कार्य को छोड़ दे ।

अग्ने॒ यत्ते॒ हर॒स्तेन॒ तं प्रति॑ हर॒ यो॒३ऽस्मान्द्वेष्टि॒० ॥ २ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमात्मन् ! (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हम से द्वेष करता है और (यं वयं द्विष्मः) जिसको हम प्रेम नहीं करते (यत् ते हरः) जो तेरा पापनिवारक मृत्युरूप बल है (तं) उसको (प्रति हर) पाप कर्मों से और कुपथ से हटा ।

अग्ने॒ यत्ते॒ऽर्चिस्तेन॒ तं प्रत्य॑र्च॒ यो॒३०० ॥ ३ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमात्मन् ! (यः अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः) जो हमें द्वेष करता और जिसको हम भी प्रेम नहीं करते (यत् ते अर्चिः) जो तेरी ज्वाला, प्रकाश, ज्ञानमय दीप्त है (तेन तं प्रति अर्च) उससे उस पाप-कारी पुरुष को ज्ञान दे और अन्धकारमय तामस मार्ग से परे कर ।

अग्ने॒ यत्ते॒ शो॒चिस्तेन॒ तं प्रति॑ शोच॒ यो॒३० ॥ ४ ॥

भा०—(योऽस्मान्०) हे परमात्मन् ! जो हम से द्वेष करता और जिसको हम भी प्रेम नहीं करते (यत् ते शोचिः) जो तेरी दीप्ति है ।

[१९] १–' यो अस्मान् ', 'य वयं च' इति पाठभेदः प्रायः सर्वासु ऋक्षु ... सं० ।

(तेन तं प्रति) उससे उसके प्रति (शोच) प्रकाशित हो और सन्मार्ग दिखा ।

अग्ने यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो३० ॥ ५ ॥

भा०—हे अग्ने ! (यः अस्मान् द्वेष्टि०) जो हम से द्वेष करता है और जिससे हम भी प्रीति नहीं करते (यत् ते तेजः) जो तेरा तेज=तीक्ष्ण स्वभाव है (तेन) उससे (तं) उस पुरुष को (अतेजसं) तीक्ष्ण स्वभाव से रहित सौम्य स्वभाव वाला (कृणु) कर, बना, जिससे वह सज्जन होकर हमारा मित्र हो जाय ।



[२०] द्वेष करने वालों के लिये प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । वायुर्देवता । १–४ निचृद् विषमा गायत्र्यः, ५ भुरिग् विषमा । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

वायो यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो३० ॥ १ ॥

भा०—हे (वायो) सर्वव्यापक सबके प्रेरक, सब में सूत्ररूप से विद्यमान होकर सबके धारक ! परमात्मन् (यः अस्मान् द्वेष्टि०) जो हमसे द्वेष करता है और जिसको हम द्वेष करते हैं (यत् ते तपः तेन तं प्रति तप) जो तेरा पापनिवारक पश्चात्तापरूप बल है उससे उसको संतापित कर ।

वायो यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो३० ॥ २ ॥

भा०—हे (वायो) परमात्मन् ! (यः अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः) जिससे हम द्वेष करते हैं और जो हम से द्वेष करता है (यत् ते हरः तेन तं प्रतिहर) जो आप का पापहारी क्रोध है उससे उसको अपनी शरण में ले जिससे वह द्वेष छोड़कर पुण्यात्मा होजाय ।

५–' यत्ते ज्योतिस्तेन तं प्रतिदह ' इति पैप्प० सं० ।

वायो यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च योऽ३० ॥ ३ ॥

भा०—हे (वायो) परमात्मन् ! (योऽस्मान् द्वेष्टि०) जो हमसे द्वेष करता है और इसी कारण जिससे हम भी द्वेष करने लग गये हैं (यत् ते अर्चिः, तेन तं प्रति अर्च) आपकी जो ज्ञानमय दीप्ति, ज्वाला-मय प्रकाश है उससे उस पातकी मूढ को भी ज्ञानवान् कर जिससे वह द्वेष छोड़कर सीधे मार्ग पर आजाय ।

वायो यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच योऽ३० ॥ ४ ॥

भा०—हे वायो ! परमात्मन् ! (योऽस्मान्०) जो हमसे द्वेष करता है और इसी कारण जिससे हम भी प्रीति नहीं करते (यत् ते शोचिः, तेन तं प्रति शोच) जो आपकी प्रकाशक दीप्ति है उससे उसको भी ज्ञानवान् कर जिससे वह प्रकाशमय मार्ग में आकर द्वेष न करे ।

वायो यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु योऽ३० ॥ ५ ॥

भा०—हे (वायो) ज्ञानरूप, सर्वव्यापक, परमात्मन् ! (योऽस्मान्०) जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं । (यत् ते तेजः) जो तेरा तीक्ष्ण सामर्थ्य है (तेन तम् अतेजसं कृणु) उससे उसको तीक्ष्ण सामर्थ्य से रहित कर जिससे वह सौम्य होकर द्वेष न करे ।

---

[२१] द्वेष करने हारों के लिये प्रार्थना ।

ऋषिश्छन्दश्च पूर्ववत् । सूर्यो देवता । पंचर्चं सूक्तम् ॥

सूर्य यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽ३० ॥ १ ॥
सूर्य यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर योऽ३० ॥ २ ॥
सूर्य यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च योऽ३० ॥ ३ ॥
सूर्य यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच योऽ३० ॥ ४ ॥

सूर्य यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो३० ॥ ५ ॥

भा०—हे (सूर्य) सबके उत्पादक और प्रकाशक और प्रेरक परमात्मन् ! शेष सब पूर्ववत् है ।

[२२] द्वेष करने हारों के लिये प्रार्थना ।

ऋषिश्छन्दश्च पूर्ववत् । चन्द्रो देवता । पंचर्चं सूक्तम् ॥

चन्द्र यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो३० ॥ १ ॥
चन्द्र यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो३० ॥ २ ॥
चन्द्र यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो३० ॥ ३ ॥
चन्द्र यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो३० ॥ ४ ॥
चन्द्र यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो३० ॥ ५ ॥

भा०—हे (चन्द्र) समस्त जगत् के आह्लादक परमात्मन् ! शेष सब पूर्ववत् ।

[२३] द्वेष करने हारों के लिये प्रार्थना ।

पूर्ववत् ऋषिः । आपो देवता । १-४ समविषमा । ५ स्वराड् विषमा । पंचर्चं सूक्तम् ॥

आपो यद्वस्तपस्तेन तं प्रति तपत यो३० ॥ १ ॥
आपो यद्वो हरस्तेन तं प्रति हरत यो३० ॥ २ ॥
आपो यद् वोऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्चत यो३० ॥ ३ ॥
आपो यद् वः शोचिस्तेन तं प्रति शोचत यो३० ॥ ४ ॥
आपो यद् वस्तेजस्तेन तमतेजसं कृणुत योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

भा०—हे (आपः) सब के आश्रय ! सब के शरण्य ! इत्यादि पूर्ववत् । भौतिकपक्ष में—अग्नि, चन्द्र, सूर्य और आपः उनसे अपने शत्रु को विनाश करने का संकल्प किया है । प्रत्येक में पांच शक्तियां हैं । (१) तपः=पीड़क शक्ति संतापकारी शक्ति, (२) हरः=संहार सामर्थ्य, विनाशकारी या विध्वंसकारी शक्ति, (३) अर्चिः=ज्वाला, भस्म कर देने या निर्मूल करने की शक्ति, (४) शोचिः=पवित्र करने और दुःखित करने की शक्ति और (५) तेजः=तेज, तीक्ष्णता और तीव्रता की शक्ति । इन शक्तियों को अपने वश करके इनका उचित साधनों से प्रयोग करके अपने शत्रु को वश करना चाहिये ।



[२४] हिंसक स्त्री-पुरुषों के लिये दण्ड विधान ।

ब्रह्मा ऋषिः । शेरभकादयो मन्त्रोक्ता देवताः । १, २ पुर उष्णिहौ, ३, ४ पुरोदेवत्ये पाङ्क्ते, १–४ दैराजः, ५–८ पंचपदाः पथ्यापङ्क्तयः, ५, ६ भुरिजौ, ६, ७ निचृदौ, ५ चतुष्पदा बृहती, ६–८ भुरिजः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

शेरभक शेरभ पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥ १ ॥

भा०—हे (शेरभक) दूसरों का अन्त करने, मारने का कार्य करने वाले सर्प स्वभाव, उग्र नृशंस ! घातक ! हत्याकारी पुरुष ! (शेरभ) हे हत्यारे पुरुष ! और हे (किमीदिनः) 'यह क्या, यह क्या' इस प्रकार सब पदार्थों पर चोर की सी नज़र रखने वाले दुष्ट पुरुषो ! (यातवः) सब

---

[२४] १–शरभक शेरभपुनर्नौ [वों] यन्ति याद [त] वः पुनर्हतिः किमीदिनः यस्यस्थ द [त] मत्त योव प्राहि तमत्त भा सां सा [मांसास्वा] मन्यत [न्यत्त] इति पैप्प० सं० ।

पीड़ाजनक कार्य (वः) तुमारे पास ही (यन्तु) चले जावें अर्थात् तुम्हारे पीड़ाजनक कार्यों का दण्ड पुनः तुमको ही प्राप्त हो। (पुनः हेतिः) और फिर हथियार भी तुम्हारा तुम्हारे पास ही चला जावे। अर्थात् वह भी तुम को ही पुनः पीड़ाकारी हो। क्योंकि (यस्य स्थ) जिसके तुम संगी होते हो (तम् अत्त) उसको तुम खाजाते हो और (यः) जो (वः) तुमको (प्राहेत्) प्रेरणा करता, उपदेश करता या सीधा मार्ग बतलाता है (तम् अत्त) तुम उसको भी खाजाते हो। और फिर जब तुम्हारे साथ कोई नहीं रहता तब तुम (स्वा मांसानि) अपने ही सम्बन्धी पुत्र पौत्र आदि के शरीरों का घात करके उनके मांसों को (अत्त) खाते हो। दुर्जन पुरुषों का यही स्वभाव होता है कि वे अपने स्वामी, प्रेरक और साथियों का नाश करके पुनः अपनी आदत से लाचार होकर अपना भी नाश कर लेते हैं। इस प्रकार उनको दी हुई पीड़ाएं और उनके शस्त्र उनके अपने हाथों अपने ऊपर नाशकारी होते हैं।

शेवृ॑धक॒ शेवृ॑ध॒ पुन॑र्वो० । ० ॥ २ ॥
म्रोकानु॑म्रोक॒ पुन॑र्वो ० । ० ॥ ३ ॥
सर्पानु॑सर्प॒ पुन॑र्वो० । ० ॥ ४ ॥

भा०—हे (शेवृधक) हे हिंसा के कार्य में सबसे आगे बढ़ने वाले घातक! सर्पस्वभाव! और हे (म्रोक) धन अपहरण करके छुप जाने वाले चोर! और हे (अनुम्रोक) चोरों के पीछे उनके ही बुरे काम का अनुसरण करने वाले! हे (सर्प) कुटिल मार्ग से चलने वाले पुरुष! और हे (अनुसर्प) कुटिल पुरुष के साथी लोगो! आप सब लोग (किमीदिनः) किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो। तुम लोग जब बुरा काम करते हो तो तुम लोगों के दिल (अब

२-४-'शेवृ [ध] क शेवृध', 'सर्पान् सर्प' 'म्रोकान् म्रोक्' इति पैप्प० सं०।

क्या होगा ? अब कैसे ? इत्यादि फिकिरों में घुक २ किया करता है । पर यह याद रखना कि तुम्हारी ये सब (यातवः) पीड़ाएं जो तुम लोगों को देते हो (वः यन्तु) तुम्हें ही प्राप्त होंगी । (पुनः हेतिः यह शस्त्रप्रहार भी तुमको प्राप्त होगा । अर्थात् पकड़े जाने पर तुम छोड़ नहीं दिये जाओगे, क्योंकि स्वभावतः (यस्य स्थ) जिसके तुम रहते हो (तम् अत्त) उसको खाजाते हो । (यः वः) जो तुम लोगों को (प्राहैत्) प्रेरणा दे (तं अत्त) उसको खाजाते हो और फिर लाचार होकर (स्वा मांसानि अत्त) अपने ही मांसों को भी खाजाते हो ।

यद्यपि यहां मन्त्र पाठ में 'यन्तु', 'स्थ', 'अत्त' आदि प्रयोग हैं तो भी यहां अधीष्ट अर्थ में 'लोट' है । दुर्जनों का नाश करने के लिये वेदमन्त्र में उपदेश है कि हिंसाकारी, हिंसा के भावों के वर्धक, चोर, गुप्त घोर, कुटिलाचारी पुरुषों को पकड़ कर उनको वैसी ही पीड़ाएं दी जावें जैसी उन्होंने दूसरों को दीं, वैसे ही शस्त्र से नाश किया जावे जैसे शस्त्र से वे दूसरों का नाश करते हैं । उनसे ही उनके नेता को मरवावें और उनको ऐसे बेज़ार करें कि वे आपस में एक दूसरे के प्राण के प्यासे होकर एक दूसरे को खाजावें । तब वे आप से आप नष्ट होजाते हैं ।

जूर्णि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ०।० ॥ ५ ॥
उपब्दे पुनर्वो ० । ० ॥ ६ ॥
अर्जुनि पुनर्वो ० । ० ॥ ७ ॥
भरूजि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥ ८ ॥

८—' भरूचि ' इति सायणाभिमतः पाठः ।

भा०—हे जूर्णि ! आयु का नाश करने हारी नागिनी को गति ने अपने और दूसरों के वल नाश करने वाली दुष्ट स्त्रि ! हे (अर्जुनि बदला लेने वाली या पुरुष को संताप देने वाली या अपने कुकर्म से द्रव्य अर्जन करने वाली स्त्रि और हे (उपब्दे) गुप्तरूप से कलह करने वाली और परपुरुष से संग करने हारी ! और (भरूजि) हे कपटकारिणि ! अपने क्षुद्र वचनों से हृदय को पीड़ा देने वाली स्त्रियो ! तुम भी (किमीदिनीः) कर्त्तव्यपथ में मूढ़ हो । तुम भी अपने पापों से शंकित रहती हो, तुम्हारी ही पीड़ाएं तुमको प्राप्त हों, तुम्हारे हथियार भी तुमको ही कष्ट दें । तुम जिस की हो उसको खाती और जो तुमको प्रेरित करे, मार्ग दिखाये, उसको खाजाती और अपने सम्बन्धियों, पुत्रों और भाइयों तक के प्राणों को पीजाती हो ।

इस सूक्त में चार प्रकार के पुरुषों और चार प्रकार की स्त्रियों के स्वभावों का वर्णन किया है । इसके अतिरिक्त इन मन्त्रों में अध्यात्म पक्ष में भीतरी दुःसंकल्पों और कुप्रवृत्तियों का भी वर्णन किया है ।

जैसे—शेरभक=हिंसा का भाव, शेवृधक=लोभ, म्रोक=काम, सर्प=क्रोध, जूर्णि=चिन्ता, उपब्दि=निन्दा, अर्जुनी=प्रतिहिंसा, बदला की प्रवृत्ति, भरूजि=चुगलख़ोरी, पिशुनता पीठ पीछे दूसरे का नाश करना, कृतघ्नता ये सब संकल्प और दुष्प्रवृत्तियां ऐसी बुरी होती हैं कि ये जिस पुरुष में रहती हैं उस पुरुष को खाजाती हैं, जिसमें ये रहती हैं उसके प्राणों तक की बलि लेलेती हैं । उनका परित्याग कर देना ही श्रेयस्कर है ।



[२५] पृश्निपर्णी ओषधि का वर्णन ।

चातन ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । पृश्निपर्णीस्तुतिः । १—३ अनुष्टुभः । ४ भुरिक् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

शं नो॑ दे॒वी पृ॑श्निप॒र्ण्यशं॒ निर्ऋ॑त्या अकः ।
उ॒ग्रा हि क॑ण्व॒जम्भ॑नी॒ ताम॑भक्षि॒ सह॑स्वतीम् ॥ १ ॥

भा०—(पृश्निपर्णी) पृश्निपर्णी नामकी ओषधि (देवी) दिव्यगुण वाली (नः) हमें (शं) कल्याण, सुख करे और (निर्ऋत्याः) निर्ऋति= पाप प्रवृत्ति को (अ-शं) कल्याण या सुख न (अकः) करे । वह (हि) क्योंकि (कण्वजम्भनी) पाप और पाप से उत्पन्न होने हारे कुष्ठ आदि रोगों को नाश करने में (उग्रा) बड़ी तीव्र और बलवती ओषधि है । (तां) उस (सहस्वतीं) रोगशमन करने के बलवाली ओषधि को मैं (अभक्षि) सेवन करता हूं ।

स॒हमा॑ने॒यं प्र॑थ॒मा पृ॑श्निप॒र्ण्य॑जायत ।
तया॒हं दु॒र्णाम्नां॒ शिरो॑ वृश्चामि श॒कुने॑रिव ॥ २ ॥

भा०—(सहमाना) रोग को रोकने में प्रबल (इयं) यह (प्रथमः) सबसे श्रेष्ठ ओषधि (पृश्निपर्णी) पृश्निपर्णी ही (अजायत) सिद्ध हुई है । (तया) उससे (दुर्नाम्नां) बुरे नाम वाले कुष्ठ आदि रोगों के (शिरः) मूल या पूर्व कारणों को भी (शकुनेः) पक्षी के शिर के समान सुगमता से (वृश्चामि) काट डालूं ।

---

[२५] १–(द्वि०) 'निर्ऋतमे करत्' (च०) 'तां त्वाहापं सहस्वतीम्' इति पैप्प० सं० ।
१ चित्रपर्णी इति सायणः । माषपर्णीति कात्यायनश्रौतसूत्रकारभाष्यकृत् । लक्ष्मणेति केचित् याच पुत्रजननी, पुंकन्दा, पुत्रकन्देति नाम्नी अस्ति । इति सायणसम्मतः पाठः ।

२–(प्र०) 'स्यान्वासि प्रथमा' (तृ० च०) 'तया कण्वस्यां शिरश्छिनभि शकुनेरिव' इति पैप्प० सं० ।

अरायमसृक्पावानं यश्चं स्फातिं जिहीर्षति ।
गर्भादं कण्वं नाशय पृश्निपर्णि सहस्व च ॥ ३ ॥

भा०—हे पृश्निपर्णि ! ओषधे ! तू (गर्भादं) गर्भ के विनाशक उस (कण्वं) जीवन को मिटा देने वाले रोग को (नाशय) मिटादे और (सहस्व च) उसके बुरे प्रभाव को रोक जो (अरायम्) देह की पुष्टि, कान्ति और लक्ष्मी का नाशक (असृक्पावानं) रक्त का पीजाने वाला रक्त को विकृत कर देने वाला और (यः च) जो (स्फातिं) शरीर की वृद्धि को (जिहीर्षति) नाश करता है ।

गिरिमेनाँ आ वेशय कण्वांञ्जीवितयोपनान् ।
तांस्त्वं देवि पृश्निपर्ण्यग्निरिवानुदहन्निहि ॥ ४ ॥

भा०—हे (देवि पृश्निपर्णि) दिव्य गुणों से युक्त पृश्निपर्णि ओषधे ! तू (एनान्) इन (कण्वान्) पापमूलक, जीवन को मिटा देने वाले या उदास कर देने वाले (जीवितयोपनान्) जीवन को संदेह में डालने वाले रोगों को (गिरिं) पर्वतों पर (आवेशय) भेजदे अर्थात् परे करदे । और (त्वं) तू (तां) उनको (अग्निरिव) अग्नि के समान (अनुदहन्) जलाती हुई (इहि) प्राप्त हो ।

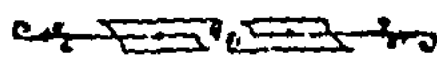
परा च एनान् प्र णुद कण्वाञ्जीवितयोपनान् ।
तमांसि यत्र गच्छन्ति तत्क्रव्यादो अजीगमम् ॥ ५ ॥

भा०—(एनान्) इन (जीवितयोपनान्) जीवन के संदेह जनक और (कण्वान्) जीवन के विनाशकारी कारणों को पराचः) दूर (प्रणुद) भगादे । मैं भी (यत्र) जहां (तमांसि) अन्धकार (गच्छन्ति) रहते हैं

३–'जिहीरिषति' इति क्वचित् पाठः । (च०) 'सहस्वति' इति पैप्प० सं० ।

(तत्) वहां (क्रव्यादः) कच्चा मांस खाने वाले हिंसक पशुओं के समान शरीर विनाशक रोगों को भी (अजीगमम्) भेज देता हूं ।

इस सूक्त में पृश्निपर्णी ओषधि के गुण दर्शाये हैं । पृश्निपर्णी के पृष्टिपर्णी, चित्रपर्णी, श्वपुच्छी, कलशी, धावनी, गुहा, शृगालविन्ना, शृगालपुच्छी, सिंहपुच्छी आदि नाम हैं । उसके गुण- कटु, उष्ण, अम्ल, तिक्त, अतिसार, कास, वातरोग, ज्वर, उन्माद, व्रण, दाह को नाश करती है । अथवा पृश्निपर्णी, सहमाना, सहस्वती ये नाम सहा नामक ओषधि के लिये हैं जिसको 'जीमूतक' भी कहते हैं इसके गुण–तिक्तोष्ण, कटु, पाण्डु, कद्रु, दुर्नाम, श्वास कास, कामला आदि रोग और मूत्रग्रह का नाशक है ।



[२६] इन्द्रियों और पशुओं का पालन ।

सविता ऋषिः । पशवो देवताः । १, २ त्रिष्टुभौ । ३ उपरिष्टाद् विराड् बृहती ४ । भुरिगनुष्टुप् । ५ अनुष्टुप् । पंचर्चं सूक्तम् ॥

एह यन्तु पशवो ये परेयुर्वायुर्येषां सहचारं जुजोषं ।
त्वष्टा येषां रूपधेयानि वेदास्मिन् तान् गोष्ठे सविता नि यच्छतु ॥ १ ॥

भा०—(सविता) गोपाल जिस प्रकार पशुओं को हांकता है और गोशाला में पुनः लाकर उनको नियम से खूंट में बांध देता है उसी प्रकार सब का प्रेरक और नियन्ता परमेश्वर (अस्मिन् गोष्ठे) इस गोरूप इन्द्रियों के निवासस्थान देह में (तान्) उन पशु इन्द्रियों को लाकर नियम में रखे । (त्वष्टा) समस्त संसार को अपनी शक्ति से रचने हारा ईश्वर जिनके (रूपधेयानि) रूप (वेद) जानता है और (ये पशवः) जो पशु=दर्शन

[२६] १–(द्वि०) 'सहतारंजु जोष' इति पैप्प० सं० ।

या विषय का ग्रहण और दर्शन करने वाले इन्द्रियगण (परेयुः) बाहर विषयों के ज्ञान के लिये चले जाते हैं (वायुः) वायुरूप सूत्रात्मा प्राण भी (येषां) जिनके (सहचारं) साथ २ गति किया करता है। वे पशुरूप इन्द्रियां (इह) इस देह में (आ यन्तु) पुनः आजावें।

इन्द्रियों के वर्णन के साथ २ गोशाला से पशुओं को बाहर ले जाना उनको शुद्ध वायु का सेवन कराना और उनको ठीक २ पहचान २ कर नियत २ स्थान पर उचित रूप से बांधने का भी उपदेश वेद ने किया है।

इमं गोष्ठं पशवः सं स्रवन्तु बृहस्पतिरा नयतु प्रजानन्।
सिनीवाली नयत्वाग्रमेषामाजग्मुषो अनुमते नि यच्छ ॥ २ ॥

भा०— (इमं गोष्ठं) इस इन्द्रियों के रहने के स्थान देह में (पशवः) विषयों को देखने हारी इन्द्रियरूप पशु (सं स्रवन्तु) उत्तम रीति से रहें और ठीक प्रकार से विषयज्ञान भी करावें। (बृहस्पतिः) बृहती=वाणी का स्वामी आत्मा (प्रजानन्) इन द्वारा समस्त बाह्यज्ञान प्राप्त करता हुआ इनको (आ नयतु) विषयों के प्रति प्रेरण करे और पुनः भीतर करे। (सिनीवाली) समस्त प्राणियों को अपने में बांधने वाली और सबको चेतना रूप से वरण करने वाली प्राणशक्ति (एषां) इनको (अग्रं नयतु) अपने आगे २ प्रेरित करे या सूक्ष्म रूप प्राप्त करावे। और हे कर्म करने और इन्द्रियों से विषय ग्रहण करके उनको पुनः मनन या ज्ञान करने वाली मनःशक्ते! बुद्धे! (आजग्मुषः) पुनः विषयों से लौट कर आई ज्ञानेन्द्रिय रूप पशुओं के समान स्वच्छन्द होकर व्यसनों में न जावे। सिनीवाली और अनुमति ये दोनों पुरुषरूप प्रजापति में उसी प्रकार हैं जिस प्रकार मासरूप प्रजापति में सिनीवाली और अनुमति अर्थात् अमावास्या और पूर्णिमा होती हैं। इनमें कृष्ण पक्ष रयि और शुक्ल पक्ष प्राण है। अतः

२—(च०) 'अनुमते नियच्छात' इति पैप्प० सं०।

शरीर में भी प्राणेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दो भाग हैं दोनों को नियम में रखने वाली दो शक्तियां सिनीवाली और अनुमति हैं। सिनीवाली प्राण-शक्ति है जो अन्न के बल पर सब इन्द्रियों को बांधती है और सब पर वश रखती है। दूसरी अनुमति है जो इन्द्रियों से गृहीत विषय को मनन करती है और आत्मा को ज्ञान कराती है।

सं सं स्रवन्तु पशवः समश्वाः समु पूरुषाः।
सं धान्य/स्य या स्फातिः संस्राव्ये॑ण हविषा जुहोमि ॥ ३ ॥

भा०—(पशवः) पशु (सं सं स्रवन्तु) हमारे पास आवें। (अश्वाः सम्) और अश्व भी हमारे पास आवें। (पूरुषाः सम्) पुरुष भी हमारे पास आवें। (या धान्यस्य स्फातिः) जो धान्य की वृद्धि, सम्पत्ति है वह भी (सं) प्राप्त हो. मैं (संस्राव्येण) उत्तम रीति से इन सब पदार्थों के प्राप्त करने हारे (हविषा) उपाय से (जुहोमि) इन सबको प्राप्त करने का यत्न करता हूं। अध्यात्म पक्ष में पशवः=ज्ञानेन्द्रियगण, अश्वाः=कर्मेन्द्रिय, पुरुषाः=अन्तःकरण या जीव, धान्यं=विषय ज्ञान. संस्राव्यंहविः=इनकी प्रेरणा और वशीकरण का उपाय, योगाभ्यास।

सं सिञ्चामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम्।
संसिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ ॥४॥

भा०—(गवां क्षीरं) गौओं के दूध के समान मधुर ज्ञान रस को मैं (सं सिंचामि) उत्तम रूप से प्रवाहित करता हूं। और (आज्येन) घृत के

३-(द्वि०) 'समु पौरुषाः' 'धान्यस्यसंस्फातिभिः' इति पैप्प० सं०।

१. प्रसमुपादः पादपूरणे, इति समत्र पादपूरणः।

४-(द्वि०) बलं रसम (तृ०) संसिक्तास्माकं वीरानपि गावश्च गोपतौ' इति पैप्प० सं०। अरिष्टा अस्माकं वीरा मयिगाव सन्तुगो पतौ इति भी श्रौ० सू०।

समान पुष्टिकारक तेज के सहित (रसम्) आनन्दजनक हर्ष और (बलं) बलको भी (सं सिंचामि) धारण करते हैं । (अस्माकं वीराः) इस प्रकार हमारे वीर, प्राण एवं पुत्रगण भी बल, हर्ष और आनन्द से (सं सिक्ताः) आप्लावित, परिपूर्ण हों और (मयि) मुझ (गोपतौ) इन्द्रिय रूप गौओं के स्वामी के पास (गावः) इन्द्र रूप गौवें (स्थिराः) स्थिर रूप से रहें ।

इस मन्त्र में दूध, घी, रस और बल के साथ २ ज्ञान, बल और आनन्द की प्रार्थना है और गौओं और प्राणों के साथ पुत्र और पशुओं की भी प्रार्थना है ।

आ हरामि गवां क्षीरमाहार्षं धान्यं१ रसम् ।
आहृता अस्माकं वीरा आ पत्नीरिदमस्तकम् ॥ ५ ॥

भा०—मैं (गवां क्षीरं) गौओं का दूध और इन्द्रियों का ज्ञान (आहरामि) प्राप्त करता हूं । (धान्यं) धान्य और (रसं) अन्न के स्वादु रस और ग्राह्य विषय और उनसे प्राप्त होने वाले सुख को भी (आहार्षम्) प्राप्त करता हूं । (अस्माकं वीराः) हमारे पुत्र, वीर और प्राण भी (आहृताः) हमारे पास हमारे वश हैं (पत्नीः) यह स्त्री और यह बुद्धि भी हमारे पास है (इदम्) यह (अस्तकम्) घर के समान हमारा शरीर भी हमें प्राप्त है ।

इति चतुर्थोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि नव ऋचश्चाष्टाचत्वारिंशत् ।]



५–(द्वि०) 'क्षीरमहार्षं' (तृ०) अहरिषमस्याकं वीरान् आपत्नीमेदमस्तकम् इति पैप्प० सं० ।

[२७] ओषधि के दृष्टान्त से चितिशक्ति का वर्णन ।

कपिञ्जलऋषिः । वनस्पतिर्देवता । १—४ अनुष्टुभः सप्तर्चं सूक्तम् ।

नेच्छत्रुः प्राशं जयाति सहमानाभिभूरसि ।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥ १ ॥

भा०—चितिशक्ति का ओषधि के दृष्टान्त से विवरण करते हैं। हे ओषधे ! ओषधि के समान शरीर के ओष=उष्णता को धारण कराने वाली जीवनशक्ते ! (शत्रुः) शत्रु या तेरे विलोपकारी पदार्थ भी (प्राशं) उत्तम रूप से व्यापक आत्मा को (न इत्) नहीं (जयाति) जीत सकता। क्योंकि तू (सहमाना) सहनशील, शत्रु का नाश करने और उसको (अभिभूः असि) दवा डालने में समर्थ है । (प्राशं प्रतिप्राशः) प्रबल रूप से हृदय में व्यापने वाले शोक मोह क्रोध आदि भावों को (प्रतिप्राशः) उनके विपरीत भावना द्वारा हृदय में व्याप्त होकर वादी को प्रति वादी के समान (जहि) विनाश कर और उनको (अरसान्) तुच्छ निर्बल (कृणु) कर ।

सुपर्णस्त्वान्वविन्दत् सूकरस्त्वाखनन्नसा ।
प्राशं० ॥ २ ॥

भा०—(सुपर्णः) शोभन ज्ञानवान्, विद्वान् पुरुष (त्वा) तुझको (अनु अविन्दत्) खोज कर प्राप्त कर लेता है । (सूकरः) प्राण रूप वायु या प्राणायाम का उत्तम अभ्यासी । (त्वा) तुझे (नसा) घ्राणेन्द्रिय द्वारा प्राणायाम का अभ्यास करके (अखनत्) गुप्त गुहा से खोद लेता है, तेरा मूल जान लेता है । (प्राशं प्रतिप्राशः) पूर्व वत् ।

[२७] १–(प्र०) 'यच्छत्रून् समजयत्', (तृ०) 'साभून्प्रतिप्राशो जय रसाकृण्वोषधे' इति पैप्प० सं० ।

इन्द्रो ह चक्रे त्वा बाहावसुरेभ्य स्तरीतवे ।
प्राशं० ॥ ३ ॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् इन्द्र आत्मा (त्वा) तुझको (असुरेभ्यः) असुर काम क्रोध लोभ मोहमद मात्सर्य आदुष्ट भावों को (स्तरीतुम्) विनाश करने के लिये (बाहौ) अपनी बाहू रूप शक्ति पर (चक्रे) धारण करता है । शेष पूर्ववत् ।

पाटामिन्द्रो व्या/श्नादसुरेभ्य स्तरीतवे ।
प्राशं० ॥ ४ ॥

भा०—(असुरेभ्यः) असुरों, आसुरी भावों को (स्तरीतवे) विनाश करने के लिये (इन्द्रः) इन्द्र आत्मा (पाटाम्) दीप्तमती तुझ आत्मशक्ति विज्ञानमयी, विवेक ख्याति रूप प्रत्यक् चेतना शक्ति को (व्याश्नाद्) उपभोग करता है । (प्राशं० इत्यादि) पूर्ववत् ।

तयाहं शत्रून्त्साक्ष इन्द्रः सालावृकाँ इव ।
प्राशं० ॥ ५ ॥

भा०—(अहं) मैं (इन्द्रः) साक्षाद् आत्मा (तया) उस चेतना शक्ति से (शत्रून्) अपने अन्तःशत्रुओं को (सालावृकान् इव) कुक्कुरों के समान (साक्षे) तिरस्कार करता हूं और (प्राशं प्रतिप्राशं० इत्यादि) पूर्ववत् ।

३–'तरीतवे' इति पदच्छेदः सायणसम्मतः ।
४–'पाठामिन्द्रः' इति पाठः सायणसम्मतः । 'पाय [टा] मिन्द्रो व्यश्नन् हन्तवेसुरेभ्यः' इति पैप्प० सं० ।
५–'साक्षिये इन्द्रः' इति पैप्प० सं० ।

रुद्र जलाषभेषज नीलशिखण्ड कर्मकृत् ।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥ ६ ॥

भा०—हे (रुद्र) रुद्र ! ब्रह्म का उपदेश करने हारे आचार्य ! शब्द ब्रह्मरूप से सबके हृदय में व्यापक ! या सबको अन्तकाल में रुलाने हारे ! या सब पर करुणा से दया करने हारे ! या रुत् नाम संसार दुःख को विनाश करने हारे ! हे (जलाषभेषज) सुखस्वरूप सबके चिकित्सक ! भवरोग-निवारक, हे (नीलशिखण्ड) नीलशिखा युक्त अथवा मनोहर कान्तिमय ! हे (कर्मकृत्) सकल कर्म के कर्त्ता आत्मन् ! और हे (ओषधे) समस्त भवरोग के नाशक परम चरम उपायभूत ! (प्राशं प्रतिप्राशः) व्यापक आत्मा की शक्तियों के विनाशक (अरसान्) आनन्द रस से शून्य, संतापजनक विषयों को (जहि) विनाश कर और उनको (अरसान् कृणु) नीरस बना दे ।

तस्य प्राशं त्वं जहि यो न इन्द्राभिदासति ।
अधि नो ब्रूहि शक्तिभिः प्राशि मामुत्तरं कृधि ॥ ७ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (यः) जो (नः) हमें (अभि दासति) विनाश करता है (तस्य) उसके (प्राशं) उत्तम भोग सामर्थ्य को (त्वं जहि) तू नाश कर । और (शक्तिभिः) अपनी ज्ञानशक्तियों से (नः) हमें (अधि ब्रूहि) उत्तम उपदेश कर । (प्राशि) प्रश्न करने हारे के ऊपर (माम्) मुझको (उत्तरं) उत्कृष्ट ज्ञानवान् (कृधि) कर अथवा (प्राशि) हृदय में मोहरूप से व्यापने वाले अज्ञान पर मुझे (उत्तरं कृधि) अधिक शक्ति वाला बना ।

सायण के मत से—यह सूक्त 'पाटा' नामक औषध पर लगता है ।

६–(तृ० च०) पृष्ठ दुरस्यतो जहियोऽस्मान् अभिदासति' इति पैप्प० सं० ।

७–'प्राशं मामुत्तरं' इति सायणसम्मतः पाठः । 'तस्य पृष्टं' इति पैप्प० सं० ।

उसके मत से प्राश=प्रश्नकर्त्ता। प्रतिप्राश=प्रतिवादी। पाटानाम ओपधि से अपने शत्रु पर या प्रतिवादी पर विजय पाने की प्रार्थना है। परन्तु चतुर्थ मन्त्र में 'पाद्य' शब्द को सायणने 'पाठा' समझ लिया।

[२८] दीर्घायु की प्रार्थना।

शम्भुर्ऋषिः। जरिमायुर्देवता। १ जगती, २-४ त्रिष्टुभः, ५ भुरिक्। पञ्चर्चं सूक्तम्॥

तुभ्यमेव जरिमन् वर्धतामयं मेममन्ये मृत्यवो हिंसिषुः शतं ये।
मातेव पुत्रं प्रमना उपस्थे मित्र एनं मित्रियात् पात्वंहसः॥ १॥

भा०—हे (जरिमन्) सब को जीर्ण करने हारे वार्धक्यकाल ! हे बुढ़ापे ! अथवा हे स्तुति योग्य अग्ने ! (अयं) यह बालक (तुभ्यम् एव) तेरे तक पहुंचने के लिये ही (वर्धताम्) वृद्धि को प्राप्त हो (अन्ये मृत्यवः) और नाना प्रकार के देह को आत्मा से पृथक् करने वाले कोई भी प्रबल कारण (इमम्) इसको (शतं) सौ बरस तक (मा हिंसिषुः) न मारें, कष्ट न दें। (माता पुत्रम् इव) जिस प्रकार माता पुत्र को पालन करती है और सब विपत्तियों से बचाती है उसी प्रकार (मित्रः) मृत्यु से रक्षा करने वाला परमात्मा (प्रमनाः) प्रकृष्ट, उत्तम ज्ञानवान् प्रसन्न होकर (उपस्थे) अपनी गोद में धर कर (एनं) इसको (मित्रियात्) मित्रों के किये हुए (अंहसः) द्रोहादि पापाचरण व्यवहार से (पातु) रक्षा करे, बचावे।

मित्र एनं वरुणो वा रिशादा जरामृत्युं कृणुतां संविदानौ।
तदग्निर्होता वयुनानि विद्वान् विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति॥२॥

[२८] १-'हिंसिषुः त्वत्', (च०) 'मित्रेन' इति पैप्प० सं०।
२-(प्र०) मित्रश्त्वा वरुणश्च रिशादौ (च०) 'जनिमानि वक्ति' इति पैप्प० सं०।

भा०—(मित्रः) मृत्यु से त्राण करने वाला प्राण और (वरुण) शरीर के सब कष्टों का वारण करने वाला अपान (रिशादा) दोनों हिंसा या प्राणापहरण करने वाले कारणों के विनाशक होकर (संविदानौ) परस्पर मिल कर एकचित्त होकर, एक दूसरे की शक्ति को प्राप्त होकर इस बालक को (जरामृत्युं) जरा काल में देह त्याग करने हारा (कृणुतां) करें। (होता) अन्नादिका भक्षण करने वाला या प्राण और अपान दोनों की आहुति करने वाला (अग्निः) जाठर-अग्नि या ज्ञानी अभ्यासी (वयुनानि) समस्त ज्ञान करने योग्य ज्ञानों और कर्मों को और लोकों को (विद्वान्) जानता हुआ (देवानां) देवों के, इन्द्रियों के भी (विश्वा) समस्त (जनिमा) जन्म अर्थात् प्रादुर्भाव होने के रहस्यों, लक्षणों को (विवक्ति) उपदेश करता है या वह अग्नि, परमात्मा समस्त ज्ञानों का स्वामी (विश्वा देवानां) समस्त देवों के (जनिम् आविवक्ति) जीवों के उत्पत्ति के रहस्य का उपदेश करता है।

त्वमी॑शिषे प॒शूनां॒ पार्थि॑वानां॒ ये जा॒ता उ॒तत्रा ये ज॒नित्राः॑ ।
मेमं प्रा॒णो हा॑सी॒न्मो अ॑पा॒नो मेमं मि॒त्रा व॑धिषु॒र्मो अ॒मित्राः॑ ॥ ३ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! (त्वं) तू (पार्थिवानां) पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाले (पशूनां) जीवों में से (ये जाताः) जो उत्पन्न हुए और (ये जनित्राः) जो उत्पन्न होंगे उन सबका (ईशिषे) स्वामी है। इस कारण परमात्मन् ! आप से प्रार्थना है कि (इमं) इस बालक को (प्राणः) प्राण (मा हासीत्) न त्याग करे। और (मित्राः) मित्र लोग (मा वधिषुः) इसके प्राणों का नाश न करें और (अमित्राः उ मा) शत्रु भी इसका वध न करें।

३–'उतत्रा ये जनित्वाः' इति क्वाचित्कः पाठः। 'उतते जनित्वाः' (तृ०) 'घोपानो', (च०) 'मित्रो मो वधि' इति पैप्प० सं०।

द्यौष्ट्वा पिता पृथिवी माता जरामृत्युं कृणुतां संविदाने ।
यथा जीवा अदितेरुपस्थे प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमाः ॥४॥

भा०—हे बालक ! (द्यौः) द्यौ प्रकाशस्वरूप और रमण करने वाला, उत्पादक सूर्य के समान पिता और (पृथिवी) विशाल हृदय वाली, गर्भ में धारण करने वाली पृथिवी के समान (माता) माता दोनों (संविदाने) एक मति होकर (त्वा) तुझको (जरामृत्युं) वृद्धावस्था में देह छोड़ने में समर्थ (कृणुतां) करें । यह (अदितेः) इस पृथिवी की (उपस्थे) गोद में (प्राणापानाभ्यां) प्राण और अपान दोनों से (गुपितः) रक्षित होकर (शतं हिमाः) सौ वर्षों तक (जीवाः) जीवे ।

इममग्न आयुषे वर्चसे नय प्रियं रेतो वरुण मित्रराजन् ।
मातेवास्मा अदिते शर्म यच्छ विश्वे देवा जरदष्टिर्यथासत् ॥ ५ ॥

भा०—हे अग्ने ! देव ! (इमम्) इस पुत्र को (आयुषे) दीर्घ आयु और (वर्चसे) तेज और बल के लिये (नय) प्राप्त करा । हे वरुण ! हे मित्र ! हे राजन् ! यह हमारा ही (प्रियं) प्रिय (रेतः) वीर्य है, इसलिये हे (अदिते) अखंडचारित्रा पृथिवी ! आप (माता इव) माता के समान (अस्मा) इसको (शर्म) सुख और शरण (यच्छ) दो । और हे (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान् पुरुषो और दिव्य पदार्थो ! आपके बल पर यह (यथा) जिस प्रकार (जरदष्टिः) जराकाल तक जीवन यापन करने वाला (असत्) हो ।

४–(प्र०) 'द्यौस्ते पिता' (द्वि०) 'कृणुतां दीर्घमायुः' (तृ०) यथा जीवा रित्या (दित्या)' इति पैप्प० सं० ।

५–(द्वि०) 'प्रियो रेतो' 'कृधि प्रियं' तै० स० । 'तिग्मौजाः वरुण' इति मै० स० । 'वरुण सशिशाधि' इति तै० आ० (तृ०) 'शर्म यंसत्' इति शा गृ० सू० ।

[२९] ब्रह्मचर्य और दीर्घ जीवन की प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ता बहवो देवताः । १ अनुष्टुप् । २, ३, ५-७ त्रिष्टुभः । ४, पराबृहती निचृत्प्रस्तारा पंक्तिः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

पार्थिवस्य रसे देवा भगस्य तन्वो३ बले ।
आयुष्य/मस्मा अग्निः सूर्यो वर्च आ धाद् बृहस्पतिः ॥ १ ॥

भा०—(अस्मै) इस पुरुष को (देवाः) दिव्यगुण सम्पन्न दिव्य पदार्थ (अग्निः) अग्नि (सूर्यः) सूर्य और (बृहस्पतिः) समस्त बड़े लोकों का पालक और वेद वाणी का पालक परमेश्वर (पार्थिवस्य) पृथिवी से उत्पन्न (भगस्य) सेवन करने योग्य, भोगायतन इस (तन्वः) शरीर के (बले) बलस्वरूप (रसे) सारिष्ठ भाग वीर्य में (आयुष्यम्) दीर्घ आयु के लिये परम आवश्यक (वर्चः) तेज को (आधात्) आधान करते हैं । इसलिये रोग से मुक्त होने के लिये और कुमारों को पुष्ट करने के लिये उनको ब्रह्मचर्य का पालन कराना आवश्यक है ।

आयुरस्मै धेहि जातवेदः प्रजां त्वष्टरधि निधेह्यस्मै ।
रायस्पोषं सवितरा सुवास्मै शतं जीवाति शरदस्तवायम् ॥२॥

भा०—हे (जातवेदः) समस्त पदार्थों में व्यापक या उनको जानने हारे अग्ने ! परमात्मन् (अस्मै) इस कुमार ब्रह्मचारी को (आयुः) दीर्घ आयु (धेहि) प्रदान करो । हे (त्वष्टः) समस्त शरीरों को रचना करने हारे परमात्मन् ! (अस्मै) इस कुमार के शरीर में (प्रजां) सन्तति उत्पन्न करने का विशेष सामर्थ्य (अधि निधेहि) स्थापित करो । हे (सवितः) सबके उत्पादक और प्रेरक परमात्मन् ! (अस्मै) इसको (रायस्पोषं) धन,

[२९] १-(तृ० च०) 'आयुरस्मै सोमो वर्च धाता बृहस्पतिः' इति पैप्प० सं० ।
२-(द्वि०) 'अधिनिधेह्यस्मिन्' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

जीवन और देह का पालन पोषण सामर्थ्य (आ सुव) प्रदान करो। (अयम्) यह कुमार (शतं शरदः) सौ वर्षों तक (जीवाति) जीवे।

आशीर्ण ऊर्जमुत सौप्रजास्त्वं दक्षं धत्तं द्रविणं सचेतसौ।
जयं क्षेत्राणि सहसायमिन्द्र कृण्वानो अन्यानधरान्त्सपत्नान् ॥३॥

भा०—हे माता और पिता ! आप दोनों (सचेतसौ) समान चित्त होकर (नः) हमारे (आशीः) आशीर्वाद धारण करो (उत) और (सौप्रजास्त्वं) उत्तम प्रजाओं के उत्पादक सामर्थ्य (दक्षं) बल और (द्रविणं) ऐश्वर्य को (धत्तं) धारण करो और (जयं) जय (क्षेत्राणि) और धन धान्य सम्पन्न खेतों को प्राप्त करो। हे इन्द्र ! परमात्मान् ! (अयम्) यह कुमार नव गृहपति (अन्यान्) और (सपत्नान्) अपने शत्रुओं को (अधरान्) नीचा (कृण्वानः) दिखाता हुआ (जयं) जय को और (क्षेत्राणि) धान्य सम्पन्न क्षेत्रों को भी प्राप्त करे।

इन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टो मरुद्भिरुग्रः प्रहितो न आगन्।
एष वां द्यावापृथिवी उपस्थे मा क्षुधन्मा तृषत् ॥ ४ ॥

भा०—यह पुरुष (इन्द्रेण) इन्द्र ऐश्वर्यशील राजा से (दत्तः) नाना पदार्थ प्राप्त करके (वरुणेन) सबसे श्रेष्ठ आचार्यरूप परम गुरु से (शिष्टः) शिक्षित होकर (मरुद्भिः) विद्वान् पुरुषों देवों, प्राणों और प्रजाओं से (प्रहितः) योग्य कार्य में नियुक्त हुआ (नः) हमारे पास (आगन्) आवे

३—'आशीर्णे' इति वेवरकामितः पाठः। 'आशीर्मे' इति तै० सं०। इञ्च दधातु द्रविणं सुवर्चसम्' तै० सं०। मै० सं०, (प्र०) 'उत सुप्रजस्त्वं' इति पैप्प० सं०। 'सं जयात् क्षेत्राणि' इति पैप्प० सं०। 'सजयान्' इति मै० सं०, तै० सं०।

४—'वरुणेन सृष्टो', 'द्यावापृथिवी परिददामि. सामातृपत्' इति पैप्प० सं०।

हे (द्यावा पृथिवी) द्यौ और पृथिवी माता और पिता जनो ! (वां) आप दोनों के उपस्थे) गोद, रक्षा में रहकर वह कभी (मा क्षुधत्) भूखा न रहे और (मा तृपत्) और कभी प्यास से पीड़ित न हो।

ऊर्जमस्मा ऊर्जस्वती धत्तं पयो अस्मै पयस्वती धत्तम्।
ऊर्जमस्मै द्यावापृथिवी अधातां विश्वेदेवा मरुत ऊर्जमापः ॥५॥

भा०—हे (द्यावा पृथिवी) माता और पिता ! (अस्मै) इस कुमार को आप दोनों (ऊर्जस्वती) अन्न और बल धारण करने वाली होकर (ऊर्जं) बल और अन्न का (धत्तं) दान करो और (पयस्वती) दूध और रस वाली हो कर (पयः) पुष्टिकारक पदार्थ (धत्तम्) प्रदान करो। (अस्मै) इसमें द्यौ और पृथिवी (ऊर्जं) बल और अन्न रस (अधातां) धारण करावें (विश्वे देवाः) समस्त देव, विद्वान् गण और दिव्य पदार्थ और (मरुतः) ज्ञानी पुरुष और व्यवहारविज्ञ व्यापारीगण और (आपः) आप्तजन या समस्त प्रजाएं (ऊर्जम्) पुष्टिकारक बल प्रदान करें।

शिवाभिष्टे हृदयं तर्पयाम्यनमीवो मोदिषीष्ठाः सुवर्चाः।
सवासिनौ पिबतां मन्थमेतमश्विनो रूपं परिधाय मायाम् ॥ ६ ॥

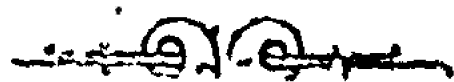
भा०—हे कुमार ! (ते) तेरे (हृदयं) हृदय को (शिवाभिः) कल्याणकारिणी शिक्षाओं से और शरीर को कल्याणकारी जलधारों से (तर्पयामि) तृप्त करता हूं। तू (अनमीवः) अमीव=रोग रहित होकर (सुवर्चाः) उत्तम ब्रह्मचर्य से प्राप्त तेज से सम्पन्न हो कर (मोदिषीष्ठाः) अति प्रसन्न रह। हे माता पिताओ, वर वधुओ ! आप दोनों (अश्विनोः) आत्मवान् जितेन्द्रिय, पथ्यकारी, ज्ञानी स्त्री पुरुषों का (रूपं) स्वरूप (मायां) और शोभा को (परिधाय) धारण करके (सवासिनौ[1]) एक ही

१. सवासिनौ-समानं वस्त्रं वसानौ एकत्र वसन्तौ वा इति सायणः। आच्छादनार्थस्य निवासार्थस्य वा वसतेर्व्रते णिनिः। व्रतं शास्त्रीयो नियमः। समानस्य च्छन्दसि सभावः।

व्रत में निष्ठ होकर दोनों समान रूप के वस्त्र धारण करके, या एकत्र रहकर (एतं) इस बलोत्पादक (मन्थम्) सत्तु के बने घोल को (पिबतां) पान करो। जिससे आप दोनों का बल बढ़े और स्वास्थ्य बना रहे। कुमार ब्रह्मचर्य पालन करें और मां बाप सदा पुष्टिकर अन्नों का उपभोग करें, व्रतनिष्ठ रहकर एकसे वस्त्र वहन कर, समान रूप से धर्म-कार्य किया करें।

इन्द्र॑ ए॒तां स॑सृजे वि॒द्धो अग्र॑ ऊ॒र्जां स्व॒धाम॒जरां॒ सा त॑ ए॒षा ।
तया॒ त्वं जी॑व श॒रदः॑ सु॒वर्चा॒ मा त॒ आ सु॑स्रोद् भि॒षज॑स्ते अक्रन् ॥७॥

भा०—हे कुमार! (इन्द्र) ज्ञानवान् पुरुष ने (विद्धः) भूख दुर्बलता एवं रोगों से पीड़ित होकर स्वयं (अग्रे) प्रथम ही (अजरां) न जीर्ण होने वाली, अविनश्वर, प्रभावकारिणी (ऊर्जां) बलकारिणी, रसायन रूप (स्वधां) अमृतरूप (एतां) इस अन्न को (ससृजे) उत्पन्न किया है। हे पुरुष! हे कुमार! (तया) उस अन्न के बल पर (त्वं) तू (सुवर्चाः) उत्तम तेजस्वी होकर (शरदः) सौ वर्ष तक (जीव) जीवन का भोग कर (ते) तेरा प्राप्त किया हुआ बलवीर्य (मा आ सुस्रोत्) कभी स्रवित न हो, क्योंकि इस प्रकार की व्यवस्था (भिषजः) रोगों को दूर करने हारे विद्वानों ने ही (ते) तेरे लिये (अक्रन्) बनाई है। अन्न खाकर जीवन यापन करने और वीर्य का पालन करने से दीर्घायु होता है यही सब वैद्य डाक्टरों की व्यवस्था है।



७–'अग्रमूर्जं' इति सायणसम्मतः पाठः। 'ससृजे विद्धोअग्रम ऊर्जस्वधामजरा [रा] मेतमेषा'। इति पैप्प० सं०।

[३०] प्रेमपूर्वक स्वयंवर-विधान ।

प्रजापतिः ऋषिः । अश्विनौ देवता । १ पथ्यापंक्तिः । ३ भुरिक् । २, ४, ५ अनुष्टुभः । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

यथेदं भूम्या अधि तृणं वातो मथायति ।
एवा मंथ्नामि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नपगा असः ॥१॥

भा०—कन्या के प्रति विवाहेच्छु युवक कुमार इस प्रकार विचार करे । (यथा) जिस प्रकार (इदं तृणं) इस तृण को (भूम्या अधि) इस पृथ्वी पर (वातः) वायु का झकोरा (मथायति) उड़ाये फिरता और घुमाता फिराता है (एवा) उसी प्रकार (ते मनः) तेरे मन को मैं (मथ्नामि) अपने साथ २ लिये फिरता हूं । अर्थात् तेरे मन को मैं अपने वश करता हूं । (यथा) जिस प्रकार तू हे मेरे अभिलाषा की पात्र कुमारि ! तू (मां) मुझे ही (कामिनी) चाहने वाली (असः) हो । और (यथा) जिस प्रकार तू (मत्) मुझे छोड़ कर (अपगा) अन्यत्र जाने वाली (न असः) न हो । अर्थात् कुमार विवाह के पूर्व कुमारी के चित्त को इतना अधिक खेंचले कि वह उसी की अभिलाषा करे और उसको त्याग कर अन्य को वरण करने की कभी न सोचे । इतना प्रेमाकर्षण होने पर विवाह होना चाहिये ।

सं चेन्नयाथो अश्विना कामिना सं च वक्षथः ।
सं वां भगासो अग्मत सं चित्तानि समु व्रता ॥ २ ॥

---

[३०] १–(प्र०) 'यथेदं भूम्याधिवत [?] स्तृणं' (प०) 'एवा ममत्वायसि' इति पैप्प० सं० ।

२–(तृ०) 'सं नौ भगासो' इति ह्विटनिकामितः पाठः । (प्र०) 'सं चेन्निषितो', (तृ० च०) 'सर्वाङ्गनस्याग्मत सं चक्षूंषि समुव्रता' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (अश्विनौ) आत्मवान् जितेन्द्रिय कुमार और कुमारी ! तुम दोनों (चेत्) यदि गृहस्थ रथ में अश्वी=आत्मवान् होकर, स्वतः कर्त्ता होकर गृहस्थ के कार्य (नयाथः) उठाने में समर्थ होओ, (च) और (कामिना) एक दूसरे के प्रति प्रेम, अभिलाषा वाले होकर एक दूसरे के भार को (संवक्षथः) मिल कर उठाने में समर्थ होओ, तब (वां) तुम दोनों के (भगासः) समस्त ऐश्वर्य भी (सं अग्मत) समानरूप से तुम्हें प्राप्त हों, (चित्तानि) तुम्हारे हृदय के सब संकल्प (सं) एक होकर रहें (व्रता उ) और सब शास्त्र प्रतिपादित धर्मकार्य, यम नियम आदि व्रत भी (सम्) समानरूप से रहें और तुम दोनों मिल कर गृहस्थ होकर रहो । अन्यथा नहीं । विवाह होने के लिये युवक युवति के आत्मा एक, मनोरथ एक, चित्त और व्रत भी एक होने उचित हैं ।

यत्सु॑प॒र्णा वि॑व॒क्षवो॑ अनमी॒वा वि॑व॒क्षवः॑ ।
तत्र॑ मे गच्छता॒द्धवं॑ श॒ल्य इ॑व॒ कुल्म॑लं॒ यथा॑ ॥ ३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (शल्यः) कांटा, तीक्ष्ण सुई (कुल्मलं) कोमल फूल की कली को वेध जाता है उसी प्रकार (मे) मेरी (हवं) यह हार्दिक पुकार (तत्र) उस दिल पर (गच्छतात्) पड़े (यत्) जिसके विषय में (सुपर्णाः) संदेश लाने वाले उत्तम ज्ञानी पुरुष या पक्षिगण भी (विवक्षवः) मुझे संदेश बतलाना चाहते हैं और (अनमीवाः) नीरोग पुरुष भी (विवक्षवः) मुझे आरोग्यता आदि का संदेश दें ।

विवाहेच्छु कुमार विद्वान् संदेशहर और आरोग्यकारी वैद्यों का निर्णय प्राप्त करके अपने भावी गृहस्थ के लिये शुभाङ्गी स्त्री के प्रति अपनी अनुमति दे ।

३-(प्र०) 'यः सु [त्सु] पर्णा रक्षाणा [?] वा न वक्षणा [?] वा जातानर्पितं [वा यत्रार्पितं] मनः शल्येवा गुल्मळं यथा । इति पैप्प० सं० ।

यदन्तरं तद् बाह्यं यद् बाह्यं तदन्तरम् ।
कुन्या/नां विश्वरूपाणां मनो गृभायौषधे ॥ ४ ॥

भा०—(विश्वरूपाणां) सब प्रकार से सब अङ्गों में रूपवती, सुसंगठित, उत्तम, अनवद्य, अनिन्दित शरीरवाली शुभांगी (कन्यानां) कन्याओं के (यद् अन्तरं) जो भीतर चित्त में होता है (तद् बाह्यं) वही उनके बाहर वाणी में भी होता है और (यद् बाह्यं) जो वे बाहर वाणी से प्रकट करती हैं (तद् अन्तरं) वही वे हृदय में चिन्तन किया करती हैं । हे (ओषधे)[1] अन्न आदि पुष्टिकारक पदार्थ तू प्रेमपूर्वक खाया जाकर (मनः) कन्या या वरण योग्य कुमारी के चित्त को (गृभाय) ग्रहण कर । अर्थात् विवाह के अवसर पर वर वधू परस्पर अन्न खाकर बाह्य के वचन और भीतरी हृदय को एक करलें और प्रेम से रहें । सर्वाङ्गों में शुभ कन्याएं बड़ी सदाचारिणी और सत्यवादिनी होती हैं । जो दुराचारिणी और असत्यवादिनी होती हैं उनके शरीरों की रचना में बहुत दोष होते हैं यह लक्षणवेत्ताओं का अनुभव है ।

" ओं अन्नपाशेन मणिना प्राणसूत्रेण ग्रन्थिना । बध्नामि सत्यग्रन्थिना मनश्च हृदयं च ते । " यह ब्राह्मणमन्त्र विवाह की उत्तर विधि में पढ़ा जाता है, इससे वर अपना खाया अन्न शेष वधू को खिलाता है ।

एयमंगन् पतिकामा जनिकामोहमागमम् ।
अश्वः कनिक्रदद् यथा भगेनाहं सहागमम् ॥ ५ ॥

भा०—दोनों का विवाह होजाने पर या विवाह के अवसर पर वर कहता है- इयम्) यह वधू (पतिकामा) पति की अभिलाषा वाली होकर (आ अगन्) विवाहवेदी पर आवे और (अहम्) मैं (आगमम्) यहां (जनिकामः) पुत्रोत्पादन में समर्थ भार्या की अभिलाषा वाला होकर

४—' यदन्तरं तद् बाह्यं ' इति पैप्प० सं० ।

(आगमम्) यहां आऊं, (यथा अश्वः कनिक्रदद्) जिस प्रकार अश्व घोड़ी को देखकर हिनहिनाता है और प्रसन्न होता और अपनी प्रणयिनी को बुलाता है उसी प्रकार मैं भी (कनिक्रदद्) अपने हृदय और वाणी से प्रियतमा को बुलाता हुआ (भगेन सह) ऐश्वर्य के साथ (अगमम्) युक्त होऊं।

इसी प्रकार स्त्री भी विचार करे कि मैं पतिकामा हूं यह भार्याकाम है मैं इस सौभाग्यशील पति के साथ युक्त होजाऊं।

वेदमन्त्र भी है–' भगस्तेहस्तमग्रभीत्। '



[३१] रोगकारी जन्तुओं के नाश करने का उपदेश।

कण्व ऋषिः। मही चन्द्रो वा देवता। १, अनुष्टुप। २, ४ उपरिष्टाद् विराड् बृहती। ३ आर्षी त्रिष्टुप्। पञ्चर्चं सूक्तम्॥

इन्द्र॑स्य या मही दृषत् क्रिमे॒र्विश्व॑स्य तर्ह॑णी।
तया॑ पिनष्मि॒ सं क्रिमा॑न् दृषदा॒ खल्वाँ॑ इव॥ १॥

भा०—रोगकारक जन्तुओं के नाश करने का उपदेश करते हैं-(इन्द्रस्य) उस तेजस्वी सूर्य की (या) जो (मही) बड़ी भारी (दृषत्) विदारण करने वाली (विश्वस्य) समस्त (क्रिमेः) फैलने वाले रोग जन्तुओं की (तर्हणी) विनाशकारिणी शक्ति है (तया) उससे (क्रिमीन्) सब रोगकारी क्रिमियों को (सं पिनष्मि) एक साथ ही ऐसा पीसकर विनाश करूं जैसे (दृषदा) चक्की की शिलासे (खल्वान् इव) चनों को पीस डाला जाता है। सूर्य, वायु, प्राण और आत्मा ये इन्द्र शब्द से कहे जाते

[३१] १-(प्र०) ' महीधृषत् ', ' क्रमे ' इति कांचित्कौ पाठौ।

हैं। इनकी शक्ति से रोगजन्तुओं को इस प्रकार नाश करना चाहिये कि रोगजन्तुओं के शरीर इनकी उग्र शक्ति से कट फट जावें।

दृष्टमदृष्टमतृहमथो कुरूरुमतृहम्।
अल्गण्डून्त्सर्वाञ् छलुनान् क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि ॥ २ ॥

भा०—मैं (दृष्टम्) जो रोग कीट चक्षु से दीखने वाला है उसको (अतृहम्) नाश करूं और (अदृष्टम्) जो चक्षु से न दीखने वाला है उसको भी नाश करूं। (अथो) और (कुरूरुम्) कुत्सित शब्द करने वाले, चिटचिटाने वाले या बुरी तरह से रुलाने वाले कीट जाति को भी मैं (अतृहम्) विनाश करता हूं और (सर्वान्) सब प्रकार के (अल्गण्डून्) अति अधिक खाज पैदा करने वाले (शलुनान्) शरीर में प्रवेश कर जाने वाले, वेगवान् (क्रिमीन्) रोग कीटों को (वचसा) वाणी द्वारा, अपनी वाक्शक्ति के बल से (जम्भयामसि) उनका बांध देता हूं या उनका विनाश कर देता हूं।

अल्गण्डून् हन्मि महता वधेन दूना अदूना अरसा अभूवन्।
शिष्टानशिष्टान् नि तिरामि वाचा यथा क्रिमीणां नकिरुच्छिषातै ॥३॥

भा०—(अल्गण्डून्) अति अधिक खाज उत्पन्न करने वाले 'अल्गण्डू' नामक कीटों को (महता वधेन) बड़े विनाशक ओषधि से (हन्मि) विनाश करूं। वे सब कीट ओषधि या तेजाब से (दूनाः) जलभुन कर और (अदूनाः) या विना जले ही सूख कर (अरसाः) विना प्राण के

२-(तृ०) 'अलकाण्डून्' इति क्वाचित्कः पाठः। 'अथो कुरीरमतृहन्' इति सायणाभिमतः पाठः। (च०) 'वर्चसा' इति क्वाचित्कः पाठः। 'शलूनान् वचसा' इति ह्विटनिकामितः पाठः। (द्वि०) 'कारूर मदृहम्' (च०) 'शललान्' इति पैप्प० सं०।

३-(च०) 'नकिरुच्छिष्यातै' इति ह्विटनिकामितः पाठः। (द्वि०) 'दूनाद दूना' इति पैप्प० सं०।

(अभूवन्) होजाते हैं । उन जन्तुओं में से में (शिष्टान्) शास्त्र में जिनके विशेष लक्षण कहे हैं उनको और (अशिष्टान्) उनके समान हानिकारक अन्यों को भी (वाचा) अपनी वाणी के बल से या वेदवाणी के किये उपदेश से (नितिरामि) इस प्रकार जड़ मूल से विनाश करूं (यथा) जिससे (क्रिमीणां) फैलने वाले रोगकारी कीटों में से (नकिः) कोई भी न (उच्छिपाते) बच पावें ।

अन्वान्त्र्यं शीर्षण्य१मथो पार्ष्टेयं क्रिमीन् ।
अवस्कवं व्यध्वरं क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि ॥ ४ ॥

भा०—(अन्वान्त्र्यं) आँतों में उत्पन्न होने वाले विषूचिका के कीट, (शीर्षण्यं) शिर देश में उत्पन्न होने वाले दाद, खाज और पीनस रोग के उत्पादक (अथो पार्ष्टेयं) और पृष्ठ देश के मोहरों में या पसलियों में उत्पन्न होने वाले नासूर या राजयक्ष्मा आदि के (क्रिमीन्) रोग कीटों को और इसी प्रकार (अवस्कवं) त्वचा के भीतर घुस जाने वाले दद्रु आदि के कीट, (व्यध्वरं) नाना प्रकार से फैलने वाले, या किसी प्रकार की ओषधियों से न विनाश होने वाले (क्रिमीन्) रोगकीटों को (वचसा) वाणी की शक्ति से या उपदिष्ट शास्त्र प्रयोग से (जम्भयामसि) विनाश करें ।

ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्वन्तः ।
ये अस्माकं तन्व/माविविशुः सर्वं तद्धन्मि जनिम क्रिमीणाम् ॥५॥

४–(द्वि०) 'पार्ष्णेयं' इति सायणाभिमतः पाठः । (तृ०) 'व्यद्वरं' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

५–(तृ०) 'ते अस्माकं' इति क्वाचित्कः पाठः सायणाभिमतश्च । 'तत्व आविशु' इति सायाणाभिमतः पाठः । (प्र०) पर्वतेषु ये वनेषु ये ओषधीषु इति पैप्प० सं० । (तृ० च०) येऽस्माक तन्नो (त्व) स्थामचक्रि [रे] इन्द्रस्तान् हन्तु महतावधेन' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(ये क्रिमयः) जो क्रिमि, रोगजनक जन्तु (पर्वतेषु) पर्वतों में (वनेषु) वनों, जंगलों में (ओषधीषु) ओषधि आदि खाने योग्य पदार्थों में (पशुषु) पशुओं में और (अप्सु अन्तः) पान करने योग्य जलों में रहते हों और (ये) जो (अस्माकं) हमारे (तन्वं) शरीर में व्रण मार्ग से या अन्न जल के साथ (आविविशुः) घुस जाते हैं (सर्वं तद्) उन सब (क्रिमीणां) रोग जन्तुओं के (जनिम) जातियों को या उत्पत्ति के मूलकारण को (हन्मि) मैं विनाश करूं ।

इति पञ्चमोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि पञ्चैकोनत्रिंशच्च ऋचः]



[३२] रोगनाशक क्रिमियों के नाश करने का उपदेश ।

कण्व ऋषिः । आदित्यो देवता । १ त्रिपदा भुरिग् गायत्री २—५ अनुष्टुभः । चतुष्पदा निचृदुष्णिक् । षड्र्चं सूक्तम् ।

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः ।
ये अन्तः क्रिमयो गवि ॥ १ ॥

भा०—(उद्यन्) उदित होता हुआ (आदित्यः) सूर्य का तेज (क्रिमीन्) रोगकीटों, फैलने वाले रोग जन्तुओं का (हन्तु) नाश करे और (निम्रोचन्) अस्त होता हुआ सूर्य भी (रश्मिभिः) किरणों से (हन्तु) उनका नाश करे (ये) जो (गवि) पृथिवी के या शरीर की इन्द्रियों के (अन्तः) भीतर (क्रिमयः) रोगजनक जन्तु विद्यमान हैं ।

[३२] १—'उद्यन्सूर्यः क्रिमीन्' इति ह्विटनिकामितः पाठः । (द्वि०) 'सूर्यो निम्रोचन् रश्मिर्हन्तु' इति पैप्प० सं० ।

उदित और अस्त होते हुए सूर्य की किरणों में विशेष घातक गुण हैं इसीसे उस समय सूर्य को देखने का निषेध है । "नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन ।" तिरछी पड़ती किरणें ही घरों में, गुफाओं में और वृक्षों के झुरमुटों में भी प्रवेश कर सकती है ।

विश्वरूपं चतुरक्षं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम् ।
शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥ २ ॥

भा०—मैं (विश्वरूपं) नाना आकर के (चतुरक्षं) चार २ आंखों वाले या मकड़ी के समान चारों तरफ देखने वाले (सारङ्गं) श्याम शरीर वाले या सरक कर चलने वाले (अर्जुनम्) श्वेत वर्ण के या कुटिल गति से जाने वाले कीट जाति को भी (शृणामि) विनाश करूं । और (अस्य) इसके (पृष्टीः) पीठ के प्रत्येक मोहरों को भी विनाश करूं और (यत्) जो (शिरः) उसको मुख्य शिर या अगला सिरा है उसको भी (वृश्चामि) काट डालूं । इन रोग कीटों के प्रत्येक अंग अंग का विनाश करना चाहिये क्योंकि उनका प्रत्येक अंग अलग अलग कर देने पर भी वे जीते रहते हैं ।

अत्रिवद् वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत् ।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन् ॥ ३ ॥

भा०—(अत्रिवत्) जिस प्रकार हिंसक मांसभक्षी जीव अपने भक्ष्य जीव को विनाश कर देता है उस प्रकार और (कण्ववत्) कण २ करके

२—(प्र० द्वि०) योद्विशीर्षा चतुरक्षः क्रिमिश्शरगोऽर्जुनः ।

३—(प्र०) 'अत्रिवत्त्वा क्रिमे' (तृ०) 'अगस्त्यं ब्रह्मणा', इति पैप्प० सं० । 'अत्रिणा त्वा क्रिमेहन्मि' कण्वेन जमदग्निना विश्वावसो ब्रह्मणा' इत्यादि तै० आ० । 'हतस्ते अत्रिणाकृमिर्हतस्ते जमदग्निना' इति मै० ब्रा० ।

खाने वाला मुर्गा आदि पक्षि कण २ चुन २ कर समस्त कण खाजाता है और या (जमदग्निवत्) जिस प्रकार प्रज्वलित आग एक ही वार में सब को भस्म कर देता है उस प्रकार हे (क्रिमयः) रोग जन्तुओ ! मैं (वः) तुमको इन नाना विधियों से (हन्मि) विनाश करूं । और (अहं) मैं (क्रिमीन्) इन रोगकारी जन्तुओं को (अगस्त्यस्य) अगस्त्य=अगम्य या वक्र उपायों को खोज निकालने वाले विद्वान् द्वारा उपदिष्ट (ब्रह्मणा) वेदमन्त्र से (सं पिनष्मि) उत्तम रीति से विनाश करूं । अगस्त्य के नाम से वेदमन्त्र देखो ऋ० मं० १ । सू० १८७, १८८, १८९, १९० ॥ इनमें अग्नि, ओषधि और जल सूर्य अन्यान्य प्रकारों से रोग, विष आदि की चिकित्सा का उपदेश किया गया है ।

हतो राजा क्रिमी॑णामु॒तैषां॑ स्थ॒पति॑र्ह॒तः ।
ह॒तो ह॒तमा॑ता क्रिमि॑र्ह॒तभ्रा॑ता ह॒तस्व॑सा ॥ ४ ॥

भा०—जिस प्रकार भूमि पर आक्रमण करने वाले शत्रुओं के राजा, मन्त्री, माता, भाई, वहिन आदि सब मारडाले जाते हैं और शत्रु को निर्मूल कर दिया जाता है उसी प्रकार रोग-जन्तुओं (क्रिमीणां) चरण विक्षेप करने वाले कीटों का भी जो मुख्य कीट हो उस (राजा) राजा को (हतः) औषध प्रयोग से मारडाला जाय । (उत एषां) और इनके (स्थपतिः) रहने के निवास वनाने वाले जन्तुओं का भी (हतः) नाश किया जाय । और (हतमाता) इनके प्रसव करने वाली रानी कीड़ी को भी मारा जाय । (हतभ्राता) इनके सहवर्गी कीड़ों को भी मारा जाय और (हतस्वसा) इनके

४–(द्वि०) 'स्थपतिर्हतः', (तृ०) 'हतभ्र[भ्रा]ता', (च०) हतमहता [माता] इति पैप्प० सं० । 'हतः क्रिमीणां राजा अप्येषां स्थपतिर्हतः । 'अथो माता अथो पिता' इति तै० आ० । (प्र० द्वि०) 'हतः क्रिमीणां क्षुद्रको हता माता हतः पिता', इति तै० आ० ।

भगिनी मादा कीड़े को भी माराजाय, तब समझना चाहिये कि (क्रिमिः) फैलने वाले रोग-जन्तु की बला (हतः) नष्ट होगई ।

मधुमक्खी और कीड़ियों के भीतरी प्रबन्धों को देख कर यह अनुमान होता है कि कीटों में भी कुछ कीट उनमें राजा, कुछ उनके मकान बनाने वाले, कुछ भाई, कोई रानी आदि नाना विभाग होते हैं प्रायः ततैया, भूण्ड, भौंरे आदि जाति के कीट, दीमक, कीड़ी, मकोड़ी, मकोड़ा आदि जाति के कीटों में बड़ा संगठन होता है उनका विनाश शत्रु के नाश के समान ही करना उचित है ।

हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः ।
अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हताः ॥ ५ ॥

भा०—(अस्य) इस शत्रु के जिस प्रकार (वेशसः) सेवक और भीतरी अन्तरंग पुरुष और (परिवेशसः) बाहर के रक्षकों को मार दिया जाता है और जिस प्रकार जो (क्षुल्लकाः) उसके और छोटे मोटे सहचर हों उनको भी मार दिया जाता है उसी प्रकार (अस्य) इस विनाश करने योग्य रोग-जन्तु के (वेशसः) भीतरी आश्रय-स्थानों या मुख्य जीवों को और (परिवेशसः) उनसे मिलते जुलते उस वर्ग के अन्य कीटों को भी (हतासः) मारा जाय । (अथो) और (ये) जो (क्षुल्लकाः) अत्यन्त क्षुद्र झिल्ली के रूप में या अण्डों के रूप में उनके बीजभूत (इव) से हैं (ते सर्वे) वे सब (क्रिमयः) रोगसंक्रामक जीव (हताः) मार दिये जाँय तभी रोग दूर हो सकता है ।

५–(तृ०) 'क्षुल्लका' इति नेदं पदं 'क्षुद्रक' पदस्य प्राकृतं रूपमपि त्वार्षम् । तैत्तिरीयारण्यकगतं 'क्षुद्रक' पदमस्य व्याख्यानम् ।

प्र ते॑ शृणामि॒ शृङ्गे॒ याभ्यां॑ वितुदा॒यसि॑ ।
भि॒नद्मि॑ ते कुषु॒म्भं यस्ते॑ विष॒धान॑: ॥ ६ ॥

भा०—विषैले जन्तु का नाश करने का उपदेश करते हैं। (ते) तेरे (शृङ्गे) उन दो कांटों को (शृणामि) नाश करता हूं (याभ्यां) जिनसे (वि तुदायसि) तू नाना प्रकार से काटता और पीड़ा देता है। और (ते) तेरे (कुषुम्भं) उस थैली को (भिनद्मि) फोड़ देता हूं (यः) जो (ते) तेरा (विषधानः) जहर रखने का स्थान है।

---

[३३] देह के अङ्गों से रोग नाश करने का उपदेश।

ब्रह्मा ऋषिः। यक्ष्मविबर्हणं चन्द्रमा वा देवता। आयुष्यं सूक्तम्। १, २ अनुष्टुभौ, ३ ककुम्मती, ४ चतुष्पदासुरिग् उष्णिक्, ५ उपरिष्टाद् विराट् बृहती, ६ उष्णिग् गर्भा निचृदनुष्टुप्, ७ पथ्या पंक्तिः। सप्तर्चं सूक्तम् ॥

अ॒क्षीभ्यां॑ ते॒ नासि॑काभ्यां॒ कर्णा॑भ्यां॒ छुबु॑का॒दधि॑ ।
यक्ष्मं॑ शीर्ष॒ण्यं॑ म॒स्तिष्का॒ज्जिह्वा॑या॒ वि वृ॑हामि ते ॥ १ ॥

ऋ० १० । १६३ । १ ॥

६–(तृ०) 'कुषूमम्' 'कुपभं' 'कषभं' 'कुशुभं' इति कचित्काः पाठाः। 'पुकंभं' इति सायणाभिमतः पाठः। प्र ते श्रृणामि शृंगे याभ्यायत्तन् [?] वितदायसि। 'अथो भिनद्मि तं कुम्भं यस्मिन् ते निह [हि] तं विषम्' इति पैप्प० सं०। (तृ० च०) 'अथैषां भिनकः कुम्भो य एषां विषधानकः।' इति मै० ग्रा०।

[३३] १–(द्वि०) 'चुबुकादधि' इति कचित्कः पाठः। (द्वि०) 'कर्णाभ्यां नास्यादधि', (च०) 'ललाटाद् विवमेमसि' इति पैप्प० सं०।

भा०—इस सूक्त में समस्त शरीर के भिन्न २ अंगों में बैठे रोगों की चिकित्सा का उपदेश करते हैं। हे पुरुष! मैं वैद्य आयुर्वेद का जानने हारा विद्वान् (ते) तेरे (अक्षीभ्यां) आंखों में से (नासिकाभ्यां) दोनों नासिकाओं में से और (छुबुकाद् अधि) ठोड़ी में से और (ते) तेरे (मस्तिष्कात्) शिर के भीतर के भेजे अर्थात् मस्तिष्क भाग में से और (जिह्वाया) जीभ में से भी और (शीर्षण्यं) शिर में बैठे (यक्ष्मं) रोग को (वि वृहामि) दूर करता हूं।

ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात्।
यक्ष्मं दोषण्य१ मंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते ॥ २ ॥
ऋ० १० । १६३ । २ ॥

भा०—(ते ग्रीवाभ्यः) तेरी गर्दन की नाड़ियों से (उष्णिहाभ्यः) ऊपर को स्नेहमय रस द्रव्य ले जानी वाली धमनियों से (कीकसाभ्यः) जत्रु और वक्षःस्थल की हड्डियों से और (अनूक्यात्) अस्थियों के मिलाने वाले संधिभाग से और (ते अंसाभ्यां) तेरे कन्धों और (बाहुभ्यां) बाहुओं से (दोषण्यं) और हाथों में होने वाले (यक्ष्मं) रोग को (वि वृहामि) दूर करता हूं।

'ग्रीवाभ्यः'=ग्रीवाः पञ्चदश। चतुर्दश वा एता करूकराणि वीर्यं पञ्चदशम्। तस्माद् एताभिरण्वीभिः सतीभिर्गुरुभारं वहति। (श० ब्रा० १२। २। ४। १०) ग्रीवा में १४ करूकर=सूक्ष्म अवयव, मांसपेशियां हैं जिनके बल पर गर्दन भारी भार भी उठा लेती है।

उष्णिहा=धमनीः इति सायणः। ऊर्ध्वं स्निग्धाभ्यः, रक्तादिना उत्स्नाताभ्यो वा नाडीभ्यः। तदुक्तं उष्णिग् उत्स्नाता भवति। स्निह्यतेर्वा स्यात् कान्तिकर्मणः। अनूक्यम्=अनुक्रमेणोच्यन्ति समवयान्ति अस्थीनि अस्मिन् इति अनूक्यम्

२—' कीकासाभ्योऽनुका: ' (च०) 'उरस्तो वि वृहामसि' इति पैप्प० सं०।

त्तत्संधिः । उच समवाये इत्यतः अनुपूर्वान्यत् । दोषण्यम्=दोष्णोर्भवम् ।

हृदयात् ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात् पार्श्वाभ्याम् ।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीह्नो यक्नस्ते वि वृहामसि ॥ ३ ॥

उत्तरार्धम् ऋ० १० । १६३ । ३ ॥

भा०—(ते हृदयात्) तेरे हृदय से, (क्लोम्नः) हृदय के समीप के फेफड़े से, (हलीक्ष्णात्) पित्तोत्पादक अंग से, (पार्श्वाभ्यां मतस्नाभ्यां) दोनों पासों पर लगे गुर्दों से, (प्लीह्नः) पिलही से और (ते यक्नः) तेरे यकृत्=कलेजे से हम (यक्ष्मं वि वृहामि) रोग को दूर करते हैं ।

आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि ।
यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या वि वृहामि ते ॥ ४ ॥

ऋ० १० । १६३ । ३ ॥

भा०—(ते आन्त्रेभ्यः) तेरी आंतों से, (गुदाभ्यः) गुदाओं से, (वनिष्ठोः) स्थूल आंतों से, (उदराद् अधि) और उदर अर्थात् आमाशय से (कुक्षिभ्यां) दोनों कोखों से, (प्लाशेः) मलाशय से और (नाभ्याः) तेरी नाभी से (यक्ष्मं वि वृहामि) रोग को दूर करता हूं ।

ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम् ।
यक्ष्मं भसद्यं श्रोणिभ्यां भासदं भंससो वि वृहामि ते ॥ ५ ॥

ऋ० १० । १६३ । ४ ॥

३–' क्लोम्नस्ते हृदयाभ्यो हलीक्ष्णात् ' इति पैप्प० सं० । ' वनिष्ठोर्हृदयादधि ', ' यक्ष्मं मत्स्नाभ्यां यक्नः प्लाशिभ्यो वि वृहामिते ' इति पाठभेदौ ।

४–' यक्ष्मं श्रोणिभ्यां भासदाद् भंससो विवृहामि ते ' इत्युत्तरार्धे पाठभेदः । (तृ०) ' कुक्षिभ्यां पाण्योः ' (च०) 'वृहामसि ' इति पैप्प० सं० ।

५–(तृ०) ' यक्ष्मं श्रोणिभ्यां भासदाद्भसंसो ' इति ऋ० । ' वृहामसि ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(ते ऊरुभ्यां) तेरी ऊरू=जंघाओं से (अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां) सख्त हड्डी वाले दोनों गोड़ों और एड़ियों से (प्रपदाभ्यां) पैर के अगले भागों, पंजों से तेरा यक्ष्म=रोग को विनाश करता हूं। और इसी प्रकार (श्रोणिभ्यां) दोनों कूल्हों से और (भसद्यं) कटिदेश में उत्पन्न रोग को दूर करता हूं और (ते भंससः) तेरे गुह्य=मूत्र मार्ग से ही (भासदं) गुह्य प्रदेश में उत्पन्न (यक्ष्मं वि वृहामि) रोग को भी दूर करता हूं।

अस्थिभ्यस्ते मुज्जभ्युः स्नावभ्यो धुमनिभ्यः ।
यक्ष्मं पाणिभ्यामुङ्गुलिभ्यो नुखेभ्यो वि वृहामि ते ॥ ६ ॥

ऋ० १० । १६३ । ५ ॥

भा०—(ते अस्थिभ्यः) तेरी हड्डियों से (मज्जभ्यः) मज्जा भागों से (स्नायुभ्यः) स्नायुओं से (धमनिभ्यः) धमनी—नसों से (पाणिभ्यां) तेरे हाथों से (अंगुलिभ्यः) अंगुलियों से और (ते नखेभ्यः) तेरे नखों से (यक्ष्मं वि वृहामि) रोग को दूर करता हूं।

अङ्गे अङ्गे लोम्नि लोम्नि यस्ते पर्वणि पर्वणि ।
यक्ष्मं त्वचुस्यं/ ते वुयं कुश्यपस्य वीबर्हेण विष्वञ्चं वि वृहामसि ॥७॥

ऋ० १० । १६३ । ६ ॥

भा०—(ते) तेरे (अङ्गे अङ्गे) अंग २ में और (लोम्नि लोम्नि) रोम रोम में और (पर्वणि पर्वणि) पोरु २ में (ते त्वचस्यं) तेरी त्वचा

६-' मेहनाद् वनं करणाल्लोमभ्यस्ते नखेभ्यः । यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं विवृहामि ते ।' इति ऋग्वेदे । (तृ०) यक्ष्मं पृष्टिभ्योमज्जभ्यो नाड्यां वि वृहामसि ' इति पैप्प० सं० ।

७-' अङ्गादङ्गाल्लोम्नो जातं पर्वणि पर्वणि । यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं वि वृहामि ते । इति ऋ० । (द्वि०) 'तत्र लोम्नो वद्धं' इति पैप्प० सं० ।

के भीतर बैठे (विश्वञ्चं) सब देह में बैठे (यक्ष्मं) रोग को (कश्यपस्य) रोग के मूलकारण और दूर करने के सत् उपायों को देखने हारे, कश्यप ज्ञानी पुरुष के उपदेश किये हुए (वीबर्हेण) नाना प्रकार के रोगविनाशक उपाय से (वि वृहामसि) दूर करते हैं ।

[३४] मोक्षमार्ग का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । पशुपतिर्देवता । पशुभागकरणम् । १–४ त्रिष्टुभः । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

य ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम् ।
निष्क्रीतः स यज्ञियं भागमेतु रायस्पोषा यजमानं सचन्ताम् ॥१॥

भा०—मुमुक्षु के लिये उपदेश करते हैं—(यः) जो विभूतियों का अभिलाषी आत्मा (पशूनां) अपनी इन्द्रियों द्वारा ज्ञान करने हारे (चतुष्पदां) चौपाये और (द्विपदां) दो पाये मनुष्य और पक्षियों पर भी (ईशे) अपना वश करता और उनका स्वामी हो जाता है । वह (पशुपतिः) 'पशुपति' कहाता है । (सः) वह (निष्क्रीतः) सब प्रकार से स्वतन्त्र हो कर (यज्ञियं) यज्ञयोग्य या परमात्मा सम्बन्धी (भागं) भाग ऐश्वर्य को (एतु) प्राप्त हो और (रायस्पोषाः) धनादि की समस्त विभूतियें और सामर्थ्य (यजमानं) उसी महान् यज्ञकर्ता आत्मसाधक को (सचन्तां) प्राप्त होते हैं ।

प्रमुञ्चन्तो भुवनस्य रेतो गातुं धत्त यजमानाय देवाः ।
उपाकृतं शशमानं यदस्थात् प्रियं देवानामप्येतु पाथः ॥ २ ॥

---

[३४] १–' येषां पशुपतिः ' इति पैप्प०, तै० सं० । (द्वि०) ' यश्च द्विपदाम् ', ' यजमानस्य सन्तु ' इति तै० सं० ।

२–(प्र०) 'प्रमुञ्चमाना', (च०) 'जीवं देवानां' इति तै० सं० । (प्र०) 'भुवनस्य गोपा' (द्वि०) 'देवा यजमानाय धत्त' (च०) 'अप्येति पाथः' । इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! और पृथिवी आदि लोको ! अथवा प्राकृतिक विकार रूप पञ्चभूतो ! (भुवनस्य) उत्पन्न होने हारे इस देह और विश्व के (रेतः) उत्पन्न होने के मूलकारण कर्मफल को या प्रकृति को (प्रमुञ्चन्तः) सर्वथा परित्याग करते हुए आप लोग (यजमानाय) पुण्यकार्य और ज्ञानयज्ञ के सम्पादक मुमुक्षु आत्मा के लिये (गातुं) ज्ञानमार्ग का (धत्त) आश्रय दो। (यद्) जब वह जीव (देवानां) मुक्त ज्ञानयोगी विद्वानों के (प्रियं पाथः) प्रिय मार्ग, देवयान मार्ग में (अस्थात्) दृढ़रूप से स्थिति करे तब (उपाकृतं) योगसाधनों से संस्कृत, पवित्र हृदय (शशमानं) इस देह-बन्धन को छोड़ कर स्वर्ग या मोक्ष लोक में जाने के लिये उद्यत, निरन्तर शमादि के पालक, इस आत्मा को वह मार्ग भी (एतु) प्राप्त हो। इस मन्त्र को 'बलिपशु' परक लगाना वाममार्ग है।

ये बुध्यमा॑नमनु॒ दीध्या॑ना अ॒न्वैक्ष॑न्त॒ मन॑सा॒ चक्षु॑षा च।
अ॒ग्निष्टान॑ग्रे॒ प्र मु॑मोक्तु दे॒वो वि॒श्वक॑र्मा प्र॒जया॑ संररा॒णः ॥ ३ ॥

भा०—(ये) जो ध्यानी योगाभ्यासी मुमुक्षु पुरुष (दीध्यानाः) योग-समाधि द्वारा ध्यान करते हुए (बध्यमानम्) देह-बन्धन में फंसे हुए आत्मा को (मनसा) अपनी मननशक्ति और (चक्षुषा) प्रज्ञानेत्र से (अनु ऐक्षन्त) अनुदर्शन करते हैं (अग्निः) सर्वप्रकाशक ज्ञानमय परमेश्वर (देवः) प्रकाशस्वरूप (विश्वकर्मा) समस्त विश्व का कर्त्ता (प्रजया) समस्त जीवों की प्रजा के साथ या प्रकृति के साथ (सं रराणः) उत्तम रीति

३–(प्र०) 'बध्यमानमनुबद्ध्यमाना अभ्यैक्षन्त' इति तै० सं०। (च०) 'देवः प्रजापतिः' इति तै० सं०, मै० सं०। प्रजया संविदानः' इति तै० सं०। 'प्रमुमुक्त देवः प्रजापतिः प्रजाभिः संविदानम्। इति पैप्प० सं०। (प्र०) 'ये बध्यमानमनु बध्यमानं' इति सायणाभिमतः पाठः।

से रमण करता हुआ जगदीश्वर (अग्रे) प्रथम ही (मुमोक्तु) इस देह के क्लेशमय बन्धन से मुक्त कर देता है, उनको जीवन्मुक्त कर देता है ।

ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपा विरूपाः सन्तो बहुधैकरूपाः ।
वायुष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवः प्रजापतिः प्रजया संरराणः ॥ ४ ॥

भा०—(ये) जो (पशवः) पशु स्वभाव के या देखने हारे जीवात्मागण (ग्राम्याः) ग्राम्यधर्म में लगे हुए (विश्वरूपाः) नाना योनियों में गये हुए (विरूपाः) नाना प्रकार के शरीर धारण करते (सन्तः) हुए भी (बहुधा) बहुत से प्रकारों से (एकरूपाः) एकही जीवात्मा जाति के हैं । (वायुः) सब को सूत्ररूप से बांधने वाला, सर्वव्यापक, सब का प्राणस्वरूप, देव (प्रजापतिः) परमात्मा (प्रजया) अपनी प्रजा, प्रकृष्ट रूप से प्रादुर्भाव होने वाली प्रकृति से (संरराणः) रमण करता हुआ (देवः) परमदेव (तान्) उन जीवों को (अग्रे) उनके साधना में प्रवृत्त होते ही (प्र मुमोक्तु) बार २ मुक्त करो ।

प्रजानन्तः प्रति गृह्णन्तु पूर्वे प्राणमङ्गेभ्यः पर्याचरन्तम् ।
दिवं गच्छ प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वर्गं याहि पथिभिर्देवयानैः ॥५॥

भा०—जिस प्रकार (पूर्वे) पूर्वकल्प के ऋषिजन अथवा प्रथम २ (प्रजानन्तः) ब्रह्म और आत्मा के तत्व को भली प्रकार जानते हुए (अङ्गेभ्यः)

४–(प्र०) 'ये अरण्याः पशवो', (तृ०) 'वायुस्तान' इति तै० सं० । ये अरण्याः पशवो विश्वरूपा उत ये कुरूपाः०' (तृ०) मुमुक्तेति पूर्वमन्त्रवत् इति पैप्प० सं० ।

५–(प्र०) 'प्रतिगृह्णन्तु देवाः' (तृ०) 'ताभ्यां गच्छ प्रति' (च०) 'पथिभिः शिवेभिः' इति पैप्प० सं० (प्र०) 'प्रतिगृह्णन्ति' तृतीय चतुर्थयोः क्रमविपर्ययः । (तृ०) 'ओषधीषु प्रति तै० सं० । (च०) 'इति मै० सं० ।

समस्त अङ्गों में (पर्याचरन्तं) सर्वत्र गति करते हुए (प्राणं) प्राण को वश करते हैं उसी प्रकार मुमुक्षु जन भी योग-साधनों से उस प्राण को (प्रतिगृह्णन्तु) अपने वश करें । हे मुमुक्षु पुरुष ! तू भी (शरीरैः) अपने इन शरीरों द्वारा (प्रति·तिष्ठाः) आत्मा को प्रतिष्ठित साधनासम्पन्न सामर्थ्यवान् कर और फिर (देवयानैः पथिभिः) विद्वानों द्वारा गमन करने योग्य, मुमुक्षु मार्ग, देवयान नामक ज्ञानमार्गों से (स्वर्गं) उस पुण्यफल, सुकृत, सुखमय लोक को (याहि) प्राप्त कर और (दिवं) उस प्रकाशस्वरूप ब्रह्मपद को भी (गच्छ) प्राप्त कर ।

यह सूक्त सायण ने बलि करने योग्य वध्य पशु पर लगाते हुए कौशिक सूत्रप्रदर्शित विनियोग लेकर महा अनर्थ किया है । यदि कौशिक सूत्र प्रदर्शित दिशा से ही सर्वलोकाधिपत्यकाम ज्ञानी परक यह सूक्त लगाया जाता तो उत्तम था ।



[३५] मोक्षमार्ग का उपदेश ।

अंगिरा ऋषिः । विश्वकर्मा देवता । १ विराड् गर्भा त्रिष्टुप् । २, ३ त्रिष्टुप् । ४, ५ भुरिग् । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

ये भ॒क्षय॑न्तो॒ न वसू॑न्यानृ॒धुर्यान॒ग्नयो॑ अ॒न्वत॑प्यन्त॒ धिष्ण्याः॑ ।
या तेषा॑मव॒या दुरि॑ष्टिः॒ स्वि॑ष्टिं न॒स्तां कृ॑णव॒द् वि॒श्वक॑र्मा ॥ १ ॥

भा०—इस सूक्त में भोग त्याग करके मोक्षमार्ग में जाने का

[३५] १–(तृ०) 'दुरिष्टेः स्विष्टिं नस्तान् कृण०' इति ह्विटनिकामितः पाठः कचित्कश्च । (प्र०) वसून्या वृधु इति काचित्कः पाठः । वसून्यानशुः इति मै० सं० । (तृ०) 'इयं तेषामवया दुरिष्ट्यै' (च०) 'विश्वकर्माकृणोतु' मै० सं० । (तृ०) 'दुरिष्टा स्विष्टं' इति पैप्प० सं० ।

उपदेश है। (ये) जो लोग (भक्षयन्तः) निरन्तर भोग करते हुए भी (वसूनि) देह में वसने हारे प्राणों को (न आनृधुः) समृद्ध, समर्थ, सम्पन्न, वर्चस्वी नहीं होने देते। और (यान्) जिनको (धिष्ण्या) देह के भीतर अपने २ स्थान में विराजमान (अग्नयः) प्राणादि अग्नियां (अनु अतप्यन्त) भोग के अनन्तर संताप देते हैं। (तेषां) उन भोगी पुरुषों का जो (अवयाः) हीन यज्ञ अर्थात् इन्द्रियों में विषयार्थों की आहुति या कुसंगति है और (दुरिष्टिः) दोषयुक्त शास्त्रविधान के प्रतिकूल तामस प्रवृत्ति हैं, (विश्वकर्मा) वह समस्त संसार का स्रष्टा परमेश्वर (नः) हमारे (तां) उस हीन प्रवृत्ति को (स्विष्टिं) उत्तम पुण्यकार्य में (कृणवत्) बदल दे।

यज्ञपतिमृषय एनसाहुर्निर्भक्तं प्रजा अनुतप्यमानम्।
मथव्यान्त्स्तोकानप यान् रराध सं नष्टेभिः सृजतु विश्वकर्मा ॥२॥

भा०—(प्रजाः) प्रजाः=पुत्र पौत्र आदि के (अनु) साथ स्वयं (तप्यमानं) कष्ट अनुभव करते हुए, उनकी ममता में बंधे (यज्ञपतिम्) यजमान आत्मा को (ऋषयः) तत्वदर्शी विद्वान् गण (एनसा) मोह में (निर्भक्तं) फंसा हुआ (आहुः) कहते हैं। और (यान्) जिन (मथव्यान्) मथन करने हारे, चित्त को हर्ष देने हारे (स्तोकान्) पदार्थों को (अप रराध) हम से परे रखता है (तेभिः) उन पदार्थों से भी (सः) वह (विश्वकर्मा) जगदीश्वर (नः) हमारे आत्मा को (संसृजतु) युक्त करे।

२-(तृ०) 'मथव्यान्' इति सायणसम्मतः पाठः (प्र०) 'यजमानमृषय' (द्वि०) ' विहाय प्रजामनु तप्यमानाः ' (तृ०) 'मथव्यान्त्स्तोकावपताभ्यां तौ रराध' इति मै० सं०। (द्वि०) 'प्रजा निर्भक्ता अनुतप्यमानाः, इति तै० सं०।

अ॒दा॒न्यान्त्सो॑म॒पान् मन्य॑मानो य॒ज्ञस्य॑ वि॒द्वान्त्स॑म॒ये न धीर॑: ।
यदेन॑श्चकृ॒वान् ब॒द्ध ए॒ष तं वि॑श्वकर्म॒न् प्र मु॑ञ्चा स्व॒स्तये॑ ॥ ३ ॥

भा०—(धीरः न) धीर, प्रतिभावान् पुरुष के समान (विद्वान्) विद्वान्, विद्यासम्पन्न पुरुष भी (यज्ञस्य) यज्ञ के (समये) समय में=सत्संग के अवसर पर (सोमपान्) ब्रह्मानन्द रस का पान करने हारे अन्तर्ज्ञानी पुरुषों को भी (अदान्यान्) दान दक्षिणा देने के अयोग्य (मन्यमानः) समझता हुआ गर्व में आकर (बद्धः) मोह अविद्या में बद्ध (एष) यह जीव (यद्) जो (एनः) पाप या अनुचित कर्म (चकृवान्) कर देता है हे (विश्वकर्मन्) समस्त संसार के उत्पादक प्रभो ! आप (तं) उस जीव को (स्वस्तये) उसके कल्याण के लिये (प्र मुंच) उस पाप से मुक्त करो ।

घो॒रा ऋष॑यो॒ नमो॑ अस्त्वेभ्य॒श्चक्षु॒र्यदे॑षां॒ मन॑सश्च स॒त्यम् ।
बृह॒स्पत॑ये महिष द्यु॒मन्नमो॒ विश्व॑कर्म॒न् नम॑स्ते पा॒ह्य१॒॑स्मान् ॥४॥

भा०—(ऋषयः) यथार्थ मन्त्रों के द्रष्टा, विद्वान् वस्तुतः (घोराः) घोर तपस्वी होते हैं । (एभ्यः) इनके लिये हमारा सदा (नमः अस्तु) नमस्कार हो । (यद्) क्योंकि (एषां) इनकी (चक्षुः) आंख या यथार्थ दर्शन और (मनसः च) मन का मनन दोनों (सत्यम्) सत्य होते हैं । हे

३–(प्र०) 'अनन्यान्त्सोमपान्' (तृ०) 'एनश्चकृवान्महिबद्ध एषां इति तै० सं० । 'अयज्ञियान् यज्ञियान मन्यमानो' इति मै० सं० । (द्वि०) 'प्राणस्यविद्वानसमरे' (तृ०) 'एनोमहच्चकृवान् बद्ध' इति मै० सं० ।

४–(द्वि०) 'चक्षुष एषां मनसश्च सन्धौ,' (तृ०) 'माहिषद' (च०) नमोविश्वकर्मणे स उपात्व' इति तै० सं० । (प्र० द्वि०) 'भीमा ऋषयो' नमोस्तु' (द्वि०) 'मनसश्चसंदृक्' (तृ०) बृहस्पते महिषाय दिवे विश्व' इति पैप्प० सं० ।

(महिप) पूजनीय पद के दातः! हे विश्वकर्मन् ! सबके उत्पादक ! (ते) तुझ (बृहस्पतये) महान् संसार के परिपालक, प्रभु के लिये (द्युमत्) सब से अधिक (नमः) नमस्कार है (नमः ते) तुझे बार २ नमस्कार है । तूही (अस्मान् पाहि) हमारी रक्षा कर । सायण-सम्मत पाठ—(महि पत् द्युमत् नमः) प्रभो ! आपका बड़ा भारी प्रकाशमय 'सत्' स्वरूप है ।

अथवा—अध्यात्म पक्ष में—चक्षु आदि ये प्राण ही घोर ऋषि हैं । इनको (नमः) अन्न प्राप्त हो । इन प्राणों और मन के बीच में से चक्षु का देखा ही सत्य है । हे महिप ! आत्मन् ! बृहती वाणी के पति ! इस तुझ आत्मा या आसन्य प्राण के लिये (द्युमत् नमः) तेजोमय, ज्ञानमय सोमरूप अन्न है । हे विश्वकर्मन् प्रभो ! आपको भी नमस्कार है । आप हमारी रक्षा करें ।

यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि ।
इमं यज्ञं वितंतं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः ॥ ५ ॥

अथर्व० १९ । ५८ । ५ ॥

भा०—(यज्ञस्य) इस पुरुषमय यज्ञस्वरूप आत्मा का (चक्षुः) आंख और (मुखं च) मुख (प्रभृतिः) उसका उत्तम भरण पोषण करने वाला साधन है । एक ज्ञानभरण करता है और दूसरा अन्नभरण करता है । इस यज्ञ में (श्रोत्रेण) श्रोत्र से (वाचा) वाणी से और (मनसा) मन से भी (जुहोमि) ज्ञान की आहुतियां प्रदान करता हूं । (विश्वकर्मणः) जगत् के स्रष्टा परमेश्वर ने इस शरीर में (विततं) विस्तृत किये हुए (इमं) इस (यज्ञं) यज्ञ को (देवाः) यज्ञ में विद्वान् पुरुषों के समान पंचभूतों की तन्मात्रा स्वरूप ये इन्द्रियगण (आ यन्तु) प्राप्त हों ।

[३६] कन्या के लिये योग्य पति की प्राप्ति ।

पतिवेदन ऋषिः । अग्नीषोमौ मन्त्रोक्ता सोमसूर्येन्द्रभगधनपतिहिरण्यौषधयश्च देवताः । १ भुरिग् । २, ५–७ अनुष्टुभः । ३, ४ त्रिष्टुभौ । ८ निचृत् पुरोष्णिक् । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

आ नो॑ अग्ने सुम॒तिं सं॑भ॒लो ग॑मेदि॒मां कु॑मा॒रीं स॒ह नो॒ भगे॑न ।
जु॒ष्टा व॒रेषु॒ सम॑नेषु व॒ल्गुरो॒षं पत्या॒ सौभ॑गमस्त्व॒स्यै ॥ १ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! आचार्य ! पुरोहित ! परमात्मन् ! (सं-भलः[1]) उत्तम रीति से आदान करने हारा योग्य पात्र या उत्तम विद्वान् प्रवक्ता (नः) हमारे पास (आ गमेद्) आवे और (इमां) इस (सुमतिं) उत्तम ज्ञान वाली, उत्तम मति वाली, बुद्धिमती (कुमारीम्) नवयौवना कुमारी कन्या को (भगेन सह) ऐश्वर्यमय धन और सौभाग्य के साथ (आ गमेत्) आकर स्वीकार करे । अथवा भला उत्तम विद्वान्, सत्पात्र इस कुमारी को (संगमेत) प्राप्त हो । और यह कन्या (समनेषु) समान चित्त वाले (वरेषु) वरों में से (पत्या) अपने पालन करने में समर्थ अभिलषित पति के संग (वल्गुः) मधुर वचन आलाप करके पश्चात् (अस्यै) इस कन्या को (ओषं) सहवासरूप (सौभगं) सौभाग्य (अस्तु) प्राप्त हो ।

सोम॑जुष्टं ब्र॒ह्मजु॑ष्टमर्य॒म्णा संभृ॑तं॒ भग॑म् ।
धा॒तुर्दे॒वस्य॑ स॒त्येन॑ कृणोमि पति॒वेद॑नम् ॥ २ ॥

---

[३६] १–(प्र० द्वि०) सुमतिं स्कन्दलोक इदमां कुमार्या मानो भगेन [?] । (तृ० च०) वल्गुरोषं पत्या भवति सुभगेमम्' इति पैप्प० सं० ।

१. सम्भलकः समादाता इति सायणः ।

२–' सोमजुष्टो अर्यम्णा सम्भृतो भगः ' (च०) ' कृणोमि पतिवेदनम् ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(सोमजुष्टं) सोम, विद्वान्, प्रथम पति द्वारा प्रेमपूर्वक स्वीकृत, (ब्रह्मजुष्टं) ब्राह्मणों द्वारा अनुमोदित, (अर्यम्णा संभृतं) अर्यमा=विवाहाग्नि द्वारा उत्तम रीति से परिपालित, या राजा द्वारा परिरक्षित (पतिवेदनं) पति-वरणरूप (भगम्) सौभाग्यतम विवाहकृत्य को मैं पति और पत्नी (धातुः) समस्त संसार के पालक और उत्पादक (देवस्य) देव परमात्मा के (सत्येन) साक्षीभूत सत्य व्रत से (कृणोमि) करता हूं और करती हूं। अथवा कन्या का पिता कहता है कि विधाता=प्रजापति के व्रत से प्रेरित होकर मैं कन्या का विवाह करता हूं।

इयमग्ने नारी पतिं विदेष्ट सोमो हि राजा सुभगां कृणोति ।
सुवाना पुत्रान् महिषी भवाति गत्वा पतिं सुभगा वि राजतु ॥३॥

भा०—हे अग्ने! (इयं नारी) यह नारी (पतिं) पति को (विदेष्ट) प्राप्त हो। (राजा) विद्या और ऐश्वर्य से युक्त (सोमः) प्रसव करने में समर्थ सोम, प्रथम पति (हि) निश्चय से इसको (सुभगा) सौभाग्यसम्पन्न (कृणोति) करे। यह नारी (पुत्रान्) पुत्रों को (सुवाना) उत्पन्न करती हुई (महिषी[1]) पूजनीय श्रेष्ठ रानी के समान (भवाति) हो। और (पतिं) पति के पास (गत्वा) जाकर (सुभगा) सौभाग्यवती होकर (वि राजतु) नाना प्रकार से और विशेष रूप से शोभा को प्राप्त हो।

यथाखरो मघवंश्चारुरेष प्रियो मृगाणां सुषदा बभूव ।
एवा भगस्य जुष्टेयमस्तु नारी संप्रिया पत्याविराधयन्ती ॥४॥

३–(प्र०) 'अग्ने नारि' इति क्वाचित्कः पाठः। पतिविंदेष्ट (द्वि०) 'सुभगं कृणोतु' 'महिनी भवासि गत्वा पति सुभगे विराज' इति पैप्प० सं०।

१. महिषी महनीया श्रेष्ठा भार्या इति सायणः।

४–(द्वि०) 'सुपदं बभूव' इति ह्विटनिकामितः पाठः (प्र०) 'मघवान्' (च०) 'पत्याभिराधयन्ती' इति सायणाभिमतौ पाठौ। (प्र०) यथा खरं मघवं-श्चारुरेषु (तृ० च०) यां वयं जुष्टा भगस्यास्तु सम्प्रिया इति पैप्प० सं०।

भा०—हे (मघवन्) ऐश्वर्यसम्पन्न परमेश्वर ! (यथा) जिस प्रकार (एष) यह (खरः) कमनीय अश्व (मृगाणां) पशुओं में सबसे अधिक (प्रियः) उत्कृष्ट मनोहर और प्रेमपात्र है और इसीलिये (चारुः) उत्तम गतिशील और (सुपदाः) उत्तम सवारी देने हारा (बभूव) है उसी प्रकार (एषः) यह (खरः) कामनावान् अभिलाषायुक्त पुरुष भी (मृगाणां) स्त्रियों के चित्त की खोज लगाने वाले मृगजाति के पुरुषों में से (प्रियः) श्रेष्ठ (चारुः) सुन्दर, गृहस्थ-कार्य-सम्पादन में उत्कृष्ट और (सुपदा) गृहस्थ का उत्तम रीति से स्थिर करने हारा (बभूव) है। (एवं) इसी प्रकार के (भगस्य) सौभाग्यशील पुरुष के संग (जुष्टा) प्रेमपूर्वक संगत होकर (इयम् नारी) यह नारी (पत्या) अपने पति के साथ (आ वि राधयन्ती) किसी प्रकार का अपराध या बिगाड़ या अनबन न करती हुई उसकी (संप्रिया) अति प्रियतमा (अस्तु) होकर रहे।

भग॑स्य॒ नाव॒मा रो॑ह पू॒र्णाम॑नु॑पदस्वतीम् ।
तयो॑प॒प्रता॑रय॒ यो व॒रः प्र॑तिका॒म्य॑: ॥ ५ ॥

भा०—हे कन्ये (यः) जो (वरः) वर (प्रतिकाम्यः) तेरी अभिलाषा के योग्य है, तू उस (भगस्य) सौभाग्यशील पति की (पूर्णाम्) पूरी (अनुपदस्वतीम्) विनाशरहित, शरणदायिनी (नावं) भवसागर के पार उतारने वाली नाव के समान शरण में (आरोह) चढ़, जा बैठ, (तया) उससे (उपप्रचारय) अपने उस पति को और अपने को भी भवसागर या ऋण से पार उतार।

आ क्र॑न्दय धनपते व॒रमाम॑नसं कृणु ।
सर्वं॑ प्रदक्षि॒णं कृ॑णु॒ यो व॒रः प्र॑तिका॒म्य॑: ॥ ६ ॥

५–(प्र०) 'नावमारुह पूर्णामनुपरस्वतीम् । त्रयो पूपाहितं यः पतिः पतिकाम्यः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (धनपते) ऐश्वर्यवन् ! या कन्या के पितः ! उस (वरम्) वर को (आक्रन्दय) बुलाओ और उसको (आमनसं) अनुकूल चित्त वाला (कृणु) करो (यः) जो (वरः) वर (प्रतिकाम्यः) कन्या के अभिलाषा के अनुकूल है। हे वर ! तू (सर्वं) सबको (प्रदक्षिणं कृणु) अपने दायें रख कर प्रदक्षिणा कर अथवा (सर्वं प्रदक्षिणं कृणु) हे वर ! तू सर्व=अग्नि की प्रदक्षिणा कर। 'सर्व'=शर्वः, अग्नि के आठ नामों में से एक नाम है।

इदं हिरण्यं गुल्गुल्वयमौक्षो अथो भगः ।
एते पतिभ्यस्त्वामदुः प्रतिकामाय वेत्तवे ॥ ७ ॥

भा०—हे कुमारि ! (इदं) यह (हिरण्यं) स्वर्णमय अंगूठी या स्वर्णमुद्रा, (गुल्गुलु) यह गूगल का सुगन्धित द्रव्य, (अयम् औक्षः[1]) यह प्रोक्षण, अर्घ्य, पाद्य का जल या दूध का बना पदार्थ, (अथो) और (भगः) यह सौभाग्य, या सुभगंकरण द्रव्य, सौभाग्यसूचक कुंकुम आदि द्रव्य (एते) ये सब पदार्थ (पतिभ्यः) पतियों के आगे प्रस्तुत करने के लिये (प्रतिकामाय) तेरे प्रेम के बदले में तुझसे प्रेम दर्शाने हारे अपने प्रियतम को (वेत्तवे) प्राप्त करने के लिये (त्वाम्) तुझको (अदुः) पुरोहित एवं माता और पिता और भाई देते हैं।

आ ते नयतु सविता नयतु पतिर्यः प्रतिकाम्यः ।
त्वमस्यै धेह्योषधे ॥ ८ ॥

भा०—(सविता) सब का प्रेरक, उत्पादक परमात्मन् ! (ते) तेरे लिये हे कन्ये ! पति को (नयतु) प्राप्त करावे। और (यः) जो इस कन्या का

७-(प्र०) 'इदं हिरण्यं गुग्गुल्वय' इति क्वचित् पाठः। (प्र०) 'वयमुक्षो अथो भगः' (तृ०) 'त्वामधुः पतिकामाय' इति पैप्प० सं०।

१. सेचनार्थस्य उक्षते रूपम्, नचोक्ष्णो वृषभार्थस्य ताद्धितम्, इति ह्विटनिः।

(प्रतिकाम्यः) इसके प्रेम के एवज में इसको प्रेम से चाहता है वह (पतिः) पति इसको (नयतु) अपनी पत्नी बनाकर ले जावे । हे (ओषधे) पुष्टि-कारक ओषधे (त्वम्) तू (अस्यै) इस कन्या के गर्भ में उत्तम, पुष्ट, स्थापित वीर्य को (धेहि) धारण और पोषण कर ।

इति षष्ठोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि पञ्च, ऋचश्चैकत्रिंशत् ।]



इति द्वितीयं काण्डं समाप्तम् ।

तत्रानुवाकाः षट्, त्रिंशत् षट् च सूक्तान्यथो ऋचः ।
सप्ताधिकं च द्विशतं, द्वितीयं काण्डमिष्यते ॥



रामवस्वङ्कचन्द्रेऽब्दे फाल्गुने सितपक्षके ।
पञ्चम्यां मङ्गले काण्डं द्वितीयं पूर्त्तिमैत्, शुभम् ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालंकार-मीमांसातीर्थविरुदोपशोभितश्रीमज्जयदेवशर्मणाविरचिते अथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्ये द्वितीयं काण्डं समाप्तम् ।



* ओ३म् *

अथ तृतीयं काण्डम् ।

[१] शत्रु सेनाओं के प्रति सेनापति के कर्तव्य ।

अथर्वा ऋषिः । अग्निमरुदिन्द्रादयो बहवो देवताः । सेनामोहनम् । १ त्रिष्टुप् । २ विराड्गर्भा भुरिक् । ३, ६ अनुष्टुभौ, विराड् पुरोष्णिक् । षड्चं सूक्तम् ॥

अग्निर्नः शत्रून् प्रत्येतु विद्वान् प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम् ।
स सेनां मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः ॥ १ ॥

भा०—(अग्निः) आगे २ चलने वाला, सेना का अग्रणी, सेनापति (नः शत्रून्) हमारे शत्रुओं पर (प्रति एतु) चढ़ाई करे और वह (विद्वान्) सब शत्रुओं की माया और युद्ध की विद्याओं को भली प्रकार जानता हुआ (अभिशस्ति) चढ़ाई करने वाले. सब प्रकार से और सब ओरों से हमें घात करने हारे (अरातिम्) दानरहित, लुटेरे, शत्रु को (प्रतिदहन्) अपने आग्नेय अस्त्रों से जलाता, भूनता हुआ (सः) वह सेनापति (परेषां) पराये शत्रुओं की (सेनां) समस्त सेना को (मोहयतु) मोह में डालदे, उनको किंकर्तव्य-विमूढ़ करदे । और वह (जातवेदाः) सब उत्पन्न हुई घटनाओं को जानने हारा शत्रुओं को (निर्हस्तान्) निहत्था, शस्त्ररहित (कृणवत्) कर दे ।

---

[१] १–(प्र०) 'अग्निर्नो विद्वान् प्रत्येतु शत्रून्' इति पैप्प० सं० ।

यूयमुग्रा मरुत ईदृशे स्थाभि प्रेत मृणत सहध्वम् ।
अमीमृणन् वसवो नाथिता इमे अग्निर्ह्येषां दूतः प्रत्येतु विद्वान् ॥२॥

भा०—सेनापति का सेनाभटों के प्रति उपदेश है (मरुतः) वायु के समान तीव्र गति से जाने और बल पराक्रम का कार्य करने हारे वीरो! (यूयम्) तुम लोग सदा (उग्राः) अपने हथियारों को उठाये रहो और सदा बल बनाये रहो । (ईदृशे स्थ) अब युद्ध के अवसर में हो कि तुम शत्रु के प्रति (अभि प्रेत) चढ़ाई करो, (मृणत) उनको मारो और (सहध्वं) शत्रु के प्रहारों को सहन करो । (इमे) ये (नाथिताः) शत्रु को उपताप पैदा करने हारे (वसवः) राष्ट्र में बसने हारे प्रजागण ही हैं जो (अमीमृणन्) अपने शत्रुओं का नाश करते हैं । (एषां) इनमें से (दूतः) मुख्य प्रतिनिधि, सबसे अधिक शत्रुसेना का संतापक (अग्निः) अग्निस्वरूप सेनापति है जो (विद्वान्) सब कार्यों को जानने हारा होकर (प्रति एतु) शत्रु के प्रति गमन किया करे ।

अमित्रसेनां मघवन्नस्माञ्छत्रूयतीमभि ।
युवं तानिन्द्र वृत्रहन्नग्निश्च दहतं प्रति ॥ ३ ॥

साम० उ० ९ । ३ । ६ । २ ॥

भा०—हे (मघवन्) ऐश्वर्यसम्पन्न राजन् ! (अस्मान्) हम से (शत्रूयतीम्) शत्रुता का व्यवहार करती हुई (अमित्रसेनां) शत्रु-सेना को (अभि) लक्ष्य करके चढ़ाई कर । हे इन्द्र ! राजन् हे ! (वृत्रहन्) राष्ट्र

२–अमीमृडन् वसवो नाथितेभ्यो अग्निर्ह्येषां विद्वान् प्रत्येतु शत्रून् । इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'नाथितानिमे' इति लडविग्कामितः पाठः । (द्वि०) 'मृडयत सहध्वम् । अमीमृडन् वसवो नाथितासो अग्निर्हि शत्रून् प्रत्येति विध्यन्' इति 'ओफ्रेश्' कामितो मन्त्रपाठः ।

३–(तृ०) 'युवंतामिन्द्र' इति साम०, सायणाभिमतश्च ।

को घेरने हारे शत्रु के विनाशक ! और हे (अग्ने) सेनापते ! (युवं) आप दोनों (तान्) उन शत्रुओं के (प्रति दहतं) उनके अपराध के दण्ड में भस्म कर डालो, निर्मूल कर दो ।

प्रसूत इन्द्र प्रवता हरिभ्यां प्र ते वज्रः प्रमृणन्नेतु शत्रून् ।
जहि प्रतीचो अनूचः पराचो विष्वक्सत्यं कृणुहि चित्तमेषाम् ॥४॥

ऋ० ३ । ३० । ६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् (ते) तेरा (वज्रः) रथ (प्रसूतः) उत्कृष्ट रूप में सारथियों द्वारा चलाया हुआ (हरिभ्यां) वेगवान् घोड़ों से (प्रवता) उत्तम सुरक्षित मार्ग से (प्र एतु) आगे २ बढ़े और साथ ही (वज्रः) विद्युत् के समान खड्ग भी (शत्रून्) शत्रुओं को (प्रमृणत्) विनाश करता हुआ (प्र एतु) आगे २ बढ़े । और तू (प्रतीचः) सामने से लड़ाई करने वाले, (अनूचः) पीछे से आक्रमण करने वाले और (पराचः) दूर देश से आक्रमण करने वाले सब शत्रुओं को (जहि) विनाश कर और (एषां) इनके (चित्तम्) चित्त को (सत्यं) सचमुच (विष्वक्) अव्यवस्थित (कृणुहि) कर दे । अथवा—(विष्वक्) सब प्रकार से इनके चित्त को (सत्यं कृणुहि) सत्यपथानुगामी बना दे जिससे वे शत्रुभाव छोड़ कर श्रेष्ठ पुरुष हो जांय ।

इन्द्र सेनां मोहयामित्राणाम् ।
अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान् विषूचो विनाशय ॥ ५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! (अमित्राणाम्) शत्रुओं की (सेनां) सेना को (मोहय) किंकर्तव्यताविमूढ़ कर और (अग्नेः) अग्नि के

४–' विश्वं सत्यं कृणुहि विष्टमस्तु ' इति ऋ० । 'विश्वं विष्टं कृणुहि सत्यमेषाम्' इति पैप्प० सं० ।

५–(प्र०) ' मनोमोहनं कृण्व इन्द्रामित्रेभ्यस्त्वम् ' इति पैप्प० सं० ।

और (वातस्य) प्रचण्ड वायु के (भ्राज्या[1]) अस्त्र से (तान्) उनको (विपूचः) छिन्न भिन्न करके (विनाशय) नाश कर डाल। राजा शत्रु की सेना पर आग्नेयास्त्र और वायवास्त्र का प्रयोग करे।

इन्द्रः सेनां मोहयतु मरुतो घ्नन्त्वोजसा।
चक्षूंष्यग्निरा दत्तां पुनरेतु पराजिता ॥ ६ ॥

भा०—(इन्द्रः) राजा या ऐश्वर्यवान् या बिजुली के समान शस्त्रधारी पुरुष (सेनां) शत्रुसेना को (मोहयतु) व्याकुल विमूढ़ कर दे। (मरुतः) वायु के समान वेगवान् उग्र भट लोग (ओजसा) बड़े बल से (घ्नन्तु) मारें और (अग्निः) तीव्र आग्नेय अस्त्र उनके (चक्षूंषि) आंखों को (आदत्तां) हर ले। इस प्रकार वह शत्रुसेना (पुनः) बाद में (पराजिता) पराजित होकर (एतु) लौट जाय या हमारी शरण में आये।

[२] शत्रुसेना के प्रति सेनापति के कर्तव्य।

अथर्वा ऋषिः। सेनासंमोहनम्। अग्न्यादयो बहवो देवताः। १, ५, ६ त्रिष्टुभः। २–४ अनुष्टुभौ। षड्ऋचं सूक्तम् ॥

अग्निर्नो दूतः प्रत्येतु विद्वान् प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम्।
स चित्तानि मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः ॥ १ ॥

---

१. भ्रज गतौ इत्यस्मादुणादिरिन् सार्वधातुकः। बाहुलकाद्वा इञ्। वसिवपियजिभ्रजि इत्यादिषु सायणेन भ्रजेः पाठः कृतः नतु उणादौ क्वचित् भ्रजेः पाठः उपलभ्यते। क्षेमकरणत्रिवेदिनापि तथैवालेखि इति तच्चिन्त्यम्।

६–(प्र०) 'इन्द्रसेना' इति क्वचित् पाठः। (तृ०) 'चक्षूंष्यग्निराधत्ताम्' इति सायणाभिमतः पाठः।

[२] १–(प्र०) 'प्रत्येतु शत्रून्' इति पैप्प० सं०।

भा०—(नः दूतः अग्निः विद्वान् अभिशस्तिम् अरातिम् प्रतिदहन् प्रति एतु) हमारा मुख्य प्रतिनिधि विद्वान् अग्निरूप अग्रणी=सेनापति हम पर चढ़ाई करने वाले शत्रु को संताप देता हुआ शत्रु पर चढ़ाई करे। (सः परेषां चित्तानि मोहयतु) वह शत्रुओं के चित्तों को विमूढ़ करदे। और (जातवेदाः) स्वयं सब का ज्ञान करता हुआ (निर्हस्तान् कृणवत्) शत्रुओं को निहत्था करदे। (देखो व्याख्या अथर्व० ३। १। १॥)

अयमग्निरमूमुहद् यानि चित्तानि वो हृदि।
वि वो धमत्वोकसः प्र वो धमतु सर्वतः॥ २॥

भा०—हे शत्रुओ! (वः) आप लोगों के (हृदि) हृदय में (यानि) जितने (चित्तानि) चेतना सामर्थ्य हैं (अयम्) यह (अग्निः) अग्नि, सेनापति उनको भी (अमूमुहत्) विनाश करे और (वः) आप लोगों को (ओकसः) अपने मोरचा के स्थान, दुर्ग से भी (वि धमतु) निकाल बाहर करे और (सर्वतः) सब स्थानों में (वः) आप लोगों को (प्र धमतु) पछाड़ दे।

इन्द्र चित्तानि मोहयन्नर्वाङाकूत्या चर।
अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान् विषूचो वि नाशय॥ ३॥

भा०—हे इन्द्र! राजन्! (चित्तानि) शत्रुओं के चित्तों को (मोहयन्) विमूढ़ करता हुआ (आकूत्या) हमारे अनुकूल सम्मति, सद्-बुद्धि से (अर्वाङ्) हमारे प्रति (चर) आ और (अग्नेः) अग्नि और (वातस्य) प्रचण्ड वायु की (ध्राज्या) गति से (तान्) उन शत्रुओं को (विषूचः) छिन्न भिन्न करके (विनाशय) विनष्ट कर डाल। (देखो अथर्व० ३। १। ५)

२-(तृ०) 'वि वो धमात्योकसः' इति पैप्प० सं०।
३-(द्वि०) 'आकूत्या अधि' इति पैप्प० सं०।

व्या/कूतय एषामिताथो चित्तानि मुह्यत ।
अथो यद्द्यैषां हृदि तदेषां परि निर्जहि ॥ ४ ॥

भा०—हे (आकूतयः[1]) सद्-विचारो ! (एषां) इन शत्रुओं से तुम (वि इत) विपरीत हो जाओ (अथो) और इनके (चित्तानि) चित्तों को (मुह्यत) मूढ़ कर दो । (अथो) और (यद्) जो (अद्य) आज (एषां) इनके (हृदि) हृदय में चिन्तित मनोरथ है (तद्) वह भी (एषां) इनका (परि निर्जहि) सब प्रकार से नाश हो जाय ।

' वि आऽकूतयः '—ऐसा पदपाठ होने पर भी 'व्याकूतयः' सायण ने एक पद माना है ।

अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि ।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैर्ग्राह्यामित्रांस्तमसाविध्य शत्रून् ॥ ५ ॥

यजु० १७ । ४४ ॥ ऋ० १० । १०३ । १२ ॥

भा०—हे (अप्वे[1]) व्याधि और भय ! पापवृत्ते ! (अमीषां) इन शत्रुओं के (चित्तानि) चित्तों को (प्रतिमोहयन्ती) मुग्ध, व्याकुल करती हुई इनके (अंगानि) शरीरों को (गृहाण) जा पकड़ । (पराइहि) हमारे यहां से परे चली जा और (अमित्रान्) शत्रुओं को (अभिप्रेहि) प्राप्त हो और उनको (शोकैः) शोकों द्वारा (निर्दह) भस्म कर डाल और हमारे (ग्राह्या) अज्ञान की जकड़ से और (तमसा) अन्धकार से (शत्रून्) शत्रुओं को (विध्य) वेध डाल, विनाश कर ।

४–१. 'व्याकूतय' इत्येकं पदम् सा० भा० ।

५–(प्र०) 'अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती' (च०) 'अन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम्' इति ऋ० ।

१. अपवाययति, अपगमयति सुखं प्राणांश्चेति अप्वा, पापदेवता । भयजनितातीसारादयो व्याधयोऽप्वाः इति वेवरः । यथा चाह व्यासो महाभारते भीष्मपर्वणि–'श्रुत्वातु निनदं योधाः शकृन्मूत्रं प्रसुस्रुवुः' । भी० प० १ । १८ ॥

असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना ।
तां विध्यत तमसापंव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात् ॥ ६ ॥

ऋ० १० । १०३ । परि० ॥ साम० उ० ९ । ३ । ४ । ३ ॥ यजु० १७ । ४७ ॥

भा०—(मरुतः) हे सेना के वायु समान 'प्रचण्ड' वेगवान् सुभट पुरुषो ! (या) जो (असौ) यह (परेषां) शत्रुओं की (सेना) सेना (ओजसा) अपने बल से (स्पर्द्धमाना) स्पर्द्धा करती हुई (अस्मान्) हम पर (अभि एति) चढ़ती चली आ रही है (तां) उसको (अपव्रतेन) कार्यव्यापार में शिथिल कर देने वाले (तमसा) अन्धकार से ऐसा (विध्यत) पीड़ित कर कि (यथा) जिस प्रकार (एषां) इनमें से (अन्यः) एक (अन्यं) दूसरे को भी (न जानात्) न जान पावे ।



[२] राजा की पुनः स्थापना ।

अथर्वा ऋषिः । नाना देवाः अग्निर्वा देवता । १, २, ४ त्रिष्टुभः । ३ चतुष्पदा भुरिक्पंक्तिः । ५, ६ अनुष्टुभौ । षड्टचं सूक्तम् ॥

अचिक्रदत् स्वपा इह भुवदग्ने व्यचस्व रोदसी ऊरूची ।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आमुं नय नमसा रातहव्यम् ॥१॥

ऋ० ६ । ११ । ४ ॥

६–(द्वि०) 'अस्मानभ्येति नः' यजु०, साम० । (तृ०) 'तां गूहत' इति सा० । (च०) 'अमीषां' ऋ० प० । 'एतेषां' साम० । 'च जानन्' यजु० ।

[२] १–अदिद्युतत् स्वपाको विभावाऽग्ने यजस्व रोदसी उरूची । आयुं नय नमसा रातहव्या अञ्जन्ति सुप्रयसं पंचजनाः । इति मै० सं० । (प्र०) भवदग्ने (तृ० च०) ' अमुं नय नमसा रातहव्यो युजन्ति सुप्रजसं पंचजनाः ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—राजा राष्ट्र को प्राप्त करे इस का उपदेश करते हैं- हे अग्ने ! सेनापते ! (स्वपाः) निज प्रजा का उत्तम रूप से पालने वाला राजा (अचिक्रदत्) सर्वत्र अपनी शासन-घोषणाएं करता हुआ और राष्ट्र के अधिकारियों को बुलाता हुआ (इह भुवद्) इस राष्ट्र में शासन करने में समर्थ है। हे (अग्ने) सब के अग्रणी नेता ! तू (उरूची) बड़े सर्वव्यापक (रोदसी) द्यौ और पृथिवी के समान राजवर्ग=शासकवर्ग और प्रजा=शास्य वर्ग दोनों को (व्यचस्व) अपने वश कर। (विश्ववेदसः) समस्त विद्याओं, देशों और पदार्थों को जानने हारे (मरुतः) विद्वान् गण (त्वा) तेरे साथ (युञ्जन्तु) सहयोग करें (रातहव्यम्) अपनी प्रजा से हव्य अपना षष्ठांश रूप कर प्राप्त करने हारे (अमुं) इस राष्ट्रपति राजा को (नमसा) बड़े भारी आदर सत्कार पूर्वक (आ नय) राष्ट्र पर आरूढ कर। एक वार राष्ट्र हाथ से निकल जाने पर भी पुनः सेनापति को चाहिये कि वह अपने हाथ से गये राष्ट्र पर अपने राजा को आरूढ करे और राष्ट्र से उसको कर दिलवादे और विद्वानों को अपने साथ मिलाये रक्खे।

ब्रह्मपक्ष में हे अग्ने ! (इह) तू इस संसार में 'सु-अपाः' उत्तम कर्म ज्ञान सम्पन्न, (भुवद्) है। (उरूची रोदसी व्यचस्व) तू विशाल पृथिवी और द्यौ को व्याप्त करता या फैलाता है। (विश्ववेदसः मरुतः त्वा युंजन्तु) ज्ञानी विद्वान् तुझे योग से साक्षात् करते हैं। हे पुरुष (अमुं) उस (रातहव्यं) अन्न और ज्ञान सुखप्रद परमेश्वर को (नमसा नयः) भक्ति से प्राप्त कर। प्राप्त्यर्थोऽत्र णीः।

अध्यात्मपक्ष में — यह आत्मा इस देहरूप राष्ट्र में सब इन्द्रियों का पालक शुभकर्मकर्त्ता दोनों प्राण और अपान पर वश करता है सब महत्=प्राण उसके साथ सहयोग करें। परमात्मा उस जीवात्मा को अन्न और ज्ञान द्वारा पुष्ट करके सन्मार्ग पर ले जावे।

दूरे चित् सन्तमरुषास इन्द्रमा च्यावयन्तु सख्याय विप्रम् ।
यद् गायत्रीं बृहतीमर्कमस्मै सौत्रामण्या दधृषन्त देवाः ॥ २ ॥

भा०—(अरुषासः) रोषरहित, प्रेमयुक्त प्रजाएं एवं ज्ञानसम्पन्न विद्वान् पुरुष (दूरे चित्) दूर देश में (सन्तं) विद्यमान होते हुए भी (विप्रम्) बुद्धिमान् ' इन्द्रम् , ऐश्वर्यवान् प्रभु और राजा को (सख्याय) अपने सख्य=सौहार्द के कारण (आच्यावयन्तु) बुलाते हैं । (यत्) और तब (गायत्रीम्) गायत्री, ब्रह्मबल और (बृहती) बृहती छन्द, क्षत्रबल स्वरूप (अर्कं) सूर्य के समान पूजनीय (अस्मै) इस राजा को (देवाः) विद्वान् पुरुष (सौत्रामण्या) सौत्रामणी याग से (दधृषन्त) पुनः पुनः पुष्ट करते हैं ।

अद्भ्यस्त्वा राजा वरुणो ह्वयतु सोमस्त्वा ह्वयतु पर्वतेभ्यः ।
इन्द्रस्त्वा ह्वयतु विड्भ्य आभ्यः श्येनो भूत्वा विश आ पतेमाः ॥३॥

भा०—युद्धकाल में विपत्तिग्रस्त राष्ट्र के राजा के तीन ही आश्रय-स्थल होते हैं—१ समुद्र या जलीय प्रदेश; २ पर्वत प्रदेश, ३ अपनी प्रजाएं । इन तीनों स्थलों से भी राजा को बुला कर राष्ट्र पर आरूढ़ करे। (अद्भ्यः) जलमय प्रदेशों से (वरुणः) सब से श्रेष्ठ, सब से बड़ा (राजा) राजा (त्वा) तुझ राजा को (ह्वयतु) बुला कर, प्रेरित करके उस राज्य रहित राष्ट्र पर भेजे । इसी प्रकार (पर्वतेभ्यः) यदि वह पर्वतमय प्रदेशों में हो तो वहां से (सोमः) ओषधियों का राजा या ब्राह्मण विद्वान् , (त्वा)

२–(च०) 'दध्शन्त' इति पैप्प० सं० । 'ददृहन्त' इति ह्विटनि-कामितः पाठः ।

३–(प्र० द्वि०) 'वरुणो जुहाव सोमस्त्वा यं ह्वयति०' (तृ०) इन्द्रस्त्वा यं ह्वयति' इति पैप्प० सं० ।

तुझ राजा को (ह्वयतु) बुला कर राष्ट्र पर शासन करने की आज्ञा दे। (इन्द्रः) प्रजाओं का ऐश्वर्यशील मुख्य भाग भी (त्वा) तुझ को बुला-ले। हे राजन् ! (आभ्यः) इन प्रजाओं के लिये (श्येनः) ज्ञानवान् और पक्षियों में बाज़ के समान शत्रु पर आक्रमणकारी बलवान् या श्येन व्यूहा-कार होकर (इमाः) इन (विशः) प्रजाओं में (आपत) आ और प्रवेश कर।

श्येनो हव्यं नयत्वा परस्मादन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तम्।
अश्विना पन्थां कृणुतां सुगं त इमं सजाता अभिसंविशध्वम् ॥४॥

भा०—(अन्यक्षेत्रे) दूसरे के राष्ट्र में या आहाते में (चरन्तं) विचरते हुए (अपरुद्धं) शत्रुओं से घिरे हुए या कारागार में रुद्ध (हव्यं) अपनी प्रजाओं से बुलाये जाने योग्य (त्वा) तुझ उत्तम राजा को (परस्मात्) दूसरे के राष्ट्र से (श्येनः) ज्ञानवान् चतुर दूसरे के राष्ट्र से वेगपूर्वक हर ले जाने वाला पुरुष (आनयतु) निकाल लावे । और (अश्विनौ) दो प्रकार के गुप्तचर एक नगर में रहने वाले दूसरे अरण्य में रहने वाले दोनों हे राजन् ! (ते) तेरे (पन्थां) मार्ग को (सुगं) सुख-पूर्वक जाने योग्य (कृणुतां) करें और हे (सजाताः) उस राजवंश के अन्य सगोत्र भाइयो ! (इमं) पुनः राष्ट्र में आये हुए इस राजा को आप लोग (अभि-सं विशध्वम्) प्राप्त कर उससे मिल कर अपना राष्ट्र बसा-ओ और पालन करो।

ह्वयन्तु त्वा प्रतिजनाः प्रति मित्रा अवृषत।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्ते विशि क्षेममदीधरन् ॥ ५ ॥

४–(प्र०) 'श्येनो हविः' इति पैप्प० सं०। (द्वि०) 'अवरुद्धं चरन्तं' इति क्वचित्कः ।

५–(प्र०) 'वयन्तु' इति क्वचित्, सायणाभिमतश्च पाठः । 'ह्वयन्तिस्वा पञ्चजनाः' (द्वि०) 'वर्षत' (च०) 'क्षेममदीधरः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे राजन् ! (प्रतिजनाः) तेरे प्रतिकूल लोग भी (त्वा ह्वयन्तु) तेरे अनुकूल होकर तुझे बुलावें और (मित्राः) मित्रजन भी (त्वा प्रति) तेरे प्रति (अवृषत) अपना सर्वस्व अर्पण करें। (इन्द्राग्नी) इन्द्र, विद्युत् और अग्नि और (विश्वेदेवाः) समस्त राष्ट्र के विद्वान्गण या दिव्य पदार्थ (ते विशि) तेरी प्रजा में (क्षेमम्) कल्याण सुख और सम्पत्तियों का (अदीधरन्) धारण करावें।

यस्ते हवं विवद॑त् सजातो यश्च निष्ट्यः ।
अपाञ्चमिन्द्र तं कृत्वाथेममिहाव गमय ॥ ६ ॥

भा०—हे राजन् ! (यः) जो (सजातः) चाहे तेरे अपने गोत्र का या समान बल हो या चाहे (निष्ट्यः) तुझ से नीच वर्ण का या निर्बल हो, जो कोई भी (ते) तेरे (हवं) प्रजाओं की तरफ से पुनः राज्य सिंहासन पर आरूढ होने के प्रस्ताव का या तेरे शासन का (वि वदत्) विरोध करे हे इन्द्र ! राजन् ! (तं) उसको (अपाञ्चं कृत्वा) देश से बाहर या सभा भवन से बाहर करके और (इमं) उसको (इह) इस राष्ट्र में दण्डित रूप से (अव गमय) विदित करादे ।



[४] राजा का राज्याभिषेक ।

अथर्वा ऋषिः । इन्द्रो देवता । १ जगती । ५, ६ भुरिजौ । २, ३, ४, ७ त्रिष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

आ त्वा॑ गन् राष्ट्रं स॒ह वर्च॒सोदि॑हि॒ प्राङ् वि॒शां पति॑रेक॒राट् त्वं वि रा॑ज
सर्वा॑स्त्वा राजन् प्र॒दिशो॑ ह्वयन्तूप॒सद्यो॑ नम॒स्यो॑ भवे॒ह ॥ १ ॥

[४] १–(प्र०) 'आ त्वा अगत्' इति ह्विटनिकामितः पदच्छेदः । (द्वि०) 'प्राक्विशां' इति पैप्प० सं०, सायणाभिमतश्च ।

भा०—राजा को राजसिंहासन पर स्थापित करने का उपदेश करते हैं—हे (राजन्) राजन् ! सबसे अधिक गुणों में प्रकाशमान और सब प्रजाओं के चित्तों को अनुरंजन करने हारे पुरुष ! (त्वा) तुझको (राष्ट्रं) यह राष्ट्र (आगन्) प्राप्त होता है—तेरे हाथों सौंपा जाता है । तू (वर्चसा) अपने पराक्रम और वर्चः-तेज के साथ सूर्य के समान (उद् इहि) ऊपर उठ, उन्नति कर । तू (प्राङ्) सबसे आगे चलने हारा, नेता होने के कारण (विशां) समस्त प्रजाओं का (पतिः) पालक है । (त्वं) तू (एकराट्) एकमात्र सर्वोपरि अधिकारी होकर (विराज) शोभा दे—विराजमान हो । हे राजन् ! (त्वा) तुझको (सर्वाः) समस्त (प्रदिशः[1]) दिशा प्रदिशाओं के वासी अर्थात् उत्तम मार्ग दर्शाने वाली समितिएं (ह्वयन्तु) आदरपूर्वक बुलावें और तेरा स्वागत करें (इह) इस राष्ट्र में तू सब का (उपसद्यः) प्राप्त करने योग्य, शरण योग्य और (नमस्यः) आदर करने योग्य (भव) हो ।

जिसको समस्त राष्ट्र चुने जो नेता हो, वही सबसे मुख्य राज-पद पर स्थापित किया जाय । सब अधीन देश उसको अपना राजा स्वीकार करें । सब व्यक्ति अपने कष्टों को उससे कहें और सब उसका आदर करें ।

त्वां विशो॑ वृणतां राज्या॑य॒ त्वामि॒माः प्र॒दिशः॒ पञ्च॑ दे॒वीः ।
वर्ष्म॑न् रा॒ष्ट्रस्य॑ क॒कुदि॑ श्रयस्व॒ ततो॑ न उ॒ग्रो वि भ॑जा॒ वसू॑नि ॥२॥

१. प्रपूर्वाद् दिशतेरिव प्रादेशिको गुरुः । प्रकृष्टं दिशन्ति इति प्रदिशः विद्वत् सभाः ।

२–(द्वि०) ' त्वां हवन्त मरुतः स्वर्काः ?' (प्र०) 'गावोऽवृणन्राज्याय' (तृ०) ' क्षत्रस्य ककुभि शिश्रियाणः ' इति तै० सं० । तत्रैव (द्वि०) ' त्वां वर्धन्ति ' (तृ०) ' क्षत्रस्य ककुभिः ' इति मै० सं० । ' राष्ट्रस्य ककुधि ' (प्र०) ' वृणुताम् ' (च०) ' अतो वसूनि वि भजास्युग्रः ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—राजा को समस्त प्रजाएं स्वयं चुनें और चुना हुआ राजा समस्त राष्ट्र की सम्पत्तियों को प्रजा में बांटें इसका उपदेश करते हैं। हे राजन्! (विशः) समस्त देश में बसने हारी प्रजाएं (राज्याय) राज्य अर्थात् अपने ऊपर शासन करने के लिये (त्वां) तुझको (वृणतां) स्वयं चुनें। (इमाः) ये (देवीः) विद्वानों की बनी हुई (पंच) पांच (प्रदिशः) उत्तम मार्ग दर्शाने वाली विद्वत्समितियां भी वरण करें। (राष्ट्रस्य) समस्त राष्ट्र के (वर्ष्मन्) शरीर में, समस्त अहाते में से (ककुदि) सबसे उत्तम स्थान सिंहासन एवं श्रेष्ठ सम-प्रदेश राजधानी में (श्रयस्व) तू आश्रय ले, अपना राजमहल बनाकर निवास कर या राजसिंहासन पर विराजमान हो (ततः) उसके बाद (उग्रः) सदा राजदण्ड का बल उठाये रखकर (नः) हम प्रजाओं में यथोचित रीति से (वसूनि) राष्ट्र के बसने योग्य जीवनोपयोगी धनों को (वि भज) न्यायपूर्वक विभाग कर।

अच्छ॑ त्वा यन्तु ह॒विनः॑ सजा॒ता अ॒ग्निर्दू॒तो अ॑जि॒रः सं च॑राते।
जा॒याः पु॒त्राः सु॒मन॑सो भवन्तु ब॒हुं ब॒लिं प्रति॑ पश्यासा उ॒ग्रः ॥३॥

भा०—(सजाताः) तेरे समान उच्चवंश में उत्पन्न हुए कुलीन एवं तेरे समान बल, प्रभाव एवं उत्तम गुणों में सम्पन्न पुरुष हो (हविनः) हव=आज्ञाकारी शासक होकर (त्वा) तेरे अनुकूल (अच्छ) भली प्रकार (यन्तु) चलें। (अजिरः) न जीर्ण होने वाला या वेगवान् तुझ से प्रेरित हुआ (अग्निः[1]) विद्वान् राष्ट्र का अग्रणी या अग्नि के समान असह्य होकर सुखस्वरूप (दूतः) तेरा प्रतिनिधि पुरुष (सं चराते) सर्वत्र समानभाव से विचरण करे। (जायाः) स्त्रियां और (पुत्राः) पुत्र

३–' यन्तु भुवनस्य जातोऽग्निर्दूतोवजरसे दधाति ' (तृ०) ' आयास्पुत्राः ' इति पैप्प० सं०।

१. त्वयाप्रेरितो गमनशीलो।

(सुमनसः) उत्तम मनवाले (भवन्तु) हों। और तू (उग्रः) न्यायव्यवस्था को वनाये रखता हुआ (वहुं) वहुत प्रकार के (वलिं) करों को (प्रति पश्यासे) स्वीकार कर या उनकी नियोजना कर।

अश्विना त्वाग्रे मित्रावरुणोभा विश्वे देवा मुरुतस्त्वा ह्वयन्तु ।
अधा मनो वसुदेयाय कृणुष्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि ॥४॥

भा०—हे राजन् ! (त्वा) तुझ को (अग्रे) सब से प्रथम (अश्विना) दोनों अश्विगण-सेनापति और सभापति और (मित्रा वरुणा) मित्र और वरुण मित्र=पुलिस विभाग का अध्यक्ष और गुप्तचर विभाग का अध्यक्ष ये दोनों और (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान् गण और (मरुतः) समस्त सैनिक लोग या समस्त वैश्यगण भी (त्वा) तुझको (ह्वयन्तु) अपना राजा स्वीकार करें। (अध) और तू भी (मनः) अपना संकल्प (वसुदेयाय) उत्तम धनों को प्रजा के प्रति निछावर करने के लिये ही (कृणुष्व) वनाये रख। (ततः) तदनुसार ही (नः) हमें (उग्रः) उद्यत दण्ड हो (वसूनि) समस्त सम्पदाएं (वि भज) विविध प्रकारों से विभाग कर।

जैसा कालिदास ने लिखा है:—

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो वलिमग्रहीत् ।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ॥

राजा दिलीप प्रजाओं की लक्ष्मी-वृद्धि के लिये प्रजाओं से वलि=कर लिया करता था। सूर्य भी तो पृथिवी से रस इसीलिये ऊपर को खींच लेता है कि पुनः वह उसे सहस्र गुणा लाभकारी वना कर वरसा दे।

४–(तृ० च०) 'सजातानां मध्यमेष्ठाहमस्यस्मेक्षेत्रो सविते विराज' इति पैप्प० सं०।

अथवा-(अश्विनौ) सूर्य और पृथिवी (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण मेघ और समुद्र और विश्व देव और (मरुतः) वायु सब उस राजा को (ह्वयन्तु) उपदेश करें अर्थात् उसको अपना २ गुण सिखावें । अर्थात् राजा सूर्य के समान प्रजा से बलि ले, पृथिवी के समान सब का आश्रय हो, पर्जन्य-मेघ के समान सब पर समान भाव से सुखों, अन्नों और कृपा का वर्षक हो, समुद्र के समान गम्भीर गुणरत्नों का आकार हो, इसी प्रकार समस्त दिव्य पदार्थों के गुण उसमें हों वह वायु के समान उग्रकर्मा हो ।

जैसा कि मनु भगवान् ने लिखा है:—

इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥
यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः ।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥
तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च ।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥
सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोर्कः सोमः स धर्मराट् ।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥ (मनु० अ० ७)

इन्द्र, वायु, सूर्य, अग्नि और वरुण, चन्द्र कुबेर इन सब के गुणांशों को एकत्र कर राजा बनाया जाता है । इस कारण समस्त प्राणियों को अपने तेज से दबा लेता है । वह सूर्य के समान सब के चित्तों और मनों को तपाता है, उसकी तरफ़ कोई आंख उठा कर भी नहीं देख सकता, वह अपने प्रभाव से ही साक्षात् अग्नि है, वायु है, सूर्य है, सोम है, धर्मराज है, कुबेर है, वरुण है और वही महेन्द्र है ।

आ प्र द्रव परमस्याः परावतः शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम्।
तदयं राजा वरुणस्तथाह स त्वायमह्वत् स उपेदमेहि ॥ ५ ॥

भा०—हे राजन्! (परमस्या परावतः) अत्यन्त दूर देशों तक भी तू (आ प्र द्रव) जाया कर और वहां से पुनः अपनी राजधानी में आ जाया कर। इस दौरे के कार्य में (उभे) दोनों (द्यावापृथिवी) नर और नारी, राजा और प्रजावर्ग, द्यौ और पृथिवी (ते) तेरे लिये (शिवे) मंगलकारी (स्ताम्) होवें (तत्) तभी (अयं) यह (राजा) राजा (सः) वह (वरुणः) वरुणस्वरूप है, परमात्मा का प्रतिनिधि शासक है। (सः) वह ही (त्वा) तुझ को (अयम्) यह ईश्वर (अह्वत्) उपदेश करता है कि (स इदं उप एहि) वह ही तू योग्य पुरुष इस पद को प्राप्त हो।

इन्द्रेन्द्र मनुष्याः परेहि सं ह्यज्ञास्था वरुणैः संविदानः।
स त्वायमह्वत् स्वे सधस्थे स देवान् यक्षत् स उ कल्पयाद् विशः॥६॥

(इन्द्र, इन्द्र) हे ऐश्वर्यशील 'इन्द्र' नाम से पुकारने योग्य, साक्षात् इन्द्ररूप राजन्! (मनुष्याः=मनुष्यान्) समस्त मानवों को (परेहि) लांघ कर उनसे परे रह, उनको अपने वश कर और (वरुणैः) शासकविभाग में नियुक्त अधिकारियों, या वरण करने वाले प्रजा के प्रतिनिधियों, उसको घेर कर बैठने वाले अमात्यों द्वारा (संविदानः) समस्त राष्ट्र की बातों पर विचार और सहमति कर (हि) निश्चय से तू सब कुछ (सं अज्ञास्थाः)

५–(द्वि०) 'उभे बभूतम्' (च०) 'अह्वत् स्वेनमेहि' इति पैप्प० सं०। (प्र०) 'आप्रेहि परमस्याः परावतः' इति मै० सं०।

६–'इन्द्र इव मनुष्यः परेहि संह्यशास्था वर्णैः संविदानः' इति ह्विटनिकामितः पाठः। 'इन्द्रो इदं मनुष्य प्रेहि संयशियारत्वा वरुणेन संविदानः [?]' इति पैप्प० सं०।

ठीक २ प्रकार से निश्चय कर लिया कर । (सः अयम्) वह यह मनुष्य-लोक ही (त्वा) तुझ को (स्वे) अपने (सधस्थे) सभास्थान समाज और गृहों पर (अह्वत्) आदरपूर्वक बुलाता है । (सः) वह तू राजा ही (देवान्) विद्वान् पुरुषों को (यक्षत्) स्थान पर नियुक्त करता है । (सः उ) वह राजा ही (विशः) समस्त प्रजाओं को (कल्पयात्) सुव्यवस्थित करता है उनको उनके व्यापारों में लगाता है । अथवा—(स अयम्) हे प्रजाजनो ! वह राजा ही राष्ट्र प्रजा को (स्वे सधस्थे) अपने राजभवन में (अह्वत्) बुलाकर एकत्र करता है । (स देवान् यक्षत्) विद्वानों को सादर एकत्र करता और (सः उ विशः कल्पयात्) वह ही प्रजाओं को उनके कार्यों में व्यवस्थित करता है ।

पथ्या/रेवतीर्बहुधा विरूपाः सर्वाः सङ्गत्य वरीयस्ते अक्रन् ।
तास्त्वा सर्वाः संविदाना ह्वयन्तु दशमीमुग्रः सुमना वशेह ॥ ७ ॥

भा०—(पथ्याः) धर्ममार्ग को न त्यागने हारी, (रेवतीः) धनसम्पन्न, (विरूपाः) नाना प्रकार की (सर्वाः) सब प्रजाएं (बहुधा) प्रायः (ते) तेरे (वरीयः) वरण करने योग्य निर्वाचन किये गये राजपद को (अक्रन्) नियत करती हैं । इसलिये (ताः सर्वाः) वे सब प्रजाएं (संविदानाः) अपना ऐकमत्य करके (त्वा ह्वयन्तु) तेरे प्रति अपना मत, अभिप्राय प्रकट करें । और उस अवस्था के (उग्रः) उग्र, राजदण्ड को अपने हाथ में लेकर तेजस्वी होकर भी (सुमनाः) शुभ चित्त से युक्त होकर (इह) इस राष्ट्र मे (दशमीम्) दशावरा परिषद् को (वश) अपने वश किया कर, उसमें सभापति होकर विराजमान हो ।

त्रैविद्यो हेतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः ।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत् स्याद् दशावरा ॥ मनु० १२।१११॥

७–' वसेह ' इति सायणाभिमतः पाठः ।

सायणने ६० वर्ष से ऊपर के १० वर्षों को 'दशमी' दशमी शब्द से लिया है ।

---

[५] 'पर्णमणि' के रूप में प्रधान पुरुषों का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । सोमो देवता । पुरोनुष्टुप् , त्रिष्टुप् , विराड् उरोबृहती । २–७ अनुष्टुभः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

आयमंगन् पर्णमणिर्बली बलेन प्रमृणन्त्सपत्नान् ।
ओजो देवानां पय ओषधीनां वर्चसा मा जिन्वत्वप्रयावन् ॥ १ ॥

भा०—(अयं) यह (पर्णमणिः) उत्तम ज्ञानवान् , पालन करने हारा शिरोमणि पुरुष राष्ट्र में (आ अगन्) आता है जो (बली) बलवान् होकर (बलेन) अपने बल से (सपत्नान्) शत्रुओं को (प्रमृणन्) विनाश करता है । वही (देवानां) समस्त दिव्य शक्तियों या राष्ट्र के देवों के (ओजः) तेज और बल का साक्षात् रूप है और (ओषधीनां) समस्त ओषधियों का (पयः) रस जिस प्रकार सब रोगों को दूर करता है उसी प्रकार वह राष्ट्र की सब त्रुटियों को दूर करता है । वही (अप्रयावन्) विना प्रयाण किये अथवा विना प्रमाद के (मा) मुझे, राष्ट्र के कार्य करने हारे पुरुष को (वर्चसा) अपने तेजःसामर्थ्य से (जिन्वतु) ठीक २ मार्ग में प्रेरित करे ।

मयि क्षत्रं पर्णमणे मयि धारयताद् रयिम् ।
अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः ॥ २ ॥

---

[५] १–(च०) 'मयि राष्ट्रं जिन्वत्वप्रयुच्छन्'
२–(द्वि०, तृ०) 'अहं क्षत्रस्याभीवर्गे यजा भूयासमुत्तरा' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे पर्णमणे ! पालन करने और भरण पोषण करने हारे पुरुष-रत्न ! तुम (मयि) मुझे (क्षत्रं) क्षत्र- क्षात्र बल और (रयिम्) धन धान्य पदार्थ (धारयताद्) धारण करा। जिसके आधार पर (अहं) मैं (राष्ट्रस्य) इस राष्ट्र के (अभीवर्गे) शासक वर्ग में (निजः) उनका निज, आत्मीय बन्धु होकर भी (उत्तमः) सबसे उत्कृष्ट होकर (भूयासम्) रहूं।

यं निदधुर्वनस्पतौ गुह्यं देवाः प्रियं मणिम् ।
तमस्मभ्यं सहायुषा देवा ददतु भर्तवे ॥ ३ ॥

भा०—(यं) जिस (प्रियं) प्रिय (गुह्यं) सुगुप्त (मणिम्) बहु-मूल्य मणि को (देवाः) देवों, विद्वानों ने (वनस्पतौ) वनस्पति=वृक्ष के समान—राष्ट्र के पालक रूप में (निदधुः) गुप्तरूप से रखा है। हे (देवाः) देवगण ! विद्वान् पुरुष (तं) उस (मणिं) सारवान् बहुमूल्य नरशिरोमणि को (अस्मभ्यं) हम प्रजा के (भर्त्तवे) भरण पोषण करने एवं धारण करने के लिये (आयुषा सह) आयु—दीर्घजीवन के सहित प्रदान करें।

(वनस्पतौ) वृक्ष जिस प्रकार गुप्त रूप से ईश्वर की दिव्य शक्तियों से बहुत उत्तम मणिरूप सारभूत पदार्थ को कितने ही आवरणों के भीतर रख लेता है जिन को यथावत् उपयोग करने से मनुष्य की आयु बढ़ती है उसी प्रकार राष्ट्ररूप वृक्ष में उसके मणिभूत नेता विद्यमान हैं जो सदा सुगुप्त रहते हैं। प्रजाजन को चाहिये, राज्य की दीर्घायु के लिये और अपनी यथासुख आयु भोग करने के लिये उस मुख्य शिरोमणि पुरुष को प्राप्त करें और विद्वानों से उसको राष्ट्रपति बनाने का आग्रह करें।

३-(द्वि०, तृ०, च०) 'वाजिं देवाः प्रियं निधिम्, ते मा इन्द्रः सहायुषा ददातु भर्तवे ' इति पैप्प० सं०।

सोमस्य पर्णः सह उग्रमागन्निन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टः ।
तं प्रियासं बहु रोचमानो दीर्घायुत्वायं शतशारदाय ॥ ४ ॥

भा०—(सोमस्य) सोमरूप राष्ट्र का (पर्णः) पालन करने हारा विद्वद्गण (इन्द्रेण) राजा की शक्ति के साथ मिल कर (उग्रम्) बल को (आगन्) प्राप्त होता है । वह विद्वद्गण भी (इन्द्रेण दत्तः) राजाशक्ति से बहुत ऐश्वर्य आदि पाकर (वरुणेन) राष्ट्र के कष्टनिवारक या सर्वश्रेष्ठ वरण करने योग्य शासक द्वारा (शिष्टः) अनुशासित होता है । मैं राजा भी (शतशारदाय) सौ वर्षों के (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन को प्राप्त करने के लिये उस विद्वद्गण सहित (बहु रोचमानः) प्रजा का बहुत प्रिय एवं सुशोभित और संमानित होता हुआ (तं) उस विद्वत्समूह को (प्रियासं) पालन पोषण करूं ।

आ मारुक्षत् पर्णमणिर्मह्या अरिष्टतातये ।
यथाहमुत्तरोसान्यर्यम्ण उत संविदः ॥ ५ ॥

भा०—राजा भी इस बात का विचार रखे कि (पर्णमणिः) प्रजा की रक्षा एवं पालन और पोषण करने हारा, शिरोमणि पुरुष अमात्य या मन्त्री के समान होकर (मह्या) बड़े भारी कल्याण अर्थात् (अरिष्टतातये) राष्ट्र को नाश होने से बचाने के लिये (मा आरुक्षत्) मेरे पास, मुझ से भी ऊपर विराजमान हो । (यथा) जिससे (अहम्) मैं उस (अर्यम्णः) शत्रुओं के नियामक (संविदः) उत्तम ज्ञानसम्पन्न, विचार

४–(तृ०) ' तं भ्रियासं ' इति ह्विटनिकामितः पाठः । 'तमहं बिभर्मि' इति (द्वि०) 'वरुणेन सख्यः' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'बहुरोचमानं' इति सायणाभिमतः पाठः ।

५–(द्वि०) ' मह्यारिष्ट ' (च०) ' मनुष्या अधिसंशतः ['म्मतः] ' इति पैप्प० सं० ।

में सहायक पुरुष के साथ (उत्तरः) उसके अधीन होकर (असानि) रहूं अर्थात् राजा भी अपने से ऊपर एक विद्वान्, ज्ञानी, न्यायकारी, पुरोहित को नियुक्त करे जिससे सब राजकार्यों में सहमति लिया करे।

ये धीवा॑नो रथका॒राः क॒र्मा॒रा ये म॑नी॒षिणः॑ ।
उ॒प॒स्तीन् प॑र्ण॒ मह्यं॒ त्वं सर्वा॑न् कृण्व॒भितो॒ जना॑न् ॥६॥

भा०—हे (पर्ण) राष्ट्र के पालक मन्त्रिन्! (त्वं) तू (मह्यं) मुझ राजा के लिये इस राष्ट्र में निवास करने हारे (ये) जो (धीवानः) बुद्धिमान्, कलाकौशल में चतुर (रथकाराः) शीघ्र गमन करने वाले रथों के बनाने वाले शिल्पी, (कर्माराः) लोहे, सुवर्ण आदि धातु के कारीगर और (ये) जो (मनीषिणः) मननशील अध्यात्मवेदी विद्वान् हैं उन सब (जनान्) पुरुषों को मेरे (अभितः) चारों ओर (उपस्तीन्) उपस्थित (कृणुहि) कर। वह मन्त्री ऐसा प्रबन्ध करे जिससे सब शिल्पी और विद्वान्गण राष्ट्र के लिये नियुक्त होकर राजकार्य में सहायक हों। सरकार की तरफ़ से कारखानों, गाड़ियों और विद्यालयों का प्रबन्ध हो।

ये राजा॑नो राज॒कृतः॑ सू॒ता ग्रा॑म॒ण्य॑श्च॒ ये ।
उ॒प॒स्तीन् प॑र्ण॒ मह्यं॒ त्वं सर्वा॑न् कृण्व॒भितो॒ जना॑न् ॥ ७ ॥

भा०—राजमन्त्री का एक कार्य और बतलाते हैं—हे (पर्ण) राष्ट्रपालक मन्त्रिन्! (ये) जो (राजानः) अन्य राजा सामन्तगण और (राजकृतः) राजाओं को बनाने हारे, उनके पुरोहितगण, मन्त्रिगण हैं और (ये) जो (सूताः) रथों के उत्तम संचालक और (ग्रामण्यः) ग्राम

६–(प्र०) 'यत् तक्षाणो रथ' (तृ० च०) 'सर्वांस्त्वानृण [?] रन्धयोपस्तिं कृणु मेदिनम्' इति पैप्प० सं०।

७–(तृ० च०) 'उपास्तिरस्तु वैश्य उत शूद्र उतार्य' इति पैप्प० सं०।

के प्रधान नेता पुरुष हों उन (सर्वान्) सब (जनान्) उत्तम पुरुषों को (मह्यं) मेरे (उपस्तीन्) समीप उपस्थित (कृणु) कर ।

पुर्णो/सि तनूपान: सयोनिर्वीरो वीरेण मया ।
संवत्सरस्य तेजसा तेन बध्नामि त्वा मणे ॥ ८ ॥

भा०—हे (पर्ण) पालक ! तू (तनूपानः) हमारे शरीर की रक्षा करने हारा होने के कारण ही (पर्णः) पर्ण=पालक (असि) है । (मया) मुझ (वीरेण) वीर पुरुष के साथ तू भी (वीरः) वीर (असि) है । हे (मणे) मननशील, राष्ट्र-स्तंभनशील ! हे शोभाप्रद ! (तेन) उस (तेजसा) तेज, बल के कारण ही (त्वा) तुझ को (संवत्सरस्य) एक वर्ष के लिये (बध्नामि) उचित कार्य में नियुक्त करता हूं ।

इति प्रथमोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि पञ्च ऋचश्च त्रयस्त्रिंशत् ।]

पर्ण शब्द पर विचार ।

' पर्ण ' का शब्दार्थ है ' पलाश '=ढाक या पत्र । इसके विषय में तैत्तिरीय ब्राह्मण में लिखा है—तस्य सोमस्य पर्णमच्छिद्यत । तत्पर्णोऽभवत् । तत्पर्णस्य पर्णत्वम् । (तै० १ । १ । ३ । १०) ' तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत् तं गायत्री आहरत् तस्य पर्णमच्छिद्यत् । तत्पर्णोऽभवत् ॥' शतपथ में लिखा है—तत्र वै गायत्री सोममच्छापतत् तद् अस्या आहरन्त्या अपाद् अस्ता अभ्यापत्य पर्णं प्रचिच्छेद । गायत्र्यैवा सोमस्य वा राज्ञः तत्पातित्वा पर्णोऽभवत् । श० १ । ७ । १ । १ ॥ अन्यत्र तैत्तिरीय ब्रा० में—गायत्रो वै पर्णः ॥ तै० ३ । २ । १ । १ ॥ शत० में—सोमो वै पर्णः ॥ श० ६ । ५ । १ ॥ देवा वै ब्रह्मन् अवदन्त तत्पर्ण उपाशृणोत् ॥ सुश्रवा वै नाम ॥ तै० १ ।

१ । ३ । ११ ॥ देवानां ब्रह्मवादे वदतां यत् उपाशृणोः सुश्रवा वै श्रुतोऽसि ततो मामाविशतु ब्रह्मवर्चसम् ॥ तै० १ । २ । १ । ६ ॥

अर्थात् (१) सोम का पर्ण=पत्ता टूट गया वही पर्ण हो गया ! (२) तीसरे द्यौलोक में सोम था उस को गायत्री ला रही थी उसका पर्ण टूट पड़ा । वह पर्ण हो गया । (३) गायत्री सोम को लेने गयी जब ला रही थी तो एक विना चरण के लंगड़े धनुर्धर ने बाण प्रहार करके उसका पर्ण=पंख काट डाला गायत्री का या राजा सोम का वह पर्ण [पंख या पत्र] गिरकर पर्ण [पलाश] हो गया ।

इसके अतिरिक्त इस सूक्त की व्याख्या करते हुए सायण ने यह सूक्त पलाश मणि पर लगाया है । इस सूक्त के चतुर्थ मन्त्र में 'सोमस्य पर्ण' इस प्रकार लिखा है । फलतः शतपथ के संदेह का निवारण यहां होता है वह पत्र 'सोम' का है जो गायत्री के लाते हुए टूट कर गिरा । गायत्री किस प्रकार लाई इसके लिये शतपथ में ही लिखा है। 'तद्वै कनिष्ठं छन्दः सद् गायत्री प्रथमाच्छन्दसो युज्यते तदु तद्वीर्येण यच्छ्येना भूत्वा दिवः सोममाहरत् ।' गायत्री छन्द 'श्येन' होकर द्यौलोक से सोम को लाया । फलतः श्येन को किसी निशानेबाज ने बाण मारा । तो उस श्येन का पंख झड़ा और सोम की डाली का पत्ता गिरा ।

गायत्री क्या पदार्थ है ।

(१) गायत्री=गयांस्तत्रे । प्राणा वै गयाः, तत्प्राणांस्तत्रे ॥ श० १४ । ८ । १५ । ७ ॥ (२) सेयं सर्वा कृत्स्ना मन्यमानाऽगायद् यदगायत् तस्मादियं (पृथिवी) गायत्री ॥ श० ६ । १ । ५ । १५ ॥ (३) या वै गायत्री आसीदियं वै सा पृथिवी ॥ श० ॥ १ । ४ । १ । ३४ ॥ (४) पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रंस्त गायत्रेण छन्दसा । श० १ । ६ । ३ । १० । (५) गायत्रोऽयं भूलोकः ॥ ता० ७ । ३ । ६ । कौ० ८ । ६ ॥ (६) प्राणो गायत्री

प्रजननम् ॥ ता० १६ । १४ । ५ । १६ ॥ प्राणो वै गायत्री ॥ श० ६ । ४ । २ । ५ ॥ (७) अग्निर्वै गायत्री ॥ श० ३ । ४ । १ । १६ ॥ (८) ब्रह्म हि गायत्री । ता० ११ । ११ । ६ ॥ (६) गायत्री ब्रह्मवर्चसम् ॥ तै० २ । ७ । ३ । ३ ॥ ज्योतिर्वै गायत्री ॥ कौ० १६ । ६ ॥ (१०) वीर्यं वै गायत्री ॥ ता० ७ । ३ । १३ ॥ यज्ञो वै गायत्री ॥ श० ४ । २ । ४ । २० ॥ (११) एषा वै गायत्री यक्षिणी चक्षुष्मती ज्योतिष्मती भास्वती यद् द्वादशाहस्तस्य यावतिरात्रौ यावन्तराग्निष्टोमौ ते चक्षुषी ये अष्टौ मध्य उक्थ्याः स आत्मा ॥ ऐ० ४ । २३ ॥ (१२) यद् गायत्री श्येना भूत्वा दिवः सोममाहरत् तेन सा श्येनः ॥ श० ३ । ४ । १ । १२ ॥ (१३) या द्यौः साऽनुमतिः सा उ एव गायत्री ॥ ऐ० ३ । ४८ ॥

फलतः, गायत्री शब्द से प्राणों की रक्षा करने वाली चितिशक्ति, पृथिवी, प्रजनन शक्ति, प्राण, ब्रह्म, अग्नि, ब्रह्मवर्चस् , तेज, वीर्य, ज्योति, आत्मा की उभयपक्षा शक्ति, श्येन (आत्मा) ये ही अर्थ है ।

सोम क्या पदार्थ है ।

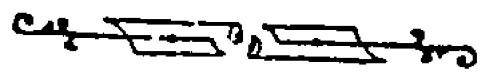
(१) स्वा वै मे एषा (तनूः) श० ३ । ६ । ४ । २२ ॥ (२) श्रीर्वै सोमः ॥ श० ४ । १ । ३ । ६ ॥ (३) राजा वै सोमः । श० १४ । १ । ३ । १२ ॥ (४) सोमो वै पर्णः ॥ कौ० २ । २ ॥ (५) सोमो वैष्णवो राजा—तस्याप्सरसो विशः ॥ श० १३ । ४ । ३ । ८ ॥ सोमः पवमानः ॥ श० २ । २ । ३ । २२ ॥ प्रजापतिः ॥ श० ५ । १ । ३ । ७ ॥ संवत्सरः ॥ तै० १ । ६ । ८ । २ ॥ यदाह श्येनोऽसि इति सोमं वा एतदाह । एष वै अग्निर्भूत्वा अस्मिंल्लोके संश्यायति ॥ गो० पू० ५ । १२ ॥ वृत्रः । श० ३ । ४ । ३ । १३ ॥ क्षत्रम् । श० ३ । ४ । १ । १० ॥ यश० ॥ श० ४ । २ । ४ । ६ ॥ अन्नम् । श० ३ । ६ । १ । ८ ॥ प्राणः ॥ श० ७ । ३ । १ । ४५ ॥ इन उद्धरणों से सोम भी नाना पदार्थों का वाचक है । अब पर्णमणि पर विचार कीजिये ।

पर्ण—सोम का वह अंश है जिसको इन्द्र ने दिया और वरुण ने दिया उग्र के साथ आया। अर्थात्, क्षात्रवृत्ति के साथ २ जो तेज प्राप्त होता है जो राजा के तेज या बल से प्राप्त होता है वही 'पर्ण' मणि है। वह कई प्रकार का है। इस सूक्त में प्रत्येक मन्त्र में उस पर्णमणि या पालक क्षात्र-बल का भिन्न २ रूप दर्शाया है। फलतः, वह पर्णमणि वह अधिकार या अधिकारसूचक पद या उसका चिह्नभूत पदार्थ है जिसको धारण कर लेने पर राजा को सूक्त में वर्णित अधिकार प्राप्त होते हैं। यह वह एक पदक या पदसूचक चिह्नमात्र है। इस पदक से निम्नलिखित अधिकार प्राप्त होते हैं—(१) राजा अपने उन शत्रुओं पर जो उसके राष्ट्र पर बराबरी की हकदारी जमाना चाहें उनका नाश करे। (२) यह पद उससे कभी न लिया जाय। उसको ऊंचा स्थान प्राप्त हो। (३) वह प्रजा का पालन पोषण करे और प्रजा के स्वास्थ्य का बन्दोबस्त करे। (४) सेनाविभाग और पुलिस के विभाग को नियत करे। (५) पुरोहित या प्रधान मन्त्री (चेम्बर लेन) को नियत करे। (६) शिल्पियों, कारीगरों और विद्वान् अध्यापकों को नियत करे। (७) राजाओं, राजकृत्, पुरोहितों रथवाहकों, ग्रामाधिपतियों को नियुक्त करे। (८) अपने शरीर की रक्षा के लिये अंगरक्षक (Body guard) नियत करे। इन अधिकारों को प्राप्त करना और उनके अनुकूल समर्थ पुरुषों को नियत करना दोनों ही बातें मन्त्रों में सूचित की गई हैं।

सोम=यश, गायत्री=पृथिवी या वीर्य। वीर्य यश या पृथिवी का विजय करता है। सोम का एक पत्ता—अंश—प्रमाणपत्र यह पर्ण है जो इतने अधिकार प्रजा पर उसको दिलाता है।

यह अलंकार अध्यात्मपक्ष में आत्मा पर लगता है। प्राण=स्वयं वह श्येन है, आत्मा=सोम है। आत्मा का एक पक्ष आनन्दरूप पर्ण है जो

शरीर को सब शक्तियों पर वश कराता है। इत्यादि अलंकार अधिक विचार की अपेक्षा रखते हैं।



[६] वीर सैनिकों के कर्त्तव्य।

जगद्-वीजं पुरुष ऋषिः। वनस्पतिरश्वत्थो देवता। अरिक्षयाय अश्वत्थदेवस्तुतिः। १-८ अनुष्टुभः। अष्टर्चं सूक्तम् ॥

पुमा॑न् पुं॒सः परि॑जातो॒ऽश्व॒त्थः ख॑दि॒रादधि॑।
स ह॑न्तु शत्रू॑न् माम॒कान् यान॒हं द्वेष्मि॒ ये च॒ माम् ॥ १ ॥

भा०—जिस प्रकार (खादिराद् अधि) खादिर नामक वृक्ष पर (परि जातः) उत्पन्न हुआ (अश्वत्थः) पीपल का वृक्ष गुणों में अति अधिक हो जाता है उसी प्रकार (पुंसः) वीर्यवान् पुरुष से उत्पन्न हुआ (पुमान्) वीर्यवान् पुरुष भी बड़ा गुणी, बलवान् और निर्भय होता है। राजा ऐसे पुरुषों से यह आशा करे कि (सः) वह वीर पिता के वीर्य से उत्पन्न वीर पुरुष (अश्वत्थः) अश्व पर आरूढ़ होकर (मामकान्) मेरे उन (शत्रून्) शत्रुओं को (हन्तु) विनाश करे (यान्) जिनको (अहं) मैं (द्वेष्मि) प्रेमभाव से नहीं देखता और साथ ही (ये च) और जो (माम्) मुझ से भी द्वेष करते हैं।

जिस प्रकार वैद्य तीक्ष्णवीर्य ओषधि को प्राप्त करने की इच्छा से ऐसे पीपल को खोजता है जो तीक्ष्णवीर्य खदिर पर उत्पन्न हुआ हो उसी प्रकार राजा भी युद्ध में शत्रु के विजय के लिये ऐसे पुरुषों को अपनी सेना में ले जिनके पूर्व पुरुषा, मां बाप बलशाली, वीर्यवान् हों। उनके संस्कार साहस के कार्यों में प्रबल होते हैं। ऐसे पुरुषों को अश्वत्थ से उपमा देने के कारण

[६] १–' (प्रं०) परिजातो अश्वत्थः ' (च०) ' यॉश्चाहं ' इति पैप्प० सं०।

उनको उसी प्रकार का जो चिह्न धारण कराया जावे, उसका ही नाम 'अश्वत्थमणि' समझना उचित है।

तानश्वत्थ निः शृणीहि शत्रून् वैबाधदोधतः।
इन्द्रेण वृत्रघ्ना मेदी मित्रेण वरुणेन च ॥ २ ॥

भा०—हे (अश्वत्थ) अश्व के ऊपर तीक्ष्ण हो कर विराजने वाले वीर घुड़सवार बहुयुद्धविजयी पुरुष! तू (वृत्रघ्ना) विघ्नकारी शत्रुओं को नाश करने हारे (इन्द्रेण) राजा के साथ और (मित्रेण) सब के साथ स्नेह करने हारे प्रजा को मृत्यु से बचाने हारे, या मित्र राजा और (वरुणेन च) वरुण-पुलिस और गुप्तचर के विभाग के साथ (मेदी) मित्रभाव से उनको पुष्ट करता हुआ। (वैबाधदोधतः) राष्ट्रवासियों को नाना पीड़ाओं से कंपाने हारे या स्वयं कांपने वाले (शत्रून्) राष्ट्रशत्रुओं को (निःशृणीहि) सर्वथा, सब प्रकारों से विनाश कर।

अर्थात् घुड़सवार वीर पुरुषों को राजा अपने संग और राष्ट्र के रक्षक पुलिस विभाग और गुप्तचर विभागों में भी नियुक्त करे।

यथाश्वत्थ निरभनोन्तर्महत्य/र्णवे।
एवा तान्त्सर्वान्निर्भङ्ग्धि यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥ ३ ॥

भा०—हे (अश्वत्थ) हे घुड़सवार वीर पुरुष! और हे अश्व के समान युद्ध में निष्प्रकम्प पुरुष! (यथा) जिस प्रकार से (महति) बड़े भारी

२—ह्विटनिसायणयोर्मतेन वैबाध। 'दोधतः' इति पदद्वयम् पदपाठानुसारेण चैकं पदम्। (द्वि०) 'शत्रून् मयि बाधदोधतः' इति पैप्प० सं०। 'यथाश्वत्थ निष्णामिपूर्वान् जातानुत परान्। एवा पृतन्यतस्त्वमभितिष्ठ सहस्वता' इति चाधिकः पाठः। पैप्प० सं०।

३—(प्र०) 'निरभिनः' इति सायणाभिमतः पाठः। 'निर्भिन्न' इति ह्विटनिकामितः, काचित्कश्च। (तृ०) 'निर्भिङ्ग्धि' इति क्वचित्।

(अर्णवे) समुद्रसेना के समुद्र में (अन्तः) भीतर प्रवेश करके (निरमनः) शत्रुओं का मर्दन करते हो उसी रीति से (यान् अहं द्वेष्मि) जिन को मैं द्वेष करता हूं और (ये च माम्) जो मुझ को द्वेष करते हैं (तान् सर्वान्) उन सब को भी (भङ्ग्धि) विनाश कर डाल ।

यः सहमानुश्चरसि सासहान इव ऋषुभः ।
तेनाश्वत्थ त्वया वयं सपत्नान्त्सहिषीमहि ॥ ४ ॥

भा०—हे (अश्वत्थ) वीर अश्वारोहिन् (यः) जो तू (ऋषभ इव) ऋषभ=महावृषभ, बड़े सांड या दर्शनशील दूरदर्शी पुरुष के समान (सहमानः) सब संकटों को धीरता से सहन करता और (सासहानः) अपने विरोधियों को बार २ पराजित करता हुआ (चरसि) विचरण करने में समर्थ है (तेन) इस कारण (त्वया) तुझ वीर पुरुष से हम राजागण (सपत्नान्) अपने विरोधियों को (सहिषीमहि) पराजित करते हैं।

सिनात्वेनान् निर्ऋतिर्मृत्योः पाशैरमोक्यैः ।
अश्वत्थ शत्रून् मामकान् यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥ ५ ॥

भा०—हे (अश्वत्थ) अश्वारोहिन् ! (मामकान् शत्रून्) मेरे उन शत्रुओं को (यान् अहं द्वेष्मि) जिनको मैं द्वेष करता हूं और (ये च माम्) जो मुझ को द्वेष करते हैं (निर्ऋतिः) अश्वारोहियों की घोर सेना (एनान्) इन शत्रुओं को (मृत्योः) मृत्यु के (अमोक्यैः) कभी न छूटने हारे (पाशैः) जालों से (सिनातु) बांध दे । अर्थात् अश्वारोहियों की सेना ही शत्रुओं को ऐसा घेरे कि शत्रु लोग बच के न जाने पावें ।

४-(प्र०) 'चरति' इति सायणाभिमतः, पैप्प० सं० । (द्वि०) 'सा सहानैव' (च०) 'सं विषीमहि' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'इवर्षभः' इति क्वचित् ।
५-(द्वि०) 'पाशैरनिमोक्यैः' (च०) 'यांश्चाह' इति पैप्प० सं० । (प्र०) 'सिमात्वेमान्' इति क्वचित् ।

यथाश्वत्थ वानस्पत्यानारोहन् कृणुषेऽधरान् ।
एवा मे शत्रोर्मूर्धानं विष्वग् भिन्धि सहस्व च ॥ ६ ॥

भा०—हे (अश्वत्थ) अश्वारोहिन् वीर पुरुष ! (यथा) जिस प्रकार पीपल का वृक्ष जिसको 'अश्वत्थ' कहा जाता है वह (वानस्पत्यान्) अन्य बड़े २ वृक्षों पर (आरोहन्) अपना मूल जमा कर और बड़ा होकर उन का सब रस स्वयं खा जाता है और उनको जीते रहने देकर भी अपने आप ही प्रधान हो जाता है (एवा) उसी प्रकार तू अपने शत्रुओं को (अधरान्) नीचे (कृणुषे) कर दे और (मे) मेरे (शत्रोः) शत्रु के (मूर्धानं) शिर को या मुख्यता को (विष्वग्) सब प्रकार से (भिन्धि) तोड़ डाल और (सहस्व च) उनको पराजित भी कर। इस सूक्त में अश्वत्थ के दृष्टान्त से वीर पुरुष को किस प्रकार वर्णित किया जाय इसकी व्याख्या इसी मन्त्र में स्पष्ट है।

ते॑ऽध॒राञ्चः॒ प्र प्ल॑वन्तां छि॒न्ना नौरि॑व॒ बन्ध॑नात् ।
न वै॑बा॒धप्र॑णुत्तानां॒ पुन॑रस्ति नि॒वर्त॑नम् ॥ ७ ॥

अथर्व० ९ । २ । १२ ॥

भा०—(ते) वे मेरे शत्रुगण (अधराञ्चः) नीचे गिरे हुए (बन्धनात्) बांधने हारी रज्जु के बंधन से (छिन्ना) कटी हुई (नौः इव) नाव के समान (प्र प्लवन्ताम्) भंवर में पड़ कर बह जांय और डूब जांय। (वैबाधप्रणुत्तानां) नाना प्रकार की पीड़ाओं से विनष्ट हुए उच्छिन्न शत्रुओं का (पुनः) फिर (निवर्त्तनम्) लौट कर आना (न अस्ति) सम्भव नहीं।

प्रैणा॑न् नुदे॒ मन॑सा॒ प्र चि॒त्तेनो॒त ब्रह्म॑णा ।
प्रैणा॑न् वृ॒क्षस्य॒ शाख॑याश्वत्थस्य॑ नुदामहे ॥ ८ ॥

७—'नवायकप्रणुत्तानां' इति अथर्व० [९ । २ । १२]

८—(प्र०) प्रैनान् नुदामि (च०) नुदामसि (द्वि०) प्रश्वत्थेन ब्रह्मणा ।

इति पैप्प० सं० ।

भा०—मैं (एनान्) इन शत्रुओं को (मनसा) अपने राष्ट्र के मानस बल, मन्त्रशक्ति से भी (प्र नुदे) अच्छी प्रकार पराजित करता हूं। (प्र चित्तेन) अपने राष्ट्र के चित्त=विज्ञान द्वारा भी विनाश करूं और (उत ब्रह्मणा) ब्रह्म—ब्राह्मणों के बल से भी विनाश करूं। और (एनान्) इन शत्रुओं को (अश्वत्थस्य) पीपल की (शाखया) शाखा से जिस प्रकार उसका आधार वृक्ष विनाश को प्राप्त हो जाता है उस प्रकार बलशाली अश्वारोही क्षत्रियवर्ग के (शाखया[1]) व्यापक शक्ति या सेना के दण्ड-बल से (प्र नुदामहे) उनका विनाश करता हूं।



[७] क्षेत्रिय व्याधियों का निवारण।

भृग्वंगिरा ऋषिः। यक्ष्मनाशनो देवता। १–५, ७ अनुष्टुभः। ६ भुरिक्। सप्तर्चं सूक्तम्॥

हरिणस्य रघुष्यदोऽधि शीर्षणि भेषजम्।
स क्षेत्रियं विषाणया विषूचीनमनीनशत्॥ १॥

भा०—क्षेत्रिय व्याधि क्षय, कुष्ठ, अपस्मार आदि के निवारण का उपाय बतलाते हैं—(रघुष्यदः) अति वेग से दौड़ने वाले (हरिणस्य) हरिण के (शीर्षणि अधि) सिर के ऊपर जो सींग हैं वह (भेषजम्) रोगों को दूर करने वाला पदार्थ है। (सः) वह विद्वान् चिकित्सक (विषाणया) सींग के द्वारा ही (विषूचीनम्) नाना प्रकार के कष्ट देने वाले रोगों को (अनीनशत्) विनाश करता है।

---

१. 'शाखृ व्याप्तौ' (भ्वादिः)।

[७] १–'हरिणस्यरघुष्यतो' इति आप० श्रौ० सू०।

अनु त्वा हरिणो वृषा पद्भिश्चतुर्भिरक्रमीत् ।
विषाणे वि ष्य गुष्पितं यदस्य क्षेत्रियं हृदि ॥ २ ॥

भा०—हे (विषाणे) रोगनाशक सींग (त्वा अनु) तेरे उत्पन्न हो जाने के अनन्तर (वृषा हरिणः) नर हरिण (चतुर्भिः) चार (पद्भिः) चरणों से (अक्रमीत्) चौकड़ी भरने लगता है । (अस्य) इस रोगी के (हृदि) हृदय में (गुष्पितं) छिपे हुए (क्षेत्रियं) क्षय आदि रोग को तू (वि ष्य) नाना प्रकार से नाश कर ।

हरिण के सींग के स्पर्श से त्वचा का दोष और प्रलेप से व्रण और भस्म से क्षय, कास, श्वास और अपस्मार की व्याधि दूर होती है ।

अदो यदवरोचते चतुष्पक्षमिव च्छदिः ।
तेना ते सर्वं क्षेत्रियमङ्गेभ्यो नाशयामसि ॥ ३ ॥

भा०—(अदः) यह (यद्) जो (चतुष्पक्षम्) चार पक्षों से (च्छदिः) शरीर को आच्छादन करने वाली मृगच्छाला (अव रोचते) शोभा देती है (तेन) उससे हे रोगी ! (ते) तेरे (अंगेभ्यः) सब अंगों से (सर्वं क्षेत्रियम्) सब प्रकार की वात, रक्त आदि व्याधियों को (नाशयामसि) हम दूर करते हैं ।

मृगच्छाला के प्रयोग से रक्तपित्त वात आदि का नाश होता है । उस पर बैठने, ओढ़ने आदि से ववासीर, कण्डू, खाज आदि रोग दूर होते हैं ।

२—'यदि किंचित् क्षेत्रियं हृदि' इति पैप्प० सं० । 'अनु त्वा हरिणो मृगः पद्भिश्चतुर्भिरक्रमीत् । विषाणे विष्य तं ग्रन्थिं यदस्य गुपितं हृदि' इति आप० श्रौ० सू० ॥

अमू ये दिवि सुभगे विचृतौ नाम तारके ।
वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम् ॥ ४ ॥

अथर्व० २ । ८ । १ ॥

भा०—(दिवि) द्यौलोक, आकाश में (ये) जो (सुभगे) सौभाग्य शील (विचृतौ नाम तारके) विचृति, मूलनक्षत्र नामक तारे हैं वे दोनों (क्षेत्रियस्य) इस क्षेत्र या शरीर में होने वाले (अधमं) नीच, नाभि से नीचे के देह में लगे और (उत्तमम्) नाभि से ऊपर के देहभाग में लगे (पाशं) व्याधि, अपस्मार आदि के रोगपाश को (वि मुञ्चताम्) विशेष रूप से मुक्त कर दें ।

प्रातःकाल के अवसर पर मूलनक्षत्र का जब उदय होता है तब प्रातः—स्नान से शरीर के कुष्ठ आदि रोग शान्त होते हैं ।

आप इद् वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः ।
आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात् ॥ ५ ॥

ऋ० १० । १३७ । ६ ॥ अथर्व० ६ । ९१ । १ । ३ ॥

भा०—आरोग्य के लिये जो स्नान का काल पहले मन्त्र में दर्शाया है उस काल की प्रधानता है । उसके अतिरिक्त स्नान के योग्य जल की प्रधानता भी दर्शाते हैं । (आपः इद् वा उ) अथवा, आपः=जल ही (भेषजीः) स्वयं रोगहारक उत्तम औषध हैं । क्योंकि (आपः) आपः=जल ही (अमीव-चातनीः) रोग-जन्तुओं का नाश करने में समर्थ हैं । (आपः विश्वस्य

४–(प्र०) 'उद् अगातां भगवती' अथर्व० २ । ८ । १ ॥ (तृ०) विक्षेत्रियं त्वा अभ्यानशे इति पैप्प० सं० ।

५–(तृ०) 'आपः सर्वस्य' इति ऋ० (च०) 'तास्ते कृण्वन्तु भेषजम्' इति ऋ०, अथर्व० ६ । ९१ । ३ ॥

भेषजीः) जलों से ही समस्त रोगों की चिकित्सा हो जाती है। (ताः त्वा) वे जल ही तुझे (क्षेत्रियात्) शरीरगत, परम्परा-प्राप्त पैतृक रोगों से भी (मुञ्चन्तु) छुड़ा दे सकते हैं।

जल चिकित्सा का विस्तृत रहस्य अंगविद्या आयुर्वेद से जानना चाहिये, जल के द्वारा नेति, धोती, वस्ति, क्रिया एवं धारास्नान, मार्जन, तर्पण, स्वेदन आदि विविध उपचारों से कुष्ठ एवं त्वचा के समस्त रोग और ज्वर और रक्तविकार और हृदयरोग, मस्तिष्क रोग और वीर्यदोष शान्त किये जाते हैं।

यदा॑सुतेः क्रि॒यमा॑णायाः क्षेत्रि॒यं त्वा॑ व्या॒नशे।
वेदा॒हं तस्य॑ भेष॒जं क्षे॑त्रि॒यं ना॑शयामि॒ त्वत्॥ ६॥

भा०—हे रोगिन्! (क्रियमाणायाः) की जाती हुई (आसुतेः[1]) वीर्य की आधान क्रिया या प्रसव क्रिया से लेकर ही (यद्) जो (क्षेत्रियं) क्षेत्रगत रोग (त्वा) तेरे शरीर में (व्यानशे) फैला हुआ है (तस्य) उस की भी मैं (भेषजं वेद) चिकित्सा जानता हूं। इसलिये (त्वत्) तेरे (क्षेत्रियं) शरीरगत ऐसे रोग को भी (नाशयामि) विनाश कर दूं।

अ॒प॒वा॒से नक्ष॑त्राणामपवा॒स उ॒षसा॑मु॒त।
अ॒पास्मत् सर्वं॑ दुर्भू॒तमप॑ क्षेत्रि॒यमु॑च्छतु॥ ७॥

भा०—(नक्षत्राणाम्) नक्षत्रों के (अपवासे) अस्त होजाने (उत) और (उषसाम्) उषाकाल, प्रभात वेला के भी (अपवासे) व्यतीत हो जाने पर जो स्नान आदि क्रिया एवं औषध प्रयोग है उससे (अस्मत्) हमारे शरीरों से (दुर्भूतं) बुरे व्यवहारों से या विषम अन्न आदि भोजनों और

१. 'आसुतिः द्रवीभूतमन्नम्' इति सायणः, पानमिति संशयितो ह्विटनिः।

७–'अपास्मात्' इति वेबरकामितः पाठः। (द्वि०) 'अपवास ततोपसम्'। (तृ०) 'सर्वमाभयत्' इति पैप्प० सं०।

विषम उपचारों से उत्पन्न हुआ (सर्वं) सब प्रकार का (क्षेत्रियं) शरीरगत रोग (अप उच्छतु) दूर हो जाय ।

प्रातःकाल के आतप में स्वेदन, स्नान और प्रभास्नान से शरीर के रोग नाश होते हैं ।

[८] राजा के कर्तव्य ।

अथर्वा ऋषिः । मित्रो विश्वेदेवा वा देवताः । २, ६ जगत्यौ । ४ चतुष्पदा विराड् बृहतीगर्भा त्रिष्टुप् । ५ अनुष्टुप् । १, ३ त्रिष्टुभौ । षड्चं सूक्तम् ॥

आ यातु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेशयन् पृथिवीमुस्रियाभिः ।
अथास्मभ्यं वरुणो वायुरग्निर्बृहद् राष्ट्रं संवेश्यं दधातु ॥ १ ॥

भा०—(मित्रः) सूर्य जिस प्रकार (ऋतुभिः) छहों ऋतुओं द्वारा नाना प्रकार के सामर्थ्यों को प्रकट करता हुआ (उस्रियाभिः) अपनी किरणों द्वारा (पृथिवीं) पृथिवी को (संवेशयन्) आच्छादित करता हुआ समस्त प्राणिगणों से बसा देता है। और समस्त देश को (वरुणः) जल, (वायुः) वायु और (अग्निः) अग्नि भी प्राणियों को बसाते हैं उसी प्रकार राजा (मित्रः) प्रजा को विनष्ट होने से बचाने वाला और अपनों के प्रति सदा स्नेहवान् होकर (ऋतुभिः) सत्य धर्मों, कर्मों और शिल्पों से (कल्पमानः) स्वयं समर्थ होकर (पृथिवीं) इस पृथिवी राष्ट्र को (उस्रियाभिः) उन्नतिशील प्रजाओं से (संवेशयन्) बसाता हुआ स्वयं (अथ) और (वरुणः) राष्ट्र का रक्षक, राष्ट्र में सब से श्रेष्ठ प्रजा के स्वयं वरण करने योग्य, (वायुः) सब का प्रेरक, (अग्निः) सबका नेता होकर (बृहत्) बड़े भारी (अस्मभ्यं) हम प्रजागण के (संवेश्यं) बसने योग्य (राष्ट्रं) राष्ट्र को सुसम्पन्न सुव्यवस्थित बना कर (दधातु) पालन करे ।

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तामिन्द्रस्त्वष्टा प्रति हर्यन्तु मे वचः ।
हुवे देवीमदितिं शूरपुत्रां सजातानां मध्यमेष्ठा यथासानि ॥ २ ॥

भा०—राजा पूर्वोक्त प्रकार की प्रजा की प्रार्थना सुन कर निम्नलिखित प्रकार से अधिकारी गण नियुक्त करें। (इदं) इस राष्ट्र को (धाता) सन्निधाता नामक अधिकारी (रातिः[1]) दानशील दानाध्यक्ष, (सविता) समाहर्त्ता ये तीनों अधिकारी राष्ट्र को (जुषन्तां) बसावें और सम्पन्न करें। और (इन्द्रः) सेनापति (त्वष्टा) सब कारीगरों का मुख्य शिल्पाध्यक्ष ये सब (मे) मेरे (वचः) वाणी, आज्ञा के (प्रति हर्यन्तु) अनुकूल रह कर कार्य करें। और (शूरपुत्रां) शूरवीर पुत्रों को उत्पन्न करने हारी (देवी) दिव्यगुण युक्त, (अदितिं) अदीन, स्वतः सब से मुख्य, आदरणीय पृथिवी, मातृशक्ति को (हुवे) मैं संबोधित करता हूं कि वह वीर पुत्रों को मेरे संग करे कि मैं (सजातानां) समान बल वाले अन्य राजाओं के बीच में (यथा) जिस प्रकार (मध्यमेष्ठाः) मध्यस्थ, सब के बलों को समान रूप से तुला रखने वाला (असानि) रहूं। राष्ट्र को इतना प्रबल बना कर रहना चाहिये शत्रुपक्ष और मित्रपक्ष दोनों को तुला रख सके।

धाता=सन्निधाता, दानाध्यक्ष, समाहर्त्ता आदि अधिकारी गणों का विवरण देखिये अथर्ववेद उपवेद (अर्थशास्त्र कौटिल्य का 'अध्यक्ष-प्रचार' नामक अधिकरण)

हुवे सोमं सवितारं नमोभिर्विश्वानादित्याँ अहमुत्तरत्वे ।
अयमग्निर्दीदायद् दीर्घमेव सजातैरिद्धोऽप्रति ब्रुवद्भिः ॥ ३ ॥

भा०—(अहम्) मैं (सोमं) सब के प्रेरक विद्वान् शान्त, पुरुष को (सवितारं) सविता, समाहर्ता पद पर (हुवे) नियत करता हूं। और

१. रातिर्दानशीलोऽर्यमा इति सायणः। (द्वि०) 'प्रतिगृह्णन्तु' इति पैप्प० सं०। (च०) 'यथा स्याम्', 'आरम्' इति वा ह्विटनिकामितः पाठः।

(उत्तरत्वे) और उसके आधीन (विश्वान्) सब (आदित्यान्) अदिति रूप राष्ट्र माता के पुत्रों को (नमोभिः) आदर योग्य पदों से विभूषित करता हूं। (अयम्) यह (अग्निः) सब का नेता होकर (सजातैः) समान रूप से बलवान् हुए (अप्रतिब्रुवद्भिः) अपना विरोध न करने हारे इन आदित्य पुरुषों द्वारा (इद्धः) खूब प्रज्वलित, प्रभाववान् होकर (दीर्घम् एव) चिरकाल तक (दीदयद्[1]) शोभा दे ।

इहेदसाथ न परो गमाथेर्यो गोपाः पुष्टपतिर्व आजत् ।
अस्मै कामायोप कामिनीर्विश्वे वो देवा उपसंयन्तु ॥ ४ ॥

भा०—राजा अपने अधिकारीगण और प्रजाओं को उपदेश करता है कि-'हे प्रजाओ ! (इह इत्) यहां ही इसी राष्ट्र में ही (असाथ) सुख पूर्वक निवास करो। (परः) दूर (न) मत (गमाथ) जाओ। इसी प्रकार का उपदेश राजा अपनी सेनाओं के प्रति भी करता है। (ईर्यः) तुमको सन्मार्ग पर चलाने हारा आज्ञापक (गोपाः) गौओं को पालन करने हारे गोपति के समान तुम प्रजाओं और सेनाओं का पालक, (पुष्टपतिः) तुम्हारे पुष्टिकारक-पदार्थों का भी परिपालक (वः) तुमको (आजत्) ठीक मार्ग पर चला रहा है। आप लोग (अस्मै) इसके (कामाय) अभिलाषा के अनुकूल ही (कामिनीः) अपनी अभिलाषा उसी प्रकार बनाये रक्खो जिस प्रकार अभिलाषा वाली स्त्रियां अपने प्रियपतियों के प्रति रहती हैं।

---

१. दीदायद् इति सांहितिको दीर्घः । पदपाठस्तु 'दीदयत' इत्येव । (द्वि०) 'विश्वान् देवान्' इति पैप्प० सं० ।

४–(च०) 'उपसंनयन्तु' (तृ०) उपकामिनीस्त, उपकामिनीरित इति वा ह्विटनिकामितः पाठः । (तृ० च०) अस्मै वः कामा उपकामिनी विश्वे देवा उपसत्यामिह इति पैप्प० सं० । (प्र०) 'नपुरः' इति सायणाभिमतः पाठः ।

तभी (वः) तुमको (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान्‌गण भी (उप संयन्तु) प्राप्त हों, तुम्हारे आज्ञावर्ती और सहायक हों ।

राजा सब विभागों पर अध्यक्ष नियत करे, उसके अनुसार सब चलें, तभी सब राष्ट्र विद्वान्‌गण भी उनकी सहायता करें ।

सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि ।
अमी ये विव्रता स्थन तान् वः सं नमयामसि ॥ ५ ॥

अथर्व० ६ । ९४ । १ ॥

भा०—अधिकारियों का प्रजाओं के प्रति उपदेश । हम लोग (वः) आप प्रजागण के (मनांसि) चित्तों को (सं नमामसि) अपने अनुकूल करते हैं । (व्रता सम्) आप लोगों के कर्मों को अपनी व्यवस्था के अनुकूल करते हैं (आकूतीः सम्) आपके विचारों को भी हम अपने अनुकूल करते हैं । और (ये) जो (अमी) ये पुरुष (विव्रताः) नियमों के प्रतिकूल कार्य करने हारे (स्थन) हों (तान्) उनको (वः) आपके सामने ही (सं नमयामसि) पुनः व्यवस्था के अनुकूल झुकावें, उनको दबावें, दण्ड दें ।

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत ।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ॥ ६ ॥

अथर्व० ६ । ९४ । २ ॥

५–(तृ०) 'विव्रतास्थ' च 'संमनंसत' इति मै० सं० । (तृ०) 'विव्रतास्तन' इति सायणाभिमतः पाठः । 'सं वो मनांसि संव्रता समुचिजान्याकरम्' यजु० [१२ । ५८ (प्र० द्वि०)] सं वो मनांसि जानतां संव्रता आकूतिः । असौ यो विमनाजनस्तं समावर्त्तयामसि इति ऋ० १० । १९१ । खिलो मन्त्रः ।

६–(प्र०) 'गृह्णामि' इति सायणाभिमतः ।

भा०—(अहं) मैं राजा, शासक (मनांसि) अपनी प्रजा के मनों को (मनसा) अपने मन से (गृभ्णामि) ग्रहण करता हूं, वश करता हूं। हे प्रजाजनो! एवं मेरे अधीन शासकवर्गो! (चित्तेभिः) अपने चित्तों से (मम चित्तम् अनु) मेरे चित्त के अनुकूल ही (एत) होकर रहो। (वः) तुम्हारे (हृदयानि) हृदयों को मैं (मम) अपने (वशेषु) अधीन के कार्यों में (कृणोमि) नियुक्त करता हूं। आप लोग (अनुवर्त्मानः) मेरे अनुकूल मार्ग पर चलने हारे होकर (मम यातम्) मेरे चले रास्ते पर ही (एत) गमन करो। अर्थात् मेरे विधान किये मार्ग से विपरीत विरुद्ध मार्ग पर पैर मत रक्खो।

उसी सूक्त से आचार्य माणवक के हृदय और नाभिदेश को स्पर्श करके उसको अपने अनुकूल बनाने का उपदेश करता है। राजा का प्रजा से, पिता का पुत्रों से, पति का अपने परिवार से एवं गुरु का शिष्य से जो सम्बन्ध है वह एक प्रकार का शास्य-शासक का सा ही है। उनकी भी अपनी २ सरकार सी है, फलतः इस सत्ता की उन पक्षों में भी योजना कर लेनी चाहिये।



[६] प्रबल जन्तुओं और हिंसक पुरुषों के वश करने के उपाय।

वामदेव ऋषिः। द्यावापृथिव्यौ उत विश्वेदेवा देवताः। १, ३, ५ अनुष्टुभः, ४ चतुष्पदा निचृद् बृहती, ६ भुरिक्। षडृचं सूक्तम्॥

क॒र्श॑फस्य विश॒फस्य॒ द्यौः पि॒ता पृ॑थि॒वी मा॒ता।
यथा॑भिच॒क्र दे॑वा॒स्तथाप॑ कृणु॒ता पुन॑ः॥ १॥

[६] १–(प्र०) 'कर्षभस्य विषभस्य', (च०) 'तथापि' इति पैप्प० सं०।

भा०—(कर्शफस्य[1]) कर्शफ=करशफ अथवा कृशशफ, जिन पशुओं के शफ=खुर निर्बल हैं या पंजे के समान हैं जैसे व्याघ्र आदि और (विशफस्य) या जिन के शफ खुर नहीं हैं, विना चरण के हैं जैसे सर्प आदि उन सब जन्तुओं का भी (द्यौः) वह दिव्य गुण वाला सब को प्रकाशक प्रभु ही (पिता) पालक है और (पृथिवी) यह पृथिवी सब का आश्रय ही (माता) माता है। इस कारण (देवाः) विद्वान् लोग (यथा अभि चक्र) जिस प्रकार इनके प्रति व्यवहार करते आये और इनका निवारण करने का उपदेश करें (पुनः) फिर भी हे पुरुषो ! तुम (तथा अपकृणुत) वैसा ही इनका निवारण करो। अर्थात् उनका द्वेषबुद्धि द्वारा विनाश करना उचित नहीं, उनका वश करना उचित है।

अश्रे॒ष्माणो॑ अधारय॒न् तथा॒ तन्मनु॑ना कृ॒तम्।
कृ॒णोमि॒ वध्रि॒ विष्क॑न्धं मुष्का॒बर्हो॒ गवा॑मिव ॥ २ ॥

भा०—विद्वान् पुरुष अपने ऊपर आक्रमणकारी जन्तुओं को किस प्रकार वश करें उसका उपदेश करते हैं। (अश्रेष्माणः[1]) दूसरे को पीड़ा न पहुंचाने वाले, दयालु या उनसे बहुत ममता न करने वाले, अनासक्त पुरुष उन सब जन्तुओं को (अधारयन्) पालन पोषण ही करते हैं (तथा) और उसी प्रकार (मनुना) मननशील पुरुष भी (तत्) वही (कृतम्[2])

---

१. कर्शफ-विशफ शब्दयोर्व्याकुर्तितन्वानः क्षेमकरणत्रिवेदी यत्कृशशलिवलिगर्दिभ्योऽभचंत् अपिवृपिभ्यां कित् इत्येते सूत्रे उदाजहार तदसमञ्जसम् ताभ्यां शरभवृषभशब्दयोः सिद्धिर्नतु कर्शफविशफयोः।

२–'अश्लेष्माणोऽधा' इति पैप्प० सं० ।

१. श्रिषुश्लिषु प्रुषु प्लुषु दाहे। भ्वादिः। श्लिष श्लेषणे। चुरादिः। श्लिष आलिंगने दिवादिः। इत्येतेभ्यो धातुभ्यः सर्वधातुभ्य औणादिको मनिन्।

२. कृतमित्यत्र: तव्यार्थे क्तः।

करता है । हे पुरुषो ! (विष्कन्धं) विशेष रूप से जिनके स्कन्ध उठे हुए हों ऐसी जन्तुजाति को भी मैं (वध्रि) वश करने योग्य ही (कृणोमि) बनाता हूं । जिस प्रकार (गवाम् इव) बैलों को वश करने के लिये उनके (मुष्काबर्हः) अण्डकोशों को तोड़ दिया जाता है और इससे ये जन्तु वश हो जाते हैं उनका क्रूरस्वभाव टूट कर सौम्य हो जाते हैं उसी प्रकार और भी प्रबल कन्धे वाले बलवान जानवरों को वश करने का उपाय है ।

पिशङ्गे सूत्रे खृगलं तदा बध्नन्ति वेधसः ।
अवस्युं शुष्मं काबवं वध्रिं कृण्वन्तु बन्धुरः ॥ ३ ॥

भा०—हिंसक जन्तुओं को वश करने के उपाय । (वेधसः) विद्वान् लोग, उपाय करने हारे पुरुष (तदा) पशुओं को वश करने के अवसर पर (खृगलं) गैंडे जैसे मोटे खाल वाले अथवा कठोर गले वाले सांड के समान जन्तु को भी (पिशङ्गे) दृढ, खूब बटे हुए (सूत्रे) सूत डोरी या रस्से में (बध्नन्ति) बांध लेते हैं । और (बन्धुरः) बांधने हारा पुरुष (काबवं) हिंसक, मरखने प्राणी को प्रथम (अवस्युं) अन्न, भोजन के अभिलाषी बना कर (शुष्मं) उपवास आदि द्वारा शुष्क करके (वध्रिं) बांधने लायक, (कृण्वन्तु) कर लिया करें । अर्थात् हिंसक पशुओं को पहले कुछ दिन भूखा रखकर फिर भोजन चारा दिखाना चाहिये तब वे आप से आप वश हो जाते हैं ।

येना॑ श्रवस्यव॒श्चर॑थ दे॒वा इ॑वासुरमा॒यया॑ ।
शुनां॑ क॒पिरि॑व दूष॑णो बन्धु॑रा काब॒वस्य॑ च ॥ ४ ॥

३–(प्र०) 'सूत्रे पिशङ्गे खृगिलिम्' (द्वि०) 'यदा' (तृ०) 'अवस्यंशुष्म कावत्रम् [कात्रधं ?] इति पैप्प० सं० । अवस्यमिति सायणाभिमतः पाठः ।

४–(तृ० च०) 'दूषणं बन्धरा काभवस्य च' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे पुरुषो ! आप लोग भी (येन) जिस प्रकार से (असुर-मायया) वैश्य व्यापारियों की बुद्धि से प्रेरित होकर (अवस्यवः) अपनी पेट-पूजा के निमित्त अन्न को प्राप्त करने की इच्छा करते हुए (देवा इव) विद्वान् सदाचारी पुरुषों के समान ही (चरथ) इस लोक में विचरो और एक दूसरे से लड़ना झगड़ना छोड़ कर परस्पर मिलकर रहते हो उसी प्रकार इन जन्तुओं को भी अपने सद्व्यवहार से उनको अन्नादि देने के एवज़ में सधा कर भोला बना कर रक्खो, उनको तुम अन्न दो और उन से काम लो । क्योंकि यदि उनको बांध कर रक्खोगे और उनको दण्ड ही दण्ड दोगे तो वह भी उनके स्वभाव को बिगाड़ देता है क्योंकि जिस प्रकार (शुनां) कुकुर=कुत्तों के बीच में (कपिरिव) बन्दर के आ जाने से बन्दर को क्रोध आ जाता है और आपस में एक दूसरे को फाड़ खाने की चेष्टा करते हैं, इसी प्रकार (कावस्य) हिंसाशील जन्तु को भी (बन्धुरः) निरन्तर बांधे रहना (दूषणः) उनके स्वभाव को और भी बिगाड़ देता है वे भी अपने बांधने वाले के प्राण के प्यासे हो जाते हैं । इसलिये उनको भी पेट भर अन्न देकर उन से कार्य लेना चाहिये ।

दुष्ट्यै हि त्वा भत्स्यामि दूषयिष्यामि काबवम् ।
उदाशवो रथा इव शपथेभिः सरिष्यथ ॥ ५ ॥

भा०—यदि (काववं) हिंसक जन्तु को किसी कारण से (दूषयिष्यामि) क्रुद्ध भी कर दूं तो भी उस (त्वा) तुझ हिंसक जन्तु को (दुष्ट्यै) बिगड़े स्वभाव के कारण ही (भत्स्यामि) बांध कर रक्खूंगा । और इस प्रकार बांध कर रखने से भी (आशवः[1]) शीघ्रकारी (रथाः) रथों के

५–(प्र०) 'भत्स्यामि' इति ह्विटनिसंस्करणगतः पाठः । 'भन्त्स्यामि' इति ह्विटनिकामितः । 'जुष्टि त्वा कांच्छाभिजोषयित्वा भव' इति पैप्प० सं० । (च०) 'करिष्यथ' इति सायणाभिमतः पाठः ।

१. 'उदाशवः' इति सायणमत एकं पदम् ।

समान; रथ में लगे घोड़ों के समान (शपथेभिः) तीक्ष्ण वचनों से या विश्वास्य वचनों से प्रेरित होकर ही तुम (सरिष्यथ) सन्मार्गों पर चलोगे।

अर्थात् जब पशु को उसकी दुष्टता पर मारा जाय तो वह और भी बिगड़ जाता है तो भी उसको पुचकार कर या कठोर वचन कह कर सीधे रास्ते पर ले आना चाहिये और समय २ पर हन्टर भी लगाना चाहिये।

एकशतं विष्कन्धानि विष्ठिता पृथिवीमनु।
तेषां त्वामग्र उज्जहरुर्मणिं विष्कन्धदूषणम् ॥ ६ ॥

भा०—(विष्कन्धानि) प्रबल स्कन्ध वाले हिंसक जन्तुओं की (एक-शतं) एक सौ एक या सैकड़ों जातियां (पृथिवीम् अनु) पृथिवी पर विचरती हैं। (तेषामग्रे) उनके भी प्रथम (त्वां) तुझ को (मणिम्) उनका शिरोमणि, रूप से उन पर वश करने हारा (उत्—जहरुः) अधिष्ठाता रूप से स्थापित किया है । तू स्वयं (विष्कन्धदूषणम्) उन प्रबल जन्तुओं को वश करने में समर्थ है।

इस अन्तिम मन्त्र में विष्कन्ध और दूषण ये दो शब्द प्रबल हिंसक जीव और उनके वश करने के उपायों के अतिरिक्त सेनानिवेश और उनके वश करने के उपाय पर भी प्रकाश डालते हैं। जिस प्रकार पशुओं को वश करने का उपाय कहा गया इसी प्रकार हिंसक पुरुषों की छावनी को भी उन में परस्पर फोड़ कर उनको वश कर लेना चाहिये। संक्षेप से शत्रु वश करने के लिये इतनी नीतियों का उपदेश किया है (१) बैलों के समान उनका मदकारी अंश निकाल देने से शत्रु वश में हो जाएंगे, (२) गैंडे के समान या मोटे कन्धे वाले पशु के समान दृढ़ रज्जू से बांधलो, (३) जिस शत्रु के पास अन्न न रहे उसको भूखा मार कर फिर अन्न दो और

६–(तृ०) 'उज्जहुः' । इति ह्विटनिसायणयोरभिमतः पाठः । (तृ० च०) 'तेषां च सर्वेषां इदमस्ति विष्कन्धदूषणम्' इति पैप्प० सं०।

वश करो, (४) सदा किसी पर बन्धन मत रक्खो, नहीं तो वानर और कुत्तों की सी चीर फाड़ होती रहेगी। इसलिये उनको अन्नादि पदार्थ देकर उनसे बदले में काम ले और व्यापार विनियम द्वारा उनको बांधे रहे, (५) यदि उत्पात करे तब उन पर तर्जना करे और बन्धन लगादे।



[१०] अष्टका रूप से नववधू के कर्तव्य।

अथर्वा ऋषिः। अष्टका देवता। ४, ५, ६, १२ त्रिष्टुभः। ७ अवसाना अष्टपदा विराड्गर्भा जगती। १, ३, ८-११, १३ अनुष्टुभः। त्रयोदशर्चं सूक्तम्॥

प्रथमा ह व्युवास सा धेनुरभवद् यमे।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्॥ १॥

भा०—अष्टका रूप से पत्नी के स्वरूप का वर्णन करते हैं-हे (यमे) ब्रह्मचर्य आदि को पालन करने हारी ! ब्रह्मचारिणी ! (प्रथमा) सबसे प्रथम, श्रेष्ठ कुमारी रूप से जो स्त्री अपने पति के गृह में (ह) निश्चय से (वि उवास) विशेष रूप से वास करती है (सा) वही उसके घर की (धेनुः) गौ के समान समस्त कार्यों में सुख के देने हारी (अभवत्) होती है। (नः) हमारे घरों में भी उसी प्रकार (सा) वह पत्नी (पयस्वती) वर्धनशील सुखों के देने हारी होकर (उत्तरां उत्तरां समाम्) ज्यों २ वर्ष पर वर्ष बीतते जांय त्यों त्यों (दुहाम्[1]) घर को सुखों से भरती जाय।

[१०] १-(प्र०) 'या प्रथमा व्यौच्छत् (तृ०) 'धुक्ष्व' इति तै० सं० दुहे' इति मै० सं०। 'दुहा' इति मै० ब्रा०। (च०) 'समान्' इति सायणाभिमतः पाठः।

१. दुह प्रपूरणे। अदादिः।

यां देवाः प्रति नन्दन्ति रात्रिं धेनुमुपायतीम् ।
संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली ॥ २ ॥

भा०—गृहपत्नी नववधू को रात्रि और गौ से उपमा दे कर उसका वर्णन करते हैं—(यां) जिस (रात्रिं) रमण करने योग्य सब को प्रसन्न करने एवं सुख देने हारी रात्रि के समान और (उप आयतीम्) स्वामी के पास प्रेम से स्वयं आने हारी (धेनुं) नाना सुखों को उत्पन्न करने हारी गौ के समान गार्हस्थ्य सुख को प्राप्त कराने हारी वधू को (देवाः) विद्वान् पुरुष (प्रतिनन्दन्ति) देख कर बहुत प्रसन्न होते हैं (या) जो (संवत्सरस्य) उत्तम रीति से वत्स=बालकों को अन्नादि से पुष्ट करने हारे अपने स्वामी के गृह की पत्नी अर्थात् स्वामिनी होकर रहती है वह (नः) हमारे समाज के लिये (सुमङ्गली) उत्तम शुभ मङ्गल करने हारी हो ।

नवोढ़ा को आशीर्वाद दिया जाता है 'सुमङ्गलीरियं वधूः इमां समेत पश्यत ।' अथवा अन्यत्र भी "सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शम्भूः ।" (अथर्वः १० । २ । २६)

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे ।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज ॥ ३ ॥

भा०—हे (रात्रि) रमण करने योग्य सब को सुख देने हारी रात्रि के समान पति को सुख देने हारी पत्नि ! (यां) जिस (त्वां) तुझ को हम (संवत्सरस्य) संवत्सर, यजमान, गृहपति, प्रजापति का (प्रतिमां) दूसरा

२—(प्र०) 'यां जनाः', (द्वि०) 'इनायतीम्' इति मै० ब्रा० । (द्वि०) 'धेनुरात्रिमुपा' (च०) सुमंगला' इति पैप्प० सं० ।

३—(द्वि०) 'ये त्वा रात्रिमुपासते' (तृ०) 'तेषामायु' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'रात्रि यजामहे' इति मै० ब्रा० । 'संवत्सरस्य प्रतिमा या तां रात्रिमुपास्महे' इति पा० गृ० सू० ।

स्वरूप या दूसरी मूर्त्ति—अर्धांगिनी के समान (उपास्महे) जानते हैं (सा) वह तू (नः) हमारी (आयुष्मतीं) दीर्घायु (प्रजां) प्रजा को (रायस्पोषेण) धन धान्य आदि पुष्टिकारक पदार्थों द्वारा (संसृज) युक्त कर।

इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा।
महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्वधूर्जिगाय नवगज्जनित्री ॥४॥

अथर्व० ८ । ९ । ११ ॥

भा०—(इयम् एव) यह ही वधू (सा) वह है (या) जो (प्रथमा) गुणों में सब से श्रेष्ठ होने के कारण (इतरासु) अन्य घर की (आसु) स्त्रियों के बीच में (व्यौच्छत्) अपने गुणों का विशेष प्रकाश करती हुई (प्रविष्टा) उनके हृदयों में प्रविष्ट होकर (चरति) विचरती है, रहती है (अस्यां) इस नवोढ़ा स्त्री में ही (महान्तः) बड़े भारी (महिमानः) महत्वपूर्ण यश हैं। वह (वधूः) नववधू (अन्तः) अन्तःपुर में (नवगत्) नव २, नये २ रूप को धारण करने हारी या अपने नव पति से संगत होकर (जनित्री) प्रजा को उत्पन्न करती हुई (जिगाय) सब से उत्कृष्ट होकर रहे।

वानस्पत्या ग्रावाणो घोषमक्रत हविष्कृण्वन्तः परिवत्सरीणम्।
एकाष्टके सुप्रजसः सुवीरा वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ५ ॥

४-(द्वि०) 'अन्तरस्यां चरति' इति शा० गृ० सू०। 'सा वप्स्वन्तश्चर०' नै० सं० 'सेयमप्स्वन्त' इति मै० ब्रा०। (तृ०) त्र्यएनां महिमानः सचन्ते' इति तै० सं०। तत्रैव 'त्रितएनां' इति पैप्प० सं०। विश्वे ह्यस्यां महिमानोऽन्तः। इति मै० ब्रा०। (च०) वधूर्जजान' तै० सं०। 'वधूर्मिमाय' इति पैप्प० सं०। 'वधूर्मिमाय नवकृत्' इति शा० गृ०। 'नवगज्जनित्रीम्' इति पैप्प० सं०।

५-(तृ०) 'एकाष्टकायै हविषा विधेम' इति पैप्प० सं०। 'सुप्रजासः'

भा०—गृहपत्नी को गृह के कार्यों का उपदेश करते हैं। (वानस्पत्याः) वनस्पति या काठ के बने हुए (ग्रावाणः) कूटने के साधन ऊखल मूसल, (हविः) यज्ञ के योग्य सामग्री धान्य आदि (कृण्वन्तः) उत्पन्न करते हुए (परिवत्सरीणम्) प्रत्येक वर्ष (घोषम्) उत्तम शब्द (अक्रत) करें। हे (एकाष्टके) एकमात्र गृह की आठों प्रहर सुध लेने हारी गृहणी ! तेरे कारण हम (सुवीराः) उत्तम बलसम्पन्न, वीर्यवान् पुत्रों से युक्त (सुप्रजसः) और उत्तम सन्तानों से युक्त (रयीणां) और पशु एवं धन समृद्धियों के (पतयः) स्वामी (स्याम) हों।

इडा॑यास्प॒दं घृ॒तव॑त् सरीसृ॒पं जात॑वेदः॒ प्रति॑ ह॒व्या गृ॑भाय।
ये ग्रा॒म्याः प॒शवो॑ वि॒श्वरू॑पा॒स्तेषां॑ स॒प्ता॒नां॑ मयि॒ रन्ति॑रस्तु ॥६॥

भा०—(इडायाः) गौ का (सरीसृपं) निरन्तर गमन करने वाला (पदं) स्वरूप या चरण (घृतवत्) घृतादि पुष्टिकारक पदार्थ से युक्त होता है। हे (जातवेदः) अग्ने ! परमेश्वर ! (प्रति) प्रतिदिन (हव्या) हवन करने योग्य पदार्थों और प्रेमपूर्वक पढ़ी गयी स्तुतियों को (गृभाय) स्वीकार करो। (ये) जो (ग्राम्याः) ग्राम में पालन करने योग्य, पुरुषों के संघ में रहने के स्वभाव वाले (विश्वरूपाः) नाना प्रकार के (पशवः) पशु हैं (तेषां) उन सब (सप्तानां) सातों प्रकारों के पशुओं की (रन्तिः)

इति क्वचित्पाठः। (प्र०) 'उलूखलाग्रावा' (द्वि०) 'वत्सरीणाम्' (तृ०) 'सुप्रजा वीरवन्तः' इति हि० गृ० सू०। (प्र०) 'औलूखलाः सम्प्रवदन्ति ग्रावाणः' (च०) 'ज्योग् जीवेम बलिहृतो वयं ते' इति मै० ब्रा०।

६–'घृतवत् चराचर' (द्वि०). 'जातवेदो हविरिदं जुषस्व' इति मै० ब्रा०। (च०) 'सप्तानां इह रन्तिरस्तु' इति तै० आ०। (च०) 'पुष्टिरस्तु' आ० श्रौ० सू०।

आनन्द बहार (मयि) मेरे पास (अस्तु) हो। गृहस्थी पुरुष गोपालन करे, उससे दूध, दही, मक्खन प्राप्त करे प्रतिदिन यज्ञ करे, उपासना करे। गो-पालन, पशु-पालन करे और उनसे सुख और जीवन का आनन्द प्राप्त करे। गौ, बकरी, भेड़, हाथी, गधा, अश्व और ऊंट ये सात पशु हैं।

आ मा पुष्टे च पोषे च रात्रि देवानां सुमतौ स्याम।
पूर्णा दर्वे परा पत सुपूर्णा पुनरा पत।
सर्वान् युज्ञान्त्संभुञ्जतीषमूर्जं न आ भर॥ ७॥

यजु० ३। ४९॥

भा०—हे (रात्रि) रमणसाधनसम्पन्न गृहपत्नि! तू मुझ गृहस्थ के (पुष्टे) अति अधिक पुष्टि देने योग्य, बढ़े हुए धन में और (पोषे च) बालकों के पालन पोषण कार्य में सहायक हो। हम सब (देवानां) विद्वान् पुरुषों की (सुमतौ) शुभ मति में ही (स्याम) रहें। यज्ञ का उपदेश करते हैं—हे (दर्वे) घृतपूर्ण चमस! तू (पूर्णा) पूर्ण होकर (परापत) अग्निहोत्र की अग्नि में पड़ और (सुपूर्णा) उत्तम रीति से पूर्ण होकर (पुनः आ पत) बार २ आहुति डाल। तू (सर्वान्) समस्त (यज्ञान्) पुण्य-कार्यों को (संभुञ्जती) पालन करती हुई (ऊर्जं) रस और बल पुष्टि-कारक (इषम्) अन्न को (नः) हमें (आ भर) प्राप्त करा। दर्वि की उपमा से यह मन्त्र गृहपत्नी का कर्त्तव्य भी कहता है कि—हे (दर्वे) सब दुःखों को दलन करने हारी तू (पूर्णा) शरीर में पूर्ण होकर (परा पत) घर के कार्यों में लग और (सुपूर्णा) खूब हृष्ट पुष्ट होकर (पुनः आ पत) बार २ हमारे प्रति आ, अथवा प्रसन्न चित्त से तू माता पिता के पास जा और भी अधिक प्रसन्नता से पुनः अपने पतिगृह में लौट कर आ और सब पुण्य कर्मों का पालन करती हुई हमारे लिये पुष्टिकर पदार्थों को प्राप्त करा।

७-'पूर्णा दर्वि' इति यजु०। (प्र०) 'सम्भुञ्जती' इति पैप्प० सं०।

आयमंगन्त्संवत्सुरः पतिरेकाष्टके तव ।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज ॥ ८ ॥

भा०—हे (एका-अष्टके) एकमात्र घर को आठों प्रहर सुधारने वाली गृहपत्नि अथवा समस्त सुखों का एकमात्र स्वयं भोग देने हारी ! तेरा (पतिः) स्वामी (अयम्) यह (संवत्सरः) संवत्सरस्वरूप, यज्ञरूप, पुरुष है जो सम्=भली प्रकार वत्सरः=पुत्रों का दान करने एवं लालन पालन करने में समर्थ है । (सा) वह तू (आयुष्मती प्रजां) दीर्घ आयु वाली प्रजा को (रायस्पोषेण) धनादि पोषणकारी पदार्थों से (संसृज) युक्त कर ।

ऋतून् यंज ऋतुपतीनार्तवानुत हायनान् ।
समाः संवत्सरान् मासान् भूतस्य पतये यजे ॥ ६ ॥

अथर्व० ११ । ६ । १७ ॥

भा०—मैं गृहपति (ऋतून् यजे) सब ऋतुओं में उन ऋतुओं के अनुकूल यज्ञ करूं और (ऋतुपतीन्) ऋतुओं के परिपालक अग्नि, वायु आदि देवशब्दवाच्य पदार्थों को भी (यजे) उचित रीति से संगत करके अपने अनुकूल करूं । (आर्तवान्) ऋतुओं के पक्ष मास आदि विशेष २ भागों को भी (यजे) यज्ञ द्वारा सुखकारी बनाऊं । (उत) और (हायनान्) सब वर्षों या सब दिनों में (यजे) यज्ञ करूं । और (समाः) सब (संवत्सरान्) संवत्सरों, वर्षों और (मासान्) सब मासों में भी यज्ञ करूं और सब कालों में मैं (भूतस्य पतये) समस्त प्राणियों के पालक परमात्मा की (यजे) उपासना करूं ।

८–(तृ० च०) ‘ तस्मै जुहोमि । हविषा घृतेन शौनः शर्म यच्छतु ’ इति पैप्प० सं० ।

इस मन्त्र में ब्रह्मयज्ञ और देवयज्ञ का उपदेश करके ऋतुयज्ञ, मासयज्ञ, पाक्षिकयज्ञ, वार्षिकयज्ञ और दैनिकयज्ञ करने का भी उपदेश किया है।

ऋतुभ्यंष्ट्वार्त॒वेभ्यो॑ मा॒द्भ्यः सं॑वत्स॒रेभ्यः॑।
धा॒त्रे वि॑धा॒त्रे स॒मृधे॑ भू॒तस्य॒ पत॑ये यजे ॥ १० ॥

अथर्व० १९ । ३७ । ४ ॥

भा०—हे पत्नि ! अष्टके ! (त्वा) तुझे भी (ऋतुभ्यः) ऋतुओं के लिये (आर्तवेभ्यः) ऋतुभागों के लिये (माद्भ्यः) मासों और (संवत्सरेभ्यः) वर्षों के लिये (धात्रे) सब के पालक पोषक (विधात्रे) सब के उत्पादक, (समृधे) सब को समृद्ध करने हारे, (भूतस्य पतये) सब प्राणियों के परिपालक परमात्मा के लिये (यजे) अपने संग पत्नी बनाकर रखूं और तेरे संग ही सब यज्ञ आदि पवित्र कार्यों को करूं।

इड॑या जु॒ह्व॑तो व॒यं दे॒वान् घृ॒तव॑ता यजे।
गृ॒हानलु॑भ्यतो व॒यं सं वि॑शे॒मोप॒ गोम॑तः ॥ ११ ॥

भा०—गृहस्थ पुरुषों को सदाचार का उपदेश करते हैं। (इडया) अन्न और भूमि से उत्पन्न हुए पवित्र पदार्थों को (जुह्वतः) दान प्रतिदान और अग्नि में आहुति देते हुए (वयं) हम (देवान्) देवगण अग्नि, वायु, जल आदि पदार्थों और विद्वान् पुरुषों को (घृतवता) घृत आदि पोषण-कारी पदार्थों से (यजे) उनको संगत कर पुष्टकारक करूं और उनका आदर करूं और (वयं) हम सब (गोमतः) गौ आदि पशुओं से सम्पन्न (गृहान्) गृहों में (अलुभ्यतः) एक दूसरे के पदार्थों का लोभ न

१०-(प्र० द्वि०) 'यजुर्ऋत्विग्भ्य आर्तवेभ्यः माभ्यः, संवत्सराय च' इति पैप्प० सं०।

११-(च०) 'द्रुपदे स्वपगोमते' इति पैप्प० सं०।

करते हुए, निर्लोभ होकर (उप सं विशेम) परस्पर मिल कर एक दूसरे के समीप रहें ।

एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमानमिन्द्रम् ।
तेन देवा व्यसहन्त शत्रून् हन्ता दस्यूनामभवच्छचीपतिः ॥१२॥

भा०—(एकाष्टका) एकमात्र गृहिणी (तपसा) गृहस्थ के पालन रूप तप और ब्रह्मचर्य से (तप्यमाना) व्रत पालन करती हुई (महिमानम्) महत्वपूर्ण (इन्द्रं) ऐश्वर्ययुक्त, गुणगौरवयुक्त आत्मा को (गर्भं) अपने गर्भरूप में (जजान) धारण करके उत्पन्न करती है । (तेन) उस उत्तम पुत्र से (देवाः) विद्वान् गण भी (शत्रून्) अपने शत्रुओं को (व्यसहन्त) पराजित करते हैं । और वही बड़ा होकर (शचीपतिः) शक्ति सेना का स्वामी हो कर (दस्यूनाम्) राष्ट्र के नाशकारी पुरुषों को (हन्ता अभवत्) विनाशकारी होता है । स्त्रियों को तपस्या ही बड़े २ राजर्षियों को उत्पन्न करती है ।

इन्द्रपुत्रे सोमपुत्रे दुहितासि प्रजापतेः ।
कामानस्माकं पूरय प्रति गृह्णाहि नो हविः ॥ १३ ॥

भा०—हे अष्टके पत्नि ! हे (इन्द्रपुत्रे) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् पुत्र वाली ! और हे (सोमपुत्रे) सौम्यगुण सम्पन्न चन्द्र के समान आह्लादकारी पुत्र प्रसव करनेहारी स्त्रि ! तू (प्रजापतेः) प्रजा के पति गृहस्थ की (दुहिता) समस्त कामनाओं को पूर्ण करने हारी (असि) है । इसलिये तू (अस्माकं) हमारे (कामान्) समस्त अभिलाषाओं को (पूरय) पूर्ण कर और (नः) हमारा (हविः) पुष्टिकारक पदार्थ, अन्न और उत्तम ज्ञानोपदेश एवं आदान करने योग्य वीर्यांश को भी (प्रतिगृह्णाहि) स्वीकार कर, धारण कर ।

१२–(तृ० च०) 'तेन दस्यून् व्यसहन्त देवा हन्तासुरानामभवच्छचीभिः' इति पैप्प० सं० ।

इस सूक्त में अष्टका देवता है सायण ने 'अष्टका' शब्द से माघ की कृष्णाष्टमी का ग्रहण किया है । और समस्त सूक्त उसी पर ही लगाया है । परन्तु हमें वैसा करना अभीष्ट नहीं जचा क्योंकि शतपथ ने अष्टका और एकाष्टका दोनों की व्याख्या दूसरी ही की है । "अष्टका-यामुखां सम्भरति । प्राजापत्यमेतदहर्यदष्टका । प्राजापत्यमेतत्कर्म यदुखा । प्राजापत्य एव तदहन् प्राजापत्यं कर्म करोति । यद्वेवाष्टकायाम् । पर्व एतत्संवत्सरस्य यदष्टका पर्वैतदग्नेर्यदुखा पर्वण्येव तत्पर्व करोति । यद्वेवाष्टकायाम् । अष्टका वा उखा ।" (शत० ६ । २ । २ । २३-२५ ॥ प्राजापत्यमेतत्कर्म यदुखा । योनिर्वा उखा ॥ शत० ७ । ५ । १३८ ॥ अष्टका काल में उखा संभरण किया जाता है । यह अष्टका का दिन प्रजापति का दिवस है । और उखा का सम्भरण भी प्रजापति का कार्य है । अष्टका के दिन प्रजापति का कार्य करना संगत ही है । यह एक पर्व भी है । अष्टका ही उखा है । उखा का अर्थ योनि है । इस प्रकार से अष्टका वास्तव में ऋतुमती स्त्री का प्रतिनिधि है । उसी के कर्त्तव्यों को लक्ष्य करके 'उखा-सम्भरण' और अष्टका कर्म हैं जिन में ये मन्त्र ये.नि-सम्भरण=गृहस्थ के कार्यों का उपदेश करने वाले मन्त्रों से वह पर्व मनाया जाता है । इनका मुख्यार्थ गृहस्थकर्मपरक ही है ।

इति द्वितीयोऽनुवाकः ।

[तत्र पञ्च सूक्तानि, ऋचश्च चत्वारिंशत् ।]



[११] आरोग्य और दीर्घायु होने के उपाय ।

ब्रह्मा भृग्वङ्गिराश्च ऋषी । ऐन्द्राग्न्युषसो यक्ष्मनाशनो वा देवता । ४ शक्वरीगर्भा जगती, ५, ६ अनुष्टुभौ, ७ उष्णिग् बृहतीगर्भा, पथ्यापंक्तिः; ८ त्र्यवसाना षट्पदा बृहतीगर्भा जगती, १-३ त्रिष्टुभः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात् ।
ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम् ॥ १ ॥

ऋ० १० । १६१ । १ ।

भा०—बालकों और घर के रोगग्रस्त पुरुषों के आरोग्य रखने और दीर्घायु होने के उपायों का उपदेश करते हैं । हे बालक ! (त्वा) तुझ को मैं गृहपति (जीवनाय) सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कराने के लिये (हविषा) सुगन्धित पुष्टिकारक चरु द्वारा (अज्ञातयक्ष्माद्) अज्ञात स्वरूप वाले संग दोष से लगने वाले रोग से और (उत राजयक्ष्मात्) तपेदिक जैसे भयंकर, शोषक रोग से भी (मुन्चामि) बचाये रखूं । (यदि) यदि (एनं) इस बालक को (ग्राहिः) सब अंगों को पकड़ लेने वाला, मसाने का रोग या शीत-वात रोग भी (जग्राह) पकड़ले तो भी (इन्द्राग्नी) इन्द्रः=शुद्ध वायु या सूर्य का आतप और अग्निः=होमाग्नि दोनों (एनं) इस बालक को (तस्याः) उस रोग से (प्र मुमुक्तम्) मुक्त करें ।

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव ।
तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्शमेनं शतशारदाय ॥ २ ॥

ऋ० १० । १६१ । २ ॥

भा०—(यदि) यदि यह बालक (क्षितायुः) रोग से अपनी जीवन शक्ति को खो भी चुका हो (यदि वा) और चाहे यह बालक (परेतः)

[११] ऋग्वेदे यक्ष्मनाशनः प्राजापत्य ऋषिः । यक्ष्मनाशघ्नं देवता । १-(तृ०) ' यदि वैतदेनं ' इति ऋ० । ' ग्राह्यागृहीतो यद्येष यातस्तत इन्द्रा ' इति पैप्प० सं० ।

२-(च०) ' अस्पार्शम् ' इति शं० पा० । (प्र०) 'यदु खरायुर्यदि [?]' इति पैप्प० सं० ।

और भी परली, निराशाजनक दशा को पहुंच गया हो यदि (मृत्योः) शरीर के प्राण से छूट जाने की दशा के (अन्तिकं) समीप तक भी (नीत एव) पहुंच ही गया हो । तो भी (तं) उस बालक को मैं उपायज्ञ पुरुष (निर्ऋतेः) मृत्यु के या रोगकारी कारणों के (उपस्थात्) चंगुल से पुनः (आहरामि) फिर लौटा लेता हूं । (एनं) और इस बालक को (शतशारदाय) सौ वर्ष का जीवन बिताने के लिये (अस्पार्षम्) पुनः बलवान् कर देता हूं ।

सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ।
इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् ॥३॥

ऋ० १० । १६१ । ३ ॥

भा०—मैं (सहस्राक्षेण) हज़ारों पुष्परूप चक्षु से युक्त या सहस्राक्ष नामक (शतवीर्येण) सैकड़ों वीर्य वाले (शतायुषा) सौ वर्ष की आयु देने वाले (हविषा) ओषधि से (एनम्) इस आशातीत बालक को भी मैं पुनः जीवन के लिये (आहार्षम्) मौत के पंजे से छुड़ा कर ले आऊं । (यथा) जिससे (इन्द्रः) परमात्मा (एनं) इस जीव को (शरदः) सौ वर्षों तक (विश्वस्य) समस्त (दुरितस्य) दुष्ट, पाप कर्म के दुष्फल के (पारं) पार (अति नयाति) कर दे ।

शतवीर्या ओषधि दूर्वा का एक भेद है जो सहस्रवीर्या और मत्स्याक्षी भी कहाती है जो बालक को पुष्टि के लिये दी जाती है ।

शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान् ।
शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषा-
हार्षमेनम् ॥ ४ ॥ ऋ० ११६ । ४ ॥

३–(प्र०) 'सहस्राक्षेण शतशारदेन' (द्वि०) 'हार्षमिमम्' (तृ०) 'शतं यथैनं शरदो नयातीन्द्रो वि-' इति ऋ० ।

४–(तृ०) 'शतं त इन्द्राग्नी सविता', (च०) 'हविषेमान् पुनर्दुः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(शतायुषा) सौ वर्ष की आयु देने में समर्थ (हविषा) हवि-रूप ओषधि से मैं (एनं) इस बालक को (आहार्षम्) मौत के मुंह से लौटा ले आया हूं। विद्वान् लोग बालक को आशीर्वाद दें हे बालक तू (वर्धमानः) बराबर वृद्धि को प्राप्त होता हुआ (शतं शरदः) सौ शरत् कालों तक (शतं हेमन्तान्) सौ हेमन्त कालों तक और (शतम् उ वसन्तान्) सौ वसन्तों तक (जीव) जी, प्राण धारण कर और (इन्द्रः) परमेश्वर (अग्निः) ज्ञानवान् (सविता) सब का प्रकाशक और उत्पादक (बृहस्पतिः) महान् ब्रह्माण्ड का स्वामी परमात्मा (ते) तुझे (शतं) सौ वर्ष की आयु प्रदान करें।

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम् ।
व्यन्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितराञ्छतम् ॥ ५ ॥

अथर्व० ८ । १ । २० ॥

भा०—(अनड्वाहौ) जिस प्रकार रथ के दोनों बैल अपने (व्रजम्) निवास स्थान वृषशाला में प्रविष्ट होते हैं उसी प्रकार हे (प्राणापानौ) प्राण और अपान, भीतर जाने और भीतर से बाहर आने वाले श्वास प्रश्वास तुम दोनों (प्रविशतं) इस बालक में सुखपूर्वक उत्तम रीति से प्रवेश करो (अन्ये) और जो (मृत्यवः) आत्मा से देह के छूट जाने के नाना कारण हैं (यान्) जिन (इतरान्) औरों को भी (शतम्[1]) सौ (आहुः) गिनाया जाता है वे भी (वि यन्तु) दूर हो जांय।

इहैव स्तं प्राणापानौ माप गातमितो युवम् ।
शरीरमस्याङ्गानि जरसे वहतं पुनः ॥ ६ ॥

१. 'मृत्यून् एकं शतं ब्रूमः' इति अथर्व० ११ । ६ । १६ ॥ 'शतमन्यान् परिवृणक्तु मृत्यून्' अथर्व० १ । ३० । ३ ॥ 'ये मृत्यवः एकशतम्' अथर्व० १ । २ । २७ ॥

६–(द्वि०) 'गामितो जवम्' इति सायणाभिमतः पाठः ।

भा०—हे (प्राणापानौ) प्राण और अपान ! तुम दोनों (इह एव) इस देह में ही (स्तं) रहो (युवम्) तुम दोनों (इतः) इस देह को छोड़ कर (मा अपगातम्) मत जावो। (अस्य) इस बालक के (शरीरम्) शरीर को और (अंगानि) अंगों को भी (पुनः) बराबर (जरसे) वृद्धावस्था तक (वहतं) धारण करो।

जरायै त्वा परि ददामि जरायै नि धुवामि त्वा ।
जरा त्वा भद्रा नेष्ट व्यन्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितराञ्छतम् ॥७॥

भा०—हे बालक ! (त्वा) तुझको (जरायै) वृद्ध होने की दशा तक (परि ददामि) सब प्रकार से रक्षा करता हूं और उस बुढ़ापे तक तुझे पहुंचाता हूं। (त्वा जरायै) तुझको जराकाल तक (नि धुवामि) सब प्रकार से व्यवहार योग्य बनाये रखता हूं। (त्वा) तुझको (जरा) वार्धक दशा भी (भद्रा) कल्याण, सुखों को (नेष्ट) प्राप्त कराये अर्थात् बुढ़ापे में भी शरीर को वात आदि रोग न सतावें। और (अन्ये मृत्यवः) और मृत्यु के कारण भी (यान् इतरान् शतम् आहुः) जिनको लोग सौ गिनाया करते हैं वे भी (वि यन्तु) दूर हों।

अभि त्वां जरिमाहित गामुक्षणमिव रज्ज्वा ।
यस्त्वां मृत्युरभ्यधत्त जायमानं सुपाशया ।
तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद् बृहस्पतिः ॥ ८ ॥

भा०—हे बालक (त्वा) तुझको (जरिमा) बुढ़ापे ने भी (अहित) इस प्रकार बांध लिया है जैसे (रज्ज्वा) रस्सी से (उक्षणम् गाम् इव) वृषभ, बैल को बांध लिया जाता है। अर्थात् अब तेरे जीते रहने पर भी तुझे जीवन के अन्त में बुढ़ापा तो अवश्य ही आवेगा। शेष रही बाल्यकाल की मृत्यु ! (यः मृत्युः) जिस अकालमृत्यु ने (जायमानं त्वा) उत्पन्न होते ही तुझको (सुपाशया) दृढ़ फांसे से (अभि अधत्त) फांस

लिया है (तं) उसको (बृहस्पतिः) विश्व के पति परमात्मा या वाचस्पति वैद्य (ते) तुझे (सत्यस्य हस्ताभ्याम्) सत्य के हाथों से अर्थात् वास्तविक सत्य औषध-प्रयोग और तेरे आत्मा के शेष पुण्य इनके आधार पर (उद् अमुञ्चद्) बचा लें ।



[१२] बड़े २ भवन बनाने का उपदेश ।

ब्रह्मा ऋषिः । वास्तोष्पतीयम् शालासूक्तम् । वास्तोष्पतिः शाला च देवते । १, ४, ५ त्रिष्टुभः, २ विराड् जगती, ३ बृहती, ६ शक्करीगर्भा जगती, ७ आर्षी अनुष्टुप्, ८ भुरिग्, ९ अनुष्टुप् । नवर्चं सूक्तम् ॥

इ॒हैव ध्रु॒वां नि मि॑नोमि॒ शालां॒ क्षेमे॑ तिष्ठाति घृ॒तमु॒क्षमा॑णा ।
तां त्वा॑ शाले॒ सर्व॑वीराः सु॒वीरा॒ अरि॑ष्टवीरा॒ उप॒ सं च॑रेम ॥ १ ॥

भा०—निवास योग्य भवन, हवेली, शाला, गृह आदि बनाने का उपदेश करते हैं—(इह एव) इस उत्तम भूमि प्रदेश में ही (ध्रुवां शालां) ध्रुव, दृढ़ शाला को (नि मिनोमि) बनाता हूं । (क्षेमे) इस सुरक्षित प्रदेश में यह शाला, बनी हुई हवेली (घृतम्) सूर्य के प्रकाश को और शुद्ध वायु को (उक्षमाणा) अपने भीतर रहने वाले जनों को उत्तम रीति से देती हुई (तिष्ठाति) स्थिर रूप से खड़ी रहे । हे (शाले) हवेली ! (तां त्वा) उस तुझ में हम (सर्ववीराः) सब प्रकार के छोटे बड़े पुत्रों सहित, (सुवीराः) उत्तम बल वीर्य सम्पन्न होकर (अरिष्टवीराः) आरोग्यता युक्त सामर्थ्यवान् होकर (उप संचरेम) रहें, विचरें ।

---

[१२] १-(च०) 'अभि संचरेम' इति पैप्प० सं० ।

इहैव ध्रुवा प्रति तिष्ठ शालेश्वावती गोमती सूनृतावती ।
ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय ॥ २ ॥

भा०—विशाल भवन बनाने का उपदेश करते हैं। हे (शाले) विशाल भवन! (इहैव) इसी आधार नींव पर तू (ध्रुवा) खूब मज़बूत दृढ़ होकर (प्रति तिष्ठ) प्रतिष्ठित रह, जमी रह और (अश्वावती) घोड़ों (गोमती) गौओं और (सूनृतावती) शुभ वेदवाणियों और (ऊर्जस्वती) अन्न और (घृतवती) प्रकाश, वायु एवं घृत और (पयस्वती) गौ भैसों के दूध और उत्तम जल आदि पदार्थों से सम्पन्न होकर (महते सौभगाय) मेरे बड़े भारी सौभाग्य को बनाये रखने के लिये (उच्छ्रयस्व) खूब ऊंची उठ कर खड़ी हो जा।

बड़े २ भवन बनाओ जिसमें घोड़े बँध सकें, गायें पाल सकें, वेदपाठी ब्राह्मण वेदपाठ करें, अन्नागार हों, घी दूध के कोठे हों और बड़ी समृद्धि रखी जा सके, जिसके कारण सब यश गावें।

धरुण्य/सि शाले बृहच्छन्दाः पूतिधान्या ।
आ त्वा वत्सो गमेदा कुमार आ धेनवः सायमास्पन्दमानाः ॥३॥

भा०—हे (शाले) विशाल भवन! तू (धरुणी) विशाल स्तंभों से युक्त (बृहत् छन्दाः) बड़ी लम्बी चौड़ी छतों से ढकी, (पूतिधान्या)

२–(प्र०) 'इहेव स्थूणे प्रतितिष्ठ ध्रुवा' (द्वि०) 'गोमती शील मावती.' (तृ०) ऊर्जस्वती पयसा पिन्वमाना' इति पा० गृ० सू०।

३–(द्वि०) 'बृहच्छदिः पूतधान्या' इति ह्विटनिकामितः पाठः। 'सायमास्यन्दमानाः' इति सायणाभिमतः पाठः। 'स्पन्दमाना' इति शं० प०। 'एनां शिशुः क्रन्दत्याकुमार आस्पन्दन्तां धेनवो नित्यवत्साः' शां० गृ० सू०। 'आ त्वा शिशुराक्रन्द त्वा गावो धेनवो वाश्यमानाः' इति पा० गृ० सू०।

पवित्र धन-धान्यों से परिपूर्ण हो । (त्वा) तुझमें (वत्सः) बच्चे और (कुमारः[1]) कुमार=बालक (आगमेत्) आवें, खेलें और रौनक रहें, (धेनवः) गौएं भी (सायं) सायङ्काल के समय (आस्पन्दमानाः) शनैः २ चलती हुई (आ) आकर प्रवेश करें । अर्थात् तू आबाद रह, उजड़ मत ।

इमां शालां सविता वायुरिन्द्रो बृहस्पतिर्नि मिनोतु प्रजानन् ।
उक्षन्तूद्ना मरुतो घृतेन भगो नो राजा नि कृषिं तनोतु ॥ ४ ॥

भा०—(इमां शालां) इस शाला को (सविता) सूर्य (इन्द्रः) विद्युत्, (वायुः) वायु, (बृहस्पतिः) और वेदप्रवक्ता विद्वान् ये सब (प्रजानन्) उत्कृष्ट रूप में प्रकट होकर (नि मिनोतु) इसको उत्तम रूप से बनावें । (मरुतः) वायुएं और वायुविद्या को जानने हारे शिल्पी एवं सम्पन्न व्यापारीगण और प्रजाएं भी (घृतेन) सेचनसमर्थ (उद्ना) जल से (उक्षन्तु) उसका सेचन करें और (नः) हमारा (भगः) ऐश्वर्यवान् (राजा) शोभा सम्पादन करने हारे शिल्पी (कृषिं) नाना प्रकार के विलेखन आदि चित्रकार्यों को (नि तनोतु) करें । अथवा भाविनी संज्ञा को ध्यान में रख कर कहा है कि हमारा (भगः राजा) भाग्यवान् राजा, मुख्य पुरुष ही (कृषिं नि तनोतु) शाला बनवाने के लिये नींव आदि खुदवावे या खेती बाड़ी करे ।

मानस्य पत्नि शरणा स्योना देवी देवेभिर्निमितास्यग्रे ।
तृणं वसाना सुमना असस्त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः ॥५॥

---

१. जात्याख्यायामेकवचनम् ।

४–(प्र०, द्वि०) 'वायुरग्निस्त्वष्टा होता नि०' (च०) 'भगो नः सोमो', 'उक्षन्तूद्ना' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'उक्षन्तूद्ना' इति शं० पा० । 'उक्षन्तु उस्त्रा' इति क्वचित् । 'उक्षन्तूद्ना' इत्यपि बहुत्र ।

५–(तृ० च०) 'ऊर्जं वसना सुमना यशस्त्वं रयिं नोऽधि सुभगे सुवीरम्' इति पैप्प० सं० । मानः सपत्नः शरणः स्योना देवो देवेभिर्विमितास्यग्रे तृणं वसाना: सुमना असि त्वम् । इति हि० गृ० सू० ।

भा०—शाला या गृह और गृहणी दोनों को समान रूप से दर्शाते हैं। हे (मानस्य पत्नि) मान, प्रतिष्ठा का पालन करने हारी धर्मपत्नी के समान शाले ! तू (शरणा) सब को शरण देने वाली (स्योना) सुखकारिणी (देवी) दिव्यगुणशालिनी सुखदा है। तुझे देवेभिः) देव, विद्वान् शिल्पियों ने (अग्रे) पूर्व कल्पों में भी बराबर (निर्मिता असि) इसी प्रकार का बनाया है। (त्वं) तू तृण-वल्कल-धारिणी ब्रह्मचारिणी के समान अब भी (तृणं वसाना) फूस के सुन्दर आवरण और काठ आदि की सुन्दर छत को धारण करती हुई (सुमनाः) शुभ चित्त वाली मनोनुकूल (असः) हो, (अथ) और (अस्मभ्यं) हमें सहवीरं) पुत्रों के साथ (रयिं) यश, वीर्य, धन धान्य को (दाः) प्रदान कर।

ऋतेन स्थूणामधि रोह वंशोग्रो विराजन्नप वृङ्क्ष्व शत्रून्।
मा ते रिषन्नुपसत्तारो गृहाणां शाले शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः॥६॥

भा०—वंश को ध्वजा के समान उन्नत रखने का उपदेश करते हैं। हे (वंश) ध्वजादण्ड के समान वंश ! तू जिस प्रकार ध्वजादण्ड अपने बल से विशाल शाला के स्थूल स्तम्भ के आगे चढ़ाया जाता है, उसी प्रकार (उग्रः) बलवान् होकर (ऋतेन) सत्य के बल से (स्थूणा) दृढ़ आधारस्तम्भ पर (अधि रोह) खड़ा रह और (विराजन्) विशेष प्रकार से शोभा देकर (शत्रून्) शत्रुओं का (वृङ्क्ष्व) निवारण कर। हे शाले ! (ते) तेरे भीतर (गृहाणां उपसत्तारः) गृहों को बसाने वाले या गृहों, कमरों में बैठने वाले (मा रिषन्) क्लेश को प्राप्त न हों और हम (सर्ववीराः) सब पुत्रों सहित (शतं जीवेम) सौ वर्षों तक जीवन व्यतीत करें।

६–(प्र०) 'स्थूणऽधि', (तृ० च०) सत्तारोन विराजां जीवान् शरदश्शतानि' इति पैप्प० सं०। 'उपसत्तारः शाले—सुवीराः' इति ह्विटनिकामितः पाठः। 'मा ते ऋषन्' इति सायणसम्मतः पाठः।

एमां कुमारस्तरुण आ वत्सो जगता सह ।
एमां परिस्रुतः कुम्भ आ दध्नः कलशैरगुः ॥ ७ ॥

भा०—(इमां) इस शाला में (कुमारः आ) कुमार बालक (तरुणः) युवा पुरुष (वत्सः) बच्चे (जगता सह) अन्य भी जीवों के साथ (आ अगुः) आवें और (इमां) इसमें (परिस्रुतः) स्रवण करने हारे पदार्थ घी, दूध, मक्खन, शहद और (कुम्भः) घड़े (दध्नः) दही के (कलशैः) भरे कलसों सहित (आ अगुः) आवें ।

पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धारामृतेन संभृताम् ।
इमां पात्रीममृतेना समङ्ग्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम् ॥ ८ ॥

भा०—गृहपत्नी के कर्तव्य का उपदेश करते हैं । हे (नारि) गृहपत्नि ! (एतं) इन (कुम्भ) घड़ों और मटकों को (पूर्णं) पूर्ण भरकर (प्रभर) अपने घर में लेजा । और (अमृतेन) अमृत अन्न और जल से (संभृता) सम्पन्न (घृतस्य धाराम्) घी दूध की धारा को भी घर में लेजा । (इमां) इस (पात्रीम्) थाली को (अमृतेन) उत्तम अन्न रस से (आ समङ्ग्धि) सुशोभित कर और (एनां) इस शाला को (इष्टापूर्तं) यज्ञ

७-(प्र०) 'आत्वा कुमार' (तृ०) 'आत्वा परिश्रितः,' (च०) 'कलशश्च या' इति पैप्प० सं० । एमां, परिश्रुतः इति क्वचित् । 'परिस्रुतः कुम्भाः', (च०) 'कलशीरगुः' इति सायणाभिमतः पाठः । (द्वि०) 'जगदैः सह' इति पा० गृ० सू० । 'जगता सह' इति आ० गृ० सू० । वत्सो भुवनाः परि इति शां० गृ० सू० ।

८-(तृ०) 'इमां पात्रीममृतेना समिन्धि इति सायणसम्मतः पाठः सुसंगततरः । 'पातॄनमृतेन' इति शं० पा०, प्रायिकश्च पाठः । 'पूर्णा नाभिरिप्रहराभिकुम्भमपारमन्तोषधीनान् घृतस्य । इमा प्रान्नेरमृतस्य०' इत्यादि पैप्प० सं० ।

दान और कूप बागीचा और बावड़ी आदि (अभि) चारों तरफ से (रक्षति) रक्षा करे ।

अथवा पाठान्तर—हे नारि ! (इमां पातॄन्) इस शाला की रक्षा करने वालों को (अमृतेन) अन्नादि जीवनयुक्त पदार्थों से (आ समङ्ग्धि) हृष्ट पुष्ट कर ।

इमा आपः प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः ।
गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना ॥ ६ ॥

अथर्व० ९ । ३ । २३ ॥

भा०—गृह में किस प्रकार के पदार्थ लावे इसका उपदेश करते हैं । (इमाः) इन (यक्ष्मनाशिनीः) रोगनाशक स्वच्छ (आपः) जलों को मैं (अयक्ष्मा) नीरोग रह कर (प्रभरामि) अपने घर में भरूं । और (अमृतेन) अन्न के साथ २ (ऋतेन) शुद्ध ज्ञानमय (अग्निना) अग्नि के समान तेजस्वी प्रकाशक विद्वान के सहित (गृहान् उप) अपने गृहों में (प्र सीदामि) प्रसन्न होकर रहूं ।



[१३] जलों के नामों के निर्वचन ।

भृगुर्ऋषिः । वरुणः सिन्धुर्वा देवता । १ निचृत् । ५ विराड् जगती । ६ निचृत् त्रिष्टुप् । २-४, ७ अनुष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

यदुदः संप्रयतीरहावनदता हते ।
तस्मादा नद्यो३ नाम स्थ ता वो नामानि सिन्धवः ॥ १ ॥

भा०—एक पदार्थ के भिन्न २ नाम रखने के विज्ञान का उपदेश करते हैं । उदाहरण के लिये जल के नामों की व्याख्या करते हैं । हे (आपः) जलो ! (यद् अदः अहौ) इस मेघ के (हते) विद्युत् और वायु द्वारा ताड़ित

होने पर (संयतीः) एकत्र होकर बहते हुए (अनदत) ध्वनि करते हो, समृद्धि को प्राप्त होते हो, इसलिये तुम (नद्यः नाम) नदी नाम से (आ-स्थ) पुकारे जाते हो (तस्मात्) इसी कारण हे (सिन्धवः) प्रस्रवणशील, बहने वाले जलो (वः) तुम्हारे (ताः) वे नाना प्रकार के (नामानि) नाम भी हैं।

यत् प्रेषिता वरुणेनाच्छीभं समवल्गत।
तदाप्नोदिन्द्रो वो यतीस्तस्मादापो अनु ष्ठन ॥ २ ॥

भा०—(यत्) जब (वरुणेन) पृथ्वी पर आवरण करने हारे मेघ द्वारा (प्रेषिताः) प्रेरित होकर (शीभं) शीघ्र ही (समवल्गत) गति करते हो (तत्) तब (वः यतीः) गति करते हुए तुम में (इन्द्रः) वायु (आप्नोत्) व्याप्त हो जाता है (तस्माद्) इसलिये तुम (आपः) 'आपः' (अनु स्तन) इस नाम से पुकारे जाते हो।

अपकामं स्यन्दमाना अवीवरत वो हिकम्।
इन्द्रो वः शक्तिभिर्देवीस्तस्माद् वार्नाम वो हितम् ॥ ३ ॥

भा०—'वार' नाम जलों का क्यों है ? (अपकामं) नीचे जाने की वासना=वेग से युक्त होकर (स्यन्दमानाः) बहते हुए (इन्द्रः) इन्द्र विद्युत् ने या विद्युत् या शक्ति के उत्पादन के कला के विज्ञ विद्वान् ने (वः शक्तिभिः) तुम्हारी ही शक्ति=वेग, सामर्थ्यों के कारण (वः) तुमको (अवीवरत्) वरण किया, तुमने आश्रय लिया अर्थात् उसने अपने यन्त्रों को घुमाने के लिये जलधाराओं को वरण किया, चुना नालिका रूप से रोक कर प्रयोग किया। (तस्माद्) इस कारण (वः) तुम्हारा नाम (वार् हितम्) 'वार्' ऐसा धर दिया।

२-(प्र०) 'सम्प्रच्युता वरुणेन यद्' इति मै० सं०।
३-(तृ०) 'इन्द्रो वः सक्तिभिर्दैः' इति पैप्प० सं०।

एको वो देवोप्यंतिष्ठत् स्यन्दमाना यथावशम् ।
उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते ॥ ४ ॥

भा०—हे (आपः) जलो ! (एकः देवः) एक विद्वान् पुरुष (यथावशम्) स्वच्छन्द रूप से (स्यन्दमानाः) बहते हुए (वः) तुम जलों पर भी (अपि अतिष्ठत्[1]) वश प्राप्त करता और (महीः) पृथिवी के ऊपर (उद् आनिषुः) ऊंचे स्थानों पर भी चढ़ा देता है (तस्मात्) इस कारण से जल को (उदकम्) उदक (उच्यते) कहा जाता है । अर्थात् जलों में ऊपर उठने का भी गुण है । नल के बल से जल समुद्र पृष्ठ से ३३ फीट ऊपर उठ सकता है । अथवा (एको देवः वः स्यन्दमानाः यथावशम् अपि अतिष्ठत्) एक विद्वान् तुम जलों पर भी अपनी शक्ति और कामना के अनुकूल वश करता (महीः उदानिषुः) और बड़े २ पदार्थों को ऊपर उठा देता है (तस्मात् उदकमुच्यते) इस कारण जल को उदक कहा जाता है । अर्थात् जल के ऊपर उठाने के गुण से बड़े २ पदार्थों को ऊपर उठाने का कार्य लिया जाता है। जैसे 'ब्रामा प्रेस' में जल का यह गुण कार्य में लाया जाता है कि जितना बल एक तरफ़ लगाया जाय उतना ही वे दूसरी तरफ़ पहुंचा देते हैं । अथवा बहती हुई जलधाराओं को विद्वान् अपने वश करके जहां चाहे ऊपर से या बह ऊपर की भूमि में उठा कर ले जाता है। उनको यन्त्र के बल से ऊपर उठा लेता है जैसे वाटर वर्क्स में पर्वतों के शिखर पर भी जल को उठा दिया जाता है इसी से इसका नाम 'उदक' है । अथवा देव=सूर्य किरणों द्वारा समुद्र से जलों को मेघ रूप में आकाश के प्रति उठा लेता है । इत्यादि ।

४–'एको न देवः उपातिष्ठत् स्यन्दमाना उपेत्य' इति पैप्प० सं० ।

१. अपि शब्द अभ्यर्थ इति सायणः ।

आपो भद्रा घृतमिदाप आसन्नग्नीषोमौ बिभ्रत्याप इत् ताः ।
तीव्रो रसो मधुपृचामरंगम आ मा प्राणेन सह वर्चसा गमेत् ॥५॥

भा०—(भद्राः) कल्याणकारिणी, सुखदायिनी (आपः) आपः= जल ही (घृतम् इत्) घृत-तेज=कान्ति देने हारी, पौष्टिक पदार्थ (आसन्) हैं । (ताः इत्) वे ही (आपः) आपः=जल (अग्निषोमौ) अग्नि और सोम दोनों को (बिभ्रति) धारण करती हैं । (मधुपृचाम्) जीवन, अमृत से युक्त तुम जलों का (तीव्रः रसः) तीव्र रस (अरंगमः) खूब उत्तम रीति से मिल जाने वाला (प्राणेन वर्चसा सह) मेरे प्राण और वर्चस्-तेज के साथ (मा आगमेत्) मुझे भी प्राप्त हो । जलों का अग्नि स्वरूप अंश=उद्जन (Hydrozen) जो स्वयं ज्वलनशील है और जो तेजाब बनाने में आवश्यक अंग है जल का दूसरा अंश सोमस्वरूप ओक्सीजन (Oxizen) है जो 'ओष' उत्पन्न करता है अर्थात् ज्वलन में सहायक है वह स्वयं नहीं जलता । वह ओषधियों में 'ओष' उत्पन्न करने से सोमात्मक है । जिन में से उद्जन स्वतः ज्वलनशील होने से घृतरूप है । और ऑक्सीजन भी पुष्टिदायक होने से 'घृतस्वरूप' है । यह इसकी वैज्ञानिक व्याख्या है ।

आदित् पश्याम्युत वा शृणोम्या मा घोषो गच्छति वाङ् मासाम् ।
मन्ये भेजानो अमृतस्य तर्हि हिरण्यवर्णा अतृपं यदा वः ॥ ६ ॥

५–(प्र०) 'मिदाप आसन्नग्नी' (च०) 'वर्चसागन्' तै० सं० । (प्र०) 'आपोदेवीर्घृतमिन्वा उ आपः' मै० सं० । 'आपो देवीर्घृतमिताआहुरग्नी' (द्वि०) 'इत्याः' (तृ०) 'गमामाप्रा' इति पैप्प० सं० ।

६–'वागमासान्' इति सायण सम्मतः पाठः । (द्वि०) 'वाङ् न आसां' इति तै० सं० ।

भा०—(आत्) इसके अनन्तर (आसाम्) इनके बीच में से मैं (पश्यामि) आरपार भी देख लेता हूं (उत वा) और (आसाम्) इनके बीच में से (शृणोमि) श्रवण भी कर सकता हूं । (घोषः) शब्द भी (आसाम्) इन जलों के बीच में से (मा) मुझ तक (आगच्छति) आ जाता है और (आसाम्) इन में से (वाक्) वाणी भी (मा) मुझ तक गुजर आती है । हे जलो ! हे (हिरण्यवर्णाः) अमृतस्वरूप या शब्द और प्रकाश को हरण करने वाले परमाणुओं के बने जलो ! (यदा) जब (वः) तुम को (अतृपम्) प्राप्त करता हूं (तर्हि) तब मैं अपने को (अमृतस्य) अमृत का (भेजानः) सेवन करता हुआ (मन्ये) मानता हूं ।

जल के तीन गुण दर्शाये (१) ये पारदर्शक हैं अर्थात् किरणें इन में प्रवेश कर सकती हैं । चक्षु इनके भीतर देख सकती हैं । दूसरे ये शब्दवाही हैं अर्थात् शब्द को भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचा देते हैं, तीसरे आरोग्यदायक होने से तृप्तिकारक और पुष्टिकारक हैं ।

इदं व आपो हृदयमयं वत्स ऋतावरीः ।
इहेत्थमेत शक्करीर्यत्रेदं वेशयामि वः ॥ ७ ॥

भा०—हे (आपः) जलो ! (वः) तुम्हारी (इदं) यह जीवन-शक्ति (हृदयम्) हृदय, सारभूत पदार्थ है ! हे (ऋतावरीः) ऋत=चेतना-शक्ति को अपने भीतर गुप्त रखने वाले जलो ! (अयं) यह मण्डूक आदि जलजन्तु तुम्हारे (वत्सः) बच्चों के समान हैं । हे (शक्करीः) शक्तिसम्पन्न जलो ! आप (इह) इस भूतल पर (इत्थम्) इस प्रकार मेरे बनाये यन्त्र-मार्गों से (एत) गति करो (यत्र) जहां २ (इदम्) इस प्रकार से (वः) आपको (वेशयामि) प्रवेश कराऊं । तभी तुम मेरे बहुतसे यन्त्रों को शक्ति से चला सकोगे ।

विज्ञानों का विशेष विवरण वैज्ञानिक ग्रन्थों से जानना चाहिये ।

'आपः' शब्द से प्रजाओं का भी ग्रहण होता है उस पक्ष में भी यह सूक्त स्पष्ट है। जैसे—

(१) हे प्रजाओ! 'अहि' स्वरूप कभी न मरने हारे आत्मा के समान राजा पर आघात होने पर आप लोग विचलित होकर नाद करती हो इस कारण आपका नाम 'नदी' है। और राजा के विचलित हो जाने पर प्रजाएं भी भाग जाती हैं इसलिये प्रजाओं का एक नाम 'सिन्धु' है।

(२) वरुण रक्षक राजा से प्रेरित होकर शीघ्र उन्नति करती हो। तुम्हें इन्द्र प्राप्त होता है इसलिये तुम 'आपः' कहाती हो।

(३) यथेच्छ उच्छृंखल चलती हुई तुम को इन्द्र राजा ने व्यवस्था से रोक दिया इससे तुम्हारा नाम 'वार्' है।

(४) एक देव=राजा तुम पर अधिष्ठाता होकर रहता है वह तुम सब को उन्नत करता है इसलिये तुम्हारा एक नाम 'उदक' है।

(५) हे उत्तम प्रजाओ! तुम ही राजा के पोषक पदार्थ हो, तुम अग्नि=सेनापति और सोम=राजा और विद्वान् दोनों को पोषण करती हो तुम्हारा तीव्र रस=क्षात्रबल मुझ राजा के प्राण और तेज, जीवन-विक्रम के साथ २ मुझे प्राप्त हो।

(६) मैं राजा देखता हूं और सुनता भी हूं कि मेरी घोषणा भी प्रजा में प्रचारित होती है और मेरी वाणी का हुक्म भी माना जाता है। जब इन सम्पन्न प्रजाओं को मैं अपने सुप्रबन्ध से प्रसन्न कर देता हूं तब मुझे भी अमृत=स्वर्ग के भोग के समान अपने को समझता हूं। अर्थात् प्रजा के प्रसन्न कर देने पर ही राजा को भी परम सुख है।

इसी प्रकार यह सूक्त अध्यात्म पक्ष में इन्द्रियों पर लगता है।

[१४] गौओं और प्रजाओं की वृद्धि का उपदेश ।

ब्रह्मा ऋषिः । नाना देवताः उत गोष्ठो देवता । १, ५ अनुष्टुभः, ६ आर्षी त्रिष्टुप् । षडृचं सूक्तम् ॥

सं वो॑ गो॒ष्ठेन॑ सु॒षदा॒ सं र॒य्या सं सु॒भूत्या॑ ।
अह॑र्जातस्य॒ यन्नाम॒ तेना॑ वः॒ सं सृ॑जामसि ॥ १ ॥

भा०—गौओं और गोपति के दृष्टान्त से राजा को प्रजाओं की और गोपति को गौओं की वृद्धि का उपदेश है । हम लोग हे गौओ ! (वः) तुम को (सुषदा गोष्ठेन) सुख से बैठने, जमने, जम कर रहने योग्य 'गोष्ठ', गोशाला में रख कर (सं सृजामसि) सुख प्राप्त करावें. पालें, (रय्या सं) पुष्टिकारक पदार्थों से और (सुभूत्या) उत्तम भूति, सन्तान और धन आदि सम्पत्ति से तुम को (सं) सजावें । और (यत्) जो (अहर्जातस्य) प्रतिदिन का जो (नाम) परिचय है (तेन) उससे भी (वः) तुम को (सं सृजामसि) पालन करें ।

इसी प्रकार राजा प्रजा के लिये उत्तम नगर, पुष्टिदायक अन्न, उत्तम सम्पत्ति और दैनिक परिचय और इनाम और पदवियों से सुशोभित करे ।

सं वः॑ सृज॒त्वर्य॒मा सं पू॒षा सं बृह॒स्पतिः॑ ।
समिन्द्रो॒ यो ध॑नंज॒यो मयि॑ पुष्यत॒ यद् वसु॑ ॥ २ ॥

भा०—हे प्रजाओ और गौओ ! (वः) तुम को (अर्यमा) न्यायाधीश स्वामी (सं सृजतु) पालन करे, बढ़ावे (पूषा) भागधुक्=कर-संग्राहक

---

[१४] १–(द्वि०) 'रय्या सं सपुष्ट्या' इति पैप्प० सं० ।
२–(च०) 'मयि पुष्यतु' इति ह्विटनिकामितः पाठः । 'इह पुष्यति' इति पैप्प० सं० ।

नामक अधिकारी और (बृहस्पतिः) विद्वान् पुरोहित और (इन्द्रः) इन्द्र सेनापति (यः धनंजयः) जो शत्रुओं से धन को विजय करके लावे वह भी (सं, सं, सं, सम्) तुम्हें पालन करे तुम लोग (मयि) मुझ राजा के (यद् वसु) तुम्हारे सब प्रकार के धन धान्य सामर्थ्य को (सं पुष्यत) पुष्ट करो ।

संजग्माना अविभ्युषीरस्मिन् गोष्ठे करीषिणीः ।
बिभ्रतीः सोम्यं मध्वनमीवा उपेतन ॥ ३ ॥

भा०—हे गौवो ! आप (अस्मिन्) इस (गोष्ठे) गौओं के रहने की शाला में (अविभ्युषीः) निर्भय होकर (संजग्मानाः) परस्पर एकत्र होकर (करीषिणीः) गोबर और मूत्र आदि करती हुई और (सोम्यं) शुभ उत्तम गुणयुक्त (मधु) मधुर दुग्ध (बिभ्रतीः) धारण करती हुई (अनमीवाः) रोगरहित होकर (उपेतन) आकर रहो । इसी प्रकार हे प्रजाओ ! तुम भी इस राष्ट्र में (करीषिणीः) ऐश्वर्यसम्पन्न होकर, निर्भय होकर एकत्र परस्पर संगठित होकर रहो । और (सोम्यं मधु बिभ्रतीः) शुभ मधुर गुण और जीवन धारण करती हुई नीरोग होकर रहो ।

इहैव गाव एतनेहो शकेव पुष्यत ।
इहैवोत प्र जायध्वं मयि संज्ञानमस्तु वः ॥ ४ ॥

भा०—हे (गावः) गौओ ! (इह एव) यहां, इस गोशाला में ही (एतन) आओ । (इह उ) और यहां ही (शका इव) मक्खियों के समान

३–(प्र० द्वि०) 'सं जग्माना अविह्रुता अस्मिन् गोष्ठे पुरीषणीः' (च०) 'स्वावेशा न आगत' इति मै० सं । (प्र०) 'सं जानाना विहृतं', (तृ०) 'सोम्यं हविः' (च०) 'स्वावेशास एतन' इति पैप्प० सं० ।

४–(द्वि०) 'शका इव' इति पैप्प० सं० ।

(पुष्यत) पुष्ट होओ, वृद्धि को प्राप्त होओ । (उत) और (इह एव) यहां ही (प्रजायध्वं) खूब प्रजा, पुत्रादि सन्तानों को उत्पन्न करो, और (मयि) मुझ में (वः) तुम्हारा (संज्ञानम्) पूर्ण परिचय हो । तुम अपने प्रतिपालक को खूब पहिचानो । हे प्रजाओ ! आप लोग इस राष्ट्र में आओ और यहां ही पुष्ट होओ और यहां ही प्रजा पुत्रादि से सम्पन्न होओ और तुम प्रजाओं का अपने राजा के प्रति पूर्ण परिचय रहे ।

शिवो वो गोष्ठो भवतु शारिशाकेव पुष्यत ।
इहैवोत प्र जायध्वं मया वः सं सृजामसि ॥ ५ ॥

भा०—हे गौवो ! (वः) तुम्हारे लिये (गोष्ठः) यह गोशाला (शिवः) कल्याणकारी (भवतु) होवे । और तुम (शारिशाका इव) मधुमक्षियों के समान (पुष्यत) वृद्धि को प्राप्त होओ । (उत) और (इह एव) यहां ही (प्रजायध्वं) प्रजा आदि उत्पन्न करो । (वः) आपको मैं (मया) अपने से (सं सृजामसि) और भी सम्बद्ध करता हूं । राजा का प्रजा के प्रति वचन भी स्पष्ट है ।

मया गावो गोपतिना सचध्वमयं वो गोष्ठ इह पोषयिष्णुः ।
रायस्पोषेण बहुला भवन्तीर्जीवा जीवन्तीरुप वः सदेम ॥ ६ ॥

भा०—(मया गोपतिना) मुझ गोपाल के साथ हे (गावः) गौओ (सचध्वं) प्रेम से मिलकर रहो । (अयं वः गोष्ठः) यह तुम्हारे रहने की शाला है । (इह) यहां ही यह (पोषयिष्णुः) उत्तम रीति से पोषण

५–(द्वि०) 'शारिशाका इव' इति पैप्प० सं० । 'शारिः शाका इव' इति रोथकामितः पाठः ।

६–'बहुता भवन्तः' इति ह्विटनिकामितः पाठः । (प्र०) 'गावो गोपत्या' इति पैप्प० सं० । (च०) 'उपवः सदाम' इति रोकवेललैन्मेनकामितः पाठः ।

करने हारा स्वामी रहता है । हम (जीवाः) जीवनसम्पन्न होकर (वः) तुम को (रायस्पोषेण) धन, सम्पत्ति और पुष्टि से (बहुलाः भवन्तीः) बहुत संख्या में बढ़ती हुई (जीवन्तीः) सुखपूर्वक जीवन बिताती हुई तुम गौओं को (उपसदेम) प्राप्त हों ।

इसी प्रकार राजा अपनी प्रजाओं के प्रति कहे ।



[१५] वणिग्-व्यापार का उपदेश ।

पण्यकामोऽथर्वा ऋषिः । विश्वेदेवाः उत इन्द्राग्नी देवताः । १ भुरिग्, ४ त्र्यवसाना बृहतीगर्भा विराड् अत्यष्टिः, ५ विराड् जगती, ७ अनुष्टुप्, ८ निचृत्, २, ३, ६ त्रिष्टुभः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

इन्द्रमहं वृणिजं चोदयामि स न एतु पुरएता नो अस्तु ।
नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम् ॥ १ ॥

भा०—व्यापार करने का उपदेश करते हैं । (अहं) मैं व्यापार-व्यवसाय की वृद्धि चाहने वाला पुरुष (इन्द्रं) ऐश्वर्यशाली धनी, (वणिजं) व्यवहार-व्यापार में कुशल पुरुष को (चोदयामि) प्रेरणा करता हूं कि (सः नः एतु) वह हमारे पास आवे और (नः पुरः-एता अस्तु) हमारे आगे २ चलने हारा मुख्य पुरुष होकर रहे । वह (अरातिं) दान न करने या कर न देने हारे शत्रु को (परिपन्थिनं) व्यापार के मार्ग और व्यवस्था के उल्लंघन करने वाले या व्यापार के मार्ग में लूट और चोरी करने वाले (मृगं) चोर पुरुष को (नुदत्) पीड़ित, दण्डित करता हुआ (सः ईशानः) वह सब का स्वामी होकर (मह्यम्) मुझे (धनदाः) धन का देने वाला (अस्तु) हो ।

---

[१५] १–'इन्द्र वयं वणिजं हवामहे स नस्त्राता पुर एतु प्रजानन्' इति पैप्प० सं० ।

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति ।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि ॥ २ ॥

उत्तरार्धः अथर्व० ६ । ५५ । १ प्र० द्वि० ॥

भा०—(ये) जो (बहवः) बहुतसे (पन्थानः) मार्ग (देवयानाः) विद्वानों के जाने के योग्य (द्यावापृथिवी अन्तरा) द्यौ=आकाश और पृथिवी के बीच में जल स्थल और आकाश में रथ, जहाज और विमान द्वारा जाने के लिये बने हुए (संचरन्ति) नाना स्थानों पर जाते हैं । (ते) वे 'मां) मुझे भी (पयसा) जल और (घृतेन) घी आदि पुष्टिकारक पदार्थों के साथ २ (जुषन्तां) प्राप्त हों (यथा) जिनसे मैं दूर देश में जाकर (क्रीत्वा) बहुत से पदार्थ खरीद कर (धनम्) बहुत सा धन अपने देश में (आहराणि) ले आऊं ।

इध्मेनाग्न इच्छमानो घृतेन जुहोमि हव्यं तरसे बलाय ।
यावदीशे ब्रह्मणा वन्दमान इमां धियं शतसेयाय देवीम् ॥ ३ ॥

ऋ० ३ । १८ । ३ ॥

भा०—हे अग्ने ! जिस प्रकार (इच्छमानः) तुम को चाहने वाला या तुझ द्वारा यज्ञ करने का अभिलाषी मैं (घृतेन) घृत के साथ (हव्यं) आहवनीय पदार्थ को (इध्मेन) काष्ठ के संग (तरसे बलाय) दुःखों से पार होजाने और बल प्राप्त करने के लिये (जुहोमि) आहुति देता हूं (यावद् ईशे) और जितना मैं कर सकता हूं उतना (ब्रह्मणा वन्दमानः)

२–'इहैव पन्थाः बहवो देवयानंमनुद्यावापृथिवी सुप्रणीतिः । तेषामहनाम् वर्चस्या दधामि यथा क्रीत्वा धनमाहवानि ।' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'ते मे' इति वेवरकामितः पाठः ।

३–ऋग्वेदे कतो वैश्वामित्र ऋषिः । अग्निर्देवता ।

वेदमन्त्रों से स्तुति करता हुआ यज्ञ करता हूं (इमां) इस (देवीम्) दिव्यगुणयुक्त उत्तम शुभ (धियं) धारणावती बुद्धि को भी पुष्ट करता हूं कि मुझे (शतसेयाय) अपरिमित सैकड़ों धन प्राप्त हों । अर्थात् संसार के सागर से पार करने और इसमें दृढ़ता से चित्त को बल देने के लिये यज्ञ होम और वेदमन्त्रों से ईश्वर का भजन आवश्यक है वहां साथ ही व्यापार करने के लिये सैकड़ों धन प्राप्त करने के लिये दृढ़ धारणा भी आवश्यक है ।

इमामग्ने शरणिं मीमृषो नो यमध्वानमगाम दूरम् ।
शुनं नो अस्तु प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु ।
इदं हव्यं संविदानौ जुषेथां शुनं नो अस्तु चरितमुत्थितं च ॥४॥

पूर्वार्धः ऋ० १ । ३१ । १६ प्र० द्वि० ॥

भा०—हे (अग्ने) परमात्मन् या साक्षिन् ! जामिन ! दोनों के बीच के मध्यस्थ पुरुष ! (इमाम्) इस (नः) हमारी (शरणिम्) पीड़ा, थकान को (मीमृषः) क्षमा कर । (यम्) जिस (अध्वानं) मार्ग को हम (दूरम्) दूर तक (अगाम) चले जावें और (नः) हमारा (प्रपणः) अपने पदार्थ को दूसरे के हाथ बेचने के लिये उसका भाव=दर नियत करना और (विक्रयश्च) उसको दूसरे के हाथ बेचदेना और (प्रतिपणः) दूसरे के पदार्थ का स्वयं प्राप्त करने के लिये दर नियत करना ये सब व्यवहार (नः) हमारे लिये (शुनं) शुभ, सुखकारी या अतिशीघ्र (अस्तु) हो जांय । यह सब व्यवहार (मां) मुझ को (फलिनं) बहुत फल लाभ प्राप्त करने में समर्थ (कृणोतु) करे । मध्यस्थ कहता है कि—हे व्यवहार, व्यापार

४–(द्वि०) 'न इममध्वानं यमगामदूरात्' इति ऋ० । (तृ०) 'पणोनो अस्तु' (च०) 'गोधनिः नः कृणोतु' (प्र०) 'संरराणा हविरिदं जुषन्तां' इति पैप्प० सं० ।

करने वाले व्यापारियो ! तुम दोनों (इदं हव्यं) इस लेन देन के पदार्थ को (संविदानौ) खूब अच्छी प्रकार से परस्पर सलाह करके (जुषेथां) प्राप्त करो जिससे (नः) हमारा (चरितम्) यह किया हुआ व्यापार या चलान किया गया माल और (उत्थितं च) उठाया हुआ नफा भी (नः शुनं अस्तु) हमें सुखकारी हो।

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।
तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने सातघ्नो देवान् हविषा नि षेध ॥५॥

भा०—मैं व्यापारी (धनेन) धन से (धनम्) धन को (इच्छमानः) चाहता हुआ (देवाः) हे विद्वान् उत्तम पुरुषो ! (येन धनेन) जिस धन से (प्रपणं चरामि) व्यापार, विनियम, लेन देन का व्यवहार करता हूं (तत्) वह (मे) मेरा (भूयो भवतु) बहुत अधिक हो जाय। (मा कनीयः) वह कमती न हो। हे (अग्ने) साक्षिन् ! मध्यस्थ या राजन् ! (सातघ्नः) लाभ लेन देन में प्रतिबन्धक (देवान्) देव अधिष्ठातारूप शासक राजपुरुषों को भी (हविषा) उनकी हविः=शुल्क देकर के (निषेध) उनको बाधा डालने से रोक दो।

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।
तस्मिन् म इन्द्रो रुचिमा दधातु प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः ॥६॥

भा०—हे (देवाः) अधिकारिवर्गो ! शासको एवं विद्वान् पुरुषो ! (धनेन धनम् इच्छमानः) धन से और अधिक धन को प्राप्त करने की इच्छा करता हुआ मैं (येन धनेन) जिस धन से (प्रपणं चरामि)

५—' धनेन देवान् ' इति लैन्मेनकामितः पाठः।

६—(प्र०) ' यत् पणेन प्रतिपणं चरामि ' (तृ०) ' इन्द्रो मेतस्मिन्नृचमा दधातु बृहस्प० ' इति पैप्प० सं० (तृ०) 'सचिमा' हि० गृ० सू०।

व्यापार करता हूं (तस्मिन्) उसमें (इन्द्रः) ऐश्वर्यशील परमेश्वर या वह राजा (मे) मेरी (रुचिम्) इच्छा और उत्साह को (आ दधातु) और बढ़ावे जो (प्रजापतिः) समस्त प्रजाओं का स्वामी (सविता) सबको उन्नति मार्ग पर प्रेरणा करने वाला (सोमः) सोम=वेद का विद्वान् (सविता) सब का प्रेरक (अग्निः) नेता है ।

उप॑ त्वा नम॑सा व॒यं होत॑र्वैश्वानर स्तु॒मः ।
स नः॑ प्र॒जास्वा॒त्मसु॒ गोषु॑ प्रा॒णेषु॑ जागृहि ॥ ७ ॥

भा०—हे (होतः) दान प्रतिदान करने वाले और हे (वैश्वानर) समस्त पुरुषों में व्यापक परमेश्वर ! (त्वा) तेरी (नमसा) बड़े आदर से (उप स्तुमः) स्तुति करते हैं । (सः) वह तू (नः प्रजासु) हमारी प्रजाओं में, (आत्मसु) हमारे आत्माओं में, (गोषु) हमारी ज्ञान-इन्द्रियों और उनकी चेष्टाओं में और (प्राणेषु) कर्म-इन्द्रियों में (जागृहि) तू सदा जागृत रहता है, तुझे साक्षी करके हम सब व्यवहार करें ।

वि॒श्वाहा॑ ते स॒दमिद्भ॑रे॒माश्वा॑येव॒ तिष्ठ॑ते जातवेदः ।
रा॒यस्पोषे॑ण॒ समि॒षा मद॑न्तो॒ मा ते॑ अग्ने॒ प्रति॑वेशा रिषाम ॥ ८ ॥
यजु० ११ । ७२ ॥ अथर्व० १९ । ५५ । १ ॥

भा०—हे (जातवेदः) सर्वज्ञ परमात्मन् या विद्वन् ! जिस प्रकार (तिष्ठते) खड़े हुए (अश्वाय इव) घोड़े के लिये घास दाना बराबर दिया ही जाता है इसी प्रकार (ते) तेरे नाम से भी (सदम् इत्) सदा ही (विश्वाहा) सब दिनों हम धर्मादा रूप से (भरेम) दान करें । और हम (रायस्पोषेण) धनों और पुष्टिकारी पदार्थों से और (इषा) अन्नों से (सम् मदन्तः) खूब हृष्ट पुष्ट होते हुए हे (अग्ने) परमात्मन् या विद्वन् ! (ते

७–(च०) 'अग्ने माते', ' अहरप्रयावं भरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै ' इति यजु० । ' रात्रिं रात्रिमप्रयातं ' इति अथर्व० १९ । ५५ । १० ॥

प्रतिवेशाः) तेरे पड़ोसी बनकर, सदा समीपतम रह कर ही (मा रिषाम) कभी क्लेशित न हों ।

अर्थात् परमात्मा के नाम से या विद्वानों के निमित्त नित्य अपने आय में से कुछ देना चाहिये और उनके समीप रहकर प्रसन्न रहें ।

इति तृतीयोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि पञ्च, ऋचश्चाष्टात्रिंशत् ।]

---

[१६] नित्य प्रातः ईश्वर स्तुति का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । बृहस्पत्यादयो नाना देवताः । १ आर्षी जगती, ४ भुरिक् पंक्तिः, २, ३, ५–७ त्रिष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

प्रातर॒ग्निं प्रा॒तरिन्द्रं॑ हवामहे प्रा॒तर्मि॒त्रावरु॑णा प्रा॒तर॒श्विना॑ ।
प्रा॒तर्भगं॑ पू॒षणं॒ ब्रह्म॑ण॒स्पतिं॑ प्रा॒तः सोम॑मु॒त रु॒द्रं हु॑वामहे ॥ १ ॥

यजु० ३४ । ३४ ॥ ऋ० ७ । ४१ । १ ।

भा०—नित्य प्रातःकाल ईश्वर स्तुति करने का उपदेश करते हैं । हम लोग (प्रातः) प्रभातवेला में (अग्निं) उस प्रकाशस्वरूप परमेश्वर को (प्रातः) और प्रभातवेला में ही उस (इन्द्रं) परमैश्वर्यवान् , परमेश्वर को और (प्रातः) प्रातःकाल के अवसर में ही (मित्रावरुणा) प्राण और उदान इन दोनों के समान सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को और (प्रातः) प्रभातकाल में ही (अश्विना) गुरु और उपदेशक माता और पिता दोनों को (हवामहे) उपासना करते, आदर करते और व्यवस्थित करते और

[१६] १–ऋग्वेदे वसिष्ठ ऋषिः । लिङ्गोक्ता देवताः । 'रुद्रं हुवेम' इति पाठभेदः, ऋ०, पैप्प० सं० । 'भगमुग्रं हुवेम' इति पाठभेदः ऋ०, पैप्प० सं० ।

नमस्कार करते हैं। (प्रातः) प्रभातकाल में ही (भगं) भजन करने योग्य, (पूषणम्) सब के पोषक, (ब्रह्मणस्पतिं) वेद और ब्रह्माण्ड के स्वामी प्रभु को और (प्रातः) प्रभातकाल में ही उस (सोमं) अन्तर्यामी प्रेरक (उत रुद्रं) और पापियों को रुलाने हारे, सर्वरोगनाशक जगदीश्वर को (हवामहे) उपासना करते हैं।

प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवामहे वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता ।
आध्रश्चिद् यं मन्यमानस्तुरश्चिद् राजा चिद् यं भगं भक्षीत्याह ॥२॥

यजु० ३४ । ३५ ॥ ऋ० ७ । ४१ । २ ॥

भा०—(प्रातः) प्रातः पांच घड़ी रात्रि रहे तब (जितं) सदा जयशील अथवा (प्रातर्जितं) प्रभातकाल में सब के हृदयों पर वश करने वाले (भगं) सब के सेवन करने योग्य (उग्रं) तेजस्वी, बलशाली (अदितेः पुत्रं) इस आदित्य को भी गिरने से बचाने हारे, परमात्मा को हम (हवामहे) उपासना करते हैं (यः) जो (अदितेः) सूर्य आदि लोकों का (विधर्त्ता) विशेष रूप से धारण करने हारा है और (आध्रः चित्) दरिद्र पुरुष भी और (तुरः चित्) बलशाली, वेगवान् पुरुष भी और (राजाचित्) समृद्ध राजा पुरुष भी (यं भगं) जिस सेवन, भजन करने योग्य ईश्वर को (मन्यमानः) अपना इष्टदेव स्वीकार करता हुआ (भक्षि इति आह) मैं भजन उपासना करूं इस प्रकार कहा करता है।

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः ।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥ ३ ॥

ऋ० ७ । ४१ । ३ ॥ यजु० ३४ । ३६ ॥

२—'प्रातर्जितम्' इति पदपाठानुसार्येकम्पदम्। दयानन्दमते तु प्रातरित्येकम्पदं जितमित्येकम्।

भा०—हे (भग) सेवनीय, भजन करने योग्य ! हे (प्रणेतः) प्रणयन करन हारे, हे सब के रचने हारे सर्वोत्पादक ! हे (सत्यराधः) सत्य ज्ञानवन् ! सत्यधन ! हे भग ! परमेश्वर ! (धियं ददद्) धारणावती बुद्धि को प्रदान करते हुए आप (नः) हमें (उद् अव) उन्नति के मार्ग पर ले चलो । हे भग ! ऐश्वर्यसम्पन्न ! (नः) हमें (गोभिः) गौओं, ज्ञानेन्द्रियों और (अश्वैः) अश्वों और कर्मेन्द्रियों से (प्र जनय) और भी अधिक उन्नत कर । हे (भग) सकल ऐश्वर्य के स्वामिन् ! हम (नृभिः) बहुत से नेता पुरुषों द्वारा (नृवन्तः) सम्पन्न, वीर जनता से युक्त होकर (स्याम) रहें ।

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम् ।
उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ ४ ॥

यजु० ३४ । ३७ ॥ ऋ० ७ । ४१ । ४ ॥

भा०—हे (मघवन्) धन और ज्ञान सम्पन्न ईश्वर (उत) और (इदानीं) इस समय (भगवन्तः) सौभाग्यसम्पन्न (स्याम) हों (उत) और (प्रपित्वे) सायंकाल के समय (उत) और (अह्नाम्) दिनों के (मध्ये) मध्यकाल में (उत) और (सूर्यस्य उदितौ) सूर्य के उदयकाल में भी (वयं) हम (देवानां) देव, विद्वान् जनों के (सुमतौ) शुभ मति, सद्विचारों में उनके अनुकूल (स्याम) रहें ।

भग एव भगवाँ अस्तु देवस्तेना वयं भगवन्तः स्याम ।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीमि स नो भग पुरएता भवेह ॥ ५ ॥

यजु० ३४ । ३८ ॥ ऋ० ७ । ४१ । ५ ॥

४—'उतोदिता मघवन्' इति पाठभेदः, ऋ० । 'तेन वयं' इति पाठभेदः ऋ० ॥ सर्व इज्जोहवीति ऋग्वेदीयः पाठः । तिङतिङो भवन्तीति तिपः स्थाने मिबिति सायणकृतं समाधानम् ।

५–(प्र०) 'देवाः' इति यजुः०, ऋ० ।

भा०—हे (भग) सकल ऐश्वर्यसम्पन्न ! (तं) उस (त्वां) आप को (जोहवीमि) जिस प्रकार मैं उपासना करता हूं उसी प्रकार (सर्व इत्) सब प्राणी ही उपासना करते हैं । (सः) वह आप हे (भग) ईश्वर ! (इह पुरः-एता) हमारे इन सब कामों में प्रथम स्मरण करने योग्य (भव) हो । हे ईश्वर ! आप (भगः) 'भग' ऐश्वर्यस्वरूप इसीलिये हो क्योंकि आप (भगवान्) भगवान् अर्थात् समस्त ऐश्वर्यों से सम्पन्न (देवः अस्तु) देव हो । (तेन) उस आपकी कृपा से (वयं) हम भी (भगवन्तः) ऐश्वर्य से सम्पन्न (स्याम) हो जांय ।

सम॑ध्व॒राये॒षसो॑ नमन्त दधि॒क्रावे॑व॒ शुच॑ये प॒दाय॑ ।
अ॒र्वा॒ची॒नं व॑सु॒विदं॒ भग॑ मे॒ रथ॑मि॒वाश्वा॑ वा॒जिन॒ आ व॑हन्तु ॥६॥
ऋ० ७ । ४१ । ६ ॥

भा०—उषो देवता । (उषसः) विशोका प्रज्ञाएं प्रातःकाल की उषाओं के समान (अध्वराय) ब्रह्मयज्ञ के लिये उसी प्रकार (सम् नमन्त) प्रकट होती हैं जिस प्रकार (दधिक्रावा) निरन्त ध्यान धारणा करने हारा योगाभ्यासी (शुचये पदाय) शुद्ध ज्योतिर्मय परम पद ब्रह्म के साक्षात्कार के लिये कटिबद्ध होता है । (रथमिव वाजिनः अश्वाः) जिस प्रकार वेगवान् अश्व रथ को ऐसे देश में ले जाते हैं जहां बहुत धन आदि प्राप्त हों ठीक उसी प्रकार (वाजिनः) ज्ञानसम्पन्न उषाएं–पापदाहिका ज्योतिष्मती प्रज्ञाएं (मे) मेरे अणिमादि योगशक्तियों से सम्पन्न (रथं) ईश्वर में रत आत्मा को (अर्वाचीनं) साक्षात् (वसुविदं) आवासयोग्य, शरण के देने हारे (भगं) परमब्रह्म के प्रति (आवहन्तु) ले जांय ।

अश्वा॑वती॒र्गोम॑तीर्न उ॒षासो॑ वी॒रव॑तीः॒ सद॑मुच्छन्तु भ॒द्राः ।
घृ॒तं दुहा॑ना वि॒श्वतः॒ प्रपी॑ता यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभिः॒ सदा॑ नः ॥७॥
ऋ० ७ । ४१ । ७ ॥

६–(तृ०) 'भग नो' इति पाठभेदः ऋ०, पैप्प० सं० ।
७–(तृ०) 'प्रपीना' इति तै० ब्रा० । 'प्रवीणाः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—उषो देवता। हे (उषासः) पूर्व में प्रभात-प्रकाश के समान ज्योतिष्मती या दहन करने हारी उषारूप प्रज्ञाओ ! आप (अश्वावतीः) अश्व=आत्मा के बल से सम्पन्न एवं (गोमतीः) इन्द्रियों या प्राणों के बल से सम्पन्न [उपापक्ष में] या अश्व-सूर्य से सम्पन्न और गो=किरणों से सम्पन्न (वीरवतीः) वीर=प्राणों से सम्पन्न (भद्राः) कल्याण, सुख-कारिणी होकर (सदम्) मेरे हृदय-प्रदेश को (उच्छन्तु) प्रकाशित करो। (घृतं) प्रकाशमय रूप आत्मा, सत्यज्ञान या आनन्द, अमृतरस को (दुहानाः) परिपूर्ण करती हुई, प्रकट करती हुई (विश्वतः) सब प्रकार से (प्रपीनाः) परिपुष्ट होकर (यूयं) आप (नः) हमें (सदा) निरन्तर सब कालों में (पात) रक्षा करो।

---

[१७] कृषि और अध्यात्म योग का उपदेश।

विश्वामित्र ऋषिः। सीता देवता। १ आर्षी गायत्री, २, ५, ९ त्रिष्टुभः, ३ पथ्या-पंक्तिः, ७ विराट्पुरोष्णिक्, ८, निचृत्, ३, ४, ६ अनुष्टुभः। नवर्चं सूक्तम्॥

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक्।
धीरा देवेषु सुम्नयौ॥ १॥

ऋ० १० । १० । १४ ॥ यजु० १२ । ६७ ॥

भा०—कृषिविद्या के उपदेश के साथ २ योगद्वारा ब्रह्मप्राप्ति का उपदेश करते हैं। (देवेषु) विद्वान् पुरुषों में (सुम्नयौ) सुख के प्राप्त करने वाले आत्मा रूप क्षेत्र में (कवयः) विद्वान् दूरदर्शी लोग (सीराः)

[१७] १–(तृ०) 'सुम्नया' इति ऋ०, यजु०। ऋग्वेदे (१, २) अनयोर्बुधः सौम्य ऋषिः। विश्वेदेवा ऋत्विजो वा देवताः। तत्रैव (३–९) एतासां वामदेव ऋषिः। शुनः शुनासीरौ सीता च देवताः।

प्राणरूप हलों को (युञ्जन्ति) युक्त करते हैं, और (धीराः) धीर बुद्धिमान् पुरुष (युगा) योग के अङ्गोंरूप जुओं को (पृथक्) पृथक् २ (वितन्वत) प्राणरूप बैलों के कन्धों पर रखते हैं अर्थात् उनका पृथक् २ अभ्यास करते हैं। उसी प्रकार हे पुरुषो ! तुम भी करो।

महर्षि दयानन्द ने योग समाधिपक्ष में इस प्रकार लगाया है—(कवयः) विद्वान्, क्रान्तदर्शी, क्रान्तप्रज्ञ और (धीराः) ध्यान वाले योगी जन (पृथक्) अलग २ (सीराः) योगाभ्यास द्वारा ब्रह्म की उपासना करने के लिये सीरा=नाड़ियों में अपने चित्त को लगाते हैं अर्थात् परमात्मा का ज्ञान करने का यत्न करते हैं। और जो (युगा) योगयुक्त कर्मों को (वितन्वते) करते हैं वे (देवेषु) विद्वान् जनों में (सुम्नया) सुख से रह कर परमानन्द को प्राप्त करते हैं। (देखो ऋग्वेदादिभाष्य। उपासना-विषय)

अथवा—जिस प्रकार किसान सीर—हलों को जोतते और पृथक् २ बैलों पर जुआ लगाते हैं, धीर लोग सीराः=प्राणों को योगाभ्यास से वश करते हैं और पृथक् उन पर योग की क्रियाओं का अभ्यास करते हैं। और वे धीर=ध्यानी जन (देवेषु) इन्द्रिय गणों पर सुम्नयु=सुख को प्राप्त कराने वाली सुषुम्ना नाड़ी में भी योगाभ्यास करते हैं।

शतपथ में इन मन्त्रों की अध्यात्मव्याख्या करते हुए यह विशेष लिखा है—" स वा आत्मानमेव विकृषति।......एतद्वा अस्मिन् देवाः संस्करिष्यन्तः पुरस्तात्प्राणान् अदधुः तथैवाऽस्मिन्नयमेतत् संस्करिष्यन् पुरस्तात्प्राणान् दधाति। लेखा भवन्ति लेखासु हि इमे प्राणाः।" फलतः—आत्मा ही क्षेत्र है उसमें प्राण ही लेखा है जो उनकी नाना वृत्तियों द्वारा उसमें पृथक् २ वर्त्तमान हैं। वे जोड़े हैं दो नाक, दो कान, दो आंख, प्राण-अपान, व्यान, उदान। इन सब देवों में सुम्नयु=सुख के संचारक रूप आत्मा में ही धीर पुरुष अपनी समस्त चित्तवृत्ति का निरोध=योग करते हैं।

युनक्त सीरा वि युगा तनोत कृते योनौं वपतेह बीजम् ।
विराजः श्नुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत् सृण्यः पक्वमा यवन् ॥२॥

यजु० १२ । ६८ ॥ ऋ० १० । १०१ । ३ ॥

भा०—कृषि कर्म का उपदेश करते हैं (सीरा युनक्त) हलों को जोत लो, (युगा) बैल के जोड़ों को (वितनोत) हल के जुओं में लगाओ और हल चलाओ । और (योनौ) बीज-उत्पत्ति के स्थान क्षेत्र के (कृते) योग्य हो जाने पर उसमें (बीजम्) बीज को (वपत) बोओ । (विराजः) और जब अन्न की (श्नुष्टिः) सीट्टा या बालें (सभराः) अन्न से पूर्ण (असत्) हो जांय तब (नेदीय इत्) उसके कुछ काल बाद ही (पक्वं) पका अन्न (सृण्यः) दरांती, काटने के हथियार हसुओं से काट कर (आयवन्) प्राप्त करो ।

अन्नं वै विराट् तै० ३ । ८ । १० । ४ ॥ यदा वा अन्नं पच्यतेऽथ ते सृण्या उपचरन्ति श० ७ । २ । २ । ५ ॥

महर्षि दयानन्द अध्यात्म पक्ष में—हे योगिगण ! (युनक्त) योगाभ्यास द्वारा परमात्मा के साथ अपने आत्मा को मिलाओ और आनन्द को प्राप्त करो । (वि तनुध्वम्) मोक्ष सुख को सदा विस्तारित करो । और युग=उपासना युक्त कर्मों को और (सीराः) प्राण रूप आदि से युक्त नाड़ियों को (युनक्त) उपासना कर्म में लगाओ । इस प्रकार (कृते योनौ) अन्तः करण

२–' गिरा च श्नुष्टिः ' इति पाठभेदः, यजुः० । (द्वि०) ' तनुध्वं ' इति ऋ०, यजु० । ' कृते क्षेत्रे ' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'श्नुष्टि' इति कचित् । 'श्लुष्टिः, श्नुष्टि, स्नुष्टिः' इति चान्ये पाठाः । 'श्नुष्टिः' (च०) ' पक्वमायुवन् ' इति पैप्प० सं० । ' पक्वमेयात् ' इति ऋ०, यजु० । ' पक्वमायात ' तै० सं०, मै० सं० । ' इत्सृण्याः ' तै० सं० । 'इच्छ्रिण्याः' इति कचित् ।

के शुद्ध कर लेने पर उसमें योगोपासना से विज्ञान के वीज को बोओ और (गिरा च) और परमविद्या वेदवाणी से (युनक्त) युक्त होवो और (श्रुष्टिः) शीघ्र ही योग का फल (नः नेदीयः) हमारे अत्यन्त समीप (असत्) हो, परमेश्वर के अनुग्रह से (पक्वं) शुद्धानन्द स्वरूप सिद्ध परिपक्व फल (एयात्) हमें सब ओर से प्राप्त हो (इत् सृण्यः) और उपासना युक्त योग-वृत्तियां 'सृणी' अर्थात् हंसुओं के समान हैं जो सब क्लेशों को काट डालती हैं। ये वृत्तियां (सभराः) शान्ति और पुष्टि गुणों से सम्पन्न हों, इन वृत्तियों से परमात्म-योग को करो।

लाङ्गलं पवीरवत् सुशीमं सोमसत्सरु ।
उदिद् वंपतु गामविं प्रस्थावद् रथवाहनं पीवरीं च प्रफर्व्यम् ॥३॥

यजु० १२ । ७१ ॥

भा०—कृषि से कितने पदार्थ उत्पन्न होते हैं इसका उपदेश करते हैं। (पवीरवत्) सीता या फाली से युक्त या समृद्धि से युक्त (लाङ्गलम्) हल, (सुशीमम्) उत्तम सुख का उत्पादक और (सोमसत्-सरु) सोम= बीज रूप अन्न के स्थापन करने के लिये जो हल चलाया जाता है वह अर्थात् कृषि ही (गाम्) गौओं को, (अविम्) भेड़ों को और (प्रस्थावद्) दूर देश में प्रस्थान करने में समर्थ (रथ वाहनम्) रथों और बैलों और

३—(प्र०) 'पवीरवत् लाङ्गलं', 'सुवेशं सोमपित्सलम्' इति पैप्प० सं०। 'पवीरवं' इति तै० सं०। 'सुशेवं सोमपित्सरु' इति यजु०। 'ददत्कृषते' इति पैप्प० सं०। 'सुमतित्सरु' इति तै० सं०। (तृ०) 'तदुद्वपति' इति यजु०। 'तदित्कृषति, प्रफर्व्यां' इति तै० सं०। लाङ्गलं पवीरवत् सुशेवं सोमपित्सरु। तदुद्वपतिगामविं प्रफर्व्यं च पीवरीं, प्रस्थावद्रथवाहणम्' इति पाठभेदः, यजु०। 'सोमसत्सरु' इति सायण-सम्मतः पाठः।

घोड़ों को और (पीवरीम् च) हृष्ट पुष्ट शरीर वाली (प्रफर्व्यम्) स्त्रियों को भी (उद् वपनु इत्) उन्नत किया करता है।

'सोमसत् त्सरु' इति सायण सम्मतः पाठः । आर्षं पदपाठस्तु 'सोम-सत्-सरु' । याजुषः पाठः 'सोमपित्सरु' । पद पाठस्तु ' सोम पि-त्सरु ' । उभयत्र उव्वट सायण महीधरैर्व्याकृतिबला-द् व्याचक्षाणैः यद्वेति' संदेहा-स्पदी कृतम् । शतपथे ' सोमपित्सरु ' इत्यन्नं वै सोमः । श० ७ । २ । २ । ११ ॥

अध्यात्म पक्ष में पवी-चेतना या ध्यानवृत्ति से युक्त जो लाङ्गल=हल= प्राण है वही सुख का उत्पादक और 'सोमसत् ब्रह्मास्वाद रस के आश्रयस्थान ब्रह्मरन्ध्र तक जाने वाला है । वही (गाम्) ज्ञानेन्द्रिय (अविं) आत्मा को और (प्रस्थावद्) गति करने हारे, विनाशी, (रथवाहनं) इन्द्रियों सहित शरीर को (पीवरीं) हृष्ट पुष्ट (प्रफर्व्यम्) चेतना शक्ति को भी (उद्वपति) उत्कृष्ट बनाता और उन्नत करता है।

इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषाभि रक्षतु ।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ ४ ॥
ऋ० ४ । ५७ । ७ ॥

भा०—आध्यात्म कृषि का उपदेश करते हैं। (इन्द्रः) राजा जिस प्रकार (सीतां) कृषि से उत्पन्न हुए कर को स्वयं अपने लिये ग्रहण करता है और (तां पूषा अभिरक्षतु) और 'पूषा=भागदुह्' नामक अधिकारी उसकी रक्षा करता है उसी प्रकार यह (इन्द्रः) आत्मा (सीतां) शरीर मन आत्मा तीनों को एक सूत्र में बांधने वाली प्राण शक्ति चेतना को (निगृह्णातु) व्यवस्थित करे । (पूषा) पोषण स्वभाव वाला प्राण (तां रक्षतु) उसकी रक्षा करे । (सा) वह (पयस्वती) आनन्द रस की वर्षा करने हारी

४-(द्वि०) 'पूषा अनुयच्छतु' इति ऋ० । ' पूषा मंह्य ' इति पैप्प० सं० ।

ऋतम्भरा कामधेनु (उत्तरां उत्तराम् समान्) प्रति वर्ष, उत्तरोत्तर अधिक फल देने वाली कृषि के समान (दुहाम्) ब्रह्मानन्द, योग-समाधिजन्य रस को अधिकाधिक उत्पन्न करे ।

शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अनु यन्तु वाहान् ।
शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तमस्मै ॥५॥

पूर्वार्धः पूर्वोर्धेनसमः ॥ ऋ० ४ । ५७ । ८ ॥ यजु० १२ । ६९ ॥

भा०—आध्यात्म योग के तत्व को पुनः कृषि कर्म के दृष्टान्त से उपदेश करते हैं । (सुफालाः) उत्तम, तीक्ष्ण फालिएं, हल के नीचे लगी लोहे की तीक्ष्ण हलिएं (शुनं) खूब तेज़ी से सुख पूर्वक (भूमिं) भूमि को (वितुदन्तु) खोदें । और (कीनाशाः) किसान लोग (शुनं) सुख पूर्वक (वाहान्) अपने हल को वाहने वाले बैलों के पीछे २ (अनु यन्तु) चलें । हे (शुनासीरा) हे शुन और सीर ! वायु और सूर्य तुम दोनों (हविषा[1]) पृथिवीस्थ जल से (तोशमाना[2]) पृथवी को ही सिंञ्चन करते हुए (अस्मै) इस आत्मा के लिये या इस संसार के लिये या हमारे लिये (सुपिप्पलीः) उत्तम फलों से सम्पन्न (ओषधीः) अन्न आदि ओष-धियों को (कर्त्तम्) उत्पन्न करो ।

५–(प्र०) 'शुनं नः फाला' इति ऋ० । 'वि कृषन्तु' ऋ०, यजु० । (द्वि०) 'कीनाशो अभ्येतु वाहैः' इति मै० सं० । 'कीनाशा अभि-यन्तु वाहैः इति ऋ० ।

१. हविषा जलेनेत्युव्वटमहीधरौ ।

२. 'तोषमाणा' इति सायणसम्मतः पाठः । 'शुनं केनाशो अन्वेतु वाहं शुनं-फालो विनदन्नयतु भूमिम् । शुनासीरा हविषा यो यजत्रै ! सुपिप्पला ओषधयः सन्तु तस्मै ।' इति पैप्प० सं० ।

अध्यात्म पक्ष में—उत्तम फालियां प्राण ही इस भूमि, क्षेत्र या अन्तः करण को या अविद्या रूप क्षेत्र को विनाश करें (कीनाशाः) सब अज्ञानों को नाश करने हारे विद्वान् उन प्राणों का अनुयमन करें। या प्राणगण इन्द्रियों के द्वारों में ठीक रीति से गमन करें। शुन=प्राण वायु और सीर अपान वायु दोनों=हविः अर्थात् कर्म योग से वशीभूत होकर इस आत्मा को उत्तम फलसम्पन्न, पापनाशक ज्ञान-ध्यान-वृत्तियों को उत्पन्न करें।

शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम्।
शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय ॥ ६ ॥

ऋ० ४ । ५७ । ४ ॥

भा०—(वाहाः) वाहन, बैल और घोड़े, (शुनं) सुख पूर्वक हल को खेंचें, (नरः) नेता, हांकने वाले किसान लोग (शुनं) सुख पूर्वक हल चलावें, और (लाङ्गलम्) हल भी (शुनं कृषतु) सुख पूर्व उत्तम रूप से खेत को खोदे। (वरत्राः) रस्सियां भी (शुनं) सुख पूर्वक, मज़बूती से (बध्यन्ताम्) बांधी जांय और (शुनं) खूब उत्तम (अष्ट्राम्) अष्ट्रा=चाबुक को (उद् इङ्गय) ऊपर उठा २ कर चलाओ।

अध्यात्म पक्ष में—(वाहाः) इन्द्रियगण-(नरः) प्राणगण (लाङ्गलं) आत्मा या मुख्य प्राण (वरत्रा) सब से श्रेष्ठ वरण करने योग्य आत्मा के स्वरूप को त्राण करने हारी बुद्धियां, या मनोवृत्तियां, (अष्ट्रा) देह में व्यापक चिति शक्ति।

६–(प्र०) 'शुनं नाराः' तै० आ०। (च०) 'शुनमुष्ट्राम्' इति क्वचित्। 'वृत्रमायच्छ शुनमष्ट्रामुदिङ्गयः। शुनं तु तप्यतां फालः शुनं वहतु लाङ्गलम्' इति पैप्प० सं०।

शुनासीरेह स्म मे जुषेथाम् ।
यद्दिवि चक्रथुः पयस्तेनेमामुप सिञ्चतम् ॥ ७ ॥

ऋ० ४ । ५७ । ५ ॥

भा०—(इह) इस देह रूप क्षेत्र में हे (शुनासीरा) वायु और आदित्य के समान प्राण और उदान ! (मे) मुझ आत्म-साधक योगी के (जुषेथाम्) अनुकूल, वशीभूत होकर रहो। (दिवि) द्यौलोक में स्थित (यत् पयः) जिस जलको जिस प्रकार सूर्य और वायु इस पृथ्वी पर बरसा देते हैं उसी प्रकार तुम दोनों भी (यत्) जो (दिवि) मूर्धा स्थान में ब्रह्मरन्ध्र में समाहित हो जाने के कारण होने वाला समाधि जन्य (पयः) आनन्द रस है (तेन इमाम्) उससे इस चितभूमि को (उप सिञ्चतम्) आप्लावित कर दो ।

सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव ।
यथा नः सुमना असो यथा नः सुफला भुवः ॥ ८ ॥

ऋ० ४ । ५७ । ६ ॥

भा०—हे (सीते) हल के अग्रभाग के समान समस्त देहरूप क्षेत्र को खनन करने (एवं उपयोगी बनाने वाली चिति शक्ति ! (त्वा) तुझ को (वन्दामहे) हम नमस्कार करते हैं, तेरे यथार्थ रूप का वर्णन करते हैं । हे (सुभगे) उत्तम पुष्टि कारक तू (अर्वाची) साक्षात् हमें प्रत्यक्ष (भव) हो (यथा) जिस प्रकार (नः) हमारे लिये तू (सुमनाः) शोभन मनन,

७–(प्र०) शुनासीराविमां वाचं जुषेथां यद्दिवि चक्रथुः पयः । ते नेमामुपसिञ्चतम् ।' इति ऋ० ।

८–' प्रथमद्वितीयपादयोर्व्यत्ययः ' इति ऋ०, (तृ०) ' यथा नः सुभगासति यथा नः सुफलासति ' इति ऋ० ।

ज्ञान वाली (असः) हो और (यथा) जिस प्रकार (नः) हमारे लिये (सुफला) उत्तम मोक्ष सुख रूप फल से युक्त (भुवः) हो ।

जिस प्रकार हल की फाली से सब समृद्धि प्राप्त होती है और फसल भी उत्कृष्ट होती है उस प्रकार चिति शक्ति के साक्षात्कार से योगी को परम आनन्द प्राप्त होता है ।

घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः ।
सा नः सीते पयसाभ्याववृत्स्वोर्जस्वती घृतवत् पिन्वमाना ॥६॥

यजु० १२ । ७० ॥

भा०—(सीता) हलमें लगी फाली (घृतेन) घृत और (मधुना) मधु से (समक्ता) चुपड़ी गयी और (मरुद्भिः) विद्वान् वैश्यगण और (विश्वैः देवैः) सभी विद्वत् जनों से (अनुमता) उपयोगी रूप से स्वीकृत है । हे सीते ! (सा) वह तू (ऊर्जस्वती) पुष्टिकारक अन्न देनेहारी और (घृतवत्) घी दूध आदि पदार्थों से (पिन्वमाना) सब को तृप्त करती हुई (पयसा) पुष्टिकारक अन्न और जल के सहित (नः अभि-आ-ववृत्स्व) हमारे पास विद्यमान रह ।

---

[१८] ब्रह्म-विद्या की विरोधिनी अविद्या के नाश का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । १-३, ५, अनुष्टुभः, ४ चतुष्पदा अनुष्टुब्-गर्भा उष्णिग्, ६ उष्णिग्गर्भा पथ्यापंक्तिः । षडृचं सूक्तम् ॥

६-(प्र०) 'समज्यताम्', (तृ०) 'अस्मान्' इति यजु० । (च०) 'ऊर्जो भागं मधुमत्पिन्वमाना' इति मै० सं० ।

इमां खनाम्योषधिं वीरुधां बलवत्तमाम् ।
यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम् ॥ १ ॥

ऋ० १० । १४५ । २ ॥

भा०—इन्द्राणी ऋषिका । उपनिषत्सपत्नीबाधनं देवता । उपनिषद् ब्रह्म विद्या की सपत्नी अविद्या है उसको बाधन=विनाश करने का उपदेश व्यवहारिक सपत्नी के विरोध के दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं । (इमां) इस (औषधिं) पाप दहन करने के सामर्थ्य वाली (वरुधां) नाना प्रकार से या विशेष सामर्थ्य से अज्ञान की विरोधिनी, स्वतः उत्पन्न होनेहारी (बलवत्तमाम्) अति वीर्यवती औषधि के समान इस ऋतम्भरा प्रज्ञा को (खनामि) खोदता हूं, योगसाधनों से प्राप्त करता हूं, (यया) जिससे (सपत्नी) अपने पति हृदयेश्वर आत्मा पर अपना अधिकार जमाने वाली अविद्या को (बाधते) विनाश किया जाता है और (यया) जिसके बल पर (पतिं) उस पालक प्रभु परमेश्वर, को (सं-विन्दते) प्राप्त किया जाता है ।

दृष्टान्त में सर्वांगसाम्य आवश्यक नहीं है । यहां केवल जिस प्रकार सौतको सौत परे हटानी है उसी प्रकार अविद्या को विद्या परे हटावे, यही साम्य है औषधि के प्रयोगांश में समानता नहीं, प्रत्युत बाधनांश में समानता है ।

उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति ।
सपत्नीं मे परा णुद पतिं मे केवलं कृधि ॥ २ ॥

ऋ० १० । १४५ । २ ॥

[१८] ऋग्वेदे इन्द्राणी ऋषिः । उपनिषत्सपत्नीबाधनं देवता । १–‘ वीरुधं ’ इति पाठभेदः ऋ० । (च०) ‘ कृणुते केवलं पतिम् ’ इति पैप्प० सं० । २–‘ सपत्नीं मे पराधम पतिं मे केवलं कुरु ’ इति पाठभेदः ऋ० । ‘उत्तान-पर्णां सुभगां सह मानां सहस्वतीम् ’ इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (उत्तानपर्णे) उत्तानपर्णा नामक (सुभगे) सौभाग्य देने हारी (देवजूते) विद्वानों से सेवित (सहस्वति) बलदायिके ! (मे) मेरी ब्रह्म-विद्या की सपत्नी अविद्या को (परा णुद) दूर भगा दे और (केवलं) केवल स्वरूप ब्रह्म को ही (मे) मेरा (पतिं) पति, पालक (कृधि) बना दे।

उत्तानपर्णा=उच्च हृदयों में विस्मृत रूप से ब्रह्म-विद्या के पर्ण=प्रज्ञान, रहस्य खुलते हैं इसलिये उस ब्रह्म-विद्या को 'उत्तान-पर्णा' कहा गया है। देवयान से जाने हारे मुमुक्षु उसका सेवन करते हैं इससे वह 'देवजूता' है सहः=बल स्वरूप प्रभु उसके आश्रय हैं इससे वह 'सहस्वती' है। 'के' आनन्दे वलनं स्वरूपावगतिर्यस्य स केवलः। वह आनन्द मात्र प्रतीत होने हारा 'केवल' ब्रह्म है।

नहि ते नामं जग्राह नो अस्मिन् रमसे पतौ।
परामेव परावतं सपत्नीं गमयामसि ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १४५ । ४ ॥

भा०—हे सपत्नि ! अविद्ये ! (ते नाम) तेरे नाम और स्वरूप को मैं ब्रह्म-विद्या (नहि जग्राह) कभी नहीं ग्रहण करती। और तू (अस्मिन् पतौ) इस परिपालक ब्रह्म में कभी (नो रमसे) रमण भी नहीं करती। और हम विद्यावान् पुरुष भी (सपत्नीम्) तुझ अविद्या को (पराम् एव परावतम्) दूर ही दूर (गमयामसि) हटाया करते हैं।

उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्यः।
अधः सपत्नी या ममाधरा साधराभ्यः ॥ ४ ॥

ऋ० १० । १४५ । ३ ॥

३–(प्र०) 'नह्यस्या नाम गृभ्णामि नोऽस्मिन् रमते जने' इति ऋ०।

४–(तृ०) 'अथा सपत्नी' इति ऋ०। 'उत्तराहमुत्तराभ्य उत्तरे दधरेभ्यः। अधः सपत्नि सामर्थ्यधरेदधरेभ्यः' इति पैप्प० सं०। 'उत्तराहामुत्तरे' इति रोथकामितः पाठः।

भा०—हे उत्तरे ! उर्ध्व लोक में तराने वाली कर्म-विद्ये ! (अहम् उत्तरा) मैं तुझ से भी अधिक उत्कृष्ट लोक में पुरुष को तराती हूं। (उत्तराभ्यः) ऊर्ध्वगति प्राप्त कराने हारी सभी विद्याओं, कर्म पद्धतियों की अपेक्षा मैं ब्रह्म-विद्या (उत्तरा इत्) उत्कृष्ट ही हूं। और (मम या सपत्नी) मेरी जो विरोधिनी अविद्या अज्ञानरूपिणी मुझ से (अधः) नीचे है (सा अधराभ्यः अधरा) नीचे लेजाने वाली कर्मगतियों से भी नीचे गिराने वाली है।

अहमस्मि सहमानाथो त्वमसि सासहिः ।
उभे सहस्वती भूत्वा सपत्नीं मे सहावहै ॥ ५ ॥

ऋ० १० । १४५ । ५ ॥ अथर्व० १९ । ३२ । ५ ॥

भा०—हे कर्मविद्ये ! (अहम्) मैं ब्रह्म-विद्या (सहमाना) सब काम, क्रोध आदि शत्रुओं पर विजय प्राप्त करती हूं (अथो) और (त्वम् सासहिः असि) तू भी हे निरन्तर सब आलस्य आदि पर वश करती है। (उभे) हम दोनों (सहस्वती) सहनशील और विजयशील होकर एक हो जांय तो (मे सपत्नी) मेरी विरोधिनी अविद्या को हम दोनों (सहावहै) जीत लें।

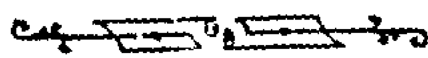
अभि तेऽधां सहमानामुप तेऽधां सहीयसीम् ।
मामनु प्र ते मनो वत्सं गौरिव धावतु पथा वारिव धावतु ॥ ६ ॥

ऋ० १० । १४५ । ६ ॥

भा०—हे अविद्ये ! (ते) तुझे दूर करने के लिये (सहमानां) तुझ अविद्या को विनाश करने वाली इस ब्रह्म-विद्या को (अभि अधाम्)

५-(तृ०) 'भूत्वी' इति पाठभेदः ऋ० ।
६-(प्र०) 'उप तेधां', (द्वि०) 'उपत्वाधां सहीयसा' इति ऋ० ।

सब प्रकार से धारण कर लिया है । और (ते) तुझे (सहीयसीम्) पराजित करने हारी इस कर्म-विद्या को भी (उप अधाम्) गुरुओं के समीप जाकर अभ्यास किया है । हे शिष्य ! (ते मनः) तेरा मन अब अविचल भाव से (वत्सं गौः इव) गाय जिस प्रकार अपने बच्छड़े के पास आ जाती है और (पथा वाः इव) जिस प्रकार खोद कर बनाई गयी नहर के मार्ग से जल धारा दौड़ती है उसी प्रकार (ते मनः) तेरा मन (माम्-अनु) मुझ ब्रह्मवित् पुरुष के अधीन होकर (धावतु) खिंचा आवे ।



[१९] शत्रुओं पर विजय करने के लिये अपने राष्ट्र की शक्ति बढ़ाने का उपदेश ।

वसिष्ठ ऋषिः । विश्वेदेवा उत चन्द्रमा उतेन्द्रो देवता । १ पथ्याबृहती, ३ भुरिग् बृहती, ६ त्र्यवसाना षट्पदा त्रिष्टुप्ककुम्मतीगर्भातिजगती, ७ विराडास्तारपंक्ति, ८ पथ्यापंक्तिः, २, ४, ५ अनुष्टुभः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं१ बलम् ।
संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः ॥ १ ॥

यजु० ११ । १ ॥

भा०—पर राष्ट्र की सेना के विजय करने के उपदेश के साथ २ भीतरी अन्तः करण के योग-विघातक अन्तराय, काम क्रोधादि के विजय का उपदेश करते हैं । राष्ट्र के पुरोहित के कर्त्तव्य बतलाते हैं । (मे) मुझ राष्ट्र के पुरोहित का (इदं) यह (ब्रह्म) वेद विज्ञान, ब्रह्मचर्य और

[१९] १–यजुर्वेदे नाभानेदिष्ठ ऋषिः । 'जिष्णुः' इति लेखकप्रमादवशाद्बहुत्र पाठः । 'जिष्णु' इति पञ्चम्यामपि ऋचि पठ्यते । (तृ०) 'जिष्णु' इति सायणाभिमतः पाठः । 'संशितं क्षत्रं जिष्णु यस्याहमस्मि पुरोहितः' इति यजु० । (तृ०) 'क्षत्रं मे जिष्णु' इति पैप्प० सं० ।

ब्राह्मणत्व, (संशितम् अस्तु) भली प्रकार बलवान् और सामर्थ्यवान् रहे, और (वीर्यं बलम्) मेरे राष्ट्र का वीर्य=वीरों के योग्य बल भी (संशितम् अस्तु) खूब प्रबल, तीक्ष्ण और असह्य हो । और (येषां) जिन राष्ट्रवासी राजवंशों का मैं (पुरोहितः) ऐहिक और पारलौकिक कार्यों में पुरोहित आचार्य (अस्मि) हूं उन क्षत्रियों का (क्षत्रम्) क्षात्र बल सेना बल और तेज भी (संशितम्) खूब तीक्ष्ण, उग्र (जिष्णुः) सदा विजय शील और (अजरम् अस्तु) कभी नष्ट न होने वाला रहे ।

समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं बलम् ।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम् ॥ २ ॥

उत्तरार्धः अथर्व० ६ । ४२ । २ ॥

भा०—(एषां) इन क्षत्रियों के (राष्ट्रम्) राज्य भर को (सं स्यामि= श्यामि) खूब सामर्थ्य युक्त, तीक्ष्ण और प्रबल करता हूं और (ओजः) ओज=जिस बल से शरीर में आत्मा और राष्ट्र में राजा निवास करते हैं और विघ्न बाधा आने पर भी उस शरीर या राष्ट्र में रह कर विघ्न बाधा का मुकाबला किया जाता है उस बल को और (वीर्यं) वीर्य, सामर्थ्य, और (बलम्) बल, सेना-बल को भी (सं स्यामि) खूब तीक्ष्ण करता हूं और (अनेन हविषा) इस प्रकार के पुष्टिकारक हवि=अन्न से जिससे राष्ट्रवासी सेना-बल देश के निमित्त अपना प्राण देने पर तैयार रहें उस हविः=उपाय से (शत्रूणां) शत्रु, राष्ट्र के विनाशक पुरुषों के (बाहून्) बाधा डालने वाले साधनों को (अहम्) मैं (वृश्चामि) काट डालता हूं ।

२–(प्र०) 'स्यामि' इति सायणाभिमतः, ह्विटनिकामितश्च । 'पश्यामि' इति पैप्प० सं० । (द्वि० तृ०) 'वृश्चामि शत्रूणां बाहू समश्वानवानहम्' इति पैप्प० सं० ।

सेना और राष्ट्र सेवकों का उचित वेतन, पुरस्कार, अन्न, और कृपा आदि सब सन्तुष्टि कारक पदार्थ और अन्यान्य उपाय सब 'हविः' शब्द से कहे गये हैं।

नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान्।
क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम् ॥ ३ ॥

उत्तरार्धः यजु० ११ । ८२ तृ० च० ॥

भा०—(ये) जो (नः) हमारे (सूरिं) ज्ञानमार्ग और क्रियामार्ग के उपदेशक, आज्ञापक पुरुष और (मघवानं) धनसम्पन्न पुरुष राजा को (पृतन्यान्) विनाश करने के लिये बड़ी सेनाओं की योजना करें वे (नीचैः) नीचे (पद्यन्ताम्) जा गिरें और वे (अधरे भवन्तु) हमारे नीचे अधीन होकर रहें (अहम्) मैं पुरोहित या राजा स्वयं (ब्रह्मणा) वेद के विज्ञान और ब्राह्मणों की सत् मन्त्रणा के बल से (अमित्रान्) शत्रुओं को (क्षिणामि) विनाश करूं और (स्वान्) अपने पक्ष के पुरुषों को (अहम् उत्-नयामि) मैं उन्नति शील बनाऊं।

तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत।
इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः ॥ ४ ॥

भा०—वे क्षत्रिय लोग (येषाम् पुरोहितः अस्मि) जिनका मैं पुरोहित हूं (परशोः तीक्ष्णीयांसः) फरसे की धार से भी अधिक तीक्ष्ण स्वभाव वाले, शत्रुविनाशक और (उत अग्नेः तीक्ष्णतराः) अग्नि से भी अधिक तीक्ष्ण, तेजस्वी और शत्रु को भस्म करने वाले, उग्र हों और (इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसः) इन्द्र के वज्र=विद्युत् से भी अधिक तीक्ष्ण, प्रबल प्रहार करने हारे हों।

३—(प्र०) 'अवः पद्यन्ताम्' (द्वि०) 'नः इन्द्रन्' इति पैप्प० सं०। (तृ०) 'क्षिणोमि' इति सायणाभिमतः, यजु०।

एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि ।
एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वे३षां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः ॥ ५ ॥

भा०—जिनका मैं पुरोहित हूं (एषाम् आयुधा) उन राष्ट्रवासी वीरों के हथियारों को (संस्यामि) खूब तीक्ष्ण, प्रबल सामर्थ्यवान् बनाऊं। (एषाम्) इनके (सुवीरम् राष्ट्रम्) उत्तम वीरों से परिपूर्ण राष्ट्र को (वर्धयामि) खूब उन्नत, परिपुष्ट करूं। जिससे (एषां क्षत्रम् अजरम्) इनका क्षात्र बल अजर, अविनाशी और (जिष्णु अस्तु) सदा विजयशील हो और (विश्वे देवाः) राष्ट्र के सब विद्वान् विचार शील पुरुष और अधिकारी गण (एषां) इनके (चितम्) चित्त, हृदय को (अवन्तु) रक्षा करें, इनके दिल न टूटने दें। सदा सद्-विचारों और उत्साह वृद्धि द्वारा उनके चित्तों को उत्साही, धीर, और दृढ़ बना कर कभी निराश न होने दें।

उद्धर्षन्तां मघवन् वाजिनान्युद् वीराणां जयतामेतु घोषः ।
पृथग् घोषा उलुलयः केतुमन्त उदीरताम् ।
देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया ॥ ६ ॥ ऋ० १० । १० । ३ । १० ॥

भा०—हे (मघवन्) ऐश्वर्य सम्पन्न ! राजन् ! (वाजिनानि) वेगवान् घोड़े (उद् हर्षन्ताम्) खूब हृष्ट होकर हिन-हिनावें (जयतां) विजयशील (वीराणां) वीर पुरुषों का (घोषः) सिंहनाद (उद् एतु)

५-(प्र०) 'श्यामि' सायणाभिमतः, पैप्प० सं० । (द्वि०) 'वर्धयस्व' (च०) 'उग्रम् एषां चित्तं बहुधा विश्वरूपा' इति पैप्प० सं० ।

६-ऋग्वेदे अप्रतिरथ ऐन्द्र ऋषिः । 'उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत्सत्वनां मामकानां मनांसि । उद्वृत्रहन् वाजिनां वाजिनान्युद्रथानां जयतां यन्तु घोषाः ।' इति ऋ० ॥ उद्धर्षन्तावाजिनां वाजिनान्युद् वैराणां जयतामेतु घोषः पृथग्घोष उलुलय केतुमन्त उदीरताम् इति पैप्प० सं० ।

ऊपर उठे, आकाश को गुंजावे । (केतुमन्तः) विजय सूचक झण्डों सहित (उलुलयः घोषाः) विजय नाद प्रदर्शक नाना प्रकार की हर्षध्वनियां (पृथक्) अलग २ समस्त राष्ट्र में (उद् ईरताम्) उठें । (इन्द्र-ज्येष्ठाः देवाः) इन्द्र=राजा को सब से मुख्य रखने वाले राष्ट्र के अधिकारी गण (मरुतः) और सेना के अध्यक्ष या वायु के समान तीव्रगति, शत्रुमारक सैनिक (सेनया) अपनी सेना सहित (यन्तु) मैदान में आवें ।

प्रेता जयता नर उग्रा वः सन्तु बाहवः ।
तीक्ष्णेषवोऽबलधन्वनो हतोग्रायुधा अबलानुग्रबाहवः ॥ ७ ॥

पूर्वार्धः ऋ० । १० । १०३ । १३ (प्र० तृ०) ॥ यजु० १७ । ४६ ॥

भा०—हे (नरः) नेता लोगो ! (प्र इत) आगे बढ़ो (जयत) विजय करो (वः) तुम्हारी (बाहवः) बाहुएं (उग्राः सन्तु) खूब बलशाली और शत्रुओं को विनाश करने में भयंकर हो उठें । और आप लोग (तीक्ष्ण-इषवः उग्र-आयुधः) तीक्ष्ण धनुष बाण और भयंकर २ हथियार धारण कर (उग्र-बाहवः) प्रचण्ड-बाहु होकर (अबल-धन्वनः) कच्चे निर्बल धनुष वाले, अबलान् , निर्बल शत्रुओं को (हत) विनाश करो ।

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते ।
जयामित्रान् प्र पद्यस्व जह्येषां वरंवरं मामीषां मोचि कश्चन ॥८॥

ऋ० ६ । ७५ । १६ ॥ यजु० २७ । ४५ ॥

७–ऋग्वेदे, अप्रतिरथ ऐन्द्र ऋषिः (द्वि०) 'इन्द्रो वः शर्मयच्छतु' (च०) 'अनाधृष्या यथासथ' इति ऋ० यजु० (प्र०) 'उपप्रेता जयताना स्थिरा वः' इति तै० सं० । 'प्रयता जयता नर उग्रा वः सन्तुबाहवः । इन्द्रोवः शर्मयच्छतु अनाधृष्या यथासथ' इति पैप्प० सं० ।

८–ऋग्वेदे पायुर्भारद्वाज ऋषिः । इषवो देवता । (तृ०) 'गच्छामित्रान्' (च०) 'मामीषां कञ्चनोच्छिषः' इति ऋ०, यजु० । 'अवसृष्टः परापत शरो ब्रह्मसंशितः ।' आ० श्रौ० सू० ।

भा०—हे (ब्रह्म-संशिते शरव्ये) ब्रह्म=वेद ज्ञान और विचार के अनुसार तीक्ष्ण, प्रबल और उग्र बनाये हुए बाण, (अवसृष्टा) धनुष से छूट कर (परापत) दूर जा अर्थात्=हे क्षत्रिय धनुर्धारी तू ब्राह्मण गुरुओं से खूब शिक्षित होकर शत्रु पर जा पड़ । और (अमित्रान् जय) शत्रुओं पर विजय कर, (प्र पद्यस्व) उनमें घुस जा, (एषाम् वरम्-वरम्) इनमें से उत्तम उत्तम, प्रधान २ पुरुष को (जहि) विनाश कर, (आमीषां कः चन मा मोचि) इनमें से किसी को मत छोड़, किसी को बचा न रहने दे ।



[२०] ईश्वर से उत्तम ऐश्वर्य और सद्-गुणों की प्रार्थना ।

वसिष्ठ ऋषिः । अग्निर्वा मन्त्रोक्ता नाना देवताः । १–५ ७, ९, १० अनुष्टुभः, ६ पथ्या पंक्तिः, ८ विराड्जगती । दशर्चं सूक्तम् ॥

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः ।
तं जानन्नग्न आ रोहाधा नो वर्धया रयिम् ॥ १ ॥

ऋ० ३ । २९ । १० ॥ यजु० ३ । १४ ॥

भा०—ऋग्वेदे विश्वामित्र ऋषिः । अग्नि देवता । हे (अग्ने) आत्मन् ! (ते) तेरा (अयं) यह (ऋत्वियः) ऋतु के अनुसार, गर्भ ग्रहण काल में ही उत्पन्न हुआ (योनिः) उत्पत्ति स्थान है (यतः जातः) जहां से उत्पन्न होकर तू (अरोचथाः) खूब प्रदीप्त होता है । हे अग्ने ! (तं) उस परमात्मा का ज्ञान करके ही (आरोह) तू उन्नति के मार्ग पर चढ़ (अध) और (नः) हम इन्द्रियगण के (रयिम्) पुष्टिकारक प्राण और देह भाग को (वर्धय) पुष्ट करो ।

[२०] १–(द्वि०) 'असीदथाः' (च० 'वर्धया गिरः' ऋ० यजु० ।

अग्ने अच्छा वदेह नः प्रत्यङ् नः सुमना भव ।
प्र णो यच्छ विशां पते धनदा असि नस्त्वम् ॥ २ ॥

ऋ० १० । १४१ । १ ॥ यजु० ९ । २८ ॥

भा०—अग्निस्तापस ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । हे (अग्ने) परमात्मन् या विद्वन् ! (इह) इस संसार में (नः) हमें (अच्छा) उत्तम रीति से (वद) उपदेश करो और (नः) हमारे (प्रत्यङ्) प्रति आकर (सु-मनाः) शुभ-संकल्प होकर (भव) रहो । हे (विशां-पते) समस्त प्रजाओं के पालक परमात्मन् ! (त्वं) आप (नः धनदा असि) हमें सब प्रकार का धन देने हारे हो, अतः (नः प्रयच्छ) हमें वह सब ऐश्वर्य प्रदान करो ।

प्र णो यच्छत्वर्यमा प्र भगः प्र बृहस्पतिः ।
प्र देवीः प्रोत सूनृता रयिं देवी दधातु मे ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १४१ । २ ॥ यजु० ९ । २९ ॥

भा०—(अर्यमा) प्रजाओं का नियन्ता न्यायकारी (नः रयिं प्र यच्छतु) हमें नियमन बल और समृद्धि दे । (भगः) सर्वैश्वर्यवान् परमेश्वर (प्र यच्छतु) हमें धन दे । (बृहस्पतिः) ज्ञानों का स्वामी या वेद वाणी का पति प्रभु हमें (प्रयच्छतु) हमें वेद का विज्ञान दे । (देवीः) दिव्यगुणों वाली प्रभु की शक्तियां हमें (प्र यच्छन्तु) दिव्य शक्तियों का प्रदान करें । और (सूनृता देवी) शुभ ऋत-सत्य वेदवाणी स्वयं (मे) हम में सत्य ज्ञान (दधातु) धारण करावे ।

२–(तृ०) 'प्र नो यच्छ विशस्पते' इति ऋ० । 'भुवस्पते' इति तै० सं० । 'सहस्रजित्' इति यजु० । (च०) 'त्वंहि धनदा असि' इति यजु० । (द्वि०) 'प्रतिनः' इति यजु० ।

३–(च०) 'रायो देवी ददातु नः' इति ऋ० । (द्वि०तृ० च०) प्र पूषा बृहस्पतिः । प्र वाग् देवी ददातु नः स्वाहा इति यजु० ।

सोमं राजानमवसेऽग्निं गीर्भिर्हवामहे ।
आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥ ४ ॥

ऋ० १० । १४१ । ३ ॥ यजु० ९ । २६ ॥ साम० १ । ९१ ॥

भा०—(अवसे) अपनी रक्षा के लिये (अग्निम्) ज्ञान के प्रकाशक (सोमं) संसार के उत्पादक और प्रेरक (राजानम्) सब से अधिक प्रकाशमान् एवं सब पर राजा के समान शासक (आदित्यम्) सूर्य के समान सब को रस देने और सब के आकर्षण करने हारे (विष्णुम्) सर्व व्यापक (ब्रह्माणम् च) और सब से बड़े (बृहस्पतिम्) और समस्त ब्रह्माण्ड और वेदादि विज्ञान के स्वामी प्रभु को (गीर्भिः) वाणियों द्वारा (हवामहे) हम वर्णन करते और स्तुति करते हैं ।

त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्धय ।
त्वं नो देव दातवे रयिं दानाय चोदय ॥ ५ ॥

ऋ० १० । १४१ । ६ ॥ यजु० ९ । २६ ॥

भा०—हे-अग्ने ! परमात्मान् (त्वं) आप (नः) हमें और हमारे (ब्रह्म) वेद के जानने हारे विद्वान् ब्राह्मणों और (यज्ञं च) वैदिक उत्तम यज्ञ कर्म को (अग्निभिः) विद्वान् पुरुषों द्वारा (वर्धय) बढ़ाओ । हे (देव) परमात्मन् (नः) हमारे में से (दातवे) दानशील पुरुषों को भी (दानाय) और अधिक दान करने के लिये (रयिं) धनादि ऐश्वर्य का (चोदय) प्रदान करो ।

४–(तृ०) 'आदित्यान्' इति ऋ० । (प्र०) 'वरुणमग्ने' इति साम० । (द्वि०) 'अन्वारभामहे' इति यजु० ॥

५–(तृ०) 'देवतातये रायो' इति ऋ० । पैप्प० सं० । 'देवदानवे' इति सायणाभिमतः पाठः ।

इन्द्रवायू उभाविह सुहवेह हवामहे ।
यथा नः सर्व इज्जनः संगत्यां सुमना असद् दानकामश्च नो भुवत् ६

यजु० ३३ । ८६ ॥ ऋ० १० । १४१ । ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र-वायू) सूर्य और वायो ! (उभौ) आप दोनों (इह) इस लोक में (सु-हवा) उत्तम रीति से अपनी शक्ति से दूसरे को जीवन और प्राणों का दान करते हो, अतः हम आप दोनों के (इह) इस कार्य में (हवामहे) गुणों का कीर्त्तन करते हैं (यथा) जिससे (नः) हम में (सर्व इत् जनः) सभी लोग (सं-गत्याम्) परस्पर के मेलजोल में (सुमनाः) उत्तम चित्त वाले हों और (नः) हममें सब लोग (दानकामः च) दान देने की इच्छा वाले (भुवत्) हों ।

अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय ।
वातं विष्णुं सरस्वतीं सवितारं च वाजिनम् ॥ ७ ॥

ऋ० १० । १४१ । ५ ॥ यजु० ९ । २७ ।

भा०—हे परमात्मन् ! आप (अर्यमणम्) न्यायकारी प्रजा के नियन्ता को (बृहस्पतिम्) वेद के पारिपालक विद्वान् को और (इन्द्रम्) ऐश्वर्यशील राजा को (दानाय) हमारे इष्ट धनादि सामर्थ्य दान करने के लिये (चोदय) प्रेरित कर । इसी प्रकार (वातम्) सब के प्रेरक प्राण रूप वायु (विष्णुम्) सर्व व्यापक आकाश (सरस्वतीम्) सर्व रसमय, ज्ञानमय वेद वाणी और (वाजिनम्) बल ज्ञान और अन्न के दाता (सवितारम्) सूर्य को भी प्रेरित करे कि वे हमें अपनी शक्तियों से बलवान करें ।

६–(प्र०) 'इन्द्रवायू बृहस्पति' इति ऋ० 'इन्द्रवायू सुसंदृशा (च०) 'नोदय' इति यजु० । (च०) ' सर्वइज्ज नः अनमीवाः संगमे ' इति यजु० । ' यथानः सर्वमिज्जगत् अयक्ष्मं सुमना असत् ' तै० सं० ।

७–(तृ०) 'वाचं विष्णु' । इति यजु० ॥

वाजस्य नु प्रसवे सं वभूविमेमा च विश्वा भुवनान्यन्तः ।
उतादित्सन्तं दापयतु प्रजानन् रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छ ॥८॥

यजु० ९ । २५ । २४ ॥

भा०—हम (वाजस्य प्रसवे) ज्ञान और वल के उत्पन्न करने में (सम् बभूविम) उत्तम रूप से समर्थ हों और (इमा च विश्वा भुवनानि) और ये समस्त भुवन भी (अन्तः) उसी समस्त ज्ञान-वलोत्पादक परमात्मा के भीतर ही उत्पन्न होकर समर्थ होते हैं । (उत) और हे परमात्मन् आप (प्रजानन्) सर्वज्ञ, सब कुछ जानते हुए (अदित्सन्तम्) न दान करने वाले पुरुष से भी (दापयतु) दान कराया करें । और (नः) हमें (सर्ववीरं) सब प्रकार के वीर, श्रेष्ठ, वलवान् पुत्रों से युक्त धन सम्पत्ति को (नि यच्छ) प्रदान करें ।

दुह्रां मे पञ्च प्रदिशो दुह्रामुर्वीर्यथा वलम् ।
प्रापेयं सर्वा आकूतीर्मनसा हृदयेन च ॥ ९ ॥

भा०—(पञ्च प्रदिशः) पांचों मुख्य दिशाएं अथवा पांचों गुरु पितृ स्थानीय, पांचों शिक्षक माता, पिता, गुरु, आचार्य, सुहृद् और बन्धु इस प्रकार का (वलम्) ज्ञान, वल प्रदान करें और (उर्वीः) छहों उर्वी, द्यौ, पृथिवी, दिन, रात्रि, जल और औषधि ये छहों महान् दिव्य शक्तियां (वलम् दुह्राम्) मुझे वल से परिपूर्ण करें (यथा) जिससे मैं (मनसा) अपने ज्ञान सामर्थ्य, मनन संकल्पों द्वारा (हृदयेन च) और हृदय से (सर्वाः) सब प्रकार की (आकूतीः) शुभ मतियें, ज्ञानों को (प्र आपेयम्) प्राप्त होऊं ।

८–(तृ०) 'दापयति' (च०) 'सनो रयिं सर्व' इति यजु० । 'सर्व वीराम्' इति तै० सं० ।

गोसनिं वाचमुदेयं वर्चसा माभ्युदिहि ।
आ रुन्धां सर्वतो वायुस्त्वष्टा पोषं दधातु मे ॥ १० ॥

भा०—मैं (गोसनिं) गौ=वाणी, ज्ञान, आत्मा और परमेश्वर और वेद, वाणी को भजन करने हारी (वाचम्) वाणी का (उदेयं) उच्चारण करूं । हे परमात्मन् (मा वर्चसा) मुझ को ब्रह्म तेज से (अभि उत्-इहि) और भी उन्नत कर । (सर्वतः) सब प्रकार (वायुः) सब का विधारक परमात्मा (मे) मुझे (आ रुन्धाम्) सब बुरे मार्गों में जाने से बचावे । (त्वष्टा) सब पदार्थों का उत्पादक परमात्मा (मे) मेरा (पोषं दधातु) पोषण करे ।

इति चतुर्थोऽनुवाकः ।

[तत्र पञ्च सूक्तानि, ऋचश्च चत्वारिंशत् ।]



[२१] लोकोपकारक अग्नियों का वर्णन ।

वसिष्ठ ऋषिः । अग्निर्देवता । १ पुरोऽनुष्टुप्, २, ३, ८ भुरिजः, ५ जगती ६ उपरिष्टाद्-विराड् बृहती, ७ विराड्गर्भा, ९ निचृदनुष्टुप्, १० अनुष्टुप् । दशर्चं सूक्तम् ॥

ये अग्नयो अप्स्व१न्तर्ये वृत्रे ये पुरुषे ये अश्मसु ।
य आविवेशोषधीर्यो वनस्पतींस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥१॥

भा०—ये (अग्नयः) जो अग्नियां (अप्सु अन्तः) जलों के भीतर समुद्र में वाड़वाग्नि रूप में और जलों में उद्रजन के रूप में हैं और (ये

१०-(तृ०) 'आरुधाम्' इति क्वचित् ।

[२१] १-यो अप्स्वन्त र्यो वृत्रेऽन्तर्यः पुरुषे योश्मनि । यो विवेश ओषधी०, इति पैप्प० सं० । 'आविवेशौषधी' इति मै० सं० ।

वृत्रे) जो अग्नियां वृत्र–आवरण कारी मेघ में विद्युत् रूप से हैं और (ये) जो (पुरुषे) पुरुषों में ज्ञान रूप से, उत्साह, बल पराक्रम और जठराग्नि रूप से या विद्वान् आत्मा और इन्द्रिय रूप से वर्त्तमान हैं (ये अश्मसु) और प्रस्तरों में और (ये) जो (ओषधीः) रोग नाशक वनस्पतियों में रस रूप से और (यः) जो (वनस्पतीन्) वनस्पतियों में (आ-विवेश) प्रविष्ट है (तेभ्यः) उन (अग्निभ्यः) सब अग्नियों के लिये (एतम्) यह इस प्रकार (हुतम्) उचित प्रयोग (अस्तु) हो।

यः सोमे अन्तर्यो गोष्वन्तर्य आविष्टो वयःसु यो मृगेषु ।
य आविवेश द्विपदो यश्चतुष्पदस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥२

भा०—(यः) जो अग्नि (सोमे अन्तः) सोम के भीतर हर्षोत्पादक रस शक्ति रूप, (यः गोषु) जो गौओं में दुग्धरूप से (यः वयःसु) और जो पक्षियों में कालोत्पात प्रदर्शक (यः मृगेषु) सहन, बल और साहस रूप से (यः) जो (द्वि-पदः) मनुष्यों और (चतुः-पदः) चौपायों के भीतर वैश्वानर आत्मा, जीवन, और चैतन्य रूप से (आ-विवेश) आविष्ट है । (तेभ्यः सर्वेभ्यः एतत् हुतम् अस्तु) उन सब के लिये मेरा यह इस प्रकार का उचित दान या प्रयोग हो ।

य इन्द्रेण सरथं याति देवो वैश्वानर उत विश्वदाव्यः ।
यं जोहवीमि पृतनासु सासहिं तेभ्यो० ॥ ३ ॥

भा०—(यः) जो (वैश्वानरः) समस्त नरों में निवास करने वाला

२–(द्वि०) 'वयांसि य आविवेश,' इति मै० सं० । 'यो विष्टो वयसि' पैप्प० सं० ।

३–(प्र०) 'येनेन्द्रस्य रथं सम्बभूवुः' इति काठक० । 'येनेन्द्रण सरथं संबभूवे' (द्वि०) 'उत विश्वदेव्यः' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'उत विश्वदेव्यः' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

जीवात्मा (देवः) देव (इन्द्रेण) इन्द्र-प्राण या परमात्मा के साथ (सरथं) एक ही रूप देह में याति उसके साथ मिलता है (उत) और वही (विश्वदाव्यः) समस्त जगत् में, बन में, अग्नि के समान चेतना रूप से, कर्म-धन्धन के दाहक रूप में विद्यमान है अथवा (यः देवः वैश्वानरः) जो सर्वव्यापक परमात्म देव (इन्द्रेण सरथं याति) इन्द्र=इस आत्मा के साथ इस देह या विश्व में विद्यमान है (उत विश्व-दाव्यः) और समस्त संसार को बन में लगी आग के समान प्रलयकाल में भस्म करने हारा कालाग्नि स्वरूप है, (यं सासहिं) जिस सहनशील, सबके वशकर्त्ता ईश्वर को (पृतनासु) समस्त जीवों में (जोहवीमि) हम स्मरण करते हैं (तेभ्यः अग्निभ्यः हुतम् अस्तु एतत्) उन सब तेज स्वरूप आत्माओं को यह मेरा त्याग किया हवि पदार्थ उपकार कहो।

यो दे॒वो वि॑श्वाद् यमु॒ काम॑मा॒हुर्यं दा॒तारं॑ प्रतिगृ॒ह्णन्त॑मा॒हुः ।
यो धीरः॑ श॒क्रः प॑रि॒भूरदा॑भ्य॒स्तेभ्यो॑० ॥ ४ ॥

भा०—(यः देवः) जो देव (विश्वाद्) समस्त संसार को प्रलयकाल में ग्रास कर जाता है। (यं उ कामम् आहुः) और जिसको समस्त संसार में व्यापक समष्टि इच्छा शक्ति का प्रति रूप, 'काम' स्वरूप विद्वान् बतलाते हैं (यं दातारं) और जिसको सबको सब पदार्थों का दाता होते हुए भी (प्रतिगृह्णन्तम् आहुः) सबका दिया भक्ति उपहार अथवा प्रलयकाल में सर्व संसार को अपने भीतर स्वीकार करता हुआ बतलाते हैं। और (शक्रः) शक्ति सम्पन्न (धीरः) धारणा और ध्यान से सम्पन्न एवं सब का पालक पोषक और (अदाभ्यः) किसी से पराजित एवं हिंसित न होने

४–(प्र०) 'विश्वादमग्निं यमु' इति मै० सं०, 'हुतादमग्निं यमु' इति काठः। (द्वि०) 'प्रतिग्रहीतारमाहुः' मै० सं०। काठ०। (तृ०) 'धीरोयः' इति मै० सं०। (प्र०) 'यमु काममाह' इति पैप्प० सं०।

वाला अद्वितीय (परिभूः) सब पर वशकर्त्ता और सर्वव्यापक है (तेभ्यो-अग्निभ्यः हुतम् अस्तु एतत्) इन सब गुण विशिष्ट अग्नि=परमात्मा की शक्तियों को मेरा स्मरण और त्याग प्राप्त हो। देखो कामसूक्त [अथर्व० का० ६ सू० २ ॥]

विश्वात्—अत्ता चराचरग्रहणात् । वेदान्तसूत्रम् । परमात्माका नाम 'अत्ता' है वह चराचर संसार को प्रलयकाल में खा जाता है । "कामोऽस्मि भरतर्षभ" और "प्रजनश्चास्मि कंदर्पः" इत्यादि गीता ।

यं त्वा होतारं मनसाभि संविदुस्त्रयोदश भौवनाः पञ्च मानवाः ।
वर्चोधसे यशसे सूनृतावते तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥५॥

भा०—हे परमात्मन् ! (यं होतारं त्वा) सब विश्व को ग्रहण करने एवं प्रलयाग्नि या अपने ही कालाग्नि स्वरूप में आहुतिरूप से डाल देने हारे तुझको विद्वान् लोग (मनसा अभि) अपनी मनः शक्ति, मानस योग से (अभि सं विदुः) साक्षात् ज्ञान करते हैं । (त्रयोदश भौवनाः) तेरह भौवन संवत्सर के अवयव १३ मास और (पञ्च मानवाः) पांच मनु की कलियत वसन्त आदि पांच ऋतुएं जिस प्रकार संवत्सर को अपने में व्यापक एक रूप करके तन्मय हुए रहते हैं उसी प्रकार विश्वकर्मा आदि १३ भौवन=सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर की विशेष शक्तियां और पांच मानव अर्थात् शरीरगत् प्राणों के समान समष्टि में पांच तत्व जिसको अपने में व्यापक पाते हैं उस (वर्चोधसे) तेज, प्रकाश को धारण करने हारे (यशसे) महान यशः स्वरूप महामहिम, (सूनृतावते) वेद वाणी के स्वामी उस प्रभु के लिये (तेभ्यः अग्निभ्यः मम एतत् हुतम् अस्तु) और उसकी अग्निरूप अन्य शक्तियों को मेरा यह त्यक्त, आहुत पदार्थ उपकारक हो ।

५–(द्वि०) 'भुवनाः पञ्च' इति पैप्प० सं० ।

उत्तान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे।
वैश्वानरज्येष्ठेभ्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ६॥
पूर्वार्धः ऋ० ८।४३।११ (प्र० द्वि०)॥

भा०—हे वैश्वानर! (उक्ष-अन्नाय) उक्षा=शरीर को एवं समष्टि रूप से समस्त ब्रह्माण्ड को वहन करने वाले आत्मा को अपना अन्न=प्राप्य विषय बनाने वाले भक्त योगीजन, (वशा-अन्नाय) वशा=सब संसार को समष्टि, व्यष्टिरूप से वश करने वाली जीव=चेतना शक्ति को अपना अन्न=मानस भोजन बनाने हारे और (वेधसे) संसार के पदार्थों को रचना करने वाले (सोम-पृष्ठाय) आनन्द स्वरूप आनन्द का आस्वादन करने वाले (वैश्वानर-ज्येष्ठेभ्यः) और वैश्वानर समस्त लोकों में व्यापक ब्रह्म जिन में सब से श्रेष्ठ है (तेभ्यः अग्निभ्यः हुतम् अस्तु एतत्) उन जीवन मुक्त, ज्येष्ठ ज्ञानी आत्माओं के लिये मेरा यह समस्त त्याग—आहुति स्वीकार हो।

दिवं पृथिवीमन्वन्तरिक्षं ये विद्युतमनुसंचरन्ति।
ये दिक्ष्वन्तर्ये वाते अन्तस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥७॥

भा०—और (ये दिवं) जो द्यौ लोक में, आदित्य और दिव्य विज्ञान के पीछे और (पृथिवीम्) पृथिवी और पार्थिव लोक रचना सम्बन्धी विज्ञान के पीछे और जो (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष, वायु विद्या के पीछे और (ये विद्युतम्) जो विद्युत् विद्या के पीछे २ (अनु सं चरन्ति) ज्ञान मार्ग से उनका अनुसरण करते, ज्ञान खोजते और उनका प्रयोग करते हैं और (ये दिक्षु अन्तः) जो दिशाओं के और (ये वाते) जो वात=प्रचण्ड वायु के ज्ञान में ही संलग्न हैं (तेभ्यः अग्निभ्यः हुतम् अस्तु एतत्) उन ज्ञानमय विद्वान् रूप अग्नियों के लिये हमारी त्याग रूप आहुति हो।

हिरण्यपाणिं सवितारमिन्द्रं बृहस्पतिं वरुणं मित्रमग्निम्।
विश्वान् देवानङ्गिरसो हवामह इमं क्रव्यादं शमयन्त्वग्निम् ॥८॥

भा०—(हिरण्य पाणिं) सुवर्ण को हाथ में लिये, धनाढ्य (सवितारं) किरणों से सम्पन्न, सूर्य के समान सब के प्रेरक (बृहस्पतिं) वेद विद्या के विद्वान्, (वरुणं) सबसे श्रेष्ठ, या पापियों के निवारक, (मित्रम्) जनता को मृत्यु से बचाने वाले, (अग्निम्) आगे २ मार्ग दिखाने वाले विद्वान् और (आंगिरसः) अंग २ विद्याओं में पारंगत या अंग=शरीर के भीतर व्यापक रसों के विज्ञान को जानने हारे आयुर्वेद के ज्ञाता (विश्वान् देवान्) समस्त विद्वानों को (हवामहे) हम एकत्र करके उनसे प्रार्थना करते हैं कि (इमम्) इस (क्रव्य-अदम् अग्निम्) क्रव्याद=नर देह को खाजाने वाली मृत्यु या श्मशानाग्नि एवं जनता में फैली हुई मृत्युकारी विपत्ति को (शमयन्तु) शान्त करें, राष्ट्र का ऐसा सुप्रबन्ध करें कि राष्ट्र में मौतें घट जांय। और लोक सुखी और चिरायु रहें।

शान्तो अग्निः क्रव्याच्छान्तः पुरुषरेषणः ।
अथो यो विश्वदाव्य१स्तं क्रव्यादमशीशमत् ॥ ९ ॥

भा०—उपरोक्त इतना उपाय कर लेने पर (क्रव्यात् अग्निः शान्तः) मृत मनुष्यों के शरीरों को खाकर भस्म कर डालने वाली अग्नि अर्थात् मृत्यु का रौद्र संहार जो (पुरुष-रेषणः) पुरुषों का विनाश करने हारा है वह (शान्तः) शान्त हो जाता है (अथो) और जो (विश्व-दाव्यः) विश्व को वज्र वन्हि के समान जलाने वाला क्रव्याद् अग्नि है उसको हम (अशीशमन्) अपने प्रयत्न से शान्त कर दें।

ये पर्वताः सोमपृष्ठा आप उत्तानशीवरीः ।
वातः पर्जन्य आदग्निस्ते क्रव्यादमशीशमन् ॥ १० ॥

९—(द्वि०) 'पुरुषरेषिणः', (तृ०) 'विश्वदव्य' इति पैप्प० सं० ।
१०—(च०) 'अशीशमम्' इति क्वचित् ।

भा०—जन मारक महाव्याधि के और अकालिक विनाश करने के उपायों को संक्षेप से दिखाते हैं—(ये पर्वताः) जो पर्वत (सोम-पृष्ठाः) सोम जैसी बहुवीर्य ओषधियों को अपनी पृष्ठ पर उत्पन्न करते हैं और जो (आपः) जल (उत्तान-शीवरीः) सर्वदा सूर्य चन्द्र और नक्षत्र, इन ज्योतियों में खुले रहते हैं वे हंसोदक अथवा 'उत्तान'=ऊंचे गण्ड-शैलों में स्थित हैं जिनमें रोगनाशक गुण हैं और (वातः) प्रचण्ड वायु जो अपने झकोरों से ही हैज़े आदि रोगों को उड़ा ले जाते है और (पर्जन्यः) मेघ जिसके बरसने से अकाल दूर हो जाता है और (अग्निः) अग्नि जिससे यज्ञ और प्रज्वालन से गृह शुद्ध और नीरोग हो जाते हैं (ते) ये वे उपाय हैं जो (क्रव्य-अदम्) क्रव्य=मानव के अपरिपक्व शरीरों को खाने वाले मृत्यु एवं श्मशानाग्नि को (अशीशमन्) शान्त करते हैं ।



[२२] तेजस्वी होने की प्रार्थना ।

वसिष्ठ ऋषिः । वर्चो देवता । बृहस्पतिरुतविश्वेदेवाः । १ विराट् त्रिष्टुप्, ३ त्रिपदा परानुष्टुब् विराड्जगती, ४ त्र्यवसाना पट्पदा जगती, २, ५, ६, अनुष्टुभः । षडृचं सूक्तम् ॥

हस्तिवर्चसं प्रथतां बृहद् यशो अदित्या यत् तन्वः संबभूव ।
तत् सर्वे समदुर्मह्यमेतद् विश्वे देवा अदितिः सजोषाः ॥ १ ॥

भा०—(हस्ति-वर्चसं) हस्त=मारने के साधन हथियारों से सम्पन्न अथवा हस्ती के समान बलवान्, शस्त्र-योद्धा, राजा और बलशाली सेना-पति का 'वर्चः' तेज, या हाथी के समान सर्वोपमर्दक बल या हाथियों की सेना

[२२] १–(द्वि०) 'आदित्यायम्' इति क्वचित् । (तृ०) 'विश्वेदेवासः' इति पैप्प० सं० ।

का वैभव और (बृहत् यशः) बड़ा भारी यश (यत्) जो (अदितेः) न खण्डित होने वाली अखण्ड और अदीन, स्वतन्त्र राष्ट्र प्रजा के (तन्वः) शरीर से (संबभूव) उत्पन्न हो वह (प्रथताम्) समस्त संसार में फैले । (सर्वे) सब ही (तत्) उस लोकयश और ख्याति के (मह्यं) मुझ राष्ट्र पालक को (सम् अदुः) प्रदान करते हैं । और (विश्वेदेवाः) सर्व राष्ट्र के शासक गण और (अदितिः) स्वतन्त, अखण्डित अधिकार वाली राष्ट्र प्रजा भी (स-जोषाः) सप्रेम मुझे उस यश और मान को प्रदान करते हैं। राजा किस प्रकार अपना यश प्राप्त करे इसके उत्तर में वेद कहता है कि स्वतन्त्र स्वायत्त शासन और अधिकार प्राप्त प्रजा ही राजा के मान का कारण है । पराधीन पंगु प्रजा राजा के मान की वृद्धि नहीं कर सकता ।

मि॒त्रश्च॒ वरु॑ण॒श्चेन्द्रो॑ रु॒द्रश्च॑ चेततु ।
दे॒वासो॑ वि॒श्वधा॑यस॒स्ते मा॑ञ्जन्तु॒ वर्च॑सा ॥ २ ॥

साम० पू० २ । ६ । १० ॥

भा०—(मित्रः) मित्र, न्यायाधीश, (वरुणः) वरुण, पोलिस विभाग और गुप्तचर विभाग का अध्यक्ष और (इन्द्रः)=सेनापति और (रुद्रः) दुष्टों का रुलाने वाला दण्ड-विभाग का अध्यक्ष इनमें से प्रत्येक (चेततु) सदा सावधान रहें । (विश्व-धायसः देवासः) समस्त राष्ट्र के पालक पोषक अधिकारीगण विद्वान् होकर (मा वर्चसा अञ्जन्तु) मुझको अपने बल और तेज से सम्पन्न करें । सभी सावधान होकर जब कार्य करते हैं तब उनका बल भी राजा का बल कहाता है और उसकी प्रतिष्ठा का कारण होता है ।

२–(द्वि०) 'चेततुः' इति बहुत्र, पैप्प० सं० । (च०) 'सोमः पूषा च चेततुः' इति साम० ।

येन॑ ह॒स्ती वर्च॑सा संब॒भूव॒ येन॒ राजा॑ मनु॒ष्ये॒॑ष्व॒प्स्वं॒॑न्तः ।
येन॑ दे॒वा दे॒वता॒मग्र॒ आय॒न् तेन॒ माम॒द्य वर्च॒साग्ने॑ वर्च॒स्विनं॑ कृणु ॥३॥

भा०—(येन वर्चसा) जिस तेज से और बल पराक्रम से (हस्ती) हस्ती जैसा महाकाय जन्तु (सं बभूव) सामर्थ्यवान् हो जाता है और (मनुष्येषु अप्सु) राष्ट्र में व्यापक मानुष प्रजाओं में (येन) जिस बल पराक्रम से (राजा संबभूव) राजा सामर्थ्यवान् होता है । (येन) और जिस बल पराक्रम से (देवाः) विद्वान् पुरुष या पृथिवी, अप्, तेज, वायु आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन आदि दिव्य पदार्थ (अग्रे) सृष्टि के प्रारम्भ में (देवताम्) देवभाव को, सृष्टि-उत्पादक विशेष सामर्थ्य को प्राप्त हुए, हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप परमेश्वर ! (तेन वर्चसा) उस तेज से (अद्य) इस जीवन में (माम्) मुझ को (वर्चस्विनं) वर्चस्वी, तेजस्वी (कृणु) बनाओ ।

यत् ते॒ वर्चो॑ जातवेदो बृ॒हद् भव॒त्याहु॑तेः ।
याव॒त् सूर्य॑स्य॒ वर्च॑ आसु॒रस्य॑ च ह॒स्तिनः॑ ।
ताव॒न्मे अ॒श्विना॒ वर्च॒ आ ध॑त्तां॒ पुष्क॑रस्रजा ॥ ४ ॥

भा०—हे (जातवेदः) समस्त पदार्थों में व्यापक प्रभो ! जिस प्रकार अग्नि में (आहुतेः) आहुति गिरने से उसका प्रकाश और ताप प्रचण्ड

३–(तृ०) 'अग्र आयम्' इति क्वचित् । (द्वि०) 'मनुष्येष्वन्तः' (तृ० च०) 'येनदेवा ज्योतिषा द्यामुदायन् तेन माग्ने वर्चसासंसृजेह' इति पैप्प० सं०

४–(द्वि०)–'आहुते' इति सायणः । 'आहुतम्' इति पैप्प० सं० । (च०) 'कृणुतां पुष्क०' (तृ०) 'यावद् वर्चः सूर्यस्य' इति पैप्प० सं० ।

हो जाता है उसी प्रकार कालाग्नि स्वरूप आप में समस्त विश्व की महान् आहुति पड़ने से भी (यत् ते बृहद् वर्चः) आपका जो महान् तेज प्रकट होता है और इसके अंश रूप साक्षात् (सूर्यस्य) सूर्य का (यावत्-वर्चः) जो तेज और (आसुरस्य) असु प्राणों में रमण करने वाले (हस्तिनः) सबको आघात करने या व्यापने वाले प्राण का जो तेज है हे (अश्विना) द्यौ और पृथिवी और अध्यात्म में प्राण और अपान और राजा और प्रजा तुम दोनों (पुष्कर-स्रजा) नक्षत्र रूप या लोकरूप पुष्करों की माला पहने या देहरूप पुरियों को माला रूप से धारण करने वाले या पुष्टि करनेहारे, शासक, मुख्य पुरुषों के निर्माता या अपने में उनको माला रूप से धारने वाले होकर (तावत् वर्चः) उतना बल (मे आधत्ताम्) मेरे में धारण करावें।

पुष्कर=देखो परिशिष्ट सामवेद विशेषपद-दर्पण ।

यावच्चतस्रः प्रदिशश्चक्षुर्यावत् समश्नुते ।
तावत् समैत्विन्द्रियं मयि तद्धस्तिवर्चसम् ॥ ५ ॥

भा०—(यावत् चतस्रः प्रदिशः) जितनी भर चारों दिशाएं हैं और यावत् चक्षुः (समश्नुते) और जितनी दूर तक हमारी चक्षु फैल सकती हैं (तावत्) उतना (मयि) मुझ में (हस्तिं-वर्चसम्) हस्ति के समान या सूर्य के समान (इन्द्रियं) मेरे आत्मा का सामर्थ्य (सम् आ एतु) मुझ में समा जाय । मैं अनन्त तेजस्वी हो जाऊं ।

हस्ती मृगाणां सुषदामतिष्ठावान् बभूव हि ।
तस्य भगेन वर्चसाभि षिञ्चामि मामहम् ॥ ६ ॥

भा०—(मृगाणां) पशुओं में से (हस्ती) हाथी (सुषदाम्) उत्तम सवारियों में से (अति-ष्ठावान्) अति अधिक स्थिर, निश्चल और सब से

५–(तृ०) 'समेतु' इति सायणः ।

बढ़ कर युद्ध में निर्भय, टिकाऊ और प्रतिष्ठादायी (बभूव ह) है इसी प्रकार आकाश-मण्डल में (सुपदां) सुस्थिर (मृगाणां) नक्षत्रों में से (हस्ती) सूर्य जिस प्रकार (श्रात-स्थावान्) अति अधिक तेजस्वी है उसके (भगेन) लक्ष्मी, सौभाग्य (वर्चसा) और तेज से (अहम्) मैं स्वयं अपने आपको अपने राजपद के योग्य बनावे।

---

[२३] उत्तम सन्तान उत्पन्न करने की विधि।

ब्रह्मा ऋषिः। चन्द्रमा उत योनिर्देवता, ५ उपरिष्टाद्-भुरिग्-बृहती, ६ स्कन्धोग्रीवी बृहती, १–४ अनुष्टुभः। षडृचं सूक्तम्।

येनं वेहद् ब॒भूवि॑थ ना॒शया॑मसि॒ तत् त्वत्।
इ॒दं तद॒न्यत्र॒ त्वदप॑ दू॒रे नि द॑ध्मसि ॥ १ ॥

भा०—हे नारि! (येन) जिस कारण से (वेहद्) तू बांझ या पुत्र को उत्पन्न करने में असमर्थ (बभूविथ) है (तत्) उस कारण को (त्वत्) मुझ से (नाशयामसि) हम दूर करते हैं। (इदं) इस (तद्) उस अप्रत्यक्ष कारण को (त्वद् अन्यत्र) तुझ से (दूर) दूर (अप नि दध्मसि) परे कर देते हैं।

आ ते॒ योनिं॒ गर्भ॑ एतु॒ पुमा॒न् बाण॑ इवेषु॒धिम्।
आ वी॒रोऽत्र॑ जायतां पु॒त्रस्ते॒ दश॑मास्यः ॥ २ ॥

भा०—वन्ध्यापन के कारण को दूर कर देने पर (ते योनिं) हे स्त्रि! तेरे बालक उत्पन्न करने के स्थान, गर्भाशय भाग में (गर्भः) वीर्य कण से गर्भित हुआ (पुमान्) रजो डिम्ब अर्थात् पुमान् गर्भ (इषु-धिम्)

---

[२३] २–(प्र०) 'गर्भो योनिम् एतु', 'आवीरो जा०' इति आ० गृ० सू०।

तर्कस में सुरक्षित (बाण-इव) बाण के समान (एतु) प्राप्त हो । और फिर (अत्र) इस गर्भ में (वीरः) पूर्ण वीर्यवान् (पुत्रः) पुत्र (दश-मास्यः) दश मासों तक पुष्टि को प्राप्त होकर (जायतां) उत्पन्न हो ।

पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननु जायताम् ।
भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयांश्च यान् ॥ ३ ॥

भा०—हे नारि ! तू (पुमांसम् पुत्रम् जनय) पुमान्, पुत्र को उत्पन्न कर और (तम् अनु पुमान् जायताम्) उसके बाद भी पुनः पुमान् पुत्र ही उत्पन्न हो । और (यान् जनयाः) जिन २ पुत्रों को तू उत्पन्न करे उन (जातानाम्) उत्तम रीति से उत्पन्न हुए उन सब (पुत्राणाम्) पुत्रों की (माता भवासि) तू माता बनी रहे । अर्थात् तेरे सब पुत्र चिरकाल तक जीवित रहें ।

यानि भद्राणि बीजान्यृषभा जनयन्ति च ।
तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रसूर्धेनुका भव ॥ ४ ॥

भा०—(ऋषभाः) वीर्य सेचन में समर्थ, उत्तम पुरुष (यानि) जिन (भद्राणि) कल्याणकारी (बीजानि) बीजों को (जनयन्ति) अपने

३–(च०) ' जनयाश्चयाम् ' इति बहुत्र । (द्वि०) ' त्वं पुमान् ' इति सायणः, पैप्प० सं० । ' पुमाननुजनयामित्र ' इति पैप्प० सं० । (च०) ' जातानां विन्दस्वयान् ' मै० ब्रा० । ' तेषां माता भविष्यसि जातानां जनयासि च ' इति गो० गृ० सू० ।

४–(द्वि०) 'पुरुषा जनयन्ति नः' (तृ०) तेभिस्त्वं पुत्रं जनय सुप्रसूर्धेनुका भव ' इति गो० गृ० सू० । ' यानि प्रभूणि वीर्याणि ऋषभाः जनयन्तु नः । तैस्त्वं गर्भिणि भव सा जायतां वीरतमा स्वानाम्० । सा प्रसूर्धेनुगा भव' इति हि० गृ० सू० । ' तानि भद्राणि बीजानि ऋषभा जनयन्ति नौ ' इति मन्त्रपाठे ।

शरीर में उत्पन्न करें एवं गर्भ में आहित करें (तैः) उन अमोघ बीजों से (त्वं) तू (पुत्रं विन्दस्व) पुत्र को प्राप्त कर (सा) वह तू (प्रसूः) उत्तम रीति से पुत्रों को उत्पन्न करके (धेनुका भव) दूध पिलाने वाली सच्ची माता बन।

कृणोमि ते प्राजापत्यमा योनिं गर्भ एतु ते ।
विन्दस्व त्वं पुत्रं नारि यस्तुभ्यं शमसच्छमु तस्मै त्वं भव ॥ ५ ॥

भा०—हे नारि ! (ते) तेरे लिये मैं (प्राजापत्यम्) प्रजापति का कार्य अर्थात् पुत्रोत्पत्ति या बीजवपन का कार्य (कृणोमि) करता हूं। (योनिम्) योनि स्थान में (गर्भः) गर्भ, गर्भित डिम्ब (आ एतु) आवे। हे नारि ! (त्वम् पुत्रम् विन्दस्व) तू ऐसे पुत्र को प्राप्त कर (यः) जो (तुभ्यं) तुझे (शम् असत्) कल्याण और सुख का देने हारा हो और हे नारि ! (तस्मै) उस पुत्र के लिये (त्वं उ शम् भव) तू भी शान्तिदायक, कल्याणकारिणी और सुखकारी माता हो। पुत्र माता को शान्ति दें, रोग का कारण न हों, जीवन में दुःख न दें, इसी प्रकार पुत्रों को माता कष्ट न दें, रोग न दें और शान्ति दें।

यासां द्यौः पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव ।
तास्त्वा पुत्रविद्याय दैवीः प्रावन्त्वोषधयः ॥ ६ ॥

पूर्वार्धः अथर्व० ८ । ७ । २ तृ० च० ॥

भा०—(यासां) जिन (वीरुधाम्) लताओं का (पिता) परिपालक

५–(प्र०) 'करोमि ते' हि० गृ० सू० (द्वि०) 'आगर्भो योनिमेतु ते' इति पैप्प० सं०।

६–(प्र०) 'द्यौष्पिता' इति क्वचित्। (प्र० द्वि०) 'यासां पिता पर्जन्यो भूमिर्माता बभूव'

(द्यौः) सूर्य और (माता पृथिवी) माता पृथिवी और (समुद्रः) जल धाराओं का बरसाने वाला मेघ (मूलं) मूल (बभूव) है (ताः) वे (देवीः) दिव्य ओषधियां हे नारि ! (ओषधयः) रस वीर्य विपाक को धारण करने वाली होकर (त्वा) तेरी और तेरे गर्भ को (पुत्र-विद्याय) पुत्र लाभ के लिये (प्र अवन्तु) रक्षा करें ।

[२४] उत्तम धान्य और औषधियों के संग्रह का उपदेश ।

भृगुर्ऋषिः । वनस्पतिरुत प्रजापतिर्देवता । १, ३-७ अनुष्टुभः, २ निचृत्पथ्यापंक्तिः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

पयस्वतीरोषधयः पयस्वन्मामकं वचः ।
अथो पयस्वतीनामा भरेऽहं सहस्रशः ॥ १ ॥

अथर्व० १८ । ३ । ३६ ॥ पूर्वार्धः ऋ० १० । १७ । १४ प्र० द्वि० ॥

भा०—गर्भ पालन के निमित्त धान्य और ओषधियों के संग्रह करने का उपदेश करते हैं । (ओषधयः) धान्य आदि ओषधियां (पयस्वतीः) शरीर को पुष्ट करने में समर्थ, सार भाग से युक्त हों, और (मामकं वचः) मेरा वचन भी (पयस्वत्) सार और रस से पूर्ण हो, (अथो) और (अहं) मैं (सहस्रशः) हजारों (पयस्वतीनाम्) अन्नादि सारभूत पुष्टिकारक पदार्थों से युक्त वनस्पतियों को (आ भरे) अपने घर पर नित्य लाऊं ।

---

[२४] १-(तृ० च०) ‘ अपां पयस्वदित्पयस्तेन मासह शुन्धत ’ इति ऋ० । (च०) ‘ भरेयम् ’ इति सायणः । ‘ अथो पयस्वतीं पय आहरामि सहस्रशः ’ इति पैप्प० सं० ।

वेदाहं पयस्वन्तं चकार धान्यं बहु।
सम्भृत्वा नाम यो देवस्तं वयं हवामहे योयो अयज्वनो गृहे ॥२॥

भा०—(अहं) मैं उस (पयस्वन्तं) सब से अधिक सारभूत पदार्थों से सम्पन्न, सब में पुष्टिकारक पदार्थों के प्रदाता रस-सागर मेघ को (वेद) भली प्रकार जानता हूं जो (बहु धान्यं चकार) बड़ी भारी धान्य उत्पन्न करता है। (यः) जो (देवः) देव (सम्भृत्वा नाम) सब स्थानों से रस को संग्रह करने हारा है। और (यःयः) जो २ (अयज्वनः) यज्ञ न करने हारे, अदानशील पुरुष के घर में भी बराबर संग्रह करता है (तं वयं हवामहे) उसकी हम स्तुति करते हैं, उसका हम यथार्थ वर्णन करते हैं।

इमा याः पञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः।
वृष्टे शापं नदीरिवेह स्फातिं समावहान् ॥ ३ ॥

भा०—(इमाः याः) ये जो (पञ्च प्र-दिशः) पांच उत्तम रीति से ज्ञान का उपदेश करने और उन्नति पथ को दिखाने हारे पञ्च गुरु या पांचों दिशाओं के वासी (पञ्च मानवीः कृष्टयः) पांच मननशील ऐसी प्रजाएं हैं जो कृषि करके अपना अन्न उत्पन्न करती हैं वे (इह) इस लोक में (वृष्टेः नदी शापम् इव) वृष्टि से जल गिरने पर जैसे नदियां प्रभूत जल-पूर लाती हैं उसी प्रकार अन्नों से ये पांचों प्रजाएं भी (स्फातिम्) प्रतिष्ठा और समृद्धि को (सम्-आवहान्) प्राप्त करें।

२–(प्र०) 'अहं वेद यथा पयः' (तृ०) 'यो वेदस्त्वं यजामहे सर्वस्य यश्च नो गृहे' इति पैप्प० सं०।

३–(द्वि०) 'मानवैः पञ्च गृष्टयः' (तृ० च०) 'सर्वाः शम्भूर्मयोभुवो वृषे शापं नदीरिव' इति पैप्प० सं०।

उदुत्सं शतधारं सहस्रधारमक्षितम् ।
एवास्माकेदं धान्यं सहस्रधारमक्षितम् ॥ ४ ॥

भा०—जिस प्रकार (उत्सम्) जल का स्रोत (शत-धारम्) सैकड़ों धाराओं और (सहस्र-धारम्) हजारों धाराओं वाला (अक्षितम्) अक्षय होता है, (एवा) इसी प्रकार (अस्माकम् इदं) हमारी यह (धान्यं) धान्य की फसल भी (सहस्रधारम्) सहस्रों धाराओं से युक्त होकर (अक्षितम्) अक्षय खजाना बना रहे ।

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर ।
कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह ॥ ५ ॥

भा०—हे (शत-हस्त) सैकड़ों हाथों—श्रमीजनों को स्वामिन् ! और हे (सहस्र-हस्त) हजारों हाथों—श्रमीजनों के स्वामिन् ! (सं किर) खेत में एक ही समय सर्वत्र बीज बखेर दो । और (कृतस्य) अपने किये (कार्यस्य) कृषि कार्य की (इह) इस उपजाऊ क्षेत्र में (स्फातिं) भारी फसल को (सम् आवह) प्राप्त करो ।

तिस्रो मात्रा गन्धर्वाणां चतस्रो गृहपत्न्याः ।
तासां या स्फातिमत्तमा तया त्वाभि मृशामसि ॥ ६ ॥

भा०—फसल को तैयार करने के लिये (गन्धर्वाणां) गौ पृथिवी को धारण करने वाले ज़मींदार कृषकों और जल वायु और सूर्य इनकी (तिस्रः मात्राः) तीन मात्राएं हैं, तीन अंश हैं । (गृह-पत्न्याः) गृह की

४–' यथा रूपः शतधारः सहस्रधारो अक्षितः । एवा मे अस्तु धान्यं सहस्रधारमक्षतम् ' इति पैप्प० सं० ।

५–(द्वि० तृ०) 'सहस्रैव संगिरः यथेयं स्फातिरायसि' इति पैप्प० सं० ।

६–(च०) ' मर्शामसि ' इति पैप्प० सं० ।

पत्नी पृथिवी और घर की मालकिन की भी (चतस्रः मात्रा) चार मात्राएं हैं। चार अंश हैं। (तासां) उन सब विधियों में से जो (स्फातिमत्-तमा) सब से अधिक अन्न को समृद्ध करने वाली है (तया) उस शैली से (त्वा अभि मृशामसि) तुझे बढ़ावें और उन्नत करें। वायु, जल और सूर्य इन तीन गन्धर्वों की तीन मात्राएं हैं, रस-दान, प्राणानुप्राणन, और तेजो भाग का देना। पृथिवी उनकी गृहपत्नी है इसलिये उसके चार अंश हैं। पार्थिव अंश से आश्रय देना, मूलारोपण, स्थापन, अभिवर्धन और बीजोद्गमन। इसी प्रकार अन्न को प्राप्त करने में कृपाण पुरुषों का कार्य है हलकर्षण, बीजवपन और सेचन, स्त्रियों के कार्य हैं धान्य रक्षा, काटना झाड़ना पिछोरना और संग्रह करना। इत्यादि।

उपोहश्च समूहश्च क्षत्तारौ ते प्रजापते।
ताविहा वहतां स्फातिं बहुं भूमानमक्षितम् ॥ ७ ॥

भा०—हे प्रजापते ! प्रजा के स्वामिन् ! (उपोहः च) उपोह और (समूहः च) समूह ये दोनों (ते क्षत्तारौ) तेरे क्षत्ता=मन्त्री हैं (ते) वे दोनों (इह) इस लोक में (बहुम्) संख्या में अधिक और (भूमानम्) परिमाण में भी अधिक (अक्षितं) अक्षय (स्फातिम्) अन्न समृद्धि को (वहतां) प्राप्त करावें। धान्य फसल को खेत में प्राप्त कराने और पुनः उसका उत्तम रीतिसे संग्रह करने वाली शक्तियां व उपोह और समूह, दो शब्दों से बतलाई गई हैं। राजा के पास दो शक्तियां हैं (१) धान्य को फटक २ कर साफ करना (२) सब खेतों से उसको एकत्र संग्रह करना।

७-(तृ०) 'वहतम्' इति क्वचित्।

[२५] काम-शास्त्र और स्वयंवर का उपदेश ।

जयकामो भृगुर्ऋषिः । मैत्रावरुणौ कामेषुश्च देवता । १—६ अनुष्टुभः । षड्ऋचं सूक्तम् ॥

उत्तुदस्त्वोत् तुंदतु मा धृथाः शयने स्वे ।
इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥ १ ॥

भा०—वास्तविक काम शक्ति के रहस्य का उपदेश करते हैं—हे स्त्री और पुरुषो ! (उत्-तुदः) जब उत्तम रूप से व्यथा देने या प्रेरणा करने वाला उत्तेजक काम (त्वा उत्-तुदतु) तुझे भली प्रकार व्यथा देता है तब (शयने स्वे) अपने सेज पर भी अपने सुख चैन से तुम (मा धृथाः) नहीं सो सकते । (कामस्य) पुत्रोत्पादन करने, आभ्यन्तर पुत्रैषणा रूप काम को (या भीमा इषुः) जो भयंकर कामना है (तया त्वा हृदि) उससे मैं पुरुष तुझ स्त्री के और स्त्री पुरुष के हृदय में (विध्यामि) मारता हूं ।

आधीपर्णां कामशल्यामिषुं सङ्कल्पकुल्मलाम् ।
तां सुसंनतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि ॥ २ ॥

भा०—काम बाण से होने वाली पीड़ा का वर्णन करते हैं । इस दशा में स्त्री-पुरुष की मानसिक दशा को अलंकार से दर्शाते हैं । हे मेरे प्रियतम ! और हे मेरी प्रियतमे ! (कामः) कामदेव (त्वा हृदि) तेरे हृदय में (तां इषुम्) उस बाण को (आधीपर्णां) व्यथा रूप परों से सजाकर (कामशल्याम्) काम=परस्पर अभिलाषा या दृढ़ रूप से एक दूसरे के प्रति चाह का शल्य=फला लगा कर उनको (संकल्पकुल्मलाम्) नाना संकल्प विकल्पों की लेस से चिपका कर और (तां सुसन्नतां कृत्वा) उसको खूब

[२५] १—(द्वि०) 'मा दृथाः' इति सायणसम्मतः पाठः ।
२—(तृ०) 'ता सुप्र०.' इति क्वचित ।

उत्तम रीति से झुकाकर (कामः) स्मर देव (त्वा हृदि) तेरे हृदय में (विध्यतु) ताड़े कि तू मुझे ही एक मात्र चाहे ।

या प्लीहानं शोपयंति कामस्येपुः सुसंनता ।
प्राचीनंपक्षा व्यो/षा तयां विध्यामि त्वा हृदि ॥ ३ ॥

भा०—(या) जो (कामस्य) कामदेव का (इषुः) इच्छा रूप बाण (सु-संनता) मानो खूब कमान झुकाकर छोड़ा जाता है अर्थात् जिसमें प्रेमी के प्रति हृदय अति प्रवण हो जाता है, प्रबल रूप से हृदय में लगजाता है वह (प्लीहानं) प्लीहा=पिलही तक को (शोपयति) सुखा डालता है । वही (प्राचीनपक्षा) सरल पक्षों से युक्त होकर भी (व्योपा) नाना प्रकार से हृदय को तड़पाता है । उस काम के हृदय में पीड़ा पहुंचाने वाले संकल्प-मय बाण से हे प्रियतम ! प्रेम पात्र व्यक्ति में (त्वा हृदि विध्यामि) तेरे हृदय में प्रहार करूं ।

शुचा विद्धा व्यो/षया शुष्कांस्याभि सर्प मा ।
मृदुर्निमन्युः केवली प्रियवादिन्यनुंव्रता ॥ ४ ॥

भा०—इस प्रकार परस्पर प्रेम भाव बंध जाने पर प्रथम वर अपनी पतिंवरा कन्या के प्रति यह भाव प्रकट करे कि हे प्रियतमे ! तू (व्योपया) नाना प्रकार से या विशेष रूप से दहन करने या तपाने वाले (शुचा) शोक से (विद्धा) संतापित, पीड़ित होकर (शुष्क-आस्या) विरह वेदना में अन्न और जल छोड़ देने के कारण सूखे कण्ठ वाली होकर भी (केवली) एक मात्र तू ही (प्रिय-वादिनी) प्रिय वचनों को बोलती हुई सुमधुर-भाषिणी और (अनुव्रता) मेरे मनोनुकूल सब गृह कार्य और गृहस्थव्रतों का पालन करती हुई (मृदुः) अति कोमल शरीर वाली, मृद्वङ्गी, शिरीष-कुसुम-कोमलाङ्गी (नि-मन्युः) हार्दिक क्रोध को परित्याग करके (मा अभि सर्प) मेरे समक्ष, मुझे वरने के लिये सभा में उपस्थित हो ।

आजामि त्वाजन्या परि मातुरथो पितुः ।
यथा मम क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ ५ ॥

उत्तरार्ध अथर्व० ६ । ९ । २ ॥ १ । ३४ । २ ॥

भा०—(अजन्या त्वा) कुमारी स्वरूप तुझ अपनी प्रियतमा के संग मैं (मातुः परि आ) तुम्हारी माता के समक्ष (अथो पितुः आजामि) और पिता के समक्ष विवाहित होने के निमित्त आऊं (यथा) जिससे तू (मम क्रतौ असः) मेरे संकल्प और गृहस्थ कार्य में सहायक हो और मेरे संकल्प के अनुसार रहे और (मम चितम् उपायसि) मेरे चित्त को प्राप्त हो ।

व्य/स्यै मित्रावरुणौ हृदश्चित्तान्यस्यतम् ।
अथैनामक्रतुं कृत्वा ममैव कृणुतं वशे ॥ ६ ॥

भा०—कन्या के माता पिता से वर की प्रार्थना । हे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण ! शोडष वर्ष तक संतान के प्राप्त हो जाने पर पुत्र के प्रति मित्र भाव से रहने वाले कन्या के पिता ! और हे सब में श्रेष्ठ रूप माता ! (अस्यै) इस कन्या के (हृदः) हृदय में से (चित्तानि) औरों के चित्तों को (वि अस्यतम्) विशेष रूप से दूर कर दो । अर्थात् अन्य सब प्रस्तुत वरों के प्रति उठे इसके विविध विचारों को दूर कर दो । और (एनाम्) इसको (अक्रतुम्) अन्य सब संकल्पों से रहित, निश्चिन्त (कृत्वा) करके (मम एव वशे) मेरे ही वश में (कृणुतम्) कर दो ।

इति पञ्चमोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि पञ्च, ऋचश्च पञ्चत्रिंशत् ।]

[२६] प्रबल शक्तिधारी देव के छः रूप ।

अथर्वा ऋषिः । रुद्रः अग्न्यादयोवा बहवो देवताः । १–६ पञ्चपदा विपरीतपादलक्ष्मा त्रिष्टुप, १ त्रिष्टुप् , २, ५, ६ जगती, ३, ४ भुरिग् । षड्चं सूक्तम् ॥

ये॒ऽस्यां स्थ प्राच्यां॑ दि॒शि हे॒तयो॒ नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ वो अ॒ग्निरिष॑वः । ते नो॑ मृडत॒ ते नोऽधि॑ ब्रूत॒ तेभ्यो॑ वो॒ नम॒स्तेभ्यो॑ वः॒ स्वाहा॑ ॥१॥

भा०—इस सूक्त में ६ प्रकार के प्रबल शक्तिधारी देवों का प्रतिपादन करते हैं । हे (देवाः) विद्वान् लोगो ! आप लोगों में से (ये) जो (अस्यां) इस (प्राच्यां) सन्मुख वाली मुख्य दिशा में आप (हेतयः नाम स्थ) उपद्रवकारी लोगों को शान्त करने हारे होने के कारण 'हेति' नाम वाले हो (तेषां वः) उनमें से आप लोगों का (अग्निः इषवः) अग्नि के समान ज्ञान नाशक एवं पापी पुरुषों को भस्म कर देने हारा ज्ञान मय इषु अस्त्र है (ते) वे आप लोग (नः मृडत) हमें सुखी रखें । (ते नः अधि ब्रूत) वे आप हम लोगों को उपदेश करें । (तेभ्यो वः नमः) उन आपके लिये हमारा सदा सादर नमस्कार है । (तेभ्यो वः स्वाहा) आप के लिये हमारी सदा शुभागमन की शुभवाणियां हैं ।

ये॒ऽस्यां स्थ दक्षि॑णायां दि॒श्य॑वि॒ष्यवो॒ नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ वः॒ काम॒ इष॑वः । ते नो॑० ॥ २ ॥

भा०—(ये देवाः) जो देव विद्वान्गण (अस्याम् दक्षिणायाम् दिशि) इस दक्षिण=बलसाध्य कार्य की दिशा में आप लोग हैं वे (अविष्यवः) समस्त संसार की रक्षा करने की इच्छा वाले हैं । इस लिये आपका नाम

[२६] १–(प्र०) 'रक्षः पेऽस्यां' इति प्रतिस्मन् इति पैप्प० सं० ।
२–(द्वि०) 'अवस्यवो' इति सायणः ।

'अविष्यु' या 'अवस्यु' है (तेषां वः काम इषवः) उन आप लोगों का (कामः) प्रबल संकल्प ही इषु=बाण है । (तेनो अवन्तु०) वे आप हमें सुखी करें, हमें उपदेश करें, आपको हमारा सादर नमस्कार और स्वागत है ।

ये॒३॑ऽस्यां स्थ प्रतीच्यां दिशि वैराजा नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ व॒ आप॒ इष॑वः । ते नो॑० ॥ ३ ॥

भा०—(अस्याम् प्रतीच्याम्) इस पश्चिम या अपने से पीठ पीछे की दिशा में (ये देवाः) जो देव हैं वे (वैराजाः नाम) 'वैराज' विशेष प्रकार से प्रकाशमान, विद्वान् हैं (तेषां वः आपः इषवः) उन आपकी (आपः) व्यापक प्रजाएं या ये जल, रस ही (इषवः) आघातकारी साधन हैं । वे आप हमें सुखी करें और हमें उपदेश करें, आप को हमारा सादर नमस्कार है और आपका स्वागत है ।

ये॒३॑ऽस्यां स्थोदी॑च्यां दि॒शि प्र॒विध्य॑न्तो॒ नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ वो॒ वात॒ इष॑वः । ते नो॑० ॥ ४ ॥

भा०—और (ये देवाः) जो देव (अस्याम् उदीच्याम् दिशि) इस उत्तर दिशा में वायीं ओर हैं वे (प्रविध्यन्तः नाम) प्रबलता से ताड़ने वाले हैं (तेषां वः) उन आपका (वातः इषवः) वात, प्रचण्ड वायु के झकोरें और प्राण ही बाण हैं । वे आप हमें सुखी करें और हमें उपदेश करें आपका हम आदर करते और स्वागत करते हैं ।

ये॒३॑ऽस्यां स्थ ध्रु॒वायां दिशि निलि॒म्पा नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ व॒ ओष॑धी॒रिष॑वः । ते नो॑० ॥ ५ ॥

३–(द्वि०) 'विराजाः' इति पैप्प० सं० ।

५–'निलिम्पा' इति पैप्प० सं० ।

भा०—और (ये देवाः) जो देव गण (अस्यां ध्रुवायां दिशि) इस ध्रुवा, अविचल पृथिवी की ओर नीचे की तरफ (देवा) देव गण हैं वे (ते निलिम्पा नाम) निलिम्प=चिपटने हारे हैं। वे अपने मूल छोड़ कर पृथिवी के साथ चिपट जाते हैं, (तेषां वः ओषधी इषवः) उन आप लोगों के (ओषधिगण) ही इषु हैं, आप उनसे रोगादि दूर करके हमें सुखी करें, हमें उपदेश करें और आप को हम नमस्कार करते और स्वागत करते हैं।

ये३ऽस्यां स्थोर्ध्वायां दिश्यवस्वन्तो नाम देवास्तेषां वो बृहस्पतिरिषवः।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ ६ ॥

भा०—हे (देवाः) देव गण ! (ये देवाः) तुम जो देवगण (अस्यां ऊर्ध्वायां स्थ) इस ऊर्ध्व दिशा में हो ये (अवस्वन्तः) बड़े भारी पालक हो। आप लोगों के (इषवः) प्रहार साधन भी (बृहस्पतिः) महान् ब्रह्माण्ड का पालक है। वे आप हमारी रक्षा करें। हमें उपदेश करें और हमारा आप को नमस्कार है और आप का हम स्वागत करते हैं। इस सूक्त का रहस्य अगले सूक्त में स्पष्ट करेंगे।



[२७] शक्तिधारी देव के छः रूप।

अथर्वा ऋषिः। रुद्र अग्न्यादयश्च बहवो देवताः। १—६ पञ्चपदा ककुम्मतीगर्भा अष्टिः। २ अत्यष्टिः, ५ भुरिक्। षट्टचं सूक्तम् ॥

प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
यो३ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ १ ॥

६—अन्ते 'इति रक्षामन्त्रम्' इति पैप्प० सं०।

[२७] १—'ऋषिभ्यो नम एभ्यो' अन्ते 'तमु प्राणो जहातु' इति पैप्प० सं०।

भा०—(प्राची दिक्) प्राची दिशा, उस में (अग्निः अधिपतिः) अग्नि अधिपति है । (असितः रक्षिता) असित, रक्षा करने हारा है और उसके (आदित्याः इषवः) आदित्य इषु=वाणों के समान है । (तेभ्यः अधिपतिभ्यः नमः) उन इस और अगले मन्त्र में कहे गये अधिपतियों को नमस्कार हो (रक्षितृभ्योः नमः) उन रक्षा करने वालों को नमस्कार हो (इषुभ्यः नमः) आदित्य आदि वाणों को नमस्कार हो (एभ्योः नमः अस्तु) इन सब को नमस्कार हो । (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हमें द्वेष करता है (यं वयं द्विष्मः) जिसको हम द्वेष करते है (तं वः जम्भे दध्मः) उसको हम आप लोगों के वश में रखते हैं ।

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः ।
तेभ्यो० । ० ॥ २ ॥

भा०—(दक्षिणा दिक्) दक्षिण दिशा का (इन्द्रः अधिपतिः) इन्द्र अधिपति और (तिरश्चिराजी रक्षिता) समस्त तिर्यक्जन्तुओं में विराजमान प्रभु रक्षक है । (पितरः) पालक पितृ गण उसके इषु=वाण रूप हैं । (तेभ्यो नमः इत्यादि पूर्व मन्त्र में देखो)

प्रतीची दिग् वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः ।
तेभ्यो० । ० ॥ ३ ॥

भा०—(प्रतीची दिक्) प्रतीची, पश्चिम दिशा में (वरुणः अधिपतिः) सब पापों से रक्षक, सर्व श्रेष्ठ अधिपति=पालक है (पृदाकू रक्षिता) पृत्= समस्त मनुष्यों में वाणी का सञ्चार करने वाला प्रभु रक्षिता है और (अन्नम् इषवः) अन्न उसके वाण है । तेभ्यो नमः इत्यादि पूर्ववत् ॥

२–'तिरश्चीनराजी रक्षिता' इति मै० सं० । 'वसव इषवः' इति पैप्प० सं० ।
३–'सोमोऽधिपति' इति तै० सं०, मै० सं० ।

उदी॑ची दिक् सोमोऽधि॑पतिः स्व॒जो र॑क्षि॒ताशनि॒रिष॑वः ।
तेभ्यो॒० । ० ॥ ४ ॥

भा०—(उदीची दिक्) उदीची=उत्तर की दिशा में (सोमोऽधिपतिः) सोम सब का प्रेरक और (उत्पादक) प्रभु अधिपति है (स्वजः) स्वतः उत्पन्न, स्वयंभू, परमात्मा (रक्षिता) रक्षक है और (अशनिः इषवः) अशनि वज्र ही उसके बाण हैं (तेभ्यो नमः०) इत्यादि पूर्ववत् ॥

ध्रु॒वा दिग् विष्णु॒रधि॑पतिः क॒ल्माष॑ग्रीवो र॑क्षि॒ता वी॒रुध॒ इष॑वः ।
तेभ्यो॒० । ० ॥ ५ ॥

भा०—(ध्रुवा दिक्) ध्रुवा, नीचे की, पृथ्वीतल की दिशा में (विष्णु) अधिपतिः) व्यापक प्रभु अधिपति है और (कल्माशग्रीवः) हरे लाल नाना रंगों से सुशोभित वृक्ष लता आदि से चित्रित वनस्पति संसार जिस के ग्रीवा के समान हैं ऐसा प्रभु रक्षक है और (वीरुधः इषवः) लताएं उस के बाण हैं (तेभ्यो नमः०) इत्यादि पूर्ववत् ।

ऊ॒र्ध्वा दिग् बृह॒स्पति॒रधि॑पतिः श्वि॒त्रो र॑क्षि॒ता व॒र्षमिष॑वः ।
तेभ्यो॒ नमोऽधि॑पतिभ्यो॒ नमो॑ रक्षि॒तृभ्यो॒ नम॒ इषु॑भ्यो॒ नम॑ एभ्यो अस्तु ।
यो॒३ऽस्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मस्तं वो॒ जम्भे॑ दध्मः ॥ ६ ॥

भा०—(ऊर्ध्वा दिक्) ऊर्ध्व, ऊपर, द्यौ लोक की दिशा में (बृहस्पतिः अधिपतिः) बृहत्-ब्रह्माण्ड एवं वेदवाणि का स्वामी अधिपति-स्वामी है

४—'वरुणोऽधिपतिः', तै० सं०, मै० सं० ।
५—'कुल्माषग्रीवो' इति पैप्प० सं० । 'यमोऽधिपतिः' इति तै० सं० ।
६—'अशनिरिषवः' इति पैप्प० सं० । 'चित्रो रक्षिता' इति क्वचित् । 'बृहती-दिक्' इति तै० सं० ।

(श्वित्रः रक्षिता) प्रकाशस्वरूप प्रभु, रक्षक है और (वर्षम् इषवः) वर्षाएं उसके बाण हैं । तेभ्यो नमः० इत्यादि पूर्ववत् ।

दिशा	देव	अधिपति	रक्षिता	इषु
प्राची	हेतयः	अग्निः	असितः	अग्निः, आदित्याः
दक्षिणा	अविष्यवः	इन्द्रः	तिरश्चिराजी	कामः, पितरः
प्रतीची	वैराजाः	वरुणः	पृदाकूः	आपः, अन्नम्
उदीची	विध्यन्तः	सोमः	स्वजः	वातः, अशनिः
ध्रुवा	निलिम्पाः	विष्णुः	कल्माषग्रीवाः	ओषधीः, वीरुधः
ऊर्ध्वा	अवस्वन्तः	बृहस्पतिः	श्वित्रः	बृहस्पतिः, वर्षम्

इस नक़्शे पर विचार करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रथम और द्वितीय दोनों सूक्तों की तुलना से प्रथम सूक्त के इषु दूसरे सूक्त के अधिपति हैं । और दूसरे सूक्त के इषुओं के गुण और कर्म प्रथम सूक्त के 'देव' हैं । 'रक्षिता' अधिपति का स्वरूप है । जैसे (१) प्राची दिशा का अधिपति अग्नि=सूर्य है उसका स्वरूप असित=बन्धन रहित है, उसके किरणों की गति कहीं सीमित नहीं है । इसके बाण अर्थात् वह शक्ति जिससे वह सब का स्वामी है 'आदित्य' अर्थात् स्वतः किरणों का पुन्ज सूर्य और उसकी किरण हैं । वे किरण ही उस प्रभु की इषु=वह शक्ति है जिससे वह जीवन के विघातक रोग और अन्धकार का नाशक है । उन इषुओं का गुणवाचक

और क्रियाप्रदर्शक नाम 'हेति' हैं। अर्थात् रोगजन्तु के नाशक और दूरगामी हैं। वे सूर्य से मानो फेंके जाते हैं। (२) दूसरी दिशा दक्षिण में 'पितर' इषु हैं। जीवों के पिता माता जीवों को उनके घातकों से बचाते हैं उनकी पुत्रेषणा='काम' है। उसका दूसरा रूप 'इन्द्र' है। समस्त कामनाओं का एकमात्र आश्रय आत्मा है। सब तिर्यग् जन्तुओं में रक्षक रूप होकर, सर्वत्र माता पिता बन कर वह सब जीव जन्तुओं की रक्षा कर रहा है। उनका कर्म है 'अविष्यु' अर्थात् बचा लेने की इच्छा ही उनका विशेष गुण है। (३) तीसरी दिशा प्रतीची के इषु=अर्थात् जीवों को मृत्यु से बचाने वाले साधन 'अन्न' और 'आपः' हैं। अन्नों का अधिपति मूलपालक वरुण है जो स्वतः जल है। 'वैराजाः' अर्थात् अन्न से उत्पन्न प्राण उस दिशा के देव हैं। समस्त प्राणी उसकी पुकार करते हैं 'अन्न, अन्न' इसलिये अन्नदाता 'पृदाकू' है। (४) उत्तर दिशा में 'अशनि'=विद्युत् ही इषु हैं। सोम=प्रेरक या उसका उत्पादक सोम=वात अधिपति है। क्योंकि वायु की रगड़ से या देह में प्राणबल (Metobolism) से विद्युत् शक्ति या (Personal Magnatism) उत्पन्न होता है। उसका गुण है प्रवेध-प्रबल आघात करना। उसका स्वरूप है 'स्वजः' स्वयं गति करना और आप से आप बहना या उत्पन्न होना। (५) 'ध्रुवा' नीची पृथ्वी की दिशा में ओषधियां, लताएं ही जीव को मृत्यु से बचाती हैं, वे इषु हैं। वे पृथ्वी में सर्वत्र व्यापक होने से विष्णु उनका अधिपति है, नाना वर्ण के पुष्प पत्रादि होने से 'कल्माषग्रीव' उनका रक्षक है, उनके लेपन आदि करने से भूतलवासी सर्प आदि विषैले जन्तुओं का नाश होता है अतः उसके देव वैद्य 'निलिम्प' हैं, या यह गुण स्वतः देव हैं। (६) ऊर्ध्वा दिशा में वहां से आने वाले वर्षा-जल मृत्यु से बचाने वाले इषु हैं। बृहस्पति=मेघ अधिपति है। श्वित्र=सूर्य रक्षक है। जीवों के प्राणों की रक्षा करना ये दिव्य गुण हैं। इत्यादि विचारों की योजना करना उचित है इति दिक्।



[२८] 'यमिनी' राजसभा और गृहणी के कर्तव्यों का उपदेश ।

पशुपोषणकामो ब्रह्मा ऋषिः । यमिनी देवता । १ अतिशाक्करगर्भा चतुष्पदा अति-जगती, ४ यवमध्या विराट्-ककुप्, ५ त्रिष्टुप्, ६ विराड्गर्भाप्रस्तारपंक्तिः । २, ३ अनुष्टुभौ । षड्टचं सूक्तम् ॥

एकैकयैषा सृष्ट्या संबंभूव यत्र गा असृजन्त भूतकृतो विश्वरूपाः । यत्र विजायते यमिन्यपुर्तुः सा पशून् क्षिणाति रिफती रुशती ॥१॥

भा०—(एकैकया) एक एक ही (सृष्ट्या) सृष्टि=सर्जन व्यवस्था रचना के नियम (Organisation) से (एषा) यह जगत् की रचना (संबभूव) एकत्र होकर बनी है । यत्र जिसमें (भूतकृतः) प्राणियों को उत्पन्न करने वाली (विश्वरूपाः) नाना प्रकार की (गाः) गतियां, आश्रयरूप भूमियां, शक्तियां (असृजन्त) बनी हैं । (यत्र) और जहां (यमिनीः) वह नियमकारिणी अथवा नियामक परमेश्वरी शक्ति, तत्स्थानीय राजशक्ति (अपर्तुः) बिना नियत ऋतु अर्थात् उचित काल के (विजायते) विपरीत, एक दूसरे की विरोधी रूप में होने लगती हैं (सा) वह अव्यवस्था (पशून्) पशुओं को, जीवों को (रिफती) विनाश करती हुई, (रुशती) और मारती हुई, कष्ट देती हुई (क्षिणाति) उनका विध्वंस कर देती है । अथवा जिस प्रकार बिना ऋतु के, बेमौसम (यमिनी) जोड़ा जनने वाली गाय विपरीत नियम से जोड़े बच्चे पैदा करती है वह पशुओं के विनाशसूचक होती है उसी प्रकार एक ही व्यवस्था जीवों को सुख देती, विरुद्ध=विपरीत अनवसर-व्यवस्था जीवों का नाश करती है ।

अथवा—एक परमात्मा से संगत एक प्रकृतिरूप (सृष्टि) सर्जन

---

[२८] १–' रुपती ', ' रुष्यती ' इति ह्विटनिकामितः पाठः । (प्र०) ' एकैकयेषां ', ' सृष्ट्वा ' इति क्वचित् ।

शक्ति='प्रधान' जब (सं बभूव) उचित रीति से व्यक्त रूप में प्रकट हुई तब (विश्वरूपाः) नानारूप धारण करने वाली (भूतकृतः) पञ्च भूतों को पैदा करने वाली (गाः असृजन्त) नाना विकृतियां (असृजन्त) बनीं (यत्र) जब (यमिनी) प्रकृति (अपर्तुः) ऋतु=सत्य ज्ञानस्वरूप ब्रह्म के ज्ञान या सत्यमय स्वभाव से शून्य होकर (विजायते) विपरीत—रजः तमःरूप में विकृत होती है तब (सा) वह (रिफती रुशती) राजस और तामस भावों से गर्भस्थ बालकों का नाश करती हुई (पशून् क्षिणोति) जीवों के विनाश का कारण होती है ।

अथवा—(एकाऽएकया एषा सृष्ट्या सं बभूव) यह समस्त लोक प्रजा वर्ग एक पुरुष, एक नर, इस प्रकार एक के साथ एक सृष्टि=सर्जन शक्ति के संयोग से उत्पन्न हुआ-हुआ । (यत्र) जिस लोक में (विश्वरूपा भूतकृताः गाः असृजन्त) नाना प्रकार की गौएं, भूमियां, योनियां, माताएं, स्त्रियें, जीव गर्भ-धारक क्षेत्र बनाये गये हैं । (सा यमिनी) यदि जोड़ा बनी अपने नरशक्ति से संगत मादा प्रकृति नारी, वह (अपर्तुः) ऋतुकाल के बिना ही (यमिनी) दूसरी उत्पादक नरशक्ति पुरुष से संगत होकर (विजायते) विरुद्ध प्रजा उत्पन्न करे तो (सा) वह स्त्री (रिफती रुशती) हिंसाशील, क्रोधपरायण होकर (पशून क्षिणात्) उन बीजरूप जीवों का नाश करती है ।

एषा पशून्त्सं क्षिणाति क्रव्याद् भूत्वा व्यद्वरी ।
उतैनां ब्रह्मणे दद्यात् तथा स्योना शिवा स्यात् ॥ २ ॥

भा०—(एषा) वह अव्यवस्थापिका सभा, विपरीत जाने हारी शासन-समिति (व्यद्वरी[1]) एक दूसरे को खा जाने वाली होने के कारण (क्रव्याद्) एक दूसरे के शरीर के मांस की लोलुपा (भूत्वा) होकर (पशून्)

१. 'वि-अद्वरी' इति पदपाठः । 'व्यध्वरी' इति सायणः ।

पशुओं का, मूर्ख अनभिज्ञ साधारण प्रजाजनों का (सम् क्षिणोति) खूब परस्पर नाश कराती है । तब क्या उपाय करे (उत) तो फिर (एनां) इस दुर्व्यवस्था की बागडोर (ब्रह्मणे दद्यात्) ब्रह्म=वेद के जानने हारे परम विद्वान् पुरुष, जज्ज, व्यवस्थापक के हाथ में देदे (तथा) तभी वह (स्योना) सुखकारिणी और (शिवा) मंगलजनक (स्यात्) हो जाती है । अथवा—वह तामसी और राजसी प्रकृति एक दूसरे की विनाशिका होने से मनुष्य के शरीर की विनाशक हो जाती है और जीवों को नष्ट करती है इसलिये जीवों को चाहिये कि उस प्रकृति को ब्रह्म—अर्थात् सत्व के अधीन कर दे, जिससे वह भी सुख और कल्याणकारी हो जाय ।

अथवा—यदि वह नारी केवल (व्यद्वरी) भोगप्रिया होकर (क्रव्याद्) कच्चे जीवों का नाशक होकर और बीजभूत जीवों का विनाश करे तो भी उसको (ब्रह्मणे) विद्वान् वैद्य के पास ले जाय जिससे पुनः गृहस्थसुख को देने वाली हो जाय ।

शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा ।
शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि ॥ ३ ॥

भा०—हे यमिनि=राजव्यवस्थापिके ! (पुरुषेभ्यः शिवा भव) तू राष्ट्र के पुरुषों के लिये कल्याणकारी हो और (गोभ्यः अश्वेभ्यः शिवा) गौओं और अश्व आदि पशुओं के लिये भी कल्याणकारी हो । (अस्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा भव) इस समस्त क्षेत्र=राष्ट्र के लिये कल्याण, सुखकारी हो और (नः) हमें (शिवा इह) कल्याण=सुख की देने हारी होकर यहां (एधि) विराजमान रह ।

नारी के पक्ष में भी स्पष्ट है कि वह ऋतुकाल से अतिरिक्त भोग न करके यमिनी=गृहस्थ व्यवस्था में अपने पति से संगत रह कर, गृह के

पुरुषों और पशुओं के लिये सुखकर हो, अपने क्षेत्र के लिये भी सुख-दायिनी हो कर घर में रहे।

इह पुष्टिरिह रस इह सहस्रसातमा भव।
पशून् यमिनि पोषय ॥ ४ ॥

भा०—हे (यमिनि) विवाहिता नारि! अथवा हे व्यवस्थापिकासभे! (इह) इस गृह और क्षेत्र में (पुष्टिः) पोषदायक पदार्थों से परिपोषण हो, (इह रसः) यहां जल और रसदायक पदार्थों की वृद्धि हो और तू (इह सहस्रसातमा भव) यहां सहस्रों प्रकार के पदार्थों को देने वाली हो। (पशून् पोषय) तू राष्ट्र-पशुओं और अनभिज्ञ प्रजाजनों को पुष्ट कर इसी प्रकार गृहिणी पशुओं को और बालक जीवों को पुष्ट करे।

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः।
तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव सा नो मा हिंसीत् पुरुषान् पशूंश्च ॥५॥

पूर्वार्धः अथर्व० ६ । १२० । ३ ॥

भा०—हे (यमिनि) विवाहित नारी अथवा नियमव्यवस्था या ब्रह्मचर्य व्रत की पालिके! (यत्र) जहां (सुहार्दः) उत्तम हृदय वाले (सुकृतः) पुण्यात्मा सदाचारी लोग (स्वायाः तन्वः) अपने शरीर के (रोगं) रोग को (विहाय) परित्याग करके सदा नीरोग होकर (मदन्ति) आनन्द प्रसन्न रहते हैं हे (यमिनि) ब्रह्मचारिणि! (तं लोकं) तू उस लोक= देश में जाकर (अभि संबभूव) अपना गृहस्थ बनाकर रह। वह (नः) हमारे (पुरुषान् पशून् च) पुरुषों और पशुओं को (मा हिंसीत्) विनाश न करे। अर्थात् वह दुराचारिणी होकर कलह का कारण न हो।

व्यवस्थापिका सभा के पक्ष में—जहां उत्तम चित्तवाले, पुण्यात्मा, नीरोग शरीर से प्रसन्न रहते हैं वहां वह समिति अपनी उत्तम व्यवस्था करती है। वहां वह पुरुषों और पशुओं को नाश नहीं होने देती।

यत्रा सुहार्दा सुकृतामग्निहोत्रहुतां यत्र लोकः ।
तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव सा नो मा हिंसीत् पुरुषान् पशूंश्च ॥६॥

भा०—हे (यमिनि) ब्रह्मचारिणि ! (यत्र) जिस देश में (सुहार्दां) उत्तम चित्त वाले (सुकृतां) पुण्याचारी, सदाचारी, (अग्निहोत्रहुतां) नित्य यज्ञ हवन का सम्पादन करने वाले पुरुषों का (लोकः) निवास है। (तं लोकं) उस लोक में (अभि संबभूव) तू जाकर विवाहित हो जिससे बुरे लोकों की संगति में पड़कर तू (नः) हमारे (पुरुषान् पशून् च मा-हिंसीत्) पुरुषों और पशुओं को कलह और लोभ के कारण नाश न करे पूर्वोक्त प्रकार से व्यवस्थापिका राजसभा के पक्ष में भी लगा लेना।



[२६] राजसभा के सदस्यों के कर्तव्य।

उद्दालक ऋषिः। शितिपादोऽविर्देवता। ७ कामो देवता। ८ भूमिर्देवता। १, ३ पथ्यापंक्तिः, ७ त्र्यवसाना षट्पदा उपरिष्टाद्दैवीबृहती ककुम्मतीगर्भा विराड् जगती, ८ उपरिष्टाद् बृहती। २, ४, ६ अनुष्टुभः। अष्टर्चं सूक्तम् ॥

यद् राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडुशं यमस्यामी सभासदः।
अविस्तस्मात् प्र मुञ्चति दुत्तः शितिपात् स्वधा ॥ १ ॥

भा०—राजसभा के सभासदों के कर्तव्यों का उपदेश करते हैं—(यमस्य) सब राष्ट्र के नियामक राजा के (अमी) ये (सभासदः) सभा में विराजमान शिष्टों के परिपालन और दुष्टों के दमन में नियुक्त (राजानः) राजा लोग (इष्टापूर्तस्य) परस्पर की संगति से होने वाले नाना शिल्पकार्यों, देवोपासनाओं और यज्ञों के आपूर्त=कूप, आराम,

[२६] १–(तृ०) 'मुञ्चतु' इति सायणः।

तडाग, सेतु आदि लोकोपकारक कार्यों के फल के (षोडश) सोलहवें हिस्से को (यद्) जब (विभजन्तः) विभाग करके स्वयं ले लेते हैं। (तस्मात्) इस कारण से (अविः) राजा, सूर्य के समान (शितिपात्) श्वेतचरण, श्वेताश्व या शुक्लस्वरूप, उज्ज्वल रूप तीक्ष्णप्रकृति सेना का पालक होकर (स्वधा) स्वयं राष्ट्र का पालन करता हुआ (दत्तः) उचित रूप से करादि प्राप्त करके (प्रमुञ्चति) राष्ट्र को अन्य बन्धनों से मुक्त कर देता है।

अध्यात्म पक्ष में—यम के सभासद् इस तपस्वी शरीर के भीतर व्यापक प्राण इस शरीर के इष्टापूर्त की सोलहों कला का विभाग किये बैठे हैं। जो इस शरीर का आत्मा वह (दत्तः) स्वयं इनका बल प्राप्त कर के उज्ज्वल ज्ञानी होकर स्वयं सब का धारण करने वाला (प्र मुञ्चति) मुक्त हो जाता है।

१६ कलाएं देखो प्रश्नोपनिषद् में—

"इहैवान्तः शरीरे सोम्य स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडश कलाः प्रभवन्ति॥ स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं। मनोऽन्नाद् वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु नाम च॥ एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तंगच्छन्ति। भिद्येते तासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते। स एषोऽकलोऽमृतो भवति। तदेष श्लोकः। अरा इव रथनाभौ कलाः यस्मिन् प्रतिष्ठिताः। तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथाः।" इति (प्रश्न उप० प्र० ६)

इसी शरीर में सोलह कलाएं हैं—प्राण, श्रद्धा, खं, वायु, ज्योति, आपः, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम, ये सब उस परिद्रष्टा आत्मा की सोलह कलाएं उसके आश्रय पर हैं। उसी में लीन हो जाती हैं वह मुक्त हो जाता है और बाद को मृत्यु नहीं सताती।

सर्वान् कामान् पूरयत्याभवन् प्रभवन् भवन् ।
आकूतिप्रोविर्दत्तः शितिपान्नोप दस्यति ॥ २ ॥

भा०—राजपक्ष में—(शितिपाद्) तीक्ष्ण सेना का पालन करने वाला राजा, (अविः) राष्ट्र का पालक (दत्तः) करादि प्राप्त करके (सर्वान् कामान् पूरयति) राष्ट्र की सब अभिलाषाओं, आवश्यकताओं को पूर्ण कर देता है (आभवन्) सब प्रकार से सामर्थ्यवान् (प्रभवन्) प्रभुता सम्पन्न (भवन्) हो कर भी (आकूतिप्रः) प्रजा के समस्त शुभ संकल्पों को पूर्ण करने वाला होकर (न उपदस्यति) राष्ट्र का विनाश नहीं करता ।

अध्यात्म पक्ष में—अवि यह आत्मा शितिपाद् ज्ञान या प्रकाश का पालक होकर (दत्तः) ब्रह्म में अर्पित होकर, सर्वाप्तकाम, सर्वसामर्थ्य होकर सर्वकामनाओं को पूर्ण करके फिर विनाश को प्राप्त नहीं होता । इह चेद-वदीदथ सत्यमस्ति न चेहावेदीन् महती विनष्टिः । उपनि० ।

यो ददाति शितिपादमविं लोकेन संमितम् ।
स नाकमभ्यारोहति यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे ॥३॥

भा०—(यः) जो (शितिपादं) ज्ञान स्वरूप (लोकेन संमितं) इहलोक और परलोक या लोक—योनिरूप में समान रूप से जाने गये (अविं) आत्मा को (ददाति) परब्रह्म में अर्पित कर देता है (स नाकम् अभि-आरोहति) वह उस मोक्षाख्य स्वर्ग—सुखमय लोक को प्राप्त होता है (यत्र) जहां (अबलेन) निर्बल, बलहीन पुरुष (बलीयसे) बलवान् पुरुष को (शुल्को न क्रियते) शुल्क, कर नहीं देता । राजपक्ष में जो शितिपाद्-तीक्ष्ण सेना पालक राष्ट्र के समान माननीय राजा को समस्त राष्ट्रभार सौंप देता है वह प्रजाजन स्वर्ग के समान राज्यसुख का भोग करता है जिस से बलवान् निर्बलों पर अन्यायपूर्वक कोई कर नहीं ले सकते ।

दुःखेन यन्न संभिन्नं नच ग्रस्तमनन्तरम् ।
अभिलाषोपनीतं च सुखं स्वर्गपदास्पदम् । स्फुटम् ॥

दुःख से मिला न हो और बाद में भी कष्ट न हो और इच्छानुसार सुख हो, वही स्वर्ग है ।

पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम् ।
प्रदातोप जीवति पितॄणां लोकेऽक्षितम् ॥ ४ ॥

भा०—(पञ्च अपूपम्) पांच अपूप. मालपूओं पांच विषय भोगों से युक्त, भोक्ता (शितिपादम्) ज्ञानस्वरूप चेतन (अविं) अपने अंगों के रक्षक. लोक से लोकान्तर में गति करने वाले, (लोकसंमितम्) लोक के समान जाने गये उस आत्मा को (प्रदाता) परब्रह्म में समर्पित करने हारा (पितृणाम् लोके) पितरों के प्राजापत्य लोक, दक्षिणायन मार्ग में भी (अक्षितम्) अक्षय (जीवति) जीवन का भोग करता है ।

राजपक्ष में जो प्रजाजन ऐसे राष्ट्रपति को राष्ट्र की रक्षा के लिये नियुक्त कर देता है वह अन्य शासकों के रहते हुए भी नहीं होता ।

पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम् ।
प्रदातोप जीवति सूर्यामासयोरक्षितम् ॥ ५ ॥

भा०—(लोकेन संमितम्) 'लोक' के समान जाना गया (शितिपादम् अविं) ज्ञानवान्, चेतनावान् (पञ्च-अपूपम्) पांचों ज्ञानों के कर्त्ता आत्मा को जो परमेश्वर में (प्रदाता) समर्पित करता है वह (सूर्या मासयोः) सूर्य और चन्द्रमा दोनों लोकों में (अक्षितम् जीवति) अक्षय जीवन प्राप्त करता है।

इरेव नोप दस्यति समुद्रइव पयो महत् ।
देवौ सवासिनाविव शितिपान्नोप दस्यति ॥ ६ ॥

५–(च०) 'सूर्यमासयोरिति' प्रामादिकः पाठः ।

भा०—(इरा इव न उपदस्यति) जिस प्रकार अन्न समस्त प्राणियों से भोग किया जाकर भी नहीं समाप्त होता उसी प्रकार वह आत्मा भी नष्ट या समाप्त नहीं हो (समुद्र इव महत् पयः) और जिस प्रकार समुद्र अथाह होता है और उस में बड़ा भारी जल का भण्डार है उसी प्रकार वह आत्मा भी समुद्र के समान सब वृत्तियों का आश्रय और ज्ञानरस का भण्डार हो जाता है। (सवासिनौ) समान रूप से आत्मा के साथ सदा वर्त्तमान (देवौ इव) दोनों देव सूर्य चन्द्र के समान या द्यौ पृथिवी के समान प्राण और अपान जैसे कभी नष्ट नहीं होते उसी प्रकार यह (शितिपाद्) चेतन आत्मा भी (न उपदस्यति) कभी विनाश को प्राप्त नहीं होता।

क इदं कस्मा अदात् कामः कामायादात्।
कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामः समुद्रमा विवेश।
कामेन त्वा प्रति गृह्णामि कामैतत् ते ॥ ७ ॥

यजु० ७ । ४८ ॥

भा०—पूर्व मन्त्रों में 'शितिपाद्' का वर्णन किया है। इसमें इस का निर्णय करते हैं कौन किस को क्या देता है। (कः इदं कस्मै अदात्) कौन इस 'अवि' आत्मा को किस के प्रति समर्पित करता है। पूर्वोक्त मन्त्रों में इसका निर्णय नहीं किया उसका रहस्य भी बतलाते हैं। (कामः अदात्) काम—कामना करने हारे जीव ने अपने आत्मा को (कामाय अदात्) सब के अभिलाषा करने योग्य, कमनीय पर ब्रह्म के प्रति अर्पित किया। (कामः दाता कामः प्रति-गृहीता) काम ही दान करता है—काम ही प्रतिग्रह स्वीकार करने वाला है। अर्थात् (कामः) काम=कमना करने

७–'काम समुद्रमाविश' इति तै० आ०। को अदात् कस्मा अदात्। कामोदात् कामायादात्। 'कामो दाता कामः प्रतिगृहीता कामैतत्ते' इति यजु०।

वाला जीव स्वयं (समुद्रं) उस महान् रस के सागर में (आविवेश) प्रवेश करता है । इसलिये हे जीव ! (त्वा) तुझ को मैं परमात्मा (कामेन) तेरे काम-अभिलाषा से ही तुझको (प्रति गृह्णामि) स्वयं अपने में आश्रय देता हूं (एतत् ते काम) हे काम ! यह तेरा स्वरूप काम=कामनामय ही है । अर्थात् जिस कामना में जीव रहता है वही लोक उसे प्राप्त होता है । इसलिये आत्मा को कामनावश ही (लोकेन संमितः) लोक के समान कहा है ।

इसी परस्पर-अभिलाषा में मग्न स्त्री पुरुष भी परस्पर एक दूसरे को समर्पण करते हुए कहते हैं ।

प्र०—(कः इदं कस्मै अदात्) किसने यह किसको सौंपा ?

उत्तर—(कामः कामाय अदात्) काम=परस्पर की अभिलाषा ने उस अभिलाषा के निमित्त एक दूसरे को सौंप दिया । अर्थात् (कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता) सौंपने वाला भी अभिलाषुक है और लेने वाला भी उसी प्रकार का इच्छुक है । लेने वाला मैं पति (कामेन त्वा-प्रतिगृह्णामि) अभिलाषा से प्रेरित होकर ही तुझ को स्वीकार करता हूं हे (काम) हे काम ! अभिलाषुक (ते एतत्) यही तेरी अभिलाषा पूर्ण हो ।

भूमिष्ट्वा प्रति गृह्णात्वन्तरिक्षमिदं महत् ।
माहं प्राणेन मात्मना मा प्रजया प्रतिगृह्य वि राधिषि ॥ ८ ॥

भा०—दान ग्रहण करने वाला ग्रहण करते हुये सदा विचार करे कि (त्वा भूमिः प्रतिगृह्णातु) हे समर्पित द्रव्य ! तुझे यह भूमि स्वीकार करे और (इदं महत् अन्तरिक्षं) यह बड़ा भारी अन्तरिक्ष भी आश्रय दे । (अहं) मैं समर्पक (प्राणेन मा) प्राण से कोई अपराध न करूं (मा आत्मना) आत्मा, चित्त और देह से कोई अपराध न करूं और (प्रति-गृह्य) स्वीकार करके (प्रजया) अपनी प्रजा से भी (मा विराधिषि) कभी अपराध न करूं ।

[३०] परस्पर मिलकर एक चित्त होकर रहने का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । चन्द्रमाः सामनस्यञ्च देवता । १–४ अनुष्टुभः । ५ विराड्जगती, ६ प्रस्तार पंक्तिः, ७ त्रिष्टुप् । सप्तर्च सूक्तम् ॥

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ १ ॥

भा०—मिल कर एकचित्त होकर परस्पर प्रेम से रहने का उपदेश करते हैं । मैं न्यायाधीश प्रभु (वः) तुम सब प्रजाओं को जो आपस में विवाद करती हैं (सहृदयं) समान हृदय और (सांमनस्यं) समान रूप से उत्तम चित्त वाला (अविद्वेषं) विना द्वेषभाव के रहने का (कृणोमि) उपदेश करता हूं । हे प्रजागण ! (जातं वत्सं अघ्न्या इव) जिस प्रकार उत्पन्न हुए बच्छे के प्रति प्रेम से खिंचकर गाय दौड़ी हुई आती है उस प्रकार (अन्यः अन्यम् अभि हर्यत) एक दूसरे के पास मिलने के लिये प्रेम से खिंचकर जाओ ।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ॥ २ ॥

भा०—(पुत्रः) पुत्र (पितुः) पिता का (अनुव्रतः) आज्ञाकारी हो और (मात्रा) माता के साथ (सं-मनाः) अनुकूल और सद्-हृदय वाला (भवतु) रहे । और (जाया) स्त्री अपने (पत्ये) पति के लिये सदा (मधु-मतीम्) मधुर (शन्तिवाम् वाचम्) शान्तियुक्त, सुखप्रद, कल्याण वाणी को (वदतु) बोले ।

---

[३०] १–' सांमनुष्य '-मिति सायणाः (च०). ' अघ्न्याः ' इति सायणः ।
२–(द्वि०) ' माता भवतु ' इति सायणः ।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ ३ ॥

भा०—(भ्राता भ्रातरं मा द्विक्षत्) भाई भाई से द्वेष न करे (उत) और (स्वसा स्वसारम् मा) बहिन अपनी बहिन से द्वेष न करे । हे प्रजाजनो ! सब (सम्यञ्चः) एकत्र होकर (स व्रताः) एक दूसरे के अनुकूल एकचित्त और एक ही उद्देश्य में होकर (भद्रया) कल्याण और सुखप्रद वाणी से (वाचं वदत) एक दूसरे की वाणी का उत्तर दो ।

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः ।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥ ४ ॥

भा०—(येन) जिस वेद-ज्ञान को प्राप्त करके (देवाः) देवगण, विद्वान् लोग (न वि-यन्ति) एक दूसरे का विरोध नहीं करते और (मिथः नो च विद्वेषते) परस्पर भी द्वेष नहीं करते (पुरुषेभ्यः) समस्त पुरुषों को (सं-ज्ञानं) उत्तम ज्ञान प्राप्त कराने वाले (तत्) उस (ब्रह्म) ब्रह्म=वेदविज्ञान के उपदेश को (वः गृहे) आप लोगों के घर में (कृण्मः) करते हैं ।

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः ।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि ॥ ५ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! आप लोग (ज्यायस्वन्तः) एक दूसरे से बड़े, और श्रेष्ठ गुण सम्पन्न होकर भी (चित्तिनः) समानचित्त होकर (संराधयन्तः) समान कार्य का साधन करते हुए (सधुराः) एक ही प्रकार से

३–भ्रातरं द्विष्यात् (च०) 'वदतु' इति सायणाः ।
५–(द्वि०) 'सुधीराश्च-' इति पैप्प० सं० । (च०) 'समग्रास्थ सभ्र-' पैप्प० सं० । (तृ०) 'एत' इति सायणः ।

भार उठाते हुए अथवा समान रूप से एक ही धुरा=केन्द्र में बद्ध होकर विचरण करते हुए (मा वियौष्ट) कभी एक दूसरे से जुदा मत होओ। और (अन्यः अन्यस्मै) एक दूसरे के प्रति (वल्गु वदन्तः) मनोहर वचनों का प्रयोग करते हुए (एत) एक दूसरे से मिलो और आओ (सध्रीचीनः) समान रूप से एक ही स्थान पर एकत्र हुए (वः) तुम लोगों को मैं (संमनसः) एक ही चित्त और मन वाला (कृणोमि) बनाता हूं। अर्थात् वैसा होने का उपदेश करता हूं।

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ ६ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (समानी प्रपा[1]) आप लोगों की एक ही पानीय-शाला हो जहां से सब समान रूप से जल पी सकें। (वः सह अन्न-भागः[2]) तुम लोगों का परस्पर प्रेम से एक साथ ही अन्न का भोजन हो इसी कारण (वः) तुम लोगों को मैं (समाने योक्त्रे) एक ही बन्धन में (युनज्मि) बांधता हूं, जोड़ता हूं। और (सम्यञ्चः) उत्तम रीति से एक फल को प्राप्त करने की अभिलाषा से एकत्र होकर ही (नाभिम् इव अभितः अरा) नाभि के चारों ओर अरों के समान (अग्निं) ज्ञान स्वरूप परमेश्वर और विद्वान् गुरु और यज्ञाग्नि होम की (सपर्यत) उपासना करो।

सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥ ७ ॥

भा०—(सध्रीचीनान्) एक कार्य में उद्योग करने वाले एवं एक

१. समानी एका प्रपा पानीयशाला, इति सायणः।

२. परम्परानुरागवशेन एकत्रावस्थितमन्नपानादिकं युष्माभिरुपभुज्यतामित्यर्थः। इति सायणः।

७–' सध्रीचो वः ' इति लैन्मनूकामितः पाठः।

स्थान पर एकत्र होने वाले (वः सर्वान्) आप सब लोगों को (संवननेन) एक दूसरे के प्रति प्रेम उत्पन्न करके और आप लोगों को समान द्रव्यभाग देकर (एकश्नुष्टीन्) एक जैसे भोजन करने और (संमनसः) समान चित्त वाला होने का (कृणोमि) उपदेश करता हूं। आप सब लोग (अमृतं) अमृत=सत्य आत्मा की (रक्षमाणाः) रक्षा करते हुए (देवा-इव) इन इन्द्रिय गणों के समान रहो और (वः) आप लोगों का (सायं-प्रातः) सायंकाल और प्रातःकाल दोनों समय (सौमनसः) उत्तमहृदय परस्पर आदर प्रेम युक्त चित्त (अस्तु) रहे।



[३१] पाप से मुक्त होने का उपाय।

ब्रह्मा ऋषिः । पाप्महा देवता । १–३, ६–११ अनुष्टुभः, ४ भुरिग् , ५ विराट् प्रस्तार पंक्तिः । एकादशर्चं सूक्तम् ॥

वि देवा जरसावृतन् वि त्वमग्ने अरात्या।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ १ ॥

भा०—हे (देवाः) इन्द्रियगणो ! और विद्वान् पुरुषो ! (जरसा वि अवृतन्) शरीर की आयु का नाश करने वाले बुढ़ापे से दूर रहो, हे (अग्ने) विद्वन् या परमेश्वर ! (त्वम्) तू (अरात्या) कंजूस शत्रु से (वि) हमें दूर रख, (अहम्) और मैं (सर्वेण पाप्मना) सब प्रकार के पाप=मानसिक बुराइयों से (वि...) स्वयं दूर हूं और हे शिष्य तुझे भी दूर रखूं। (यक्ष्मेण वि) रोग से भी तुझे दूर रखूं और स्वयं भी दूर रहूं। और (आयुषा सम्) तुझे आयु से संयुक्त करूं, तेरी आयुवृद्धि करूं और स्वयं भी आयु से सम्पन्न होऊं।

[३१] १–' जरसासृतन् ' इति प्रामादिकः क्वचित्।

व्यार्त्या पर्वमानो वि शक्रः पापकृत्यया ।
व्य१हं० ॥ २ ॥

भा०—(पवमानः) सब को पवित्र करने वाला सूर्य और उसके समान परमात्मा और वायु (आर्त्या वि) सब प्रकार की पीड़ा से दूर रखे। और (शक्रः) शक्तिमान् परमात्मा (पापकृत्यया वि) सब पापकर्म, बुरे आचरणों से (वि) परे रखे । (अहं सर्वेण पाप्मना वि०) इत्यादि पूर्ववत् ।

वि ग्राम्याः पशव आरण्यैर्व्या/पस्तृष्णयासरन् ।
व्य१हं० ॥ ३ ॥

भा०—(ग्राम्याः पशवः) ग्राम में रहने वाले गौ भैंस आदि पशु जिस प्रकार (आरण्यैः) जंगल के निवासी व्याघ्र सिंह आदि से भयभीत होकर (वि असरन्) परे भागते हैं और जिस प्रकार (तृष्णया) प्यास से (आपः) जल परे रहते हैं । उसी प्रकार (अहं) मैं (सर्वेण पाप्मना वि) सब पापों से परे रहूं । (यक्ष्मणा वि) और मैं सब रोगों से मुक्त और (आयुषा सम्) आयु से सम्पन्न रहूं ।

वी३मे द्यावापृथिवी इतो वि पन्थानो दिशंदिशम् ।
व्य१हं ॥ ४ ॥

भा०—जिस प्रकार (इमे द्यावापृथिवी वि इतः) ये दोनों आकाश और पृथिवी पृथक् २ हुए हुए हैं, और जिस प्रकार (पन्थानः) बहुत से मार्ग (दिशं-दिशम् वि यन्ति) भिन्न २ दिशाओं में चले जाते हैं उस प्रकार (अहं सर्वेण पाप्मना वि) मैं स्वयं सब पापों से परे रहूं और (यक्ष्मा वि) सब रोगों से मुक्त और (आयुषा सम्) आयु से सम्पन्न रहूं और हे शिष्य तुझे भी ऐसा ही करूं ।

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्तीतीदं विश्वं भुवनं वि याति।
व्य१हं० ॥ ५ ॥

भा०—जिस प्रकार (त्वष्टा) पिता (दुहित्रे) अपनी कन्या के लिये (वहतुं) विदाई के अवसर पर उसको जामाता के घर भेजने के लिये रथ को (युनक्ति) जोड़ता और उस पर बैठा कर दूर भेज देता है और जिस प्रकार (इदं विश्वं भुवनं) यह समस्त ब्रह्माण्ड (वि याति) एक एक से अलग २ रहता है उसी प्रकार इच्छापूर्वक (अहं सर्वेण पाप्मना, वि यक्ष्मेण वि, आयुषा सम्) मैं स्वयं अपने आपको सब पापों से दूर रखूं, सब रोगों से दूर रखूं और सम्पन्न रहूं।

अग्निः प्राणान्त्सं दधाति चन्द्रः प्राणेन संहितः।
व्य१हं० ॥ ६ ॥

भा०—जिस प्रकार (अग्निः) जाठर अग्नि—अन्न का खाने वाला (प्राणान्) सब शरीर के प्राणों को (सं दधाति) उत्तम रूप से पालन पोषण करता है और (चन्द्रः) अन्न स्वयं (प्राणेन संहितः) प्राण के साथ या मन के साथ मिल कर शरीर को पुष्ट करता है उसी प्रकार (अहं सर्वेण पाप्मना वि, यक्ष्मेण वि, आयुषा सं) सब पापों और रोगों से युक्त रह कर आयु से सम्पन्न होऊं।

प्राणेन विश्वतोवीर्यं देवाः सूर्यं समैरयन्।
व्य१हं० ॥ ७ ॥

भा०—(देवाः) विद्वान् लोग जिस प्रकार (विश्वतः-वीर्यम्) सब प्रकार के वीर्य=सामर्थ्य से युक्त सूर्य को (प्राणेन) प्राणों के साथ (समैरयन्) संगत करते हैं और जिस प्रकार देव=इन्द्रियगण अपने प्राण के साथ सर्व शक्तिमान सब के प्रेरक आत्मा को संगत करके रखते हैं उसी प्रकार हे पुरुषो! तुम भी अपने प्राण के साथ उस सर्व शक्तिमान् प्रभु को मिलाये

रखो। और मैं भी (अहं सर्वेण पाप्मना वि, यक्ष्मेण वि, आयुषा सं) सब पापों और रोगों से परे रह कर आयु से सम्पन्न होऊं।

आयुष्मतामायुष्कृतां प्राणेन जीव मा मृथाः।
व्य१हं० ॥ ८ ॥

भा०—हे जीव ! (आयुष्मताम्) दीर्घ आयु वाले और (आयुष्कृताम्) दीर्घ आयु को बनाने वाले देवों विद्वानों और दिव्य गुण वाले पदार्थों के (प्राणेन) ज्ञान रूप और शक्ति रूप सामर्थ्य से तू (मा मृथाः) मृत्यु का ग्रास मत बन। (वि अहं०) इत्यादि पूर्ववत्।

प्राणेन प्राणतां प्राणेहैव भव मा मृथाः।
व्य१हं० ॥ ९ ॥

भा०—हे जीव ! हे प्राण ! (प्राणतां) प्राण लेने वाले प्राणियों के (प्राणेन) प्राण धारण करने के सामर्थ्य से ही तू भी (प्राण) यहां प्राण ले और (इह एव भव) यहां ही विद्यमान रह और (मा मृथाः) देह त्याग करके मृत्यु का ग्रास मत बन। जिस प्रकार और प्राणी प्राण लेते और रहते हैं उसी प्रकार तू भी जी और उद्योग कर (अहं सर्वेण०) इत्यादि पूर्ववत्।

उदायुषा समायुषोदोषधीनां रसेन।
व्य१हं० ॥ १० ॥

भा०—(आयुषा) दीर्घ आयु से हम (उत् अस्थाम) उन्नत दशा को प्राप्त कर मृत्यु से दूर रहें। (आयुषा सम्) आयु से सम्पन्न होकर इस लोक में विराजमान रहें और यदि रोग आवे तो (ओषधीनां रसेन) ओषधियों के रसों से (उद्) मृत्यु को दबा कर हम बने रहें। (वि अहं सर्वेण पाप्मना०) इत्यादि पूर्ववत्।

१०—'स्वायुषो दो.' इति तै० सं०।

आ पर्जन्यस्य वृष्ट्योदस्थामामृता वयम् ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ११ ॥

भा०—(वयम्) हम (पर्जन्यस्य वृष्ट्या) मेघ की वर्षा से (आ उद् अस्थाम) सब प्रकार से उन्नति को प्राप्त करें और (अमृताः) अमर हो जांय, मृत्यु को प्राप्त न हों (वि अहं० इत्यादि पूर्ववत्) ।

इति षष्ठोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि षट्, चतुश्चात्वारिंशद् ऋचः ।]

इति तृतीयं काण्डं समाप्तम् ।

तत्रानुवाकाः षट् चैकत्रिंशत् सूक्तान्यथो ऋचाम् ।
त्रिंशत् शतद्वयञ्चैतत् तृतीयं काण्डमिष्यते ॥

रामवस्वङ्कचन्द्राब्दे चैत्रशुक्लचतुर्दशे ।
शनावथर्वणः काण्डं तृतीयमपि पूर्यते ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालंकार-मीमांसातीर्थविरुदोपशोभितश्रीमज्जयदेवशर्मणा विरचितेऽथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्ये तृतीयं काण्डं समाप्तम् ।



११–(प्र०) 'उत्पर्जन्यस्य' इति बहुत्र ।-'शुष्मेणोदस्था' इति तै० सं० ।-'पर्जन्यस्य धामभिः' इति यजु० । 'उदस्थाममृतानु' इति बहुत्र ॥

* ओ३म् *

अथ चतुर्थ काण्डम् ।



[१] परमेश्वर की उत्पादक और धारक शक्ति का वर्णन ।

वेन ऋषिः । बृहस्पतिरुत आदित्यो देवता । १, ३, ४, ६, ७ त्रिष्टुभः । २, ५ भुरिजौ । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद् वि सीमतः सुरुचो वेन आवः ।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च वि वः ॥ १ ॥

यजु० १३ । ३ ॥ साम० १ । ३२१ ॥ अथर्व० ५ । ६ । १ ॥

भा०—(प्रथमं) सब से श्रेष्ठ (ब्रह्म) परमात्मा की महान् शक्ति (पुरस्तात्) सब से पूर्व (जज्ञानं) उत्पन्न हुई कि (वेनः) प्रकाशमान तेजस्वरूप उस महान् परमेश्वर ने (सीमतः) इन समस्त लोकों के बीच में व्यापक होकर (सुरुचः) सब प्रकाशमान लोकों को (आवः) इस प्रकार प्रकाशित किया जिस प्रकार सूर्य ग्रह मण्डल में रह कर उनको प्रकाशित करता है । और (सः) उस परमेश्वर ने (अस्य) इस संसार के (बुध्न्याः) आधार भूत आकाश में उत्पन्न होने वाली (विष्ठाः) सब लोकों के विशेष रूप से स्थिति देने वाली (उपमाः) सबकी रचना की कारण भूत प्रकृति से उत्पन्न विकृति रूप महत्तत्व सूक्ष्म और स्थूल भूत आदि उन सामग्रियों को भी (वि वः) विशेष रूप से उत्पन्न किया और साथ ही उस परमेश्वर ने (सतः च) इस सत् व्यक्त जगत् के मूल कारण

[१] १–' अवत्सारऋषिर्यजुर्वेदे ' ।

और (असतः च योनिम्) असत्=अव्यक्त, प्रादुर्भूत जगत् के मूल कारण को भी (वि वः) प्रकट किया ।

इयं पित्र्या राष्ट्र्येत्वग्रे प्रथमाय जनुषे भुवनेष्ठाः ।
तस्मा एतं सुरुचं ह्वारमह्यं घर्मं श्रीणन्तु प्रथमाय धास्यवे ॥२॥

भा०—प्रवर्ग्येष्टि के दृष्टान्त से जगत् की उत्पत्ति के रहस्य प्रकट करते हैं । (इयं) यह (पित्र्या) सब के परिपालक प्रभु से प्रकट हुई (राष्ट्री) सब की प्रकाशक पूर्वोक्त ज्ञानशक्ति से (भुवनेष्ठाः) समस्त भुवन=ब्रह्माण्ड में व्यापक होकर (प्रथमाय जनुषे) सब से प्रथम सृष्टि को उत्पन्न करने के लिये (अग्रे) सब से पूर्व (एतु) होनी आवश्यक है । (तस्मा) उसी परम शक्ति से (प्रथमाय) प्रथम उत्पन्न सृष्टि के (धास्यवे) धारण पोषण करने की उचित सामग्री अन्न और पृथिवी आदि को उत्पन्न करने के लिये (एतम्) इस (सुरुचम्) अति दीप्तिमान् (ह्वारम्) गोल या क्रान्ति वृत में घूमने वाले (अह्यं) दिनों के बनाने वाले, (घर्मं) प्रकाशमान सूर्य को (श्रीणन्तु) पूर्वोक्त उत्पादक सामग्री ये उसी प्रकार तपाती हैं जिस प्रकार प्रवर्ग्येष्टि में यज्ञकर्त्ता घर्म रस को तपाते हैं ।

प्र यो जज्ञे विद्वानस्य बन्धुर्विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति ।
ब्रह्म ब्रह्मण उज्जभार मध्यान्नीचैरुच्चैः स्वधा अभि प्र तस्थौ ॥ ३ ॥

२–(प्र०) 'पित्रे राष्ट्र्येति' गो० ब्रा० । 'इयं वैपि' इति ऐ० ब्रा० । (द्वि०) 'भुमनेष्ठाः' इति आ० श्रौ० सू० । 'भूमिनष्टौ' इति पैप्प० सं० । (च०) 'श्रीणन्ति प्रथमस्य धासेः' आ० श्रौ० सू० । 'प्रथमस्त्रधास्युः' इति पैप्प० सं० ।

३–(प्र०, द्वि०) 'अस्यवन्धुं विश्वानि देवो जनमा' (च०) 'नीचादुच्चा स्वधयाभि' इति तै० सं० । (प्र० द्वि०) 'बन्धुं विश्वाम् देवा जन', (च०) 'नीचादुच्चास्त्रधयाति' इति पैप्प० सं० । 'प्रयो यज्ञे' इति च बहुत्र ।

भा०—(यः) जो (अस्य) इस संसार का या आदित्य का (बन्धुः) बांधने, स्थिर करने हारा इसका प्रतिष्ठापक है वह (विद्वान् प्रजज्ञे) समस्त संसार के तत्वों को उत्पन्न करता और जानता है । वही (देवानां) समस्त देवों के प्रकृति के विकारभूत महत् आदि ३२ देवों के (जनिम्) उत्पत्ति के प्रकारों को (आ विवक्ति) वेद द्वारा उपदेश करता है । अथवा (जनिमा विवक्ति) उत्पत्ति रहस्यों का उपदेश करता है । इसीलिये (ब्रह्मणः) उस महान् जगदुत्पादक पर ब्रह्म से (ब्रह्म) यह सत्य ज्ञानमय वेद (उत् जभार) उत्पन्न होता है । अथवा उस महान् सच्चिदानन्द ब्रह्म से यह ब्रह्माण्ड मय त्रिविध ब्रह्म उत्पन्न हुआ और इसी कारण (स्वधाः) वह स्वयं ही अपने को धारण किये हुए (नीचैः उच्चैः) नीचे और ऊंचे (अभि प्र तस्थौ) सर्वत्र स्थित है ।

स हि दिवः स पृथिव्या ऋतस्था मही क्षेमं रोदसी अस्कभायत् ।
महान् मही अस्कभायद् वि जातो द्यां सद्म पार्थिवं च रजः ॥४॥

भा०—(हि) निश्चय से (सः) वह (दिवः) द्यौ लोक, समस्त प्रकाशमान आदित्य के (ऋतस्थाः) सत् कारण में आधार भूत से बैठा है । और वही (पृथिव्याः) पृथिवी के भी (ऋतस्थाः) सत्य कारण रूप है । वही (मही रोदसी) इन दोनों बड़ी भारी द्यौः और पृथिवी को (क्षेमं) इनकी रक्षा और कुशल बनाये रखते हुए सुखपूर्वक (अस्कभायत्) थामे हुए है । वह स्वयं (महान्) सब से बड़ा है इसलिये उसने (मही) इन दोनों विशाल पदार्थों को भी (अस्कभायत्) थाम लिया है और स्वयं ही (वि-जातः) नाना शक्तियों से प्रादुर्भूत है । इस कारण (पार्थिवं) सब प्राणियों के आश्रय इस पार्थिव लोक को और (रजः) उन प्रकाशमान सूर्य

४-(द्वि० तृ०) 'अस्तभायत्', (च०) 'द्यां पिता सद्म' इति तै० सं० ।

लोकों और (द्यां) द्यौ लोक को भी (सद्म) स्तम्भ जिस प्रकार मकान को थामे रहते हैं उस प्रकार इस ब्रह्माण्ड को थामता है।

स बुध्न्यादाष्ट्र जनुषोऽभ्यग्रं बृहस्पतिर्देवता तस्य सम्राट्।
अहर्यच्छुक्रं ज्योतिषो जनिष्टाथ द्युमन्तो वि वसन्तु विप्राः ॥५॥

भा०—(सः) वह परमेश्वर ही (देवता) सब का प्रकाशक और प्रकाश स्वरूप (तस्य) उस जगत का (सम्राट्) स्वतः प्रकाशक, सब से बड़ा अधिष्ठता, महाराज है। वही (जनुषः) उत्पन्न होने हारे इस सृष्टि के (बुध्न्याद्) मूल से लेकर (अभि अग्रम्) चोटी तक (आष्ट्र) व्यापक है। देखो, (यत्) जब (ज्योतिषः) प्रकाशमान सूर्य के प्रकाश से (अहः) दिन भी (शुक्रं) प्रकाशमान (जनिष्ट) उत्पन्न हुआ (अथ) तभी विप्राः) मेधावी बुद्धिमान लोग और ये इन्द्रिय और समस्त लोक भी (द्युमन्तः) प्रकाश युक्त, चेतना युक्त और ज्ञानवान होकर (वि वसन्तु) रह रहे हैं। अगर उसका प्रकाश न होता तो सब अन्धकारमय हो जाता।

नूनं तदस्य काव्यो हिनोति महो देवस्य पूर्व्यस्य धाम।
एष जज्ञे बहुभिः साकमित्था पूर्वे अर्धे विषिते ससन् नु ॥ ६ ॥

भा०—(काव्यः) उस क्रान्तदर्शी सर्वज्ञ प्रभु का बनाया यह काव्य= वेदमय ज्ञानसागर और उसका प्राकृत रूप यह संसार (नूनं) निश्चय

५-(प्र०) 'सबुध्नादाष्ट जनुषाभ्यग्रम्' इति क्वचित्। (द्वि०) 'देवता यस्य' इति पैप्प० सं०। (प्र०) 'बुध्नाद्' इति बहुत्र। 'आष्ट' इति सायणाभिमतः।

६-(च०) 'पूर्वादरादविदूरश्च सहुः' इति पैप्प० सं०। (द्वि०) 'पूर्वस्य' (च०) 'ससम् नु' इति सायणाभिमतः। 'ससन्न उ' इति ह्विटनिकामितः। 'ससन् नु' इति पदपाठः।

से (अस्य) इस (पूर्व्यस्य) सब से पूर्व विद्यमान, कारण रूप (देवस्य) देव के (महः धाम) बड़े भारी यश का (हिनोति) वर्णन करता है। (एषः) यह सूर्य या ब्रह्माण्ड भी (बहुभिः) बहुत से और सूर्यों और *ब्रह्माण्डों के (साकं) साथ (जज्ञे) उत्पन्न हुआ है। और यह (पूर्वे)* पहले (विपिते अर्धे) अप्रबद्ध रूप में (नु) ही (ससन्) था।

अर्थात् यह सूर्य और ब्रह्माण्ड पहले भी अपने 'विपित रूप' अर्थात् उस रूप में थे जिसमें यह पृथक् २ पिण्ड और लोकों में नहीं बंटे थे। उस समय उसका ' केयास ' (Chaos) का रूप था। उसी को वेद ने ' विषित अर्ध ' कहा है।

योऽथर्वाणं पितरं देवबन्धुं बृहस्पतिं नमसाव च गच्छात्।
त्वं विश्वेषां जनिता यथासः कविर्देवो न दभायत् स्वधावान्॥७॥

भा०—(यः) जो (अथर्वाणम्) अथर्वा, अहिंसक सब के परिपालक (पितरम्) सब के उत्पादक, पालक, (देवबन्धुम्) समस्त दिव्य लोकों को बांधन हारे (बृहस्पतिम्) बड़े २ लोकों के स्वामी, प्रभु को (नमसा) आदर भक्ति से या सब के अन्न, आश्रय भूत प्राणों के प्राण रूप से (अव गच्छात्) जान लेता है और समझ लेता है कि (त्वं) तू ही हे प्रभो ! (विश्वेषां) सब लोकों का (जनिता) उत्पादक (असः) है, वही स्वधा, अमृत को प्राप्त कर (स्वधावान्) स्वयं सब को पोषण करने हारा (कविः) सर्वज्ञ सब के हृदय का जानने वाला, (देवः) स्वयं विद्वान् होकर आप कभी (न दभायत्) विनष्ट नहीं होता। परम सुख को प्राप्त होता है।

७-(च०) ' दभाय ' इति ह्विटनिकामितः। (द्वि०) ' बृहस्पतिर्नमसा ' इति सायणाभिमतः। 'यथावाथर्वा पितरं विश्वदेवं बृहस्पतिर्मनसावोदतस्त्व' इति पैप्प० सं०।

[२] ईश्वर की महिमा ।

वेन ऋषिः । आत्मा देवता । १–५ त्रिष्टुभः, १ पुरोऽनुष्टुप्, ८ उपरिष्टाज्ज्योतिः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्वं उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
योऽ३स्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १ ॥

पूर्वार्धः ऋ० १० । १२१ । २ ॥
उत्तरार्धः १० । १२१ । ३ ॥ यजु० २५ । १३ । ११ ॥

भा०—उसी प्रभु का वर्णन करते हैं—(यः) जो (आत्मदा) सब शरीरों में जीवों को प्राण देने वाला (बलदा) और बल का देने वाला है, (यस्य) जिसके (प्रशिषम्) सर्वोच्च शासन आज्ञा की (विश्वे) समस्त लोग (उपासते) उपासना करते हैं और जिसके शासन को (देवाः) देव, प्रकाशमान सूर्य आदि ३३ देव भी पालन करते हैं (यः) जो (अस्य द्विपदः) इस दो चरण वाले मनुष्य संसार और (यः) जो इस (चतुष्पदः) पशु संसार का भी (ईशे) प्रभु है, उस (कस्मै) सुख स्वरूप प्रजापति, (देवाय) परम देव के लिये हम (हविषा) नित्य की प्रार्थना उपासना से (विधेम) पूजा अर्चना करें । अथवा (कस्मै) सब के प्रश्न द्वारा ज्ञान करने योग्य 'सं-प्रश्न' स्वरूप परमेश्वर की हम उपासना करें ।

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैको राजा जगतो बभूव ।
यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ २ ॥

पूर्वार्धः १० । १२१ । ३ ॥ उत्तरार्धः १० । १२१ । २ ॥
यजुषि च ऋग्वेदवत् पाठः । यजु० अ० २५ । ११ । १३ ॥

---

[२] १–' य ईशेऽस्य द्विपदश्चतुष्पदः ' इति पाठभेदः ऋ०, यजु० ।

२–' यः प्राणतो निमिषतश्च राजापति र्विश्वस्य जगतो बभूव ' इति मै० सं० ।

'यः प्राणतो निमिषतो विधर्त्ता पति र्विश्वस्य जगतो बभूव' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(यः) जो (प्राणतः) प्राण लेने वाले चेतन और (निमिपतः) चक्षु आदि इन्द्रियों को मूंदने वाले अचेतन-स्थावर, अथवा इन्द्रियों के व्यापार से शून्य केवल प्राण लेने वाले स्थावर और इन्द्रियों का व्यापार=निमेष उन्मेप करने वाले पर दोनों प्रकार के (जगतः) जगत् का (महित्वा) अपनी महिमा, बड़े भारी शक्ति और ऐश्वर्य के कारण ही (राजा बभूव) एक मात्र अधिपति, राजा है। (यस्य) जिसकी (छाया) आश्रय ग्रहण करना ही (अमृतं) मोक्ष है और (यस्य) जिससे परे होना (मृत्यु) मृत्यु, विनाश है (कस्मै देवाय हविपा विधेम) उस सुख स्वरूप आनन्दघन प्रजापति को हम भक्ति भाव से स्मरण करके उपासना करें।

यं क्रन्दसी अवतश्चस्कभाने भियसाने रोदसी अह्वयेथाम्।
यस्यासौ पन्था रजसो विमानः कस्मै० ॥ ३ ॥

पूर्वार्धः यजु० ३२ । ६ । ऋ० १० । १२१ । ६ ॥

उत्तरार्धः यजु० ३२ । ६ । ऋ० १० । १२१ । २ ॥

भा०—(यं) जिसको आश्रय पाकर उसके (अवतः) रक्षणसामर्थ्य से (क्रन्दसी) समस्त प्राणियों के सुख दुःख के कारणभूत द्यौ और पृथिवी (चस्कभाने) एक दूसरे का आश्रय लिये खड़ी हैं और (यं) जिसको (रोदसी) समस्त द्यौ और पृथिवी=जहान (भियसाने) भय से कम्पमान होकर (अह्वयेथाम्) अपनी रक्षा के लिये पुकारते हैं। और (यस्य) जिसके आश्रय पर (असौ) वह परम दूर (पन्थाः) आकाशमार्ग है।

३–'यं क्रन्दसी अवतस्तस्तभाने अभ्यैक्षतं मनसारेजमाने' इति ऋ०, यजु०। 'अन्तरिक्षेरजसो विमानः' इति ऋ०, यजु०। (च०) 'अह्वयेताम्' इति ह्विटनिकामितः, (प्र० द्वि०) 'य इमे द्यावा पृथिवीतस्तभाना अथा यद् रोदसीरेजमाने। पस्मिन्नधि विततएति सूरः' इति पैप्प० सं०।

और जो (रजसः) समस्त नक्षत्र आदि लोकों का (विमानः) विशेष रूप से उत्पादक है उस (कस्मै) सुखरूप प्रजापति (देवाय हविषा विधेम) देव की हम भक्ति से उपासना करें।

यस्य द्यौरुर्वी पृ॑थिवी च॑ म॒ही यस्या॒द उ॒र्व॑१॒न्तरि॑क्षम् ।
यस्या॒सौ सूरो॒ वित॑तो महि॒त्वा कस्मै० ॥ ४ ॥

पूर्वार्धः ऋ० १० । १२१ । ५ ॥ यजु० ३२ । ६ ॥

उत्तरार्धः ऋ० १० । १२१ । ६ । यजु० ३२ । ७ ॥

भा०—(यस्य महित्वा) जिस प्रभु की महिमा, विशाल शक्ति से (उर्वी द्यौः) विशाल द्यौ लोक, आकाश और (मही पृथिवी) बड़ी भारी यह पृथिवी, और (यस्य) जिसकी विशाल शक्ति से (उरु अन्तरिक्षम्) यह विशाल अन्तरिक्ष, द्यौ और पृथिवी का मध्य भाग, आकाश, पोल (विततः) विस्तृतरूप में फैला हुआ, स्थिर है और (यस्य महित्वा) जिस की विशाल शक्ति से (असौ सूरः विततः) वह सूर्य भी विशेष रूप से व्यवस्थित है (कस्मै देवाय हविषा विधेम) उस परमानन्द रूप, प्रजापति परमदेव की हम भक्ति से उपासना करें।

यस्य॒ विश्वे॑ हि॒मव॑न्तो महि॒त्वा स॑मु॒द्रे यस्य॑ र॒सामि॒दाहुः॑ ।
इ॒माश्च॑ प्र॒दिशो॒ यस्य॑ बा॒हू कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ ५ ॥

ऋ० १० । १२१ । ४ ॥ यजु० २५ । १२ ॥

४—'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः' इति ऋ०, यजु० । (तृ०) 'यस्याधि सूर उदितो विभाति' इति ऋ०. यजु० ।

५—'यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः । यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू' इति ऋ०, यजु० । 'इमेविश्वे गिरयो महि' इति मै० सं० ।

भा०—(यस्य महित्वा) जिसकी विशाल महिमा=शक्ति से (विश्वे) समस्त (हिमवन्तः) हिमावृत पर्वत स्थिर खड़े हैं और विद्वान् लोग (यस्य) जिसकी महिमा से (समुद्रे) विशाल समुद्र में (रसाम्) नदी को जाता बतलाते हैं अथवा जिसकी शक्ति से (समुद्रे) समुद्र में या आकाश में घिरी (रसाम्) जलमय पृथिवी को स्थित हुआ बतलाते हैं। और (इमाः च प्रदिशः) ये लम्बी चौड़ी दिशाएं और उप दिशाएं (यस्य बाहू) जिसकी भुजाओं के समान सर्वत्र व्यापक हैं और सब को थामे खड़ी हैं (कस्मै० इत्यादि) उस प्रभु की हम उपासना भक्ति से करें।

आपो अग्रे विश्वमावन् गर्भं दधाना अमृता ऋतज्ञाः।
यासु देवीष्वधि देव आसीत् कस्मै० ॥ ६ ॥

पूर्वार्धः ऋ० १० । १२१ । ८ ॥ यजु० २७ । २५ ॥
उत्तरार्धः ऋ० १० । १२१ । ८ ॥ यजु० २७ । २६ ॥

भा०—(अमृताः आपः) जीवन स्वरूप 'आपः' जो (ऋतज्ञाः) इस ऋत=समस्त विश्व चराचर के उत्पत्तिस्थान हैं वे ही (गर्भं दधानाः) समस्त जीवन के बीजों को अपने भीतर धारण करते हुए (अग्रे) सृष्टि के पूर्व में अर्थात् प्रलय काल में भी (विश्वम्) इस समस्त चराचर संसार को (आवन्) अपने भीतर सुरक्षित रखते हैं। और (यासु देवीषु) जिन 'आपः' रूप दिव्य शक्ति या प्रकृति के सात्विक विकृतियों पर भी (देवः) वह परम प्रभु देव ही (अधि आसीत्) अधिष्ठाता रूप से विराजमान था (कस्मै०) इत्यादि पूर्ववत्।

६—'आपो ह यद् बृहती विश्वमायन् गर्भं दधाना: जनयन्तीरग्निम्।' 'यो देवे ष्वधिदेवएक आसीत् कस्मै० ' इति यजु०, ऋ०। 'आपो यस्य विश्व-मायुर्दधाना गर्भं जनयन्त मातरा। तत्र देवानामधिदेव आस्थ एकस्थूणे-विमिते दृढे अग्रे ' इति पैप्प० सं०।

हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भः सम॑वर्त॒ताग्रे॑ भू॒तस्य॑ जा॒तः पति॒रेक॑ आसीत् ।
स दा॑धार पृथि॒वीमु॒त द्यां कस्मै॰ ॥ ७ ॥

ऋ० १० । १२१ । १ ॥ यजु० २५ । १० ॥ अथर्व २३ । १ ॥

भा०—(हिरण्यगर्भः) सब गतिमान एवं प्रकाशमान स्वर्ण के समान जाज्वल्यमान सूर्यों और आत्माओं को अपने भीतर आश्रय देने वाला (भूतस्य) इस उत्पन्न विश्व के (अग्रे) आगे (सम् अवर्तत) विद्यमान रहा । वही उसका (एकः पतिः) एक मात्र परिपालक, स्वामी (जातः) था (आसीत्) रहा और रहेगा । और (सः) वही (पृथिवीम्) इस पृथिवी को (उत) और (द्यां दाधार) द्यौ लोक को भी धारण करता है (कस्मै०) उस सुख रूप, परमानन्द प्रभु की भक्ति से हम उपासना करें ।

आपो॑ व॒त्सं ज॒नय॑न्ती॒र्गर्भ॒मग्रे॒ समै॑रयन् ।
तस्यो॒त जाय॑मान॒स्योल्ब॑ आसीद्धिर॒ण्ययः॒ कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ ८ ॥ ऋ० १० । १२७ । ७ ॥ यजु० २७ । २५ ॥

भा०—वे पूर्वोक्त (आपः) जगत् की परम मूल भूत तेजोमय 'आपः' व्यापक धूम के समान विरल प्रकृति के विकार (वत्सं) हिरण्यगर्भ रूप, महान् तेजोमय अण्ड को (जनयन्तीः) उत्पादन करती, बनाती हुई (अग्रे) इस व्यवस्थित सृष्टि के प्रकट होने के पूर्व (गर्भं) उस महान हिरण्यगर्भ जिसमें समस्त प्रकृति के विकार गृहीत थे उसको (सम् ऐरयन्) उत्तम रीति से गति देने लगीं अर्थात् उनमें विक्षोभ उत्पन्न हुआ । (उत) और (तस्य जायमानस्य) जब वह हिरण्यगर्भ बन रहा था तब ही उसका

७—'आपो हयद् बृहती विश्वमायन् गर्भं दधानाः जनयन्तीरग्निम् । ततो देवानां समवर्तता सुरेकः कस्मै देवायहविषा विधेम ।' इति यजु०, ऋ०, ॥
(प्र०) 'आपो गर्भं जनयन्तीर्वत्समग्रे समीरयन्' इति पैप्प० सं० ।

(उल्वः) बाहरी आवरण, उसका घेरनेवाला पदार्थ भी (हिरण्ययः) तेजोमय पदार्थ का ही था । यह सब उस प्रभु की महिमा है । (कस्मै०) उस आनन्दघन परम प्रभु की हम भक्ति से उपासना करें ।



[३] हिंसक जन्तुओं से बचने और उनको वश करने का उपाय ।

अथर्वा ऋषिः । रुद्र उत व्याघ्नो देवता । १ पथ्यापंक्ति, २, ४—६ अनुष्टुभः, ३ गायत्री, ७ ककुम्मतीगर्भोपरिष्टाद् बृहती । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

उदितस्त्रयो अक्रमन् व्याघ्रः पुरुषो वृकः ।
हिरुग्घि यन्ति सिन्धवो हिरुग् देवो वनस्पतिर्हिरुङ् नमन्तु शत्रवः ॥१

भा०—व्याघ्र, चोर, सर्प और गोह आदि हिंसक पुरुषों और पशु और जानवरों से बचने और उनको वश करने का उपदेश करते हैं । (इतः) हमारे निवासस्थान और मार्ग से (त्रयः) ये तीनों (व्याघ्रः) व्याघ्र सिंह आदि हिंसक मांस भक्षी जीव, (पुरुषः) हिंसक, चोर पुरुष और (वृकः) भेड़िया के समान छुप कर आक्रमण करने वाला हिंसक जन्तु ये तीनों (उत् अक्रमन्) परे भाग जांय । (सिन्धवः) नदियें जो ग्रामों को बहा ले जाती हैं वे भी (हिरुक् हि यन्ति) शान्त रूप में प्रवाहित हों, वे उमड़ कर घरों मकानों और खेतों को न तोड़ें, (देवः) दिव्य गुण वाला (वनस्पतिः) पीपल आदि का वृक्ष (हिरुक्) भी भूमि के नीचे ही अपनी जड़ें छोड़ें, वह घर, मन्दिर आदि को विनाश न करे । (शत्रवः हिरुक् नमन्तु) और शत्रु गण भी हम से छुपकर, दबकर शान्त स्वभाव से रहें ।

[३] १—' उदित्यक्रमंस्त्रयो व्याघ्रः ' (तृ० च०) ' हृग्देवः सूर्य हृग्देवो ' इति पैप्प० सं० ।

परेणैतु पथा वृकः परमेणोत तस्करः ।
परेण दत्वती रज्जुः परेणाघायुरर्पतु ॥ २ ॥

उत्तरार्धः अथर्व० १९ । ४७ । ८ । प्र० द्वि० ॥

भा०—(वृकः परेण पथा एतु) छुपकर घात करने वाला, भेड़िया होसके तो, परले दूर के मार्ग से चला जाय । और (तस्करः) चोर आदमी (परमेण एतु) उससे भी परे के मार्ग से जावे । (दत्वती रज्जुः परेण) दांतों वाला रस्सी के समान जीव सर्प भी परे ही से जावे और (अघायुः) पापी पुरुष जो हम पर अपना पाप कार्य करना चाहता है ऐसा नृशंस डाकू भी (परेण पथा अर्पतु) दूर के दूसरे मार्ग से ही जावे । अर्थात् इन से बचने का उपाय ही है कि ये अपने मार्ग से न जाएं उनका मार्ग दूसरा ही रहे ।

अक्ष्यौ च ते मुखं च ते व्याघ्र जम्भयामसि ।
आत् सर्वान् विंशतिं नखान् ॥ ३ ॥

भा०—व्याघ्र मुकाबले पर ही आजाय तो उसको कैसे नाश करें । हे (व्याघ्र) व्याघ्र! (ते च अक्ष्यौ) तेरी आखों को और (ते च मुखम्) तेरे मुखको (जम्भयासि) विनाश करें और (आत्) उसके अनन्तर (सर्वान् विंशतिम् नखान्) सब बीसों नखों को भी विनाश करें । अर्थात् पहले व्याघ्र की आंख पर बाण मार कर नाश करे, फिर मुंह काबू करे और इसके बाद उस के नखों को काट डालें । या उस के आंखों पर और मुंह पर चमड़े का खोपा लगा कर उसके नखों को भी बांध रखे या काट दें । इस प्रकार व्याघ्र वश में रह सकता है ।

२–'परमेण पथावृकः परेणस्तेनोरर्शतुर । ततो व्याघ्रः परमा' इति पैप्प० सं० ।
३–(प्र०) ' अक्षौ ' इति बहुत्र ।

व्याघ्रं दत्वतां वयं प्रथमं जम्भयामसि ।
आदुं ष्टेनमथो अहिं यातुधानमथो वृकंम् ॥ ४ ॥

भा०—(दत्वतां प्रथमं) दांतों के हथियारों से युक्त पशुओं में सब से प्रथम=प्रबल (व्याघ्रं) सिंह या बाघ को (जम्भयामसि) हम वश करें (आत्) और उसके बाद फिर उससे उतर कर (यातुधानम्) पीड़ा-दायक (अहिं) सर्प को (अथो) और (वृकम्) भेड़ियों को भी वश करें ।

यो अद्य स्तेन आयति स संपिष्टो अपायति ।
पथामपध्वंसेनैत्विन्द्रो वज्रेण हन्तु तम् ॥ ५ ॥

प्रथमार्धः अथर्व० १९ । ४९ । ९ । प्र० १० । च० ॥

भा०—(अद्य) आज (यः) जो (स्तेनः) चोर रूप से (आयति) आता है (सः) वह (सं पिष्टः) खूब दण्डित कर दिया जाय तो (अप आयति) वह अपने बुरे मार्ग से हट जाता है । अर्थात् जब कोई चोर पकड़ा जाय तो उसे खूब कड़ा दण्ड देना चाहिये । यदि वह (पथाम्) मार्गों में जो (अपध्वंसेन) बुरे पुराने टूटे खण्डहर होते हैं उनमें (एतु[1]) जाये तो वहां भी (इन्द्रः) राजा (तम्) उस चोर को पकड़ २ कर (हन्तु) विनाश करे । पदपाठ में 'अपध्वंसेन' एक पद होने पर भी ध्वंसेन अप 'एतु', ऐसा छेद किया है सो असंगत है ।

मूर्णा मृगस्य दन्ता अपिंशीर्णा उ पृष्टयंः ।
निम्रुक् ते गोधा भंवतु नीचा यंच्छशयुर्मृगः ॥ ६ ॥

भा०—(मृगस्य) हिंसक जीव के (दन्ताः) दांत (मूर्णाः भवन्तु) तोड़ डाले जांय, या मुंह पर पट्टी बांध कर कस दिये जांय और (पृष्टयः) पसलियां भी (अपि शीर्णाः) खूब कच्ची कर डालनी चाहियें या हे पुरुष

१. सम्भावनायां लोट् ।

तेरे आगे (गोधा) गोह भी (निम्रुक्) नीचे ही नीचे २ (भवतु) सरके और (शशयुः) शशकों को पकडने वाले, या सोते हुए (मृगः) मृग को (नीचा यच्छ) नीचे ही बांध लो, दमन करो ।

यत् संयमो न वि यमो वि यमो यन्न संयमः ।
इन्द्रजाः सोमजा आथर्वणमसि व्याघ्रजम्भनम् ॥ ७ ॥

भा०—(यत् संयमः) जिसको एक वार अच्छी प्रकार वांध लिया जाय तो (न वियमः) फिर उसे छोडा न जाय और (यत् वियमः) यदि वह छूट गया तो (न संयमः) तो फिर उसको वांधा ही क्या ! यह संयम तथा वांधने का प्रकार दो प्रकार का है एक तो (इन्द्रजाः) इन्द्र से उत्पन्न अर्थात् शक्ति पूर्वक किसी को वश कर लेना और दूसरा (सोमजा) सोम=अन्न के आधार पर उसको वश करलेना । इनमें से (व्याघ्रजम्भनम्) व्याघ्र को वश करने का यह प्रकार ऐसा है कि (आथर्वणम् असि) इस में जीव का घात नहीं किया जाता है, प्रत्युत उस के वल को तोड़ा जाता है ।

---

[४] नपुंसकता को दूर करने के लिये वृष्य ओषधि का प्रयोग ।

अथर्वा ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । १–३, ८ अनुष्टुभः, ४ परोष्णिक्, ६, ७ भुरिजौ । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

यां त्वा गन्धर्वो अखनद् वरुणाय मृतभ्रजे ।
तां त्वा वयं खनामस्योषधिं शेपहर्षणीम् ॥ १ ॥

भा०—वृष्य ओषधि के प्रयोग का उपदेश करते हैं । हे ओषधे ! (यां त्वा) जिस तुझ ओषधि को (गन्धर्वः) विद्यावान्, वाचस्पति, कविराज, वैद्य (मृतभ्रजे) नष्टवीर्य, नष्टतेजस (वरुणाय) श्रेष्ठ पुरुष के लिये

(अखनद्) खोद कर प्राप्त करता है (तां त्वा) उस तुझ (शेपहर्षणीं) प्रजनन इन्द्रिय में पुष्टि उत्पन्न करने वाली (ओषधिम्) ओषधि को (वयम्) हम (खनामसि) खोद कर प्राप्त करें। अध्यात्म में-शेप=ज्ञानवान आत्मा। वरुण=आत्मा। गन्धर्वः=ब्रह्मवित्।

उदुषा उदु सूर्य उदिदं मामकं वचः ।
उदेजतु प्रजापतिर्वृषा शुष्मेण वाजिना ॥ २ ॥

भा०—(उषाः) प्रातकाल (उद् एजतु) शरीर के अंगों में उत्तेजना उत्पन्न करता है। (सूर्य उत्) सूर्य भी शरीर में वीर्य की वृद्धि करता है (इदं) यह (मामकं वचः) मेरा बल पूर्वक कहा गया वचन भी शरीर में उत्तेजना उत्पन्न करता है, (प्रजापतिः) प्रजा की पालन करने वाली (वृषा) वीर्य सेवन में समर्थ, ओषधि विशेष (वाजिना) बलकारक (शुष्मेण) अपने रस से (उद् एजतु) शरीर में वीर्य की उत्तेजना को उत्पन्न करें। 'वृषा' शब्द से वृषमेधा, मुस्ता, ऋषभ, एन्द्री, दधिपुष्पी, वासा, मूसा कानी या आखुपर्णी, धान्यमाष, विदारिका, बलिका, तामलकी आदि ओषधियां ली जाती हैं। ये सब वृष्य वीर्योत्पादक ओषधियां हैं।

यथा स्म ते विरोहतोऽभितप्तमिवानति ।
ततस्ते शुष्मवत्तरमियं कृणोत्वोषधिः ॥ ३ ॥

भा०—(विरोहतः ते) विशेष प्रकार से पुष्ट शरीर होने वाले तेरे

[४] २–(द्वि०) 'उच्छुष्मा ओषधीनाम्', (च०) 'वाजिनाम्' इति पैप्प० सं०। 'वृ-णस्ते खनतारो वृषा त्वा पश्योषधे वृषासि वृष्ण्यावति वृषणे त्वा खनामसि' इति पैप्प० सं० अधिक पाठः।

३–'विरोहित' इति सायणसम्मतः पाठः। 'ऊर्ध्वं स्राणीमिदं कृधि यथा' इति पूर्वमधिकः पाठः पैप्प० सं०।

शरीर में (यथा) जिस प्रकार (अभितप्तम् इव) काम प्रवृत्ति से अभितप्त के समान (अनतिस्म) चेष्टा करने लग जाय (ततः) तभी (इयं ओषधिः) यह ओषधि (ते) तेरे शरीर को (शुष्मवत्-तरम्) और भी अधिक बल युक्त करेगी। अर्थात् प्रथम औषधि सेवन से शरीर केवल वीर्य के उत्पन्न हो जाने पर उसे नष्ट न करें प्रत्युत और अधिक ओषधि सेवन से और अधिक पुष्ट करे।

उच्छुष्मौषधीनां सार ऋषभाणाम्।
सं पुंसामिन्द्र वृष्ण्यमस्मिन् धेहि तनूवशिन् ॥ ४ ॥

भा०—(ऋषभाणाम्) ऋषभ आदि वृष्यगण की (ओषधीनां) औषधियों में से यह (शुष्मा) बलकारी औषध बला, (सारा) सब से अधिक सार वाली एवं बलप्रदा है। हे इन्द्र! वैद्य! अथवा हे (तनू-वशिन्) शरीर को अपने वश करने हारे आत्मन्! (अस्मिन्) इस निर्वीर्य पुरुषों में भी (पुसां वृष्ण्यम्) पुमान्, वीर्यवान पुरुषों का सा बल (सं धेहि) धारण करा।

अर्थात् औषध की चिकित्सा के साथ २ आत्मिक बल को भी प्राप्त करना आवश्यक है, नहीं तो प्राप्त हुआ बल सब व्यर्थ नष्ट हो जाता है।

अपां रसः प्रथमजोऽथो वनस्पतीनाम्।
उत सोमस्य भ्रातास्युतार्शमसि वृष्ण्यम् ॥ ५ ॥

४–(तृ०) 'सं पूनामिन्द्र', (च०) 'तनूवशम्' इति सायणसम्मतौ पाठौ। 'उच्छुष्मा ओषधीनां उत सारा ऋषभाणाम्' इति पैप्प० सं०।

५–'आर्षमसि' इति सायणसम्मतः पाठः। (प्र०) 'अपां रसौषधीनां' (च०) 'आरिष्यमसि' इति पैप्प० सं०। 'आर्ष्यन्' इति लैन्मन-शोधितस्तत्कामितः पाठः।

भा०—हे ओषधे ! तू (अपां) जलों का, "अपः" नामक तेजस्वी मूल कारण भूत व्यापक तत्वों का (प्रथमजः रसः) सब से श्रेष्ठ रस है (अथो) और तू (वनस्पतीनां) वनस्पतियों का सार है। (उत) और (सोमस्य) शरीर में उत्पन्न होने वाले वीर्य का (भ्राता) पोषक है (उत) और (आर्शम्) शूरता के उत्पादक और (वृष्ण्यम्) बलकारी वीर्य सेचन के सामर्थ्य का उत्पादक है।

अद्याग्ने अद्य सवितरद्य देवि सरस्वति ।
अद्यास्य ब्रह्मणस्पते धनुरिवा तानया पसः ॥ ६ ॥

अथर्व का० ६ । १०१ । ३ ॥

भा०—हे अग्ने ! हे (सवितः) सूर्य ! हे (सरस्वति देवि) विद्ये ! हे (ब्रह्मणस्पते) वेद के विद्वान् पुरुष या परमात्मन् ! (अद्य) आज, अब (अस्य) इस निर्वीय पुरुष के नाना प्रकार के औषध उपचार करने पर (पसः) प्रजननाङ्ग को (धनुः इव) दृढ़ लक्ष्यभेदकारी धनुष के समान शारीरिक बल के द्वारा (आ तनय) तान दो जिस से यह भी पुत्रपौत्र आदि प्राप्त करने में समर्थ हो।

आहं तनोमि ते पसो अधि ज्यामिव धन्वनि ।
क्रमस्वर्श इव रोहितमनवग्लायता सदा ॥ ७ ॥

भा०—(अहं) मैं, सद्वैद्य (ते पसम्) तेरे प्रजनन अङ्ग को उचित औषधि के उपचार से (धन्वनि अधि ज्याम्-इव) धनुष पर तनी

६–(तृ०) 'अद्य मे ब्रह्म' इति पैप्प० सं० ।
७–'क्रम, स्वर्षः, इव' इति पदपाठश्चिन्त्यः । 'क्रमस्व ऋष्यः इव' इति लैन्मन्कामितः पदपाठः । 'क्रमस्व, ऋषः, इव' इति सायणः । (च०) 'अनुवल्गुयता' इति सायणसम्मतः पाठः ।

डोरी के समान (आ तनोमि) प्रबल, कार्य करने, एवं वीर्य सेचन में समर्थ करता हूं (ऋशः-इव) जिस प्रकार धनुर्धर हिंसक, शिकारी, निःशंक होकर (रोहितम्) रोहित नामक मृग पर प्रसन्न होकर वेग से शिकार के लिये जा पड़ता है उसी प्रकार हे वीर्यसम्पन्न पुरुष ! तू भी (सदा) निरन्तर (अनवग्लायता) ग्लानि रहित, प्रसन्नचित्त शरीर से (क्रमस्व) अपने गृहस्थ में सन्तानोत्पत्ति, गर्भ-धारण आदि कार्य में लग जा ।

अश्वस्याश्वतरस्याजस्य पेत्वस्य च ।
अथ ऋषभस्य ये वाजास्तानस्मिन् धेहि तनूवशिन् ॥ ८ ॥

भा०—हे (तनू-वशिन्) शरीर को वश करने में समर्थ ! सद्वैद्य ! (अश्वस्य) अश्व के (अश्वतरस्य) खच्चर के, (अजस्य) बकरे के, (पेत्वस्य च) और मेढ़े के (अथ ऋषभस्य) और बैल के (ये) जो (वाजा) वीर्य हैं (तान्) उनको (अस्मिन्) इस निर्वीर्य पुरुष में (धेहि) धारण कराओ । अथवा अश्व, अश्वतर, अज, पेत्व=मेष, ऋषभ आदि ओषधियों का बल इस में प्रवेश कराओ ।

---

[५] निद्रा विज्ञान ।

ब्रह्मा ऋषिः । स्वपनः ऋषभो वा देवता । १, ३–६ अनुष्टुभः, २ भुरिक्, ७ पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुप् । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

सहस्रशृङ्गो वृषभो यः समुद्रादुदाचरत् ।
तेना सहस्येना वयं नि जनान्त्स्वापयामसि ॥ १ ॥

ऋ० ७ । ५५ । ७ ॥

८–(च०) 'वाजास्तस्मिन्' इति ह्विटनिकामितः पाठः । (च०) 'तनूवशम्' इति सायणाभिमतः पाठः ।

[५] १–'हिरण्यशृङ्ग' इति पैप्प० सं० ।

भा०—आत्मा और इन्द्रियों के परस्पर सम्बन्ध और सोने जागने के रहस्य को लौकिक दृष्टान्तों से स्पष्ट करते हैं। (यः) जो (सहस्र-शृङ्गः) सहस्रों, अनन्त किरणों वाला (वृषभः) जीवन शक्ति का, या वर्षा का हेतु सूर्य (समुद्राद्) समुद्र से, समुद्र तल से (उद् आचरत्) ऊपर को उठता हुआ प्रतीत होता है वह उसी प्रकार पुनः समुद्र में ही अस्त होता प्रतीत होता है। (तेन) उस (सहस्येन) शक्तिमय पिण्ड के दृष्टान्त से हम भी (जनान्) मनुष्यों को (नि स्वापयामसि) ठीक उसी प्रकार से जागता और सोता पाते हैं। अर्थात् जिस प्रकार प्रति-दिन प्रातः सूर्य उगता है सायंकाल अस्त होता है उसी प्रकार मनुष्य प्रातः उठते हैं रात्रि को सो जाते हैं और जिस प्रकार प्रातः सूर्य में से किरणें सर्वत्र फैलती प्रतीत होती हैं और सायं समय अस्त होते हुए सूर्य के बिम्ब में ही सब किरणें लीन हो जाती हैं उसी प्रकार आत्मा में से ये इन्द्रियगण प्रादुर्भूत होती हैं और सोते समय पुनः उस में ही लीन हो जाती और सो जाती हैं। इसका स्पष्टीकरण देखो छान्दोग्य उपनिषद् में 'प्राण-प्रकरण'।

न भूमिं वातो अति वाति नाति पश्यति कश्चन।
स्त्रियश्च सर्वाः स्वापय शुनश्चेन्द्रसखा चरन् ॥ २ ॥

भा०—सोने के लिये अनुकूल स्थिति का उपदेश करते हैं। (वातः भूमिं न अति वाति) प्रचण्ड वायु भूमि पर प्रबल वेग से बह कर घर में वेग से प्रवेश न करे और (कः चन) कोई पुरुष (न अति पश्यति) खिड़कियों से न झांके। ऐसे स्थान पर हे इन्द्र! गृह के और राष्ट्र के स्वा-

२–(द्वि०) 'पश्यति सूर्यः' इति पैप्प० सं०। (तृ०) 'स्वापयः' इति बहुत्र।

मिन् राजन् (सर्वाः स्त्रियः) सब स्त्रियों को (स्वापय) सुलाओ और (शुनः च) कुत्तों को भी बाहर सुला दो जिस से घर की रक्षा हो और (इन्द्रसखा) राजा का मित्र बराबर (चरन्) पहरा देता हुआ विचरण करे।

अध्यात्म पक्ष में—इन्द्रसखा=आत्मा का मित्र प्राण (चरन्) बराबर विचरण करता रहता है और सब (स्त्रियः) ज्ञानेन्द्रियों और (शुनः) सब कर्मेन्द्रियों को सुला देता है । (वातः) वह प्राण भी (भूमिं) सुषुप्ति दशा को नहीं तोड़ता और कोई भी इन्द्रिय उस समय देख नहीं सकती ।

प्रोष्ठेशयास्तल्पेशया नारी॒र्या व॑ह्यशीवरीः ।
स्त्रियो॒ याः पुण्यग॑न्धयुस्ताः सर्वाः स्वापयामसि ॥ ३ ॥

ऋ० ७ । ५५ । ८ ॥

भा०—शयन काल में हम अपनी इन्द्रियों कैसे सुला देते हैं । जो स्त्रियां (प्रोष्ठे-शयाः) झूले में सोने की अभ्यासी हैं, जो (तल्पेशयाः) सेज पर सोने वाली है, और (याः नारीः) जो स्त्रियां (वह्य-शेवरीः) वहन, दूर गमन के साधन रथ आदि में सोने वाली है और (याः स्त्रियः) जो स्त्रियां (पुण्य-गन्धयः) पुण्य, पवित्र गन्ध वाली हैं (ताः सर्वाः) उन सब को (स्वापयामसि) रात्रि के काल में सुला दे ।

अध्यात्म पक्ष में—इन्द्रियों के ही ४ प्रकार के भेद किये हैं । १ प्रोष्ठेशया, नाड़ी अर्थात् मुख भाग में रहने वाली वाणी, २ तलपेशया नाड़ी, जो सोते समय विस्तर से सट जाती हैं जैसे त्वचा पीठ आदि, ३ वह्यशेवरी, जो पैरों में विद्यमान चरणेन्द्रिय है, ४ पुण्यगन्धि=ज्ञानेन्द्रियें ये सब उस आत्मा के बल पर उसी में आश्रित होकर सो जाती हैं । अथवा नारी=नाड़ियां हैं ।

३—' प्रोषेशयाः=पुष्टिशयाः नारीर्या तल्पशीवरीः ' (तृ०) ' पुण्यगन्धास्ता ' इति ऋ०, पैप्प० सं० ।

एजदेजदजग्रभं चक्षुः प्राणमजग्रभम् ।
अङ्गान्यजग्रभं सर्वा रात्रीणामतिशर्वरे ॥ ४ ॥

भा०—स्वापकाल में आत्मा क्या करता है ? (रात्रीणाम्) रात्रियों के (अतिशर्वरे) शर्वर=पूर्व भाग के गुजर जाने पर इन्द्र रूप आत्मा मैं-स्वयं (एजत्-एजत्) इस शरीर में जो जो भाग भी गतिमान है उस सब को (अजग्रभम्) ग्रस लेता हूं अर्थात् मैं उसकी शक्ति को अपने में लीन करके सुला देता हूं। (चक्षुः) चक्षु इन्द्रिय को और (प्राणम्) प्राण को भी मैं (अजग्रभम्) अपने वश किये रहता हूं। कहने का तात्पर्य यह है कि (सर्वा अंगानि) समस्त अंगों को ही मैं (अजग्रभम्) ग्रहण किये रहता हूं।

य आस्ते यश्चरति यश्च तिष्ठन् विपश्यति।
तेषां सं दध्मो अक्षीणि यथेदं हर्म्यं तथा ॥ ५ ॥

ऋ० ७ । ५५ । ६ ॥

भा०—सोने के समय इस शरीर की दशा एक महल के समान होती है। (यथा इदं) जिस प्रकार यह शरीर है (तथा हर्म्यं) उसी प्रकार हर्म्य= महल होता है। अर्थात् (य आस्ते) जो बैठा है (यः चरति) जो चलता है (यः च तिष्ठन्) और जो खड़ा है या (वि-पश्यति) नाना ओर से देखता है (तेषां अक्षीणि) उन सब की आंखों को (सं दध्मः) सोने के समय हम लगा हुआ पाते हैं अर्थात् वे सब सो ही रहे होते हैं उसी प्रकार इस शरीर में जो बैठा है जैसे कान, जो चलता है जैसे मन, हाथ पैर, जो खड़ा है, जैसे जिह्वा, नाक आदि जो देखता है जैसे आंख, उन सब की (अक्षीणि) ज्ञान, क्रिया शक्तियों (सं दध्मः) एक प्राण में ही एकत्र धारण करते हैं।

४–(च०) 'रात्रीणामुतशर्वरे' इति पैप्प० सं० ।

५–'यश्च चरति यश्च पश्यति नो जनः। तेषां संहन्मो अक्षाणि' इति ऋ० ।

स्वप्तुं माता स्वप्तुं पिता स्वप्तुं श्वा स्वप्तुं विश्पतिः ।
स्वपन्त्वस्यै ज्ञातयः स्वप्त्वयमभितो जनः ॥ ६ ॥

ऋ० ७ । ५५ । ५ ॥

भा०—चिति शक्ति, चेतना या चितिकला की इस देह में क्या दशा होती है सो बतलाते हैं। जिस प्रकार गृहिणी के चेतन रहने पर भी उसकी माता, पिता, घर का कुत्ता, गृहपति और अन्य सम्बन्धी और अड़ोस पड़ोस के सभी सो जाते हैं और वह अपने पति सेवा में रत रह कर भी जागती है उसी प्रकार यह चेतना भी जागती रहती है इसकी (माता) ज्ञान करने के साधन इन्द्रियगण (स्वप्तु) सो जांय, (पिता) इस का पालक भी (स्वप्तु) सो जाय, (श्वा स्वप्तु) इसका कुत्ता कर्मेन्द्रिय मन भी (स्वप्तु) सो जय और (विश्पतिः) सब प्रजाओं का स्वामी मुख्य आत्मा भी (स्वप्तु) आनन्द दशा में मग्न होजाय । (अस्यै ज्ञातयः) इस के ज्ञाति=जानने हारे, अपनाने हारे भीतरी प्राण भी (स्वपन्तु) नि-श्चेष्ट होकर सो जांय और (अभितः जनः स्वप्तु) इसके अड़ोस पड़ोस के शेष अंग भी सो जांय तो भी यह मुख्य चेतना=श्वास प्रश्वास करती हुई चेती रहती है ।

स्वप्नं स्वप्नाभिकरणेन सर्वं नि ष्वापया जनम् ।
ओत्सूर्यमन्यान्त्स्वापयाव्युषं जागृतादहमिन्द्र इवारिष्टो अक्षितः ॥७॥

६–'सस्तु माता सस्तु पिता सस्तु श्वा सस्तु विश्पतिः ससन्तु सर्वे ज्ञातयः स त्वयमभितो जनः ।' इति पाठभेदः ऋ० ।

७–(प्र०) 'स्वप्नः स्वप्न' इति बहुत्र । 'स्वप्नस्वप्नाधिकरणेन' इति सायणाभिमतः, पैप्प० सं० च । (प्र०) 'स्वप्नः स्वप्नाधिकरणे सर्वं' (तृ०) 'आसूर्य' (च०) 'व्युषं जागृयादहम्' इति ऋ० ८ । ५५ । इत्यत्रखिलेषु ।

भा०—कब तक सोवें ? हे (स्वप्न) हे निद्रावृत्ते ! (स्वप्नाभिकरणेन) निद्रा वृत्ति को अभिमुख करके (सर्वं जनम्) समस्त अन्य उत्पन्न होने वाले जनों या इन्द्रिय वृत्तियों को (नि स्वापय) सर्वथा सुला दो । और (स्वापय) तब तक सुलाओ (आत् उ सूर्यम्) जब तक सूर्य उदित न होजाय और (आ वि-उषम्) और जब तक उषाकाल फट न जाय और तब (अहं) मैं आत्मा (इन्द्रः इव) इन्द्र=ऐश्वर्य शील राजा के समान (अक्षितः) अविनाशी (अरिष्टः) किसी से भी पीडित न हो कर (जागृताद) जागूं ।

इति प्रथमोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि पञ्च, ऋचश्च सप्तत्रिंशत् ।]



[६] विष चिकित्सा ।

गरुत्मान् ऋषिः । तक्षको देवता । १–८ अनुष्टुभः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः ।
स सोमं प्रथमः पपौ स चकारारसं विषम् ॥ १ ॥

भा०—विषचिकित्सा का उपदेश करते हैं । (ब्राह्मणः) 'ब्राह्मण' नामक ओषधि (प्रथमः) सब ओषधियों में सब से श्रेष्ठ (जज्ञे) प्रकट हुआ जो (दश-शीर्षः) दश प्रकार के रोगों का नाशक (दश-आस्यः) दश अंगों की पीडा को बाहर फैंक देने वाला है । क्योंकि (सः) वह (प्रथमः) सब से श्रेष्ठ होने के कारण (सोमं) सोम रस, अमृत की रक्षा करता है (सः) वह (विषं) विष को भी (अरसं) अरस, वीर्यरहित (चकार) कर देता है ।

ब्राह्मण कन्द 'गृष्टि' नामक ओषधि है जिसका गुण 'विषपित्त-कफापहा' लिखा है। इसके ही विश्वक्सेना, वाराही, कौमारी, ब्रह्मपत्री, त्रिनेत्रा अमृत, आदि नाम हैं। इसके गुण हैं—

वाराही तिक्तकटुका विषपित्तकफापहा।
कुष्ठमेहकृमिहरा वृष्या बल्यारसायनी ॥ राजनिघण्टु ॥

इसके अतिरिक्त सोम नाम से कही जाने वाली सोमवल्ली, वाकुची ब्राह्मी, गुडूची, रीठाकरञ्ज, सौम्या, शठी, भार्गी, आदि ओषधियां भी नाना प्रकार के विषनाशक हैं जिनमें रीठाकरञ्ज और वाकुची विशेष रूप से त्वग्दोष, विष, कण्डू और खर्जू का नाशक है।

यावं॑ती द्यावा॑पृथि॒वी व॑रि॒म्णा याव॑त् स॒प्त सिन्ध॑वो वित॒ष्ठि॒रे।
वाचं॑ वि॒षस्य॒ दूष॑णीं ताभि॒तो निर॑वादि॒षम् ॥ २ ॥

प्रथमार्धः यजु० ३८। २६। प्र० द्वि० ॥

भा०—वाणी द्वारा विष के प्रभाव को दूर करने का उपदेश (द्यावा-पृथिवी) द्यौ और पृथिवी, आकाश और जमीन (वरिम्णा) अपने विस्तार से (यावती) जितनी बडी हैं और (सप्त सिन्धवः) सातों समुद्र (यावत्) जितनी दूर तक (वि-तस्थिरे) फैले हैं उतने विस्तार तक (विषस्य दूषणीम्) विष के विनाश करने वाली, प्रबल (तां वाचं) उस वाणी को (इतः) इस मुख से (निर् अवादिषम्) मैं बोलूं।

[६] २–(च०) 'तावतीं निरवादिषम्' इति कैन्मनकामितः पाठः। (प्र०) 'यावती द्यावापृथिवी यावत् च' इति यजु०। 'यावती द्यावापृथिवी महित्वा यावत् च' इति तै० सं०। (द्वि०) 'तस्थिरे' इति यजु०। 'तस्थुः' इति तै० सं०।

सुपर्णस्त्वा गुरुत्मान् विषं प्रथममावयत् ।
नामीमदो नारूरुप उतास्मा अभवः पितुः ॥ ३ ॥

भा०—(गरुत्मान्) पक्षी (सुपर्णः) सुपर्ण=गरुड़ (त्वा) तुझको हे विष ! (प्रथमम्) सब से पूर्व (आवयत्) खा लेता है । हे विष ! (न अमीमदः) तू उसको नशा और मूर्छा भी उत्पन्न नहीं करता (न अरूरुपः) और न उसकी चेतना को लोप करता है (उत) बल्कि (अस्मा) इसके लिये (पितुः) अन्न ही (अभवः) हो जाता है । इसी प्रकार जो पुरुष प्रथम से विषको अपना अन्न का भाग बना लेते हैं उन पर बाद विष का असर नहीं होता, प्रत्युत विष ही उनका पोषक होजाता है ।

यस्त आस्यत् पञ्चाङ्गुरिर्वक्राच्चिदधि धन्वनः ।
अपस्कम्भस्य शल्यान्निरवोचमहं विषम् ॥ ४ ॥

भा०—विष से बुझे शस्त्र के घाव की चिकित्सा का उपदेश करते हैं । हे पुरुष यदि (पञ्चांगुरिः) पांचों अंगुलियां जोड कर मारने वाले किसी शिकारी या बधिक ने भी (वक्रात् धन्वनः) खूब तान कर गोल किये धनुष से भी (ते) शरीर में (विषम्) विष को (आस्यत्) प्रवेश करा दिया है तोभी (अपस्कम्भस्य शल्यात्) 'अपस्कम्भ' नामक ओषधि वर्ग 'क्रमुक' नामक ओषधि के (शल्यात्) पत्र से उस विष को (अहं) मैं (निर अवोचम्) सर्वथा निर्बल करने का उपदेश करता हूं ।

३–(द्वि०) 'विपः' इति बहुत्र । 'प्रथममादयत्' (तृ० च०) 'नरोपयो नमादयो तस्माभवन् पितुः' इति पैप्प० सं० ।

४–(तृ०) 'अपस्कम्भस्य बाह्वोः' इति पैप्प० सं० । 'अपस्कन्धस्य बाह्वोर्निर' इति ह्विटनिकामितः पाठः । 'अपस्तम्बे' इति क्वचित् । (प्र०) 'पञ्चाङ्गुलि' इति पैप्प० सं० ।

'अपस्कम्भ' ओषधि को क्रमुक या लोध्र कहा जाता है। इसको भिल्लतरु, शाम्बर, लोध्र रोध्र, आदि नाम हैं इसके गुण—

लोध्रः शीतः कषायश्च हन्ति तृष्णामरोचकम्।
विषविध्वंसनः प्रोक्तो रूक्षो ग्राही कफापहः॥ (ध० रा०)

इसी का एक भेद 'क्रमुक' है वह भी गुणों में " चक्षुष्यं विषहृत् " कहा गया है।

शल्याद् विषं निरवोचं प्राञ्जनादुत पर्णधेः।
अपाष्ठाच्छृङ्गात् कुल्मलान्निरवोचमहं विषम्॥ ५॥

भा०—विष के दूर करने के उपाय दर्शाते हैं—(शल्याद्) शल्य=पत्र से या सेहे के कांटेसे ही मैं (विषं निरवोचम्) विष को दूर कर देता हूं। और या (पर्णधेः) पर्णधि नामक वृक्ष=लोध्र के ही (प्र-अञ्जनात्) प्रलेप से (उत) भी विष को दूर कर सकता हूं। या (अपाष्ठात् शृंगात्) दूर देश से लाये 'शृंग' अजशृंगी नामक, ओषधि से या (कुल्मलात्) 'कुल्मल' नामक पद्म ओषधि से (अहं) मैं (विषम्) विष को (निर्-अवोचम्) दूर करता हूं।

अथवा—(शल्यात्) बाण से या (अपष्ठात् शृंगात्) टूटे हुए सींग से या (कुल्मलात्) प्राणी के मल से उत्पन्न (पर्णधेः) विषैले सर कण्डे से और (प्राजनात्) या विषैले लेप से उत्पन्न हुए विष को भी मैं दूर करता हूं। यह सायण सम्मत अर्थ है।

अरसस्त इषो शल्योऽथो ते अरसं विषम्।
उतारसस्य वृक्षस्य धनुष्टे अरसारसम्॥ ६॥

५—'निर्वोचं', आञ्जनात् पर्णधे रुत' इति पैप्प० सं०।

भा०—हे (इषो) बाण ! (ते शल्यः) तेरा बाण (अरसः) विष रहित हो और (ते विषम्) तेरा विष भी (अरसम्) विष रहित रहे (उत) और हे (अरस) निर्विष पदार्थ ! (अरसस्य) निर्विष वृक्ष का (ते धनुः) तेरा धनुष भी (अरसम्) निर्विष ही होना उचित है।

मनुष्यों को चाहिये अपने बाणों के फले और धनुष निर्विष वृक्ष के बनावें।

ये अपीषन् ये अदिहन् य आस्यन् ये अवासृजन्।
सर्वे ते वध्रयः कृता वध्रिर्विषगिरिः कृतः ॥ ७ ॥

भा०—(ये) जो (अपीषन्) विष के पदार्थों को पीसें (ये अदिहन्) जो संग्रह करें (य आस्यन्) जो विषमय पदार्थ फेंके (ये अवासृजन्) जो विषैले पदार्थ उत्पन्न करें। (सर्वे ते) वे सब (वध्रयः कृताः) राजशासन द्वारा दण्ड के योग्य हों और (विषगिरिः) विष की खानें, संखियां की खाने भी (वध्रिः) राजशासन में प्रबद्ध रूप से (रिजर्वड) (कृतः) किया जाय। इन सब कार्यों को राजा अपने प्रबन्ध में रखे और स्वतन्त्र किसी को न करने दे।

वध्रयस्ते खनितारो वध्रिस्त्वमस्योषधे।
वध्रिः स पर्वतो गिरिर्यतो जातमिदं विषम् ॥ ८ ॥

भा०—(ते खनितारः वध्रयः) वे विषैले पदार्थों को खोदने वाले पुरुष भी विना राजाज्ञा के दण्ड के योग्य हों और हे (ओषधे) त्वम् वध्रिः असि) विष की ओषधियों तुम भी बन्द सुरक्षित स्थान पर रहो। (सः पर्वतः) वह पहाड़ का भाग (यतः) जिससे (इदं विषं) यह विष (जातम्) उत्पन्न होता है वह भी (वध्रिः) राज्य की कड़ी निगरानी, या पहरे में रहे।



[७] विष-चिकित्सा का उपदेश ।

गरुत्मान् ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । १–३, ५–७ अनुष्टुभः, ४ स्वराट् ।
सप्तर्चं सूक्तम् ॥

वारिदं वारयातै वरणावत्यामधि ।
तत्रामृतस्यासिक्तं तेना ते वारये विषम् ॥ १ ॥

भा०—इस सूक्त में भी विष चिकित्सा का उपदेश करते हैं । (वरणावत्याम् अधि) वरणा नामवाली ओषधि से युक्त धारा में वहने वाला (इदं वाः) यह जल है । (तत्र) इस में (अमृतस्य) अमृत, विष के विनाशक वल का रस (आसिक्तं) खिचा हुआ है । (तेन) उस से (ते विषम् वारयामि) तेरे विष को दूर करता हूं ।

वरणा नामक ओषधि ध० राजनिघण्टु के अनुसार 'वरा' ओषधि है इस नाम वाली पाठा, वन्ध्या कर्कोटकी, विडङ्ग, हरिद्रा, काकमाची और उसके दोनों भेद काकजंघा और चूड़ामणि, और अरणी ये ओषधियां 'वरा' कहाती हैं । ये सब विष नाशक वतलायी गयी हैं । इनके अंश से युक्त जल से विष का नाश करना चाहिये । इसके अतिरिक्त पृथिवी 'वरा' कहाती है मिट्टी के प्रलेप से भी सर्प, वृश्चिक, ततैया आदि के विष दूर करने का प्रकार प्रसिद्ध है ।

अरसं प्राच्यं/विषमरसं यदुदीच्य/म् ।
अथेदमधराच्यं करम्भेण वि कल्पते ॥ २ ॥

---

[७] १–(द्वि०) 'वरणादाभृतम्' (च०) 'चक्रारारसं विषम्' इति पैप्प० सं० ।
२–(प्र०) 'विषमरसं प्राच्यं' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(प्राच्यं विषम्) प्राची दिशा के देशों के जन्तु और ओष-धियों के नाना प्रकार के विष और (यद् उदीच्यं) जो उत्तर दिशा के विष हैं वे भी (अरसं) निर्बल हो जाते हैं (अथ) और (इदम्) यह (अधराच्यम्) नीचे भूमि में सरकने वाले कीट पतंगों का विष भी (अरसं) निर्बल हो जाता है परन्तु यह सब (करम्भेण विकल्पते) उस विष को शान्त करने के लिये जो ओषधि का लेप, और मिश्रण और पान करने योग्य द्रव्य बनाया जाता है उसकी मात्रा और बलाबल के भेद से भिन्न २ बल का विष शान्त होता है ऐसा समझना चाहिये। अर्थात् भिन्न २ विष की मात्रा के लिये ओषधि की मात्रा भिन्न २ समझना उचित है। अथवा शरीर में आड़े फैलने वाला विष जो उसी स्थान पर सूजन कर दे 'प्राच्य' है और ऊपर सिर की ओर फैलने वाला विष 'उदीच्य' और पैरों की ओर नीचे जाने वाला विष 'अधराच्य' है। अथवा 'प्राच्य' बहुत तीव्र 'उदीच्य' मध्यम 'और' अधराच्य न्यून बल है अथवा वातोल्वण विष 'प्राच्य' और पित्तोल्वण 'उदीच्य' और कफोल्वण 'अधराच्य' है।

क॒र॒म्भं कृ॒त्वा ति॒र्यं॑ पीवस्पा॒कमु॑दा॒र॒थिम् ।
क्षु॒धा किल॑ त्वा दुष्टनो ज॒क्षि॒वान्त्स न रू॑रुपः ॥ ३ ॥

३–(च०) 'जक्षिवांसं' इति ह्विटनिकामितः। 'मारूरुपः' इति ह्विटनिकामितः। 'नु रूरुपः' इति पैप्प० सं०। 'रुरुपः' इति प्रातिशाख्यम्। (प्र०) 'तिर्यं तिल्य' मिति ह्विटनिः, 'तिरोभव' मिति सायणः। 'तुरीयं' इति पैप्प० सं०। 'तिरियं' मासत्रयेणपच्यमानोधान्यविशेषः। 'तिर्यम्=अतिरियम्' इति ग्रिलः। (द्वि०) 'पीवस्फाकम्' इति क्वचित्, प्रातिशाख्ये च। 'उदाहृतम्' इति पैप्प० सं०। 'पिवत्साकम्' इति पैप्प० सं०। वर्णाकृतिलेखसाम्यात् 'तिर्प' इति पैप्प० सं०, इति लैन्मनः।

भा०—हे (दुःतनो) बुरी तरह से शरीर में फैलने वाले या शरीर को दुःख देने वाले विष ! यदि (पीवः पाकम्) मेद तक को पका डालने वाले और (उद्-आरथिम्) शरीर को सुजा डालने वाले या बहुत अधिक पीड़ा के जनक (त्वा) तुझ विष को कोई पुरुष (क्षुधा) भूख से प्रेरित होकर, पेट भर कर भी खा जाय तो भी (तिर्यं) धान या चावलों का (करम्भम्) मिश्रण (कृत्वा) करके (जक्षिवान्) खाले तो (सः न रूरुपः) वह मूर्छित न हो ।

' करम्भ ओषधे भव पीवोवृक्क उदारथिः । वातापे पीव इद्भव ' इति ऋग्वेदे ।

अथवा पैप्पलादशाखा के पाठ के अनुसार—" करम्भं कृत्वा निर्यं पीवस्पाकमुदाहृतम् ।" ' निरप ' नामक धान्य का चावल बना हुआ ' पीवस्पाक ' मेद बढ़ाने वाला पुष्टिकर कहा है । (दुष्टनो क्षुधा किल त्वा जक्षिवान्) हे दुस्तनो धान्य ! तुझको जो भूख से खालेता है (सः न रूरुपः) वह विष से दूषित नहीं होता । ' निरप ' नामक शालि के गुण ' निरपो मधुरः स्निग्धः शीतलो दाहपित्तजित् । त्रिदोषशमनो रुच्यः पथ्यः सर्वामयापनुत् ।

वि ते मदं मदावति शरमिव पातयामसि ।
प्र त्वां चरुमिव येषन्तं वचसा स्थापयामसि ॥ ४ ॥

भा०—मदकारिणी ओषधियों के विषों का उपचार बतलाते हैं । हे (मदावति) मदकारी ओषधे ! (ते मदम्) तेरे मद को (शरम् इव) बाण के समान (पातयामः) दूर फेंक देते हैं और हे विष ! (चरुम् इव) दूत

४–' शरुमिव ' (तृ०) ' जेपन्तं ' इति सायणाभिमतः । (तृ०) ' परित्वावर्मि वेशन्तं ' इति पैप्प० सं० ।

गुप्तचर के समान (येपन्तम्) अङ्ग २ में फैलने वाले (त्वा) तुझको (वचसा) वाणी से (प्र स्थापयामः) दूर भेज देते हैं । अर्थात् जैसे डोरी की टनकार से वाण दूर चला जाता है और जिस प्रकार स्वामी की आज्ञा सुनकर गुप्त-चर दूर देश में चला जाता है उसी प्रकार हमारी वाणी के प्रयोग से मद उतर जाय । अथवा—(येपन्तं चरुम् इव) जिस प्रकार उबलती हुई हण्डिया को शीतल पानी में डाल कर या आग से उतार कर रख देने से वह उबलना बन्द कर देती है उसी प्रकार शरीर में तीव्रता से उफनते हुए विष को हम अपने तीव्र वचन प्रयोग से (प्र स्थापयामसि) थाम लें ।

परि ग्रामंमिवाचिंतं वचंसा स्थापयामसि ।
तिष्ठां वृक्ष इव स्थाम्न्यभ्रिखाते न रूरुपः ॥ ५ ॥

भा०—(ग्रामम् परि) ग्राम भर में (आचितं) फैले हुए अराज-कता या दंगे को जिस प्रकार राजा अपने हुकुम से एक ही वार रोक देता है उसी प्रकार हम विषवैद्य तुझ विष को (वचसा स्थापयामसि) अपनी प्रभावजनक वाणी द्वारा स्थिर कर दें, शरीर में फैले हुए विष को घातक प्रभाव करने से रोकें । हे पुरुष ! तू (अभ्रि-खाते) कुद्दाले से खोदे हुए (स्थाम्नि) थांव ले या गढ़े में (वृक्ष इव) दरख्त के समान (तिष्ठ) गड़ कर खड़ा हो जा, (न रूरुपः) इससे तू मूर्छित न होगा । शब्द का प्रभाव विष उतारने, उसको रोकने आदि में प्रायः देखा गया है पृथिवी में गढ़ा खोद कर उसमें गले तक गाड़ देने से भी पृथिवी विष चूस जाती है । देखो डा० जुस्ट की मिट्टी चिकित्सा ।

पवस्तैस्त्वा पर्यक्रीणन् दूर्शेभिरजिनैरुत ।
प्रक्रीरसि त्वमोषधेऽभ्रिखाते न रूरुपः ॥ ६ ॥

भा०—हे (अभ्रिखाते) कुदाल से खोदी गई ओषधी (त्वा) तुझ को (पवस्तैः) वस्त्रों या छाजों और (दूर्शेभिः) ऋक्ष या व्याघ्रच्छालाओं

(उत) और (अजिनैः) मृगच्छालाओं के बदले में (पर्यक्रीणन्) परस्पर बेचते ख़रीदते हैं। इसलिये तेरा नाम (प्रक्रीः) भी है। तेरे प्रयोग से भी (न रूरुपः) विषार्त रोगी मूर्छा को प्राप्त नहीं होता।

'प्रक्री' ओषधि धन्वन्तरि राजनिघण्टु में प्रकीर्य नाम से आया है। जिसके पांच भेद हैं करञ्ज, उदकीर्य, अंगारवल्ली, गुच्छकरंज, रीठाकरंज। ये भी विषनाशक एवं कुष्ठ, कण्डू और स्फोट त्वचादोष के नाशक बतलाये गये हैं।

अनाप्ता ये वः प्रथमा यानि कर्माणि चक्रिरे।
वीरान् नो अत्र मा दभन् तद् व एतत् पुरो दधे ॥ ७ ॥

अथर्व० ५। ६। २॥

भा०—हे मनुष्यो! (ये) जो (वः) तुम लोगों में से (अनाप्ताः[1]) अनाप्त अर्थात् आप्त या विद्या-पारंगत नहीं हैं वे (यानि) जो (प्रथमा) प्रथम २ (कर्माणि) कर्म (चक्रिरे) करते हैं वे (अत्र) इस कार्य में (नः) हमारे (वीरान्) वीरों, पुत्रों को (मा दभन्) कष्ट न पहुंचावें।



[८] राज्याभिषेक योग्य राजा का वर्णन।

अथर्वाङ्गिराः ऋषिः। राज्याभिषेकम्। चन्द्रमाः आपो वा देवताः। १, ८ भुरिक्-त्रिष्टुप्, ३ त्रिष्टुप्, ५ विराट् प्रस्तारपंक्तिः, २, ४, ६ अनुष्टुभः। सप्तर्चं सूक्तम् ॥

७–(प्र०) 'अनाप्ता' इति बहुत्र।

१. 'अनाप्ता अननुकूला शत्रवः' इति सायणः। 'न उत्तमा येभ्यः' इति क्षेमकरणः, तदुभयं चिन्त्यम्।

भूतो भूतेषु पय आ दधाति स भूतानामधिपतिर्बभूव ।
तस्य मृत्युश्चरति राजसूयं स राजा राज्यमनु मन्यतामिदम् ॥ १ ॥

भा०—राजसूय यज्ञ द्वारा राज्य को शासन करने का उपदेश करते हैं । (भूतः) स्वयं सामर्थ्यवान् होकर पुरुष (भूतेषु) अन्य समृद्ध-समर्थ पुरुषों पर भी (पयः) अपना वीर्य, पराक्रम (आ दधाति) स्थापन करता है (सः) वह ही (भूतानाम्) प्राणियों का (अधिपतिः) स्वामी (बभूव) हो जाता है । (तस्य) उसके (राज-सूयं) राजसूय, राजाओं पर जमने वाले शासन, यज्ञ या प्रभुत्व को (मृत्युः) मृत्यु दण्ड देने का सामर्थ्य ही स्वयं (चरति) सम्पन्न करता है (सः) वह (राजा) राजा सब के मनों का अनुरंजक होकर (इदम् राज्यम्) इस राज्य को (अनु मन्यताम्) स्वीकार करे ।

अभि प्रेहि माप वेन उग्रश्चेत्ता सपत्नहा ।
आ तिष्ठ मित्रवर्धन तुभ्यं देवा अधि ब्रुवन् ॥ २ ॥

अथर्व० २ । ७ । १६ ॥

भा०—हे राजन् ! (अभि प्रेहि) तू सब के समक्ष अग्रासन पर आ । (मा अप वेनः) कभी अपने को तुच्छता में रख कर अपनी शोभा कम मत कर, अपनी शान मत विगाड़ । तू स्वयं (उग्रः) सदा उद्यत दण्ड होकर (चेत्ता) राष्ट्र कार्यों के समस्त विभागों को जानने हारा, विद्वान् बन कर (सपत्न-हा) अपने शत्रुओं को जीतकर, हे (मित्र-वर्धन) अपने मित्र राजाओं को ऊंचे पदों पर वृद्धि देने हारे राजन् ! (आ तिष्ठ) सिंहासन

---

[८] १–(प्र०) भूतो भूतेषु चरति प्रविष्टः (तृ०) 'तस्य मृत्यौ' इति तै० ब्रा० । 'स ते मृत्युं' इति पैप्प० सं० ।
२–(प्र०) 'अभि प्रे वी उपस्व' इति पैप्प० सं० ॥

पर विराजमान हो । (तुभ्यं) तेरे लिये (देवाः) विद्वान् लोग (अधि ब्रुवन्) उत्तम राजनैतिक उपदेश करें, उत्तम मन्त्रणा दें ।

आ तिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषञ् छ्रियं वसानश्चरति स्वरोचिः ।
महत् तद् वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ ॥३॥

ऋ० ३ । ३८ । ४ ॥ यजु० ३३ । २२ ॥

भा०—हे राजन् ! (आ-तिष्ठन्तं) राज्य सिंहासन पर बैठे हुए तुझ को (विश्वे) समस्त विद्वान् प्रजागण (परि अभूषन्) चारों ओर से घेर कर सभा में विराजमान हों और तू (स्व-रोचिः) स्वयंप्रकाश सूर्य के समान (श्रियं वसानः) राजलक्ष्मी को धारण करता हुआ (चरति) सर्वत्र विचरण कर या राज्य का भोग कर । (वृष्णः) प्रजा पर नाना सुखों के वर्षक और (असुरस्य) शत्रुओं के नाशक राजा का ही (तत् महत् नाम) वह बड़ा भारी यश है कि (विश्व-रूपः) राष्ट्र के समग्र अधिकारियों में नानारूप होकर वह (अमृतानि) अमर नामों, पदों और यशों को (तस्थौ) प्राप्त करता है ।

व्याघ्रो अधि वैयाघ्रे वि क्रमस्व दिशो महीः ।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्त्वापो दिव्याः पयस्वतीः ॥ ४ ॥

भा०—हे राजन् ! (वैयाघ्रे) व्याघ्र के स्वभाव वाले पुरुष पर (व्याघ्रः) वाघ बन कर तू (वि-क्रमस्व) उस पर चढ़ाई कर और इसी प्रकार (महीः दिशः) विशाल दिशाओं में अपना चतुर्दिगन्त (वि क्रमस्व) विजय कर । (त्वा) तुझे (सर्वाः विशः) समस्त प्रजाएं जो नगर में आकर बसी हैं

३–(द्वि०) ' श्रियो वसानः ' इति ऋ० ।
४–व्याघ्रो वैयाघ्रेऽधि श्रयस्व (च०) 'मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत्' इति तै० ब्रा० (तृ०) 'सर्वायन्त्वापः' इति पैप्प० सं० ।

(पयस्वतीः) अन्न और पशु, दुग्ध और अमृत को प्राप्त करने वाली, हृष्ट पुष्ट (दिव्याः आपः) और द्यौलोक से आने वाली वर्षा के समान उपकारी आप्त प्रजाएं भी तुझे ही अपना राजा स्वीकार करें अर्थात् मेघ तेरे राज्य में वृष्टि करे अकाल, दुर्भिक्ष न हों, प्रजाएं हृष्ट पुष्ट हों।

या आपो॑ दि॒व्याः पय॑सा॒ मद॑न्त्य॒न्तरि॑क्ष उ॒त वा॑ पृथि॒व्याम् ।
तासां॑ त्वा॒ सर्वा॑सामु॒पाम॒भि षि॑ञ्चामि॒ वर्च॑सा ॥ ५ ॥

भा०—(याः) जो (दिव्याः) दिव्यगुण वाली (आपः) जलधाराएं या आप्त प्रजाएं (पयसा) अपने पुष्टि-आरोग्यकारक जल और बल से (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (उत वा) अथवा (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (मदन्ति) प्राणियों को हृष्ट पुष्ट करते और स्वयं प्रसन्न रहते हैं (तासां सर्वासां) उन सब के (वर्चसा) तेज से (त्वा) तुझे (अभि षिञ्चामि) राज्य सिंहासन पर अभिषेक करता हूं। सब तीर्थों के और सब प्रकार के जलों से राज्याभिषेक के अवसर पर राजा को स्नान कराया जाता है।

अ॒भि त्वा॒ वर्च॑सासिच॒न्नापो॑ दि॒व्याः पय॑स्वतीः ।
यथासो॑ मित्र॒वर्ध॑न॒स्तथा॑ त्वा सवि॒ता क॑रत् ॥ ६ ॥

भा०—हे राजन्! (त्वा) तुझे (पयस्वतीः) पुष्टिदायक सार पदार्थ से युक्त (दिव्याः आपः) दिव्य-गुणसम्पन्न (आपः) जलों और आप्तजनों ने (वर्चसा) अपने तेज से जो (अभि असिचन्) सब प्रकार से या सब के समक्ष स्नान कराया है इसका तात्पर्य यही है कि तू (यथा) जिस प्रकार से हो सके (मित्रवर्धनः असः) अपने स्नेह करने वाले राजा और प्रजा,

---

५–(प्र० द्वि०) 'या दिव्या आपः पयसा सम्बभूवुः या अन्तरिक्षे उत पार्थिवीर्याः' इति तै० ब्रा०।

६–(प्र०) ' वर्चसाऽसृजन् ' इति पैप्प० सं०, सायणाभिमतश्च ।

सामन्तों और अधिकारियों की वृद्धि कर और (सविता) सर्वप्रेरक, सर्वोत्पादक पिता परमात्मा (तथा) उस प्रकार का (त्वा करत्) तुझे बनावे।

एना व्याघ्रं परिषस्वजानाः सिंहं हिन्वन्ति महते सौभगाय ।
समुद्रं न सुभुवस्तस्थिवांसं मर्मृज्यन्ते द्वीपिनमप्स्व१न्तः ॥७॥

भा०—(एनाः) ये समस्त प्रजाएं जिनकी प्रतिनिधि-भूत ये समस्त दिव्य जल-धाराएं या 'आपः' हैं वे (व्याघ्रम्) बाघ के समान पराक्रमी और (सिंहम्) सिंह के समान शूरवीर राजा को (परि-सस्वजानाः) आश्रय करती हुई (महते सौभगाय) बड़े भारी सौभाग्य, राज्य सिंहासन पर बैठ कर शासन कार्य के लिये (हिन्वन्ति) प्रेरित करती या उसको कर प्रदान करके परिपुष्ट करती हैं। जिस प्रकार (तस्थिवांसम्) स्थिर गम्भीर (समुद्रम्) समुद्र को समस्त नदी आदि जल से पूर्ण करते हैं उसी प्रकार (सु-भुवः) उत्तम भूमियां (द्वीपिनं) शार्दूल के समान पराक्रमी और (अप्सु अन्तः तस्थिवांसं) जलों के समान उत्तम प्रजाओं के बीच खड़े हुए राजा को (मर्मृज्यन्ते) अङ्ग प्रत्यङ्ग में स्नान कराती हैं और छत्र चामर आदि से सुशोभित करती हैं।

---

[९] अञ्जन के दृष्टान्त से ज्ञान का वर्णन ।

भृगुर्ऋषिः । त्रैककुदमञ्जनं देवता । १, ४–१० अनुष्टुभः, कुम्मती, ३ पथ्यापंक्तिः । दशर्चं सूक्तम् ॥

एहि जीवं त्रायमाणं पर्वतस्यास्यक्ष्यम् ।
विश्वेभिर्देवैर्दत्तं परिधिर्जीवनाय कम् ॥ १ ॥

७–(द्वि०) 'सिंहं मृजन्ति महते धनाय' (तृ०) 'महिषं नः सुभ्वम्' इति मै० सं० 'महिषं न सुभवः' इति पैप्प० सं० । 'समुद्रे न सुभ्वम्' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

[९] १–(द्वि०) 'अक्षय्यम्' 'अक्षरं' वा इति ग्रिल्कामितः ।

भा०—अञ्जन के दृष्टान्त से ज्ञान का वर्णन करते हैं। जिस प्रकार अञ्जन (अस्य पर्वतस्य) इस पर्वत का विकार होकर (अक्ष्यम्) चक्षुओं के लिये हितकारक है और जीवन की रक्षा में सहायक है उसी प्रकार हे सद् विवेकरूप ज्ञानाञ्जन तू (जीवं त्रायमाणं) इस जीव की, आत्मा की या प्राणियों की रक्षा करता हुआ (अस्य) इस (पर्वतस्य) परम पूर्ण सब के परिपालक परमात्मा से प्राप्त होकर जीव के लिये (अक्ष्यम् असि) इस अन्धकार मय संसार में चक्षु के लिये प्रकाश के समान हितकर है। और (विश्वेभिः) समस्त (देवैः) विद्वानों ने (दत्तं) तेरा जीवों के लिये उपदेश किया है और वस्तुतः (जीवनाय) जीवन भर के लिये (परिधिः) परकोट के समान प्राण-रक्षक है।

परिपाणं पुरुषाणां परिपाणं गवांमसि ।
अश्वांनामर्वतां परिपाणाय तस्थिषे ॥ २ ॥

भा०—हे ज्ञानरूप अञ्जन ! सब पदार्थों के प्रकाशक ! तू (पुरुषाणां) मनुष्यों का रक्षक और (गवाम्) गौओं, पशुओं, ज्ञान-इन्द्रियों का भी (परिपाणम्) सब प्रकार से रक्षक (असि) है। और (अर्वतां) इधर उधर चलने फिरने हारे अश्वों और उनके सदृश प्राणेन्द्रियों के भी (परिपाणाय) सब प्रकार से रक्षा करने के लिये तू सदा (तस्थिषे) उद्यत रहता है।

उतासि परिपाणं यातुजम्भंनमाञ्जन ।
उतामृतंस्य त्वं वेत्था थो असि जीवभोजंनमथो हरितभेषजम् ॥३॥

भा०—हे (आञ्जन) अञ्जन के समान चक्षु को अज्ञान रूप तामस रोग से विनिवृत्त करने हारे सर्व-प्रकाशक ज्ञानाञ्जन ! (उत) और भी

३–(प्र०) 'उतेवासि', (तृ० च०) 'उतामृतत्वस्येशिषा उतासः पितु भोजनम्' इति पैप्प० सं०।

अधिक यह कि (यातु-जम्भनम्) समस्त मानस और शरीर पीड़ाओं को रोक कर उन से (परिपाणम्) रक्षा करने हारा (असि) है । (उत) और (त्वं) तू (अमृतस्य वेत्ता असि) मोक्ष सुख का ज्ञापक, ज्ञाता वा प्राप्त कराने वाला है । और सत्य बात तो यह है कि (जवि-भोजनम्) जीवों के लिये भोजन के समान पुष्टिकारक, प्राणाधार और आत्मा का आभ्यन्तर मानस-भोजन समस्त भोगप्रद (अथो) भी (असि) है । (अथो) और तूही (हरित-भेषजम्) नये २ लाये ताजे रस वाले ओषधि के समान वल्ली, ज्ञानलता होकर उसके सब भवरोगों की चिकित्सा कर देता है ।

यस्याञ्जन प्रसर्पस्यङ्गमङ्गं परुष्परुः ।
ततो यक्ष्मं वि बाधस उग्रो मध्यमशीरिव ॥ ४ ॥

ऋ० १० । ९७ । १२ ॥ यजु० १२ । ८६ ॥

भा०—अज्ञान-नाशक ज्ञानाञ्जन ! स्वयं-प्रकाश ! (यस्य) जिसके (अङ्गम् अङ्गम्) अंग २ में और (परुः-परुः) पोरू २ में तू (प्र-सर्पसि) व्याप जाता है वहां २ से (यक्ष्मं वि बाधसे) पीड़ाजनक रोग को नष्ट कर देता है । तू सचमुच (मध्यमशीः-इव) अन्तरिक्ष में व्यापक वायु एवं शरीर में व्यापक प्राण के समान अथवा मध्यम राजा के समान (उग्रः) बड़ा ही बलवान् है । इसी कारण जीवन के प्रत्येक भाग में से भव-बन्धनों को काट डालता है और सब प्रकार से सुखी कर देता है ।

नैनं प्राप्नोति शपथो न कृत्या नाभिशोचनम् ।
नैनं विष्कन्धमश्नुते यस्त्वा बिभर्त्याञ्जन ॥ ५ ॥

४–'यस्यौषधी प्रसर्पथ' इति ऋ० । (तृ०) 'विबाधध्वे' इति ऋ० । 'बाधते' इति सायणाभिमतः । 'तस्माद् यक्ष्म' इति पैप्प० सं० ।

५–(प्र०) 'तं प्राप्नोति' (तृ०) 'नैनं निष्कन्वं' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे ज्ञानाञ्जन ! प्रकाशस्वरूप ! (यः त्वा बिभर्त्ति) जो तुझे धारण करता है (एनं शपथो न प्राप्नोति) उसको किसी का दुर्वचन भी नहीं लगता (न कृत्या) उसको किसी की बुरी चाल भी नहीं सताती। (न अभि-शोचनम्) उसको किसी का कोसना भी नहीं लगता। (एनं वि-स्कन्धं न अश्नुते) उसको किसी का षड्यन्त्र या सेनाबल भी पीड़ा नहीं देता।

असन्मन्त्राद् दुष्वप्न्याद् दुष्कृताच्छमलादुत।
दुर्हार्दश्चक्षुषो घोरात् तस्मान्नः पाह्याञ्जन॥ ६॥

भा०—हे ज्ञानाञ्जन ! तू (नः) हमें (असत्-मन्त्रात्) दुष्ट पुरुषों की दुष्ट सलाहों और कुचोदनाओं एवं दुर्विचारों और दुर्मन्त्रणाओं से (दुः-स्वप्न्याद्) बुरे २ विचारों से उत्पन्न होने वाले बुरे २ स्वप्नों से (दुष्कृतात्) दुर्विचारों से उत्पन्न होने वाले दुराचारों से (उत) और (शमलाद्) पाप कर्म से और (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय वाले पुरुष की (घोरात्) पापमय, भयंकर (चक्षुषः) आँखों से भी (पाहि) बचा, हमारी रक्षा कर।

इदं विद्वानाञ्जन सत्यं वक्ष्यामि नानृतम्।
सनेयमश्वं गामहमात्मानं तव पूरुष॥ ७॥

उत्तरार्धः ऋ० १० । ९७ । ४ (प्र० द्वि०) ॥
यजु० १२ । ९८ प्र० द्वि० ॥

भा०—हे (आ-अञ्जन) अञ्जन के समान भीतरी आंख खोल देने वाले प्रकाशस्वरूप ज्ञान ! (इदं विद्वान्) इस सब बात को जानता हुआ मैं

६–(द्वि०) 'क्षेत्रियाच्छपथादुत' इति पैप्प० सं०।
७–'पूरुषः' इति सायणसम्मतः पाठः। (च०) 'गांवासः' इति यजु०। 'गां वास आञ्जन तव पौरुषः' इति पैप्प० सं०।

(सत्यं वक्ष्यामि) सत्य ही बोलूं , (न अनृतम्) झूठ न बोलूं । हे (पूरुष) ज्ञानमय आत्मन् (तव) तेरे लिये (अश्वं गाम्) अश्व और गौ और (आत्मानं) अपने को भी (अहं) मैं (सनेयम्) दान कर दूं , त्याग कर दूं , पर तेरी अवश्य रक्षा करूं ।

त्रयो॑ दा॒सा आञ्ज॑नस्य त॒क्मा ब॒लास॒ आदहि॑ः ।
वर्षि॑ष्ठः॒ पर्व॑तानां त्रिक॒कुन्नाम॑ ते पि॒ता ॥ ८ ॥

भा०—(आ-अञ्जनस्य) इस ज्ञानरूप अञ्जन के (त्रयः दासाः) तीन दास अर्थात् विनाश करने योग्य पदार्थ हैं प्रथम (तक्मा) कृच्छ्र जीवन और दुःखमय जीवन, (बलासः) आत्मा का बलनाशक निराशावाद, और (आत् अहिः) उससे उतर कर सर्प के समान तप और यशः शरीर पर आघात करने वाला, विषय-वासनामय काम इन तीनों का ज्ञानरूप वज्र विनाशक है । लोक में अञ्जन के बल पर ज्वर, अतीसार और विष-विकार नष्ट होते हैं । हे ज्ञानरूप अञ्जन ! (ते पिता) तेरा पिता पालक (पर्वतानां) पर्वतों में से, पालना करने में समर्थों में से वह (वर्षिष्ठः) ज्ञान जल का वर्षाने वाला, सब से अधिक वृद्ध और सब से अधिक समर्थ परमेश्वर है जिसका (नाम) रूप और महिमा (त्रि-ककुद्) त्रिककुत् , तीनों लोकों में श्रेष्ठ, वेदत्रयी रूप, त्रिनेत्र, त्रि-अम्बक और 'भूः भुवः स्वः' स्वरूप प्रभु है । वेदत्रयी त्रिनेत्राणि त्रिगुणं त्रिपुरं वपुः । शि० पु० ।

यदाञ्ज॑नं त्रैककु॒दं जा॒तं हि॒मव॑त॒स्परि॑ ।
या॒तूंश्च॒ सर्वा॑ञ् ज॒म्भय॒त्सर्वा॑श्च यातुधा॒न्य॑ः ॥ ९ ॥

भा०—जिस प्रकार हिमावृत पर्वतों से परे त्रिककुद् नामक विशाल पर्वतों से अञ्जन उत्पन्न होकर सब शरीर की पीड़ाओं और सब पीड़ाकारी विघ्न बाधाओं को दूर करता है उसी प्रकार यह ज्ञानरूप अञ्जन भी (हिमवतः परि) हिम के समान शुक्लकर्मा, शुद्धाचारी मुक्त पुरुष से ऊपर

(त्रैककुदं) वेदत्रय रूप परब्रह्म से (जातं) उत्पन्न (यद्) जो (आञ्जनं) ज्ञानमय अञ्जन है वह (सर्वान्) सब (यातून्) पीड़ादायक विषयों और (सर्वाश्च यातुधान्यः) सब योग-विघ्न कारिणी दुर्वृत्तियों को (जम्भयाति) विनाश कर देता है ।

यदि वासि त्रैककुदं यदि यामुनमुच्यसे ।
उभे ते भद्रे नाम्नी ताभ्यां नः पाह्याञ्जन ॥ १० ॥

भा०—हे ज्ञानाञ्जन ! (यदि वा त्रैककुदम् असि) चाहे तेरा नाम 'त्रैककुद' तीनों वेदों के भण्डार परमेश्वर से उत्पन्न वेदत्रय ज्ञान है । (यदि वा यामुनम् उच्यसे) और चाहे तू 'यामुन' यम नियम साधना से योगजरूप में उत्पन्न होकर 'यामुन' कहाता है (ते) तेरे (ते) वे दोनों (भद्रे) कल्याण और सुखकर उत्तम (नाम्नी) स्वरूप हैं (ताभ्यां) उन दोनों से (नः) हमें (पाहि) पालन कर । यहां लोक में प्रसिद्ध दो प्रकार के अञ्जनों की सत्ता का भी उपदेश कर दिया ।



[१०] शंख के दृष्टान्त से आत्मा का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । शंखमणिशुक्तयो देवताः । १–५ अनुष्टुभः, ६ पथ्यापंक्तिः, ७ पञ्चपदा परानुष्टुप् शक्वरी । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

वाताज्जातो अन्तरिक्षाद् विद्युतो ज्योतिषस्परि ।
स नो हिरण्यजाः शङ्खः कृशनः पात्वंहसः ॥ १ ॥

भा०—शंख के दृष्टान्त से आत्मा का वर्णन करते हैं । (वातात् जातः) प्राणवायु से शरीर में प्रकट हुआ (अन्तरिक्षात् जातः) अन्तरिक्ष=हृदया

[१०] १-(तृ०) 'हिरण्यदाः' इति पैप्प० सं० ।

काश में प्रकट, (विद्युतः ज्योतिषः परि) विद्युत् की ज्योति के स्वरूप में योगाभ्यास द्वारा साक्षात् किया गया, वह (कृशनः) मुक्ता के समान अति सूक्ष्म, उज्ज्वल, सब दुखों का विनाशक, (हिरण्यजाः) अभिरम्य, सब से रमण करने योग्य अपने आत्मा रूप में प्रकट हुआ (शंखः) कल्याण मार्ग को स्वयं खोजने और प्राप्त करने वाला हमारा आत्मा ही (नः) हमें (अंहसः) पापों से (पातु) बचावे ।

यो अ॑ग्र॒तो रो॑च॒नानां॑ समु॒द्राद॑धि॑ जज्ञि॒षे ।
श॒ङ्खेन॑ ह॒त्वा रक्षां॑स्य॒त्त्रिणो॒ वि ष॑हामहे ॥ २ ॥

भा०—जिस प्रकार समुद्र से शंख उत्पन्न होता है और उसका नाद बजा कर योद्धा राक्षसों और चोरों को विजय करता है उसी प्रकार (यः) जो (रोचनानां) सब कान्तिमान इन्द्रियों के (अग्रतः) पूर्व, सर्वश्रेष्ठ (समुद्राद्) सब आनन्द रसों के सागर सर्वशक्तिमान् ब्रह्म परमात्मा से ही (अधि जज्ञिषे) ज्ञान प्राप्त करता है उस (शंखेन) आत्मा रूप शंख से (रक्षांसि) विघ्नों को या व्युत्थानकारी मानस विक्षोभों को और (अत्त्रिणः) आत्मा की विभूतियों के विनाशक विषयों को या विषयभोगी इन्द्रियों को (वि सहामहे) नाना प्रकार से वश करते हैं । आत्मा के ज्ञानमय अनाहत शंखनाद से विषय वासना नष्ट होती और अन्तर्वृत्ति होकर इन्द्रियां वश में होती हैं ।

श॒ङ्खेनामी॑वा॒मम॑तिं श॒ङ्खेनो॒त स॒दान्वाः॑ ।
श॒ङ्खो नो॑ वि॒श्वभे॑षजः॒ कृश॑नः पा॒त्वंह॑सः ॥ ३ ॥

भा०—(शंखेन) शंख=सुख के अभिलाषी या आनन्दमय और कल्याणस्वरूप उस आत्मा के स्वरूप ज्ञान से हम (अमीवाम्) सब

३–(प्र०) 'वामवधम्' इति पैप्प० सं० ।

रोगों को और (अमतिं) अज्ञान को और उसी (शंखेन) कल्याण सब सुख रूप आत्मा से (सदान्वाः) सदा का कष्टदायिनी दुष्ट पीड़ाओं को भी वश कर लेते हैं । वही (शंखः) शंख, आत्मा (नः) हमारा (विश्व-भेषजः) सब रोग पीड़ाओं की एकमात्र ओषधि है । वह (कृशनः) सब दुखों का नाशक सूक्ष्मतम आत्मा (नः) हमें (अंहसा) पापों से (पातु) बचावे ।

दिवि जातः समुद्रजः सिन्धुतस्पर्याभृतः ।
स नो हिरण्यजाः शङ्ख आयुष्प्रतरणो मणिः ॥ ४ ॥

भा०—वह आत्मा (समुद्र-जः) उस परब्रह्म रूप आनन्दसागर से अपना आनन्दांश लेने वाला (सिन्धुतः परि आ-भृतः) उस दया, आनन्द, चेतना और ज्ञान के सिन्धु से सब प्रकार से पालित पोषित (हिरण्य-जाः) अभिराम उस परम सीमा के आश्रय पर जीवित वह (शंखः) कल्याण रूप आत्मा (मणिः) ज्ञानवान् होकर मणि के समान स्वयं-प्रकाश होकर (आयुः-प्रतरणः) इस आयु या जीवन में पार उतार देता है, भव सागर से तरा देता है ।

समुद्राज्जातो मणिर्वृत्राज्जातो दिवाकरः ।
सो अस्मान्त्सर्वतः पातु हेत्या देवासुरेभ्यः ॥ ५ ॥

भा०—वह शंख रूप आत्मा (मणिः) प्रकाशस्वरूप होकर भी (समुद्रात्) समुद्र से उत्पन्न मणि के समान उस ज्ञान और ज्योति के परम सागर से (जातः) ज्ञान और ज्योति को प्राप्त करता है । और (वृत्रात् जातः दिवाकरः) जिस प्रकार मेघ के आवरण से मुक्त होकर सूर्य अपने तापकारी किरणों से चमकने लगता है उसी प्रकार अज्ञान के आव-

४–(प्र०) समुद्रतः, (तृ०) 'हिरण्यदाः' इति पैप्प० सं० ।

रण से मुक्त होकर आदित्य रूप होकर वह आत्मा चमकने लगता है। वह आदित्य रूप ज्ञानवान् आत्मा (देवासुरेभ्यः) देवों ज्ञान-इन्द्रियगण और असुर=प्राणेन्द्रियों से हमें अपने (हेत्या) विषय वासनाओं को मार गिराने वाले ज्ञानवज्र से (नः) हमारी (पातु) रक्षा करे।

हिरण्यानामेकोऽसि सोमात् त्वमधि जज्ञिषे ।
रथे त्वमसि दर्शत इषुधौ रोचनस्त्वं प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥६॥

भा०—हे (दर्शत) दर्शनीय! योग समाधिद्वारा प्रयत्न करने योग्य एकमात्र दर्शनीय रूप आत्मन्! तू (हिरण्यानाम्) अभिराम, रमणीय, एवं कान्तिमान या चेतनावान् इन्द्रियगणों में, ताराओं में सूर्य के समान उनका भी प्रकाशक (एकः, असि) एक ही है। और (सोमात्) सब के उत्पादक एवं प्रेरक ज्ञानमय, चेतनामय और आनन्दमय परब्रह्म से (अधि जज्ञिषे) आनन्द प्राप्त करके आनन्दमय हो जाता है। (रथे) इस देह मय रथ में विराजमान होकर (दर्शतः त्वम् असि) तू और भी दर्शनीय है और (इषु-धौ) इषु=मनः कामनाओं के धारण करने हारे मन पर भी वश करके (रोचनः) उससे अधिक कान्तिमान होकर (त्वं) तू (नः आयूंषि) हमारे आयुओं, जीवनों को (तारिषत्) तरा देता है, सफल कर देता है।

देवानामस्थि कृशनं बभूव तदात्मन्वच्चरत्यप्स्वन्तः ।
तत् ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय ।
शतशारदाय कार्शनस्त्वाभि रक्षतु ॥ ७ ॥

६–(द्वि०) 'सहोपादधि', (तृ०) 'रथेषु दर्शतं' इति पैप्प० सं० ।
७–(च०) 'बलाय च कार्षिणस्त्वाभिरक्षतु' इति पैप्प० सं० । 'कर्श-नस्त्वा' इति बहुत्र ।

भा०—हे शिष्य ! वह आत्मा (कृशनं) अति सूक्ष्म होकर भी (देवानाम् अस्थि) देव—इन्द्रियगणों का प्रेरक (बभूव) है। (तत्) वही आत्मा (आत्मन्वति) अपने अधीन इस देह में और (अन्तः, अप्सु) सर्व विचारों में और क्रियाओं में (चरति) विचरा करता है। उस आत्म-रूप मणि को मैं आचार्य हे शिष्य (ते) तेरे (आयुषे) दीर्घ जीवन, (वर्चसे) ब्रह्मचर्य और (बलाय) बल सम्पादन के लिये और (शतशारदाय दीर्घायुत्वाय) सौ वर्ष के दीर्घ जीवन के लिये (बध्नामि) बांधता हूं। उपनयन के समय उसका तुझे उपदेश करता हूं । वह (कर्शनः) सूक्ष्माति सूक्ष्म सब कष्टों का विनाशक आत्मा (त्वा अभिरक्षतु) तेरी सब प्रकार से रक्षा करे।

आत्म-रूप से परमात्मा का भी साथ २ वर्णन हो गया है। जैसे आत्मा का यह देह वैसे ही ब्रह्म का ब्रह्माण्ड देह है इस देह के देव इन्द्रिय गण और उसके लोक लोकान्तर इत्यादि विराट् रूपक जानना चाहिये। आत्म-ज्ञान के साथ २ परमात्मा का दर्शन भी होता है अतः मर्मज्ञ ऋषियों की वाणी में आत्मा परमात्मा का समान वर्णन होता है।

इति द्वितीयोऽनुवाकः ।

[तत्र पञ्चसूक्तानि, एकोनचत्वारिंशदृचः ।]



[११] जगदाधार परमेश्वर का वर्णन ।

भृग्वंगिराः ऋषिः । अनड्वान् देवता । १, ४ जगत्यौ, २ भुरिग्, ७ त्र्यवसाना षट्पदानुष्टुब्गर्भो परिष्टाज्जागता निचृच्छक्करी, ८-१२ अनुष्टुभः ।
द्वादशर्चं सूक्तम् ।

अनड्वान् दाधार पृथिवीमुत द्यामनड्वान् दाधारोर्व१न्तरिक्षम् ।
अनड्वान् दाधार प्रदिशः षडुर्वीरनड्वान् विश्वं भुवनमा विवेश॥१॥

भा०—विश्व के धारक परमेश्वर का वर्णन करते हैं । (अनड्वान्) अनः—ब्रह्माण्डरूप यज्ञ को धारण करने वाला या विश्वमय शकट को उठाने वाला वह परमेश्वर (पृथिवीम्) इस पृथिवी को (उत) और (द्याम्) द्यौलोक को (दाधार) धारण करता है और वही (अनड्वान्) ब्रह्माण्ड रूप शकट को धारण करने वाला (उरु) महान्, विशाल (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षम् को भी (दाधार) धारण कर रहा है। (अनड्वान्) वह सर्व शक्तिमान्, ब्रह्माण्ड का स्वामी (षट्) छहों (उर्वीः) विशाल (प्र-दिशः) पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, नीचे और ऊपर की प्रधान दिशाओं को भी (दाधार) धारण कर रहा है। कहने का तात्पर्य यह है कि (अनड्वान्) वही विश्वधारक प्रभु (विश्वम्) समस्त (भुवनम्) इस उत्पन्न जगत् में (आ विवेश) व्यापक है।

अनड्वानिन्द्रः स पशुभ्यो वि चष्टे त्रयाञ्छक्रो वि मिमीते अध्वनः।
भूतं भविष्यद् भुवना दुहानः सर्वा देवानां चरति व्रतानि ॥ २ ॥

भा०—पूर्वोक्त 'अनड्वान्' को इन्द्र रूप से वर्णन करते हैं। वह (अनड्वान्) विश्व के धारण करने हारा (इन्द्रः) सकल ऐश्वर्यसम्पन्न होकर सूर्य और स्वयंप्रकाश होकर (पशुभ्यः) समस्त जीवों के हित के लिये (विचष्टे) प्रकाशित होता है। वही (शक्रः) सर्व शक्तिमान् होकर (त्रयान् अध्वनः[२]) तीनों लोकों को अविच्छिन्न रूप से जीवों के कर्म फल

[११] १-(प्र०) 'पृथिवीं द्यामुतेमां' इति पैप्प० सं०।
२-'विचष्टे स्तियांञ्छक्रो' इति सायणसम्मतः पाठः।
१. अदेर्धच (उणादिः १ । ११६) (प्र०) 'अनड्वान् इन्द्रस्य', (तृ०) 'सम्भूतं भुवतं' इति पैप्प० सं०।

भोगने के सात्विक तामस और राजस मार्गों को (वि मिमीते) निर्माण करता है। और वही (भूतं) भूत काल और (भविष्यत्) भविष्यद् काल में उत्पन्न होने वाले (भुवना) समस्त लोकों को (दुहानः) पूर्ण करता हुआ (देवानां) देवों के (सर्वा व्रतानि) समस्त कार्यों को स्वयं ही सम्पादित कर रहा है।

इन्द्रो जातो मनुष्ये॑ष्वन्तर्घर्मस्तप्तश्चरति शोशु॑चानः ।
सुप्रजाः सन्त्स उदारे न सर्षद् यो नाश्नीयादनडुहो विजानन् ॥३॥

भा०—(इन्द्रः) परमात्मा (मनुष्येषु अन्तः) मननशील, ज्ञानी पुरुषों के भीतर, हृदय में (जातः) प्रकट होता है और वही (तप्तः) संतप्त (घर्मः) प्रकाशमान सूर्य के समान (शोशुचानः) निरन्तर देदीप्यमान होकर (चरति) सर्वत्र व्यापक है। (यः) जो पुरुष (अनडुहः) विश्वधारक परमात्मा का ही यह सब कुछ है (वि-जानन्) ऐसा जानता हुआ इस विश्व में रह कर (न अश्नीयात्) विषयों का भोग नहीं करता वह (सुप्रजाः सन्) उत्तम प्रजा से युक्त होकर (उद्-आरे[1]) देहत्याग के अनन्तर (न) नहीं (सर्षत्) भटकता।

अनड्वान् दुहे सुकृतस्य लोक ऐनं प्याययति पवमानः पुरस्तात् ।
पर्जन्यो धारा मरुत ऊधो अस्य यज्ञः पयो दक्षिणा दोहो अस्य ॥४॥

भा०—(सु-कृतस्य लोके) पुण्य के लोक में (अनड्वान् दुहे) वह विश्वधारक प्रभु ही सब कामनाएं पूर्ण करता है। वही प्रभु (पवमानः)

---

१. 'उद्ऽआरे' इति पद पाठः। सायणस्तु 'आरे न उत्सर्पेत' इति योजयति तच्चिन्त्यम्। (प्र०) 'इन्द्र एष' (द्वि०) 'चरति संशिशानः' 'उदारे नः' इति सायणसम्मतः पाठः।

४–(द्वि०) 'प्याययेत्' इति पैप्प० सं०।

सर्वव्यापक, सब का परमपालक (पुरस्तात्) सब से प्रथम (एनं) इस जीव को अपने आनन्द रस से (प्याययति) परिपुष्ट करता है। उस प्रभु की लीला देखो कि वह कैसे इस जीव लोक को पालन पोषण करता है कि (अस्य) उस प्रभु की (पर्जन्यः) मेघ ही साक्षात् (धारा) पोषण-कारी, रस बहाने वाली धारा है। (मरुतः) ये वायु जो मेघों को उड़ा कर लाते हैं वह (ऊधः) दूध को उठाने वाले गाय के 'थान' के समान जल को ऊपर उठाये रहते हैं। उस का (पयः) बरसा हुआ जल ही (यज्ञः) लोकोपकार के लिये किया गया कार्य या प्रभु का दान है और (अस्य) इसकी (दक्षिणा) यज्ञ के निमित्त दान दी गई दक्षिणा या अन्न ही (दोहः) साक्षात् दोहन से प्राप्त पुष्टिकारक पदार्थ है। यहां वृष्टि के जल की आहुति का पृथिवी रूप अग्नि में पड़ना यह यज्ञ है और पुनः जीवों के लिये अन्न=दक्षिणा उत्पन्न होना दक्षिणा प्राप्त होना है। " पृथिवी वावगो-तमाग्निः.........तस्मिन्नग्नौ देवाः वर्षं जुह्वति। तस्या आहुतेरन्नं सम्भवति" (छान्दोग्य उप० ५ । ६) ।

यस्य नेशे यज्ञपतिर्न यज्ञो नास्य दातेशे न प्रतिग्रहीता ।
यो विश्वजिद् विश्वभृद् विश्वकर्मा घर्मं नो ब्रूत यतमश्चतुष्पात् ॥५॥

भा०—(यस्य) जिस परमेश्वर पर (यज्ञ-पतिः) यज्ञों का पालक कोई यजमान भी (न ईशे) अपना वश नहीं करता और जिस पर (यज्ञः न ईशे) यज्ञ भी कोई वश नहीं कर सकता, (अस्य) इस पर (दाता न ईशे) कोई दानी महा पुरुष भी प्रभुता नहीं करता, (न प्रति-ग्रहीता) और दान लेने वाला कोई योग्य ब्राह्मण भी उस पर वश नहीं कर सकता। (यः) जो प्रभु स्वयं (विश्व-जित्) सब विश्व को विजय करने वाला, (विश्व-भृद्) समस्त विश्व का पालक पोषक, (विश्वकर्मा) सब विश्व का रच-

५-(तृ०) 'यो विश्वदृग् विश्वकृद् विश्व' इति पैप्प० सं० ।

यिता है। हे विद्वान् पुरुषो उस सब रसों के बरसाने वाले और तेजःस्वरूप प्रभु का (नः ब्रूत) हमें उपदेश करो। (यतमः) जो (चतुष्पाद्) चार पाद वाला है। ब्रह्म के चतुष्पादों का वर्णन देखो 'छन्दोग्य उपनिषद्' उपकोसल का जाबाल सत्यकाम को उपदेश।

येन॑ दे॒वाः स्व॒/रारुरु॒हुर्हि॒त्वा शरी॑रम॒मृत॑स्य॒ नाभि॑म्।
तेन॑ गेष्म सु॒कृत॑स्य लो॒कं घ॒र्मस्य॑ व्र॒तेन॒ तप॑सा यश॒स्यव॑ः ॥ ६ ॥

भा०—(येन) जिस परम प्रभु की उपासना से (देवाः) विद्वान् गण (अमृतस्य) अमृत स्वरूप, आत्मा को (नाभिम्) बांधने वाले (शरीरम्) इस शरीर को (हित्वा) परित्याग करके (स्वः) सुखमय मोक्ष लोक को (आ रुरुहुः) प्राप्त होते हैं। हम भी (तपसा) तप से (यशस्यवः) यशः=यशःस्वरूप परब्रह्म की प्राप्ति की इच्छा करने हारे होकर (घर्मस्य) तेजोमय आदित्य के (व्रतेन) व्रत को धारण करके (तेन) उस प्रभु के द्वारा ही (सुकृतस्य लोकं) पुण्य के लोक, मोक्ष को (गेष्म) प्राप्त करें।

इन्द्रो॑ रू॒पेणा॒ग्निर्वहे॑न प्र॒जाप॑तिः पर॒मेष्ठी वि॒राट्।
विश्वान॑रे अक्रमत वैश्वान॒रे अ॑क्रमतान॒डुह्य॑क्रमत।
सो॑/दृंहयत॒ सो॑/धारयत ॥ ७ ॥

भा०—वह विश्वधारक अनड्वान् प्रभु (रूपेण) उज्ज्वल रूप में, स्वयं (इन्द्रः) साक्षात् इन्द्र स्वरूप, समस्त ऐश्वर्यसम्पन्न है और (वहेन)

६–(तृ०) 'तेन जेष्म' इति सायणसम्मतः पाठः। (द्वि०) 'अमृतस्य धाम' इति पैप्प० सं०।

७–'इन्द्रो बलेनास्यपरमेष्ठी व्रतेनैन गौस्तेन वैश्वदेवाः। योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः तस्य प्राणानसवहे तस्य प्राणान् विवहः' इति पैप्प० सं०।

सब पदार्थों को धारण करने और स्थान से स्थानान्तर में भेजने, गति कराने की शक्ति से (अग्निः) अग्नि है । वही विश्व का प्रभु स्वयं (प्रजापतिः) समस्त स्थावर जंगम प्रजा का पालक (परमेष्ठी) परम मोक्षधाम, सत्य लोक, आनन्दमय रूप में विराजमान (विराट्) सब से अधिक एवं विविध प्रकार से प्रकाशमान, एवं स्थूलप्रपञ्च का कर्त्ता है । वही परमात्मा (विश्वानरे अक्रमत) समस्त नर, आत्माओं में प्रविष्ट है। वही (वैश्वानरे) सब शरीरों में विद्यमान जाठर अग्नि और भौतिक अग्नि के भीतर भी विद्यमान है और वही (अनुडुहि अक्रमत) समस्त संसार रूप अनस्=महान यन्त्र के धारक रूप में भी व्यापक है । (सः) वही परमेश्वर (अदृंहयत) इस संसार को स्थूलरूप देकर विराट्, तेजो-वाष्पमय रूप से इस दृढ़ रूप में बनाता है और फिर भी इस गुरु, भारवान् पृथिवी आदि पिण्डों से भरे हुए संसार को (सः अधारयत) वही धारण करता है उनको टकरने और गिरने न देकर थाम रहा है । पांच कार्य हैं (१) रूप=तेजोमय प्रकाश, (२) वहन=गति देना, (३) प्रजापालन, (४) परम आनन्दस्वरूपता, (५) विशालता, इन पांच कार्यों से उसके पांच नाम हैं—इन्द्र, अग्नि, प्रजापति, परमेष्ठी, विराट् । इन पांच रूपों से वह पांच विशाल सर्गों में प्रविष्ट है । वह विश्वानर जीवात्मा में इन्द्र, वैश्वानर में अग्नि, अनुडुह् रूप में प्रजापति, दृंहण रूप में परमेष्ठी और धारण रूप में विराट् है ।

मध्यमेतदनडुहो यत्रैष वह आहितः ।
एतावदस्य प्राचीनं यावान् प्रत्यङ् समाहितः ॥ ८ ॥

भा०—समस्त विश्व को धारण करने हारे (अनुडुहः) अनडुह् रूप प्रभु का (एतत्) यह (मध्यम्) मध्य भाग है (यत्र) जहां (एषः) यह (वहः) 'वह' रूप विश्वभार (आहितः) स्थापित है । (एतावत्) इतना ही (अस्य) इसका (प्राचीनम्) अगला भाग है (यावान्) जितना (प्रत्यङ्) कि पिछला भाग (समाहितः) है । अर्थात् जिस प्रकार बैल के

पीठ पर भर रक्खा जाता है तब पीठ का जितना अगला भाग है उतना ही पीठ का पिछला भाग भी है उसी प्रकार इस विश्व का भार परमात्मा के वहन करने हारी शक्ति पर है । उसका अगला विश्व की उत्पत्ति शक्ति का जितना भाग है उतना ही उसकी संहार शक्ति का भाग भी है । जितना उसका भूत है उतना भविष्यत् भी है ।

यो वेदा॑न॒डुहो॒ दोहा॑न् स॒प्तानु॑पदस्वतः ।
प्र॒जां च॑ लो॒कं चा॒प्नोति॒ तथा॑ सप्तऋ॒षयो॑ विदुः ॥ ६ ॥

भा०—(यः) जो विद्वान् पुरुष (अनुडुहः) उस विश्वधारक ईश्वर के दिये (अनुपदस्वतः) कभी विनाश को प्राप्त न होने हारे (सप्त) सात (दोहान्) शरीर और उदर पूर्त्ति करने हारे अन्नों को वेद जानता है अथवा (सप्त) सर्पण स्वभाव वाले गतिमान् (दोहान्) अन्नप्रदाता जीवन के पूरक सूर्य, पर्जन्य, पृथिवी, अन्न, वायु आदि को जानता है वह (प्रजाम् च) उत्तम प्रजा को और (लोकं च) उत्तम लोक को (प्राप्नोति) प्राप्त करता है (सप्त ऋषयः) सातों ऋषि गण भी (तथा) उसी प्रकार उस अनुडुह् रूप विश्वधारक आत्मा को (विदुः) जानते हैं ।

विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गोतम, अत्रि, वसिष्ठ और कश्यप ये सात ऋषि हैं । ये सातों ऋषि अध्यात्म में शिरोभाग में विद्यमान हैं दो कान दोनों भरद्वाज हैं, दोनों आंखें विश्वामित्र और जमदग्नि हैं, दोनों नासिकाएं वसिष्ठ और कश्यप हैं वाक् अत्रि है । (बृहदारण्यक उप० अ० २ । २) । सात अन्न निम्नलिखित हैं—१ अन्न, हुत और प्रहुत, दुग्ध, मन वाणी और प्राण । 'अन्न' साधारण है, 'हुत' 'प्रहुत' दोनों देवों के लिये और 'दुग्ध' पशु और मनुष्यों के लिये, 'मन' 'वाणी' और 'प्राण' ये तीनों आ-

६–' सप्तानपदस्वतः ' इति पैप्प० सं० ।

रक्षा के लिये हैं (बृहदा० उप० अ १ । ब्रा० ५) । अथवा उक्त सातों द्वारों के ग्राह्य विषय सात अन्न समझने चाहियें ।

पुद्भिः सेदिमवक्रामन्निरां जङ्घाभिरुत्खिदन् ।
श्रमेणानड्वान् कीलालं कीनाशश्चाभि गच्छतः ॥ १० ॥

भा०—वह प्रजापतिरूप अनड्वान्—परमात्मा भी एक चतुष्पाद् बैल के समान है । वह (पद्भिः) अपने चरणों से (सेदिं) क्षेत्र, भूमि को (अवक्रामत्) पार करता हुआ और (जंघाभिः) अपनी जंघाओं से (इरां) अन्न को (उत्खिदन्) उत्पन्न करता हुआ (श्रमेण) श्रम से (कीलालं) अन्न को उत्पन्न करता हुआ वह (अनड्वान्) विश्वक शकट का वाहक जगदाधार और (कीनाशः च) कीनाश=यह जीवात्मा अपने कर्म फलों का काटने हारा दोनों (अभि गच्छतः) एक दूसरे के पीछे २ चलते हैं ।

' सेदि ' यह लोक है । ' इरा ' वह अमृतमय मोक्ष है । ' कीलाल ' ब्रह्मानन्द रस है, ' कीनाश ' जीव है ।

द्वादश वा एता रात्रीर्व्रत्यां आहुः प्रजापतेः ।
तत्रोप ब्रह्म यो वेद तद् वा अनडुहो व्रतम् ॥ ११ ॥

भा०—(प्रजापतेः) प्रजापति की (एताः) ये (द्वादश) बारह (व्रत्याः रात्रीः आहुः) व्रत करने योग्य, उत्तम कर्म करने योग्य रात्रियां कही गई हैं । (तत्र) उन में (यः) जो (ब्रह्म) प्रजापति रूप ब्रह्म और वेद का (वेद) ज्ञान कर लेता है (तद् वा अनडुहो व्रतम्) वही उस (अनडुह्) विश्व-धारक प्रभु का व्रत है । द्वादश रात्रि, द्वादशाह कर्म है

१०—' इरान् । जङ्घाभिः ' इति पदपाठो बहुत्र ।

११—(तृ०) ' तद् वापि ब्रह्म ' इति पैप्प० सं० ।

जो १२ मास और १२ वर्ष का प्रतिनिधि है । उस १२ वर्ष में एक वेद का स्वाध्याय करे । १२ वर्ष ब्रह्मचर्य करे, एक वर्ष तक प्रजापति-व्रत करे ।

दुहे सायं दुहे प्रातर्दुहे मध्यन्दिनं परि ।
दोहा ये अस्य संयन्ति तान् विद्मानुपदस्वतः ॥ १२ ॥

भा०—उक्त प्रजापतिरूप वृषभ की उपासना का फल बतलाते हैं । मैं (सायं दुहे) सायंकाल में उसका आनन्द रस प्राप्त करता हूं । (प्रातः दुहें) प्रातकाल भी उसी का आनन्दरस योग-समाधि द्वारा प्राप्त करता हूं और (मध्यंदिनं परि दुहे) मध्य दिवस, मध्याह्न काल में भी उस ही का ध्यान करता हूं । (ये) जो पुरुष (अस्य) इस प्रभु के (दोहा) इन रसों को (सं यन्ति) फलरूप से प्राप्त करते हैं हम (तान्) उनको (अनुपदस्वतः) अविनाशी अमर हुआ (विद्म) जानते हैं । तीन सवन होते हैं प्रातः सवन, माध्यंदिन सवन और सायं सवन । जीवन में भी तीन भाग हैं ब्रह्मचर्य काल, २४ वर्ष तक, ४४ वर्ष तक और ४८ वर्ष तक । जो तीनों का पालन करते हैं वे अमृत को प्राप्त करते हैं । देखो छान्दोग्य उपनिषद् (अ० ३ । ६) देखो सत्यार्थप्रकाश (समु० ३) ।

इस अलंकारिक अनड्वान् को देख कर मुसलमानों की यह कल्पना है कि बैल के सींग पर पृथ्वी खड़ी है । इसी प्रजापति व्रत के उपलक्ष्य में उस का प्रतिनिधि बड़ा सांड छोड़ा जाता है । इसी अनड्वान का वर्णन अध्यात्म-प्रकरण में लगता है ।



१२–' दुहे वा नड्वान् सायं दुहे प्रातर्दुहे दिवाः ' (च०) ' अनपदस्यतः ' इति पैप्प० सं० ।

[१२] कटे फटे अंगों की चिकित्सा ।

ऋभुर्ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । १ त्रिपदा गायत्री, ६ त्रिपदा यवमध्या भुरिग्गायत्री, ७ भुरिक्, २, ५ अनुष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

रोहण्यसि रोहण्यस्थ्नश्छिन्नस्य रोहणी ।
रोहयेदमरुन्धति ॥ १ ॥

भा०—कटे फटे और टूटे फूटे अंगों की चिकित्सा का उपदेश करते हैं। हे (रोहणि) रोहणी नामक ओषधे ! तू (अस्नः) हड्डी की भी (रोहणी असि) रोप देने वाली है और (छिन्नस्य) कटे क्षत घाव को भी (रोहणी) पूर देने, चंगा कर देने वाली है। हे (अरुन्धति) अरुष्=घाव को पूरने वाली ओषधे ! तू (इदम्) इस घाव को (रोहय) भरदे, पूरदे, अच्छा करदे ।

यत् ते रिष्टं यत् ते द्युत्तमस्ति पेष्ट्रं त आत्मनि ।
धाता तद् भद्रया पुनः सं दधत् परुषा परुः ॥ २ ॥

भा०—हे चोट खाये हुए पुरुष ! (यत्) जो तेरा अंग (रिष्टम्) चोट खाये हुए है, (यत् ते द्युत्तम् अस्ति) और जो तेरा अंग जल गया हो और (ते आत्मनि) तेरे देह में जो भाग (पेष्ट्रं) पिस गया हो (धाता) पोषक वैद्य (तत्) उस अंग को (भद्रया) अति कल्याणकारी

[१२] १–प्रायः 'रोहिणी' इति पैप्प० सं० । 'रोहण्यसि रोहिणी' इति ह्विट्नि-कामितः पाठः । रोहिण्यसि रोहिण्यस्थ्नःशीर्णस्य रोहिणी । रोहिण्यामहं आतासि रोहिण्यास्योषधे' इति पैप्प० सं० । (प्र०) 'रोहिण्यस्न-श्छिन्नस्य' इति सायणाभिमतः पाठः ।

२–(प्र०) 'यत् ते शीर्णं' (द्वि०) 'तात्मनः' (तृ० च०) 'तत्सर्वं कल्पयात् संदधत्' इति पैप्प० सं० ।

सुखकारी रीति से (परुषा परुः) पोरु से पोरु मिला कर (सं दधत्) जोड़ दे ।

सं ते॑ म॒ज्जा म॒ज्ज्ञा भ॑वतु॒ समु॑ ते॒ परु॑षा॒ परुः॑ ।
सं ते॑ मां॒सस्य॒ विस्र॑स्तं॒ समस्थ्यपि॑ रोहतु ॥ ३ ॥

भा०—हे पुरुष ! (ते मज्जा) तेरी मज्जा की धातु (मज्ज्ञा) मज्जा के साथ मिल कर (सं रोहतु) वृद्धि को प्राप्त हो, (परुषा परुः सं रोहतु) पोरु से पोरु मिलकर अच्छा हो जाय । (मांसस्य) और मांस का (विस्रस्तं) विनाश को प्राप्त हुआ भाग भी (सं रोहतु) उचित रीति से रूप कर ठीक हो जाय और (अस्थि अपि) हड्डी भी टूटी हुई हो तो वह भी (सं रोहतु) ठीक २ मिलकर जुड़ जावे ।

म॒ज्जा म॒ज्ज्ञा सं धी॑यतां॒ चर्म॑णा॒ चर्म॑ रोहतु ।
असृ॑क् ते॒ अस्थि॑ रोहतु मां॒सं मां॒सेन॑ रोहतु ॥ ४ ॥

भा०—(मज्ज्ञा मज्जा) मज्जा धातु के साथ मज्जा को (सं धीयताम्) मिला दिया जाय । और (चर्मणा चर्म) चर्म से चर्म को मिला दिया जाय तब घाव शीघ्र ही (रोहतु) भर आना सम्भव है । इसी प्रकार (असृक्) रुधिर भी रुधिर की नाड़ियों से जोड़ कर मिला देने से जुड़ जाती है और (अस्थि) हड्डी को हड्डी से मिला दें तो वह भी (रोहतु) जुड़ कर ठीक

३–(प्र०) 'सं मज्जा' (च०) 'सस्रावमसु पर्वते' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'विश्रस्तं' इति क्वचित् । सर्वत्र 'शं' इति सायणाभिमतः ।

४–(तृ०) 'अस्थ्ना ते अस्थि' अथवा 'असृक् ते अस्ना' इति ह्विटनिकामितः पाठः । (द्वि० च०) 'अस्नाऽस्थि विरोहतु स्नावाते सं दध्मः स्नाम्ना चर्मणा चर्म रोहतु' इति पैप्प० सं० ।

हो जाती है । इसी प्रकार (मांसं मांसेन रोहतु) मांस को मांस के साथ मिला देने से वह भी मिल कर एक होकर पुष्ट हो ।

लोम लोम्ना सं कल्पया त्वचा सं कल्पया त्वचम् ।
असृक् ते अस्थि रोहतु छिन्नं सं धेह्योषधे ॥ ५ ॥

भा०—हे वैद्य ! (लोम लोम्ना) लोमों को लोमों से (सं कल्पय) ठीक प्रकार से जोड़कर मिला दो और (त्वचा त्वचम्) त्वचा, खाल से खाल को (सं कल्पय) मिला कर रखदो, इसी प्रकार हे रोगिन् ! (अस्थि) हड्डी और (ते असृक्) तेरा रुधिर (रोहतु) वृद्धि को प्राप्त हो । हे ओषधे ! तू इस प्रकार लोम, त्वचा, मांस आदि के ठीक ठीक बैठा देने पर ऊपर लग कर (छिन्नं) कटे फटे स्थान को (सं धेहि) मिला कर एक करदे ।

स उत् तिष्ठ प्रेहि प्र द्रव रथः सुचक्रः सुपविः सुनाभिः ।
प्रति तिष्ठोर्ध्वः ॥ ६ ॥

भा०—इस प्रकार रोगी का घाव अच्छा हो जाने पर वैद्य उसको आज्ञा दे कि (सः) वह तू (उत्-तिष्ठ) उठ खड़ा हो, (प्रेहि) चल, आजा (प्र द्रव) फिर अच्छी प्रकार भाग, अब तेरा शरीर (सुचक्रः) उत्तम चक्रों से युक्त (सुपविः) उत्तम हाल, लोह-पट्टी से जड़ा हुआ (सुनाभिः) सुन्दर उत्तम धुरा वाले (रथः) रथ के समान ठीक हो गया है (प्रति तिष्ठ ऊर्ध्वः) ऊपर उठ खड़े हो और जाओ रोगशाला को छोड़ कर अपने काम में लग जाओ ।

५–(प्र०) 'लोम लोम्ना संधीयताम्' इति पैप्प० सं० ।

६–'उत्तिष्ठ प्रेहि समुधाहि ते परुः । सं ते धाता दधातु तन्वोविरिष्टं रथस्य-चक्रप्युपवर्यथैयथैति सुखस्य नाभिः प्रतितिष्ठ एवम्' इति पैप्प० सं० ।

यदि कर्तं पतित्वा संशश्रे यदि वाश्मा प्रहृतो जघान ।
ऋभू रथस्येवाङ्गानि सं दधत् परुषा परुः ॥ ७ ॥

भा०—उपसंहार में इस क्षतचिकित्सा का गुण दिखाते हैं । (यदि) यदि शरीर पर (कर्तम्) काटने वाला गंडासा या तलवार भी (पतित्वा) गिर कर (संशश्रे) शरीर में घाव कर जाय (यदि वा) या (अश्मा) शिला (प्रहृतः) फेंका हुआ आकर (जघान) शरीर पर आघात करे तोभी वैद्य (परुषः परुः) पोरु से पोरु मिला कर इस प्रकार (सं दधत्) जोड़ दे कि जैसे (ऋभू[1]) विद्वान् शिल्पी (रथस्य) रथ के (अङ्गानि इव) टुकड़ों २ को जोड़कर खड़ा कर देता है ।

---

[१३] पतितोद्धार, शुद्धि और रोगनाशन ।

शंतातिर्ऋषिः । चन्द्रमा उत विश्वेदेवा देवताः । १—७ अनुष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः ।
उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥ १ ॥
ऋ० १० । १३७ । १ ॥

भा०—(उत) और हे (देवाः) विद्वान्, दिव्यगुणयुक्त पुरुषो ! इस पुरुष को या बालक को (अवहितं) सावधान, प्रमादरहित करो ।

७—(प्र०) 'यदि कर्तुं' इति बहुत्र । 'यदि वज्रो विसृष्टा स्थारकजातु पतित्रा यदि वा च रिष्टम् । वृक्षाद्वा यदि वा विध्यसि शीर्षं ऋभुरिति स एवं संधामि ते परुः ।' इति पैप्प० सं० ।

१. ऋभूः मेधाविनाम (निघं० ३ । १५) उरुभाति, भवति वा ।

[१३] १—(द्वि०) 'उद्धरता पुनः' (तृ०, च०) 'ततो मनुष्यं तं देवा देवाः कृणुत जीवसे' इति पैप्प० सं० ।

और हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! (पुनः) पुनः २ अपराध करने एवं नीच भावों में जा पड़ने पर भी उसे उत्तम उपदेशों और सद्व्रतों के आचरणों द्वारा (उत् नयथा) बार २ उन्नत करो। (उत) और (आगःचक्रुषं) पापाचरण करने पर भी इस पुरुष या बालक को (देवाः पुनः उन्नयथाः) बार २ उन्नत करो। हे (देवाः) देव समान सदाचार युक्त पुरुषो ! यदि इस का आत्मा पापाचरण द्वारा सर्वथा मर भी चुका हो और उसे पाप पुण्य और भले बुरे का ज्ञान भी न रह गया हो तो भी (पुनः) बार बार (जीवयथाः) उसे जीवित करो, उसके आत्मा की चेतना को पुनः जगाओ जिससे वह पाप को पाप और धर्म को धर्म समझे।

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः।
दक्षं ते अन्य आवातु व्य१न्यो वातु यद् रपः॥ २॥

ऋ० १०।१३७।२॥

भा०—जिस प्रकार पृथ्वी पर ये दो वायुएं बहती हैं जो सिन्धु से चल कर दूर दूर तक के स्थानों तक पहुंच जाती हैं, उन में एक तो जल बरसा कर प्रजा के लिये अन्न उत्पन्न करती है और दूसरी हानिकारक रोग और ग्राम के मलिन वस्तुओं को आंधी बन कर उड़ा ले जाती है, इसी प्रकार हे पुरुष तेरे शरीर में भी (इमौ) ये (द्वौ वातौ) दो वायु हैं प्राण और अपान, ये दोनों (आ सिन्धोः) सिन्धु देश रुधिर के एकत्र होने का हृदय और फुफ्फुसों का वह प्रदेश जहां से नाड़ियों द्वारा रक्त बह कर सारे शरीर में फैलता और सारे शरीर से नीला मलिन रक्त बह कर हृदय में पुनः आ जाता है उस सिन्धु रूप हृदय और फुफ्फुस प्रदेश से (आ परावतः) शरीर के दूर से दूर स्थान तक (वातः) गति करते हैं, पहुंचते हैं।

२–(च०) 'परान्यो' इति ऋ०।

(अन्यः) इन में से एक (ते) तेरे लिये (दक्षं) वल को (आ वातु) प्राप्त कराने में समर्थ है और (अन्यः) दूसरा (यद् रपः) जो मलिन अंश है उसको (वि वातु) वाहर करे । शरीर में दो ही प्राण की गति हैं भीतर से वायु को वाहर फेंकना और वाहर से भीतर लेना । शरीर में भी दो क्रिया हैं । एक रक्त का शुद्ध स्वच्छ वायु पाकर शुद्ध हो जाना और शरीर का पुनः हरा भरा हो जाना दूसरा मलिन अंश का रक्त से पृथक् होकर मूत्र और प्रस्वेद के मार्ग से वाहर हो जाना । प्राण और अपान में प्राण रक्त को स्वच्छ करता और अपान रक्त के मलिन अंश को प्रस्वेद और मल मूत्र द्वारा शरीर से वाहर कर देता है । उसी का उपदेश किया है ।

आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद् रपः ।
त्वं हि विश्वभेषज देवानां दूत ईयसे ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १३७ । ३ ॥

भा०—हे (वात) प्राणवायो ! (भेषजं) रोगविनाशक रस को (आवाहि) समस्त शरीर में, चारों ओर फैला । हे (वात) अपान वायो ! (यद् रपः) जो मलिन, व्याधिजनक कष्टदायी, पापयुक्त अंश है उसको (वि वाहि) दूर कर । हे (विश्वभेषज) समस्त प्राणियों के समस्त रोगों को एकमात्र चिकित्सा करने हारे ! (त्वं) तू (हि) निश्चय से (देवानां) देव=विद्वानों के एवं इन्द्रियों के लिये (दूतः) दूत के समान निरन्तर सर्वत्र गति करने वाले या उनको उपताप देकर नीरोग करने वाला होकर (ईयसे[1]) उन में विचरण करता है ।

३–(तृ०) 'विश्वभेषजो' इति ऋ०, पैप्प० सं० ।

१. 'ईङ् गतौ (दिवादिः)' ।

त्रायन्तामिमं देवास्त्रायन्तां मरुतां गणाः ।
त्रायन्तां विश्वा भूतानि यथायमरपा असत् ॥ ४ ॥

ऋ० १० । १३७ । ५ ॥

भा०—(इमं) इस पुरुष को (देवाः) देव, विद्वान्गण और दिव्य-गुण युक्त पदार्थ (त्रायन्ताम्) बचावें और (मरुतां गणाः) वायुओं के नाना रूप, नाना प्रकार की वायुएं, शरीर के नाना प्राण और प्रजागण (त्रायन्ताम्) इसकी रक्षा करें। (विश्वा भूतानि) समस्त प्राणिगण और पांचों महाभूत भी (त्रायन्तां) इसकी रक्षा करें (यथा) जिससे (अयम्) यह (अरपाः) पाप और रोगों से रहित (असत्) हो जाय ।

आ त्वागमं शन्तातिभिरथो अरिष्टतातिभिः ।
दक्षं त उग्रमाभारिषं परा यक्ष्मं सुवामि ते ॥ ५ ॥

भा०—मैं आचार्य और वैद्य, विद्वान् व्यक्ति (शन्तातिभिः) कल्याण और शान्ति के देने वाले (अथो) और (अरिष्टतातिभिः) आरोग्यकारी ज्ञान और कर्म और उपायों से (त्वा) तेरे समीप मैं (आ गमम्) आया हूं। (ते) तेरे शरीर में (उग्रं) उग्र, अधिक बल युक्त (दक्षं) बल और अन्न को (आभारिषं) लाया हूं। और उससे (ते) तेरे (यक्ष्मं) रोगजनक कारण को (परा सुवामि) दूर करता हूं।

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः ।
अयं मे विश्वभेषजोयं शिवाभिमर्शनः ॥ ६ ॥

ऋ० १० । ६० । १२ ॥

४–(प्र०) 'त्रायन्तामिह' (द्वि०) 'त्रायतां गणः' इति ऋ० । 'मरुतो गणैः' (च०) 'अगदो सति' इति पैप्प० सं० ।

५–(तृ०) 'दक्षं ते भद्रमाभार्षं' इति ऋ० । (तृ० च०) 'दक्षं ते भद्रमारिषं परासुवाम्यानुयत्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—अमृतपाणि वैद्य की भावना । हे रोगी ! तू उचित रूप से यह जान ले कि (अयं मे हस्तः) यह मेरा हाथ (भगवान्) बड़े भारी ऐश्वर्य से युक्त है । और (अयं मे भगवत्-तरः) यह दूसरा हाथ उससे भी अधिक विभूतिमान एवं चमत्कार करने वाला है । इन में विशेष गुण यह है कि (अयं मे) यह मेरा हाथ (विश्व-भेषजः) सब प्रकार के रोगों की चिकित्सा करता है । (अयम्) और इसका (शिव-अभिमर्शनः) स्पर्श करना भी शान्ति और आनन्ददायक एवं हितकारी है ।

हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी ।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि ॥ ७ ॥

भा०—मानस और स्पर्श-चिकित्सा का उपदेश करते हैं । (दशशाखाभ्यां) दश अंगुली रूप शाखाओं से युक्त इन (हस्ताभ्यां) हाथों के साथ (जिह्वा) यह जीभ (वाचः) वाणी को (पुरोगवी) प्रथम उच्चारण करने हारी होती है । (अनामयित्नुभ्यां) आमय=रोग से रहित इन (हस्ताभ्यां) हाथों से (त्वा) तुझे, तेरे शरीर को हम वैद्य लोग और बालक के आचार्य लोग (अभि मृशामसि) स्पर्श करते हैं । नीरोग, रोगजन्तुओं से रहित स्वच्छ हाथों से वैद्य रोगी के शरीर का स्पर्श करे और मानस बल द्वारा चिकित्सा करने के लिये हाथों की अंगुलीयां को फैला कर वाणी के शब्दोच्चारण सहित उसकी चिकित्सा कर दिया करे ।



[१४] 'अज' प्रजापति का स्वरूपवर्णन ।

भृगुर्ऋषिः । आज्यमग्निर्वा देवता । १, ५, ६ त्रिष्टुभः, २, ४ अनुष्टुभौ, ३ प्रस्तार पंक्तिः, ७, ९ जगत्यौ, ८ पञ्चपदा अति शक्वरी । नवर्चं सूक्तम् ॥

७-(तृ० च०) 'अनामयित्नुभ्यां त्वा ताभ्यां त्वोपस्पृशामसि' इति ऋ० ।

अजो ह्य१ग्नेरजनिष्ट शोकात् सो अपश्यज्जनितारमग्रे।
तेन देवा देवतामग्रं आयन् तेन रोहान् रुरुहुर्मेध्यासः॥ १॥

यजु० १३। ५१॥

भा०—'अजौदन सव' के दृष्टान्त से अध्यात्म योगमार्ग का उपदेश करते हैं। (अजः) यह न उत्पन्न होने वाला आत्मा, जीव (अग्नेः) सब के प्रकाशक, सब के नेता ज्ञानस्वरूप परमात्मा के (शोकात्) ज्ञानमय तेज से (अजनिष्ट) ज्ञानसम्पन्न, स्वतः भूतिमान् हुआ। और (सः) वह आत्मा (अग्रे) सब से पूर्व (जनितारम्) उत्पादक प्रभु को (अपश्यत्) देखता है। (तेन) उस आत्मा के द्वारा ही (देवाः) देवयान से गति करने वाले विद्वान् अध्यात्म में इन्द्रिय गण (अग्रे) पहले (देवताम्) देवभाव को (आयन्) प्राप्त होते और (तेन) उससे ही (मेध्यासः) अत्यन्त मेध्य, मेधायुक्त, पवित्र, ज्ञानसम्पन्न, मेधावी होकर (रोहान्) उच्च लोकों को, उच्च पदों को (रुरुहुः) प्राप्त होते हैं।

क्रमध्वमग्निना नाकमुख्यान् हस्तेषु बिभ्रतः।
दिवस्पृष्ठं स्व/र्गत्वा मिश्रा देवेभिराध्वम्॥ २॥

यजु० १७। ६५॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो! आप लोग (अग्निना) ज्ञानस्वरूप आत्मा वा परम-आत्मा के प्रदर्शित प्रकाश से युक्त होकर (हस्तेषु) अपने हाथों में (उख्यान्) उखा—आत्मा के हितकारी ज्ञानेन्द्रिय और प्राणेन्द्रिय

[१४] १–(तृ० च०) 'देवतामग्रमायन् स तेन रोहमायन्नुपमेध्यासः' इति तै० सं०, मै० सं०।

२–(द्वि०) 'उख्यम्' इति यजु०। (प्र०) 'अग्निभिः' 'नाकमेक्षाम्' इति पैप्प० सं०।

साधनों को (बिभ्रतः) धारण करते हुए, उनको अपने वश करते हुए (दिवस्पृष्ठम्) प्रकाशस्वरूप, ज्ञान के परम उन्नत भाग मोक्षपद, (स्वः) उस परम ज्योति को (गत्वा) पहुंच कर (देवेभिः) मुक्त जीवों के सहित (मिश्राः) मिल कर (आध्वम्) आनन्दमग्न होकर रहो ।

पृष्ठात् पृ॑थि॒व्या अ॒हम॒न्तरि॑क्ष॒मारु॑हम॒न्तरि॑क्षा॒द् दिव॒मारु॑हम् ।
दि॒वो नाक॑स्य पृ॒ष्ठात् स्व॒र्ज्योति॑रगाम॒हम् ॥ ३ ॥

यजु० १७ । ६७ ॥

भा०—(पृथिव्याः पृष्ठात्) पृथिवी की पीठ से (अहम्) मैं (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष लोक को (आरुहम्) चढ़ जाऊं और (अन्तरिक्षाद्) दिवम् अन्तरिक्ष लोक से (दिवम्) द्यौलोक को (आरुहम्) चढ़ जाऊं (दिवः) प्रकाशस्वरूप (नाकस्य) उस सुखमय लोक के (पृष्ठात्) पृष्ठ से (अहम्) मैं (स्वः ज्योतिः) सुख, प्रकाश, आनन्दमय उस ज्योति= परम प्रकाश को (अगाम्) प्राप्त हो जाऊं ।

पृथिवी, अन्तरिक्ष, दिव और स्वः ये चार योग की उत्तरोत्तर उत्कृष्ट भूमियां हैं । विक्षिप्त चित्त भूमि पृथिवी है, सम्प्रज्ञात, अन्तरिक्ष, असम्प्रज्ञात दिव् और कैवल्यपद स्वः है ।

स्व॒र्यन्तो॒ नापे॑क्षन्त॒ आ द्यां रो॑हन्ति॒ रोद॑सी ।
य॒ज्ञं ये वि॒श्वतो॑धारं॒ सुवि॑द्वांसो वितेनि॒रे ॥ ४ ॥

यजु० १७ । ६८ ॥

भा०—(स्वः यन्तः) 'स्वः' सुख धाम मोक्ष को जाते हुए मुक्त जन, (न अपेक्षन्त) इस लोक के सुख की कुछ भी परवाह नहीं करते (रोदसी) इन द्यौ और पृथिवी दोनों लोकों को पार करके (आ द्यां) जब तक वह प्रकाश-

३–' पृथिव्या अहमुदन्त ' इति यजु० ।

४–(द्वि०) ' रोहन्तु राधसः ' इति पैप्प० सं० ।

मय लोक के प्राप्त न होजाय तब तक (रोहन्ति) बराबर चढ़ते ही जाते, उन्नति ही करते जाते हैं। (ये) जो मुमुक्षुजन (सु-विद्वांसः) विद्वान् होकर (विश्वतः-धारं) सब प्रकार से धारण करने में समर्थ एवं सब प्रकार से आनन्द धारा का वर्षण करने वाले (यज्ञं) यज्ञ=आत्मा और परमात्मा के स्वरूप को (वितेनिरे) प्राप्त हो जाते हैं, उस का ज्ञान करलेते हैं।

अग्ने प्रेहि प्रथमो देवतानां चक्षुर्देवानामुत मानुषाणाम् ।
इयक्षमाणा भृगुभिः सजोषाः स्व/र्यन्तु यजमानाः स्वस्ति ॥ ५ ॥

यजु० १७ । ६९ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमात्मन् ! आप (देवतानां) समस्त दिव्य गुण वाले महत् आदि विशाल वैकारिक पदार्थों और समस्त विद्वानों से (प्रथमः) पूर्व विद्यमान, सब से श्रेष्ठ हैं। आप (प्रेहि) हमारे हृदय में प्रकट होइये। आप (देवनाम्) देवों और विद्वानों के (उत) और (मानुषाणाम्) मनुष्यों के (चक्षुः) यथार्थ प्रकाशक हैं। (यजमानाः) यज्ञ करने हारे पुण्यात्मा लोग (भृगुभिः) पापों को भून डालने वाले या परिपक्व ज्ञान सम्पन्न, वेद के विद्वानों के साथ (इयक्षमाणाः) यज्ञों का सम्पादन करते हुए (सजोषाः) परस्पर समान भाव से प्रीति पूर्वक रहते हुए (स्वस्ति) अपने कल्याण के लिये (स्वः यन्तु) स्वर्ग लोक में जायं और सुख का भोग करें।

अजमनज्मि पयसा घृतेन दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तम् ।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं स्व/रारोहन्तो अभि नाकमुत्तमम् ॥ ६ ॥

५-(द्वि०) 'उत मर्त्यानाम्' (प्र०) 'देवयताम्' इति यजु०, पैप्प० सं०।

६-' अग्निं युनज्मि शवसा घृतेन दिव्यं सुपर्णं वयसा बृहन्तं । तेन वयं पतेम ब्रध्नस्य विष्टपं स्वरुहाणा अधि नाक उत्तमे इति तै० सं०। तत्रैव (द्वि०) ' दिव्यं समुद्रं ' इति पैप्प० सं०। ' वयसा बृहन्तं ' इति मै० सं०। (च०) ' ससहन्तोधि ' इति पैप्प० सं०।

भा०—मैं (दिव्यं) दिव्य (सुपर्णं) उत्तम पालन, और प्रज्ञानों से युक्त (बृहन्तम्) महान् (पयसं) सब के परिपोषक (अजं) उस अज-आत्मा, परम प्रभु को (पयसा) ज्ञान और (घृतेन) दिव्य तेज से (अनज्मि) साक्षात् करता हूं । (तेन) उसी के बल से हम (उत्तमम् नाकम्) उत्तम सुखमय (स्वः) स्वर्गधाम को (आ-रोहन्तः) जाते हुए (सुकृतस्य) पुण्य के (लोकं) लोक को भी (गेष्म) प्राप्त हों ।

पञ्चौदनं पञ्चभिरङ्गुलिभिर्दर्व्योद्धर पञ्चधैतमोदनम् ।
प्राच्यां दिशि शिरो अजस्य धेहि दक्षिणायां दिशि दक्षिणं धेहि पार्श्वम् ॥ ७ ॥

भा०—यज्ञ क्रिया के दृष्टान्त से आध्यात्मिक यज्ञ का रहस्य खोलते हैं । हे योग, तप द्वारा आत्मा को परितप्त करने हारे तपस्विन् ! योगयाजिन् ! तू (पञ्चौदनं) पांच ओदन=भात, पञ्चज्ञान विषयों या पंच भूतों को वश करने हारे इस महान् आत्मा को (पञ्चभिः) पांचों (अंगुलिभिः) अंग में लगी इन्द्रियों से, या पांच महाशक्तियों से (दर्व्या) विषयों के पहुंचने हारी विवेक शक्ति से (एतम्) इस (ओदनं) अत्ता, भोक्ता को (पंचधा) पांच भागों में (उद्धर) उठा २ कर रख, बांट दे । अर्थात् इस महान् आत्मा को विभक्त कर । विभाग का प्रकार दर्शाते हैं । (प्राच्यां दिशि) प्राची दिशा में (अस्य शिरः) इस अज आत्मा के शिर भाग को (धेहि) रख और (दक्षिणायां दिशि) दक्षिण दिशा में (दक्षिणं पार्श्वं) दायां पार्श्व (धेहि) रख ।

प्रतीच्यां दिशि भसदमस्य धेह्युत्तरस्यां दिश्युत्तरं धेहि पार्श्वम् ।
ऊर्ध्वायां दिश्य१जस्यानूकं धेहि दिशि ध्रुवायां धेहि पाजस्य१मन्तरिक्षे मध्यतो मध्यमस्य ॥ ८ ॥

भा०—(प्रतीच्यां दिशि) पश्चिम दिशा में (अस्य) इसके (भसदं) गुह्य भाग को (धेहि) स्थापन कर और (उत्तरस्यां दिशि) उत्तर की दिशा में (उत्तरं पार्श्वं धेहि) इसका उत्तर अर्थात् बांया भाग रख। (ऊर्ध्वायां दिशि) ऊपर की दिशा में (अजस्य) इस अज आत्मा के (अनूकं) पीठ के भाग को (धेहि) रख, (ध्रुवायां दिशि) नीचे पृथिवी की ओर इस आत्मा का (पाजस्यं धेहि) पाजस्य=चरण भाग को (धेहि) स्थापित कर और (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (अस्य) इस अज आत्मा के (मध्यतः मध्यम्) बीच के भाग, धड़ के मध्य भाग को (धेहि) स्थापित कर इस प्रकार प्रजापति रूप अज परमात्मा के विराट् रूप का ध्यान कर।

इस प्रजापति रूप 'अज' का अंग विभाग बृहदारण्यक में बतलाये प्रजापति रूप अश्व के समान ही जानना उचित है। वहां मेध्य यज्ञ के अश्व का आलंकारिक रूप इस प्रकार वर्णन किया है।

उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणो व्यात्तमग्निर्वैश्वानरः संवत्सर आत्मा वाश्वस्य मेध्यस्य। द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरं पृथिवी पाजस्यम्। दिशः पार्श्वे, अवान्तरदिशः पर्शवः ऋतवोङ्गानि, मासाश्चार्धमासाश्च पर्वाणि, अहोरात्राणि प्रतिष्ठा, नक्षत्राणि अस्थीनि, नभो मांसानि, उवध्यं सिकताः, सिन्धवो गुदाः, यकृच्च क्लोमानश्च पर्वताः, ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमानि, उद्यन् पूर्वार्धो निम्लोचन् जघनार्धः, तद्विजृम्भते यद् विद्योतते, यद्विधूनते तत्स्तनयति, यन्मेहति तद्वर्षति, वागेवास्य वाक्। (बृहदारण्यक उप० १। १)

उस अश्वरूप प्रजापति के उषा शिर है, सूर्य चक्षु, वायु प्राण, वैश्वानर अग्नि मुख, संवत्सर आत्मा, द्यौः पीठ, अन्तरिक्ष पेट है, पृथिवी पैर हैं। दिशाएं पार्श्व भाग हैं इत्यादि। भेद केवल इतना है कि वहां अश्व नाम से प्रजापति के शरीर की कल्पना है यहां अज नाम से है, अलंकार उभयत्र समान है। 'यथापिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' का सूत्र लगा कर आत्मा परमात्मा दोनों पर यह अलंकार घट जाता है।

शृतमजं शृतया प्रोर्णुहि त्वचा सर्वैरङ्गैः सम्भृतं विश्वरूपम् ।
स उत् तिष्ठेतो अभि नाकमुत्तमं पद्भिश्चतुर्भिः प्रति तिष्ठ दिक्षु ॥६॥

भा०—(शृतं) इस प्रकार परिपक्व, अर्थात् पुनः योगाभ्यास और ध्यानाभ्यास से दृढ़ीकृत (अजं) इस महान् आत्मा को (शृतया) उसी प्रकार की दृढीकृत (त्वचा) त्वचा=संवरण करने वाली शक्ति से (प्र-ऊर्णुहि) आच्छादित कर । वह महान् आत्मा पूर्वोक्त प्रकार से (सर्वैः अंगैः) समस्त अंगों द्वारा (विश्वरूपम्) विश्व, ब्रह्माण्ड के विराट् रूप में (सं भृतम्) एकत्र विराजमान है । (सः उत) वह ही तू अर्थात् उसी रूप का तू यह आत्मा भी (इतः) इस लोक से (उत्तमं) उस ऊर्ध्वतम, सर्वश्रेष्ठ (नाकम्) सुखमय आनन्दमय मोक्षधाम को (अभि उत् तिष्ठ) लक्ष्य करके उठ खड़ा हो और (चतुर्भिः) चारों (पद्भिः) पदों, रूपों से (दिक्षु) दिशाओं में (प्रति तिष्ठ) प्रतिष्ठा को प्राप्त हो ।

उस महान् आत्मा के पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यौ ये तीन और चतुर्थ तुरीय पद है । इस आत्मा के चार आश्रम चार पद हैं । सायण ने यह सूक्त अज-बलिपरक यज्ञ में लगाया है सो असंगत है ।



[१५] वृष्टि की प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । मरुतः पर्जन्यश्च देवताः । १, २, ५ विराड् जगत्यः, ४ विराट् पुरस्ताद् बृहती, ७, ८, १३, १४ अनुष्टुभः, ९ पथ्यापंक्तिः, १० भुरिजः, १२ पञ्चपदा अनुष्टुब् गर्भा भुरिक्, १५ शङ्कुमती अनुष्टुप्, ३, ६, ११, १६ त्रिष्टुभः । षोडशर्चं सूक्तम् ॥

९-(प्र०) 'श्वथया' इति सायणाभिमतः ।

स॒मुत्प॑तन्तु प्र॒दिशो॒ नभ॑स्वती॒: सम॒भ्राणि॒ वात॑जूतानि यन्तु ।
म॒हऋ॒ष॒भस्य॒ नद॑तो॒ नभ॑स्वतो वा॒श्रा आप॑: पृथि॒वीं त॑र्पयन्तु ॥१॥

भा०—वर्षा के रहस्य का उपदेश करते हैं। (नभस्वतीः[1]) मेघों से घिरीं (प्रदिशः) महादिशाएं (सम्-उत्-पतन्तु) उमड़ आवें, चारों दिशाओं में मेघ ही मेघ घिर जावें और (वातजूतानि) वायु से प्रेरित (अभ्राणि) सजल जलद (सं यन्तु) खूब आवें, तब (महा ऋषभस्य) महान् जल-वर्षक (नदतः) गर्जना करते हुए (नभस्वतः) वायु से प्रेरित मेघ की (वाश्राः) छम छम करती हुई (आपः) जलधाराएं (पृथिवीम् तर्पयन्तु) इस पृथिवी को परितृप्त करें।

अध्यात्मवादी लोग इस वर्षण सुख को तब लेते हैं जब अपनी ऋतं-भरा प्रज्ञा के उदय हो जाने पर धर्ममेघ समाधि में अपने हृदयाकाश में अन्तरात्मा की चमकती हुई ज्योतियों की विद्युत् लताओं से घिरे महान् आत्मारूप पर्ज्जन्य से बरसती आनन्द–धाराओं को चित्त भूमि में बरसता पाते हैं। इति दिक्।

स॒मी॒क्षय॑न्तु तवि॒षाः सु॒दान॑वो॒ऽपां रसा॒ ओष॑धीभिः सचन्ताम्।
व॒र्षस्य॒ सर्गा॑ महयन्तु॒ भूमिं॒ पृथ॑ग् जायन्ता॒मोष॑धयो वि॒श्वरू॑पाः ॥२॥

भा०—(तविषाः) महान् (सुदानवः) उत्तम जलों का दान करने वाले मेघ (समीक्षयन्तु) हमें उत्तम रीति से जल धाराओं के दर्शन करावें या बरस कर दिखावें। और (अपां रसाः) जलों की धराएं (ओष-

[१५] १–' वाश्रापः ' इति पैप्प० सं०।

१. 'नभो मांसानी'ति बृहदारण्यकवचनव्याख्याने भगवत्पादः श्रीमच्छंकराचार्यः। 'नभः नभस्था मेघाः। नभस्वता वायुना युक्ताः' इति सायणः।

२–' समुक्षयन्तु ' इति ह्विटनिकामितः।

धीभिः) अन्नादि ओषधियों को (सचन्ताम्) प्राप्त हों । (वर्षस्य सर्गाः) वर्षाकाल की नाना वनस्पति और जीवसृष्टियां या जल-धाराएं (भूमिं) इस भूमि को (महयन्तु) सुशोभित करें । और (विश्वरूपाः) नाना प्रकार की (ओषधयः) ओषधियां (पृथक्) नाना स्थानों पर नाना जातियों में (जायन्ताम्) उत्पन्न हों ।

समीक्षयस्व गायतो नभांस्यपां वेगासः पृथगुद् विजन्ताम् ।
वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग् जायन्तां वीरुधो विश्वरूपाः ॥२॥

भा०—हे मरुद्गण ! आप लोग (गायतः) आनन्द में गान करते हुए प्रजा जनों को (नभांसि) मेघों का (समीक्षयस्व) दर्शन कराओ । (अपां वेगासः) जलों के वेगवान् प्रवाह (पृथक्) नाना स्थानों पर (उद् विजन्ताम्) उत्तरंग हो २ कर उमड़ आवें । (वर्षस्य सर्गाः) वर्षा की नाना सृष्टियां या जलधाराएं (भूमिं महयन्तु) भूमि को सुशोभित करें । (विश्वरूपाः वीरुधः) नाना प्रकार की लताएं (पृथक् जायन्तां) नाना स्थानों पर उत्पन्न हों ।

गणास्त्वोप गायन्तु मारुताः पर्जन्य घोषिणः पृथक् ।
सर्गा वर्षस्य वर्षतो वर्षन्तु पृथिवीमनु ॥ ४ ॥

भा०—हे (पर्जन्य) रसों के प्रदाता पर्जन्य देव ! (घोषिणः) वेद का घोष करने हारे विद्वान् पुरुषों के समान (मारुताः गणाः) वायुएं (त्वा उपगायन्तु) तेरी स्तुति करें । (वर्षतः) वर्षते हुए (वर्षस्य) मेघ की (सर्गाः) धाराएं (पृथिवीम् अनु) पृथिवी पर (वर्षन्तु) वर्षा करें ।

२–(प्र०) 'समिक्षाद् विश्वग् वातो नपांस्यापां वेगासः पृथगुत्पतन्तु' इति पैप्प० सं० ।

४–(च०) 'सृजन्तु पृ०' इति पैप्प० सं० ।

उदीरयत मरुतः समुद्रतस्त्वेषो अर्को नभ उत् पातयाथ ।
महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु ॥५॥

भा०—हे (मरुतः) वायुओ ! (समुद्रतः) समुद्र के मध्य से (उद्-ईरयत) ऊपर उठ २ कर आओ और मेघों को उड़ा लाओ (अथ) और (त्वेषः) विद्युत् की कान्ति (अर्कः) सूर्य या जल और (नभः) मेघ को (उत्-पातय) ऊपर उठा लाओ । (नदतः) गर्जते हुए (नभस्वतः) वायु से प्रेरित (महा ऋषभस्य) बड़े वर्षक, मेघ के (वाश्राः) छम छम करतीं (आपः) जलधाराएं (पृथिवीम् तर्पयन्तु) वर्ष २ कर पृथिवी को तृप्त कर दें ।

अभि क्रन्द स्तनयार्दयोदधिं भूमिं पर्जन्य पयसा समङ्धि ।
त्वया सृष्टं बहुलमैतु वर्षमाशारैषी कृशगुरेत्वस्तम् ॥ ६ ॥

भा०—हे (पर्जन्य) मेघ ! (अभिक्रन्द) गर्जना कर, (स्तनय) बिजली कड़का, (उदधिं) जल को धरने वाले अपने स्वरूप को (अर्दय) पीड़ित कर, जिससे खूब जल वर्षे और (पयसा) अपने जल से (भूमिं समङ्धि) भूमि को सींच डाल । (त्वया सृष्टं वर्षं) तेरे से बरसाया गया जल (बहुलं) बहुत सारा (एतु) नीचे आवे । (आशारैषी) आशार=चारों तरफ़ से जल प्रपात की इच्छा करने वाला (कृशगुः) कृश—दुबले बैलों वाला, अथवा गौ=भूमि को कर्षण=हल वाहने वाला किसान अपनी भूमि को हल बाह कर (अस्तं एतु) अपने घर पर आ जाय । सायण—(आशारैषी कृशगुः) धारा संपात चाहने वाला सदा अस्त रहे, कभी न दीखे । यह अर्थ असंगत है, क्योंकि सूर्य में धारा-संपात की इच्छा होना असम्भव है ।

५-(तृ० च०) 'प्रतिवर्षयन्ति तमिषास्सुदानवोऽपां राशीरोषधीः सचन्ताम्' इति पैप्प० सं० ।

सं वोऽवन्तु सुदानव उत्सा अजगरा उत ।
मरुद्भिः प्रच्युता मेघा वर्षन्तु पृथिवीमनु ॥ ७ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (वः) आप लोगों को (सुदानवः) कल्याण-तम जल का प्रदान करने वाले (उत अजगराः) और अजगर के समान स्थूल अथवा अज—सूर्य को निगल जाने वाले (उत्साः) जल के महा स्रोत जल-धाराएं (वः) आप लोगों की (अवन्तु) रक्षा करें। और (मरुद्भिः) वायुओं द्वारा (प्र-च्युताः) प्रेरित (मेघाः) मेघगण (पृथिवीम् अनु) पृथिवी पर (वर्षन्तु) वर्षा करें।

आशामाशां वि द्योततां वाता वान्तु दिशोदिशः ।
मरुद्भिः प्रच्युता मेघाः सं यन्तु पृथिवीमनु ॥ ८ ॥

भा०—(आशाम्-आशाम्) प्रत्येक दिशा में (विद्योततां) बिजुलियां चमकें, (दिशः-दिशः) दिशा दिशा में (वाताः वान्तु) वायुएं बहें। (मरुद्भिः) वायुओं से (प्र-च्युताः) प्रेरित (मेघाः) मेघ गण (पृथिवीम् अनु) पृथिवी की ओर (सं यन्तु) उत्तम रीति से जावें।

आपो विद्युदभ्रं वर्षं सं वोऽवन्तु सुदानव उत्सा अजगरा उत ।
मरुद्भिः प्रच्युता मेघाः प्रावन्तु पृथिवीमनु ॥ ९ ॥

भा०—(आपः) जल, (विद्युत्) बिजुली, (वर्षं) वर्षा और (अज-गराः) अजगर के समान स्थूल आकार में लोटने वाले (उत्साः) जलों

७–'समवन्तु सदानवोत्सा जगरा उत' 'वातावर्षस्य वर्षतुः प्रवहन्तु पृथिवीमनु' इति पैप्प० सं०।

९–(प्र०) 'वातोविद्यु–' (तृ० च०) 'प्र प्यायस्व प्र पितृस्व सं स-भूमिं पयसासृज' इति पैप्प० सं०।

के सोते (उत) भी (वः) तुम प्रजाओं की (सं अवन्तु) उत्तम रीति से रक्षा करें । (मरुद्भिः प्रच्युताः मेघाः पृथिवीम् अनु प्र-अवन्तु) वायुओं से प्रेरित मेघ पृथिवी की ओर खूब जोर से उमड़ कर आवें ।

अपामग्निस्तनूभिः संविदानो य ओषधीनामधिपा बभूव ।
स नो वर्षं वनुतां जातवेदाः प्राणं प्रजाभ्यो अमृतं दिवस्परि ॥१०॥

भा०—(अपाम्) मेघ में स्थित जलों की (अग्निः) प्रकाशस्वरूप विद्युत् (तनूभिः) जलों के शरीरभूत मेघों से (सं विदानः) एकत्र मिल कर रहती है । (यः) जो (ओषधीनां) वनस्पतियों का (अधिपा) स्वामी, पालक (बभूव) होता है । (स जातवेदाः) वह समस्त पदार्थों में व्यापक अग्नि (नः) हमारे लिये (वर्षं) वृष्टि को और (दिवः परि) आकाश से (अमृतं) बरसते अमृत रूप जल को (प्रजाभ्यः प्राणं) प्रजाओं के लिये प्राणरूप (वनुतां) बना दे । वायु के संघर्ष से मेघों में बिजली उत्पन्न होती है वह ऋण और धन या पोज़िटिव और नेगिटिव रूप में प्रकट हो कर पुनः परस्पर मिलती है और कड़कती है । उससे जलों में विशेष प्राण-शक्ति और मेघ के जलों की वृद्धि भी होती है । ओषधियां अधिक जल पातीं और प्रजाएं सुखी होती हैं ।

प्रजापतिः सलिलादा समुद्रादाप ईरयन्नुदधिमर्दयाति ।
प्र प्यायतां वृष्णो अश्वस्य रेतोऽर्वाङेतेन स्तनयित्नुनेहि ॥ ११ ॥

उत्तरार्धः ५ । ८३ । ६ । द्वि० तृ० ॥

भा०—(प्रजापतिः) प्रजाओं का पालक परमेश्वर सूर्य द्वारा (सलिलात् समुद्रात्) जलमय समुद्र से (आपः) व्यापनशील वाष्परूप जलों

११–' दिवो नो वृष्टिं मरुतो ररीध्वं प्रपिन्वत वृष्णो अश्वस्य धाराः । अर्वाङ्-एतेन स्तनयित्नुनेह्यपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः ।' इति ऋ० । (तृ०) ' प्राप्यायतां ' इति पैप्प० सं० ।

को (आ ईरयन्) सर्वत्र वातावरण में फैलाता हुआ (उदधिः) ऊपर उठने वाले जल को धारण करने वाले वातावरण को (अर्दयति) पुनः अपनी किरणों से पीड़ित करता है, विक्षुब्ध करता है। इससे क्या होता है ? कि (वृष्णः) वर्षा करने वाले (अश्वस्य) व्यापक मेघ का (रेतः) नीचे आने वाला जल (प्रप्यायताम्) खूब अधिक बढ़ जाता है और (एतेन) इस (स्तनयित्नुना) ध्वनि करने वाले विद्युत् के साथ ही हे पर्जन्य ! तू (अर्वाङ्) नीचे की ओर भी आजाता है।

अपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः श्वसन्तु गर्गरा अपां वरुणाव-नीचीरपः सृज । वदन्तु पृश्निबाहवो मण्डूका इरिणानु ॥ १२ ॥

भा०—(असुरः) सब जन्तुओं को प्राण देने हारा सूर्य (अपः) जलों को (निषिञ्चन्) निरन्तर सींचा करता है वास्तव में इसलिये वही (नः) हम समस्त जीवों का (पिता) पालक है। हे वरुण ! सर्वश्रेष्ठ ! परमात्मन् ! (अपां गर्गराः) जलों के निगल जाने वाले, अजगर के समान पृथिवी पर लोटने वाले, या गड़ २ शब्द करने वाले मेघ अथवा भूमि के बरसाती नाले (श्वसन्तु) पुनः श्वास लें या भर २ कर बहें या जल के आधार पर जीने वाले अजगर वर्षा से पुनः प्रसन्न होकर लम्बे २ सांस खींचें। हे प्रभो ! (अपः) जलों को (नीचीः) नीचे की ओर (अवसृज) प्रवाहित कर, मेघों को बरसा, जिससे (पृश्निबाहवः) पीले चितकबरे रंग की बाहुओं वाले (इरिणा अनु) बिना घास की भूमियों में आकर (वदन्तु) खूब बोलें।

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः ।
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः ॥ १३ ॥

ऋ० ७ । १०३ । १ ॥

१३-(तृ०) 'वातं पर्जन्य' इति क्वचित् । (च०) 'माण्डूकाः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—वर्षा काल का वर्णन करते हुए विद्वान् ब्राह्मणों की उपमा से मण्डूकों का भी वर्णन करते हैं—(व्रतचारिणः) व्रत का आचरण करने वाले (ब्राह्मणाः) विद्वान वेदज्ञ ब्राह्मण लोग जिस प्रकार वेद का पाठ करते और ऋतु को मनोहर बनाते हैं उसी प्रकार (संवत्सरं) एक वर्ष तक (शशयानाः) बिलों में सोते हुए (मण्डूकाः) मेंडक (पर्जन्यजिन्वितां) मानों मेघ स्तुति करने वाली (वाचं) वाणी को (प्र अवादिषुः) उत्तम रीति से बोलते हैं ।

दादुरध्वनि चंहु ओर सुहाई । वेद पढ़त जिमि बटु समुदाई ॥—तुलसी० ।

इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों के पक्ष में—(मण्डूका) ब्रह्मानन्द रस में मग्न होने वाले (व्रतचारिणः) ब्रह्मचर्य के पालक (ब्राह्मणाः) वेद के विद्वान् (संवत्सरं) एक वर्ष को (शशयानाः) बिता कर (प्रजन्यजिन्वितां) उस आनन्द-रस-प्रदाता प्रभु को प्रसन्न करने वाली (वाचं) वेदवाणी का (अवादिषुः) उच्चारण करते हैं ।

उपप्रवंद मण्डूकि वर्षमा वंद तादुरि ।
मध्ये हृदस्यं प्लवस्व विगृह्य चतुरः पदः ॥ १४ ॥

भा०—हे (मण्डूकि) मेंढकी ! हे (तादुरि !) तदुर=मेंढक की बच्ची ! तू (वर्षम् उप प्र-वद आ वद) वर्षा को देख कर खूब बोल और सब तरफ बोल और (चतुरः पदः) चारों पैर (विगृह्य) फैला कर (हृदस्य मध्ये) तालाब के बीच में (प्लवस्व) तैर ।

अध्यात्म में—उस आनन्दघन 'धर्ममेघ' के वर्षण को लक्ष्य कर के उसका वर्णन करते हैं । हे (मण्डूकि) आनन्दरस में निमग्न चित्तवृत्ते ! (तादुरि) तद्-उर=उस परब्रह्म की तरफ जाने वाले, उस में लीन आत्मा

१४–(प्र०) 'माण्डूकि' (द्वि०) 'तांधुरि' इति पैप्प० सं० ।

की पुत्री स्वरूप तू (आ वद) उसी का सर्वत्र गान कर और (चतुरः पदः) अन्तःकरण चतुष्टय रूप चारों चरणों को फैला कर (हृदस्य) उस आह्लाद जनक हृदयरूप मानस-सरोवर में (प्लवस्व) आनन्द से तर, सब दुःखों को पार करजा ।

खण्वखा३इ खैमखा३इ मध्ये तदुरि ।
वर्षं वनुध्वं पितरो मरुतां मन इच्छत ॥ १५ ॥

भा०—हे (खण्वखे) खण्वखा और हे (खैमखे) खेमखा और हे (तदुरि) तदुरी नामक तीनों प्रकार के मण्डूक जातियो ! आप (मध्ये) तालाब के बीच में (वर्षं) वर्षा का (वनुध्वं) आनन्द प्राप्त करो । हे (पितरः) पालन करने हारे प्रजा पालको जनो ! आप लोग (मरुतां) बहने वाले वायुओं का (मनः) वास्तविक मनन करने योग्य ज्ञान (इच्छत) प्राप्त करने का यत्न करो ।

अध्यात्म में–हे (खण्वखे) इड़ा नाड़ि ! हे (खैमखे[1]) पिङ्गला नाड़ि ! और हे (तदुरि) ब्रह्म तक पहुंचने वाली (मध्ये) मध्य में वर्तमान सुषुम्ना नाड़ि ! तुम तीनों (वर्षं वनुध्वं) आनन्द रस के प्रवाह का भोग करो और हे (पितरः) इन्द्रियगणो तुम लोग (मरुतां) इन भीतरी प्राणों के (मनः) मानस बल को (इच्छत) प्राप्त करने का यत्न करो । अर्थात् उस समय ये इन्द्रिय प्राणों सहित मन में विलीन हो जाती हैं ।

यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥

१५–(द्वि०) ‘ मध्ये प्लवस्व तादुरि ’ अथवा ‘ मध्ये हृदस्य तादुरि ’ इति ह्विट्निकामितः पाठः ।

१. ‘ पैमखाई ’ इति सायणसम्मतः पाठः ।

'खण्वखा'—कण्वं-आत्मानं खनति इति कण्वखाः छान्दसः खकारः। आत्मा को खोद लेने वाली, अथवा-खण्वे छिद्रे खज्जति गच्छतिसा खण्वखा ब्रह्मरन्ध्रगामिनी।

'खैमखा'—खैस्थैर्ये, खदने (भ्वादिः) हिंसायांचेति शब्द कल्पद्रुमः। ततो मन् प्रत्ययः। खैम स्थैर्यं खनाति पुनः २ स्थिरी करोति इति खैमखा पिङ्गला 'तदुरि'—तत् ब्रह्म इयर्ति इति तदुरि सुषुम्ना सा च मध्ये इड़ापिङ्गलयोर्वर्त्त-माना भवति।

म॒हान्तं॒ कोश॒मुद॑चा॒भि षि॑ञ्च सविद्यु॒तं॑ भवतु॒ वातु॒ वातः॑ ।
त॒न्वतां॑ य॒ज्ञं ब॑हु॒धा विसृ॑ष्टा आन॒न्दिनी॒रोष॑धयो भवन्तु ॥१६॥

भा०—हे परमात्मन्! (महान्तं) बड़े भारी (कोशं) जल के खजाने रूप मेघ को (उद् अच) ऊपर उठा और (अभिषिञ्च) समस्त संसार में जल का सेचन कराओ और वह (सविद्युतं) विद्युत् के साथ भी (भवतु) हो और (वातः) पवन (वातु) बहे। (यज्ञं तन्वतां) हे पुरुषो! तुम लोग पुण्य कार्य यज्ञ को करो और (बहुधा विसृष्टाः) नाना प्रकार से विविध रूपों में वर्षा हुई धाराएं (यज्ञं) इस महान् जीवन यज्ञ को (तन्वतां) सम्पादन करें और (आनन्दिनीः) आनन्ददायक (ओषधयः) ओषधियां (भवन्तु) उत्पन्न हों, अथवा ओषधियां आनन्ददायक हों।

इति तृतीयोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि पञ्च, ऋचश्चैकपञ्चाशत् ।]



१६–(प्र०) 'महन्तं' (तृ०) 'विसृष्टं' इति पैप्प० सं०।

[१६] राजा और ईश्वर का शासन ।

ब्रह्मा ऋषिः । सत्यानृतान्वीक्षणसूक्तम् । वरुणो देवता । १ अनुष्टुप्, ५ भुरिक्, ७ जगती, ८ त्रिपदामहाबृहती, ९ विराट् नाम त्रिपाद् गायत्री, २, ४, ६ त्रिष्टुभः । नवर्चं सूक्तम् ॥

बृहन्नेषामधिष्ठाता अन्तिकादिव पश्यति ।
य स्तायन्मन्यते चरन्त्सर्वं देवा इदं विदुः ॥ १ ॥

भा०—राजा के गुप्तचर विभाग का वर्णन करते हुए परमेश्वर के राज्य का उपदेश करते हैं । (एषां) इन देवों का (अधिष्ठाता) अधिपति शासक स्वयं (बृहन्) बहुत बड़ा है, जो सब को (अन्तिकात् इव) ऐसे देख रहा मानों उनके पास ही खड़ा है । (यः) जो पुरुष (स्तायत्) अपने को गुप्त रूप से छुपकर (चरन्) विचारता हुआ, (मन्यते) जानता है । (इदं) यह सब बात (देवाः) देव राष्ट्र के अधिकारीगण जिस प्रकार अपने राजा के इस सामर्थ्य को जानते हैं उसी प्रकार समस्त विद्वान्गण एवं दिव्य लोक भी (इदं सर्वं) इस सब सत्य को (विदुः) जानते हैं ।

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम् ।
द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद् वेद वरुणस्तृतीयः ॥ २ ॥

भा०—वरुण राजा की गुप्त विज्ञता और सर्व व्यापकता को दर्शाते हैं । (यः) जो (तिष्ठति) खड़ा है (यः च चरति) और जो चलता है (यः च वञ्चति) और जो दूसरे को ठगता है (यः निलायं चरति) जो छुप २

[१६] २–(प्र०) 'यस्तिष्ठति मनसा यश्च', (द्वि०) 'यः प्रलायम्' (तृ०) 'द्वौ यद्वदतः संनिपद्य' इति पैप्प० सं० ।

कर कहीं जाता है (यः प्रतङ्कं चरति) जो दूसरे को भारी पीड़ा देने आदि अत्याचारों को करता है और (यत्) जो कुछ (द्वौ) दो पुरुष भी (संनिपद्य) एक साथ मिल कर, बैठ कर (मन्त्रयेते) गुप्त विचार करते हैं (राजा वरुण) सब का शासक वरुण भी (तृतीयः) उन दोनों के साथ तीसरा होकर (वेद) उनकी गुप्त बातों को जानता है। राजा भी अपने गुप्त चर विभाग को ऐसा ही स्थापित करे कि प्रजा और शत्रु के कार्यों को भलीभांति जाने।

उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञ उतासौ द्यौर्बृहती दूरेअन्ता ।
उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः ॥ ३ ॥

भा०—(उत) और तो और, (इयं भूमिः) यह भूमि (राज्ञः वरुणस्य) राजा वरुण, सब के परिपालक, रक्षक, उस प्रभु की है (उत) और (दूरे-अन्ता) दूर और समीप, सर्वत्र व्यापक, (बृहती) इतना विशाल (द्यौः) द्यौः=आकाश उसी प्रभु के वश में है। (उत उ) और भी यह कि (समुद्रौ) पूर्व और पश्चिम समुद्र अथवा जलसमुद्र और आकाश समुद्र दोनों (अस्य) इस राजा वरुण की (कुक्षी) दो कोखें हैं। (उत) और सब से आश्चर्य यह कि, वही वरुण (अस्मिन् अल्पे उदके) इस छोटे से पानी के बूंद में भी (नि-लीनः) गुप्त रूप से व्यापक है। इसी प्रकार राजा को अपने और पराये राष्ट्र का तिल तिल भी जानना चाहिये।

उत यो द्यामतिसर्पात् परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः ।
दिव स्पशः प्र चरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम् ॥४॥

३–(प्र०, द्वि०) 'उतेममस्यपृथिवी समीची द्यौर्बृहतीरन्तरिक्षम्' (प्र०)
१. 'उदकेन मक्तः' इति पैप्प० सं०।

४–(तृ०) 'इह स्पशः प्र चरन्तीमस्य' इति पैप्प० सं०।

भा०—राजा वरुण का दुष्टदमन करने का सामर्थ्य बतलाते हैं। (यः उत) जो भी कोई जीव (द्याम् अति) द्यौ लोक, महान् आकाश को भी पार करके (परस्तात् सर्पात्) और भी दूर चला जाय (सः) वह भी (वरुणस्य राज्ञः) राजा वरुण, परमात्मा के शासन से (न मुच्याते) मुक्त नहीं हो सकता। क्योंकि (दिवः) प्रकाशमान (अस्य) उस वरुण के (स्पशः) गुप्तचर, स्पाई (Spy) लोग (इदं) इस संसार में (प्रचरन्ति) खूब घूम रहे हैं जो (सहस्र-अक्षाः) हजारों आंखों वाले चौकन्ना होकर (भूमिम्) इस भूमि को (अति पश्यन्ति) खूब देखते हैं। राजा को अपने गुप्त चर सिपाही भी इसी प्रकार के नियुक्त करने चाहियें। उनकी हज़ारों आंखों से ही वह भी सहस्राक्ष है। इसी प्रकार सभा में कार्याकार्य-विवेचन के लिये रखे आलोचक सभासद् भी राजा की ही आंखों के समान है उन से भी वह 'सहस्राक्ष' इन्द्र के समान ही है। मन्त्राधिकार में कौटल्य ने अर्थशास्त्र में कहा है—

"इन्द्रस्य हि मन्त्रिपरिषद् ऋषीणां सहस्रम्।
तच्चक्षुः। तस्मादिमं द्व्यक्षमपि सहस्राक्षमाहुः॥"

इन्द्र की मन्त्रिसभा में हज़ार ऋषि थे। वे उसकी आंख थे। इसलिये उसकी दो आंख होते हुए भी उसको सहस्राक्ष कहा जाता है।

सर्वं तद् राजा वरुणो वि चष्टे यदन्तरा रोदसी यत् परस्तात्।
संख्याता अस्य निमिषो जनानामक्षानिव श्वघ्नी नि मिनोति तानि॥५॥

भा०—राजा वरुण की सर्वदर्शिता को बतलाते हैं। (राजा वरुणः) राजा, सब का शासक परमात्मा (तत् सर्वम्) वह सब (यत् रोदसी अन्तरा)

५—'संख्याता। अस्य' इति पदच्छेदः सायणसम्मतः। 'स्वघ्नी' इति सायण-सम्मतः। 'श्वघ्नीति' निरुक्तकारः (च०) 'अक्षान् न श्वघ्नी भुवना मिमीते' इति पैप्प० सं०।

जो इन दोनों लोकों के बीच में और (यत् परस्तात्) जो इन से परे भी है वह सब कुछ (विचष्टे) नाना प्रकार और विशेष रूप से देखता है । (अस्य) इसने (जनानां) मनुष्यों और प्राणियों के (निमिषः) पलकों की झपकों तक को (सं-ख्याताः) गिन रखा है । क्योंकि (श्वघ्नी) जुआरी जिस प्रकार अपने (अक्षान्) पासों को (निमिनोति) खूब नाप जोख कर रखता है उसी प्रकार वह भी इन सब लोकों को नाप २ कर रखता और जोखता और रचता रहता है ।

ये ते पाशा॑ वरुण स॒प्तस॑प्त त्रे॒धा तिष्ठ॑न्ति॒ विषि॑ता॒ रुश॑न्तः ।
छि॒नन्तु॒ सर्वे॒ अनृ॑तं॒ वद॑न्तं॒ यः स॑त्यवा॒द्यति॒ तं सृ॑जन्तु ॥ ६ ॥

भा०—वरुण के पाश दर्शाते हैं । हे वरुण ! परमात्मन् ! (ये ते) आपके (ये) जो (पाशाः) पाश (सप्त सप्त त्रेधा) सात २ कर के तीन प्रकार से (विषिताः) बंधे हैं । वे पाश (सर्वे) सब (अनृतं वदन्तं) झूठ बोलनेवाले पुरुष को (रुशन्तः) मारते, पीड़ा देते हुए, (छिनन्तु) काट २ डालें और (यः) जो (सत्यवादी) सत्यवादी है (तं) उसको (अति सृजन्तु) मुक्त कर दें । राजा भी इसी प्रकार दण्ड-व्यवस्थाएं और जेल आदि का प्रबन्ध करे जिससे असत्यवादी पकड़े जायँ और सत्यवादी उनसे मुक्त रहें ।

श॒तेन॒ पाशै॑र॒भि धे॑हि वरुणैनं॒ मा ते॑ मोच्यनृत॒वाङ् नृ॑चक्षः ।
आस्तां॑ जा॒ल्म उ॒दरं॑ श्रंशयि॒त्वा कोश॑ इवाब॒न्धः प॑रि॒कृत्यमा॑नः ॥ ७ ॥

६–'रुपन्तः' इति सायणसम्मतः पाठः । (तृ०) 'सिनन्तु' इति ह्विटनिकामितः पाठः । 'शिनन्तु' इति क्वचित् । (प्र०) 'सप्तसप्तो' (द्वि०) 'स्यतारुषन्तः' (तृ०) 'छिनद्य', (च०) 'सभ्यवागति तं सृजामि' इति पैप्प० सं० ।

७–(प्र०) 'शतेन पाशैर्वरुणाभि', (द्वि०) 'अनृतवाग् नृ-' इति पैप्प० सं० । (च०) 'इवाबन्धः' इति बहुत्र ।

भा०—व्यवस्थापक लोग असत्यवादी के लिये उचित दण्ड की व्यवस्था करते हैं। हे वरुण राजन् ! हे (नृचक्षः) सब मनुष्यों को व्यवहार-चक्षु से देखने वाले ! (अनृतवाक) जो असत्य बोलता है वह (मा ते मोचि) तेरी दण्ड-व्यवस्था से छूट न जाय। (एनं) इसको तो (शतेन पाशैः) सौ पाशों से (अभि-धेहि) सब के सन्मुख बांध। और (जाल्मः) ज़ालिम, अत्याचारी, आततायी पुरुष (उदरं) अपने पेट, मध्य भाग को (श्रंशयित्वा) भूमि पर गिरा कर (अबन्धः) बिना बंधे (कोश इव) मियान या फूल के समान (परिकृत्यमानः आस्तां) टुकड़े २ काटा या तड़पाया जाता रहे।

यः समास्यो३ वरुणो यो व्याम्यो३ यः संदेश्यो३ वरुणो यो विदेश्यः।
यो दैवो वरुणो यश्च मानुषः ॥ ८ ॥

भा०—(वरुणः) वह वरुण है (यः) जो (समास्यः) सब के प्रति समान भाव से रहता है। (वरुणः) वरुण ही ऐसा है (यः व्याम्यः) जो प्रत्येक के प्रति विशेष रूप से भी रहता है। वह वरुण ही है (यः संदेश्यः) सब देश में सर्वत्र समान भाव से रहता है और (यः विदेश्यः) जो सब देश में विशेष रूप से भी रहता है। (वरुणः) वह वरुण ही है (यः दैवः) जो देव, विद्वानों में और (यः च मानुषः) जो मनुष्यों में भी समान रूप से रहता है। अर्थात् वरुण-राजा का और प्रभु का सब से समान रूप से और विशेष रूप से भी सम्बन्ध रहता है।

तैस्त्वा सर्वैरभि ष्यामि पाशैरसावामुष्यायणामुष्याः पुत्र।
तानु ते सर्वाननुसंदिशामि ॥ ९ ॥

८—त्रिधा पठितोयं 'वरुणः' शब्दोऽत्र उपसृष्टः। तं विहाय गायत्रीयम्। (प्र०) 'यः समान्यो' (द्वि०) 'यश्श्यं [?] देश्यो' (तृ०) 'यो दैव्यो वरुणो यश्चमानुषस्स त्वांस्त्वेतानि प्रतिमुञ्चाम्यत्र' इति पैप्प० सं० ॥

भा०—राजा दण्ड देने के समय अपराधी का नाम, माता और पिता के नाम सहित लिख कर दण्ड दे और दण्ड की आज्ञा इस प्रकार दे—हे (अमुष्याः पुत्र) अमुक माता के पुत्र ! और हे (आमुष्यायण) अमुक गोत्र और वंश के उत्पन्न पुरुष ! (त्वां) तुझ को तेरे अपराध के निमित्त (तैः) उन २ (सर्वैः) सब (पाशैः) दण्डों, बन्धन-व्यवस्थाओं अर्थात् धाराओं से (अभि-ष्यामि) सब के समक्ष दण्डित करता हूं और (तान्) उन (सर्वान्) सब अधिकारियों या दण्डधरों को (अनु सं-दिशामि) तदनुकूल दण्ड देने की मैं आज्ञा देता हूं ।

अर्थात् अपराधी की दण्डाज्ञा पर अपराधी के माता पिता का नाम, बाप दादों की वंश या गोत्र का नाम और दण्ड धाराओं का उल्लेख हो और जिन अफसरों को वह दण्डार्थ सौंपा जाय उनका भी उल्लेख होना उचित है ।

---

[१७] अपामार्ग और अपामार्ग-विधान का वर्णन ।

शुक्र ऋषिः । अपामार्गो वनस्पतिर्देवता । १–८ अनुष्टुभः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

ईशा॑नां त्वा भेष॒जाना॒मुज्जे॑ष॒ आ र॑भामहे ।
च॒क्रे स॒हस्र॑वीर्यं॒ सर्व॑स्मा ओषधे त्वा ॥ १ ॥

भा०—ओषधि को सहस्रगुण वीर्यवान् करने का उपदेश करते हैं । हे ओषधे ! (त्वा) तुझ को (सर्वस्मै) सब प्रकार रोगों के लिये मैं (सहस्र-वीर्यं) सहस्रगुणा शक्तिवाला करता हूं । और (भेषजानाम्) सब रोगहारक

---

[१७] १–(द्वि०) 'निजेपागृणीमहे' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'सहस्रवीर्यम्' इति बहुत्र ।

ओषधों में से (इशानां) सब से अधिक सामर्थ्य वाली (त्वा) तुझ को (उत्-जेषे) रोग पीड़ाओं पर विजय और वश करने के लिये (आरभामहे) हम तुझे प्राप्त करते हैं। ओषधि के सहस्रगुण करने के लिये उस वनस्पति को 'ओषधि' बना लेना चाहिये। ओष-धि=टिंक्चर, उसके सहस्रवीर्य करने का उपाय 'होमियोपैथी' चिकित्सा में बतलाया जाता है।

सत्यजितं शपथयावनीं सहमानां पुनःसराम्।
सर्वाः समह्वयोषधीरितो नः पारयादिति ॥ २ ॥

भा०—मैं (सत्यजितं) अपने यथार्थ बल से रोग पर वश करने वाली (शपथयावनीम्[1]) शपथ=[अं]शपथ=अंशों के सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम इस प्रकार की पथ सूक्ष्मगति या प्रक्षेप द्वारा शरीर में प्रवेश कर मिलने अथवा रोगी के आक्रोश, कष्ट, चीत्कारों को दूर करने, (सहमानाम्) और रोग का अधिकाधिक नाश करने वाली, (पुनः सराम्) बार २ रोगी के मल मूत्र को अधिक मात्र में बाहर करने वाली अर्थात् विरेचक या बार २ शरीर में प्रवेश करने वाली, मात्रा में कईवार दी जाने योग्य को मैं प्रयोग करूं। और इसी प्रकार (सर्वाः ओषधीः) सब ओषधियों को मैं (समह्वि) एकत्र करूं, जिससे वे (इतः) इन रोगों से (नः) हमें (पारयात्) मुक्त करें।

२-(द्वि०) 'पुनश्श्रराम्' (च०) 'अतो नः पारयानिति' इति पैप्प० सं०।

१. 'शपथयोपनीं', 'समभ्योषधीरितो' इति च सायणाभिमतौ पाठौ। 'शपथयावनीं' इत्यत्रपूर्ववर्णलोपश्छान्दसः। 'अंशानां पथैः प्रक्षेपैः गतिविशेषैर्वा यावयति मिश्रयति हिनस्ति रोगान् साशा [अं] शपथयावनी। अथवा सत्यप्रभावेण रोगिणां शपथान् आक्रोशवचनान् आर्त्तिचीत्कारान् यावयति दूरीकरोति इति शपथयावनी।

या शशाप शपनेन याघं मूरमादधे ।
या रसस्य हरणाय जातमारेभे तोकमत्तु सा ॥ ३ ॥
अथर्व० १ । २८ । ३ ॥

भा०—विषम व्याधि का स्वरूप बतलाते हैं । (या) जो व्याधि (शपनेन) कुवचनों से (शशाप) रोगी को अधिक कुवचन कहलाती है और (या) जो (मूरं) मूर्छाकारी (अघं) न दबने वाले विकार को (आदधे) धारण करती है । (या) जो (रसस्य हरणाय) शरीर का बल नाश करने के लिये (जातम् आरेभे) उत्पन्न बालक को पकड़ लेती है, सम्भव है (सा) वह (तोकम्) तोक=बच्चे को (अत्तु) खा जाय ।

यां ते चक्रुरामे पात्रे यां चक्रुर्नीललोहिते ।
आमे मांसे कृत्यां यां चक्रुस्तया कृत्याकृतो जहि ॥ ४ ॥
अथर्व० ५ । ३१ । १ ॥

भा०—रसवती ओषधि के घातक-प्रयोग करने का दण्ड बतलाते हैं—हे राजन् ! (यां) जिस विषम औषध-प्रयोग को (ते) वे औषध तैयार करने वाले लोग (आमे पात्रे) कच्चे मिट्टी के वर्तन में (चक्रुः) तैयार करते हैं और (यां) या जिसको (नीललोहिते) नीले और लाल अर्थात् अधपके पात्र में बनाते हैं और (यां कृत्यां) जिस घातक-प्रयोग को वे (आमे मांसे) कच्चे मांस अर्थात् ओषधि के गुद्दे में या रोगी के उस कच्चे मांस में जिसमें ओषधि का वीर्य सहन करने की सामर्थ्य न हो उसमें (चक्रुः) प्रयोग करते हैं । हे राजन् ! (तया) उस रीति से (तू) उन (कृत्याकृतः) विघातक ओषधि प्रयोग करने वालों को (जहि[1]) मार, उनको दण्ड दे । पारद

३–(तृ० च०) 'यावा रथस्य प्रसारे ह्रतोवमत्वसः' इति पैप्प० सं० ।
४–(द्वि०) 'या सूत्रे नीललोहिते' इति पैप्प० सं० ।
१. शक्यार्थे लोट् ।

आदि रस भस्मों के तैयार करने के लिये कच्चा, अधकचा पात्र नहीं चाहिये पक्का पात्र होना उचित है नहीं तो पुट आदि देने के समय उसका टूट फूट कर हानि पहुंचाना सम्भव है। इसी प्रकार ओपधि तैयार करने के लिये ओपधि का परिपक्व भाग लेना चाहिय। मांस, शब्द से गूदा कहा गया है। कच्चा ओषधि का गूदा ओपधि का नीरस एवं पूर्णवीर्य न होने से अनर्थकारी हो सकता है। या रोगी का वह मांस जो ओपधि का बल न सहसके उस में पिचकारी द्वारा प्रवेश कराने से रोगी की मृत्यु होना सम्भव है।

दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्व/मराय्य/: ।
दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि ॥ ५ ॥
अथर्व० ७ । २३ । १ ॥

भा०—उक्त प्रकार से रस ओपधि तैयार करने से निम्न लिखित प्रकार की व्याधियां दूर हो सकती हैं। हे पुरुष! (दौः ष्वप्न्यम्) बुरे स्वप्नों के आने (दौर्जीवित्यम्) दुःख से जीने, फेंफड़ों में सांस लेने के समय पीड़ा होने आदि रोग को (रक्षः) विघ्नकारी (अभ्वम्) निर्बलताकारी (अराय्यः) देह की कान्ति के विनाशक (दुर्नाम्नीः) बुरे रूप, रंग वाली व्याधियों को और (दुर्वाचः) बदनाम करने वाली पाप व्याधियों को (अस्मत्) हम (नाशयामसि) दूर करें।

क्षुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम् ।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदपमृज्महे ॥ ६ ॥

५–(प्र०) ‘ दुःस्वप्नंदुर्जीवितं ’ (तृ० च०) ‘ दुर्वाचः सर्वं दुर्गतमितो नाशयामसि, इति पैप्प० सं० । (द्वि०) ‘अभूमराय्य’ इति क्वचित् । ‘ दौर्जीवत्यम् ’ (च०) ‘ अस्मिन् ’ इति सायणाभिमतः ।

६–(द्वि०) ‘ अनपद्यताम् ’ इति ह्विटनिकामितः । ‘ अनप-त्यताम् ’ इति पदच्छेदश्चिन्त्यः ।

भा०—उक्त प्रकार की महाव्याधिनाशक ओषधियों के गुणों को दर्शाते हैं—(क्षुधामारम्) भूख के कारण मारने वाला मृत्यु=भस्मकरोग को (तृष्णा-मारम्) तृष्णा के कारण मारने वाले रोग पित्तदाह को (अगोताम्) गौ=इन्द्रियों के भीतर शिथिलता प्राप्त कराने वाले और (अनपत्यताम्) बालक आदि का जन्म न होने देने वाले वन्ध्यात्व, नपुंसकत्व आदि (सर्वं तद्) समस्त रोगों को हे (अपामार्ग) रोग विनाशक ओषधे ! (त्वया) तेरे बल से (वयं अपमृज्महे) हम दूर करते हैं। नाना रोगहारी ओषधियों का 'अपामार्ग' यह पारिभाषिक नाम प्रतीत होता है। 'अपमृज्यते रोगो येन सोऽपामार्गः, अथवा अपमार्जयति इति अपामार्गः।"

तृष्णामारं क्षुधामारमथो अक्षपराजयम्।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदपं मृज्महे ॥ ७ ॥

भा०—उसी बात को पुनः दृढ़ करते हैं—हे (अपामार्ग) रोगों को दूर करने वाली ओषधे ! (त्वया) तेरे बल से (वयं) हम (तृष्णा-मारं) पियास के रोग को (क्षुधा-मारं) भूख के रोग को और (अक्ष-पराजयम्) इन्द्रिय नाशक रोग को तथा (तत् सर्वं) उसी प्रकार अन्य सब रोगों को (अप मृज्महे) विनाश करते हैं।

अपामार्ग ओषधीनां सर्वासामेक इद् वशी।
तेनं ते मृज्म आस्थितमथ त्वमगदश्चर ॥ ८ ॥

भा०—अपामार्गः रोगनिवारक ओषधि (सर्वासां ओषधीनाम्) सब ओषधियों में से (एक इत्) एक ही सब से अधिक (वशी) रोगों पर वश करने हारी है (तेन) उससे हे रोगिन् ! (ते) तेरे (आस्थितं)

८–(द्वि०) 'विश्वासामेक इत्पतिः' (तृ०) 'मृज्मास्थित' (च०) 'चरः' इति पैप्प० सं०।

शरीर में बैठे रोग को (मृज्मः) दूर करें और (त्वम् अगदः चर) तू नीरोग होकर विचर, जीवन यापन कर ।

---

[१८] 'अपामार्ग' विधान का वर्णन ।

शुक्र ऋषिः । अपामार्गो वनस्पतिर्देवता । १–५, ७, ८ अनुष्टुभः, ६ बृहतीगर्भा अनुष्टुप् । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

समं ज्योतिः सूर्येणाह्ना रात्री समावती ।
कृणोमि सत्यमूतयेऽरसाः सन्तु कृत्वरीः ॥ १ ॥

भा०—आयुर्वेद दिन रात के समान एक सत्य विद्या है । (सूर्येण समं ज्योतिः) ज्योति, प्रकाश सूर्य के साथ रहता है । और (रात्रिः) रात्रि भी (अह्ना) दिन के (सम्-वती) साथ ही ज्योतिष्मती रहती है । जिस प्रकार यह सत्य है उसी प्रकार के (सत्यं) सत्य को मैं (ऊतये) प्राणियों की रक्षा के लिये (कृणोमि) किया करता हूं जिससे (कृत्वरीः) सब विनाशकारी विधियां (अरसाः सन्तु) विषैली, घातक न हों, वे निर्बल हो जायँ । सूर्य के प्रकाश की सत्य के साथ उपमा प्रसिद्ध है ।

यो देवाः कृत्यां कृत्वा हरादविदुषो गृहम् ।
वत्सो धारुरिव मातरं तं प्रत्यगुप पद्यताम् ॥ २ ॥

भा०—वैद्यों के लिये राज नियम का उपदेश करते हैं । हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! (यः) जो पुरुष (कृत्या कृत्वा) अपने ओषधि के विषम प्रयोग करके (अविदुषः) अनजान पुरुष के (गृहम्) घर, देह को (हरात्) हर

---

[१८] १–(प्र०) 'समाभूमिः सूर्येण' (तृ०) 'कृणोमि सभ्यमृतये'
२–(द्वि०) 'कृत्वा आराद् अविदुषो' इति सायणाभिमतः ।

ले, विनाश कर दे तो जिस प्रकार (धारुः वसः) दूध पीने वाला बालक (मातरम् इव) अपनी माता के पास पहुंच जाता है उसी प्रकार उस विषम ओषधि का प्रयोग भी (प्रत्यक्) फिर से लौट कर (तं उपपद्यताम्) उसको ही प्राप्त हो। अर्थात् जो भोले लोगों की जान विषैली ओषधियें धोखे से दे देकर लेले उसको राजा उसी तरह के विष खिलाकर मरवावे।

अमा कृत्वा पाप्मानं यस्तेनान्यं जिघांसति ।
अश्मानस्तस्यां दग्धायां बहुलाः फट् करिक्रति ॥ ३ ॥

भा०—(यः) जो कोई पुरुष (पाप्मानं कृत्वा) पाप, घातक या विस्फोटक प्रयोग (अमा) किसी के साथ करके, या कच्चे पात्र में करके (तेन) उस से ही (अन्यं) दूसरे पुरुष को (जिघांसति) मार देना चाहता है (तस्यां) उस घातक प्रयोग के (दग्धायां) नष्ट या ज्वलित हो जाने पर (बहुलाः अश्मानः) बहुत से (फट् करिक्रति) पत्थर फट कर उसका स्वयं विनाश करते हैं। अर्थात् पाप कर्मों दूसरों की जान लेने वालों को पत्थरों से मार मार कर प्राण दण्ड हो। अथवा (बहुलाः अश्मानः) बहुत से शिला के समान कठोर जल्लाद उसको बराबर (फट् करिक्रति) ताड़ना किया करें। वेद में 'संगसार' करने का दण्ड अपने पाप कर्म से अन्यों के हिंसा करने वालों के लिये विधान किया गया है।

पं० 'ग्रिल' के मत में—(अमा कृत्वा पाप्मानं) कच्चे मट्टी के बर्तन में 'पाप्मा' विस्फोटक पदार्थ रखकर (यः तेन अन्यं जिघांसति) जो उससे अन्य को मारना चाहता है (तस्यां दग्धायां अश्मानः बहुला. फट्करिक्रति) उसके जलाने पर बहुत से पत्थर के टुकड़े 'फट्' आवाज़ करके फूटते हैं। इस प्रकार विस्फोटक 'बाम्ब' या डिनामाइट् रचने की विधि प्रतीत होती है।

३–(प्र०) 'अमायाम्' इति ग्रिलकामितः।

वास्तव में यह प्रति दृष्टान्त है । अर्थात् जिस प्रकार कोई कच्चे वर्त्तन में बारूद रखकर दूसरे पर चलाना चाहे तो वह बारूद आग लगते ही स्वयं फट कर उसको लगती है उसी प्रकार विना दृढ़ यत्न किये दूसरे के ऊपर घातक प्रयोग करने वाले को उसका पाप स्वयं फूटकर उस पर दण्ड-कारी होता है ।

सहस्रधामन् विशिखान् विग्रीवाञ् छायया त्वम् ।
प्रति स्म चक्रुषे कृत्यां प्रियां प्रियावते हर ॥ ४ ॥

भा०—हे (सहस्र-धामन्) सहस्रों अनन्त कीर्त्ते । राजन्! (त्वं) तू (वि-शिखान्) विषम-प्रयोगों को करने वाले पुरुषों को (वि-ग्रीवान्) ग्रीवा रहित करके (शायय) सुला दे, शान्त कर दे । और (कृत्यां) जो विषम प्रयोग को (प्रति चक्रुषे) बदला लेने के भाव से करे (प्रियावते प्रिया इव) प्रियतम जैसे प्रियतमा के पास पहुंच जाय । उसी प्रकार उसकी वह अनर्थकारी हरकत उस के पास ही (हर) पहुंचा । उसी से उस को दण्डित कर ।

अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम् ।
यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु ॥ ५ ॥

भा०—(अनया) इस प्रकार की इस (ओषध्या) दुष्टों की दुष्टता को जलाने वाली रीति से मैं (सर्वाः कृत्याः) सब प्रकार की उन अनर्थ-कारी घातक क्रियाओं को (अदूदुषम्) विनाश करूं । (यां) जिनको लोग (क्षेत्रे) खेतों में (गोषु) गौओं में (यां वा ते) या जिन को तेरे (पुरुषेषु) पुरुषों में (चक्रुः) दुष्ट लोग प्रयोग करते हैं ।

४–(प्र०) 'विशिखाम्' (द्वि०) 'क्षामय' इति पैप्प० सं० ।
५–(तृ० च०) 'गोभ्यः' 'पुरुषेभ्यः' इति पैप्प० सं० । 'यां, वाते' इति सायणाभिमतः ।

यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम् ।
चकार भद्रमस्मभ्यमात्मने तपनं तु सः ॥ ६ ॥

अथर्व० ५ । ३१ । ११ ॥

भा०—(यः चकार) जो बुरा काम करने का यत्न करता है परन्तु (न कर्तुं शशाक) कर न सके (अंगुरिम्, पादं) अपने ही अंगुलियों या हाथ पैर को (शश्रे) तोड़ लेता है । इस प्रकार वह (अस्मभ्यं) हमारे लिये तो (भद्रं चकार) ठीक ही करता है कि कर न सका पर तो भी (सः) वह (आत्मने) अपने लिये (तपनं चकार) पीड़ा प्राप्त करने का या पछताने का ही कार्य करता है ।

अपामार्गोऽप माष्टुं क्षेत्रियं शपथश्च यः ।
अपाह यातुधानीरप सर्वा अराय्य/: ॥ ७ ॥

भा०—(यः) जो (क्षेत्रियं) माता पिता के देह से उत्पन्न या राष्ट्र में उत्पन्न होने वाली व्याधि और चोर भय को और (यः च) जो (शपथः) परस्पर निन्दा कलह को (अपमार्ष्टु) दूर कर दे वही उपाय (अपामार्गः) 'अपामार्ग' नाम से कहा जाता है क्योंकि वह (सर्वाः) सब प्रकार के (यातुधानीः) पीड़ाकारिणी और (अराय्यः) राष्ट्र की लक्ष्मी की नाशक चालों, प्रगतियों (Movements) को (अपाह) दूर कर देता है ।

अपमृज्य यातुधानानप सर्वा अराय्य/: ।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥ ८ ॥

६–(प्र० द्वि०) 'यश्चकार न शशाख शशिरे पादमङ्गुलिम्' (तृ०) 'यांचकार' इति पैप्प० सं० ।

७–(तृ०) 'यातुधान्यः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (अपामार्ग) राष्ट्र के संकटदायक, कण्टकस्वरूप, विघ्नकारियों को दूर करने हारे अपामार्ग नामक विभाग ! (त्वया) तुझ से (वयं) हम (सर्वं तद्) वह सब कुछ (अप मृज्महे) दूर करते हैं। और (यातुधानान्) पीड़ाकारी पुरुषों को (अपमृज्य) दूर करें और (सर्वाः अराय्यः) सब प्रकार की अलक्ष्मी या कुलतों, बलाओं, राष्ट्र के साथ चिपटी कलङ्क रीतियों को (अप) अपामार्ग विधि से दूर करें।

वेद का यह अपामार्ग विधान अर्थशास्त्र के 'कण्टकशोधन' प्रकरण के समान समझना चाहिये।

---

[१९] अपामार्ग-विधान का वर्णन।

शुक्र ऋषिः। अपामार्गो वनस्पतिर्देवता। २ पथ्यापंक्तिः, १, ३—८ अनुष्टुभः। अष्टर्चं सूक्तम् ॥

उतो अस्यबन्धुकृदुतो असि नु जामिकृत्।
उतो कृत्याकृतः प्रजां नडमिवा च्छिन्धि वार्षिकम् ॥ १ ॥

भा०—अपामार्ग विधान को और भी स्पष्ट करते हैं। हे अपामार्ग ! राष्ट्र के अपकारियों के नाशकारी विधान ! (उत) चाहे तू (अबन्धु-कृत्) उन दुष्ट पुरुषों को राजा का अबन्धु=शत्रु बनाने वाला है और (उतो नु जामि-कृत् असि) चाहे उनको राजा का मित्र बना देता है अथवा (उतो अबन्धु-कृत् असि) हे अपामार्ग विधान ! तू शत्रुओं का नाशक है और (उतो नु जामि-कृत् असि) तू सहज शत्रुओं का भी विनाशक है। (उतो) और तो भी (कृत्या-कृतः) गुप्त पर घात करने हारे पुरुषों की

---

[१९] १–' उतेतास्य ' इति पैप्प० सं०।

(प्र-जाम्) आगे आने वाली सन्तति को (वार्षिकम् नडम्-इव) वर्षा-कालमें पैदा हुए नड=तृण के समान (आ च्छिन्धि) काट ही डालता है । कण्टक शोधन के विधान करने पर बहुत से राजा के शत्रु हो जाते हैं और बहुत से मित्र हो जाते हैं तो भी उसके प्रयोग से और अधिक अनर्थकारी लोगों के षड्यन्त्र होने बन्द हो जाते हैं ।

ब्राह्मणेन॒ पर्यु॑क्तासि॒ कण्वे॑न नार्ष॒देन॑ ।
सेने॑वैषि॒ त्विषी॑मती॒ न तत्र॑ भ॒यम॑स्ति॒ यत्र॑ प्रा॒प्नोष्यो॑षधे ॥२॥

भा०—अपामार्ग विधान की उत्पत्ति को स्पष्ट करते हैं । हे अपामार्ग विधानस्वरूप ओषधे ! अनर्थकारियों के संतापकारक उपाय ! (नार्षदेन=नार-सदेन) नर नेता लोगों की परिषद् में बैठने वाले (कण्वेन) विद्वान् मेधावी (ब्राह्मणेन) ब्रह्मवेत्ता पुरुष ने (परि-उक्ता [1] असि) तेरा सब प्रकारों से विवेचन करके परिवचन या प्रयोग किया है । इसलिये तू (त्विषि-मती) बलवती, कान्तिमती, चमचमाती उत्तम रूप वाली (सेना-इव) सेना के समान (एषि) राष्ट्र में आती है । और (यत्र प्र-आप्नोषि) जहां प्राप्त हो जाती है (तत्र भयम् न अस्ति) वहां भय नहीं रहता ।

यह वह शस्त्र हथियार-बन्द पुलिस का विभाग है जो दंगों को, बलवेयों और लुटेरों-चोरों-डाकुओं को नाश करने के लिये नियत किया जाता है । उस विधान को राजसभा के विद्वान् लोग सब प्रकार के पहलुओं से विचार करके प्रयोग और व्यवस्था करें । वनस्पति के पक्ष में अपमार्ग का प्रयोग, ब्राह्मण, यष्टि, कण्व और नार्षद नामक औषध के साथ मिला कर प्रयोग करने से गुणकारी होता है ।

२–(प्र०) 'परियुक्तोऽसि' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'त्विषी । मते' इति सायणाभिमतः पदपाठः ।

१. 'प्रयुक्ता' इति ह्विटनिकामितः ।

अग्रमेष्योषधीनां ज्योतिषेवाभिदीपयन् ।
उत त्रातासि पाकस्याथो हन्तासि रक्षसः ॥ ३ ॥

भा०—हे अपामार्ग नामक विधान ! (ज्योतिषा) तेज से (अभिदीपयन्) प्रकाशमान सूर्य जिस प्रकार सब तेजस्वी पिण्डों में सबसे अधिक तेजस्वी है उसी प्रकार यह विधान भी तेजस्वी, प्रकट होने से सब (ओषधीनां) तापदायक, उपायों में (अग्रम्) सब से प्रथम, श्रेष्ठ (एषि) होता है। (उत) और (पाकस्य [1] त्रातासि) पाक-परिपक्व करने योग्य निर्बलों की रक्षा करने और (रक्षसः) विघ्न करने वाले का (हन्ता असि) विनाश करने वाला है। ओषधि पक्ष में—ओषधि जठर में अपक्व अन्न को पचाता और पाचन अग्नि की रक्षा करता और बलनाशक रोगों का नाशक है।

यददो देवा असुरांस्त्वयाग्रे निरकुर्वत ।
ततस्त्वमध्योषध्यपामार्गो अजायथाः ॥ ४ ॥

भा०—(यत्) क्योंकि (अदः) उस उत्तम राष्ट्र में (देवाः) विद्वान् पुरुष (अग्रे) पूर्वकाल में (त्वया) हे अपामार्ग विधान ! तेरे बल से ही (असुरान्) असुर लोगों को (निः-अकुर्वत) पराजित कर सके (ततः) इस कारण ही हे ओषधे ! हे तापकारिन् (त्वम्) तू (अपामार्गः) 'अपामार्ग' नाम से (अधि अजायथाः) प्रसिद्ध है।

विभिन्दती शतशाखा विभिन्दन् नाम ते पिता ।
प्रत्यग् वि भिन्धि त्वं तं यो अस्माँ अभिदासति ॥ ५ ॥

३—' उतपाकस्य त्रातासि '।

१. पक्तव्यप्रशस्य दुर्बलस्येति सायणः।

४—(द्वि०) 'निर कृण्वत' (तृ०) 'तस्माद्धित्वमोषधे अपा' इति पैप्प० सं०।

५—' प्रत्यग् भिन्धा ' इति सायणाभिमतः।

भा०—शत्रु के नाश के लिये 'अपामार्ग-विधान' में 'भेद' उपाय का निरूपण करते हैं—हे अपामार्ग नाम विधान ! तू (शतशाखा) सैकड़ों शाखा वाला होकर (विभिन्दती) शत्रुओं में फोड़ डाला करता है इसलिये (ते पिता) तेरा परिपालक राजा स्वयं (विभिन्दन्) शत्रु पक्ष में फूट डालने हारा होने से 'भेद'कारी है। अतः (त्वं) तू भी (ते) उसको (यः) जो (अस्मान्) हमको (अभिदासति) दास बनाना या प्रत्यक्ष रूप से या विरोध से विनाश करना चाहता है उसको (प्रत्यक्) प्रबलता से (विभिन्धि) नाना प्रकार से फोड़ डाल।

असद् भूम्याः सम॑भव॒त् तद् द्यामे॑ति म॒हद् व्यच॑ः ।
तद् वै त॒तो वि॑धूपाय॑त् प्र॒त्यक् क॒र्तार॑मृच्छतु ॥ ६ ॥

भा०—(असत्) दुष्ट कार्य (भूम्याः समभवत्) भूमि से भी (समभवत्) उत्पन्न हो (महद् व्यचः) और वह बड़े भारी रूप में फैल कर (तद् द्याम् एति) चाहे आकाश तक ऊंचा हो जाये (तत् वै) तो भी वह निश्चय से (ततः) वहां से (कर्त्तारम् विधूपायत्) करने वाले कर्त्ता को ही नाना प्रकार से संताप देता हुआ (प्रत्यक् ऋच्छतु) फिर उसी पर आ पड़ता है। अर्थात् कोई बुरा काम कहीं से उठे वह एक न एक समय पुनः राज-दण्ड या ईश्वरीय दण्ड द्वारा पुनः उसी पर दण्ड के रूप में आता है।

अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति ॥ मनु० ॥

प्र॒त्यङ् हि सं॑ब॒भूवि॑थ प्र॒तीची॑नफलु॒स्त्वम् ।
सर्वा॑न् मच्छ॒पथाँ॒ अधि॒ वरी॑यो यावया व॒धम् ॥ ७ ॥
अथर्व० ७ । ६५ । १ ॥

६–' तत् । याम् ' इति पदपाठश्चिन्त्यः । ' तत् । द्याम् ' इति साधुः ।
७–(तृ० च०) ' प्रतिष्क्रया अमूं कृत्या कृतं जहि ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—'अपामार्ग-विधान' की 'अपामार्ग' ओषधि से तुलना करते हैं। जिस प्रकार अपामार्ग के फल उसकी दण्डी पर उलटे लगे रहते हैं उसी प्रकार हे अपामार्ग विधान ! (त्वं प्रतीचीनफलः) तू प्रतीचीन=उलटे फलों वाला है अर्थात् प्रथमः दुःख-कर और फिर फल में सुख-कर ही होता है। अतः क्योंकि तू (प्रत्यङ् सम्बभूविथ) जिन पर अपामार्ग विधान का प्रयोग किया जाता है उनके प्रति प्रत्यङ्=प्रतिकूल होकर प्रयुक्त होता है इस कारण (सर्वान्) सब (मत् शपथान्) मेरे प्रति उठने वाले निन्दात्मक वचनों को (यवय) विनाश कर और (वरीयः) अधिक से अधिक उठने वाले (वधम्) हथियारों को भी (अधि यवय) दबा कर नष्ट करदे। अपामार्ग-विधान से राजा अपने निन्दकों और हत्याकारी प्राण विरोधियों को भी दबावे। बल्कि प्रथम विरोध और निन्दा उठने पर भी सत्फलों को देख कर लोग पुनः राजा का गुणानुवाद ही करते हैं।

शतेन॑ मा॒ परि॑ पाहि स॒हस्रे॑णा॒भि र॑क्ष मा।
इन्द्र॑स्ते वीरुधां पत उ॒ग्र ओ॒ज्मान॒मा द॑धत् ॥ ८ ॥

भा०—हे (वीरुधां पते) नाना प्रकार से शत्रुओं को रोकने वाली सेनाओं और दण्डधाराओं के परिपालक पूर्वोक्त 'अपामार्ग' कण्टक शोधन करने में समर्थ दण्ड-विधान तू (उग्रः) उग्रस्वभाव होकर (ते) तेरे (ओज्मानम्) ओजः, तेज, रोब, प्रजाओं पर विशेष दबदबे को (इन्द्रः) राजा (आदधत्) धारण करे और तू (मां) मुझ राष्ट्र को (शतेन) सौ प्रकार से, सैकड़ों प्रकारों से (परि पाहि) परिपालन कर और (सहस्रेण) सहस्रों उपायों से (मा अभिरक्ष) मुझे सुरक्षित रख। प्रजा के भीतरी प्रमाद और और निर्बलताओं से और बाहर के आक्रमणों और दुर्घटनाओं से राजा अपने कानूनी बल से समर्थ होकर राष्ट्र की रक्षा करे।



८-(च०) 'भद्रोज्मानमादधुः' इति पैप्प० सं०।

[२०] दर्शन शक्ति का वर्णन ।

मातृनामा ऋषिः । मातृनामा देवता । १ स्वराट्, २-८ अनुष्टुभः, ९ भुरिक् । नवर्चं सूक्तम् ॥

आ प॑श्यति॒ प्रति॑ पश्यति॒ परा॑ पश्यति॒ पश्य॑ति ।
दिव॑म॒न्तरि॑क्ष॒माद् भूमि॒ सर्वं॒ तद् दे॑वि पश्यति ॥ १ ॥

भा०—दृक् शक्ति का वर्णन करते हैं । हे देवि ! हे दृक् शक्ते ! तेरे सामर्थ्य से (आ पश्यति) यह पुरुष सब ओर देखता है (प्रति पश्यति) और प्रत्येक पदार्थ को देखता है (परा पश्यति) दूर के पदार्थों को भी देखता है । (दिवम्) द्यौः, सूर्य (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, वायुस्थान, और (आत्) और उससे उतर कर (भूमिम्) इस भूमि, स्थूल पदार्थ (तत् सर्वं) उस सब को (पश्यति) दर्शन करता है । अध्यात्म ज्ञानी दृक् शक्ति के द्वारा सब ओर, समीप और दूर के सब पदार्थों को देख कर प्रथम तृण से लेके पृथिवी, वायु, आकाश और पांचों तत्वों को जान कर पुनः ब्रह्म का भी ज्ञान कर लेता है ।

इस दृक्शक्ति रूप आत्मा का वर्णन देखो योग-दर्शन अ० २ । सू० २७ ।

ति॒स्रो दिव॑स्ति॒स्रः पृ॑थि॒वीः षट् चे॒माः प्र॒दिशः॒ पृथ॑क् ।
त्वया॒हं सर्वा॑ भू॒तानि॒ पश्या॑नि दे॒व्योषधे ॥ २ ॥

भा०—(तिस्रः दिवः) तीन द्यौः, प्रकाशमय ऊर्ध्वगति रूप दिव्य लोकों को, और (तिस्रः पृथिवीः) तीन पृथिवियों को—भूमियों को और

[२०] १–' पश्यसि ' इति सर्वत्र, पैप्प० सं० ।
२–' प्रदिशो महीः ' (तृ० च०) ' तथाहं सर्वा पातृणा पश्यामि देव्योषधे ' इति पैप्प० सं० ।

(षट् च) छः (इमाः प्र-दिशः) इन प्रदिशाओं को और (सर्वा भूतानि) समस्त प्राणियों को हे देवि ! हे ओषधे ! तेज को धारण करने हारी तेजस्विनि ! (त्वया) तेरे सामर्थ्य से (अहं) मैं (पश्यानि) देखूं ।

दिव्यस्य सुपर्णस्य तस्य हासि कनीनिका ।
सा भूमिमा रुरोहिथ वह्यं श्रान्ता वधूरिव ॥ ३ ॥

भा०—दृक्शक्ति की इस शरीर और अन्तःकरण में स्थिति का उपदेश करते हैं । हे देवि ! दृक्शक्ते ! आत्मन् चिते ! (दिव्यस्य सु-पर्णस्य कनीनिका) आकाशगामी बाज की पुतली या आंख जिस प्रकार दूर से भूमि पर ही पड़ती है उसी प्रकार (तस्य) उस (दिव्यस्य) प्रकाशस्वरूप, दिव्य गुणों से युक्त ज्ञानी (सुपर्णस्य) उत्तम पालन, एवं ज्ञानों से युक्त आत्मा की (कनीनिका) कन्या, छोटी पुत्री के समान उसी की स्वल्प आकृति तू (ह असि) निश्चय से है (सा) वह दृक्शक्ति ही तू (भूमिम्) उस अन्तःकरण की विक्षिप्त आदि अवस्था-भूमि पर (रुरोहिथ) इस प्रकार चढ़ती या आरोहण करती है जिस प्रकार (वधूः-इव) नववधू (श्रान्ता) थक कर (वह्यं) यान करने के साधन रथ पर चढ़ बैठती है । आत्मपक्ष में वह्य=चित्त ।

तां मे सहस्राक्षो देवो दक्षिणे हस्त आ दधत् ।
तयाहं सर्वं पश्यामि यश्च शूद्र उतार्यः ॥ ४ ॥

भा०—(सहस्र-अक्षः) सहस्र चक्षुओं वाले (देवः) परमात्मा, सर्वज्ञ सर्वप्रकाशक, सर्वद्रष्टा ने (तां) उस दृक्-शक्ति चेतना को (मे) मेरे (दक्षिणे हस्ते) दायें हाथ में (आदधत्) स्थापन किया है । (तया) उस के सामर्थ्य से (अहं) मैं (सर्वं) सब को (पश्यामि) देखता हूं (यः च)

४-(तृ० च०) 'ततोहं सर्वं पश्याम्यद्भुतं यच्च भव्यम्' इति पैप्प० सं० ।

चाहे जो (शूद्रः) शूद्र हो (उत आर्यः) और चाहे जो आर्य, श्रेष्ठ पुरुष हो। यह वह विवेक शक्ति है जो प्रत्येक पुरुष में दक्षिण हाथ=अर्थात् सत्पक्ष में रहती है जिससे वह आर्य और शूद्र का उत्तम, मध्यम पुण्य और पाप का विवेक करता है।

आविष्कृणुष्व रूपाणि मात्मानमप गूहथाः ।
अथो सहस्रचक्षो त्वं प्रति पश्याः किमीदिनः ॥ ५ ॥

भा०—हे देवि! दृक्-शक्ते! चेतने! तू (रूपाणि) नाना प्रकार के रूपों को, (आविष्कृणुष्व) प्रकट कर (आत्मानम्) अपने को (मा अपगूहथाः) हम से मत छिपा। (अथो) और हे (सहस्रचक्षो!) सहस्र शक्ति-रूप नयनों से युक्त (त्वं) तू (किमीदिनः) अब क्या, अब क्या इस प्रकार भूखी प्यासी विषय लोलुप इन्द्रियों और मन, वासनाओं को भी (प्रति पश्याः) देखती है।

दर्शय मा यातुधानान् दर्शय यातुधान्यः ।
पिशाचान्त्सर्वान् दर्शयेति त्वा रभ ओषधे ॥ ६ ॥

भा०—हे देवि! दृक्-शक्ते! ओषधे! (मा) मुझ को (यातु-धानान् दर्शय) अन्तरात्मा में पीड़ा पहुंचाने वाले क्रोध, काम, लोभ आदि दुष्ट भावों का दर्शन करा। और (यातु-धान्यः) पीड़ादायक मानस दुःप्रवृत्तियों का भी (दर्शय) साक्षात् करा। और (सर्वान् पिशाचान्) सब मांस=विषय, भोग्य पदार्थों को प्राप्त करने वाले विषय लोलुप इन्द्रियों का साक्षात् (दर्शय) दर्शन करा (इति) इसी प्रयोजन से हे (ओषधे) दुःख, पापों के दाह

५–(तृ०) 'एवा सहस्र' (च०) 'पश्याम्यायत' इति पैप्प० सं०।
६–(तृ० च०) 'अपस्पृगेव तिष्ठन्तं दर्शय मां किमीदिनम्' इति पैप्प० सं०।

करने वाले ज्ञान को धारण करने वाली विवेक-ख्याते ! (त्वा) तेरी (रभे) में उपासना करके तुझे ही साक्षात् प्राप्त करता हूं ।

कश्यपस्य चक्षुरसि शुन्याश्च चतुरक्ष्याः ।
वीध्रे सूर्यमिव सर्पन्तं मा पिशाचं तिरस्करः ॥ ७ ॥

भा०—हे देवि ! दृक् शक्ते ! (कश्यपस्य) कश्य—ज्ञान का पान करने हारे तत्वद्रष्टा ज्ञानी योगी की तू (चक्षुः असि) आंख है । (च , और (चतुः-अक्ष्याः) चार आंख वाली-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान शब्द इन चार प्रमाणों या चार वेदों से दर्शन करने वाली (शुन्याः) शुनी, प्रमा या वेद वाणी या चित्तिशक्ति की भी तू आंख है । (वीध्रे) आकाश में (सर्पन्तं) गति करते हुए (सूर्यम्-इव) सूर्य को जिस प्रकार कोई नहीं छिपा सकता उसी प्रकार (वीध्रे [1] सर्पन्तं) स्वभावतः शुद्ध अपने रूप में या ब्रह्म में गति करने हारे (पिशाचं) भोग्य विषयों के भोगने वाले या देह को प्राप्त, रूप में छिपे इस आत्मा को (मा तिरः करः) मत छिपने दे । अज्ञान से आवृत मत होने दे ।

उदग्रभं परिपाणाद् यातुधानं किमीदिनम् ।
तेनाहं सर्वं पश्याम्युत शूद्रमुतार्यम् ॥ ८ ॥

भा०—(किमीदिनं) अब क्या भोग करूं, अब क्या भोग करूं इस प्रकार विषयलोलुप (यातुधानं) परिणाम में विषम फल, कष्ट पीड़ा उत्पन्न करने हारे विषयाभिलाषी चित्त को मैं (परि-पानात्) चारों ओर की रक्षा से अथवा चारों ओर के विषय रसों के ग्रहण करने से (उद्-अग्रभम्)

७–(प्र० द्वि०) 'कश्यपस्य चतुरक्षः श्यन्त्याश्चतुरक्षा' ।

१. वा विन्धेरित्यौणादिकोरक् (उणा० २ । २६) विशेषेणेन्धते दीप्यते तद्वीध्रम् । स्वभावशुद्धः । इति दयानन्दः औणादिव्याख्यायाम् । विविधम् इन्धते ।

८–(प्र० द्वि०) 'परिपाणं यातुधानात् किमीदिनः' इति पैप्प० सं० ।

ऊपर ही थामलूं, उसको विषयों में जाने से रोक लूं। तब (तेन) उस संयत, विषयों से निरुद्ध, एकाग्र चित्त से (सर्वं) समस्त (आर्यं) श्रेष्ठ, स्वामि गुणों से युक्त सब के स्वामी, आत्मा (उत) और (शूद्रम्) उसके सेवा करने वाले इन्द्रिय गण को (पश्यामि) साक्षात् करूं। विषयों से हटाकर, चित्त को एकाग्र करके इन्द्रिय और स्वामी आत्मा का पृथक् २ ज्ञान कर लेना चाहिये।

यो अन्तरिक्षेण पतति दिवं यश्चातिसर्पति।
भूमिं यो मन्यते नाथं तं पिशाचं प्रदर्शय ॥ ६ ॥

भा०—(यः) जो (अन्तरिक्षेण) मध्य आकाश में वायु रूप से और शरीर के मध्य में प्राणरूप से (पतति) गति करता है और (यः च) जो (दिवम्) द्यौः=नक्षत्रादि परिभ्रमण करने के स्थान, बृहत् आकाश में और शरीर में मूर्धा भाग में (अति-सर्पति) समस्त लोकों और इन्द्रियों को पार कर के विराजमान है और (यः) जो (भूमिं) इस पृथिवी का और शरीर में चित्त और देह-भूमि का अपने आपको (नाथं) स्वामी (मन्यते) मानता है (तं) उस (पिशाचं) पिश-भोग्य पदार्थ, दृश्य संसार को अपने भीतर लेने, उसमें व्याप्त होने वाले परमात्मा और इस देहरूप मांसपिण्ड में व्यापक एवं भोग्य पदार्थों के भोक्ता जीव का (प्रदर्शय) हे देवि दृक्-शक्ते! तू हमें दर्शन करा। "द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः।" योगसूत्र २। २०। "तदर्थ एव दृश्यस्य आत्मा"। यो० सू० २। २१। इन पर व्यासभाष्य देखने से यह विषय स्पष्ट हो जाता है।

इति चतुर्थोऽनुवाकः।

[तत्र पञ्च सूक्तानि, ऋचश्च द्वाचत्वारिंशत्।]

६—'यश्चाधिसर्पति' इति सायणसम्मतः। (द्वि०) 'भोमिश्चोपसर्पति' (तृ०) 'दिवं यो' इति पैप्प० सं०।

[२१] गो-कीर्त्तन ।

ब्रह्मा ऋषिः । गौर्देवता । २-४ जगत्यः, १, ५-७ त्रिष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ।

आ गावो॑ अग्मन्नुत भ॒द्रम॑क्र॒न्त्सीद॑न्तु गो॒ष्ठे र॒णय॑न्त्व॒स्मे ।
प्र॒जाव॑तीः पुरु॒रूपा॑ इ॒ह स्यु॒रिन्द्रा॑य पू॒र्वीरु॒षसो॒ दुहा॑नाः ॥ १ ॥

ऋ० ७ । २८ । १ ॥

भा०—गौओं और इन्द्र के दृष्टान्त से आत्मा इन्द्रियों के रहस्य का उपदेश करते हैं । (गावः) गौएं जिस प्रकार आती हैं, सुख देती हैं, गोशाला में रहती हैं, प्रजाएं उत्पन्न करती हैं और स्वामी के लिये प्रति दिन प्रातःकाल दूध देती हैं उसी प्रकार (गावः) ये ज्ञान करने हारी इन्द्रियां (अग्मन्) ज्ञान योग्य विषयों के प्रति जाकर पुनः आत्मा के प्रति लौट आवें (उत) और (भद्रम्) सुख को (अक्रन्) उत्पन्न करें । वे (गोष्ठे) गोशाला के समान इन्द्रियों के निवासस्थान इस देह में (सीदन्तु) विराजमान हों और (अस्मे) हमें (रणयन्तु) आनन्दित करें । जिस प्रकार (प्रजा-वतीः) बछड़ों आदि प्रजाओं से सहित, (पुरुरूपाः) नाना प्रकार की गौएं गोशाला में वृद्धि पाती हैं उसी प्रकार ये (पुरु-रूपाः) और ज्ञान को पालन पूरण करने वाली इन्द्रियां (प्रजावतीः) प्रकृष्ट ज्ञान युक्त होकर अथवा उत्तम ज्ञानोत्पादक होकर (इह) इस देह में (पूर्वीः उषस) पूर्व २ उषा कालों में तो (इन्द्राय) इस स्वामि रूप समृद्ध ऐश्वर्यशील आत्मा के लिये (दुहानाः) ज्ञान रस का दोहन करने वाली (स्युः) रहें ।

इन्द्रो॒ यज्व॑ने गृण॒ते च॒ शिक्ष॑त॒ उपेद्द॑दाति॒ न स्वं मु॑षायति ।
भूयो॑भूयो र॒यिमिद॑स्य व॒र्धय॒न्नभि॑न्ने खि॒ल्ये नि द॑धाति देव॒युम् ॥२॥

ऋ० ६ । २८ । २ ॥

[२१] १–ऋग्वेदे भारद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः । गावो देवताः ।

२–(प्र०) 'पृणते च शिक्षति'

भा०—(इन्द्रः) वह ऐश्वर्यशील परमात्मा (यज्वने) यज्ञ याग करने एवं देवार्चना करने और (गृणते) देव की यथार्थ स्तुति करने और ज्ञानोपदेश करने वाले पुरुष को (शिक्षते) उत्तम २ ज्ञानों का उपदेश करता है। और (उप ददाति इत्) उस के समीप आकर बहुत कुछ दान करता है (स्वं) और उस के निज 'स्व' धन या स्वरूप को भी (न मुषायति) नहीं अपहरण करता। प्रत्युत (अस्य) इस आत्मा के (रयिम्) वीर्य, बल सामर्थ्य को (भूयः-भूयः) बराबर अधिकाधिक (वर्धयन् इत्) बढ़ाता हुआ ही उस (देव-युम्) देव परमेश्वर की कामना करने हारे, ईश्वर भक्त, मग्न पुरुष के (अभिन्ने) अपने से अभिन्न (खिल्ये) रूप, आनन्द रस जहां काम क्रोध से आत्मा को पीड़ा न पहुंच सके ऐसे अभय रूप में (नि दधाति) उसे सुरक्षित रखता है। "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" (यो० सू० १ । ३)

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति।
देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित् ताभिः सचते गोपतिः सह ॥३॥
ऋ० ७ । २८ । ३ ॥

भा०—योगी के दीर्घ जीवन का उपदेश करते हैं। (ताः) उस योगी की गोरूप इन्द्रियां (न नशन्ति) नहीं नष्ट होतीं, (तस्करः) अपहरण करने वाला चोर मृत्यु भी (न दभाति) उन योगज बल से युक्त गौ=इन्द्रिय सामर्थ्यों को पीड़ित नहीं करता। (आसाम् अमित्रः) इनको पीड़ा देने वाला शत्रु रूप (व्यथिः) व्यथादायी रोग भी (न आदधर्षति) उन पर अपना ज़ोर नहीं दिखाता। (याभिः) जिन इन्द्रियों के सामर्थ्यों से (देवान्) देवों इन इन्द्रियों के दिव्य सामर्थ्यों की (यजते) साधना करता या

३–'नैना अमित्रो' इति तै० ब्रा०। (प्र०) 'न ता नशन् ता न दभाति' इति ह्विटनिकामितः पाठः।

संगति करता और (ददाति च) सत्पात्र में दान करता है वह (गोपतिः) गो=इन्द्रियों का परिपालक जितेन्द्रिय पुरुष (ताभिः सह) उनके साथ ही (सचते) सदा बना रहता है । अर्थात् जिन इन्द्रियों से योगी साधना करता है वे मोक्ष में बराबर बनी रहती हैं उन का नाश नहीं होता वहां जरा, मृत्यु भी नहीं और न रोग है ।

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया वि भेति ।
उभे तीर्त्वा अशनाया पिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥
(क० उप० १ । १२)

न ता अर्वा रेणुकंकाटोश्नुते न संस्कृतत्रमुप यन्ति ता अभि ।
उरुगायमभयं तस्य ता अनु गावो मर्तस्य वि चरन्ति यज्वनः ॥४॥
ऋ० ७ । २८ । ४ ॥

भा०—जिस प्रकार (ताः) उन गौवों को (अर्वा) हिंसक (रेणुककाटः) पैरों से धूल उछालने वाला, हिंसक जीव लकड़बग्धा या कसाई (न अश्नुते) खा नहीं सकता और (ताः अभि) वे (संस्कृतत्रम् न उप अभियन्ति) मांस पाचक पुरुष के पास भी नहीं पहुंचती । प्रत्युत (यज्वनः मर्तस्य) यज्ञशील मनुष्य के (उरुगायम्) विशाल (अभयम् अनु निचरन्ति) निर्भय शरण में विचरती हैं । उसी प्रकार (यज्वनः मर्तस्य तस्य) प्राणापानमय यज्ञ करने हारे साधक पुरुष के (ताः) उन शक्तियों पर (रेणुककाटः) समस्त संसार को तोड़ फोड़ कर रजो रूप में बदल देने वाला प्रलयकारी यम भी (न अश्नुत) उन तक नहीं पहुंचता, उसका विनाश नहीं करता । और (ताः) वे शक्तियाँ (संस्कृतत्रम् उप) इस रचना संस्कार को प्राप्त, संसार को पालन करने वाले या सब संसार को परिपाक करने वाले दण्डधर यम

४–(प्र०) 'रेणुककाटो अश्नुते' इति ऋ० । 'अश्नुते' (तृ०) 'मर्त्यस्य' इति च क्वचित् ।

के समीप भी (न उपयन्ति) नहीं जाती, प्रत्युत (तस्य) उस परम परमेश्वर के (उरु गायम्) समस्त, विश्वव्यापी, महान् (अभयम् अनु) निर्भय शरण में प्राप्त होकर (वि चरन्ति) कामनानुसार विचरण करती हैं। यह जीवनमुक्त दशा का वर्णन है।

गावो॒ भगो॒ गाव॒ इन्द्रो॑ मे अच्छा॒द् गावः॒ सोम॑स्य प्रथ॒मस्य॑ भ॒क्षः ।
इ॒मा या गावः॒ स ज॑नास॒ इन्द्र॑ इ॒च्छामि॑ हृ॒दा मन॑सा चि॒दिन्द्र॑म् ॥५॥

ऋ० ७ । ५८ । ५ ॥

भा०—गौओं के दृष्टान्त से आत्मा का वर्णन करते हैं। जिस प्रकार लोक में गौएं ही ऐश्वर्य हैं उसी प्रकार (गावः) ये विषयों तक पहुंचने वाली इन्द्रियां ही (भगः) उस आत्मा की ऐश्वर्य हैं (इन्द्रः) उस ऐश्वर्यशील प्रभु परमात्मा ने (मे) मेरे लिये भी (इच्छाद्) देने योग्य पदार्थ देना चाहा। वह (गावः) ये गौवों के गोरस जिस प्रकार सोम में मिलाने लायक द्रव्य हैं उसी प्रकार ये इन्द्रियों के रस ही (प्रथमस्य सोमस्य) श्रेष्ठ सोम=शमदम आदि गुणसम्पन्न आत्मा के (भक्षः) भोग्य पदार्थ हैं। हे (जनासः) मनुष्यो ! (इमाः याः गावः) ये जो गौएं हैं, ये जो इन्द्रियों के सामर्थ्य रूप हैं (सः इन्द्रः) वही इन्द्र=आत्मा है। (हृदा) हृदय से और (मनसा) मननशील बुद्धि से भी उसी (इन्द्रम् चित्) पूज्य इन्द्र=आत्मा को मैं (इच्छामि) प्राप्त करना चाहता हूं।

यू॒यं गा॑वो मेदयथा कृ॒शं चि॑दश्री॒रं चि॑त् कृणुथा सु॒प्रती॑कम् ।
भ॒द्रं गृ॒हं कृ॑णुथ भद्रवाचो बृ॒हद् वो॒ वय॑ उच्यते स॒भासु॑ ॥ ६ ॥

भा०—गौओं के दूध के गुणों का उपदेश करते हैं। हे (गावः) गौओ (यूयं) तुम (कृशं) कृश निर्बल, दुबले पतले आदमी को (मेदयथा)

५-(द्वि०) 'इन्द्रो मे अच्छान्' 'इच्छामीहृदा' इति ऋ० ।

६-(द्वि०) 'कृशं चिदश्रीलम्' इति तै० ब्रा० ।

मोटा कर देती हो । और (अश्रीरं चित्) कुरूप, शोभा रहित पुरुष को (सुप्रतीकं) सुन्दर, दर्शनीय (कृणुथाः) कर देती हो । हे (भद्रवाचः) कल्याण और सुखदायी वाणी को बोलने वाली गौओ ! तुम लोग (गृहं) घर को भी (भद्रं कृणुत) सुखकारी बनाती हो । (वः) तुम्हारी (वयः) क्षीर, दधि आदि अन्न—भोज्य पदार्थ की प्रशंसा (सभासु) सभाओं में (उच्यते) की जाती है । उसी प्रकार ये इन्द्रियां सूक्ष्म अणु आत्मा को स्थूल करती हैं, अरूप को सरूप करतीं और भद्रवाणियां उच्चारण करती हुई इस गृहरूप देह को सुखकारी बनातीं और इनके ग्राह्य विषयों को सभाओं में नाना प्रकार से वर्णन किया जाता है ।

प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः ।
मा वः स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु ॥ ७ ॥

भा०—(सुयवसे) उत्तम तृण आदि चारा से युक्त देश में (रुशन्तीः) शोभा देती हुई, तृणादि खाती हुई (प्रजा-वतीः) प्रजा सन्तति से युक्त (सु-प्रपाणे) उत्तम जल पान करने के स्थान में (शुद्धाः अपः) शुद्ध जलों का (पिबन्तीः) पान करती हुई (वः) तुम गौओं को (स्तेनः) चोर (मा ईशत) न चुरा ले और (अघ-शंसः) पापकर्मा, पापी पुरुष भी तुम पर वश न करे । (वः) तुम्हारी (रुद्रस्य हेतिः) रुद्र परमेश्वर का या पशुपालक का (हेतिः) आयुध, वज्र सदा (परि वृणक्तु) सब ओर से रक्षा करे और चोरों और कसाइयों का वारण करे । या विद्युत् आदि दैवी पीड़ाएं उनको न सतावें ।

अध्यात्म पक्ष में—सुयवस=भोग्य विषय में विचरती एवं आनन्द स्थलों में शुद्ध रसों को प्राप्त करती हुई, इन सन्तान युक्त इन्द्रियों पर स्तेन=

७–' सुयवसं रिपन्ती ' (च०) ' हेती रुद्रस्य वृज्याः ' इति ऋ० ।

चोर काम, अघशंस=क्रोध वश न करें। रुद्ररूप परमेश्वर की दण्ड-व्यवस्था से भय खाकर वे पाप वृत्तियों से सदा दूर रहें।

[२२] राजा का स्थापन।

वसिष्ठोऽथर्वा वा ऋषिः। इन्द्रो देवता। १—७ त्रिष्टुभः। सप्तर्चं सूक्तम्॥

इममिन्द्र वर्धय क्षत्रियं म इमं विशामेकवृषं कृणु त्वम्।
निरमित्रानक्ष्णुह्यस्य सर्वांस्तान् रन्धयास्मा अहमुत्तरेषु॥१॥

भा०—राजधर्मों का उपदेश करते हैं। हे (इन्द्र) सेनापते! या (मे) मेरे (इमम्) इस (क्षत्रियम्) क्षत्रिय धर्म से युक्त पुरुष को (वर्धय) और अधिक बढ़ा, पुष्ट कर और (इमं) इसको (विशाम्) प्रजाओं में (एक-वृषं) एकमात्र सब से श्रेष्ठ सभापति रूप में (त्वं) तू (कृणु) बनाले। और (अस्य) इसके (सर्वान्) समस्त (अमित्रान्) शत्रुओं को (निर्-अक्ष्णुहि) सर्वथा विनष्ट कर दे। और (तान् सर्वान्) उन सब को (अहम्-उत्तरेषु[1] अस्मै रन्धय) मैं बड़ा २ इस प्रकार के परस्पर के संघर्षों में इसके अधीन कर।

एमं भज ग्रामे अश्वेषु गोषु निष्टं भज यो अमित्रो अस्य।
वर्ष्म क्षत्राणामयमस्तु राजेन्द्र शत्रुं रन्धय सर्वमस्मै॥२॥

[२२] १—(द्वि०) 'वृषामेकवृषं' इति सायणाभिमतः (प्र०) 'क्षत्रियाणाम्' इति तै० ब्रा०।

१. 'अहम्-उत्तरेषु' इत्येकपदं पदपाठे। सायणमते तु, 'अहम्। उत्तरेषु' इति पदद्वयम्।

२—(तृ०) 'वर्ष्मन् क्षत्राणां' (प्र०) 'इमाम् आभज' (द्वि०) 'निरमुं भज' इति पैप्प० सं०। (च०) 'शत्रून् रन्धय' इति क्वचित्।

भा०—हे इन्द्र ! (इमं) इस राजा होने योग्य क्षत्रिय को (ग्रामे) ग्रामों में, जनसमूहों में (आ भज) सब का प्रिय बना दे । और (अश्वेषु गोषु) अश्वों में और गौओं में अर्थात् घुड़सवारों और गोपालकों में भी प्रिय बना, (यः, अस्य अमित्रः) जो इसका शत्रु है (तं निर्भज) उसको ग्राम आदि पदार्थों से पृथक् कर दे । (क्षत्राणाम्) क्षत्रियों और राष्ट्रों के (वर्ष्मे) देह-साम्राज्य में (अयम्) यह (राजा अस्तु) सब का राजा, सब के चित्त का अनुरंजन करने वाला हो । और (अस्मै) इसके (सर्वं) सब (शत्रुं) शत्रुओं को (रन्धय) इसके अधीन कर ।

अयमस्तु धनपतिर्धनानामयं विशां विश्पतिरस्तु राजा ।
अस्मिन्निन्द्र महि वर्चांसि धेह्यवर्चसं कृणुहि शत्रुमस्य ॥ ३ ॥

भा०—(अयम्) यह क्षत्रिय (धनानाम्) नाना प्रकार के सुवर्ण, रजत, मुक्ता, मणि, प्रवाल, धनों का (धन-पति !) कुबेर के समान स्वामी (अस्तु) हो । और (अयम् राजा) यह सब का अनुरंजन करने हारा सब में अधिक प्रकाशमान होकर (विशाम्) सब प्रजाओं का (विश्पतिः) प्रजापति, स्वामी (अस्तु) हो । हे (इन्द्र) सेनापते ! बलपते ! ऐश्वर्यवन् ! (अस्मिन्) इस में (महि वर्चांसि) बड़े २ तेज, शत्रुओं को विजय करने में समर्थ बल पराक्रमों का (धेहि) आधान, स्थापन कर । और (अस्य शत्रुम्) इसके शत्रु को (अवर्चसम्) निस्तेज, निर्बल (कृणुहि) कर ।

अस्मै द्यावापृथिवी भूरि वामं दुहाथां घर्मदुघे इव धेनू ।
अयं राजा प्रिय इन्द्रस्य भूयात् प्रियो गवामोषधीनां पशूनाम् ॥४॥

३–(तृ०) 'अस्मदिन्द्र' इति तै० ब्रा० ।

४–(द्वि०) 'दुघेव', (तृ०) 'भूयाः' (च०) 'ओषधीनामुतापाम्' इति पैप्प० सं० । (प्र०) 'अस्मे' इति तै० ब्रा० ।

भा०—(घर्मदुघे) रस, गोरस प्रदान करने वाली (धेनू इव) कामधेनु गौओं के समान (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, आकाश और भूमि दोनों अपनी २ सम्पत्तियों से वर्षाओं और अन्न जलों से (भूरि वामं) बहुत सी धन सम्पत्ति को (दुहाथाम्) उत्पन्न करें, प्रदान करें। (अयं राजा) यह राजा (इन्द्रस्य) सेनापति का और परमात्मा का भी (प्रियः) प्यारा (भूयात्) हो और (गवाम्) गौओं का और (ओषधीनां) ओषधियों या प्रजाओं और (पशूनां) पशुओं का भी (प्रियः) प्यारा हो।

युनज्मि त उत्तरावन्तमिन्द्रं येन जयन्ति न पराजयन्ते।
यस्त्वा करदेकवृषं जनानामुत राज्ञामुत्तमं मानवानाम् ॥५॥

भा०—सेनापति और राजा को परस्पर मित्र रहने का उपदेश करते हैं। हे राजन्! (ते) तुझ से (उत्तर-वन्तम्) अधिक सामर्थ्य से युक्त, बलवान् इस (इन्द्रं) सेनापति को (युनज्मि) तेरे अधीन, तेरे कार्य में नियुक्त करता हूं (येन) जिस के सामर्थ्य और आज्ञा से प्रेरित होकर सेना के वीर पुरुष (जयन्ति) शत्रु पर विजय पाते हैं (न परा-जयन्ते) और कभी पराजित नहीं होते हैं। और (यः) जो सेनापति (त्वा) तुझ राजा को (जनानाम्) समस्त जनों में (एक-वृषं) एकमात्र सब से श्रेष्ठ और (मानवानां) मनुष्यों, (राज्ञाम्) और राजाओं में से भी सब से (उत्-तमम्) उत्तम (करत्) बना देता है।

उत्तरस्त्वमधरे ते सपत्ना ये के च राजन् प्रतिशत्रवस्ते।
एकवृष इन्द्रसखा जिगीवाञ्छत्रूयतामा भरा भोजनानि ॥ ६ ॥

५–(प्र०) 'तमुत्तरावन्तमिन्द्र' इति पैप्प० सं०। (द्वि०) 'जयासि न पराजयासै' इति तै० ब्रा०। (तृ० च०) सत्वाकरेकवृषभं स्वाना मधोराजन्नुत्तमं' इति तै० ब्रा०।

६–(प्र०) 'अधरे सन्त्वन्ये' इति पैप्प० सं०।

भा०—हे (राजन्) प्रजा को अनुरञ्जन करने हारे राजन् ! (त्वम् उत्तरः) तू अपने शत्रुओं से सदा ऊंचा होकर रह और (ते सपत्नाः) तेरे बराबरी का दावा करने वाले (प्रतिशत्रवः) तेरे प्रति शत्रुता दर्शाने वाले (ये के च) जो कोई भी हों वे (ते अधरे) तेरे से नीचे ही रहें। तू (एकवृषः) एकमात्र सब से श्रेष्ठ (इन्द्रसखा) सेनापति का मित्र होकर (शत्रूयतां जिगीवान्) शत्रुओं पर विजय करता हुआ (भोजनानि आभर) अपने राष्ट्र के लिये खाद्य पदार्थों को प्राप्त कर।

सिंहप्रतीको विशो अद्धि सर्वा व्याघ्रप्रतीकोव बाधस्व शत्रून्।
एकवृष इन्द्रसखा जिगीवाञ्छत्रूयतामा खिदा भोजनानि ॥ ७ ॥

भा०—हे राजन् ! तू (सिंहप्रतीकः) सिंह के समान शूरवीर होकर (सर्वाः) समस्त (विशः) प्रजाओं और राष्ट्रों का (अद्धि) भोग कर। और (व्याघ्रप्रतीकः) व्याघ्र के समान बलवान् होकर (शत्रून्) सब शत्रुओं को (अवबाधस्व) पीड़ित कर अपने नीचे दबा (एकवृष इन्द्रसखा) तू एकमात्र सबसे श्रेष्ठ सेनापति का मित्र होकर (शत्रूयताम् आजिगीवान्) शत्रुओं का विजय करता हुआ (भोजनानि आखिद) उनके खाद्य पदार्थों को छीन कर लेआ।

[२३] पापमोचन की प्रार्थना।

मृगार ऋषिः। इतः परं सप्त मृगारसंज्ञानि सूक्तानि तत्र नाना देवताः। ३ पुरस्ताज्ज्योतिष्मती, ४ अनुष्टुप्, ६ प्रस्तार पंक्तिः, १-२, ७ त्रिष्टुभः। सप्तर्चं सूक्तम् ॥

७–(च०) 'शत्रूयतामभितिष्ठा महांसि'। इति पैप्प० सं०।

अ॒ग्नेर्म॑न्वे प्रथ॒मस्य॒ प्रचे॑तसः पाञ्च॑जन्यस्य बहु॒धा यमि॒न्धते॑ ।
वि॒शोवि॑शः प्रवि॒शि॒वांस॑मीमहे॒ स नो॑ मुञ्च॒त्वंह॑सः ॥ १ ॥

भा०—ईश्वर से पाप मोचन करने की प्रार्थना—(यम्) जिसको (बहुधा) ज्ञानी लोग बहुत प्रकारों से और बहुत वार (इन्धते) हृदय-वेदि में एवं तदनुरूप यज्ञवेदि में भी प्रदीप्त करते हैं उस (पान्च-जन्यस्य) पाचों जन, पाचों इन्द्रिय, पाचों भूतोंमें समान रूपसे उपासनीय (प्र-चेतसः) उत्कृष्ट ज्ञानवान् (प्रथमस्य) सब के आदिभूत, सर्वश्रेष्ठ (अग्नेः) सब के प्रकाशक परमेश्वर का (मन्वे) मैं मनन करता हूं । और (विशः-विशः) समस्त प्रजाओं में (प्रविशि-वांसम्) उत्तम रूप से या प्रेरक रूप से सर्व-व्यापक होने के कारण अन्तः प्रविष्ट हुए उससे ही हम (ईमहे) यह याचना करते हैं कि (सः) वह (नः) हमें (अंहसः मुञ्चतु) पाप से मुक्त करे । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और इनसे नीचे की स्थिति के निषाद, मानव समाज के ये पांच विभाग पञ्चजन कहाते हैं ।

यथा॑ ह॒व्यं वह॑सि जातवेदो॒ यथा॑ य॒ज्ञं क॒ल्पया॑सि प्रजा॒नन् ।
ए॒वा दे॒वेभ्यः॑ सुम॒तिं न॒ आ व॑ह॒ स नो॑ मुञ्च॒त्वंह॑सः ॥ २ ॥

भा०—हे (जात-वेदः) समस्त पदार्थों में व्यापक और सब पदार्थों के ज्ञाता प्रभो ! (यथा) जिस प्रकार से तू (हव्यं वहसि) देने और स्वीकार करने योग्य पदार्थ को नाना जीवों और पञ्चभूतों में एक दूसरे के पास ले जाता और समर्पित करता है । और (प्र-जानन्) खूब अच्छी प्रकार सब विधि नियम आदि जानता हुआ (यथा) जिस २ प्रकार से (यज्ञं) इस परस्पर संगत, संसक्त, सृष्टि रूप यज्ञ को (कल्पयासि)

[२३] १–(द्वि०) 'पाञ्चयज्ञस्य' इति पाठः सायणसम्मतः । 'पञ्चजनस्य' इति पैप्प० सं० । 'यं पञ्चजन्यं बहवः समिन्धते' (तृ०) विश्वस्यां विशि प्रविविशिवांसमीमहे इति मै० सं० ।

रचता है, बनाता है, (एवा) उसी प्रकार (नः) हमारे (देवेभ्यः) विद्वानों और ज्ञानी पुरुषों, इन्द्रियों और दिव्य पदार्थों में भी (नः) हमारे लिये (सु-मतिम्) उत्तम शुभ मति को (आ वह) प्राप्त कर । (सः) वह प्रभु (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतु) मुक्त करे ।

यामन्यामन्नुपयुक्तं वहिष्ठं कर्मन्कर्मन्नाभगम् ।
अग्निमीडे रक्षोहणं यज्ञवृधं घृताहुतं स नो० ॥३॥

भा०—जिस प्रकार प्रतिदिन यज्ञ और भोजनपाक आदि के अवसर में अग्नि का उपयोग किया जाता है, वही भारी २ गाड़ियों को ढो ले जाता है, हरेक काम में उसका आश्रय लेना पड़ता है उससे शत्रु का विनाश किया जाता है सब यज्ञों को बढ़ाया जाता और घृत की आहुति दी जाती है उसी प्रकार या उससे भी अधिक (यामन् यामन्) प्रत्येक याम=दिन (उपयुक्तं) समीपतम होकर समाधि द्वारा प्राप्त करने योग्य (वहिष्ठं) समस्त संसार को वहन करने में सब से बड़ी शक्ति, (कर्मन् कर्मन्) प्रत्येक काम में (आभगम्) सब प्रकार से सेवा करने योग्य (रक्षोहणं) विघ्नों और विघ्नकर्ताओं के विनाशक (यज्ञवृधं) देवपूजा, दान संगति-करण आदि शुभ कार्यों के प्रवर्तक (घृताहुतं) घृत=तेज=दीप्ति से सर्वत्र प्रकाशित उस (अग्नि) अग्नि की (ईडे) स्तुति करता हूं (सः नः मुञ्चतु अंहसः) वह ईश्वर हमें पाप से मुक्त करे ।

सुजातं जातवेदसमग्निं वैश्वानरं विभुम् ।
हव्यवाहं हवामहे स० ॥ ४ ॥

भा०—(सु-जातं) सब पदार्थों में उत्तम रूप, शोभन रूप में प्रकट होने वाले (जातवेदसं) सब पदार्थों में व्यापक, सर्वज्ञ, सर्वस्वामी,

३–' अग्निमीडे ' इत्यन्ता पादसमाप्तिरिति केचित् । ' आभगम् ' इत्यन्तेति प्रायः सर्वत्र ।

(विभुम्) सर्वव्यापक, अनन्त (वैश्वानरं) समस्त प्राणियों में प्रवर्तक रूप से विद्यमान (हव्यवाहं) सब को अन्न प्राप्त कराने हारे उस (अग्निं) अग्नि को (हवामहे) हम स्तुति और उपासना करते हैं । (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पाप से मुक्त करे ।

येन॒ ऋष॑यो ब॒लमद्यो॑तयन् यु॒जा येनासु॑राणा॒मयु॑वन्त मा॒याः ।
येना॒ग्निना॑ प॒णीनिन्द्रो॑ जि॒गाय॒ स० ॥ ५ ॥

भा०—जिस प्रकार इस अग्नि की सहायता से बल या शक्ति को पदार्थ-विज्ञानवेत्ता उत्पन्न करलेते और नाना प्रकार के बल सामर्थ्य के अद्भुत चमत्कारी कार्य करते हैं और दुष्टों का विनाश करते हैं उसी प्रकार (येन) जिस परमात्मा के (युजा) सहायक होने से (ऋषयः) विज्ञान के सत्य तत्वों को गहराई पर भी देख लेने वाले (बलम्) अपने परम आत्मसामर्थ्य को (अद्योतयन्) प्रकाशित करते हैं । और (येन) जिसकी सहायता से (असुराणाम्) प्राणों में रमण करने वाली इन्द्रियों की (मायाः) ज्ञान और कर्म वृत्तियों को (अयुवन्त) पृथक् २ कर के उनको वश करते हैं । अथवा असुर बलवान् प्राणों के वेगों को वश करते हैं । और (येन) जिस (अग्निना) अग्नि के बल पर (इन्द्रः) जीव (पणीन्) व्यवहार करने वाले इन्द्रियों को (जिगाय) वश करता है । (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पाप से मुक्त करे ।

येन॑ दे॒वा अ॒मृत॑म॒न्ववि॑न्द॒न् येनौष॑धी॒र्मधु॑मती॒रकृ॑ण्वन् ।
येन॑ दे॒वाः स्व॑१॒॑राभ॑र॒न्त्स० ॥ ६ ॥

भा०—(येन) जिस परमेश्वर की सहायता से (देवाः) विद्वान् लोग (अमृतम्) मोक्षसुख को (अनु-अविन्दन्) प्राप्त करते हैं और

५-(प्र०) 'येनर्षयो बलमिद्योतयन्' इति पैप्प० सं० ।

(येन) जिस से (ओषधीः) ओषधियों को और मानस वृत्तियों को (मधुमतीः) मधुर रस से युक्त और आनन्दप्रद (अकृण्वन्) बना लेते हैं और (देवाः) विद्वान् ज्ञानी गण (येन) जिस से (स्वः) उस सुख मय लोक को (आभरन्) प्राप्त करते हैं । (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पाप से मुक्त करे ।

यस्येदं प्रदिशि यद् विरोचते यज्जातं जनितव्यं च केवलम् ।
स्तौम्यग्निं नाथितो जोहवीमि स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ७ ॥

भा०—(इदं) यह समस्त जगत् (यद् विरोचते) जो नाना प्रकार से शोभा दे रहा है (यत् जातं) जो उत्पन्न हुआ और (जनितव्यं च) जो उत्पन्न होगा वह सब (केवलम्) विना किसी अन्य की अपेक्षा किये एक मात्र, (यस्य प्रदिशि) जिसके उत्कृष्ट शासन में है । (नाथितः) पापों के फल रूप दुखों से संतप्त होकर मैं जीव उस (अग्निं) अग्नि स्वरूप पाप प्रदाहक तेजोमय देव की (स्तौमि) स्तुति करता हूं और (जोहवीमि) वार २ पुकार करता हूं । (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें हमारे पापों से मुक्त करे ।



[२४] पापमोचन की प्रार्थना ।

द्वितीयं मृगारसूक्तम् । १ शाकरगर्भा पुरःशक्वरी । २—७ त्रिष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

७–(प्र० द्वि०) 'यस्येदं प्राणन्निमिषद् यदेजति यस्य जातं जनमानं च केवलम्' इति मै० सं० ।

इन्द्र॑स्य मन्महे शश्व॒दिद॑स्य मन्महे वृत्र॒घ्न स्तोमा॒ उप॑ मे॒म आ॑गुः ।
यो दा॒शुषः॑ सु॒कृतो॒ हव॒मेति॒ स नो॑ मुञ्च॒त्वंह॑सः ॥ १ ॥

भा०—(इन्द्रस्य) ऐश्वर्यशील परमेश्वर का (मन्महे) हम मनन करते हैं । (अस्य इद्) इस परमेश्वर का ही हम (शश्वत्) अनादिकाल से बराबर (मन्महे) विचार करते चले आये हैं । (वृत्र-घ्नः) सब विघ्नों और तामस आवरणों को विनाश करने वाले उस ज्योतिःस्वरूप की (स्तोमाः) स्तुतियां या यथार्थ गुण वर्णन ही (इमे) ये सब (मा) मुझे (उप आगुः) प्राप्त होते हैं, प्रकट होते, सत्य प्रतीत होते हैं । (यः) जो परमेश्वर (दाशुषः) दानशील, आत्मसमर्पक (सु-कृतः) शुभ कर्म कर्त्ता पुरुष की (हवम्) पुकार को सुन कर (एति) उसका सहायक हो कर उसको प्राप्त होता है (सः नः) वह हमें (अंहसः) पाप से (मुंचतु) छुड़ावे ।

य उ॒ग्रीणा॑मु॒ग्रबा॑हुर्य॒युर्यो दा॑न॒वानां॒ बल॑मारु॒रोज॑ ।
येन॑ जि॒ताः सिन्ध॑वो॒ येन॒ गाव॒ः स० ॥ २ ॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (उग्र-बाहुः) बलशाली भुजा वाला, सर्व शक्तिमान् होकर (उग्रीणां) उग्र शक्तियों का (ययुः) परस्पर संगत करके एक साथ चलाने वाला है और (यः) जो (दानवानां) छेदन भेदन करने वाले या परस्पर को एक दूसरे में समर्पित कर देने वाले दानव=

---

[२४] १–(प्र०) 'इन्द्रस्य मन्वे शश्वद् यस्य मन्विरे' इति पैप्प० सं० ; 'इन्द्रस्य-मन्वे प्रथमस्य प्रचेतसः' (द्वि०) 'उप मामुपागुः' (तृ०) 'हव-मुपगन्ता' इति मै० सं० ।

२–(प्र०) 'योग्राणामुग्रबाहुर्योदा-' (द्वि०) 'बलमाससाद' इति पैप्प० सं० । (प्र०) 'युयुर्यो' इति सायणाभिमतः ।

पञ्चभूतों के (वलं) बल सामर्थ्यों को शत्रुओं की सेना बल के समान (आ-रुरोज) शिथिल करता, तोड़ डालता है। और (येन) जिस ने (सिन्धवः) बहने वाली नदियों को भी (जिताः) वश कर लिया है और (येन) जिसने (गावः) गौओं, पृथिवियों, सूर्यों एवं गतिमान पिण्डों को भी वश में किया है (सः नः) वह परमेश्वर हमें (अंहसः मुञ्चतु) पाप से मुक्त करे।

यश्चर्षणिप्रो वृषभः स्वर्विद् यस्मै ग्रावाणः प्रवदन्ति नृम्णम्।
यस्याध्वरः सप्तहोता मदिष्ठः स० ॥ ३ ॥

भा०—(यः) जो (चर्षणि-प्रः) मनुष्यों को पूर्ण करने वाला, (वृषभः) सब सुखों का वर्षक, (स्वः-विद्) सुख, आनन्द, मोक्ष, प्रकाश का प्राप्त कराने वाला है। (यस्मै) जिसके (ग्रावाणः) ज्ञानी, स्तुतिकर्त्ता, विद्वान् लोग (नृम्णम्) ऐश्वर्य का (प्र-वदन्ति) वर्णन किया करते हैं। (यस्य) जिसके (अध्वरः) कभी नष्ट न होने वाला संसारमय यज्ञ (सप्त-होता) सात होताओं द्वारा सम्पादित होता है। (सः) वह (मदिष्ठ) सब से अधिक आनन्द देने हारा परमेश्वर (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतु) मुक्त करे।

यस्य वशास ऋषभास उक्षणो यस्मै मीयन्ते स्वरवः स्वर्विदे।
यस्मै शुक्रः पवते ब्रह्मशुम्भितः स० ॥ ४ ॥

भा०—जिस प्रकार यज्ञ में गौएं, बैल और यूपशकल और मन्त्रों से संस्कृत सोम उस प्रजापति की अर्चना के निमित्त हैं उसी प्रकार

३–(प्र०) 'अथर्षणिः' (तृ०) 'यस्याध्वर्युः सप्तहोतामुदिच्युत्' इति पैप्प० सं०।

४–(तृ०) 'यस्मिन् शुक्रः प्रवर्त्तते' इति पैप्प० सं०।

(यस्य) जिसके निमित्त (वशासः) मोटे तथा उनके समान शरीर में वशीकृत इन्द्रियां और ब्रह्माण्ड और उसके वश में चलने वाली शक्तियां, (उक्षाणः) वीर्य सेचन और जल सेचन में समर्थ बैल और मेघ (ऋषभासः) और ऋषभ, श्रेष्ठ पुरुष हैं और (यस्मै) जिस (स्वः-विदे) स्वः= विशाल प्रकाश, या तेजोमय लोक में व्यापक परमात्मा की शक्ति से (स्वरवः) समस्त सूर्य (मीयन्ते) गतिकर रहे हैं । और यस्मै जिसकी व्यवस्था में (ब्रह्म-शुम्भितः) ब्रह्म=प्रकृति या वेदमय ज्ञान से शुम्भितः भासमान होता हुआ (शुक्रः) यह तेजोमय रूप में (पवते) प्रकाशित होता है ।

यस्य जुष्टिं सोमिनः कामयन्ते यं हवन्त इषुमन्तं गविष्टौ ।
यस्मिन्नर्कः शिश्रिये यस्मिन्नोजः स० ॥ ५ ॥

भा०—(सोमिनः) आत्मवान्, ज्ञानी, सोम रस का आस्वादन करने वाले विद्वान् (यस्य) जिसके (जुष्टिं) प्रेम, कृपा की (कामयन्ते) आकांक्षा करते हैं (यं) जिस (इषुमन्तं) सर्व कामनामय या सर्व शक्तिमान् परमेश्वर को (गविष्टौ) गो—वेद वाणियों को प्राप्त करने या ज्ञानरश्मियों को प्राप्त करने पर (हवन्ते) स्तुति करते हैं । (यस्मिन्) जिसमें (अर्कः) तेजःस्वरूप महान् सूर्य (शिश्रिये) आश्रय लेता है और जिस में (ओजः) सब बल और कान्ति विद्यमान है, (सः नः) वह हमें (अंहसः मुञ्चतु) पाप से मुक्त करे ।

यः प्रथमः कर्मकृत्याय जज्ञे यस्य वीर्यं प्रथमस्यानुबुद्धम् ।
येनोद्यतो वज्रोऽभ्यायताहिं स० ॥ ६ ॥

५–(द्वि०) 'इषुवन्तं' इति पैप्प० सं० ।

६–' यज्ञे ' इति क्वचित् ।

भा०—(यः) जो इन्द्र परमेश्वर (प्रथमः) सब से प्रथम, श्रेष्ठ (कर्म-कृत्याय) इस संसार की रचना करने के लिये (जज्ञे) सब से प्रथम प्रादुर्भूत एवं मूलकारण रूप में विद्यमान था। और (यस्य) जिस (प्रथमस्य) आदिकारण का (वीर्यं) बल, शक्ति, सामर्थ्य (अनु-बुद्धम्) संसार को देख लेने के बाद विद्वानों ने जाना। (येन उद्यतः) जिससे उठाया गया (वज्रः) प्रेरक बल (अहिं) अहिंस्य, अनादिकालसिद्ध प्रकृति तत्व को (अभि-आयत) सब प्रकार से वश करता है। (सः) वह (नः) हमें (अंहसः मुञ्चतु) पाप से मुक्त करे।

यः संङ्ग्रामान् नयति सं युधे वशी यः पुष्टानि संसृजति द्वयानि।
स्तौमीन्द्रं नाथितो जोहवीमि स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ७ ॥

भा०—(यः) जो (वशी) सब पर वश करने हारा, स्वतः, स्वतन्त्र होकर सेनाओं को सेनापति के समान (सम्-ग्रामान्) जनसमूहों को (युधे) युद्ध करने के लिये (सं नयति) उचित मार्ग से ले जाता है अर्थात् जो ईश्वर सेनापति के समान अपने जीवनसंग्राम में आगे बढ़ने का रास्ता सब प्राणियों को दिखाता है और (यः) जो (द्वयानि) दो दो के जोड़ों को (पुष्टानि) हृष्ट पुष्ट करके सन्तानोत्पन्न करने के लिये (सं-सृजति) तैयार करता है। उस (इन्द्रं) परमेश्वर को मैं (नाथितः) दुःखों से पीड़ित होकर (स्तौमि) स्तुति करता हूं और (जोहवीमि) बार बार पुकारता हूं (सः नः) वह हमें (अंहसः मुञ्चतु) पाप से मुक्त करे।



७-(द्वि०) 'पुष्ट्या नः' इति पैप्प० सं०।

[२५] पापमोचन की प्रार्थना ।

तृतीयं मृगारसूक्तम् । ३ अतिशाक्करगर्भा जगती, ७ पथ्याबृहती, १, २, ४–६ त्रिष्टुभः । सप्तर्च सूक्तम् ॥

वायोः सवितुर्विदथानि मन्महे यावात्मन्वद् विशथो यौ च रक्षथः ।
यौ विश्वस्य परिभू बभूवथुस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥

भा०—ईश्वर की वायु और सविता रूप से स्तुति करते हैं । (वायोः) वायु के समान जगत् के आधार भूत, जगत् के प्राण, प्रेरक (सवितुः) और सूर्य के समान उत्पादक परमेश्वर के (विदथानि[1]) ज्ञान करने योग्य परमात्माके ज्ञापक गुणोंको (मन्महे) हम मनन करते हैं। (यौ) जो परमात्मा के ये दोनों उत्पादक और प्रेरक रूप (आत्मान्वद्) आत्मा से युक्त चेतन तुम दोनों (जगत्) जंगम जगत् में (विशथः) प्राण रूप होकर और वीर्य रूप होकर प्रविष्ट रहते हो (च) और (रक्षथः) उनको विनष्ट होने से रक्षा करते एवं बचाते हो । हे दोनों गुणो ! तुम दोनों (विश्वस्य) समस्त विश्व के (परिभू) सर्वत्र व्यापक (बभूवथुः) होकर रहते हो (तौ नः मुञ्चतम् अंहसः) वे तुम दोनों हमें अंहः=पाप से मुक्त करो । परमात्मा सब का उत्पादक और प्रेरक है वह प्राण और वीर्य रूप में समस्त चेतन शरीरों में विद्यमान है, यह विचार कर मनुष्य अपने प्राणों के समान अन्य के प्राणों पर अत्याचार न करे और अपने वीर्य को दिव्यांश जानकर कामांगों से पाप न करे ।

---

[२५] १–(द्वि०) ' विश्रतो यौ च रक्षतः ' इति मै० सं० ।

१. विदथानि वेदनानि गुणविषयज्ञानानि । यद्वा विदथानि वेदितव्यानि श्रुतिविहितकर्माणि ' इति सायणः ।

यथोः सङ्ख्याता वरिमा पार्थिवानि याभ्यां रजो युपितमन्तरिक्षे ।
ययोः प्रायं नान्वानशे कश्चन तौ० ॥ २ ॥

भा०—जिस प्रकार वायु और सूर्य पृथिवी पर होने वाले वड़े कार्यों को कर दिखाते हैं और जिस प्रकार दोनों मिलकर अन्तरिक्ष रजः=वर्षा-जलों और धूलिपटलों को ऊपर उठा लेते हैं और इनकी उच्चगति को कोई अन्य पदार्थ नहीं प्राप्त कर सकता उसी प्रकार ईश्वर की भी ये दो शक्तियां हैं वात और सविता । (ययोः) जिनके (पार्थिवानि) पृथिवी पर होने वाले (वरिमानि) बड़े २ कामों को (सं-ख्याता) गिना जाता है । (याभ्यां) जिन दोनों शक्तियों के द्वारा (अन्तरिक्षे) इस पोल रूप आकाश भाग में (रजः) जलमय मेघ, ज्योतिमय सूर्यादि लोक और निहारिका रूप आकाश-गंगा आदि पदार्थ (युपितम्) निःशंक खड़े हैं । और (ययोः) जिन से (प्रायं) ऊंचे प्रदेश में (कश्चन) और कोई भी (न) नहीं (अनु-आनशे) जासकता (तौ) वे दोनों ईश्वरीय सामर्थ्य (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतम्) मुक्त करें ।

तव व्रते नि विशन्ते जनासस्त्वय्युदिते प्रेरते चित्रभानो ।
युवं वायो सविता च भुवनानि रक्षथस्तौ० ॥ ३ ॥

भा०—हे (चित्रभानो) विचित्र प्रभा से युक्त, सूर्य के समान दीप्ति-मान् परमेश्वर ! (तव व्रते) तेरे व्रत, नियमव्यवस्था में रहकर (जनासः) समस्तजन (नि विशन्ते) नियम से व्यवस्थित होकर रहते हैं । और (त्वयि उदिते) तेरे हृदय में उदय होने पर ज्ञान से प्रकाशित होने पर (प्रेरते) उत्कृष्ट पथ में गति करते हैं । हे (वायो) सब के प्रेरक ! सर्वाधार !

२–(प्र०) 'वरिमाणि पार्थिवा', (द्वि०) 'रजो गुस्थितमन्तरिक्षे' (तृ०) 'ययोः प्रयाम्' इति पैप्प० सं० ।

३–(तृ०) 'यच्छतः' इति पैप्प० सं० ।

तू और हे सर्वोत्पादक ! तू दोनों रूपों से (भुवनानि रक्षथः) समस्त लोकों की रक्षा करता है । (तौ) वे दोनों ईश्वरीय शक्तियां (नः) हमें (अंहसः मुञ्चताम्) पाप से मुक्त करें ।

अपे॒तो वा॑यो सवि॒ता च॑ दु॒ष्कृ॒तामप॒ रक्षां॑सि॒ शिमि॑दां च सेधतम् ।
सं ह्यू३॒॑र्जया॑ सृ॒जथः॒ सं बले॑न॒ तौ० ॥ ४ ॥

भा०—हे (वायो) सर्व प्रेरक परमेश्वर ! और (सविता च) सर्वोत्पादक परमेश्वरीय शक्ते ! तुम दोनों (दुः-ष्कृतम् अपेतः) बुरे किये कर्मों को उसी प्रकार दूर कर देते हो जैसे वायु प्रबल वेग से मल और रोगकारी वायुओं और कूड़ों को दूर कर देता है और जैसे सूर्य अपनी तीव्र किरणों से मल आदि पदार्थों को शुष्क करके हर लेता है । और ये दोनों शक्तियां (रक्षांसि) सब विघ्नों और (शिमिदाम् च) पीड़ा को (अप सेधतम्) दूर करते हो और तुम दोनों (ऊर्जया) अन्न रस से पूर्ण पुष्टि और प्राण सामर्थ्य से (सं सृजथः) युक्त करते हो, जीवन देते और (बलेन संसृजथः) बल से भी सम्पन्न करते हो । (तौ) वे दोनों ईश्वरीय रूप (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतम्) मुक्त करे ।

र॒यिं मे॒ पोषं॑ सवि॒तोत वा॒युस्त॒नू दक्ष॒मा सु॑वतां सु॒शेव॑म् ।
अ॒य॒क्ष्म॒ता॒तिं॒ मह॑ इ॒ह ध॑त्तं॒ तौ० ॥ ५ ॥

भा०—(सविता) सूर्य (उत वायुः) और वायु=जिस प्रकार (मे) मेरे शरीर में (रयिं) वीर्य को और (पोषं) पुष्टि को प्रदान करते हैं और वे दोनों जिस प्रकार (मे तनू) मेरे शरीर में (दक्षं) बल को उत्पन्न करते हैं और (अयक्ष्मतातिं) यक्ष्म=रोग जन्तु से उत्पन्न राज रोगों से मुक्त करने वाले तेज को धारण कराते हैं उसी प्रकार ईश्वर के उक्त दोनों सामर्थ्य (मे

४-(तृ०) 'सृजथ सं' इति बहुत्र । (द्वि०) 'समिदाम्' इति क्वचित् ।

त्तनू रयिं पोषं) मेरे शरीर में वीर्य और पुष्टि का प्रदान करें और (सु-शेवं) उत्तम सुख रूप में सेवन करने योग्य (दक्षं) बल और ज्ञान को (आ सुवतां) उत्पन्न करें। और (इह) यहां इस लोक में (अयक्ष्मतातिम् महः) रोग रहित तेज वा कान्ति को प्रदान करें (तौ) वे दोनों ईश्वरीय शक्तियां प्रादुर्भूत होकर (नः) हमें (अंहसः मुञ्चतम्) पाप से भी मुक्त करें।

प्र सुमतिं सवितर्वाय ऊतये महस्वन्तं मत्सरं मादयाथः।
अर्वाग् वामस्य प्रवतो नि यच्छतं तौ० ॥ ६ ॥

भा०—हे सवितः! हे वायो! आप दोनों ईश्वरीय शक्तियां (ऊतये) हमारी रक्षा के निमित्त (सु-मतिं) उत्तम बुद्धि, शक्ति को (प्रयच्छतं) उत्तम रीति से प्रदान करे। आप दोनों (महस्वन्तं) तेज से युक्त (मत्सरं) आनन्ददायक आत्मा को (मादयाथः) परितृप्त करते हो। (प्र-वतः) प्रकर्ष गति से जाने हारे (वामस्य) इस सुन्दर जीव को (अर्वाक्) साक्षात् सब उत्कृष्ट सुखों को (नियच्छतं) प्रदान करो। (तौ) वे दोनों आप (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतम्) मुक्त करें।

उप श्रेष्ठा न आशिषो देवयोर्धामन्नस्थिरन्।
स्तौमि देवं सवितारं च वायुं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ७ ॥

भा०—(नः) हमारी (श्रेष्ठाः आ-शिषः) उत्कृष्ट ये शुभ प्रार्थनाएं (देवयोः) उक्त दोनों दिव्य, दानशील देवों के (धामन्) धारण करने हारे परम तेजःस्वरूप परमेश्वर में ही (उप अस्थिरन्) पहुंचती हैं।

६–(द्वि०) 'मादयेताम्' (तृ०) 'प्रवता नियच्छतः' इति पैप्प० सं०।
७–(प्र०) 'नाशिषो' इति पैप्प० सं०। 'आशिरः' इति मै० सं०। (द्वि०) 'धर्मा अस्थिरन्' मै० सं०। (तृ०) 'स्तौमि वायुं सवितारं नाथितो जोहवीमि' इति पैप्प० सं०, मै० सं०।

(सवितारं) सविता=सब के उत्पादक स्वरूप परमात्मा और (वायुं च देवं) सब के प्रेरक देव प्रभु को ही स्तुति करता हूं । (तौ) वे दोनों रूप ही (नः) हमें (अंहसः मुञ्चतम्) पाप से मुक्त करें ।

इस सूक्त में सूर्य और वायु के भी गुण स्पष्ट किये हैं । दृष्टान्त देकर दार्ष्टान्त में ईश्वर के गुण भी स्पष्ट कहे हैं । इससे प्रजापति के सूर्य और वायु के समान, अन्य युगल रूपों का भी वर्णन हुआ जानना चाहिये ।



[२६] पापमोचन की प्रार्थना ।

मृगार ऋषिः । तृतीयं मृगारसूक्तम् । १ पुरोष्टिर्जगती, शक्वरगर्भातिमध्येज्योतिः, २—७ त्रिष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

मन्वे वां द्यावापृथिवी सुभोजसौ सचेतसौ ये अप्रथेथाममिता- योजनानि । प्रतिष्ठे ह्यभवतं वसूनां ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥

भा०—पूर्वोक्त प्रकार से ही द्यौ और पृथिवी या सूर्य और पृथिवी इनका भी वर्णन करते हैं । हे (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, माता और पिता, नर और नारी के समान (वां) तुम दोनों का मैं (मन्वे) मनन करता हूं । आप (सु-भोजसौ) उत्तम रीतिसे समस्त संसार के प्राणियों को नाना भोग देने हारे (स-चेतसौ) समान चित्त हुए हुए हो । (ये) जो तुम दोनों (अमिता) अपरिमित (योजनानि) योजनों, दूरी तक (अप्रथेथाम्) विस्तृत हो । तुम दोनों (वसूनां) वास करने वाले प्राणियों और सूर्य आदि लोकों की (प्रतिस्थे) प्रतिष्ठा, आश्रय (हि अभवतम्) ही रहते हो । (ते) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतम्) मुक्त

[२६] १—' अप्रथेताम् ' इति क्वचित् ।

करो । ईश्वर ने मा बाप के समान द्यौ और पृथिवी अपरिमित विस्तृत और अन्नदाता बनाया, यह जान कर मनुष्य-हत्या आदि पापों में न पड़े ।

प्रतिष्ठे ह्यभवतं वसूनां प्रवृद्धे देवी सुभगे उरूची ।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते० ॥ २ ॥

भा०—हे द्यौ और पृथिवी आप दोनों (वसूनां प्रतिस्थे हि अभवतम्) वास करने वाले लोकों और प्राणियों के आश्रय स्थान हो । क्योंकि आप दोनों (प्रवृद्धे) बड़े विशाल (सुभगे) उत्तम ऐश्वर्य से युक्त (उरूची) ऊरु=विशाल प्रकृति में व्यापक हैं । हे (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी तुम दोनों मेरे लिये (स्योने) सुखकारी (भवतं) हो और (ते) वे दोनों (नः) हमें (अंहसः मुञ्चतम्) पाप से मुक्त करें । द्यौ और पृथिवी=माता पिता, राजा और प्रजा ।

असन्तापे सुतपसौ हुवेहमुर्वी गम्भीरे कविभिर्नमस्ये ।
द्यावा० ॥ ३ ॥

भा०—(द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी आप दोनो ! (असम्-तापे) स्वयं संताप रहित (सु-तपसौ) उत्तम तप से युक्त (उर्वी) विशाल (गम्भीरे) गम्भीर और (कविभिः) विद्वानों क्रान्त-दर्शी तत्वज्ञानियों द्वारा (नमस्ये) आदर से देखे जाने योग्य हो । (मे स्योने भवतम्) आप दोनों मेरे लिये सुखकारी हों (ते नः अंहसः मुञ्चतम्) वे दोनों हमें पाप से मुक्त करें ।

२–(प्र०) 'प्रतिष्ठे हि बभूवथुः' (द्वि०) 'प्रविद्धे' इति सायणः । (तृ०) 'भवतं स्योने' इति सायणः ।

३–(प्र०) ' हुवे वाम् ' इति पैप्प० सं० ।

ये अमृतं विभृथो ये हवींषि स्रोत्या बिभृथो ये मनुष्यान्। द्या० ॥ ४ ॥

भा०—(ये) जो द्यौ और पृथिवी (अमृतं) अमृत, जीवन को धारण करते हैं (ये स्रोत्या) जो नदी आदि के प्रवाहों को धारण करते हैं और (ये मनुष्यान्) जो मनुष्यों को पालन पोषण करते हैं वे (द्यावा पृथिवी मे स्योने भवतं) द्यौ और पृथिवी मेरे लिये सुखकारी हों। (ते नः अंहसः मुञ्चतम्) वे हमें पाप से मुक्त करें। समाज में माता और पिता देह में प्राण और अपान, राष्ट्र में राजा, प्रजा, सूर्य और पृथिवी द्यौ और पृथिवी के नाम से कहे जाते हैं।

ये उस्रिया बिभृथो ये वनस्पतीन् ययोर्वां विश्वा भुवनान्यन्तः। द्या० ॥ ५ ॥

भा०—(ये) जो तुम दोनों द्यौ और पृथिवी (उस्रियाः बिभृथः) गौओं को पालन करती हो, (ये वनस्पतीन्) जो तुम दोनों सब वृक्ष वनस्पतियों को पालन करती हो, (ययोः अन्तः) जिन दोनों के बीच में (विश्वा भुवनानि) समस्त भुवन विद्यमान हैं वे द्यौ और पृथिवी (मे स्योने भवतम्) मुझे सुखकारी हों (ते नः अंहसः मुञ्चतम्) वे दोनों हमें पाप से मुक्त करें।

ये कीलालेन तर्पयथो ये घृतेन याभ्यामृते न किं चन शक्नुवन्ति। द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते० ॥ ६ ॥

भा०—हे द्यौ और पृथिवी! तुम (ये) जो दोनों (कीलालेन) अन्न से समस्त संसार को (तर्पयथः) तृप्त करती हैं (ये घृतेन) और जो दोनों घृत=तेज से समस्त विश्व को पूरित करती हैं। (याभ्याम् ऋते) जिन के बिना (किंचन न) कुछ भी नहीं (शक्नुवन्ति[1]) कर सकते। (मे स्योने

१. 'शक्नुऽवन्ति भृति' क्वचित्पदपाठः। (प्र०) 'मेकीलालैः' इति पैप्प० सं०।

भवतं) तुम दोनों मुझे सुखकारी हों (ते नः अंहसः मुञ्चतम्) वे दोनों हमें पाप से मुक्त करें ।

यन्मेदमभि शोचति येनयेन वा कृतं पौरुषेयान्न दैवात् ।
स्तौमि द्यावापृथिवी नाथितो जोहवीमि ते नो मुञ्चतमंहसः ॥७॥

भा०—(यत्) जो (मा) मुझ को (इदम्) यह मेरा किया कर्म (अभि-शोचति) हर तरफ से सन्ताप देता है और (येन येन वा) जिस जिस कारण से प्रेरित होकर (कृतम्) किया हुआ कर्म मुझे सताता है जो कर्म (पौरुषेयात्) पुरुष=आत्मा या पुरुषों के किये संकल्प से उत्पन्न जो कर्म मुझे सन्ताप देता है जो (न दैवात्) देव—ईश्वरीय काम नहीं है । उनसे (नाथितः) पीड़ित होकर मैं (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी इन के सामान परिपालक गुण वाले ईश्वरीय शक्तियों की मैं (स्तौमि) स्तुति करता हूं और (जोहवीमि) उनको पुकारता हूं कि (ते नः अंहसः मुञ्चतम्) वे दोनों हमें पाप से मुक्त करें ।



[२७] पापमोचन की प्रार्थना ।

मृगार ऋषिः । नाना देवताः । पञ्चमं मृगार सूक्तम् । १—७ त्रिष्टुभः ।
सप्तर्चं सूक्तम् ॥

मरुतां मन्वे अधि मे ब्रुवन्तु प्रेमं वाजं वाजसाते अवन्तु ।
आशूनिव सुयमानह्व ऊतये ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥

७–(द्वि०) 'पौरुषयं न दैव्यम्' इति पैप्प० सं० ।

[२७] १–(द्वि०) 'वाजसाताऽवन्तु' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'सुयमा-नह्व इति क्वचित् । (प्र०) 'अंशूनिव' इति सायणाभिमतः ।

भा०—पाप से मुक्त होने के लिये विद्वानों, रक्षकों और प्राणरूप मरुतों का वर्णन करते हैं। (मरुतां) मरुतों, वायुओं और उन विद्वानों के विषय में मैं (मन्वे) मनन करता हूं कि वे (मे अधिब्रवन्तु) मुझ पर शासन करें और उपदेश करें और (वाजसाते) ज्ञानप्रदान काल में या संग्राम में (इमम् वाजम्) इस ज्ञान और बल को अन्न के साथ (प्र अवन्तु) अच्छी प्रकार सुरक्षित रखें । मैं ऐसे विद्वानों को (सुयमान् आशून् इव) उत्तम रीति से वश करने योग्य वेगवान् घोड़ों के समान (ऊतये) अपनी रक्षा के लिये (अह्वे) बुलाता हूं, स्मरण करता हूं। (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हमें पाप से मुक्त करें। 'मरुतः=प्राणाः, भटः, विद्वांसः' ।

उत्स॒मक्षि॑तं व्यच॑न्ति॒ ये सदा॒ य आ॑सि॒ञ्चन्ति॒ रस॒मोष॑धीषु ।
पु॒रो द॑धे म॒रुत॒: पृश्नि॑मातॄँ॒स्ते० ॥ २ ॥

भा०—मैं (पृश्नि-मातॄन्) प्रश्नि=वाणी माता सरस्वती या ज्ञान-सूर्य या पृथिवी माता की गोद से उत्पन्न हुए (मरुतः) वायुओं के समान सर्वोपकारक विद्वानों को (पुरः) साक्षात् (दधे) आदर से हृदय में धारता हूं, उनको साक्षी पुरोहित करता हूं। (ये) जो विद्वान् गण (अक्षितं) अविनाशी (उत्सं) ज्ञान प्रवाह को (वि-अचन्ति) विस्तारित करते हैं और (सदा) निरन्तर (ये) जो लोग (ओषधीषु) ओषधियों में से (रसं) रस निकाल कर (आ-सिञ्चन्ति) जनों को पिलाते हैं अथवा ओषधियों में ही नाना रसों को प्रवेश कराते हैं (तेनः०) वे हमें पाप से मुक्त करें। वायुओं के पक्ष में—जो वायुएं मेघ से अक्षय (उत्सं) जल कोष को फैलाते हैं और वनस्पतियों में रसों को बरसाते हैं ऐसे (पृश्निमातॄन्) मध्यमिका वाक्=विद्युत् माता से उत्पन्न या आकाश में व्यापक इन तत्वों को मैं साक्षात् अपने वश करता हूं। दोनों पक्षों में विशेषणों का श्लेष स्पष्ट है।

२–(तृ०) 'पृश्निमातृस्ते' इति क्वचित्।

पयो धेनूनां रसमोषधीनां जवमर्वतां कवयो य इन्वथ ।
शग्मा भवन्तु मरुतो नः स्योनास्ते० ॥ ३ ॥

भा०—वे (मरुतः) मरुद्गण (शग्माः) शक्तिमान् होकर (नः) हमारे लिये (स्योनाः) सुखकारी हों । जो (धेनूनां) गौओं के (पयः) दूध को (ओषधीनां रसम्) ओषधियों के रस को, और (अर्वताम्) घोड़ों के (जवम्) वेग को (कवयः) क्रान्तदर्शी, तत्वज्ञानी होकर (इन्वथ) स्वयं प्राप्त करते, वश करते, एवं उपयोग करते हैं । (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हमें पापों और कष्ट से बचावें । वायु पक्ष में—जो वायुएं (धेनूनां पयः) गौओं और सूर्य-रश्मियों में दूध और जल को लातीं, (ओषधीनां रसम्) ओषधियों में रस उत्पन्न करती, (अर्वतां जवम्) अश्व आदि पशुओं में वेग और स्वस्थता को उत्पन्न करतीं हैं वे हमें सुखकारी हों, वे हमें कष्ट से बचावें । अध्यात्म में—धेनू=ज्ञानेन्द्रिय ओषधि=केशलोम, अर्वन्तः=कर्मेन्द्रियें और मरुतः=प्राण ।

अपः समुद्राद् दिवमुद् वहन्ति दिवस्पृथिवीमभि ये सृजन्ति ।
ये अद्भिरीशाना मरुतश्चरन्ति ते० ॥ ४ ॥

भा०—जिस प्रकार मरुत्गण (समुद्राद्) समुद्र से (अपः) जलों को (दिवम्) आकाश में (उद् वहन्ति) उठा ले जाते हैं और 'मानसून' या वर्षाओं से भरे बादलों द्वारा (दिवः) द्यौलोक आकाश से (पृथिवीम्) इस पृथिवी पर (ये) जो (अपः अभि सृजन्ति) जलों को बरसाते हैं । और (अद्भिः ईशानाः) जलों के द्वारा सामर्थ्यवान् होकर (चरन्ति) गति करती हैं उसी प्रकार (ये) जो विद्वान् गण, ज्ञान के समुद्र से ज्ञानों को प्राप्त कर के मोक्ष तक पहुंचते हैं मोक्ष से पुनः पृथिवी पर आकर ज्ञानोंका

३–(द्वि०) 'य इन्वन्' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'शक्मा' इति सायणसम्मतः पाठः ।

उपदेश करते और उन ज्ञान सामर्थ्यों से ऐश्वर्यवान् होकर सर्वत्र विचरते हैं वे जीवन-मुक्त पुरुष हैं । (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हमें पाप या दुःख के कारणों से बचावें ।

ये कीलालेन तर्पयन्ति ये घृतेन ये वा वयो मेदसा संसृजन्ति ।
ये अद्भिरीशाना मरुतो वर्षयन्ति ते० ॥ ५ ॥

भा०—(ये) जो मरुद्गण (कीलालेन) अन्न से (तर्पयन्ति) प्राणियों को तृप्त करते हैं (ये घृतेन) जो घृत, जल से पृथिवी को तृप्त करते हैं (ये) और जो (मेदसा) पुष्टिकारक पदार्थ से (वा) ही (वयः) दीर्घ आयु को (सं-सृजन्ति) उत्पन्न करते हैं और (ये मरुतः) जो मरुद्गण (अद्भिः) जलों से (ईशानाः) शक्तिसम्पन्न होकर (वर्षयन्ति) जलों की वर्षा करते हैं (तेनः०) वे हमें सुखी करें और कष्टों से मुक्त करें ।

विद्वानों के पक्ष में—जो विद्वान् कीलाल=अमृतरस से, (घृतेन) तेजोमय ज्ञान से और पुष्टिकारक पदार्थों से सब को तृप्त करते और पुष्ट करते और दीर्घायु होने का उपदेश करते हैं जो (अद्भिः) ज्ञानों और कामों से (ईशानाः वर्षयन्ति) शक्त होकर सुखों की वर्षा करते हैं वे हमें पाप से मुक्त करें । प्राणों के पक्ष में स्पष्ट है ।

यदीदिदं मरुतो मारुतेन यदि देवा दैव्येनेदृगार ।
यूयमीशिध्वे वसवस्तस्य निष्कृतेस्ते० ॥ ६ ॥

भा०—हे (मरुतः) मरुद्गणो विद्वानो ! (यदि) यदि (इदं) यह पापमय कष्ट (मारुतेन) वायुओं द्वारा या हमारे प्राणों के उपद्रवों से उत्पन्न है और हे (देवाः) विद्वान् लोगो ! (ईदृग्) ऐसा कष्टमय पाप यदि

५–(प्र०) 'कीलालैः' (तृ०) 'ये ईशानाः' इति पैप्प० सं० ।
६–(द्वि०) 'ईदृगु स मारिष्यति' इति मै० सं० ।

(दैव्येन) देव ईश्वर की ओर से आधिदैविक रूप में (आर[1]) हमें प्राप्त हुआ है तो भी हे (वसवः) सबों को सुखपूर्वक बसाने हारे सब के प्राणरक्षको ! (तस्य निःकृतेः) उसके दूर करने में (यूयम्) तुम लोग ही (ईशिध्वे) समर्थ हो । (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे आप लोग हमें पापमय दुःख से मुक्त करें ।

तिग्ममनीकं विदितं सहस्वन्मारुतं शर्धः पृतनासूग्रम् ।
स्तौमि मरुतो नाथितो जोहवीमि ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥७॥

भा०—(मारुतम्) मरुत्गण का (अनीकम्) सैनिकबल (तिग्मम्) तीक्ष्ण और (सहस्वत्) सहनशील, विजयकारी (विदितम्) सबों को ज्ञात है । इसी प्रकार (पृतनासु) सेनाओं में (मारुतम्) मरुत्गणों का (उग्रम् शर्धः) भयंकर बल भी सर्वविदित है । इस कारण (नाथितः) मैं दुःखी पुरुष, मरुद्गण के (स्तौमि) गुणों की स्तुति करता हूं और (जोहवीमि) उनका स्मरण करता हूं । (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हमें पाप, कष्ट से मुक्त करें ।

---

[२८] पापमोचन की प्रार्थना ।

मृगार ऋषिः । षष्ठं मृगारसूक्तम् । नाना देवताः । १ द्व्यतिजागतगर्भा भुरिक् ॥ २–७ त्रिष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

---

१. ' आ । आर ' इति पदच्छेदो ह्विटनिकाम्भितः ।

७–(प्र०) ' तिग्मामायुधं वीडितम् ' इति क्वचित् । ' तिग्मामायुधं वीडितं सहस्व दिव्यं शर्धः पृतनासु जिष्णु । स्तौमि मरुतः ' ' देवान् नाथितो जोहवीमि ते नो मुञ्चन्त्वेनसः ' इति बहुत्र ।

भवाशर्वौ मन्वे वां तस्य वित्तं ययोर्वामिदं प्रदिशि यद् विरोचते ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥

भा०—ईश्वर के दो स्वरूप एक भव=जगत् का उत्पादक और दूसरा शर्व=समस्त जगत् का संहारक । ईश्वर के इन दो स्वरूपों का वर्णन करते हैं । हे (भवाशर्वौ) सर्व जगत् उत्पादक शक्ते ! और सर्वसंहारक शक्ते ! (वां) तुम दोनों शक्तियों के विषय में (मन्वे) विचार करता हूं । (यद् इदं विरोचते) जो यह संसार नाना प्रकार से दिखाई देता है वह (ययोः वाम्) जिन आप दोनों शक्तियों के (प्र-दिशि) शासन में है । (यौ) और जो तुम दोनों शक्तियां (अस्य) इस संसार पर (ईशाथे) वश कर रहे हो, और (यौ) जो तुम दोनों (द्वि-पदः) दोपाये, मनुष्यों और (चतुः-पदः) पशुओं पर भी वश कर रहे हो (तौ) वे तुम दोनों (नः अंहसः) हमें पाप से (मुञ्चतम्) मुक्त करो ।

ययोरभ्यध्व उत यद् दूरे चिद् यौ विदिताविषुभृतामसिष्ठौ ।
याव० ॥ २ ॥

भा०—(अभि-अध्वे) समीप के पदार्थ (उत्) और (यद् दूरे) जो दूर के पदार्थ सब (ययोः) जिनके शासन में हैं । और (यौ चिद्) जो दोनों (इषु-भृताम्) इषु=बाण, प्रेरक शक्ति को धारण करने वालों में (असिष्ठौ) सब से अधिक वेगवान् समस्त लोक लोकान्तरों के प्रेरक, उनको इधर उधर फेंकने वाले हैं । (यौ अस्य०) जिनका वश इन सब मनुष्यों और पशुओं पर भी है वे दोनों शक्तियां हमें पाप से मुक्त करें ।

[२८] १-(द्वि०) ' ययोर्वो यदिदं वितिष्ठते ' इति पैप्प० सं० ।
२-(द्वि०) ' यौ विततौ ', (तृ०) ' भवाशर्वौ भवतं मे स्योनौ ' इति पैप्प० सं० ।

सहस्राक्षौ वृत्रहणा हुवेहं दूरेगव्यूती स्तुवन्नेम्युग्रौ ।
याव० ॥ ३ ॥

भा०—(अहं) मैं (सहस्र-अक्षौ) सहस्रों चक्षुओं वाले, सर्वद्रष्टा, (वृत्र-हना) विघ्नों के विनाशक (दूर-गव्यूती) गौ-इन्द्रियों के संचार या पहुंच से परे भी वर्त्तमान उन दोनों उत्पादक और संहारक शक्तियों को मैं (उग्रौ) उग्र बड़े बलवान्, भयकारी रूप में (स्तुवन्) उनके गुणों का यथार्थ वर्णन करता हुआ उन तक (एमि) पहुंचता हूं । (यौ अस्य ईशाथे०) जो इस संसार पर, सब मनुष्यों और पशुओं पर वश किये हुए हैं वे दोनों हमें पाप से मुक्त करें ।

यावारेभाथे बहु साकमग्रे प्र चेदस्राष्टमभिभां जनेषु ।
याव० ॥ ४ ॥

भा०—हे भव और शर्व दोनों शक्तियो ! आप दोनों ने (अग्रे) सृष्टि के प्रारम्भ काल में (बहु) बहुत से पदार्थ समूहों को (साकं) एक साथ ही (आ-रेभाथे) उत्पन्न, प्रकट कर दिया था। (च) और (जनेषु) जनों में, उत्पन्न होने वाले पदार्थों में (अभि-भाम्) सब तरफ फैलने वाली चमकने वाली कान्ति दीप्ति, तेज प्रकाश को (प्र अस्राष्टम्) पूर्व ही उत्पन्न किया था। और इस प्रकार संयोग विभाग से समस्त संसार को रच कर तुम दोनों शक्तियां (यौ ईशाथे०) समस्त संसार पर और समस्त मनुष्यों पर वश करती हैं। वे दोनों हमें पाप से मुक्त करें।

३–(द्वि०) 'स्तुवन् । नेमी' इति सायणकृतः पदच्छेदश्चिन्त्यः । एवमेव 'स्तुवन्नेमी' इति कल्पनाकृतमपि न विचारसहम् । (प्र० द्व०) 'हुवे वा दूरहूती सुनेमी उग्रौ' इति पैप्प० सं० ।

४–(द्वि०) 'अस्राष्ट्रम्' इति बहुत्र । 'अस्राष्टम्' इति सायणः ।

यर्योर्वधान्नापपद्यते कश्चनान्तर्देवेषूत मानुषेषु ।
याव० ॥ ५ ॥

भा०—(ययोः) जिन दोनों की (वधात्) आघात करने की शक्ति या मार अर्थात् जन्म, मृत्यु, सृष्टि-संहार, रूप वज्र से (देवेषु) देवों और (मानुषेषु) मनुष्यों में से (कः चन) कोई भी (न अप-पद्यते) नहीं बच पाता, जो (यौ अस्य ईशाथे) दोनों इस संसार पर और सब मनुष्यों और पशुओं पर वश करती हैं । वे दोनों हमें पाप से मुक्त करें ।

यः कृत्याकृन् मूलकृद् यातुधानो नि तस्मिन् धत्तं वज्रमुग्रौ ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ० ॥ ६ ॥

भा०—(यः) जो पुरुष (कृत्या-कृत्) अपनी घातक क्रिया करे और (यः) जो (यातु-धानः) पीड़ा देने वाला (मूल-कृत्) मूल काटने वाला है (तस्मिन्) उस पर आप दोनों भव और शर्व (उग्रौ) भयंकर रूप से बलवान् होकर (वज्रम् निधत्तम्) उसको दुष्ट कार्यों से रोकने वाले शस्त्र या दण्ड का प्रयोग करो । (यौ अस्य ईशाथे०) जो दोनों इस संसार और मनुष्यों और चौपायों पर वश करते हैं वे दोनों हमें पाप से मुक्त करें ।

अधि नो ब्रूतं पृतनासूग्रौ सं वज्रेण सृजतं यः किमीदी ।
स्तौमि भवाशर्वौ नाथितो जोहवीमि तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥७॥

भा०—हे (उग्रौ) उग्रस्वरूप बलवान् भव और शर्व ! आप दोनों (नः) हमें (अधिब्रूतं) उत्तम रीति से उपदेश करो और (पृतनासु) मनुष्यों में (यः) जो (किमीदी) संशयात्मा, अस्थिर चित्त या प्रत्येक

५–(द्वि०) 'किंचनान्तर्देवेषु उत' इति पैप्प० सं० ।
६–(द्वि०) 'धत्ताम्' इति बहुत्र ।
७–(प्र०) 'अधि मे ब्रूतं पृतनासु उग्रौ' इति पैप्प० सं० ।

पदार्थ और जीव को तुच्छ देख कर उसे नष्ट कर डालने वाला, अत्याचारी, क्षुद्रवृत्ति है उसको (वज्रेण) तुच्छ कार्य से रोकने वाले आयुध से (संसृजतम्) दण्डित करो। हे (भवाशर्वौ) भव और शर्व मैं (नाथितः) संतापित होकर (स्तौमि) आप के गुण वर्णन करता हूं और (जोहवीमि) पुकारता हूं कि (तौ नः अंहसः मुञ्चतम्) वे आप दोनों हमें पाप से मुक्त करें।

[२९] पापमोचन की प्रार्थना।

मृगार ऋषिः। सप्तमं मृगार सूक्तम्। नाना देवताः। १–६ त्रिष्टुभः। ७ शक्वरीगर्भा जगती। सप्तर्चं सूक्तम्॥

मन्वे वां मित्रावरुणावृतावृधौ सचेतसौ द्रुह्वणो यौ नुदेथे।
प्र सत्यावानमवथो भरेषु तौ नो मुञ्चतमंहसः॥ १॥

भा०—मित्र और वरुण इन दोनों का व्याख्यान करते हैं। हे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण ! (वां मन्वे) मैं आप दोनों के विषय में मनन करता हूं। आप दोनों (ऋता-वृधौ) ऋत=सत्य, वेदज्ञान एवं इस प्राकृतिक जगत् को बढ़ाने वाले, (स-चेतसौ) समान चित्त हैं (यौ) जो (द्रुह्वणः) द्रोह करने वालों को (नुदेथे) ताड़ना करते हैं। और (सत्यवानम्) सत्य के पक्षपाती पुरुष को (भरेषु) संग्रामों, विवादस्थलों में (प्र-अवथः) अच्छी प्रकार रक्षा करते हो (तौ नः अंहसः मुञ्चतम्) वे आप दोनों हम राष्ट्रवासियों को पाप से मुक्त करें।

[२९] १–(द्वि०) 'सत्यौजसौ दृह्याणि यो निरेते' (तृ०) 'सौ सत्या-' '···वथो हवेषु' इति पैप्प० सं०। (प्र०) 'वरुणा तस्य वित्तम्' (द्वि०) 'सत्यौजसा दृह्वाना [दुर्हणा] यं नुदेथे' इति तै० सं०, मै० सं०। (तृ० च०) 'या राजानं स रथं यथाउग्रा'''मुञ्चतमागसः' इति मै० सं०।

ईश्वर के दो रूप हैं एक सत्य-वादियों से प्रेम करने वाला और दूसरा पापियों का दमन करने वाला । इसी प्रकार राज्य व्यवस्था में दो पद हैं एक सब पर मित्र दृष्टि से रहने वाला न्यायाधीश जो सत्य का पक्षपाती है, दूसरा दण्डाधीश जो पापी पुरुष को दण्ड देता है । वे दोनों भी क्रम से मित्र और वरुण दो नाम से वेद में कहे गये हैं । यह पहले भी दर्शाया जा चुका है । 'अध्यात्म पक्ष में—मित्र, वरुण=प्राण, अपान लेने चाहियें' । सत्यावान्=आत्मा । द्रुह्वणः=काम क्रोधादि ।

सचेतसौ द्रुह्वणो यौ नुदेथे प्र सत्यावानमवथो भरेषु ।
यौ गच्छथो नृचक्षसौ बभ्रुणा सुतं तौ० ॥ २ ॥

भा०—आप दोनों (स-चेतसौ) समान चित्त होकर, समान रूप से ज्ञानवान् होकर (यौ) जो (द्रुह्वणः) सत्य और राज्य शासन के द्रोहकारी पुरुषों को (नुदेथे) ताड़ना करते हो और (भरेषु) संग्रामों, यज्ञों और विवादस्थलों, व्यवहारों में (सत्य-वानं प्र अवथः) सत्यवादी पुरुष की रक्षा करते हो और (नृ-चक्षसौ) सब मनुष्यों को समान रूप से देखते हुए (यौ) जो आप दोनों (बभ्रुणा) पालन पोषण करने हारे राष्ट्र के पोषक राजा के द्वारा (सुतं) बनाये हुए राष्ट्र या पुत्र समान प्रजा के पास (गच्छथः) आते हो । अथवा (बभ्रुणा सुतं गच्छथः) बभ्रु=पुष्ट प्रमाण से सुत=निष्कर्ष किये, अन्तिम निर्णय पर पहुंचते हो । वे दोनों आप (नः अंहसः मुञ्चतम्) हम राष्ट्रवासियों को पाप कर्म से मुक्त करो ।

यावङ्गिरसमवथो यावगस्तिं मित्रावरुणा जमदग्निमत्रिम् ।
यौ कश्यपमवथो यौ वसिष्ठं तौ० ॥ ३ ॥

२—' सत्यौजसौ द्रुह्वाणि यो निरेवे,' ' एवेषु इति पैप्प० सं० ।
३—' यावगस्त्यम् ' इति सायणाभिमतः ।

भा०—(यौ) जो तुम दोनों (अङ्गिरसम् अवथः) अंगिराः ज्ञानवान्, राष्ट्र के अंग २ में रस रूप से विराजमान विद्वान् की रक्षा करते हो, (यौ अगस्तिं) और जो अगस्ति=पाप नाशक, धर्मोपदेशक आचार्य पुरुष की रक्षा करते हो, हे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण (जमदग्निम्) जो प्रज्वलिताग्नि, तपस्वी, आहिताग्नि गृहस्थ की रक्षा करते हो और (अत्रिम्) जो अत्रि सर्वत्र निवास करने वाले अन्नभोजी, अज्ञान नाशक पुरुष की रक्षा करते हो (यौ कश्यपं अवथः) जो कश्यप=ज्ञान का पान करने वाले शिष्य, विद्यार्थिगण की रक्षा करते हो और (यौ वसिष्ठं) जो वसिष्ठ—आश्रमवासी जितेन्द्रिय पुरुष की रक्षा करते हो (तौ नः अंहसः मुञ्चतम्) वे दो आगे दोनों हम राष्ट्रवासियों को पाप कर्म से मुक्त करें।

अध्यात्मपक्ष को सातवें मन्त्र में स्पष्ट करेंगे।

यौ श्यावाश्वमवथो वध्र्यश्वं मित्रावरुणा पुरुमीढमात्रिम्।
यौ विमदमवथः सप्तवध्रिं तौ० ॥ ४ ॥

भा०—हे (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण (यौ) जो आप दोनों (श्याव-अश्वम् अवथः) ज्ञान में सिद्ध अश्व=इन्द्रियों वाले, कुशल पुरुष की रक्षा करते हो और (वध्रि-अश्वं) जितेन्द्रिय की रक्षा करते हो (पुरु-मीढम्) बहुत धन सम्पन्न धनाढ्य वैश्यों की रक्षा करते हो और (अत्रिणम्) धन का उपभोग करने वाले वेतनभोगी पदाधिकारी की रक्षा करते हो। (यौ वि-मदम् अवथः) और जो तुम दोनों मद रहित अप्रमादी पुरुष की रक्षा करते हो और (सप्त-वध्रिम्) सप्त=सर्पणशील है अश्व जिसके ऐसे योद्धा, रथी पुरुष की या सात घोड़े=इन्द्रियों के वशी, अविकलांग, स्वस्थ, नीरोग पुरुष की रक्षा करते हो वे आप दोनों हमारे राष्ट्रवासी लोगों को (अंहसः) पाप और पाप से होने वाले कष्ट से मुक्त करें।

४–(प्र०) 'अवथो गविष्ठिरम्' इति तै० ब्रा०।

यौ भरद्वाजमवथो यौ गविष्ठिरं विश्वामित्रं वरुण मित्र कुत्सम् ।
यौ कक्षीवन्तमवथः प्रोत कण्वं तौ० ॥ ५ ॥

भा०—हे वरुण ! और हे मित्र ! आप जो (भरत्-वाजम् अवथः) अन्न का संग्रह करने हारे उत्तम वैश्य की रक्षा करते हो, (यौ गविष्ठिरम्) और जो आप दोनों गौओं पर स्थिर रहने वाले या भूमि पर स्थिर रहने वाले कृषक, गोपालक और वनस्पतियों की रक्षा करते हो, और (विश्वामित्रं कुत्सम्) सब के मित्र उपदेशक और कुत्स=संशय काटने वाले, और सब को मिलाये रखने वाले सज्जन नेता पुरुष की रक्षा करते हो, (कक्षीवान्तं अवथः) जो तुम दोनों कक्षीवान्=शासनशील, सदा कसे हुए, स्थिर सैनिक, सेनापदाधिकारी पुरुष की रक्षा करते हो (उत) और (कण्वं प्र अवथः) मेधावी, उपदेशक, गुरु अथवा कण कण से आहार करके अपना जीवन पालने वाले, उञ्छ, शिल वृत्ति करने वाले तपस्वी, व्रतधारी, ज्ञानी पुरुष की रक्षा करते हो (तौ नः अंहसः मुञ्चतम्) वे दोनों हमें पाप कर्म से मुक्त करें ।

यौ मेधातिथिमवथो यौ त्रिशोकं मित्रावरुणावुशनां काव्यं यौ ।
यौ गोतममवथः प्रोत मुद्गलं तौ० ॥ ६ ॥

भा०—हे (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण ! (यौ) जो दोनों आप (मेध-अतिथिम् अवथः) मेधातिथि मेधा=धारणावती बुद्धि से युक्त तीव्र ज्ञानी पुरुषों की रक्षा करते हो, (यौ त्रि-शोकम्) जो तुम तीनों शोक=कान्तियों से युक्त ज्ञान, वचन, कर्मवान् या कायिक, मानस और वाचिक पापों को ज्ञानाग्नि से भस्म करने वाले शुद्ध पवित्र योगी की रक्षा करते हो,

५–(प्र०) 'यौ वध्य्रूश्वम्' इति पैप्प० सं० ।

६–'उशनम्', (तृ०) 'यौ मुद्गलमवथो गोतमं च' इति पैप्प० सं० ।

(यौ उशनां काव्यं) कवि क्रान्तदर्शी विद्वानों के संग से उत्पन्न ज्ञान के इच्छुक जिज्ञासु की रक्षा करते हो, (यौ गोतमम् अवथः) जो तुम दोनों गोतम=आत्म ज्ञानियों में श्रेष्ठ पुरुष की रक्षा करते हो (उत मुद्गलं प्र अवथः) और मुद्गल=आनन्दमय दशा में लीन होने वाले जीवनमुक्त पुरुष की रक्षा करते हो वे आप दोनों हमें पाप कर्म से मुक्त करो, बचाओ ।

ययो रथः सत्यवर्त्मर्जुरश्मिर्मिथुया चरन्तमभियाति दूषयन् ।
स्तौमि मित्रावरुणौ नाथितो जोहवीमि तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥७॥

भा०—हे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण ! (ययोः) जिन आप दोनों का (सत्य-वर्त्मा) सत्य मार्ग पर जाने वाला (ऋजुरश्मिः) सरल रश्मियों वाला या सरल आचाररूप रस्सियों से बंधा, (रथः) स्वरूप या गतिशील व्यवहार है वह (मिथुया चरन्तम्) मिथ्या आचरण करने वाले पुरुष को (दूषयन्) अपराध में पकड़ता हुआ (अभियाति) उस पर आक्रमण करता है। मैं (नाथितः) संतापित होकर (स्तौमि) आपके गुणों का यथार्थ वर्णन करता हूं और (जोहवीमि) और पुकारता या प्रार्थना करता हूं कि (तौ) वे दोनों आप(नः) हमें (अंहसः मुञ्चतम्) पाप से मुक्त करें।

राष्ट्र पक्ष में स्पष्ट है । अध्यात्मपक्ष में—प्राण और अपान योगी की निरन्तर रक्षा करते हैं। आंगरिस, अगस्ति, जमदग्नि, अत्रि, कश्यप, वसिष्ठ, श्यावाश्व आदि सब आत्मा के अधीन प्राण शक्ति हैं जिनके कार्य और गुण भेद से ये नाम हैं जैसे बृहदारण्यक में कहा—" प्राणानेतदाह—तस्या सप्त ऋषयः सप्ततीरे इति प्राणा वै ऋषयः । इमावेव गोतमभारद्वाजौ (कर्णौ) इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी (चक्षुषी) इमौ वसिष्ठ काश्यपौ (नासिके) वागेवात्रिरित्यादि बृहदारण्यक उप० २ । २ । ३–४ ॥ दायां वायां

७–'यो वांस्य ऋजुरश्मिः सत्यधर्मा मिथुश्चरन्त मुपयाति दूषयन्' इति मै० सं० ।

कान गोतम और भारद्वाज हैं, दायीं बायीं आंख विश्वामित्र और जमदग्नि हैं। दायीं बायीं नासिकाएं वसिष्ठ और कश्यप हैं, वाणी अत्रि है। इसी प्रकार, श्यावाश्व=मन, वध्यूश्व आत्मा, पुरुमीढ, अति सम्पत्तिमान् भोक्ता, आत्मा, विमद प्रज्ञानघन रूप आत्मा, सप्तवध्रि सप्तप्राण आत्मा, भारद्वाज ज्ञानमय अन्नाद आत्मा, गविष्ठिर=इन्द्रियाधिष्ठित आत्मा, कुत्स=ब्रह्मयोगी आत्मा, कक्षीवान् प्राणाभ्यासी, कण्व=ज्ञानवान्, मेधातिथि=ऋतम्भरा प्रज्ञासिद्ध आत्मा, त्रिशोक=तापत्रय का नाशकारी विदेह मुक्त आत्मा, काव्य उशना=वाक्सिद्ध आप्तकाम योगी, गोतम=आत्मसाक्षात्कारी, मुद्गल आनन्दघन योगी, इत्यादि जितने ये नाम हैं सब योग की विशेष दशा में पहुंचे हुए योगीजनों के ही हैं।

---

[३०] परमेश्वरी सर्व शासक शक्ति का वर्णन।

अथर्वा ऋषिः। वाग्देवत्यम्, १–५, ७, ८ त्रिष्टुभः, । ६ जगती। अष्टर्चं सूक्तम् ॥

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥१॥

ऋ० १० । १२५ । १ ॥

भा०—ऋग्वेदे राष्ट्री देवता। वागम्भृणी ऋषिः। वागम्भृणी देवता। परमेश्वरी शक्ति स्वयं अपना वर्णन करती है। (अहं[1]) मैं (रुद्रेभिः) रुद्रों और (वसुभिः) वसुओं द्वारा सर्वत्र विश्वरूप राष्ट्र में और (विश्वेदेवैः) विश्वेदेव, समस्त विद्वानों सहित (चरामि) सर्वत्र व्याप्त हूं। (अहम्)

---

[३०] १–१. 'विशुद्धसत्वपरिणामरूपस्य अन्तःकरणस्य वृत्तिविशेष अभिमानात्मकोऽहंकारः। तदुपलक्षितानवच्छिन्नात्मका 'अहम्' इति सायणः।

(मित्रा वरुणा) मित्र और वरुण (उभा) दोनों को (बिभर्मि) धारण करती हूं, (अहम् इन्द्राग्नी) मैं इन्द्र और अग्नि को और (अहम् उभा अश्विना) मैं ही दोनों अश्वियों को भी धारण पोपण करती हूं ।

विशुद्ध सत्व गुण के परिणाम रूप अन्तःकरण की वृत्ति, अभिमान स्वरूप ' अहं ' कहाती है । उससे युक्त आत्मा की शक्ति का वर्णन है । विराट्रूप—'प्रकृते महान् महतोऽहंकारः' । उस वैकारिक सात्विक अहकार की अधिष्ठात्री भी ईश्वरी शक्ति ' अहम् ' है । उसका प्रतिनिधि शरीर में ' अहम् ' है । रुद्र, वसु, आदित्य ये सब प्राणों के नाम हैं ।

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
तां मां देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तः ॥ २ ॥
ऋ० १० । १२५ । ३ ॥

भा०—(अहं) मैं (राष्ट्री [1]) सब संसार पर राज्य करने वाली ईश्वरी शक्ति हूं । मैं (वसूनां) सब वास कराने हारे लोकों को विद्वानों को, (सं-गमनी) प्राप्त कराने वाली, (चिकितुषी) सब का ज्ञान करने वाली और सब को ज्ञान कराने वाली, (यज्ञियानां प्रथमा) सब यज्ञयोग्य देवों में सब से प्रथम, सब से उत्कृष्ट हूं । (तां) उस (भूरि-स्थात्रां) नाना स्वरूप से, जगत् के प्रपञ्चरूप विराजमान (मां) मेरा (देवाः) विद्वान् लोग (भूरि) नाना प्रकार से (आवेशयन्तः) कल्पना करते हुए (वि-अदधुः) उपदेश करते हैं ।

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवानामुत मानुषाणाम् ।
यं कामये तन्तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥ ३ ॥
ऋ० १० । १२५ । ५ ॥

२–' भूर्यावेशयन्तीम् । इति ऋ० ।

१. ' ईश्वरनामैतत् ' इति सायणः ।

३–(द्वि० ' जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ' इति ऋ० ।

भा०—(अहम्) मैं परमेश्वर (एव) ही (देवानां जुष्टं) देव-विद्वानों के हितकर उन से सेवन करने एवं प्रिय लगने योग्य (उत) और (मानुषाणां) मनुष्यों, मननशील जीवों के हितकारी (इदं) इस अनुभव योग्य, साक्षात् आध्यात्मिक और भौतिक ज्ञान का (स्वयं) स्वयं अपने आप (वदामि) उपदेश करता हूं । और (यं कामये) जिस २ को मैं उचित समझता हूं (तं तं) उस २ को (उग्रं) सब से अधिक बलवान् एवं ऐश्वर्यवान् (कृणोमि) करता हूं और जिस २ को चाहता हूं (तं) उस २ को (ब्रह्माणम्) ब्रह्मा, (तं ऋषिं) उस २ को ऋषि और (तं) उस २ को (सुमेधाम्) उत्तम धारणावती बुद्धि से सम्पन्न करता हूं ।

मया सोऽन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणति य ईं शृणोत्युक्तम् ।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धेयं ते वदामि ॥४॥

ऋ० १० । १२५ । ४ ॥

भा०—शरीर में स्थित 'अहं' शक्ति या आत्म शक्ति का निरूपण करते हैं । (सः) वह पुरुष शरीर (मया अन्नम् अत्ति) मेरी शक्ति से ही अन्न को खाता है, (यः विपश्यति) जो देखता है वह भी मेरी शक्ति से देखता है, (याः प्राणति) जो प्राण लेता है वह भी मेरी आत्म शक्ति से ही प्राण लेता है । (यः ईम् उक्तं शृणोति) और जो कहा हुआ वचन भी सुनता है वह भी मेरी शक्ति से ही सुनता है । (मां अमन्तवः) मुझको न मानने और जानने वाले (ते) वे बहुत से लोग (उप क्षियन्ति) विनाश को प्राप्त होजाते हैं हे (श्रुत) गुरुपदेश को श्रवण करने हारे विद्वन् ! (श्रुधि) मैं अन्तरात्मा भीतर से जो कहती हूं उस को श्रवण कर । मैं (ते) तेरे लिये (श्रद्धेयं) सत्यरूप से धारण करने योग्य, श्रद्धायोग्य उपदेश (वदामि) कहता हूं ।

४—(प्र०) 'सोअन्न-' (द्वि०) 'प्राणिति' (च०) 'श्रद्धिवम्' इति ऋ० ।

परमात्म पक्ष में—समस्त संसार का भोजन, दर्शन, प्राणन, श्रवण आदि उसी प्रभु के दिये शक्ति से होता है जो उस भगवान् के इस सामर्थ्य के नहीं मानते वे अज्ञान में नष्ट होजाते हैं। वही ईश्वर सब के हित का उपदेश करता है।

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उं।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥ ५॥
ऋ० १० । १२५ । ६ ॥

भा०—(ब्रह्म-द्विषे) ब्रह्म=वेद-ज्ञान को द्वेष करने वाले, ब्रह्मघाती, (शरवे) हिंसक को (हन्तवा) मारने के लिये (उ) भी (अहम्) मैं ही ईश्वर (रुद्राय) दुष्टों को रुलाने वाले क्षत्रिय के (धनुः) धनुष् को (आतनोमि) तानता हूं। (अहं) मैं ईश्वर ही (जनाय) जन्तुओं के (समदं) संग्राम या प्रमोद को (कृणोमि) करता हूं। (अहं) मैं ही (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी दोनों में (आविवेश) आविष्ट, व्यापक हूं।

अहं सोममाहनसं विभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
अहं दधामि द्रविणा हविष्मते सुप्राव्या३ यजमानाय सुन्वते ॥६॥
ऋ० १० । १२५ । २ ॥

भा०—(अहं) मैं (आहनसं) आघातकारी, शत्रु के विनाशक (सोमं) सोम राजा को (बिभर्मि) धारण करता हूं और मैं ही (त्वष्टारं) सूर्य को और (पूषणं) सब के पोषक और (भगं) ऐश्वर्यवान् को भी धारण करता हूं। (अहं) मैं (हविष्मते) हवि द्वारा यज्ञ करने वाले, (सुन्वते) सोम सवन करने वाले (यजमानाय) यजमान को (सुप्र-अव्या) सुखप्रद (द्रविणा) धनों का (प्रदधामि) प्रदान करता हूं।

६-(तृ०) 'द्रविणं' इति ऋ०। (च०) 'सुप्राव्ये' इति सायणसम्मतः पाठः।

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे ।
ततो वि तिष्ठे भुवनानि विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि ॥७॥

ऋ० १० । १२५ । ७ ॥

भा०—(अहं) मैं ईश्वरी शक्ति (अस्य) इस दीखनेयोग्य संसार के भी (मूर्धन्) प्रारम्भ में या ऊपर (पितरम्) इसके पिता, परिपालक हिरण्यगर्भ को (सुवे) उत्पन्न करती हूं । (समुद्रे[1]) समस्त भूत, प्राणियों के उद्गम स्थान परमात्मा के (अन्तः) भीतर विराजमान (अप्सु) समस्त जगत् प्रपञ्च में व्यापक महत्-रूप मूल कारण परमाणुओं में (मम) मुझ ईश्वरी शक्ति का (योनिः) कारण रूप से आवासस्थान है । (ततः) उसी मेरे आवासस्थान से जहां मैंने मूल कारण प्रकृति में संसार प्रपंच का वीज वपन किया, वहां से ही (विश्वा भुवनानि) समस्त लोकों को (वि तिष्ठे) व्यवस्थित करती हूं, उनकी रचना करती हूं । और (अमूम् द्याम्) उस दूरस्थ आकाश में व्यापक दिव्य लोकमयी सृष्टि को (वर्ष्मणा) प्राकृत आवरण विराड्रूप देह से (उप स्पृशामि) आच्छादित करती हूं । अर्थात् मैंने विशाल आकाश को भी ढका है ।

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥
सर्वयोनिषु कौंतेय मूर्त्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद् योनिरहं वीजप्रदः पिता ॥

गीता । अ० १४ । ३, ४ ॥

७–' भुवानानु विश्वोता ' इति ऋ० ।

१. समुद्रवन्ति अस्माद् भूतजातानि इति समुद्रः परमात्मा । समुद्र एवास्य बन्धुः समुद्रो योनिः इति वाजसनेयकश्रुत्या समुद्रशब्दवाच्यत्वं परमात्मनो दर्शितम् । इति सायणः ।

अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।
परो दिवो पर एना पृथिव्यैतावती महिम्ना सं बभूव ॥ ८ ॥

ऋ० १० । १२५ । ८ ॥

भा०—(अहम् एव) मैं ही (विश्वा भुवनानि) समस्त लोकों और देहों को (आरभमाणा) निर्माण करती हुई (वात-इव) देहों में प्राण के समान और संसार में वायु के समान (प्र वामि) सर्वत्र विशेष रूप से, उत्कृष्ट रूप से व्यापक होकर रहती हूं । और मैं ही (दिवः) सूर्यादि लोकों से (परः) परे और (एना पृथिव्याः परः) इस पृथिवी से भी परे अर्थात् इन विकार पदार्थों से भी पूर्व काल में विद्यमान रह कर (महिम्ना) अपनी महिमा, महत्व शक्ति से (एतावती) इतने विशाल रूप में जगत् का रूप बना कर (सं बभूव) पूर्ण रीति से प्रकट हो रही हूं ।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत् स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३९ ॥
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ॥ ४० ॥
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥

गीता अ० १० ॥

इसी प्रकार गीता के १० वें और १५ वें अध्याय में इस सूक्त का पूर्ण व्याख्यान प्राप्त होगा । पाठक वहां ही देखें ।

इति षष्ठोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि पञ्च, ऋचश्च षट्त्रिंशत् ।]



८–' एतावती महिना सं बभूव ' इति ऋ० ।

[३१]

ब्रह्मास्कन्द ऋषिः । मन्युर्देवता । १, ३ त्रिष्टुभौ, २, ४ भुरिजौ, ५–७ जगत्यः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

त्वया॑ मन्यो स॒रथ॑मारु॒जन्तो॒ हर्ष॑माणा हृषि॒तासो॑ मरुत्वन् ।
ति॒ग्मेष॑व॒ आयु॑धा सं॒शिशा॑ना॒ उप॒ प्र य॑न्तु॒ नरो॑ अ॒ग्निरू॑पाः ॥१॥

ऋ० १० । ८४ । १ ॥

भा०—मन्युस्तापस ऋषिः । मन्युर्देवता । हे मन्यो ! ज्ञानस्वरूप प्रकाशमान् आत्मा में ज्ञानपूर्वक अभिमान के उग्रभावरूप ! हे (मरुत्वन्) प्राणस्वरूप आत्मन् ! इन्द्र ! (त्वया) तुझ सहायक के साथ (स-रथम्) रथ सहित शत्रु को (आ-रुजन्तः) पीड़ित एवं भग्न, विनष्ट करते हुए (हर्षमाणाः) हर्ष, आनन्द प्रसन्नता प्रकट करते हुए (हृषितासः) स्वयं हृष्ट प्रसन्न होकर (आयुधा सं-शिशानाः) अपने हथियारों को तीखा करते हुए (तिग्म-इषवः) तीक्ष्ण बाणों वाले अग्निरूपाः) आग के समान जाज्वल्यमान (नरः) नेता, भट-गण (उप प्र यन्तु) शत्रु तक पहुंच जांय ।

अध्यात्म पक्ष में—हे मन्यो=ज्ञानवान् मरुत्वन्=सर्व प्राणों के स्वामिन् ! इन्द्र ! परमेश्वर तुझ सहायक के होते हुए अग्नि रूप ज्ञानी जीव शमदमादि तीव्र साधनों को करते हुए तीक्ष्ण इषु=कामना, प्रबल इच्छा वाले होकर (हर्षमाणाः हृपितासः) स्वयं प्रसन्न आनन्दमग्न होकर रथ=देह सहित इस बन्धन को तोड़ कर मुक्त होकर तुझे प्राप्त करें । अध्यात्म युद्ध का वर्णन भक्तों की वाणियों में बहुत है जैसे कबीर कहते हैं:—

[३१] १–' हर्षमाणासो धृषिता मरुत्वः ' इति ऋ० । (च०) ' यन्ति ' इति पैप्प० सं० । मन्युर्मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः क्रोधकर्मणो वा । (नि० १० । ३.)

एक शमशेर, इकसार चलती रहे, खेल कोई सूरमा सन्त झेलै ।
कामदल जीत करि, क्रोध पैमाल करि, परम सुखधाम तहँ सुरत मेलै ॥
सील से नेह करि, ज्ञान को खड्ग लै, आप चौगान में खेल खेलै ।
कहे कबीर, सोई संतजन सूरमा, सीस को सौंपकरि करम ठेलै ॥

रेखता २६ ॥

अ॒ग्निरि॑व मन्यो त्विषि॒तः स॑हस्व सेना॒नीर्नः॑ सहुरे हू॒त ए॑धि ।
ह॒त्वाय॒ शत्रू॒न् वि भ॑जस्व॒ वेद॒ ओजो॒ मिमा॑नो॒ वि मृधो॑ नुदस्व ॥२॥

ऋ० १० । ८४ । २ ॥

भा०—हे मन्यो ! तू (अग्निः-इव) अग्नि के समान (त्विषितः) कान्तिमान् होकर (सहस्व) शत्रुओं को पराजित कर । और तू हे (सहुरे) सहनशील ! (हूतः) हम से पुकारा जाकर या हम से आदर पूर्वक आमन्त्रित होकर (नः सेना-नीः) हमारा सेना-नायक (एधि) बन । (शत्रून् हत्वाय) शत्रुओं को मार कर (वेदः) धन को (विभजस्व) समस्त सैनिकों में बांट दे । और (ओजः) अपने असह्य बल, प्रताप को (मिमानः) बराबर बनाये रख कर (मृधः) शत्रुगण को (वि नुदस्व) नाना प्रकार से परे हटा ।

अध्यात्म पक्ष में—हे मन्यो ज्ञानी योगिन् ! आत्मन् ! अग्नि के समान देदीप्यमान होकर काम क्रोध आदि पर वश कर और हे सहुरे=आत्मन् ! तू पुकारा जाकर हमारा सेना-नायक बन । क्रोध काम आदि का नाश कर, आत्मविभूतियों को अन्य इन्द्रियों में बांट दे और विषयरूप शत्रुओं का विनाश कर ।

२-(तृ०), ' जित्वाय शत्रून ' इति पैप्प० सं० ।

सह॑स्व मन्यो अ॒भिमा॑तिम॒स्मै रु॒जन् मृ॒णन् प्र॑मृ॒णन् प्रेहि॒ शत्रू॑न्।
उ॒ग्रं ते॒ पाजो॑ न॒न्वा रु॑रुध्रे व॒शी वशं॑ नयासा एकज॒ त्वम् ॥ ३ ॥

ऋ० १० । ८४ । ३ ॥

भा०—हे मन्यो ! (अस्मै) इस राजा के (अभिमातिम्) शत्रु को (सहस्व) पराजित कर और (शत्रून्) शत्रुओं को (रुजन्) उनको तोड़ता फोड़ता, (मृणन्, प्र-मृणन्) रोंदता पीसता हुआ उस तक (प्रेहि) जा पहुंच, उस पर चढ़जा। (ननु) क्या वे (ते उग्रं पाजः) तेरे उग्र, प्रचण्ड बल को (आ रुरुध्रे) रोक सकते हैं ? नहीं। क्योंकि तू हे (एक-ज) अद्वितीय ! (त्वम्) तू (वशी) सब पर वश करने हारा होकर उन सब को (वशं नयासै) अपने वश में ले आता है।

अध्यात्म पक्ष में—योगी अपने आत्मा को कहता है-मन्यो ! ज्ञानवन् ! आत्मन् ! इस आत्मा के अभिमान-अहंकार को वश कर काम क्रोध आदि शत्रुओं के बल को वार २ तोड़, उनको दबा, पीस और आगे बढ़, तेरे प्रचण्ड बल को थे नहीं सह सकते। तू उन पर एकला वश कर लेता है।

कबीर सोई सूरमा जाके पांचों साथ।
जाके पांचों बस नहीं तेहि गुरु संग न साथ ॥

—सूरमा का अङ्ग २४ ॥

एको॑ बहू॒नाम॑सि मन्य ईडि॒ता विशं॑विशं यु॒द्धाय॒ सं शि॑शाधि।
अकृ॑त्तरुक्त्वया यु॒जा व॒यं द्यु॒मन्तं॒ घोषं॑ विज॒याय॑ कृण्मसि ॥ ४ ॥

ऋ० १० । ८४ । ४ ॥

३–(प्र०) 'अभिमातिमस्मे' (च०) 'तपस एकजत्वम्' इति ऋ०।
(तृ०) 'रुरुध्रे' इति सायणाभिमतः।
४–' मन्यवीडितो विशं विशं युधये कृण्महे ' इति ऋ०।

भा०—हे मन्यो ! ज्ञानवन् ! आत्मन् ! (ईडिता) एकमात्र ज्ञान करने वाला तू इन (बहूनाम्) बहुत से इन्द्रियगण में से (एकः) एक ही है । तू (विशं-विशं) प्रत्येक प्रजा को (युद्धाय) काम क्रोध आदि शत्रुओं के संग युद्ध करने के लिये (सं शिशाधि) उनको वार २ शासन कर, उन पर वश रख कर उनके लड़ने के लिये आज्ञा दे । हे (अकृत्तरुक्) अच्छिन्नकान्ते ! अटूट प्रकाश वाले आत्मन् ! (त्वया युजा) तुझ सहायक के साथ (वयं) हम (द्युमन्तं) दीप्तियुक्त, तेजःसम्पन्न होकर, एवं शानदार (घोषं) सिंहनाद (विजयाय) इस विजय के लिये (कृरमसि) करते हैं । इस अध्यात्म ब्रह्मविषयक विजय का प्रकरण देखो 'केनोपनिषद्' (खण्ड ३, ४)

विजेषकृदिन्द्रं इवानवब्रवो३ऽस्माकं मन्यो अधिपा भवेह ।
प्रियं ते नाम सहुरे गृणीमसि विद्मा तमुत्सं यतं आबभूथं ॥ ५ ॥
ऋ० १० । ८४ । ५ ॥

भा०—हे मन्यो ! प्रभो ! तू (इन्द्रः-इव) सेनापति या परमेश्वर के समान (विजेषकृत्) विजयशील होता हुआ भी (अ-नव-ब्रवः) अति पुरातन उपदेष्टा है । तू (इह) इस लोक में (अस्माकम्) हमारे (अधि-पाः) राजा (भव) हो । हे (सहुर) सहनशील ! शत्रु का पराजय करनेहारे ! (ते प्रियं नाम) तेरे प्रिय नाम का हम (गृणीमसि) उच्चारण करते हैं । (तम्) उस (उत्सं) आनन्द के उत्तम, परम स्रोत का (विद्म) ज्ञान करें (यतः) जिससे तू भी (आ-बभूथ) आनन्द मय और सामर्थ्यवान् हो सर्वत्र व्यापक है ।

आभूत्या सहजा वज्र सायक सहो बिभर्षि सहभूत उत्तरम् ।
क्रत्वा नो मन्यो सह मेद्येधि महाधनस्य पुरुहूत संसृजि ॥ ६ ॥

६–(द्वि०) 'विभर्ष्यभिभूत उत्तरम्' इति पाठभेदः, ऋ० ।

भा०—हे मन्यो ! हे वज्र ! अज्ञान को वर्जन करने हारे, हे (सायक) समस्त कष्टों को अन्त करने हारे ! हे (सहभूते) इन्द्रिय सामर्थ्यों सहित सदा विद्यमान् आत्मन् ! हे (आ-भूत्या) इन्द्रियों पर दमन करने हारे व्यापक सामर्थ्य सहित (सह-जा) सहनशील ! तू (उत्तरं सहः) सब से अधिक विजय सामर्थ्य, बज्र को (बिभर्षि) धारण करता है । तू (क्रत्वा सह) ज्ञानमय बल के या कर्म के साथ (मेदी) उत्तम फल से प्रेम करने वाला होकर हे (पुरु-हूत) इन्द्रियगण रूप प्रजाओं से पुकारे गये इन्द्ररूप आत्मन् ! राजन् ! तू (महा-धनस्य) महान् धन, मोक्ष की (सं-सृजि) प्राप्ति के शुभ कार्य में (एधि) तत्पर हो, कमर कस ।

संसृष्टं धनमुभयं समाकृतमस्मभ्यं धत्तां वरुणश्च मन्युः ।
भियो दधाना हृदयेषु शत्रवः पराजितासो अप नि लयन्ताम् ॥७॥

भा०—(मन्युः) ज्ञानवान् आत्मा और (वरुणश्च) सर्वश्रेष्ठ वरणीय मोक्षरूप परम आत्मा (धनं) ज्ञान और आनन्दरूप (उभयं) दोनों प्रकार के धनों को (सं-सृष्टं) एक बनाकर, मिलाकर (सम्-आकृतम्) एक रस करके बराबर २ (अस्मभ्यं धत्तां) हमें दे । और (हृदयेषु) हृदयों में (भियः) नाना प्रकार के भयों को (दधानाः) उत्पन्न करने हारे (शत्रवः) शत्रुगण, काम, क्रोध लोभ आदि (परा-जितासः) पराजित होकर (अप नि लयन्ताम्) सर्वथा दूर भागें, छिपे रहें, विनष्ट हों । ये मन्त्र राजा के पक्ष में स्पष्ट हैं ।



[३२] प्रभु से प्रार्थना ।

ब्रह्मास्कन्द ऋषिः । मन्युर्देवता । १ जगती, २—७ त्रिष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

७—' अस्मभ्यं दत्तां ' (तृ०) ' भियम् ' इति ऋ० । (च०) ' पराजिता यन्तु परमां परावतम् ' इति पैप्प० सं० ।

यस्ते मन्यो विधद् वज्र सायक सह ओजः पुष्यति विश्वमानुषक्।
साह्याम दासमार्यं त्वया युजा वयं सहस्कृतेन सहसा सहस्वता ॥१॥

ऋ० १० । ८३ । १ ॥

भा०—मन्युस्तापस ऋषिः। मन्युर्देवता । हे मन्यो ! हे वज्र ! पापकर्मों से वर्जन करने हारे ! हे (सायक) शत्रुओं को अन्त करने वाले ! (यः) जो (ते) तू (अविधत्) परिचर्या करता है, सेवन करता है वह (विश्वम्) सब प्रकार के (सहः) सहन करने वाले सामर्थ्य (ओजः) कान्ति, प्रभाव (विश्वम्) सब गुणों को (आनुषक्) निरन्तर (पुष्यति) पुष्ट करता है। (सहस्कृतेन) बल को बढ़ाने वाले (सहस्वता) पर-विजयी (त्वया युजा) तुझ सहायक से (दासम्) कर्म, धर्म का विनाश करने वाले नीचवृत्ति पुरुष को और (आर्यं) अपने धर्म कर्मों में श्रेष्ठ पुरुष को (वयं) हम (साह्याम) अपने वश करें।

मन्युरिन्द्रो मन्युरेवास देवो मन्युर्होता वरुणो जातवेदाः ।
मन्युर्विश ईडते मानुषीर्याः पाहि नो मन्यो तपसा सजोषाः ॥२॥

ऋ० १० । ८३ । २ ॥

भा०—(मन्युः इन्द्रः) मन्यु ही इन्द्र है, (मन्युः एव) मन्यु ही (देवः) देव (आस) है, (मन्युः होता) मन्यु होता है, (वरुणः) मन्यु ही वरुण है; (जात-वेदाः) मन्यु ही जातवेदा है, (मन्युः) वह मन्यु है जिसको (याः) जो (मानुषीः) मनुष्य मननशील प्रजाएं हैं वे सब

[३२] १–(प्र०) 'यस्ते सद्यो' (च०) 'सहसा सहीयसा' इति पैप्प० सं० ।
२–(तृ०) 'मन्युं विश' सायणाभिमत, ऋग्वेदमतश्च । (प्र०) 'मन्युर्भगो' (तृ०) 'ईडते देवयन्तीः' (च०) 'तपसा श्रमेण' इति तै० ब्रा० । 'मानुषीर्यः' इति पैप्प० सं० ।

(ईडते) स्तुति करते हैं, उपासना करते हैं । हे (मन्यो) मन्यो ! प्रभो ! तू (सजोषाः) सप्रेम (तपसा) तप से (नः पाहि) हमारी रक्षा कर ।

अभीहि मन्यो तवसस्तवीयान् तपसा युजा वि जहि शत्रून् ।
अमित्रहा वृत्रहा दस्युहा च विश्वा वसून्या भरा त्वं नः ॥ ३ ॥

ऋ० १० । ८३ । ३ ॥

भा०—हे मन्यो ! ज्ञानवन् प्रभो ! आप (तवसः तवीयन्) महान् से भी महान् हैं । आप (तपसा युजा) अपने सदा साथ वर्तमान तप, सामर्थ्य, बल से (शत्रून्) शत्रुओं को (विजहि) सर्वथा नाश करो । (त्वं) आप (अमित्र-हा) शत्रुओं के नाशक ! (वृत्र-हा) सब विघ्नों के नाशक, (दस्यु-हा) सब डाकू आदि विनाशकारी हिंसकों के विनाश कर होकर (नः) हमें (वसूनि) धनों को (आ भर) प्राप्त करा ।

त्वं हि मन्यो अभिभूत्योजाः स्वयम्भूर्भामो अभिमातिषाहः ।
विश्वचर्षणिः सहुरिः सहीयानस्मास्वोजः पृतनासु धेहि ॥ ४ ॥

भा०—हे मन्यो ! प्रभो ! (त्वं) आप (अभिभूति-ओजाः) सर्वातिशायी ओजः=बल सम्पन्न, सर्वशक्तिमान् (स्वयं-भूः) बिना दूसरे की सहायता के स्वयं जगत् की उत्पत्ति स्थिति, प्रलय में समर्थ, अथवा स्वयं सत्तावान् किसी से न उत्पन्न होकर भी (भामः) तेजस्वी, स्वयंप्रकाश, (अभिमाति-सहः) अभिमानी शत्रुओं को पराभव करने वाले (विश्व-चर्षणिः) सब के द्रष्टा, (सहुरिः) सहनशील, सर्ववशी, (सहीयान्) बलवान् हो । आप (अस्मासु) हम (पृतनासु) प्रजाओं में (ओजः धेहि) बल का प्रदान करो ।

३–(द्वि०) 'जहीह सत्रून्' इति पैप्प० सं० ।
४–'सहुरिः सहावान्' इति ऋ० । (द्वि०) 'स्वयं जोभासो' (च०) 'सहावान् सहूयमानोऽमृताय गच्छत्' इति मै० सं० ।

अभागः सन्नप परेतो अस्मि तव क्रत्वा तविषस्य प्रचेतः ।
तं त्वा मन्यो अक्रतुर्जिहीडाहं स्वा तनूर्बलदावा न एहि ॥ ५ ॥
ऋ० १० । ८३ । ५ ॥

भा०—हे (प्रचेतः) प्रकृष्ट ज्ञानवान् ! हे मन्यो ! (तविषस्य) महान् (तव) तेरे (क्रत्वा) क्रिया सामर्थ्य, बल से (अभागः) रहित (सन्) होकर मैं (अप) दूर (परा-इतः) पराजित (अस्मि) हो जाता हूं । हे मन्यो ! तव (अक्रतुः) निर्बल, अज्ञानी होकर (अहं) मैं (त्वा) तेरी (जिहीड[1]) शरण आता हूं । तेरा (स्वा तनूः) अपना स्वरूप ही (बल-दावा) बलदायक है । अतः तू (नः) हमें (एहि) प्राप्त हो ।

अयं ते अस्म्युप न एह्यर्वाङ् प्रतीचीनः सहुरे विश्वदावन् ।
मन्यो वज्रिन्नभि न आ ववृत्स्व हनाव दस्यूँरुत बोध्यापेः ॥ ६ ॥
ऋ० १० । ८३ । ६ ॥

भा०—मैं (अयं) यह (ते अस्मि) तेरा ही हूं । आप (नः) हम से (प्रतीचीनः) प्रत्यक् तत्व, सदा अदृश्य होकर भी (नः) हमारे (अर्वाङ्) साक्षात् दर्शन (उप एहि) दें । हे (सहुरे) सहनशील, बलशालिन् ! हे (विश्वदावन्) समस्त संसार को सब पदार्थ देने हारे मन्यो ! ज्ञानवन् ! (वज्रिन्) संहारक ! (नः) हमारे (अभि आ ववृत्स्व) सहायक हों। मैं और आप दोनों (दस्यून्) दस्युओं, आत्मशक्ति के नाशक शत्रुओं को (हनाव) विनाश करें, (उत) और (आपेः) मुझ बन्धु को आप (बोधि) अपना समझें, अपनावें या ज्ञान दें ।

५–' स्वा तनूर्बलदेयाय मेहि ' इति ऋ० ।

१. हिडिगत्यनादरयोः भ्वादिः ।

६–(प्र०) ' उपमा ' (तृ०) ' वज्रिन्नभि मामाववृत्स्व ' (द्वि०) ' विश्वधायः ' इति ऋ० ।

अभि प्रेहि दक्षिणतो भवा नोऽधा वृत्राणि जङ्घनाव भूरि ।
जुहोमि ते धरुणं मध्वो अग्रमुभावुपांशु प्रथमा पिबाव ॥७॥

ऋ० १० । ८३ । ७ ॥

भा०—हे मन्यो ! आप (अभि प्रेहि) हमें साक्षात् दर्शन दें और (दक्षिणतः भव) हमारे सदा दायें होकर रहें । (अध) और (नः वृत्राणि) हमारे विघ्नों को हम दोनों मिलकर (भूरि) खूब (जंघनाव) विनाश करें । हे मन्यो ! (ते) तेरे (मध्वः) मधु=मधुर आनन्द रस का (अग्रं) सार-भूत श्रेष्ठ (धरुणं) ध्रुव, चिरस्थायी स्वरूप को (जुहोमि) मैं स्वीकार करता हूं, प्राप्त करता हूं । (उभौ) हम दोनों प्रभु और भक्त मिलकर (उप-अंशु) शान्त, एकान्त में (प्रथमा) सब से पूर्व उस रस का (पिबाव) पान करें ।



[३३] पाप नाश करने की प्रार्थना ।

ब्रह्मा ऋषिः । पापनाशनोऽग्निर्देवता । १—८ गायत्र्यः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

अप नः शोशुचदघमग्ने शुशुग्ध्या रयिम् ।
अप नः शोशुचदघम् ॥ १ ॥　　ऋ० १ । ९७ । १ ॥

भा०—हे (अग्ने) जाज्वल्यमान तेजःस्वरूप परमात्मन् ! (नः) हमारे (अघम्) पाप को (अप शोशुचत्) दूर करो और (रयिम्) हमारे वीर्य को (शुशुग्धि) खूब प्रज्वलित करो । (नः अघम् अप शोशुचद्) हमारे पापों को दूर करो ।

७–(च०) ‘पिबेव’ इति पैप्प० सं० । (प्र०) ‘मेऽधा’ (च०) ‘उभा उपांशु’ इति ऋ० ।

सुक्षेत्रिया सुगातुया वसूया च यजामहे ।
अपं० ॥ २ ॥ ऋ० १ । ९७ । २ ॥

भा०—हे प्रभो ! (सुक्षेत्रिया) उत्तम क्षेत्र=देह की प्राप्ति के लिये और (सुगातुया) और उत्तम मार्ग–देवयान को प्राप्त करने की इच्छा से और (वसूया च) उत्तम वसु=आत्मा को या परम आत्मरूप आनन्द मोक्ष को प्राप्त करने की इच्छा से (यजामहे) हम आपकी उपासना करते हैं । आप (नः अघम् अप शोशुचद्) हमारे पापों को जला कर नष्ट करें ।

प्र यद् भन्दिष्ठ एषां प्रास्माकासश्च सूरयः ।
अपं० ॥ ३ ॥ ऋ० १ । ९७ । ३ ॥

भा०—(एषां) इन हमारे समस्त विद्वान् कल्याण-कारियों में से (यत्) क्योंकि प्रभो आप ही (भन्दिष्ठः) सब से अधिक सुखकारी और कल्याणकारी है और (अस्माकासः सूरयः च) हमारे विद्वान् भी कल्याण कारी है । उनके संग में रख कर (नः अघम् अप शोशुचत्) हमारे पापों को दूर करो ।

प्रयत् ते अग्ने सूरयो जायेमहि प्र ते वयम् ।
अपं० ॥ ४ ॥ ऋ० १ । ९७ । ४ ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानमय प्रभो ! (यत्) क्योंकि (ते) तुझ से ही (सूरयः प्र) विद्वान् लोग उत्पन्न होते हैं अतः (वयम्) हम भी (ते प्रजायेमहि) तुझ से ही विद्या प्राप्त करके उन्नत हों । (नः अघम् अप शोशुचद्) हमारे पापों को आप दूर करें ।

प्र यदग्नेः सहस्वतो विश्वतो यन्ति भानवः ।
अपं० ॥ ५ ॥ ऋ० १ । ९७ । ५ ॥

[३३] ४–‘ जायेमहे ’ इति पैप्प० सं० ।

भा०—(यत्) क्योंकि (सहस्वतः) सब को अभिभव करने वाले बल से सम्पन्न (अग्ने) प्रकाशस्वरूप आपके (भानवः) तेजःस्वरूप सहस्रों सूर्य रूप किरणें (विश्वतो यन्ति) चारों तरफ गति कर रहे हैं। अतः आप (नः अघम् अप शोशुचद्) हमारे पाप को दूर करें।

त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि ।
अप० ॥ ६ ॥ ऋ० १ । ९७ । ६ ॥

भा०—हे (विश्वतः-मुख) सर्वव्यापक, सब ओर सहस्रों मुखों वाले आप (विश्वतः) सब प्रकार से (परि-भूः असि) सर्वत्र व्यापक और सब पर शक्तिशाली हो, इसलिये आप (नः अघम् अप शोशुचत्) हमारे पापों को दूर करें। " सहस्र शीर्षाः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् " इति (यजुर्वेद अ० ३१)।

द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारय ।
अप० ॥ ७ ॥ ऋ० १ । ९७ । ७ ॥

भा०—हे (विश्वतोमुख) सर्वव्यापक सर्वद्रष्टा ! आप (नावा इव) जिस प्रकार नौका से समुद्रों को पार किया जाता है उसी प्रकार (नः) हमें (द्विषः अति पारय) काम क्रोध आदि अन्तः-शत्रुओं से पार कर। और (नः अघम् अप शोशुचत्) हमारे पाप हम से दूर कर।

स नः सिन्धुमिव नावाति पर्षा स्वस्तये ।
अप नः शोशुचदघम् ॥ ८ ॥ ऋ० १ । ९७ । ८ ॥

भा०—(सः) वह परम पवित्र आप (नावा) नाव—जहाज़ से (सिन्धुम् इव) समुद्र के समान (नः) हमें हमारे (स्वस्तये) सुख,

८–(प्र०) 'नावया' इति ऋ०, पैप्प० सं०।

परम आनन्दमय कल्याण के लिये (अति पर्ष) इस भवसागर से पार करो और (नः अघम् अप शोशुचद्) हमारे पापों को हम से दूर करो।

---

[३४] विष्टारी ओदन, परम प्रजापति की उपासना और फल।

अथर्वा ऋषिः। ब्रह्मास्यौदनं विष्टारी ओदनं वा देवता। १-३ त्रिष्टुभः, ५ त्र्यवसाना सप्तपदाकृतिः, ६ पञ्चपदातिशक्वरी, ७ भुरिक् शक्वरी, ८ जगती। अष्टर्चं सूक्तम्॥

ब्रह्मा॑स्य शी॒र्षं बृ॒हद॑स्य पृ॒ष्ठं वा॑मदे॒व्यमु॒दर॑मोद॒नस्य॑।
छन्दां॑सि प॒क्षौ मुख॑मस्य स॒त्यं वि॑ष्टा॒री जा॒तस्तप॒सोऽधि॑ य॒ज्ञः॥१॥

भा०—(यज्ञः) यह यज्ञमय प्रजापति (विष्टारी) सर्वत्र विस्तृत, ब्रह्माण्ड रूप में विराट् देह करके फैला हुआ है। यह (तपसः अधिजातः) उस तपरूप परम परमात्मा से उत्पन्न हुआ है। इसका एक नाम 'ओदन'= प्रजापति या परमेष्ठी है। (अस्य) इस (ओदनस्य) प्रजापतिरूप ओदन का (शीर्षम्) शिरोभाग (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञान, वेद या शक्ति है और (अस्य पृष्ठम्) इसकी पीठ (बृहत्) यह विशाल ब्रह्माण्ड है और (उदरं) उदर भाग (वामदेव्यम्) वाम=जीव द्वारा अधिष्ठित संसार स्थावर जंगम है। यज्ञपक्ष में—उस ओदन का शिरोभाग रथंतर साम, पृष्ठभाग बृहत् साम और उदरभाग वामदेव्य साम हैं। वर्णभेद से उसका शिरोभाग ब्राह्मण, पृष्ठभाग बृहत्-क्षत्र और वामदेव्य-वैश्य हैं। इसके (पक्षौ) दोनों पक्ष (छन्दांसि) छन्द हैं। (अस्य मुखम्) इसका मुख सत्य है।

संवत्सर, पुरुष, आत्मा, परमात्मा, समाज, राष्ट्र, यज्ञ आदि प्रजापति

---

[३४] १-(प्र०) 'ब्रह्मास्य शिरः' (च०) 'विष्टा यज्ञस्तपसोधि जातः' इति पैप्प० सं०।

के नाम से कहे जाते हैं सब पद्यों में ब्रह्म बृहत्, वामदेव्य, छन्द आदि शब्दों के अर्थ इस रूप में समझिये।

(१) यज्ञः=मखः, भागः, देवानां महः। एष वै महान् देवो यद् यज्ञः (गो० पू० २ । १६) यज्ञो वै बृहन् विपश्चित्। श० ३ । ५ । ३ । १२ ॥ यज्ञो विदद् वसुः। श० १५ । ४ । ५ ॥ यज्ञो वै स्वः। श० १ । १ । २ । २१ ॥ देवरथः। ऐ० २ । ३७ ॥ वाग् वै यज्ञः। ऐ० ५ । ५४ ॥ संवत्सरो यज्ञः प्रजापति। शं० २ । २ । २ । ४ ॥ आत्मा वै यज्ञः। श० ६ । २ । १ । ७ ॥ पुरुषो वै यज्ञः। कौ० १७ । ७ ॥

(२) ओदनः=परमेष्ठी वा ऐष यदोदनः। तै० १ । ७ । १० । ६ ॥ प्रजापतिर्वा ओदनः। श० १३ । ३ । ६ । ७ ॥ रेतो वा ओदनः। श० १३ । १ । १४ । ४ ॥

(३) ब्रह्म=वाग्, वाचः परमं व्योम, सत्वं, चक्षुः, मन्त्रः, वेदः, अग्निः, प्राणः, अहः, ब्राह्मणः इत्येते ब्रह्मवाच्यार्थाः।

(४) बृहत्—बृहन्मर्याः इदं सः ज्योगभूद् इति बृहतो बृहत्वम्। तां० ७ । ६ । ५ ॥ यद् ह्रस्वं तद् रथन्तरं यद् दीर्घं तद् बृहत्। कौ० ३ । ५ ॥ श्रैष्ठ्यं। ऐ० ८ । २ । यथा वै पुत्रो ज्येष्ठ, एवं बृहत् प्रजापतेः ॥ तां० ७ । ६ । ६ ॥ ऊर्ध्वमिव हि बृहत्। द्यौः। तां० १६ । १ । ८ ॥ स्वर्गो लोकः। तां १६ । ५ । १५ ॥ आदित्यः, प्राणः, क्षत्रं, मनः। स प्रजापतिः तूष्णीं मनसाऽध्यायत् स यन्मनस्यासीत् तत् बृहत्समभवत्। तां० ७ । ६ । १ ।

(५) वामदेव्यम्=पिता वामदेव्यं, पुत्राः पृष्ठानि। तां० ७ । ६ १ ॥ शान्तिर्वामदेव्यम् तै० १ । १ । ८ । २ ॥ प्रजननं वामदेव्यं। श० ५ । १ । ३ । १२ ॥ प्राणः। श० ६ । १ । २ । ३८ ॥ पशवः। तां० ४ । ८ । १५ ॥

(६) छन्दांसि=दिशः, रसः, इन्द्रियाणि, प्राणाः, पशवः । प्रजापतेर्वा एतान्यंगानि यच्छन्दांसि । ऐ० ८ । १८ ॥ लोमानि । श० ६ । ४ । १ । ६ ॥ छन्दांसि सावित्री । गो० पू० १ । ३३ ॥

(७) सत्यम्=ऋतम्, धर्मः, सुकृतस्य लोकः, व्रतस्य रूपम्, देवाः, ब्रह्म, सत्यं वा एतत् यद्वर्षति । तै० १ । ७ । ५ । ३ ॥ असावादित्यः तै० २ । १ । ११ । १ ॥ विशेषविवरणं परिशिष्टे द्रष्टव्यम् ।

अ॒न॒स्थाः पू॒ताः पव॑नेन शु॒द्धाः शुच॑यः॒ शुचि॒मपि॑ यन्ति लो॒कम् ।
नैषां॑ शि॒श्नं प्र द॑हति जा॒तवे॑दाः स्व॒र्गे लो॒के ब॒हु स्त्रैण॑मेषाम् ॥२॥

भा०—उक्त प्रकार के प्रजापति की उपासना एवं ज्ञान करने वाले विद्वान् पुरुष (अनस्थाः) अस्थि आदि स्थूल पदार्थों के बने शरीर बन्धन से मुक्त होकर (पवनेन शुद्धाः) पवन, सब के परमपावन परमात्मा की ज्योति से शुद्ध हुए हुए, (शुचयः) वाक् मनः, कर्म सब प्रकार से पवित्र एवं कान्तिमान् होकर (शुचिम् लोकम्) शुद्ध पवित्र, ज्योतिर्मय लोक मोक्ष को (अपि यन्ति) प्राप्त होते हैं । (जातवेदाः) समस्त उत्पन्न लोकों को जानने हारा परमात्मा (एषां) इन मुक्त पुरुषों के (शिश्नं[1]) सुख-प्राप्ति के साधन सामर्थ्यों को (न प्र दहति) दग्ध नहीं करता । इसलिये (स्वर्गे लोके) स्वर्ग=सुखमय लोक में भी (एषां) इन मुक्तात्माओं को (बहु स्त्रैणम्) बहुत से भोग्य लोक प्राप्त होते हैं ।

आत्मज्ञानी अपने सुरक्षित सामर्थ्य से मुक्त होकर यथेच्छ होकर सर्व लोकों में जासकते हैं । जैसा उपनिषद् में लिखा है । " स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति । " छान्दो० । (१० । २५) इस

२–(प्र०) ' अनस्थाः शुद्धाः पवनेन पूताः ' इति पैप्प० सं० ।

१. ' शिश्नं श्नथतेः ' नि० ४ । ३ । ३ ॥

तत्व को न समझ कर अन्य मजहब वालों ने स्वर्ग में अप्सराओं और हूरों की कल्पना की है। वस्तुतः शिश्न-इन्द्रियों के सामर्थ्य का उपलक्षण है और स्त्रियां भोग्य लोकों का उपलक्षण हैं। क्योंकि समस्त आनन्दों का एकायन 'शिश्न' को माना गया है इसलिये उसी का उपादान किया है और श्लेषवृत्ति से "स्त्रैणम्" शब्द से भोग्य पदार्थ को बतलाया गया है। मुक्तात्माओं के देहादि अवयव न होने से शिश्नादि शब्द की भोग-साधन सामर्थ्य में लक्षणा है। इसकी तुलना इसी सूक्त के ४ थं मन्त्र से करो।

विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनानवर्तिः सचते कदा चन।
आस्ते यम उप याति देवान्त्सं गन्धर्वैर्मदते सोम्येभिः ॥ ३ ॥

भा०—(ये) जो मुक्त पुरुष (विष्टारिणं) विस्तृत, विराड् रूप इस (ओदनं) प्रजापति विषयक ज्ञानरूप 'ओदन' को (पचन्ति) परिपक्व करते हैं। उसका अभ्यास करते, पकाते हैं, अपने हृदय में दृढ़ कर लेते हैं (एनान्) उन पुरुषों को (अवर्त्तिः) किसी पदार्थ का अभाव (कदा चन) कभी भी (न सचते) नहीं रहता। मुक्तात्मा पुरुष (यमे) समस्त विश्व के नियामक परमेश्वर में (आस्ते) आश्रय ले लेता है, और (देवान्) पूर्व मुक्त आत्माओं के भी (उप याति) समीप प्राप्त होता है, और (सोम्येभिः) सोम=ब्रह्मानन्द रस का उपभोग करने हारे उन (गन्धर्वैः) ज्ञानी पुरुषों के साथ ही (मदते) परम हर्ष को प्राप्त करता है।

विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनान् यमः परि मुष्णाति रेतः।
रथी ह भूत्वा रथयान ईयते पक्षी ह भूत्वाति दिवः समेति ॥४॥

भा०—पूर्वोक्त भावों को और अधिक स्पष्ट करते हैं। (ये विष्टारिणं

३—(द्वि०) 'कुतश्चन', (च०) 'सौम्यैः' इति पैप्प० सं०।
४—(तृ०) 'रथयान ईयते' इति पैप्प० सं०।

(६) छन्दांसि=दिशः, रसः, इन्द्रियाणि, प्राणाः, पशवः । प्रजापतेर्वा एतान्यंगानि यच्छन्दांसि । ऐ० ८ । १८ ॥ लोमानि । श० ६ । ४ । १ । ६ ॥ छन्दांसि सावित्री । गो० पू० १ । ३३ ॥

(७) सत्यम्=ऋतम्, धर्मः, सुकृतस्य लोकः, व्रतस्य रूपम्, देवाः, ब्रह्म, सत्यं वा एतत् यद्वर्षति । तै० १ । ७ । ५ । ३ ॥ असावादित्यः तै० २ । १ । ११ । १ ॥ विशेषविवरणं परिशिष्टे द्रष्टव्यम् ।

अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः शुचिमपि यन्ति लोकम् ।
नैषां शिश्नं प्र दहति जातवेदाः स्वर्गे लोके बहु स्त्रैणमेषाम् ॥२॥

भा०—उक्त प्रकार के प्रजापति की उपासना एवं ज्ञान करने वाले विद्वान् पुरुष (अनस्थाः) अस्थि आदि स्थूल पदार्थों के बने शरीर बन्धन से मुक्त होकर (पवनेन शुद्धाः) पवन, सब के परमपावन परमात्मा की ज्योति से शुद्ध हुए हुए, (शुचयः) वाक् मनः, कर्म सब प्रकार से पवित्र एवं कान्तिमान् होकर (शुचिम् लोकम्) शुद्ध पवित्र, ज्योतिर्मय लोक मोक्ष को (अपि यन्ति) प्राप्त होते हैं । (जातवेदाः) समस्त उत्पन्न लोकों को जानने हारा परमात्मा (एषां) इन मुक्त पुरुषों के (शिश्नं[1]) सुख-प्राप्ति के साधन सामर्थ्यों को (न प्र दहति) दग्ध नहीं करता । इसलिये (स्वर्गे लोके) स्वर्ग=सुखमय लोक में भी (एषां) इन मुक्तात्माओं को (बहु स्त्रैणम्) बहुत से भोग्य लोक प्राप्त होते हैं ।

आत्मज्ञानी अपने सुरक्षित सामर्थ्य से मुक्त होकर यथेच्छ होकर सर्व लोकों में जासकते हैं । जैसा उपनिषद् में लिखा है । "स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ।" छान्दो० । (१० । २५) इस

२–(प्र०) 'अनस्थाः शुद्धाः पवनेन पूताः' इति पैप्प० सं० ।
१. 'शिश्नं श्नथतेः' नि० ४ । ३ । ३ ॥

तत्त्व को न समझ कर अन्य मजहब वालों ने स्वर्ग में अप्सराओं और हूरों की कल्पना की है। वस्तुतः शिश्न-इन्द्रियों के सामर्थ्य का उपलक्षण है और स्त्रियां भोग्य लोकों का उपलक्षण हैं। क्योंकि समस्त आनन्दों का एकायन 'शिश्न' को माना गया है इसलिये उसी का उपादान किया है और श्लेषवृत्ति से "स्त्रैणम्" शब्द से भोग्य पदार्थ को बतलाया गया है। मुक्तात्माओं के देहादि अवयय न होने से शिश्नादि शब्द की भोग-साधन सामर्थ्य में लक्षणा है। इसकी तुलना इसी सूक्त के ४ थें मन्त्र से करो।

विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनानवर्तिः सचते कदा चन।
आस्ते यम उप याति देवान्त्सं गन्धर्वैर्मदते सोम्येभिः ॥ ३ ॥

भा०—(ये) जो मुक्त पुरुष (विस्तारिणं) विस्तृत, विराड् रूप इस (ओदनं) प्रजापति विषयक ज्ञानरूप 'ओदन' को (पचन्ति) परिपक्व करते हैं। उसका अभ्यास करते, पकाते हैं, अपने हृदय में दृढ़ कर लेते हैं (एनान्) उन पुरुषों को (अवर्त्तिः) किसी पदार्थ का अभाव (कदा चन) कभी भी (न सचते) नहीं रहता। मुक्तात्मा पुरुष (यमे) समस्त विश्व के नियामक परमेश्वर में (आस्ते) आश्रय ले लेता है, और (देवान्) पूर्व मुक्त आत्माओं के भी (उप याति) समीप प्राप्त होता है, और (सोम्येभिः) सोम=ब्रह्मानन्द रस का उपभोग करने हारे उन (गन्धर्वैः) ज्ञानी पुरुषों के साथ ही (मदते) परम हर्ष को प्राप्त करता है।

विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनान् यमः परि मुष्णाति रेतः।
रथी ह भूत्वा रथयान ईयते पक्षी ह भूत्वाति दिवः समेति ॥४॥

भा०—पूर्वोक्त भावों को और अधिक स्पष्ट करते हैं। (ये विष्टारिणं

३–(द्वि०) 'कुतश्चन', (च०) 'सौम्यैः' इति पैप्प० सं०।
४–(तृ०) 'रथायान ईयते' इति पैप्प० सं०।

ओदनं पचन्ति) जो उस महान्, विश्वव्यापी, प्रजापति के यथार्थ ज्ञान का परिपाक करते हैं (एनान् रेतः) इनके वीर्य=सामर्थ्य को भी (यमः) वह संसार का व्यवस्थापक (न परि मुष्णाति) नहीं हरता। इसलिये वह (रथी ह भूत्वा) रथ में चढ़े राजा के समान, आत्मवान् होकर (रथयाने) केवल आत्मा द्वारा प्राप्त करने योग्य ब्रह्मलोक में (ईयते) प्राप्त होता है। और (पक्षी ह भूत्वा) ज्ञान और कर्म दोनों सामर्थ्यरूप पक्षों से युक्त, शुद्ध आत्मा होकर (अति दिवः) द्यौलोक, तेजोमय लोक को पार करके (सम् एति) उस ब्रह्म में लीन हो जाता है।

ये वै विद्वांसस्ते पक्षिणो येऽविद्वांसस्तेऽपक्षाः।
त्रिवृत्पञ्चदशावेव स्तोमौ पक्षौ कृत्वा स्वर्गं लोकं प्रयन्ति।
तां० १४ । १ । १३ ॥

एष यज्ञानां विततो वहिष्ठो विष्टारिणं पक्त्वा दिवमा विवेश।
आण्डीकं कुमुदं सं तनोति बिसं शालूकं शफको मुलाली।
एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमाना।
उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ॥ ५ ॥

भा०—(एषः) यह प्रजापति (यज्ञानां) सब आत्माओं में से (वहिष्ठः) सब से अधिक महान् (विततः) सर्वव्यापक है। उस (विस्तारिणम्) व्यापक परमेश्वर विषयक ज्ञान को (पक्त्वा) परिपक्व कर ज्ञानी पुरुष (दिवम्) तेजोमय स्वर्ग=मोक्ष लोक को (आ विवेश) प्राप्त करता है। जिस प्रकार हंस सुन्दर तालाब में गोल २ अण्डाकृति कमल, कमलनाल, कमलकन्द और मृणाल, शफक आदि पद्मविशेष प्राप्त करता

५—'वहिष्ठः'। इति सायणसम्मतः। (प्र०) 'एष यज्ञो विततो वहिष्ठो विष्टारपंक्त्वो दिव' इति पैप्प० सं०।

है उसी प्रकार वह परमहंस मुक्तात्मा मोक्ष-स्थान में (आण्डीकम्) ब्रह्माण्ड में व्याप्त (कुमुदं) आनन्दमय, (बिसं) सब के प्रेरक, (शालूकं) कमलकन्द के समान आनन्दकन्द, (शफकः) ज्ञानघन, (मुलाली) मूल शक्ति जिस में जगत् अंकुरित और लीन होता है इन सब सुख कर पदार्थों को (तनोति) साक्षात् करता है । (एताः सर्वाः धाराः) हे मुमुक्षो ! ये सब समस्त संसार के धारण करने वाली शक्तियें, (त्वा) तुझे (उपयन्तु) प्राप्त हों । और ये सब (स्वर्गे लोके) उस सुखमय लोक में (मधुमत्) आनन्दमय अमृत को (पिन्वमानाः) उत्पन्न करती हुईं (सम् अन्ताः) शुभ परिणाम वाली (पुष्करिणीः) नाना प्रकार से आत्मा को पुष्ट करने वाली शक्तियां (त्वा उप तिष्ठन्तु) तुझे प्राप्त हों ।

इस मन्त्र में 'वहिष्ठ' शब्द आया है । इसका अपभ्रष्ट रूप 'वहिश्त'= स्वर्ग मुसलमान मानते हैं ।

घृतह्रदा मधुकूलाः सुरोदकाः क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना ।
एतास्त्वा० ॥ ६ ॥

भा०—इन धारणशील शक्तिमय रूप धाराओं का स्वरूप दर्शाते हैं । हे मुमुक्षो ! जिस प्रकार जल-धाराएं जल से भरे तालों से युक्त, सुन्दर आनन्दप्रद तटों से सुशोभित, गोदुग्ध आदि से पूर्ण, सुरा के समान मादक द्रव्य से युक्त धारायें और सुन्दर नदियां मनुष्य को आनन्दित करती हैं उसी प्रकार मोक्ष में पूर्वोक्त धारायें (घृतह्रदाः) ज्ञान और तेज के तालावों से भरी, (मधुकूलाः) शहद के समान मधुर रस वाले तटों से सुशोभित, (सुरोदकाः) सुख से रमण करने योग्य परमानन्द रूप जल से भरी, (क्षीरेण पूर्णाः) दुग्ध के समान परम भोग्य रस से परिपूर्ण (उद-

६–' एतास्त्वां तल्पा उपयन्ति विश्वतः स्वर्गे लोके स्वधया मादयन्तीः ' इति पैप्प० सं० ।

केन) ऊर्ध्व गति में प्राप्त करने वाले और (दध्ना) समस्त संसार को धारण करने वाले बल से परिपूर्ण (एताः धाराः सर्वाः त्वा स्वर्गे लोके उपयन्तु) वे सब नाना जगत्-धारक शक्तियां तुझ को सम्पत्ति रूप में प्राप्त हों। और (समन्ताः पुष्करिणीः मधुमत् पिन्वमानाः उप त्वा तिष्ठन्तु) शुभ फलप्रद पुष्टिकारक आत्मशक्तियों की वर्धक शक्तियां भी राजोद्यान में सुन्दर पुखरिनियों के समान आनन्दमय अमृत को उत्पन्न करती हुई तुझे प्राप्त हों।

इसका रहस्य देखो छान्दोग्य उप० में ब्रह्मलोक वर्णन—" ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि तदैरंमदीयं सरस्तदश्वत्थः सोमसवनं, तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितं हिरण्मयम्।" (छा० ८। ५। ३) इसका स्पष्टीकरण देखो १ म खण्ड सामभाष्य की भूमिका में 'सोमदेवता' (पृ० ४१)। बहिश्त या स्वर्ग में घी दूध की नहरों का भाव यहां से अन्य मतावलम्बियों ने लिया है।

चतुरः कुम्भांश्चतुर्धा ददामि क्षीरेण पूर्णां उदकेन दध्ना।
एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमाना उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ॥ ७ ॥

भा०—प्रजापति के प्रतिनिधि यज्ञ में जिस प्रकार चार कलश दूध जल और दही से भर कर रखे जाते हैं उसी प्रकार उस परम ब्रह्मलोक में हे मुमुक्षो! (क्षीरेण) परम भोग्य रस (उदकेन) ऊपर को खैंचने वाली शक्ति से और (दध्ना) धारक शक्ति से (पूर्णान्) पूर्ण (चतुरः) चार (कुम्भान्) घटों के समान आश्रयभूत चारों पुरुषार्थों को (चतुर्धा) चार प्रकार से

७–' चतुर्धा दधामि ' इति सायणसम्मतः पाठः। 'चतुष्कुम्भ्यां चतुर्धा ददाति' इति पैप्प० सं०।

(ददामि) मैं परमात्मा सब जीवों को प्रदान करता हूं। (एतास्त्वा धाराः० इत्यादि पूर्ववत्) ये सब आनन्दधारायें तुझे स्वर्गलोक में भी प्राप्त हों। और सब आनन्द-उत्पादक, आत्मा के शक्ति को पुष्ट करने वाली शक्तियां भी मिलें अतः दृढ़ चित्त होकर आत्म-ज्ञान का सम्पादन कर।

इममोदनं नि दधे ब्राह्मणेषु विष्टारिणं लोकजितं स्वर्गम्।
स मे मा क्षेष्ट स्वधया पिन्वमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघा मे अस्तु ॥ ८ ॥

भा०—मैं परमेश्वर (इमं) इस (विष्टारिणं) सर्वव्यापक (स्वर्गं) सुखमय मोक्षरूप (लोकजितं) समस्त लोकों पर वश करा देने वाले (ओदनं) प्रजापति को (ब्राह्मणेषु) ब्रह्मज्ञानियों में (निदधे) प्रदान करता हूं, उपदेश करता हूं। (स्वधया पिन्वमानः) अमृत से समस्त मुक्तात्माओं को तृप्त करने वाला वह ओदन, प्रजापति का स्वरूप (मे) मुझ मुमुक्षु के लिये (मा क्षेष्ट) नष्ट न हो प्रत्युत (मे) मुझ मुमुक्षु के लिये वही प्रजापति, परमेष्ठी ब्रह्म (विश्वरूपा धेनुः) सब प्रकार की कामधेनु होकर (कामदुघा) समस्त कामनाओं को पूर्ण करने हारी (अस्तु) हो।

---

[३५] प्रजापति की उपासना से मृत्यु को तरना।

प्रजापतिर्ऋषिः। मृत्योरतिक्रमणं देवता। ३ भुरिक्, ४ जगती, १, २, ५–७ त्रिष्टुभः। सप्तर्चं सूक्तम्॥

८–(प्र०) 'इममोदनं पचसि मिश्रधन्वानो' (द्वि०) 'लोकजितीयं स्वर्गं' (तृ०) 'क्षेष्ट सदसिष्यमाणा' इति (च०) 'विश्वरूपा-कामदुघा धेनुरस्तु मे' इति पैप्प० सं०।

यमोदनं प्रथमजा ऋतस्य प्रजापतिस्तपसा ब्रह्मणेऽपचत् ।
यो लोकानां विधृतिर्नाभिरेषात् तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥१॥

भा०—पूर्व सूक्त में कहे ओदन रूप प्रजापति के विराट् सामर्थ्य का और वर्णन करते हैं। (ऋतस्य) मूल भूत ब्रह्म की शक्ति से प्रेरित प्रकृति के भी (प्रथम-जाः) प्रथम उत्पन्न उसके पूर्व विद्यमान (प्रजापतिः) समस्त प्रजारूप अन्य लोकों के परिपालक ईश्वर ने (ब्रह्मणे) इस विशाल मूल-कारण प्रकृति से (यम् ओदनं) जिस ओदन रूप प्रकृति के विकारकारी सामर्थ्य को (अपचत्) परिपक्क रूप में प्रकट किया और (यः) जो (लोकानां) समस्त लोकों को (विधृतिः) विशेष रूप से धारण करने वाली शक्ति और (नाभिः) उन को बांधने, व्यवस्थित रखने वाली केन्द्र शक्ति या उपादानकारण है। (तेन ओदनेन) उस ओदन रूप परमेष्ठी के ज्ञान से (मृत्युम्) मृत्यु को (अति तराणि) पार करूं।

येनातरन् भूतकृतोऽति मृत्युं यमन्वविन्दन् तपसा श्रमेण ।
यं पपाच ब्रह्मणे ब्रह्म पूर्वं तेनौ० ॥ २ ॥

भा०—उसी महान् जगत्-धारक सामर्थ्य को और स्पष्ट रूप से बतलाते हैं। (येन) जिस सामर्थ्य से (भूत-कृतः) समस्त प्राणियों को रचने वाले विश्वस्रष्टा, विद्वान् लोग (मृत्युं) मौत को (अति तरन्) पार कर जाते हैं। और (यम्) जिसको योगी लोग (तपसा) तप से और (श्रमेण) श्रम से (अनु अविन्दन्) उपलब्ध करते और उसका ज्ञान करते हैं। और (यं) जिसको (पूर्वं ब्रह्म) वह पूर्ण ब्रह्म, परमेश्वर (ब्रह्मणे) मूल प्रधान, प्रकृति के निमित्त (पपाच) परिपाक करता है (तेन ओदनेन) उस परम ज्ञानमय सामर्थ्य से (मृत्युम् अति तराणि) मृत्यु को मैं पार करूं।

---

[३५] १-(तृ०) 'नाभिरेका' इति सायणसम्मतः पाठः । 'नाभिरेषाम्' इति क्वचित् ।

यो दाधार पृथिवीं विश्वभोजसं यो अन्तरिक्षमापृणाद् रसेन ।
यो अस्तभ्नाद् दिवमूर्ध्वो महिम्ना तेनौ० ॥ ३ ॥

भा०—(यः) जो वह ओदनरूप सामर्थ्य (विश्व-भोजसं) समस्त संसार के परिपालक (पृथिवीं) इस पृथिवीं को (दाधार) धारण किये हुए है और (यः रसेन) जो अपने रस, सार, बल और मेघादि जल से (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष और उस में विद्यमान वायु आदि पदार्थों को (आ पृणाद्) पूर्ण कर देता है । और जो (महिम्ना) बड़े सामर्थ्य से स्वयं (ऊर्ध्वः) सब से उच्च कोटि पर विराजमान होकर भी (दिवम्) इस सूर्य लोक या द्यौलोक को (अस्तभ्नात्) थामे हुए है । (तेन ओदनेन मृत्युम् अति तराणि) उस ओदन रूप, परम ब्रह्म शक्ति से मैं मृत्यु को पार कर जाऊं ।

यस्मिन्मासा निर्मितास्त्रिंशदराः संवत्सरो यस्मान्निर्मितो द्वादशारः ।
अहोरात्रा यं परियन्तो नापुस्तेनौ० ॥ ४ ॥

भा०—उस ओदन रूप परम शक्ति का काल पर वश बतलाते हैं । (यस्मात्) जिस परम शक्ति से (त्रिंशत्-अराः) तीस दिन रूप अरों सहित (मासाः) मास चक्र (निः-मिताः) बनाये गये अर्थात् जिस शक्ति से प्रति मास ३० वार अपनी कीली पर पृथ्वी को और मास में एक बार पृथ्वी के चारों ओर चन्द्र को घुमाया जा रहा है । और (यस्मात्) जिस उपादान में से (द्वादशारः संवत्सरः) १२ बारह अरों वाला संवत्सर चक्र (निः-मितः) बनाया गया है अर्थात् पृथ्वी को राशियों से अंकित क्रान्ति वृत्त पर १२ मासों में एक बार नियम से घुमाया जा रहा है और (यं) जिस तक (परि-यन्तः) बराबर गति करते हुए, निरन्तर गुजरते हुए (अहोरात्राः) दिन रात भी

४–(तृ०) 'पर्यन्तः' इति सायणाभिमतः ।

(न आपुः) नहीं पहुंचते अर्थात् जिसको समाप्त नहीं कर सकते मैं (तेन ओदनेन मृत्युम् अतितराणि) उस अनन्त, महाकालेश्वर प्रभुरूप ओदन=प्रजापति के बल से मौत को तर जाऊं ।

यः प्राणदः प्राणदवान् बभूव यस्मै लोका घृतवन्तः क्षरन्ति ।
ज्योतिष्मतीः प्रदिशो यस्य सर्वास्तेनौ० ॥ ५ ॥

भा०—(यः) जो वह परम शक्ति (प्राणदः) सब को प्राण, जीवन देने वाला होकर भी (प्राणद-वान्) प्राण देने वाले वायु, सूर्य, जल आदि दिव्य पदार्थों का स्वामी (बभूव) है । (यस्मै) जिसके निमित्त, जिसके बल पर, जिसके शासन से, (घृतवन्तः) तेजस्वी, प्रकाशवान् सूर्य आदि (लोकाः) लोक (क्षरन्ति) जीवन रस को भूमण्डल पर फेंक रहे हैं । और (यस्य) जिसके सामर्थ्य से (सर्वाः प्र-दिशः) समस्त दिशाएं (ज्योतिष्मतीः) ज्योतिर्मय नक्षत्र सूर्यों से जगमगा रही हैं, मैं (तेन, ओदनेन, मृत्युम् अतितराणि) उस परम सामर्थ्यमय, रसरूप शक्ति से मौत को पार करूं ।

यस्मात् पक्वादमृतं सम्बभूव यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव ।
यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥६॥

भा०—(यस्मात्) जिस (पक्वाद्) परिपक्व सामर्थ्य, एवं सुविचारित पुनः २ योग समाधि द्वारा अभ्यास किये गये ब्रह्म से (अमृतम् सम्-बभूव) अमृत, परम मोक्ष रस उत्पन्न होता है। और (यः) जो (गायत्र्याः अधिपतिः बभूव) वेद की मूलभूत गायत्री=परम शक्ति का अधिपति है । और (यस्मिन्) जिस में (विश्व-रूपाः) समस्त प्रकार के (वेदाः) वेदज्ञान (निहिताः) रखे हैं । (तेन ओदनेन मृत्युम् अतितराणि) उस परम ओदन रूप परम बल से मैं मृत्यु को पार करूं ।

५–' प्राणदवां बभूव ' इति सायणसम्मतः पाठः ।

अवं बाधे द्विषन्तं देवपीयुं सपत्ना ये मेऽप ते भवन्तु ।
ब्रह्मौदनं विश्वजितं पचामि शृण्वन्तु मे श्रद्दधानस्य देवाः ॥ ७ ॥

भा०—मैं (देव-पीयुं) दिव्य गुणों और भावों के विनाशक, एवं मेरे इन्द्रिय सामर्थ्यों के प्रतिघातक, (द्विषन्तं) मुझ से अप्रीति करने वाले एवं मेरे अप्रीति के पात्र विरोधी दुर्भावों और दुष्ट पदार्थों को मैं (अव बाधे) अपने अधीन करके उनकी शक्ति को रोक दूं । और (ये मे स-पत्नाः) जो मेरे सपत्न अर्थात् मेरे द्रव्यों पर अपना हक जमाना चाहते हैं ऐसे (ते) वे आक्रामक शत्रु लोग (अप भवन्तु) मुझ से दूर रहें । मैं (विश्वजितं) समस्त विश्व को विजय करने में समर्थ (ब्रह्म-ओदनं) ब्रह्मरूप शक्ति को (पचामि) परिपक्व करता हूं, उसका अभ्यास करता हूं । उसको अपने हृदय में दृढ़ता से जमाता हूं । (देवाः) समस्त विद्वान् लोग (श्रत्-दधानस्य) सत्य को धारण करने हारे (मे) मेरे इस संकल्प का (शृण्वन्तु) श्रवण करें और मुझे इस कार्य में साहाय्य दें ।

इति सप्तमोऽनुवाकः ।

[तत्र पञ्च सूक्तानि, सप्तत्रिंशद् ऋचः ।]



[३६] न्याय-विधान और दुष्टों का दमन ।

चातन ऋषिः । सत्यौजा अग्निर्देवता । १–८ अनुष्टुभः, ९ भुरिक् । दशर्चं सूक्तम् ॥

तान्त्सत्यौजाः प्र दहत्वग्निर्वैश्वानरो वृषा ।
यो नो दुरस्याद् दिप्साच्चाथो यो नो अरातियात् ॥ १ ॥

भा०—न्यायविधान और दुष्टों के दमन करने का उपदेश करते हैं । (सत्य-ओजाः) सत्य के बल को धारण करने वाला न्यायाधीश (अग्निः)

ज्ञानी, अग्नि के समान पापियों को दण्ड देने वाला, (वैश्वानरः) समस्त नरों का हितकारी (वृषा) सत्य, सुखों का वर्षक, एवं धर्मात्मा, न्यायकारी पुरुष (तान्) उन २ को (प्रदहतु) उत्तम रीति से समूल भस्म करे, दण्डित करे। १-(यः) जो (नः) हम में से (दुरस्यात्) दुष्टता का व्यवहार करे, हमें अपने भाइयों को दुर्दुरावे, २-(यः दिप्सात्) जो दूसरों को पीड़ित करे या ठगे, ३ (अथो) और (यः) जो (नः) हम से (अराति-यात्) अराति=शत्रु के समान वर्त्ताव करे, और हमें हमारा अधिकार न दे।

यो नो दिप्सददिप्सतो दिप्सतो यश्च दिप्सति ।
वैश्वानरस्य दंष्ट्रयोरग्नेरपि दधामि तम् ॥ २ ॥

भा०—(नः) हम में से (यः) जो (अदिप्सतः) दूसरे को न ठगने और न हिंसा करने हारे निरपराधी को (दिप्सत्) ठगता और हानि पहुंचाता है और (यः च दिप्सतः) ठगने और मारने वाले को (दिप्सति) ठगता और मारता है (वैश्वानरस्य अग्नेः) सर्व प्रकाशक वैश्वानर=सर्व हितकारी पञ्च, न्यायाध्यक्ष के (दंष्ट्रयोः) दाढ़, दमनकारी हाथों में (तम्) उसको (दधामि) रखूं।

य आगरे मृगयन्ते प्रतिक्रोशे/मावास्ये/ ।
क्रव्यादो अन्यान् दिप्सतः सर्वांस्तान्त्सहसा सहे ॥ ३ ॥

भा०—(ये) जो लोग (आगरे) घर में, (प्रतिक्रोशे) कलह के अवसरों में और (अमावास्ये) एक स्थान पर एकत्र होने के अवसरों और स्थानों में (मृगयन्ते) प्रतिहिंसा के भाव से दूसरों का घात लगाते हैं

[३६] २-‘ दिप्सत् ’, ‘ दीप्सात् ’ इति क्वचित् ।
३-(तृ०) ‘ दिप्सन्ति ’ इति सायणाभिमतः पाठः ।

और (अन्यान्) और अपरिचित लोगों को भी (दिप्सतः) हिंसा करने वाले (क्रव्यादः) परमांसभोजी, विना अधिकार के दूसरे का माल चुराने और छीनने वाले हैं (तान् सर्वान्) उन सबों को (सहसा) अपने बल से मैं शासक (सहे) अपने नीचे दबा दूं ।

सहे॑ पिशा॒चान्त्सह॒सैषां॒ द्रवि॑णं ददे ।

सर्वा॑न् दुर॒स्यतो॑ हन्मि॒ सं म॒ आकू॑तिर्ऋध्यताम् ॥ ४ ॥

भा०—(पिशाचान्) मांसभक्षी पशुओं के समान दूसरों के धनापहरण और प्राण और शरीर पर आक्रमण करने वाले लोगों को (सहे) मैं वश करूं और (एषां) इनका (द्राविणं) सब माल (ददे) मैं इन से ले लूं । (दुरस्यतः) दुष्टता का कार्य करने वाले (सर्वान्) सबों को (हन्मि) मैं मारूं, दण्ड दूं । जिससे (मे) मेरी (आकूतिः) उत्तम संकल्प, शुभ शिक्षा (संऋध्यताम्) खूब अच्छी प्रकार से सफल हो । राजा दुष्टों को इसलिये दमन करे कि प्रजा में सत् शिक्षा का कार्य सफल हो ।

ये दे॒वास्ते न॒हास॑न्ते॒ सूर्ये॑ण मिमते ज॒वम् ।

न॒दीषु॒ पर्व॑तेषु॒ ये सं तैः प॒शुभि॑र्विदे ॥ ५ ॥

भा०—दुष्ट चोरों का पता कैसे लगावें । (ये देवाः) जो विद्वान् पुरुष, गुणी (तेन) उस दुष्ट पुरुष के साथ (हासन्ते) हंसी, क्रीड़ा, विनोद, करते हैं और तो भी (सूर्येण) सूर्य के समान सर्वप्रकाशक राजा के साथ (जवम्) अपनी गति मति (मिमते) जोड़े रखते हैं और जो (नदीषु)

४–' सहसा आ एषाम् ' इति पदच्छेदो ह्विटनिकामितः । (च०) ' स नः ' इति सायणाभिमतः ।

५–प्रक्षिप्ता ऋक् इति ग्रिलः, विकृतेति लैन्मनः ।

नदियों के तटों पर तीर्थ स्थानों और घाटों पर और (पर्वतेषु) पर्वतों में में भी तपस्या आदि करते हैं उन (पशुभिः) देखने वाले पशु=गुप्त चरों के द्वारा उस चोर दुष्ट पुरुष को (विदे) पता लगा लूं और पकड़ लूं। राजा भले पुरुषों को सदा दुष्टों के पीछे नदियों पर्वतों में भी लगाये रखे और उन से उस का पता लगा कर पकड़ ले।

तपनो अस्मि पिशाचानां व्याघ्रो गोमतामिव।
श्वानः सिंहमिव दृष्ट्वा ते न विन्दते न्यञ्चनम् ॥ ६ ॥

भा०—मैं (पिशाचानां) मांसभक्षी, और डाकू लोगों का (तपनः) संताप करने वाला, (गोमताम्) गोपालकों के लिये (व्याघ्रः इव) वाघ के समान त्रास देने वाला (अस्मि) हूं। (सिंहम्) सिंह को (दृष्ट्वा) देख कर (श्वानः, इव) जिस प्रकार कुत्ते घबरा उठते हैं और चैन नहीं पाते उसी प्रकार वे मुझ दमनकारी पुलिस आफीसर का नाम सुन कर (न्यञ्चनम्) चैन या छुपने के लिये शरण भी (न विन्दते) नहीं पाते बल्कि इधर उधर भागते हैं।

न पिशाचैः सं शक्नोमि न स्तेनैर्न वनर्गुभिः।
पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति यमहं ग्राममाविशे ॥ ७ ॥

भा०—मैं (पिशाचैः) पिशाच डाकुओं के साथ (न सं शक्नोमि) संधि कर के नहीं रह सकता हूं, (न स्तेनै) चोरों के साथ भी संधि नहीं कर सकता, (न वनर्गुभिः) अपराध करके जंगल में छिप कर रहने वाले, छापा मारने वाले डाकुओं के साथ भी संधि नहीं कर सकता। इसीलिये (यम् ग्रामं) जिस ग्राम में (अहं) मैं (आ विशे) पहुंच जाता हूं

६–' तेऽनुविन्दते न्यञ्चनम् ' इति सायणसम्मतः पाठः।
७–(तृ०) ' नश्यन्तु ' इति सायणाभिमतः।

(पिशाचाः) वे हत्यारे, परद्रव्य-प्राणापहारी डाकू लोग (तस्मात्) उस वस्ती से ही (नश्यन्ति) भाग जाते हैं ।

यं ग्राममाविशत इदमुग्रं सहो मम ।
पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति न पापमुपं जानते ॥ ८ ॥

भा०—(मम) मेरा (उग्रं) भयंकर, बलवान् (इदम्) यह (सहः) दमनकारी बल (यं ग्रामम्) जिस ग्राम या बस्ति में भी (आ विशते) पहुंच जाता है (तस्मात् पिशाचाः नश्यन्ति) उस ग्राम से ही डाकू भाग जाते हैं । वहां के लोगों पर वे (पापम्) पाप, दुष्टाचार और लूट पाट (न उपजानते) करना ही नहीं जानते. वहां ये बदमाशी करना भूलजाते हैं, या वहां के लोग बुराई का नाम भी नहीं जानते ।

" न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो नानाहिताग्निर्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः " छान्दोग्य उप० ॥ मेरे राज्य में न चोर, न लुटेरा, न अयाज्ञिक, न व्यभिचारी है, फिर व्यभिचारिणी भी कहां से हो ।

ये मां क्रोधयन्ति लपिता हस्तिनं मशका इव ।
तानहं मन्ये दुर्हितान् जने अल्पशयूनिव ॥ ९ ॥

भा०—(मशकाः) मच्छर जिस प्रकार (हस्तिनम् इव) हाथी को कुपित कर देते हैं उस प्रकार (ये) जो (मां) मुझ दमनकारी, सत्यनिष्ठ राजा को (लपिताः) व्यर्थ झूंठे मूंठे, चुगलखोर, व्यर्थ बक झक करके (क्रोधयन्ति) क्रुद्ध कर देते हैं (तान्) उनको (अहं) मैं (जने) राष्ट्रवासी जनता में (अल्पशयून्) स्वल्पवृत्ति, तुच्छस्वभाव के छिद्रान्वेषी

९–(प्र०) 'ये मां क्रोधयन्ति लिपिताः', (तृ०) ' मन्ये दुर्हितान् ' इति सायणसम्मतौ पाठौ ।

छोटे २ बिलों में रहने वाले, हानिकारक कीड़ों या मूसों के समान (दुर्हितान्) सदा दुःखकारी अनिष्टजनक (मन्ये) समझता हूं ।

राजा खुशामदी लोगों पर कान न दे, वे प्रजा के बड़े अपकारी होते हैं ।

अभि तं निर्ऋतिर्धत्तामश्वमिवाश्वाभिधान्या ।
मल्वो यो मह्यं क्रुध्यति स उ पाशान्न मुच्यते ॥ १० ॥

भा०—(अश्वाभिधान्या) घोड़े को बांधने वाली रस्सी से जिस प्रकार (अश्वम् इव) अश्व को बांध लिया जाता है उसी प्रकार (निर्ऋतिः) पापों को रोक देने वाली दमनकारिणी शक्ति (तं) उस पापी पुरुष को (अभि धत्ताम्) सब ओर से जकड़ ले । और (यः) जो (मल्वः) मलिन हृदय, दुष्ट-चित्त वाला [मैलिग्नेंट या मैलीशस] (मह्यं) मेरे विरुद्ध (क्रुध्यति) क्रोध प्रकट करता है (स उ) वह कभी (पाशात्) पाश, दमन, क़ैद आदि क़ानूनी दगड से (न मुच्यते) छूटने नहीं पाता ।

---

[३७] हानिकारक रोग-जन्तुओं के नाश का उपदेश ।

बादरायणिर्ऋषिः । अजशृङ्गी अप्सरो देवता । १, २, ४, ६, ८–१० अनुष्टुभौ । ३ त्र्यवसाना षट्पदी त्रिष्टुप् । ५ प्रस्तार पंक्तिः । ७ परोष्णिक् । ११ षट्पदा जगती । १२ निचृत् । द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

त्वया पूर्वमथर्वाणो जघ्नू रक्षांस्योषधे ।
त्वया जघान कश्यपस्त्वया कण्वो अगस्त्यः ॥ १ ॥

१०–(च०) ' मुच्यसे ' इति सायणाभिमतः ।

[३७] २–(द्वि०) ' चातयामसि ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—जनता को हानि पहुंचाने वाले रोग जन्तुओं को नाश करने का उपदेश करते हैं। हे (ओषधे) ओषधे !. रोग-जन्तु-नाशक औषध ! (त्वया) तेरे द्वारा (अथर्वाणः) अहिंसक, विद्वान् (रक्षांसि) जीवन के सुख में विघ्न करने वाले रोग जन्तुओं को (जघ्नुः) विनाश करते हैं (त्वया) तेरे द्वारा (कश्यपः) सूर्य के समान ज्ञानी, सर्वद्रष्टा विद्वान् (जघान) रोग जन्तुओं का नाश करता है और (कण्वः) वायु के समान कण २ करके ज्ञान प्राप्त करने और खोल कर रहस्य का उपदेश करने वाला विद्वान् भी तेरे बल पर उनका नाश करता है और (अगस्त्यः) सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष भी तेरे द्वारा जन्तुओं का नाश करता है।

त्वया॑ व॒यम॑प्स॒रसो॑ गन्ध॒र्वांश्चा॑तयामहे ।
अज॑शृङ्ग्यज॒ रक्ष॒: सर्वा॑न् ग॒न्धेन॑ नाशय ॥ २ ॥

भा०—हे (अजशृङ्गी) अजशृङ्गि=काकड़ासींगी नामक ओषधे ! (त्वया) तुझ से (वयम्) हम (अप्सरसः) जल में फैलने वाले रोगों और (गन्धर्वान्) वायु में फैलने वाले रोगों को भी (चातयामः) विनाश करते हैं। तू अपने रोगनाशक स्वभाव से (सर्वान् रक्षः) सब रोगों को (अज) दूर कर और (गन्धेन विनाशय) गन्ध से परे भगा दे।

अजशृङ्गी के गुण—वातहर, कास, श्वास, राजयक्ष्मा, वमन, तृष्णा, अरुचि, अतिसार, चक्षुर्दोष, हृद्रोग, अर्श, शोष, अतिकुष्ठ आदि का नाश करती है। इसके जलाने से तीक्ष्ण गन्ध होता है। मच्छर आदि भाग जाते हैं।

न॒दीं य॑न्त्वप्स॒रसो॒ऽपां ता॒रम॑वश्व॒सम् ।
गु॒ल्गु॒लूः पीला॑ नल॒द्यौ॒३॒॑क्षग॑न्धिः प्रम॒न्द॒नी ।
तत् परे॑ताप्सरस॒: प्रति॑बुद्धा अभूतन ॥ ३ ॥

३–(द्वि०) ' अपां तारमिव स्वसम् ' (प्र०) ' प्रतिबद्धाः ' इति पाठभेदौ सायणसम्मतौ । ' प्रवन्धनी ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(अप्सरसः) जलों में फैलने वाली व्याधि कीट (अपां तारं) जलों से भरी हुई (अवश्वसम्) नीचे की ओर वेग से वहने वाली (नदीं) नदी में (यन्तु) बहा दिये जांय । उनको अपने स्थान से निकालने के लिये पांच पदार्थ हैं । १-(गुल्गुलूः) गूगल, २-(पीला) पीला, ३-(नलदी) नलदी नामक ओषधि, ४-(औक्षगन्धिः) औक्षगन्धि और, ५-(प्रमन्दनी) प्रमन्दनी । हे (अप्सरसः) जल में फैलने वाले रोगो ! तुम इनकी गन्धों से (प्रतिबुद्धाः) सजग हो कर, चेत कर, व्याकुल (अभूतन) हो जाओ और (तत्) तभी (परा-इत) तुम हमारे नगर ग्राम और घरों को छोड़ कर चले जाओ ।

गुग्गल=सुगन्ध, कृमिनाशक है। पीला=पीलु, विषनाशक, लनदी=मांसी या जटामांसी, इसके तीन भेद हैं १ मांसी, २-गंधमांसी, ३-आकाशमांसी, तीनों विष, भूनदाह और ज्वर के विनाशक और मकड़ी आदि जन्तु नाशक हैं। अक्षौगन्धि मांसी का दूसरा भेद है, जिसको गंधमांसी लिखा है ।

प्रमन्दनी=प्रमोदनी, मल्लिका है जो गन्ध से पूर्ण होती है कुष्ठ, विस्फोट, कण्डू, विष, व्रण का नाशक है। उक्त ओषधियों के बल पर रोगकारी जन्तुओं का नाश करके उनको पुनः जल के नालों द्वारा नदी में बहा देना चाहिये। नगरों में ' ड्रेनिज सिस्टम ' से कार्य लेना चाहिये ।

यत्राश्वत्था न्यग्रोधा महावृक्षाः शिखण्डिनः ।
तत् परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ ४ ॥

भा०—(यत्र) जहां (अश्वत्थाः) पीपल (न्यग्रोधाः) और वट आदि महावृक्ष और (शिखण्डिनः) मोर या चूड़ामणि या काकमाची के पौधे हैं (तत्) वहां से हे (अप्सरसः) प्रजाओं में फैलने वाली व्याधियो ! (परा-इत) भाग जाओ और (प्रति-बुद्धाः अभूतन) इन वृक्षों से व्याकुल होकर रहो । चूड़ामणि का वीर्योष्णा, विष वैषम्यजन्तुघ्नी, रोगग्रामभयापहा ।

यत्रं वः प्रेङ्खा हरिता अर्जुना उत यत्राघाटाः कर्कर्यः संवदन्ति ।
तत् परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ ५ ॥

भा०—और (यत्र) जहां (वः) तुम्हारे लिये (प्रेङ्खाः) हिलते झुलते (हरिताः) हरे (अर्जुनाः) अर्जुन वृक्ष हैं (उत) और (यत्र) जहां (आघाटाः) बड़े बल से पीटे गये (कर्कर्यः) नगाड़े आदि (संवदन्ति) बजते हैं (तत्) वहां से भी हे (अप्सरसः) प्रजा में फैलने वाली व्याधियो ! तुम (परा-इत) भाग जाओ और (प्रतिबुद्धाः अभूतन) व्याकुल और नष्ट हो जाओ ।

एयमगन्नोषधीनां वीरुधां वीर्यावती ।
अजशृङ्ग्यराटकी तीक्ष्णशृङ्गी व्यृषतु ॥ ६ ॥

भा०—(वीरुधां) विशेष प्रकार से क्षुपरूप में भूमि पर अंकुरित होने वाली, (ओषधीनां) ओषधियों में से सब से अधिक (वीर्यावती) वीर्यवाली (इयम्) यह (अजशृङ्गी) अजशृङ्गी=काकड़ासिंगी (आ अगन्) हमें प्राप्त हुई है यह गुणों में (अराटकी) रोगनाशक (तीक्ष्ण-शृंगी) तीक्ष्ण स्वभाव होने से रोग जन्तुओं को विनाश करती है । वह (व्यृषतु) रोग जन्तुओं को नाना प्रकार के उपचारों से विनाश करे ।

आनृत्यतः शिखण्डिनो गन्धर्वस्याप्सरापतेः ।
भिनद्मि मुष्कावपि यामि शेपः ॥ ७ ॥

भा०—(आ-नृत्यतः) चारों ओर नाचते कूदते (शिखण्डिनः) चोटी वाले (गन्धर्वस्य) गन्ध के पीछे जाने वाले, रोग फैलाने वाले (अप्सरा-

---

५–' यत्र वोखुसा, हरिताङ्जुना घाटाः कर्करी असंवदन्ति ' इति पैप्प० सं० ।
६–' अपतेतोऽप्सरसो गन्धर्वा यत्र वो गृहाः ' इति अधिकः पाठः पैप्प० सं० ।
७–' इयं वीरुच्छिख- ' इति पैप्प० सं० ।

पतेः) मादा रोगकीट के पति अथवा फैलने वाले रोगों को अपने भीतर पालने वाले जन्तु के (मुष्कौ भिनद्मि) वीर्योत्पादक अण्डकोशों को तोड़ डालूं और (शेपः अपि यामि) प्रजनन अंग का नाश कर दूं। इससे रोग-जनक कीट अपनी सन्तति न बढ़ा सकेंगे, रोग फैलना बन्द हो जायगा। इनको वीर्यहीन, निस्सन्तान करने के लिये ऐसी ओषधियों का प्रयोग करना चाहिये कि इनके सन्तान-उत्पादक अंग ओषधि के घातक प्रभाव से फट जांय।

भीमा इन्द्रस्य हेतयः शतमृष्टीरयस्मयीः ।
ताभिर्हविरदान् गन्धर्वानवकादान् व्यृषतु ॥ ८ ॥

भा०—रोगजनक कीट किस प्रकार जलों में फैलने वाले रोगांशों को उत्पन्न करते हैं और उनका विनाश कैसे करें सो लिखते हैं। (इन्द्रस्य) सूर्य की (शतम्) सैकड़ों (ऋष्टीः) किरणें (भीमाः) उग्र होकर (अयस्मयीः) लोहे की बनी (ऋष्टीः) तेज़ धार वाली किर्चों के समान तीक्ष्ण (हेतयः) नाशकारी हैं। (ताभिः) उनसे (हविरदान्) अन्नों को खाने वाले और (अवकादान्) अवका=जल पर उतराने वाली काई को खा लेने वाले कीड़ों को सूर्य (व्यृषतु) नष्ट करे। इसी प्रकार—

भीमा इन्द्रस्य हेतयः शतमृष्टीर्हिरण्ययीः ।
ताभिर्हविरदान् गन्धर्वानवकादान् व्यृषतु ॥ ९ ॥

भा०—(इन्द्रस्य हिरण्ययीः ऋष्टीः) सूर्य की स्वर्ण के समान चमकने वाली तीक्ष्ण किरणें भी (शतम्) सैकड़ों (भीमाः हेतयः) भयानक रूप से रोग नाश करने वाली हैं। (ताभिः हविरदान् अवकादान्) उनकी सहायता से अन्नों पर भोग लगाने वाले और जल पर उतराने वाली काई पर आहार करने वाले (गन्धर्वान्) कीड़ों को सूर्य (व्यृषतु) विनाश करे।

८–(द्वि०) 'शतपृष्टीः', 'ताभिरभिह्वदान्' इति सायणसम्मतः पाठः।

अवकादानभिशोचानप्सु ज्योतय मामकान्।
पिशाचान् सर्वानोषधे प्र मृणीहि सहस्व च ॥ १० ॥

भा०—शरीर-गत रोग जन्तुओं पर ओषधि का प्रयोग बतलाते हैं। हे ओषधे ! (अवकादान्) काई [फंगस] पर आहार करने वाले (अभिशोचान्) सब तरफ देह में दाह उत्पन्न करने वाले (मामकान्) मेरे शरीर में बैठे रोग-कीटों को (अप्सु) शरीर-गत जलों, रुधिर में ही (ज्योतय) विनष्ट कर अथवा हे ओषधे ! (ज्योतय मामकान्) जल में चमचमाने वाले (सर्वान् पिशाचान्) सब पिशाचों, शरीर के रक्त मांस पोषण करने वाले रोग जन्तुओं को (प्र मृणीहि) विनाश कर (सहस्व च) और उनको दबा।

श्वेवैकः कपिरिवैकः कुमारः सर्वकेशकः।
प्रियो दृश इव भूत्वा गन्धर्वः सचते स्त्रियस्-
तमितो नाशयामसि ब्रह्मणा वीर्यावता ॥ ११ ॥

भा०—रोगकीटों के रूपों का वर्णन करते हैं। (एकः श्वा इव) एक गन्धर्व नामक रोगकीट कुत्ते के समान, उस के स्वभाव वाला या उस के आकार वाला है, और (एकः) एक (कपिः, इव) बन्दर के समान है यह (कुमारः) बड़ी कठिनता से प्राण त्याग करता एवं बुरी तरह से अपने शिकार रोगी को मारता है। (सर्वकेशकः) उस के समस्त शरीर पर रोम होते हैं। जिस प्रकार सर्वाङ्ग सुन्दर केश बनाये कुमार=नवयुवक, आंखों

१०–' अप्सुद्योतय ' इति सायणसम्मतः पाठः। ' अवकाशमभिशाचो विच्छि घातयमानकान गन्धर्वान् सर्वान् ओषधे कृणुतस्त्वपरायणः ' इति पैप्प० सं०। ' ज्योतयमामकान् ' इति एकं पदम् इति सर्वत्र। ' ज्योतयमानकान् ' इति लैन्मनानुमितः पाठः।

के आगे दर्शनीय सुन्दर वेश बना कर अपनी कुत्ते की सी कामप्रियता और बन्दर की सी कुरूपता को छिपा कर स्त्रियों में विचरता और उन के मन हरता है उसी प्रकार ये रोगकीट भी (दृशः) चक्षु के (प्रियः इव) प्रिय होकर (स्त्रियः) अपनी मादा जन्तुओं पर (सचते) जाता है उस को (वीर्यावता) वीर्यवाली (ब्रह्मणा) 'ब्रह्म' नामक ओषधि या वेद ज्ञान से (इतः) यहां से इस नगर, ग्राम, गृह, शरीर से (नाशयामसि) हम विनाश करें ।

जाया इद् वो अप्सरसो गन्धर्वाः पतयो यूयम् ।
अप धावतामर्त्या मर्त्यान् मा सचध्वम् ॥ १२ ॥

भा०—हे (गन्धर्वाः) गन्धर्वो ! (यूयम्) तुम लोग (पतयः) पति हो और (अप्सरसः) अप्सराएं (वः) तुम्हारी (जाया इत्) स्त्रियां ही हैं अथवा—(पतयः यूयम् गन्धर्वाः) तुम पति लोग सब गन्धर्व हो और (वः जाया इत् अप्सरसः) तुम्हारी स्त्रियां ही अप्सराएं हैं । इसी प्रकार इन रोग-जन्तुओं में भी (यूयम्) तुम जो (पतयः) नर (गन्धर्वाः) गन्धर्व कहाते हो और (वः जायाः) तुम्हारी सन्ततियों के पैदा करने वाली मातायें (इत्) ही (अप्सरसः) अप्सरस् कहाती हैं । परन्तु तुम (अमर्त्याः) बिना मरे ही (अप धावत) इस शरीर से दूर भाग जाओ, और (मर्त्यान्) तुम्हारे कारण मृत्यु को प्राप्त होने वाले इन मनुष्यों को (मा सचध्वम्) मत पकड़ो ।

इस सूक्त का प्रतीयमान वैद्यक विषयक अर्थ कह दिया अब अध्यात्म परक अर्थ की दिशा दर्शाते हैं ।

१—कश्यप, कण्व और अगस्त्य आंख, कान, नाक आदि प्राणाङ्ग अथर्वा=इन्द्रियों ने अजशृङ्गी=आत्म शक्ति नामक ओषधि से जीवन के विघ्नों

१२—' अपक्रामत पुरुषादमर्त्या ' इति पैप्प० सं० ।

को नाश किया । २–उसी आत्म शक्ति से कर्म में लगने वाली अप्सराओं कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रिय गन्धर्वों या इन्द्रियों और प्राणादि गन्धर्वों को वश किया । ३ ये अप्सराएं अवश्वस=प्राण लेने वाले (अपां तारं) कर्मों के कर्त्ता, शरीर रूप नदी में बहती हैं इन के नाम हैं गुल्गुलू=रसना, पीला=चक्षु, नलदी=कान, औक्षगन्धि=नासिका, प्रमन्दिनी=त्वचा। ये प्रतिबुद्ध होकर (परेत) दूर तक जांय । ४, ५–और नाना विषयों का आलोचन करें । ६ इन सब में अजशृङ्गी=चेतना प्रबल है । ७ नाचते हुए बड़े गन्धर्व मन को वश करो उसको दोनों अण्डकोश राजस और तामस भावों को नष्ट करके उसे शेपः=ज्ञानमय सात्विक भावों को प्राप्त कराओ । ८, ९–हविरद=विषयोपसेवी और अवकाद=रस लोलुप गन्धर्वों को इन्द्र आत्मा परमात्मा की अयस्मयी=प्राणमय हिरण्ययी-ज्ञानमय शक्ति साधनाओं से वश करो । १०–इन इन्द्रियों को और भी ज्योति युक्त बनाओ और इनमें पिशाच=विषय-लोलुपों को उस आत्मा की शक्ति से दबाओ । ११-वह मन कुत्ते के समान कामी और बन्दर की तरह से चञ्चल है । वह कुमार=काबू न आने वाला अदम्य, सर्वगामी होकर इन्द्रियों में विचरता है उस को प्रबल ब्रह्मज्ञान से हम दबावें । १२–ये आत्मा गन्धर्व और अप्सरस, प्राण वृत्तियां और इन्द्रियवृत्तियां अमर्त्य= अविनाशी हैं । ये मर्त्य=शरीर में लिप्त न रहें प्रत्युत अन्तर्लीन होकर आत्मा को सबल करें ।



[३८] द्यूत क्रीड़ा के दृष्टान्त से चितिशक्ति का वर्णन ।

बादरायणिर्ऋषिः । अप्सरो ग्लहाश्च देवताः । १, २ अनुष्टुभौ, ३ षट्पदा त्र्यवसाना जगती । ५ भुरिग् जगत्यष्टिः, ६ त्रिष्टुप्, ७ त्र्यवसाना पञ्चपदाऽनुष्टुब् गर्भा परोपरिष्टान् ज्योतिष्मती जगती । सप्तर्च सूक्तम् ॥

उद्भिन्दतीं सञ्जयंन्तीमप्सरां साधुदेविनीम् ।
ग्लहे कृतानि कृण्वानामप्सरां तामिह हुवे ॥ १ ॥

भा०—चौपड़ खेलने वाली स्त्री के दृष्टान्त से चितिशक्ति का वर्णन करते हैं । जिस प्रकार शर्तें रख २ कर कोई जूआ खेलने में चतुर स्त्री कृत=जय-चिह्नों को बराबर फेंकती है उसी प्रकार हमारी यह चितिशक्ति भी (उद्-भिन्दतीम्) हृदय ग्रन्थियों को खोलती हुई, (साधु-देविनीम्) उत्तम रूप से प्रकाशमान ज्योतिष्मती प्रज्ञा (सं-जयन्तीम्) सब अन्य मानस वृत्तियों पर वश करती हुई (अप्सराम्) ज्ञानों और कर्मों में शक्ति रूप में व्यापक होकर (ग्लहे) चौपड़ के खेलने के कार्य के समान इस 'ग्रहे' इन्द्रियों के व्यापार में (कृतानि कृण्वानाम्) कृत, त्रेता, द्वापर, कलि आदि के चिह्नों से अंकित अक्षों के समान इन प्राण इन्द्रियों के द्वारा कर्म करती हुई (अप्सरां) रूपवती कन्या के समान (अप्सराम्) कर्म और ज्ञान में शक्ति रूप से व्यापक चितिकला को (इह) इस योगसाधनामय कर्म के अवसर पर (हुवे) स्मरण करता हूं ।

विचिन्वतीमाकिरन्तीमप्सरां साधुदेविनीम् ।
ग्लहे कृतानि गृह्णानामप्सरां तामिह हुवे ॥ २ ॥

भा०—जिस प्रकार मुग्ध पुरुष किसी (साधु-देविनी) खूब जूआ खेलने वाली (विचिन्वतीम् आकिरन्तीम्) पासों को समेट २ कर पुनः फेंकती हुई अप्सरा को (ग्लहे) पासा खेलते समय (कृतानि गृह्णानाम्) कृत त्रेता आदि के बने चिह्नों वाले पासों में से कृत चिह्नाङ्कित को ही फेंकते देखता है और उस पर मुग्ध हो जाता है उसी प्रकार मैं साधक इस देह में भी अक्ष=इन्द्रियों के संग क्रीड़ा करने वाली इस (अप्सराम्) ज्ञानों में व्यापक (साधुदेविनीम्) उत्तम रूप से प्रकाशन करने वाली, स्वयं ज्योतिष्मती होकर इन्द्रियों को बार बार (विचिन्वतीम् आ-किरन्तीम्) चुन २ कर उठाती

उनको अपने में समूहित करती और पुनः बखेरती या बाहर विषयों पर फेंकती और (ग्लहे) इस अक्षक्रीड़ा रूप इन्द्रिय व्यापार में (कृतानि) अपने किये कर्मों या प्राणों को स्वयं (गृह्णानाम्) स्वीकार या वश करती हुई (ताम् अप्सराम्) उस अलौकिक चेतना शक्ति का (इह हुवे) इस योग समाधि के अवसर में (हुवे) स्मरण करता हूं ।

याऽयैः परिनृत्यत्याददाना कृतं ग्लहात् ।
सा नः कृतानि सीपती प्रहामाप्नोतु मायया ।
सा नः पयस्वत्यैतु मा नो जैपुरिदं धनम् ॥ ३ ॥

भा०—जिस प्रकार कोई रूपवती स्त्री (अयैः) पासों से खेलती हुई (परिनृत्यती) मारे खुशी के नाचती २ (ग्लहात्) चौपड़ के स्थान से (कृतं आददाना) कृत-चिह्न को बराबर लेती जाती है । और (कृतानि सीपती) कृत चिह्नों को लेती लेती ही (मायया) माया से (प्रहाम्) आखिरी बाजी को भी मार लेती है और सब खेलने वाले चाहा करते हैं कि वह स्त्री उनके तरफ़ से खेले जिससे और जूएखोर उनका धन न खेंच ले जांय इसी प्रकार यह चिति शक्ति भी अजब जूआ खेल रही है । (या) जो चिति शक्ति (अयैः) जूआ खेलने के साधन पासों के समान सदा गतिमान इन इन्द्रियों से (ग्लहात्) इस अक्ष व्यापार रूप इन्द्रियों के विषय ग्रहण रूप व्यापार में (परिनृत्यती) बराबर नाचती हुई प्रसन्न होकर (कृतं आददाना) अपने किये कार्य या मुख्य प्राण को अपनाती है वही (नः) हमारे (कृतानि) किये कर्मों को (सीपती) एक शृंखला में बांधती हुई भी (मायया) बुद्धि शक्ति से या ज्ञानमयी मुद्रा से सब कर्मों को नाश करने वाली अन्त में कर्म हानि रूप दशा को भी प्राप्त कर लेती है । (सा) वह

[३८] ३–' कृतानि शेपन्ती ' इति सायणसम्मतः पाठः । ' सा नः पयस्वती'ति चरणतुर्थ्यां सह सायणेन व्याख्यातः ।

(पयस्वती) आनन्द-रस वाली (नः एतु) हमें प्राप्त हो जिससे बाह्य विषय (नः) हमारे (इदं धनं) इस आत्म-ज्ञान रूप धन को (मा जैषुः) न हर ले जांय ।

या अक्षेषु प्रमोदन्ते शुचं क्रोधं च बिभ्रती ।
आनन्दिनीं प्रमोदिनीमप्सरां तामिह हुवे ॥ ४ ॥

भा०—(या) जिसके द्वारा चित्तवृत्तियां (अक्षेषु) पासों के समान चञ्चल, विषयों पर जाने वाली इन्द्रियों में व्याप्त होकर (प्रमोदन्ते) प्रसन्न होती हैं और (शुचं) शोक और (क्रोधं च) क्रोध को भी (बिभ्रती= बिभ्रति) धारण करती हैं । (ताम्) उस (आनन्दिनीं) आनन्द उत्पन्न करने हारी, (प्रमोदिनीं) प्रमोद करने हारी (अप्सरां) सब ज्ञानों, कर्मों में व्यापक चितिशक्ति को (इह हुवे) इस योगाभ्यास काल में स्मरण करता हूं ।

सूर्यस्य रश्मीननु याः संचरन्ति मरीचीर्वा या अनु संचरन्ति ।
यासामृषभो दूरतो वाजिनीवान्त्सद्यः सर्वान् लोकान् पर्यैति रक्षन् ।
स न ऐतु होममिमं जुषाणो३न्तरिक्षेण सह वाजिनीवान् ॥ ५ ॥

भा०—अब सूर्य के दृष्टान्त से आत्मा का वर्णन करते हैं । (याः) जो चित्तवृत्तियां (सूर्यस्य) अन्तरिक्ष में प्रकाशमान सूर्य के समान भीतरी हृदयाकाश में प्रकाशमान प्राणात्मा सूर्य की (रश्मीन्) किरणों के समान इन्द्रियों को बांधने वाली रश्मि=रस्सियों–आत्म शक्तियों के (अनु-सं-चरन्ति) अनुकूल वश होकर भोग्य पदार्थों में विचरती हैं, (वा) और

४–' या अक्षेषु प्रमोदते ' इति सायणसम्मतः पाठः ।
५–' सूर्यस्यरश्मीननु ' इत्यादि प्रथमश्चरणः सायणेन चतुर्थ्या ऋचो द्वितीय चरणेन सहैकीकृत्य व्याख्यातः ।

(याः) जो सूर्य के समान प्रकाशमान आत्मा के (मरीचीः) प्रभा और सात्विक शक्तियों के (अनु-संचरन्ति) वश होकर गति करती हैं । (यासाम्) जिनका (ऋषभः) आत्मा सूर्य, स्वामी (वाजिनीवान्) उनकी ज्ञान-कर्म-मय वाज=बल को भी रखने वाली शक्ति बुद्धि का भी स्वामी होकर उनसे (दूरतः) दूर अवाङ्-मनस-गोचर है वह (सद्यः) शीघ्र ही उनको (रक्षन्) अपने साथ रखता हुआ भी (सर्वान् लोकान्) समस्त काम्य लोकों को (परि-एति) भ्रमण करता है । वह (वाजिनी-वान्) बुद्धि का स्वामी हमारे (इमं होमम्) इस होम=जीवनमय या प्राणापानाहुति रूप आध्यात्म यज्ञ को (जुषाणः) स्वीकार करता हुआ (अन्तरिक्षेण सह) समस्त भीतरी हृदय भूमि के व्यापक परमात्मा के सामर्थ्य के साथ (नः आ एतु) हमें (साक्षात्) प्राप्त हो ।

अ॒न्तरि॑क्षेण स॒ह वा॑जिनीवन् क॒र्की व॒त्सामि॒ह र॑क्ष वाजिन् ।
इ॒मे ते॑ स्तो॒का ब॑हु॒ला एह्य॒र्वाङि॒यं ते॑ क॒र्कीह॒ ते॒ मनो॑ऽस्तु ॥ ६ ॥

भा०—हे (वाजिनीवन्) चिति शक्ति, बुद्धि शक्ति के स्वामिन् ! हे (वाजिन्) ज्ञानवान् ! तू (अन्तरिक्षेण सह) भीतर निवास करने वाले उस प्रभु के साथ मिल कर (कर्कीं वत्साम्) कर्कवर्णा, शुभ्र ज्योतिष्मती, विशोका इस (वत्सा) बछड़ी के समान सुशील एवं देहरूप गृह में बसने वाली चिति शक्ति को (इह) इस समाधि दशा में (रक्ष) स्थिर रख । (इमे) ये (स्तोकाः) स्वल्प आनन्दबिन्दु भी (ते) तेरे लिये (बहुलाः) बहुत आनन्दप्रद हैं । हे आत्मन् (एहि अर्वाक्) आ, साक्षात् दर्शन दे । हे आत्मन् योगिन् ! (इयं) यह प्रत्यक्ष सूर्य के समान चमकने वाली (ते) तेरी (कर्की) सूर्या, उषा, दिव्य विशोका

६–' कर्कीन् वत्सान् ' इति सायणाभिमतः पाठः ।

ज्योतिष्मती ऋतम्भरा या विवेकख्याति है । (ते मनः) तेरी मनन शक्ति, मन (इह अस्तु) इसी में लगा रहे ।

अन्तरिक्षेण सह वाजिनीवन् कर्की वत्सामिह रक्ष वाजिन् ।
अयं घासो अयं व्रज इह वत्सां नि बध्नीमः ।
यथानाम व ईश्महे स्वाहा ॥ ७ ॥

भा०—हे (वाजिनीवन्) चितिशक्ति के स्वामिन् आत्मन् ! तू (अन्तरिक्षेण सह) उस अन्तर्यामी प्रभु के साथ मिला रह । और हे (वाजिन्) योगिन् ! (इह) उसी में (कर्कीम् वत्साम् रक्ष) अपनी ज्योतिष्मती प्रज्ञा रूप देहवासिनी गौ को लगाये रख । (अयं) यह आनन्दमय प्रभु यहीं इस विशेषकर प्रज्ञारूप गौ के लिये (घासः) घास या खाद्य, परम उपभोग्य पदार्थ है । (अयं व्रजः) यही इस गौ के लिये परम विश्राम-स्थली है । (इह वत्साम् निबध्नीमः) यहां इस बछड़ी, गाय को बांधते हैं । (वः) तुम समस्त प्राणों पर (यथा-नाम) सुखपूर्वक वश करके (ईश्महे) तुम्हें वश करते हैं और अध्यात्म ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं । (स्वाहा) यह आत्मा परमात्मा में आहुतिरूप में पड़कर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है ।



[३९] विभूतियों और समृद्धियों को प्राप्त करने की साधना ।

अंगिरा ऋषिः । संनतिर्देवता । १, ३, ५, ७ त्रिपदा महाबृहत्यः, २, ४, ६, ८ संस्तारपंक्तयः, ९, १० त्रिष्टुभौ । दशर्चं सूक्तम् ॥

७–' वत्सानिह ' इति सायणाभिमतः पाठः ।

पृथिव्यामग्नये समनमन्त्स आर्ध्नोत् ।
यथा पृथिव्यामग्नये समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥ १ ॥

भा०—समस्त संसार की विभूतियों को प्राप्त करने का गोदोहन दृष्टान्त से उपदेश करते हैं । (पृथिव्यां) इस विशाल पृथिवी पर समस्त प्राणी (अग्नये) अग्नि, ज्ञान के समक्ष (समनमन्) सिर झुकाते हैं (स- आर्ध्नोत्) वह अग्नि=प्रकाश ही सब से अधिक समृद्धिपूर्ण है । तो फिर (यथा) जिस प्रकार (पृथिव्याम्) इस पृथिवी पर (अग्नये समनमन्) समस्त प्राणी अग्नि=प्रकाश और ज्ञान के आगे झुकते हैं (एवा) उसी प्रकार (मह्यं) मेरे आगे (संनमः) समस्त सम्पदाएं (सं नमन्तु) आकर झुकें, प्राप्त हों ।

पृथिवी धेनुस्तस्या अग्निर्वत्सः ।
सा मेऽग्निना वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम् ।
आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा ॥ २ ॥

भा०—अग्नि और पृथिवी के रहस्य को खोलते हैं । (पृथिवी धेनुः) यह पृथिवी गाय के समान है (तस्याः अग्निः वत्सः) उस का बछड़ा अग्नि है । (सा) वह पृथिवी रूप गाय (अग्निना वत्सेन) अग्नि रूप बछड़े को देख कर (मे) मेरे लिये (इषम्) अन्न और (ऊर्जम्) बल आदि (कामं) समस्त उत्तम अभिलाषा योग्य पदार्थों को (दुहाम्) उत्पन्न करे और साथ ही (प्रथमं) प्रथम (आयुः) दीर्घ जीवन, (प्रजां) पुत्रादि सन्तति, (पोषं) पुष्टि, पशु आदि धन और (रयिं) वीर्य और यश को भी प्रदान करें । (स्वाहा) हमारी यही उत्तम प्रार्थना है ।

---

[३९] १–' अग्नये समनमत् पृथिव्यै समनमत् यथाग्निः पृथिव्या समनमद् एवं मह्यं भद्राः संनतयः सं नमन्तु ' इति तै० सं० ।

अन्तरिक्षे वायवे समनमन्त्स आर्ध्नोत् ।
यथान्तरिक्षे वायवे समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥ ३ ॥

भा०—(अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष—पृथिवी के समीप के आकाश भाग में (वायवे समनमन्) वायु के प्रति समस्त प्राणि सिर झुकाते हैं क्योंकि (सः आर्ध्नोत्) वही सब से बलवान् और समृद्धिमान् है । तब (यथा अन्तरिक्षे वायवे समनमन्) जिस प्रकार अंतरिक्ष में वायु के आगे सब सिर झुकाते हैं (एवा) उसी प्रकार (संनमः) सम्पदाएं और विनीत प्रजाएं मह्यं (सं नमन्तु) मेरे समक्ष झुकें ।

अन्तरिक्षं धेनुस्तस्यां वायुर्वत्सः ।
सा मे वायुना वत्सेनेषमूर्जं० । ० ॥ ४ ॥

भा०—(अन्तरिक्षम् धेनुः) अन्तरिक्ष एक गाय के समान है (तस्याः वायुः वत्सः) वायु उसका वत्स=बछड़े के समान उस में ही निवास करने वाला है । (सा) वह (वायुना वत्सेन) वायु रूप वत्स के प्रेम से (इषम् ऊर्जं कामं दुहाम्) मेरे कामना के अनुसार अन्न और बलप्रद रस को उत्पन्न करे और (प्रथमं प्रजां पोषं रयिम्) सब से श्रेष्ठ श्रेणि की आयु प्रजा और यश का प्रदान करे (स्वाहा) यह हमारी उत्तम प्रार्थना है । उत्तम वायु बहे, दुःख कटें, सुख हो ।

दिव्या/दित्याय समनमन्त्स आर्ध्नोत् ।
यथादिव्यादित्याय समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥ ५ ॥

भा०—(दिवि) द्यौलोक, उपरिस्थ आकाश में (आदित्याय समनमन्) आदित्य सूर्य के समक्ष सब ग्रह उपग्रह आदि प्रजाएं झुकती हैं क्योंकि उन में से (सः आर्ध्नोत्) वही सब से अधिक समृद्धिमान् शक्तिशाली

४–(प्र०) ' तस्य ' इति सायणाभिमतः पाठः ।

है । (यथा दिवि आदित्याय समनमन्) जिस प्रकार द्यौलोक में सब प्रजाएं सूर्य के आगे झुकती हैं (एवा संनमः मह्यं सं नमन्तु) इसी प्रकार सब सम्पत्तियां और सब प्रजाएं मेरे समक्ष भी झुकें ।

द्यौर्धेनुस्तस्यां आदित्यो वत्सः सामं आदित्येन वत्सेनेषमूर्जं०।०॥६॥

भा०—(द्यौ धेनुः) द्यौलोक भी एक गाय है (तस्याः आदित्याः वत्सः) उसका बच्छे के समान उस में निवास करने वाला आदित्य=सूर्य है (सा आदित्येन वत्सेन इषम् ऊर्जम् कामं दुहाम्) वह आदित्यरूप बच्छड़े के प्रेम से, उसी की शक्ति से प्रेरित होकर मेरे लिये मेरी कामना के अनुसार अन्न और पुष्टिकारक रसों को उत्पन्न करे और (प्रथमं आयुः प्रजाम् पोषं रयिम्) सब से श्रेष्ठ आयु प्रजा और यश, वीर्य को भी प्रदान करे (स्वाहा) यही हमारी उत्तम प्रार्थना है। सूर्य उत्तम प्रकाश दे, रोग नाश हों, मेघ बनें, बरसें, अन्न हो, बल हो, प्रजा, पुष्टि वीर्य यश प्राप्त हो ।

दिक्षु चन्द्राय समनमन्त्स आर्ध्नोत् ।
यथा दिक्षु चन्द्राय समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥ ७ ॥

भा०—(दिक्षु चन्द्राय समनमन्) दिशाओं में आल्हादकारी चन्द्र के समक्ष सब प्रजाएं झुकती हैं । (सः अर्ध्नोत्) वही सब दिशाओं में समृद्ध है । (यथा दिक्षु चन्द्राय समनमन्) जिस प्रकार सब दिशाओं में आल्हादकारी चन्द्र के आगे झुकते हैं उसके आश्रय पर रहते हैं । (एवा मह्यं संनमः संनमन्तु) उसी प्रकार समस्त प्रजाएं मेरे समक्ष झुकें ।

दिशो धेनवस्तासां चन्द्रो वत्सः ।
ता मे चन्द्रेण वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम् ।
आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा ॥ ८ ॥

भा०—(दिशः धेनवः) दिशाएं भी गौएं हैं। (तासां चन्द्रः वत्सः) उनका चन्द्र ही उन में निवास करने वाला बच्छड़े के समान है । (ताः

चन्द्रेण वत्सेन मे कामं इषम् ऊर्जम् दुहाम्) वे दिशाएं चन्द्र वत्स की प्रेरणा से मेरे लिये मेरी कामना के अनुसार खूब अधिक मात्रा में अन्न और उस से उत्पन्न पुष्टिकारक रस को पैदा करें। (प्रथमं आयुः प्रजां पोषं रयिम्) और सब से श्रेष्ठ प्रजा, पुष्टि धन सम्पत्ति और यश वीर्य भी प्रदान करे, (स्वाहा) यही हमारी उत्तम प्रार्थना है। दिशाओं में चन्द्र प्रकाशित हो, ओषधियां बढ़ें। अन्न में बल हो, उत्तम वायु, बल, आयु, प्रजा, सम्पदा, यश प्राप्त हों।

अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रो अभिशस्तिपा उ।
नमस्कारेण नमसा ते जुहोमि मा देवानां मिथुया कर्मभागम् ॥६॥

पूर्वार्धः यजु० ५ । ४ ॥

भा०—(अग्नौ) अग्नि, ज्ञानी में (अग्निः) ज्ञानस्वरूप सर्व प्रकाशक परमात्मा (प्रविष्टः चरति) भीतर अन्तर्यामी होकर व्यापक हैं। और वही (ऋषीणां पुत्रः) समस्त मन्त्रद्रष्टा ऋषियों को शरीर और मानस दुःखों से बचाने वाला है। वही (अभिशस्तिपा उ) सब पाप और निन्दा से भी रक्षा करता है। हे परमात्मन् (ते) तुझे मैं (नमसा) बड़े आदर से झुक कर (नमस्कारेण) 'नमः' इस प्रकार के आदर भाव के सूचक पद का उच्चारण करके (जुहोमि) अपने को तेरे समर्पण करता हूं। हे पुरुषो! हम लोग (देवानां भागं) विद्वान् लोगों के सेवन करने योग्य उनके उपदेश

६–' अभि शस्तिपावा ' इति यजु० । (द्वि०) ' पुत्रोऽधिराज एषः ' (तृ० च०) ' मा देवानां यूयुपाम भागधेयं ' इति मै० सं० । (तृ०) ' स्वाहाकृत्या ब्रह्मणा ' (च०) मिथुयाकभागधेयम् ' इति तै० सं० । (प्र०) ' व्याघ्रोऽयमग्नौ चरति ' (द्वि०) ' अभिशस्तिपा अयाम् ' इति तै० ब्रा० । ' तस्मै जुहोमि हविषा घृतेन मा देवानां मोमुहद् भागधेयम् ' इति आ० श्रौ० सू० ।

को (मिथुया) मिथ्या रूप से (मा कर्म) न करें । अर्थात् अनादर या देखावा बना कर उत्तम काम न करें, प्रत्युत सत्य भाव से उत्तम कामों को करें ।

हृदा पूतं मनसा जातवेदो विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
सप्तास्यानि तव जातवेदस्तेभ्यो जुहोमि स जुषस्व हव्यम् ॥१०॥

भा०—ईश्वरोपासना और सदाचार के बाद आत्मा की उपासना का उपदेश करते हैं । हे (जातवेदः) समस्त पदार्थों के जानने हारे ! हे (देव!) प्रकाशस्वरूप देव ! तू (विश्वानि वयुनानि) समस्त ज्ञानों को (विद्वान्) जानने हारा है । तुझे (मनसा) मनन पूर्वक (हृदा) हृदय से (पूतं) पवित्र किये (हव्यं) स्तुति को (जुहोमि) तेरे लिये अर्पित करता हूं । और हे (जातवेदः) ज्ञान को प्राप्त करने हारे ज्ञानी आत्मन् जीव ! (तव सप्त आस्यानि) तेरे सात मुख हैं । दो आंख, दो कान, दो नासिका, एक मुख, (तेभ्यः) इन में भी (मनसा) मनन और (हृदा) हृदय से (पूतं हव्यं) पवित्र किये समाधि योग से प्राप्त ज्ञान और अन्न की (जुहोमि) आहुति देता हूं । अथवा—

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा ।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरुचीति चैता लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥

ये आत्मा की सात शक्तियां योग बल से जागृत होती हैं । जो विराट् रूप में भी विद्यमान हैं ।



[४०] आक्रमणकारी शत्रुओं के विनाश करने का उपदेश ।

शुक्रऋषिः । कृत्याप्रतिहरणाय बहवो देवताः । २ जगती, ८ पुरोतिशक्वरी पादयुक्ता जगती, १, ३–५ त्रिष्टुभः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

ये पुरस्ताज्जुह्वति जातवेदः प्राच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।
अग्निमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण हन्मि ॥१॥

भा०—हे (जातवेदः) सर्वज्ञ परमात्मन् ! (ये) जो (पुरस्तात्) पूर्व दिशा से (जुह्वति) अपने को आहुति करते हैं और (प्राच्याः दिशः) प्राची दिशा की ओर से (अस्मान् अभि दासन्ति) हमें नष्ट कर रहे हैं (ते) वे (अग्निम् ऋत्वा) अग्नि को प्राप्त होकर (पराञ्चः) पराङ्मुख, पराजित होकर (व्यथन्तां) कष्ट भोगें और (प्रत्यग्) इनके विपरीत (प्रतिसरेण) इनका पीछा करके (एनान् हन्मि) इन का विनाश करूं ।

ये दक्षिणतो जुह्वति जातवेदो दक्षिणाया दिशोऽभि दासन्त्यस्मान् ।
यममृत्वा ते० ॥ २ ॥

भा०—(ये दक्षिणतः जुह्वति०) हे जातवेदः परमात्मन् ! जो दक्षिण दिशा से अपने आपको इस कार्य में आहुति कर दें और दक्षिण दिशा से हमें नष्ट करें (ते) वे (यमम्०) उस व्यवस्थापक यम के पास जाकर पराजित होकर कष्ट को प्राप्त करें और (प्रत्यग एनान्०) उनको भी मैं पीछा करके विनाश करूं ।

ये पश्चाज्जुह्वति जातवेदः प्रतीच्या दिशो भिदासन्त्यस्मान् ।
वरुणमृत्वा ते० ॥ ३ ॥

भा०—जो (पश्चात्) पीठ पीछे से या पश्चिम दिशा की ओर से (जुह्वति) अपने को आहुति कर दें और उस दिशा से (अस्मान् अभिदासन्ति) हमें विनाश करें वे (वरुणम् ऋत्वा० इत्यादि) वरुण, निवारक शक्ति को प्राप्त होकर परास्त होकर जायं और उनका पीछा करके मैं विनाश करूं ।

य उत्तरतो जुह्वति जातवेद उदीच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।
सोममृत्वा ते० ॥ ४ ॥

अपां मा पाने यतमो ददम्भ क्रव्याद् यातूनां शयने शयानम् ।
तदा० ॥ ८ ॥

भा०—(यतमः) जो कोई (क्रव्यात्) कच्चा मांस खाने वाले रोग जन्तु (अपां पाने) जलों के पान करने के स्थान, घाट, बावड़ी, प्याऊ आदि में और (यातूनां शयने) पीड़ाओं के बिस्तर में (मां शयानं) पड़े, मुझको असावधान अवस्था में (ददम्भ) विनाश करने का यत्न करता है (तत् आत्मना०) वह स्वयं अपनी सन्तानों सहित नष्ट हो और यह रोगी नीरोग हो ।

दिवा मा नक्तं यतमो ददम्भ क्रव्याद् यातूनां शयने शयानम् ।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदो३ऽयमस्तु ॥ ९ ॥

भा०—(यतमः) जो भी (क्रव्याद्) कच्चे मांस का आहारी मच्छर, मत्कुण आदि रोगकारी जन्तु (दिवा नक्तं) दिन और रात के समय में और (यातूनां शयने) पीड़ा या रोगों के सेज पर (शयानम्) असावधान रूप में पड़े (मा) मुझ को (ददम्भ) पीड़ा देना चाहता है (तद्) वह (आत्मना) स्वयं और उसके सहचारी (पिशाचाः) मांसभोजी रोग कीट भी (वि यातयन्ताम्) नाना प्रकार से नष्ट किये जांय और (अयम् अगदः अस्तु) यह रोगी पुरुष नीरोग हो ।

अथवा—सोमचिकित्सा (होमियोपैथी) का उपदेश करते हैं कि (यतमः क्रव्याद् ददम्भ) जो भी रोग कीट या विषाणु रोगी को सताता है (तदात्मना) उसी के सम जाति के (प्रजया) प्रजा, अंश से वे (पिशाचाः) रोगकारी कीटाणु (वि यातयन्तां) विनाश को प्राप्त हों । और

८–' शयने शयानः ' इति लडविगकामितः ।

९–(प्र०) 'दिवा त्वा' (द्वि०) 'क्रव्याद् यातुः शयते पिशाचः । उदग्ने-द्वानृपृथक् । गृणीह्यप्यैनं देहि निर्ऋतेरुपस्थे ' इति पैप्प० सं० ।

इस प्रकार (अयम् अगदः अस्तु) वह रोगी नीरोग हो जाय । इस पक्ष में अग्नि जातवेदाः=प्रबल टिञ्चर है जो विशेष शक्ति से युक्त है ।

क्रव्यादमग्ने रुधिरं पिशाचं मनोहनं जहि जातवेदः ।
तमिन्द्रो वाजी वज्रेण हन्तु च्छिनत्तु सोमः शिरो अस्य धृष्णुः ॥१०॥

भा०—हे (जातवेदः) सर्वज्ञ अग्ने ! हे जात-वीर्य ! जात-बल (अग्ने) तेजःस्वरूप (क्रव्यादम्) कच्चे मांस के आहारी, (रुधिरम्) रक्त में फैलने वाले, (पिशाचं) मांस में जमे हुए और (मनः-हनं) रोगी के चित्त को या मननशक्ति पर आघात पहुंचाने वाले अपस्मार, उन्माद और मदकारी रोग को (जहि) तू विनाश कर । उस रोग को (इन्द्रः) इन्द्र रोग का विनाशक, (वाजी) बलवान्, शक्तिमान् होकर (वज्रेण) अपने रोग विनाशक बल से (हन्तु) मार दे और (सोमः) सोम या ओषधि का सूक्ष्म अंश (धृष्णुः) व्यस्थित होकर, शरीर में चिरकालिक प्रभाव करके (अस्य) इन रोगकारी मूल कीटों के (शिरः) शिर=हिंसाकारी प्रभाव को (छिनत्तु) काट दे ।

सनादग्ने मृणसि यातुधानान् न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः ।
सहमूरानुनु दह क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥ ११ ॥
अथर्व० ८ । ३ । १८ ॥

भा०—हे (अग्ने) विद्वन् ! या तेजोरूप ! (सनात्) चिरकाल से, सदा से तू (यातु-धानान्) पीड़ाजनक रोगों को (मृणसि) विनाश करता है । (रक्षांसि) बाधा, विघ्नकारी जन्तु (त्वा) तुझको (पृतनासु) मनुष्यों में या संग्रामों में (न जिग्युः) न जीत पावें ! इसलिये (क्रव्यादः) रोगी का कच्चा मांस खा डालने वाले रोगांशों को (सह-मूरान्) समूल (अनु-दह) जलादे । और (दैव्यायाः) दिव्य गुण युक्त (ते हेत्याः) तेरे आघातकारी शक्तिरूप वज्र से (मा मुक्षत) वे छूट न जांय ।

समाहर जातवेदो यद्धृतं यत् पराभृतम् ।
गात्राण्यस्य वर्धन्तामंशुरिवाप्यायतामयम् ॥ १२ ॥

भा०—हे (जात-वेदः) अग्ने ! (अस्य) इस रोगी पुरुष के शरीर में से (यत्) जो धातु और बल (हृतम्) रोगों ने हर लिया है, और (यत्) जो (परा-भृतम्) विनष्ट कर दिया है उसे (सम्-आ हर) पुनः भली प्रकार प्राप्त करा । (अस्य) इसके (गात्राणि) शरीर के अंग (वर्धन्ताम्) बढ़ें और (अयम्) यह (अंशुः-इव) चन्द्र के समान (आ प्यायताम्) दिनों दिन बढ़े, मोटा ताज़ा हो ।

सोमस्येव जातवेदो अंशुरा प्यायतामयम् ।
अग्ने विरप्शिनं मेध्यमयक्ष्मं कृणु जीवतु ॥ १३ ॥

भा०—हे (जात-वेदः) अग्ने ! (सोमस्य अंशुः इव) चन्द्र के एक भाग, कला के समान (अयम्) यह कृश पुरुष भी (आ प्यायताम्) पुष्टि को प्राप्त हो । हे (अग्ने) अग्ने ! (विरप्शिनम्) नाना प्रकार की विद्याओं का उपदेश करने वाले महान् विद्वान् (मेध्यं) मेधावी, पवित्राचारी पुरुष को (अयक्ष्मं) रोग, यक्ष्मादि कष्ट से रहित (कृणु) कर जिससे वह (जीवतु) चिरकाल तक जीवित रहे ।

एतास्ते अग्ने समिधः पिशाचजम्भनीः ।
तास्त्वं जुषस्व प्रति चैना गृहाण जातवेदः ॥ १४ ॥

भा०—हे (जातवेदः) हे अग्ने ! (एताः ते सम्-इधः) ये तेरी उत्तम रीति से प्रकाश करने या चमकने वाली शक्तियां, ज्वालाएं ही (पिशाच-जम्भनीः) मांसशोषक या मांस में फैलने वाले रोगाणुओं की नाशक हैं ।

१२–(प्र०) 'समाभर' (द्वि०) 'यज्जग्धं यत्' इति पैप्प० सं० ।
१३–(च०) 'जीवसे' इति पैप्प० सं० ।

(ताः) उनको (त्वं) तू (जुषस्व) अपने में धारण कर और (एनाः) इन को (प्रति गृहाण) अपने भीतर रख।

ताष्टुर्घीरग्ने समिधः प्रति गृह्णाह्यर्चिषा।
जहातु क्रव्याद्रूपं यो अस्य मांसं जिहीर्षति ॥ १५ ॥

भा०—हे अग्ने ! आप (तार्ष्ट-अघीः) तृषा रोग को दूर करने वाली इन (सम्-इधः) दीप्तिमय शक्तियों को अपने (अर्चिषा) तेज से (प्रति-गृह्णाहि) अपने में धारण कर। जिससे वह (क्रव्याद्) मांसशोषक रोग अपने (रूपं जहातु) स्वरूप को त्याग दे (यः) जो (अस्य) इस रोगी के (मांसं) मांस को (जिहीर्षति) सुखा डालना चाहता है।

---

[३०] आरोग्य और सुख की प्राप्ति का उपदेश।

आयुष्काम उन्मोचन ऋषिः । आयुर्देवता । १ पथ्यापंक्तिः, २—८, १०, ११, १३, १५, १६ अनुष्टुभः, ९ भुरिक्, १२ चतुष्पदा विराड् जगती, १४ विराट् प्रस्तार-पंक्तिः, १७ त्र्यवसाना षट्पदा जगती । सप्तदशर्चं सूक्तम् ॥

आवतस्त आवतः परावतस्त आवतः।
इहैव भव मा नु गा मा पूर्वाननु गाः। पितॄन्
असुं बध्नामि ते दृढम् ॥ १ ॥

भा०—हे पुरुष ! (ते आवतः आवतः) तेरे समीप से समीप और (ते परावतः) तेरे दूर से भी (आवतः) दूर देश से (ते असुं) तेरे प्राण को और आत्मा को (दृढं) खूब बलपूर्वक (बध्नामि) बांधता हूं। तू (इह एव) यहां ही (भव) रह। (मा पूर्वान् अनु-गाः) अपने पूर्व के विनष्ट हुए

---

[३०] १-(द्वि०) 'परावतस्ते परावतः' इति पैप्प० सं०।

पुरुषों के पीछे मत जा। (मा अनु गाः पितॄन्) अपने बूढ़े मां बाप के पीछे भी मत जा, प्रत्युत मुझ आचार्य के पास ब्रह्मचर्य और विद्या का लाभ कर।

यत् त्वाभिचेरुः पुरुषः स्वो यदरणो जनः।
उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते ॥ २ ॥

भा०—(यत्) यदि तेरा (स्वः पुरुषः) अपना कोई सम्बन्धी पुरुष या (यद्) यदि कोई (अरणः) बुरा (जनः) आदमी (अभि-चेरुः) तुझ पर अपना अभिचार या बुरा आक्रमण, हानिकारक पापकार्य करना चाहता है तो मैं आचार्य हे शिष्य! तुझ को (वाचा) अपनी वाणी से उस जाल से छूटने के लिये (उन्मोचन-प्रमोचने) उन्मोचन और प्रमोचन (उभे) दोनों का अधिकार और शक्ति का (ते) तुझे, (वदामि) उपदेश करता हूं।

उन्मोचन=जाल से ऊपर निकल आना और प्रमोचन=जाल से दूर ही रहना। अर्थात्, फंस जाने पर छूटना और पहले ही न फंसना।

यद् दुद्रोहिथ शेपिषे स्त्रियै पुंसे अचित्त्या।
उन्मो० ॥ ३ ॥

भा०—हे शिष्य! (यद्) यदि (अचित्या) बिना जाने तैने (स्त्रियै) किसी स्त्री से या (पुंसे) पुरुष से (दुद्रोहिथ) द्रोह किया और उस को (शेपिषे) बुरा वचन कहा तो भी (ते उन्मोचन-प्रमोचने वाचा वदामि), मैं उस पाप से परे रहने और छूटने का उपदेश करता हूं।

यदेनसो मातृकृताच्छेषे पितृकृताच्च यत्।
उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते ॥ ४ ॥

२–(प्र०) 'पुरुषाः' इति ह्विटनिकामितः।

भा०—(यद्) यदि (मातृ-कृतात् एनसः) माता के किये दोष से (यत् च) और यदि (पितृ-कृतात् एनसः) पिता के किये दोष से (शेषे) तू आवृत रह कर अज्ञान में सो रहा है तो भी (वाचा) वेद-वाणी से उन दोषों और व्यसनों से (उन्मोचन-प्रमोचने) छूटने और दूर रहने दोनों का (वदामि) तुझे उपदेश करता हूं।

यत् ते माता यत् ते पिता जामिर्भ्राता च सर्जतः।
प्रत्यक् सेवस्व भेषजं जरदष्टिं कृणोमि त्वा ॥ ५ ॥

भा०—(यत) जिस (भेषजम्) रोग निवारक उपाय या औषध को (ते माता) तेरी माता और (यत् ते पिता) जिस औषध को तेरा पिता और (जामिः भ्राता च) तेरी भगिनी और भाई भी (सर्जतः) तैयार करते हैं उसको (प्रत्यक् भेषजं) साक्षात् दुःखहारी औषध को (सेवस्व) तू सेवन कर। (त्वा) तुझ को मैं (जरदष्टिं कृणोमि) बुढ़ापे तक जीवन बिताने योग्य चिरजीवी रहने का उपदेश करता हूं। अर्थात् ऊटपटांग पदार्थ मत खा। हितकारी पुरुषों के बतलाये ज्ञान और पथ्यों का सेवन कर।

इहैधि पुरुष सर्वेण मनसा सह।
दूतौ यमस्य मानु गा अधि जीवपुरा इहि ॥ ६ ॥

भा०—हे पुरुष ! (सर्वेण मनसा सह) अपने समस्त मनन शक्ति, चित्त और ज्ञान के साथ (इह) इस गुरु-गृह में (एधि) रह, निवास कर (यमस्य दूतौ) यम के दूत, दुख, उपताप के लाने वाले अशना और पिपासा, भूख और प्यास दोनों के पीछे (मा अनु गा) मत जाओ। (जीव-पुराः) जीव के निवास भूत पुर अर्थात् देह के अंगों पर (अधि इहि) वश करो।

५-(तृ०) 'प्रत्यक् चेवस्य' इति पैप्प० सं०।

अनुहूतः पुनरेहि विद्वानुदयनं पथः ।
आरोहणमाक्रमणं जीवतोजीवतोयनम् ॥ ७ ॥

भा०—देवमार्ग या उत्तरायणमार्ग का उपदेश करते हैं । (अनुहूतः) विद्वानों से अनुशिष्ट, शिक्षित हो २ कर (पुनः) फिर भी (विद्वान्) ज्ञानी होकर हे शिष्य ! तू (उद्-अयनं) ऊपर मोक्ष धाम में, उन्नति की तरफ़ ले जाने वाले (पथः) मार्गों को (एहि) प्राप्त हो । (आ-रोहणं) ऊपर चढ़ना, (आ क्रमणम्) आगे की तरफ़ बढ़ना, यही (जीवतः-जीवतः) प्रत्येक जीवनयुक्त जीव की (अयनम्) वास्तविक गति है ।

मा बिभेर्न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा ।
निरवोचमहं यक्ष्ममङ्गेभ्यो अङ्गज्वरं तव ॥ ८ ॥

भा०—रोगभय से मुक्त होने का उपदेश करते हैं । हे शिष्य (मा बिभेः) भय मत कर, डर मत । (न मरिष्यसि) तू कभी मरेगा नहीं । क्योंकि (त्वां) तुझ को मैं आचार्य, (जरद्-अष्टिं) वृद्धावस्था तक जीवन बिताने में समर्थ (कृणोमि) करता हूं । (तव अङ्गेभ्यः) तेरे अंगों से (यक्ष्मम्) सब प्रकार के रोगजनक अंश और (अङ्ग-ज्वरं) शरीर के भागों में विद्यमान् ज्वर=संताप पीड़ा को (निः अवोचम्) बाहर निकालता हूं ।

अङ्गभेदो अङ्गज्वरो यश्च ते हृदयामयः ।
यक्ष्मः श्येन इव प्रापप्तद् वाचा साढः परस्तराम् ॥ ९ ॥

भा०—हे शिष्य ! (ते) तेरे (अङ्ग-भेदः) शरीर में होने वाली पीड़ा जिससे देह टूटता हो, (यः च अङ्ग-ज्वरः) और जो अंगज्वर है और (हृदय-आमयः) हृदय-रोग और (यक्ष्मः) यक्ष्मा रोग है वह सब

८–(द्वि०) 'जरदष्टिर्भविष्यसि' इति पैप्प० सं० ।
९–(प्र०) 'शीर्षरोगमङ्गरोगम्', 'श्येनैव' इति पैप्प० सं० ।

(वाचा सादः) मेरी उपदेश या वाणी के बल से पराजित होकर (श्येन इव) बाज़ के समान (परः-तराम्) परे (प्र-अपप्तत्) भाग जाय ।

ऋषी बोधप्रतीबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः ।
तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम् ॥ १० ॥

भा०—(बोध-प्रतीबोधौ) बोध और प्रतिबोध, ज्ञान करने और उसको स्मरण करने की शक्ति, बुद्धि और मन (यः च) जो (ऋषी) सर्व कार्यों के द्रष्टा हैं, दोनों में एक (अस्वप्नः) कभी नहीं सोता और दूसरा मन या अन्तःकरण है वह भी (जागृविः) सदा जागता रहता है । (तौ) वे दोनों (ते प्राणस्य गोप्तारौ) तुझ जीव के प्राण=जीवन की रक्षा करने वाले (दिवा नक्तं च) दिन और रात सदा (जागृताम्) जागते रहें ।

अयमग्निरुपसद्य इह सूर्य उदेतु ते ।
उदेहि मृत्योर्गम्भीरात् कृष्णाच्चित् तमसस्परि ॥ ११ ॥

भा०—(अयम् अग्निः) यह अग्नि, आत्मा (उप-सद्यः) प्राप्त करने या ज्ञान करने—उपासना करने योग्य है । (इह) इसमें (ते) तेरा (सूर्यः) सब इन्द्रियों का प्रेरक मुख्य प्राण (उद्-एतु) उदित हो । (गम्भीरात्) गम्भीर भयावह (कृष्णात्) काले (तमसः चित्) अन्धकार के समान घोर (मृत्योः) मृत्यु, देह और आत्मा के विच्छेद के भय से भी (परि उद्-एहि) परे, ऊंचा चला जा ।

नमो यमाय नमो अस्तु मृत्यवे नमः पितृभ्य उत ये नयन्ति ।
उत्पारणस्य यो वेद तमग्निं पुरो दधे स्मा अरिष्टतातये ॥ १२ ॥

भा०—(नमः यमाय) उस सर्व-नियन्ता को नमस्कार है, हम उसके आगे झुकते हैं । (मृत्यवे नमः अस्तु) और देह को आत्मा से पृथक् करने

१०-(तृ० च०) 'ते ते प्राणस्य गोप्तारो दिवास्वप्नं च जाग्रतु' इति पैप्प० सं० ।

वाले उस कर्मफल दाता प्रभु को भी नमस्कार है, हम उसके भी आगे विनय से झुकते हैं । (उत) और (ये नयन्ति) जो हमको इस शरीर से दूसरे शरीर तक ले जाते हैं उन (पितृभ्यः) पालक प्राणों को भी (नमः) नमस्कार है या उन पालक पिताओं-माता, पिता, गुरु, आचार्य, प्रभु इन पञ्च पितरों को भी नमस्कार है जो हमें इस लोक में जीवन पथ पर ले जाते हैं । और जो (अस्मै) इस जीव के (अरिष्टतातये) कल्याण के लिये (उत्-पारणस्य) इस शरीर के त्याग के अनन्तर इसके पालना, जीवन यात्रा के विषय में जो सब कुछ जानता है (तम् अग्निं) उस अग्नि तेजोमय परमेश्वर को भी मैं (पुरः दधे) सदा अपने आगे रखता हूं । उसका सदा साक्षात् प्रभुत्व मानता हूं । उत्पारणज्ञ विद्वान् का वर्णन देखो अथर्व० ८ । १ । १०-१६ । २ । ६ ॥

ऐतु॑ प्रा॒ण ऐतु॒ मन॒ ऐतु॒ चक्षु॒रथो॒ बल॑म् ।
शरी॑रमस्य॒ सं वि॒दां तत् प॒द्भ्यां प्रति॑ तिष्ठतु ॥ १३ ॥

भा०—इन्द्रियां किस प्रकार शरीर में कार्य करती हैं इसका उपदेश करते हैं । इस शरीर में प्रथम (प्राणः आ एतु) प्राण आता है, फिर (मनः आ एतु) मन, मननशक्ति आती है फिर (चक्षुः आ एतु) चक्षु दर्शनशक्ति अर्थात् उपलक्षण से आंख, नाक, कान, जिह्वा आदि इन्द्रियों में ज्ञानशक्ति का आगमन होता है । (अथो बलम्) और उसके पश्चात् बल, प्राणेन्द्रिय, हाथ, पांव, पेट आदि की शक्ति आती है । तब (अस्य) इस जीव का (शरीरम्) शरीर (विदां) बुद्धि को (सम्-एतु) प्राप्त होता है । (तत्) तब (पद्भ्यां) पैरों से (प्रति तिष्ठतु) यह शरीर खड़ा होने लगता है ।

प्रा॒णेना॑ग्ने॒ चक्षु॑षा॒ सं सृ॑जे॒मं समी॑रय त॒न्वा३॒॑ सं बले॑न ।
वेत्था॒मृत॑स्य॒ मा नु गा॒न्मा नु भूमि॑गृहो॒ भुव॑त् ॥ १४ ॥

१४-(तृ०) 'वेत्थामृतस्यमृतस्य गान्मोसु' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (अग्ने) परमात्मन् ! (प्राणेन) प्राणशक्ति और (चक्षुषा) दर्शनशक्ति से (सं सृज) इस जीव को युक्त कर और (तन्वा) शरीर से और (बलेन) बल से (इमं) इस जीव को (सम्-ईरय) प्रेरित कर। आप प्रभो ! (अमृतस्य वेत्थ) उस अमृत, जीवनशक्ति को जानते हो। आपकी दी जीवनशक्ति से युक्त होकर यह जीव (मा नु गात्) इस देह को छोड़ कर न जावे और (मा नु भूमिगृहः भुवत्) भूमि को अपना घर बना कर, खाक में मिल कर न रहे अर्थात् मर कर मिट्टी में न मिले। प्रत्युत शरीर का दीर्घ जीवन प्राप्त करके मोक्ष को प्राप्त करे।

मा ते प्राण उप दसन्मो अपानोऽपि धायि ते।
सूर्यस्त्वाधिपतिर्मृत्योरुदायच्छतु रश्मिभिः ॥ १५ ॥

भा०—हे जीव ! (ते प्राणः) तेरा प्राण (मा उप-दसत्) विनाश को प्राप्त न हो। और (ते अपानः) तेरा अपान भी (मा अपि धायि) कभी न रुके। अर्थात् तेरे शरीर में प्राण-अपान=श्वासोच्छ्वास की क्रिया कभी बन्द न हो। (अधि-पतिः) सब का मालिक (सूर्यः) सूर्य, सब का प्रेरक परमात्मा (त्वा) तुझ को (रश्मिभिः[1]) अपनी व्यापक बलकारिणी किरणों से (उद्-आ-यच्छतु) ऊंचा उठाये रखे। तेरे शरीर को और जीवन शक्ति को गिरने न दे।

इयमन्तर्वदति जिह्वा बद्धा पनिष्पदा।
त्वया यक्ष्मं निरवोचं शतं रोपीश्च तक्मनः ॥ १६ ॥

१५-(द्वि०) 'मा पानो', (च०) 'आयच्छति' इति पैप्प० सं०।
१. अश्नोतेरशच्। उणादि० ४। ४६ ॥ रश्मिः।

१६-(द्वि० तृ०) 'उग्रजिह्वापनिष्पदा तयारोमं निरायुषः' इति पैप्प० सं०।
(तृ०) 'तया' ह्विटनिकामितः। 'त्वया' इति बहुत्र।

भा०—(इयम्) यह (जिह्वा) जीभ (अन्तः) मुख के भीतर (वद्धा) बंधी हुई । (पनिः-पदा) स्तुति करने और वाग्-व्यापार करने में चतुर, गतिशील होकर (वदति)-व्यक्त वाणी का उच्चारण करती है । हे वाणि ! (त्वया) तेरे बल से (यक्ष्मं) यक्ष्म-रोग को और (तक्मनः) कष्टदायी ज्वर के (शतं रोपीः च) सैकड़ों पीड़ाओं को भी (निः अवोचम्) दूर कर देता हूं ।

अयं लोकः प्रियतमो देवानामपराजितः ।
यस्मै त्वमिह मृत्यवे दिष्टः पुरुष जज्ञिषे ।
स च त्वानु ह्वयामसि मा पुरा जरसो मृथाः ॥ १७ ॥

भा०—(अयं) यह (अपरा-जितः) किसी से न हारने वाला सदा बलवान् (प्रिय-तमः) अत्यन्त प्रिय, रुचिकर (देवानाम्) देवगण इन्द्रियों का (लोकः) शरीर है । हे पुरुष ! हे देहपुरी के वासी जीवात्मन् ! (यस्मै) जिसके कारण (त्वम्) तू (इह) इसमें रह कर (मृत्यवे दिष्टः) मृत्यु के भाग्य में पड़ा हुआ ही (जज्ञिषे) उत्पन्न होता है । अर्थात् शरीर त्यागने के लिये ही शरीर का ग्रहण करता है । इसलिये (सः च) वह तू इस देह से असंग है । (त्वा अनु-ह्वयामसि) हम विद्वान् मुक्तजन तुझ को वार २ फिर २ चेताते हैं कि (जरसः पुरा) बुढापे से पहले (मा मृथाः) प्राणों को मत छोड़ ।



[३१] गुप्त हिंसा के प्रयोग करने वालों का दमन ।

शुक्र ऋषिः । कृत्यादूषणं देवता । १–१० अनुष्टुभः, ११ बृहती गर्भा, १२ पथ्याबृहती । द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

१७–(तृ० प्र०) 'तस्मै त्वामिह जज्ञिषे अदृष्टः पुरुष मृत्यवे तस्मै त्वा निह्वयामसि ' इति पैप्प० सं० । (च०) ' पुरुष-जज्ञिषे ' इत्येकपदमिति पदपाठे प्रमादः ।

यां ते चक्रुरामे पात्रे यां चक्रुर्मिश्रधान्ये ।
आमे मांसे कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥ १ ॥

भा०—(याम्) जिस आपत्तिजनक कार्य को (ते) वे तेरे शत्रु लोग (आमे पात्रे) कच्चे वर्तनों में (चक्रुः) प्रयोग करते हैं (याम्) और जिस दुष्प्रयोग को (मिश्र-धान्ये) मिलेजुले धान्य, अन्नों में करते हैं और (यां कृत्यां) जिस विपत्तिजनक करतूत को वे (आमे मांसे) कच्चे मांस में (चक्रुः) करते हैं (ताम्) उसी दुःखदायी प्रयोग को दण्ड के रूप में (पुनः) फिर (प्रति-हरामि) उनको ही भुगतवा दूं । कच्चे पात्र में विषका लेप लगा कर अपने दुश्मनों के घर बेच आना, अनाज में विषैली बूंटी के दाने मिलाकर पर-राष्ट्र में बेच देना, कच्चे मांस में रोगकारी कीटों और विषकी धारा छोड़ देना, इत्यादि जनघातक लीला करने वालों को वैसा ही दण्ड होना चाहिये ।

यां ते चक्रुः कृकवाकावजे वा यां कुरीरिणि ।
अव्यां ते कृत्यां यां० ॥ २ ॥

भा०—(यां) जिस कृत्या=घातक प्रयोग को (ते) वे नीच पुरुष (कृकवाकौ) कृकवाकु=तीतर, (अजे) बकरे और (कुरीरिणि) कुरीर=चील, पर और (यां कृत्यां) जिस करतूत को वे (अव्यां) भेड़ पर करते हैं (तां) उस करतूत से (पुनः प्रति हरामि) फिर उनको दण्डित करूं ।

यां ते चक्रुरेकशफे पशूनामुभयादति ।
गर्दभे कृत्यां यां० ॥ ३ ॥

भा०—(यां) जिस हिंसा कार्य को वे (एकशफे) एक खुर वाले पशु पर या (गर्दभे) गधे की जाति के पशु पर (यां) जिस हिंसा को (उभयादति) दोनों जबाड़ों में दांत वाले गाय व भैंस आदि पशुओं पर (चक्रुः) करते हैं वही हत्या का दण्ड उन्हें मैं पुनः दूं ।

यां ते चक्रुरमूलायां वलगं वा नराच्याम् ।
क्षेत्रे ते कृत्यां यां० ॥ ४ ॥

भा०—(ते) वे लोग (यां) जिस हिंसा और (वलगम्) गुप्त पाप को (अमूलायां नराच्यां वा) अमूला और नराची नामक ओषधि के आधार पर (चक्रुः) करते हैं और (यां कृत्यां) जिस करतूत को (ते) वे (क्षेत्रे) खेत में करते हैं, वही दुःखदायी दण्ड मैं पुनः उनको दूं । अमूला और नराची दोनों विषैली ओषधि हैं। खेत में हत्या और गड्ढे आदि द्वारा धोखावाज़ी से परघात करते हैं ।

यां ते चक्रुर्गार्हपत्ये पूर्वाग्नावुत दुश्चितः ।
शालायां कृत्यां यां० ॥ ५ ॥

भा०—(ते) वे (दुः-चितः) दुष्ट चित्त वाले लोग (गार्हपत्ये) स्थिरता से घर में निरन्तर जलने वाली गार्हपत्य नामक (पूर्व-अग्नौ) प्रथमाग्नि में करते हैं । (यां कृत्यां) जिस करतूत को (शालायां) शाला=गृह में लोग किया करते हैं, उसी करतूत को दण्ड के रूप में पुनः उन पर प्रयोग करूं । निरन्तर स्थिर गार्हपत्य में-लोग ज्वलनशील विस्फोटक पदार्थों को चोरी से डाल कर हानि पहुंचाते हैं, मकानों में लोग आग लगाते सेंध लगाते तथा अन्य दुष्कर्म करते हैं ।

यां ते चक्रुः सभायां यां चक्रुरधिदेवने ।
अक्षेषु कृत्यां यां० ॥ ६ ॥

भा०—(ते) वे दुष्ट पुरुष (यां) जिस दुराचार को (सभायां चक्रुः) सभा में करते हैं और (यां) जिस नीच कर्म को (अधि-देवने) जूआखोरी में और (अक्षेषु यां कृत्यां चक्रुः०) अक्ष=जूए के पासों में करते हैं उस सब करतूत के बदले में वही अनर्थकारी दण्ड उनको भी दूं। सभा

में दलबन्दी करके परद्रोह करते हैं, जूए में परद्रव्यहरण और नाना दुराचार करते हैं ।

यां ते चक्रुः सेनायां यां चक्रुरिष्वायुधे ।
दुन्दुभौ कृत्यां यां० ॥ ७ ॥

भा०—(ते) वे दुष्ट पुरुष (यां) जिस घातक व्यवहार को (सेनायां) सेना में और (यां इषु-आयुधे) धनुषों और बाणों में (चक्रुः) करते हैं, और (यां कृत्यां) जिस घातक व्यवहार को (दुन्दुभौ) नक्कारे में करते हैं, उसके बदले में उसी अनर्थकारी प्रयोग को मैं उनके प्रति भी करूं । सेना में परद्रोह, धनुष बाण में कूट और विषैले बाणों का प्रयोग, नक्कारों में विष आदि लगा कर सेना वालों को देने से उनसे मृत्यु हो जाती है ।

यां ते कृत्यां कूपेऽवदधुः श्मशाने वा निचख्नुः ।
सद्मनि कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥ ८ ॥

भा०—(ते) वे लोग (यां कृत्यां) जिस हानिकारक प्रयोग को (कूपे) कूए में (अव-दधुः) करते हैं । या जिन बुरे हानिकारक पदार्थों को (श्मशाने वा नि-चख्नुः) श्मशान में गाड़ आते हैं और (सद्मनि) घर में (यां कृत्यां) बुरी २ हत्याओं को (चक्रुः) करते हैं । (ताम्) उसको मैं उनके ऊपर ही दंड के रूप में (प्रति हरामि) डालता हूं । कूए में विष डालने, श्मशान में भय आदि उत्पन्न करने या विस्फोटक पदार्थ चिता में जलाने या अन्य घोर अनर्थकारी सती दाहादि कार्य करने या घरों में बालक बालिकाओं की हत्या करने के अपराध करने वाले पुरुषों को यथोचित दंड दिया जाय ।

यां ते चक्रुः पुरुषास्थे अग्नौ संकसुके च याम् ।
म्रोकं निर्दाहं क्रव्यादं पुनः प्रति हरामि ताम् ॥ ९ ॥

भा०—(ते) वे दुष्ट पुरुष (याम्) जिस कुकृत्य को (पुरुषास्थे) पुरुष की हड्डियों में, और (यां च) जिस कुकृत्य को (सं-कसुके) नरद्रोही

चिता दाहक (अग्नौ) आग में (चक्रुः) करते हैं। ऐसे चोरी, (निर्दाहं) अग्नि से लोगों के घर भस्म करने और (क्रव्यादं) कच्चा मांस खाने वाले घोर पापी को फिर वैसा ही दण्ड प्राप्त कराऊं।

अपंथेना जंभारैणां तां पुथेतः प्रहिंण्मसि ।
अधीरो मर्याधीरैभ्यः सं जभाराचित्त्या ॥ १० ॥

भा०—जो दुष्ट पुरुष (एनां) इस कुकृत्य करतूती को (अपथेन) बुरे मार्ग से (आ जभार) राष्ट्र में लाता है (तां) उस करतूत को हम (इतः पथा) इस प्रकार के सरल मार्ग से (प्र हिण्मसि) राष्ट्र से बाहर निकाल दें। और प्रायः (अधीरः) मूर्ख, बेवक़ूफ़ लोग अपनी (अचित्या) अज्ञानिता या मूर्खता से ऐसे बुरे काम (मर्या धीरेभ्यः) बुद्धिमान् लोगों के लिये (सं जभार) ला पटकते हैं। इसलिये राजा उन दुष्ट कार्यों को कभी न चलने दे।

यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम् ।
चकार भद्रमस्मभ्यमभगो भगवद्भ्यः ॥ ११ ॥

अथर्व० ४ । १८ । (प्र० तृ०)

भा०—और (यः) जो (चकार) किसी बुरे काम को कर तो बैठता है और तो भी (कर्तुं) उसको करने में (न शशाक) समर्थ न हो तो वह अपने (पादम्) पैर और (अंगुरिम्) हाथों को भी (शश्रे) तोड़ लेता है। वह (अभगः) मूर्ख ऐसा करके भी (अस्मभ्यम्) हम (भगवद्भ्यः) ऐश्वर्यवान् पुरुषों के लिये तो (भद्रं चकार) भलाई ही करता है। वह बुरे काम में हाथ डाल कर अपना सत्यानाश आप कर लेता है।

१०—' मर्याः । धीरेभ्यः ' इति पदच्छेदो ह्विटनिकामितः ।

कृत्याकृतं वलगिनं मूलिनं शपथेय्यम् ।
इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेनाग्निर्विध्यत्वस्तया ॥ १२ ॥

भा०—(इन्द्रः) इन्द्र राजा, (तं कृत्या-कृतं) उस हिंसाकारी (वलगिनं) नीच कुटिलगामी (मूलिनं) विषैली जड़ों के आधारों पर दूसरों को हत्या करने वाले और (शपथेय्यं) व्यर्थनिन्दक पुरुष को (महता वधेन) बड़े भारी कठोर दण्ड से (हन्तु) मारे और (अग्निः) अग्नि सेनापति अपने (अस्तया) फेंके जाने वाले बाण या गोली से (विध्यतु) वेंध डाले।

इति षष्ठोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि पञ्च, ऋचश्च सप्ततिः]

इति पञ्चमं काण्डं समाप्तम् ।

अनुवाकाः पञ्चमे षडेकत्रिंशच्च सूक्तकम् ।
षट्सप्ततिश्च त्रिशती ऋचां च परिगण्यते ॥

वेदवस्वङ्कचन्द्राब्दे श्रावणे च सिते भृगौ ।
प्रतिपद्यगमत्पूर्त्तिं पञ्चमञ्चाप्यथर्वणः ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालंकार-मीमांसातीर्थविरुदोपशोभित-श्रीमज्जयदेवशर्मणा विरचितेऽथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्ये पञ्चमं काण्डं समाप्तम् ।



१२–' इन्द्रस्तु सर्वांस्तान् हन्तु स त्वघ्नेन भवामिवः ' इति पैप्प० सं० ।

गौओं के पालन करने वाले गोपाल के समान (नः) हम प्रजाओं को (विश्वतः) सब ओर से (परि पाहि) पालन कर। और हमारे शत्रुगण (दुरस्यवः) दुःखदायी संकटों में हमें डालने वाले पुरुष (अपाञ्चः) परे हटकर (निवताः) नीचे सिर झुका कर (यन्तु) चलें। (अमा) साथ ही (एषां प्रबुधां) इनके बहुत अधिक जानने वाले विद्वानों का (चित्तं) ज्ञान भी (वि नेशत्) नाना प्रकार से नष्ट हो जाय। योगी के पक्ष में स्पष्ट है।

मम॑ दे॒वा वि॑ह॒वे स॑न्तु॒ सर्व॒ इन्द्र॑वन्तो म॒रुतो॒ विष्णु॑र॒ग्निः ।
ममा॒न्तरि॑क्षमु॒रुलो॑कमस्तु॒ मह्यं॒ वातः॑ पवतां॒ कामा॑या॒स्मै ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १२८ । २ ॥

भा०—(मरुतः) वायु के समान वेगवान् (विष्णुः) व्यापक (अग्निः) अग्नि, अग्रणी, आत्मा और (देवाः) अर्थों का प्रकाश करने वाले ये (सर्वे) सब इन्द्रिय गण भी (इन्द्र-वन्तः) राजा के समान परमेश्वर को प्रमुख बना कर (मम) मेरे (वि-हवे) शासन में (सन्तु) रहें। (मम) मेरा (अन्तरिक्षम्) अन्तः निवास करने वाला मन, हृदय भी (उरु लोकं अस्तु) विशाल प्रकाश से युक्त हो अथवा यह विशाल लोक अन्तरिक्ष भी मेरे वश हो। और (वातः) यह प्राण वायु और यह वायु (मह्यं) मेरे लिये (अस्मै) इस २ (कामाय) कामना योग्य प्रयोजन के लिये (प्रवताम्) प्रवाहित हो।

मह्यं॑ यजन्तां॒ मम॒ यानी॒ष्टाकू॑तिः स॒त्या मन॑सो मे अस्तु ।
एनो॒ मा नि गां॑ कत॒मच्च॒नाहं विश्वे॑ दे॒वा अ॒भि र॑क्षन्तु॒ मेह ॥ ४ ॥

ऋ० १० । १२८ ॥

३–(च०) 'कामे अस्मिन्' इति-ऋ० । (तृ०) 'उरु गोपं' इति तै० सं० ।
४–(प्र०) 'मह्यं यजन्तु मयातिहव्या' (च०) 'विश्वेदेवास्ते अधिवोचता नः' इति ऋ० (च०) 'रक्षन्तु मामिह' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(मम यानि इष्टानि) मेरे जो इष्ट=अभिलषित सुखदायक पदार्थ और यज्ञ कर्म हैं वे (मह्यं) मुझे (यजन्ताम्) प्राप्त हों और मेरे अभिलषित पदार्थ प्राप्त करावें। और (मे मनसः) मेरे मन की (आ-कूतिः) दृढ़ संकल्प (सत्या अस्तु) सत्य हो। (अहं) मैं (कतमत् चन) किसी भी (एनः) पाप को (मा निगाम्) प्राप्त न होऊं। (विश्वे देवाः) समस्त देव गण विद्वान् अधिकारी पुरुष (मा) मुझे (इह) यहां (रक्षन्तु) रक्षा करें।

मयि॑ दे॒वा द्रवि॑ण॒मा य॑जन्तां॒ मय्या॒शीर॑स्तु॒ मयि॑ दे॒वहू॑तिः ।
दैवा॒ होता॑रः सनिषन् न ए॒तदरि॑ष्टाः स्याम त॒न्वा॑/सु॒वीरा॑ः ॥ ५ ॥

ऋ० १० । १२८ । ३ ॥

भा०—(मयि) मुझ पर (देवाः) देव-विद्वान् लोग (द्रविणम्) ज्ञान और धन का (आ यजन्ताम्) अनुग्रह करके प्रदान करें (मयि) मुझ पर उन का (आशीः) आशीर्वाद बना रहे। (मयि) और मुझ पर निर्भर कर के (देव-हूतिः) देवगण विद्वानों की बुलाहट लगी रहे। अर्थात् वे सदा मेरे यहां आवें, अथवा (मयि देवहूतिः) मुझे लोग 'देव' शब्द से आदर पूर्वक पुकारा करें। (दैवाः होतारः) देव=राजा सम्बन्धी विद्वान् प्रजागण मेरे यज्ञ में होता बनकर (नः) हमें (एतत्) यह सब योग्य पदार्थ (सनिषन्) प्राप्त करावें, प्रदान करें। हम (तन्वा) अपने शरीर से (अरिष्टाः) सदा आरोग्य, अपीड़ित, सुखी होकर आत्मा से (सु-वीराः) उत्तम वीर (स्याम) बनें। दैव्याः होतारः विशः। श० ३। ७। ३९ ॥ अध्वर्यु, इन्द्रियगण आदि। देखो परिशिष्ट सामवेद भाष्य।

५–(तृ०) 'देव्याहोतारो वनुषन्त पूर्वे' इति ऋ०। 'वनिषन्न' इति तै० सं०। (प्र०) 'मह्यं देवाः' (द्वि०) 'मम्देवहूतिः' इति पैप्प० सं०।

दैवीः षडुर्वीरुरु नः कृणोत विश्वे देवास इह मादयध्वम् ।
मा नो विददभिभा मो अशस्तिर्मा नो विदद् वृजिना द्वेष्या या ॥६॥

पूर्वार्धः ऋ० १० । १२८ । ५ ॥

भा०—हे (षड् उर्वीः) छः विशाल (दैवीः) देवियो ! (नः) हमारे लिये (उरु कृणोत) विशाल प्रदेश प्रदान करो और विशाल ज्ञान और अन्न दो, और हे (विश्वे देवासः) समस्त विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (इह) यहां, मेरे राज्य में (मादयध्वम्) खूब आनन्द से निवास करो । (नः) हमें (अभि-भाः) हमारे साहसों का नाश करने वाली निराशा (मा विदद्) प्राप्त न हो और (अशस्तिः मा) अपकीर्ति भी न प्राप्त हो । और (या) जो (द्वेष्या) द्वेष करनेवाली या द्वेष करने, योग्य अप्रीति का पात्र, (वृजिना) परित्याग करने योग्य पाप बुद्धि है वह भी (मा विदद्) प्राप्त न हो ।

अध्यात्म में—प्राण आदि पांच ज्ञान-वृत्तियां और छठी मनोवृत्ति और साधारण छः दिशाएं ।

तिस्रो देवीर्महि नः शर्म यच्छत प्रजायै नस्तन्वेऽ यच्च पुष्टम् ।
मा हास्महि प्रजया मा तनूभिर्मा रधाम द्विषते सोम राजन् ॥७॥

उत्तरार्धः १० । १२८ । ५ ॥

भा०—(नः) हमें (तिस्रोः देवीः) तीनों देवियां (महि शर्म) बड़ा भारी सुख (यच्छत) प्रदान करें । और (यत् च) जो कुछ (नः

६-(प्र०) ' षडुर्वी ' (द्वि०) ' इह वीरयध्वम् ' इति ऋ० ।
७-(तृ०) ' मा धनेन ' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) ' महि मे '— ' प्रजायै मे ' (तृ० च०) ' मां विशः सम्मनसो जुषन्तां पित्र्यं क्षत्रं पृतजानात्वस्मत् ' इति पैप्प० सं० ।

तन्वे) हमारे शरीर और (प्र-जायै) प्रजा के लिये (पुष्टम्) पुष्टि और बल हो वह भी प्रदान करें। (प्र-जया मा हास्महि) हम अपनी सन्तति से हीन न हों, न हमारी सन्ततियों का नाश हो और न सन्तति का विच्छेद हो। (मा तनूभिः) हम अपने शरीरों को रोग आदि असमय मृत्युओं से न त्याग करें। हे (राजन् सोम) सर्व हृदयों के राजन्! नृपते! और परमात्मन्! हे सोम! सर्वोत्पादक और सर्व प्रेरक! हम (द्विषते) शत्रु से (मा रधाम) पीड़ित न हों। तीन देवी=प्राण, अपान, व्यान और वाक्, मन, और काय।

उरुव्यचा नो महिषः शर्म यच्छत्वस्मिन् हवे पुरुहूतः पुंरुक्षु।
स नः प्रजायै हर्यश्व मृडेन्द्र मा नो रीरिषो मा परा दाः ॥ ८ ॥

ऋ० १० । १२८ । ८ ॥

भा०—(उरुव्यचाः) इस विशाल मूल प्रकृति में या विशाल ब्रह्माण्ड में व्यापक राज-पक्ष में प्रजा में व्यवस्था-रूप से व्यापक (महिषः) महान् परमात्मा (नः) हमें (शर्म) शरण और सुख (यच्छतु) दे। (पुरु-हूतः) समस्त प्रजाओं द्वारा स्मरण किया गया, परमात्मा (अस्मिन्) इस (हवे) यज्ञ में हमें (पुरु-क्षु) बहुत अन्न भी दे। हे (हरि-अश्व) तीव्र व्यापनशील शक्तियों से युक्त तीव्राश्वों से युक्त राजा के समान परमात्मन् (नः प्र-जायै) हमारी प्रजा के लिये (मृड) सुख दो, (नः) हमें (मा रीरिषः) कभी मत मरने दो और (मा परादाः) हमें कभी मत त्याग। राजा, ईश्वर दोनों पक्ष में स्पष्ट है।

८-(प्र०) 'शर्म यंसत्' (द्वि०) 'पुरुक्षुः' (तृ०) 'मृडय' इति ऋ०, पैप्प० सं०।

धाता विधाता भुवनस्य यस्पतिर्देवः सविताभिमातिषाहः ।
आदित्या रुद्रा अश्विनोभा देवाः पान्तु यजमानं निर्ऋथात् ॥९॥

ऋ० १० । १२८ । ७ ॥

भा०—(धाता) सब का धारण पोषण करने वाला, (वि-धाता) सब का उत्पादक, ही वह (देवः) देव, प्रकाशमान, सब का प्रकाश है (यः) जो (भुवनस्य पतिः) समस्त उत्पन्न हुए विश्व का पालक है । वही (सविता) सब का प्रेरक और सब के (अभिमाति-सहः) अभिमान करने वाले अन्तः-शत्रु काम क्रोध आदि का विनाशक है । (यजमानं) इस देवार्चा करने हारे यजमान=आत्मा को उस देव की दिव्य शक्तियां (निः-ऋथात्) असत्य-मय पाप मार्ग से (पान्तु) बचावें । वे देव ये हैं (आदित्याः) १२ मास (रुद्राः) रुद्र, वायुएं और (उभा अश्विना) दोनों अश्वी, द्यौ और पृथिवी ।

ये नः सपत्ना अप ते भवन्त्विन्द्राग्निभ्यामव बाधामह एनान् ।
आदित्या रुद्रा उपरिस्पृशो न उग्रं चेत्तारमधिराजमक्रत ॥ १० ॥

यजु० ३४ । ४६ ॥

भा०—(ये) जो (नः) हमारे (स-पत्नाः) स्वत्व पर समान अधि-कार जमाने वाले भीतरी और बाहरी शत्रु हैं (ते अप भवन्तु) वे दूर हों ।

९–‘ धाता धातॄणां भु- ’ (द्वि०) ‘ देवं त्रातारमभिमातिषाहम् ’ (तृ०) ‘ इमं यज्ञमश्विनोभा बृहस्पतिर्देवाः पान्तु यजमाने न्यर्थान् ’ इति ऋ० । (तृ०) ‘ बृहस्पतिरिन्द्राग्नी अश्विनोभा ’ इति पैप्प० सं० ।

१०–(द्वि०) ‘ महे तान् ’ (च०) ‘ अक्रन् ’ (तृ०) ‘ वसवोरुद्रा-आदित्या उपरिस्पृशं मा ’ इति क्वचित् पाठः । (प्र०) ‘ येनः शप-न्त्युपने ’ (द्वि०) ‘ अप बाधाम योनिम् ’ (तृ०) ‘ उपरिस्पृशो-माम् ’ (च०) ‘ अक्रन् ’ इति पैप्प० सं० ।

(एनान्) इन सब को (इन्द्राग्निभ्याम्) इन्द्र और अग्नि से इन्द्र=विद्युत् या सूर्य और अग्नि=आग और ज्ञान या राजा और सेनापति द्वारा अब (बाधामहे) विनष्ट करते हैं । (उपरि-स्पृशः) ऊर्ध्व देश को स्पर्श करने वाले (आदित्याः) सूर्य की किरण और (रुद्राः) वायुएं (चेत्तारं) समस्त संसार को चेतना देने हारे उस (उग्रं) बलवान् प्रभु को (अधि-राजम्) सब का स्वामी (अक्रत) बनाते हैं । राष्ट्र पक्ष में—(आदित्याः) सूर्य के समान ज्ञानी पुरुष और (रुद्राः) दुष्टों को रुलाने वाले वीर पुरुष सब मिलकर (चेत्तारम्) सब को चेताने वाले (उग्रं) बलवान् पुरुष को (अधिराजम् अक्रत) अपना स्वामी राजा बनाते हैं ।

अर्वाञ्चमिन्द्रममुतो हवामहे यो गोजिद् धनजिदश्वजिद् यः ।
इमं नो यज्ञं विहवे शृणोत्वस्माकमभूर्हर्यश्व मेदी ॥ ११ ॥

ऋ० १० । १२८ । परि० ॥

भा०—(अमुतः) उस परमात्मा के समान ही हम (अर्वाञ्चं) प्रत्यक्ष दीखने वाले इस लोक के (इन्द्रम्) राजा की (हवामहे) भी स्तुति करते हैं कि (यः) जो (गो-जित्) गौओं आदि पशुओं का विजेता (धन-जित्) धनों का विजेता, और (अश्व-जिद्) अश्वों का विजय करने वाला है । वह (नः) हमारे (इमं यज्ञं) इस यज्ञ को (वि-हवे) विशेष स्तुतिकाल और युद्ध काल में भी (शृणोतु) श्रवण करे । हे (हरि-अश्व) हरणशील अश्व=शक्तियों से सम्पन्न परमात्मन् और राजन् ! आप (अस्माकं) हमारे (मेदी) स्नेही (अभूः) हो । राजा और परमात्मा दोनों के पक्षों में समान है । अध्यात्म में—गौ=ज्ञानेन्द्रियां अश्व=कर्मेन्द्रियां धन=ज्ञान और कर्म फल, अमुक=परमात्मा और तदनुसार इस देह में यह इन्द्र=आत्मा ।



११–' विहवे जुषस्वास्य कुर्मो हरिवो मे दिनं त्वा ' इति ऋ० प० । ' विहवे जुषस्वास्माकं कृण्वो ह० मे० त्वा० ' इति पैप्प० सं० ।

[४] कोढ के नाशक कूठ ओषधि का वर्णन ।

भृग्वंगिरा ऋषिः । यक्ष्मनाशनः कुष्ठो देवता । १–४, ७, ९ अनुष्टुभः, ५ भुरिक्, ६ गायत्री, १० उष्णिग्गर्भा निचृत् । दशर्चं सूक्तम् ॥

यो गिरिष्वजायथा वीरुधां बलवत्तमः ।
कुष्ठेहि तक्मनाशन तक्मानं नाशयन्नितः ॥ १ ॥

भा०—हे (कुष्ठ) कूठ नाम का वृक्ष ! तू (यः) जो (गिरिषु) पर्वतों में (अजायथाः) उत्पन्न होता है इस कारण (वीरुधां) लताओं में से (बलवत्-तमः) सब से अधिक बलवान् है । हे (तक्म-नाशन) कुष्ठ आदि रोगों के नाश करने वाला ! तू (इतः) इस देह से (तक्मानम् नाशयन्) कुष्ठ आदि दुःखदायक रोग को नाश करता हुआ (आ इहि) हमें प्राप्त हो ।

कुष्ठ के विषय में राजनिघण्टु—"कफमारुतरक्तजित् त्रिदोषविष-कण्डूश्च कुष्ठरोगांश्च नाशयेत् ।"

सुपर्णसुवने गिरौ जातं हिमवतस्परि ।
धनैरभि श्रुत्वा यन्ति विदुर्हि तक्मनाशनम् ॥ २ ॥

भा०—जो पुरुष (तक्म-नाशनं) ज्वर के नाशक इसको (हि विदुः) निश्चय पूर्वक जान लेते हैं वे इसको (हिमवतः परि) हिमालय के ऊपर (सुपर्णसुवने गिरौ) सुपर्ण-गरुडों को उत्पन्न करने वाले अति उच्च गिरि-शिखर पर भी (श्रुत्वा) इसका नाम सुन कर (धनैः) अपने नाना द्रव्य व्यय करके (अभि यन्ति) वहां तक पहुंचते हैं और उसको उद्योग से प्राप्त

[४] २–(प्र०) 'सुवर्णसवने' (तृ० च०) 'धनैरभिश्रुतं हस्तिकुष्ठे तक्म-नाशनः' इति पैप्प० सं० ।

करते हैं। अथवा (धनैः[1]) उसकी पहिचान करने वालों के साथ (अभियन्ति) वहां पहुंचते हैं।

अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि।
तत्रामृतस्य चक्षणं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ ३ ॥

अथर्व० १९ । ३९ । ६ ॥ अथर्व० ६ । ९५ । १ ॥

भा०—(देव-सदनः) दिव्य गुणों का आश्रय (अश्वत्थः) सूर्य, (इतः) यहां से, इस लोक से (तृतीयस्याम् दिवि) तीसरे द्यौलोक में है। (तत्र) वहां ही (अमृतस्य) अमृत रस का वास्तविक (चक्षणं) परिदर्शन होता है। वही (देवाः) दिव्य किरणें (कुष्ठम्) कुष्ठ नामक ओषधि को (अवन्वत) पालित पोषित करती हैं, सेती हैं, पुष्ट करती हैं।

*हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि।
तत्रामृतस्य पुष्पं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ ४ ॥

अथर्व० १९ । ३९ । ७ ॥ अथर्व० ६ । ९५ । ५ ॥

भा०—(हिरण्ययी) तेजोमय (नौः) नाव के समान यह आदित्य (हिरण्य-बन्धना) तेजो-द्रव्य से बंधी हुई (अचरत्) विचरती है। (तत्र) वहां (अमृतस्य पुष्पं) अमृत रस ओषधियों के गुणकारी रस का पुष्प=पोषण सामर्थ्य है। (देवाः) उसकी दिव्य किरणें (कुष्ठम् अवन्वत) कूठ नामक ओषधि को सेवती और पुष्ट करती हैं।

---

१. धनं धिनोतीति सतः नि० ३ । २ । ३ ॥ धिवि जिवि प्रीणनार्थो भ्वादिः।

३–(च०) 'ततः कुष्ठोऽजायत' इति अथर्व० १९ । ३९ । ६ ॥

४–(तृ० च०) 'तत्रामृतस्य चक्षणं ततः कुष्ठोऽजायत' इति अथर्व० १९ । ३९ । ७ ॥

हिरण्ययाः पन्थान आसन्नरित्राणि हिरण्ययां ।
नावो हिरण्ययीरासन् याभिः कुष्ठं निरावहन् ॥ ५ ॥

भा०—उस सूर्य के (पन्थानः) किरणों के जाने के मार्ग (हिरण्ययाः) ज्योतिर्मय (आसन्) हैं और (अरित्राणि) समुद्र में नाव को खेने के लिये लगे चप्पुओं के समान सूर्य में लगी किरणें भी (हिरण्यया) स्वतः ज्योतिर्मय हैं । और उन ज्योतिर्मय चप्पुओं के आश्रय पर विचरने वाली (नावः) सूर्यमय नौकाएं भी (हिरण्ययीः) ज्योतिर्मय हैं (याभिः) जिनसे (कुष्ठं) कूठ नामक औषध को (निः-आवहन्) खूब पुष्ट करते हैं ।

इमं मे कुष्ठ पूरुषं तमा वह तं निष्कुरु ।
तमु मे अगदं कृधि ॥ ६ ॥

भा०—हे कुष्ठ ! ओषधे (मे) मेरे (इमं) इस (पूरुषं) पुरुष को (आ वह) आरोग्यता को प्राप्त करा, (तं निष्कुरु) उस को रोग से मुक्त कर और (तम् उ मे अगदं कृधि) मेरे इस पुरुष को रोग मुक्त बनाये रख ।

देवेभ्यो अधि जातो/सि सोमस्यासि सखा हितः ।
स प्राणाय व्यानाय चक्षुषे मे अस्मै मृड ॥ ७ ॥

भा०—हे कुष्ठ ! तू (देवेभ्यः) देवगण=किरण-समूहों से (अधिजातः असि) रस प्राप्त कर के उत्पन्न हुआ है । और (सोमस्य) सोमलता का (सखा) मित्र के समान उसी देश में उत्पन्न होने से अथवा (सोमस्य सखा) सोम ओषधि रस के समान होकर उस का सखा (हितः) और गुण में उसी के समान हितकारी है । (सः) वह तू (प्राणाय) शरीर के प्राण और (व्यानाय) शरीर में व्यापक व्यान वायु और (मे अस्मै) मेरे इस (चक्षुषे) चक्षु दोष को भी अच्छा कर के (मृड) सुखी कर ।

७-(तृ०) 'प्राणायापानाय' इति पैप्प० सं० ।

उदंङ् जातो हिमवंतः स प्राच्यां नीयसे जनंम् ।
तत्र कुष्ठस्य नामान्युत्तमानि वि भेजिरे ॥ ८ ॥

भा०—तू (उदङ्) उत्तर दिशा में (जातः) उत्पन्न होता है और हे कूठ ! तू (हिमवतः) हिमालय से (प्राच्यां) प्राची दिशा में रहने वाले (जनं) जनपदों में (नीयसे) लाया जाता है । (तत्र) वहां उस पूर्व देश में (कुष्ठस्य) कूठ के (उत्तमानि नामानि) उत्तम २ रूपों को (विभेजिरे) पृथक् २ विभक्त कर देते हैं । अर्थात् सब कूठ की जातियों में से उत्तम २ जातियों को छांट लेते हैं ।

उत्तमो नामं कुष्ठास्युत्तमो नामं ते पिता ।
यक्ष्मं च सर्वं नाशयं तक्मानं चारसं कृधि ॥ ९ ॥

भा०—हे (कुष्ठ) कूठ (ते नाम उत्-तमः) तेरा नाम उत्तम है । (ते पिता उत्-तमो नाम) तेरा पालक भी उत्तम सूर्य या पर्वत सब से ऊपर विराजमान है, या ऊंचा है । तू (सर्वं यक्ष्मं नाशय) समस्त यक्ष्म रोगों को नाश कर और (तक्मानं च) तक्मा, कोढ़ रोग को (अरसं) निर्बल, विष-रहित (कृधि) कर ।

शीर्षामयमुपहत्यामक्ष्योस्तन्वो३ रपः ।
कुष्ठस्तत् सर्वं निष्करद् दैवं समह वृष्ण्यम् ॥ १० ॥

भा०—मैं (शीर्ष-आमयम्) सिर के रोग को और (अक्ष्योः तन्वः रपः) आंखों और शरीर के दोष को (उप-हत्याम्) विनाश करूं । (कुष्ठः) कूठ औषध (दैवं वृष्ण्यम्) दिव्य ओषधि के समान प्रभावशाली पुष्टिकरण

८–(द्वि०) ‘ प्राच्यं ’

९–(तृ० च०) ‘ यतः कुष्ठ प्रजायसे तदेह्यरिष्टतातये ’ इति पैप्प० सं० ।

१०–(प्र०) ‘शीर्षहत्यमुपहत्य’ (तृ०) ‘कुष्ठो नो विश्वतस्पात्’ इति पैप्प० सं० ।

होने के कारण (सम् अह) बड़ी उत्तम रीति से (तत् सर्वं) वह सब कुछ (निष्करत्) कर देता है ।

अध्यात्म ब्रह्म-वाद में भी यह सूक्त लगता है । 'अश्वत्थो देवसदनः तृतीयस्यामितो दिवि' यह अलंकार, छान्दोग्य में ब्रह्मप्रकरण में मोक्ष विषयक दिया है । इस लिङ्ग से कुष्ठ=परमेश्वर=गिरिष्ठ, कौ वाचि तिष्ठति इति कुष्ठः इसका अर्थ है वही जो 'गिरिष्ठ' शब्द का है अर्थात् समस्त वेदवाणी में व्यापक है । १-वही सब दुखों का नाशक है । वही आनन्द वल्ली होने से सब लताओं में बलवान् परम भव-भेषज है। २-हिमवान् सुमेरु=मेरु दण्ड के ऊपर सुपर्णसुवन=मस्तक भाग में ज्ञानरूप से एवं योगाभ्यास में ब्रह्म-रन्ध्रस्थल में प्रकाशरूप से प्रकट होता है । ३-उस शरीर के तृतीय लोक मूर्धा में इन्द्रियरूप देवों के एक मात्र आश्रय अश्वत्थ परम-आत्मा है उसी में अमृत का दर्शन होता है । उसी को देव गण 'कुष्ठ' कहते हैं। ४-वहीं एक हिरण्ययी नाव है जो तेजोमय विशोका ज्योतिष्मती, प्रज्ञा या ऋतम्भरा है । ५-उस के सब मार्ग ज्योतिर्मय हैं वह अपने ज्योतिर्मय रश्मियों से उस 'कुष्ठ' आत्मा को धारण करती है,। ६-वही कुष्ठ का दर्शन पुरुष आत्मा को अगद=भव रोग से निवृत्त करता है । वही ब्रह्मानन्द सोम परमामृत रस का अपर-पर्याय है। प्राण व्यान चक्षु सब को बल देता है । ८-वही ऊर्ध्व देश में उत्पन्न ब्रह्मानन्द शरीर के रोग में व्याप जाता है । ९-समस्त देह-दुःख उस को पाकर टूट जाता है । १०-शिर, चक्षु, देह सब निरोग, सबल और प्रफुल्लित हो जाते हैं । इसके अतिरिक्त विशाल विराड् ब्रह्माण्ड में तारामण्डलों में ज्योतिषियों ने एक चित्र कल्पना कर रखा है । इसमें अश्वत्थ, सुपर्ण, हिरण्ययी नौका आदि की कलपना भी उसी प्रकार है जैसे मृगशिरा, रोहिणी, कर्कट, सिंह आदि की है यह हिरण्यमयी नौका वह तारा मण्डल है जिसको अंग्रेज़ी में 'अर्गो'=अर्णवयानमण्डल कहते हैं ।



[५] सिलाची=लाक्षा ओषधि का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । लक्ष्मी देवता । १—९ अनुष्टुभः । नवर्चं सूक्तम् ॥

रात्री माता नभः पितार्यमा ते पितामहः ।
सिलाची नाम वा असि सा देवानामसि स्वसा ॥ १ ॥

भा०—सिलाची नाम ओषधि का उपदेश करते हैं । सिलाची=लाख नामक ओषधि की (माता) माता के समान पालन पोषण और वृद्धि करने वाली (रात्री) रात्रि है । अर्थात् वह रात में बढ़ती है, (नभः) अधिक न चमकने वाला, चन्द्रमा, नक्षत्रमय आकाश उसका (पिता) पालन करने वाला है । वह रात्रि की ओस से बढ़ती है और (ते पितामहः) तेरा पितामह (अर्यमा) सूर्य है । तो भी परम्परा से वह ओषधि सूर्यप्रकाश की अपेक्षा करती है । हे ओषधे तू (सिलाची नाम वा असि) 'सिलाची' नाम वाली है । तू (देवानाम् स्वसा असि) देव विद्वानों की भगिनी के समान रोगियों को सुख देने में सहायक है । अथवा देह में विद्यमान देव इन्द्रियों को स्वयं गति देने में समर्थ है ।

यस्त्वा पिबति जीवति त्रायसे पुरुषं त्वम् ।
भर्त्री हि शश्वतामसि जनानां च न्यञ्चनी ॥ २ ॥

भा०—उसके गुण बतलाते हैं । हे ओषधे ! (यः त्वा पिबति) जो तुझ को पान करता है । (जीवति) वह दीर्घ जीवन धारण करता है, वह मृत्यु से बच जाता है । क्योंकि (त्वम्) तू (पुरुषं) पुरुष को (त्रायसे) मृत्यु से रक्षा करती है और (हि) क्योंकि तू (शश्वतां) अनादि काल से

[५] १—' शिलादी नाम वासि ' इति पैप्प० सं० ।
२—(तृ०) ' धर्त्री च ' इति पैप्प० सं० ।

चले आये (जनानां) मनुष्यों की (भर्त्री हि) भरण पोषण करने वाली (असि) है । और इसीलिये (नि-अञ्चनी) सब रोगों को दबाने वाली अथवा समस्त शरीर में सुगमता से व्याप जाने वाली भी है ।

वृक्षंवृक्षमा रोहसि वृषण्यन्तीव कन्यला ।
जयन्ती प्रत्यातिष्ठन्ती स्परणी नाम वा असि ॥ ३ ॥

भा०—(वृषण्यन्ती) काम से प्रेरित होकर पति की अभिलाषा करने वाली (कन्यला) कन्या नवयुवति जिस प्रकार स्वयंवर काल में पुरुष को देख कर उस का आश्रय लेने का संकल्प करती है उसी प्रकार हे ओषधे ! तू भी (वृक्षं-वृक्षं) प्रत्येक वृक्ष पर (आरोहसि) आश्रय लेती है । और (जयन्ती) उस पर फैल कर उसको पूरी तरह से उसे छा लेती है और पुनः (प्रति-आ-तिष्ठन्ती) उस पर खूब मजबूती से जड़ जमाकर स्थिर हो जाती है । तेरा दूसरा नाम (स्परणी नाम वा असि) 'स्परणी' भी है ।

यद् दण्डेन यदिष्वा यद् वारुर्हरसा कृतम् ।
तस्य त्वमसि निष्कृतिः सेमं निष्कृधि पूरुषम् ॥ ४ ॥

भा०—इसके गुणों का उपदेश करते हैं । (यद्) जो (अरुः) घाव (दण्डेन) दण्डे की चोट से (यद् इष्वा) और जो घाव बाण के लगने से और (यद् वा अरुः) जो घाव (हरसा कृतम्) किसी रगड़ से या वेगवान् पदार्थ से होगया है (तस्य) उसको (त्वम् निष्कृतिः असि) तू सर्वथा दूर करने में नाचूक औषध है । (सा) ऐसी वह तू ओषधि (इमं पूरुषं निष्कृधि) इस पुरुष को चंगा कर ।

३-(च०) ' संजया नाम वासि ' इति पैप्प० सं० ।
४-(तृ० च०) 'त्वमसि भीषजी निष्कृतिर्नाम वासि' इति पैप्प० सं० ।

भद्रात् प्लक्षान्निस्तिष्ठस्यश्वत्थात् खदिराद्धवात् ।
भद्रान्न्यग्रोधात् पर्णात् सा न एह्यरुन्धति ॥ ५ ॥

भा०—इसके उत्पन्न होने के वृक्षों का उपदेश करते हैं। हे ओषधे ! तू (भद्रात्) उत्तम (प्लक्षात्) प्लक्ष-पिलखन के पेड़ से, (अश्वत्थात्) पीपल के पेड़ से और (खदिरात्) खैर के पेड़ से और (धवात्) बबूल के पेड़ से और (भद्रात्) उत्तम (न्यग्रोधात्) वड़ के पेड़ से और (पर्णात्) पर्ण=पलाश=ढाक के पेड़ से (निः तिष्ठसि) निर्यासरूप होकर उस पर आ जमती है । हे (अरुन्धति) अरु=घावों को भर देने वाली ओषधे ! (सा) वह तू (नः एहि) हमें प्राप्त हो ।

हिरण्यवर्णे सुभगे सूर्यवर्णे वपुष्टमे ।
रुतं गच्छासि निष्कृते निष्कृतिर्नाम वा असि ॥ ६ ॥

भा०—उसके स्वरूप का उपदेश करते हैं । हे (हिरण्य-वर्णे) स्वर्ण के समान पीत रंग वाली, (सु-भगे) सुन्दर चमक से युक्त (सूर्य-वर्णे) सूर्य के समान लाल पीले, चमकीले रंग वाली (वपुष्टमे) अपने बीजवपन करने और फैलने में सब से अधिक शक्तिशाली ! हे (निष्कृते) रोग को सर्वथा दूर करने वाली ! तू (निष्कृतिः नाम वा असि) 'निष्कृति' नाम वाली ही है । तू सर्वरोगहारिणी है । तू (रुतं) रुत=व्रण पर ही (गच्छासि) प्रयोग की जाती है । अथवा नामानुरूप गुण को प्राप्त करती है ।

हिरण्यवर्णे सुभगे शुष्मे लोमशवक्षणे ।
अपामसि स्वसा लाक्षे वातो ह्यात्मा बभूव ते ॥ ७ ॥

६–(प्र०) 'हिरण्यबाहू' (च०) 'सेमं निष्कृधि पौरुषम्' इति पैप्प० सं० ।

७–(प्र०) 'हिरण्यवर्णे युवते' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (हिरण्य-वर्णे) सुवर्ण के वर्णवाली ! हे (सु-भगे) सुन्दर कान्ति, सौभाग्य वाली ! हे (लोमशवक्षणे) पार्श्वों पर सूक्ष्म रोमवाली ! तू (अपाम् स्वसा असि) जलों की भगिनी के समान उन में अपना रस छोड़ देने वाली है । हे (लाक्षे) लाख नाम वाली ओषधे ! (ते आत्मा) तेरा देह (वातः हि बभूव) वस्तुतः, वात स्वरूप है । अर्थात् वायु से तू पुष्ट होती है ।

सिलाची नाम कानीनोजबभ्रु पिता तव ।
अश्वो यमस्य यः श्यावस्तस्य हास्नास्युक्षिता ॥ ८ ॥

भा०—(सिलाची नाम कानीना) सिलाची नाम की ओषधि कन्या-स्वरूप है । हे ओषधे ! (तव पिता अजबभ्रु) तेरा पिता उत्पादक 'अजबभ्रु' और (यमस्य) सर्वनियामक परमात्मा का (यः) जो (श्यावः) नित्य-गतिशील (अश्वः) अश्वरूप सूर्य है (तस्य) उसके (अस्ना) रस से (उक्षिता) तू सिंची हुई है ।

'अजबभ्रु' वह वृक्ष हैं जिन पर बकरियां चरायी जाती हैं जैसे-पीपल, बड़, बेरी आदि । ' सिलाची ' इसलिये कहा जाता है अपनी चिपकने वाली लेस से वह शाखाओं पर चिपटी रहती है ।

अश्वस्यास्नः सम्पतिता सा वृक्षाँ अभि सिष्यदे ।
सरा पतत्रिणी भूत्वा सा न एहि्यरुन्धति ॥ ९ ॥

भा०—हे ओषधे ! (अश्वस्यः) सूर्य के (अस्नः) लाल रस से (सम्पतिता) संयुक्त होकर (सा) वह ओषधि (वृक्षान् अभि सिष्यदे)

८—'आजबभ्रुः' इति ग्रिलः । (च०) ' आस्ना ' इति ह्विटनिकामितः ।
(प्र०) ' घृताची नाम कनीनोत बभ्रूः पिता तव ' इति पैप्प० सं० ।
९—(द्वि०) ' सा प्राणमभिशुष्यति ' इति पैप्प० सं० ।

वृक्षों पर से स्रवित होती है । हे (अरुन्धति !) व्रण पूरने वाली ओषधे ! (सरा) बहने वाली या फैलने वाली (सा) वह तू (पतत्रिणी) पत्तों वाली अर्थात् शाखा पर चिपटे छिलकों वाली खूब परिपक्वावस्था में (नः) हमें (एति) प्राप्त हो । लाख को चपड़ा बनाया जाता है तब उसे पिघला कर पत्रों के समान चादरें बिछादी जाती हैं वह बहुत उत्तम और औषध में काम लायी जाती है ।

इति प्रथमोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि पञ्च, ऋचश्चाष्टचत्वारिंशत् ।]

[६] जगत्-स्रष्टा का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । १ सोमरुद्रौ, ब्रह्मादित्यौ, कर्माणि रुद्रगणाः हेतिश्च देवताः । १ त्रिष्टुप्, २ अनुष्टुप्, ३ जगती, ४ अनुष्टुब्बुष्णिक् त्रिष्टुब्गर्भा पञ्चपदा जगती, ५–७ त्रिपदा विराड् नाम गायत्री, ८ एकावसाना द्विपदाच्यनुष्टुप्, १० प्रस्तार पंक्तिः, ११, १३, पंक्तयः, १४ स्वराट् पंक्तिः । चतुर्दशर्चं सूक्तम् ॥

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद् वि सीमतः सुरुचो वेन आवः ।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च वि वः ॥१॥

अथर्व० ४ । १ । १ ॥ साम० पू० प्र० ४ । ३ । ९ ॥

भा०—(वेनः) ज्ञानवान्, तेजस्वी परमात्मा ने (प्रथमं) सब से प्रथम या अतिविस्तीर्ण रूप से (जज्ञानम्) प्रकट होते हुए (ब्रह्म) बृहदाकार ब्रह्माण्ड को (पुरस्तात्) इस समस्त संसार की रचना के पूर्व ही उत्पन्न किया और (सुरुचः) कान्तिमान लोकों को (सीमतः) उसके बीच में से (वि आवः) बना कर प्रकट किया । (सः) उस ही परमात्मा ने (बुध्न्याः) आकाश में उत्पन्न हुए (अस्य उपमाः) उसके ही सदृश

(वि-स्थाः) विशेष रूप से स्थित अन्य ब्रह्माण्ड भी स्थापित किये । अथवा (अस्य) इस जगत् के (उपमाः) बनाने वाले (बुध्न्याः) मूल आधार-भूत (विष्ठा) व्यवस्थाएं भी (वि वः) प्रकट कीं और उसने ही (सतः च) इस सद्रूप जगत् और (असतः च) अव्यक्त प्रकृति के (योनिम्) मूल-कारण को (वि वः) प्रकट किया है ।

अनाप्ता ये वः प्रथमा यानि कर्माणि चक्रिरे ।
वीरान् नो अत्र मा दभन् तद् वः एतत् पुरो दधे ॥ २ ॥

अथर्व० का० ४ । ७ । ७ ॥

भा०—(ये) जो (वः) तुम लोगों में से हे पुरुषो ! (अनाप्ताः) आप्त अर्थात् पूर्ण ज्ञानी नहीं होकर (यानि कर्माणि) जिन कर्मों को (चक्रिरे) करते हैं, उनके अज्ञान से किये काम (अत्र) इस संसार में (नः वीरान्) हमारे पुत्रों को (मा दभन्) हानिकारक न हों । इस-लिये (तत् एतत्) उस परम ज्ञानमय इस वेद को मैं परमात्मा (वः) तुम्हारे (पुरः) आगे (दधे) स्थापित करता हूं ।

सहस्रधार एव ते समस्वरन् दिवो नाके मधुजिह्वा असश्चतः ।
तस्य स्पशो न नि मिषन्ति भूर्णयः पदेपदे पाशिनः सन्ति सेतवे ॥३॥

ऋ० ९ । ७३ । ४ ॥

भा०—(दिवः) ज्ञानस्वरूप, प्रकाशमय परमात्मा के उस (नाके) परम सुखमय (सहस्र-धारे) सहस्रों धारण-शक्तिसम्पन्न लोक में (एव) ही (ते) वे नाना मुक्त जीव (असश्चतः) स्थिर कूटस्थ, निश्चल, शान्त-स्वभाव होकर (मधु-जिह्वाः) मधुर रसना से, ज्ञानमयी मनोहर वाणी से

[६] ३–ऋग्वेदे पवित्र ऋषिः, पवमानः सोमो देवता । ‘सहस्रधारेऽवते’, ‘तस्य-स्पशो’, ‘सन्ति सेतवः’ इति ऋ० । सहस्रममिते सम’ इति पैप्प० सं० ।

(सम्-अस्वरन्) ऐसे वेद-ज्ञान का गान कर रहे हैं कि (तस्य) उस परमेश्वर के (भूर्णयः[1]) समस्त संसार के भरण पोषण करने या धर पकड़ने वाले (स्पशः) सब के चरित्रों को देखने वाले दूत (न निमिषन्ति) एक क्षण भी असावधान होकर आंख नहीं झपकते । प्रत्युत अनर्थकारियों को (सेतवे) बांधने के लिये तो वे (पदे-पदे) पद २ पर (पाशिनः) हाथों में पाश-दण्ड या फन्दा लिये हुए (सन्ति) खड़े हैं । वे सज्जनों का पालन और दुष्टों का दमन करते हैं ।

पर्यू षु प्र धन्वा वाजसातये परि वृत्राणि सक्षणिः ।
द्विषस्तदध्यर्णवेनेयसे सनिस्रसो नामासि
त्रयोदशो मास इन्द्रस्य गृहः ॥ ४ ॥ ऋ० ७ । ११० । १ ॥

भा०—हे सोम ! राजन् ! (वाजसातये) ज्ञान, धन, वीर्य या अन्न की प्राप्ति के लिये जब आप (वृत्राणि) सब आवरणकारी विघ्नों को (सक्षणिः) सहनशील होकर (परि उ सु प्र धन्वा) परे मार भगाते हो । आप ही (तत्) तब (अर्णवेन) समुद्र के द्वारा भी (द्विषः) शत्रुओं पर (अधि ईयसे) चढ़ाई करते हो । इसीलिये आपका (सनिस्रसः नाम असि) नाम 'सनिस्रस'=पराक्रमी, 'विक्रम' से शत्रु पर चढ़ाई करने में चतुर है । यह बात ठीक है कि (त्रयोदशो मासः) तेरहवां मास (इन्द्रस्य गृहः) इन्द्र का घर है । अर्थात् जिस प्रकार बारहों मास अतिक्रमण करके इन्द्र=सूर्य तेरहवें

---

१. 'बिभर्ति धरति सर्वमिति भूर्णिः' दयानन्दउणादिव्याख्यायाम् । भृ भर्त्सने भरणे चेति, भर्त्सनशीला इति क्षेमकरणः ।

४–ऋग्वेदे अरुणत्रसदस्यू ऋषी । पवमानः सोमो देवता । (तृ०) 'द्विषस्तरध्या ऋणयान ईरसे' इति पाठभेदः साम० । तत्रैव 'द्विष०…… ईयसे' इति ऋ० । (च०) 'सहस्रशो नामा' (तृ०) 'दिवस्तद' इति पैप्प० सं० ।

मास में पैर रख देता है इसी प्रकार वीर भी शत्रु के द्वादश राजमण्डल का विजय करके तेरहवें स्थान पर स्वतः इन्द्र होकर विराजता है ।

न्वे३तेनारात्सीरसौ स्वाहा ।

तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशेवौ सोमारुद्राविह सु मृडतं नः ॥ ५ ॥

उत्तरार्धं भागः ऋ० ७ । ७४ । ४ प्र०, द्वि० ॥

भा०—प्रजा के प्रतिनिधि राजा से कहें कि (एतेन) निश्चय से इस प्रकार के सुगुप्त मन्त्र द्वारा ([अ] नु-अरात्सीः असौ) हे राजन् ! वह तू सिद्धि को प्राप्त हो । (स्वाहा) यह हमारी सद्-भावना है और प्रजा चाहे कि (तिग्मायुधौ) तीक्ष्ण हथियार वाले और (तिग्महेती) तीक्ष्ण अस्त्र वाले (सोमारुद्रौ) राजा और सेनापति दोनों (सुशेवौ) सुखपूर्वक सेवा करने योग्य होकर (इह) इस राष्ट्र में (नः) हमें (सु मृडतम्) सुखी रखें ।

अवै३तेनारात्सीरसौ स्वाहा । तिग्मा० ॥ ६ ॥

भा०—प्रजा के प्रतिनिधि राजा से कहें कि (एतेन) इस प्रकार के उपाय से (असौ) हे अमुक राजन् ! तू शत्रुओं को (अव अरात्सीः) नीचे दबाने में सफल हो (स्वाहा) यह हमारी सद्-इच्छा है । (तिग्मायुधौ०) तीक्ष्ण अस्त्र शस्त्र वाले राजा और सेनापति दोनों सुखपूर्वक सेवा करने योग्य होकर हमें सुखी बनावें ।

अपै३तेनारात्सीरसौ स्वाहा ।

तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशेवौ सोमारुद्राविह सु मृडतं नः ॥७॥

५—'वीतेना वैतेना मैतेन रात्स्यीरसौ स्वाहा [?]' (द्वि० तृ०) सुशेवाग्निषोमाविह' इति पैप्प० सं० । (प्र०) 'नैतेन' इति ह्विटनि-कामितः । 'अनु-एतेन' इति पेट० लाक्षणिकः । 'वि-एतेन अरात्सीः' इति पैप्पलादाभिप्रेतः पाठः ।

भा०—प्रजा के प्रतिनिधि राजा से कहें कि (असौ) हे अमुक राजन् ! तू (एतेन) इस अमुक उपाय से (अप अरात्सीः) शत्रुगण को परे भगा देने में समर्थ हो । (तिग्मायुधौ०) तीक्ष्ण अस्त्र शस्त्र वाले राजा और सेनापति दोनों हमें सुखी बनावें ।

मुमुक्तमस्मान्दुरितादवद्याज्जुषेथां यज्ञममृतमस्मासु धत्तम् ॥ ८ ॥

भा०—हे राजन् और सेनापते ! आप दोनों (अस्मान्) हम प्रजाजनों को (अवद्याद्) निन्दनीय (दुरिताद्) दुराचार से (मुमुक्तम्) मुक्त करें । और (यज्ञं) हमारे संगठन को (जुषेथाम्) आप प्रेम से देखें और उसमें योग दें । और (अस्मासु) हम में (अमृतम्) जीवन और ज्ञान और अमृत—मृत्यु और शत्रु से होने वाले भय का पूर्ण प्रतीकार (धत्तम्) करें ।

चक्षुषो हेते मनसो हेते ब्रह्मणो हेते तपसश्च हेते ।
मेन्या मेनिरस्यमेनयस्ते सन्तु येऽस्माँ अभ्यघायन्ति ॥ ९ ॥

भा०—हे (चक्षुषः हेते) चक्षु के आयुध ! हे (मनसः हेते) मन के आयुध ! हे (ब्रह्मणः हेते) ब्रह्म=ज्ञान के आयुध ! और (तपसः च हेते) तपः-सामर्थ्य के आयुधरूप राजन् ! तू (मेन्याः मेनिः असि) मेनि=आयुध का भी तू आयुध है । (ये अस्मान्) जो हम पर (अभि-अघायन्ति) सब तरफ़ से पापाचार करना चाहते हैं (ते अमेनयः सन्तु) वे सदा बिना हथियार के रहें । शत्रु पर आंख रख कर उसको दबाना चक्षु का शस्त्र फेंकना है । मानस—मन्त्र-शक्ति से दबाना मन का हथियार चलाना है, विद्वानों के विज्ञान का वार करना ब्रह्म का हथियार चलाना है,

८–(प्र०) 'अस्माद् गृभीथाद्' इति पैप्प० सं० ।

९–'वचो हेते ब्रह्मणो हेते । यो मा अघायुरभिदासति तमग्ने मेन्यामेनिं कृणु' इति तै० ब्रा० ।

इसी प्रकार बल, तपस्या, सहन-शक्ति से शत्रु पर वार करना तप का हथियार चलाना है।

योऽ३स्माँश्चक्षुषा मनसा चित्त्याकूत्या च यो अघायुरभिदासात्।
त्वं तानग्ने मेन्याऽमेनीन् कृणु स्वाहा॥ १०॥

भा०—(यः व अघ-युः) जो जो पापाचारी पुरुष (अस्मान्) हमें (चक्षुषा) अपनी दुर्भावमय आंखों से अपने (मनसा) मन से, (चित्या) अपने ज्ञान से और (आकूत्या) अपने मन्त्र, सलाहों से (अभि-दासात्) हमें नाश करना चाहता है हे अग्ने ! राजन्, सेनापते ! (तान्) उन शत्रुओं को तू अपने (मेन्या) तलवार के ज़ोर से (अमेनीन्) निःशस्त्र (कृणु) कर (स्वाहा) हमारी तुझे यही उत्तम सलाह है।

इन्द्रस्य गृहोऽसि। तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुः
सर्वपूरुषः सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेऽस्ति तेन॥ ११॥

भा०—शरणागतों को उपदेश है कि वे राजा से कहें कि (इन्द्रस्य गृहः असि) इन्द्र=ऐश्वर्यशील उस राज शक्ति का तू गृह=आश्रय-स्थान है। हे राजन् ! (तं त्वा प्रपद्ये) मैं तेरी शरण हो तुझे प्राप्त होता हूं, (तं त्वा प्र विशामि) उस परमशक्तिमान् की सेवा में प्रविष्ट-भर्ती होता हूं। मैं (सर्वगुः) अपनी सब गौओं, इन्द्रियों सहित, (सर्व-पूरुषः) सब पुरुषों सहित (सर्वात्मा) सब मन और (सर्व-तनूः) सब शरीरों और (यत् मे अस्ति तेन) और जो भी मेरा है उसके सहित तेरी शरण होता हूं।

१०–'यो मा चक्षुषा यो मनसा यो वाचा ब्रह्मणाऽघायुरभिदासति तपोऽग्ने त्वां मेन्यामुममेनिं कृणु' इति तै० ब्रा०। 'त्वमग्ने त्वं मेन्यामेनिं कृणु' इति पैप्प० सं०।

११–'सर्व पौरुषः' इति पैप्प० सं०।

राजा जिनको अपने साथ मिलावे उनसे इस प्रकार का प्रतिज्ञापत्र लिखा कर अपने साथ लेकर उनको अपनी सेना आदि के कार्यों में नियुक्त करे ।

इन्द्र॑स्य॒ शर्मा॑सि । तं त्वा॑० ॥ १२ ॥

भा०—(इन्द्रस्य शर्म असि) हे राजन् ! तू इन्द्र=ऐश्वर्यशाली शक्ति का आश्रय स्थान है (तं त्वा प्रपद्ये०) तुझे मैं प्राप्त होता हूं, तेरी सेवा में आता हूं, इत्यादि पूर्ववत् ।

इन्द्र॑स्य॒ वर्मा॑सि । तं त्वा॑० ॥ १३ ॥

भा०—हे राजन् ! तू (इन्द्रस्य वर्म असि) इन्द्र=ऐश्वर्यशाली पद का कवच के समान रक्षक है । (तं त्वा०) उस तेरी मैं शरण में आता हूं, इत्यादि पूर्ववत् ।

इन्द्र॑स्य॒ वरू॑थमसि । तं त्वा॒ प्र प॑द्ये॒ तं त्वा॒ प्र वि॑शामि॒ सर्व॑गुः सर्व॑पूरुषः सर्वा॑त्मा सर्व॑तनूः स॒ह यन्मेऽस्ति॒ तेन॑ ॥ १४ ॥

भा०—(इन्द्रस्य वरूथम् असि) हे राजन् ! तू उस इन्द्र के समृद्धिशाली पद का वरूथ=स्वीकार करने वाला रक्षक है । (तं त्वा प्रपद्ये) मैं तेरी शरण आता हूं, तेरे कार्य में नियुक्त होता हूं, इत्यादि पूर्ववत् ।

११, १२, १३, १४ इन चार मन्त्रों में राजा के प्रति शरणागतों के कर्त्तव्यों का उपदेश किया है कि वे राजा की शरण में अपनी गौ, पुरुष देह और समस्त भूमि धन आदि सहित शरण में आयें, और ऐसा प्रतिज्ञापत्र भी लिख दें ।



[७] अधीन भृत्यों को वेतन देने की व्यवस्था।

अथर्वा ऋषिः। बहवो देवताः। १-३, ६-१० आदित्या देवताः, ४, ५ सरस्वती, १ विराड्गर्भा प्रस्तारपंक्तिः, ४ पथ्या बृहती, ६ प्रस्तारपंक्तिः, २, ३, ५, ७-१० अनुष्टुभः। दशर्चं सूक्तम्॥

आ नो भर मा परि ष्ठा अराते मा नो रक्षीर्दक्षिणां नीयमानाम्।
नमो वीर्त्सायां असमृद्धये नमो अस्त्वरातये॥ १॥

भा०—विद्वानों को भरण पोषण और वृत्ति देने के विषय में उपदेश करते हैं। हे (अराते) पर द्रव्य को दूसरों को न देने वाले पुरुष! (नः आ भर) हमें हमारा उचित पालन पोषण योग्य द्रव्य दे दिया कर। (मा परि-ष्ठाः) उदासीन होकर चिन्ता में मत खड़ा रह। (नः) हमारे लिये (नीयमानां दक्षिणाम्) लायी गयी दक्षिणा=श्रेष्ठ कर्म के लिये आदर पूर्ण पुरस्कार—ऋत्विग् लोगों की भृति को (मा रक्षीः) अपने पास मत रख। (वि-ईर्त्सायै) विशेष ऋद्धि के प्राप्त करने की इच्छा-प्रलोभन या लालसा को भी (नमः) वज्र के समान दूर से त्याग करते हैं और साथ ही (नमः असम्-ऋद्धये) समृद्धि का न होना या दरिद्रता को भी नमस्कार है वह भी नहीं चाहिये। और हे दाता तू भी निष्कपट होकर कह कि (नमः अस्तु अरातये) न देने के भाव=कंजूसी को भी दूर से (नमः) नमस्कार हो, अर्थात् उसे भी धत्ता बता। देने वाला कंजूस न हो, लेने वाले लालची न हों तो ग़रीबी अवश्य दूर हो जाती है।

यमराते पुरोधत्से पुरुषं परिरापिणम्।
नमस्ते तस्मै कृण्मो मा वनिं व्यथयीर्मम॥ २॥

भा०—हे (अराते) अमी पुरुषों और विद्वान् कार्यकर्त्ताओं को उन का पुरस्कार न देने हारे पुरुष! तू (यम्) जिस (पुरुषं) पुरुष को

(परि-रापिणं) नाना प्रकार से अपने आगे बुरा भला कहते हुए, अपने आगे अपने वेतन के लिये बड़बड़ाते हुए को (पुरः-धत्से) आगे खड़ा रखता है । (ते) ऐसे तुझ और (तस्मै) ऐसे तेरे उस पुरुष को भी (नमः कृण्मः) नमस्कार करते हैं, अर्थात् ऐसी दशा कभी समाज में नहीं आने देना चाहते । क्योंकि प्रत्येक पुरुष यह चाहता है कि (मम) मेरी (वनिं[1]) वृत्ति को (मा व्यथयीः) हे मेरे मालिक तू मत मार, मुझे हानि मत पहुंचा, नहीं तो तेरे सेवक तेरे सामने तुझे बुरा भला सुनावेंगे और गिड़ गिड़ावेंगे ।

प्र णो वनिर्देवकृता दिवा नक्तं च कल्पताम् ।
अरातिमनुप्रेमो वयं नमो अस्त्वरातये ॥ ३ ॥

भा०—(नः वनिः) हमारा भाग, वृत्ति (देवकृता) विद्वान् पुरुषों ने नियत की है । इसलिये वह (दिवा नक्तं च) दिन और रात (प्र कल्पताम्) उत्तम रीति से बराबर बनी रहे । (अरातिम्) न देने हारे कंजूस पुरुष के पास (अनु प्र-इमः) फिर उसके अनुकूल होकर उसके पास आते और कहते हैं कि (नमः अरातये अस्तु) अदानशील को नमस्कार अर्थात् उसको दबाया जाने का उपाय हो । नमः=वज्रम् । (शत०)

सरस्वतीमनुमतिं भगं यन्तो हवामहे ।
वाचं जुष्टां मधुमतीमवादिषं देवानां देवहूतिषु ॥ ४ ॥

[७] २–१. वनिरिति भृत्यपरपर्यायः श्रौतसूत्रेषु प्रसिद्धः । तद्यथा वनी वाहनं भृत्यर्थं ऋत्विजां वचनम् । वन सन सम्भक्तौ । वनिः सम्भागः । वन्यते याच्यते इति वनिः इति दयानन्द उणादिव्याख्यायाम् ।

३–(प्र०). ' प्र वो ' इति क्वचित् ।

४–' सरस्वतीमनुमित ' इति क्षेमकरणमुद्रितः पाठः प्रामादिकः ।

भा०—(भगं यन्तः) ऐश्वर्य को प्राप्त होते हुए भी (अनुमतिं) अपने से बड़ों को अनुमति और (सरस्वतीं) वेद की ज्ञानमयी वाणी को (हवामहे) बराबर लेते, याद रखते और पाठ करते हैं । और हम विद्वान् लोग (देवहूतिषु) विद्वानों की एकत्रित सभाओं और यज्ञ कार्यों में (देवानां) देव विद्वानों की (जुष्टां) अति प्रिय (वाचं) वेद वाणी को (अवादिषं) हम बोलें और उसका उपदेश करें ।

यं याचाम्यहं वाचा सरस्वत्या मनोयुजा ।
श्रद्धा तमद्य विन्दतु दत्ता सोमेन बभ्रुणा ॥ ५ ॥

भा०—(यं) जिस स्वामी से (अहं) मैं (मनोयुजा) अपने मन से युक्त (सरस्वत्या) सुन्दर अर्थ और सार वाली (वाचा) वाणी से (याचामि) मांगता हूं, (तम्) उस स्वामी को (अद्य) आज (बभ्रुणा) सब के परिपालक (सोमेन) सब का उत्पादक परमात्मा के (दत्ता) दी गयी (श्रद्धा) सत्य धारणा वाली आदर भक्ति (विन्दतु) प्राप्त हो । अर्थात् विद्वान् ब्राह्मण के उपदेश आदि कर चुकने के पश्चात् दक्षिणा प्राप्त करने के अवसर पर जो दाता के हृदय में श्रद्धा है वह परमात्मा की दी हुई है । प्रभु के प्रेम से पुरुष विद्वानों का आदर करता है ।

मा वनिं मा वाचं नो वीर्त्सीरुभाविन्द्राग्नी आ भरतां नो वसूनि ।
सर्वे नो अद्य दित्सन्तोरातिं प्रति हर्यत ॥ ६ ॥

भा०—हे स्वामिन् ! (वनिं) किसी के वेतन-वृत्ति आदि को (मा वि-ईर्त्सीः) मत रोक और (मा वाचं) वेद-वाणी के उपदेशों को भी मत रोक । (इन्द्राग्नी) ऐश्वर्यवान् राजा और विद्यावान् ज्ञानी पुरुष (नः) हमें (वसूनि) वास और जीवन योग्य पदार्थों को (नः) हमें (आ भरताम्) बराबर सब प्रकार से प्राप्त कराते रहें । हे (दित्सन्तः) दान करने में उत्सुक पुरुषो ! (नः) हमें (अद्य) आज (अरातिं प्रति) वेतन न प्रदान करने वाले

कंजूस के प्रति आप लोग (प्रति हर्यत) आक्रमण करो । उसका मुकाबला करो जिससे कि वे अन्यों का स्वत्व न मारें ।

परोपेह्यसमृद्धे वि ते हेतिं नयामसि ।
वेद त्वाहं निमीवन्तीं नितुदन्तीमराते ॥ ७ ॥

भा०—हे (असमृद्धे) दरिद्रते (परः अपेहि) दूर हट जा । (ते) तेरे ऊपर (हेतिं) वज्र (वि नयामसि) पात करें । हे (अराते) आदन-शीलते ! दूसरे का स्वत्व दूसरे को न देने की प्रवृत्ते ! (त्वा) तुझको (अहं) मैं (निमीवन्तीं) सर्वथा निर्बल करने वाली अथवा नितान्त धनियों के पैर बढ़ाने वाली और ग़रीबों को (नितुदन्तीम्) सर्व प्रकार से कष्ट पीड़ा देने वाली ही (वेद) जानता हूं ।

उत नग्ना बोभुवती स्वप्नया सचसे जनम् ।
अराते चित्तं वीर्त्सन्त्याकूतिं पुरुषस्य च ॥ ८ ॥

भा०—हे अराते ! अदानशीलते ! तू (पुरुषस्य) पुरुष, उद्यमी जन के (चित्तं) चित्त को (आकूतिं च) और बुद्धि को भी (वि-ईर्त्सन्ती) मन्द करती हुई । (उत) और (नग्ना बोभुवती) नंगी हो होकर (जनम्) मनुष्य के पास (स्वप्नया) आलस्य, बे खबरी से (सचसे) उसके पास आ जाती है । अर्थात् कंजूसी प्रथम चित्त और बुद्धि में खोट पैदा करती है और नग्न होकर अज्ञान दशा में मनुष्य पर सवार हो जाती है और उसके साथ मनुष्य भी लोभ में पड़कर बेशर्म हो जाता है ।

या महती महोन्माना विश्वा आशा व्यानशे ।
तस्यै हिरण्यकेश्यै निर्ऋत्या अकरं नमः ॥ ९ ॥

भा०—धन की वृद्धि से पाप की वृद्धि होती है उसका रूप भी देखिये । (या) जो पाप प्रवृत्ति (महती) बड़ी भारी (महोन्माना) बड़ी विशाल

परिणाम में फैली हुई (विश्वाः आशाः व्यानशे) सब दिशाओं में फैलजाती है (तस्यै) उस (हिरण्यकेश्यै) सुवर्ण के केशों वाली अथवा सुवर्ण के कारण लाखों विपत्तियां डालने वाली (निर्ऋत्यैः नमः अकरम्) उस निर्ऋति, पाप प्रवृत्ति को भी नमस्कार अर्थात् उसको भी दबाने का उपाय करूं। लोग दानशील हों, धन किसी का बढ़ना न पावे तो अधिकार किसी के मारे न जावें तो सब रोजी भर पेट पावें तो चोरी, जारी, डाकाजनी न बढ़े।

हिरण्यवर्णा सुभगा हिरण्यकशिपुर्मही ।
तस्यै हिरण्यद्राप्येरात्या अकरं नमः ॥ १० ॥

भा०—उस (अरात्यै नमः अकरम्) अराति अदानशीलता को भी 'नमः' वज्र प्रहार करता हूं जो (हिरण्यवर्णा) सुवर्ण के वर्ण की है अर्थात् सदा सोना या धन पर लुब्ध रहती है, (सुभगा) देखने में बड़ी भाग्य, ऐश्वर्यवती, (मही) बड़ी विशाल (हिरण्यकशिपुः) सब सोने के ही वस्त्रों से आच्छादित है (तस्यै) उस (हिरण्यद्रापये) सुवर्ण के कारण कुत्सित गति में प्राप्त कराने वाली, धन के कारण पाप फैलाने वाली 'अराति' कंजूसी को भी नमस्कार है ।

[८] सैनिकों और सेना पतियों के कर्त्तव्य !

अथर्वा ऋषिः । १, २ अग्निर्देवता, ३ विश्वेदेवाः, ४—९ इन्द्रः, २ त्र्यवसाना षट्पदा जगती, ३, ४ भुरिक् पथ्या पंक्तिः, ६, प्रस्तार पंक्तिः, द्व्युष्णिक् गर्भा पथ्यापंक्तिः, ९ त्र्यवसाना षट्पदा द्व्युष्णिग्गर्भा जगती । नवर्चं सूक्तम् ॥

वैकङ्कतेनेध्मेन देवेभ्य आज्यं वह ।
अग्ने ताँ इह मादय सर्व आ यन्तु मे हवम् ॥ १ ॥

[८] १–'इह सादय', सर्वा यन्तु' इति पैप्प० सं० ।

भा०— हे (अग्ने) अग्ने ! राजन् ! शत्रुतापक ! (इध्मेन वैकङ्कतेन) अति तेजस्वी वज्र से (देवेभ्यः) देव विद्वान् पुरुषों के हित के लिये (आज्यम्) वीर्य को (वह) धारण कर (इह) इस राष्ट्र में (तान्) उन सबको मादय प्रसन्न कर वे सब (मे हवम् आयन्तु) मेरे यज्ञ में आवें।

प्रजापतिर्या प्रथमामाहुतिमजुहोत्स हुत्वायत्र न्यमृष्ट ततो विकङ्कतः समभवत् । श० ६ । ३ । १ । तस्मादेष याज्ञियो वृक्षः यज्ञपात्रीयो वृक्षः ॥ श० २ । २ । ४ । १० । यज्ञो विकङ्कतः । विकङ्कतं भाः आर्च्छत् १ । १ । ३ । १२ ॥ वज्रो वै विकङ्कतः । श० ५ । २ । ४ । १८ ॥

प्रजापति की प्रथम आहुति ईश्वर की शक्ति का प्रकृति में वह प्रथम शक्ति संचार है जिससे हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ है । उसी आहुति से यह विराट् यज्ञ उत्पन्न हुआ जिसमें उस अग्नि के बल से सब वैकारिक भूत संयुक्त होकर प्रपञ्च रच रहे हैं । राष्ट्रपक्ष में अर्थ पूर्व कर दिया है । अध्यात्म में वैकङ्कत इध्म=प्राण, आज्य=अन्न रस प्राण आदि । अग्नि वैश्वानर जाठर अग्नि, राष्ट्र पक्ष में वैकङ्कत-इध्म=वज्रमय अग्नि-युद्ध है उस में अग्नि रूप राजा या सेनापति अपने देव=नियुक्त अधिकारियों को आज्य=वज्र, असि और आज्य=अभिलषित पदार्थ प्रदान करें । युद्ध भी यज्ञ है, देखो महाभारत शान्तिपर्व में भीष्म-वचन । संवत्सर यज्ञ में कालाग्नि में ऋतुगण ही इध्म और आज्य आदि कल्पित हैं जिनमें वसन्त आज्य है, ग्रीष्म इंधन है, शरत् हवि हैं इत्यादि विद्वान् समझ लें ।

इन्द्रा याहि मे हवमिदं करिष्यामि तच्छृणु ।
इम ऐन्द्रा अतिसरा आकूतिं सं नमन्तु मे ।
तेभिः शकेम वीर्यं जातवेदस्तनूवशिन् ॥ २ ॥

भा०—सेनापति राजा से कहे—हे इन्द्र ! राजन् ! (मे हवं आ याहि) मेरे यज्ञ में आप आइये । (इदं करिष्यामि) मैं यह विजय कार्य करूंगा ।

(तत् शृणु) वह सुनो। सभापति सैनिकों से कहें-(इमे) ये (ऐन्द्राः) इन्द्र=राजासम्बन्धी (अतिसराः) शीघ्र गामी सैनिक हैं। आप लोग (मे आकूतिम्) मेरी आज्ञा को (सं नमन्तु) आदर पूर्वक सुन कर पालन करो। प्रजागण सेनापति से कहें-हे (जातवेदः) समस्त कार्यों के जानने वाले अग्ने! सेनापते! हे (तनूवशिन्) राष्ट्र के शरीर पर वश करने हारे! (तेभिः) इन विजय के उपायों से (वीर्यं शकेम) बल की वृद्धि कर सकें। सेनापति इस प्रकार राजा से सलाह करे और पुनः सैनिकों को उत्साहित करे और सैनिक इसकी आज्ञा पालन करके अपना वीर्य बढ़ावें।

यद॒साव॒मुतो॑ देवा अदे॒वः सं॒श्चिकी॑र्षति।
मा तस्या॒ग्निर्ह॒व्यं वा॑क्षीद्ध॒वं दे॒वा अ॑स्य॒ मोप॑ गु॒र्ममै॒व ह॒वमेत॑न ॥३॥

भा०—हे (देवाः) देवगण! राजगण! जनो! (असौ) वह अमुक नाम का (अमुतः) अमुक देश से (अदेवः सन्) राजा न होता हुआ भी (यत्) जो युद्ध आदि (चिकीर्षति) करना चाहता है (तस्य) उसकी (हव्यं) आज्ञा को (अग्निः) नेता लोग (मा वाक्षीत्) धारण न करें। और (देवाः) अन्य राजगण (अस्य) उसके (हवं) बुलाने पर उसकी राज सभा में (मा उप गुः) न जावें। प्रत्युत (मम एव हवम् एतन) आप लोग मेरे ही राजसूय आदि यज्ञ में आवें।

अति॑ धाव॒तातिसरा॒ इन्द्र॑स्य॒ वच॑सा हत।
अविं॒ वृक॑ इव मथ्नीत॒ स वो॒ जीव॒न् मा मो॑चि प्रा॒णम॒स्यापि॑ नह्यत ॥४॥

भा०—युद्ध की रीति का उपदेश करते हैं—हे (अतिसराः) सुभटो! तेज़ सवारो! (अति धावत) खूब वेग से दौड़ो। (इन्द्रस्य वचसा हत) अपने राजा की आज्ञा के अनुसार शत्रु पर मार करो। (अविं वृक इव) जिस प्रकार भेड़िया भेड़ को झंझोट डालता है, उसी प्रकार (मथ्नीत) शत्रु की सेना को झंझोट डालो, मथ डालो, कुचल डालो, (वः) तुम

लोगों के हाथों से (सः) वह (जीवन्) जीता जी (मा मोचि) न छूट पावे । (अस्य) इसके (प्राणम्) प्राण को, इसके प्राण धारण करने के सब उपायों को भी (अपि नह्यत) बन्द कर डालो । या (अपि) भी (नह्यत) बांध दो, रोक दो ।

यम॒मी पु॒रोद॑धि॒रे ब्र॒ह्माण॒मप॑भूतये ।
इन्द्र॒ स ते॑ अध॒स्प॒दं तं प्रत्य॑स्यामि मृ॒त्यवे॑ ॥ ५ ॥

भा०—किसको कैद करके लाया जाय । (यम्) जिस (ब्रह्माणम्) चतुर्वेदवित् विद्वान् पुरुष को हे राजन् ! तेरे (अपभूतये) विनाश और पराजय करने के लिये (अमी) यह शत्रुगण (पुरो-दधिरे) पुरोहित बना कर रखे हैं । हे (इन्द्र) राजन् ! (सः) उसे भी (ते) तेरे (अधः-पदम्) पैरों के नीचे अधिकार के समक्ष ला खड़ा किया गया है । आज्ञा हो तो (तं) उसको भी (मृत्यवे) मौत के आगे (प्रति अस्यामि) डाल दूं ।

यदि॑ प्रे॒युर्दे॑वपु॒रा ब्रह्म॒ वर्मा॑णि चक्रि॒रे ।
त॒नू॒पानं॑ परि॒पाणं॑ कृण्वा॒ना यदु॑पोचि॒रे सर्वं॒ तद॑र॒सं कृ॑धि ॥ ६ ॥

अथर्व० ६ । १० । १७ ॥

भा०—राजा सेनापति को आज्ञा देता है कि—सेनापते ! (यदि) यदि (देवपुराः) देव—विद्वान् नगरवासी या विद्वान् ब्राह्मण शरीर, जो अपने (ब्रह्म) वेद ज्ञान की (वर्माणि चक्रिरे) अपना कवच बनाये हुए हैं वे (यदि प्र-ईयुः) यदि आवें तो उनको और जो (तनूपानं) अपनी शरीर की रक्षा के निमित्त कवच धारण करते हुए और (परिपाणं कृण्वानाः) मद्य आदि उत्तेजक पदार्थ का पान करते हुए (यद् उप-ऊचिरे) जो कुछ कहते और डींगें मारते हैं (तत् सर्वं) उस सब को (अरसं कृधि) निर्बल करो, उनका वश मत चलने दो ।

यान॒सावति॑स॒रांश्च॒कार॑ कृ॒णव॑च्च॒ यान् ।
त्वं तानि॑न्द्र वृत्रहन् प्र॒तीच॑: पुन॒रा कृ॑धि य॒थामुं तृ॑ण॒हां जन॑म् ॥७॥

भा०—(यान्) जिन पुरुषों को (असौ) वह अमुक शत्रु (अति-सरान्) अपने तीव्र सुभट (चकार) बना चुका और (यान् च कृणवत्) जिन को अभी बना २ कर भेज रहा है । हे इन्द्र ! सेनापते हे वृत्रहन् ! आवरणकारी घेरने वाले पुरुषों को मारने वाले ! (त्वं) तू (तान्) उनको (पुनः) फिर (प्रतीचः आ कृधि) उससे विपरीत कर, उनको विरुद्ध कर दे, (यथा) जिससे (अमुम् जनम्) अमुक शत्रु जन को (मैं तृणहान्) मार लूं । राजा शत्रु की प्रबल सेना में फूट डाल दे और उसे निस्सहाय करके सेनापति द्वारा विजय करे ।

यथेन्द्र॑ उद्वा॒चनं॑ ल॒ब्ध्वा च॒क्रे अ॑ध॒स्प॒दम् ।
कृ॒ण्वे॒३ऽहम॑ध॒रांस्तथा॒मूञ्छ॑श्व॒तीभ्य॑: स॒माभ्य॑: ॥ ८ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! (यथा) जिस प्रकार (उद्वाचनं) उत्तेजित करने वाली वाणियों को कह कर उकसाने वाले इस पुरोहित को (लब्ध्वा) पकड़ कर (अधः-पदम् चक्रे) मैंने तेरे चरणों में ला (चक्रे) लाखड़ा किया है । इसी प्रकार (अमून्) उन शत्रुओं को भी (शाश्वतीभ्यः समाभ्यः) चिरकाल तक के लिये (अहम्) मैं (अधरान्) नीचे (कृण्वे) कर देता हूं, उनको दवा देता हूं ।

अत्रै॑नानिन्द्र वृत्रहन्नु॒ग्रो मर्म॑णि विध्य ।
अत्रै॒वैना॑न॒भि ति॑ष्ठेन्द्र॑ मे॒द्य॑१॒हं तव॑ ।
अनु॑ त्वे॒न्द्रा र॑भामहे॒ स्याम॑ सुम॒तौ तव॑ ॥ ९ ॥

भा०—अपराधकारी क़ैदियों से व्यवहार—हे (वृत्रहन्) विघ्नकारियों के विनाशकारी इन्द्र ! राजन् ! (अत्र) इस संग्राम के अवसर पर (एनान्)

इन्हों के तू (उग्रः) बलवान् , भयकारी होकर (मर्माणि विध्यं) मर्म देशों में प्रहार कर । और (अत्र) इसी अवसर पर (एनान्) इन शत्रुओं पर (अभि तिष्ठ) आक्रमण कर । क्योंकि (अहं मेदी तव) मैं तेरा मित्र हूं । हे इन्द्र ! और हम सब (अनु त्वा रभामहे) तेरे आज्ञानुसार कार्य करते हैं, इसलिये (तव सुमतौ स्याम) तेरी शुभ मति के अधीन होकर हम रहें ।



[६] स्वास्थ्य लाभ का उपाय ।

ब्रह्मा ऋषिः । वास्तोष्पतिर्देवता । १, ५ दैवीबृहत्यौ, २, ६ दैवीत्रिष्टुभौ, ३, ४ दैवीजगत्यौ, ७ विराडुष्णिक् बृहती पञ्चपदा जगती, ८ पुराकृतित्रिष्टुब्बृहतीगर्भा-चतुष्पदा त्र्यवसाना जगती । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

दि॒वे स्वाहा॑ ॥१॥ पृ॒थि॒व्यै स्वाहा॑ ॥२॥ अ॒न्तरि॑क्षाय॒ स्वाहा॑ ॥३॥ अ॒न्तरि॑क्षाय॒ स्वाहा॑ ॥४॥ दि॒वे स्वाहा॑ ॥५॥ पृ॒थि॒व्यै स्वाहा॑ ॥६॥

भा०—स्वास्थ्य लाभ करने का उपदेश करते हैं। (दिवे स्वाहा) द्यौ सूर्य के लिये यह उत्तम आहुति समर्पित करता हूं। वह मुझे अपने शुद्ध जीवन प्रद प्रकाश से आरोग्यता प्रदान करे ॥ १ ॥ (पृथिव्यै स्वाहा) पृथिवी के लिये मैं उत्तम पदार्थों को आहुति देता हूं । वह भी मुझे स्वस्थता प्रदान करे ॥२॥ (अन्तरिक्षाय स्वाहा) अन्तरिक्ष, मध्य आकाश, वायु मण्डल की शुद्धि के लिये मैं उत्तम आहुति प्रदान करता हूं। उससे मैं स्वस्थता लाभ करूं॥३॥ ४-६ पुनः वही तीन आहुतियां उलट कर दी गयी हैं ॥ सूर्य का सेवन पृथिवी पर लोटना, भ्रमण करना, वायु का सेवन करना इस के अतिरिक्त इन पदार्थों का वार २ यथा रीति सेवन करना स्वस्थता प्राप्त करने का उत्तम उपाय है ।

सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणोऽन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम् ।
अस्तृतो नामाहमयमस्मि स आत्मानं नि दधे
द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय ॥ ७ ॥

भा०—मनुष्य अपने शरीर की प्रजापति के विराट् शरीर से तुलना करता है । (सूर्यः मे चक्षुः) जैसे प्रजापति के शरीर में विशाल तेजःपुञ्ज सूर्य है उसी प्रकार यह मेरे शरीर में चक्षु भी तेजोविकार है वह सब पदार्थों का प्रत्यक्ष करती और सूर्य के अंश से जीवित है । (वातः प्राणः) जिस प्रकार विशाल शरीर में यह वायु अन्तरिक्ष में गति करता है उसी प्रकार यह मेरे देह में उसी का अंश प्राण है । (अन्तरिक्षम् आत्मा) जिस प्रकार विराट् शरीर में अन्तरिक्ष का बड़ा भाग है उसी प्रकार यह मेरा शरीर का मध्य भाग आत्मा=देह है । (पृथिवी शरीरम्) जिस प्रकार विराट् शरीर में पृथिवी है उसी प्रकार यह मेरा अधः शरीर चरण भाग हैं । (अयम्) यह (अहम्) मैं जीवात्मा (अस्तृतः) कभी भी न मरने वाला, अमर हूं उसी प्रकार (सः) वह प्रजापति इस विराट् देह में भी कभी विनाश को प्राप्त नहीं होता । मानो (गोपीथाय) समस्त संसार की रक्षा के लिये (सः) उसने ही (द्यावापृथिवीभ्यां) द्यौ और पृथिवी, ज़मीन और आसमान दोनों द्वारा (आत्मानं) अपने को विराट् देह में स्थापित किया उसी प्रकार इस शरीर में भी उसने जीवात्मा को नियत किया है ।

उदायुरुद् बलमुत् कृतमुत् कृत्यामुन्मनीषामुदिन्द्रियम् ।
आयुष्कृदायुष्पत्नी स्वधावन्तौ गोपा मे स्तं गोपायतं मा ।
आत्मसदौ मे स्तं मा मा हिंसिष्टम् ॥ ८ ॥

भा०—(आयुः, उत्) आयु को उत्तम करो (बलम् उत्) बल को भी उत्कृष्ट बनाओ, (कृतम् उत्) कार्य भी उत्तम करो, (कृत्याम् उत्)

कर्तव्य भी उत्कृष्ट बनाओ, (मनीषाम् उत्) बुद्धि को उन्नत करो, (इन्द्रियम् उत्) इन्द्रिय सामर्थ्यों को उन्नत करो। (आयुः-कृत्) आयु के वृद्धि करने वाला यह सूर्य और (आयुः-पत्नी) आयु का पालन करने वाली यह पृथिवी दोनों (स्वधा-वन्तौ) अन्न बल पुष्टि और जीवन से पूर्ण हैं। ये दोनों (मे गोपास्तं) मेरे रक्षक रहें। (मा गोपायतम्) दोनों मेरी रक्षा किया करें। ये दोनों (मे) मेरे (आत्म-सदौ) शरीर में पूर्ण रूप से विराजमान (स्तं) हों। (मा मा हिंसिष्टं) मुझे कभी विनाश न करें।



[१०] मन को दृढ़ करने का उपाय।

ब्रह्मा ऋषिः । वास्तोष्पतिर्देवता । १—६ यवमध्या त्रिपदा गायत्री, ७ यवमध्या ककुप्, पुरोधृतिद्व्यनुष्टुब्गर्भा पराष्टिर्त्र्यवसाना चतुष्पदाति जगती । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

अश्मवर्म मेऽसि यो मा प्राच्या दिशोऽघायुरभिदासात् ।
एतत् स ऋच्छात् ॥ १ ॥

भा०—मन को दृढ करने का उपाय बतलाते हैं—हे मन ! तू ही (मे) मेरा (अश्मवर्म) पत्थर का सा दृढ कवच (असि) है (यः) जो (मा) मुझ पर (प्राच्या दिशः) पूर्व सामने की ओर से (अघायुः) पापाचारी, विलासी, भोगी पुरुष (अभि-दासात्) मेरा विनाश करे। (सः) वह (एतत्) यह प्रहार (ऋच्छात्) पावे।

अश्मवर्म मेऽसि यो मा दक्षिणाया दिशो०।० ॥ २ ॥
अश्मवर्म मेऽसि यो मा प्रतीच्या दिशो०।० ॥ ३ ॥
अश्मवर्म मेऽसि यो मोदीच्या दिशो०।० ॥ ४ ॥

अश्मवर्म मेसि यो मा ध्रुवाया दिशो०।० ॥ ५ ॥
अश्मवर्म मेसि यो मोर्ध्वाया दिशो०।० ॥ ६ ॥
अश्मवर्म मेसि यो मा दिशा-मन्तर्देशेभ्योघायुरभिदासात्।
एतत् स ऋच्छात् ॥ ७ ॥

भा०—इसी प्रकार हे मेरे मन तू ही दृढ़ होकर (अश्मवर्म मे असि) मेरा शिलाके बने कवच के समान अभेद्य है (दक्षिणायाः दिशः) दक्षिण दिशा से या दायें से (प्रतीच्याः दिशः) पश्चिम से या पीछे से, (उदीच्याः दिशः) उत्तर दिशा से या बायें से, (ध्रुवायाः दिशः) पृथ्वी की ओर से या नीचे से, या (ऊर्ध्वायाः दिशः) ऊपर की दिशा से (दिशाम् अन्तर्देशेभ्यः) दिशाओं के बीच के भागों से (यः अघायुः अभिदासात्) जो पापाचारी दुष्ट पुरुष मेरा विनाश करने का यत्न करे (एतत् स ऋच्छात्) वह यह प्रबल प्रहार पावे या वह यह प्रहार खाकर पकड़ जाय ।

बृहता मन उप ह्वये मातरिश्वना प्राणापानौ ।
सूर्याच्चक्षुरन्तरिक्षाच्छ्रोत्रं पृथिव्याः शरीरम् ।
सरस्वत्या वाचमुप ह्वयामहे मनोयुजा ॥ ८ ॥

भा०—प्रजापति की विशाल शक्तियों से अपने अंगों में विशेष शक्ति को इस प्रकार प्राप्त करें । मैं (बृहता) उस महान् ब्रह्म या महान् महत्तत्व से अपने (मनः) मनन शक्ति, बुद्धितत्व को (उपह्वये) बलवान् रूप में प्राप्त करूं (मातरिश्वना) इस महान् वायु से अपने (प्राणापानौ) प्राण और अपान दोनों को बलवान् करूं । (सूर्यात् चक्षुः) सूर्य से चक्षु को (अन्तरिक्षात् श्रोत्रम्) अन्तरिक्ष से श्रोत्र को और (पृथिव्याः शरीरम्) पृथिवी से शरीर के स्थूल, अन्नमय भाग को पुष्ट करूं और (मनः-युजा) मन के साथ योग देने वाली बुद्धिपूर्वक समाहित (सरस्वत्या) सरस्वती

वेद-वाणी के साथ (वाचम्) अपनी वाणी को जोड़ कर (उप ह्वयामहे) बलवान् पुष्ट रूप में उपासना करें, प्राप्त करें ।

इति द्वितीयोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि पञ्च, ऋचश्चैकोनपञ्चाशत् ।]

[११] ईश्वर के साथ २ राजा का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । वरुणो देवता । १ भुरिक् अनुष्टुप् , ३ पंक्तिः, ६ पञ्चपदातिशक्करी, ११ त्र्यवसाना षट्पदाऽष्टिः, २, ४, ५, ७-१० अनुष्टुभः । एकादशर्चं सूक्तम् ॥

कथं महे असुरायाब्रवीरिह कथं पित्रे हरये त्वेषनृम्णः ।
पृश्निं वरुण दक्षिणां ददावान् पुनर्मघ त्वं मनसाचिकित्सीः ॥ १ ॥

भा०—सम्पन्न होने का उपदेश करते हैं—(महे असुराय) बड़े भारी असुर=अन्यों को प्राण देने वाले उस परमात्मा के विषय में (कथं) किस प्रकार तू (अब्रवीः) उपदेश करता है और (त्वेष-नृम्णः) कान्ति, तेज से युक्त धन से सम्पन्न होकर (हरये) समस्त संसार के प्रणेता और सब दुःखों के हरण करने वाले उस (पित्रे) परमपालक पिता के विषय में तू (कथं) किस प्रकार (अब्रवीः) उपदेश करता है । हे (वरुण) सब दुःखों के वारक, परम श्रेष्ठ राजन् ! (पृश्निं) पृथिवी और अन्न की (दक्षिणां) दक्षिणा शक्ति रूप से (ददावान्) दान देता हुआ है (पुनर्मघ) पुनः २ नाना प्रकार की सम्पत्तियों के स्वामिन् ! (त्वं) आप (मनसा कथम् अचिकित्सीः) अपने चित्त से किस प्रकार विचार करता है ।

वरुणः साम्राज्यम् आदत्त । श० ११ । ४ । ३ । ३ । क्षत्रं वरुणः । कौ० ७ । १० ॥ क्षत्रं राजा वरुणोऽधिराजः । तै० ३ । १ । २ । ७ ॥

---

[११] १–'कथादिव असुराय ब्रवामह कथा', (तृ०) 'पृश्निः' इति पैप्प० सं० ।

इन्द्र उ वै वरुणः स उ वै पयो भाजनः । गो० उ० १ । २२ ॥ वरुणोऽन्न-पतिः । श० १२ । ७ । २ । २० ॥ यो राजसूयः स वरुणसवः । तै० २ । ७ । ६ । १ ॥ वरुणः सम्राट्, सम्राट्पतिः । तै० २ । ५ । ७ । ३ ॥ पृश्निः—अन्नं वै देवा पृश्नीति वदन्ति । तां० १२ । १० । २४ ॥ इयं वै पृथिवी पृश्निः । तै० १ । ४ । १ । ५ ॥

न कामे॑न॒ पुन॑र्मघो भवामि॒ सं च॑क्षे॒ कं पृश्नि॑मे॒तामुपा॑जे ।
केन॒ नु त्वम॑थर्व॒न् काव्ये॑न॒ केन॑ जा॒तेना॑सि जा॒तवे॑दाः ॥ २ ॥

भा०—पूर्व प्रश्न का उत्तर वरुण स्वयं देता है कि—(कामेन) केवल इच्छा मात्र से ही मैं (पुनर्मघः) बहुत धन सम्पत्ति वाला (न भवामि) नहीं हो जाता हूं । प्रत्युत (पृश्निम् सं चक्षे) इस पृश्नी, पृथिवी रूप गौ को मैं खूब देख भाल करता हूं और (एताम् उपाजे [१]) इसके सदा समीप रह कर इसकी सेवा और पालन करता हूं । उत्तरार्ध भाग में विद्वान् वेदज्ञ से प्रश्न करते हैं कि—हे (अथर्वन्) विद्वन् ! अथर्वविद्या–ब्रह्म-विद्या के ज्ञाता ब्राह्मण (केन नु काव्येन) तू किस काव्य=ज्ञानमय ग्रन्थ से और (केन जातेन) किस विधान से (जात-वेदाः, असि) समस्त वेदों को जानने वाला और सब पदार्थों का ज्ञाता होगया है ।

स॒त्यम॒हं ग॑भी॒रः काव्ये॑न स॒त्यं जा॒तेना॑स्मि जा॒तवे॑दाः ।
न मे॑ दा॒सो नार्यो॑ महि॒त्वा व्र॒तं मी॑माय॒ यद॒हं ध॑रि॒ष्ये ॥ ३ ॥

भा०—विद्वान् धनी के प्रति उत्तर देता है—(सत्यम्) यह सत्य स्वरूप (काव्येन) वेद के ज्ञान से (अहम् गभीरः) मैं गभीर, गहरा विद्वान् हूं ।

२–(द्वि०) 'सम्पृच्छिकं' 'उपाजेत्' इति पैप्प० सं० ।

१. अज गतिपालनयोः । भ्वादिः ।

३–(प्र०) 'सत्यम [म] हं' (तृ०) 'महित्वं', (च०) 'हनिष्ये' इति पैप्प० सं० ।

और (सत्यं जातेन) सत्यरूप विधान से ही मैं (जात-वेदाः, अस्मि) समस्त पदार्थों का और वेदों का ज्ञाता होगया हूं (मे व्रतं) मेरे सत्यमय उस व्रत=दृढ संकल्प को (यद्-अहं) जिसको मैं (माहित्वा धरिष्ये) अपने आत्म-सामर्थ्य से धारण कर लेता हूं (आर्यः न मीमाय) कोई श्रेष्ठ पुरुष विनाश नहीं कर सकता और (न दासः) न खल पुरुष ही उसका विनाश कर सकता है ।

न त्वदुन्यः कुवितरो न मेधया धीरंतरो वरुण स्वधावन् ।
त्वं ता विश्वा भुवनानि वेत्थ स चिन्नु त्वज्जनो मायी बिभाय ॥४॥

भा०—हे वरुण ! सर्वश्रेष्ठ प्रभो ! (त्वद् अन्यः) तुझ से दूसरा (कवि-तरः न) तुझ से अधिक बड़ा विज्ञानवान्, मेधावी नहीं है । हे (स्वधा-वन्) स्वयं समस्त संसार को या राष्ट्र को धारण करने वाले अथवा प्रकृति के स्वामिन् ! या जीवों के स्वामिन् ! (मेधया) मेधा=धारणावती शक्ति के कारण (त्वद् अन्यः धीर-तरः न) तुझ से दूसरा अधिक धीर-विद्वान् धैर्यवान्, शक्तिशाली भी नहीं है । (त्वं) तू (ता) उन २ (विश्वा भुवनानि) समस्त लोकों को (वेत्थ) जानता है (स चिन् नु जनः) वह आदमी जो (मायी) माया प्रकृति में फंसा हुआ जीव या माया=कपट करने वाला पुरुष या जो बड़ा बुद्धिमान् भी है (सः) वह भी (त्वद् बिभाय) तुझ से भय कर रहता है । राजा, परमेश्वर दोनों पक्षों में स्पष्ट है ।

त्वं ह्यङ्ग वरुण स्वधावन् विश्वा वेत्थ जनिमा सुप्रणीते ।
किं रजस एना परो अन्यदस्त्येना किं परेणावरममुर ॥ ५ ॥

४–(प्र०) 'कवितरो नवेधा अनु' (द्वि०) 'स्वधावः' (तृ० च०) 'त्वमङ्ग विश्वा जनमानि वेत्थमहंनतुज्जनो मां विभायः' इति पैप्प० सं० ।

५–(प्र०) 'स्वधावः', (द्वि०) 'जन्याश्रद्धधानीते किं येना रजसः परोऽस्ति किमवरेण अवरम् असूर' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(अङ्ग वरुण) हे राजन् ! प्रभो परमेश्वर ! हे (स्वधावन्) स्व=स्वरूप से धारण शक्ति से सम्पन्न जीव और प्रकृति के स्वामिन् ! हे (सुप्रणीते) समस्त संसार को उत्तम रीति से बनाने वाले या राजकार्यों में ठीक २ व्यवस्था करने वाले उत्तम नीतिमन् ! (त्वं हि) क्योंकि तू ही (विश्वा जनिमा) समस्त लोकों और जनों को (वेत्थ) जानता है । हे (असुर[1]) सर्वव्यापक असमर्थ ! (एना रजसः) इस रजः=प्रकृति के बने लोकों से या रजोगुण से (परः) सूक्ष्म (अन्यत् किम्) और क्या तत्व पदार्थ है ? और (एना परेण) इस परम सूक्ष्म प्रकृति-पदार्थ से (उत अवरम् किम्) अवर=स्थूल पदार्थ क्या है । रजांसि लोकाः शत० ॥

एकं रजस एना परो अन्यदस्त्येना पर एकेन दुर्णशं चिदर्वाक् ।
तत् ते विद्वान् वरुण प्र ब्रवीम्यधोवचसः पणयो भवन्तु
नीचैर्दासा उप सर्पन्तु भूमिम् ॥ ६ ॥

भा०—उक्त तत्व का रहस्य स्पष्ट करते हैं । (एना रजसः परः) इस समस्त लोक समूह से पर=परम सूक्ष्म पदार्थ (अन्यत्) इससे भिन्नरूप का (एकम् अस्ति) एक परब्रह्म है । (एना एकेन परः) और उस एक से भी अतिरिक्त (अर्वाक् चित्) उससे भी उतर कर एक सूक्ष्म तत्व प्रकृति है जो ब्रह्म की अपेक्षा स्थूल है और वह भी (दुर्णशम्) विनाश को प्राप्त नहीं होता । हे वरुण ! (ते) तेरे (तत्) उस स्वरूप को (विद्वान्)

१. असेरुरन् इति सूत्रस्थाने, अमेरुरन् इति क्षेमकरण वचनं चिन्त्यम् । वस्तुतो मन्दिवाशीति (उ० १ । ३८ ॥) उरन् अनुवृत्तौ मधुराद्यश्चेति निपात्यते ।

६–(तृ०) ' वरुणः ' इति ह्विटनिकामितः । (तृ०) ' अधोवर्चसः. ' इति लैन्मनकामितः । ' यः एकमेना रजसः परोस्ति परोदेन दूडाह्यं त्यजन्नूमत् तत्वे अच्छो वचसो दासाया उपसर्पन्तु रिप्रा ' इति पैप्प० सं० ।

जानता हुआ मैं (प्र ब्रवीमि) कहता हूं कि (पणयः) लोकव्यवहार में पड़े हुए या अन्य स्तोतागण की (अधोवचसः भवन्तु) वाणियां उस परम तत्व से नीचे ही रह जाती हैं अर्थात् वे वाणी के गोचर न होने वाले उस रूप को वर्णन नहीं कर सकते । और सब जीव (दासाः) तेरे उपासक, तेरे सेवक या अज्ञान से अपने ज्ञान का नाश करने वाले लोग (नीचैः भूमिम् उपसर्पन्तु) और भी नीची भूमि=लोक में चले जाते हैं । राजा के पक्ष में स्पष्ट है ।

त्वं ह्य॑ङ्ग व॑रुण ब्रवी॑षि पुन॑र्मघेष्ववद्या॑नि भूरि॑ ।
मो षु प॒णीँर॒भ्ये॒३॑तावंतो भून्मा त्वा॑ वोचन्नरा॒धसं॒ जना॑सः ॥७॥

भा०—(अङ्ग वरुण) हे राजन् ! (त्वं हि ब्रवीषि) आपका यह उपदेश है कि (पुनः मघेषु) पुनः २ धन प्राप्त करने वाले धनाढ्य पुरुषों में (भूरि) बहुत से (अवद्यानि) निन्दा योग्य दोष होते हैं । हे वरुण ! (एतावतः पणीन्) इतने व्यावहारिक पुरुषों के प्रति (मो सु अभिभूत्) तू कभी अपने सामर्थ्य को न्यून नहीं होने देता है । अर्थात् सब को तूने अपना अक्षय कोष दे रखा है । (जनासः) लोग (त्वा) तुझे (अराधसं) धनहीन, सम्पत्तिहीन (मा वोचन्) कभी नहीं कहे । इसी प्रकार राजा को खूब सम्पत्तिमान और दानशील होना चाहिये । वह धनियों के दोषों से युक्त न हो ।

मा मा॑ वोचन्नरा॒धसं॒ जना॑सः पुन॑स्ते पृश्नि जरितर्ददामि ।
स्तो॒त्रं मे॑ विश्व॒मा या॑हि॒ शची॑भिर॒न्तर्विश्वा॑सु॒ मानु॑षीषु दि॒क्षु ॥८॥

भा०—हे पुरुष ! (जनासः) लोग (अराधसं मा मा वोचन्) मुझ को कभी निर्धन, धनहीन, दरिद्री न कहें । इसलिये मैं, हे (जरितः)

७–(तृ०) ‘ भूर्मा त्वा ’ इति ह्विटनि-रोथ-म्योरकामितः ।

८–(च०) ‘ मानुषीषुविक्षु ’ इति म्योररोथकामितः । (च०) ‘ आयाहि जनेषु अन्तर्देवेषु मानुषेषु विक्षु ’ इति पैप्प० सं० ।

स्तुतिशील, विद्वन् ! (ते) तुझे (पृश्निं) इस पृथिवीरूप गौ का (ददामि) दान करता हूं, सौंपता हूं। हे (स्तोत्र) स्तुतिशील विद्वन् पुरुष ! (मे) मेरी, (शचीभिः) विशाल शक्तियों से (विश्वासु मानुषीषु) समस्त मनुष्य प्रजाओं में और (दिक्षु) समस्त दिशाओं के (अन्तः) भीतर (विश्वम्) समस्त संसार को (आ याहि) प्राप्त कर और वश कर।

आ ते॒ स्तोत्रा॑ण्यु॒द्य॑तानि यन्त्व॒न्तर्विश्वा॑सु॒ मानु॑षीषु दि॒क्षु ।
दे॒हि नु मे॒ यन्मे॒ अद॑त्तो असि॒ युज्यो॑ मे स॒प्तप॑दः सखा॑सि ॥ ९ ॥

भा०—याचक जिस प्रकार राजा से याचना करता है उस प्रकार परमात्मा से याचना करे। हे परमात्मन् ! (ते स्तोत्राणि) तेरी महिमा और स्तुतियें (विश्वासु मानुषीषु दिक्षु अन्तः) समस्त मनुष्य प्रजाओं और समस्त दिशाओं के भीतर (उत्-यतानि आ यन्तु) उच्च स्वर से गायी जावें। हे भगवन् ! (मे यत् अदत्तः) मुझे अभी तक जो कुछ नहीं दिया (देहि नु मे) वह भी मुझे दे दीजिये। आप ही (मे युज्यः) मेरे सदा साथ रहने वाले और (सप्तपदः) सात चरण चल कर बने मित्र के समान सात शीर्षण्य प्राणों रूप ज्ञान साधनों द्वारा ज्ञान करने योग्य सब प्रकार से (सखा असि) मेरे सखा, परम मित्र हैं।

स॒मा नौ॒ बन्धु॑र्वरुण स॒मा जा वेदा॒हं तद्यन्ना॑वे॒षा स॒मा जा ।
ददा॑मि॒ तद् यत् ते॒ अद॑त्तो॒ अस्मि॒ युज्य॑स्ते स॒प्तप॑दः॒ सखा॑स्मि ॥१०॥

९–(तृ०) 'आदत्तो' इति रोथकामितः। 'देहि तं मह्यं यदित्वमस्ति यद्यो नः सप्तपदः सखासह' इति पैप्प० सं०।

१०–(प्र०) 'समानो बन्धुः' इति रोथकामितः। 'समोनौ' इति लैन्मनकामितः। (द्वि०) 'वद वैतद वयं समाजाः' (तृ०) 'ददामितुभ्यं यदि तत्वमस्ति' इति पैप्प० सं०।

भा०—हे वरुण राजन् ! (नौ) हम दोनों की (समा बन्धुः) समान ही बन्धुता है । और अपने दोनों की (जा) उत्पत्ति और रूप को मैं (समा वेद) समान ही जानता हूं । (तत् यत् नौ एषा समा जा) तो क्योंकि हम दोनों की समान उत्पत्ति है अतः (यत् ते अदत्तः) अभी तक जो पदार्थ तुझे नहीं दिया (तद् ददामि) वह भी मैं तुझे प्रदान करता हूं । (ते युज्यः सप्तपदः सखा अस्मि) मैं तेरे सदा संग रहने वाला या योग समाधि से गम्य सप्त शीर्षण्य प्राणों के संयम से जानने योग्य सप्तपद सखा हूं ।

देवो देवाय गृणते वयोधा विप्रो विप्राय स्तुवते सुमेधाः ।
अजीजनो हि वरुण स्वधावन्नथर्वाणं पितरं देवबन्धुम् ।
तस्मा उ राधः कृणुहि सुप्रशस्तं सखा नो असि परमं च बन्धुः ११॥

भा०—(वयः-धाः देवः) ज्ञान और अधिक आयु को धारण करने वाला, ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध, देव परमात्मा (गृणते) स्तुतिशील (देवाय) इस जीव को और जिस प्रकार (वयोधाः सु-मेधाः विप्रः) वयोवृद्ध उत्तम मेधावान् विद्वान् (स्तुवते) उसकी स्तुति, उपासना करने वाले (विप्राय) दूसरे विद्वान् अल्प ज्ञानी जिज्ञासु को ज्ञान प्रदान करता और शक्ति देता है । हे वरुण ! हे स्वधावन् ! शक्तिमन् ! आप (अथर्वाणं) ब्रह्मज्ञानी पुरुष को (पितरम्) सब का पालक और (देव-बन्धुम्) विद्वानों का बन्धु (अजीजनः) बना देते हो । और (तस्मा उ) उसको ही (सु-प्रशस्तं राधः) सब से उत्तम धन और ज्ञान (कृणुहि) प्रदान करते

११–(प०) 'परमश्च वन्धुः' इति लैन्मनः । (च०) 'विश्वदेवम्' (प्र०) 'उर्वायुः कृणुहि प्रशस्तं' (प०) 'सखा नोऽस्ति वरुणश्च बन्धुः' इति पैप्प० सं० ।

हो आप ही (नः सखा असि) हमारे परम मित्र हो और (परमं च) परम (बन्धुः) बन्धु हो ।



[१२] विद्वानों द्वारा आत्मा और ईश्वर के गुणों का वर्णन ।

अंगिरा ऋषिः । जातवेदा देवता । आप्री सूक्तम् । १, २, ४—११ त्रिष्टुभः, ३ पंक्तिः । एकादशर्चं सूक्तम् ॥

समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे देवो देवान् यजसि जातवेदः ।
आ च वह मित्रमहश्चिकित्वान् त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः ॥१॥

ऋ० १० । ११० । १ ॥ यजुः० २९ । २५ ॥

भा०—ऋग्वेदे जमदग्नी रामो वा ऋषिः । आप्रियो देवता । आप्री सूक्तम् । गृह में गार्हपत्य अग्नि और यज्ञ में आहवनीय और घर में गृहपति और शरीर में आत्मा इन सब का समान रूप से वर्णन करते हैं । (अद्य) आज (मनुषः) मनुष्य के (दुरोणे) घर में (समिद्धः) ज्ञान से प्रदीप्त (देवः) सब अर्थों का प्रकाशक होकर हे (जात-वेदः) वेदों का ज्ञान प्राप्त कर, ज्ञानवन् ! तुम (देवान् यजसि) देव-विद्वान् पुरुषों का आदर सत्कार करते हो । आप हे (मित्र-महः) मित्र-सूर्य के समान तेजस्वी ! तू (चिकित्वान्) ज्ञानवान् होकर (आ वह च) विद्वान् पुरुषों को घर पर लाकर उनकी सेवा शुश्रूषा कर । क्योंकि (त्वं दूतः) तू ही उनका सेवक, (कविः) क्रान्तदर्शी और (प्र-चेताः) उत्तम चित्त वाला है । अध्यात्म में— (मनुषः दुरोणे) मनुष्य के इस देह में यह जातवेदाः आत्मा सदा समिद्ध प्रदीप्त, जीवित रह कर देव-इन्द्रिय आदि प्राणगण को परस्पर संगत करता है और तृप्त करता है वह उन में सूर्य के समान उनका प्रकाशक है, वही उनका संदेशहर, उनका द्रष्टा, उत्कृष्ट ज्ञानवान् है और उनसे प्राप्त ज्ञान को भी जानने वाला होकर उन को स्वतः धारण करता है । इसी प्रकार

ब्रह्माण्ड में परमात्मा प्राकृतिक महत् तत्वादि विकार रूप देवों का वहन करता हुआ उन में परम ज्ञानवान् होकर उनका यज्ञ सम्पादन करता है ।

आप्रियः=तद् यदाप्रीणाति तस्मादाप्रियो नाम । कौ० १० । ३ ॥ प्राणाः वा आप्रियः । कौ० १८ । १२ ॥ यदेताभ्याप्रियः आज्यानि भवन्ति आत्मानमेवैतैराप्रीणाति । ता० १५ । ८ । २ ॥

तनूनपात् पथ ऋतस्य यानान् मध्वा समञ्जन्त्स्वदया सुजिह्व ।
मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन् देवत्रा च कृणुह्यध्वरं नः ॥ २ ॥

ऋ० १० । ११० । २ ॥ यजु० २८ । २६ ॥

भा०—हे (तनू-नपात्) शरीर को न गिरने देने वाले या इन्द्रियों को न गिरने देने वाले ! उनको विनष्ट होने से बचाने वाले अग्ने ! आत्मन्, योगिन् ! (ऋतस्य) सत्य ज्ञानमय परब्रह्म के (यानान्) जानने के साधन रूप (पथः) मार्गों को (मध्वा) आनन्द रस से (सम्-अञ्जन्) प्रकाशित करता हुआ तू हे (सु-जिह्व) शोभन आनन्द ग्रहण करने में चतुर शक्ति से युक्त ! तू (स्वदय) उस आनन्द रस का उपभोग कर । और (यज्ञम्) इस योगमय यज्ञ को (ऋन्धन्) और भी अधिक गुणों से समृद्ध करता हुआ अथवा (यज्ञम्) यज्ञमय प्रजापति को (ऋन्धन्) अपने में प्रगुणित करता हुआ, उसकी उपासना करता हुआ (धीभिः) धारणावती बुद्धियों से (मन्मानि) मनन करने योग्य ज्ञानों को (उत) भी सम्पादन करता हुआ (देवत्रा) देवों में, प्राणों में या ज्ञान प्रकाश करने वाले गुरुओं के समक्ष (नः) हमारे (अध्वरं) इस अहिंसामय निर्विघ्न यज्ञ को (कृणुहि) सम्पादित कर ।

आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्चा याह्यग्ने वसुभिः सजोषाः ।
त्वं देवानामसि यह्व होता स एनान् यक्षीषितो यजीयान् ॥ ३ ॥

ऋ० १० । ११० । ३ ॥ यजु० २९ । २८ ॥

भा०—हे अग्ने ! विद्वन् आत्मन् ! (आ-जुह्वानः) नित्य यज्ञ करता हुआ नित्य नये ज्ञानों का सम्पादन करता हुआ । (ईड्यः) स्तुति करने और (वन्द्यश्च) वन्दना करने योग्य है । तू (स-जोषाः) सप्रेम, हमारे प्रति, (वसुभिः) प्राणों सहित (आ याहि) आ, प्रकट हो । (त्वं) तू (देवानाम्) समस्त इन्द्रय आदि प्राणों का (होता असि) होता, उन में शक्ति का प्रदाता और उनको अपने में धारण करने हारा है । हे (यह्व) सब में महान् ! सब को अपने में धारण करने हारे ! (सः) वह आप (यजीयान्) सब से बड़े यजमान होकर (इषितः) स्वयं इच्छावान् होकर या उनसे प्रार्थित होकर सब को (यक्षि) सुसंगत करते हो । ईश्वर और विद्वान् के पक्ष में भी स्पष्ट है ।

प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तोरस्या वृज्यते अग्रे अह्नाम् ।
व्यु/प्रथते वितरं वरीयो देवेभ्यो अदितये स्योनम् ॥ ४ ॥

ऋ० १० । ११० । ४ ॥ यजु० २९ । २८ ॥

भा०—विद्वान् लोग यज्ञ में वेदी के पूर्व की ओर कुशा बिछाते हैं कि उन पर देवगण आकर बैठें । परन्तु वह कुशा 'बर्हि' है, वह आदित्य का प्रतिनिधि है । विशाल विराड् देह में उसका वर्णन करते हैं । (अह्नाम्) दिनों के (अग्रे) पूर्व भाग, प्रातः समय में (अस्याः पृथिव्याः) इस पृथिवी के (प्र-दिशा) प्रकृष्ट तेजसा (वस्तोः) आच्छादन करने के लिये (प्राचीनं बर्हिः) प्राची दिशा में महान् आदित्य (आ वृज्यते) उसी प्रकार आ विराजता है जिस प्रकार यज्ञ में वेदि के पूर्व भाग में कुशा बिछाई जाती हैं । वह आदित्य (वरीयः) अति श्रेष्ठ, अति महान्, (वितरं) अत्यन्त विस्तृत होकर (विप्रथते उ) नाना दिशाओं में और नाना प्रकार से प्रकाश रश्मियों द्वारा फैल जाता है । और वह (अदितये) इस देव माता, अखण्डित,

[१२] ४–(द्वि०) 'वृज्यसे' इति क्वचित् ।

अदिन अदिति पृथिवी के लिये और (देवेभ्यः) चन्द्, वायु, जल, विद्युत् आदि दिव्य पदार्थों और विद्वानों के लिये भी (स्योनं) सुखकारी शान्ति-दायक होता है।

व्यचस्वतीरुर्विया वि श्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः।
देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः॥ ५॥

ऋ० १० । ११० । ५ ॥ यजु० २९ । ३० ॥

भा०—जमदग्नी रामो वा ऋषिः। द्वारो देवताः। गृह के द्वारों की शरीके द्वारों के साथ तुलना करते हुए उन को कैसा बनावें इसका उपदेश करते हैं। (शुम्भमानाः) सुन्दर सजी हुई आभूषणों से अलंकृत (जनयः) गृहपत्नियां (पतिभ्यो न) जिस प्रकार अपने पतियों के लिये सुखप्रद और उन को प्रसन्न करने वाली होती हैं उसी प्रकार हे (द्वाराः) घर के दरवाजो ! (तुम देवीः) प्रकाशवान् (व्यचस्वतीः) खूब विस्तृत, बड़े बड़े (उर्वियाः) विशाल और (शुम्भमानाः) खूब सजे हुए (विश्रयन्तां) नाना प्रकार से घर में जड़े हो। और वे (बृहतीः) बड़े २ (विश्वम्-इन्वाः) सब को सुन्दर लगने वाले, सब के लिये मनोहर होकर (सु-प्रायनाः) सुख से आने जाने के योग्य (भवत) होवो।

आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्ता सदतां नि योनौ।
दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे अधि श्रियं शुक्रपिशं दधाने॥ ६॥

ऋ० १० । ११० । ६ ॥ यजु० २९ । ३१ ॥

भा०—जमदग्नी रामो ऋषिः। अहोरात्रे देवते। (उषासानक्ता) दिन और रात जिस प्रकार परस्पर प्रेम से सदा एकत्र रह कर परस्पर शोभा धारण करते हुए समीप रहते और एकही स्थान सूर्य में आश्रित हैं उसी प्रकार पति और पत्नी दोनों दम्पति (दिव्ये योषणे) दिव्य गुणों से सम्पन्न

परस्पर प्रेम करते हुए, (बृहती) गुणों से महान् होकर, (सु-रुक्मे) सुन्दर कान्तिमान, सुन्दर सुवर्ण के आभूषण धारण करते हुए, (शुक्रपिशं) क्रम से पतिपत्नी अपने शरीरों में वीर्य और रज की पुष्टता की (श्रियं) शोभा को धारण करते हुए (यजते उपाके) परस्पर संगत होकर रहने के स्थान में समीप (आ सुष्वयन्ती) शयन करते हुए जब २ जहां २ मिलें वहां २ परस्पर प्रसन्न मुख से मुस्कराते हुए (योनौ) एक ही गृह में (नि षीदतां) निवास करें। गृहस्थ दम्पति के लिये यह उपदेश है। केवल रात दिन पर 'निषीदतां' आदि क्रियापद संगत नहीं है इसलिये उपमा मुख से दम्पति का ग्रहण करना ही उचित है।

दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिमाना यज्ञं मनुषो यजध्यै।
प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता ॥७॥

ऋ० १० । ११० । ७ ॥ यजु० २९ । ३२ ॥

भा०—अग्निरादित्यौ देवते। विद्वांसो वा देवताः। (दैव्या होतारा) दिव्य गुणों से युक्त होता, यज्ञ करने वाले, (प्रथमा) श्रेष्ठ (सुवाचा) उत्तम वाणी को बोलने वाले, (यजध्यै) यज्ञ करने, देवार्चना करने के लिये (मनुषः यज्ञं) मनुष्य का यज्ञ (मिमाना) करते हुए (विदथेषु) ज्ञान कार्मों में अन्य यज्ञशील ऋत्विजों को (प्र-चोदयन्ता) प्रेरित करते हुए (कारू) स्वयं भी सब कामों का अनुष्ठान करने वाले (प्र-दिशा) उत्कृष्ट वेद ज्ञान से उपदिष्ट मार्ग से (प्राचीनं ज्योतिः) पूर्व दिशा में उत्पन्न सूर्य के समान तेजोमय, अति प्राचीन या अति विशुद्ध रूप में हृदय में प्रकाशित ब्रह्म ज्योति को (दिशन्तौ) साक्षात् कराते हैं। अध्यात्म पक्ष में—प्राण और उदान दोनों इस शरीर के दैव्य होता हैं। वे विदथ=ज्ञान कर्मों में इन्द्रियों को प्रेरित करते, और योग से ब्रह्म ज्योति का साक्षात् कराते हैं। वे ही मनुष्य के देह में यज्ञ का सम्पादन करते और वाणी को उच्चारण करते हैं।

आ नो॑ य॒ज्ञं भार॑ती॒ तूय॑मे॒त्विडा॑ मनु॒ष्वदि॒ह चे॒तय॑न्ती ।
ति॒स्रो दे॒वीर्ब॒र्हिरे॒दं स्यो॒नं सर॑स्वती॒: स्वप॑सः सदन्ताम् ॥ ८ ॥

ऋ० १० । ११० । ८ ॥ यजु० २९ । ३३ ॥

भा०—(भारती) भरत=आत्मा की वह कान्ति 'पिंगला' (नः) हमारे (यज्ञ) यज्ञ में (तूयम्) शीघ्र ही (आ एति) आवे । और (इड़ा) ब्रह्म की स्तुति करने हारी इला नामक चेतना, (इह) इस देह में (मनुष्वत्) मनुष्य=आत्मा या मन के समान (चेतयन्ती) समस्त देह को चेतना युक्त करती हुई, या ज्ञान सम्पादन करती हुई इस देह में शीघ्र प्रकट हो । और (सरस्वतीः) अति आनन्द मय सुषुम्ना भी इस में शीघ्र प्रकट हो यह (तिस्रः देवीः) तीनों दिव्य नाड़ि गत प्राणधाराएं (इदं बर्हिः) इस देह में (सु-अपसः) शोभन, कर्म और प्रज्ञान युक्त होकर (स्योनं) सुख से (सदन्ताम्) सुप्रतिष्ठित रहें ।

य इ॒मे द्यावा॑पृथि॒वी जनि॑त्री रू॒पैरपिं॑शद् भुव॑नानि॒ विश्वा॑ ।
तम॒द्य हो॑तरिषि॒तो यजी॑यान् दे॒वं त्वष्टा॑रमि॒ह य॑क्षि वि॒द्वान् ॥ ९ ॥

ऋ० १० । ११० । ९ ॥ यजु० २९ । ३४ ॥

भा०—त्वष्टा देवता । (यः) जो (त्वष्टा) समस्त संसार के गढ़ने वाला परमेश्वर (इमे) इन दोनों (जनित्री) सर्व पदार्थों की मातास्वरूप (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी को और (विश्वा भुवनानि) समस्त लोकों को (रूपैः अपिंशद्) रूपों द्वारा सुशोभित करता है, उनको नाना आकारों और नाना रूपों वाला बनाता है । हे (होतः) विद्वान् ! तू (इषितः) प्रार्थना किया हुआ (यजीयान्) शुभ यज्ञशील (विद्वान्)

८–(च०) 'सरस्वती' इति यजु०, ऋ० । 'सरस्वतीः' इति तै० ब्रा० ।

ज्ञानवान् होकर (इह) इस यज्ञ में (अद्य) आज (तं त्वष्टारं देवं) उस सर्व-कर्त्ता परम देव को (यक्षि) उपासना कर ।

अध्यात्म पक्ष में—त्वष्टा आत्मा, द्यौ, पृथिवी=प्राण, अपान, भुवन= इन्द्रिय ।

उपावसृज त्मन्या समञ्जन् देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि ।
वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन ॥ १० ॥

ऋ० १० । ११० । १० ॥ यजु० २९ । ३५ ॥

भा०—वनस्पतिरग्निर्वा देवता । हे होतः आत्मन् ! तू (ऋतु-था) प्रति ऋतु के अनुसार (देवानां पाथः) देवों इन्द्रियों के निमित्त अन्न, भोग्य विषय और (हवींषि च) ज्ञानों को (त्मन्या सम्-अञ्जन्) स्वयं प्रकट करता हुआ (उप-अवसृज) उनको प्रदान कर । (वनस्पतिः) वन-इन्द्रियों का स्वामि, जितेन्द्रिय, (शमिता) शम दमादि से युक्त, (देवः) विद्वान् योगी, (अग्निः) और ज्ञानी पुरुष ये तीनों (घृतेन) तेजोमय, प्रदीप्त ज्योति और (मधुना) मधुर आनन्द रस के साथ (हव्यं) ज्ञान का (स्वदन्तु) आ-स्वाद ग्रहण करें । यज्ञ पक्ष में—होता ऋतुओं के अनुसार सामग्री चरु आदि हवि तैयार करे और उसको अग्नि में, वनस्पति में, जीवों में भी वितरण करे ।

सद्यो जातो व्यमिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत् पुरोगाः ।
अस्य होतुः प्रशिष्यृतस्य वाचि स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः ॥११॥

ऋ० १० । ११० । ११ ॥ यजु० २९ । ३६ ॥

भा०—विद्वान् अग्निर्देवता । (अग्निः) ज्ञानमय विद्वान् (सद्यः जातः) शीघ्र ही प्रकट होकर (यज्ञं वि-अमिमीत) यज्ञ का अनुष्ठान करता

११–' अस्य होतुः प्रदिश्यृतस्य ' इति ऋ० ।

है । वही (देवानां पुरः-गाः अभवत्) समस्त विद्वानों का अग्रणी हो जाता है । (ऋतस्य) ब्रह्म ज्ञानमय (अस्य होतुः) इस होता के (प्रशिषि) उत्कृष्ट शासन में रह कर (वाचि) वाणि रूप वाङ्मय में (स्वाहा-कृतं हविः) उत्तम वचनों और सूक्तियों के रूप में प्रकट किये ज्ञान को (देवाः) विद्वान् लोग (अदन्तु) भोग करें ।



[१३] सर्प-विष चिकित्सा ।

गरुत्मान् ऋषिः । तक्षको देवता । १ ३, जगत्यौ, २ आस्तार पंक्तिः, ४, ७, ८ अनुष्टुभः, ५ त्रिष्टुप्, ६ पथ्यापंक्तिः, ९ भुरिक्, १०, ११ निचृद् गायत्र्यौ । एकादशर्चं सूक्तम् ॥

द॒दिर्हि मह्यं॒ वरु॑णो दि॒वः क॒विर्वचो॑भिरु॒ग्रैर्नि रि॑णामि ते वि॒षम् ।
खा॒तमखा॑तमु॒त स॒क्तम॑ग्रभ॒मिरे॑व धन्व॒न्नि ज॑जास ते वि॒षम् ॥१॥

भा०—(दिवः कविः) दिव्य पदार्थों और सूर्य के तत्त्व को जानने वाले (वरुणः) दुःख-निवारक विद्वान् ने (हि) निश्चय से (मह्यं ददिः) मुझे यह उपदेश दिया है जिसके अनुसार (उग्रैः) बलपूर्वक कहे गये (वचोभिः) वचनों से (ते विषम्) तेरे विष को (नि रिणामि) दूर करता हूं । (खातम्) चाहे सांपने गहरा दाँत गाड़ के घाव किया हो । या (अखातम्) या घाव न करके दन्तप्रहार मात्र से विष को शरीर में डाल दिया हो, (उत सक्तम्) और चाहे केवल विष का शरीर से सम्पर्क-मात्र ही हुआ हो । उस सब प्रकार के सर्प के काटे को मैंने (अग्रभम्) अपने वश कर लिया है । अब (धन्वन्) मरु भूमि में (इरा इव) जिस प्रकार जल सूख कर नष्ट हो जाता है उसी प्रकार मैं अपने उपचार से

(ते विषम्) शरीर में प्रविष्ट, तेरे विष को हे नाग ! (नि जजास) सर्वथा नष्ट करता हूं ।

यत् ते अपोदकं विषं तत् त एतास्वग्रभम् ।
गृह्णामि ते मध्यममुत्तमं रसमुतावमं भियसा नेशदादु ते ॥ २ ॥

भा०—हे तक्षक नाग ! (यत्) जो (ते) तेरा (अप-उदकं) जल से रहित, रुधिर को सुखाने वाला शुद्ध (विषं) विष है (तत् ते) उस तेरे विष को (एतासु) इन नाड़ियों में भी (अग्रभम्) मैंने पकड़ लिया है, ऐसा थाम लिया है कि वह शरीर में अधिक नहीं फैले । (ते उत्तमं, मध्यमं उत अवमं रसम्) तेरे प्रबल, तीव्र कोटि के, मध्यम कोटि के और निकृष्ट कोटि के रस=विष को भी (गृह्णामि) मैं वश कर लेता हूं । (आत् उ) इतने पर भी यदि विष का थोड़ा बहुत भी अंश न भी हो तो भी मनुष्य (ते भियसा) तेरे भयमात्र से भी (नेशत्) नष्ट हो जाता है ।

वृषा मे रवो नभसा न तन्यतुरुग्रेण ते वचसा बाध आदु ते ।
अहं तमस्य नृभिरग्रभं रसं तमस इव ज्योतिरुदेतु सूर्यः ॥ ३ ॥

भा०—(नभसा) मेघ से (तन्यतुः) फैलने वाले (वृषा) प्रबल (रवः) शब्द के समान (उग्रेण वचसा) प्रबल वचन से फैलने वाले शक्तिशाली रव=नाद से (ते) तेरे विष और (ते) तुझ को भी (बाधे) दूर करता हूं । (अस्य तं रसं) उसके विष को (नृभिः) कुछ आदमियों की सहायता से उस नाना प्रकार के विष को (अग्र-

[१३] २–(प्र०) 'पदक', (द्वि०) 'तत् ताभिः' इति पैप्प० सं० ।
३–(प्र०) 'नभसः', 'नभसम्' इति ह्विटनिकामितः । (द्वि०) 'ते वचसा बाधेतु ते' (तृ०) 'ग्रभिरग्रं' (च०) 'ज्योतिषेव तमसो दयतु सार्यः' इति पैप्प०.सं० ।

भम्) इस प्रकार वश कर लेता हूं जैसे (ज्योतिः तमसः इव) ज्योति अन्धकार का विनाश करता है और (सूर्यः उदेतु) सूर्य उदित हो जाता है उसी प्रकार विष के विनाश होने पर जीवन-ज्योति पुनः उदित हो जाती है ।

चक्षुषा ते चक्षुर्हन्मि विषेण हन्मि ते विषम् ।
अहे म्रियस्व मा जीवीः प्रत्यगभ्येतु त्वा विषम् ॥ ४ ॥

भा०—सर्प को वश करने की साधना का उपदेश करते हैं । हे तक्षक नाग ! (चक्षुषा) आंख के बल से (ते चक्षुः हन्मि) तेरे आंख की शक्ति को नाश करती हूं । और (विषेण) विष के बल से (ते विषम् हन्मि) तेरे विष को भी विनष्ट करता हूं । हे (अहे) सर्प ! (म्रियस्व) तू मर जा, (मा जीवीः) अब तू प्राण धारण मत कर, (विषम्) यह विष (प्रत्यग्) फिर लौट कर तेरे पास ही (अभि-एतु) आ जावे । योगज शक्ति और चक्षु के अभ्यास से सांप को वश करके विषैले पदार्थ से उसके विष को नाश करें उस सांप को ही उस विष-प्रयोग से मार दे ।

कैरात पृश्न उपतृण्य बभ्र आ मे शृणुतासिता अलीकाः ।
मा मे सख्युः स्तामानमपि ष्ठाताश्रावयन्तो नि विषे रमध्वम् ॥५॥

भा०—हे (कैरात पृश्ने उपतृण्य बभ्रो असिताः अलीकाः) कैरात, पृश्नि, उपतृण्य, बभ्रु, असित और अलीक इन नाम वाले सर्पगण ! आप

४–(तृ०) 'अहम्रि-' इति बहुत्र । (प्र०) 'बलेन ते बलं हन्मि' (द्वि०) अस्पष्टम् । (तृ०) 'अग्रणा हन्मि ते विदम् अहे मरिष्टा मा जिवि । प्रति अन्वेतवाविषम् [?]' इति पैप्प० सं० ।

५–(तृ०) 'स्थामानं', 'स्तामाणं' इति ह्विटनिकामितः । (प्र०) 'उपतर्णि बभ्रव' (द्वि०) 'असितलीका' (च०) 'निमिषे' 'रमध्वम्' इति च क्वचित् ।

लोग (मे सख्युः) मेरे मित्र इस मनुष्य के (स्तामानम्) अहाते में (मा अपि-स्थात) मत ठहरो और (आश्रावयन्तः) खटका सुनते हुए (विषे) विषैले स्थान में (नि रमध्वम्) सदा रमण किया करो ।

कैरात=काला नाग या करैत या कीरा नाम का साँप, पृश्नि=चितकबरा, उपतृण्य=घास के रंग का, बभ्रू=पीला गोधूमी, असिताः=काले फनियर, अलीक=बिना-रंग के सर्प ये सब मलिन स्थानों पर रहते हैं। उनको अहातों में नहीं आने देना चाहिये ।

असितस्य तैमातस्य बभ्रोरपोदकस्य च ।
सात्रासाहस्याहं मन्योरव ज्यामिव धन्वनो वि मुञ्चामि रथाँ इव ॥६॥

भा०—(असितस्य) असित, (तैमातस्य) तैमात, (बभ्रोः) भूरे, गोधुमें और (अपोदकस्य) अपोदक, सूखे रेगिस्तान के सर्प के विषवगों को (विमुञ्चामि) ऐसे दूर करता हूं जैसे (सात्रासाहस्य मन्योः) सेना विजयी राजा के (रथान्) पराक्रमी रथों को परे कर दिया जाय, (धन्वनः ज्यामिव अव) या जिस प्रकार धनुष से डोरी को उतार दिया जाता है ।

आलिगी च विलिगी च पिता च माता च ।
विद्म वः सर्वतो बन्ध्वरसाः किं करिष्यथ ॥ ७ ॥

भा०—(आ-लिगी च) सब प्रकार से चिपटने वाली, कानखजूरा (वि-लिगी) विपरीत रूप से चिपटने वाली जोंक और (पिता च माता च) इन जातियों के नर और मादा इन (वः सर्वतः बन्धु) तुम्हारे सब बन्धुओं को (विद्मः) हम खूब अच्छी प्रकार जानते हैं । ये सब

६–(तृ०) 'मन्युमव' इति ह्विट्निकामितः । (प्र०) 'तय्रिमातस्य' (तृ०) 'उपोदकस्य, मन्युमव' इति पैप्प० सं० ।

७–(प्र० द्वि०) 'आलिका च व्यचा लुप्त्वा यस्ते माता' इति पैप्प० सं० ।

(अरसाः) निर्विष हैं इसलिये ये (किं करिष्यथ) मनुष्य का क्या बिगाड़ सकेंगे ।

उरुगूलाया दुहिता जाता दास्यसिक्न्या ।
प्रतङ्कं दद्रुषीणां सर्वासामरसं विषम् ॥ ८ ॥

भा०—(उरु-गूलायाः) बड़ी गुदा वाली सर्प जाति से (दुहिता जाता) 'दुहिता' नाम की सर्प जाति उत्पन्न होती है । और (असिक्न्याः) 'असिक्नी' नाम सर्प जाति से (दासी) काटने वाली सर्प जाति उत्पन्न होती है । अर्थात् मोटी गुदा वाली जाति के सांप रक्त चूसते हैं और काली 'असिक्नी' सर्प जाति के सांप एक झपट में काटते हैं । इसी प्रकार (दद्रुषीणां) वे सांप जिनके काटने से त्वचा पर दाद के समान दाफड़ उठ आवें उन सर्प जातियों में से (सर्वासाम्) सर्व सर्प जातियों के (प्रतङ्कं) अति कष्टदायी (विषम्) विष भी (अरसं) निर्बल, निर्विष होजाते हैं ।

कर्णा श्वावित् तदब्रवीद् गिरेरवचरन्तिका ।
याः काश्चेमाः खनित्रिमास्तासामरसतमं विषम् ॥ ९ ॥

ऋ० १ । १९१ । १६ ॥

भा०—(कर्णा श्वावित्) इसी प्रकार कानों वाली साही (गिरेः) पर्वत से (अव चरन्तिका) नीचे उतरती हुई (तत् अब्रवीत्) यह बात बतलाती है कि (याः काः च इमाः) ये जो कोई जन्तु (खनित्रिमाः) भूमि खोदकर बिल बना कर रहते हैं (तासाम्) उनका भी (विषं) विष (अरसतमं) सर्वथा नीरस, निर्बल, विष-रहित होता है ।

८–(द्वि०) 'दास्या असिक्न्याः' इति ह्विटनिकामितः ।

९–'कुपुम्भकस्तदब्रवीत् गिरेः प्रवर्त्तमानकः । वृश्चिकस्यारसं विषम्' इति ऋ० । (प्र०) 'कर्णवा श्वावित्' इति पैप्प० सं० ।

तावुवं न तावुवं न घेत् त्वमसि तावुवम् ।
तावुवेनारसं विषम् ॥ १० ॥

भा०—(तावुवं तावुवं न) तावुवं नामक सर्प वस 'तावुव' नाम ओषधि के समान ही है (त्वम् तावुवं न घ इत् असि) पर तू तावुव भी नहीं है । क्योंकि (तावुवेन) 'तावुव' नामक ओषधि से (ते विषम् अरसम्) तेरा विष भी निर्बल होजाता है । 'तावुव' ओषधि कदाचित् कड़वा तूम्बा है । कौशिक सूत्र में इस मन्त्र से उसका जल पान करना लिखा है ।

तस्तुवं न तस्तुवं न घेत् त्वमसि तस्तुवम् ।
तस्तुवेनारसं विषम् ॥ ११ ॥

भा०—(तस्तुवं न तस्तुवं) तस्तुव=हिंसक औषध के समान 'तस्तुव' नामक सर्प भी अपनी जाति का एक ही है । (न घ इत् त्वम् तस्तुवम् असि) तस्तुव भी तू अब नहीं क्योंकि (तस्तुवेन विषम् अरसम्) तस्तुव नामक औषध से इसका विष भी निर्बल पड़ जाता है ।

अथवा इन विषधरों की चिकित्सा भी इनके विषों से ही होती है ।



१०–'तावुचं न तावुचं न अहेरसिर्क्त तावुचेना रसं विषम्', 'ताथुवं' इति वेबरकामितः ।

११–(प्र० द्वि०) 'तस्तुवं न हरिसिक्तम् तस्तुवम्' इति पैप्प० सं० । 'तस्तुवेषं' इति ह्विटनिकामितः ।

[१४] दुष्टों के विनाश के उपाय ।

शुक्र ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । कृत्याप्रतिहरणं सूक्तम् । १, २, ४, ६, ७, ९ अनुष्टुभः, ३, ५, १२ भुरिजः, ८ त्रिपादा विराट्, १० निचृद् बृहती, ११ त्रिपदा-साम्नी त्रिष्टुप्, १३ स्वराट् । त्रयोदशर्चं सूक्तम् ॥

सुपर्णस्त्वान्वविन्दत् सूकरस्त्वाखनन्नसा ।
दिप्सौषधे त्वं दिप्सन्तमव कृत्याकृतं जहि ॥ १ ॥

पूर्वार्धः अथर्व० २ । २७ । २ प्र० द्वि० ॥

भा०—हिंसक षड्यन्त्रकारी दुष्टों के विनाश के लिये उपायों का प्रयोग दर्शाते हैं । हे ओषधे ! तापकारिन् ! (सु-पर्णः) गरुड़पत्ती (त्वा अनु अविन्दत्) तुझे प्राप्त करता है । और (सूकरः त्वा नसा अखनत्) सूकर तुझे अपनी नाक से खोदता है । अर्थात् वह उपाय जिससे बाज झपटता है और या शूकर मूल से नाक के हुलारे से उखाड़ता है ये दोनों ही उपाय रूप ओषधि=संतापकारक उपाय हैं जिन से हे राजन् ! तू (दिप्सन्तं) पर जीव=हिंसक प्राणि को भी (दिप्स) विनाश कर और (कृत्या-कृतं अव जहि) दूसरे पर हत्याकारी प्रयोग करने वाले को भी नाश कर अथवा (सु-पर्णः) ज्ञानी लोग भी तुझे प्राप्त करता है और (सूकरः) सुकृत कर्मकर्ता भी तुझे अपनी कर्म शक्ति से उत्तेजित करता है । तू दुष्टों का विनाश कर ।

अव जहि यातुधानानव कृत्याकृतं जहि ।
अथो यो अस्मान् दिप्सति तमु त्वं जह्योषधे ॥ २ ॥

भा०—(यातु-धानान्) पीड़ा देने वाले जीवों को (अव जहि) उनकी चेतना गिरा कर मार डाल और (कृत्या-कृतं) पर-प्राणघात करने वाले को भी

[१४] १–' प्रति कृत्याकृतो दह ' इति पैप्प० सं० ।

(अव जहि) विनाश कर । (अथो) और (यः) जो (अस्मान् दिप्सति) हमें विनाश करना चाहता है । (तम् उ) उस जीव को भी हे (ओषधे) ओषधे ! तापकारिन् ! (त्वं जहि) तू विनाश कर ।

रिश्यंस्येव परीशासं परिकृत्य परि त्वचः ।
कृत्यां कृत्याकृते देवा निष्कमिव प्रति मुञ्चत ॥ ३ ॥

भा०—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! (रिश्यस्य) जिस प्रकार हिंसक जन्तु के (त्वचः परि) त्वचा के चारों ओर (परिशासं) चारों ओर से उसको चुभने वाली बर्छियां सी (परि कृत्य) लगा कर या (परिशासं) उसको चारों तरफ़ से चोट पहुंचाने वाले छड़ लगाकर वश कर लिया जाता है उसी प्रकार (कृत्या-कृते) दूसरों की जीवहत्या करने वाले पुरुष के चारों ओर भी (कृत्यां परि कृत्य) उसी प्रकार का कष्टदायी उपाय करके उसको (निष्कम्[१] इव) नीचे दबा कर, निश्चेष्टसा करके (अव मुञ्चत) छोड़ो । अर्थात् मारे मृत्यु के और कष्टों की पीड़ा के उसे दबा कर सिर मत उठाने दो ।

पुनः कृत्यां कृत्याकृते हस्तगृह्य परां णय ।
समक्षमस्मा आ धेहि यथा कृत्याकृतं हनंत् ॥ ४ ॥

भा०—(कृत्या-कृते) पर-प्राणघाती उपाय करने वाले की (कृत्यां) कृत्या, साजिश को (पुनः) वार वार (हस्त-गृह्य) हाथों से पकड़ २ कर अर्थात् उन साजिश करने वालों को अपराध करते २ पकड़ कर (परा नय)

३–' ऋश्यस्येव ' इति क्वचित् ।

१. निष्कम् । नौसदेर्डिच्चेति कन् । निषीदतीति निष्कः । नीचैर्निषण्णः । इति उणादिव्या० दया० ।

४–(द्वि०) ' प्रतिहरणं न हरामसि ' इति पैप्प० सं० ।

उनको समाज से (पृथक्) बन्दी-घर या दूर स्थान पर रख । और (अस्मै) उसके (समक्षम्) आंखों के आगे (आ-धेहि) यह साफ तौर पर ला दिखा कि (यथा) किस प्रकार से (कृत्या-कृतं) साजिश करने वाले पर-प्राण-द्वेषियों को (हनत्) मारा जाता है । अपराधियों को (रेड्-हैण्ड) सापराध पकड़े । और अलग करके उनको वे भय दर्शावें जो साजिशकारियों को दिये जाते हैं ।

कृत्याः सन्तु कृत्याकृते शपथः शपथीयते ।
सुखो रथ इव वर्ततां कृत्या कृत्याकृतं पुनः ॥ ५ ॥

भा०—अपराधकारी को दण्ड किस नियम से दें इसका उपदेश करते हैं । (कृत्या-कृते) दूसरों पर हत्या का षड्यन्त्र रचने वालों को (कृत्याः सन्तु) उसी प्रकार की पीड़ाएं दण्डरूप में हों । (शपथीयते) पर-निन्दाकारी के लिये (शपथः) उसको जनता के समक्ष निन्दाजनक दण्ड ही दिया जाय । (रथ इव सुखः) जिस प्रकार रथ, गाड़ी सब को सुखकारी है उसी प्रकार वह भी दण्ड के भय से (सुखः वर्तताम्) सब को सुखकारी सीधा हो कर रहे । और (पुनः कृत्या) उसे फिर वैसी ही पीड़ा दी जाय ।

यदि स्त्री यदि वा पुमान् कृत्यां चकार पाप्मने ।
तामु तस्मै नयामस्यश्वमिवाश्वाभिधान्या ॥ ६ ॥

भा०—न्यायपूर्वक स्त्री पुरुष दोनों को दण्ड देना चाहिये । (यदि) चाहे (स्त्री) स्त्री हो (यदि वा पुमान्) चाहे पुरुष हो । यदि वह (पाप्मने) अपने पाप के भाव से (कृत्यां चकार) दूसरे पर हत्या या षड्यन्त्र का करता है । (तस्मै ताम् उ) तो उस पर उसी प्रकार का प्रयोग (नयामसि) दण्ड रूप में हम प्रयोग करें तब जिस प्रकार (अश्व-अभि-धान्या) घोड़े को बांधने की रस्सी से (अश्वम् इव) घोड़े को बांध कर काबू कर लिया जाता है उसी प्रकार वह भी काबू आ जाता है ।

यदि वासि देवकृता यदि वा पुरुषैः कृता ।
तां त्वा पुनर्णयामसीन्द्रेण सयुजा वयम् ॥ ७ ॥

भा०—जीवों पर प्राणसंहारी विपत्ति के प्रतिकार का उपदेश करते हैं । (यदि वा) यदि प्राणसंहारी विपत्ति (देवकृता) आधिदैविक, ईश्वरीय शक्तियों से अपने आप घटित होगई है (यदि वा पुरुषैः कृता) और चाहे वह पुरुषों द्वारा की गई हो अर्थात् उस विपत्ति को ला डालने वाले मनुष्य ही हों तो भी (तां त्वा) हे विपत्ते ! तुझ उसको (वयम्) हम लोग (इन्द्रेण सयुजा) अपने सहायक इन्द्र=राजा के बल पर (पुनः नयामसि) वार वार हटादें ।

अग्ने पृतनाषाट् पृतनाः सहस्व ।
पुनः कृत्यां कृत्याकृते प्रतिहरणेन हरामसि ॥ ८ ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! हे (पृतनाषाट्) सेनाओं प्रजाओं को वश करने वाले ! तू (पृतनाः) समस्त सेनाओं को वश कर । (पुनः) तब (कृत्याकृते) राष्ट्रवासियों पर विपत्तियों को लाने वाले पर (प्रतिहरेण) प्रतिहरण विधि से (कृत्यां) उस घातक्रिया को हम (हरामसि) उसी पर डालते हैं । अर्थात् यदि सेनापति अपनी सेनाओं को वश करके बाहर की सेनाओं पर वश कर ले तो भीतरी षड्यन्त्रकारियों को पकड़ कर उनको वही दण्ड भुगतावे जो कष्ट वे औरों पर डालना चाहते थे ।

कृतव्यधनि विध्य तं यश्चकार तमिज्जहि ।
न त्वामचक्रुषे वयं वधाय सं शिशीमहि ॥ ६ ॥

७–' या कृत्ये देवकृता या वा मनुष्यजासि । तां त्वा प्रत्यङ् प्रतिरामसि प्रतीची नयन[?]ब्रह्मणा ' इति पैप्प० सं० ।

८–(तृ०) ' प्रति कृत्यां ' इति पैप्प० सं० ।

९–' वधाय शंसमीमहे ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—कैसे अपराधियों को कैसा दण्ड दिया जाय इसका उपदेश करते हैं। हे (कृतव्यधनि [1]) जिस पुरुष ने किसी को बाण आदि शस्त्र से मारा है उसी को ताड़ने वाली शक्ति! तू उसको भी (विध्य) उसी प्रकार बेध (यःचकार) जो जैसा करे (तमित् जहि) और उसको वैसा ही दण्ड देकर नाश कर। हे राजन्! (त्वाम्) तुझको (अचकुषे) अपराध न करने वाले के (वधाय) वध करने के लिये हम (न संशिशीमहि) उत्तेजित नहीं करते।

पुत्र इव पितरं गच्छ स्वज इवाभिष्ठितो दश।
बन्धमिवावक्रामी गच्छ कृत्ये कृत्याकृतं पुनः॥ १०॥

भा०—हे (कृत्ये) हिंसाकारिणी शक्ति! (पुत्र इव पितरं गच्छ) जैसे पुत्र पिता के पास जाता है उसी प्रकार तू भी पीड़ा रूप होकर उसको प्राप्त हो, जो तुझे अन्यों के प्रति प्रयोग करता है। (स्वजः इव अभिष्ठितः दश) लिपट कर काटने वाले सांप के समान तू उस अपराधी को वश करके काट, कष्ट दे। और (बन्धम् इव) बन्धन के समान (अवक्रामीः) समस्त प्रजापर फैला रह। परन्तु हे कृत्ये! (पुनः) पुनः तू (कृत्याकृतं गच्छ) हिंसाकारी अपराधी को ही बार २ पकड़।

उदेणीव वारण्यभिस्कन्दं मृगीव।
कृत्या कर्तारमृच्छतु॥ ११॥

भा०—दण्ड किस निश्चित विधि से दिया जावे इसका उपदेश करते हैं। वही (वारणी कृत्या) अपराधों को रोकने वाली पीड़ा जो अपराधी ने की है (कर्त्तारम् ऋच्छतु) पीड़ाकारी को इस प्रकार प्राप्त हो (अभिस्कन्दं

१. ओषधिनामेति ह्विट्निः।

१०–(तृ० च०) 'तन्तुरिवाप्ययं निदे कृत्ये कृत्या कृतं कृतः' इति पैप्प० सं०।

एणी इव उत्) हिरणी जिस प्रकार अपने आक्रमण कारी पर कूद कर झपटती है या (वारणी) सेना या हथिनी जिस प्रकार अपने पर पड़े घेरे पर झपटती है या (मृगी इव) बाघनी जिस प्रकार शिकारी पर टूटती है।

इष्वा ऋजीयः पततु द्यावापृथिवी तं प्रति ।
सा तं मृगमिव गृह्णातु कृत्या कृत्याकृतं पुनः ॥ १२ ॥

भा०—हे (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी ! राजा और प्रजा ! (इष्वा) बाण के समान (ऋजीयः) अत्यन्त सीधी होकर विना चूके वह (कृत्या) पीड़ा (तं प्रति पततु) उसी करने वाले पर आकर पड़े । और (सा) वह (तं) उस अपराधी को (मृगम् इव) मृग के समान (गृह्णातु) पकड़ ले। अर्थात् ताक कर निशाना लगाने से जिस प्रकार शिकारी का बाण हरिण पर ही जाता है और नहीं चूकता उसी प्रकार राजा का दण्ड भी अपराधी पर वैसे ही विना चूक पड़े । और इस प्रकार (कृत्याकृतं पुनः कृत्या गृह्णातु) पीड़ाकारी पुरुष को वह पीड़ा पुनः पकड़ ले ।

अग्निरिवैतु प्रतिकूलमनुकूलमिवोदकम् ।
सुखो रथ इव वर्ततां कृत्या कृत्याकृतं पुनः ॥ १३ ॥

भा०—(कृत्या) वही पीड़ा जो अपराधी ने औरों को दी है वह (पुनः कृत्या-कृतम्) फिर उस पीड़ाकारी पर ऐसे प्रतिकूल होकर पड़े जैसे (अग्निः इव प्रतिकूलम्) आग प्राणियों को सदा प्रतिकूल होकर कष्टदायी होता है । और राष्ट्र के लिये (अनुकूलम् उदकम् इव) अनुकूल जल के समान सुखदायी हो (रथ इव सुखः वर्तताम्) अपराधी को अपराध का दण्ड मिलने पर वह सब त्रासकारी पुरुष भी रथ के समान सब के बीच में सुखकारी पुरुष के समान होकर रहे ।

१२–' सा तं मृगमिव विद्दतु कृत्याकृत्याकृतं कृता ' इति पैप्प० सं० ।

[१५] निन्दकों पर वश प्राप्त करने की साधना ।

विश्वामित्र ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । १-३, ६, १०, ११ अनुष्टुभः, ४ पुरस्ताद् बृहती, ५, ७, ८, ९ भुरिजः । एकादशर्चं सूक्तम् ॥

एका च मे दश च मेपवक्तार ओषधे ।
ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ १ ॥

भा०—हे (ऋतजाते) सत्य रूप में उत्पन्न हुई और हे (ऋतावरि) सत्य में सदा वर्तमान रहने वाली (ओषधे) बलकारिणी सत्य वाणि ! तू (मधुला) आनन्दरस को प्राप्त कराने वाली मधुमयी होकर (एका च मे) मेरी अकेली भी (मे मधु करः) मेरे लिये अमृतमय आनन्द ही उत्पन्न कर जब कि (ये) मेरे (अप-वक्तारः) अपवाद करने वाले, विरोधी, निन्दक गण (दश च) दश भी क्यों न हों । अर्थात् मेरे निन्दा करने वाले १० मुख क्यों न हो तो भी मेरी एक सत्यवाणी मुझे पूरा बल और आनन्द दे ।

द्वे च मे विंशतिश्च मे० । ० ॥ २ ॥

भा०—(मे) मेरे (अप-वक्तारः) निन्दाकारी (विंशतिः च) बीस भी क्यों न हों तो भी (द्वे च मे) हे ओषधे ! मेरी तुम दो अर्थात् दुगुणी बल वाली सत्य वाणी होकर मुझे आनन्द प्रदान कर ।

तिस्रश्च मे त्रिंशच्च मे०।० ॥३॥ चतस्रश्च मे चत्वारिंशच्च मे०।० ॥४॥
पञ्च च मे पञ्चाशच्च मे०।० ॥५॥ षट् च मे षष्टिश्च मे०।० ॥६॥
सप्त च मे सप्ततिश्च मे०।० ॥७॥ अष्ट च मेशीतिश्च मे०।० ॥८॥
नव च मे नवतिश्च मे०।० ॥९॥ दश च मे शतं च मे०।० ॥१०॥

[१५] १-' दशचापवं० ' इति सर्वत्र द्वितीयं पदं लुप्यत पैप्प० सं० । (च०) ' मधु त्वा मधुला करत् ' इति पैप्प० सं० ।

शतं च मे सहस्रं चापवक्तार ओषधे ।
ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ११ ॥

भा०—(तिस्रश्च मे त्रिंशत् च अप-वक्तारः०) यदि तीस मेरी निन्दा करने वाले हों तो मेरी सत्य वाणी तीन गुणी होकर मुझे बल दे। (चतस्रः च मे, चत्वारिंशत् च०) यदि ४० (चालीस) पुरुष मेरी निन्दा करने वाले हों तो मेरी चार गुणी वाणी मुझे आनन्द और बल दे। (पञ्च च मे पञ्चाशत् च मे) यदि पचास निन्दक हों तो पांच गुणा शक्तिमती होकर मुझे आनन्द दे। (षष्टिः च मे अपवक्तारः षट् च मे) यदि मेरे ६० निन्दक हों तो मेरी वाणी ६ गुणा होकर मुझे बल और आनन्द दे। (सप्ततिः च मे०, सप्त च मे०) यदि मेरे निन्दक ७० होजावें तो मेरी वाणी ७ गुणा होकर मुझे बल दे। (अशीतिः च मे० अष्ट च मे०) यदि मेरे अपवादक ८० हो जांय तो मेरी सत्य वाणी भी ८ गुणा होकर मुझे बल दे। (नवतिः च मे० नव च मे०) मेरे अपवादक नब्बे हो जांय तो मेरी वाणी नव-गुणी होकर मुझे बल दे। (शतं च मे अप०, दश च मे०) यदि मेरे अपवादक सौ हो जांय तो मेरी सत्य वाणी दस गुणा होकर मुझे बल दे। (सहस्रं च मे अप-वक्तारः) यदि मेरे हज़ार अपवादक निन्दक हों तो हे ओषधे ! सत्य वाणी ! तू (शतं च मे०) सौ गुणा होकर मुझे बल और आनन्द प्रदान कर।

दुष्ट वक्ताओं का मुख बांधने के लिये इस मन्त्र=विचार का मनन करना चाहिये इससे शक्ति बढ़ेगी और साहस उत्पन्न होगा। अध्यात्म में दशों इन्द्रियां प्रलोभन से गिरावें तो एक सत्यमति से उन पर वश करे। यदि दुनियां में प्रलोभन बढ़े तो अपनी शक्ति को और बढ़ावे।

इति तृतीयोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि पञ्च, ऋचश्च सप्तपञ्चाशत् ।]

[१६] आत्मा की शक्ति-वृद्धि करने का उपदेश।

विश्वामित्र ऋषिः। एकवृषो देवता। १, ४, ५, ७–१०, साम्न्युष्णिक्, २, ३, ६ आसुरी अनुष्टुप्, ११ आसुरी गायत्री, एकादशर्चं सूक्तम्।

यद्येकवृषोसि सृजारसोसि ॥ १ ॥

भा०—आत्मा देवता! (यदि एकवृषः असि) हे आत्मन्! यदि तू (एकवृषः) अर्थात् एक ही इन्द्रिय है तो भी (सृज) और उत्पन्न कर नहीं तो (अरसः असि) निर्बल ही रहेगा।

यदि द्विवृषोसि० ॥ २ ॥ यदि त्रिवृषोसि० ॥ ३ ॥
यदि चतुर्वृषोसि० ॥ ४ ॥ यदि पंचवृषोसि० ॥ ५ ॥
यदि षड्वृषोसि० ॥ ६ ॥ यदि सप्तवृषोसि० ॥ ७ ॥
यद्यष्टवृषोसि० ॥ ८ ॥ यदि नववृषोसि० ॥ ९ ॥
यदि दशवृषोसि सृजारसोसि ॥ १० ॥
यद्येकादशोसि सोपोदकोसि ॥ ११ ॥

भा०—(यदि द्विवृषः असि) यदि द्विवृष=दो प्राणों से युक्त है तो भी और शक्ति उत्पन्न कर, अभी भी निर्बल है। (यदि त्रिवृषः असि०) यदि तीन प्राणों से युक्त भी है तो भी और शक्ति पैदा कर अभी भी निर्बल है। (यदि चतुर्वृषः असि०) चार प्राणों से युक्त है तो भी और शक्ति उत्पन्न कर, अभी भी निर्बल है। (यदि पञ्चवृषः असि०) पांच प्राणों से युक्त है तो भी और पैदा कर अभी भी निर्बल है। (यदि षड्-वृषः असि०) छः प्राणोंसे युक्त हैं तो भी और पैदा कर अभी भी निर्बल है। (यदि सप्तवृषः असि)

[११] १-११–'यदि' स्थाने सर्वत्र 'यः' इति पैप्प० सं०।

यदि सात प्राणों से युक्त है तो भी और पैदा कर, अभी भी तू निर्बल है। (यदि अष्ट-वृषः असि०) यदि आठ प्राणों से युक्त है तो भी और पैदा कर, अभी भी निर्बल है। (यदि नव-वृषः असि०) यदि नव प्राणों से युक्त है तो भी अभी और पैदा कर, अभी भी निर्बल है। (यदि दश-वृषः असि) यदि दश प्राणों से युक्त है तो भी (सृज, अरसः असि) और अपनी शक्ति को बढा क्योंकि निर्बल है। यदि तू (एक दशः असि) तू उन दश प्राणों के अतिरिक्त स्वयं आत्मा ग्यारहवां है तब (सः) वह (अप उदकः असि) तू आत्मा दुःखों में तड़फने से मुक्त हो सकता है। अथवा तब तू स्वयं (अप-उदकः) असङ्ग है, तू इन्द्रियों के भोग=रस के सङ्ग से परे है। अर्थात् जब तक आत्मा दश इन्द्रियों से कुछ एक को अपना रूप समझता है तब तक भी वह अरस=निर्बल एवं परमानन्दरस से शून्य रहता है और जब दशों इन्द्रियों के संग से रहित होजाता है तब वह इन तृष्णा जल से मुक्त होकर केवली, आनन्दी, मुक्त होजाता है।



[१७] ब्रह्मजाया या ब्रह्मशक्ति का वर्णन।

मयोभूर्ऋषिः । ब्रह्मजाया देवता । १-६ त्रिष्टुभः, ७-१८ अनुष्टुभः । अष्टादशर्चं सूक्तम् ॥

तेऽवदन् प्रथमा ब्रह्मकिल्बिषेऽकूपारः सलिलो मातरिश्वा।
वीडुहरास्तपं उग्रं मयोभूरापो देवीः प्रथमजा ऋतस्य ॥ १ ॥

ऋ० १० । १०९ । १ ॥

[१७] १-(तृ०) 'उग्रं' (च०) 'ऋतेन' इति ऋ० ।

भा०—ऋग्वेदे जुहूर्नाम ब्रह्मजाया ब्रह्मवादिनी ऊर्ध्वनामा ब्रह्मपुत्रो वा ऋषिः । विश्वेदेवाः देवताः । ब्रह्मजाया वेदवाणी का वर्णन करते हैं । (ते) वे (प्रथमाः) विशाल, सर्वश्रेष्ठ, अतिविस्तृत देवगण (अकूपारः) वह दूर वर्त्तमान, सूर्य (सलिलः) जल और (मातरिश्वा) वायु ये तीनों देव-गण (ब्रह्म-किल्विषे) ब्रह्म परमात्मा की रचना के विषय में (अवदन्) हमें सब रहस्यों का उपदेश करते हैं । और (ऋतस्य) उस सर्वशक्तिमान्, ज्ञानस्वरूप महान् देव से (प्रथम-जाः) प्रथम उत्पन्न हुई (देवीः) दिव्य गुणों से युक्त तीन शक्तियां हैं जो (वीडु-हराः) अति प्रबल तेजः-सामर्थ्य से सम्पन्न हैं । उनमें से प्रथम अग्नि (तपः उग्रं) अपने तपनगुण से बलवान्, उग्र तेजस्वी है, द्वितीय सोम (मयो-भूः) सुखशान्ति का उत्पादक और जीवन का उत्पादक है । तृतीय (आपः) सर्वव्यापक जल है ।

सोमो राजा प्रथमो ब्रह्मजायां पुनः प्रायच्छदहृणीयमानः ।
अन्वर्तिता वरुणो मित्र आसीदग्निर्होता हस्तगृह्या निनाय ॥२॥

भा०—(प्रथमः) सब से प्रथम विद्यमान्, आदिगुरु (राजा) सर्वत्र प्रकाशस्वरूप (सोमः) सब के उत्पादक परमात्माने (अहृणीयमानः) विना संकोच और क्रोध के सब पर अनुग्रह करते हुए (पुनः) बार २ सृष्टि के आदि में (ब्रह्म-जायां प्र-अयच्छत्) ब्रह्म=ब्रह्माण्ड के उत्पन्न करने की प्रकृति शक्ति को प्रदान किया । और (वरुणः) सर्वव्यापक जल (मित्रः) और सर्वस्नेही आदित्य (अनु-अर्तिताः) उसके बाद प्रकट हुए । इस विश्व रचना को (होता) सब को अपने में ले लेने वाले (अग्निः) अग्नि तत्व ने या ज्ञानमय आत्मा ने स्वयं (हस्त-गृह्य) अपने आघातकारी गढ़ने के साधन-शक्ति से वश करके वा जिस प्रकार वर अपनी वधू को हाथ पकड़ कर ले आता है उस प्रकार इस प्रकट रूप में (आ निनाय) ला दिया ।

हस्तेनैव ग्राह्य/आधिरस्या ब्रह्मजायेति चेदवोचत् ।
न दूताय प्रहेया तस्थ एषा तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य ॥३॥
ऋ० १० । १०९ । ३ ॥

भा०—(अस्याः) इस महाप्रकृति का (आधिः) समस्त शरीर जिसमें परमेश्वर ने अपनी शक्ति का आधान किया वह (हस्तेन एव) हाथ, व्यापक शक्ति, गतिदायक शक्ति से ही (ग्राह्यः) व्याप्त करने योग्य है । (इति चेत्) इसीलिये यह (ब्रह्म-जाया) ब्रह्म की जाया, पत्नी, शक्तिरूप से विख्यात है । (एषा) वह परम प्रकृति (दूताय) अन्य किसी अवान्तर कारक द्वारा (प्र-हेया न) प्रेरणा करने योग्य नहीं है । सिवाय इस सर्व शक्तिमान् ईश्वर के वह और किसी के लिये अपने आपको समर्पित और प्रकट नहीं करती । जिस प्रकार (राष्ट्रं) राज्यसत्ता (क्षत्रियस्य) क्षत्रिय= प्रजा को विनाश होने से बचाने वाले राजा के द्वारा ही (गुपितम्) सुरक्षित रहता है (तथा) उस प्रकार यह समस्त प्रकृति की सत्ता भी उसी प्रभु के लिये सुरक्षित है । इस पर और किसी कारक का वश नहीं है ।

राष्ट्रपक्ष में—इस ब्रह्मजाया की सब सम्पत्ति को राजा अपने हाथ में ही रखे । कहने भर को वह ब्रह्मजाया अर्थात् ब्राह्मण की स्त्री के समान भोग्य है, ब्राह्मण के और उसके बीच में तीसरा कोई साधक नहीं तभी क्षत्रिय का राष्ट्र सुरक्षित रह सकता है । अन्यथा सदा लड़ाइयां होती रहेंगी ।

यामाहुस्तारकैषा विकेशीति दुच्छुनां ग्रामंमवपद्यमानाम् ।
सा ब्रह्मजाया वि दुनोति राष्ट्रं यत्र प्रापादि शश उल्कुषीमान् ॥ ४ ॥
ऋ० १० । १०९ । ४ ॥

३–(द्वि०) 'ब्रह्मजायेयमिति चेदवोचन्' (तृ०) 'प्रेष्य तस्थ एषा' इति ऋ० । (प्र०) 'ग्राह्या' इति क्वचित् । (तृ०) 'न दूत्याय' इति ह्विटनिकामितः । (प्र०) 'ग्राह्य आदिरस्या' इति पैप्प० सं० ।
४–(प्र०) 'तारकांविके' (तृ०) 'वितिनोति' इति पैप्प० सं० ।

भा०—ब्राह्मणों विद्वानों की ब्रह्मशक्ति विद्या वास्तव में उस धूम-केतु के समान है जो राष्ट्र पर उदित होकर उसका विनाश करे या उस उल्का-पात के समान है जो वस्तियों पर बरस जाने पर उनका नाश करे (दुच्छुनाम्) दुःख प्राप्त कराने वाली, दुर्लक्षणा, (ग्रामम् अव पद्यमानाम्) जन समूहों की वस्ती पर गिरने वाली (याम्) जिस धूमकेतुमयी विपत्ति या उल्का को (तारका एषा) यह 'तारका' धूमतारा या उल्का तारा या (विकेशी) विशेष जटा वाली तारा (इति आहुः) के नाम से पुकारते हैं वास्तव में वह इतनी नाशकारी नहीं जितनी यह (ब्रह्मजाया) ब्रह्म-ब्राह्मण, विद्वान् पुरुषों की विद्यारूप विज्ञान शक्ति है, इसलिये वास्तव में राष्ट्र-विध्वंस करने वाली सच्ची उल्का तो (सा ब्रह्मजाया) वह यह ब्रह्मजाया है। (विदुनोति राष्ट्रम्) जो राष्ट्र को नाना प्रकार से कष्ट देने में समर्थ हैं (यत्र) जहां (उल्कुपीमान्) उल्काओं के कोपों से युक्त, सहस्रों उल्काओं को बरसाने वाला (शशः) शश नामक उल्का प्रवाह (प्र-अपादि) आ पड़ता है। उल्का-विज्ञान के अनुसार तारका जिस राष्ट्र पर उदय होजाती हैं वहां की वस्ती विनष्ट होजाती है। उसकी उपमा से ब्रह्मजाया या विद्वानों की विज्ञानशक्ति का वर्णन किया है।

उल्कुषीमान् शश=यह सिंहराशि में स्थित वर्त्तमान में 'सिंहोल्का' है।

ब्रह्मचारी चरति वेविषद् विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम्।
तेन जायामन्वविन्दद् बृहस्पतिः सोमेन नीतां जुह्वं न देवाः ॥५॥

ऋ० १०। १०९। ५॥

भा०—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो! जो पुरुष (वेविषद्) सर्वत्र व्यापक, सर्वत्र समान भाव से सब के हृदयों में विराजमान, सब का प्रिय होकर (विषः) समस्त प्रवेश करने योग्य, व्याप्त करने योग्य राष्ट्र-प्रजाओं में (ब्रह्मचारी) ब्रह्मज्ञान में विचरणशील होकर (चरति) विचरता है,

(सः) वह (देवानां) राष्ट्र के सब अधिकारियों का भी (एकम् अङ्गम्) एक मुख्य अङ्ग होकर रहता है । हे (देवाः) विद्वान् पुरुषों (तेन) इसी कारण से (बृहस्पतिः) वह वेदविद्या का स्वामी, (सोमेन नीतां) सोम राजा द्वारा प्राप्त की गई (जायाम्) अपनी स्त्री के समान भोग्यरूप में इस समस्त पृथिवी को (जुह्वं न) ले लेने वाली अग्निज्वाला के समान शक्ति या वीर्य धारण में समर्थ (अनुअविन्दद्) वश में करलेता है ।

देवा वा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्त ऋषयस्तपसा ये निषेदुः ।
भीमा जाया ब्राह्मणस्यापनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन् ॥ ६ ॥

भा०—हे (देवाः) दिव्य गुणों से युक्त, परमप्रकाशस्वरूप या एक दूसरे को अपनी शक्ति देने वाले, संसार के घटक तत्वो ! (एतस्यां) इस ब्रह्म-शक्ति में (ये) जो (पूर्वे सप्त-ऋषयः , पूर्व के प्राणरूप सात ऋषि (तपसा) तप से अपने तपन शक्ति के रूप से (निषेदुः) विराजमान हैं वे उसके विषय में (अवदन्त) इस प्रकार का उपदेश करते हैं, वे उसका परमरहस्य बतलाते हैं कि—(ब्राह्मणस्य) ब्रह्मस्वरूप आदि पुरुष की (भीमा) अति भयंकर अतिशक्तिशालिनी (जाया) उत्पादक शक्ति (अप-नीता) उससे निकल कर (परमे वि-ओमन्) उस परम रक्षा स्थान, परम ब्रह्म में ही (दुः-धाम् दधाति) भारी धारण शक्ति को धारण करती है ।

ये गर्भा अवपद्यन्ते जगद् यच्चापलुप्यते ।
वीरा ये तृह्यन्ते मिथो ब्रह्मजाया हिनस्ति तान् ॥ ७ ॥

६–(तृ०) 'ब्राह्मणस्योपनीता' (द्वि०) 'तपसे' इति ऋ० । 'ब्राह्मणस्यापनिहिता' इति पैप्प० सं० ।

७–(तृ०) 'नृत्यन्ते' 'तृह्यते' 'नुह्यन्ते' इत्यादि नाना विकल्पाः । (प्र०) 'गर्भाव-' (द्वि०) 'यच्चाभिलुप्यते' इति पैप्प० सं० ।

भा०—उसी ब्रह्मशक्ति का पुनः वर्णन करते हैं। (ये) जो (गर्भाः) नाना हिरण्य गर्भ-(ब्रह्माण्ड=ब्रह्म, अण्ड=गर्भ) अवपद्यन्ते विनष्ट होते हैं होकर नहीं से होजाते हैं, और (यत् च) जो यह (जगत्) जगत्–समस्त विश्व (अपलुप्यते) एक बार ही प्रलय काल में कहीं लोप को प्राप्त हो जाता है और (ये) जो (वीराः) नाना बलवान्, वेग से आकाश में गति करने वाले सूर्य-मण्डल (मिथः तृह्यन्ते) आपस में टकराकर एक दूसरे का विनाश करते हैं (तान्) उन सब को वह (ब्रह्म-जाया) ब्रह्म की विशाल शक्ति जिससे जगत् उत्पन्न होता है वही उन को (हिनस्ति) विनाश करती है। राष्ट्रपक्ष में—जो गर्भहत्याएं नाजायज, पापोत्पन्न बालकों की लोग किया करते हैं या प्राणियों का विनाश होता है। और क्षत्रिय लोग घोर संग्राम करते हैं उन सब के विनाश में वह ब्राह्मण की शक्ति ही कारण है। जब वह अपमानित होती है। तब ये सब उत्पात होते हैं।

उत यत् पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः।
ब्रह्मा चेद्धस्तमग्रहीत् स एव पतिरेकधा ॥ ८ ॥

भा०—(उत) और (यत्) यदि (स्त्रियाः) स्त्री के (पूर्वे) पहले (दश पतयः) दश पालक, पति (अब्राह्मणाः) ब्राह्मण न हों और ऐसी कन्या का (हस्तं) हाथ पाणिग्रहण की विधि से (चेत्) यदि (ब्रह्मा अग्रहीत्) ब्राह्मण ने ही ग्रहण किया हो तो उनमें (सः एव) वह ही (एकधा पतिः) उसका एकमात्र पति है। ब्रह्मपक्ष में—प्रकृति रूप स्त्री के परिपालक इन्द्र आदि दश लोकपाल–दश दिव्य शक्तियां जो ब्रह्म से भिन्न हैं वे उसके पति नहीं, प्रत्युत वह परमात्मा ही उस प्रकृति का मुख्य स्वामी है जिसने उसका हाथ अपने हाथ में लिया है अर्थात् उसकी मुख्य क्रियाशक्ति को अपनी शक्ति से वश किया है।

ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो३ न वैश्यः ।
तत् सूर्यः प्रब्रुवन्नेति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः ॥ ९ ॥

भा०—(ब्राह्मणः एव पतिः) स्त्री का पति ब्राह्मण ही है (न राजन्यः न वैश्यः) न क्षत्रिय है और न वैश्य है । (सूर्यः) वह सूर्य, सर्वप्रकाशक परमात्मा (पञ्चभ्यः) पांचों प्रकार के (मानवेभ्यः) मानवों को (तत् प्रब्रुवन् एति) इस प्रकार उपदेश करता है । अर्थात् यदि कोई स्त्री अपने यौवन काल में सब वर्णों में से प्रथम ब्राह्मण को वरती है तो ऐसी दशा में बलपूर्वक हरण करने में या ऐश्वर्य में महान् राजा, धनादि से सम्पन्न वैश्य भी उस स्त्री का पति नहीं हो सकता है ।

पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या अददुः ।
राजानः सत्यं गृह्णाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः ॥ १० ॥

ऋ० १० । १०९ । ६ ॥

भा०—कन्या के पुनः दान का उपदेश करते हैं । (देवाः) देव विद्वान् लोग कन्या का (पुनः अददुः) पुनः दान कर देते हैं । (मनुष्याः पुनः अददुः) विचारशील मनुष्य भी कन्या का पुनः दान करते हैं । (राजानः) राज्य कर्त्ता व्यवस्थापक लोग भी (सत्यं गृह्णानाः) सत्य, यथार्थ का निर्णय करके (ब्रह्म-जायाम्) ब्राह्मण की पत्नी को भी (पुनः ददुः) पुनः दान करने की आज्ञा देते हैं । यह पुनः दान का विधान पूर्व अयोग्य पति के हो जाने पर है—जैसा कात्यायन ने लिखा है—

स तु यद्यन्यजातीयः पतितः क्लीव एव वा ।
विकर्मस्थः सगोत्रो वा दासो दीर्घामयोऽपि वा ॥
ऊढापि देया साऽन्यस्मै सहाभरणभूषणा ॥

१०-(प्र०) 'पुनः वै देवा उत पुनर्म' (तृ०) कृण्वानाः इति ऋ० ।

पुनर्दायं ब्रह्मजायां कृत्वा देवैर्निकिल्बिषम् ।
ऊर्जं पृथिव्या भक्त्वोरुगायमुपासते ॥ ११ ॥

ऋ० १० । १०९ । ७ ॥

भा०—(देवैः) देव लोग (ब्रह्म-जाया) ब्रह्म=कन्या को पुनः (नि-किल्बिषम्) निर्दोष, निष्पाप (कृत्वा) करके और उस को योग्यपति के हाथों (पुनःदाय) पुनः दान करके और (पृथिव्याः) पृथिवी–क्षेत्र-भूमि, के (ऊर्जं) बल को (भक्त्वा) विभाग करके प्रथम स्त्री को क्षेत्र मान कर यदि पुत्रों वाली स्त्री हो तो उसके (ऊर्जं) रस, बल रूप सन्ततियों का पूर्व पतियों में विभाग करके, (उरुगायम् उपासते) उस महान् यश-स्वी या वेदवक्ता परमात्मा की उपासना करते हैं, उसी की आज्ञा का पालन करते हैं ।

नास्य जाया शतवाही कल्याणी तल्पमाशये ।
यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्या ॥ १२ ॥

भा०—(यस्मिन् राष्ट्रे) जिस राष्ट्र में (अचित्या) बिना ज्ञान के, मूर्खता से (ब्रह्मजाया) ब्रह्म की विज्ञानमयी कल्पक और उत्पादक शक्ति को (नि-रुध्यते) रोक दिया जाता है उस पर नियन्त्रण रखा जाता है, उस राष्ट्र में (अस्य जाया) मनुष्य की (जाया) स्त्री भी (शत-वाही) सहस्रों कार्य करने में समर्थ (कल्याणी) सुख कल्याण की देने हारी सौभाग्यवती स्त्री (तल्पं) भोग्य स्थान, सेज पर (न आशये) नहीं विराजती है ।

न विकर्णः पृथुशिरास्तस्मिन् वेश्मनि जायते ।
यस्मिन्० ॥ १३ ॥

११–(द्वि०) 'कृत्वी' (च०) 'भावत्वावयोरु' इति पाठभेदः, ऋ० ।

भा०—(यस्मिन् राष्ट्रे अचित्या ब्रह्म-जाया नि-रुध्यते) जिस घर में मूर्खता वश ब्रह्म, वेद से प्राप्य ज्ञानशक्ति या ब्राह्मण=ब्रह्म ज्ञानियों की वैदिक विद्या को रोक दिया जाता है (तस्मिन् वेश्मनि) उस घर में (वि-कर्णः पृथु-शिराः) विशेष कर्ण-शक्ति से सम्पन्न श्रुतिशील, विशाल मस्तक वाले विचारवान् पुरुष (न जायते) नहीं उत्पन्न होते । घरों में ब्रह्मजाया अर्थात् ब्राह्मणों की वैदिक वाणी का ज्ञानपूर्वक घोष होना चाहिये । इससे सन्तति बहुश्रुत विचारवान् होगी ।

नास्य॑ क्ष॒त्ता नि॒ष्कग्री॑वः सू॒नाना॑मेत्यग्र॒तः ।
यस्मि॑न्० ॥ १४ ॥

भा०—(यस्मिन् राष्ट्रे अचित्या ब्रह्म-जाया नि रुध्यते) जिस राष्ट्र में मूर्खता से ब्रह्म, वेद विद्या के प्रसार को रोक दिया जाय । (अस्य क्षत्ता) इस देश का मन्त्री भी (निष्क-ग्रीवः) स्वर्ण के आभूषण पहन कर (सूनानाम्) ऐश्वर्यवान् राजाओं के (अग्रतः) समक्ष (न एति) आने योग्य नहीं होता । अर्थात् विद्या ही के बल से सचिव राजाओं के समक्ष सदा सलाह देने योग्य होते हैं ।

नास्य॑ श्वे॒तः कृ॒ष्णक॑र्णो धु॒रि यु॒क्तो म॑हीयते ।
यस्मि॑न्० ॥ १५ ॥

भा०—(यस्मिन् राष्ट्रे अचित्या ब्रह्म-जाया निरुध्यते) जिस राष्ट्र में मूर्खता से ब्राह्मण विद्वान् पुरुषों की (जाया) शक्ति, विद्या मूर्खतावश कुण्ठित हो जाती है उस राष्ट्र के (अस्य) राजा का (श्वेतः) श्वेत (कृष्ण-कर्णः) श्यामकर्ण घोड़ा (धुरि युक्तः) अपने उचितस्थान पर नियुक्त होकर (न महीयते) महत्व को प्राप्त नहीं होता । अर्थात् उस राष्ट्र में श्यामकर्ण द्वारा अश्वमेध नहीं होता ।

नास्य क्षेत्रे पुष्करिणी नाण्डीकं जायते बिसम् ।
यस्मिन्० ॥ १६ ॥

भा०—जिस राष्ट्र में ब्रह्मजाया, ब्रह्म शक्ति ब्राह्मणों के विद्या बल को मूर्खतावश रोक दिया जाता है (अस्य क्षेत्रे) उस राष्ट्र के राजा के क्षेत्र में (पुष्करिणी) पुखरिनी, (आण्डीकं) बड़ा कमल और (बिसम्) भिस आदि कमलकन्द भी (न जायते) उत्पन्न नहीं होते । अर्थात् उस देश में राष्ट्र के शोभाजनक ताल सरोवर भी नहीं बनते ।

नास्मै पृश्निं वि दुहन्ति ये/स्या दोहमुपासते ।
यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजाया चित्त्या ॥ १७ ॥

भा०—(यस्मिन् राष्ट्रे अचित्या ब्रह्म-जाया निरुध्यते) जिस राष्ट्र में मूर्खता वश विद्वान् ब्राह्मण, वेदज्ञों की विद्या-शक्ति रुक जाती है वहां (अस्मै) इस राष्ट्रपति राजा के राष्ट्र के अधिकारी और प्रजाजन (ये) जो (अस्याः) इस पृथिवीरूप धेनु के (दोहम्) सारवान् अन्न आदि पदार्थों को (उपासते) भोग करते हैं वे (अस्मै) फिर इस राजा के लिये (पृश्निं) इस नाना पदार्थदायी कामधेनु को (न वि दुहन्ति) नाना प्रकार से नहीं दोहते ।

नास्य धेनुः कल्याणी नानड्वान्त्सहते धुरम् ।
विजानिर्यत्र ब्राह्मणो रात्रिं वसति पापया ॥ १८ ॥

भा०—(यत्र) जहां (ब्राह्मणः) विद्वान्, वेदवेत्ता, ब्राह्मण लोग (वि-जानिः) अपनी भार्या के समान सब अर्थों की उत्पादक विद्यारूप शक्ति से रहित होकर (पापया) पापाचार बुद्धि से युक्त होकर (रात्रिं) समस्त

१७–(द्वि०) 'योऽस्या' इति क्वचित् ।
१८–(प्र०) 'न तत्र धेनुर्दोहेन' इति पैप्प० सं० ।

जीवन को रात के समान आलस्य, प्रमाद और निद्रा में (वसति) विताता है (अस्य) उस राष्ट्र की (धेनुः) गाय (कल्याणी न) सुखपूर्वक दूध देने वाली नहीं होती और (अनड्वान्) बैल भी (धुरम् न सहते) गाड़ियों में नहीं जुतते । अर्थात् विद्वानों के अभाव में न पशुओं की वृद्धि होती है, न गो-पालन होता है और न व्यापारार्थ बैल आदि का सत् उपयोग होता है ।



[१८] ब्रह्म गवी का वर्णन ।

मयोभूर्ऋषिः । ब्रह्मगवी देवता । १-३, ६, ७, १०, १२, १४, १५ अनुष्टुभः, ४, ५, ८, ९, १३ त्रिष्टुभः, ४ भुरिक् । पञ्चदशर्चं सूक्तम् ॥

नैतां ते देवा अददुस्तुभ्यं नृपते अत्तवे ।
मा ब्राह्मणस्य राजन्य गां जिघत्सो अनाद्याम् ॥ १ ॥

भा०—विद्या, प्रजा, पृथ्वी और गौ ये सब ब्राह्मण, विद्वान् पुरुष की गौ है । उसका मारना, खा लेना आदि किसी को करना उचित नहीं, इसी विषय का इस सूक्त में उपदेश करते हैं—हे (नृपते) समस्त नरों, मनुष्यों के परिपालक राजन् ! (ते देवाः) वे विद्वान् लोग (ते) तुझे राज्याभिषेक करते समय (एताम्) इस ब्राह्मण की गौ=पृथिवी और उस पर रहने वाली प्रजा और उनके गौ आदि पशु सब को (अत्तवे) खा डालने के लिये (न ददुः) नहीं देते हैं । हे (राजन्य) राजन् ! (अनाद्याम्) न खाने योग्य (ब्राह्मणस्य गां) ब्राह्मण की गौ को (मा जिघत्सः) मत खा, मत मार । राजा लोक-प्रजा की रक्षा करे न कि उनका खून चूसे और न उनको मृगों को सिंह के समान मार कर खावे ।

---

[१८] २–' पापात्ममपराजितः ' इति पैप्प० सं० ।

अक्षद्रुग्धो राजन्यः पाप आत्मपराजितः ।
स ब्राह्मणस्य गामद्यादद्य जीवानि मा श्वः ॥ २ ॥

भा०—जो राजा अपने विषय-सुखों के लिये प्रजा को कुर्बान कर देता है वह चिरकाल तक नहीं रहता। (अक्ष-द्रुग्धः) इन्द्रियों के लोभ के कारण प्रजा में नाना प्रकार के द्रोह उत्पन्न करने वाला, अथवा जूओं के कारण अपने बहुतसों का शत्रु बना हुआ (राजन्यः) राजा (आत्म-पराजितः) अपने ही व्यसनों से अपने आप पछाड़ खा कर (पापः) पापी होकर यदि (सः) वह (ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण=वेदवेत्ता की (गाम्) गौ, भूमि, प्रजा तक को (अद्यात्) खा डाले, विनाश करे तो (अद्य जीवानि) वह यह भी समझले कि 'मैं आज भर ही जीता हूं (न श्वः) कल को मेरा जीवन नहीं है। अर्थात् अत्याचारी का राज एक पुश्त से दूसरी पुश्त तक नहीं जा सकता।

आविष्टिताघविषा पृदाकूरिव चर्मणा ।
सा ब्राह्मणस्य राजन्य तृष्टैषा गौरनाद्या ॥ ३ ॥

भा०—पूर्वोक्त ब्राह्मण को गौ के खाने का दुष्परिणाम बतलाते हैं—हे (राजन्य) राजन् ! (एषा) यह (ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण की (गौः) गौ (अनाद्या) खाने योग्य नहीं, यह हजम नहीं होगी क्योंकि (सा) वह तो (तृष्टा) प्यासी, (पृदाकूः इव) नागिन के समान, (अघ-विषा) पाप मय विष से भरी (चर्मणा) कांचुली से (आविष्टिता) ढकी है, इस पर मुंह मत मार। अर्थात् ब्राह्मण प्रजा पर और ब्राह्मणों की सम्पत्ति और उनकी विद्या पर आघात मत कर।

निर्वै क्षत्रं नयति हन्ति वर्चोऽग्निरिवारब्धो वि दुनोति सर्वम् ।
यो ब्राह्मणं मन्यते अन्नमेव स विषस्य पिबति तैमातस्य ॥ ४ ॥

४-(द्वि०) 'आलब्धः पृतन्नतो राष्ट्रम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(यः) जो (ब्राह्मणं) ब्राह्मण या विद्वान् सदाचारी तपस्वी पुरुष को (अन्नम् एव मन्यते) दाल-भात का गस्सा समझ लेता है, (सः) वह (तैमातस्य) फनियर नाग के (विषस्य) विषकी घूंट (पिबति) पी लेता है। क्योंकि ब्राह्मण के ऊपर आघात करने से ब्रह्मतेज राजा को (वै) निश्चय से (क्षत्रं निः नयति) निर्वीर्य कर देता है, (वर्चः हन्ति) उसके तेज को नष्ट कर देता है, और (आ-रब्धः) राजा के पीछे लग जाय तो (अग्निः इव) आग के समान भड़क कर (सर्वम्) उसके सर्वस्व राज पाट को (विदुनोति) नाना प्रकार से नाश कर डालता है।

य एनं हन्ति मृदुं मन्यमानो देवपीयुर्धनकामो न चित्तात् ।
सं तस्येन्द्रो हृदयेऽग्निमिन्ध उभे एनं द्विष्टो नभसी चरन्तम् ॥५॥

भा०—(यः) जो (एनं) इस ब्राह्मण को (मृदुम्) कोमल स्वभाव, निर्बल, दबने वाला (मन्यमानः) मान कर (धन-कामः) धन के लोभ से (देव-पीयुः) इस लोक के देव, विद्वान् ब्राह्मणों का विनाशक होकर (हन्ति) ब्राह्मण को कष्ट देता और उस को मारता है, और (न चित्तात्) नहीं चेतता, अपनी करतूत से बाज नहीं आता, (तस्य) उसके (हृदये) हृदय में (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् परमात्मा (अग्निम्) आग (इन्धे) सुलगा देता है। (उभे) वह सन्ताप और परमेश्वर (उभे) या दोनों राजा प्रजा (नभसि चरन्तम्) अपने ख़याल में, आकाश में निरालम्ब विचरते हुए, गर्वीले (एनं) उस को (द्विष्टः) द्वेष करने लगते हैं।

न ब्राह्मणो हिंसितव्योऽग्निः प्रियतनोरिव ।
सोमो ह्य/स्य दायाद इन्द्रो अस्याभिशस्तिपाः ॥ ६ ॥

५–(प्र०) 'य एनाम्' इति पैप्प० सं० ।

६–'अग्नेः प्रियातनूरिवेति' पेद० लक्ष० कामितः। अग्नेः प्रियतमा तनूः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(प्रियतनोः अग्निः इव) अपने प्यारे शरीर के समान (ब्राह्मणः अग्निः) ब्राह्मण को जान कर (न हिंसितव्यः) उसका वध न करना चाहिये क्योंकि वह (अग्निः) अग्नि के समान है (सोमः) सब का प्रेरक, एवं सब के आल्हादकारी परमात्मा (अस्य दायादः) इसका मात्र बन्धु है और (इन्द्रः) वही परमेश्वर इसका (अभि-शास्तिपाः) चारों ओर से पड़ने वाले निन्दा, अपवाद एवं शस्त्र-आघातों से बचाने वाला है ।

शतापाष्ठां नि गिरति तां न शक्नोति निःखिदन् ।
अन्नं यो ब्रह्मणां मल्वः स्वाद्वद्मीति मन्यते ॥ ७ ॥

भा०—(यः) जो (मल्वः) मलिन हृदय वाला, नीच पुरुष, (ब्राह्मणाम्) ब्राह्मणों, वेदवेत्ताओं, ज्ञानी पुरुषों के (अन्नं) अन्न, जीवन, वृत्ति को (स्वादु अद्मि) खूब मजे में खा जाता हूं (इति) ऐसा (मन्यते) मानता है वह परिणाम में (शत-अपाष्ठाम्) सैकड़ों प्रकार की दुर्गति को (नि-गिरति) प्राप्त होता है और (निः-खिदन् तां न शक्नोति) सब प्रकार से ताड़ित होकर उस को पार नहीं कर सकता ।

जिह्वा ज्या भवति कुल्मलं वाङ्नाडीका दन्तास्तपसाभिदिग्धाः ।
तेभिर्ब्रह्मा विध्यति देवपीयून् हृद्बलैर्धनुर्भिर्देवजूतैः ॥ ८ ॥

भा०—ब्राह्मण की शक्तियों का वर्णन करते हैं। ब्राह्मण की (जिह्वा) जीभ (ज्या भवति) धनुष की डोरी होजाती है। और (वाग्) वाणी, (कुल्मलं) धनुष का दण्ड होजाता है और (तपसा) तेज, और तपस्या से (अभि-दिग्धा) लिपे हुए, (दन्ताः) दांत (नाड़ीकाः) नालीक नाम के बाण, छुरें और तीरों के समान होजाते हैं । (ब्रह्मा) ब्रह्मवेद का ज्ञाता विद्वान् तपस्वी, पुरुष (तेभिः) उन (देवजूतैः) विद्वानों से या दिव्य-शक्तियों से युक्त, (हृद्बलैः) हृदय, मन की शक्ति से सम्पन्न (धनुर्भिः) ज्ञानमय

७–(द्वि०) 'निखिदन्' इति क्वचित् ।

धनुषों, अस्त्रों से (देव-पीयून) विद्वानों के शत्रुओं को (विध्यति) प्रहार करता है ।

तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हेतिमन्तो यामस्यन्ति शरव्यां३ न सा मृषा ।
अनुहाय तपसा मन्युना चोत दूरादव भिन्दन्त्येनम् ॥ ९ ॥

भा०—(ब्राह्मणाः) ब्रह्मवेत्ता, विद्वान्, ब्राह्मण लोग (तीक्ष्ण-इषवः) तीक्ष्ण बाणों से युक्त, एवं तीक्ष्ण इच्छा शक्ति से सम्पन्न और (हेति-मन्तः) अस्त्रों से युक्त होकर (यां शरव्याम्) जिस बाणधारा को (अस्यन्ति) फेंकते हैं (सा) वह (न मृषा) असत्य नहीं है । वे (तपसा) तप और (मन्युना) क्रोध या ज्ञान से (अनु-हाय) शत्रु का पीछा कर के (एवं) इस को (दूरात्) दूर से ही (भिन्दन्ति) भेद डालते हैं ।

ये सहस्रमराजन्नासन् दशशता उत ।
ते ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा वैतहव्याः पराभवन् ॥ १० ॥

भा०—(ये) जो (वैत-हव्याः) दान योग्य हवि पदार्थों को स्वयं खा जाने वाले पुरुष पहले (सहस्रम्) सहस्रों प्रकार के बलों से (अराजन्) वैभव को प्राप्त कर लेते हैं (उत) और चाहे (दश-शताः आसन्) वे दसों, सैकड़ों, हज़ारों भी क्यों न हों तो भी (ते) वे (ब्राह्मणस्य गां) ब्राह्मण की गौ, भूमि, सम्पत्ति, विद्या, देह-वृत्ति आदि को (जग्ध्वा) खाकर, हड़प कर (परा अभवन्) पराजय को ही प्राप्त हो जाते हैं ।

गौरेव तान् हन्यमाना वैतहव्याँ अवातिरत् ।
ये केसरप्राबन्धायाश्चरमाजामपेचिरन् ॥ ११ ॥

९–' भिन्दन्ति ते तया ' इति पैप्प० सं० ।

१०–' तेभ्यः प्र ब्रवीमि त्वा ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(तान् वैत-हव्यान्) उन दान योग्य पदार्थों के स्वयं भोक्ता, असुर लोगों को वह ब्राह्मण की गौ ही (हन्यमाना) मारी जा कर, (अव तिरत्) विनाश कर डालती है क्योंकि (ये) जो वे, (केसर-प्राबन्धायाः[1]) केसर-प्राबन्धा, मोक्षाभिलाषिणी चिति शक्ति की (चरम-अजाम्) अन्तिम अजा, अमर आत्म शक्ति को भी (अपेचिरन्) विनाश कर डालते हैं ।

एकशतं ता जनता या भूमिर्व्यधूनुत ।
प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन् ॥ १२ ॥

भा०—ब्राह्मण की गौ का स्वरूप बतलाते हैं—(ताः जनताः) वे लोग राष्ट्र के कलंकरूप (एक-शतं) एक सौ एक हैं (याः) जिनको (भूमिः) माता भूमि उन्हें स्वयं धुन देती है, कंपा देती है । जो (ब्राह्मणीम्) विद्वान् ब्राह्मणों की (प्रजां) प्रजा, सन्तति को (हिंसित्वा) मार कर (असम्-भव्यम्) आशातीत रूप से, विना सम्भावना के ही (परा-भवन्) विनाश को प्राप्त होते हैं ।

देवपीयुश्चरति मर्त्येषु गरगीर्णो भवत्यस्थिभूयान् ।
यो ब्राह्मणं देवबन्धुं हिनस्ति न स पितृयाणमप्येति लोकम् ॥१३॥

भा०—(देव-पीयुः) विद्वान् पुरुषों को सताने वाला पुरुष (मर्त्येषु) मनुष्यों के बीच में (गर-गीर्णः चरति) मानो जहर पिये घूमता है ।

---

१. केसरप्राबन्धा=के मोक्षसुखे, प्रजापतौ ब्रह्माणि सरः गमनं तत्र प्रबन्धः प्रकृष्ट आग्रहो यस्याः सा केसरप्राबन्धा मोक्षाभिलाषिणी चितिशक्तिः तस्या या चरमा अन्तिमा व्यापिनी वा अजा, न जायते इत्यजा । अमृता उत्पादविनाशरहिता या आत्मशक्तिः तामपि ते वैतहव्याः 'अपेचिरन्' विषयाग्नौ अपाचयन् ।

१२–' एकशतं वै, ' ' भूमिर्या ' इति पैप्प० सं० ।

१३–(च०) ' सस्थपितृणामध्येतुलोकम् ' इति पैप्प० सं० ।

(अस्थिभूयान् भवति) केवल बड़े २ हाड़ उठाये रहता है । (यः) जो (देवबन्धुम्) देव,-विद्वान् और ईश्वर की दिव्य शक्तियों या ईश्वर को मात्र बन्धु मानने वाले (ब्राह्मणम्) ब्रह्मज्ञ, ब्राह्मण को (हिनस्ति) पीड़ा देता है (सः) वह (पितृयाणम् लोकम् अपि) पितृयाण लोक को भी (न एति) प्राप्त नहीं होता । दो यान हैं देवयान और पितृयाण ।

अग्निर्वै नः पदवायः सोमो दायाद उच्यते ।
हन्ताभिशस्तेन्द्रस्तथा तद् वेधसो विदुः ॥ १४ ॥

भा०—(अग्निः) अग्नि=ज्ञानवान् ही (नः) हमारा (पद-वायः) मार्गदर्शक है । (सोमः) सोम=शान्तिदायक एवं शुभ मार्ग में प्रेरक ही हमारा (दायादः) समस्त धनों का दाता स्वामी, (उच्यते) कहा जाता है । (इन्द्रः) वह बलशाली, परमैश्वर्यवान् प्रभु (अभिशस्ता हन्ता) आक्षेपों और शस्त्र-प्रहारों से सताने वाले पुरुषों का विनाशक है । (तथा) इसी प्रकार से (वेधसः) विद्वान् लोग (तद्) उस पर-ब्रह्म के विषय में (विदुः) जानते हैं ।

इषुरिव दिग्धा नृपते पृदाकूरिव गोपते ।
सा ब्राह्मणस्येषुर्घोरा तया विध्यति पीयतः ॥ १५ ॥

भा०—हे (नृपते) राजन् ! (ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण की (सा) वह (घोरा) घोर, भयानक (इषुः) मनःकामना रूप बाण है जो (दिग्धा इषुः,-इव) विष में बुझे तीर और (पृदाकूः,-इव) नागिन के समान है । हे (गोपते !) गो, वाणी, वेद, भूमि के प्रतिपालक राजन् ! ब्राह्मण

१४–(तृ० च०) 'जयताभिशस्त इन्द्रस्तत् सत्यं देवसंहितम्' इति पैप्प० सं० । ' अभिशस्तम् ' इति निम्मरकामितः ।

१५–' पुर्दिग्धा ' इति पैप्प० सं० ।

(पीयतः) अपने शत्रु हिंसकों को (तया विध्यति) उस घोर बाण से निशाना करता और वेधता है ।

[१९] ब्रह्मगवी का वर्णन ।

मयाभूर्ऋषिः । ब्रह्मगवी देवता । २ विराट् पुरस्ताद् बृहती, ७ उपरिष्टाद् बृहती, १-३-६, ७-१५ अनुष्टुभः । पञ्चदशर्चं सूक्तम् ॥

अतिमात्रमवर्धन्त नोदिव दिवमस्पृशन् ।
भृगुं हिंसित्वा सृञ्जया वैतहव्याः पराभवन् ॥ १ ॥

भा०—ब्राह्मणों को मारने उनको कष्ट पहुंचाने के बुरे परिणामों का निर्देश करते हैं । (सृञ्जयाः) प्रसरणशील, इन्द्रियों को विजय करने वाले, जितेन्द्रिय (वैत-हव्याः) दान योग्य पदार्थों को भी स्वयं खा जाने वाले असुर लोग (न उत् इव) न केवल (अति-मात्रम्) बहुत अधिक (अवर्धन्त) बलशाली, उन्नत हो जाते हैं । प्रत्युत (दिवम्) स्वर्ग-लोक को भी (अस्पृशन्) छू लेते हैं, इतने पर भी वे (भृगुं) समस्त पापों के भून डालने वाले अग्नि-स्वरूप ब्राह्मण को (हिंसित्वा) विनाश करके (परा अभवन्) पराजय को ही प्राप्त हो जाते हैं ।

ये बृहत्सामानमाङ्गिरसमार्पयन् ब्राह्मणं जनाः ।
पेत्वस्तेषामुभयादमविस्तोकान्यावयत् ॥ २ ॥

भा०—(ये जनाः) जो पुरुष (आङ्गिरसम्) अङ्गों में रस के समान बहने वाले, प्राण के समान या प्रज्वलित अंगारों के समान, तेजस्वी, राष्ट्

[१९] १–' भृगुं हिंसित्वा ब्राह्मणीम् सम्भाव्यं पराभवन् ' इति पैप्प० सं० ।
२–(तृ०) ' उभयादन् ' इति ह्विटनिकामितः । अस्पष्टः पैप्पलादपाठः ।

के विद्वान्, (बृहत्-सामानम्) बड़े विशाल, आदित्य ब्रह्मचारी (ब्राह्मणं) ब्राह्मण को (आर्पयन्) विनाश करते हैं (तेषां) उनके (तोकानि) अगली सन्तानों को (अविः) वही सर्वरक्षक (पेत्वः) परिपालक प्रभु ही (उभयादम्) अपने दोनों जबाड़ों के बीच में (आवयत्) चबा डालता है। परमात्मा को दोनों जबाड़े द्यौ और पृथ्वी हैं। इन दोनों तरफ़ से उन दुष्ट पुरुषों पर नाना आपत्तियां पड़ती हैं और वे नष्ट हो जाते हैं।

ये ब्राह्मणं प्रत्यष्ठीवन् ये वास्मिञ्छुल्कमीषिरे ।
अस्नस्ते मध्ये कुल्यायाः केशान् खादन्त आसते ॥ ३ ॥

भा०—(ये) जो पुरुष (ब्राह्मणम्) ब्राह्मण की ओर (प्रति अष्ठीवन्) घृणा से थूकते और उसका अपमान करते हैं और (ये वा) जो लोग (अस्मिन्) इस वेदवित् ब्राह्मण पर (शुल्कम् ईषिरे) किसी प्रकार का कर बैठाते हैं (ते) वे गर्वी और लोभी पुरुष (अस्नः) रुधिर की (कुल्यायाः) धारा के (मध्ये) बीच में (केशान्[1] खादन्तः) क्लेशों को भोगते (आसते) रहते हैं। अर्थात् ब्राह्मण का अपमान करके वे परस्पर की लड़ाइयों से एक दूसरों का गला काटते रहते हैं और नाना क्लेश भोगते हैं।

ब्रह्मगवी पच्यमाना यावत् साभि विजङ्गहे ।
तेजो राष्ट्रस्य निर्हन्ति न वीरो जायते वृषा ॥ ४ ॥

भा०—(सा) वह (ब्रह्मगवी) ब्रह्मशक्ति, विद्या और ब्राह्मणों की वाणी या ब्राह्मणरूप स्वयं गौ (पच्यमाना) दुःख पाती हुई (यावत्) जब

३–(द्वि०) 'अस्नै' (च०) 'भासते' इति पैप्प० सं० ।

१. क्लिशेरन्लो लोपश्च केशः । उ० पा० ५ । ३३ ॥ क्लिश्यते येन सकेशः । इति दया० उ० ॥

४–(च०) 'न वीरो जायते पुमान्' इति पैप्प० सं० ।

तक (अभि वि-जंगहे) तड़फती रहती है तब तक वह (राष्ट्रस्य तेजः) राजा के राष्ट्र के तेज को (निर्हन्ति) समूल नाश किया करती है यहांतक कि (वीरः वृषा न जायते) वीर, धार्मिक पुष्ट पुरुष उस राष्ट्र में उत्पन्न होना बन्द हो जाता है राष्ट्र में सच्चे धार्मिक उत्पन्न नहीं होते ।

क्रूरम॑स्या आ॒शस॑नं तृ॒ष्टं पि॑शि॒तम॑स्यते ।
क्षी॒रं यद॑स्याः पी॒यते॒ तद् वै पि॒तृषु॒ किल्बि॑षम् ॥ ५ ॥

भा०—(अस्याः) इस ब्रह्म-गौ का (आशसनम्) मारना भी (क्रूरं) बड़ा क्रूरता का कार्य है । उसका (पिशितम्) मांस भी (तृष्टं अस्यते=अश्यते) खूब प्यास लगाने वाला होकर भी पेट में डाल लिया जाता है । और (यद्) जो (अस्याः) इस प्रकार पीड़ित हुई गौ का (क्षीरं पीयते) दूध पिया भी जाता है वह (पितृषु) राष्ट्र के पालक शासकों के लिये (किल्बिषम्) भारी पापजनक होता है । अर्थात् ब्राह्मण की भूमि और सम्पत्ति का छीनना बड़ी क्रूरता का कार्य है उसकी उपज लेना केवल लोभ तृष्णा का जनक है, और उससे जो कुछ कर आदि सार पदार्थ ले भी लिया जाता है वह अधिकारियों के लिये पापजनक है ।

उ॒ग्रो राजा॒ मन्य॑मानो ब्राह्म॒णं यो जि॒घत्स॑ति ।
परा॒ तत् सि॑च्यते रा॒ष्ट्रं ब्रा॑ह्म॒णो यत्र॑ जी॒यते॑ ॥ ६ ॥

भा०—(यः) जो (उग्रः राजा) बलशाली राजा (मन्यमानः) अभिमानी होकर (ब्राह्मणं) वेदवित्, विद्वान् ब्राह्मण को (जिघत्सति) खा जाना चाहता है-हड़प जाना चाहता है (तत्) उसका राष्ट्र (परा सिच्यते) सम्पत्ति से शून्य हो जाता है, इसी प्रकार (यत्र) जहां (ब्राह्मणः

५–(द्वि०) ' अश्यते ' इति ह्विटनिजिम्मरकामितः ।

६–' यज्जिघत्सति ' इति प्रामादिकः क्वचित् पाठः ।

जीयते) ब्राह्मण कष्ट को प्राप्त होता है वह राष्ट्र भी (परा सिच्यते) शत्रु से पराजित होता और निर्धन हो जाता है । उसको शत्रु गण लूट ले जाते हैं ।

अष्टापदी चतुरक्षी चतुःश्रोत्रा चतुर्हनुः ।
द्व्यास्या द्विजिह्वा भूत्वा सा राष्ट्रमव धूनुते ब्रह्मज्यस्य ॥७॥

भा०—प्रकुपित ब्राह्मणरूप गौ का स्वरूप दर्शाते हैं । (सा) वह ब्राह्मणरूप गौ (अष्टा-पदी) आठ पैरों, (चतुरक्षी) चार आंखों और (चतुः श्रोत्रा) चार कानों और (चतुर्हनुः) चार दाढ़ों, (द्व्यास्या) दो मुहों और (द्विजिह्वा) दो जीभों वाली (भूत्वा) होकर (ब्रह्मज्यस्य) ब्रह्मज्य=ब्राह्मण के विनाशकारी राजा के (राष्ट्रं) राष्ट्र को (अवधूनुते) धुन डालती है । आठ अमात्य उसके पैर हैं, चार वर्ण उसके चार आंख, चार आश्रम उसके कान हैं, चारों प्रकार की सेना चार हनु हैं, भीतरी और बाह्य शत्रु दो मुख हैं. उभयपक्ष के दूत उसकी दो जिह्वाएं हैं। वे सब उस राष्ट्र को नष्ट कर देते हैं ।

तद् वै राष्ट्रमा स्रवति नावं भिन्नामिवोदकम् ।
ब्रह्माणं यत्र हिंसन्ति तद् राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना ॥ ८ ॥

भा०—(यत्र) जिस राष्ट्र में (ब्राह्मणं) विद्वान् ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण को (हिंसन्ति) विनाश करते हैं (तद् राष्ट्रं) उस राष्ट्र को (दुच्छुना) दुष्ट विपत्ति, आधि व्याधि (हन्ति) विनाश कर डालती है और (भिन्नां इव नावम्) जिस प्रकार टूटी फूटी नाव में (उदकं आ स्रवति) पानी तह

७–' द्विजिह्वा द्विप्राणा भूत्वा ' इति पैप्प० सं० ।

८–(द्वि०) ' भिन्नां नावमि- ' (तृ०) ' ब्राह्मणो यत्र जीयते ' इति पैप्प० सं० ।

फोड़ कर भीतर आ जाता है उसी प्रकार (तद् राष्ट्रं) उस राष्ट्र को फोड़ कर शत्रु भी भीतर आ घुसता है और नाश कर डालता है।

तं वृक्षा अप सेधन्ति छायां नो मोपंगा इति।
यो ब्राह्मणस्य सद्धनमभि नारद मन्यते ॥ ६ ॥

भा०—हे (नारद) मनुष्यों को आश्रय देने हारे पालक ! राजन् ! (यः) जो (ब्राह्मणस्य) विद्वान् ब्राह्मण के (सत् धनम्) सत् धन और विद्या और तप को (अभि मन्यते) हथियाना चाहता है (वृक्षाः) वृक्ष या क्षत्रियगण भी (तम् अप सेधन्ति) उसको दुरदुरा देते हैं कि (नः) हमारी (छायां) छाया, शरण में भी (मा उपगाः इति) तू मत आ।

विषमेतद् देवकृतं राजा वरुणोऽब्रवीत्।
न ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा राष्ट्रे जागार कश्चन ॥ १० ॥

भा०—(वरुणः) सब से श्रेष्ठ (राजा) राजा (अब्रवीत्) यह उपदेश करता है कि (एतद्) यह ब्राह्मण का धन (देव-कृतं) विद्वानों के निर्णय के अनुसार (विषम्) विष ही है। (ब्राह्मणस्य) इसलिये ब्राह्मण की (गां) सम्पत्ति, भूमि, गौ, धन, वृत्ति आदि को (जग्ध्वा) हड़प कर (कः-चन) कोई भी (राष्ट्रे) राष्ट्र में (न जागार) कोई जीवित जागृत नहीं रह सकता है। 'न विषं विषमित्याहुर्ब्रह्मस्वं विषमुच्यते।' विष विष नहीं, ब्राह्मण का धन विष है। इसको खाकर कोई जी नहीं सकता।

नवैव ता नवतयो या भूमिर्व्यधूनुत।
प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन् ॥ ११ ॥

अथर्व० ५ । १८ । १२ ॥

९–(तृ०) 'तद्धनम्' इति पाठाभिलाषा निराधारा केषांचित्।
१०–'गां दग्ध्वा राष्ट्रे जागर' इति पैप्प० सं०।

भा०—(नव नवतयः) ९९ निन्यानवें वे पापी पुरुष हैं (याः) जिनको (भूमिः) भूमि स्वयं (वि-अधूनुत) विनाश कर डालती है । वे सब (ब्राह्मणीम्) ब्राह्मण की (प्रजां) प्रजा को (हिंसित्वा) विनाश करके (असम्-भव्यं) बुरी तरह से (परा अभवन्) पराजित होते हैं ।

यां मृतायानुबध्नन्ति कूद्यं पदयोपनीम् ।
तद् वै ब्रह्मज्य ते देवा उपस्तरणमब्रुवन् ॥ १२ ॥

भा०—(यां) जिस (पदयोपनीं) पैरों को मिटा देने वाली (कूद्यं) झाड़ू या कांटेदार झाड़ी को (मृताय) मरे हुए शव को (अनुबध्नन्ति) बांधते हैं । हे ब्रह्मज्य ! ब्राह्मण के नाशक ब्रह्मशत्रो ! (देवाः) विद्वान् लोग (तद् वै) उन कांटों वाली डाल को ही (ते उप-स्तरणम्) तेरा सेज बनाने का (अब्रुवन्) उपदेश करते हैं ।

अश्रूणि कृपमाणस्य यानि जीतस्य वावृतुः ।
तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमधारयन् ॥ १३ ॥

भा०—हे ब्रह्मज्य ! ब्राह्मण के नाश करने वाले ! (यानि) जो (अश्रूणि) आंसू (कृपमाणस्य) कलपते हुए (जीतस्य) दुःखित पुरुष के (वावृतुः) निकलते हैं (देवाः) विद्वान् लोग (तं वै) उसको (ते अपां भागम् अधारयन्) तेरा जलों का हिस्सा बतलाते हैं । ब्रह्मघाती पुरुष को कलपते, रोते लोगों के आंसु ही पीने को मिलते हैं, सुख नहीं ।

येन मृतं स्नपयन्ति श्मश्रूणि येनोन्दते ।
तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमधारयन् ॥ १४ ॥

भा०—(येन) जिससे (मृतं स्नपयन्ति) मरे मुर्दे को निहलाते हैं और (येन) जिससे मुर्दे की मोंछ दाढ़ी के बाल (उन्दते) गीले किये जाते हैं । हे (ब्रह्मज्य) ब्रह्मघातिन् ! (देवाः) देव विद्वान् लोग (तं)

उस जल को (ते अपां भागं) तेरे लिये जल का भाग (अधारयन्) बतलाते हैं । अर्थात् ब्रह्मघाती को वह पानी दिया जाय जिससे मुर्दा निहलाया जाय और उसके बाल मूंडे जांय ।

न वर्षं मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभि वर्षति ।
नास्मै समितिः कल्पते न मित्रं नयते वशम् ॥ १५ ॥

भा०—(ब्रह्मज्यं) ब्रह्म हत्यारे के राष्ट्र में (मैत्रावरुणं वर्षं) मित्र और वरुण सूर्य और समुद्र से उठने वाली वर्षाएं (न अभि वर्षति) नहीं बरसतीं । (अस्मै) इस ब्रह्म-द्रोही की (समितिः) राज-सभा भी (न) नहीं (कल्पते) बनती । और (मित्रं) मित्र भी (वशं) उसकी इच्छा के अनुकूल (न नयते) कार्य नहीं करते । अर्थात् ब्रह्म-घाती के फसल नहीं होती, राज-सभा टूट जाती है और मित्र फूट जाते हैं ।

---

[२०] दुन्दुभि या युद्धवीर राजा का वर्णन ।

ब्रह्मा ऋषिः । वानस्पत्यो दुन्दुभिर्देवता । सपत्नसेनापराजयाय. देवसेनाविजयाय च दुन्दिुभिस्तुतिः । १ जगती, २–१२ त्रिष्टुभः । द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

उच्चैर्घोषो दुन्दुभिः सत्वनायन् वानस्पत्यः संभृत उस्रियाभिः ।
वाचं क्षुणुवानो दमयन्त्सपत्नान्त्सिंह इव जेष्यन्नभि तंस्तनीहि ॥ १ ॥

भा०—नगारे के दृष्टान्त से राजा को विजय करने का उपदेश करते हैं । जिस प्रकार (वानस्पत्यः) वनस्पति काठ का बना हुआ (उच्चैर्घोषः) ऊंचे २ आवाज़ वाला (उस्रियाभिः संभृतः) गाय के चमड़ों से मढ़ा हुआ (दुन्दुभिः) बड़ा नगारा (सत्वना-यन्) बलवान् . शूरवीर के समान गर्जता है और शत्रुओं के दिल दहलाता है. उसी प्रकार हे राजन् ! तू (वानस्पत्यः)

१५–' ब्राह्मज्यामभि ' इति पैप्प० सं० ।

वन=सेवन करनेहारी प्रजाओं के पालकों में से सेनापति पद पर प्राप्त होकर तू (उस्त्रियाभिः) वास करने वाली प्रजाओं से कर आदि द्वारा (संभृतः) परिपुष्ट होकर नगारे के समान (उच्चैः घोषः) ऊंचे २ विजय की घोषणा करता हुआ, (सत्वना-यन्) बलवान शूर-वीर के समान, (वाचं चुणुवानः) अपनी आज्ञाएं देता हुआ, और (स-पत्नान् दमयन्) शत्रुओं को दमन करता हुआ (सिंह-इव) शेर के समान (जेष्यन्) विजय चाहता हुआ (अभितः स्तनीहि) खूब घोर गर्जना कर।

सिंह इवास्तानीद् द्रुवयो विबद्धोभिक्रन्दन्नृषभो वासितामिव।
वृषा त्वं वध्रयस्ते सपत्ना ऐन्द्रस्ते शुष्मो अभिमातिषाहः ॥ २ ॥

भा०—हे दुन्दुभे ! नगारे ! तू (द्रुवयः) काष्ठमय होकर एवं (वि-बद्धः) विविध प्रकार से बंध कर भी (सिंह इव अस्तानीद्) शेर के समान गर्जना करता है, हे राजन् उसी प्रकार तू भी हथियारों से बंध कर शीघ्र (द्रुवयः) वेगवान् होकर सिंह के समान गर्जना कर। जिस प्रकार (वासिताम्) रजो गन्ध से युक्त गौ पर (वृषभ इव) वीर्य सेचन में समर्थ निर्भीक सांड (अभिक्रन्दन्) गहराता हुआ जाता है उसी प्रकार गर्जता हुआ ही (त्वं) तू (वृषाः) बलवान् , सर्वश्रेष्ठ है। (ते सपत्नाः) तेरे सपत्न शत्रुगण तेरे सामने (वध्रयः) वधिया बैलों के समान निर्वीर्य, नपुंसक हैं, (ते शुष्मः) तेरा बल, पराक्रम (अभिमातिषाहः) अभिमान से सिर उठाने वाले शत्रुओं को पराजय करने वाला (ऐन्द्रः) साक्षात् इन्द्र परमेश्वर का या राजा का ही दिया हुआ है।

वृषेव यूथे सहसा विदानो गव्यन्नभि रुव सन्धनाजित्।
शुचा विध्य हृदयं परेषां हित्वा ग्रामान् प्रच्युता यन्तु शत्रवः ॥३॥

[२०] २-(प्र०) 'सिंहैवात्तानि भ्रुवया' (च०) 'शुपताभि' इति पैप्प० सं०।
३-(प्र०) 'वृषं सहस', (च०) 'विद्धि' इति पैप्प० सं०।

भा०—नगारा बजाने का प्रयोजन दर्शाते हुए क्षत्रिय के कर्त्तव्य का उपदेश करते हैं। हे नगारे! तू गहराते हुए सांड के समान घोर भयंकर शब्द कर और शत्रुओं के हृदय को बेध डाल, जिससे कि शत्रुगण अपने गांव छोड़ २ कर भाग जांय। उसी प्रकार हे शूरवीर तू (यूथे वृषा इव) गौओं के रेवड़े में बड़े सांड के समान (गव्यन्) गौओं की कामना करता हुआ (सहसा) अपने बल से गहराता है उसी प्रकार तू शूरवीर (संधनाजित्) समस्त धनों को विजय करके (सहसा) अपने प्रबल आघातकारी बल से (विदानः) विजय लक्ष्मी को प्राप्त करता हुआ (अभि रुव) सब तरफ़ गर्जना कर और (परेषां हृदयम्) शत्रुओं के हृदयों को (शुचा) शोक से बेध डाल जिससे (शत्रवः) शत्रु-गण (प्रच्युताः) अपने राज्य सिंहासन से भ्रष्ट होकर (ग्रामान्) अपने ग्रामों को (हित्वा) छोड़ कर (यन्तु) चले जावें।

सं॒जय॒न् पृत॑ना ऊ॒र्ध्वमा॑यु॒र्गृह्या॑ गृह्णा॒नो ब॑हु॒धा वि च॑क्ष्व।
दैवीं॒ वाचं॑ दुन्दुभ॒ आ गु॑रस्व वे॒धाः शत्रू॑णा॒मुप॑ भरस्व॒ वेद॑ः ॥ ४ ॥

भा०—हे (दुन्दुभे) नक्कारे! उसके समान गर्जना करने वाले राजन्! तू (दैवीं वाचं) देवों की वाणी को (आ गुरस्व) सब तरफ़ आघोषित कर और तू (वेधाः) सब कार्यों को स्वयं करने हारा होकर (शत्रूणाम्) शत्रुओं का (वेदः) धन (उपभरस्व) हमारे समीप ले आ। और तू (ऊर्ध्व-मायुः) उच्च नाद करता हुआ (पृतनाः सं-जयन्) शत्रु सेनाओं का विजय करता हुआ (गृह्या गृह्णानः) ग्रहण करने योग्य सब पदार्थों को ग्रहण करता हुआ (बहुधा वि-चक्ष्व) नाना प्रकार से सब का निरीक्षण कर।

४–(तृ०) 'वेधाः' शब्दो व्यर्थः इति ह्विट्निः।

दुन्दुभेर्वाचं प्रयतां वदन्तीमाशृण्वती नाथिता घोषबुद्धा।
नारी पुत्रं धावतु हस्तगृह्यामित्री भीता समरे वधानाम् ॥ ५ ॥

भा०—विजय-दुन्दुभि का क्या प्रभाव है सो बतलाते हैं। हे राजन्! (दुन्दुभे) विजय घोषणा करने वाली दुन्दुभि की एवं विजयी राजा की, (प्र-यताम्) आगे बढ़ने वाले सेनापतियों को (वदन्तीं) आज्ञा करने वाली, या लड़ाई में उत्साह बचन बोलती हुई (वाचं) वाणी को (आ शृण्वती) सुनती हुई (घोप-बुद्धा) विजय दुन्दुभि के विजय घोप से जग कर (नाथिता) घबराहट और विपत्ति में पड़ी (अमित्री नारी) शत्रुओं की स्त्री (पुत्रं) अपने पुत्र को (हस्त-गृह्य) हाथ में पकड़ कर (समरे वधानाम् भीता) युद्ध काल में होने वाले शस्त्र प्रहारों से भयभीत होकर (धावतु) दौड़े।

पूर्वो दुन्दुभे प्र वदासि वाचं भूम्याः पृष्ठे वद रोचमानः।
अमित्रसेनामभिजञ्जभानो द्युमद् वद दुन्दुभे सूनृतावत् ॥ ६ ॥

भा०—हे (दुन्दुभे) विजय के नक्कारे! (पूर्वः) तू सब युद्ध से पूर्व बजाया जाता है, तू (भूम्याः पृष्ठे) भूमि की पीठ पर (वाचं) वाणी (प्रवदासि) बोलता है, आज्ञाएं देता है। तू (रोचमानः) अति शोभायमान होकर (वद) आज्ञा दे। और हे दुन्दुभे! तू अपने विजय-घोप से (अमित्र-सेनाम्) शत्रु की सेना को (अभि-जञ्जभानः) तोड़ता फोड़ता हुआ, (द्युमत्) चमत्कारकारी, (सूनृता-वत्) मनोहर वाणियों से युक्त संदेश को (वद) बतला।

६—'पूर्वो दुन्दुभे विषहस्व शत्रून्', 'भूम्याः पृष्ठे वद बहुरोचमानः' इति 'पैप्प० सं०।

अन्तरेमे नभसी घोषो अस्तु पृथक् ते ध्वनयो यन्तु शीभम् ।
अभि क्रन्द स्तनयोत्पिपानः श्लोककृन्मित्र तूर्याय स्वर्धी ॥ ७ ॥

भा०—हे दुन्दुभे ! विजय के नक्कारे ! (इमे नभसी अन्तः) इन दोनों द्यौ और पृथिवी, ज़मीन और आस्मान के बीच में (ते घोषः अस्तु) तेरा विजय-घोष हो । (ते ध्वनयः) तेरी आवाजें (पृथक्) अलग २ नाना दिशाओं में (शीभम् यन्तु) शीघ्रता से फैल जावें, तू (उत्पिपानः) बढ़ २ कर (श्लोककृत्) यश को बढ़ाने वाला (मित्र तूर्याय) अपने मित्र राजाओं की भेरी के लिये (स्वर्धी) उत्तम रीति से सुसम्पन्न होकर (स्तनय) गर्जना कर और (अभिक्रन्द) खूब आवाज कर ।

धीभिः कृतः प्र वदाति वाचमुद्धर्षय सत्वनामायुधानि ।
इन्द्रमेदी सत्वनो नि ह्वयस्व मित्रैरमित्राँ अव जङ्घनीहि ॥ ८ ॥

भा०—(धीभिः) धारणामयी बुद्धियों या धारण शक्तियों से (कृतः) सुसम्पादित होकर (वाचम् प्र वदाति) उत्तम २ वाणियों और आज्ञाओं का प्रदान करता है । तू (सत्वनाम्) सत्वशील बलवान् सात्विक पुरुषों के (आयुधानि) हथियारों को (उद्-हर्षय) हर्षित कर, उनमें जान फूंक दे । और तू (इन्द्र-मेदी) राजा के स्नेही होकर (सत्वनः) वीरों को (निह्वयस्व) युद्ध में आ जुटने के लिये निमन्त्रण दे, और (मित्रैः) अपने मित्र राजाओं से (अमित्रान्) शत्रुओं को (अव जंघनीहि) विनाश कर डाल ।

संक्रन्दनः प्रवदो धृष्णुषेणः प्रवेदकृद् बहुधा ग्रामघोषी ।
श्रेयोवन्वानो वयुनानि विद्वान् कीर्तिं बहुभ्यो वि हर द्विराजे ॥९॥

७–(च०) ' तुर्याय श्रद्धी ' इति पैप्प० सं० ।

८–(प्र०) ' वदासि ' इति ह्विटनिकामितः । 'प्रघरस्व' इति पैप्प० सं० ।

९–(प्र०) 'सं क्रन्दनः प्रस्रवेण' (च०) ' विभजद्विराजे ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(सं-क्रन्दनः) गर्जता हुआ, (प्र-वदः) उत्कृष्ट आज्ञाएं बोलता हुआ, (धृष्णु-सेनः) शत्रु का धर्षण करने वाली सेना को साथ लिये, (प्रवेद-कृद्) उत्तम ज्ञान और धनों को प्राप्त करता हुआ (बहुधा) बहुत से प्रकारों में (ग्राम-घोषी) ग्रामों में अपने नाद की घोषणा करता है । तू (वयुनानि) नाना कर्मों और ज्ञानों को स्वयं (विद्वान्) जानता हुआ, (श्रेयः वन्वानः) अति श्रेष्ठ फल प्राप्त करता हुआ, (द्वि-राजे) दो राजाओं के संग्राम में (बहुभ्यः) बहुत से वीरों को (कीर्तिं वि हर) नाना प्रकार से कीर्ति प्राप्त कर।

श्रेयःकेतो वसुजित् सहीयान्त्संग्रामजित् संशितो ब्रह्मणासि ।
अंशूनिव ग्रावाधिषवणे अद्रिर्गव्यन् दुन्दुभेऽधि नृत्य वेदः ॥ १० ॥

भा०—(श्रेयः-केतः) श्रेय, अति श्रेष्ठ पद का ज्ञान कराने वाला, (वसु-जित्) राष्ट्रों और धनों और जनों का विजय करने वाला, (सहीयान्) शत्रुओं का वशकारी होने के कारण (संग्राम-जित्) संग्राम विजयी होता हुआ भी तू (ब्रह्मणा) ब्रह्म, वेद और वेद के विद्वान् द्वारा (संशितः असि) अपनी शक्ति में बड़ा तीक्ष्ण है। (ग्रावा) प्रस्तर, लोढा, जिस प्रकार (अधि-सवने) शिला पर (अंशून्) सोमलता के खण्डों को स्वयं (अद्रिः) बिना टूटे कुचल डालता है उसी प्रकार हे (दुन्दुभे) नक्कारे ! या उसके समान गर्जने वाले राजन् ! तू (गव्यन्) विजय करता हुआ, (वेदः) धन पर (अधि नृत्य) वश कर, हमें प्राप्त करा ।

शत्रूषाण्नीषाडभिमातिषाहो गवेषणः सहमान उद्भित् ।
वाग्वीव मन्त्रं प्र भरस्व वाचं सांग्रामजित्यायेषमुद् वदेह ॥ ११ ॥

१०–(च०) 'अभिः' (द्वि०) 'मित्रं दधानस्त्वपितो विपश्चित्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे दुन्दुभे ! हे राजन् ! (शत्रूषाड्) शत्रुओं के विजय कराने द्वारा (नीषाड्) उन्हें सर्वथा पराजित करने वाला, (अभिमाति-सहः) अभिमानी शत्रुओं के अभिमान को चूर करने वाला, (गो-एषणः) शत्रुओं का खोज लगाने वाला, (सहमानः) उनका प्रहार सहने वाला, और (उत्-भित्) उन को उखेड़ डालने वाला है, (वाग्वी-इव) जिस प्रकार विद्वान् वाग्मी पुरुष (मन्त्रं) राजसभा में अपना विचार प्रकट करता है उस प्रकार तू (वाचम्) शुभ वाणी को (प्र-भर) प्रस्तुत कर और (इह) इस संग्राम के अवसर पर (संग्राम-जित्याय) संग्राम के विजय के लिये (इषम्) प्रेरक शक्ति, आज्ञा को (उद् वद) उत्तेजित कर दे ।

अ॒च्यु॒त॒च्युत् स॒मदो॒ गमि॑ष्ठो मृधो॒ जेता॑ पुरए॒ता यो॒ध्यः ।
इन्द्रे॑ण गु॒प्तो वि॒दथा॑ नि॒चिक्य॑द्धृ॒द्द्योत॑नो द्विष॒तां या॑हि शीभ॑म् ॥१२॥

भा०—हे राजन् ! (अच्युत च्युत्) न चूकने वाले, स्थिर, दृढ शत्रुओं को भी पैर उखाड़ देने, उन को विचलित करने वाला होकर, तू (स-मदः) सहर्ष (गमिष्ठः) यात्रा करने में सब से बढ़ा चढ़ा है । इसलिये तू (मृधो जेता) शत्रुओं को विजयी और (अयोध्यः) दुर्योधन होकर (पुरः एता) सामने मैदान में निकल आता है । तू (इन्द्रेण गुप्तः) इन्द्र, राजा सेनापति से सुरक्षित (विदथा) समस्त जानने योग्य कर्मों को (नि-चिक्यत्) भली प्रकार जानता हुआ, (द्विषतां हृत्-द्योतनः) शत्रुओं के हृदयों को चौंकाने वाला होकर (शीभम्) शीघ्रता से (याहि) युद्ध यात्रा कर ।



१२–(द्वि०) 'जेता पृतनाषाड्' (तृ०) 'इन्द्रेण क्लृप्त' इति पैप्प० सं० ।

[२१] युद्ध विजयी राजा को उपदेश ।

ब्रह्मा ऋषिः । वानस्पत्यो दुन्दुभिर्देवता । आदित्यादि देवप्रार्थना च । १, ४, ५ पथ्यापंक्तिः, ६ जगती, ११ बृहतीगर्भा त्रिष्टुप्, १२ त्रिपदा यवमध्या गायत्री । २, ३, ७-१०, अनुष्टुभः । द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

विहृदयं वैमनस्यं वदामित्रेषु दुन्दुभे ।
विद्वेषं कश्मशं भयममित्रेषु नि दध्मस्यवैनान् दुन्दुभे जहि ॥ १ ॥

भा०—हे (दुन्दुभे) द्वन्द्व=संग्राम में चमकने वाले राजन् ! तू (अमित्रेषु) शत्रुओं में (वि-हृदयं) विरुद्ध हृदयता और (वैमनस्यम्) विरुद्ध चित्तता, फूट का (वद) उपदेश कर । हम (अमित्रेषु) शत्रुओं के बीच में (वि-द्वेषं) भेद, फूट, (कश्मशं) मनमुटाव और (भयम्) डर को (नि दध्मसि) पैदा करें, डाल दें और तू (एनान्) इन शत्रुओं को (अव जहि) नीचे गिरा कर मार, उनके दिल तोड़ ।

उत्-वेपमाना मनसा चक्षुषा हृदयेन च ।
धावन्तु बिभ्यतोमित्राः प्रत्रासेनाज्ये हुते ॥ २ ॥

भा०—(आज्ये हुते) अग्नि में घी की आहुति पड़ जाने पर अर्थात् युद्ध में, परस्पर की द्वेषाग्नि में एक बार शस्त्र उठ जाने या धावा बोले जाने पर ही (अमित्राः) शत्रु लोग (प्र-त्रासेन) खूब डर के कारण, (बिभ्यतः) भयभीत और (मनसा) मन से (चक्षुषा) आंखों से और (हृदयेन) हृदय से (उद्वेपमानाः) थर थर कांपते हुए (धावन्तु) रण से भाग जांय ।

तेजो वा आज्यम्, तै० ३ । ६ । ४ । ६ ॥ वज्रो वा आज्यम्, श० ३ । ६ । ४ । १५ ॥ यदाजिमायन् तदाज्यानामाज्यत्वम् । ता० ७ । २ ।

---

[२१] १-(तृ०) ' कश्मशं कश्मलम् ' इति ह्विटनिः ।

१ । इत्यादि-ब्राह्मण निर्वचनों से आज्य=राजा का तेज, वीर्य । वज्र=तलवार और आजिधावन, अर्थात् रण में शत्रु पर आक्रमण ये आज्य के शब्दार्थ हैं जिनका प्रतिनिधि भूत मुहावरा 'आग में आहुति पड़ना' मात्र है ।

वानस्पत्यः संभृत उस्रियाभिर्विश्वगोत्र्यः ।
प्रत्रासममित्रेभ्यो वदाज्येनाभिघारितः ॥ ३ ॥

भा०—हे दुन्दुभे ! नक्कारे ! तू जिस प्रकार (वानस्पत्यः) लकड़ी का बना हुआ होकर भी (उस्रियाभिः संभृतः) चाम के तस्मों से जकड़ा हुआ (विश्वगोत्र्यः) समस्त जन का बन्धु है । वह (अमित्रेभ्यः) शत्रुओं के लिये (आज्येन अभि-घारितः) घृत द्वारा अभिषिक्त होकर (प्रत्रासं वद) भय और आतङ्क बतला ।

राजा पक्ष में—हे राजन् ! तू (वानस्पत्यः) अग्निमय है । और (उस्रियाभिः सम्भृतः) अपने में वास करने वाली किरणों के समान अथवा उत्सर्पणशील, उन्नतिशील, प्रजाओं और सेनाओं स पुष्ट होकर ही (विश्वगोत्र्यः) समस्त गोत्रों और वंशों के प्रति एक समान है । तू (आज्येन अभिघारितः) तेज और शस्त्रों से प्रकाशमान होकर (अमित्रे-भ्यः प्र-त्रासं वद) शत्रुओं को भयंकर भय दिलाने वाला संदेश सुना ।

यथा मृगाः संविजन्त आरण्याः पुरुषादधि ।
एवा त्वं दुन्दुभेमित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय ॥४॥

भा०—हे दुन्दुभे ! विजय का नाद करने वाले मारू बाजे ! राजन् ! (यथा आरण्याः मृगाः) जिस प्रकार जंगल के मृग (पुरुषाद् अधि) पुरुष से (संविजन्ते) भय से व्याकुल होकर भागते हैं । (एवा) इसी प्रकार (त्वं) तू (अमित्रान्) शत्रुओं को (अभिक्रन्द) अपनी आवाज़ सुना, (प्र त्रासय) और उनको खूब भय दिला, (अथो) और (चित्तानि) उनके चित्तों को (मोहय) मोह में डाल दे ।

यथा वृकांदजावयो धावंन्ति वृहु विभ्यंतीः ।
एवा० ॥ ५ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (अज-अवयः) भेड़ बकरियां (वृकाद्) भेड़िये से (वहु विभ्यतीः) खूब भयभीत होकर (धावन्ति) भागती हैं (एवा त्वं दुन्दुभे०) इसी प्रकार हे नक्कारे ! तू शत्रुओं को अपनी आवाज़ सुना, उनको भयभीत कर और उनके चित्तों को मोहित कर दे ।

यथां श्येनात् पंतत्रिणः संविजन्ते अहंर्दिवि सिंहस्यं स्तुनथोर्यथां ।
एवा त्वं दुन्दुभे मित्रांनभि क्रन्द प्र त्रांसयाथों चित्तानि मोहय ॥ ६ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (पतत्रिणः) पक्षिगण (श्येनात्) बाज़ से (सं-विजन्ते) भयभीत होकर व्याकुल हो जाते हैं । या (अहः-दिवि) दिनों दिन (यथा) जिस प्रकार पशुगण (सिंहस्य) शेर की (स्तनथोः) दहाड़ से भय व्याकुल होकर जान लेकर भागते हैं । हे (दुन्दुभे) नक्कारे के समान गर्जनशील वीर ! (एवा त्वं मित्रान् अभिक्रन्द) उसी प्रकार तू अपने शत्रुओं तक अपनी गर्जना सुना । (प्र त्रासय अथो चित्तानि मोहय) उनको खूब भयभीत कर और उनके चित्तों को मूढ़ कर दे ।

परामित्रान् दुन्दुभिनां हरिणस्याजिनेन च ।
सर्वे देवा अंतित्रसन् ये संग्रामस्येशंते ॥ ७ ॥

भा०—नक्कारा बजाने के प्रकार का उपदेश करते हैं—(ये) जो (संग्रामस्य) संग्राम करने में (ईशते) समर्थ हैं वे (सर्वे देवाः) समस्त देव विद्वान्, दिव्य, संग्राम-क्रीड़ा में चतुर पुरुष (हरिणस्य अजिनेन) हरिण के चर्म के बने (दुन्दुभिना) नक्कारे से (च) ही (अमित्रान् परा अति-त्रसन्) शत्रु लोगों को दूर से डरा भगाते हैं ।

येरिन्द्रः प्र क्रीडते पद्घोषैश्छायया सह ।
तैरमित्रास्त्रसन्तु नोमी ये यन्त्यनीकशः ॥ ८ ॥

भा०—(इन्द्रः) सेनापति, इन्द्र (यैः पत्-घोषैः) चरणों के जिन घोर घोषों से और (छायया) छाया, आच्छादन शक्ति, आवरणकारी साधनों, मोर्चा-बन्दियों से (प्र-क्रीड़ते) रण-क्रीड़ा करता है (तैः) उनसे (नः, अमित्राः) हमारे शत्रु लोग (ये अनीक-शः यन्ति) जो सेनाओं के दस्ते बना २ कर चलते हैं (त्रसन्तु) वे भी भय खावें। सेना के दस्ते ले २ कर चढ़ाई करने वाले शत्रुओं को राजा नाना प्रकार के चरणाघात के शब्दों से और भ्रमजनक छाया अथवा अपने मोर्चों से भयभीत करे।

ज्याघोषा दुन्दुभयोभि क्रोशन्तु या दिशः ।
सेनाः पराजिता यतीरमित्राणामनीकशः ॥ ९ ॥

भा०—हमारी (ज्या घोषाः) धनुष की डोरियों की आवाज़ें और (दुन्दुभयः) भेरियां (याः दिशः) जिन दिशाओं में भी (अभि क्रोशन्ति) शत्रुओं को ललकारें उन्हीं दिशाओं में (अमित्राणां) शत्रुओं की (अनी-कशः) दस्तों की दस्तें (सेनाः) सेनाएं (यतीः) जाती २ (परा-जिताः) पराजित हो जांय।

आदित्य चक्षुरादत्स्व मरीचयोनु धावत ।
पत्सङ्गिनीरा संजन्तु विगते बाहुवीर्ये ॥ १० ॥

भा०—हे आदित्य ! सूर्य ! तू (चक्षुः आदत्स्व) शत्रुओं की चक्षुको हर ले, और हे (मरीचयः) किरणो ! या सुभटो ! तुम शत्रुओं के (अनु धावत) पीछे जाओ। और (बहु-वीर्ये वि-गते) जब बाहु का बल टूट जाय तब (पत् सङ्गिनीः) पैरों में पड़ने वाली रस्सियां, शत्रुओं के पैरों में (आ सजन्तु) लिपट जावें।

शत्रु के आंखों को सूर्य की किरणों से चकाचौंध करदे, और उसकी किरणों का या विद्युत् की धाराओं को या किरणों के समान तीव्र गति वाले सुभटों को भागती सेना पर छोड़े जब उनके बाहु केवल टूट जांय तब उनके पैरों में बेड़ियां बन्धन बांध कर उनको मुश्कें कस ले।

यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शत्रून्।
सोमो राजा वरुणो महादेव उत मृत्युरिन्द्रः ॥ ११ ॥

उत्तरार्धः अथर्व० १३ । १ । ३ प्र० द्वि० ॥

भा०—हे (उग्रा मरुतः) प्रबल वायुओं के समान मृत्यु के लाने वाले हे (पृश्निमातरः) आदित्य सूर्य समान तेजस्वी सेनापति को अपना मुखिया बनाने वाले वीर पुरुषो, आप लोग (इन्द्रेण) अपने ऐश्वर्यशील सेनापति इन्द्र को (युजा) साथी बना कर (शत्रून् प्रमृणीत) अपने शत्रुओं को खूब कुचल डालो। वह (राजा सोमः) राजा सोम है वही (वरुणः) वरुण है, (महादेवः इन्द्रः उत मृत्युः) वही महादेव इन्द्र और वही साक्षात् मृत्यु है।

एता देवसेनाः सूर्यकेतवः सचेतसः।
अमित्रान् नो जयन्तु स्वाहा ॥ १२ ॥

भा०—(एताः) ये (देव-सेनाः) विद्वान्, क्रीड़ा करने वाले वीर पुरुषों की सेनाएं (स-चेतसः) समान चित्त होकर युद्ध करने वाली (सूर्य-केतवः) सूर्य की ध्वजा वाली, अथवा सूर्य की किरणों के समान तीव्र गति वाली होकर (नः अमित्रान्) हमारे शत्रुओं को (जयन्तु) जीतें (स्वाहा) यही हमारी उत्तम यज्ञाहुति है।

इति चतुर्थोऽनुवाकः।

[तत्र सूक्तानि षट्, त्र्यशीतिश्चर्चः।]

[२२] ज्वर का निदान और चिकित्सा ।

भृग्वङ्गिरसो ऋषयः । तक्मनाशनो देवता । १, २ त्रिष्टुभौ, (१ भुरिक्), ५ विराट् पथ्याबृहती । चतुर्दशर्चं सूक्तम् ॥

अ॒ग्निस्त॒क्मान॒मप॑ बाधताम्मि॒तः सोमो॒ ग्रावा॒ वरु॑णः पू॒तद॑क्षाः ।
वेदि॑र्ब॒र्हिः स॒मिधः॒ शोशु॑चाना॒ अप॒ द्वेषां॒स्यमु॒या भ॑वन्तु ॥ १ ॥

भा०—(अग्निः) अग्नि, (सोमः) सोम, (ग्रावा) सोम को कूटने वाले प्रस्तर, (वरुणः) वरुण ये सब (पूत-दक्षाः) पवित्र बल वाले हों और (वेदिः) यज्ञमय वेदि. (बर्हिः) धान्य या कुशा, (समिधः) काष्ठ, लकड़ियें (शोशुचानाः) देदीप्यमान होकर (तक्मानम्) ज्वर को (अप बाधताम्) दूर करें, आने से रोकें और हमारे (द्वेषांसि) द्वेष के पात्र जिन को हम अच्छा नहीं समझते वे (अप भवन्तु) दूर रहें ।

अग्नि=उष्ण गुण के पदार्थ, सोमः=शीत गुण के पदार्थ, ग्रावा=वह पदार्थ जो इन दोनों पदार्थों को अपने में घोल लें, वरुणः=जलमय पदार्थ, वेदिः=शरीर स्वतः, बर्हिः=ओषधियां और समिधः=काष्ठ इन सब तेजस्वी पदार्थों के समुचित प्रयोग से ज्वर का विनाश करना चाहिये ।

अ॒यं यो वि॒श्वान् हरि॑तान् कृ॒णोष्यु॑च्छो॒चय॑न्न॒ग्निरि॑वाभि॒दुन्व॑न् ।
अधा॒ हि त॑क्मन्नर॒सो हि भू॒या अधा॒ न्य॑ङ्ङध॒राङ् वा परे॑हि ॥२॥

भा०—ज्वर का रूप बतलाते हैं—(अयं) यह ज्वर जो तू (विश्वान्) सब पुरुषों को (हरितान्) पीला (कृणोषि) कर देता है, उन पर चढ़ कर उनकी कान्ति का नाश कर डालता है, और (उत्-शोचयन्) उनको

[२२] १–(द्वि०) 'मरुतः पूतदक्षात्' (तृ०) 'सन्नभः संशिशानो अपरक्षांसि' इति पैप्प० सं० ।

तपा २ कर (अग्निः-इव) आग के समान (अभि-दुन्वन्) सब प्रकार से कष्ट देता हुआ सब की कान्ति नष्ट कर देता है। (अधा) इस लिये हे (तक्मन्) ज्वर ! पीड़ादायक (अरसः हि भूयाः) तू रस=बल से हीन ही हो जा (अधा न्यङ् एहि) और नीचे हो जा, (अधराङ्-एहि) उतर जा (वा) और (परा-इहि) दूर ही हो जा। ज्वर अग्नि के समान तपाकर मनुष्यों की कान्ति को नष्ट करता है इसलिये उस ज्वर के जोर का नष्ट करके उसे दबावे और सर्वथा तापांश को नीचा करके दूर करे।

यः प॑रु॒षः पा॑रुषे॒यो॑ऽवध्वं॒स इ॑वारु॒णः ।
त॒क्मानं॑ विश्वधावीर्याध॒राञ्चं॒ परा॑ सुव ॥ ३ ॥

अथर्व० १९। ३९। १० तृ० च० ॥

भा०—हे (विश्वधा-वीर्य) सब प्रकार के वीर्य को धारण करने वाले वैद्य अथवा ओषधे ! तू (तक्मानं) ज्वर को (अधराञ्चं) नीचे (परासुव) करके दूर भगादे। (यः) जो ज्वर (परुषः) पर्व २ में शरीर के पोरु २ में बसा हुआ है। (पारुषेयः) या पर्व २ में बसे कारणों से उत्पन्न होता है (अरुण इव) और अरुण=अग्नि के समान (अव-ध्वंसः) देह को जला कर नष्ट करने वाला है। उसको विश्ववीर्या ओषधि से नाश करो।

विश्वधा वीर्या ओषधि-'विश्वा' है, इस नाम से सूर्य और अतिविषा (अतीस) दोनों का ग्रहण होता है।

अ॒ध॒राञ्चं॒ प्र हि॑णोमि॒ नमः॑ कृ॒त्वा त॒क्मने॑ ।
श॒क॒म्भ॒रस्य॑ मुष्टि॒हा पुन॑रेतु महावृ॒षान् ॥ ४ ॥

३—' तक्मं साक्तिनमिच्छस्व वशी सन् मृडयासि नः। यथेहान्न ते गृहान् यत् पूर्तेषु दमयतु ' इति पैप्प० सं०।

४-(द्वि०) ' नमः कृत्वाय ' इति पैप्प० सं०।

भा०—मैं वैद्य (तक्मने) ज्वर के (नमः कृत्वा) नमाने, नीचे कर देने और दबा देने वाली ओषधि से दबा कर (अधराञ्चं प्र हिणोमि) नीचे ही उतारता हूं। (शकम्-भरस्य) शक्ति को धारण करने वाले बलवान् पुरुष को भी (मुष्टि-हा) मानों मुक्कों से मारने वाला यह ज्वर (महा-वृषान्) बड़े २ वीर्यवान् पुरुषों को (पुनः एतु) वार वार आ जाता है।

ओको अस्य मूजवन्त ओको अस्य महावृषाः ।
यावज्जातस्तक्मंस्तावानसि बल्हिकेषु न्योचरः ॥ ५ ॥

भा०—(अस्य) इस ज्वर के (ओकः) स्थान (मूज-वन्तः) मूंज वाले प्रदेश हैं और (अस्य) इसके (ओकः) स्थान (महा-वृषाः) अधिक वर्षा के प्रदेश हैं। अथवा (अस्य ओकः मूज-वन्तः [१]) इसके निवास के स्थान कमज़ोर देहधारी भी हैं और (अस्य ओकः महावृषाः) इसके निवास-स्थान बलवान् लोग भी हैं। हे (तक्मन् यावत् जातः) जितना २ तू होता जाता है (तावान्) उतना २ तू (बल्हिकेषु) बली पुरुषों में भी (नि-ओचरः [२] असि) शनैः २ जमता चला जाता है। ऐतिहासिक लोग मूंजवान् पर्वत 'महावृष' बल्हिक इन शब्दों से जनपदों का ग्रहण करते हैं। सो उनकी भूल है।

तक्मन् व्याल वि गद व्यङ्ग भूरि यावय ।
दासीं निष्टक्वरीमिच्छ तां वज्रेण समर्पय ॥ ६ ॥

१. उच समवाये इत्यतः औणादिक अर् प्रत्ययः ।

२. मुच्यतेर्मुञ्जो (नि० ९ । १ । ८) देहः, तद्वन्तः प्राणिनो जरामरण-वन्तः ।

६-(प्र०) 'व्यालक्कद' इति पैप्प० सं० । 'भूर्यावय' इति ह्विटनि-कामितः ।

भा०—हे (तक्मन्) दुःखदायक ज्वर ! हे (व्याल) सर्प के समान विष रूप से शरीर में फैलने वाले ! हे (वि-गद) विषम ज्वर ! हे (वि-अङ्ग) शरीर को विकृत करने वाले ज्वर ! (भूरि यवय) तू हम से बहुत दूर रह। तू (निः-तक्करीम्) खूब ज्वर को फैलाने वाली, खूब पीड़ादायक (दासीम्) काटने वाली, मच्छर जाति को (इच्छ) चाहता है और (तां) उसी को (वज्रेण) अपने रोग पीड़ादायक हथियार से (सम्-अर्पय) समृद्ध करता है।

तक्मन् मूजंवतो गच्छ बल्हिकान् वा परस्तराम्।
शूद्रामिच्छ प्रफर्व्यं१ तां तक्मन् वीव धूनुहि ॥ ७ ॥

भा०—हे (तक्मन्) ज्वर ! तू (मूजवतः गच्छ) प्रथम निर्बल, छोटे छोटे प्राणियों को (गच्छ) प्राप्त होता है। अथवा (बल्हिकान्) बलवानों को और (परः-तराम्) उनसे भी अधिक शक्ति वालों को भी प्राप्त होता है। तू (प्र-फर्व्यं) नव युवति (शूद्राम्) काटने वाली कीट जाति को (इच्छ) प्राप्त होकर (तां वि-इव धूनुहि) उसको मानो सदा चञ्चल बनाये रखता है। वह जगह २ उड़ २ कर बैठती, काटती और विष फैलाती रहती है।

म॒हावृ॑षान् मूज॑वतो बन्ध्व॑द्धि प॒रेत्य॑।
प्रैतानि॑ त॒क्मने॑ ब्रूमो अन्यक्षे॒त्राणि॒ वा इ॒मा ॥ ८ ॥

भा०—(महा-वृषान्) बड़े बलवान् (मूज-वतः) देहधारियों को (बन्धु) अपना बन्धु बना कर (अद्धि) तू खा डालता है और (परा-इत्य)

७–गिरिं गच्छ गिरिजासि मायुषो गृहाः। दासी मृत्यच्छ प्रफर्व्यम् तांस्तक्मन्नीव धूनुहि ' इति पैप्प० सं०।

८–(च०) 'न्यक्षेत्राणि वायसाम्' इति पैप्प० सं०। ' नार्कविन्दां नार्विदालाम्। प्रजानि तक्मने ब्रूमो न्यक्षेत्राणि वायुमान् ' इत्यधिकः पाठः। 'तक्मन्निमं ते क्षेत्रभागं अपाभजं पृथिव्याः पूर्वे अर्धे' इत्यन्यत्र पैप्प० सं०।

उनसे भी आगे बढ़ कर प्राणियों का नाश करता है । (एतानि) ये तो तक्म ने ज्वर के क्षेत्र हैं ही । इनसे (अन्य-क्षेत्राणि) अन्य स्थान या देह भी (इमा) ये जीव हैं इनको भी ज्वर के क्षेत्र ही (प्र ब्रूमः) हम बतलाते हैं ।

अन्यक्षेत्रे न रमसे वशी सन् मृडयासि नः ।
अभूदु प्रार्थस्तक्मा स गमिष्यति बल्हिकान् ॥ ९ ॥

भा०—(अन्य-क्षेत्रे) मनुष्य से अतिरिक्त शरीर में (न रमसे) तू बहुत क्रीड़ा नहीं करता । (वशी सन्) जब तू वश में कर लिया जाता है (नः मृडयासि) तब तू हमें सुख भी देता है । जब तू (तक्मा) कष्टदायी ज्वर (प्र-अर्थः अभूत् उ) प्रबल हो जाता है । तब (सः) वह तू (बल्हिकान्) बल्हिक—बलवान् देहों में भी (गमिष्यति) चला जाता है, प्रवेश कर जाता है ।

यत् त्वं शीतोथो रूरः सह कासावेपयः ।
भीमास्ते तक्मन् हेतयस्ताभिः स्म परि वृङ्ग्धि नः ॥ १० ॥

भा०—(यत्) जब (त्वं शीतः) तू शीत है, सर्दी देकर आता है (अथो रूरः) तब अधिक पीड़ादायक या तापदायक होता है । और (कासा सह) और खांसी के साथ तू शरीर को (अवेपयः) कँपा डालता है । हे (तक्मन्) ज्वर (ते हेतयः) तेरे शस्त्र (भीमाः) बड़े भयानक हैं । (ताभिः) उनसे (नः) हमें (परि वृङ्धि स्म) बचाये रख । अभिर्वै रूरः । तां० ७ । ५ । १० ॥

मास्मै तान्त्सखीन् कुरुथा बलासं कासमुद्युगम् ।
मा स्मातोर्वाङैः पुनस्तत् त्वा तक्मन्नुप ब्रुवे ॥ ११ ॥

१०—' यस्त्वं शीतो अथो ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (तक्मन्) ज्वर ! तू (बलासं) कफ, (कासम्) खांसी और (उत्-युगम्) क्षयी (एतान्) इन रोगों को (सखीन्) अपना साथी, संगी, मित्र (मा स्म कुरुथाः) मत बना। (अतः अर्वाङ्) अब से आगे (मा स्म ऐः) तू मत आ। हे (तक्मन्) ज्वर ! (तत् त्वा) यह तुझे (पुनः उप ब्रुवे) मैं वार वार कहता हूं।

तक्मन् भ्रात्रा बलासेन स्वस्रा कासिकया सह।
पाप्मा भ्रातृव्येण सह गच्छामुमरणं जनम् ॥ १२ ॥

भा०—हे (तक्मन्) ज्वर ! (भ्रात्रा) तुझे पुष्ट करने वाले (बलासेन) कफ और (स्वस्रा) भगिनी के समान कफ के साथ २ स्वयं आ जाने वाली (कासिकया सह) खांसी के साथ और (भ्रातृव्येन) अपने परिपोषक भाई के समान कफ से उत्पन्न होने वाले अन्य (पाप्मा=पाप्मना पाम्नावा) दुःखकारा, चर्म-रोग के साथ भी (अमुम्) फलाने २, नाना प्रकार के (अरणं) मलिन, गन्दे (जनम्) पुरुष को (गच्छ) प्राप्त होता है।

नाना व्याधियों के सहित अस्वच्छ आदमी को चिपटता है। उसी को खांसी, कफ़ और चर्मरोग खुजली भी उत्पन्न करता है।

तृतीयकं वितृतीयं सदन्दिमुत शारदम्।
तक्मानं शीतं रूरं ग्रैष्मं नाशय वार्षिकम् ॥ १३ ॥

१२–(तृ० च०) 'अपां भ्रात्रातृव्येन नश्येतो मरणमभि' इति पैप्प० सं०। (तृ०) 'पाम्ना' इति क्वचित्, 'पाप्मा' इत्यपि क्वचित्। 'पाम्ना' इति ह्विटनिसम्मतः।

१३–(द्वि०) 'उत हापनम्' (तृ०) 'तक्मानं विश्वशारदम्' इति पैप्प० सं०।

भा०—हे पुरुष ! तू (तृतीयकम्) तीसरे दिन आने वाले (वितृतीयकम्) दो दिन का अन्तर देकर आने वाले (सदन्दिम्) निरन्तर रहने वाले (उत शारदम्) या शरत् काल में होने वाले, (शीतं) या शीत देकर आने वाले (रूरं) पीड़ा या तीव्र ताप, जलन उत्पन्न करके देह तोड़ने वाले या (ग्रैष्मं) गर्मी से उत्पन्न होने वाले या (वार्षिकम्) वर्षा काल में होने वाले (तक्मानं) ज्वर को (नाशय) विनाश कर ।

गन्धारिभ्यो मूजवद्भ्योऽङ्गेभ्यो मगधेभ्यः ।
प्रैष्यन् जनमिव शेवधिं तक्मानं परि दद्मसि ॥ १४ ॥

भा०—(जनम् प्र-एष्यम् इव) जिस प्रकार एक देश से दूसरे देश को आदमी भेज दिया जाता है या (शेवधिम्) ख़ज़ाना जिस प्रकार एक के पास से दूसरे के पास पहुंच जाता है उसी प्रकार हम लोग (तक्मानं) इस ज्वर को (गन्धारिभ्यः) बदबू वाले (मूजवद्भ्यः) निर्बल शरीरों वाले, (मगधेभ्यः) दोष युक्त कुपथ्यकारियों के पाते और (अंगेभ्यः) पराश्रय जीवन बिताने वाले दुर्बलों के पास (परि दद्मसि) दे दिया करते हैं । अर्थात् रोग उक्त प्रकार के लोगों में संक्रमित हो जाता है ।

[२३] रोगकारी जन्तुओं के नाश का उपदेश ।

कण्व ऋषिः । क्रिमिजम्भनाय देवप्रार्थना । इन्द्रो देवता । १–१२ अनुष्टुभः, १३ विराट् । त्रयोदशर्चं सूक्तम् ॥

ओते मे द्यावापृथिवी ओता देवी सरस्वती ।
ओतौ म इन्द्रश्चाग्निश्च क्रिमिं जम्भयतामिति ॥ १ ॥

अथर्व० ६ । ९४ । ३ प्र० द्वि० तृ० ॥

[२३] १–'क्रमिं' इतित्र बहुत्र ।

भा०—रोगकारी कीटों के नाश करने का उपदेश करते हैं—(द्यावा-पृथिवीं) द्यौः=सूर्य और पृथिवी (आ-उते) सब प्रकार परस्पर सम्मिलित होकर और (देवी) दिव्य गुण वाली (सरस्वती) यह वाणी या जलधारा या नदी (आ-उता) संगत होकर और (इन्द्रः च अग्निः च) इन्द्र-विद्युत् और अग्नि ये दोनों भी (आ-उतौ) परस्पर मिलकर (क्रिमिं) रोगकारी जन्तुओं का (मे, मे) मेरे लिये (जम्भयताम्) विनाश करें। सूर्य की किरण, मिट्टी, तीव्र वाणी या जल धारा, बिजुली, अग्नि, ये सब परस्पर मिल कर नाना प्रकार से रोग कीटों का नाश करते हैं।

अ॒स्येन्द्र॑ कुमा॒रस्य॒ क्रिमी॑न् धनपते जहि ।
ह॒ता विश्वा॒ अरा॑तय उ॒ग्रेण॒ वच॑सा॒ मम॑ ॥ २ ॥

भा०—हे (धनपते) समृद्धिसम्पन्न ऐश्वर्यवन् ! (इन्द्र) सूर्य ! वायो ! विद्युत् ! (अस्य) इस (कुमारस्य) बालक के (क्रिमीन्) रोगकारी जन्तुओं को (जहि) तू नाश कर। (मम) मेरे (उग्रेण) बलपूर्वक कहे गये (वचसा) उपदेश या वचन बल से (विश्वाः अरातयः) सब दुःखकारी पीड़ाएं (हताः) विनष्ट होती हैं।

यो अ॒क्ष्यौ॑ परि॒सर्प॑ति॒ यो नासे॑ परि॒सर्प॑ति ।
द॒तां यो मध्यं॒ गच्छ॑ति॒ तं क्रिमिं॑ जम्भयामसि ॥ ३ ॥

भा०—(यः) जो कीट (अक्ष्यौ) आँखों पर (परि-सर्पति) आक्रमण करता है, (यः) और जो (नासे) नाक में (परि-सर्पति) घुस जाता है। (यः) और जो (दतां मध्यं गच्छति) दांतों के बीच में चला जाता है, (तं क्रिमिम्) उस क्रिमि=कीट को (जम्भयामसि) हम विनाश करें।

२–(द्वि०) ' क्रिमिम् ' (तृ० च०) ' विश्वारातयोग्रेण वचसामिमा ' इति पैप्प० सं०।

३–(प्र०) ' अक्षौ ' (द्वि०) ' नासौ ' इति पैप्प० सं०।

सरूपौ द्वौ विरूपौ द्वौ कृष्णौ द्वौ रोहितौ द्वौ ।
बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्च गृध्रः कोकश्च ते हताः ॥ ४ ॥

भा०—कीटों के रूपों की पहचान बतलाते हैं । समान रूपवाले दो, और (विरूपौ द्वौ) भिन्न २ रूप वाले दो, (कृष्णौ द्वौ) काले या काटने वाले दो, (रोहितौ द्वौ) लाल रंग के या बढ़ने वाले दो, (बभ्रुः च) भूरे वर्ण के या पेट भरने वाले (बभ्रु-कर्णः च) और भूरे कान वाले, (गृध्रः) मांस के लोभी और (कोकः च) और भेड़िया के स्वभाव के (ते हताः) ये सब विनाश किये जांय ।

ये क्रिमयः शितिकक्षा ये कृष्णाः शितिबाहवः ।
ये के च विश्वरूपास्तान् क्रिमीन् जम्भयामसि ॥ ५ ॥

भा०—(ये) जो (क्रिमयः) क्रिमि, कीट (शिति-कक्षाः) श्वेत कोंख वाले हैं और (ये कृष्णाः) जो काले हैं, और जो (शिति-बाहवः) सफेद पैरों वाले हैं और (ये के च विश्व-रूपाः) जो कोई नाना रूप हैं । (तान् क्रिमीन्) उन क्रिमियों को हम (जम्भयामसि) विनाश करें ।

उत पुरस्तात् सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा ।
दृष्टांश्च घ्नन्नदृष्टांश्च सर्वांश्च प्रमृणन् क्रिमीन् ॥ ६ ॥

ऋ० द्वि० ऋ० १ । १९१ । ८ ॥

४–(च०) 'कोकाश्च' इति पैप्प० सं० ।

५–(प्र०) 'सितवक्षाः', (द्वि०) 'सितबाहवः' इति पैप्प० सं० ।

६–'अदृष्टान्त्सर्वान् जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्यः' इति ऋ० । ऋग्वेदे अगस्त्यऋषिः, अबोषधिसूर्या देवताः । 'उदसौ सूर्या अगात्' (द्वि०) 'विश्वदृष्टो अदृहा' इति पैप्प० सं० ।

भा०—सूर्य चिकित्सा का उपदेश करते हैं । (सूर्यः) सूर्य (उत) भी (पुरस्तात्) ठीक सामने से (एति) आवे और अपना प्रकाश डाले तो वह सूर्य स्वयं (विश्व-दृष्टः) सब के दर्शनगोचर होकर भी (अदृष्ट-हा) न दीखने वाले रोग कीटों को नाश करता है । क्योंकि वह अपनी तीक्ष्ण किरणों से तो (दृष्टान् च) दीखने वाले और (अदृष्टान् च) न दीखने वाले (सर्वान् च) और सब (क्रिमीन्) कीटों को (घ्नन्) विनाश करता और (प्र-मृणन्) उच्छेद करता है ।

येवाषासः कष्कषास एजत्काः शिपिवित्नुकाः ।
दृष्टश्च हन्यतां क्रिमिरुतादृष्टश्च हन्यताम् ॥ ७ ॥

भा०—(येवाषासः) येवाष, (कष्कषासः) कष्कष, (एजत्काः) एजत्क, और (शिपिवित्नुकाः) शिपिवित्नुक, ये नाना प्रकार की रोगकीट जातियां और (दृष्टः च) दिखाई देने वाला (उत) और (अदृष्टः च) न दीखने वाला रोगकीट भी (हन्यताम्) मार दिया जाय ।

येवाष=सरक सरक कर चलने वाले, जैसे गिण्डोये, कष्कषासः=देह को घिस २ कर चलने वाले, (एजत्काः) थोड़ा कांपने वाले (शिपिवित्नुकाः) मूल भाग, जघन भाग से वस्तु को पकड़ने वाले जैसे मशरूम आदि।

हतो येवाषः क्रिमीणां हतो नदनिमोत ।
सर्वान् नि मष्मषाकरं दृषदा खल्वाँ इव ॥ ८ ॥

भा०—उक्त प्रकार के विषैले जन्तुओं के नाश का उपदेश करते हैं । (क्रिमीणां) रोगकारक क्रिमियों में से (येवाषः) सरक सरक कर

७–(प्र० द्वि०) 'यवायवाखासष्किरयामोभूक्षामश्च परिवृक्णवः' (तृ०) 'अदृष्टश्चोत हन्यताम्' इति पैप्प० सं० ।

८–'हतो यवाखो हतश्च पविहतो पमगणवान् उत हता विश्वा रातय अमेन वचसा मम' इति पैप्प० सं० ।

चलने वाला कृमि (हतः) मार दिया जाता है । (उत) और (नदनिमा) शब्द करने वाला, चिर-चिराने वाला जन्तु भी (हतः) मार दिया जाता है । (दृषदा) शिला या चक्की के पाट से (खल्वान् इव) चनों को जिस प्रकार दल दिया जाता है उसी प्रकार मैं रोग जन्तुओं का नाशक वैद्य भी इन रोगकारी (सर्वान्) समस्त कीटों को (मष्मषा करम्) विनष्ट कर डालूं ।

त्रिशीर्षाणं त्रिककुदं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम् ।
शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥ ९ ॥

द्वि० तृ० च० अथर्व० २ । २३ । २ द्वि० च० ॥

भा०—(त्रि-शीर्षाणम्) तीन शिरों वाले (त्रि-ककुदं) तीन कुदान वाले, (सारंगम्) सारग चित्रवर्ण वाले या खाखी रंग के (अर्जुनं) और श्वेत वर्ण के (क्रिमिं) जन्तु को (शृणामि) विनाश करूं और (अस्य) इस प्रकार के रोगकीट की (पृष्टीः अपि) पसुलियों को भी (शृणामि) विनष्ट करूं और (यत् शिरः) इस का जो शिर है उस को भी (वृश्चामि) उस के धड़ से पृथक् काट दूं । ऐसे कीड़े कुचलने और सिर काट देने से नष्ट होते हैं ।

अत्रिवद् वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत् ।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन् ॥ १० ॥

भा०—हे (क्रिमयः) रोग जनक कीड़ो ! (अत्रि-वद्) अत्रि के समान (कण्व-वत्) मेधावी पुरुष के समान (जमदग्नि-वत्) प्रज्वलित अग्नि के समान मैं (वः हन्मि) तुम को विनाश करता हूं और (अगस्त्यस्य) सूर्य के (ब्रह्मणा) विशाल शक्ति या ज्ञान से (क्रिमीन् सं-पिनष्मि) इन क्रिमियों

९–' यो द्विशीर्षश्चतुरक्षः क्रिमिश्शाङ्गो अर्जुनः ' इति पैप्प० सं० ।

को विनष्ट करता हूं। अथवा अत्रि=अग्नि, कण्व=वायु, जमदग्नि आदित्य इनके शक्ति से सम्पन्न होकर रोग जन्तुओं का नाश करूं।

हतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः।
हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा॥ ११॥

भा०—(क्रिमीणां राजा) रोगकारक क्रिमियों का (राजा) मुख्य क्रिमि (हतः) विनाश कर दिया जाय, (उत) और (एषां) इन का (स्थ-पतिः) निवासस्थान का पालक और निर्माता भी (हतः) मार दिया जाय, (हत-माता) उत्पादक क्रिमि के मर जाने पर (हत-भ्राता) उन को पोषण करने वाले क्रिमियों के मर जाने पर अथवा उनके सहचर कीटों के मर जाने पर, (हत-स्वसा) मादा कीटों के नष्ट होजाने पर (क्रिमिः हतः) वह समस्त रोग कीटों की नसल नष्ट हो जाती है। शत्रु राजा का विनाश करने के लिये शत्रु राजा को, उस की माता, भाई और बहनों के मारे जाने पर वह शत्रु भी नष्ट हो जाता है।

हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः।
अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हताः॥ १२॥

भा०—(अस्य) इस रोगजनक कीट के (वेशासः) प्रवेश करने के स्थानों को अथवा उसके सेवकों को (हतासः) विनाश कर दिया जाय, और (परिवेशसः) उसके समीपवर्ती अन्य जन्तुओं को भी (हतासः) मार दिया जाय (अथो) और (ये) जो (क्षुल्लका इव) और भी छोटे २ कच्चे बच्चे हों (ते सर्वे) वे सब (क्रिमयः) विकार उत्पन्न करने वाले रोग जन्तु (हताः) मार दिये जांय।

सर्वेषां च क्रिमीणां सर्वासां च क्रिमीणाम्।
भिनद्म्यश्मना शिरो दहाम्यग्निना मुखम्॥ १३॥

१३–(तृ०) 'भिनद्म्यश्मिना' इति पैप्प० सं०।

भा०—(सर्वेषां च क्रिमीणाम्) सब नर कीटों और (सर्वासां च क्रिमीणाम्) सब मादा कीटों के (अश्मना भिनद्मि) प्रस्तर या चकमक के बने तीक्ष्ण शस्त्र से (शिरः भिनद्मि) शिर तोड़ डालूं। और (अग्निना) अग्नि से या तेज़ाब से (मुखम् दहामि) उन का मुख जला दूं।

[२४] परमेश्वर से धर्म कार्य में रक्षा की प्रार्थना।

अथर्वा ऋषिः। ब्रह्मकर्मात्मा देवता। १–१७ चतुष्पदा अतिशक्वर्यः। ११ शक्वरी, १५–१६ त्रिपदा। १५, १६ भुरिक् अतिजगती। १७ विराड् अतिशक्वरी। सप्तदशर्चं सूक्तम्॥

सविता प्रसवानामधिपतिः स मावतु।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ १॥

भा०—(सविता) सब का उत्पादक परमात्मा (प्रसवानाम् अधिपतिः) सब पदार्थों के उत्पन्न होने के कार्यों का स्वामी है, (सः) वह (अस्मिन् ब्रह्मणि) इस ब्रह्मयज्ञ में, (अस्मिन् कर्मणि) इस यज्ञ कर्म में, (अस्यां पुरोधायाम्) इस पुरोहित के कार्य में, (अस्यां प्रतिष्ठायाम्) इस प्रतिष्ठा में, (अस्यां चित्त्याम्) इस चितियाग में, इस ज्ञानमय स्थिति में, (अस्यां आकूत्यां) इस आकूति, मन की सद्भावना में (अस्यां आशिषि)

[२४] १–१७–प्रायः गृह्यसूत्रेषु विवाहकर्मणि एतेमन्त्राः आज्याहुतौ विनियुक्ताः। प्रायः सर्वत्र ब्रह्मकर्म-पुरोधा-देवहूति-आकूति-आशिष्-एतेसप्तम्यन्ताः। इति पैप्प० सं०। ब्रह्म-क्षत्राशिष्-पुरोधा-कर्म-देवहूतयः। पा० गृ० सू०। ब्रह्म-पुरोधा-कर्माशिष्-देवहूतयः। मै० सं०। ब्रह्मक्षत्र-कर्माशिष्-प्रतिष्ठादेवहूतयः। शा० श्रौ० सू०।

इस शुभ आशाजनक कार्य में (अस्यां देवहूत्यां) इस देव परिषद् में जिस में विद्वानों को बुलाया गया है (सः) वह परमात्मा (मा अवतु) मेरी रक्षा करे, (स्वाहा) यही मेरी उत्तम कामना सफल हो ।

अग्निर्वनस्पतीनामधिपतिः स मावतु । ० ॥ २ ॥

भा०—जिस प्रकार सब (वनस्पतीनाम् अधि-पतिः) वनस्पतियों का स्वामी (अग्निः) अग्निः है, उनको काष्ठरूप में जलाता और रस रूप से पुष्ट करता है उसी प्रकार वह प्रकाशरूप परमात्मा भी सब (वनस्पतीनाम्) भोग साधन इन्द्रियों के पति जीवात्माओं का (अधि-पतिः) स्वामी परमेश्वर है (सः) वह (माम् अवतु) मेरी (अस्मिन् ब्रह्मणि०) इस वेदाध्ययन ब्रह्मोपसना आदि कार्यों में रक्षा करे यह मेरी शुभ प्रार्थना है ।

द्यावापृथिवी दातृणामधिपत्नी ते मावताम् । ० ॥ ३ ॥

भा०—(दातृणां) दानशील पुरुषों के (अधि पत्नी) अधिपति, मुख्य दाता (द्यावापृथिवी) ज़मीन और आसमान या सूर्य और पृथिवी दोनों (माम्) मुझे (अस्मिन् ब्रह्मणि इत्यादि) इस ब्रह्मोपासना, वेदाध्ययन आदि पूर्वोक्त शुभ कार्यों में (अवताम्) रक्षा करें ।

वरुणोपामधिपतिः स मावतु । ० ॥ ४ ॥

भा०—जैसे समस्त जलों का स्वामी (वरुणः) महान् समुद्र है । उसी प्रकार (अपां) व्यापक लोकों का और प्रजाओं का (अधि-पतिः) स्वामी (वरुणः) सर्वव्यापक, सर्वश्रेष्ठ प्रभु है । (सः) वह (अस्मिन् ब्रह्मणि० इत्यादि) इन ब्रह्मोपासना वेदाध्ययन आदि शुभ कार्यों में (मा अवतु) मेरी रक्षा करे ।

२–' अग्निर्भूतानामधिपतिः ' शा० श्रौ० सू० ।

४–' वरुणो धर्माणामधिपतिः ' शा० श्रौ० सू० ।

मित्रावरुणौ वृष्ट्याधिपती तौ मावताम् । ० ॥ ५ ॥

भा०—(मित्रावरुणौ) मित्र=सूर्य और वरुण=समुद्र दोनों (वृष्ट्याः) वृष्टि के (अधि-पती) स्वामी हैं, वे दोनों भी (मा) मुझ को उक्त शुभ कार्यों में (अवताम्) रक्षा करें । यही हमारी शुभ प्रार्थना है ।

मरुतः पर्वतानामधिपतयस्ते मावन्तु । ० ॥ ६ ॥

भा०—(मरुतः) वायुएं जिस प्रकार (पर्वतानाम्) उच्च शिखरों वाले पर्वतों या मेघों के (अधि-पतयः) अधिपति हैं अपने वेग से उन तक वर्षा के जल पहुंचाने वाले और मेघों को सर्वत्र उड़ा ले जाने वाले हैं उसी प्रकार पर्व=पोरुओं के बने देहों के अधिपति ये प्राण हैं । ये पूर्वोक्त शुभ कार्यों में (मा अवन्तु) मेरी रक्षा करें ।

सोमो वीरुधामधिपतिः स मावतु । ० ॥ ७ ॥

भा०—(सोमः) सब का उत्पादक, सौम्यगुण से युक्त ओषधिरस सोमलता, जिस प्रकार सब से श्रेष्ठ होने से (वीरुधाम्) नाना प्रकार से उगने वाली लताओं का (अधि-पतिः) पालक है उसी प्रकार सौम्यगुण युक्त राजा नाना प्रकार से फलने फूलने वाली प्रजाओं का अधिपति है । (सः) वह उक्त शुभ कार्यों में (मा अवतु) मेरी रक्षा करे ।

वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः स० । ० ॥ ८ ॥

६–' विष्णुः पर्वतानामधिपतिः ' इति पैप्प० सं० । 'मरुतो गणानामधिपतिः' इति तै० सं० ।

७–' सोमः पयसामधिपतिः ' इति पैप्प० सं० । ' ओषधीनामधिपतिः ' इति तै० सं० ।

८–' सूर्यो दिवाधिपतिः ' इति पैप्प० सं० । ' नक्षत्राणामधिपतिः ' शा० औ० सू० ।

भा०—(वायुः) सर्वत्र व्यापक, गतिशील वायु जिस प्रकार (अन्तरिक्षस्य) अन्तरिक्ष का (अधि-पतिः) स्वामी है उसी प्रकार वह प्राण रूप शक्ति देह की अधिपति है । (सः) वह उक्त शुभ कार्यों में (मा अवतु) मेरी रक्षा करे ।

सूर्यश्चक्षुषामधिपतिः स० । ० ॥ ९ ॥

भा०—(सूर्यः) सबका प्रेरक, प्रकाशमय सूर्य जिस प्रकार अपने तेजो गुण से हमारी (चक्षुषां) आंखों का (अधि-पतिः) स्वामी है । उसी प्रकार वह ज्ञान-तेजोमय सब का प्रकाशक प्रभु हमारी ज्ञान चक्षुओं का भी स्वामी है । (सः०) वह उक्त शुभ कार्यों में मेरी रक्षा करे ।

चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः स० । ० ॥ १० ॥

भा०—रात्रि के समय (चन्द्रमा) सब का आह्लादक चन्द्र (नक्षत्राणां अधिपतिः) नक्षत्रों, तारों का (अधि-पतिः) स्वामी है, सबसे अधिक प्रकाशक है उसी प्रकार राजा या वह प्रभु, प्रजाओं का स्वामी है (सः०) वह उक्त शुभ कार्यों में मेरी रक्षा करे ।

इन्द्रो दिवोऽधिपतिः स० । ० ॥ ११ ॥

भा०—(दिवः) द्यौः ब्रह्माण्ड का जिस प्रकार (इन्द्रः) सूर्य ही (अधि-पतिः) स्वामी है उसी प्रकार वह सर्वैश्वर्यवान् प्रभु इन प्रकाशमान सूर्यों का भी स्वामी है । वह उक्त शुभ कार्यों में हमारी रक्षा करे ।

मरुतां पिता पशूनामधिपतिः स० । ० १२ ॥

भा०—(मरुतां पिता) समस्त वायुओं या विद्वानों का (पिता)

११–' इन्द्रः कर्मणामधिपतिः ' इति पैप्प० सं० । ' ज्येष्ठानामधिपतिः ' इति शा० श्रौ० सू० ।

१२–' रुद्रः पशूनामधिपतिः ' इति पैप्प० सं० ।

पालन कर्त्ता ही (पशूनाम्) पशुओं का या जीवों का (अधि-पतिः) स्वामी है, उसी प्रकार प्राणों का पालक जीव ही देह में (पशूनाम्) दर्शनकारी इन्द्रियों का स्वामी है (सः) वह उक्त शुभ कार्यों में हमारी रक्षा करे ।

मृत्युः प्रजानामधिपतिः स० । ० ॥ १३ ॥

भा०—(मृत्युः) मारण-धर्मा मृत्यु, मौत ही (प्रजानाम्) जिस प्रकार समस्त उत्पन्न होने वाली प्रजाओं का (अधि-पतिः) स्वामी है उसी प्रकार वह प्रभु सबका अन्तकारी होने से सब का स्वामी है (सः) वह उक्त शुभ कामों में हमारी रक्षा करे ।

यमः पितृणामधिपतिः स मावतु । ० ॥ १४ ॥

भा०—(यमः) सबका नियन्ता यम=ब्रह्मचारी जिस प्रकार (पितृणाम्) पालक-प्राणों का अधिपति है या नियन्ता राजा अन्य पितृ=शासकों का अधिपति है या नियन्ता जीव पितृ=इन्द्रियों का अधिपति है या यम=सूर्य पितृ=किरणों या ऋतुओं का स्वामी है उसी प्रकार प्रभु सब परिपालन करने वालों का भी स्वामी है । वह मेरी उक्त शुभ कार्यों में रक्षा करे ।

पितरः परे ते मावन्तु । ० ॥ १५ ॥

भा०—(पितरः) पालन करने वाले (परे) वे जो हम से पूर्व विद्यमान हैं या हमसे श्रेष्ठ हैं (ते) वे (मा अवन्तु) मेरी उक्त शुभ कार्यों में रक्षा करें ।

तता अवरे ते० । ० ॥ १६ ॥

१३–' प्रजापतिः प्रजानामधिपतिः ' इति पैप्प० सं० ।

१४–' यमः पृथिव्या अधिपतिः ' इति तै० सं० ।

भा०—(ततः) पूर्व पुरुषों की सन्तानें (अवरे) जो बाद में या उनसे उतर कर हैं (ते) वे भी मेरी उक्त शुभ कार्यों में रक्षा करें ।

ततस्ततामहास्ते मावन्तु ।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १७ ॥

भा०—(ततः) उनसे उतर कर (ततामहाः) हमारे सन्तानों के भी सन्तान हैं (ते) वे (मा० अवन्तु) मेरी (अस्मिन् ब्रह्मणि०) उक्त वेदाध्ययन, यज्ञ, पुरोहिताई, प्रतिष्ठा, यज्ञ-चयन, सद्विचार, सदाशा, विद्वत्सभा आदि सत्कार्यों में रक्षा करें । यही हमारी शुभ प्रार्थना है ।

[२५] गर्भाशय में वीर्यस्थापन का उपदेश ।

ब्रह्मा ऋषिः । योनिगर्भो देवता । १-१२ अनुष्टुभः, १३ विराड् पुरस्ताद् बृहती । त्रयोदशर्चं सूक्तम् ॥

१७—'ततास्ततामहा' इति [illegible] । 'पितरः परे परास्ततास्ततामहा-स्तेषां०' इति पैप्प० सं० । 'पितरः पितामहाः परेऽवरे ततास्तता-महा इह मा-' इति तै० सं० । 'पितरः पितामहाः परेऽवरे ते नः' इति मै० सं० । 'सुकर्मभिर्यत्नो [illegible]०, मित्रः सन्तानानामि०, सहस्रः [illegible]०, अन्नं ब्राह्मणानाम्, [illegible]' इति पैप्प० [illegible] मै० सं० अभिहिताः । [illegible]

पर्वताद् दिवो योनेरङ्गादङ्गात् समाभृतम् ।
शेपो गर्भस्य रेतोधाः सरौ पर्णमिवा दधत् ॥ १ ॥

भा०—गर्भाधान के अवसर में वीर्यस्थापन का उपदेश करते हैं। (पर्वतात्) मेघ से जिस प्रकार स्थान २ से जल बरसता है या जिस प्रकार पर्वत से रिस कर स्रोत प्रवाहित होता है, (दिवः) कारणभूत सूर्य से जिस प्रकार तेज निकलता है उसी प्रकार (योनेः) शरीर के (अङ्गात् अङ्गात्) प्रत्येक अंग से (सम् आभृतम्) लाकर एकत्र किये गये (शेपः) वीर्य सामर्थ्य को (गर्भस्य) गर्भ का (रेतोधाः) मूलभूत बीज का स्थापन करने वाला पुरुष (आदधत्) गर्भाशय में इस प्रकार आधान करे जैसे (सरौ पर्णम् इव) आकाश में पर्ण=सूर्य को ईश्वर ने स्थापन किया है।

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे ।
एवा दधामि ते गर्भं तस्मै त्वामवसे हुवे ॥ २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (मही) विशाल (पृथिवी) पृथिवी (भूतानां) समस्त प्राणियों को (गर्भम्) अपने गर्भ में (आदधे) धारण करती है। इसी प्रकार मैं पति (ते) तुझ अपनी धर्मपत्नी के शरीर में (गर्भम्) गर्भ को (दधे) धारण कराता हूं क्योंकि तू ही मानव जीवों को गर्भ में धारण करने हारी भूमि के समान है। (तस्मै) उस गर्भ के (अवसे) रक्षा करने के लिये ही मैं (त्वाम् हुवे) तुझे बुलाता हूं या उपदेश करता हूं।

[२५] १-(च०) 'शरौ' इति ह्विटनिकामितः। 'त्सरौ' इति वेबरकामितः।
२-(द्वि०) 'उत्ताना गर्भमादधे' इति ऋ०। 'तिष्ठन्ती गर्भमादधे' इति आपस्त० म० पा०।

गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति ।
गर्भं ते अश्विनोभा धत्तां पुष्करस्रजा ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १८४ । २ ॥

भा०—हे (सिनीवालि) सिनीवालि ! भूमे, जाये ! (गर्भं धेहि) तू गर्भ को धारण कर । हे (सरस्वति) सुभगे ! (गर्भं धेहि) तू गर्भ को धारण कर । (उभौ) दोनों (पुष्करस्रजा) पुष्कर पुष्टि करने वाले और सर्जन करने वाले मूलकारण को धारण करने वाले (अश्विनौ) परस्पर व्याप्त मातृ-पितृ-अंश दोनों (ते गर्भम् धत्तां) तेरे भीतर गर्भ को धारण करावें ।

पुरुष के वीर्य का अंश और स्त्री के रजोऽश दोनों यहां पुष्करस्रज् 'अश्विन्' हैं। योषा वै सिनीवाली । श० ६ । ५ । १ । १० ॥

गर्भं ते मित्रावरुणौ गर्भं देवो बृहस्पतिः ।
गर्भं त इन्द्रश्चाग्निश्च गर्भं धाता दधातु ते ॥ ४ ॥

भा०—(मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण (ते गर्भं) तेरे गर्भ को पुष्ट करें (देवः) प्रकाशमान् (बृहस्पतिः) सूर्य (गर्भं) गर्भ को पुष्ट करे और (इन्द्रः च अग्निः च) इन्द्र=वायु और अग्नि भी (ते गर्भं) तेरे गर्भ को पुष्ट करें और (धाता) पोषक परमात्मा भी (ते गर्भं) तेरे गर्भ को (दधातु) पालित पोषित करे ।

३–(तृ०) 'गर्भं तेऽश्विनौ देवाना-' इति ऋ० । (प्र० द्वि०) 'देहि' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'धेहि पृथुष्टुके' इति तै० आ० । (तृ०) 'अश्विनावुभावा ध-' हि० गृ० सू० ।

४–(प्र०) 'गर्भं ते राजा वरुणो' इति पैप्प० सं० ।

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु ।
आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते ॥ ५ ॥

ऋ० १० । १८४ । १ ॥

भा०—(विष्णुः) शरीर में व्यापक रुधिर शक्ति (योनिम्) गर्भ के स्थान को (कल्पयतु) गर्भधारण में समर्थ बनावे और (त्वष्टा) शरीर को विशेष रूपवान् बनाने वाली शक्ति (रूपाणि) गर्भाशय में रूप को, सांचे को या स्त्री-योनि में स्थित विशेष डिम्बों को (पिंशतु) छोटे २ कणों के रूप में उत्पन्न करे । और (प्रजापतिः) प्रजा का पालक पति (आसिञ्चतु) वीर्य का योनि में आ सेचन करे और (धाता) मातृ-शरीर में विद्यमान् पोषक प्राणशक्ति (ते) तेरे उस (गर्भम्) गर्भ को (दधातु) धारण, पोषण, पालन करे । अर्थात् गिरने और विकृत होने से बचावे । पौराणिक पूजाओं में अर्घ-पात्र में लाल फूल और श्वेत फूलों की अर्घा देने में यही मन्त्र मूल है । इसी प्रकार शतपथ में उखा सम्भरण का प्रकरण इसी प्रकरण की रूपान्तर से व्याख्या है ।

यद् वेद राजा वरुणो यद् वा देवी सरस्वती ।
यदिन्द्रो वृत्रहा वेद तद् गर्भकरणं पिब ॥ ६ ॥

भा०—गर्भपोषक, गर्भविधायक पान करने योग्य ओषधि का उपदेश करते हैं । हे स्त्री ! (यद्) जिसको (राजा वरुणः) राजा वरुण=अपान, व्यान, वायु और क्लोम भाग (वेद) जानता है । (यद् वा) और जिसको (देवी सवस्वती) देवी सरस्वती मान सशक्ति स्वतः स्त्री, (वेद) जानती है । और (यत्) जिसको (वृत्रहा) विघ्नों का नाशक (इन्द्रः) वह ऐश्वर्य-

---

६–(च०) 'गर्भकरणं' इति क्वचित् । (द्वि०) 'वेद देवो बृहस्पति' (तृ०) 'इन्द्रो यद् वृत्रहा' इति पैप्प० सं० ।

शील इन्द्र. वीर्य प्राप्त (वेद) जानता है उस (गर्भकरणं) गर्भ के विधायक, गर्भ के पोषक ओषध को (पिब) पान कर ।

गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम् ।
गर्भो विश्वस्य भूतस्य सो अग्ने गर्भमेह धाः ॥ ७ ॥

यजु० १२ । ३७ ॥

भा०—हे अग्ने ! तू (ओषधीनां गर्भः असि) ओषधियों का भी गर्भ है, उनके भीतर सार रूप से विद्यमान् है । और (वनस्पतीनाम् गर्भम् असि) वनस्पति=विशाल वृक्षों का भी गर्भ है, उनका भी सार है । और तू (विश्वस्य भूतस्य) समस्त उत्पन्न जगत् का भी (गर्भः) गर्भ-ग्रहण करने वाला आश्रय है (सः) वह तू (इह) इस योनि में भी (गर्भं) गर्भ को (धाः) धारण करा ।

अधि स्कन्द वीरयस्व गर्भमा धेहि योन्याम् ।
वृषासि वृष्ण्यावन् प्रजायै त्वा नयामसि ॥ ८ ॥

भा०—हे वीर पुरुष ! (अधि-स्कन्द) अपने क्षेत्र में जा, (वीरयस्व) विशेष नियम से अंग का प्रवेश कर, और (योन्याम्) योनिभाग में (गर्भम्) गर्भ को (आ धेहि) स्थापन कर । (वृषा असि तू वीर्यसेचन में समर्थ हो । हे (वृष्ण्यावन्) वीर्यसेचन से समर्थ पुरुष ! (प्रजायै) प्रजा के उत्पन्न करने के लिये ही (त्वा) तुझ को हम, स्त्रियां (नयामसि)

७–'अग्ने गर्भो अपामसि' इति तै० सं०, मै० सं० ।

८–(प्र०) 'अधिस्कन्द', (तृ०) 'वृषाणां वृष्ण्यावन्' इति पै० सं० । (प्र०) 'अधिस्कन्द वीरयस्व' (द्वि०) 'धेहि योन्याम्' (तृ०) 'वृषाणां वृषभोऽसि' (च०) 'त्वा हवामहे' इति मै० सं० ।

प्राप्त करती हैं। अथवा हम अनुभवी पुरुष (त्वा नयामसि) तुझे योग्य पत्नी के पास प्राप्त कराते हैं।

वि जिहीष्व बार्हत्सामे गर्भस्ते योनिमा शयाम्।
अदुष्टे देवाः पुत्रं सोमपा उभयाविनम् ॥ ९ ॥

भा०—हे (बार्हत्सामे) बार्हत्सामे ! जाये ! (वि जिहीष्व) तू भी विशेष रूप से प्रयत्न कर जिससे (गर्भः) वीर्यरूप गर्भ (ते) तेरी (योनिम्) गर्भस्थान के कमलभाग में (आ-शयाम्) अच्छी प्रकार चला जाय। (देवाः) देवगण, (सोम-पाः) वीर्य का पालन करने वाले, (ते) तुझे ऐसा (उभयाविनं) हमारा तुम्हारा दोनों का सम्मिलित (पुत्रं) पुत्र (अदुः) प्रदान करें।

धातः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः।
पुमांसं पुत्रमाधेहि दशमे मासि सूतवे ॥ १० ॥

ऋ० १० । १८४ । परि० ॥

भा०—हे (धातः) वीर्य के आधान करने हारे पुरुष ! तू (अस्याः नार्याः) इस नारी के (गवीन्योः) गविनी नामक दोनों नाड़ियों के बीच में (श्रेष्ठेन रूपेण) श्रेष्ठ, उत्तम रूप से युक्त सुन्दर (पुमांसं) पुमान् (पुत्रम्) पुत्र का (आ-धेहि) आधान कर जिससे (दशमे मासि) दसवें महीने (सूतवे) उत्पन्न हो।

त्वष्टः श्रेष्ठेन० । ० ॥ ११ ॥

९–(तृ०) 'ददन् ते पुत्रं देवा' इति पैप्प० सं०।

१०–(प्र०) 'विष्णोः श्रे०, अस्यां नार्यां गवीन्याम्' इति ऋ०। (तृ०) 'पुमांसं गर्भं' इति आप० म० पा०। (प्र०) 'विष्णोः श्रेष्ठेन०'

११–(प्र०) 'त्वष्टः' इति पैप्प० सं०।

भा०—हे (त्वष्टः) पुत्र के शरीर के सुघटित, सुरूप करने में समर्थ पुरुष ! तू इस नारी की गविनी नामक नाड़ियों के बीच (श्रेष्ठेन०) श्रेष्ठ रूप से युक्त सुन्दर पुमान् पुत्र को दसवें मास में प्रसव करने के लिये आधान कर।

सवितः श्रेष्ठेन० । ० ॥ १२ ॥

भा०—हे (सवितः) पुत्रोत्पादक पिता ! तू इस अपनी स्त्री की गवीनी नामक नाड़ियों के बीच में दसवें मास में प्रसव होने के लिये (श्रेष्ठेन रूपेण०) श्रेष्ठ सुन्दर रूप से सम्पन्न पुमान् पुत्र का आधान कर।

प्रजापते श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्यां गवीन्योः ।
पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ॥ १३ ॥

भा०—हे (प्रजापते) प्रजा के परिपालक पते ! तू (अस्याः नार्याः गवीन्योः) इस नारी की गवीनी नामक नाड़ियों के बीच में (दशमे मासि सूतवे) दसवें महीने में प्रसव करने के लिये (पुमांसं पुत्रम्) पुमान् पुत्र को (आ-धेहि) आधान कर।

[२६] योग साधना।

ब्रह्मा ऋषिः । वास्तोष्पत्यादयो मन्त्रोक्ता देवताः । १, ५ त्रिपदार्षी गायत्री, २, ४, ६, ७, ८, १०, ११ त्रिपदाप्राजापत्या बृहत्यः, ३ त्रिपदापिपीलिकमध्या पुरोष्णिक्, १—११ एकावसानाः, १२ आतिशाक्वरी चतुष्पदा जगती । द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

यजूंषि यज्ञे समिधः स्वाहाग्निः प्रविद्वानिह वो युनक्तु ॥ १ ॥

भा०—(यज्ञे) यज्ञमय ब्रह्म में (यजूंषि) यजुष् रूप (समिधः) समिधों, प्राणों को ही (स्वाहा) उत्तम रूप से आहुति करे, (अग्निः)

१२-(प्र०) 'सं सिद्धः' इति पैप्प० सं० ।

प्रकाशस्वरूप, ज्ञानी (प्र विद्वान्) उनको जानने हारा (वः) हे प्राणो ! तुम को (युनक्तु) यज्ञमय परमब्रह्म में समाधि द्वारा लगावे । प्राण, मन, अन्न, श्रद्धा, मज्जा ये सब पदार्थ यजु हैं, स मित् प्राण हैं ।

युनक्तुं देवः संविता प्रजानन्नस्मिन् यज्ञे महिषः स्वाहां ॥ २ ॥

भा०—(सविता देवः) सब का प्रेरक आत्मा (महिषः) महान् (प्र-जानन्) समस्त पदार्थों को भली प्रकार जानता हुआ (अस्मिन् यज्ञे) इस श्रेष्ठतम ब्रह्म में (युनक्तु) समाहित करे (स्वाहा) यही उत्तम आहुति है ।

इन्द्रं उक्थामदान्यस्मिन् यज्ञे प्रविद्वान् युनक्तु सुयुजः स्वाहां ॥३॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान्, ज्ञानी पुरुष (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञमय परम आत्मा में (उक्थ-मदानि) ब्रह्म के आनन्दों को (प्र विद्वान्) भलीभांति लाभ करता हुआ (सु-युजः) उत्तम रूप से योग करने वाले योगियों को या इन्द्रियों को (युनक्तु) उसी प्रभु में लगा दे (स्वाहा) यह सब से उत्तम आहुति है ।

प्रैषा यज्ञे निविदः स्वाहां शिष्टाः पत्नीभिर्वहतेह युक्ताः ॥ ४ ॥

भा०—(प्रैषाः) प्रेषाएं ही (यज्ञे) यज्ञ में (नि-विदः) 'निवित्' हैं । हे पुरुषो ! यही उत्तम आहुतियां हैं । आप लोग (शिष्टाः) अपने मन और इन्द्रियों को वशीभूत कर विद्वान् होकर (युक्ताः) समाधि युक्त चित्त होकर (पत्नीभिः) अपनी पत्नियों और पालकशक्तियों सहित (इह) इस ब्रह्मयज्ञ में (वहत) प्राप्त होवो ।

[२६] २–' प्रजानन् यज्ञे सयुजः स्वाहा ' इति पैप्प० सं० ।

३–' उक्थमदानि ' इति क्वचित् ।

४–' प्रेषा निविदा प्रिया यजूंषि ' इति पैप्प० सं० ।

'प्रैषाः'=प्रकृष्ट, उत्तम मानस इच्छाएं प्रेरणाएं ही (निविदः) सब प्रकार के उत्कृष्ट ज्ञान कराने वाली शक्तियां हैं। उनको (यज्ञे स्वाहा) यज्ञमय प्रभु में आहुति करो, उसी में लगा दो।

छन्दांसि यज्ञे मरुतः स्वाहा मातेव पुत्रं पिपृतेह युक्ताः ॥ ५ ॥

भा०—(माता पुत्रम् इव) जिस प्रकार माता अपने पुत्र को पालन पोषण करती है उस प्रकार आप लोग (युक्ताः) प्रेम से उस परमब्रह्म में समाधि मग्न होकर (पिपृत) प्राणों का पालन करो। (यज्ञे) उस संगम-स्थान, एकमात्र केन्द्र उपास्यदेव में (छन्दांसि) प्राण गण ही (मरुतः) मरुत् रूप हैं, वे भी (स्वाहा) उस यज्ञमय आत्मा में सुख से आहुति हों उसमें लीन हों।

एयमंगन् बर्हिषा प्रोक्षणीभिर्यज्ञं तन्वानादितिः स्वाहा ॥ ६ ॥

भा०—(इयम्) यह (अदितिः) अखण्ड, चितिशक्ति प्रकाशस्वरूप विवेक ख्याति (प्रोक्षणीभिः) प्रोक्षण-दिव्य जलों द्वारा आनन्दधाराओं और ज्ञानों द्वारा और (बर्हिषा) बढ़ने वाले ब्रह्मज्ञान से (यज्ञं तन्वाना) यज्ञमय देव का साक्षात् कराती हुई (आ अगन्) प्रकट होती है। (स्वाहा) इसमें मग्न होना ही परम आहुति है। दिव्याः आपः प्रोक्षण्यः। तै० २। १। ५। १॥ धर्ममेघ समाधि में आत्म भूमि में वर्षने वाला सोमबिन्दु रस ही 'प्रोक्षणी' है।

विष्णुर्युनक्तु बहुधा तपांस्यस्मिन् यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ ७ ॥

भा०—हे (सुयुजः) उत्तम रीति से योग का सम्पादन करने हारे विद्वान् पुरुषो! (अस्मिन् यज्ञे) इस योगमय अध्यात्म यज्ञ में (विष्णुः)

७—'सयुजः' इति पैप्प० सं०।

वह प्रभु परमात्मा (तपांसि) तपस्याओं को (युनक्तु) आप में सफलता पूर्वक लगावे । (स्वाहा) यही सबसे श्रेष्ठ आहुति है ।

त्वष्टा युनक्तु बहुधा नु रूपा अस्मिन् यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ ८ ॥

भा०—हे (सुयुजः) उत्तम योगियो ! (अस्मिन् यज्ञे) इस योग-मय आत्मयज्ञ साक्षात्कार में (त्वष्टा) सब का उत्पादक प्रभु (बहुधा रूपा) नाना प्रकार के रूपों—इन्द्रियों को (युनक्तु) युक्त करे (स्वाहा) यही उत्तम आहुति है ।

भगो युनक्त्वाशिषो न्व१स्मा अस्मिन् यज्ञे प्रविद्वान् युनक्तु सुयुजः स्वाहा ॥ ९ ॥

भा०—हे (सुयुजः) उत्तम योगियो ! (भगः) ऐश्वर्यवान् समस्त विभूतियों का स्वामी, प्रभु, परमात्मा (अस्मै नु) इस योगी या आत्मा की (आशिषः युनक्तु) समस्त उत्तम अभिलाषाओं को पूर्ण करे । और इसी कारण (अस्मिन् यज्ञे) इस ब्रह्ममय यज्ञ में (प्र विद्वान्) उत्तम ज्ञानी पुरुष (युनक्तु) समाधिमग्न हो । (स्वाहा) यही सब से उत्तम आहुति है ।

सोमो युनक्तु बहुधा पयांस्यस्मिन् यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ १० ॥

भा०—हे (सु-युजः) सु-योगियो ! (अस्मिन् यज्ञे) इस ब्रह्ममय अध्यात्म यज्ञ में (सोमः) सब का प्रेरक प्रभु अथवा आनन्द रस का उत्पादक सोम प्रभु (बहुधा) नाना प्रकार के (पयांसि) आनन्द जलों का (युनक्तु) हमारे अन्तःकरण में प्रकट करे । 'ततो धर्ममेघः समाधिः' ।

८—'बहुधा विरूपास्मिन्' इति पैप्प० सं० । 'बहुधाऽनुरूपाः' इति ह्विटनिकामितः ।

९—पूर्ववत् 'सयुजः' इति पैप्प० सं० ।

यो० सू० ॥ तब धर्ममेघ समाधि का उदय होता है 'ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा'। यो० सू० ॥ वहां सत्यपूर्ण प्रज्ञा का उदय होता है।

इन्द्रो युनक्तु बहुधा वीर्याण्यस्मिन् यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ ११ ॥

भा०—हे (सु-युजः) उत्तम योगियो! (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञमय आत्मा में (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् सर्व शक्तिमान्, तेजोमय प्रभु (बहुधा) नाना प्रकार से (वीर्याणि) बलों, शक्तियों को (युनक्तु) प्राप्त करावे।

बलेषु हस्तिबलादीनि । यो० सू० ॥

अश्विना ब्रह्मणा यातमर्वाञ्चौ वषट्कारेण यज्ञं वर्धयन्तौ ।
बृहस्पते ब्रह्मणा याह्यर्वाङ् यज्ञो अयं स्वरिदं यजमानाय स्वाहा ॥ १२ ॥

भा०—हे (अश्विनौ) प्राण और उदान तुम दोनो (अर्वाञ्चौ) साक्षात् होकर या शरीर के सब गुह्य स्थानों में प्रविष्ट होते हुए, (वषट्-कारेण) वषट्कार=मुख्य प्राण के बल से (यज्ञं) यज्ञरूप आत्मा की शक्ति को (वर्धयन्तौ) बढ़ाते हुए (ब्रह्मणा) ब्रह्म, परमात्मा के बल से (यातम्) गमन करो। हे (बृहस्पते) बृहती वाणी या ब्रह्मविद्या के पालक योगिन् तूभी (ब्रह्मणा) ब्रह्मज्ञान से (अर्वाङ्) साक्षात् आत्मरूप को (याहि) प्राप्त कर। (अयं यज्ञः स्वः) यही आत्मा का 'स्व' स्वरूप साक्षात् स्वः-मोक्ष-धाम है। (इदं) यह साक्षात् ब्रह्म (यजमानाय) देवोपासना करने वाले आत्मा के लिये (स्वाहा) सब से श्रेष्ठ आहुति होने का विषय है।

प्राणो वै वषट्कारः । श० ४ । २ । १ । २६ ॥ एते एव वषट्कारस्य प्रियतमे तनू यदोजश्च सहश्च । कौ० ३ । ५ ॥ तस्य वा एतस्य ब्रह्मयज्ञस्य चत्वारो वषट्काराः यद् वातो वाति, यद्विद्योतते, यत्स्तनयति, यदवस्फूर्जयति ॥ श० ११ । ५ । ६ । ६ ॥ त्रयो वै वषट्कारा वज्रो धामच्छद्रिक्तः ।

१२-(च०) 'यज्ञं वयं स्वरितं यजमानाय धेहि स्वाहा' इति पैप्प० सं०।

स यद्देवोश्वैर्बलं वषट्करोति स वज्रः । अथ यः संततो निर्हाणच्छत् स धामच्छत् अथ येनैव वषट् पराप्नोति स रिक्तः । मे० उ० ३ । ३ ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि पञ्च, ऋचश्चैकोनसप्ततिः ।]

[२७] ब्रह्मोपासना ।

ब्रह्मा ऋषिः । अग्निर्देवता । १ बृहतीगर्भा त्रिष्टुप् , २ द्विपदा साम्नी भुरिगनुष्टुप् , ३ द्विपदा आर्ची बृहती, ४ द्विपदा साम्नी भुरिक् बृहती, ५ द्विपदा साम्नी त्रिष्टुप् , ६ द्विपदा विराड् नाम गायत्री, ७ द्विपदा साम्नीबृहती, २-७ एकावसानाः, ८ संस्तार पंक्तिः, ९ षट्पदा अनुष्टुब्गर्भा परातीजगती, १०-१२ परोष्णिगहः । द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

ऊर्ध्वा अस्य समिधो भवन्त्यूर्ध्वा शुक्रा शोचींष्यग्नेः ।
द्युमत्तमा सुप्रतीकः ससूनुस्तनूनपादसुरो भूरिपाणिः ॥ १ ॥

यजु० २७ । ११ ॥

भा०—(अस्य) इस प्रभु परमात्मा रूप अग्नि के (समिधः) उत्तम रीति से देदीप्यमान काष्ठाएं, सूर्यादि लोक (ऊर्ध्वाः भवन्ति) ऊपर विराजमान हैं । (अग्नेः) उस ज्ञान और प्रकाशस्वरूप ईश्वर की (शुक्रा) कान्तिमान (शोचींषि) ज्योतियां (ऊर्ध्वा) सब से ऊपर विराजमान हैं । वह (द्युमत्तमा) सब से अधिक तेजस्वी, (सुप्रतीकः) सब से अधिक सुरूप

[२७] १–' द्युमत्तमाः सुप्रतीकस्यसूनोः ' इत्यन्तां ऋक् स माप्यते । यजु० । (प्र०) ' भवन्तूर्ध्वा ', ' सुप्रतीकस्य सूनोः ' (च०) ' असुरो विश्ववेदाः ' इति पैप्प० सं० ।

(ससूनुः) अपने समस्त पुत्ररूप प्रजाओं सहित (तनूनपात्) समस्त ब्रह्माण्ड रूप शरीरों को न गिरने देने हारा, उनका रक्षक (असुरः) प्राणों में भी व्यापक, महा बलवान् (भूरि-पाणिः) असंख्य हाथों से युक्त है, इसी लिये वह सब को संभालता है ।

अपाणिपादो जवनो गृहीतः पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ॥ उप० ॥

विश्वतो बाहुरुतविश्वतस्पात् । अथर्व० ।

दे॒वो दे॒वेषु॑ दे॒वः प॒थो अ॑नक्ति॒ मध्वा॑ घृ॒तेन॑ ॥ २ ॥

यजु० २७ । १२ ॥

भा०—(देवेषु) समस्त दिव्यगुणयुक्त प्रकाशमान् पदार्थों में से (देवः) वह एकमात्र देव सब का प्रकाशक है । वह (देवः) परमदेव (मध्वा) अमृतमय आनन्द और (घृतेन) तेजः-प्रकाश से (पथः) समस्त मार्गों को (अनक्ति) प्रकाशित करता है । देखो० ऋ० १ । १४२ । ३ ॥

मध्वा॑ य॒ज्ञं न॑क्षति प्रैणा॒नो न॒राशंसो॑ अ॒ग्निः

सु॒कृद् दे॒वः स॑वि॒ता वि॒श्ववा॑रः ॥ ३ ॥

भा०—(नराशंसः) समस्त पुरुषों, समस्त नेताओं=विद्वानों से प्रशंसा करने योग्य, सर्वस्तुत्य (अग्निः) प्रकाशस्वरूप (देवः) प्रभु (सविता) सब का प्रेरक और और उत्पादक होने से (विश्व-वारः[1]) समस्त पुरुषों से वरण करने योग्य है । वही (प्रैणानः) सब को प्रेरित या तृप्त करता हुआ (यज्ञं) यज्ञ रूप आत्मा को या समस्त भूतसर्ग को

२–(प्र०) 'देवो देवेभ्यो देवयानान्' इति पैप्प० सं० । 'अनक्तु' इति यजु० । 'अनक्ति' इति तै० सं० ।

३–'नक्षसे प्रीणानः' इति यजु० ।

१. 'सर्वस्य वरणीयः' इति उव्वटः ।

(मध्वा) ज्ञान और आनन्द, अमृत से (नक्षति) व्याप्त करता है । इसी अर्थवाली ऋचा देखो ऋ० ६ । १४२ । ३ ॥ 'शुचिः पावको अद्भुतो मध्वा यज्ञं मिमिक्षति । नराशंसस्त्रिदिवो देवो देवेषु यज्ञियः ॥'

अच्छायमेति शवसा घृता चिदीडानो वह्निर्नमसा ॥ ४ ॥

यजु० २७ । १४ ॥ इत्यस्य पूर्वार्धः ॥

भा०—(घृता चित्) प्रकाशमय (शवसा) ज्ञान, बल से (नमसा) और भक्ति से (ईडानः) स्तुति करता हुआ (वह्निः) यज्ञ का निर्वाहक (अयम्) यह अध्वर्यु, अथवा ज्ञान यज्ञ का सम्पादक योगी (अच्छा) भली प्रकार उस प्रकाशमय प्रभु को (एति) प्राप्त होता है । समानार्थ ऋचा देखो ऋ० १ । १४२ । ४ ॥

अग्निः स्रुचो अध्वरेषु प्रयक्षु स यक्षदस्य महिमानमग्नेः ॥ ५ ॥

यजुः २७ । १४ इत्यस्यान्तिमश्चरणोऽस्याः पूर्वार्धः, स यक्षदादि अग्नेरित्यन्ता ऋग् यजु० २७ । १५ इत्यस्याः प्रथमश्चरणः ॥

भा०—उत्तम रीति से सम्पादित होते हुए, (अध्वरेषु) हिंसा कर्म से रहित यज्ञों में (प्रयक्षु) उस (अग्निः) प्रभु परमात्मा की ही (स्रुचः) ये सब स्तुतियां हैं । (अस्य) इस (अग्नेः) प्रभु ज्ञानमय परमेश्वर की ही (महिमानं) महिमा को (सः) वह पुरुष (यक्षत्) उपासना करे ।

तरी मन्द्रासु प्रयक्षु वसवश्चातिष्ठन् वसुधातरश्च ॥ ६ ॥

४–'घृतेन' इति क्वचित् । 'घृतेन ईडे वह्निं नमसा अग्निं स्रुचो-' इति पैप्प० सं० ।

५–' अग्निम् ', ' प्रयत्सु ' इति यजु० ।

६–'सा ईम् मन्द्रा सुप्रयसाः' इति यजुः । ' मन्द्रासु प्रयसः ' इति तै० सं० । ' प्रयसास्तरीमन् । वर्हिषो मित्रमाहाः । वसुश्चेतिष्ठो वसुधातमश्च । ' इति मै० सं० ।

भा०—(नन्द्रासु) आनन्द उत्पन्न करने हारी (प्रवत्सु) उत्तम रीति से की गयी योग साधनाओं में—(तरी) वह प्रभु ही समस्त दुःखों से तराने हारा होता है । उसी भवसागर से पार होने के जहाज़ में (वसवः) समस्त लोक और (मनुष्यातरः च) ज्ञान धन को धारण करने वाले ज्ञान योगी भी (अधितष्ठन्) आश्रय लेते और उसमें विराजते हैं ।

" न इत्याधितिष्ठन्त इमे समासते " । श० ॥

द्वारो॑ दे॒वीरन्व॑स्य॒ विश्वे॑ व्र॒तं र॑क्षन्ति वि॒श्वहा॑ ॥ ७ ॥

यजु० २७ । १६ [illegible] पाठः ॥

भा०—(देवीः) दिव्यगुण सम्पन्न, ज्ञानमय (द्वारः) द्वार-रूप इन्द्रियां (अनु अस्य) इस आत्मा की शक्ति के अनुकूल व्यापार करते हैं । और (विश्वे) समस्त लोक और समस्त विद्वान् भी (अस्य) इसके ही (व्रतं) उपदिष्ट कर्तव्यों का (विश्वहा) नाना प्रकार से (रक्षन्ति) पालन करते हैं । समानार्थ मन्त्र देखो ऋ० १ । १४२ । ६ ॥

उ॒रु॒व्यच॑सा॒ग्नेर्धाम्ना॒ पत्य॑माने ।
आ सु॒ष्वय॑न्ती यज॒ते उ॒पाके॑ उ॒षासा॒नक्ते॒मं य॒ज्ञम॑वतामध्व॒रं नः॑ ॥८॥

यजु० २८ । १६ [illegible] । २७ । १७ [illegible] ॥

भा०—(अग्नेः) उस प्रकाशवान् सूर्य के समान प्रभु के (उरुव्यचसा) विशाल लोकों में व्यापक (धाम्ना) तेज से (पत्यमाने) स्वतः ऐश्वर्यवान् होती हुई (उपाके) समीप २ (यजते) परस्पर संगत होकर (आ सुसु अयन्ती) सुखपूर्वक आती हुई (उषासा-नक्ता) उषा और रात्रि-

७—'द्वारो देवीरन्वस्य विश्वे [illegible]' इति यजु०, पैप्प० सं० ।

८—(प्र०) '[illegible]' (द्वि०) '[illegible] अध्वरं नः' इति यजु० ।

दोनों देवी (नः) हमारे (अध्वरं) अविनाशी (इमं) इस प्रत्यक्ष (यज्ञं) यज्ञ-आत्मा की (अवताम्) रक्षा करें । समानार्थ ऋचा देखो ऋ० १ । १४२ । ७ ॥

दैव्या होतार ऊर्ध्वमध्वरं नोऽग्नेर्जिह्वयाभि गृणत गृणता नः स्विष्टये।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्तामिडा सरस्वती मही भारती गृणाना ॥९॥
यजु० २७ । १८ । १९ ॥

भा०—हे (दैवा) दिव्यगुणों से युक्त (होतारः) ज्ञान ग्रहण करने वाले विद्वान् पुरुषो ! (नः) हमारे (अध्वरं) अविनाशी यज्ञ-आत्मा को (ऊर्ध्वं) उन्नत करो । (अग्नेः) उस प्रकाशस्वरूप सच्चिदानन्द प्रभु को (जिह्वया) अपनी मनोहर वाणी से (अभि गृणत) सब प्रकार से स्तुति करो । और (नः) हमारे (स्विष्टये) सुखपूर्वक ईष्ट देव पूजा के लिये या ईश्वर प्राप्ति के लिये (गृणत) हमें भी उपदेश करो । इडा—अन्न, सरस्वती=वाणी और (गृणाना) सब को उपदेश करने वाली (भारती) प्रकाशस्वरूप वेद वाणी, ये (तिस्रः देवीः) तीनों दिव्य शक्तियां (इदं) इस (बर्हिः) यज्ञ को (सदन्तां) सुशोभित करें । उसमें आ विराजमान् हों । समानार्थक ऋचा ऋ० १ । ४२ । १० ॥

तन्नस्तुरीपमद्भुतं पुरुक्षु ।
देव त्वष्टा रायस्पोषं वि ष्य नाभिमस्य ॥ १० ॥
ऋ० १ । १४२ । १० ॥ यजु० २७ । २० ॥

९–‘ दैव्याहोतारा ’ ऊर्ध्वमध्वरं नोऽग्नेर्जिह्वामभिगृणीतम् । कृणुतं नः स्विष्टिम् । तिस्रोदेवीर्बर्हिरेदं सदन्त्विडासरस्वती भारती महो गृणाना । ’ इति यजुः० । (च०) ‘ महाभारती ’ इति पैप्प० सं० ।

१०–(द्वि०) ‘ त्वष्टासुवीर्यम् ’ । (तृ०) ‘विष्यतु नाभिमस्मे’ इति यजु० । ‘पुरुवारं पुरुत्मना’, ‘त्वष्टा पोषाय विष्यतु राये नाभानो अस्मयुः’ इति ऋ० ।

भा०—(नः) हमारा (तत्) वह चिर-स्मरणीय (तुरीपम्) अति शीघ्रता से प्राप्त करने योग्य अथवा शीघ्रता से सर्वत्र व्यापक (अद्भुतं) आश्चर्यजनक (पुरुक्षु) इन्द्रियों में स्वयं निवास करने वाला मन है। हे (देव) सर्व प्रकाशक (त्वष्टः) सूक्ष्म कर्तः परमात्मन् ! (अस्य) इस जीव के (रायः-पोषं) ज्ञान, प्राण एवं नाना सामर्थ्यों से पुष्टि को प्राप्त होने वाले (नाभिम्) बन्धन रूप देह या मन को (वि-स्य) खोल दे । हमें, मुक्ति प्रदान कर ।

वनस्पतेव सृजा रराणः ।
त्मना देवेभ्यो अग्निर्हव्यं शमिता स्वदयतु ॥ ११ ॥

यजु० २७ । २१ ॥ ऋ० १ । १४२ । ११ ॥

भा०—आत्मा का निरूपण करते हैं । हे वनस्पते ! इन्द्रियों के परि-पालक ! तू (रराणः) रमण करता हुआ (त्मना) स्वयं (अव सृज) ईश्वर की ओर गति कर । और (शमिता) सब का कल्याणकारी, शान्ति-दायक प्रभु (अग्निः) वह प्रकाशस्वरूप (देवेभ्यः) समस्त ज्ञानी पुरुषों या इन्द्रियों के लिये (हव्यं) उपादेय, भोग्य पदार्थ या मोक्ष सुख का (स्वदयतु) आस्वादन करावे ।

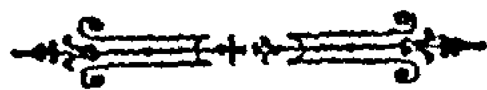
अग्ने स्वाहा कृणुहि जातवेदः ।
इन्द्राय यज्ञं विश्वे देवा हविरिदं जुषन्ताम् ॥ १२ ॥

यजु० ११ । २२ ॥ ऋ० १ । १४२ । १२ ॥

११–'हव्यं शमिता सूदयाति' इति यजु० । 'अवसृजन्नुप त्मना देवान् यक्षि वनस्पते । अग्निर्हव्या सुषूदति देवो देवेषु मेधिरः' इति ऋ० । (द्वि०) 'सुम्ना देवेभ्यः' (तृ०) 'सूदयाति' इति पैप्प० सं० ।

१२–'इन्द्राय हव्यं' इति यजु० । 'इन्द्राय भागं' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (जात-वेदाः) समस्त संसार के पदार्थों को जानने हारे ज्ञानमय ! हे (अग्ने) प्रकाशमय ! (स्वाहा) हमारी यही श्रेष्ठ प्रार्थना है कि आप (इन्द्राय) इस सामर्थ्यवान् आत्मा के लिये इस (यज्ञं) यज्ञ को (कृणुहि) सम्पादन करें उसके जीवनमय यज्ञ अथवा उसके कर्मफल भोग के लिये इस संसार को बनाओ (विश्वे-देवाः) समस्त देवगण, विद्वान्, इन्द्रियगण अथवा समस्त पञ्चभूत आदि (इदं हविः) इस कर्म-फल भोग या संसार में प्राप्त करने योग्य भोग को (जुषन्ताम्) प्राप्त करें। समानार्थक ऋचा देखो ऋ० १ । १४२ । १२ ॥



[२८] दीर्घ जीवन का उपाय और यज्ञोपवीत की व्याख्या ।

अथर्वा ऋषिः । त्रिवृत् देवता । १–५, ८, ११, त्रिष्टुभः, ६ पञ्चपदा अतिशक्वरी, ७, ९, १०, १२, ककुम्मत्यनुष्टुप्, परोष्णिक् । चतुर्दशर्चं सूक्तम् ॥

नव॑ प्रा॒णान्न॒वभि॒: सं मि॑मीते दी॒र्घायु॒त्वाय॑ श॒तशा॑रदाय ।
हरि॑ते॒ त्रीणि॑ र॒ज॒ते त्रीण्यय॑सि॒ त्रीणि॒ तप॒सा विष्ठि॑तानि ॥१॥

भा०—(शत-शारदाय) सौ वर्ष वाले (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन के लिये (नव प्राणान्) नव प्राणों को (नवभिः) नव इन्द्रियों से (सं मिमीते) अच्छी प्रकार से मिला कर रखता है । जिनमें से (त्रीणि) तीन इन्द्रियें (तपसा) अपने तपः सामर्थ्य, वीर्य से (हरिते) हरित=सात्विक भाव में (वि-स्थितानि) नाना प्रकार से स्थित हैं और (त्रीणि रजते) तीन इन्द्रियें रजत=राजस भाव में विराजती हैं और (त्रीणि अयसि) तीन अयस्=तामस भाव में रहती हैं । शरीर के तीन भाग हैं, एक ग्रीवा, मुख से ऊपर का

[२८] १–(च०) 'रजसा विष्ठितानि' इति पैप्प० सं० ।

भाग, उसमें कान, आंख, नाक ये तीन प्राण विराजमान हैं। इससे आगे नाभी तक के भाग में तीन प्राण हैं, अन्न-ग्राहक मुख, रसग्राहक जीभ और हाथ। नाभि से चरणों तक या गुदा तक तीन प्राण हैं, लिंग, गुदा, चरण इस प्रकार नव प्राण शरीर के नव भागों में बंटे हुए हैं। इन तीन भागों का नाम हरित=सुवर्ण, रजत=चान्दी और अयस्=लोह हैं येही सात्विक, राजस और तामस तीन विभाग हैं।

अग्निः सूर्यश्चन्द्रमा भूमिरापो द्यौरन्तरिक्षं प्रदिशो दिशश्च।
आर्तवा ऋतुभिः संविदाना अनेन मा त्रिवृतां पारयन्तु ॥ २ ॥

भा०—विराड् देह के विराड् प्राणों का वर्णन करते हैं। (अग्निः) अग्नि, (सूर्यः) सूर्य, (चन्द्रमाः) चन्द्र, (भूमिः) भूमि, (आपः) आप जल, (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, (प्र-दिशः) दिशाएं और (दिशः) उप-दिशाएं और (आर्तवाः) ऋतुओं के विभाग, ये सब (ऋतुभिः) ऋतुओं के साथ (सं-विदानाः) सम्मेल खाते हुए (अनेन) इस (त्रिवृता) तीन तरह से बंटे हुए, तेहरे प्राण से (मा) मुझे (पारयन्तु) पार करें।

त्रयः पोषास्त्रिवृति श्रयन्तामनक्तु पूषा पयसा घृतेन।
अन्नस्य भूमा पुरुषस्य भूमा भूमा पशूनां त इह श्रयन्ताम् ॥ ३ ॥

भा०—तीन पुष्टियों का वर्णन करते हैं। (त्रि-वृति) त्रिविध प्राण में (त्रयः पोषाः) तीन प्रकार की पुष्टियां (श्रयन्तां) बनी रहें। और (पूषा) सब का पोषक परमात्मा (पयसा) वृद्धि करने वाले (घृतेन) घृत से, तेज से (अनक्तु) हमें चमकाए, पुष्ट करके प्रदीप्त करे, वे पुष्टियां तीन प्रकार की हैं एक तो (अन्नस्य भूमा) अन्न की अधिकता, (पुरुषस्य भूमा)

३–(प्र०) 'त्रिवृतः' (तृ०) 'अन्यस्य' (च०) 'भौमा', 'भौमा' इति पैप्प० सं०।

पुरुषों की अधिकता, और (पशूनां भूमा) पशुओं की अधिकता, ये तीनों ही पदार्थ अधिक मात्रा में (ते) हे पुरुष ! तुझे (इह) इस लोक में (श्रयन्ताम्) प्राप्त हों । तुझ में बने रहें ।

इ॒मम॑दि॒त्या वसु॑ना॒ समु॑क्षते॒मम॑ग्ने वर्धय वावृधा॒नः ।
इ॒ममि॑न्द्र॒ सं सृ॑ज वी॒र्ये॑णा॒स्मिन् त्रि॒वृच्छ्र॑यतां पोषयि॒ष्णुः ॥ ४ ॥

भा०—हे (आदित्याः) आदित्यो ! वर्ष के १२ मासो ! तुम लोग (इयम्) इस पुरुष को (वसुना) वास के हेतु, जीवनीय पदार्थों से (सम् उक्षतम्) सींचो ! हे (अग्ने) अग्ने ! (ववृधानः) तू स्वयं बढ़ता हुआ (इमम्) इस पुरुष को (वर्धय) बढ़ा । हे (इन्द्र) परमात्मन् ! (इमं) इस पुरुष को (वीर्येण) वीर्य द्वारा (सं सृज) पुष्ट कर । और (अस्मिन्) इस पुरुष में (त्रि-वृत्) तीनों प्रकार का (पोषयिष्णुः) पुष्टिकारक अन्न (श्रयतां) निवास करे ।

भूमि॑ष्ट्वा पातु॒ हरि॑तेन वि॒श्वभृ॑द॒ग्निः पि॑प॒र्त्वय॑सा स॒जोषाः॑ ।
वी॒रुद्भि॑ष्टे॒ अर्जु॑नं संविदा॒नं दक्षं॑ दधातु सुमन॒स्यमा॑नम् ॥ ५ ॥

भा०—(भूमिः) भूमि (त्वा) तुझ पुरुष को (हरितेन) सुवर्ण से (पातु) रक्षा करे । और (विश्व-भृत्) सबका पालक पोषक (अग्निः) अग्नि (स-जोषाः) प्रेमपूर्वक (अयसा) अपने अयस्—लोह या तेजोमय सामर्थ्य से (पिपर्तु) पालन करे । और (ते) तेरा (अर्जुनम्) समस्त धन (वीरुद्भिः) लताओं से (सं-विदानं) सम्मिलित होकर (सु-मनस्यमानं) शुभ संकल्प उत्पन्न करता हुआ (दक्षं) बल को (दधातु) प्रदान करे ।

४–(तृ० च०) 'यस्मिन् त्रिवृच्छ्रेतां पूपयिष्णुरिमं' इति पैप्प० सं० । 'पोषयिष्णु' इति क्वचित् ।

५–(तृ०) 'वीरुद्भिस्ते अर्जुनो सं' इति पैप्प० सं० ।

संक्षेप में--भूमि से सुवर्ण प्राप्त करे अग्नि द्वारा लोह को प्राप्त करे और लताओं के रसों से चान्दी आदि धातु को भस्म करके उत्तम बल प्राप्त करे।

त्रेधा जातं जन्मनेदं हिरण्यमग्नेरेकं प्रियतमं बभूव
सोमस्यैकं हिंसितस्य परापतत्।
अपामेकं वेधसां रेत आहुस्तत् ते हिरण्यं त्रिवृदस्त्वायुषे ॥६॥

भा०—(इदं) यह (हिरण्यं) सुवर्ण (जन्मना) अपने जन्म से स्वरूप से ही (त्रेधा जातम्) तीन प्रकार से उत्पन्न हुआ। (एकं) एक तो (अग्नेः) अग्नि का (प्रिय-तमम्) अति अधिक प्रिय पदार्थ (बभूव) है। और (एकं) दूसरा एक (हिंसितस्य सोमस्य) पीड़ित सोम के भीतर से (परा पतत्) बाहर निकलता है। और (एकम्) तीसरा एक (वेधसाम्) सृष्टि उत्पन्न करने हारे (अपाम्) जलों का या जीवों का (रेतः) सर्व जीवों के उत्पादक वीर्य रूप (आहुः) कहते हैं। (तत्) वह (हिरण्यम्) सुवर्ण (त्रि-वृत्) तीन प्रकार का है। वह (ते) तुझ पुरुष के (आयुषे) दीर्घ जीवन के लिये (अस्तु) हो। १-अग्नि से तप्तसुवर्ण, २-ओषधियों का रस, ३ शरीर का वीर्य ये तीनों हिरण्य कहाते हैं। तीनों ही आयु को बढ़ावें।

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
त्रेधामृतस्य चक्षणं त्रीण्यायूंषि तेऽकरम् ॥ ७ ॥
यजु० ३। ६२॥

६—(तृ०) 'वेधसः' इति ह्विटनि-कामितः पाठः। 'वेधसो रेत आहुः' इति पैप्प० सं०।

७—'त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्। यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्॥' इति यजुर्वेदः यजु०। 'त्रिधायुषम्' (च०) 'नः कृधि' इति पैप्प० सं०। त्रिधायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्रिधायुषम्। त्रीण्यमृतस्य पुष्पाणि त्रीण्यायूंषि मे कृधि। इति पैं० उ० सं०।

भा०—(जमदग्नेः) प्रज्वलित है जाठर अग्नि जिसकी ऐसे निरोग पुरुष की (त्रि-आयुषम्) त्रिगुण आयु होती है। और (कश्यपस्य) कश्य= अमृत बिन्दु या ज्ञान या वीर्य का पान या पालन करने वाले परमनिष्ठ ब्रह्मचारी की भी (त्रि-आयुषम्) त्रिगुण आयु होती है। (अमृतस्य) अमृत स्वरूप वीर्य का (त्रेधा) तीन प्रकार का (चक्षणं) साक्षात्कार होता है उनके बल पर मैं (ते) तुझ साधक के भी (त्रीणि) तीन (आयूंषि) आयुओं को (अकरम्) उत्पन्न करता हूं।

त्रयः सुपर्णास्त्रिवृता यदायन्नेकाक्षरमभिसंभूय शक्राः।
प्रत्यौहन्मृत्युममृतेन साकमन्तर्दधाना दुरितानि विश्वा॥ ८॥

भा०—(यद्) जब (शक्राः) शक्तिमान्, (त्रयः) तीन (सुपर्णाः) शुभ ज्ञानवान् आत्मा (त्रिवृता) त्रिगुण प्राण के बल से (एकाक्षरम्) एक मात्र अक्षर 'ओ३म्' पद वाच्या अविनाशी परमब्रह्म को (अभिसं-भूय) प्राप्त करके (आयन्) मोक्ष को प्राप्त होते हैं तब वे (अमृतेन) अमृतमय आत्मा के स्वरूप से (विश्वा दुरितानि) समस्त दुष्ट आचरणों को, पापों को (साकं) एक साथ ही (अन्तः दधानाः) भीतर ही रोक कर, नियमित करके (मृत्युम्) मौत को (प्रति-औहन्) वश कर लेते हैं।

तीन सुपर्ण तीन प्रकार के योगी। ध्यान योगी, कर्म योगी या वसु, रुद्र और आदित्य। अथवा इन्द्रिय मन और आत्मा।

दिवस्त्वा पातु हरितं मध्यात् त्वा पात्वर्जुनम्।
भूम्या अयस्मयं पातु प्रागाद् देवपुरा अयम्॥ ९॥

भा०—वैदिक परिभाषा में शरीर के तीन भागों का वर्णन करते हैं। (अयम्) यह पुरुष, आत्मा (देव-पुराः) नाना देवों की बसी इन भोग

९-(च०) 'पुरायम्' इति पैप्प० सं०।

भूमियों में (प्र अगात्) उत्तम रीति से आता है । (हरितं) सुवर्ण=सात्विक भाव (त्वा) तुझ पुरुष को (दिवः पातु) द्यौः, मूर्धा-भाग या ऊपर के लोकों से रक्षा करें, (अर्जुनम्) अर्जुन, रजत=राजस अंश (त्वा) तुझ को (मध्यात्) बीच के भाग से अन्तरिक्ष-से (पातु) रक्षा करे । (अयस्मयं) लोहमय=तामस अंश तुझ को (भूम्याः पातु) भूमि से रक्षित करे ।

इमास्तिस्रो देवपुरास्तास्त्वां रक्षन्तु सर्वतः ।
तास्त्वं बिभ्रद् वर्चस्व्युत्तरो द्विषतां भव ॥ १० ॥

भा०—हे आत्मन् ! पुरुष ! (इमाः) ये (तिस्रः) तीन. (देव-पुराः) देव—ज्ञानप्रकाशक इन्द्रियों की नगरियां हैं। (ताः) वे ये देहरूप पुरियां (त्वा) तुझको (सर्वतः) सब प्रकार से (रक्षन्तु) रक्षा करें । हे पुरुष ! (त्वं) तू (ताः बिभ्रद्) उनको पालन पोषण और धारण करता हुआ (वर्चस्वी) वर्चस्वी, तेजस्वी होकर (द्विषतां उत्तरः) अपने शत्रु, काम क्रोध आदि भीतरी शत्रुओं पर विजयशील (भव) हो ।

पुरं देवानाममृतं हिरण्यं य आबेधे प्रथमो देवो अग्रे ।
तस्मै नमो दश प्राचीः कृणोम्यनु मन्यतां त्रिवृदावधे मे ॥ ११ ॥

भा०—(देवानां) देवगण, इन्द्रियों महद् आदि २१ विकारों का (पुरं) पालन पोषण एवं निवास का स्थान (अमृतम्) अमृत—शुक्र है । अथवा वह अमर परम पद है इसका दूसरा नाम (हिरण्यम्) 'हिरण्य' या परम ज्योति या आत्मा (यः) जो (प्रथमः) सब से प्रथम, सब से श्रेष्ठ (देवः) जिसने परमप्रकाश स्वरूप, सर्व विजयी (अग्रे) सब से पूर्व (आ-बेधे) सबको नियमों में बांधता है । (तस्मै) उसी परम प्रभु को मैं (दश प्राचीः) दशों दिशाओं में उत्कृष्ट रूप में व्यापक जान कर (नमः कृणोमि)

११–(च०) 'त्रिवृता वधेन' इति पैप्प०सं० ।

नमस्कार करता हूं। वह (त्रिवृत्) त्रि-मात्र ओंकार, त्रिगुण शक्तिमय, प्रभु (अनु मन्यताम्) मेरे विनय को स्वीकार करे, उसी को (मे) मैं अपने लिये (आबधे) यज्ञोपवीत रूप में त्रिसूत्र करके बांधता हूं।

आ त्वा चृतत्वर्यमा पूषा बृहस्पतिः।
अहर्जातस्य यन्नाम तेन त्वाति चृतामसि ॥ १२ ॥

भा०—(अर्यमा) समस्त अरि=विघ्नकारियों, काम क्रोध आदि भीतरी दुष्ट भावों को यमन करने वाला, (पूषा) सबका पोषक (बृहस्पतिः) बृहत्-महान् लोकों का या बृहती=वेदवाणी का जो स्वामी है वह (त्वा) तुझ आत्मा को (चृतम्) बांध ले। (अहर्जातस्य) दिन में उत्पन्न होने वाले शुभ पदार्थ सूर्य का (यत् नाम) जो स्वरूप है (तेन) उससे (त्वा) तुझ पुरुष, उपनीत बालक को हम आचार्य गण भी (अति चृतामसि) सब दुष्ट भावों का अतिक्रमण करके इस भगवान् के पापनाशक, शरीरपोषक और ज्ञानवर्धक तीन गुणों से बने त्रिसूत्र से बांधते हैं।

ऋतुभिष्ट्वार्तवैरायुषे वर्चसे त्वा।
संवत्सरस्य तेजसा तेन संहनु कृण्मसि ॥ १३ ॥

अथर्व० १९ । ३७ । ४ ॥

भा०—हे पुरुष! (ऋतुभिः) ऋतुओं से और (आर्त्तवैः) ऋतु के मास रूप भागों से जिस प्रकार यह प्रजापति का विशाल रूप बद्ध है उसी प्रकार इन ऋतुओं और ऋतु भागों से (त्वा) तुझको (आयुषे) दीर्घ जीवन, और (वर्चसे) ब्रह्मवर्चस की प्राप्ति के लिये (संवत्सरस्य तेजसे) संवत्सर=वर्ष के प्रकाश के सूर्य के समान सुवर्ण रूप तेज से (संहनु) खूब मज़बूत दृढ़ (कृण्मसि) करते हैं।

१२–' आपूषा आवृह ' इति ह्विटनिकामितः।

१३–' वर्चसे। संवत्सरस्य धायसा तेमसन्नु गृह्णासि ' इति ह्वि० गृ० सू०।

घृतादुल्लुप्तं मधुना समक्तं भूमिदृंहमच्युतं पारयिष्णु ।
भिन्दत् सपत्नानधरांश्च कृण्वदा मा रोह महते सौभगाय ॥१४॥
ऋ० १० । १२८ । १० । अथर्व० १९ । ३३ । २ ॥

भा०—हे पुरुष जीव ! तू (घृताद् उत्-लुप्तं) घृत=प्रकाशमय ज्ञान से आवृत और (मधुना सम्-अक्तम्) मधु, सोममय तप या आत्मानन्द से व्याप्त (भूमि-दृंहम्) भूमि के समान दृढ़ (पारयिष्णु) समस्त विघ्नों को पार करने में समर्थ हो । और (स-पत्नान्) अपने शत्रुओं को (भिन्दत्) छिन्न भिन्न करता और (अधरान् च) उनको नीचे (कृण्वत्) करता हुआ (महते) बड़े भारी (सौभगाय) श्रेष्ठ ऐश्वर्य के प्राप्त करने के लिये (मा) मुझ आचार्य या ब्रह्म का (आ रोह) आश्रय ले ।

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः । मनुः ।

[२९] रोगों का नाश करके आरोग्य होने का उपाय ।

चातन ऋषिः । जातवेदा मन्त्रोक्ताश्च देवताः । १-२, ४, ६-११, त्रिष्टुभः, ३ त्रिपदाविराड् नाम गायत्री, ५ पुरोतिजगती विराड्जगती १२-१५ अनुष्टुभः (१२ भुरिक्, १४, चतुष्पदा पराबृहती ककुम्मती) । पञ्चदशर्चं सूक्तम् ॥

पुरस्ताद् युक्तो वह जातवेदोऽग्ने विद्धि क्रियमाणं यथेदम् ।
त्वं भिषग् भेषजस्यासि कर्ता त्वया गामश्वं पुरुषं सनेम ॥ १ ॥

१४–(तृ०) 'भिन्दत्सपत्नान्' इति ऋग्० । 'घृतादुल्लुप्तं मधुमत्सुवर्णं धनंजयं धरुणं धारयिष्णु । ऋणक् सपत्नानधरांश्च कृण्वदारोह मां महते सौभगाय' इति अथ० १९ ।

[२९] १–'युक्तो वह जातवेदः पुरस्तात्' अग्ने विद्धि कर्म क्रियमाणं यथेदम् (च०) 'गाः अश्वान् पुरुषान्' इति हि० गृ० सू० ।

भा०—रोगनाशक अग्नि का उपदेश करते हैं। हे (जात-वेदः) समस्त पदार्थों को जानने वाले विद्वन् ! अग्ने ! तू (पुरस्तात्) सब कार्य के पूर्व ही कार्य में संचालकरूप से (नियुक्तः) नियुक्त होकर (वह) कार्य भार को अपने ऊपर ले। और (यथा) जिस प्रकार से भी (इदं) यह कार्य (क्रियमाणं) किया जाने योग्य है उसकी सब इतिकर्तव्यता को तू स्वयं (विद्धि) जान। तू ही स्वयं (भिषक्) सब रोगों, विघ्नों को दूर करने वाला है क्योंकि तू ही (भेषजस्य) रोग विनाशक औषधों का (कर्ता असि) बनाने वाला है। (त्वया) तुझ से, तेरी सहायता से (गाम्, अश्वम्, पुरुषम्) गौओं, अश्वों और पुरुषों को स्वस्थरूप में, (सनेम) प्राप्त करें।

तथा तद॑ग्ने कृणु जातवेदो विश्वे॑भिर्दे॒वैः सह संविदा॒नः ।
यो नो॑ दि॒देव॑ यत॒मो ज॒घास॒ यथा॒ सो अ॒स्य प॑रि॒धिष्पता॑ति ॥२॥

भा०—अग्नि का दूसरा कार्य बतलाते हैं। हे (जात-वेदः) सर्व पदार्थों के ज्ञाता (अग्ने) प्रकाशक अग्ने ! विद्वन् ! (विश्वेभिः देवैः सह) समस्त प्रकाशक विद्वानों या विजेता, वीर, साहसी पुरुषों के साथ (सं-विदानः) सम्मति करके (तत्) उस २ विजय कार्य को (तथा) उस २ सुचार... से कर (यथा) जिस प्रकार से (नः यः दिदेव) जो हमें पीड़ा देता ... । (यतमः) जो कोई भी (जघास) हमें खा जाता है, हमारा माल मत्ता, बल वीर्य हर लेता है (सः अस्य) उसका वह (परिधिः) अहाता, मोर्चाबन्दी, सीमा (पताति) टूट कर गिर पड़े। डाक्टर और डाक्टर... साथ सहमति करके रोगों को दूर करे और वीर पुरुष वीरों के साथ सम्मति करके, वे शत्रु का दुर्ग तोड़ें।

२–'त्वमग्ने' (द्वि० तृ०) 'तेना विदन् हविषा यविष्ठः' पिशाचोस्यतमो... दिदेव यतमो ' इति पैप्प० सं०।

यथा सो अस्य परिधिष्पताति तथा तदग्ने कृणु जातवेदः ।
विश्वेभिर्देवैः सह संविदानः ॥ ३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार भी हो (अस्य) इस शत्रु की भी (परिधिः) हदबन्दी (पताति) टूट कर गिर पड़े । हे (जातवेदः अग्ने) हे विद्वन् सेनापते ! (विश्वेभिः देवैः) समस्त विजयशील पुरुषों से (सं-विदानः) सहमति करके (तत्) वह कार्य (तथा कृणु) उसी प्रकार ही कर ।

अक्ष्यौ३नि विध्य हृदयं नि विध्य जिह्वां नि तृन्द्धि प्र दतो मृणीहि ।
पिशाचो अस्य यतमो जघासाग्ने यविष्ठ प्रति तं शृणीहि ॥ ४ ॥

भा०—शत्रु का नाश किस प्रकार करे । हे (अग्ने) अग्ने ! सेनापते ! तू शत्रु के (अक्ष्यौ) आंखों को (नि विध्य) वेध डाल, (हृदयं निविध्य) हृदय पर भी प्रहार कर । (जिह्वां नि तृन्धि) उसकी जिह्वा को भी काट डाल, (दतः प्र मृणीहि) दांतों को भी तोड़ डाल । (अस्य) इस शत्रु का (यतमः पिशाचः) जो भी क्रूर मांसभक्षी जन्तु उसके मांस, या शरीरसम्पत्ति को (जघास) खा जाता हो (अग्ने) हे अग्ने (यविष्ठ) उसका नाश कर और (तं) उसको (प्रति शृणीहि) भून डाल ।

यदस्य हृतं विहृतं यत् पराभृतमात्मनो जग्धं यतमत् पिशाचैः ।
तदग्ने विद्वान् पुनरा भर त्वं शरीरे मांसमसुमेरयामः ॥ ५ ॥

भा०—हे अग्ने ! विद्वन् ! (अस्य आत्मनः) इस देह का (पिशाचैः) मांसभक्षी, रोग जन्तु (यद् हृतं) जो मांस, बल आदि चुरा ले गये हैं ।

३–(प्र०) 'यथासोमस्य परिधिष्पतातिस्तथात्वमग्ने' इति पैप्प० सं० ।
४–(प्र) ' मोक्षो नविद्धि हृदयं नविद्धि ' (तृ०) ' पिशाचो अस्यायो ' इति पैप्प० सं० ।
५–' शरीरे प्राणमसुमेरया सं सृजेम ' इति पैप्प० सं० ।

(यत् वि-हृतं) जो छीन ले गये हैं, (यत् परा-भृतम्) जो लूट ले गये हैं और (यतमत्) जो कुछ भी खा गये हैं। (तत् विद्वान्) उस सबको भली प्रकार जानता हुआ (त्वं) तू (पुनः आ भर) पुनः औषध प्रयोग से प्राप्त करा और इस प्रकार हम (शरीरे मांसम् असुम् आई रयामः) शरीर में मांस को और प्राण को पुनः स्थापित करें।

आमे सुपक्वे शबले विपक्वे यो मा पिशाचो अशने ददम्भ ।
तद्वात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदोऽयमस्तु ॥ ६ ॥

भा०—(यः पिशाचः) जो पिशाच, मांसभोजी, रोग जन्तु (आमे) कच्चे, (सुपक्के) पक्के, (शबले) कच्चे पक्के, (विपक्के) खूब पके (अशने) भोजन में (मा ददम्भ) मुझे हानि पहुंचाता है। (तद्) वह (आत्मना) स्वयं, (प्र-जया) और अपनी सन्तान सहित विनष्ट हो, और उसी जाति के (पिशाचाः) समस्त पिशाच (वि यातयन्ताम्) नाना प्रकार से पीड़ा को प्राप्त हों और शरीर को त्याग कर चले जांय जिससे (अयम्) यह पुरुष (अगदः अस्तु) रोग रहित हो जावे।

क्षीरे मा मन्थे यतमो ददम्भाकृष्टपच्ये अशने धान्ये३यः ।
तद्वा० ॥ ७ ॥

भा०—(यतमः) जो कोई भी रोगकारी पिशाच रूप जन्तु (क्षीरे) दूध में, (मन्थे) मठा में, (अकृष्ट-पच्ये धान्ये) और खेती के विना ही स्वयं पकने वाले धान्य में और (अशने) भोजन में घुस कर (मा ददम्भ) मुझे हानि पहुंचाता है। (तद् आत्मना०) वह स्वयं नष्ट हो जाय और अन्य जन्तु भी नष्ट हो जांय और यह पुरुष नीरोग हो।

६–(प्र० द्वि०) 'आमे सपक्के शबले विपक्के ओदने मन्थे दिव आल्हे' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'दिदम्भ' इति क्वचित् ।

७–(प्र०) 'क्षीरे त्वा मांसे' (द्वि०) 'कृष्टपश्ये' इति पैप्प० सं० ।

अपां मा पाने यतमो दुदम्भ क्रव्याद् यातूनां शयने शयानम् ।
तदा० ॥ ८ ॥

भा०—(यतमः) जो कोई (क्रव्यात्) कच्चा मांस खाने वाले रोग जन्तु (अपां पाने) जलों के पान करने के स्थान, घाट, बावड़ी, प्याऊ आदि में और (यातूनां शयने) पीड़ाओं के बिस्तर में (मां शयानं) पड़े, मुझको असावधान अवस्था में (ददम्भ) विनाश करने का यत्न करता है (तत् आत्मना०) वह स्वयं अपनी सन्तानों सहित नष्ट हो और यह रोगी नीरोग हो ।

दिवा मा नक्तं यतमो दुदम्भ क्रव्याद् यातूनां शयने शयानम् ।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदो३ऽयमस्तु ॥ ९ ॥

भा०—(यतमः) जो भी (क्रव्याद्) कच्चे मांस का आहारी मच्छर, मत्कुण आदि रोगकारी जन्तु (दिवा नक्तं) दिन और रात के समय में और (यातूनां शयने) पीड़ा या रोगों के सेज पर (शयानम्) असावधान रूप में पड़े (मा) मुझ को (ददम्भ) पीड़ा देना चाहता है (तद्) वह (आत्मना) स्वयं और उसके सहचारी (पिशाचाः) मांसभोजी रोग कीट भी (वि यातयन्ताम्) नाना प्रकार से नष्ट किये जांय और (अयम् अगदः अस्तु) यह रोगी पुरुष नीरोग हो ।

अथवा—सोमचिकित्सा (होमियोपैथी) का उपदेश करते हैं कि (यतमः क्रव्याद् ददम्भ) जो भी रोग कीट या विषाणु रोगी को सताता है (तदात्मना) उसी के सम जाति के (प्रजया) प्रजा, अंश से वे (पिशाचाः) रोगकारी कीटाणु (वि यातयन्तां) विनाश को प्राप्त हों । और

८–' शयने शयानः ' इति लडविग्कामितः ।

९–(प्र०) 'दिवा त्वा' (द्वि०) 'क्रव्याद् यातुः शयते पिशाचः । उदग्ने-द्वानृथक् । शृणीह्यस्यैनं देहि निर्ऋतेरुपस्थे ' इति पैप्प० सं० ।

इस प्रकार (अयम् अगदः अस्तु) वह रोगी नीरोग हो जाय । इस पक्ष में अग्नि जातवेदाः=प्रबल टिंक्चर है जो विशेष शक्ति से युक्त है ।

क्रव्यादमग्ने रुधिरं पिशाचं मनोहनं जहि जातवेदः ।
तमिन्द्रो वाजी वज्रेण हन्तु छिनत्तु सोमः शिरो अस्य धृष्णुः ॥१०॥

भा०—हे (जातवेदः) सर्वज्ञ अग्ने ! हे जात-वीर्य ! जात-बल (अग्ने) तेजःस्वरूप (क्रव्यादम्) कच्चे मांस के आहारी, (रुधिरम्) रक्त में फैलने वाले, (पिशाचं) मांस में जमे हुए और (मनः-हनं) रोगी के चित्त को या मननशक्ति पर आघात पहुंचाने वाले अपस्मार, उन्माद और मदकारी रोग को (जहि) तू विनाश कर । उस रोग को (इन्द्रः) इन्द्र रोग का विनाशक, (वाजी) बलवान्, शक्तिमान् होकर (वज्रेण) अपने रोग विनाशक बल से (हन्तु) मार दे और (सोमः) सोम या ओषधि का सूक्ष्म अंश (धृष्णुः) व्यस्थित होकर, शरीर में चिरकालिक प्रभाव करके (अस्य) इन रोगकारी मूल कीटों के (शिरः) शिर=हिंसाकारी प्रभाव को (छिनत्तु) काट दे ।

सनादग्ने मृणसि यातुधानान् न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः ।
सहमूरानतु दह क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥ ११ ॥

अथर्व० ८ । ३ । १८ ।

भा०—हे (अग्ने) विद्वन् ! या तेजोरूप ! (सनात्) चिरकाल सदा से तू (यातु-धानान्) पीड़ाजनक रोगों को (मृणसि) विनाश है । (रक्षांसि) बाधा, विघ्नकारी जन्तु (त्वा) तुझको (पृतनासु) ओं में या संग्रामों में (न जिग्युः) न जीत पावें ! इसलिये (क्रव्या रोगी का कच्चा मांस खा डालने वाले रोगांशों को (सह-मूरान्) स (अनु-दह) जलादे । और (दैव्यायाः) दिव्य गुण युक्त (ते हेत्याः) आघातकारी शक्तिरूप वज्र से (मा मुक्षत) वे छूट न जांय ।

समाहर जातवेदो यद्धृतं यत् पराभृतम् ।
गात्राण्यस्य वर्धन्तामंशुरिवाप्यायतामयम् ॥ १२ ॥

भा०—हे (जात-वेदः) अग्ने ! (अस्य) इस रोगी पुरुष के शरीर से (यत्) जो धातु और बल (हृतम्) रोगों ने हर लिया है, और (यत्) जो (परा-भृतम्) विनष्ट कर दिया है उसे (सम्-आ हर) पुनः भली प्रकार प्राप्त करा । (अस्य) इसके (गात्राणि) शरीर के अंग (वर्धन्ताम्) बढ़ें और (अयम्) यह (अंशुः-इव) चन्द्र के समान (आ प्यायताम्) दिनों दिन बढ़े, मोटा ताज़ा हो ।

सोमस्येव जातवेदो अंशुरा प्यायतामयम् ।
अग्ने विरप्शिनं मेध्यमयक्ष्मं कृणु जीवतु ॥ १३ ॥

भा०—हे (जात-वेदः) अग्ने ! (सोमस्य अंशुः इव) चन्द्र के एक भाग, कला के समान (अयम्) यह कृश पुरुष भी (आ प्यायताम्) पुष्टि को प्राप्त हो । हे (अग्ने) अग्ने ! (विरप्शिनम्) नाना प्रकार की विद्याओं का उपदेश करने वाले महान् विद्वान् (मेध्यं) मेधावी, पवित्राचारी पुरुष को (अयक्ष्मं) रोग, यक्ष्मादि कष्ट से रहित (कृणु) कर जिससे वह (जीवतु) चिरकाल तक जीवित रहे ।

एतास्ते अग्ने समिधः पिशाचजम्भनीः ।
तास्त्वं जुषस्व प्रति चैना गृहाण जातवेदः ॥ १४ ॥

(भा०)—हे (जातवेदः) हे अग्ने ! (एनाः ते सम्-इधः) ये तेरी उत्तम (प्रकाश करने या चमकने वाली शक्तियां, ज्वालाएं ही (पिशाच-(जम्भनीः) मांसशोषक या मांस में फैलने वाले रोगाणुओं की नाशक हैं ।

१२–(प्र०) 'समाभर' (द्वि०) 'यज्जरथं यत्' इति पैप्प० सं० ।
१३–(च०) 'जीवसे' इति पैप्प० सं० ।

(ताः) उनको (त्वं) तू (जुषस्व) अपने में धारण कर और (एनाः) इन को (प्रति गृहाण) अपने भीतर रख ।

तार्ष्टाघीरग्ने समिधः प्रति गृह्णाह्यर्चिषा ।
जहातु क्रव्याद्रूपं यो अस्य मांसं जिहीर्षति ॥ १५ ॥

भा०—हे अग्ने ! आप (तार्ष्ट-अघीः) तृपा रोग को दूर करने वा[ली] इन (सम्-इधः) दीप्तिमय शक्तियों को अपने (आर्चिषा) तेज से (प्र[ति] गृह्णाहि) अपने में धारण कर । जिससे वह (क्रव्याद्) मांसशोषक रोग अपने (रूपं जहातु) स्वरूप को त्याग दे (यः) जो (अस्य) इस के (मांसं) मांस को (जिहीर्षति) सुखा डालना चाहता है ।

---

[३०] आरोग्य और सुख की प्राप्ति का उपदेश ।

आयुष्काम उन्मोचन ऋषिः । आयुर्देवता । १ पथ्यापंक्तिः, २—८, १०, ११, १३, १५, १६ अनुष्टुभः, ९ भुरिक्, १२ चतुष्पदा विराड् जगती, १४ विराट् प्रस्तार-पंक्तिः, १७ त्र्यवसाना षट्पदा जगती । सप्तदशर्चं सूक्तम् ॥

आवतस्त आवतः परावतस्त आवतः ।
इहैव भव मा नु गा मा पूर्वाननु गाः । पितॄन्
असुं बध्नामि ते दृढम् ॥ १ ॥

भा०—हे पुरुष ! (ते आवतः आवतः) तेरे समीप से समीप और (ते परावतः) तेरे दूर से भी (आवतः) दूर देश से (ते असुं) तेरे प्राण को और आत्मा को (दृढं) खूब बलपूर्वक (बध्नामि) बांधता हूं । तू (इह एव) यहां ही (भव) रह । (मा पूर्वान् अनु-गाः) अपने पूर्व के विनष्ट हु

---

[३०] १-(द्वि०) ‘ परावतस्ते परावतः ’ इति पैप्प० सं० ।

पुरुषों के पीछे मत जा। (मा अनु गाः पितॄन्) अपने बूढ़े मां बाप के पीछे भी मत जा, प्रत्युत गुरु आचार्य के पास ब्रह्मचर्य और विद्या का लाभ कर।

यत् त्वाभिचेरुः पुरुषः स्वो यदरणो जनः।
उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते ॥ २ ॥

भा०—(यत्) यदि तेरा (स्वः पुरुषः) अपना कोई सम्बन्धी पुरुष (यद्) यदि कोई (अरणः) बुरा (जनः) आदमी (अभि-चेरुः) पर अपना अभिचार या बुरा आक्रमण, हानिकारक पापकार्य करना चाहता है तो मैं आचार्य हे शिष्य ! तुझ को (वाचा) अपनी वाणी से उस जाल से छूटने के लिये (उन्मोचन-प्रमोचने) उन्मोचन और प्रमोचन (उभे) दोनों का अधिकार और शक्ति का (ते) तुझे, (वदामि) उपदेश करता हूं।

उन्मोचन=जाल से ऊपर निकल आना और प्रमोचन=जाल से दूर ही रहना। अर्थात्, फंस जाने पर छूटना और पहले ही न फंसना।

यद् दुद्रोहिथ शेपिषे स्त्रियै पुंसे अचित्त्या।
उन्मो० ॥ ३ ॥

भा०—हे शिष्य ! (यद्) यदि (अचित्या) बिना जाने तैने (स्त्रियै) किसी स्त्री से या (पुंसे) पुरुष से (दुद्रोहिथ) द्रोह किया और उस को (शेपिषे) बुरा वचन कहा तो भी (ते उन्मोचन-प्रमोचने वाचा वदामि) मैं उस पाप से परे रहने और छूटने का उपदेश करता हूं।

यदेनसो मातृकृताच्छेषे पितृकृताच्च यत्।
उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते ॥ ४ ॥

२—(प्र०) 'पुरुषाः' इति ह्विटनिकामितः।

भा०—(यद्) यदि (मातृ-कृतात् एनसः) माता के किये दोष से (यत् च) और यदि (पितृ-कृतात् एनसः) पिता के किये दोष से (शेपे) तू आवृत रह कर अज्ञान में सो रहा है तो भी (वाचा) वेद वाणी से उन दोषों और व्यसनों से (उन्मोचन-प्रमोचने) छूटने और रहने दोनों का (वदामि) तुझे उपदेश करता हूं।

यत् ते माता यत् ते पिता जामिर्भ्राता च सर्जतः।
प्रत्यक् सेवस्व भेषजं जरदष्टिं कृणोमि त्वा ॥ ५ ॥

भा०—(यत) जिस (भेषजम्) रोग निवारक उपाय या औषध को (ते माता) तेरी माता और (यत् ते पिता) जिस औषध को तेरा पिता और (जामिः भ्राता च) तेरी भगिनी और भाई भी (सर्जतः) तैयार करते हैं उसको (प्रत्यक् भेषजं) साक्षात् दुःखहारी औषध को (सेवस्व) तू सेवन कर। (त्वा) तुझ को मैं (जरदष्टिं कृणोमि) बुढ़ापे तक जीवन बिताने योग्य चिरजीवी रहने का उपदेश करता हूं। अर्थात् ऊटपटांग पदार्थ मत खा। हितकारी पुरुषों के बतलाये ज्ञान और पथ्यों का सेवन कर।

इहैधि पुरुष सर्वेण मनसा सह।
दूतौ यमस्य मानु गा अधि जीवपुरा इहि ॥ ६ ॥

भा०—हे पुरुष ! (सर्वेण मनसा सह) अपने समस्त मनन शक्ति, चित्त और ज्ञान के साथ (इह) इस गुरु-गृह में (एधि) रह, निवास कर। (यमस्य दूतौ) यम के दूत, दुख, उपताप के लाने वाले अशना और पिपासा, भूख और प्यास दोनों के पीछे (मा अनु गा) मत जाओ। (जीव पुराः) जीव के निवास भूत पुर अर्थात् देह के अंगों पर (अधि इहि) वश करो।

५–(तृ०) 'प्रत्यक् चेवस्य' इति पैप्प० सं०।

अनुहूतः पुनरेहि विद्वानुदयनं पथः ।
आरोहणमाक्रमणं जीवतोजीवतोयनम् ॥ ७ ॥

भा०—देवमार्ग या उत्तरायणमार्ग का उपदेश करते हैं । (अनुहूतः) विद्वानों से अनुशिष्ट, शिक्षित हो २ कर (पुनः) फिर भी (विद्वान्) ज्ञानी होकर हे शिष्य ! तू (उद्-अयनं) ऊपर मोक्ष धाम में, उन्नति की तरफ़ ले जाने वाले (पथः) मार्गों को (एहि) प्राप्त हो । (आ-रोहणं) ऊपर चढ़ना, (आ क्रमणम्) आगे की तरफ़ बढ़ना, यही (जीवतः-जीवतः) प्रत्येक जीवनयुक्त जीव की (अयनम्) वास्तविक गति है ।

मा बिभे न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा ।
निरवोचमहं यक्ष्ममङ्गेभ्यो अङ्गज्वरं तव ॥ ८ ॥

भा०—रोगभय से मुक्त होने का उपदेश करते हैं । हे शिष्य (मा बिभेः) भय मत कर, डर मत । (न मरिष्यसि) तू कभी मरेगा नहीं । क्योंकि (त्वां) तुझ को मैं आचार्य, (जरद्-अष्टिं) वृद्धावस्था तक जीवन बिताने में समर्थ (कृणोमि) करता हूं । (तव अङ्गेभ्यः) तेरे अंगों से (यक्ष्मम्) सब प्रकार के रोगजनक अंश और (अङ्ग-ज्वरं) शरीर के भागों में विद्यमान् ज्वर=संताप पीड़ा को (निः अवोचम्) बाहर निकालता हूं ।

अङ्गभेदो अङ्गज्वरो यश्च ते हृदयामयः ।
यक्ष्मः श्येन इव प्रापप्तद् वाचा साढः परस्तराम् ॥ ९ ॥

भा०—हे शिष्य ! (ते) तेरे (अङ्ग-भेदः) शरीर में होने वाली पीड़ा जिससे देह टूटता हो, (यः च अङ्ग-ज्वरः) और जो अंगज्वर है और (हृदय-आमयः) हृदय-रोग और (यक्ष्मः) यक्ष्मा रोग है वह सब

८–(द्वि०) ' जरदष्टिर्भविष्यसि ' इति पैप्प० सं० ।
९–(प्र०) ' शीर्षरोगमङ्गरोगम् ', ' श्येनैव ' इति पैप्प० सं० ।

(वाचा सादः) मेरी उपदेश या वाणी के बल से पराजित होकर (श्येन इव) बाज़ के समान (परः-तराम्) परे (प्र-अपसत्) भाग जाय ।

ऋषी बोधप्रतीबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः ।
तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम् ॥ १० ॥

भा०—(बोध-प्रतीबोधौ) बोध और प्रतिबोध, ज्ञान करने और उसको स्मरण करने की शक्ति, बुद्धि और मन (यः च) जो (ऋषी) सर्व कार्यों के द्रष्टा हैं, दोनों में एक (अस्वप्नः) कभी नहीं सोता और दूसरा मन या अन्तःकरण है वह भी (जागृविः) सदा जागता रहता है । (तौ) वे दोनों (ते प्राणस्य गोप्तारौ) तुझ जीव के प्राण=जीवन की रक्षा करने वाले (दिवा नक्तं च) दिन और रात सदा (जागृताम्) जागते रहें ।

अयमग्निरुपसद्य इह सूर्य उदेतु ते ।
उदेहि मृत्योर्गम्भीरात् कृष्णाच्चित् तमसस्परि ॥ ११ ॥

भा०—(अयम् अग्निः) यह अग्नि, आत्मा (उप-सद्यः) प्राप्त करने या ज्ञान करने-उपासना करने योग्य है । (इह) इसमें (ते) तेरा (सूर्यः) सब इन्द्रियों का प्रेरक मुख्य प्राण (उद्-एतु) उदित हो । (गम्भीरात्) गम्भीर भयावह (कृष्णात्) काले (तमसः चित्) अन्धकार के समान घोर (मृत्योः) मृत्यु, देह और आत्मा के विच्छेद के भय से भी (परि उद्-एहि) परे, ऊंचा चला जा ।

नमो यमाय नमो अस्तु मृत्यवे नमः पितृभ्य उत ये नयन्ति ।
उत्पारणस्य यो वेद तमग्निं पुरो दधे स्मा अरिष्टतातये ॥ १२ ॥

भा०—(नमः यमाय) उस सर्व-नियन्ता को नमस्कार है, हम उसके आगे झुकते हैं । (मृत्यवे नमः अस्तु) और देह को आत्मा से पृथक् करने

१०–(तृ० च०) 'ते ते प्राणस्य गोप्तारो दिवास्वप्नं च जाग्रतु' इति पैप्प० सं० ।

वाले उस कर्मफल दाता प्रभु को भी नमस्कार है, हम उसके भी आगे विनय से झुकते हैं। (उत) और (ये नयन्ति) जो हमको इस शरीर से दूसरे शरीर तक ले जाते हैं उन (पितृभ्यः) पालक प्राणों को भी (नमः) नमस्कार है या उन पालक पिताओं माता, पिता, गुरु, आचार्य, प्रभु इन पञ्च पितरों को भी नमस्कार है जो हमें इस लोक में जीवन पथ पर ले जाते हैं। और जो (अस्मै) इस जीव के (अरिष्टतातये) कल्याण के लिये (उत्-पारणस्य) इस शरीर के त्याग के अनन्तर इसके पालना, जीवन यात्रा के विषय में जो सब कुछ जानता है (तम् अग्निं) उस अग्नि तेजोमय परमेश्वर को भी मैं (पुरः दधे) सदा अपने आगे रखता हूं। उसका सदा साक्षात् प्रभुत्व मानता हूं। उत्पारणज्ञ विद्वान् का वर्णन देखो अथर्व० ८ । १ । १०-१६ । २ । ६ ॥

ऐतु॑ प्रा॒ण ऐतु॒ मन॒ ऐतु॒ चक्षु॒रथो॒ बल॑म् ।
शरी॑रमस्य॒ सं वि॑दां॒ तत् प॒द्भ्यां प्रति॑ तिष्ठतु ॥ १३ ॥

भा०—इन्द्रियां किस प्रकार शरीर में कार्य करती हैं इसका उपदेश करते हैं। इस शरीर में प्रथम (प्राणः आ एतु) प्राण आता है, फिर (मनः आ एतु) मन, मननशक्ति आती है फिर (चक्षुः आ एतु) चक्षु दर्शनशक्ति अर्थात् उपलक्षण से आंख, नाक, कान, जिह्वा आदि इन्द्रियों में ज्ञानशक्ति का आगमन होता है। (अथो बलम्) और उसके पश्चात् बल, प्राणेन्द्रिय, हाथ, पांव, पेट आदि की शक्ति आती है। तब (अस्य) इस जीव का (शरीरम्) शरीर (विदां) बुद्धि को (सम्-एतु) प्राप्त होता है। (तत्) तब (पद्भ्यां) पैरों से (प्रति तिष्ठतु) यह शरीर खड़ा होने लगता है।

प्रा॒णेना॑ग्ने॒ चक्षु॑षा॒ सं सृ॑जे॒मं समी॑रय त॒न्वा॒३॑ सं बले॑न ।
वेत्था॒मृत॑स्य॒ मा नु गा॒न्मा नु भूमि॑गृहो भुव॑त् ॥ १४ ॥

१४-(तृ०) ' वेत्थामृतस्यमृतस्य गान्मोसु ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (अग्ने) परमात्मन् ! (प्राणेन) प्राणशक्ति और (चक्षुषा) दर्शनशक्ति से (सं सृज) इस जीव को युक्त कर और (तन्वा) शरीर से और (बलेन) बल से (इमं) इस जीव को (सम्-ईरय) प्रेरित कर ! आप प्रभो ! (अमृतस्य वेत्थ) उस अमृत, जीवनशक्ति को जानते हो। आपकी दी जीवनशक्ति से युक्त होकर यह जीव (मा नु गात्) इस देह को छोड़ कर न जावे और (मा नु भूमिगृहः भुवत्) भूमि को अपना घर बना कर, खाक में मिल कर न रहे अर्थात् मर कर मिट्टी में न मिले। प्रत्युत शरीर का दीर्घ जीवन प्राप्त करके मोक्ष को प्राप्त करे।

मा ते प्राण उप दसन्मो अपानोपि धायि ते।
सूर्यस्त्वाधिपतिर्मृत्योरुदायच्छतु रश्मिभिः ॥ १५ ॥

भा०—हे जीव ! (ते प्राणः) तेरा प्राण (मा उप-दसत्) विनाश को प्राप्त न हो। और (ते अपानः) तेरा अपान भी (मा अपि धायि) कभी न रुके। अर्थात् तेरे शरीर में प्राण-अपान=श्वासोच्छ्वास की क्रिया कभी बन्द न हो। (अधि-पतिः) सब का मालिक (सूर्यः) सूर्य, सब का प्रेरक परमात्मा (त्वा) तुझ को (रश्मिभिः[1]) अपनी व्यापक बलकारिणी किरणों से (उद्-आ-यच्छतु) ऊंचा उठाये रखे। तेरे शरीर को और जीवन शक्ति को गिरने न दे।

इयमन्तर्वदति जिह्वा बद्धा पनिष्पदा।
त्वया यक्ष्मं निरवोचं शतं रोपीश्च तक्मनः ॥ १६ ॥

१५-(द्वि०) 'मा पानो', (च०) 'आयच्छति' इति पैप्प० सं०।
१. अश्नोतरश्च्। उणादि० ४। ४६ ॥ रश्मिः।

१६-(द्वि० तृ०) 'उग्रजिह्वापनिष्पदा तयारोमं निरायुषः' इति पैप्प० सं०। (तृ०) 'तया' ह्विटनिकामितः। 'त्वया' इति बहुत्र।

भा०—(इयम्) यह (जिह्वा) जीभ (अन्तः) मुख के भीतर (बद्धा) बंधी हुई । (पनिः-पदा) स्तुति करने और वाग्-व्यापार करने में चतुर, गतिशील होकर (वदति) व्यक्त वाणी का उच्चारण करती है । हे वाणि ! (त्वया) तेरे बल से (यक्ष्मं) यक्ष्म-रोग को और (तक्मनः) कष्टदायी ज्वर के (-शतं रोपीः च) सैकड़ों पीड़ाओं को भी (निः अवोचम्) दूर कर देता हूं ।

अयं लोकः प्रियतमो देवानामपराजितः ।
यस्मै त्वमिह मृत्यवे दिष्टः पुरुष जज्ञिषे ।
स च त्वानु ह्वयामसि मा पुरा जरसो मृथाः ॥ १७ ॥

भा०—(अयं) यह (अपरा-जितः) किसी से न हारने वाला सदा बलवान् (प्रिय-तमः) अत्यन्त प्रिय, रुचिकर (देवानाम्) देवगण इन्द्रियों का (लोकः) शरीर है । हे पुरुष ! हे देहपुरी के वासी जीवात्मन् ! (यस्मै) जिसके कारण (त्वम्) तू (इह) इसमें रह कर (मृत्यवे दिष्टः) मृत्यु के भाग्य में पड़ा हुआ ही (जज्ञिषे) उत्पन्न होता है । अर्थात् शरीर त्यागने के लिये ही शरीर का ग्रहण करता है । इसलिये (सः च) वह तू इस देह से असंग है । (त्वा अनु-ह्वयामसि) हम विद्वान् मुक्तजन तुझ को बार २ फिर २ चेताते हैं कि (जरसः पुरा) बुढापे से पहले (मा मृथाः) प्राणों को मत छोड़ ।



[३१] गुप्त हिंसा के प्रयोग करने वालों का दमन ।

शुक्र ऋषिः । कृत्यादूषणं देवता । १–१० अनुष्टुभः, ११ बृहती गर्भा, १२ पथ्याबृहती । द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

१७–(तृ० प्र०) 'तस्मै त्वामिह जज्ञिषे अदृष्टः पुरुष मृत्यवे तस्मै त्वा निह्वयामसि' इति पैप्प० सं० । (च०) 'पुरुष-जज्ञिषे' इत्येकपदमिति पदपाठे प्रमादः ।

यां ते॑ च॒क्रुरा॒मे पात्रे॒ यां च॒क्रुर्मि॒श्रधा॑न्ये ।
आमे मां॒से कृ॒त्यां यां च॒क्रुः पुन॒: प्रति॑ हरामि॒ ताम् ॥ १ ॥

भा०—(याम्) जिस आपत्तिजनक कार्य को (ते) वे तेरे शत्रु लोग (आमे पात्रे) कच्चे बर्तनों में (चक्रुः) प्रयोग करते हैं (याम्) और जिस दुष्प्रयोग को (मिश्र-धान्ये) मिलेजुले धान्य, अन्नों में करते हैं और (यां कृत्यां) जिस विपत्तिजनक करतूत को वे (आमे मांसे) कच्चे मांस में (चक्रुः) करते हैं (ताम्) उसी दुःखदायी प्रयोग को दण्ड के रूप में (पुनः) फिर (प्रति-हरामि) उनको ही भुगतवा दूं । कच्चे पात्र में विषका लेप लगा कर अपने दुश्मनों के घर बेच आना, अनाज में विषैली बूंटी के दाने मिलाकर पर-राष्ट्र में बेच देना, कच्चे मांस में रोगकारी कीटों और विषकी धारा छोड़ देना, इत्यादि जनघातक लीला करने वालों को वैसा ही दण्ड होना चाहिये ।

यां ते॑ च॒क्रुः कृ॑क॒वाका॑व॒जे वा॒ यां कु॑री॒रिणि॑ ।
अव्यां॑ ते कृ॒त्यां यां० ॥ २ ॥

भा०—(यां) जिस कृत्या=घातक प्रयोग को (ते) वे नीच पुरुष (कृकवाकौ) कृकवाकु=तीतर, (अजे) बकरे और (कुरीरिणि) कुरीर=चोंल, पर और (यां कृत्यां) जिस करतूत को वे (अव्यां) भेड़ पर करते हैं (तां) उस करतूत से (पुनः प्रति हरामि) फिर उनको दण्डित करूं ।

यां ते॑ च॒क्रुरेक॑शफे पशू॒नामु॑भ॒याद॑ति ।
ग॒र्द॒भे कृ॒त्यां यां० ॥ ३ ॥

भा०—(यां) जिस हिंसा कार्य को वे (एकशफे) एक खुर वाले पशु पर या (गर्दभे) गधे की जाति के पशु पर (यां) जिस हिंसा को (उभयादति) दोनों जबाड़ों में दांत वाले गाय व भैंस आदि पशुओं पर (चक्रुः) करते हैं वही हत्या का दण्ड उन्हें मैं पुनः दूं ।

यां ते चक्रुरमूलायां वलगं वा नराच्याम् ।
क्षेत्रे ते कृत्यां यां० ॥ ४ ॥

भा०—(ते) वे लोग (यां) जिस हिंसा और (वलगम्) गुप्त पाप को (अमूलायां नराच्यां वा) अमूला और नराची नामक ओषधि के आधार पर (चक्रुः) करते हैं और (यां कृत्यां) जिस करतूत को (ते) वे (क्षेत्रे) खेत में करते हैं, वही दुःखदायी दण्ड मैं पुनः उनको दूं । अमूला और नराची दोनों विषैली ओषधि हैं। खेत में हत्या और गड्ढे आदि द्वारा धोखाबाज़ी से परघात करते हैं ।

यां ते चक्रुर्गार्हपत्ये पूर्वाग्नावुत दुश्चितः ।
शालायां कृत्यां यां० ॥ ५ ॥

भा०—(ते) वे (दुः-चितः) दुष्ट चित्त वाले लोग (गार्हपत्ये) स्थिरता से घर में निरन्तर जलने वाली गार्हपत्य नामक (पूर्व-अग्नौ) प्रथ-साग्नि में करते हैं । (यां कृत्यां) जिस करतूत को (शालायां) शाला=गृह में लोग किया करते हैं, उसी करतूत को दण्ड के रूप में पुनः उन पर प्रयोग करूं । निरन्तर स्थिर गार्हपत्य में-लोग ज्वलनशील विस्फोटक पदार्थों को चोरी से डाल कर हानि पहुंचाते हैं, मकानों में लोग आग लगाते सेंध लगाते तथा अन्य दुष्कर्म करते हैं ।

यां ते चक्रुः सभायां यां चक्रुरधिदेवने ।
अक्षेषु कृत्यां यां० ॥ ६ ॥

भा०—(ते) वे दुष्ट पुरुष (यां) जिस दुष्टाचार को (सभायां चक्रुः) सभा में करते हैं और (यां) जिस नीच कर्म को (अधि-देवने) जूआखोरी में और (अक्षेषु यां कृत्यां चक्रुः०) अक्ष=जूएके पासों में करते हैं उस सब करतूत के बदले में वही अनर्थकारी दण्ड उनको भी दूं । सभा

में दलबन्दी करके परद्रोह करते हैं, जूए में परद्रव्यहरण और नाना दुराचार करते हैं ।

यां ते चक्रुः सेनायां यां चक्रुरिष्वायुधे ।
दुन्दुभौ कृत्यां यां० ॥ ७ ॥

भा०—(ते) वे दुष्ट पुरुष (यां) जिस घातक व्यवहार को (सेनायां) सेना में और (यां इषु-आयुधे) धनुषों और बाणों में (चक्रुः) करते हैं, और (यां कृत्यां) जिस घातक व्यवहार को (दुन्दुभौ) नक्कारे में करते हैं, उसके बदले में उसी अनर्थकारी प्रयोग को मैं उनके प्रति भी करूं । सेना में परद्रोह, धनुष बाण में कूट और विषैले बाणों का प्रयोग, नक्कारों में विष आदि लगा कर सेना वालों को देने से उनसे मृत्यु हो जाती है ।

यां ते कृत्यां कूपेऽवदधुः श्मशाने वा निचख्नुः ।
सद्मनि कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥ ८ ॥

भा०—(ते) वे लोग (यां कृत्यां) जिस हानिकारक प्रयोग को (कूपे) कूए में (अव-दधुः) करते हैं । या जिन बुरे हानिकारक पदार्थों को (श्मशाने वा नि-चख्नुः) श्मशान में गाड़ आते हैं और (सद्मनि) घर में (यां कृत्यां) बुरी २ हत्याओं को (चक्रुः) करते हैं । (ताम्) उसको मैं उनके ऊपर ही दंड के रूप में (प्रति हरामि) डालता हूं । कूए में विष डालने, श्मशान में भय आदि उत्पन्न करने या विस्फोटक पदार्थ चिता में जलाने या अन्य घोर अनर्थकारी सती दाहादि कार्य करने या घरों में बालक बालिकाओं की हत्या करने के अपराध करने वाले पुरुषों को यथोचित दंड दिया जाय ।

यां ते चक्रुः पुरुषास्थे अग्नौ संकसुके च याम् ।
म्रोकं निर्दाहं क्रव्यादं पुनः प्रति हरामि ताम् ॥ ९ ॥

भा०—(ते) वे दुष्ट पुरुष (याम्) जिस कुकृत्य को (पुरुषास्थे) पुरुष की हड्डियों में, और (यां च) जिस कुकृत्य को (सं-कसुके) नरद्रोही

चिता दाहक (अग्नौ) आग में (चक्रुः) करते हैं । ऐसे चोरी, (निर्दाहं) अग्नि से लोगों के घर भस्म करने और (क्रव्यादं) कच्चा मांस खाने वाले घोर पापी को फिर वैसा ही दण्ड प्राप्त कराऊं ।

अपथेना जभारैणां तां पथेतः प्र हिण्मसि ।
अधीरो मर्याधीरेभ्यः सं जभाराचित्त्या ॥ १० ॥

भा०—जो दुष्ट पुरुष (एनां) इस कुकृत्य करतूती को (अपथेन) बुरे मार्ग से (आ जभार) राष्ट्र में लाता है (तां) उस करतूत को हम (इतः पथा) इस प्रकार के सरल मार्ग से (प्र हिण्मसि) राष्ट्र से बाहर निकाल दें । और प्रायः (अधीरः) मूर्ख, बेवकूफ लोग अपनी (अचित्त्या) अज्ञानिता या मूर्खता से ऐसे बुरे काम (मर्या धीरेभ्यः) बुद्धिमान् लोगों के लिये (सं जभार) ला पटकते हैं । इसलिये राजा उन दुष्ट कार्यों को कभी न चलने दे ।

यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम् ।
चकार भद्रमस्मभ्यमभगो भगवद्भ्यः ॥ ११ ॥

अथर्व० ४ । १८ । (प्र० तृ०)

भा०—और (यः) जो (चकार) किसी बुरे काम को कर तो बैठता है और तो भी (कर्तुं) उसको करने में (न शशाक) समर्थ न हो तो वह अपने (पादम्) पैर और (अंगुरिम्) हाथों को भी (शश्रे) तोड़ लेता है । वह (अभगः) मूर्ख ऐसा करके भी (अस्मभ्यम्) हम (भगवद्भ्यः) ऐश्वर्यवान् पुरुषों के लिये तो (भद्रं चकार) भलाई ही करता है । वह बुरे काम में हाथ डाल कर अपना सत्यानाश आप कर लेता है ।

१०—' मर्याः । धीरेभ्यः ' इति पदच्छेदो ह्विटनिकामितः ।

कृत्याकृतं वलगिनं मूलिनं शपथेय्यम् ।
इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेनाग्निर्विध्यत्वस्तया ॥ १२ ॥

भा०—(इन्द्रः) इन्द्र राजा, (तं कृत्या-कृतं) उस हिंसाकारी (वलगिनं) नीच कुटिलगामी (मूलिनं) विषैली जड़ों के आधारों पर दूसरों की हत्या करने वाले और (शपथेय्यं) व्यर्थनिन्दक पुरुष को (महता वधेन) बड़े भारी कठोर दण्ड से (हन्तु) मारे और (अग्निः) अग्नि सेनापति अपने (अस्तया) फेंके जाने वाले बाण या गोली से (विध्यतु) वेंध डाले ।

इति षष्ठोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि पञ्च, ऋचश्च सप्ततिः]

इति पञ्चमं काण्डं समाप्तम् ।

अनुवाकाः पञ्चमे षडेकत्रिंशच्च सूक्तकम् ।
षट्सप्ततिश्च त्रिशती ऋचां च परिगण्यते ॥

वेदवस्वङ्कचन्द्राब्दे श्रावणे च सिते भृगौ ।
प्रतिपद्यगमत्पूर्त्तिं पञ्चमञ्चाप्यथर्वणः ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालंकार-मीमांसातीर्थविरुदोपशोभित-श्रीमज्जयदेवशर्मणा विरचितेऽथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्ये पञ्चमं काण्डं समाप्तम् ।



१२–' इन्द्रस्तु सर्वांस्तान् हन्तु स त्वघ्नेन भवामिवः ' इति पैप्प० सं० ।

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदसंहिता

भाषा-भाष्य

(द्वितीय खण्ड)

भाष्यकार

श्री पण्डित जयदेव शर्म्मा,

विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ.

प्रकाशक

आर्य्य-साहित्य मंडल, अजमेर.

मुद्रक—

सस्ता-साहित्य प्रेस, अजमेर.

प्रथमावृत्ति २००० | सं० १९८५ वि० | मूल्य ४) रुपये

द्वितीय खण्ड की भूमिका



अथर्ववेद के सम्बन्ध में हमने सामान्यतः प्रथम खण्ड की भूमिका में विवेचन किया है। इस द्वितीय खण्ड की भूमिका में हम कुछ अन्य विवादास्पद विषयों पर अपने मन्तव्यों को स्पष्ट करना चाहते हैं।

अथर्ववेद में जादू टोना, अभिचार, कृत्या, मणि, वशीकरण, उच्चाटन, मोहन, झाड़ा फूंका आदि नाना तान्त्रिक प्रपञ्चों की बातें कौशिक सूत्र के आधार पर प्रायः मानी जा रही हैं। श्रीसायणाचार्य कृत माधवीय वेदार्थ प्रकाश में प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में विनियोगों को दर्शा कर पुनः भाष्य किया गया है। उससे सर्व साधारण की यह धारणा दृढ़ हो जाती है कि ये सब विनियोगों में कही बातें जैसे तैसे अथर्ववेद से ही सम्बद्ध हैं और उसमें विद्यमान हैं।

इस सम्बन्ध में पूर्व खण्ड की भूमिका में हमने 'अथर्ववेद और जादू टोना' इस शीर्षक के नीचे [पृष्ठ २२—२४ कुछ दिग्दर्शन कराया है। वहीं हमने अपना मन्तव्य स्पष्ट कर दिया है। उसको हम पुनः न दोहरा कर इस भूमिका में मुख्यतः मणि, कृत्या, अभिचार, भूत पिशाच, ओदन पशु बलि, तथा कुछ घृणित और मूर्खता पूर्ण विधानों पर प्रकाश डालेंगे।

(१) मणि

प्रथम नव काण्डों में से लगभग तीस सूक्तों के विनियोगों में श्री सायणाचार्य और उनके सम्पादक श्री शङ्कर पाण्डुरंग ने मणि बांधने का उल्लेख किया है। यह 'मणि' क्या पदार्थ है और वेद में 'मणि' शब्द से क्या पदार्थ अभिप्रेत है इसकी आलोचना करते हैं।

मणि शब्द का अर्थ

उणादि सूत्र 'सर्वधातुभ्य इन्' ४ । ११८ ॥ के अनुसार 'मण' शब्दे' (भ्वादि) धातु से 'इन्' प्रत्यय करने से 'मणिः' शब्द सिद्ध किया है । भाष्य में महर्षि दयानन्द 'मणति शब्दयतीति मणिः' यह अर्थ लिखते हैं । अर्थात् जो उपदेश दे वही मणि है । फलतः वह पुरुष जो उपदेश दे, शिक्षा दे, मार्ग दिखावे, नेता, शिरोमणि, उपदेष्टा, गुरु, मार्गदर्शी आदि 'मणि' शब्द से कहे जाने योग्य हैं । इसी प्रकार 'मनु ज्ञाने' (दिवादिः), 'मन स्तम्भे (चुरादिः) 'मनु अवबोधने' (तनादिः) इन तीन धातुओं से 'इन्' प्रत्यय करने और छान्दस णत्व करने से 'मणि' शब्द सिद्ध होता है । इससे मणि शब्द से तीन अर्थों का लाभ होता है जो ज्ञानवान् हो, जो थामे, शत्रुओं का स्तम्भन करे, राज्य आदि का कोई भार अपने ऊपर ले, और जो दूसरों को ज्ञान करावे, चेतावे, बुद्धि देवे, ये सब 'मणि' शब्द से कहे जाने योग्य हैं । लोक में 'मणि' रत्न का वाचक है । इसकी व्युत्पत्ति मडि धातु से करके शोभा जनक रत्नादि का वाचक 'मणि' शब्द बना लेते हैं ।

कौशिक सूत्रों में जहां 'मणि' बांधने आदि का प्रकरण है वहां किसी भी निर्दिष्ट पदार्थ को अभिमन्त्रित करके उसकी गुटिका बना कर या मणका बना कर या तावीज या पुटिका बनाकर बाहु, गले, कटि आदि भागों में पहनने के पदार्थ को ही 'मणि' शब्द से कहा गया है । ओषधि आदि भी धारण रोगों को दूर करने से 'मणि' कहा सकता है । परन्तु वेद में जहां २ मणि शब्द का प्रयोग है वहां क्या पदार्थ लेना चाहिये यह तो मन्त्र में प्रयुक्त मणि शब्द के विशेषणों से ही जानना चाहिये । अन्यथा अनर्थ होगा । उदाहरण के रूप में क्रम से विचार करते हैं ।

(१)—कृष्णलमणि—अथर्ववेद [का० १ सू० ५] 'अस्मिन् वसु वसवो धारयन्तु०' इस सूक्त से दो कृष्णलमणि धारण करने को लिखा है । इस सूक्त में ४ मन्त्र हैं । चारों मन्त्रों में कहीं भी मणि शब्द का

प्रयोग नहीं है। फलतः यह विनियोग मूर्खता युक्त है। इस सूक्त का प्रयोग राष्ट्रच्युत राजा को पुनः राज्यासन पर बैठाने के लिये भी प्रयुक्त होता है। आयु, बल, वीर्य आदि प्राप्ति के कार्यों में भी इसका विनियोग है। राजा के लिये बल, वीर्य, और ब्रह्मचारी के लिये बल, वीर्य प्राप्त करनेपरक जो उत्तम उपदेश निकलते हैं वही इस सूक्त के समुचित अर्थ हैं। यह भाष्य में देखिये।

(२)—'शुक्ल वीरणोपाका मणि'—उद्विग्न पुरुष के उद्वेग नाश के लिये श्वेत सरकण्डे के सींख की बनी मणि को 'उप प्रागाद् देवः०' [अथर्व० १।२८॥] इस सूक्त से धारण करने के लिये लिखा है। इस सूक्त में भी कहीं मणि शब्द का प्रयोग नहीं हैं। परन्तु कौशिक ने भी मणि का नाम नहीं लिया। प्रत्युत वीरण की चार सींके लेकर उनको दोनों तरफ से बांधने, और दो जलती लकड़ियों को परस्पर रगड़ने की क्रिया लिखी है। जिसका अभिप्राय यह है कि यदि राजा को भय हो तो उसे आथर्वणिक विद्वान् यह उपदेश करे कि जैसे एक २ सींक कमजोर है, ऐसे अकेला पुरुष निर्बल है। जैसें ४ सींके बंधकर मजबूत हो जाती हैं उसी प्रकार कमजोर पुरुषों का भी संगठन कर लो। दूसरे जिस प्रकार एक जलती अकेली लकड़ी बुझ जाती है और कम जलती है, दो के मिलाने से दोनों अधिक ज्वाला देकर जलती हैं उसी प्रकार अग्नि के समान राष्ट्र के तेजस्वी पुरुषों को मिला कर प्रचण्ड करो और शत्रु से मुकाबला करो, फिर शत्रु से भय नहीं। इसी आशय को वेद मन्त्र में 'अग्नि' शत्रुसंतापक राजा के वर्णन में दर्शाया गया है। वह अग्नि-अर्थात् अग्रणी नेता, सेना नायक, राक्षसों का नाशकारी यातुधानों अर्थात् पीड़ा जनक पुरुषों का नाशक है। वह राष्ट्र में समस्त प्रकार के अनर्थकारी लोगों का दमन करे। इस प्रकरण को पाठक भाष्य में स्पष्ट देखें।

(३)—अभीवर्त्त मणि—रथनेमि मणि या रथचक्रनेमि मणि। अथर्व० का० १। सू० २८॥ अभीवर्त्तेन मणिना इत्यादि सूक्त से शत्रु से पीड़ित

राष्ट्र की वृद्धि के लिये उक्त मणि को धारण किया जाना लिखा है। सायण इसको 'रथचक्रनेमि मणि' नाम देता है। कौशिक रथनेमि मणि बतलाता है। वेद 'अभीवर्त्त' मणि कहता है। तो सन्देह होता है कि यह पदार्थ क्या है। मन्त्र में कौशिक ने तो 'अयःसीसलोहरजतताम्रवेष्टित हेमनाभि,' रथनेमि मणि का स्वरूप बतलाया है अर्थात् बीच में सोने के छल्ले पर क्रम से लोहा, सीसा, चांदी आदि के छल्ले लगे हों वह पहना जाय। परन्तु इससे राष्ट्र की वृद्धि हो यह असम्भव है।

वेद तो कहता है—(येन मणिना इन्द्रः अभि वावृधे) जिस 'मणि' से इन्द्र, ऐश्वर्यवान् राजा बढ़ता है, हे (ब्रह्मणस्पते तेन अभीवर्तेन राष्ट्राय अस्मान् वर्धय) हे विद्वान् वेदज्ञ ! तू उस अभीवर्त से हम राष्ट्र के वीरों को या प्रजा को शक्ति प्रदान करता और राजा को भी शक्ति प्रदान करता है। अर्थात् शत्रु के बल को रोकने वाला पुरुष जो नगर को चारों ओर से सुरक्षित रखे वह नरमणि, शत्रु-स्तम्भक पुरुष 'अभीवर्त्त मणि' है। इसी की व्याख्या वेद अगले मन्त्र में करता है कि–(यः वः सपत्नान् अभि-वृत्य पृतन्यन्तं अभि तिष्ठ) जो हमारे शत्रु हों उनके मुकाबले पर डट जाय और सेना से चढ़ाई करने वाले का मुकाबला करे और (यः नः दुरस्यति तम् अभितिष्ठ) जो हम पर दुःखदायी शस्त्र फेंके उसका मुकाबला करे। वह पुरुष वीरश्रेष्ठ पुरुष 'मणि' है। इसी प्रकार वह मणि 'सपत्नक्षयण' (म० ४) शत्रुनाशक कहा गया है। उसको शत्रुओं के पराजय के लिये नियुक्त किया जाता है। राजा भी कहता है कि ऐसा नरपुंगव सेनापति ही (मह्यं राष्ट्राय सपत्नेभ्यः पराभुवे वध्यताम्) मेरे राष्ट्र के शत्रुओं के पराजय करने के लिये बांधा जाय, नियुक्त किया जाय।

यहां 'वध्यताम्' का अर्थ बांधा जाय है। केवल तावीज ही नहीं बांधा जाता है प्रत्युत अर्थ या धन द्वारा किसी पुरुष को रक्षा के कार्य पर नियुक्त किये जाने को भी 'बांधा जाना' कहा जाता है। जैसे महाभारत में भीष्म पिता-मह ने कहा है 'बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः।' मुझे कौरवों ने धन से बांध रखा है।

भाषा तक में प्रयोग होता है, नौकरी बन्ध गयी, वेतन बंध गया अर्थात् नियत होगया। फलतः यहां भी कोई तावीज नहीं है प्रत्युत 'मणि' शब्द से शिरोमणि नेता, शत्रुस्तम्भक पुरुष ही अभिप्रेत है। उसके मानपद के सूचक चिन्ह को गौण रूप से 'मणि' शब्द से कहा जा सकता है। जैसे विशेष पदाधिकारी लोगों को पदक दिये भी जाते हैं।

(४) हिरण्यमणि—अथर्व० १।३५॥ सूक्त से पूर्व कहे कृष्णलामणि और हिरण्यमणि दोनों के बांधने का विनियोग है। यद्यपि वेद में 'हिरण्य' शब्द का प्रयोग अवश्य है। परन्तु वर्णन है 'यदाबध्नन् दाक्षायणाः हिरण्यं शतानीकाय सुमनस्यमानाः।' शुभ संकल्प वाले दाक्षायणों ने शतानीकको को 'हिरण्य' बांधा। इस सूक्त भर में मणि शब्द का प्रयोग नहीं। दूसरे यौगिक अर्थ से स्पष्ट है कि दाक्षायण अर्थात् दक्ष=बल और ज्ञान के एक मात्र स्थानभूत पुरुषों ने सैकड़ों सेनाओं के नायक को 'हिरण्य' बांधा। यहां 'हिंरण्य' से सुवर्ण, बल और आत्मसामर्थ्य ही प्रतीत होता है। दूसरे मन्त्र में हिरण्य को 'दाक्षायण हिरण्य' कहा गया है। अर्थात् बल, उत्साह, क्रिया शक्ति को बढ़ाने वाला 'हिरण्य' है। हिरण्य अर्थात् वह पदार्थ जो हित भी हो और रमणीय भी हो। तृतीय मन्त्र में पहनने वाला स्वयं 'दक्षमाणः' अर्थात् बलवान् पुरुष है। वह तेजःस्वरूप 'हिरण्य' को धारण करता है। इसी प्रकार अथर्व० का० ५ में सू० २८ को भी हिरण्य-बंधन में लगाया गया है। उस में अमृत हिरण्य, आत्मा और आत्मिक बल का वाचक है। उसी को 'एकाक्षर' (५।२८।८) कहा है वह सिवाय परब्रह्म के दूसरा नहीं। वही महान् सेनापति के रूप में शत्रुओं के नाशक और उनको गिराने वाला 'भिन्दन् सपत्नानधरांश्च कृण्वत्' बतलाया गया है। इस से केवल हिरण्य शब्द से सुवर्ण धातु निर्मित खण्ड लेना दूरदर्शिता नहीं है।

(५) जङ्गिड़—जंगिड़ का वर्णन अथर्ववेद में दोनों स्थानों पर आया है। एक, का० २।४॥ में दूसरा, का० १९ सू० ३४,३५ में॥ इस मणि के धारण

करने के सायण ने तीन प्रयोजन बतलाये हैं १ कृत्या दूषण, २ आत्म रक्षा, ३ विघ्नशमन। यह किसी वृक्ष की लकड़ी का टुकड़ा समझा जाता है। यह वृक्ष बनारस की तरफ होता है। दारिलके मत में यह अर्जुन वृक्ष है। परन्तु वेद इस जंगिड़ का और ही महत्व बतलाता है। वह मणि 'विष्कन्धदूषण' [२।४।१] है। अर्थात् शत्रु के सेना शिविरों को विध्वंस करता है और उसको (दक्षमाणाः रणाय अरिष्यन्तः सदैव विभृमः) बल का कार्य करते हुए हम जब युद्ध के लिये जाना चाहें तब के लिये हम उसे बांधे, धारण करें। वह स्वयं (सहस्रवीर्यः २ । ४ । २) हजारों बल वाला है, उस के बल से (व्यायामे सर्वा रक्षांसि सहामहे २ । ४ । ४) युद्धोद्योग काल में समस्त दुष्ट पुरुषों को पराजित करते हैं। वही (कृत्यादूषिः) और (अराति दूषिः २ । ४ । ६) अर्थात् शत्रु के गुप्तघातक प्रयोगों और शत्रुओं को भी नाश करने वाला है। वह मणि, नरशिरोमणि किस प्रकार का सेना नायक हो सकता है यह पाठक स्वयं निर्णयकर सकते हैं। वेद को जंगिड़ शब्द से वही अभिप्रेत है। वृक्ष के नाम और गुण तो उस वर्णन में श्लेष से कह दिये हैं। जिनका विस्तृत वर्णन १७वें काण्ड में किया है जिसको हम चतुर्थ खण्ड में दर्शावेंगे।

(६) 'यवमणि'—अथर्व० का०२। सू०७ वें का विनियोग शाप, क्रूर दृष्टि; पिशाच आदि भय निवारण के लिये यवमणि के बांधने को लिखा है। सूक्त भर में 'यवमणि' का नाम नहीं है। यवमणि से शायद पाठक समझें, जौं के दाने तावीज में भरकर बांध लिये जाते हैं। ठीक है, कौशिक, सायण आदि तो यही मान कर सन्तुष्ट हैं। परन्तु वेद ने 'यव' का स्वरूप भी बतलाया है। अथर्व० का० ९। सूक्त २। मं० १२। में

अग्निर्यवः इन्द्रो यवः सोमो यवः। यवयावानो देवाः यावय त्वेनम् ॥

अग्नि अग्रणी पुरुष 'यव' है। 'इन्द्र' ऐश्वर्यवान् राजा 'यव' है। 'सोम' ज्ञानवान आचार्य 'यव' है। समस्त विद्वान, शासक लोग 'यव' को साथ लेकर अपने शत्रु का नाश करें। क्रूर पुरुषों की दृष्टि और दुष्ट

पिशाचों के नाश के लिये कैसा 'यव' चाहिये इस का निर्णय स्वयं करना उचित है। यों तो भूख की निवृत्ति के लिये है।

(७) दशवृक्षमणि—ढाक, गुलर, जामुन, काम्पोल, स्रक्, वंग, शिरीष, स्रक्ति, वरण, विल्व, कुटक, गृह्य, गलावल, वेतस, शिम्बल, सिपुन, स्यन्दन, अरणि, अश्मयोक्त, तुन्दु, पूतदारु, इन २१ वृक्षों में से किन्हीं १० वृक्षों की लकड़ी के छोटे २ टुकड़े लेकर मणि बनालें। वह 'दश वृक्षमणि' या शाकल मणि कही जाती है। उसको लाख और सोने में जड़ कर धारण करते हैं। इसका सम्बन्ध दो सूक्तों से है अथर्ववेद २।७। और ८।७॥ इन में से (८।७) में तो नाना ओषधियों का वर्णन है उक्त वृक्ष की मणि बना कर पहनने का कोई वर्णन नहीं है और (२।७) में 'दशवृक्ष' से दश प्राण युक्त 'जीव' का वर्णन किया है। मणि बन्धन का कहीं सूक्त भर में वर्णन नहीं है।

(८) स्राक्त्यमणि या तिलकमणि—वह स्रक्ति या तिलक वृक्ष की मणि बनायी जाती है। इसके बांधने के लिये दो सूक्त बतलाये जाते हैं, एक अथर्व० (२।११) दूसरा अथर्व (८।५) प्रथम में 'स्रक्त्योऽसि प्रतिसरोऽसि प्रत्याभिचरणोऽसि, (२।११।१) इस शिरोमणि पुरुष को 'स्रक्त्य' कह कर उसका स्वरूप 'प्रत्यभिचरण' अर्थात् शत्रु के प्रति धावा करने वाला बतलाया गया है। उसके लिये आदेश है कि—'प्रति तम् अभिचर यो ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः' जो हम से द्वेष करे और जिससे हम प्रेम नहीं करते तू उस पर धावा करदे। उसी के विशेषण है 'सूरिः' 'विद्वान,' तनूपान' शरीरों का रक्षक। अथर्व (८।५) में भी वह 'वीर' वीर्यवान्, सपत्नहा, सहस्वान्, वाजी, उग्रः, आदि कहा है। कार्य भी बतलाया है—

स्राक्त्येन वै मणिना ऋषिणेव मनीषिणा।
अजैषं सर्वाः पृतनाः विमृधो हन्मि रक्षसः॥

इस सर्वद्रष्टा ऋषि के समान बुद्धिमान स्राक्त्य मणि से मैं समस्त सेनाओं को विजय करूं, सब राक्षसों का विनाश करूं। इत्यादि। यहां

भी वीर सेनानायक पुरुषों का ही वर्णन है । गौण रूप में वीरों को प्राप्त होने योग्य विशेष चिन्ह रूप मणि प्रति दृष्टान्त के रूप में भले ही माना जासकता है। हम समझते हैं कि पाठकगण इन नाना मणियों के विवेचन से अवश्य वास्तविक शिरोमणियों का अभिप्राय समझ गये हैं।

शेष 'अस्तृत' आदि मणियों का वर्णन १९ वें काण्ड में होने से उसका स्पष्टी करण वहां ही किया जायगा। विनियोग लेखकों ने (२ । १७) पाठा मूलमणि, (३।५) पर्णमणि, (३।६) अश्वत्थमणि, (३।७) हरिणशृङ्गमणि, (२ । ९) अरलु मणि, (३ । १६) सिंहनाभि लोममणि, (३।२१) पलाशमणि, (३।२२) हस्तिदन्तमणि (३।२३) (२ । २३) शरमणि, (४ । ९) आञ्जनमणि, (४ । १०) शंखमणि, (४ । २०) त्रिसंध्यामणि, (४ । २०) पुष्पमणि (६ । ५५) सर्षप-काण्ड मणि, (६ । ७०) कृष्णचर्म मणि, (६।७०) अर्कमणि (६।८९) लोहमणि, (६।८९) पाषाणमणि, (७ । ७) नौ मणि, (७ । १६) गो-बन्धनरज्जु मणि, (८ । २) लुवण मणि, आदि नाना मणियों के बाँधने के लिये नाना सूक्तों को दर्शाया है। परन्तु बहुतों का तो सूक्त में कोई आधार नहीं, केवल प्रथामात्र होने से लिखा है। और दो एक जिनका कहीं नाम भर आ गया है उसका अभिप्राय न समझ कर उसको उसी प्रकार खेंच लिया गया है जैसे पूर्व आठ उदाहरणों में हमने दर्शाया है।

जो औषधियाँ हैं उनके समीप रहने और शरीर के साथ छूने से उतना तो लाभ अवश्य होता है जितना एक तीव्र रोग नाशक औषधि से होना सम्भव है। जिस प्रकार फिनाइल की गोलियों से दुष्ट रोगजन्तु समीप नहीं आते, इसी प्रकार ओषधि की बनी मणियें भी उपयोगी हो सकती हैं परन्तु वेद में जहाँ उन नामों पर भौतिक पदार्थों से अधिक गुण और कार्य-क्षमता का वर्णन है वहाँ उस गुणवाला पुरुष ही लेना चाहिये। केवल एकांश में गुण की समानता देख कर उन नाम का लौकिक प्रयोग बाद में हुआ समझना चाहिये। अन्यत्र भी जहाँ मणि आदि शब्दों का प्रयोग

हुआ है उनका स्पष्ट विवरण यथास्थान भाष्य में देखना चाहिये। इन सूक्तों का विनियोग इन मणियों के बाँधने के अर्थ के अतिरिक्त और भी बहुत से क्रिया काण्डों में है इसलिये इन मणियों का ही तात्पर्य वेद को अभिप्रेत हो यह बात सर्वथा-खण्डित हो जाती है। फलतः वेद का अभिप्राय ऐसा सर्वगामी होना चाहिये जो उन सब विनियोगों को प्रत्यक्ष परोक्ष सम्बन्धों से वश कर सके। अस्तु। अब हम कृत्या और अभिचार की विवेचना करते हैं।

(२) कृत्या

जब तक हम 'कृत्या' शब्द को केवल मन्त्रजपमात्र से होनेवाला टोना समझते रहते हैं तब तक उसका कोई भी स्वरूप निर्णय नहीं किया जा सकता। तन्त्र-ग्रन्थों के अनुसार 'कृत्या' क्या होती है इसका भी बतलाना कठिन वस्तु है। क्योंकि वह रहस्य शास्त्र है। प्रत्यक्ष क्रिया का उसमें सर्वथा उल्लेख नहीं है। वेद 'कृत्या' किसको कहता है इसका अनुशीलन किया जा सकता है।

(१) आचार्य सायण ने अथर्व का० २। सूक्त १२ के चतुर्थ मन्त्र के 'अमुम् ददे हरसा दव्येन' इस चतुर्थ चरण के व्याख्यान में लिखा है—'अमुम् अपकर्तारममुकनामानं शत्रुं दैव्येन देवसम्बन्धिना। मत्कृताभिचारजनित कृत्यारूपदेवताकृतेन हरसा। क्रोधनामैतत्। क्रोधेन आददे स्वीकरोमि निगृह्णामीत्यर्थः।'

अर्थात्—'अमुं ददे हरसा दैव्येन। उस अमुक नाम के शत्रु को दैव्य क्रोध से अपने वश करता हूँ। दैव्य क्रोध अर्थात् मेरे से किये अभिचार से उत्पन्न जो 'कृत्या' रूप देवता है उस द्वारा किये क्रोध से मैं शत्रु को वश करूँ। यहाँ सायण कृत्या को एक देवता मानता है। जो अभिचार से पैदा होती है।

(२) अथर्व० काण्ड ४। सू० २८। म० ६। 'कृत्याकृन्मूलकृद्यातुधाना०' इस मन्त्र में 'कृत्याकृत्' पद के भाष्य में सायण लिखते हैं—

क्रियानिर्वृत्तया पिशाच्या छिनत्तीति कृत्याकृत ।” जो पुरुष ‘कृत्या’ अर्थात् क्रिया से उत्पन्न हुई पिशाची से छेदे वह ‘कृत्याकृत्’ है । यहाँ सायण ‘कृत्या’ शब्द से ऐसी पिशाची लेते हैं जो क्रिया से उत्पन्न हो ।

(३) अथर्व० ४ । १८ । २ ॥ ‘यो देवाः कृत्यां कृत्वा हराद् अविदुषो गृहम् ।’ इसके भाष्य में सायण ‘कृत्यां’ शब्द की व्याख्या करते हैं ‘मन्त्रौषधादिभिः शत्रोः पीड़ाकरीं कृत्याम्’ । अर्थात् मन्त्र और ओषधि से शत्रु को पीड़ा देनेवाली कृत्या होती है और आगे लिखते हैं ‘कृत्या निखननार्थं गच्छेत्’ अर्थात् कोई पुरुष कृत्या को गाड़ने के लिये जाता है । अर्थात् कृत्या गाड़ी जाती है ।

(४) अथर्व काण्ड १९। सू० ९। ‘“शंनोऽभिचाराः शमु सन्तु कृत्याः । शं नो निखाताः वलगाः शमुल्काः ।” इसके भाष्य में सायण लिखते हैं—“अभिचाराः मारणार्थं शत्रुभिः क्रियमाणानि कर्माणि । कृत्याः अभिचार कर्मभिरुत्पादिताः पिशाच्यः । अभिचारकर्माणि जड़त्वात् स्वयमेव शत्रुसमीपमागत्य न निघ्नन्ति किंतु हिंसिकाः पिशाचीरुत्पादयन्ति ।” अर्थात् मारने या प्राणघात करने के लिए शत्रु जिन कर्मों को करते हैं वे अभिचार हैं और अभिचार कर्मों से पैदा की गयी पिशाचियें ‘कृत्या’ हैं । वे कर्म तो जड़ होने से स्वयं शत्रु के पास जाकर नहीं मारते किन्तु मारनेवाली पिशाचियों को वे कर्म ही उत्पन्न करते हैं ।

इसी प्रसङ्ग में ‘वलगा’ शब्द के व्याख्यान में सायण लिखते हैं—‘निखाताः, भूमावप्रकाशनिगूहिता वलगाः । वलगाः पीडार्थं भूमेरधो बाहुप्रदेशे निखन्यमाना अस्थिकेशादिवेष्टिता विषवृक्षादिनिर्मिताः पुत्तल्यो वलगा इत्युच्यन्ते ।’ अर्थात् भूमि में एक हाथ भर नीचे खोदकर उनमें हड्डियों और केशों से लिपटी, जहरीले विष वृक्ष आदि की बनी पुतलियां ‘वलगा’ कहाती हैं ।

सायण के इन विवरणों से कुछ २ आभास अवश्य होता है। पर यथार्थ रूप से कृत्याओं का कोई स्वरूप प्रकट नहीं होता । देवता, पिशाची,

कृत्या, वलग आदि शब्द कोई विशेष परिभाषाओं को बतलाते हैं। ये सब पदार्थ शत्रुओं को मारने के लिये किये जाते थे। परन्तु अब हम स्वयं वेद के सूक्तों पर दृष्टि डालते हैं वे 'कृत्या' किसको बतलाते हैं।

अमा कृत्वा पाप्मानं यस्तेन अन्य जिघांसति।

अश्मानस्तस्यां दग्धायां बहुलाः फट् करिक्रति ॥ अथर्व० ५।१८।३॥

'जो पुरुष दूसरे के लिये 'पाप्मा' को कच्चे बर्तन में करके उससे दूसरे को मारना चाहता है तो उसके जल जाने पर बहुत से पत्थर फट्फट आवाज़ से फूट निकलते हैं।' इससे प्रतीत होता है कि 'पाप्मा' बारूद के समान विस्फोटक पदार्थ का नाम है जिसको कच्चे बर्तन में बन्द करके अग्नि लगा देने से जलते ही भीतर भरे नोकीले पत्थर फूट पड़ते हैं।

ऐसी भयानक 'कृत्या' अर्थात् घातक क्रियाओं को जो करना न जानता हुआ भी करता हो तो उसके लिये बड़ा भय है। स्वयं वेद कहता है—

यश्चकार न शशाक कर्त्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम् । ४ । १८ । ६ ॥

जो कृत्या का प्रयोग तो कर दे, और उसके ठीक प्रयोग न कर सके तो वह अपने ही हाथ पांव तोड़ लेता है। इससे वह—

चकार भद्रमस्मभ्यमात्मन तपनं तु सः।

हमारे लिये तो ठीक ही करता है और स्वयं कष्ट पाता है।

इसी प्रकार काण्ड ५। सूक्त ३१ में शत्रु जिन कृत्याओं का प्रयोग करता है उनका वर्णन है। जैसे (१) कच्चे वर्तन में घातक क्रिया का प्रयोग करना, जैसे पहले हमने दिखलाया। (२) मिश्र धान्य अर्थात् जिसमें कई तरह के धान्य मिले हों उनमें विषैले दाने मिलाकर शत्रु देश में बेच आये, इससे उनको खाने वाले मर जायें। (३) कच्चे मांस से विष की पिचकारी या रोगजनक कीटों का प्रवेश करा दिया, उसको खाकर मर जांय या रोग उत्पन्न हों। (५। ३१। १)

(४) तीतर और चील आदि पक्षियों के साथ उनमें विस्फोटक पदार्थ या ज्वलनशील पदार्थ लगाकर शत्रु की सेना में छोड़ दे। जहां बैठें

वहां मकानों में आग लग जाय (५ । ३१ । २)। कपोतों से ऐसे प्रयोग करने का उपाय अर्थशास्त्रकार कौटिल्य ने भी लिखा है।

(५) गधे, घोड़े, खच्चर आदि पर विषमय प्रयोग करना जिससे वे मरने लग जांय या बीमार हो जांय। (५ । ३१ । ३)

(६) अमूला और नराची नाम ओषधियों या लताओं के आधारपर या उनमें छिपाकर कोई 'वलग' अर्थात् गढ़ा खोदकर 'घातक' प्रयोग किया जाय या खेत में गढ़े खोदकर उनपर मूल रहित ऐसी जंगली बेलें बिछा दें जिनपर लोग मुग्ध होकर आवें और आते ही वे गढ़े में गिर जांय। इत्यादि (५।३१।४)। इनका प्रयोग भी अर्थशास्त्र कौटिल्य में कण्टक शोधन प्रकरण में लिखा है।

(७) गृह में जहां अग्नि के स्थान हों वहां भड़कने वाले पदार्थ रखकर हानि पहुंचाते हैं। (५ । ३१ । ५)

(८) सभा में, जूए खेलने के स्थान में, या जूआ खेलने के मोहरों में विस्फोटक पदार्थ या विषैले पदार्थ का प्रयोग कर दें। (५।३१।६)

(९) सेना में, या धनुषों पर, या नक्कारों पर घातक प्रयोग करें। विषैली गैसें, विषैले लेप लगा दें जिनके स्पर्श और प्रयोग से लोग मर जायें (५ । ३१ । ७)।

इत्यादि प्रयोगों को करने वालों को उन २ घातक प्रयोगों द्वारा ही दण्ड देने की आज्ञा वेद ने दी है।

शतपथ में 'वलगहन' (यजु० ५।२३) मन्त्र के भाष्य में एक कथा दी है कि असुरों ने देवों के लिये कृत्या का प्रयोग किया और वलगों को गाड़ दिया। देवों ने हाथ भर खोद २ कर उन वलगों को खोद डाला। फलतः कदाचित् ये भूमिमें रखे मगन गोले या बाम्ब ही हों जिनके फूटने पर घोर संहार होना सम्भव हो। गत योरोपीयन महाभारत में, समुद्रों में मगन गोले (mines) बिछाऐ गये थे जो जहाज़ में टकराते ही फूटते थे। ये सब प्राचीनकाल के 'वलग' थे। आज कल की विषैली गैसें, भोजन आदि में बेक्टीरियां या रोगकारी परमाणुओं का प्रचार, विषैली ओषधियों का

प्रचार, यान्त्र आदि सब घातक प्रयोग वेदकाल में 'कृत्या' कहाती थीं। जिनका एक रूप अथर्व० काण्ड १० सूक्त १ म में भी कुछ वर्णन किया है। जैसे—

(१) सुरूप सुन्दर मूर्त्ति में कृत्या का प्रयोग (१।३) खेतों और गोओं और पुरुषों पर कृत्या का प्रयोग [४], यन्त्र रूप में कृत्या का प्रयोग [८], केवल घोर शब्द मात्र करने वाली कृत्या [१४], प्रबल वायु चलाने वाली कृत्या [१७], गड़े हुए मगन गोले और [१८।१९] अन्धकार में कृत्या का प्रयोग इत्यादि वेद में ऐसे समस्त कृत्याओं के प्रयोग करने वालों को बड़े कठोर दण्ड देने का विधान किया है क्योंकि 'अनागो हत्या वै भीमा कृत्ये० (१० । १ । २९) यह गुप्त हिंसा का प्रयोग निरपराधों की हत्या किया करता है।

इस कृत्या के विवेचन में ही अभिचार का भी प्रत्यक्ष रूप आजाता है। तो भी इतना और समझ लेना चाहिये कि 'अभिचरण' शब्द से शत्रु के नाश के लिये उस पर जा चढ़ना यह भाव वेद में स्थान २ पर पाया जाता है। जैसे अभीवर्त्त मणि के प्रकरण में हम दर्शा आये हैं।

इन कृत्याओं के वेद में चार विभाग किये हैं—

याः कृत्या आंगिरसीर्याः कृत्याः आसुरीर्याः कृत्याः स्वयंकृता या उ चान्येभिराभृताः ।
उभयीस्ताः परायन्तु परावतो नवतिं नाव्या अति । अथर्व० ८ । ५ । ९ ॥

इस मन्त्र में कृत्याओं के ४ प्रकार दर्शाये हैं (१) आंगिरसी (२) आसुरी, (३) स्वयंकृता (४) अन्यों द्वारा आभृता । इन चारों को स्पष्ट करते हुए सायण ने लिखा है कि—

(१) आंगिरसीः अंगिरसा प्रयुक्ताः या प्रसिद्धाः कृत्याः सन्ति । अंगिरसो महर्षेः कृत्याप्रयोगविघातृत्वमांगिरसकल्पाख्यसूत्रनिर्माणादेव प्रसिद्धम् । (२) तथा आसुरीः आसुर्यः । असुरैर्निर्मिता याः कृत्याः सन्ति । (३) एवं स्वयंकृता परार्थप्रयोगे सति केनचिद् वैकल्येन स्वस्मिन्नेव पर्यवसिताः स्वयंकृता इत्युच्यन्ते । (४) या उच अन्यैर्मत्सरिभिः आभृताः आहृताः प्रयुक्ताः कृत्याः सन्ति ।'

अर्थात्—(१) आंगिरसी, वे कृत्यायें हैं जिनका अंगिरा ऋषि ने प्रयोग किया। महर्षि अंगिरा के आंगिरस कल्प सूत्र बनाने से हो उनका कृत्या प्रयोग करने का ज्ञान होता है। (२) असुरों द्वारा की गयी कृत्या आसुरी है (३) स्वयं प्रयोग करने पर उलट कर जो किसी भूल चूक से जब अपने पर आटूटें वे कृत्या 'स्वयंकृता' और दूसरों की प्रयुक्त कृत्या अन्याहृत हैं।

परन्तु मन्त्र में 'उभयी' का प्रयोग है फलतः मुख्य दो ही प्रकार की कृत्या हैं एक 'आसुरी' दूसरी 'आंगिरसी'।

इन दोनों प्रकारों की कृत्या किस प्रकार की होती हैं हम कल्पना नहीं कर सकते। क्यों कि इनके विधायक ग्रन्थ प्राप्त नहीं होते। तो भी थोड़ासा इन कृत्याओं का स्वरूप नीचे लिखे मन्त्रों से अनुमान हो सकेगा।

विभिन्दती शतशाखा विभिन्दन् नाम ते पिता।
प्रत्यग् विभिन्धि त्वं त योऽस्माँ अभिदासति। अथर्व० ४।१९।६॥

'तू सौ शाखाओं में फूटती है, तेरा जनक भी 'विभिन्दन्' अर्थात् नाना शाखाओं में फूटने वाला है। तू हम पर आक्रमण करने वाले शत्रु को तोड़ फोड़ डाल।' यह मन्त्र सायण ने सहदेवी औषधि पर लगाया है। परन्तु इस वर्णन से 'सहदेवी' ओषधि 'अति बलवती अग्नि, दाह धारण करने वाली' विशेष कृत्या या घातक शक्ति प्रतीत होती है। जिनका प्रयोग 'बारूद' के समान विस्फोटक पदार्थ से किया जाता है। और वह सेना में पड़ते ही उनको तोड़ फोड़ देती है। इसी का वर्णन अगले मन्त्र में है।

असद् भूम्याः समभवत् तद् याम् एति महद् व्यचः।
तद् वै ततो विधूपायत् प्रत्यक् कर्त्तारमृच्छतु॥

भूमि से कोई पदार्थ छोटा सा नाचीज या तुच्छ से रूपमें रहता है। वह अकाश में जाते ही फैल जाता है, वहां से नाना प्रकार से प्रज्वलित होता है, तब वह अपने विरोधी तक पहुँचता है।

यह ऐसा गोला प्रतीत होता है जो आकाश में फूटे और वहां से ही शत्रु पर मार करे। आज कल के महायुद्धों में श्रेपनल, बाम्ब आदि के स्वरूप देखने से प्रचीन सहदेवी आदि महा शक्तिओं का अनुमान हो सकता है। इन गोलों में से निकलने वाले चाकू, कील, गोली आदि घातक पदार्थों को सायण ने 'पिशाची' नाम से कहा है। वे शरीर में लगकर खून कर देती हैं। इसी से वे पिशाची हैं। इस प्रकार कृत्या का कुछ विवेचन हमने कर दिया है।

(३) अभिचार

शत्रुओं के आक्रमण को अभिचार कहा जाता है। इसका स्पष्टार्थ मन्त्र में आये प्रयोग से स्पष्ट होता है—प्रति तम् अभिचर योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः। (अथर्व० २।११।३॥) जो हम से द्वेष करता है जिससे हम द्वेष करते हैं उस पर तू चढ़ जा। वेद में अभिचार शब्द का प्रयोग भी कई स्थानों पर हुआ है जैसे—

(१) परि त्वा पातु समानेभ्योऽभिचारात् सबन्धुभ्यः। अथर्व० ८।२।२६॥

(२) यस्त्वा अभिचेरः पुरुषः स्वो यद् अरणो जनः।

उक्त दोनों प्रयोगों से प्रतीत होता है कि 'अभिचार' शब्द द्वेष कृत आक्रमण का नाम है। केवल दूसरों को हानि पहुँचाने के लिये मन्त्र पाठ करके कोई टोना चला देना 'अभिचार' शब्द से अभिप्रेत नहीं है। लौकिक साहित्य में भी 'अभिचार' शब्द का प्रयोग शत्रु पर आक्रमण करनेके लिये प्रयुक्त होता रहा है जैसा कि कामन्दक ने लिखा है—

यस्याभिचारवज्रेण वज्रज्वलनतेजसा। पपात मूलतः श्रीमान् सुपर्वा नन्दपर्वतः॥

अर्थात् चाणक्य के अभिचार रूप वज्र से नन्द राजारूप पर्वत मूल से उखड़ कर गिर पड़ा। चाणक्य ने नन्द पर कोई टोना नहीं किया था प्रत्युत राजनीति द्वारा विग्रह किया, उसकी सेनाओं पर आक्रमण कराया और उसका विजय किया था। शत्रु के प्रति समस्त विजयोपयोगी क्रिया कलाप 'अभिचार' शब्द में आ जाता है। वेद में भी अभिचार शब्द से

यही अभिप्रेत है। इसके अतिरिक्त विनियोगकारों ने जिन सूक्तों का अभि-चार कर्म में प्रयोग लिखा है उन पर थोड़ा विचार करते हैं।

(१) अथर्व का० २। सू० १२॥ यह सूक्त 'भरद्वाजप्रव्रस्क' नामक सूक्त कहा जाता है उसमें तप की साधना का वर्णन है। उसको अभिचार कर्म के लिये दण्ड काटने के लिये प्रयुक्त किया है।

(२) अथर्व० का० ४। सू० १६॥ वरुण सूक्त है। इसमें सर्वव्यापक परमेश्वर के शासन का वर्णन किया गया गया है। इस सूक्त का विनियोग भी अभिचार कर्म में शत्रु को ललकारने के लिये है।

(३) अथर्व० का ५। सू० ८॥ इसको अभिचार कर्म के होम करने में लगाया गया है। परन्तु इसमें सैनिकों और सेनापतियों के कर्तव्यों का वर्णन है। यह वास्तव में युद्धविद्या की शिक्षा देता है।

'अति धावत अतिसरा इन्द्रस्य वचसा हत।'

'हे शत्रु को अति क्रमण करके वेग से जानेवाले वीर योद्धाओ! वेग से दौड़ो और इन्द्र अर्थात् सेनापति की आज्ञा पाकर अस्त्र प्रहार करो।' और (अविं वृक इव मथ्नीत) भेड़िया जैसे भेड़ को झंझोटता है ऐसे शत्रु को झंझोट डालो। (स वो जीवन् मा मोचि) वह तुम से बच कर न निकल जाय। (प्राणमस्यापि नह्यत) इसके प्राणों के उपायों को बाँध लो इत्यादि युद्ध के समय शत्रुविजयोपयोगी कार्यों का वर्णन किया है।

(४) अथर्व० का० ५। सू० १७ और १८॥ इसमें ब्रह्म शक्ति का वर्णन है। इन सूक्तों से 'ब्रह्मशक्ति के प्राप्त करने के उपाय प्राप्त होते हैं। परन्तु अभिचार करनेवाले ब्रह्मचारी के लिये इनको जाप करने का लिख दिया है। सरल बात तो शक्ति प्राप्त करने और ब्रह्मचर्य करने की है।

(५) अथर्व का० ७। सू० ७० में दुष्ट पुरुषों के नाश करने की आज्ञा है। उसका प्रयोग अभिचार के लिये तुषों के होमने में किया है।

(६) अथर्व० का० ६। सूक्त ३७॥ यह सूक्त अभिचार से बचने के लिये विनियुक्त है। इस सूक्त में वेद कठोर भाषण करने वाले के प्रति

सहिष्णुता के व्यवहार का उपदेश करता है। फलतः विनियोगकारों के मत में कठोर वचन कहना भी अभिचार में सम्मिलित है।

(७) अथर्व० का० ६। सू० ५४॥ इस सूक्त को अभिचार कर्म में तुष आदि होम में लगाया है वस्तुतः वह सूक्त राजा की नियुक्ति और उसके दुष्टदमन के कर्त्तव्यों का उपदेश करता है।

(८) अथर्व० का० ६। सू० १३३॥ इससे अभिचार कर्म में मेखला बन्धन करने को लिखा है परन्तु वही उपनयन कर्म में मेखला बन्धन के लिये भी है। इस में मेखला बन्धन का सामान्य नियम है। एवं उस से बल प्राप्त करने के सिद्धान्त का निरूपण किया है।

(९) अथर्व० का० ६। सू० १३॥ इससे अभिचार कर्म के निमित्त दण्ड के अभिमन्त्रण का विनियोग है। इस सूक्त में वज्र या खड्ग द्वारा शत्रुओं के नाश करने की आज्ञा है।

(१०) अथर्व० का० ७। सू० ३५,३६,७७ और १०८ (११३)। इन सूक्तों से विजुली से नष्ट वृक्ष की समिधाओं के आधान का उपदेश है। परन्तु इन तीनों सूक्तों में शत्रुओं के पराजय और दुष्ट पुरुष के नाश करने के लिये प्रार्थना की गई है। और राजा को उसके कर्त्तव्य बतलाये गये हैं कि वह हत्याकारी प्रजापीड़क पुरुषों को दण्ड करे और उनका दमन करे।

इस विवेचन से हम स्वयं वेद के मन्त्रों का वास्तविक अर्थ जान कर विनियोगकारों की प्रवृत्ति मात्र देख सकते हैं। परन्तु उनमें टोटके वाले अभिचार का वर्णन नहीं है। इसी स्थान पर यह लिखना भी असंगत नहीं है कि वेद में एक 'कृत्याप्रतिहरण' गण है। इस गण में निम्नलिखित सूक्त हैं—अथर्व० (२। ११), (४। १७), (४। १८), (४। ४०), (४। १९), (५। १४), (५। ३१), (८।५) इन सूक्तों में प्रायः राजा और सेनापति को नाना प्रकार से शत्रु पर जा चढ़ने और भयंकर अस्त्र शस्त्रों के प्रयोग करने का उपदेश किया है। इसी प्रकार उनमें वीर

शिरोमणि पुरुषों को रखने, सेनासंञ्चालन करने का भी उपदेश है। जो पाठक यथास्थान भाष्य में देखेंगे।

(४) टोटके

विनियोगकारों ने कुछ सूक्तों को ऐसे २ कामों में विनियोग किया है जिनसे प्रयोक्ता की दुरिच्छा पूरी हो। परन्तु दृढ़ विश्वास है कि वेद उन दुष्ट कार्यों का उपदेश नहीं करता। उन सूक्तों को हम संक्षेप से यहाँ विवेचना करते हैं—

(१) स्त्रीदौर्भाग्यकरण—अथर्व का० १ सू० १४ ॥ इस सूक्त को कौशिक ने स्त्री और पुरुष के दौर्भाग्य करने के लिये लिखा है। सायण ने केवल स्त्री को घर से निकाल कर उसके गहने कपड़े छीन कर मां बाप के घर आजीवन छोड़ रखने परक सूक्त का अर्थ लिया है। वह बहुत असंगत एवं विरुद्ध है। इसका विवेचन हमने प्रथम खण्ड की भूमिका में कर दिया है। पाठक वहाँ ही देखें। वस्तुतः वह सूक्त १ म कन्या स्वीकार, २ य कन्या दान और, ३ य विवाह द्वारा सौभाग्योत्पादन का प्रतिपादन करता है।

(२) स्त्रीवशीकरण—अथर्व का० २। सू० ३० ॥ यह सूक्त स्त्री को वश करने के लिये वृक्ष की छाल, तगर, अंजन, कूठ आदि घिस कर घी में मिला कर स्त्री के शरीर पर लगाने में लगाया हुआ है। वस्तुतः इस सूक्त में एक दूसरे के मन को आकर्षित करके परस्पर वरण करने का उपदेश किया है।

(३) सपत्नीजय—अथर्व का० ३। सू० १८ ॥ द्वारा सपत्नी या सौत को वश करने के लिये वाणपर्णी ओषधि के पत्तों को लाल बकरी के दूध में पीस, मिला कर उसको सेज पर डालने के लिये लिखा है। परन्तु उस सूक्त में किसी ओषधि का नाम नहीं है।

केवल उत्तानपर्णा, देवजूता, सहस्वती, सासहि, सहमाना, सहीयसी आदि शब्दों का प्रयोग किया है। अनुक्रमणिकाकारने इसका 'उपनिषत्सपत्नी बाधन देवता' लिखा है। इसकी ऋषिका इन्द्राणी है। अब पाठक स्वयं

देख सकते हैं कि उपनिषद् अर्थात् ब्रह्म विद्या की सपत्नी क्या है। अवश्य तामस अविद्या ही उसकी सपत्नी है। इस सूक्त में उसी के बाधन का उपदेश है। ऋग्वेद १०। १४५॥ में भी ये मन्त्र आते हैं बहुतों को वहाँ भी वही भ्रम होता है। 'ऋग्वेदालोचन' पुस्तक के कर्त्ता श्री पं० नरदेव शास्त्री, वेदतीर्थ ने अपनी पुस्तक के पृष्ठ १६८ में सपत्नी बाधन सूक्त को देकर उससे वेद में बहुपत्नी विधान और एक पुरुष की बहुतसी पत्नियों में परस्पर कलह के कारण एक दूसरे के नाश करने की आज्ञा वेद में है ऐसा स्वीकार सा कर लिया है। हमारी तुच्छ बुद्धि में वेद में यदि बहुपत्नी का विधान हो भी, तो भी कम से कम परस्पर प्रेम से रहने का उपदेश होना सम्भव था, नकि कलह के मार्ग भी वेद दिखाता। घरू बरबादी का कार्य वेद में देखनेवालों को और अधिक सावधान होना चाहिये। यदि देवता पर भी दृष्टि कर ली जाती तो वह कलंक वेद पर न आता। इसका विवरण भाष्य में देखें।

(४) स्त्रीवशीकरण के लिये (अथर्व० ३। २५) सूक्त का भी प्रयोग किया है। साथ ही सायण ने जैसे लिखा है—'उत्तुदस्त्वा इति सूक्तं जपन् स्त्रीवशीकरणकामः अंगुल्याः स्त्रियं तुदेत्।' अर्थात् इस सूक्त से स्त्री को वश करने के लिये अङ्गुली से स्त्री को छेड़े। या वेरी के २१ कांटे घी से भिगोकर रास्ते में डाल दे। इत्यादि पाँच, चार प्रकार बतलाये हैं। क्या वेद में ऐसी छेड़खानी की बातें भी सम्भव हैं। नहीं। प्रत्युत, वेद ने कामशास्त्र और परस्पर अभिलाषा और प्रेम की वृद्धि का बड़ा मार्मिक उपदेश किया है। जो इस रहस्य को नहीं जानते वे गृहस्थ में कभी सफल नहीं हो सकते। कल्पोक्त क्रियाओं का अभिप्राय और रहस्य अपना अलग है, परन्तु वह नहीं है जो सायण आदि ने लगाना चाहा है।

(५) अथर्व० का० ४। सू० ३३ को पुरुष और स्त्री के परस्पर अभिरति को दूर करने के लिये बहुत सी कंकरें फं.ने के लिये लगाया है। वस्तुतः यह सूक्त पापनाश करने की प्रार्थना मात्र है। इसके विचार से

हृदय पवित्र होता है। यदि इससे स्त्री पुरुषों के परस्पर कामजनित दुर्विचार भी शान्त हों तो कोई आश्चर्य नहीं है। परन्तु यह कोई टोटका नहीं है। 'अग्नि स्वरूप परमेश्वर से पापों को जला देने की प्रार्थना द्वारा मन से पाप अवश्य दूर हो जाता है।

इसी प्रकार अन्य भी मोहनादि के विनियोग लिखे हैं उनको हम अनावश्यक जान कर छोड़ते हैं।

(५) घृणित विनियोग

विनियोगकारों ने कुछ एक बहुत ही घृणित विनियोग भी लिखकर अथर्ववेद को बहुत दूषित रूप देने का यत्न किया है। हम कुछ नमूने उनके भी लिखते हैं—

(१) अथर्व० का० ४। सू० ५ में निद्राविषयक विज्ञान का प्रदर्शन किया है। उसे परदारागमन के निमित्त स्त्री के सम्बधियों को सुलाने में विनियोग किया है।

(२) का० ५ सू० १,२॥ दोनों का विनियोग पुष्टि के लिये ऋतुमती स्त्री के रजोरुधिर को तर्जनी और मध्यमा अंगुलि से खाने में भी किया है। ये दोनों सूक्त जगत्स्रष्टा की सर्जन शक्ति का वर्णन करते हैं।

(३) अथर्व० का० ५। सू० ५ में 'गर्भाधान' के रहस्यविद्या का उपदेश किया है। उसका विनियोग पालाश को लकड़ी को चन्दन के समान रगड़ कर उसको गुह्याङ्ग पर लगाने में किया है।

(४) का० ७। सू० १९॥ में प्रजापति परमेश्वर से प्रजा, और ऐश्वर्य की याचना की है। उस सूक्त को लाल बकरे का मांस खाने भी किया है।

(५) का० ७। सू० ५२, (५४) में परस्पर मिल कर रहने का उपदेश किया है। परन्तु इस सूक्त से तीन वर्ष की बछड़ी का मांस खाने में विनियोग भी कर डाला गया है।

(६) का० ७। सू० ८३ (८८) इसमें परमेश्वर से बन्धनों की

मुक्ति की प्रार्थना की है। परन्तु कौशिक सूत्र में इस सूक्त से धूमकेतु के दर्शन के प्रायश्चित्त के लिये वरुण के निमित्त पशु काटना लिखा है।

(७) का० ९। सू० ४ में ऋषभ के दृष्टान्त से परमेश्वर की महान् विश्वधारणी शक्ति का प्रतिपादन किया है और इसी प्रकार सू० ५ में अज के नाम से अजन्मा पञ्चौदन आत्मा का वर्णन किया है। परन्तु कौशिक सूत्रानुसारी श्री पं० शंकर पाण्डुरंग ने दोनों का विनियोग क्रम से इन्द्र के निमित्त बैल मारने और पञ्चौदन सव में बकरा मारने में कर दिया है।

इसी प्रकार और भी बहुत से मूर्खता युक्त विनियोग हैं जिन को कौशिक सूत्र, वैतान सूत्र और नक्षत्र कल्प आदि ने दर्शाया है परन्तु गम्भीर दृष्टि से इन तुच्छ बातों का वेद मन्त्रों के सूक्तों में कहीं लेशमात्र भी नहीं दीखता। जिसका स्पष्ट निरूपण भाष्य में देख सकते हैं।

(६) पशुबलि और पशुहोम

कुछ सूक्तों में हम पूर्व दर्शा आये हैं कि पशुओं के मारने का विनियोग दिखाई देता है। इस स्थल पर संक्षेप में हम पशुबलि की मीमांसा करते हैं।

(१) का० २। सू० ३४। 'य ईशे पशुपति०' इत्यादि सूक्त का श्री सायणाचार्य ने पशुमारणपरक अर्थ किया है। इस में उसको बलि कर्म की दिशा दिखाने वाला कौशिक प्रोक्त विनियोग ही है। परन्तु खेद है कि सायण के से विद्वान् ने पशुबलि के अतिरिक्त इसी सूक्त पर लिखे सर्वाधिपत्य की कामना करने वाले के लिये इन्द्र अग्नि के यज्ञपरक विनियोग और ब्राह्मणों को अन्नदान करनेपरक विनियोग को देकर भी उन परक अर्थ नहीं दर्शाया। नहीं तो पशुबलिपरक अर्थों का आप से आप समाधान हो जाता। अब ज़रा सायणकृत अर्थों पर विचार करलें।

प्रथम मन्त्र में सायण को अभिमत है कि पशुपति पशुओंका पालक रुद्र दोपाये, चौपाये सबका नियन्ता है। उससे (निष्क्रीतः) स्वतन्त्र किया हुआ। [यज्ञरूप पशु] यज्ञार्ह भाग को प्राप्त हो। और पशु

सुवर्ण आदि समृद्धियां यजमान को प्राप्त हों। पाठक थोड़ा विचारें कि जो पशुहत्या करेगा पशुपति परमात्मा क्या उसको पशु समृद्धि देगा? कैसी उलटी बात है। यहाँ सायण ने 'वशारूप पशु' यह पद अपनी ओर से गढ़ कर लगाये हैं। 'वशा' तो परमेश्वर की सर्ववशकारिणी ज्ञानमयी शक्ति है। यहाँ तो प्रत्येक जीव को स्वतन्त्र, बन्धन मुक्त होकर ईश्वर के उपास्य रूप को प्राप्त होने की प्रेरणा है। दूसरा मन्त्र लीजिये।

प्रमुञ्चन्तो भुवनस्य रेतः गातु धत्त यजमानाय देवाः।

सायण अर्थ करते हैं, हे (देवाः) मारे जानेवाले पशु के चक्षु आदि प्राणो! तुम लोग (भुवनस्य रेतः) समस्त प्राणियों द्वारा या उत्पत्ति के कारण रूप पुण्य लोकों को जाने का मार्ग (धत्त) बनाओ।

उपाकृतं शशमान यदस्थात् प्रियं देवानामप्येतु पाथः॥

उपाकरण संस्कार से युक्त (शशमानम्) मारे जाते हुए और यत् (देवानां प्रियं पाथः) जो देवों के प्रिय अन्न अर्थात् मांस (अस्थात्) है उसको यह पशु (अप्येतु) प्राप्त हो। इस अर्थ में सायण ने मरते तड़पते पशु के प्राणों से यजमान के लिये स्वर्ग के मार्ग बनाने की आशा की है और पशु मांस को देवों का प्रिय बतलाया है। जहाँ तक हम गल्ती नहीं करते, माँस आदि पिशाचों और राक्षसों का भोजन है। देवों का नहीं है। सायण ने यह वाममार्गपरक अर्थ बड़े खैंचतान कर किया है। 'देवाः' से मरते प्राणि के प्राण का ग्रहण करना और 'पाथः' शब्द से मरते 'पशु का माँस' ग्रहण करना खैंचातानी है। वास्तविक अर्थ भाष्य में देखिये। पाँचवें मन्त्र में सायण ने अद्भुत चमत्कार दिखलाया है। मन्त्र है—

'प्रजानन्तः प्रतिगृह्णन्तु पूर्वे प्राणम् अङ्गेभ्यः पर्याचरन्तम्।
दिवं गच्छ प्रतितिष्ठा शरीरैः स्वर्गं याहि पथिभिर्देवयानैः॥

हे मारे जानेवाले पशु! देव लोग (प्रजानन्तः) तेरा माहात्म्य जानते हुए तेरे अंगों से निकलते प्राण को ले लें और उन से तू अन्तरिक्ष को जा और देवयान मार्गों से स्वर्ग को जा।

बलिदान करनेवालों का ढकोंसला सायण ने वेद मन्त्र से निकाल ही दिया कि यज्ञ में मारा जाने वाला पशु देवों के अनुग्रह से देवयान मार्गों से सीधा स्वर्ग को जाता है। यदि इसी प्रकार पशुओं को देवयान मार्गों से स्वर्ग और मोक्ष मिलने लगा तो संसार भर के सब पशुओं का संहार करके क्यों न स्वर्ग का द्वार खोल दिया जाय। फिर तिर्यग् योनियों के लिये द्वार खुलते ही मनुष्य योनि क्यों तपस्या में समय यापन करे। चार्वाक बृहस्पति ने तो ठीक ही कहा था—

पशुश्चेन्निहतः स्वर्ग ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते॥

यदि ज्योतिष्टोमादि यज्ञ में मारा गया पशु स्वर्ग जा सकता है तो यजमान अपने बाप को मार कर क्यों नहीं स्वर्ग पहुँचाता। सायण की बुद्धि को इन ढकोंसलों के आगे इतना भी कहने का साहस नहीं रहा कि वह उपनिषद् में बतलाये देवयान मार्गों को वेद में देख कर मोक्ष मार्ग का वर्णन वेद में देखता।

सायण के पीछे कदम रखनेवाले योरोपीयन पण्डितों ने भी कौशिकोक्त वशाशमन को विनियोग देख कर अपने अर्थों का झुकाव पशुबलिपरक ही किया है।

यहाँ तक हमने संक्षेप से एक सूक्त के पशुबलिपरक किये वेद मन्त्रार्थों की विवेचना की है। इनका वास्तविक अर्थ भाष्य में देखने का पाठक गण कष्ट करेंगे।

(२) अथर्व० का० ५। सू० १२ की उत्थानिका में पं० शंकरपाण्डुरंग ने इस सूक्त से वशाशमन कर्म में उसकी वपा अर्थात् चर्बी के चार भाग करके एक भाग को इस सूक्त से होमने को लिखा है। इसी प्रकार (५.२७) सूक्त से द्वितीय भाग को और दोनों से तीसरे भाग को और 'अनुमतये स्वाहा' से चोथे भाग को होमने को लिखा है। इन सूक्तों पर सायण का भाष्य उपलब्ध नहीं होता। और न इनमें कहीं वशाशमन

अर्थात् वन्ध्या गौ के मारने का वर्णन ही उपलब्ध होता है। वशा का प्रकरण १० वें काण्ड के १० वें सूक्त में विस्तार से आवेगा जिस की विवेचना हम तृतीय खण्ड की भूमिका में करेंगे। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि दोनों सूक्तों में ईश्वर के गुणों का वर्णन और उसकी यथार्थ उपासना करने का भली प्रकार उपदेश किया है। जिसे प्रस्तुत भाष्य में ही देखना उचित है।

(७) अज पञ्चौदन

अथर्व० का० ४। सू० १४ में अज प्रजापके स्वरूप का वर्णन है। परन्तु इस सूक्त में भी सायण भाष्य में वही लीला की है। इस सूक्त के ६ ठे मन्त्र में यजमान को स्वर्ग में ढोकर लेजाने के लिये बलि के मरे बकरे को बड़ा भारी (सुपर्ण) गरुड़ पक्षी बना दिया है जिस पर चढ़कर यजमान सीधा स्वर्ग चला जाय। चार्वाक की युक्ति से तो यदि इस नये अविष्कार से यजमान को ही मार कर गरुड़ बनाया जाता तो बड़ा उत्तम होता। ६ ठे मन्त्र में अजौदन अर्थात् पके बकरे और भात को विचित्र रूप में रखनेपरक अर्थ किया है—

प्राच्यां दिशि शिरो अजस्य धेहि दक्षिणायां दिशि दक्षिणं धेहि पार्श्वम्।

अर्थात् हे पाचक! तू पूर्व में बकरे का शिर रख और दक्षिण में दांया पासा रख।

और—प्रतीच्यां दिशि भसदमस्य धेहि उत्तरस्यां दिशि उत्तरं धेहि पार्श्वम्।
ऊर्ध्वायां दिशि अजस्यानूकं धेहि ध्रुवायां धेहि पाजस्यमन्तरिक्षे मध्यतो मध्यमस्य॥

अर्थात् पश्चिम में बकरे का कटि भाग भात सहित रख, और उत्तर में उत्तर का भाग, ऊपर में पीठ का भाग, और नीचे भूमि पर पेट का भाग गाड़ दे। और बीच में मध्य का भाग और आकाश में शरीर के बीच के आकाश को जोड़ दे।

मन्त्र ७—शृतमजं शृतया प्रोर्णुहि त्वचा सर्वैरङ्गैः संभृतं विश्वरूपम्।
स उत्तिष्ठ उतो अभिनाकमुत्तमं पद्भिश्चतुर्भिः प्रतितिष्ठ दिक्षु॥

हे काटने वाले ! तू पके बकरे को पकी चमड़ी से ढक दे। उस के सब अंगों से उसका (विश्वरूपम्) सर्वाकार बना रहे। हे बकरे ! इस प्रकार तू सब से ऊंचे (नाकम्) सुखमय लोक को पहुँच और चारों पैरों से चारों दिशाओं से प्रतिष्ठित हो।' इस मन्त्र के सायंण, ग्रीफ़िथ और ह्विट्ने तीनों ने ऐसे ही अर्थ किये हैं। वाह वेद के कैसे सुन्दर ! अर्थ किये गये हैं। सायण जैसे विद्वान् और ह्विटनी जैसे गवेषक विद्वानों ने भी इस सूक्त के अर्थ करने में भारी कृपणता से काम लिया है विकृत पाठों के यथार्थ रूप खोज लेनेके लिये तो ये विद्वान् समस्त संस्कृतसाहित्यके अपार सागर की गहरी तह में से भी उस २ प्रकार की सब रचनाओं के नमूने निकाल कर विवेचना करते हैं, परन्तु इन स्थानों पर उनकी सब शक्ति कुण्ठित हो जाती है। 'विश्वरूप', 'अज' शब्द देखकर भी विराट्रूप परमेश्वर के वर्णन की संगति इन भाष्यकारों के दृष्टि गोचर नहीं होती। यदि ये बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रारम्भ में कहे 'विराट् अश्व' के अलंकार को पढ़ जाते तो कदाचित् 'अज प्रजापति' के विराट् रूप की कल्पना भी संगत कर लेते। यदि दूर नहीं जाते तो अथर्ववेद में ही काण्ड ९। सू० ५ में वर्णित अज का स्वरूप तो देख लेते।

अजो वा इदमग्रे व्यक्रमत तस्य उर इयमभवद् द्यौः पृष्ठम्।
अन्तरिक्षं मध्यं दिशः पार्श्वे समुद्रौ कुक्षी ॥ म० २० ॥

अर्थात् सृष्टि के भी पूर्व वह अजन्मा परमेश्वर इस संसार में व्याप्त है जिसकी छाती यह भूमि थी, पीठ द्यौः या आकाश था, अन्तरिक्ष नीचे का भाग था, दिशाएं पार्श्व थे और समुद्र कुक्षि थे। इत्यादि वर्णन की ही योजना उक्त विराट् अज के अंगों की स्थिति समझने के लिये लगानी चाहिये थी। यह सब न करके पूर्व लिखित भ्रष्टार्थ और भ्रष्ट कर्म पद्धति बतला कर भाष्यकारों ने अपनी बुद्धि की मन्दता ही दिखाई है। वेद के वर्णनों को मन्दबुद्धियों के बनाये कर्म काण्डों से लगाने की अपेक्षा वेद के सिद्धान्तप्रदर्शक उपनिषद् जो वेदान्त (वेद-सिद्धान्त) कहाते हैं

उनके अनुसार ही लगाना चाहिये था। जिसका प्रदर्शन पाठकगण भाष्य में स्पष्ट रीति से पावेंगे। भूमिका में तो हमने केवल भाष्य की दिशा का ही बोध कराया है और अन्य भाष्यों के नमूने और उनकी दिशा का प्रदर्शन कराकर तुलना करके वेद के वास्तविक विशुद्ध अर्थों पर चढ़े अनर्थकारी लेपों का पाठकों को परिज्ञान कराने का ही यत्न किया है।

(८) विष्टारी ओदन

अथर्व० का० ४। सू० ३४। में विष्टारी ओदन का वर्णन है। जिस में परम प्रजापति की उपासना और उसका उत्तम मोक्ष फल दर्शाया गया है। परन्तु हमारे बहुश्रुत सायणाचार्य ने एक मन्त्र में ओदन का विराट् प्रजापति रूप स्वीकार कर लिया है परन्तु दूसरे मन्त्र में स्त्रियों से भरे हुए स्वर्ग को ढूंढ लिया है। मन्त्र है—

अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः शुचिमपि यन्ति लोकम्।
नैषां शिश्नं प्र दहति जातवेदाः स्वर्गे लोके बहु स्त्रैणमेषाम्॥

'(अनस्थाः) हड्डि आदि षट् कोषों के बने शरीर से रहित, अमृत मय, पवित्र, शुद्ध तेजस्वी लोग पवित्र लोक को जाते हैं। (जातवेदाः) समस्त पदार्थों का ज्ञाता अग्नि उनके (शिश्नं न प्रदहति) भोग साधन इन्द्रिय को नहीं नष्ट करता। क्योंकि वहां उनके लिये (बहु स्त्रैणम्) बहुतसी स्त्रियों का जमघट है।' सायण के इस अर्थ के अनुसार तो 'नाक' अर्थात् वेदोक्त स्वर्ग भी हूरों से भरे हुए बहिश्त और विष्णु के गोलोक से क्या कम रहा।

५ वें ६ ठे मन्त्र में तो स्वर्ग में उत्तम नहरें, कमल आदि का वर्णन भी प्राप्त होगया है। फलतः हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि वेद के इस प्रकार के अर्थ सर्वथा बुद्धिविरुद्ध एवं आर्ष आस्तिक दर्शनों के सिद्धान्तों से संगति नहीं खाते। इस लिये ये अर्थ सर्वथा असंगत हैं। इस समस्या का स्पष्टीकरण हमने भाष्य में उसी स्थान पर कर दिया है पाठक वहां ही देखें।

(६) द्यूत क्रीड़ा

अथर्व वेद के कुछ सूक्तों को कौशिक ने द्यूत क्रीड़ा आदि में भी लगाया है। सायण ने उसके पीछे चलकर कई मन्त्रों में जूए द्वारा धन प्राप्त करने तक के उपदेश वेद के माथे लगा दिये, उसमें देवों को भी सहायक माना है। इस प्रकार सायण ने जुआड़ी लोगों के बुरे पेशों को वेदानु-मोदित कह कर बड़ा अनर्थ किया है। जैसे—

(१) अथर्व० का० ७। सू० ५० (५२) ॥ इस सूक्त से जूए के पासों को अभिमन्त्रित करके फेंकने के लिये लिखा है। परन्तु इस सूक्त में आत्मसंयम का उपदेश किया है। इस सूक्त में 'कितवान् अक्षै र्बध्यासम्' [१] कितवों को अक्षों से मारूँ, 'अन्तर्हितं कृतं मम' [२] कृत को मैंने अपने हाथ में कर लिया। 'मथ्नामिते कृतम्। [४] इत्यादि पदों में सायण 'कृत' शब्द से जूए का एक मोहरा समझते हैं और कितव का अर्थ जुआखोर समझते हैं। इन आधारों से आपने समस्त सूक्त को जूए पर लगा दिया है। परन्तु उनका यह भ्रम मात्र है। क्योंकि मन्त्र ६ में 'कृतम् इव श्वघ्नी' उपमा दी है। अर्थात् श्वघ्नी द्यूतकार तो उपमान है। उपमेय अवश्य इससे भिन्न है। इसका यथार्थ अर्थ भाष्य में देखें।

(२) अथर्व० का० ७। सू० १०९ (१० ४) ॥ इस सूक्त के ४–७ तक चारों मन्त्र द्यूतजयकर्म में विनियुक्त हैं। वस्तुतः इस सूक्त में ब्रह्मचारी को इन्द्रियजय और राजा को अपने चरों पर वशीकरण करने का उपदेश किया है। 'अक्ष' आदि शब्द श्लेष से प्रयोग किये हैं। इसलिये सायण आदि को भ्रम होता है। क्या राजा, रानी और इक्का आदि नाम आने से सभी जगह ताशों की खेल ले लेना उचित है? नहीं। इसी प्रकार कृत, जय, कितव आदि नामों से भी सर्वत्र द्यूत प्रकरण समझना असंगत है। कितव आदि शब्दों के विरुद्ध प्रतिपादित अर्थों को ले लेने से रूढ़ि द्वारा हुए अनर्थ आप से आप दूर हो जाते हैं।

(१०) उपसंहार

इस खण्ड के अन्तर्गत काण्डों में आयी विशेष समस्याओं को यथा साध्य, यथामति सुलझाने का जो यत्न हमारी अल्पमति से हो सका है वह संक्षेप से इस संक्षिप्त एवं अल्प भाष्य में कर दिया गया है। परन्तु विस्तार से प्रतिपक्षियों के पद पद पर किये अनर्थों और आक्षेपों का विस्तार से उत्तर देने और समाधान करने के लिये बहुत विशाल ग्रन्थ की आवश्यकता है। उसके लिये तो पृथक् ही अथर्ववेद के सम्बन्ध के अलोचना-ग्रन्थ लिखे जाने आवश्यक हैं। उन के लिये आयास, तथा आर्थिक व्यय और लेखनार्थ विस्तृत काल भी अपेक्षित है। उस सब को हम भविष्य के लिये रख छोड़ते हैं। और विद्वान् महानुभावों से सप्रेम अनुनय करते हैं कि मेरे श्रम में जहां लक्षों त्रुटियां और न्यूनताएं एवं विचार का अपक्वताएं भी विद्यमान हैं उन पर अवश्य सन्मति का प्रयोग करके मुझे उन से विदित करावेंगे, जिस से मेरे जीवन काल में यदि ग्रन्थ के अन्य संस्करण हों तो उनको यथा-प्रमाण सुधार कर वेद के तत्वजिज्ञासुओं के समक्ष आप महानुभावों के प्रति पूर्ण कृतज्ञतापूर्ण सेवा समुपस्थित कर सकूं। और इस वेदाध्ययन रूप तप और वेदचिन्तन रूप ज्ञानयज्ञ में सफल हो सकूं। अन्त में भट्टकुमारिल के शब्दों में निवेदन है कि—

आगमप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्खलन्नपि।
नहि सद्वर्त्मना गच्छन् स्खलितेष्वप्यपोद्यते॥

अजमेर, केसरगंज
माघ शुक्ला दशमी,
१९८५ विक्रमाब्द।

विद्वानों का अनुचर
जयदेव शर्मा
विद्यालंकार मीमांसा तीर्थ।

( )

विषय सूची

षष्ठं काण्डम् (१–१६८)

सूक्त संख्या पृष्ठाङ्क

सप्तमं काण्डम् (१-२०७)

सूक्त संख्या पृष्ठाङ्क

अष्टमं काण्ड (१-१४३)

॥ इति ॥

नोट—प्रेस सम्बन्धी कुछ असुविधा हो जाने से इस खण्ड में क्रम से पृष्ठ संख्या न देकर प्रत्येक काण्ड की पृष्ठ संख्या हमने पृथक् २ आरम्भ की है।

ॐ ओ३म् ॐ

अथर्ववेदसंहिता

अथ षष्ठं काण्डम्

[१] ईश्वरस्तुति ।

अथर्वा ऋषिः । सविता देवता । १ त्रिपदा पिपीलिकामध्या साम्नी जगती । २-३ पिपीलिका मध्या परोष्णिक् । तृचं सूक्तम् ॥

दोषो गाय बृहद् गाय द्युमद्धेहि । आथर्वण स्तुहि देवं सवितारम् ॥ १ ॥

भा०—हे (आथर्वण) अथर्ववेद के विद्वान् ! ब्रह्म के उपासक ! (दोषा उ) दिन और रात्रि या प्रातः सायं दोनों कालों में (बृहत्) परमात्मा के सम्बन्ध में बृहत् नामक साम का (गाय) गायन कर । और (द्युमत्) प्रकाशस्वरूप आत्मा का ध्यान कर । और (सवितारम्) सब के उत्पादक, सब के प्रकाशक (देवम्) प्रकाशस्वरूप परम देव के (स्तुहि) गुणों का वर्णन किया कर । प्रजापतिर्वा अथर्वा । अग्निरेव दध्यङ्ङाथर्वणः । तै० सं० ५ । ६ । ६ । ३ ॥ परमात्मा अथर्वा कहाता है । और अग्नि, ज्ञानी पुरुष दध्यङ् अर्थात् योग समाधि द्वारा उस प्रजा-

[१] १-आथर्वणान्ता पादसमाप्तिरिति केचित् । ततो गायत्रीछन्दः । (द्वि०) 'द्युमद्गाय' इति पैप्प० सं० । (प्र०) 'दोष आगाद्' (द्वि०) 'द्युमद गामन्' इति साम० ॥

पति का ध्यान चिन्तन करता है 'दध्यङ् आथर्वण' कहाता है। 'त्वाम् इद्धि हवामहे' इत्यादि [ऋ० ६ । ४६ । १] ऋक् का साम बृहत्साम कहाता है।

तमु ष्टुहि यो अन्तः सिन्धौ सूनुः ।
सत्यस्य युवानमद्रोघवाचं सुशेवम् ॥ २ ॥

भा०—(तम् उ स्तुहि) हे विद्वान् ! ब्रह्मवेत्तः ! तू उसीकी स्तुति कर (यः) जो (अन्तः-सिन्धौ) महा प्रवाह, सागर या मूल प्रकृतिरूप कारण में (सत्यस्य) इस सत्यमय, सारभूत व्यक्त जगत् का (सूनुः) प्रेरक और उसका उत्पादक और (युवानम्) बनाने और प्रलय करनेवाला है जो (अद्रोघ-वाचम्) सदा द्रोहरहित प्रेम की वाणी से स्मरण करने योग्य, एवं प्रेममय वाणी का उपदेष्टा और (सुशेवम्) सुख से सेवन करने योग्य है।

स घा नो देवः सविता साविषदमृतानि भूरि ।
उभे सुष्टुती सुगातवे ॥ ३ ॥ ऋ० ७ । ४५ । ३ प्र० द्वि० ॥

भा०—(स घ) वह परमात्मा ही (देवः) एक ऐसा है जो (सविता) सब का उत्पादक है। वही (भूरि) नाना, बहुत से (अमृतानि) अमृतमय मोक्ष के साधनों, दीर्घ जीवन और अन्न (नः साविषत्) हमें देता है (उभे) दोनों प्रकार की (सु-स्तुती) उत्तम स्तुतियां (सुगातवे) उसी के गुणगान के लिये हैं।

२–'तमु स्तुहि अन्तः सिन्धुम् सूनुम् सत्यस्य .युवानम् । अद्रोघ–' इति पैप्प० सं० ।

३–(द्वि०) 'साविषद् वसुपतिर्वसूनि' (च०) 'सुगातुम्' इति पैप्प सं० । (तृ०) 'उभे सुषिती सुधातुः' इति आ० श्रौ० सू० । (तृ०) 'उभे श्रुती सुगाता वै' इति पेट० लाक्ष० । 'सुस्तुती' इति ग्रीफिथादि-सम्मतः ।

दोनों 'सुस्तुति' अर्थात् सामगायन 'स्तुत' और मन्त्रपाठ 'शस्त्र' हैं। प्रगीतमन्त्रसाध्या स्तुतिः स्तोत्रम्। अप्रगीतमन्त्रसाध्या स्तुतिः शस्त्रम्।



[२] समाधि द्वारा ब्रह्मरस पान।

अथर्वा ऋषिः। सोमो वनस्पतिर्देवता। १-३ परोष्णिहः तृचं सूक्तम्॥

इन्द्रा॑य॒ सोम॑मृत्विजः सुनोता॒ च॑ धावत।
स्तो॒तुर्यो वच॑ः शृणव॒द्धवं॑ च मे॥ १॥

भा०—हे (ऋत्विजः) हे ऋतु २ में यज्ञ करने हारे अथवा ऋतु=प्राणों का परस्पर यज्ञ=संगति करने वाले समाधि-कुशल योगी पुरुषो! उस (इन्द्राय) इन्द्र अपने आत्मा के लिये (सोमम्) ब्रह्मानन्द रस को (सुनोत) उत्पन्न करो और उसको (आ धावत च) भली प्रकार और भी परिमार्जित और स्वच्छ करो (यः) जो इन्द्र=आत्मा (स्तोतुः वचः) स्तुति करने हारे विद्वान् की वाणी (मे हवं च) और मेरी पुकार को (शृणवत्) सुनता है।

आ यं वि॒शन्ती॒न्द॑वो॒ वयो॒ न वृ॒क्षमन्ध॑सः।
विर॑प्शिन् वि मृधो॑ जहि रक्ष॒स्विनी॑ः॥ २॥

भा०—हे (वि-रप्शिन्) नाना प्रकार से वर्णन किये जाने योग्य महान् आत्मन्! (वृक्षं) वृक्ष पर (वयः न) जिस प्रकार नाना पक्षिगण आश्रय लेते हैं उसी प्रकार (अन्धसः) प्राण, जीवन शक्ति को धारण करने वाले (इन्दवः) परम विभूति-ऐश्वर्य से सम्पन्न ज्योतिर्मय ब्रह्म के

[२] १-(द्वि० तृ०) शृणोतना तु धानत। स्तोत्रियं हवं शृणवद् धवं तुनोः।'
२-(प्र०) 'आत्वा' इति पैप्प० सं०

रस या मुमुक्षुजन (यं) जिसके भीतर (विशन्ति) प्रवेश करते हैं वह तू (रक्षस्विनीः) विघ्नों से पूर्ण (मृधः) मन से लड़नेवाली मानस दुर्वृत्तियों को (वि जहि) विनाश कर ।

सुनोता सोमपाव्ने सोममिन्द्राय वज्रिणे ।
युवा जेतेशानः स पुरुष्टुतः ॥ ३ ॥ ऋ० ७ । ३२ । ८ प्र० द्वि० ॥

भा०—(सोम-पाव्ने) सोम=ब्रह्मानन्द-यायोगाभ्यास रस का पान करने वाले (वज्रिणे) वज्र=अपवर्ग अर्थात् नानाभव-बन्धन के काटने के साधनरूप ज्ञानखड्ग को धारण करनेवाले (इन्द्राय) इन्द्र परम-आत्मा के लिये (सोमं) सुनोत) सोम का सवन करो, अभ्यास रस को प्राप्त करो । (सः) वही (युवा) सदा शक्तिमान्, अनुपम सुन्दर, अथवा सब विरोधी वर्गों का नाशक (जेता) सब को विजय करनेवाला (पुरु-स्तुतः) नाना प्रजाओं द्वारा स्तुति किया हुआ (ईशानः) सर्वशक्तिमान् प्रभु है । केवल आत्मपक्ष में वज्र=वैराग्य, पुरु=इन्द्रियें ।



[३] रक्षा की प्रार्थना ।

स्वस्त्ययनकामोऽथर्वा ऋषिः । नाना देवताः । १ पथ्याबृहती । २–३ जगत्यौ ।
तृचं सूक्तम् ॥

पातं न इन्द्रापूषणादितिः पान्तु मरुतः ।
अपां नपात् सिन्धवः सप्त पातन पातु नो विष्णुरुत द्यौः ॥ १ ॥

भा०—रक्षा की प्रार्थना करते हैं । (नः) हमारी (इन्द्रापूषणा)

३–'सोमपाशे' इति पैप्प० सं० ।

[३] १–(प्र०) 'आश्विनां सुदेससा' (तृ० च०) 'विहर्ता कयस्याचिद्देवो सूवन्दाधितं शर्म यच्छ नः' इति पैप्प० सं० ।

इन्द्र और पूषा=विद्युत् और वायु (अदितिः) अदिति=पृथिवी या आदित्य और (मरुतः) नाना प्रकार की भिन्न भिन्न वायुएं या रश्मियां या प्रजागण, (अपां नपात्) अपः—समस्त लोकों का धारक, उनको स्थान से विचलित न होने देने वाला, महान् अन्तरिक्ष अथवा अग्नि और (सप्त सिन्धवः) सात गतिशील, प्रवहण आदि लोक संचालक वेग (पान्तु, पातन) रक्षा करें। और (विष्णुः) सर्वव्यापक आकाश और (द्यौः) प्रकाशस्वरूप, तेज ये तत्व भी (नः पातु) हमारी रक्षा करें।

अध्यात्म पक्ष में—सप्त सिन्धवः=सात ऊर्ध्व-प्राण । इन्द्र=आत्मा, मन, दक्षिण अक्षिगत प्राण, वाक्, और वीर्य । पूषा=पुष्टि, पोषक शक्ति, प्रजनन शक्ति । अदितिः=वायु, मुख्यप्राण, और अन्नग्राहक शक्ति । मरुतः=प्राण-गण। विष्णुः=यज्ञ आत्मा, वीर्य और श्रोत्र । द्यौः=प्राण । अनुमतिः=वाग् ।

पातां नो द्यावापृथिवी अभिष्टये पातु ग्रावा पातु सोमो नो अंहसः । पातु नो देवी सुभगा सरस्वती पात्वग्निः शिवा ये अस्य पायवः ॥ २ ॥

भा०—(द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी (अभिष्टये) अभीष्ट फल प्राप्त करने के निमित्त (नः) हमें (अंहसः) पाप से (पाताम्) सुरक्षित रखें। (ग्रावा) विद्वान् पुरुष जो उत्तम ज्ञान का उपदेश करे (अंहसः) पाप से वह हमें (पातु) सुरक्षित रखे। और (सोमः) सोम, सब का प्रेरक, उत्पादक प्रभु (नः) हमें (अंहसः पातु) पाप से बचावे । (सुभगा) सुख सौभाग्यमय (सरस्वती) ज्ञानमयी वेदवाणी (देवी) आनन्द को देनेहारी होकर (नः पातु) हमें पाप से बचावे। और (अग्निः) अग्नि, ज्ञानमय, स्वप्रकाश परमात्मा और (अस्य) इस प्रभु के बनाये (ये) जो और भी (पायवः) पवित्र करनेहारे (शिवाः) कल्याणकारी पदार्थ और विद्वान् हैं वे भी हमें सब पापों से बचावें।

२–(तृ०) 'सुहवा' इति पैप्प० सं० ।

पातां नो देवाश्विना शुभस्पती उषासानक्तोत नं उरुष्यताम् ।
अपां नपादभिहुती गयस्य चिद् देवं त्वष्टर्वर्धय सर्वतातये ॥३॥

भा०—(अश्विनौ देवौ) दोनों अश्विदेव, माता पिता, गुरु आचार्य (शुभस्पती) शुभ, उत्तम पुरुषों, प्रकाश युक्त लोकों के पालक (नः पातां) हमें पापों से बचावे । (उत) और (उषासानक्ता) उषा और रात्रि, दिन और रात, दोनों काल (नः) हमें (उरुष्यताम् [1]) पाप से बचावें । हे (अपां न पात्) समस्त प्रजा और लोकों एवं कर्मों और प्रजाओं तथा जगत् के आदि कारणभूत प्रकृति का रक्षक अधिपति प्रभु ! हे देव ! सर्वप्रकाशक, सर्वव्यापक, सर्व जगत् में रत ! हे (त्वष्टः) समस्त लोकों के गढ़नेवाले प्रभो ! (गयस्य चिद्) आत्मा के ही सब प्रकार के उत्तम फल प्राप्त करने के लिये (अभि-हुती) सब प्रकार की विषम दशा में (वर्धय) हमें बढ़ा, शक्ति प्रदान कर ।



[४] रक्षा की प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । नाना देवताः । १ पथ्याबृहती । २ संस्तार पंक्तिः । ३ त्रिपदा विराड् गायत्री । तृचं सूक्तम् ॥

त्वष्टा मे दैव्यं वचः पर्जन्यो ब्रह्मणस्पतिः ।
पुत्रैर्भ्रातृभिरदितिर्नु पातु नो दुष्टरं त्रायमाणं सहः ॥ १ ॥
साम० पू० २६६ ॥

भा०—(त्वष्टा) त्वष्टा=सब का उत्पादक, (पर्जन्यः) पर्जन्य=मेघ के समान सब पर सुखों का वर्षक, (ब्रह्मणस्पतिः) वेद, सत्यज्ञान

३–(तृ०) 'अभि हुती' इति सायणसम्मतः ।

१. उरुष्यतिः रक्षाकर्मा । निरु० ५ । ३३ ॥

[४] १–(च०) 'त्रायणे शवः' इति पैप्प०. सं० ।

और ब्रह्माण्ड एवं प्रकृति का पालक और (अदितिः) अदिति, अखण्ड, एक रस, (दुःन्तरं) जो दुस्तर=अपार अद्वितीय (त्रायमाणम्) रक्षा करने वाला (सहः) परम बल है वह (पुत्रैः भ्रातृभिः) हमारे पुत्रों और भाइयों सहित (नः) हमारी (पातु) रक्षा करे ।

अंशो भगो वरुणो मित्रो अर्यमादितिः पान्तु मरुतः ।
अप तस्य द्वेषो गमेदभिहुतो यावयच्छत्रुमन्तितम् ॥ २ ॥

भा०—(अंशः) अंश, सब कर्मों और भृत्तियों का प्रजा में विभाजक (भगः) सर्वैश्वर्यवान्, (वरुणः)सब से श्रेष्ठ, (मित्रः) मृत्यु से बचाने वाला, (अर्यमा) शत्रुओं का दमन करनेवाला, (अदितिः) अखण्ड शक्ति और (मरुतः) विद्वान् गण और प्राणगण (पान्तु) ये सब हमारी रक्षा करें । (तस्य) उस शत्रु का हमारे प्रति (अभिहुतः) कुटिल द्वेष भाव, अप्रीतिभाव (अपगमेत्) दूर हो । और (अन्तितम्) समीप आये हुए (शत्रून्) शत्रु को भी (यावयत्) दूर कर दे । अर्थात् द्वेष भाव नष्ट हो जाने पर शत्रु स्वयं समीप आकर भी हमसे दूर हो जाय ।

धिये समश्विना प्रावतं न उरुष्या ण उरुज्मन्नप्रयुच्छन् ।
द्यौ३ष्पितर्यावयं दुच्छुना या ॥ ३ ॥ प्र० ऋ० १।११७।२३ द्वि० ॥

भा०—हे (अश्विना) अश्वियो ! माता पिताओ ! (धिये) उत्तम आचरण और शुभमति के प्राप्त करने के लिये (नः) हमें (सं प्र अवतम्) भली प्रकार उत्तम रीति से आगे बढ़ाओ, उत्साहित करो । और हे (उरु-ज्मन्) उरु, समस्त लोकों में व्यापक परमात्मन्! आप (न प्रयुच्छन्) कभी प्रमाद न करते हुए (नः उरुष्य) हमारी रक्षा करें । हे (द्यौः पितः)

२—(द्वि०) 'अदितिः पात्वंहसः' इति पैप्प० सं० । 'अभिहृतः' इति सायणाभिमतः । 'यावयन्' इति ह्विटनिकामितः । 'अन्तितम्' इति-च्छेदोह्विटनिकामितः सायणाभिमतश्च । 'अन्तिथम्' इति पैप्प० सं० ।

समस्त प्राणियों के पालक ! द्यौः प्रकाशस्वरूप भगवन् ! (या दुच्छुना [१]) जो दुःखदायी फलों को लानेवाली तृष्णा है उसे (यवय) हम से दूर कर ।



[५] तेज, बल और ऐश्वर्य की प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । इन्द्राग्नी देवते । १–३ अनुष्टुभौ । २ भुरिग् अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

उदे॑नमुत्त॒रं न॑याग्ने घृ॒तेना॑हुत ।
समे॑नं॒ वर्च॑सा सृज प्र॒जया॑ च ब॒हुं कृ॑धि ॥ १ ॥ यजु० ३७ । ५० ॥

भा०—हे (घृतेन आ-हुत अग्ने) घी की आहुति से प्रज्वलित आग के समान घृत=प्रकाशमान लोकों से आहुत=अपने अधिष्ठाता रूप में स्वीकृत अग्ने ! प्रकाशमान्[१] सबके प्रकाशक परमेश्वर ! (एनम्) इस आत्मा को (उत् नय) ऊपर उठा । और (उत्तरं नय) उससे भी अधिक ऊंचा कर । और (एनम्) इसको (वर्चसा) ब्रह्मतेज से (सं-सृज) युक्तकर और (प्रजया च) प्रजा से इस मनुष्य को (बहुम् कृधि) बहुत संख्या में उत्पन्न कर ।

इन्द्रे॒मं प्र॑त॒रं कृ॑धि सजा॒ताना॑मसद् व॒शी ।
रा॒यस्पोषे॑ण॒ सं सृ॑ज जी॒वात॑वे ज॒रसे॑ नय ॥ २ ॥ यजु० १७ । ५१ ॥

भा०—हे इन्द्र ! ईश्वर ! (इमम्) इस पुरुषको (सजातानाम्)

२–१. दुष्टं शुनं सुखमस्याम् इति वाश्चेवं दुष्टेति वा सायणः ।

[५] १–(द्वि०) 'घृतेभिराहुतः' (च०) 'देवानां भागधा' इति पैप्प० सं० । (च०) 'प्रजया च धनेन च' इति तै० सं० ।

२–(प्र०) 'प्रतराम् नय' इति यजु० । (च०) 'देवेभ्यो भागधा असत्' इति मै० सं० ।

अपने समान अन्य जन्तुओं के (प्रतरम्) पार उतारने वाला, उनसे उत्कृष्ट (कृधि) बना। वह उन पर वश करने वाला हो। इस पुरुष को (रायस्पोषेण सं सृज) धन ऐश्वर्य की पुष्टि से युक्त कर। और (जीवातवे) चिर जीवन के लिये इसे (जरसे नय) बुढ़ापे के काल तक प्राप्त करा। उसे बुढ़ापे के पूर्व मृत्यु के वश न होने दे।

यस्यं कृण्मो हविर्गृहे तमंग्ने वर्धया त्वम् ।
तस्मै सोमो अधि ब्रवदयं च ब्रह्मणस्पतिः ॥ ३ ॥

यजु० १७ । ५२ ॥ उत्तरार्धः अथर्व० ६ । ८७ । ३ ॥

भा०—(यस्य गृहे) जिसके घर में हम (हविः) यज्ञके योग्य चरु और अन्नकी योग्य रूपसे आहुति (कृण्मः) करते हैं हे अग्ने! (तम्) उसको (त्वं) तू (वर्धय) बढ़ा, (तस्मै) उसके प्रति (सोमः) ज्ञानी पुरुष और (अयंच) यह (ब्रह्मणः पतिः) वेद का पालक विद्वान् भी (अधि ब्रवत्) नित्य उपदेश करे।



[६] दुष्टों के दमन की प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । ब्रह्मणस्पतिर्देवता सोमश्च । १–३ अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

यो॒३ऽस्मान् ब्रह्मणस्पते॒ देवो॑ अभि॒मन्य॑ते ।
सर्वं॒ तं र॑न्धयासि मे॒ यज॑मानाय सुन्व॒ते ॥ १ ॥

भा०—हे (ब्रह्मणः पते) ब्रह्म वेद के स्वामिन्! (यः) जो (अदेवः) स्वतः देव=विद्वान् न होकर (अस्मान्) हमें (अभि मन्यसे)

३–(प्र०) 'कुर्मो गृहे हविः' (तृ०) 'देवा अतिब्रवन्' इति यजु० तै० सं०, मै० सं०।

[६] १–(द्वि०) 'अभिदासति' इति पैप्प० सं०।

अपमानित करता है। (तं सर्वम्) उन सबको (सुन्वते) सोम सवन करने वाले (मे) मुझ (यजमानाय) यजमान देवोपासक के (रन्धयासि) वश कर।

यो नः सोम सुशंसिनो दुःशंसं आदिदेशति ।
वज्रेणास्य मुखे जहि स संपिष्टो अपायति ॥ २ ॥

भा०—हे सोम ! सौम्य स्वभाव ! राजन् (सुशंसिनः) उत्तम वाणी बोलने वाले, सभ्यः (नः) हम पर (यः) जो पुरुष (दुःशंसः) कुवाक्यवक्ता होकर (आ दिदेशति) हुक्म चलाता है। हे इन्द्र राजन् ! (अस्य) उसके (मुखे) मुख पर (वज्रेण) वज्र से (जहि) प्रहार कर। (सः) वह (सं-पिष्टः) अच्छी प्रकार ताड़ित होकर (अप अयति) दूर हट जाय।

यो नः सोमाभिदासति सनाभिर्यश्च निष्ट्यः ।
अप तस्य बलं तिर महीव द्यौर्वधत्मना ॥३॥

भा०—हे (सोम) राजन् ! (यः) जो (स-नाभिः) हमारा ही सम्बन्धी होकर (नः) हमारा (अभिदासति) सब प्रकार से नाश करता है और (यः च निष्ट्यः) जो निकृष्ट पुरुष (नः अभि दासति) हमें विनाश करता है। (मही द्यौः वधत्मना इव) जिस प्रकार संहारकारी विद्युत् द्वारा विशाल आकाश वज्रपात करता है उस प्रकार (तस्य बलम्) उसके बल, सेना को (वध-त्मना) संहारकारी अस्त्र से इस प्रकार (अप तिरः)विनाश कर।



२–(प्र०) 'सुसंशिनो' इति प्रायः। 'सुशंसिनः' पैप्प० सं०। (द्वि०)-'दुःशसे अभिदासति' इति पैप्प० सं०।

३–'येन सोमाभिदासतः' इति पैप्प० सं०। (प्र०) 'यो नः इन्द्र' (तृ०) 'अवतस्य' (च०) 'द्यौरधत्मना' इति ऋ०।

[७] उत्तम शासन की प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । सोमो देवता, विश्वेदेवा देवताः । १–३ गायत्र्यः । ३ निचृत् । तृचं सूक्तम् ॥

येन॑ सोमादि॑तिः पृथा मि॒त्रा वा॒ यन्त्य॒द्रुह॑ः । तेना॑ नोऽव॒सा ग॑हि॥१॥

भा०— हे (सोम) राजन् ! (येन पथा) जिस मार्ग से या उपाय से (अदितिः) अखण्डित शासक राजा और (मित्राः वा) उसके प्रजाधिकारी जो प्रजा को परस्पर के मरने मारने से रक्षा करने हारे हैं वे (अद्रुहः) विना परस्पर द्रोह किये (यन्ति) गमन करते हैं (तेन) उस (अवसा) प्रजारक्षणकारी बल से (नः) हमें (आ गहि) प्राप्त हो और हमें अपना ।

येन॑ सोम साहन्त्यासु॑रान् र॒न्धया॑सि नः । तेना॑ नो॒ अधि॑ वोचत॥२॥

भा०—हे (सोम) राजन् ! हे (साहन्त्य) सब को अपने वश में करने वाले ! नियामक (येन) जिस बल से (असुरान्) बलवान् पुरुषों को भी (नः) हमारे कल्याण के लिये (रन्धयासि) अपने वश करता है (तेन) उसी उपाय से (नः) हम पर भी (अधि वोचत) शासन कर और हम पर हुकूमत चला ।

येन॑ दे॒वा असु॑राणा॒मोजां॒स्यवृ॑णीध्वम् । तेना॑ नः॒ शर्म॑ यच्छत ॥३॥

भा०—(देवाः) विद्वान् पुरुष (येन) जिस उपाय से (असुराणाम्) बलवान् शारीरिक बल से बली पुरुषों के (ओजांसि) तेजों को बलों को

[७] १–(प्र०) 'येभिः सोम सहन्त्या' (तृ०) ते मन्येऽविता भुवः' इति पैप्प० सं० ।
३–'यानि देवा' (तृ०) 'तेभिः' इति पैप्प० सं० ।

(अवृणीध्वम्) अपने नीचे दवा लेते हैं हे विद्वानो ! (तेन) उसी उपाय से (नः) हमें आप लोग (शर्म) सुख शान्ति (यच्छत) प्रदान करो ।

इस सूक्त में अध्यात्म पक्ष में सोम=आत्मा; आदितिः=अखण्ड, चिति शक्ति या बुद्धि, मित्राः=१२ प्राण, असुराः=प्राण, कर्मेन्द्रिय; देव=ज्ञानेन्द्रिय ।



[८] पति-पत्नी की परस्पर प्रेम प्रतिज्ञा ।

जमदग्निर्ऋषिः । कामात्मा देवता । १—३ पथ्या पंक्तिः । तृचं सूक्तम् ॥

यथा वृक्षं लिबुजा समन्तं परिषस्वजे ।
एवा परि ष्वजस्व मां यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥१॥

अथर्व० १ । ३४ । ५ ॥ २ । ३० । १ ॥

भा०—गृहस्थ धर्म का उपदेश करते हैं । (यथा) जिस प्रकार (लिबुजा) लता (वृक्षम्) वृक्ष को (समन्तम्) सब ओर से (परि सस्वजे) चिपट जाती है, उसी का आश्रय लेती है (एवा) इसी प्रकार हे स्त्रि ! (मां) मुझ पति को तू मेरी धर्मपत्नी (परिष्वजस्व) प्रेम से सब प्रकार से आलिङ्गन कर और मेरा आश्रय ले । और ऐसा व्यवहार कर कि तू (यथा) जिस प्रकार भी हो (मां कामिनी असः) मुझे ही अनन्य चित्त से चाहने वाली बनी रह, (यथा) जिससे तू (मत्) मुझे छोड़कर (अपगा) दूर जाने वाली (न असः) न हो । इस प्रकार पति अपनी पत्नी को उपदेश करे और उसे अपने आश्रय पर पालन करे ।

यथा सुपर्णः प्रपतन् पक्षौ निहन्ति भूम्याम् ।
एवा नि हन्मि ते मनो यथा मां० ॥ २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (सुपर्णः) पक्षी (भूम्याम्) भूमि पर (प्रपतन्) वेग से आता हुआ (पक्षौ निहन्ति) पंखों को शिथिल कर देता है । (एवा) इसी प्रकार (ते मनः) तेरे विचलित हृदय को मैं (निहन्मि) अपने प्रति निश्चल करता हूं । (यथा) जिससे (मां कामिनी असः) तू मुझे सदा चाहती रहे और (मत् अपगा न असः) मुझे छोड़कर जाने का संकल्प न करे ।

यथे॒मे द्यावा॑पृथि॒वी स॒द्यः प॒र्येति॒ सूर्यः॑ ।

ए॒वा प॒र्येमि ते॒ मनो॒ यथा॒ मां का॒मिन्यसो॒ यथा॒ मन्नाप॑गा॒ अस॑ः॥३॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (सूर्यः) सूर्य (सद्यः) शीघ्र ही उदय होते ही (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, ज़मीन और आस्मान दोनों में सर्वत्र (परि-एति) व्याप जाता है (एवा) इसी प्रकार मैं (ते मनः) तेरे मन, हृदय में (पर्येमि) एक ही वार, तुरन्त व्याप जाऊं । (यथा) जिससे तू (मां कामिनी असः) मुझे चाहने वाली, मेरी प्रियतमा हो जाय और (यथा) जिससे तू (मत्) मुझे छोड़कर (न अपगा असः) दूर चले जाने का संकल्प न करे ।



[९] स्त्री पुरुषों का परस्पर प्रेम करने का कर्त्तव्य ।

जमदग्निर्ऋषिः । कामात्मादेवता । १-३ अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

वाञ्छ॑ मे त॒न्वं॑ पादौ॒ वाञ्छा॒क्ष्यौ॒३ वाञ्छ॑ स॒क्थ्यौ॑ ।

अ॒क्ष्यौ॑ वृष॒ण्यन्त्याः॒ केशा॒ मां ते॒ कामे॑न शुष्यन्तु ॥ १ ॥

३—(द्वि०) 'प्रयाति' इति क्वचित् ।

[९] १—(प्र०) 'पादौ तन्वा' (द्वि०) 'वाञ्छ' (तृ०) 'अक्ष्यो केशा आष्ठौ कामे नाश्यताम्'. इति पैप्प० सं० ।

भा०—स्त्री पुरुषों को परस्पर के प्रति प्रेम और अभिलाषा करने का उपदेश करते हैं। हे प्रियतमे ! तू (मे) मेरे (तन्वं) शरीर को (वांछ) मन से चाह। (पादौ वांछ) मेरे पैरों को चाह, (अक्ष्यौ) मेरी आंखों की (वाञ्छ) चाह कर, (सक्थ्यौ वाञ्छ) मेरे टांगों की चाह कर। अर्थात् मेरे प्रत्येक अंग पर प्रेम की भरी दृष्टि से देख। (वृषण्यन्त्याः) मेरे प्रति कामना करने हारी तेरी (अक्ष्यौ) आंखें और (केशाः) केश भी (मां) मुझको (कामेन) तेरी प्रबल कामना से (शुष्यन्तु) सुखाया करें अर्थात् पति भी पत्नी के चक्षुओं और केश आदि अंगों को देखकर प्रबलता से कामना करे तब वह भी उसके अंगों पर सप्रेम दृष्टिपात करें और दोनों वर वधू परस्पर को देखने के लिये सदा उत्सुक रहें।

मम॑ त्वा दोषणि॒श्रिषं॑ कृणोमि॑ हृदय॒श्रिष॑म् ।
यथा॒ मम॒ क्रता॒वसो॒ मम॑ चि॒त्तमु॒पाय॑सि ॥ २ ॥

उत्तरार्धः अथर्व० ३ । २५ । ५ तृ० च० ॥ १ । ३४ । २ तृ० च० ॥

भा०—हे प्रियतमे ! मैं (हृदयश्रिपम्) हृदय में लगी, हृदय में बसी (त्वा) तुझको (मम दोषणि श्रिपं कृणोमि) अपनी भुजा पर चिपटाऊँ, तुझे बाहु से आलिंगन करूं (यथा) जिससे तू (मम क्रतौ) मेरे हृदय की इच्छा के भीतर (असः) रहे और (मम चित्तम्) मेरे चित्त में (उपायसि) आकर बसे।

यासां॒ नाभि॑रा॒रेह॑णं हृ॒दि सं॒वन॑नं कृ॒तम् ।
गावो॑ घृ॒तस्य॑ मा॒तरो॒ऽमूं सं वा॑नयन्तु मे ॥ ३ ॥

२–'मैत्वा दूषणि मृगम् कृणोमि हृदयस्पृगम्'। (तृ०) 'नमेदपक्रता' इति पैप्प० सं०।

३–(प्र०) 'मातरोऽमूः' इति सायणाभिमतः।

भा०—(यासां) जिनका (आ-रोहणं) चुम्बन भी (नाभिः) उनको बांधने वाला है और वही मानो (हृदि) हृदय में एक (संवननम्) परस्पर एक दूसरे को स्वीकार करने का उपाय (कृतम्) किया गया है । (घृतस्य) घृत के समान स्नेहमय प्रेम की (मातरः) उत्पन्न करने वाली (मातरः) माताएं ही (गावः) गौवों के समान स्नेहमय चक्षुओं से देखने वाली (अमूं) इस प्रियतमा को (मे) मेरी तरफ़ (सं वानयन्तु) प्रेमपूर्वक प्रेरित करें ।



[१०] अग्निहोत्र का उपदेश ।

शंतातिर्ऋषिः । १ अग्नि । २ वायुः । ३ सूर्यः । १ साम्नी त्रिष्टुप् ।
२ प्रजापत्या बृहती । ३ साम्नी बृहती । तृचं सूक्तम् ॥

पृथिव्यै श्रोत्राय वनस्पतिभ्योग्नयेधिपतये स्वाहा ॥ १ ॥

भा०—सम्पत्ति चाहने वाले के लिये अग्निहोत्र का उत्तम उपदेश करते हैं । (पृथिव्यै स्वाहा) इस विशाल पृथिवी के लिये उत्तम हवि की आहुति दें । (श्रोत्राय स्वाहा) पृथिवी के श्रोत्र रूप दिशाओं के लिये भी उत्तम आहुतिएँ का प्रदान करो (वनस्पतिभ्यः स्वाहा) वनस्पतियों के लिये भी पुष्टिकारक घृत की आहुति प्रदान करो। (अधिपतये अग्नये स्वाहा) पृथिवी में स्वामी अग्नि देव उसको भी उत्तम हवि घृत की आहुति प्रदान करो ।

प्राणायान्तरिक्षाय वयोभ्यो वायवेधिपतये स्वाहा ॥ २ ॥

भा०—(प्राणाय) प्राण रूप वायु (अन्तरिक्षाय) उसके संचार स्थान अन्तरिक्ष, (वयोभ्यः) उसमें विचरनेवाले पक्षियों और (अधिपतये वायवे) उनके सर्वतो मुख्य स्वामी वायु के लिये भी (स्वाहा) उत्तम घृत आदि की आहुति देना चाहिये ।

दिवे चक्षुषे नक्षत्रेभ्यः सूर्यायाधिपतये स्वाहा ॥ ३ ॥

भा०—(दिवे) द्यौः या प्रकाश या तेज के लिये (चक्षुषे) उसके ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय चक्षु (नक्षत्रेभ्यः) उस तेज से चमकनेवाले नक्षत्रों और (अधिपतये सूर्याय) उनके स्वामी सूर्य के लिये (स्वाहा) उत्तम आहुति का प्रदान करो ।

अध्यात्म में—पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौः तीन लोक हैं, श्रोत्र, प्राण=घ्राण और चक्षु तीन इन्द्रिय हैं, वनस्पति, पक्षि और नक्षत्र तीनों लोकों की तीन प्रकार की प्रजाएं हैं। अग्नि, वायु और सूर्य ये तीन उनके अधिपति हैं । इन लोक-इन्द्रिय और अधिपति इन त्रिकों का परस्पर घनिष्ट, लेनदेन है । वही उनकी उत्तम आहुति है । पृथिवी से वनस्पति उत्पन्न होती है और अग्नि उनको खा जाती है श्रोत्र रूप दिशाओं में फैलती है । अन्तरिक्ष पक्षिगण विहार करते हैं उनका रक्षक वायु है । उसका एकांश सबका प्राण वायु नासिका में विचरता है—द्यौः लोक तेजो लोक की प्रजाएं ये नक्षत्र हैं उनका अधिपति सूर्य है जिनका प्रत्यक्ष नमूना यह सूर्य है । और तेजका ग्राहक चक्षु है । यह ईश्वर की सृष्टि में एक दूसरे का धारक और सामर्थ्यदायक है । यही उनकी उत्तम आहुति है ।

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[तत्र दश सूक्तानि ऋचश्च त्रिंशत् ।]



[११] गर्भाधान और प्रजनन विद्या ।

प्रजापतिर्ऋषिः । रेतो देवता । १–३ अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ।

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसुवनं कृतम् ।
तद् वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वा भरामसि ॥ १ ॥

[११] १–'पुंसवनं' इति सायणाभिमतः । (प्र०) 'अश्वत्थारूप', (तृ० च०) तदेव तस्य भेषजम् यत् स्त्रीष्वधरान्ति तम् ।'

भा०—(शमीम्) शान्त, उद्वेगरहित, धीर स्त्री—मादा, पर (अश्वत्थः) अश्व के समान शीघ्रगामी, दृढांग रूप से स्थिर पुरुष=नर (आरूढः) गर्भाधान करे (तत्र) वहां (पुंसवनम्) पुमान पुत्र के उत्पन्न होने का विधान (कृतम्) किया जाता है । (तद्) यही विधान (पुत्रस्य) पुमान पुत्र के (वेदनं) प्राप्त करानेवाला है । (तत्) उसी दृढ़ वीर्य को (स्त्रीषु) स्त्रियों में हम पुरुष (आ भरामसि) धारण करावें ।

पुमान् पुत्रों को प्राप्त करने के लिये स्त्री उद्वेग रहित और पुरुष दृढांग होना चाहिये । कइयों के मत से—शमी नामक वृक्ष पर उगा हुआ पीपल पुमान पुत्र उत्पन्न करने की ओषधि है । उसीसे पुत्र लाभ होता है और उस ओषधि से प्राप्त वीर्य को आधान करना चाहिये ।

पुंसि वै रेतो भवति तत् स्त्रियामनु षिच्यते ।
तद् वै पुत्रस्य वेदनं तत् प्रजापतिरब्रवीत् ॥ २ ॥

भा०—अश्वत्थ और शमी की समस्या को स्पष्ट करते हैं । (पुंसि वै) पुरुष में ही (रेतः) वीर्य (भवति) उत्पन्न होता है । (तत्) वही वीर्य (स्त्रियाम्) स्त्री के गर्भ में (अनु=सिच्यते) गर्भाधान द्वारा सेचन किया जाता है । (तद्) वह (वै) ही निश्चय से (पुत्रस्य) पुत्र के (वेदनम्) प्राप्त करने का उपाय है (तत्) यह (प्रजापतिः) प्रजापालक परमेश्वर (अब्रवीत्) उपदेश करता है ।

प्रजापतिरनुमतिः सिनीवाल्य/चीक्लृपत् ।
स्त्रैषूयमन्यत्र दधत् पुमांसमु दधदिह ॥ ३ ॥

भा०—(प्रजापतिः) प्रजापति=पुरुष (अनुमतिः) और अनुमति=पति के अभिमत पुत्र का ही चिन्तन करनेवाली (सिनीवाली) सिनीवाली, स्त्री (अचीक्लृपत्) गर्भ धारण और पालन में समर्थ होते हैं । (अन्यत्र)

२–पुंसि वै पुरुषे रेतस्तां स्त्रियामनुषिच्यतु । तथातदब्रवीद्धाता तत्प्रजापतिरब्रवीत् । इति शां० गृ० सू० ।

अन्य दशा में (स्त्रैसूयम् दधत्) बहुत सम्भव है कन्या को गर्भ में धारण करे। परन्तु (इह) इस उक्त प्रकार के अनुमनन करने से (पुमांसम् उ दधत्) स्त्री पुमान् पुत्र को ही धारण करती है।

अनुमतिः—अनुमननात् इति यास्कः। जो स्त्री पति की अभिलाषा के अनुकूल पुत्र का ही निरन्तर चिन्तन करती है वह स्त्री 'अनुमति' कहाती है। योषा वै सिनी वाली। शं० ६। ५। १। १०॥

[१२] सर्पविष-चिकित्सा।

गरुत्मान् ऋषिः। तक्षको देवता। १-३ अनुष्टुभः। तृचं सूक्तम्।

परि द्यामिव सूर्योऽहीनां जनिमागमम्।
रात्री जगदिवान्यद्धंसात् तेना ते वारये विषम्॥ १॥

भा०—(रात्रि) प्रलय-कालमय रात्रि जिस प्रकार (जगत्-इव) जगत् को व्याप्त कर लेती है परन्तु (अन्यत् हंसात्) उससे भी परे विद्यमान हंस=परब्रह्म को वह व्याप्त नहीं करती, उसी प्रकार विष से उत्पन्न होने वाली रात्रि तमोमय निद्रा या मूर्छा भी (हंसात् अन्यत्) हंस=आत्मा से अतिरिक्त शरीर को व्याप्त कर लेती है। इसी प्रकार तेरे विष से उत्पन्न (रात्रिः) प्रलयकारिणी कालकला (जगत्) सब जंगम प्राणियों को हर लेती है परन्तु (अन्यत्र हंसात्) हंस या सुपर्ण या गरुड़ पक्षी पर वह नहीं छाती। (तेन) उसी विष निवारक बल से मैं (ते विषम्) तेरे विष को (वारये) दूर करता हूँ। और (द्याम् सूर्य इव) द्यौलोक आकाश को जिस प्रकार सूर्य व्यापता है और (अहीनाम्) मेघों का (जनिम्) उत्पत्ति करता है उसी प्रकार मैं भी (अहीनां जनिम्) सर्पों की उत्पत्ति और उनके सब स्वरूपों को (आ गमम्) खूब अच्छी प्रकार जानता हूँ।

[१२] १—'रात्री जगदिवां नि ध्वंसादवादीरिमं [?] विषम्' इति पैप्प० सं०। (द्वि०) 'जनिमागमम्' इति सायणाभिमतः।

यद् ब्रह्मभिर्यदृषिभिर्यद् देवैर्विदितं पुरा ।
यद् भूतं भव्यमासन्वत् तेना ते वारये विषम् ॥ २ ॥

भा०—(यद्) जो (ब्रह्मभिः) वेद के विद्वानों और (यद् ऋषिभिः) जो दूरदर्शी ऋषियों और (यद् देवैः) जो देव=विद्वान् पुरुषों ने (विदितं) जाना है । हे (आसन्वत्) मुख से काटनेवाले सर्प ! (यद्) जो तेरा विष (भूत) अभी तक शरीर में चढ़ चुका है और जो (भव्यम्) और भी उसमें चढ़ेगा उस सब (ते विषम्) तेरे विष को मैं (तेन वारये) उस विद्वानों ऋषियों द्वारा जाने गये उपाय से दूर करूं ।

मध्वा पृञ्चे नद्यः पर्वता गिरयो मधु ।
मधु परुष्णी शीपाला शमास्ने अस्तु शं हृदे ॥ ३ ॥

भा०—(मध्वा) मधु से मैं (आपृञ्चे) रोगी को जोड़ता हूं । (नद्यः) नदियां, (पर्वताः) पर्वत और (गिरयः) छोटे २ टीले ये सब (मधु) मधु हैं । इनमें सर्प-विषों को दूर करने की ओषधियां प्राप्त होती हैं और (शीपाला) शैवालवाली, शान्त, गम्भीर और (परुष्णी) पर्व पर्व पर बहती हुई जलधारा भी (मधु) उत्तम मधु=अमृत है । इन उपायों से (आस्ने) मुख के लिये (शम्) शान्ति हो और (हृदे शम्) हृदय में भी कल्याण और शान्ति उत्पन्न (अस्तु) हो ।



२–(द्वि०) 'उदितम्' (तृ०) 'असुन्वत्' इति पैप्प० सं० ।

३–'मध्व आपृञ्चे' इति सायणाभिमतः । 'अभिना पृच नद्यः पर्वतैव गिरयो मधु । मधु पृष्णी शीपाला समास्ते स्तु शं हृदय ।' इति पैप्प० सं० ।

[१३] मृत्यु और उसके उपाय ।

स्वस्त्ययनकामोऽथर्वा ऋषिः । मृत्युर्देवता । १-३ अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

नमो देववधेभ्यो नमो राजवधेभ्यः ।
अथो ये विश्यानां वधास्तेभ्यो मृत्यो नमोऽस्तु ते ॥ १ ॥

भा०—(देववधेभ्यः) देव, विद्वान् ब्राह्मणों के, ज्ञात शस्त्रों-वैज्ञानिक शक्तियों का (नमः) हम आदर करते हैं । (राजवधेभ्यः नमः) राजा लोगों के युद्ध के शस्त्रों को भी हम मान की दृष्टि से देखते हैं, (अथो) और (ये) जो (विश्यानां) निवासी प्रजाओं के (वधाः) शस्त्र अस्त्र साधन हैं, हे (मृत्यो) मौत ! (तेभ्यः) उनको भी (नमः अस्तु) नमः, आदर भाव हो, क्योंकि वे सब (ते) तेरे ही उपाय हैं ।

नमस्ते अधिवाकाय परावाकाय ते नमः ।
सुमत्यै मृत्यो ते नमो दुर्मत्यै त इदं नमः ॥ २ ॥

भा०—हे (मृत्यो) मृत्यो ! (ते अधि-वाकाय नमः) तेरे विषय में अनुकूल कहे गये ज्ञान को भी हम स्वीकार करते हैं (ते परा-वाकाय नमः) और तेरे प्रतिकूल तुझे दूर करने के विषय में जो उपदेश हैं उनका भी हम (नमः) ज्ञान करें । हे मृत्यो ! (ते सु-मत्यै नमः) तेरी दी सद्-बुद्धि को भी आदर से स्वीकार करते हैं और (ते) तेरे कारण उत्पन्न (दुर्मत्यै) दुष्ट मति को भी (इदम् नमः) यह वश करने का साधन है।

नमस्ते यातुधानेभ्यो नमस्ते भेषजेभ्यः ।
नमस्ते मृत्यो मूलेभ्यो ब्राह्मणेभ्य इदं नमः ॥ ३ ॥

भा०—हे मृत्यो ! (यातुधानेभ्यः नमः) तुझ मौत या देहावसान रूप

[१३] १-(तृ०) 'विश्वानां' इति पैप्प० सं० ।

कष्ट के लानेवाले यातुधान=पीड़ादायक रोगों को (नमः) हम वश करने का उद्योग करते हैं, इसलिये (ते) तेरी (भेषजेभ्यः) पीड़ा हरनेवाली ओषधियों का (नमः) हम संग्रह करते और उपयोग करते हैं। हे मृत्यो ! (ते मूलेभ्यः नमः) तेरे जो मूल कारण हैं उनका अनुसंधान करते हैं। और उनका अनुसंधान करनेवाले (ब्राह्मणेभ्यः) ब्रह्म=वेद को जाननेवाले विद्वान् पुरुषों का (इदम् नमः) हम इस प्रकार आदर करते हैं।

नमः=आदरभाव, वज्र और सदुपयोग।



[१४] कफ-रोग निदान और चिकित्सा।

बभ्रुपिङ्गल ऋषिः। बलासो देवता। अनुष्टुप्। तृचं सूक्तम्॥

अस्थिस्रंसं परुस्रंसमास्थितं हृदयामयम्।
बलासं सर्वं नाशयाङ्गेष्ठा यश्च पर्वसु॥ १॥

भा०—(अस्थि-स्रंसं) हड्डियों को तोड़ डालनेवाले, (परु-स्रंसं) पोरुओं को भी तोड़नेवाले, उनमें प्रबल पीड़ा उत्पन्न करनेवाले और (आ-स्थितं) जमे हुए (हृदय-आमयं) हृदय के रोग रूप उस (बलासं) शरीर के बलनाशक श्लेष्म रोग को (यः) जो (अंगे-ष्ठाः) शरीर के अंग २ में व्यापक हो और (यः च पर्वसु) जो पोरु पोरु, जोड़ जोड़ में बैठ गया हो उस सब कफविकार को (नाशय) विनाश कर।

निर्बलासं बलासिनः क्षिणोमि मुष्करं यथा।
छिनद्म्यस्य बन्धनं मूलमुर्वार्वा इव॥ २॥

---

[१४] १–(तृ०) 'सर्वं निष्कृधि' इति पैप्प० सं०।

२–(द्वि०) 'कृणोमि पुष्करं यथा'। (च०) 'मूलमुल्वाल्वा यथा' इति पैप्प० सं०। (द्वि०) 'पुष्करं यथा' इति सायणाभिमतः।

भा०—(बलासिनः) बल का विनाश करनेवाले कफ के रोगी के (बलासं) बल विनाशक कफरोग को (यथामुष्करं) कमलनाल के समान ऐसे (निः क्षिणोमि) निर्मूल करता हूं। और (अस्य) इस कफ या श्लेष्मा के (बन्धनं) बन्धन को (उर्वार्वाः मूलम् इव) ककड़ी या खरबूजे के मूल के समान (छिनद्मि) तोड़ डालूँ ।

निर्बलासेतः प्र पताशुङ्गः शिशुको यथा ।
अथो इट इव हायनोप द्राह्यवीरहा ॥ ३ ॥

भा०—(बलास) समस्त शरीर के बल को हरण करनेवाले हे कफजनित तपेदिक रोग तू! (यथा आशुंगः शिशुकः) शीघ्रगामी हिरनौटे के समान (प्र पत) परे भाग जा। (अथो) और (हायनः इट इव) प्रतिवर्ष उगनेवाले घास के समान तू (अवीरहा) हमारे पुत्रों का नाश न करता हुआ ही (अप द्राहि) परे भाग जा, नष्ट हो जा, उड़ जा। सायण के मत में—(इत इव हायनः) गुजरे हुए वर्ष के समान तू भी चला जा।



[१५] सर्वोत्तम होने की साधना।

उद्दालक ऋषिः। वनस्पतिर्देवता। अनुष्टुप्। तृचं सूक्तम् ॥

उत्तमो अस्योषधीनां तवं वृक्षा उपस्तयः ।
उपस्तिरस्तु सो३स्माकं यो अस्माँ अभिदासति ॥ १ ॥
यजु० १२ । १०१ ॥ ऋ० १० । ९७ । २३ ॥

३—(द्वि०) 'शुशुको', 'इत इव सायनः' इति सायणाभिमतः। 'सुपर्णो वसतेरिव' । (तृ० च०) अथेत इवाहनो पद्राक्षंवेरह । इति पैप्प० सं० ।

[१५] १—(प्र०) 'त्वमुत्तमास्योषधे' इति ऋ० । 'उपस्तिरस्माकंभूयाद्योऽस्मान्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—ओषधि रूप से ब्रह्म का वर्णन करते हैं । हे प्रजापते ! परमात्मन् ! आप (ओषधीनां) सब ओषधियों में (उत्तमः) सब से उत्तम भव, रोग के विनाशक ओषधि हैं । (वृक्षाः) देहधारी जीव (तव) तेरे (उपस्तयः) उपासक हैं । (यः अस्मान् अभिदासति) जो हमें विनाश करना चाहता है, हम से द्वेष करता है भगवन् ! हमें ऐसा बल दें कि (सः) वह भी (अस्माकं) हमारे (उपस्तिः) समीप बैठने वाला, मित्र के समान (अस्तु) हो जाय ।

सबन्धुश्चासबन्धुश्च यो अस्माँ अभिदासति ।
तेषां सा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः ॥ २ ॥

भा०—(स-बन्धुः च) हमारे गोत्र का बन्धु और (अबन्धुः च) वह जो हमारा सम्बन्धी नहीं है, (यः) जो कोई भी (अस्मान्) हमें (अभि-दासति) विनाश करना चाहते हैं, हमसे द्वेष बुद्धि करता है, (वृक्षाणां सा इव) वृक्षों में से जिस प्रकार ओषधि उत्तम है, और देह-धारियों में जैसे वह ब्रह्मोषधि उत्तम है, उसी प्रकार (तेषां) उन सम्बन्धी और असम्बन्धी लोगों में (अहम्) मैं उत्तम (भूयासम्) हो जाऊं ।

यथा सोम ओषधीनामुत्तमो हविषां कृतः ।
तलाशा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः ॥ ३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (सोमः) सोमलता (हविषां) इन्द्रियों के पुष्टिकारक चरु द्रव्यों के निमित्त (ओषधीनां) ओषधियों में सब से (उत्तमः कृतः) उत्तम बतलाया गया है और (वृक्षाणाम्) वृक्षों

२—(प्र०) 'सम्बन्धुश्चा सम्बन्धुश्च' (तृ०) 'सम्बधूत् सर्वास्तान् त्वा' इति पैप्प० सं० ।

३—(द्वि० तृ०) उत्तमं हविरुच्यते । यवा त्वमेव वृक्षाणाम्' (तृ०) 'पलाशः' इति सायणाभिमतः ।

में से (तलाशा)[1] 'तलाशा' नामक वृक्ष सब से श्रेष्ठ है उसी प्रकार (अहम्) मैं सब देहधारी जीवों में (उत्तमः) उत्कृष्ट (भूयासम्) हो जाऊं ।

[१६] प्रजापति की शक्ति का वर्णन ।

शौनक ऋषिः । मन्त्रोक्ता उत चन्द्रमा देवता, २ हिनो देवता । १ निचृत् त्रिपदा गायत्री, ३ बृहतीगर्भा ककुम्मती अनुष्टुप्, ४ त्रिपदा प्रतिष्ठा, अनुष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

आर्वयो अनार्वयो रसस्त उग्र आर्वयो । आ ते करम्भमंद्मसि॥१॥

भा०—प्रजापतिर्देवता आवयु—अन्न ओषधि के नाम से प्रजापति के गुणों का वर्णन करते हैं । हे (आवयो)[1] सर्वव्यापक ! या खाये जाने योग्य अन्न ! हे (अनावयो) कहीं भी इन्द्रियों से उपलब्ध न होने वाले, या कभी न खाये जाने योग्य अथवा हे सर्वप्रकाशक सर्वोत्पादक और हे किसी से भी प्रकाशित और उत्पादित न होनेवाले ! (ते रसः) तेरा रस, आनन्दरस (उग्रः) बड़ा तीव्र है । हे (आवयो)[1] सर्वव्यापक, सर्व प्रकाशक या हे अन्न ! (ते) तेरा ही (करम्भम्) दिया हुआ अन्न या क=सुखमय रम्भ=लम्भ=ज्ञान संवेदना का हम (आ अद्मसि) सर्वत्र उपभोग करते हैं ।

विहल्हो नाम॑ ते पिता मदावती नाम॑ ते माता ।
स हिन त्वमसि यस्त्वमात्मानमावयः ॥ २ ॥

[१६] १–(प्र० द्वि०) 'आवयो अनावयो रसस्त उग्र आवयो' इति पैप्प० सं० सायणसम्मतश्च । 'या ते कर्म मशीमहि' इति पैप्प० सं० ।

१. 'सर्षप' इति सायणः ।

२–(तृ०) 'सेवस्त्वमासि' इति पैप्प० सं० । बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्च नीला-

भा०—(ते) तेरा (पिता) पालकस्वरूप (वि-हल्हः नाम) नाना प्रकार से सर्वत्र व्यापक है । और (ते माता) तेरा उत्पादक (मदावती) हर्ष से सम्पन्न, वह प्रकृति शक्ति है । हे (हिन) सर्व-प्रेरक आत्मन् ! (सः त्वम् असि) तू वही है (यः त्वम्) जो तू (आत्मानम् आवयः) अपने आत्मा को सर्वत्र तन्तुओं के समान ओत प्रोत किये हुए हैं । 'आवयः' यह पद ही 'आवयु' इस पद का प्रवृत्ति-निमित्त है ।

तौविलिकेवेलयावायमैलब ऐलयीत् ।
बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्चापेहि निराल ॥ ३ ॥

भा०—हे तौविलिके ! तुविल=सर्वव्यापक परमेश्वर की शक्ति से असत् से सत् रूप में प्रकट होनेवाली प्रकृते ! (अयम्) यह (ऐलवः) समस्त प्रकृति संचालक शक्ति का स्वामी (अव ऐलयीत्) समस्त संसार को प्रेरित कर रहा है । उसी की शक्ति से हे प्रकृते ! तू भी (अव ईलय) इस संसार को चला रही है । हे (निराल) निर्बंध, मुक्त जीव ! तू (बभ्रुः) स्वयं सब को धारण पोषण करनेवाला, प्राण रूप और (बभ्रुकर्णः च) प्राणमय साधनों से सम्पन्न होकर (अप-इहि) इस बन्धन से भाग निकल ।

अलसालासि पूर्वा सिलाञ्जालास्युत्तरा । नीलागलसाला ॥४॥

कलशालाशवः पश्रा ।' इति पैप्प०सं०'सः । हि । नः' इति पदच्छेद सायणाभिमतश्चिन्त्यः । अनेन हिन देवमस्तौदिति सर्वानुक्रमणी । 'विहल्ह' इति सायणः ।

३—'तौलिकेवेलयावा इमैलवैलै । इह त्वमाहुति जुषाणो मनसा स्वाहा ।'' इति पैप्प० सं० ।

४—'सलाञ्जाला' इति सा॰ ॰भिमतः ।

भा०—ब्रह्मशक्ति तीन प्रकार की है (पूर्वा) प्रथम जो सृष्टि के पूर्व में या पूर्ण रूप में (अलसाला) अलं=अति अधिक गतिवाली, क्रियावती या (अ-लसाला) अव्यक्त (असि) है। और (उत्तरा) उसके बाद (सिल-अञ्ज्-आला) कण कण, परमाणु २ में व्यापक जगत् को व्यक्त करने में समर्थ हो जाती है। और इसका तीसरा रूप (नीलागलसाला) नील अन्धकारमय, तामस आगल=सबकी संहारक प्रचण्ड वेग वाली होती है।

सायण के मत से—आवयु=सर्पप। उसका रस तैल है। 'विहल्ह' और मदावती का कुछ पता नहीं। करम्भ-तेलमें भुना सरसों के पत्तों का शाक। तौविलिका=कोई पिशाची ऐनाक=आंख का रोग। बभ्रु, बभ्रुकर्ण नामक रोग दो कारण। अलसाला, सिलांजाला और नीलागलसाला ये तीन प्रकार के धान्यों के नाम हैं। कौशिक ने 'शलाञ्जाला' नामक धान्य का का उल्लेख किया है। कदाचित् धान्य सामान्य को 'सलाञ्जाला' कहा जाता है। शेष भी इसीके नाम रूपभेद से प्रतीत होते हैं। कौशिक ने अन्नों के दोष शान्ति के निमित्त उर्वराभूमि में तीन धान्य मञ्जरी गाड़ने में इस ऋचा का विनियोग लिखा है। परन्तु ऋचा का रहस्य बहुत गूढ़ और अस्पष्ट है।



[१७] गर्भधारण, प्रजनन-विद्या।

अथर्वा ऋषिः। गर्भदृंहणं देवता। अनुष्टुप्। चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे ॥ १ ॥

भा०—गर्भधारणकी मूल विद्या का उपदेश करते हैं। (यथा) जिस प्रकार (इयम्) यह (मही) विशाल (पृथिवी) पृथिवी

[१७] १–(च०) 'अनुसूत्रम्' इति सायणाभिमतः।

(भूतानाम्) समस्त उत्पन्न होनेवाले प्राणियों के (गर्भम्) गर्भ, मूल-भूत बीजों के (आ दधे) धारण करती है। (एवा) इसी प्रकार (ते) हे प्रियतम स्त्रि ! तेरे भीतर (गर्भः) गर्भ=मूलबीज (सूतुं) सन्तान के रूप से।(अनु सवितवे) यथाकाल प्रसव करने के लिये (ध्रियताम्) धारण कराया जाय।

यथेयं पृथिवी मही दाधारेमान् वनस्पतीन् । एवा० ॥ २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (इयम् मही पृथिवी) यह बड़ी विशाल पृथिवी (इमान् वनस्पतीन्) इन वनस्पतियों को (दाधार) अपने में धारण करती और अपने रस से उनको पुष्ट करती है (एवा ते गर्भः ध्रियताम्) हे स्त्रि ! इसी प्रकार तेरा यह गर्भ भी धारण किया जाकर पुष्ट हो जिससे (अनु सूतुं सवितवे) बाद में पुत्र की उत्पत्ति हो।

यथेयं पृथिवी मही दाधार पर्वतान् गिरीन् । एवा० ॥ ३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (इयम् मही पृथिवी) यह विशाल पृथिवी (गिरीन् पर्वतान् दाधार) अपने ऊपर इन छोटे छोटे और बड़े २ पर्वतों को धारण करती है, उनको डिगने नहीं देती (एवा ते ध्रियताम् गर्भः) उसी प्रकार हे स्त्रि ! यह तेरा गर्भ दृढ़ता से जमा रहे (अनु सूतुं सवितवे) जिससे बाद को यथाकाल सन्तान उत्पन्न हो।

यथेयं पृथिवी मही दाधार विष्ठितं जगत् ।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे ॥ ४ ॥

भा०—(यथा इयम् मही पृथिवी) जिस प्रकार यह विशाल पृथिवी (विष्ठितम् जगत् दाधार) नाना प्रकार से विभक्त, व्यवस्थित चर अचर जीवित संसार को (दाधार) पालन पोषण करती है, सब को अन्न देती

२–'यथेयमुर्वी पृथिवी' (तृ० च०) 'गर्भ अनुसवितवे' इति पैप्प० सं०।

और पालती है (एवा ते ध्रियताम् गर्भः) इसी प्रकार हे स्त्रि ! तेरा गर्भ पालित पोषित रहे, मरे न, जिससे (अनु सूतुं सवितवे) बाद में पुत्र सन्तति उत्पन्न हो।



[१८] ईर्ष्या का निदान और उपाय।

अथर्वा ऋषिः। ईर्ष्याविनाशनं देवता। १,४ अनुष्टुभः। चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

ईर्ष्याया ध्राजिं प्रथमां प्रथमस्या उतापराम्।
अग्निं हृदय्यं१ शोकं तं ते निर्वापयामसि ॥ १ ॥

भा०—(ईर्ष्यायाः) दूसरे की उन्नति को देख कर हृदय में उत्पन्न होनेवाली ईर्ष्या के (प्रथमाम्) प्रथम (ध्राजिं) तीव्र वेग को (निः—र्वा-पयामसि) हम पहले ही शान्त कर लिया करें। यदि यह न हो सके तो (उत) फिर (प्रथमस्याः) पहले वेग से उत्पन्न दूसरा उससे मन्द वेग होता है उस (अपराम्) दूसरे वेग को ही (निः वापयामसि) हम शान्त कर लें। हे पुरुष ! हम तो (ते) तेरे (तम्) उस पूर्वोक्त प्रकार के (हृदय्यम्) हृदय में सुलगनेवाले (अग्निं) आग रूप (तं शोकम्) उस शोक-विषाद को भी (निः—वापयामः) शान्त करें।

यथा भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तरा।
यथोत मम्रुषो मन एवेर्ष्योर्मृतं मनः ॥ २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (भूमिः मृतमनाः) यह भूमि, मिट्टी मरे दिलवाली, अचेतन है और (मृतात्) यह मरे हुए मुर्दे से भी अधिक (मृतमनः—स्तरा) मुर्दादिल है (उत) और (यथा) जिस प्रकार

(द्वि०) 'मध्यमामधमामुत। सत्यं हृदय्यं' (च०) 'निर्मन्त्रयामहे' इति पैप्प० सं०।

(मन्नुषो मनः) मरे हुए मनुष्य का मन मर चुकता है (एवा) उसी प्रकार (ईर्ष्योः मनः मृतम्) ईर्षालु पुरुष का भी मन, मनन शक्ति मर जाती है । इसलिये ईर्ष्या नहीं करनी चाहिये ।

अदो यत् ते हृदि श्रितं मनस्कं पतयिष्णुकम् ।
ततस्त ईर्ष्यां मुञ्चामि निरूष्माणं दृतेरिव ॥ ३ ॥

भा०—(यत्) क्योंकि (अदः) अमुक ईर्ष्यायुक्त जो (मनस्कं) तुच्छ मन (ते हृदि) तेरे हृदय में (श्रितम्) समाया है वह (पतयिष्णुकम्) तुझे सदा नीचे गिरानेवाला है । (ततः) इस कारण से (ते) तेरी (ईर्ष्याम्) ईर्ष्या को (मुञ्चामि) तुझ से ऐसे छुड़ाता हूँ, जैसे (दृतेः) चाम की बनी धौंकनी से (ऊष्माणम् निर) गर्म वायु की फूंक निकाल दी जाती है ।



[१९] पवित्र होने की प्रार्थना ।

शंतातिर्ऋषिः । नाना देवता उत चन्द्रमा देवता । १,२ गायत्र्यौ, ३ अनुष्टुप् तृचं सूक्तम् ॥

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया ।
पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा ॥ १ ॥

यजु० १९ । ३९ ॥ ऋ० ९ । ६७ । २७ ॥

३–(च०) 'दृतेरिव' इति क्वचित् (प्र०) 'यद् यन्मे हृदिसुकं' (द्वि०) 'प्रथयिष्णुकम्' (तृ०) 'तं त' ऋष्यामि मुं– इति पैप्प० सं० ।

[१९] १–(द्वि०) 'पुनन्तु मनसा धियः' (च०) 'जातवेदः पुनीहि मां' इति यजु० । "पुनन्तु मां देवजनाः पुनन्तु वसवो धिया विश्वेदेवाः पुनीत मा जातवेदः पुनी हिमाम्" इति ऋ० (तृ०) 'विश्वाभूता मा' इति मै० सं० ।

भा०—पवित्र और शुद्ध होने का उपदेश करते हैं। (मा) मुझ अशुद्ध पुरुष को (देवजनाः) विद्वान् लोग (पुनन्तु) पवित्र कर लें। और (मनवः) मननशील विचारवान् पुरुष मुझे (धिया) ज्ञान और कर्म के बल से (पुनन्तु) मुझे पवित्र कर लें। (विश्वाभूतानि) समस्त प्राणिगण भी मुझे सद्भावना से पवित्र करें और (पवमानः) सब को पवित्र करनेहारा पतितपावन प्रभु मुझे (पुनातु) पवित्र करे।

पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे। अथो अरिष्टतातये ॥२॥

भा०—(पवमानः) सब के पावन प्रभु (मा) मुझे (क्रत्वे) ज्ञान, (दक्षाय) बल, (जीवसे) सम्पूर्ण जीवन, (अथो) और (अरिष्टतातये) क्लेश रहित, सुख कल्याण के लिये (पुनातु) पवित्र करें।

उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च। अस्मान् पुनीहि चक्षसे ॥३॥

भा०— हे (सवितः देव) सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक परमेश्वरदेव ! (पवित्रेण) अपने पवित्र करनेहारे ज्ञान और (सवेन च) कर्म (उभाभ्यां) दोनों से (चक्षसे) अपने साक्षात् दर्शन के लिये (अस्मान्) हमें (पुनीहि) पवित्र कर।

[२०] ज्वर का निदान और चिकित्सा।

भृग्वंगिरा ऋषिः। यक्ष्मनाशनं देवता। १ अति जगती। २ ककुम्मती प्रस्तार पंक्तिः ३ सतः पंक्तिः। तृचं सूक्तम्।

अग्नेरिवास्य दहत एति शुष्मिण उतेव मत्तो विलपन्नपायति।
अन्यमस्मदिच्छतु कं चिदव्रतस्तपुर्वधाय नमो अस्तु तक्मने ॥ १ ॥

२—'मांपुनीहिविश्वतः' इति पाठभेदः ऋ०। यजु०। पुनातु मानः (तृ०) 'ज्योक्च सूर्य दृशे' इति पैप्प० सं०।

[२०] १—(प्र०) 'एति शुष्मः' इति ह्विटनिकामितः।

भा०—(शुष्मिणः) प्रबल (अग्नेः इव) आग के समान (दहतः) शरीर को भस्म करते हुए, तपाते हुए इस ज्वर का वेग (एति) आता है और रोगी तब (मत्तः) मत्त, विचारहीन नशेबाज के समान (उत) और (विलपन्) बड़बड़ाता हुआ (अप अयति) उठ कर भागा करता है । ऐसा ज्वर तो (कथंचिद्) किसी प्रकार (अस्मद् अन्यं) हमसे अतिरिक्त किसी दूसरे (अव्रतः) कर्महीन, अनाचारी पुरुष को (इच्छतु) हुआ करे । पर हमें नहीं । (तपुः-वधाय) ताप रूप शस्त्र को धारण करनेवाले (तक्मने) कष्टदायी ज्वर का तो (नमः) शान्ति का उपाय ही हम करें । पापाचारी को रोग सताते हैं पुण्यात्मा, सदाचारी युक्ताहार-विहारवान् व्रतनिष्ठ योगी को नहीं सताते ।

नमो॑ रु॒द्राय॒ नमो॑ अस्तु त॒क्मने॒ नमो॒ राज्ञे॒ वरु॑णाय॒ त्विषी॑मते ।
नमो॑ दि॒वे नमः॑ पृथि॒व्यै नम॒ ओष॑धीभ्यः ॥ २ ॥

भा०—(रुद्राय नमः) उस रुलानेवाले ज्वर का उपाय करो कि वह शान्त हो जाय । (तक्मने) कष्टमय जीवन के कारण भूत ज्वर का (नमः) उपाय करो । और (वरुणाय) सर्वश्रेष्ठ उस (त्विषीमते) कान्तिमान (राज्ञे) राजाधिराज परमात्मा का नमस्कार करो । उसको सदा याद रक्खो और उससे उतर कर सुखी जीवन के बनाने के साधन (नमः दिवे) तेजो रूप सूर्य को नमस्कार=सदुपयोग करो और उसमें (ओषधीभ्यः नमः) उत्पन्न रोगहारी ओषधियों का सदुपयोग करो । इससे तुम्हारे जीवन हृष्टपुष्ट, स्वस्थ, नीरोग रहेंगे । रोगों से रहित होने के लिये सूर्य का प्रभा स्नान करो, पृथिवी पर परिभ्रमण करो और ओषधियों का सेवन करो ।

अ॒यं यो अ॑भिशोचयि॒ष्णुर्विश्वा॑ रू॒पाणि॒ हरि॑ता कृ॒णोषि॑ ।
तस्मै॑ तेऽरु॒णाय॑ ब॒भ्रवे॒ नमः॑ कृणोमि॒ वन्या॑य त॒क्मने॑ ॥ ३ ॥

भा०—(अयम्) यह (यः) जो (अभिशोचयिष्णुः) सब को सब प्रकार से शोकित और पीड़ित करनेवाला ज्वर है जो (विश्वारूपाणि) सब शरीरों को (हरिता) पीला (कृणोपि) कर देता है। (तस्मै) उस (ते) तुझ (अरुणाय) लाल और (बभ्रवे) भूरे रंग के (वन्याय) जंगल में पैदा हुए (तक्मने) कष्टदायी बुखार की (नमः कृणोमि) मैं चिकित्सा करता हूँ।

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तानि दश, ऋचश्च द्वात्रिंशत्]



[२१] वीर्यवती ओषधियों के संग्रह करने का उपदेश।

शंतातिर्ऋषिः। चन्द्रमा देवता। १-३ अनुष्टुभः। तृचं सूक्तम् ॥

इमा यास्तिस्रः पृथिवीस्तासां ह भूमिरुत्तमा।
तासामधि त्वचो अहं भेषजं समु जग्रभम् ॥ १ ॥

भा०—(इमाः) ये (याः) जो (तिस्रः) तीन (पृथिवीः) विशाल लोक हैं (तासाम्) उनमें से (ह) निश्चय से (भूमिः) यह भूमि ही (उत्-तमा) सर्वश्रेष्ठ है। (तासाम्) उन तीनों लोकों के (अधि त्वचः) आवरण भाग, ऊपरी पीठ पर उत्पन्न होनेवाले (भेषजम्) रोगापहारी औषध पदार्थों को (अहम्) मैं (सम् जग्रभम् उ) भली प्रकार संग्रह कर लिया करूं।

३—'अयं रूरो' (तृ० च०) 'अरुणाय बभ्रवे तपुर्मघवाय नमोऽस्तु तक्मने।' इति पैप्प० सं०।

[२१] १—(तृ०) 'त्वचोऽहम्' (च०) 'समुजग्रभं भेषजम्' इति पैप्प० सं०

श्रेष्ठमसि भेषजानां वसिष्ठं वीरुधानाम् ।
सोमो भग इव यामेषु देवेषु वरुणो यथा ॥ २ ॥

भा०—हे ओषधे ! तू ही (भेषजानाम् श्रेष्ठम् असि) सब रोगहारी ओषधों में श्रेष्ठ है और (वीरुधानाम्) नाना प्रकार की उगनेहारी बेल बूटियों में सब से अधिक (वसिष्ठम् असि) उत्तम रस और गुणों और वीर्य से युक्त है । जिस प्रकार (यामेषु सोमः भग इव) दिन और रात के कालों में चन्द्र शान्तिदायक और सूर्य तेजस्वी है उसी प्रकार तू भी सब भेषजों में उत्तम शान्तिदायक और वीर्यवान् है । और (देवेषु) सब प्रकाशमान पदार्थों में या राजाओं में सब का प्रकाशक (यथा वरुणः) जैसे सर्वश्रेष्ठ वरुण=चुना हुआ राजा या परमात्मा है उसी प्रकार तू भी सर्वश्रेष्ठ है ।

रेवतीरनाधृषः सिषासवः सिषासथ ।
उत स्थ केशदृंहणीरथो ह केशवर्धनीः ॥ ३ ॥

भा०—हे (रेवतीः) वीर्यवाली ओषधियो ! आप (अनाधृषः) कभी निर्बल नहीं हो सकतीं । आप सदा (सिषासवः) सब को आरोग्यता देना चाहती हुई (सिषासथ) आरोग्य प्रदान करना ही चाहा करती हो । और आप (केश-दृंहणीः स्थ) केशों को दृढ़ करने या क्लेशों को नाश करनेवाली हो, साथ ही निश्चय से (अथो केशवर्धनीः ह) और केशों की वृद्धि करनेवाली भी हुआ करती है । केशों का दृढ़ होना और बढ़ाना यह आरोग्यतादायक वीर्यवान् ओषधियों का स्वभाव है । निर्बलता में केशों का झड़ना, टूटना आदि घटनाएं होती हैं ।



२–(तृ०) 'यक्षो भग' इति पैप्प० सं० ।
३–'(तृ० च०) 'उतस्थ केशवर्धनीरथो ह केशदृंहणीः ।' इति पैप्प सं० ।

[२२] सूर्य-रश्मियों द्वारा जल-वर्षा के रहस्य का वर्णन।

शंतातिर्ऋषिः । आदित्यरश्मयो मरुतश्च देवताः । १,३ त्रिष्टुभौ ।
२ चतुष्पदा भुरिग् जगती । तृचं सूक्तम् ।

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत् पतन्ति ।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवीं व्यू/दुः ॥ १ ॥

ऋ० १ । १६४ । ४७ ॥ अथर्व० ६ । १० । २२ । १३ । ३ । ९ ॥

भा०—(कृष्णम्) कर्षणशील, खेंचने में समर्थ (नियानम्) नियमन करने में समर्थ या आकाशमण्डल में गति करते हुए सूर्य को आश्रय लिये (सुपर्णाः) उत्तम रूप से गति करनेवाले (हरयः) जल हरण करनेवाले रश्मियां या उत्तम वायुएं (अपः वसानाः) जलों को अपने भीतर छुपाकर (दिवम्) पुनः अन्तरिक्ष में (उत्पतन्ति) उठतीं हैं । (ते) वही (ऋतस्य सदनात्) उदक या जल के आश्रयस्थान से (आववृत्रन्) लौटती हैं और (आदित्) अनन्तर पुनः (घृतेन) जल से (पृथिवीं) पृथिवी को (व्यूदुः) बरसाकर गीला कर देती हैं ।

अर्थात् सूर्य की तापमय रश्मियां पृथिवी के जल के भागों पर पड़तीं हैं और हलका जल ऊपर उठता है । पुनः वह उष्ण भाफ़ शीत के कारण जम कर पुनः नीचे आता है और जल बरसाता है । हरयः=वायुएं या आदित्य रश्मियां ।

पयस्वतीः कृणुथाप ओषधीः शिवा यदेजथा मरुतो रुक्मवक्षसः ॥
ऊर्जं च तत्र सुमतिं च पिन्वत यत्रा नरो मरुतः सिञ्चथा मधु ॥ २ ॥

[२२] १–(च०) 'पृथिवी व्यूधते' इति ऋ० । (प्र०) आसितवर्णाः हरयः' (द्वि०) 'मिहो वसानाः', (तृ०) सदनानि कृत्वा, (च०) 'आदित् पृथिवी घृतैर्व्यूद्यते' इति तै० सं० ।

२–(प्र०) 'कृणुत', 'ओषधीर्यदेज'– (तृ०) 'पिन्वथ' इति तै० सं० ।

भा०—हे (रुक्म-वक्षसः मरुतः) सुवर्ण के समान कान्तिमान तेजस्वी सूर्य को अपने वक्षस्थल पर करनेवाले, सुवर्ण के आभूषणों को छाती पर पहनने वाले, (मरुतः) मारकाट के व्यसनी भटों के समान तीव्र गतिवाले मरुत् वायुओ ! (यद्) जब तुम लोग (शिवाः) कल्याणकारी शुभ रूप में (एजथ) चला करते हो तब (अपः) पृथिवी पर विराजमान सब जल के स्थानों और (ओषधीः) अन्न आदि ओषधियों को (पयस्वतीः कृणुथ) पुष्टिकारक रस से पूर्ण कर देते हो । और हे (नरः) मेघों के ले जानेवाले (मरुतः) वायुगण ! (यत्र) जिस देश में आप लोग (मधु सिञ्चथ) जल का सेचन करते हो, जल देते हो, (तत्र) उस उस देश में (ऊर्जम्) पुष्टिकारक अन्न और (सुमतिं च पिन्वत) प्रजा के भीतर उत्तम मति, शुभ संकल्पों को भी पुष्ट करते हो।

उदप्रुतो मरुतस्ताँ इयर्त वृष्टिर्या विश्वा निवतस्पृणाति ।
एजाति ग्लहा कन्येव तुन्नैरुं तुन्दाना पत्येव जाया ॥ ३ ॥

भा०—हे (मरुतः) वायुगणो ! आप लोग (तान्) उन (उदप्रुतः) जल से पूर्ण मेघों को (इयर्त्त) प्रेरित कर धकेल कर लाओ (या) जिनसे होनेवाली (वृष्टिः) वर्षा (विश्वा निवतः) सब निम्न भागों और नीचे बहनेवाली नदियों को (पृणाति) पूर्ण कर दे । अथवा

(द्वि०) 'यमा यदेजति' (च०) 'सिंचता' इति पैप्प० सं० ।
३–(प्र०) 'उदप्लुतः', 'तुदाना' इतिच क्वचित्' 'एजाति गल्हा' 'तुन्नैरुं तुञ्जाना' इति सायण सम्मतौ पाठभेदौ । (द्वि०) 'वृष्टिं मे विश्वे मरुतो जिनन्ति (तृ०) 'क्रोशाति' 'गदों कन्येव तुन्ना पेरुं तुञ्जाना इति तै० सं० । (तृ०) 'गल्हा', (च०) 'तुञ्जाना' इति सायणाभिमतः । ये जहाति क्षन्हा कन्यव द्रुन्नानं दुन्नमा पत्येव जायाम्' इति भ्रष्टपाठः पैप्प० सं० ।

हे (उद-प्रुतः मरुतः) जल से पूर्ण मानसून वायुओ ! आप लोग (तां= ताम्) उस वृष्टि को (इयर्त) ला बरसाओ (या वृष्टिः) जो वृष्टि (विश्वा निवतः पृणाति) सब नद नालों को भर डालती है। (तुन्ना कन्या इव) जिस प्रकार पीड़ित, दुःखित कन्या अपने पिता को व्यथित, कम्पित करती है और (तुन्दाना जाया पत्या इव) जिस प्रकार भय से व्यथित स्त्री अपने प्राणपति को व्यथित, कम्पित करती है उसी प्रकार (ग्लहा) मध्यमिका वाग् विद्युत् मानो व्यथित-सी होकर (एरम्) प्रेरक मेघ को भी (एजाति) कंपाती है।

ग्रीफिथ–(तुन्ना कन्या इव ग्लहा एजति, पत्या तुन्दाना जाया इव स्वयं तुन्ना, एरं तुन्दाना ग्लहा एजति) जिस प्रकार कन्या मनुष्य के आलिङ्गनों से व्यथित होकर छटपटाती है और जिस प्रकार पति से व्यथित स्त्री कांपती है उसी प्रकार स्वयं व्यथित और (एरम्) गतिशील मेघ को कम्पित करती हुई छटपटाती है। इस अर्थ में उपमा ठीक नहीं बैठती।



[२३] जलधाराओं द्वारा यन्त्र-संचालन।

शंतातिर्ऋषिः। आपो देवताः। १ अनुष्टुप्, २ त्रिपदा गायत्री, ३ परोष्णिक्। तृचं सूक्तम् ॥

सुस्रुषीस्तदुपसो दिवा नक्तं च सुस्रुषीः।
वरेण्यक्रतुरहमपो देवीरुप ह्वये ॥ १ ॥ ऋ० १० । ६ ॥

भा०—(ततं) उस अनादि अनन्त जीवन रस को (सस्रुषीः) निरन्तर बहानेवाली (अपसः) ब्रह्माण्ड निर्मापक शक्तिधाराएं या

[२३] १–(च०) 'आ देवीरवसे हुवे' इति ऋ० खि०। 'अहूयो देवीरुपहुवे' इति पैप्प० सं०।

जलधाराएं (दिवा नक्तं च) रात और दिन (सस्रुषीः) बहनेवाली जल धाराओं के समान बराबर चलती ही रहती हैं। (वरेण्य-क्रतुः) सब से वरण करने योग्य क्रतु=ज्ञान और कर्म से युक्त (अपः) व्यापक प्रकृति शक्तियों को (उप-ह्वये) अपने समीप ही अपनी हुकूमत में रखता हूँ। अथवा—मैं (वरेण्य-क्रतुः) उत्तम ज्ञान और कर्मवाला पुरुष उन दिव्य शक्ति सम्पन्न (अपः) जलों को (उप-ह्वये) अपने कलायन्त्रादि द्वारा अधीन रखता हूं।

ओता आपः कर्मण्या/मुञ्चन्त्वितः प्रणीतये। सद्यः कृण्वन्त्वेतवे॥२॥

भा०—(ओताः) निरन्तर बन्धी धारा से बहनेवाली (आपः) जल धाराएं ही (कर्मण्याः) कर्म, क्रिया शक्ति उत्पन्न करने में समर्थ होती हैं। हे पुरुषो (प्रणीतये) अपने यन्त्रों को उत्तम रीति से चलाने के लिये उन जलधाराओं को (इतः) इस रीति, या इस निर्दिष्ट मार्ग से (मुञ्चन्तु) छोड़ दो कि (एतवे) गति देने के लिये ये (अपः) जलधाराएं भी (सद्यः) शीघ्र ही (कृण्वन्तु) क्रिया करें।

जलधाराओं की शक्ति से यन्त्र चलाने का इसमें उपदेश है। कि निरन्तर बहती धारा से शक्ति उत्पन्न करो और शीघ्र चलने वाला यन्त्र चलाओ।

देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः।
शं नो भवन्त्वप ओषधीः शिवाः ॥ ३ ॥

भा०—(सवितुः) सबके प्रेरक, उत्पादक (देवस्य) प्रकाशमान देव के (सवे) प्रेरणा करते हुए, (मानुषाः) सब मनुष्य (कर्म)

२–'अपः' इति ह्विटनिकामितः। 'ऊताः' इति सायणाभिमतः (तृ०) 'भवन्तु एतव' इति पैप्प० सं०।
३–(द्वि०) 'कृण्वन्ति' इति पैप्प० सं०।

अपना अपना नियत काम (कृण्वन्तु) करें । (ओषधीः) नाप को धारण करनेवाले (अपः) जल (नः) हमें (शिवाः) सुखकारी और शान्तिदायक हों ।



[२४] हृदय-रोग पर जल-चिकित्सा ।

शंतातिर्ऋषिः । आपो देवताः । १-३ अनुष्टुभ् । तृचं सूक्तम् ॥

हिमवतः प्र स्रवन्ति सिन्धौ समह संगमः ।
आपो ह मह्यं तद् देवीर्ददन् हृद्योतभेषजम् ॥ १ ॥

भा०—(हिमवतः) हिमवाले पर्वतों से जो जलधाराएं (प्रस्रवन्ति) वह कर आती हैं उनका (सिन्धौ) बहनेवाले बड़े प्रवाहों में (समह) एक ही साथ (संगमः) मेल हो जाता है । (तद्) तब (देवीः) दिव्य गुणों से युक्त (आपः) वे जल (मह्यं) मुझे (हृद्योत भेषजं ददन्) हृदय की पीड़ा के रोग को अच्छा करने का लाभ देती हैं। अर्थात् हिमाचल की बहती जलधाराएं नाना प्रकार के गुणों से एकत्र मिल जाने पर उनमें हृदय के रोग को नाश करने का विशेष गुण होता है ।

यन्मे अक्ष्योरादिद्योत पार्ष्ण्योः प्रपदोश्च यत् ।
आपस्तत् सर्वं निष्करन् भिषजां सुभिषक्तमाः ॥ २ ॥

भा०—(यत्) जो रोग (मे) मेरे (अक्ष्योः) आंखों और (पार्ष्ण्योः) एड़ियों और (प्रपदोः च) पैरों के अगले हिस्सों में (आदि

[२४] १—हिमवतः प्रस्रवतस्ताः सिन्धुमुपगच्छतः ।
२—(प्र०) यदक्षिभ्यामाद (द्वि०) 'पार्ष्णिभ्यां हृदयेन च । (च०) 'त्वष्टारिष्टमिवानसः' इति पैप्प० सं० ।

द्योत्) जलन पैदा करता है (तत् सर्वं) उस सब रोग को (आपः) जलधाराएं (निष्किरन्) दूर कर देती हैं, क्योंकि वेही (भिषजां) सब ओषधियों में (सुभिषक्-तमाः) उत्तम रोग की चिकित्सा करनेहारी हैं।

सिन्धुपत्नीः सिन्धुराज्ञीः सर्वा या नद्यस्थन ।
दत्त नस्तस्य भेषजं तेना वो भुनजामहै ॥ ३ ॥

भा०—(सिन्धु-पत्नीः) अपने निरन्तर प्रवाह को पालने वाली, सदा-बहार और (सिन्धु-राज्ञीः) नित्य बहते प्रवाह से शोभा देनेवाली (याः) जितनी विशाल (नद्यः) बड़ी नदियाँ (स्थन) हैं। हे नदियो! आप सब (नः) हम मनुष्यों को (तस्य) उस पीड़ाकर रोग के (भेषजम्) निवारक ओषधि का (दत्त) प्रदान करो। (तेन) उसके बल पर ही हम (वः) आप सब नदियों का (भुनजामहै) उपभोग करें। नदियों के कारण ही हम स्वस्थ रहकर नदियों का आनन्द लाभ उठाते हैं।



[२५] कण्ठमाला रोग का निदान और चिकित्सा ।

शुनःशेप ऋषिः । मन्याविनाशनं देवता । १-३ अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम्

पञ्च च याः पञ्चाशच्च संयन्ति मन्या अभि ।
इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥ १ ॥

भा०—गले की धमनी के चारों ओर (याः) जो (पञ्च च पञ्चाशत् च) पचपन प्रकार की (मन्याः) गले में व्याप्त धमनी नाड़ियां, गण्डमालाएं (अभि संयन्ति) गले पर आ जाती हैं। (ताः) वे सब (अपचिताम्) अप=बुरे मादे के संञ्चयों से उत्पन्न (वाकाः इव) पाक=पकी फुन्सियों के समान होती हैं (ताः सर्वाः) वे सब (इतः) यहाँ से (नश्यन्तु) दूर हो जायं।

३—'सिन्धुराज्ञीः सिन्धुपत्नीः' इति पैप्प० सं० ।

सायण—(अपचितां वाकाः इव) 'पूजनीया स्त्री को प्राप्त होकर जिस प्रकार दोष नष्ट हो जाते हैं उस प्रकार वे गण्डमाला नष्ट हो जांय ।' यह क्लिष्ट कल्पना है ।

सप्त च याः सप्ततिश्च संयन्ति ग्रैव्या अभि । इतस्ताः० ॥ २ ॥

भा०—और (याः) जो (ग्रैव्याः) ली (सप्त च सप्ततिः च) ७७ सतहत्तर नाड़ियां (अभि संयन्ति) ग पर आ जकड़ती हैं (ताः) वे भी (अप चिताम् वाकाः इव) बुरे माद्दे के सञ्चय से उत्पन्न फोड़ों के समान होती हैं । (ताः सर्वाः इतः नश्यन्तु) वे सब इस गर्दन भाग से नष्ट हो जायं ।

नव च या नवतिश्च संयन्ति स्कन्ध्या अभि ।
इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥ ३ ॥

भा०—(नव च नवतिः च याः) जो निन्यानवे (स्कन्ध्याः) कन्धे की नाड़ियां (अभि संयन्ति) कन्धों को जकड़ती हैं । वे भी (अपचितां वाका इव) बुरे माद्दे की फोड़ियों के समान हो जाती हैं (ताः सर्वा इतः नश्यन्तु) वे सब भी इस स्कन्ध भाग से नष्ट हो जांय ।

डा० वाईज़ 'हिन्दू सिस्टम आफ़ मैडिसन' में लिखते हैं—'जब छोटी २ गोटियां (Tunours) वेर के फल के समान गला, गर्दन, कन्धे और पीठ पर उठती हैं तो वे कफ़ दोष से बढ़ जाती हैं और शनैः २ बढ़ती जाती है । उनको 'अपचि' कहते हैं ।'



[२६] पाप के भावों पर वश करना ।

ब्रह्मा ऋषिः । पाप्मा देवता । १,२ अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

अव मा पाप्मन्त्सृज वशी सन् मृडयासि नः ।
आ मा भद्रस्य लोके पाप्मन् धेह्यविहुतम् ॥ १ ॥

[२६] १–'आ मा भद्रेषु धामस्वत्वे धेह्य' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (पाप्मन्) पाप के भाव ! (मा अवसृज) मुझसे परे रह । तू (वशी सन्) वश में आकर (नः) हमारे (मृडयासि) सुख का कारण हो । हे पाप्मन् ! पाप के भाव (मां) मुझको (अविहुतम्) सरल, निष्कपट रूपमें (भद्रस्य लोके) सुख, कल्याणमय लोक में (आ धेहि) रहने दे । मनुष्य सदा यही भावना करे कि पाप मुझसे परे रहे और मैं सदा उस पर वश करके रहूं । सरल, निष्कपट रूपसे कल्याणमय लोक में निवास करूं ।

यो नः पाप्मन् न जहासि तमु त्वा जहिमो वयम् ।
पथामनु व्यावर्तनेऽन्यं पाप्मानु पद्यताम् ॥ २ ॥

भा०—हे पाप्मन् ! पाप के भाव ! (नः) हमें (यः) जो तू (न जहासि) नहीं छोड़ता तो (तम्) उस (त्वा उ) तुझको ही (वयम्) हम स्वयं (जहिमः) परित्याग करते हैं । (पथाम्) गतिशील इन्द्रियों के (वि-आवर्त्तने) विषयों से लौटा लेने में (पाप्मा) वह पापका प्रलोभन रूप विषय हमारे पास न आकर (अन्यं अनुपद्यताम्) किसी अन्य के पास चला जाय ।

अन्यत्रास्मन्न्युच्यतु सहस्राक्षो अमर्त्यः ।
यं द्वेषाम तमृच्छतु यमु द्विष्मस्तमिज्जहि ॥ ३ ॥

भा०—(अमर्त्यः) मनुष्यों के अयोग्य, अमानुष पाप (सहस्राक्षः)[1] इन्द्रियों पर बलवान् हो जानेवाला, व्यसन (अस्मत्) हमसे

२–(द्वि०) 'पथोक व्यावर्तने निष्पाप्मा त्वं सुत्रामासि' (प्र०) 'अवन:' इति पैप्प० सं० ।

३–१, सहस्रं सहस्वद् इति (निरु० ३ । २ । ४) सहस्राक्षः, सहस्वद् येन इन्द्रियाणि बलवन्ति भूत्वा प्रवर्त्तन्ते स पाप्मा सहस्राक्षः ।

(अन्यत्र) पृथक् (नि-उच्यतु) ही रहे। (यं द्वेषाम) जिसके प्रति हम प्रेम नहीं करते (तम् ऋच्छतु) उसको ही वह प्राप्त हो (यम् उ द्विष्मः) जिसको अप्रीति से वर्त्तते हैं (तम् इत्) उसका ही (जहि) नाश करे।

जिन दुष्टों का विनाश करना अभीष्ट है वे अपने पाप में लिप्त रहें और उनसे ही वे नष्ट हो जायँ। हम तो अपनी इन्द्रियों में व्यसनों को स्थान न दें। हिंस्रः स्वपापेन विहिंसितः खलः साधुः समत्वेन भयाद्विमुच्यते ॥ भाग० ॥



[२७] राजा और राजदूतों का आदर।

भृगुर्ऋषिः। यमो निर्ऋतिर्वा देवता। १,२ जगत्यौ, २ त्रिष्टुप्। तृचं सूक्तम् ॥

देवाः कपोत इषितो यदिच्छन् दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम।
तस्मा अर्चाम कृणवाम निष्कृतिं शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ १ ॥

ऋ० १० । १६५ । १ ॥

भा०—विद्वान् राजदूतों के साथ करने योग्य व्यवहार का उपदेश करते हैं। हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! (निर्ऋत्याः) कष्टदायी विपत्तियों या सेनाओं का (दूतः) ज्ञान कराने या दूर करने वाला (कपोतः)[1] कपोत

इन्द्रः आत्मा अपि सहस्राक्षः एतस्मादेव, अनेन चेतनानि बलवान्ति भवन्ति।

[२७] १-(प्र०) 'देवः कपोत' इति पैप्प० सं०।

१. कवते रोतच् उणादि वेस्यचः पः। उणा० १ । ६२ ॥ वर्णयति दर्शयति इति कपोतः। अस्य सूक्तस्य ऋग्वेदे कपोतो नैर्ऋत ऋषिः कपोतोपहतौ प्रायश्चित्ते वैश्वदेवं देवता। विश्वदेवा देवता इति क्षेमकरणः।

के समान संदेश हर, विद्वान् पुरुष (यद्) जब (इषितः) किसी से प्रेरित या प्रेषित होकर या (इच्छन्) स्वयं अपनी अभिलाषा से (इदम्) हमारे घर में, हमारे पास (आजगाम) आ जाय (तस्मा अर्चाम) तब उसको हम बड़े आदर से पूजें। उसकी उपेक्षा न करें और उसके (निः स्कृतिम् कृणवाम) श्रम का प्रतिकार करें। जिससे वह (नः) हमारे (द्विपदे) मनुष्यों और (चतुष्पदे) चौपायों को (शं) सुख, कल्याणकारी (अस्तु) हो। इसीसे कपोत पक्षी द्वारा दूत का कार्य लेना भी सूचित होता है।

शिवः कपोत इषितो नो अस्त्वनागा देवाः शकुनो गृहं नः ।
अग्निर्हि विप्रो जुषतां हविर्नः परि हेतिः पक्षिणी नो वृणक्तु ॥२॥

भा०—(इषितः) किसी से प्रेषित (कपोतः) विशेष लक्षणों से युक्त संदेशहर विद्वान् (नः) हमें (शिवः) शुभ ही (अस्तु) हो। हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! (शकुनः) क्योंकि वह शक्तिशाली होकर भी (नः) हमारे (गृहं) घर के प्रति (अनागाः) कोई अपराध या हानि न पहुंचावें। वह (अग्निः) अग्नि—आहवनीय अग्नि (हि) के समान (विप्रः) मेधावी पुरुष (नः) हमारे (हविः) चरु के समान, पवित्र अन्नको (जुषताम्) प्रेम से स्वीकार करे। जिससे (पक्षिणी) पंखों से युक्त (हेतिः) आयुध बाण या सेना (नः) हमसे (परि वृणक्तु) चारों ओर से बचे अर्थात् दूर रहे, हमें न लगे। अर्थात्—पराये राष्ट्र के भेजे राजदूत के साथ आदर से वर्त्ताव करे, उसको अन्न—भोजन का प्रबन्ध कर दें नहीं तो उसके साथ दुर्व्यवहार करके भावी में भयंकर राष्ट्रकलह उत्पन्न होते हैं और भयानक अस्त्रों का प्रहार होता है।

२—(द्वि०) 'शकुनो गृहेषु' इति पैप्प० सं० ।

हेतिः पक्षिणी न दभात्यस्मानाष्ट्री पदं कृणुते अग्निधाने।
शिवो गोभ्य उत पुरुषेभ्यो नो अस्तु मा नो देवा इह हिंसीत्
कपोतः ॥ ३ ॥ ऋ० १० । १६५ । १३ ॥

भा०—(पक्षिणी) पंखों से युक्त (हेतिः) आयुध बाण या सेना (अस्मान्) हमें (न दभाति) नहीं विनाश करे। (आष्ट्री) शक्तिमान् राजा (अग्निधाने) अग्निशाला में (पदं कृणुते) पैर रक्खे, चला जाय और वहाँ विद्वान् दूत से अग्नि की साक्षी में बात करे (नः) हमारे (गोभ्यः) गौओं और (पुरुषेभ्यः) मनुष्यों के लिये भी (शिवः) कल्याण (अस्तु) हो। हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! (कपोतः) पूर्वोक्त लक्षणवान् विद्वान् दूत सूचक (इह) यहाँ (नः मा हिंसीत्) हमें विनाश न करे। इस मन्त्र के अनुसार प्राचीन काल में राजा लोग प्रायः अग्निशाला में दूतों की बातें सुना करते थे। देवाः=विद्वान् लोक जो राजसभाओं के सभासद् हैं। निर्ऋतिः=शत्रु का आक्रमण रूप विपत्ति। पक्षिणी हेतिः= सेना जिसके दोनों पक्ष कहाते हैं।



[२८] राजा और राजदूत के व्यवहार।

भृगुर्ऋषिः। यमो निर्ऋतिश्च देवते। १ त्रिष्टुप्, २ अनुष्टुप्, ३ जगती। तृचं सूक्तम् ॥

ऋचा कपोतं नुदत प्रणोदमिषं मदन्तः परि गां नयामः।
संलोभयन्तो दुरिता पदानि हित्वा न ऊर्जं प्र पदात् पथिष्ठः॥१॥
ऋ० १० । १६५ । ५ ॥

३–'आष्ट्र्यां पदं कृणुते', 'शं नो गोभ्यः पुरुषेभ्यश्चास्तु, मा नः हिंसीदिह देवा कपोताः' इति ऋ०।

[२८] १–(द्वि०) 'नयध्वम्'। (तृ० च०) 'संयोपयन्तो दुरितानि विश्वा हि

भा०—(ऋचा) उत्तम अर्चना, आदर सत्कार से (प्रणोदम्) शिक्षा प्राप्त, स्तुति योग्य (कपोतं) विशेष लक्षण, या वर्णयुक्त विद्वान् राजदूत को आप लोग भी (नुदत) अपना संदेशहर बना बना कर भेजो । हम भी (इषम्) अपनी अभिलाषा को (मदन्तः) हर्षपूर्वक (गां परिनयामः) इस पृथ्वी में सब ओर पहुँचावे । और (दुरितानि पदानि) दुःखदायी स्थानों का (संक्षोभयन्तः) विनाश करते हुए वह हमारा (ऊर्जं) बल को (हित्वा) ग्रहण करके स्वयं (पथिष्ठः) मार्ग तय करता हुआ (प्र पद्यात्) बराबर आगे बढ़ता चला जाय ।

राजा अपने दूतों को समस्त पृथिवी में भेजे, अपनी आज्ञाओं को उसके द्वारा सर्वत्र प्रचारित करे । दुर्गम स्थानों को सुगम करके वहाँ से राष्ट्र के हितार्थ ऊर्ज=बल प्राप्त करके और अगले देशों में प्रवेश करे ।

परी॒मे॒ऽग्निम॑र्षत॒ परी॒मे गाम॑नेषत ।
दे॒वेष्व॑क्रत॒ श्रवः॒ क इ॒माँ आ द॑धर्षति ॥ २ ॥
ऋ० १० । १५५ । ५ ॥

भा०—(इमे) ये विद्वान् लोग (अग्निम् अर्षत) अग्नि के समान प्रकाशमान ज्ञानी, विद्वान को प्राप्त करते हैं (गाम् परि अनेषत) और समस्त पृथिवी का परिभ्रमण या वेदवाणी का अभ्यास करते हैं । (देवेषु) विद्वानों में और राजाओं में भी (श्रवः अक्रत) अपना बल या ज्ञान प्राप्त करते हैं । (इमान्) अब इनको (कः) कौन (आ दधर्षति) परास्त कर सकता है ।

: त्वा न ऊर्जं प्रपतात् पतिष्ठः ।' इति ऋ० । 'प्रपतात् पतिष्ठः' इति सायणसम्मतः पाठः । अस्य सूक्तस्य ऋग्वेदे कपोतो नैर्ऋत ऋषिः-कपोतोपहते वैश्वदेवं प्रायश्चित्तं देवता इति ।

२–(प्र० द्वि०) 'परिमे गामनेषत पर्यग्निमहृषत' इति ऋ० । 'पर्यग्नि-महर्षत' इति पैप्प० सं० । 'अरिषत' इति क्वचित् ।

जो विद्वान् दूतों को रखते समस्त पृथ्वी में पहुँच कर राजाओं में बल प्राप्त कर लें उनको विजय नहीं किया जा सकता ।

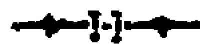
यः प्रथमः प्रवतमासुसाद बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानः ।
योऽस्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदस्तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे॥२॥

प्र० द्वि० ऋ० १० । १४ । १ प्र० द्वि० ॥ तृ० च० ऋ० १० । १६५ । ४ तृ० च० ॥ १० । १२१ । ३ तृ० च० ॥

भा०—(यः) जो (प्रथमः) सबसे श्रेष्ठ, सबसे प्रथम (बहुभ्यः) और बहुत से लोगों के लिये (पन्थाम्) मार्ग को (अनुपस्पशानः) अपने पीछे दिखाता हुआ (प्रवतम्) उच्च पद को प्राप्त किये है और जो (अस्य द्विपदः) इस मानव संसार (चतुष्पदः) और इस पशुसंसार का (ईशे) स्वामी है (यमाय) सर्व नियन्ता (मृत्यवे) सब को बन्धनों से मुक्त करने वाले (तस्मै) उस प्रभु को (नमः अस्तु) नमस्कार है । उक्त दोनों सूक्त अध्यात्म पर कभी हैं । अध्यात्म में (१) निर्ऋति=संसार (दूतः) क्लेश पाकर, कपोत=आत्मा किसी गुरु से प्रेरित होकर या स्वयं अपनी अभिलाषा से (इदम्) प्रत्यक्ष परमात्मा को प्राप्त हो जाय तो उस आत्मा का आदर करो वह सबका कल्याणकारी है । (२) वहीं आत्मा शिव, निष्पाप, शक्तिमान् है और यह हमारा शरीर उसका गृह है । वही विप्र अग्नि है जो इस हवि स्तुति को स्वीकार करता है । (३) पक्षिणी-हेति=पक्षपातवाली तृष्णा हमें न सतावे । वह सर्व भक्षिणी अग्नि=आत्मा के स्थान पर भी आक्रमण कर देती है । हमारे पशु-इन्द्रियों और पुरुषों,-प्राणों को कल्याण हो, वह आत्मा हमें आघात न करे ।

२—(तृ०) 'योऽस्य दूतः प्रहित एष तत्तस्मै' इति ऋ० । (प्र० द्वि०) 'परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनु पस्पशानम्' इति ऋ०। (प्र०)-'प्रवतः ससाद' इति पैप्प० सं० ।

(१) स्तुति या वेद ज्ञान के अनुसार आत्मा को प्रेरित करे, हर्ष से अनुभव करते हुए वाणियों का उच्चारण करे। दुष्ट विषयों का विनाश करते हुए और उन का त्याग करे, देवयान मार्ग में गतिशील हमारा आत्मा उस (ऊर्जं) रसरूप ब्रह्म को प्राप्त हो। (२) योगी लोग उस अग्नि देव परमेश्वर को प्राप्त करते, वाणी का उच्चारण करते या अपनी स्तुतियाँ उस तक पहुँचाते हैं और अपने प्राणों में बल धारण करते हैं अब उनका विजय कौन कर सकता है। (३) वह परमात्मा सबसे पूर्व बहुत से अन्य जीवों को मार्ग दिखाता हुआ सबसे उच्च स्थान मोक्ष में विराजता है वह सब पशु मनुष्यों का स्वामी, सर्वनियन्ता और बन्धन-मोचन है, उसको नमस्कार है।



[२९] राजदूतों के व्यवहार

भृगुर्ऋषिः। यमो निर्ऋतिश्च देवते। १-२ विराड्नामगायत्री, ३ त्र्यवसाना सप्तपदा विराडष्टिः। तृचं सूक्तम्॥

अमून् हेतिः पतत्रिणी न्येतु यदुलूको वदति मोघमेतत्।
यद् वा कपोतः पदमग्नौ कृणोति॥ १॥

ऋ० १०। १६५। ४ प्र० द्वि०॥

भा०—[1](यत्) जब (उलूकः) उल्लू के समान कुटिल गुप्त दूत (मोघम्) व्यर्थ बात (वदति) बोलता है (यद्वा) या जब (कपोतः)

[२९] १—'यदुलूको वदति मोघमेतद् यत्कपोतः पदमग्नौ कृणोति। यस्य दूतः प्रहित एष एतत्तस्मै यमाय नमोऽस्तु मृत्यवे' इति ऋ०। कपोतो नैर्ऋतऋषिः। कपोतोपहतौ वैश्वदेवं देवता इति ऋग्वेदे प्रजापतिरिति क्षेमकरणः।

विद्वान् दूत भी (अग्नौ) अग्नि में, अग्नि के समान तेजस्वी राजा पर (पदम् कृणोति) अपना अधिकार जमाना चाहता है तब (पतत्रिणी) पक्षों वाली (हेतिः) घातक सेना (अमून) उन शत्रुओं पर (नि-पतु) जा पड़े।

यौ ते॑ दू॒तौ नि॑र्ऋत इ॒दमे॒तोऽप्र॑हितौ॒ प्रहि॑तौ वा गृ॒हं नः॑।
क॒पो॒तो॒लू॒काभ्या॒मप॑दं॒ तद॑स्तु ॥ २ ॥

भा०—हे (निर्ऋते) विपत्ते ! (ते) तेरे (यौं दूतौ) जो दो प्रकार के दूत (इदम् नः गृहं) इस हमारे घर पर (अप्रहितौ) विना भेजे या (प्र-हितौ) भेजे हुए (एतः) आते हैं (तत्) तब, उस समय जब कि पूर्वोक्त प्रकार से सेना का आक्रमण हो जाय तब हमारा गृह (कपोत-उलूकाभ्याम्) मूर्ख और बुद्धिमान् दोनों प्रकार के दूत पुरुषों के लिये (अपदम् अस्तु) आश्रय के लिये न हो। अर्थात् उस समय हम शत्रु के भले बुरे किसी भी प्रकार के राजदूत को आश्रय नहीं दें।

अ॒वै॒र॒ह॒त्यायेदमा प॑पत्यात् सु॒वी॒रता॑या इ॒दमा स॑सद्यात्।
परा॑ङ्गे॒व परा॑ वद॒ परा॑ची॒मनु॑ सं॒वत॑म्।
यथा॑ य॒मस्य॑ त्वा गृ॒हेऽर॒सं प्र॑ति॒चाक॑शाना॒भूक॑ प्रति॒चाक॑शान् ॥३॥

भा०—युद्ध के समय राजदूतों के साथ किस सावधानी से वर्ताव करे। इसका उपदेश करते हैं। (इदम्) चाहे यह राजदूत (अवैर-हत्याय आपपत्यात्) वैर से हमारे पुरुषों का घात करने का उद्देश्य न लेकर भी आया हो और चाहे (इदम्) वह (सुवीरतायाः आससद्यात्) अपनी अच्छी वीरता का ज़ोर दिखलाने ही आया हो, दोनों दशाओं

३–(प्र०) 'अवीरहत्यायै', 'पपद्यात्', 'परामेव परावतम्' इति सायणाभिमतः।

में (पराङ् एव) दूर रह कर ही (पराचीम् संवतम्) दूर की वेदी या आसन पर खड़ा रह कर (परा वद) दूर से ही अपना संदेश कहे। (यथा) जिससे हे दूत (त्वा) तुझे राजसभा के लोग (यमस्य गृहे) नियन्ता राजा के घर में (अरसम्) निर्बल रूप में (प्रति चाकशान्) देखें और (अभूकं प्रति चाकशान्) सामर्थ्यहीन, नाचीज़ जानें।



[३०] राजा के कर्त्तव्य।

उपरिबभ्रव ऋषिः । शमी देवता । १ जगती । २ त्रिष्टुप् । ३ चतुष्पदा ककुम्मती अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

देवा इमं मधुना संयुतं यवं सरस्वत्यामधि मणावचर्कृषुः ।
इन्द्र आसीत् सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन् मरुतः सुदानवः ॥ १ ॥ ऋ० ६१ । २ ॥

भा०—जौ की खेती के दृष्टान्त से राष्ट्र के शासन का वर्णन करते हैं। (देवाः) देव विद्वान् लोग (इमं) इस (यवं) जौ धान्य को जिस प्रकार (सरस्वत्याम्) नदी के तट पर (मणौ) उत्तम भूमि में (अचर्कृषुः) हल जोत कर बोते हैं और उत्तम फसल प्राप्त करते हैं उसी प्रकार (देवाः) विद्वान् शासक लोग भी (मधुना) उत्तम धन धान्य समृद्धि से (सं-युतम्) सम्पन्न (यवम्) इस समूहित राष्ट्र को (सरस्वत्यां मणौ) सरस्वती-सत्यवाणी धर्मपुस्तक [कोड्बुक] के आधार पर उत्तम पुरुषों के आश्रय पर (अवचर्कृषुः) चलाते हैं । इस राष्ट्ररूप खेती में (सीरपतिः) हलका स्वामी (इन्द्रः, आसीत्) राजा होता है।

[३०] १–(प्र०) 'संजितं' (द्वि०) –'मन्नाव' इति सायणसम्मतः । (प्र०) 'एतमुत्यंमधु'– (द्वि०) 'सरस्वत्याः अधिमनाव'– इति तै० ब्रा० । 'वनावचर्कृधि' मै० ब्रा० ।

जो (शत-क्रतुः) सैकड़ों यज्ञ और ज्ञान सामर्थ्यों से युक्त होता है । और (सु-दानवः) उत्तम दानशील, उदार (मरुतः) प्रजागण लोग (कीनाशाः) कीनाश किसानों के समान (आसन्) होते हैं ।

यस्ते मदो॑ऽवकेशो विकेशो येना॑भिहस्यं पुरु॑षं कृणोषि॑ ।
आरात् त्वदन्या वना॑नि वृक्षि त्वं श॑मि शतव॑ल्शा वि रो॑ह ॥२॥

भा०—शमी वृक्ष के दृष्टान्त से राजा के कर्त्तव्यों का उपदेश करते हैं। हे शमि ! शत्रुओं को शमन करने हारी शक्ति ! शमी के मद या रसके समान (ते) तेरा (यः) जो (मदः) हर्ष या उन्माद (अव-केशः) बालों को तू चबाने या (वि-केशः) बालों को विकृत कर देने वाला है । जिससे तू (पुरुषं अभिहस्यं कृणोषि) पुरुष को उपहास का पात्र बना देती है हे शमि ! उस मद से (शत-वल्शा) सैकड़ों शाखा वाली होकर (त्वं) तू शमी वृक्ष के समान ही (विरोह) बढ़ । (त्वत् आरात्) तेरे पास से (अन्या वनानि) और वृक्षों के समान उच्छेद करने योग्य विरोधी राजाओं को (वृक्षि) काट डालता हूं ।

राजा का मद अपने अधीन आये शत्रु की चाहे तो इतनी दुर्दशा करे उसके बाल नोंचदे या मूंड दे और उसको सबको उपहासका पात्र बनादे मन्त्री आस पास के और राजाओं का नाश कर उसको मुख्य बनाता है और सब राज्य प्रबन्ध राजा को मूल में रखकर उसके शाखारूप में रख देता है । इससे राज्य की शक्ति बढ़ती है ।

बृहत् पलाशे सुभगे वर्षवृद्ध ऋतावरि ।
मातेव पुत्रेभ्यो मृडकेशेभ्यः शमि ॥ ३ ॥

२—(प्र०) मदो विकेशो यो विकेश्यो (तृ० च०) भ्रूणघ्नो वरिवाणा जनित्वं तस्य ते प्रजयः सुवामि केशम्' इति पैप्प० सं० ।

३—(द्वि०) 'सुभगे ऊर्ध्वस्वप्ने' (च०) 'मृड नः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे शमि ! हे शान्तिकारिणी राजशक्ते ! राजसभे ! हे (बृहत्पलाशे) बड़े ज्ञान सम्पन्न पुरुषों से सम्पन्न हे सुभगे ! ऐश्वर्य सम्पन्न ! हे वर्ष वृद्धे ! सुखादि वर्षण करने में सबसे अधिक बलशालिनि ! हे ऋतावरी ! सब सत्य ज्ञान=विज्ञान एवं कानून की रक्षा करने वाली तू (केशेभ्यः) केशों को, राष्ट्र के सुन्दर मूर्धन्य पुरुषों को (पुत्रेभ्यः माता इव) पुत्रों को माता के समान (मृड) सुखी कर। उनको शमी के वृक्ष के समान विकृत मत कर।



[३१] सूर्यादि लोक-परिभ्रमण ।

उपरिबभ्रवऋषिः । गौर्देवता । गायत्रं छन्दः । तृचं सूक्तम् ॥

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥१॥

यजुः ३ । ६ ॥ ऋ० १० । १८६ । १ ॥ साम० पू० ६ । १४ । ४ ॥

भा०—(अयं गौः) यह गतिशील आदित्य आदि लोक (पृश्नीः) समस्त रसों का और ज्योतियों का ग्रहण करने हारा होकर (आ-अक्रमीत्) चारों तरफ घूम रहे हैं। और (मातरं पुरः) और अपने बनाने वाले मूलकारण के सहित २ (स्वः) तेजःस्वरूप (पितरं च) अपने परिपालक विशाल लोक की भी (प्रयन् च) प्रदक्षिणा करते हैं।

अर्थात् जिस प्रकार बालक माता के सहित पिता के साथ रहता और उसका वशवर्त्ती रहता है। इसी प्रकार चन्द्र पृथिवी के सहित सूर्य की परिक्रमा करता है पृथिवी अपने मूल सूर्य सहित किसी और नियामक लोक की प्रदक्षिणा पथ पर गति करता है। इसका अध्यात्मिक अर्थ—देखो सामवेद भाषाभाष्य पृ० ३३२।

[३१] १–(द्वि०) 'असनन् मातरं पुनः' इति तै० सं०। (तृ०) 'प्रयत् स्वः' इति पैप्प०सं०। 'ऋग्वेदे सार्पराज्ञी ऋषिः। सूर्यः सार्पराज्ञी देवता।

अथवा—(अयं गौः) यह पृथ्वी (पृश्निः पृश्निम्) सूर्य के गिर्द (आ अक्रमीत्) चक्र लगाती है। इत्यादि योजना भी जानना।

सायण—(गौः) गमनशील (पृश्निः) सूर्य (आ अक्रमीत्) गति करता है। और (मातरं पुरः असदत्) पूर्व दिशा में आकर पृथ्वी पर अपने तेज को फैलाता है और (पितरं) वृष्टिरूप वीर्य के आधाता (स्वः) अन्तरिक्ष में (प्रयत्) गति करता है।

अध्यात्म में—गौः=यह आत्मा, पृश्निः=ब्रह्म ध्यान के रसों को प्राप्त करके और आगे बढ़ता है (पुरः) अपने (मातरं) मातृरूप प्रभु की गोद में बैठता और (स्वः) सुखमय (पितरं) पालक प्रभु को ही प्राप्त हो जाता है।

अ॒न्तश्च॑रति रोच॒ना अ॒स्य प्रा॒णाद॑पान॒तः। व्य॑ख्यन्महि॒षः स्वः॑॥२॥

ऋ० १० । १८९ । २ ॥ साम० पू० । ६ । १४ । ५ ॥ यजु० ३ । ७ ॥

भा०—(अस्य) इसके (प्राणात्) प्राण और (अपानतः) अपान से निकली हुई (रोचना) अतिप्रकाशमय, ज्योति (अन्तः) समस्त ब्रह्माण्ड के भीतर (चरति) व्यापक है। उसीसे वह (स्वः) समस्त तेजोमय लोकों को (महिषः) महान् प्रभु (वि-अख्यत्) प्रकाशित करता है।

त्रिं॒शद् धामा॒ वि रा॑जति॒ वाक् प॑त॒ङ्गो अ॑शिश्रियत्।
प्रति॒ वस्तो॒रह॒र्द्युभिः॑ ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १८९ । ३ ॥ यजु० ३ । ८ ॥ साम० पू० । ६ । १४ । ६ ॥

२–(द्वि०) 'अस्य प्राणादपानती' (तृ०) 'महिषो दिवम्' इति यजुः, साम०, ऋ० । (प्र०) 'चरत्यर्णवे । (तृ०) 'प्रति वां सूरो अहभिः' इति मै० सं० । (प्र०) 'यस्य प्राणादपानत्यन्तश्चरति रोचनः' (तृ०) 'दिवम्' इति पैप्प० सं० ।

३–(प्र०) 'त्रिंशद् धाम' । (तृ०) 'प्रति वस्तोरहद्युभिः' इति सायण-

भा०—(वाक्) ज्ञानमयी प्रभुवाणी (त्रिंशद्-धामा) तीसों लोकों में (विराजति) विशेष रूप से प्रकाशित होती है । (पतङ्गः) पतङ्ग= ज्ञान मार्ग से जाने वाला आत्मा (अहर्द्युभिः) सूर्य की प्रभाओं के साथ (प्रति-वस्तोः) प्रतिदिन, निरन्तर उसका (अशिश्रियत्) आश्रय लेता है । अथवा (वाक्) वाणी (पतङ्गः=पतङ्गं) पतंग=सूर्य रूप उस ईश्वर में आश्रय लेती है जो (त्रिंशद्-धामा) तीसों लोकों में (प्रति वस्तोः अहः) प्रतिदिन, निरन्तर (द्युभिः) अपने तेजों से (वि राजति) विराजमान है ।

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तान्येकादश, ऋचश्च त्रयस्त्रिंशत्]



[३२] दुष्टों के दमन का उपदेश ।

१-२ चातन ऋषिः । ३ अथर्वा ऋषिः । अग्निर्देवता । १-२ त्रिष्टुभौ, ३ प्रस्तार पंक्तिः । तृचं सूक्तम् ॥

अन्तर्दावे जुहुता स्वे३तद् यातुधानक्षयणं घृतेन ।
आराद् रक्षांसि प्रति दह त्वमग्ने न नो गृहाणामुप तीतपासि॥१॥

भा०—विघ्नकारी, पीड़ाकारी दुष्टों के नाश करने का उपदेश करते

सम्मतः पाठः । (द्वि०) 'पतङ्गाय शिश्रिये' इति तै० सं० । 'पतङ्गाय हूयते' मै० सं० । 'पतङ्गाय सुश्रियन्' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'प्रत्यस्य वह द्युभिः' इति तै० सं० । (तृ०) 'अहर्दिवि' इति पैप्प० सं० ।

[३२] १–(च०) उपतीतपाति' इति ह्विटनिकामितः । (द्वि०) 'घृतं नः' (च०)- 'मास्माकं वसु पातीतपन्था' [?] इति पैप्प० सं० ।

हैं। हे विद्वान् लोगो ! (घृतेन) जिस प्रकार घृत के साथ अग्नि में चरु आदि पदार्थ भस्म कर दिये जाते हैं, उसी प्रकार (घृतेन) घृत=जल के साथ (यातुधान-क्षयणं) पीड़ा देने वाले रोगों को नाश करने वाले पदार्थों को (दावे अन्तः) विशाल अग्नियों में (सु-जुहुत) उत्तम रीति से आहुति करदो। और हे अग्ने ! और अग्नि के समान जलाने वाले या शत्रुओं को परिताप देने हारे राजन् (आरात्) न दूर से ही (रक्षांसि) राष्ट्र की व्यवस्था और जन-समाज के जीवनसुख में विघ्न करने वाले (रक्षांसि) दुष्ट, राक्षस, विघ्नकारी पुरुषों और रोग। पीड़ाकारी जन्तुओं को (प्रति दह) भस्म कर डाल। हे अग्ने ! (त्वं) तू (नः) हमारे (गृहाणाम्) गृहों को और घर के पुरुषों को (न उप तीतपासि) कभी पीड़ित न करना।

रुद्रो वो ग्रीवा अशरैत् पिशाचाः पृष्टीर्वोपि शृणातु यातुधानाः। वीरुद् वो विश्वतोवीर्या यमेन समजीगमत् ॥ २ ॥

भा०—हे (पिशाचाः) मांस खाने वाले दुष्ट पुरुषों ! एवं मांस खा २ कर जीने वाले परभोजी (Paresites) रोगजन्तुओं ! (वः) तुम्हारी (ग्रीवाः) गर्दनें (रुद्रः) रुद्र तुमको रुलाने वाला राजा और वैद्य (अशरैत्) काट ले। और हे (यातुधानाः) पीड़ादायक जन्तुओं वही रुद्र (वः पृष्टीः) तुम लोगों की पीठों को (अपि) भी (शृणातु) तोड़ डाले। और (विश्वतो वीर्या) समस्त प्रकार के बलों वाली या सब ओर अपना बल दिखाने वाली (वीरुत्) नाना प्रकार से फैलने वाली ओषधि लता जिस प्रकार रोग जन्तुओं का नाश करती है उसी प्रकार या (विश्वतो वीर्या) सर्व बलवती प्रभु शक्ति (वीरुत्) विशेष प्रकार से

२—(प्र०) 'अशरीत्' इति क्वचित्। शर्वो वो ग्रीवाय शरोः पिशाचा वोपश्रृणात्यग्निः। (च०) 'मृत्युना सम'— इति पैप्प० सं० ॥

रोकने में समर्थ (दः) तुम दुष्ट पुरुषों को (यमेन) व्यवस्थापक के हाथ में (समर्गामत) पहुंचा दे, जिससे राष्ट्र में पीड़ा न दें ।

अभयं मित्रावरुणाविहास्तु नोऽर्चिषात्रिणो नुदतं प्रतीचः ।
मा ज्ञातारं मा प्रतिष्ठां विदन्त मिथो विघ्नाना उपयन्तु मृत्युम् ॥३॥

भा०—दुष्टों का विनाश करने के लिये भेद नीति का उपदेश करते हैं । हे (मित्रावरुणौ) हे मित्र ! हे वरुण ! हे राजन् ! और हे सेनापते ! (इह) इस राष्ट्र में (अभयम् अस्तु) हमें सदा अभय रहे । (नः अत्रिणः) हमें खाजाने वाले दुष्ट पुरुषों को (अर्चिषा) अपने चम चमाते तेजस्वी अस्त्र से (प्रतीचः) पीछे उलटे पैर (नुदतम्) फेर दो । वे लोग (मा ज्ञातारं विदन्त) किसी भी ज्ञानी को अपने नेता होने के लिये प्राप्त न करें प्रत्युत सदा मूर्खता में पड़े रहें । (मा प्रतिष्ठां विदन्त) वे कभी मान, आदर और प्रतिष्ठा, दृढ़स्थिति या कीर्ति को प्राप्त न करें । बल्कि (मिथः) परस्पर (वि-घ्नानाः) एक दूसरे को विरोध से मारते हुए स्वयं (मृत्युम् उप यन्तु) मौत को प्राप्त होजायं । वे आपस में लड़कर अपना नाश करलें ।



[३३] इन्द्र, परमेश्वर की महिमा ।

यस्येदमा रजो युजस्तुजे जना वनं स्वः । इन्द्रस्य रन्त्यं बृहत् ॥१॥
साम० १ । १ । ३ ॥

भा०—राजा और ईश्वर का वर्णन करते हैं । हे जनाः (यस्य)

३–'वरुणा मदामहस्वर्चिषा शत्रून् दहतम्प्रतीत्य' (तृ०) 'विन्दन्तु' । (च०) 'मिथो भिन्दानाः' इति पैप्प० सं० ।

[३३] १–'आ रजो युजस्तुजे जने वनं स्वः' इति साम । 'आरजस्तुजोयुजा वलं सहः' इति ऐ० आ० । 'अज आसजस्तुजोयुजो वलं सहः' इति

जिसका (इदम्) यह (रजः) समस्त अनुरञ्जन करने वाला वैभव (युजः) योगसमाधि में उसके साथ मिलने वाले योगी के (आ तुजे[1]) सब ओर से पालन, रक्षा या बल सम्पादन करने के लिये है और जिसका (वनं स्वः) भंजन करना ही परम सुखकारक है उस (इन्द्रस्य) परमेश्वर का ही (रन्त्यम्) यह रमण करने योग्य धन ऐश्वर्य (बृहत्) बड़ा भारी है।

नाधृ॑ष॒ आ द॑धृष्टते धृ॒षा॒णो धृ॑षि॒तः शवः॑ ।
पु॒रा यथा॑ व्य॒थिः श्रव॒ इन्द्र॑स्य॒ नाधृ॑षे॒ शवः॑ ॥ २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (पुरा) पहले भी कभी (व्यथिः) कोई पीड़ा देने वाला, अत्याचारी पुरुष (इन्द्रस्य श्रवः) इन्द्र के यश को और (शवः) बल को (न आ-धृषे) कभी दबा नहीं सका उसी प्रकार उसके (शवः) बल को अभीतक भी कोई (धृषितः[1]) बड़ा विजेता भी (न आ-धृषे) दबाने में समर्थ नहीं हुआ है। बल्कि वह स्वयं (धृषाणः) का सब दबानेवाला, सर्व विजयी (धृषितः शवः) सब अभिमानी विजेताओं के बल को (आ दधृषते) दबा लेता है।

शां० श्रौ० सू० । 'तु तेजन स्व' 'इन्द्रस्य नाग्नि केशवः वृपाण धृषदश्शवः यथाधिस्तिनः इन्द्रश्चारत्यं महन्' इति पैप्प० सं० ।

१. तुजहिंसायाम् पालनेच । भ्वादिः । तुजि हिंसाबलादाननिकेतनेषु चुरादिः । पट पुटि लुट तुजि मिञ्यादयो भाषार्थाः । चुरादिः ॥ इत्येतेभ्यः सम्पदादिलक्षणो भावे क्विप् ।

२ (प्र० च०) 'आधृषे' । (द्वि०) 'धृषाणं धृषितम्' । (तृ०) 'व्यथि' इति ह्विटनिकामितः । 'नाधृष आदधर्ष दाधृषाणं धृषितं शवः । पुरायदीमातिव्यथिरिन्द्रस्य धृषितं सहः । इति ऐ० आ० । अनाधृष्टं विपन्यया नाधृष आदधर्षया धृषाणं धृषित शवः' शां० श्रौ० सू० ।

१. सुपां सुपो भवन्ति इति षष्ठ्याः स्थाने प्रथमा । धृषितः कर्तरि क्तः ।

स नो॑ द॒दातु॒ तां र॒यिमु॒रुं पि॒शङ्ग॑संदृशम् ।
इन्द्रः॒ पति॑स्तु॒विष्ट॑मो॒ जने॒ष्वा ॥ ३ ॥

भा०—(सः) वह इन्द्र, परमेश्वर (नः) हमें (तां) उस (उरुं) महान्, विशाल, सर्वलोकव्यापी (पिशंग-संदृशं) तेजःस्वरूप, प्रभापटल के रूप में प्रकट होनेवाली (रयिम्) शक्ति और धर्म का (ददातु) प्रदान करे। वह (इन्द्रः) परमेश्वर (तुविस्तमः) सर्व शक्तिमान होने के कारण सबका (पतिः) पालक है और (जनेषु आ) समस्त प्राणियों और जनों में व्यापक है।



[३४] परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना ।

चातन ऋषिः । अग्निर्देवता । १-५ गायत्र्यः । पञ्चर्चं सूक्तम् ।

प्राग्नये॒ वाच॑मीरय वृष॒भाय॑ क्षिती॒नाम् । स नः॑ पर्ष॒दति॒ द्विषः॑ ॥ १ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुष (क्षितीनां) समस्त भूमियों पर जलों की वर्षा करनेहारे मेघ के समान (क्षितीनाम्) समस्त प्रजाओं पर (वृषभाय) सुखों की वर्षा करनेहारे (अग्नये) उस ज्ञानवान्; सबके पथदर्शक, गुरु अग्रणी परमेश्वर की स्तुति के लिये (वाचं प्र ईरय) अपनी वाणी को प्रेरित कर (सः) वही ईश्वर (नः) हमें (द्विषः) भीतरी शत्रु काम आदि प्रबल दुर्भावों के (अति पर्षत्) पार पहुंचा दे।

३-(प्र०) 'दधातु' इति क्वचित् । 'ददा तुनो' इति पैप्प० सं० । 'तम्' इति क्वचित् । 'रयिं पुरुं' । (च०) 'तविस्तमः' इति ऐ० आ० । तुवित्तमः । (द्वि०) 'सदृशम्' इति सायणाभिमतः ।

[३४] १-ऋग्वेदे अस्य सूक्तस्य वत्स आग्नेय ऋषिः ।

यो रक्षांसि निजूर्वत्यग्निस्तिग्मेन शोचिषा । स० ॥ २ ॥
ऋ० १०१ । १८७ । ३ ॥

भा०—(यः) जो (अग्निः) ईश्वर, अग्नि, अग्रणी, नेता होकर अपने (तिग्मेन) तीक्ष्ण (शोचिषा) प्रताप, तेज से (रक्षांसि) विघ्नकारियों को (निजूर्वति) भून डालता और लुंजा कर देता है । (सः न द्विषः अतिपर्षत्) वह हमें हमारे शत्रुओं से पार कर दे ।

यः परस्याः परावतस्तिरो धन्वातिरोचते । स० ॥ ३ ॥
ऋ० १० । १८७ । २ ॥

भा०—(यः) जो (परस्याः परावतः) दूर से भी दूर देश से (धन्व तिरः) द्यौलोक अन्तरिक्ष को पार कर (अतिरोचते) सब से अधिक प्रकाशमान है । (सः नः द्विपः अतिपर्षत्) वह हमें हमारे शत्रुओं से पार करे ।

यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति । स० ॥ ४ ॥

भा०—(यः) जो (विश्वा भुवना) समस्त लोकों को (अभि विपश्यति) साक्षात् देख रहा है और (सं पश्यति च) खूब अच्छी तरह से देखता है । (सः) वह (नः) हमें (द्विपः अतिपर्षत्) शत्रुओं से पार करे ।

यो अस्य पारे रजसः शुक्रो अग्निरजायत । स नः पर्षदति द्विषः ॥५॥

भा०—(यः) जो (शुक्रः) ज्योतिःस्वरूप (अस्य) इस समस्त

२—(द्वि०) 'वृषा शुक्रेण' इति ऋ० ।

३—(तृ०) तिरो विश्वाभिरोचित इति पैप्प० सं० ।

४—(प्र०) 'निपश्यति' इति पैप्प० सं० ।

५—(द्वि०) 'शुक्रं ज्योतिः' इति तै० ब्रा० । 'महाचित्रं ज्योतिः' इति मै० सं० ।

(रजसः पारे) रजः लोकसमूह के पार या रजोनिर्मित प्राकृत संसार से परे (अग्निः)[1] ज्ञानमय उसमें लीन होनेवाला (अजायत) विद्यमान है (सः नः) वह हमें (द्विषः) द्वेष=अप्रीति के पदार्थ-कर्मबन्धनों से (अति पर्षत्) पार करे, मुक्त करे ।



[३५] ईश्वर स्तुति, प्रार्थना ।

कौशिक ऋषिः । वैश्वानरा देवता । गायत्रं छन्दः । तृचं सूक्तम् ।

वैश्वानरो न ऊतय आ प्र यातु परावतः । अग्निर्नः सुष्टुतीरुप ॥१॥

यजु १८ । ७२ । १७ । ८ ॥

भा०—(वैश्वानरः) समस्त मनुष्यों का कल्याणकारी, समस्त आत्माओं में व्यापक या सब पदार्थों का नेता प्रभु (नः ऊतये) हमारी रक्षा के लिये (परावतः) दूर देश से भी (आ प्र यातु) आवे । अर्थात् चाहे जितनी भी दूर हों तब भी वह हमारी रक्षा करे । वही (अग्निः)[1] ज्ञानप्रकाश स्वरूप होकर (नः) हमारी (सु स्तुतीः) उत्तम स्तुतियों को (उप) स्वीकार करे ।

वैश्वानरो न आगमदिमं यज्ञं सजूरुप । अग्निरुक्थेष्वंहसु ॥ २ ॥

भा०—(वैश्वानरः) समस्त आत्माओं का हितकारी प्रभु (नः) हमारे (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञ में, समाज में या उत्तम श्रेष्ठ कर्म में

---

१. अग्निः अक्नोपनो भवति (निरु०) ।

[३५] १—(तृ०) अग्निरुक्थेन वाहसा इति यजु० १७।८ ॥ (प्र०) 'ऊ त्वा आ' (तृ०) 'उपेमं सुष्टुतिर्मम' इति मै० सं० ।

२—'अग्निरुक्थेन वाहसा' आ० श्रौ० सू० । (तृ०) 'अंहःसु' इति ह्विटनिकामितः ।

(सजूः) हमारे ही समान प्रतिप्रेमी होकर (उप आगमत्) आवे । वही (अग्निः) प्रकाशस्वरूप या हमारा अग्रणी होकर (अंहसु) प्राप्त करने योग्य (उक्थेषु) प्रशंसनीय कार्यों में भी (उप) हमारा साथ दे ।

वैश्वानरोऽङ्गिरसां स्तोममुक्थं च चाक्लृपत् ।
ऐषु द्युम्नं स्व१र्यमत् ॥ २ ॥

भा०—(वैश्वानरः) समस्त जीवों का कल्याणकारी प्रभु (अंगिरसां) ज्ञानवान्, पुरुषों के (स्तोमम्) स्तुतियों और (उक्थं च) कहे वचन या उच्चारण किये वेदमन्त्र को (च) भी (चाक्लृपत्) समर्थ, सफल या फल-उत्पादन में समर्थ करता है । वही (स्वयम्) स्वयं प्रकाशस्वरूप और सुखमय प्रभु (एषु) इन ज्ञानियों को (द्युम्नं) प्रकाश धन, और ज्ञान (आ यमत्) प्रदान करता है ।

[३६] ईश्वर की प्रार्थना ।

स्वस्त्ययनकाम अथर्वा ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्रं छन्दः । तृचं सूक्तम् ॥

ऋतावानं वैश्वानरमृतस्य ज्योतिषस्पतिम् । अजस्रं घर्ममीमहे ॥ १ ॥
यजु० २६ । ६ ॥

भा०—(ऋतावानम्) स्वयं ऋत=सत्य ज्ञानवान् (ऋतस्य ज्योतिषः पतिम्) ऋत=जीवनमय ज्योति, चेतना के परिपालक (अजस्रम्) निरन्तर विद्यमान, नित्य (घर्मं) प्रकाशस्वरूप (वैश्वानरम्) परमेश्वर की (ईमहे) हम नित्य प्रार्थना करते हैं ।

२—'चक्रवत्' इति सायणसम्मतः पाठः । (प्र०) 'आंगिरोभ्यः' (द्वि०) 'चाकनत्' इति आ० श्रौ० सू० । (प्र०) 'वैश्वानरो वोऽङ्गिरोभिः', 'प्रद्युम्नं' इति पैप्प० सं० । 'स्तोमं जल्तं' शा० श्रौ० सू० ।

[३६] १—(तृ०) 'भानुम्' इति शा० श्रौ० सू० ।

स विश्वा प्रति चाक्लृप ऋतूँरुत्सृजते वशी ।
यज्ञस्य वयं उत्तिरन् ॥ २ ॥ साम० २ । १०५८ ॥

भा०—(सः) वह परमेश्वर (विश्वा) समस्त प्राणियों को, समस्त पदार्थों को (प्रति चाक्लृपे) बनाता, उनको प्रेरित करता और शक्ति देता है। वह (वशी) सब पर वश करनेहारा (यज्ञस्य) संवत्सर रूप यज्ञ-पुरुष के (वयः) काल को (उत्तिरन्) विभक्त करता हुआ या (यज्ञस्य वयः उत्तिरन्) यज्ञ=यज्ञाहुति के (वयः) अन्नों को अग्नि के समान सर्वत्र फैलाता हुआ या इस महान् सृष्टिचक्र में होने वाले भूत संघों के परस्पर संगम रूप यज्ञ के (वयः) जीवन को (उत्तिरन्) सर्वत्र प्रकट करता हुआ (ऋतून् उत् सृजते) छहों ऋतुओं का निर्माण करता है ।

अग्निः परेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य ।
सम्राडेको वि राजति ॥ ३ ॥ साम० २।१०५६ ॥ यजु० १२।११७ ॥

भा०—वही परमात्मा (परेषु धामसु) उत्कृष्ट, सुदूरवर्ती प्रकाशवान् लोकों में भी (अग्निः) प्रकाशक अग्नि है। वह (भूतस्य) उत्पन्न पदार्थ और (भव्यस्य) आगे उत्पन्न होनेवाले भविष्य के गर्भ में छिपे पदार्थों का भी (कामः) उत्पादक आरम्भक संकल्प है । वही (एकः सम्राट्) समस्त लोकों का एकमात्र प्रकाशक, स्वयं सब में अकेला प्रकाशमय, सबका एक महेश्वर (विराजति) विशेष रूप से विराजमान है ।



२–'य इदं प्रतिपप्रथे' (तृ०) 'यज्ञस्य स्वः' इति साम० । (प्र०) 'विश्वा' इति शं० पा० । (प्र०) ' विश्वं ', 'प्रतिचाक्लृपत्' इति आ० श्रौ० सू० । 'स इदं प्रतिपप्रथे' इति तै० ब्रा० ।

३–(प्र०) 'अग्निः प्रियेषु' इति यजु० । 'प्रत्नेषु' आ० श्रौ० सू० ।

[३७] कठोर भाषण से बचना ।

स्वस्त्ययनकामोऽथर्वा ऋषिः । चन्द्रमा देवता । अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

उप प्रागा॑त् सहस्रा॒क्षो यु॒क्त्वा श॒पथो॒ रथ॑म् ।
श॒प्तार॑मन्वि॒च्छन् मम॒ वृक॑ इ॒वावि॑मतो गृ॒हम् ॥ १ ॥

भा०—(सहस्र-अक्षः) हज़ारों आँखों वाला या इन्द्रियों में उत्तेजना पैदा करनेवाला (शपथः) शपथ=कठोर वचन रूप राजा तू (रथम् युक्त्वा) रथ जोड़ कर (उप प्र अगात्) सब तक भली प्रकार पहुँच जाता है। (वृक इव) जिस प्रकार भेड़िया गन्ध के पीछे (अवि-मतः) भेड़ पालनेवाले के घर तक पहुँच जाता है उसी प्रकार वह शपथ रूप राजा भी (मम शप्तारम्) मेरे ऊपर व्यर्थ दोषारोपण करनेवाले को (अनु-इच्छन्) पता लगाता हुआ उस अपराधी को जा पकड़ और दण्ड दे ।

परि॑ णो वृङ्धि शपथ ह्र॒दम॒ग्निरि॑वा॒ दह॑न् ।
श॒प्तार॒मत्र॑ नो जहि दि॒वो वृ॒क्षमि॑वा॒शनि॑ः ॥ २ ॥

भा०—हे (शपथ) शपथ! कठोर वचन रूप राजन्! (अग्निः इव) जंगल की अग्नि जिस प्रकार (ह्रदम्) तालाब को (अदहन्) बिना जलाये छोड़ कर चला जाता है उसी प्रकार तू (नः अदहन्) हमें बिना जलाये, बिना पीड़ा दिये (परि वृङ्धि) दूर से ही छोड़ दे । (अत्र) और इस दशा में भी (दिवः, अशनिः) आकाश से गिरनेवाली बिजली जिस प्रकार (वृक्षम् इव) वृक्ष को मार जाती है और भीतर से जला देती है उसी प्रकार (नः) हमारे प्रति (शप्तारम्) व्यर्थ बुरा भला कहने वाले को (जहि) विनाश कर, उसको भीतर २ जला ।

---

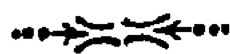
[३७] १–(प्र०) 'अभिप्र' (तृ०) 'मातिवृकेव' इति पैप्प० सं० । 'युक्त्वाय' इति ह्विटनिकामितः ।

२–(प्र०) 'परित्वं' (च०) 'दिव्या' इति पैप्प० सं० ।

यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात् ।
शुने पेष्ट्रमिवावक्षामं तं प्रत्यस्यामि मृत्यवे ॥ ३ ॥

भा०—(यः) जो (अशपतः) गाली या कठोर वचन न कहते हुए भी (नः) हमें (शपात्) कठोर वचन कहता है और (यः च) जो (शपतः नः) कठोर वचन कहते हुए हमें (शपात्) कठोर वचन कहता है (तं) उस पुरुष को (शुनः) कुत्ते के सामने (अवक्षामम्) सूखे (पेष्ट्रम् इव) आटे के बने रोटी के टुकड़े के समान (मृत्यवे) मौत के आगे (प्रत्यस्यामि) डाल दूं ।

कठोर वचन या गाली देते हुए पुरुष के प्रति मनुष्य अपनी प्रबल इच्छा शक्ति का इसी प्रकार प्रयोग करे और विचारे कि कठोर वक्ता के कठोर वचन स्वयं उसी को दण्ड देते हैं, उसके दिल को कष्ट पहुँचाते हैं हम पर उसका ऐसे प्रभाव न पड़े जैसे आग का पानी के तालाव पर । वह अपने कठोर वचनों से बिजली से मरे वृक्ष के समान भीतर भीतर जले । और जो व्यर्थ हम पर जले और बके या हमारे कुछ कठोर कहने पर पागल होकर हम पर बके झके तो उसको तुच्छ सा जान कर अपनी मौत मरने दे । स्वयं उस पर हाथ न चलावे, बल्कि छोड़ दे ।



[३८] तेज की प्रार्थना ।

वर्चस्कामोऽथर्वा ऋषिः । बृहस्पति रुतत्विषिर्देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ।
चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

सिंहे व्याघ्र उत या पृदाकौ त्विषिरग्नौ ब्राह्मणे सूर्ये या ।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥१॥

३–(तृ०)' पेष्ट्रम्' इति सायणाभिमतः ।
[३८] १–(तृ०) 'बवर्धसा' इति पैप्प० सं० । 'न आगन्' इति तै० ब्रा० ।

भा०—(या त्विषिः) जो तेज या कान्ति, ज्योति, शक्ति (सिंहे) सिंह में (व्याघ्रे) व्याघ्र में, (उत) और (या) जो तेज (पृदाकौ) महा अजगर में है और (या) जो तेज (अग्नौ) अग्नि में (ब्राह्मणे) ब्राह्मण, ब्रह्मज्ञानी में और (सूर्ये) सूर्य में है। और (या सु-भगा देवी) सौभाग्यमयी दिव्य कान्ति (इन्द्रम्) पुरुष को इन्द्र=ऐश्वर्यवान् राजा (जजान) बनाती है (सा) वह (नः) हमें (वर्चसा) तेज, ब्रह्मवर्चस से (सं-विदाना) सम्पन्न करती हुई (एतु) प्राप्त हो।

या हस्तिनि द्वीपिनि या हिरण्ये त्विषिरप्सु या गोषु पुरुषेषु। इन्द्रं० ॥ २ ॥

भा०—(या) जो कान्ति (हस्तिनि) हाथी में और (द्वीपिनि) गैंडे में है। और (या) जो कान्ति (हिरण्ये) सुवर्ण में और (अप्सु) जलों में है और (या) जो कान्ति (गोषु) गौओं में और (पुरुषेषु) युवा बलवान् पुरुषों में है और (या देवी सुभगा) जो सौभाग्यमयी लक्ष्मी (इन्द्रम् जजान) राजा को उत्पन्न करती है (सा नः वर्चसा संविदाना एतु) वही लक्ष्मी कान्ति हममें तेज को धारण कराती हुई हमें प्राप्त हो।

रथे अक्षेष्वृषभस्य वाजे वाते पर्जन्ये वरुणस्य शुष्मे। इन्द्रं० ॥३

भा०—(या सुभगा देवी) जो सौभाग्यकारिणी दिव्य लक्ष्मी, कान्ति (रथे) रथ में (अक्षेषु) अक्षों में, (ऋषभस्य वाजे) बैल के वेग में (वाते पर्जन्ये) प्रचण्ड वात और मेघ में और (वरुणस्य शुष्मे) वरुण=सूर्य के प्रखर ताप में है और वह जो (इन्द्रम् जजान) इन्द्र, राजा को उत्पन्न करती है (सा नः वर्चसा सं-विदाना एतु) वह हम में तेज को धारण कराती हुई हमें प्राप्त हो।

२–(द्वि०) 'अश्वेषु पुरुषेषु गोषु' इति पैप्प० सं०।

३–'अक्षेषु वृषभस्य' इति तै० ब्रा०।

राजन्ये/दुन्दुभावायतायामश्वस्य वाजे पुरुषस्य मायौ ।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥४॥

भा०—(राजन्ये) राजा में (आयतायाम् दुन्दुभौ) कसे कसाये, नियमपूर्वक बजनेवाले मारू बाजे में; (अश्वस्य वाजे) घोड़े के वेग में और (पुरुषस्य मायौ) वीर पुरुष के उच्च स्वर के नाद में जो शक्ति है और जो (देवी) दिव्य (सुभगा) सौभाग्यकारिणी शक्ति (इन्द्रं जजान) राजा को बनाती है (सः) वह (नः) हमें (वर्चसा सं-विदाना) ब्रह्मतेज से युक्त करती हुई (नः आ-एतु) हमें प्राप्त हो ।



[३९] यश और बल की प्रार्थना ।

वर्चस्कामोऽथर्वा ऋषिः । बृहस्पतिर्देवता । १ जगती, २ त्रिष्टुप्, ३ अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

यशो हविर्वर्धतामिन्द्रजूतं सहस्रवीर्यं सुभृतं सहस्कृतम् ।
प्रसर्स्राणमनु दीर्घाय चक्षसे हविष्मन्तं मा वर्धय ज्येष्ठतातये ॥१॥

भा०—हमारा (सहः-कृतम्) बल और सहनशक्ति का बढ़ाने वाला (सुभृतम्) उत्तम रीति से हमें धारण पोषण करनेवाला (सहस्र-वीर्यम्) अनन्त सामर्थ्यों से युक्त (इन्द्र-जूतम्) ईश्वर से प्रदत्त या ईश्वर के

४–'या राजन्ये' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'क्रन्दय पुरुषस्य' इति तै० ब्रा० । (द्वि०) 'त्विषिरश्वयेमायां स्तनयित्नौ गोषुया' इति पैप्प० सं० ।

[३९] १–(द्वि०) 'सहस्रतृष्टिः सुकृतं सहस्तत्' (तृ०) 'जीवसे' (च०) –'ष्मन्तं वर्धय' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'सुव्रतं' इति सायणाभिमतः ।

निमित्त प्रेरित या राजा के अभिमत, हमारा (यशः) यश और (हविः) अन्न, और बल (प्रसर्स्त्रांणम्) खूब विस्तृत होकर (वर्धताम्) बढ़े । हे इन्द्र ! परमात्मान् ! (अनु) और (फिर (हविष्मन्तं) अन्न समृद्धि से युक्त (मा) मुझ को (दीर्घाय चक्षसे) दीर्घदर्शी होने और (ज्येष्ठ-तातये) और सब से बड़ा हो जाने के लिये (वर्धय) उन्नत कर ।

अच्छा न इन्द्रं यशसं यशोभिर्यशस्विनं नमसाना विधेम ।
स नो रास्व राष्ट्रमिन्द्रजूतं तस्य ते रातौ यशसः स्याम ॥ २ ॥

भा०—हम लोग (अच्छा) साक्षात् (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् उस महान् (यशसम्)[1] यशो रूप, सर्वव्यापक (यशोभिः) अपनी व्यापक शक्तियों से (यशस्विनं) यशस्वी, प्रभु को (नमसानाः) नमस्कार पूर्वक पूजा करते हुए (विधेम) उसके गुणों को अपने भीतर धारण करें । (सः) वह (नः) हमें (इन्द्र-जूतं) एक बड़े राजा से संचालित (राष्ट्रं रास्व) राष्ट्र का प्रदान कर । हे परमात्मन् (तस्य) उस (ते) महेश्वर जगदीश्वर के (रातौ) दिये राष्ट्र में हम (यशसः) यशस्वी होकर (स्याम) रहें।

यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत ।
यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः ॥ ३ ॥

भा०—(इन्द्रः यशाः) इन्द्र ऐश्वर्यवान् सूर्य यशस्वी है, (अग्निः यशाः) अग्नि सबका नेता ज्ञानी यशस्वी है । (सोमः यशाः अजायत) सोम, प्रेरक आल्हादक चन्द्र भी यशस्वी है । इसी प्रकार (यशाः) यश का अभिलाषी (विश्वस्य भूतस्य) समस्त प्राणियों में (अहम्) मैं (यशस्तमः) सबसे अधिक यशस्वी (अस्मि) होऊं ।

२-(प्र०) 'अच्छानयं' (द्वि०) 'यशस्विनो हविषैन विधेम' (च०) तस्य रात्रे अधिवाके स्याम' इति पैप्प० सं० ।

३-(प्र०) 'यशाग्नि' इति पैप्प० सं० ।

[४०] अभय और कल्याण की प्रार्थना ।

१, २ अभयकामः, ३ स्वस्त्ययनकामश्चाथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ता देवताः ।
१,२ जगत्यौ, ३ ऐन्द्री अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

अभयं द्यावापृथिवी इहास्तु नोऽभयं सोमः सविता नः कृणोतु ।
अभयं नोऽस्तूर्वन्तरिक्षं सप्तऋषीणां च हविषाभयं नो अस्तु ॥१॥

भा०—(द्यावापृथिवी) द्यौः और पृथिवी, आस्मान, और ज़मीन इस संसार में (नः अभयं अस्तु) हमारे लिये भय रहित हों (सोमः) चन्द्र और (सविता) सबका प्रेरक सूर्य, (नः) हमारे लिये रात और दिन दोनों को (अभयं कृणोतु) हमारे लिये भय रहित कर दें । (उरु अन्तरिक्षम् नः अभयम्) यह विशाल अन्तरिक्ष=वातावरण भी हमारे लिये भय रहित रहे । (सप्त-ऋषीणां च हविषा) सप्त ऋषियों सातों प्राणों के बल, और ज्ञान से (अभयं नः अस्तु) हमें सर्वत्र ही अभय रहे ।

अस्मै ग्रामाय प्रदिशश्चतस्र ऊर्जं सुभूतं स्वस्ति सविता नः कृणोतु ।
अशत्र्विन्द्रो अभयं नः कृणोत्वन्यत्र राज्ञामभियातु मन्युः ॥ २ ॥

भा०—(नः) हमारे (अस्मै ग्रामाय) इस ग्राम के (चतस्रः प्रदिशः) चारों दिशाओं में (सविता) सविता, धन-धान्य का उत्पादक, एवं नाना प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न और नाना कारखानों के चलाने की प्रेरणा करने वाला अधिकारी शासक अथवा परमात्मा (सु-भूतम्) उत्तम रीति से उत्पन्न होने वाला (ऊर्जम् कृणोतु) अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न कराए और इस प्रकार (नः स्वस्तिः कृणोतु) हमारा कल्याण करे । (इन्द्रः)

[४०] १–(च०) 'सप्तर्षीणां' इति क्वचित् ।
२–(द्वि०) 'सुभूतं सविता दधातु' (तृ०) 'अशत्रुं' (च०) मध्ये च विश्वं सुकृते स्याम' इति पैप्प० सं० ।

राजा (नः) हमारे लिये (अशत्रु अभयं) शत्रुओं से रहित, अभय (कृणोतु) करे और (राज्ञां) राजाओं का (मन्युः) क्रोध और उससे प्रेरित सेनाबल भी (अन्यत्र) और स्थान में, अर्थात् हमारे निवास के नगर से दूसरी जगह चढ़ाई करे।

राजा ग्रामों का ऐसा प्रबन्ध करे कि उनके बाहर की भूमियों में अन्न आदि को उत्पन्न कराने का प्रबन्ध करे और उनकी ऐसी रक्षा करे कि योद्धा राजा की सेनाएं उनके खेतों को खराब न करें और ग्रामों को न उजाड़ें।

अ॒न॒मि॒त्रं नो॑ अध॒राद॑नमि॒त्रं न॑ उत्त॒रात् ।
इन्द्रा॑नमि॒त्रं नः॑ प॒श्चाद॑नमि॒त्रं पु॒रस्कृ॑धि ॥ ३ ॥

भा०—हे इन्द्र ! परमात्मन् अथवा राजन् ! (नः) हमारे (अधरात्) नीचे की ओर (अनमित्रं) कोई शत्रु न रहे, (उत्तरात् नः अनमित्रं) ऊपर की ओर भी कोई शत्रु न रहे। (पश्चात् नः अनमित्रं) पीछे की भी ओर शत्रु न रहे और (पुरः नः अनमित्रं कृधि) ऐसा कीजिये जिससे आगे की ओर भी हमारा कोई शत्रु न रहे।



[४१] अध्यात्म शक्तियों की साधना।

ब्रह्मा ऋषिः। बहवः उत चन्द्रमा देवता। १ भुरिगनुष्टुप्, २ अनुष्टुप्, ३ त्रिष्टुप्। तृचं सूक्तम् ॥

मन॑से॒ चेत॑से धि॒य आकू॑तय उ॒त चित्त्य॑ये ।
म॒त्यै श्रु॒ताय॒ चक्ष॑से वि॒धेम॑ ह॒विषा॑ व॒यम् ॥ १ ॥

भा०—(मनसे) मनः शक्ति (चेतसे) सम्यग् ज्ञान, (धिये) धारणा शक्ति, (आकूतये) प्रतिभा (उत) और (चित्तये) और

३–(प्र०) 'मे अधराग्' (द्वि०) 'उदक् कृधि' इति का० यजु०।

चेतना शक्ति (मत्यै) तत्व विचार करने वाली मनन शक्ति, (श्रुताय) गुरु उपदेश द्वारा प्राप्य वेद ज्ञान या श्रवण शक्ति और (चक्षसे) भीतरी चक्षु, आत्मा की दर्शनशक्ति, इन सब शक्तियों के प्राप्त करने के लिये (वयम्) हम (हविषा) अन्न आदि, पौष्टिक सात्विक पदार्थों द्वारा या आत्मशक्ति या मस्तिष्क शक्ति या मन और वाणि की शक्ति से प्राप्त करने की (विधेम) हम सदा साधना किया करें। हविः=जीवं वै देवानां हविरमृतममृतानाम् श० १ । २ । १ । २० । तस्य पुरुषस्य शिर एव हविर्धाने । कौ० १७ । ७ ॥ वाक् च वै मनश्च हविर्धाने । कौ० ९ । ३ ॥ अर्थात्, हवि=आत्मा, जीव, शिर की ज्ञानशक्ति, वाणी और मन इनकी साधना से मनुष्य उपरोक्त सब शक्तियां प्राप्त करे।

अपानाय व्यानाय प्राणाय भूरिधायसे ।
सरस्वत्या उरुव्यचे विधेम हविषा वयम् ॥ २ ॥

भा०—(अपानाय) अपान, (वि-आनाय) व्यान और (भूरि-धायसे) बहुत बलों को धारण करने वाले (प्राणाय) प्राण और (उरु-व्यचे) विशाल आत्मा में व्यापक या नाना लोकों में व्यापक (सरस्वत्यै) ज्ञान धारा की प्राप्ति के लिये (वयम्) हम (हविषा) हवि जीव, मस्तिष्क शक्ति या मन से (विधेम) उद्योग करें।

अपान=मुख नासिका से बाहर के वायु को पुनः भीतर लेना। प्राण=भीतर की वायु को नासिका से बाहर फेंकना। व्यान=ऊपर नीचे दोनों ओर की गति न करके प्राण का स्थिर रहना। अथवा कण्ठ से उर्ध्वगत शक्ति प्राण, कण्ठ से नाभि तक की शक्ति व्यान, नाभि से गुदा तक की शक्ति अपान है।

मा नो हासिषुर्ऋषयो दैव्या ये तनूपा ये नस्तन्व/स्तनूजाः ।
अमर्त्या मर्त्यां अभि नः सचध्वमायुर्धत्त प्रतरं जीवसे नः ॥३॥

३—'ऋषयो दैव्यासस्तनूपावानस्तन्वः तपोजाः' इति ऐ० ब्रा० ।

भा०—(दैव्याः ऋषयः) दिव्य गुण सम्पन्न अथवा देव आत्मा से सम्बद्ध अथवा देव, इन्द्रियमय ऋषिगण, ज्ञानसाधन आंख नाक, कान, मुख, त्वचा रसना आदि ज्ञानेन्द्रियें (नः) हमें (मा हासिषुः) जीवन भर त्याग न करें । और (ये) जो (नः) हमारे (तनू-पाः) शरीर के रक्षक प्राण और (तन्वः) शरीर के ही अंग और (तनू-जाः) शरीर से उत्पन्न होने वाले हाथ पांव आदि अंग हैं वे भी हमरा त्याग न करें । ये सब हमारे स्वस्थ बने रहें । हे आत्मा के (अमर्त्याः) न मरने वाले प्राणो ! तुम लोग (नः) हम (मर्त्यान्) मर्त्य पुरुषों को (अभि सचध्वम्) प्राप्त होओ । और (नः) हमारे (जीवसे) जीवन के लिये (प्रतरं आयुः) बहुत दीर्घ जीवनकाल (धत्त) बनाये रखो ।

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

[तत्र दश सूक्तानि, ऋचश्च त्रयस्त्रिंशत् ।]



[४२] क्रोध को दूर करके परस्पर मिलकर रहने का उपदेश ।

परस्परचित्तैककरणे भृग्वङ्गिरा ऋषिः । मन्युर्देवता १, ३ अनुष्टुभः (१,२ भुरिजौ) । तृचं सूक्तम् ॥

अव॒ ज्यामि॑व॒ धन्व॑नो म॒न्युं त॑नोमि ते हृ॒दः ।
यथा॒ संम॑नसौ भू॒त्वा सखा॑यावि॒व सचा॑वहै ॥ १ ॥

भा०—क्रोध को दूर करके मित्रभाव से रहने का उपदेश करते हैं ।

---

[४२] १–‘अवज्यामिव धन्विनश्शुष्मं तनोमि ते हृदः । अथा सम्मनसौ भूत्वा सखिकेव सचावहे’ । इति पैप्प० सं० ।

मित्र अपने क्रोधी पुरुष के क्रोध उतारने के लिये इस प्रकार कहता है—हे मित्र ! (धन्वनः ज्याम् इव) जिस प्रकार धनुर्धर पुरुष शान्त होकर अपने धनुष से डोरी को उतार लेता है और किसी की हिंसा नहीं करता उसी प्रकार मैं शान्त पुरुष (ते हृदय) तेरे हृदय से (मन्युम्) क्रोध को भी (अव तनोमि) उतारने का यत्न करता हूं। (यथा) जिससे हम दोनों (सं-मनसौ) एक समान चित्त वाले (भूत्वा) होकर (सखायौ-इव) दो मित्रों के समान एक ही होकर (सचावहे) सदा मिले रहें।

सखायाविव सचावहा अव मन्युं तनोमि ते ।
अधस्ते अश्मनो मन्युमुपास्यामसि यो गुरुः ॥ २ ॥

भा०—क्रोध के विरोध का उपदेश करते हैं। हम दोनों (सखायौ इव) दो मित्रों के समान (सचावहे) मिलकर रहें और यदि इस मित्रता पूर्वक रहते हुए कभी क्रोध भी आ जाय तो प्रत्येक हममें से अपना यही कर्त्तव्य समझे कि (ते मन्युं अव तनोमि) मैं तेरे क्रोध को शान्त करूँ। यदि फिर भी क्रोध उभड़ना चाहे तो यह विचार हो कि (यः गुरु) जो हमारा गुरु, उपदेशक पर्वत के समान गौरवपूर्ण है (अश्मनः अध इव) भारी शिला के समान भारी पदार्थ के नीचे जिस प्रकार उड़ता हुआ पदार्थ दब जाता है फिर नहीं उड़ता उसी प्रकार (ते मन्युम्) तेरे क्रोध को भी (तम् उपास्यामसि) उस उपदेष्टा गुरु के अधीन कर दें जिसके गौरव से दब कर पुनः क्रोध न उठे। क्रोध आजाने पर गुरु के समीप जाकर कलह के कारण को मिटा लेना चाहिये जिससे फिर क्रोध न सतावे।

२-(च०) 'अश्मना मन्युं गुरुणापि निदध्मसि' (प्र० द्वि०) 'वि ते-मन्युं नयामसि सखिकेव सचाहवै' इति पैप्प० सं०।

अभि तिष्ठामि ते मन्युं पार्ष्ण्या प्रपदेन च ।
यथावशो न वादिषो मम चित्तमुपायसि ॥ ३ ॥

भा०—क्रोध शान्त करने का तीसरा उपाय बतलाते हैं । हे क्रोधी पुरुष (ते मन्युम्) तेरे क्रोध को (पार्ष्ण्या) अपनी एड़ी से और (प्र-पदेन) अपने पैरों के अगले भाग से (अभि तिष्ठामि) दबा कर उस पर वश करता हूँ। जिस प्रकार आते हुए वेग को अपनी एड़ी और पंजों पर मज़बूती से खड़ा होकर सहा जाता है उसी प्रकार दूसरे के क्रोध के वेग को धीरता और मज़बूती से खड़े रह कर सहना चाहिए । (यथा अवशः) जिससे वशीभूत, लाचार होकर (न वादिषः) फिर तू क्रोध के वचन न बोले और (मम-चित्तम्) मेरे चित्त के (उप आयसि) समीप में आकर मेरा मित्र बन जाय । जिसको मित्र बनाना है उसके क्रोध के उद्वेगों को धीरता से सहन करना चाहिये ।



[४३] क्रोधशान्ति के उपाय ।

परस्परैकचित्तकरणे भृग्वंङ्गिरा ऋषिः । मन्युशमनं देवता । अनुष्टुप् छन्दः । तृचं सूक्तम् ॥

अयं दर्भो विमन्युकः स्वाय चारणाय च ।
मन्योर्विमन्युकस्यायं मन्युशमन उच्यते ॥ १ ॥

३–(द्वि०) 'पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम्' (तृ० च०) 'परा ते दस्त्वां वधं परा मन्युं सुवामि ते' इति पैप्प० सं० ।

[४३] १–(तृ०) 'विमन्युकश्च' इति ह्विटनिकामितः । (तृ०) 'विमन्युको विमन्युशमनोऽस्तु मे' इति पैप्प० सं० ।

भा०--क्रोध शान्त करने का चौथा उपाय बतलाते हैं । (अयं) यह (दर्भः) दाभ, दमन या कुश घास है वह (स्वाय च) अपने सम्बन्धियों और (अरणाय च) अपने शत्रु के लिये भी (वि-मन्युकः) सर्वथा क्रोध रहित है । इसमें काटा नहीं, सरल सीधा है, हवा के झोंके से भी मुड़ जाता है । पर तो भी बहुतों को रस्सी बँन कर (दर्भः) बाँध लेता है । इसी प्रकार जो पुरुष (स्वाय च अरणाय च) अपने सम्बन्धी और शत्रु दोनों के लिए (वि-मन्युकः) क्रोध रहित शान्त पुरुष है वह (दर्भः) समाज को रस्सी के समान गाँठने वाला होता है । वह (वि-मन्युकस्य) स्वभावतः मन्यु रहित पुरुषों के उठे हुए (मन्योः) क्रोधों का भी अथवा (मन्योः विमन्युकस्य) क्रोधी और क्रोध रहित पुरुषों के बीच में आकर उनके (मन्यु-शमनः) क्रोध या कलह को शान्त करा देनेवाला (उच्यते) कहा जाता है । वह पुरुष उनके कलहों को मिटा सकता है ।

अ॒यं यो भूरि॑मूलः समु॒द्रम॑व॒तिष्ठ॑ति ।
द॒र्भः पृ॑थि॒व्या उत्थि॑तो मन्यु॒शम॑न उच्यते ॥ २ ॥

भा०—(दर्भः) दर्भ-दाभ जिस प्रकार (भूरि-मूलः) लम्बी गहरी और अधिक मूल वाला (पृथिव्याः उत्थितः) पृथिवी के ऊपर उठा हुआ होकर भी (समुद्रम् अव-तिष्ठति) समुद्र, आकाश के नीचे धीरता से खड़ा रहता है इसी प्रकार (अयम्) यह पुरुष जो (दर्भः) समाज का संगठन करने में समर्थ है वह भी (पृथिव्याः उत्थितः) अपनी विशाल मातृ-समाज से उत्पन्न होकर (भूरि-मूलः) बहुत से मूल रूप आश्रयों पर प्रतिष्ठित होकर (समुद्रम् अव-तिष्ठति) [समुद्र=महान् प्रभु की छत्र छाया में रहता है । वही लोक में सब के (मन्यु-शमनः) क्रोधों

२-(द्वि०) 'पृथिव्यामव' (तृ० च०) 'निष्ठित स्सचेस्तु विमन्युकः' इति पैप्प० सं० ।

का शान्त करने हारा, सब कलहों का मिटाने वाला (उच्यते) कहा जाता है । अथवा दर्भ-या दाभ रस्सी का प्रतिनिधि है । यदि क्रोधी क्रोध करे तो उसको प्रबल पुरुष बंधन में डाले कि उसका सब क्रोध उतर जाय ।

वि ते हनव्यां शरणिं वि ते मुख्यां नयामसि ।
यथावशो न वादिषो मम चित्तमुपायसि ॥ ३ ॥

तृ० च० अथर्व० ६ । ४२ । ३ तृ० च० ॥

भा०—हे पुरुष (ते) तेरी (हनव्यां) ठोड़ी में विद्यमान और (ते मुख्यां) तेरे मुख में विद्यमान (शरणिम्) हिंसा और क्रोध के भाव को उत्पन्न करनेवाली वाणीको (वि नयामसि) विनीत शिक्षित कर लें । (यथा) जिससे (अवशः) लाचार होकर (न वादिषः) तू अधिक क्रोध के वचन न बोल सके और (मम चित्तम् उप आयसि) मेरे चित्त के अति समीप, मित्र होकर रहे । अर्थात् परस्पर का क्रोध शान्त करने के लिये वाणी पर वश करना चाहिये । इससे भी दोनों के चित्त परस्पर मिल जायेंगे ।

यदीच्छसि वशीकर्तुं जगदेकेन कर्मणा ।
परापवादसस्येभ्यो गां चरन्तीं निवारय ॥

अथवा वाणी को सभ्य शिक्षा देनी चाहिये जिससे गाली आदि मुँह पर न आवे ।



[४४] रोग की चिकित्सा में विषाणका नाम औषधि ।

विश्वामित्र ऋषिः । मन्त्रोक्ता उत वनस्पतिर्देवता । १,२ अनुष्टुभौ । ३ त्रिपदा महाबृहती । तृचं सूक्तम् ॥

३–'मुख्यं' इति क्वचित् ।

अस्थाद् द्यौरस्थात् पृथिव्यस्थाद् विश्वमिदं जगत् ।
अस्थुर्वृक्षा ऊर्ध्वस्वप्नास्तिष्ठाद् रोगो अयं तव ॥ १ ॥

भा०—यह (द्यौः) विशाल द्युलोक (अस्थात्) स्थिर है, (पृथिवी) पृथिवी भी (अस्थात्) स्थिर है । (इदं विश्वं जगत्) यह समस्त जगत् भी स्थिर है । (ऊर्ध्व-स्वप्नाः वृक्षाः) उत्तान खड़े २ सोने वाले वृक्ष भी स्थिर हैं । इसी प्रकार (अयं तव रोगः) यह तेरा रोग भी (तिष्ठात्) स्थिर हो जाय, आगे अधिक न बढ़े ।

शतं या भेषजानि ते सहस्रं संगतानि च ।
श्रेष्ठमास्रावभेषजं वसिष्ठं रोगनाशनम् ॥ २ ॥

भा०—(यानि ते शतम्) जो तेरी सैकड़ों और (सहस्रम्) हज़ारों (भेषजानि) ओषधियाँ (संगतानि च) प्राप्त भी हो गयी हैं और निदान के अनुकूल भी हैं तो भी उनमें से जो (श्रेष्ठम्) सबसे अधिक गुणकारी और (वसिष्ठम्) मुख्य रूप से देह में वास करनेवाली उसके भीतर प्रवेश करके असर कर जाने वाली (आस्राव-भेषजम्) रक्तस्राव को अच्छा करनेवाली औषध है वह (रोग-नाशनम्) रोग को अवश्य नाश करती है ।

रुद्रस्य मूत्रमस्यमृतस्य नाभिः ।
विषाणका नाम वा असि पितॄणां मूलादुत्थिता वातीकृतनाशनी ॥ ३ ॥

भा०—हे ओषधे ! तू (रुद्रस्य) रुद्र=रोगकारी तीव्र द्रव्य का (मूत्रम्) सार भाग [टिंकचर] (असि) है । (अमृतस्य) परन्तु रोग विनाश करनेवाले अमृत रूप शक्ति का (नाभिः) मूलस्थान है । या (विषाणका नाम वा असि) तेरा नाम 'विषाणका' है ।

[४४] १-(प्र०) 'या' (द्वि०) 'संभृतानि' (तृ०) तेषामसि त्वमुत्तमं अनास्रावसरोगणं (च०) 'वसिष्ठ' इति पैप्प० सं० ।

(पितृणां) पालक ओषधियों के मूल में से (उत्थिता) उत्पन्न होती है। और (वातीकृत-नाशनी) वात के द्वारा उत्पन्न रोगों का नाश करती है। चिपाणका या विपाणिका नाम से अजशृङ्गी, आवर्त्तकी शृङ्गी, वृश्चिकाली, सातला और रोहिणी ओषधियों का ग्रहण है। अजशृंगी और आवर्त्तकी हृद्रोग, वातरोग और रक्तार्श पर गुणकारी है। उनका टिंचर निकाल कर प्रयोग करने से शीघ्र ही असर करती हैं।



[४५] मानस पाप के दूर करने के दृढ़ संकल्प की साधना।

प्रचेताः अंगिरा यमश्च ऋषिः। दुःस्वप्ननाशनं देवता। १ पथ्यापंक्तिः।
२ भुरिक् त्रिष्टुप्। ३ अनुष्टुप्। तृचं सूक्तम्॥

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः॥१॥
ऋ० १०। १६४। १॥

भा०—मानसिक पापों के दूर करने के मूल मन्त्र का उपदेश करते हैं। (मनः-पाप) हे मानसिक पाप, दुर्विचार! (परः अपेहि) परे हट, तू (अशस्तानि) बुरी २ निन्दा योग्य कुचालियां करने की (किम्) क्यों (शंससि) कहता है। (परा इहि) चल परे हो। (न त्वा कामये) मैं तुझे नहीं चाहता। हे (मनः) मेरे मन! तू पाप से हट कर (वृक्षान् वनानि सं चर) हरे २ वृक्षों और वनों उपवनों में विहार कर

[४५] १–'अपेहि मनसस्पतेऽपक्राम परश्चर। परो निर्ऋत्या आचक्ष्व बहुधा जीवतो मनः' इति ऋ०॥ (प्र०) 'अपेहि मनसस्पते' इति पप्प० सं०। ऋग्वेदे प्रचेताः ऋषिः। दुःस्वप्नघ्नं देवता। (प्र०) 'शंसति' (च०) 'वृक्षवनानि' इति सायणाभिमतः।

और (गृहेषु गोषु सं चर) अपने गृहों और गौओं में विहार कर। पाप में जब मन जाय तब पाप के संकल्पों को दूर करके हरे वृक्षों, वनों, उत्तम गृहों और सम्बन्धियों और गौ आदि पशुओं के साथ मन को बहलाना चाहिए।

अवशसा निःशसा यत् पराशसोपारिम जाग्रतो यत् स्वपन्तः ।
अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद् दधातु ॥ २ ॥
ऋ० १० । १६४ । ३ ॥

भा०—पापों के दूर करने के निमित्त प्रार्थना। (अव-शसा) नीचे गिराने वाले, (निः-शसा) निर्बल करके गिराने वाले और (परा-शसा) सत्कर्मों से दूर ले जाकर आत्मा का नाश करने वाले जिस २ दुष्ट विचार युक्त पाप से हम (जाग्रतः) जागते हुए या (स्वपन्तः) सोते हुए (यत्) जब २ भी (उप-आरिम) हम पीड़ित होते हों (अग्निः) वह सर्व प्रकाशक, पापों को भस्मसात् करने वाला अग्नि, परमेश्वर (विश्वानि) सब (अजुष्टानि) असेवनीय और अवांछनीय, मन के अप्रीतिकर, बुरे (दुः-कृतानि) पाप कर्मों को (अस्मद्) हमसे (आरे) दूर (अप दधातु) कर दे।

यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेपि मृषा चरामसि ।
प्रचेता न आङ्गिरसो दुरितात् पात्वंहसः ॥ ३ ॥
ऋ० १० । १६४ । ४ ॥

भा०—हे इन्द्र ! ऐश्वर्यवान् ! हे (ब्रह्मणस्पते) समस्त ब्रह्मज्ञान के परिपालक ! (यद् अपि) जब २ भी हम (मृषा चरामसि) असत्य

२—'यदा शसा निःशसाभिशसोपारिम' इति ऋ० ।
३—यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेऽभिद्रोहं चरामसि । प्रचेता न आङ्गिरसो द्विषतां पात्वंहसः' इति ऋ० । (च०) द्विषतः पातु तेभ्यः' इति पैप्प०सं०।

और छल कपट का आचरण करते हैं तू उनको (प्रचेताः) खूब भली प्रकार जानता है। तू (आंगिरसः) प्रकाशस्वरूप, तेजोमय ज्ञानी होकर (नः) हमें (दुरितात्) बुरे निन्दनीय (अंहसः) पाप से (पातु) पालन कर।



[४६] स्वप्न का रहस्य।

अंगिरा ऋषिः। स्वप्नो दुःस्वप्ननाशनं वा देवता। १ ककुम्मती विस्तार पंक्तिः, २ त्र्यवसाना शक्वरीगर्भा पञ्चपदा जगती, ३ अनुष्टुप्। तृचं सूक्तम् ॥

यो न जीवोऽसि न मृतो देवानाममृतगर्भोऽसि स्वप्न ।
वरुणानी ते माता यमः पितारर्रुर्नामासि ॥ १ ॥

भा०—स्वप्न का रहस्य बतलाते हैं। हे स्वप्न (यः) जो (न जीवः असि) तू न जीवित, जागृत दशा है और (न मृतः) न मृत=सुषुप्त दशा है तो भी (देवानाम्) इन्द्रिय गण तुझ स्वप्नकाल में (अमृतगर्भः असि) भी अमृत=आत्मा के गर्भ=भीतर में छुपे रहते हैं। उस समय इन्द्रियगण बाह्य विषयों का ज्ञान नहीं करते। हे स्वप्न! (ते माता) तुझ स्वप्न की जननी, माता, उत्पादक भी स्वतः (वरुणानी) वरुण की स्त्री आत्मा की शक्ति, चितिशक्ति, चेतना ही है और स्वयं (यमः) सब इन्द्रिय और शरीर का नियामक आत्मा ही स्वप्न का (पिता) पालक या बीजप्रद है। तू (अररुः नाम असि) 'अररु' नाम वाला है। निरन्तर गतिशील, अति तीव्र गति वाला, क्षणावस्थायी है। अथवा शीघ्र ही विस्मृत हो जाता है। लम्बे से लम्बा स्वप्न ५ सेकण्ड में उत्पन्न होकर समाप्त भी हो जाता है। स्वप्नकाल में इन्द्रियां प्राण में, प्राण मनमें, मन आत्मा में लीन होजाता है और सुषुप्ति दशा हो जाती है।

परन्तु स्वप्नकाल में इन्द्रियगण मन सहित आत्मा में रहकर भी केवल मनकी गति से सब पूर्वानुभूत संस्कारों की जागृति होती है। उस समय इन्द्रियें प्राणमय आत्मा में गर्भित रहती हैं।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि यमस्य करणः।
अन्तकोऽसि मृत्युरसि। तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः
स्वप्न दुष्वप्न्यात् पाहि ॥ २ ॥ अथर्व० १६ । ५ । ६ ॥

भा०—हे स्वप्न! (ते जनित्रं विद्म) हम तेरे स्वरूप और उत्पत्ति के रहस्य को जानते हैं कि तू (देव-जामीनां) देव-इन्द्रियगण की ज्ञान को उत्पन्न करने वाली सूक्ष्म शक्तियां या ज्ञान तन्तु जो मनमस्तिष्क में आश्रित हैं उनका (पुत्रः) पुत्र है, उससे उत्पन्न होता है। पर तो भी (यमस्य करणः) नियामक प्राणात्मा का तू करण अर्थात् कार्य है। हे स्वप्नमय देव आत्मन्! तू ही (अन्तकः असि) अन्त करने वाला प्राण-वियोजक और (मृत्युः असि) शरीर को देह-बन्धन से पृथक होने की दशा का स्वरूप है। हे स्वप्न! (तं) उस तुझको (तथा) जैसा तू है उसी प्रकार (सं विद्मः) हम भली प्रकार जानते हैं (सः) वह तू (नः) हमें (दुःस्वप्न्यात्) दुष्ट स्वप्न से जो मन और शरीर को गिराने वाले भय, काम और वीर्यनाश के प्रयोजक हैं उनसे (पाहि) बचा।

यथा कलां यथा शफं यथर्णं सं नयन्ति।
एवा दुष्वप्न्यं सर्वं द्विषते सं नयामसि ॥ ३ ॥

अथर्व० १६ । ५७ । १ ॥ ऋ० ८ । ४७ । १७ प्र०—च० ॥

२—१. जामिः स्त्री इति सायणः। भगिनी इति ह्विटनिः।

३—(च०) 'आप्तये सं नया'— इति ऋ०। 'अनेहसोऽवदूतयः सुऊतयो व ऊतयः' इति ऋग्वेदेऽधिकः पाठः। तत्र त्रित आप्त्य ऋषिः। आदित्या उषाश्च देवते।

भा०—(यथा) जैसे (कलां) कला, १/१६ वां भाग कर के या (यथा शफं) १/८ वां भाग करके (यथा ऋणं) जिस प्रकार ऋण को (सं नयन्ति) चुका देते हैं। उसी प्रकार (सर्वं दुः-ष्वप्न्यम्) समस्त प्रकार के दुःस्वप्नों को (द्विषते) अपने अप्रीतिभाजन पुरुष का ऋण सा जानकर (सं नयामसि) सर्वथा त्याग दें। अर्थात् दुःस्वप्न आदि के दुर्विचार नीच घृणित पुरुषों के लिये रहने दें। उनमें सदाचारी आर्य पुरुष अपने को न गिरावें। अर्थात् जिस प्रकार कला=१६ वां सोलहवां हिस्सा करके या पूरा एक आठवां एक आठवां हिस्सा करते २ पूरा ऋण चुका देते हैं उस प्रकार हम बुरे विचारों को भी (द्विषते) शत्रु का ऋण सा ही मानकर, शनैः २ क्रमशः उनको ऐसे छोड़ते जायं मानो हम में बुरे भावरूप अपने शत्रु का कर्जा धारते हैं। उसे शीघ्र चुकाकर मुक्त हो जायं।



[४७] दीर्घायु, सुखी जीवन और परम सुख की प्रार्थना।

अंगिरा ऋषिः। १ अग्निर्देवता २। विश्वेदेवाः। ३ सुधन्वा देवता। १-३ त्रिष्टुभः। तृचं सूक्तम्॥

अ॒ग्निः प्रा॒तःस॒व॒ने पा॒त्व॒स्मान् वै॑श्वान॒रो वि॑श्व॒कृद् वि॒श्वश॑म्भूः।
स नः॑ पाव॒को द्रवि॑णे दधा॒त्वायु॑ष्मन्तः स॒हभ॑क्षाः स्याम॥ १॥

भा०—(प्रातः स-वने) प्रातकालके सवन=ब्रह्मचर्य के अवसर में

[४७] १-(द्वि०) 'पथिकृा विश्वकृष्टिः' इति पैप्प० सं०। 'महिना विश्वकृष्टिः' इति तै० सं०। 'महीनां' इति कौ० श्रौ० सू०। 'विश्वश्रीः' इति मै० सं०। (तृ०) 'द्रविणं' इति प्रायः। (प्र०) 'प्रातःसवनात्' इति मै० सं०।

(वैश्वानरः) समस्त पुरुषों का हितकारी समस्त पुरुषों में व्यापक विराट् (विश्व-शम्भूः) सबके लिये सुख शान्ति का उत्पत्तिस्थान (विश्व-कृत्) संसार का रचयिता (अग्निः) अग्नि=ज्ञानमय परमात्मा, सबका अग्रणी (पातु) हमारी रक्षा करे । (सः पावकः) वह पावक सबका पवित्र करने वाला (नः) हमें (द्रविणे दधातु) बल और धन समृद्धि में स्थापित करे । और हम सब (आयुष्मन्तः) दीर्घ आयु वाले होकर (सह-भक्षाः) एक साथ भोजन करनेहारे (स्याम) हों ।

विश्वे॑ दे॒वा म॒रुत॒ इन्द्रो॑ अ॒स्मान॒स्मिन् द्वि॒तीये॒ सव॑ने॒ न ज॑ह्युः ।
आ॒यु॒ष्मन्तः॑ प्रि॒यमे॑षां॒ वद॑न्तो व॒यं दे॒वानां॑ सुम॒तौ स्या॑म ॥ २ ॥

भा०—(अस्मिन् द्वितीये सवने) इस द्वितीय सवन, सोम-सवन के अवसर पर (इन्द्रः) हमारा राजा, आत्मा और (विश्वेदेवाः) समस्त देव, इन्द्रियगण और विद्वान् पुरुष और (मरुतः) समस्त प्रजाएं और प्राणगण (अस्मान्) हमें (न जह्युः) परित्याग न करें । (आयुष्मन्तः) दीर्घ आयु से सम्पन्न होकर (एषां प्रियं वदन्तः) इन सब के प्रति प्रिय भाषण करते हुए (वयं) हम (देवानां) विद्वान् पुरुषों की (सु-मतौ) शुभ मति में, उत्तम उपदेशों के अनुसार (स्याम) रहें ।

इ॒दं तृ॒तीय॒ꣳ सव॑नं क॒वीना॑मृ॒तेन॒ ये च॑म॒समैर॑यन्त ।
ते सौ॑धन्व॒नाः स्व॑रानशा॒नाः स्वि॑ष्टिं नो अ॒भि वस्यो॑ नयन्तु ॥३॥

भा०—(इदं तृतीयं सवनम्) यह तीसरा सवन (कवीनाम्) क्रान्त-दर्शी, मेधावी, विद्वान् उन पुरुषों का ही है (ये) जो (ऋतेन) सत्य और ब्रह्मज्ञान के बल से (चमसम्) चमस=सोमभक्षण के पात्र को प्रेरित करते हैं । अर्थात् सत्य ज्ञान और तपके बल से अपने मुख्य प्राण

३-(तृ०) 'सौधन्वनामृतानशानाः' (च०) 'नयाथ' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'सुवरा'- (च०) 'वसीयो' इति तै० सं० ।

या समस्त जीवन को साधना के बल से प्रेरित करते हैं (ते) वे (सौधन्वनाः) धनुर्धरों के समान उत्तम रूप से ओंकार रूप औपनिषद धनुष को धारण करते हुए (स्वः आनशानाः) मोक्ष सुख या प्रकाशमय ब्रह्म का आनन्द लाभ करते हुए (नः) हमारे (स्विष्टिं) उत्तम ब्रह्मयज्ञ के प्रति (वस्यः) उत्तम श्रेष्ठ फल (अभि नयन्तु) प्राप्त करावें।

अध्यात्म में चमसपात्रों का निर्णय इस प्रकार है। प्राणापानाभ्यामेवोपांश्वन्तर्यामौ निरमिमीत। व्यानादुपांशुसवनं। वाच ऐन्द्रवायवं। पक्षक्रतुभ्यां मैत्रावरुणं, श्रोत्रादाश्विनं, चक्षुषः शुक्रामन्थिनौ, आत्मन अग्रायणं, अङ्गेभ्यः उक्थ्यं, आयुषो ध्रुवम्। प्रतिष्ठाया ऋतुपात्रे। तै० १। ५। ०। १। २। यहां चमस=समस्त आयु है। यज्ञ में चमसस्थित पात्र के सोम को चार भागों में विभाग किया जाता है। जिसका अभिप्राय जीवन को चार भागों में बांटना है। इस प्रकार यज्ञपरक अर्थ संगत होता है, तीन सवनों की व्याख्या अध्यात्म साधना में—जीवन के तीन भाग हैं। प्रथम सवन २४ वर्ष का ब्रह्मचर्य, द्वितीय सवन ४४ वर्ष का ब्रह्मचर्य, और तृतीयसवन ४८ वर्ष का ब्रह्मचर्य। (देखो छान्दो० उप० ३ : १६)



[४८] तीन सवन, त्रिविध ब्रह्मचर्य।

मन्त्रोक्ता ऋषिर्देवता च। उष्णिक्। तृचं सूक्तम् ॥

श्येनो॑ऽसि गाय॒त्रच्छ॑न्दा॒ अनु॑ त्वा॒ रभे॑।
स्व॒स्ति मा॒ सं व॑हा॒स्य य॒ज्ञस्यो॒दृचि॒ स्वाहा॑ ॥ १ ॥

भा०—पूर्वोक्त तीनों सवनों और तीन प्रकार के ब्रह्मचर्य कालों का विशेष वर्णन करते हैं। हे प्रातःसवनरूप प्रथम ब्रह्मचर्य ! तू (श्येनाः

१–(तृ०) 'स्वस्ति मा सम्पारय', (प्र०) 'श्येनोऽसि परवा' इति शां० श्रौ० सू०।

असि) श्येन, ज्ञान ब्रह्मतेज का संपादन करनेहारे और (गायत्र छन्दाः) गायत्रच्छन्दा=प्राणसाधना, आत्मसाधना, ब्रह्मवृत्ति, ब्रह्मवर्च प्राप्त करना, तेज प्राप्त करना, वीर्य प्राप्त करना और जीवन का प्रारम्भ रूप २४ अक्षरोंवाले गायत्रीछन्द के समान २४ वर्ष तक पालन करने योग्य हैं। (त्वा) तेरा मैं (अनु रभे) अनुष्ठान करता हूँ, तेरा पालन गुरु के अधीन रह कर करता हूं। (अस्य) इस (यज्ञस्य) जीवनमय यज्ञ के (उद्-ऋचि) अन्तिम ऋचापाठ की समाप्ति तक (मा) मुझे (स्वस्तिं) कल्याणपूर्वक (सं वह) प्राप्त करा। (स्वाहा) यही हमारी अपनी दृढ़ प्रतिज्ञा है।

ऋभुर॑सि जग॑च्छन्दा अनु॒ त्वा र॑भे । ० ॥ २ ॥

भा०—हे तृतीयसवन ! तृतीय ४८ वर्षतक के ब्रह्मचर्यकाल ! तुम (ऋभुः) ऋभु=अति तेजस्वी, सत्य, ब्रह्मज्ञान सम्पन्न हो, और (जगत्-छन्दाः) तुम जगतीच्छन्द के समान ४८ अक्षरों के प्रतिनिधि ४८ वर्षों तक पालन किये जाने योग्य हो। एवं तुम आदित्यस्वरूप हो। (त्वा अनु रभे) तेरा मैं पालन करता हूँ। (अस्य यज्ञस्य उदृचि) इस यज्ञ की समाप्ति तक (मा) मुझको (स्वस्ति) कल्याणपूर्वक (सं वह) प्राप्त करा (स्वाहा) यह मैं अपने आत्मा से दृढ़ भावना करता हूं।

वृषा॑सि त्रि॒ष्टुप्छ॑न्दा अनु॒ त्वा र॑भे ।
स्व॒स्ति मा॒ सं व॑हा॒स्य य॒ज्ञस्यो॑दृचि॒ स्वाहा॑ ॥ ३ ॥

भा०—हे माध्यन्दिन सवन ! ४४ वर्ष तक के ब्रह्मचर्य ! तू (वृषा असि) वृषा=वीर्य सेचन से समर्थ इन्द्र रूप और (त्रिष्टुप्-छन्दाः) ४४

२—'स्वरसि गयोऽसि' इति गो० ब्रा० ।
३—(प्र०) 'सुपर्णोऽसि' इति शां० श्रौ० सू० । 'सम्राड् असि' इति गो० ब्रा० । 'अर्कोऽसि' इति तां० ब्रा० ।

अक्षर वाले त्रिष्टुप्छन्द के समान हो। (त्वा अनुरभे) तेरा पालन करूं। (मा) मुझे (यज्ञस्य उदृचि) इस यज्ञ की समाप्ति तक (स्वस्ति) कल्याणपूर्वक निर्विघ्न (सं-वह) प्राप्त करा (स्वाहा) यह मैं स्वयं अपने प्रति दृढ़ संकल्प एवं प्रार्थना करता हूं।

(१) श्येनः—श्यायतेर्ज्ञानकर्मणः। निरु०। यद्‌ाहश्येनोऽसि इति सोमं वा एतद् आह। एष ह वा अग्निर्भूत्वा अस्मिंल्लोके संश्यायति। तद् यत् संश्यायति तस्मात् श्येनः। गो० पू० ५।१२॥ उरस एवास्य हृदयात्त्विषिर स्रवत् स श्येनः अपाष्ठिहाभवत् वयसां राजा। श० १२।७।१।६॥ श्येनो वयसां क्षेपिष्ठः। प० ३।८॥ एतद्वै वयसां मोजिष्ठं बलिष्ठं यत् श्येनः। श० ३।३।४।१५॥ ज्ञान करनेवाला आत्मा श्येन है। श्येन=सोम है वही अग्नि होकर इस लोक में विचरता है। इन्द्र के हृदय से जो कान्ति प्रवाहित हुई वह श्येन है वही सब इन्द्रियों का पक्षियों के राजा बाज़ के समान है। वही सब में बलवान् है। वही सब इन्द्रियों में ओजस्वी और बलवान् है। फलतः आत्मा और प्राण श्येन है।

(२) गायत्रच्छन्दः—सा हैषा गायत्री गयांस्तत्रे। प्राणा वै गयाः। तत् प्राणस्तत्रे, तस्माद् गायत्री नाम। श० १४।८।१५।७॥ प्राणो गायत्री प्रजननम्। तां० १६।१४।५।१६॥ अग्निर्वै गायत्री। श० १।८।२।१३॥ ब्रह्म हि गायत्री। ता० ११।११।१९॥ गायत्री ब्रह्मवर्चसम्। तै० २।७।३।३॥ तेजो वै ब्रह्मवर्चसम् गायत्री। ऐ० १।५।२२॥ गायत्र्यो वै भर्गः। गो० पू० ५।१५॥ वीर्यं गायत्री। श० १।३।५४॥ शिरः गायत्री। प० २।३॥ मुखमेव गायत्री। यौ० ११।२॥ चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री। ऐ० ३।३९॥ वसवो गायत्रीं समयरन्। जै०उ० १।६८।१४॥ यद् गायत्री श्येनोभूत्या दिवः सोममाहरत् तेन साश्येवः। श० ३।४।१२॥

गय=प्राण=उनकी रक्षा करनेवाली गायत्री है प्राण और प्रजनन

अर्थात् युवावस्था तक का ब्रह्मचर्यकाल गायत्री है। वही अग्नि है। ब्रह्म है, ब्रह्मवर्चस, तेज, वीर्य, भर्ग शिर, मुख है। इसके २४ अक्षर हैं। २४ वर्ष तक अक्षत वीर्य का पालन करनेवाले वसुगण उस गायत्री का धारण करते हैं। वह गायत्री ही श्येन=ज्ञानवान् होकर द्यौः आचार्य से सोम=ज्ञान-मय ब्रह्म को प्राप्त करता है।

ऋभुः—ऋभवः उरुभान्तीति वा ऋतेन भान्तीति वा ऋतेन भवन्तीति वा ऋभवः आदित्यरश्मयः उच्यते। निरु० दैवत० अ० ५। २। ५॥ प्रजापतिर्वै पिता ऋभून्मर्त्यान् सतोऽमर्त्यान् कृत्वा तृतीयसवन आभजत्। ऐ० ६।१२॥ ऋभवो वा इन्द्रस्य प्रियं धाम। तां० १४।२५॥ अति तेजस्वी, ऋत—ज्ञान से प्रकाशवान्, या ऋत से सामर्थ्यवान् ऋभु कहाते हैं। प्रजापति ने मरणशील ऋभुओं—प्राणों को साधना से अमरकर लिया। तृतीय सवन में विभाग किया। ऋभु इन्द्र के प्रिय तेज हैं।

जगत् छन्दः—अष्टाचत्वारिंशदक्षरा वै गायत्री। श० ६। २। २। २३॥ आदित्याः जगतीं समभरन्। जै० उ० १। १। ८। ६॥ जगती आदित्यानां पत्नी। गो० उ० २। ९।

४८ अक्षर का जगती छन्द होता है। ४८ वर्ष का ब्रह्मचर्य पालन करनेवाले विद्वान् आदित्य ब्रह्मचारी जगती का पालन करते हैं। वह ही उनकी शक्ति है।

त्रिष्टुप्छन्दः—ऐन्द्रं त्रैष्टुभं माध्यन्दिनं सवनम्। गो० उ० ४।४ वीर्यं वै त्रिष्टुप्। ऐ० १। २१॥ आत्मा त्रिष्टुप्। ऐ० ६। २। १। २४॥ त्रिष्टुप् रुद्राणां पत्नी। गो० उ० २। ९॥ रुद्राः त्रिष्टुभं समभरन्। जै० उ० १।१८। ५॥ चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप्। कौ० १६।७॥ त्रिष्टुप् छन्द ४४ अक्षरों का है। ४४ वर्ष तक का ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले विद्वान् रुद्र त्रिष्टुप् का पालन करते हैं। वही रुद्रों की शक्ति है। उनका आत्मा इन्द्र उसका देवता है।

[४९] कालाग्नि का वर्णन ।

अभयकामोऽथर्वा ऋषिः । अश्विनौ देवते । विराड् जगती ।

२—३ पथ्या पंक्ती । तृचं सूक्तम् ॥

नहि ते अग्ने तन्व/: क्रूरमानंश मर्त्यः ।
कपिर्बभस्ति तेजनं स्वं जरायु गौरिव ॥ १ ॥

भा०—हे अग्ने ! (ते तन्वः) तेरे अग्निमय शरीर के (क्रूरम्[1]) छेदन भेदन सामर्थ्य को परमाणु, परमाणु अलग करडालनेवाले विशेष सामर्थ्य को (मर्त्यः) यह मरणधर्मा पुरुष (न आनंश) नहीं प्राप्त कर सकता । तू (कपिः)[2] कपि=अति कम्पनवान् होकर (तेजनं) अग्नि या ताप को अपने भीतर (बभस्ति) ऐसे धारण कर लेता है जैसे (गौः) गौ (स्वं जरायुः) अपनी जेर को खा जाती है ।

ग्रीफिथ—"मनुष्य तेरे शरीर में कभी कोई व्रण नहीं पाता । जैसे गाय जेर खा जाती है उसी प्रकार बन्दर सरकण्डा खा जाता है ।" यह अर्थ बड़ा हास्यास्पद, असंगत और अनर्थक है ।

सायण—हे अग्ने तेरे शरीर की तीक्ष्णता को मनुष्य नहीं पा सकता । तू शरीर शोषक होकर या बानर के समान चपल ज्वालावान् होकर (तेजनं) निःसार शव को जेर को—गायके समान जला देता है । अथवा—(कपिः बभस्ति तेजनं) आदित्य तेजन-अग्नि को अपने

[४६] १—'बिभस्ति' इति सायणसम्मतः । (द्वि०) 'मर्त्यं' इति पैप्प० सं० । (प्र०) 'तनुवै क्रूरंचकार' । (च०) 'पुनर्जन्म' इति तै० आ० ।

१. कृतेश्छः क्रू च । उणादि० पा० २ । २१ ॥ कर्त्तनसामर्थ्यं छेदन-सामर्थ्यम् ।

२. कम्पतेः सार्वधातुक इन् उणादिः ४।१४।४ यद्वा कम् उदकं शरीरं गतं रसं पिबति इति कपिः । सायणः ॥

भीतर कर लेता है । अथवा—हे अग्ने ! परमात्मन् ! तेरे क्रूर=छेदन भेदन सामर्थ्य को मनुष्य प्राप्त नहीं कर सकता । तू (कविः) सब को कंपाने वाला होकर (तेजनम्)[3] पाप को ऐसे खा जाता है । जला देता है, विनाश कर देता है जैसे गौ जरायु को ।

अथवा—(स्वं जरायु गौरिव) अपनी जीर्ण त्वचा या आवरण को जिस प्रकार सूर्य वार २ लील जाता है उसी प्रकार (कपिः) क=प्रजापति-हिरण्यगर्भ का पालक वह परमात्मा समस्त (तेजनं) ब्रह्माण्ड को (बभस्ति)[1] अपने प्रलयकाल में लील जाता है । इसलिये (मर्त्यः अग्नेः तन्वः क्रूरम् न आनंश) यह मनुष्य उस कालाग्नि परमेश्वर के छेदनभेदन सामर्थ्य तक नहीं पहुँच सकता ।

जरायुः शणाः । श० ६।६।२।१५ ॥ यत्र वा प्रजापतिरजायत गर्भो भूत्वा एतस्मात् यज्ञात् तस्य यन्नेदिष्ठमुल्वमासीत् ते शणाः ॥ जिसमें प्रजापति हिरण्यगर्भ रूप में उस यज्ञरूप परमात्मा से उत्पन्न हुआ वह ऊपर का गर्भावरण=उल्व शणा या जरायु नाम से कहा जाता है ।

मेष इव वै सं च वि चोर्व॑च्यसे यदु॑त्तरद्रावुप॑रश्च खाद॑तः ।
शीर्ष्णा शिरोऽप्ससाप्सो॑ अर्दय॑न्नंशून् ब॑भस्ति हरि॑तोभिरासभि॑ः ॥२॥

भा०—प्रलयकाल की वह अग्नि किस प्रकार ब्रह्माण्ड को खा जाती

३. पाप्मा वै तेजनी । तै० ३ । ८ । १६ । २ ॥
१. बभस्तिरत्तिकर्मा इति यास्कः । निरु० ५ । १२ ॥
२—(प्र०)'त्वेषी वर्मि च इतरोर्वर्णयते' इति पैप्प०सं०। 'यदप्सरद्रूपरस्य खादति' इति का० । 'अप्सर रूपस्य' इति आप० । (तृ०) वच्चसावद्य एजयन् इति आप० 'गिरोप्स' (च०) 'अशुम्' इति काठ० । 'गभस्ति' इति आप० । 'चोर्वच्यस यदुत्तरद्रावपरश्च' इति सायणसम्मतः पाठः ।

उसको स्पष्ट करते हैं। हे अग्ने! प्रलयकालाग्ने! परमात्मन्! तू (मेष इव) मेष=सूर्य के समान (उरु) इस विशाल ब्रह्माण्ड में (सं अच्यसे च वि अच्यसे च) संकुचित होता और विशेष या विविध रूप से फैल जाता है। जिस प्रकार (खादतः) खाते हुए पुरुष के (उत्तरद्रौ) ऊपर के जबाड़े में (उपरः=उपलः) नीचला जबाड़ा लग कर दोनों भोजन को चबाते हैं उसी प्रकार तुम भी इस द्यौ और पृथिवी दोनों पाटों के बीच में समस्त संसार को पीस कर खा जाते हो। और इस ब्रह्माण्ड के (शिरः) ऊपर के भाग को अपने (शीर्ष्णा) ऊपर के भाग से और (अप्ससा अप्सु) अपने समस्त व्यक्ति रूप सामर्थ्य से इस रूपवान् जगत् को (अर्दयन्) पीड़ित करता हुआ—पीसता हुआ (हरितेभिः आसभिः) अपने हरणशील संहारकारी तीव्र प्रलयकारी मुखों=विक्षेपकारी शक्तियों से (अंशून्) इन समस्त लोकों को (बभस्ति) खा जाता है लील जाता है।

सायण ने यह मन्त्र शव को भस्म करनेवाले अग्नि के वर्णन में लगाया है। वास्तव में अग्नि का शव को भस्म करना, कालाग्नि के ब्रह्माण्ड को भस्म करने में दृष्टान्त रूप हो सकता है।

सौर मण्डल के खण्डप्रलय के समान ही महाप्रलय की कल्पना विद्वान् वैज्ञानिकों ने मानी है। अर्थात् उस समय सूर्य की ज्वालाएं बुझते दीपक के समान कभी बड़ी दूर तक फैलेंगी कभी बुझेंगी और फिर फैलेंगी। वे ज्वालाएं दूर पास के सब ग्रहों को भस्म करेंगी। वेद में उन ज्वालाओं को 'हरित आस' नाम से पुकारा है। यही प्रलय या अप्यय की रीति अध्यात्मक्षेत्र में आत्मा और उसके मन प्राण इन्द्रियों में होती हैं। वहां भी मेष=आत्मा। उत्तरद्रा, उपर=प्राण, अपान। अंशु= इन्द्रियगण, हरित-आस=सूक्ष्मप्राण हैं।

सुपर्णा वाचमक्रतोप द्यव्याखरे कृष्णा इषिरा अनर्तिषुः ।
नि यन्नियन्त्युपरस्य निष्कृतिं पुरू रेतो दधिरे सूर्यश्रितः ॥३॥

ऋ० १० । ९४ । ५ ॥

भा०— हे[1] अग्ने ! कालाग्ने ! (सुपर्णाः) सूर्य की ऊपर उठनेवाली वे ज्वालाएं ही (वाचम् अक्रत) यह वाणी उपदेश करती हैं, इस बात की सूचना देती हैं कि (आखरे) उनके आवासस्थान सूर्य में (कृष्णाः) कृष्ण=समस्त अपने ग्रह उपग्रहों को खैंचने में समर्थ और (इषिराः) गतिमान चिह्न धब्बे (अनर्त्तिषुः) तभी नाचते हैं । (यत्) जब (उपरस्य) ऊपर आये हुए मेघावरण की (निष्कृतिं) रचना को वे सुपर्ण शीघ्रगामी पतनशील वेग (नि नियन्ति) सर्वथा तोड़ डालती हैं, तब ही वे ज्वालाएं ही (सूर्य-श्रितः) सूर्य में आश्रय लेती हुई ही (पुरु रेतः दधिरे) बड़ा भारी तेज वीर्य प्रचण्ड ताप उत्पन्न करती हैं । इस मन्त्र के गूढ़ाशय को समझने के लिये सूर्यमण्डल में उठनेवाले ज्वालोद्रेक— (Perterbations या Prominences) ज्वाला पटलों की, और सूर्य में दिखाई पड़नेवाले काले धब्बों की वैज्ञानिक तत्वमीमांसा का स्वाध्याय करना चाहिए । देखो एन्साईक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (Art. Sun)



[५०] अन्नरक्षा के लिये हानिकारक जन्तुओं का नाश ।

अभयकामोऽथर्वा ऋषिः । अश्विनौ देवते । १ विराड् जगती । २-३ पथ्या पंक्तिः । तृचं सूक्तम् ॥

३-(तृ०) 'न्यान्नियन्ति', 'निष्कृतम्', 'सूर्यश्वितः' इति ऋ० ।

१-ऋग्वेदे अर्बुदः काद्रवेयः सर्प ऋषिः । ग्रावाणो देवता ।

हृतं तर्दं सम॒ङ्कमा॒खुम॑श्विना छि॒न्तं शिरो॒ अपि॑ पृ॒ष्टीः शृ॑णीतम् ।
यवा॒न्नेददा॒नपि॑ नह्यतं॒ मुख॒मथाभ॑यं कृणुतं धा॒न्या/य ॥ १ ॥

भा०—हे (अश्विना) अश्विगणो ! धान्य के उत्पादक और रक्षक स्त्री पुरुषो ! (तर्दं) हिंसक जन्तु (समङ्कम्) बिल में छिपने वाले मूसाजाति (आखुम्) और भूमि को खन कर रहनेवाले अन्न नाशक जन्तु को (हतं) मारो, (शिरः) उनके शिर को (छिन्तं) मार कर टुकड़े २ कर डालो जिससे उनका प्राण नष्ट हो जाय और वह जीता न रह जाय बल्कि उनकी (पृष्टीः) पीठ की पसुलियां (अपि) भी (शृणीतम्) तोड़ डालो। और हो सके तो (मुखम् अपि नह्यतम्) उसके मुख भी बांधो दो जिससे (यवान्) वे यवों को (न इत्) नहीं (अदान्) खा सकें। इस प्रकार (धान्याय) धान्य के लिये (अभयं कृणुत) अभय कर दो।

तर्द॒ है पत॑ङ्ग॒ है जभ्य॒ हा उप॑क्वस ।
ब्र॒ह्मेवासं॑स्थितं ह॒विरन॑दन्त इ॒मान् यवा॒नहिं॑सन्तो अ॒पोदि॑त ॥२॥

भा०—(हे तर्द) हे हिंसक जन्तो ! (हे पतंग) हे टिड्डीदल ! हे (हे जभ्य) हिंसा योग्य या विनाश करने योग्य और (हे उपक्वस) हे टिड्डे आदि कीटो (ब्रह्मा इव) जिस प्रकार ब्रह्मा (असंस्थितम् हविः) असमाप्त या असंस्कृत हवि को नहीं लेता उसी प्रकार तुम लोग भी (असंस्थितं हविः) असंस्थित, अपरिपक्व, अधकची, अरक्षित अन्न को (अनदन्तः) न खाते हुए और (इमान् यवान्) इन जौ धान्यों को (अहिंसन्तः) हानि न पहुँचाते हुए (अप उदित) परे चले जाओ। धान्यरक्षक लोग उक्त कृषि-

[५०] १–'युवान्नेद ददादपि' इति सायणसम्मतः पाठः ।
२–अपक्वसः (च०) 'अनुदन्तः' इति सायणसम्मतः । तर्दहेम पतङ्गहेम् अभ्या उपक्वसः अनदन्त इदं धान्य हिंसन्तोपदित [?]

नाशक जन्तुओं से खेती को बचावें और ऐसा प्रबन्ध करें कि वे उनको हानि न पहुँचा सकें।

तर्दापते वघापते तृष्टजम्भा आ शृणोत मे।
य आरण्या व्यद्वरा ये के च स्थ व्यद्वरा-
स्तान्त्सर्वान् जम्भयामसि ॥ ३ ॥

भा०—हे (तर्दापते) हिंसकों के स्वामी ! हे (वघापते) कृषि नाशक जन्तुओं के मुख्य पति ! हे (तृष्टजम्भाः) तीक्ष्ण दाँतों वाले जन्तुओ ! (मे आ शृणोत) मेरा वचन सुनो। (ये आरण्याः) जो जंगली (व्यद्वराः) खास तौर पर खेती को खा जानेवाले, बड़े जानवर और (ये के च) जो कोई भी (व्यद्वराः स्थ) मेरी खेती को खानेवाले जन्तु, जैसे और जहां भी हों (तान् सर्वान्) उन सबों को (जम्भयामसि) हम विनाश कर डालें।



[५१] पवित्र होकर उन्नत होने की प्रार्थना।

शंतातिर्ऋषिः। आपो देवताः। ३ वरुणः। १ गायत्री। २ त्रिष्टुप्
जगती। तृचं सूक्तम् ॥

वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ् सोमो अति द्रुतः।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ १ ॥ यजु० १६। ३ प्र० द्वि० ॥

भा०—(प्रत्यङ्) भीतरी शुद्ध आत्मा (सोमः) सोम, जीव

३-(च०) व्यद्वराः, व्यध्वरा, व्यद्धुराः इति नाना पाठाः।
[५१] १-(द्वि०) 'अतिद्रुतः' इति क्वचित्। 'अधिश्रुतः' इति पैप्प० सं०। 'अतिस्रुतः' इति यजु०। (प्र०) 'प्राङ्', 'प्रत्यङ्' इति च तै० ब्रा०।

(वायोः) सर्वव्यापक, सर्वप्रेरक प्रभु के (पवित्रेण) परम पावन स्वरूप के ध्यान से (पूतः) पवित्र होकर (अति-द्रुतः) संसार के दुःखों को अतिक्रमण करके शीघ्र ही मुक्त हो जाता है । वही तब (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यशील प्रभु का (युज्यः) योग समाधि में मिलनेवाला (सखा) उसका परम मित्र बन जाता है । कश्चिद् धीरः प्रत्यग् आत्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् । इति । क० उप० ४ । १ ॥

आपो॑ अ॒स्मान् मा॒तरः॑ सूदयन्तु घृ॒तेन॑ नो घृत॒प्व॑ः पुनन्तु ।
विश्वं॒ हि रि॒प्रं प्र॒वह॑न्ति दे॒वीरु॒दिदा॑भ्यः॒ शुचि॒रा पू॒त ए॑मि ॥२॥

(प्र० द्वि०) यजु० ४ । २ ॥ इत्यस्याः पूर्वार्धः । ऋ० १० । १७ । १० ॥

भा०—(अस्मान्) हम को (मातरः) समस्त विश्वका निर्माण करनेवाली (आपः) आप्त शक्तियां (सूदयन्तु) प्रेरित करें, सदा समर्थ बनावें । और (घृतप्वः) तेज से पवित्र करनेवाले तेजोमय सूर्य आदि पदार्थ (घृतेन) अपने घृत=प्रकाश से (नः) हमें सदा (पुनन्तु) पवित्र करें, हमारे शरीर मन और वाणी के मलों को शोधन करें । क्योंकि (देवीः) दिव्य शक्तियां ही (विश्वं) समस्त (रिप्रं) मल और पाप भाव को (प्रवहन्ति) नदियों के समान दूर बहा ले जाती हैं और धो डालती हैं । (आभ्यः इत्) इनमें स्नान करते ही मैं (शुचिः) शुद्ध पवित्र होकर (उत्) ऊर्ध्व गति को प्राप्त होकर सात्विक भाव में (आ-पूतः) सर्वथा पवित्र होकर (एमि) उस प्रभु को प्राप्त होऊँ ।

यत् किं चे॒दं व॑रुण॒ दैव्ये॒ जने॑ऽभिद्रो॒हं म॑नु॒ष्या॒३॑श्चर॑न्ति ।
अचि॑त्त्या॒ चेत् तव॒ धर्मा॑ युयोपि॒म मा न॒स्तस्मा॒देन॑सो देव रीरिषः ॥ ३ ॥ ऋ० ७ । ८९ । ५ ॥

२—'मातरः शुचयन्त' इति पाठभेदः यजु०, ऋ० । (च०) 'पूतयेमि' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (वरुण) राजन् ! हे प्रभो ! (दैव्ये) दिव्य गुणों से युक्त विद्वान् (जने) पुरुष के प्रति (मनुष्याः) मनुष्य लोग (इदं यत् किं च) यह जो कुछ भी (अभिद्रोहं) अभिद्रोह, अनुचित विरोध (चरन्ति) कर बैठते हैं और यदि (अचित्या) विना जाने (तव धर्मा) तेरे बनाये नियमों को हम लोग (युयोपिम चेत्) न पालन करें तो भी हे देव ! (नः) हमें (तस्माद् एनसः) उस अपराध के कारण (मा रीरिषः) कष्ट न दे । इसी मन्त्र के आधार पर अज्ञान में किये गये बड़े बड़े अपराध भी कानूनन दण्ड न देकर क्षमा योग्य होते हैं । ईश्वर भी अज्ञान में किये कार्यों को अपराध नहीं गिनता । इसीसे भोगयोनि में किये हिंसादि कर्म भावी में नया प्रारब्ध नहीं पैदा करते ।

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तानि दश, ऋचश्च त्रिंशत्]



[५२] तमोविजय और ऊर्ध्वगति ।

भागलिर्ऋषिः । मन्त्रोक्ता बहवो देवताः । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

उत् सूर्यो दिव एति पुरो रक्षांसि निजूर्वन् ।
आदित्यः पर्वतेभ्यो विश्वदृष्टो अदृष्टहा ॥ १ ॥

ऋ० १ । १९१ । ९ ॥

३–'मनुष्याश्चरामसि' 'अचियात् तव' इति ऋ० ॥

[५२]–१,२ एतयोर्ऋग्वेदे अगस्त्य ऋषिः । अबोषधिसूर्या देवता ।

१–'उदपप्तदसौ सूर्यः पुरुविश्वा निजूर्वन् । 'आदित्यः पर्वतेभ्यो' इति ऋ० । (द्वि०) 'निजूर्वन्' इति बहुत्र । 'विश्वानि जूर्वन्', (तृ०) 'आदित्यः पर्वतानाधि' इति पैप्प० सं० ।

भा०—जिस प्रकार (सूर्यः) सूर्य (दिवः) द्यौलोक, विशाल आकाश में (पुरः रक्षांसि निजूर्वन्) अपने आगे आये सब विघ्नकारी अन्धकारों और मेघों का नाश करता हुआ (उद् एति) उदित होता है उसी प्रकार यह जीव (सूर्यः) सब इन्द्रियों और शरीर का प्रेरक, विज्ञानवान् होकर (पुरः रक्षांसि निजूर्वन्) अपने आगे आये समस्त विघ्नकर तामस भावों, राक्षसी विचार, काम क्रोध आदि उन आचरणों को जो उसे आगे नहीं बढ़ने देते उसको जीर्ण शीर्ण, छिन्न-भिन्न करता हुआ (दिवः उत् एति) उस तेजोमय ब्रह्म के प्रति उत्तम पद को चला जाता है। और वही (आदित्यः) सब प्राण शक्तियों को अपने भीतर लेने वाला, वशी, जितेन्द्रिय, ज्ञानी, सूर्य के समान (अदृष्ट-हा) उस अ-प्रत्यक्ष परलोक में भी गति करनेवाला होकर (विश्व-दृष्टः) विश्व=सर्वव्यापक प्रभु के दया दृष्टि से देखा जाकर (पर्वतेभ्यः) आवरणकारी मेघों के समान आवरणों से भी (उत् एति) ऊपर चला जाता है।

सूर्यपक्ष में—(विश्व-दृष्टः अदृष्टहा सूर्यः पर्वतेभ्यः उद् एति) समस्त प्राणियों के प्रत्यक्ष सूर्य अदृष्ट कष्टों का विनाशक होकर मेघों या पर्वतों के पीछे से उदय होता है।

नि गावो॑ गो॒ष्ठे अ॑सद॒न् नि मृ॒गासो॑ अविक्षत ।
न्यू३॒र्मयो॑ न॒दीनां॒ न्य१॒दृष्टा॑ अलिप्सत ॥ २ ॥

भा०—जब योगी का आत्मा आदित्य के समान समस्त तामस आवरणों से ऊपर उठ जाता है तब (गावः) जिस प्रकार शान्त मध्यान्ह में गौएँ विश्राम के लिये (गोष्ठे) गोशाला में (नि-असदन्) आ जाती हैं और विश्राम लेती हैं उसी प्रकार ये प्राण भी उस अपने आश्रयभूत गोष्ठ—आत्मा में ही विश्राम करते हैं। वे बाहर विषयतृष्णा में

२–(तृ०) 'निकेतयेजनानां' इति ऋ० ।

नहीं भागती। और (मृगासः) विषयों को खोजनेवाली इन्द्रियें (नि-अविक्षत) सर्वथा भीतर ही निलीन हो जाती हैं। किस तरह से ? जैसे (नदीनां) वायुओं के शान्त हो जाने पर या वेग के शान्त हो जाने पर नदियों की (ऊर्मयः) विशाल तरंगें भी (निः) उसी में लीन हो जाती हैं उसी प्रकार ये प्राणेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियें भी (नि-अदृष्टाः) सर्वथा प्रत्यक्ष न होकर तन्मय, तल्लीन होकर (नि अलिप्सत) उसी आत्मा को प्राप्त करने या खोजने में लग जाती हैं।

आयुर्ददं विपश्चितं श्रुतां कण्वस्य वीरुधम् ।
आभारिषं विश्वभेषजीमस्या दृष्टान् नि शमयत् ॥ ३ ॥

भा०—मैं (विश्वभेषजीम्) समस्त कष्टों का निवारण करनेवाली, (आयुर्ददं) दीर्घ जीवन को देनेवाली, (विपश्चितम्) ज्ञानमयी (श्रुतां) प्रसिद्ध या गुरुमुख से उपदेश द्वारा श्रुतिवचनों से श्रवण की गई (कण्वस्य) मेधावी पुरुष की उस (वीरुधम्) आत्मज्ञान रूप वल्ली को (आ-भारिषं) प्राप्त करूं। वह (अस्य) इस जीव के (अदृष्टान्) अदृष्ट धर्म और अधर्म से उत्पन्न भव-बन्धनों को (नि शमयत्) सर्वथा शान्त करे।



[५३] रक्षा की प्रार्थना।

बृहच्छुक्र ऋषिः। नाना देवताः। २–३ त्रिष्टुभौ। १ जगती। तृचं सूक्तम् ॥

द्यौश्चं म इदं पृथिवी च प्रचेतसौ शुक्रो बृहन् दक्षिणया पिपर्तु ।
अनु स्वधा चिकितां सोमो अग्निर्वायुर्नः पातु सविता भगश्च ॥ १ ॥

३–(प्र०) 'आयुर्विदं' (तृ०) 'अहार्ष' इति पैप्प० सं०।
[५३] १–(प्र०) 'मा इदं' इति पैप्प० सं०। (द्वि०) 'त्वां पिपर्तु' (प्र०) 'त्वां इदं' इति तै० प्रा०।

भा०—(द्यौः) द्यौ और (पृथिवी च) (प्र-चेतसौ) उत्कृष्ट ज्ञानवान् होकर (मे) मेरे लिये (इदम्) इस उत्तम फल को प्राप्त करावें या इस देह की रक्षा करें । (बृहन् शुक्रः) वह महान् प्रकाश-मान प्रभु (दक्षिणया) अपनी ज्ञान और कर्म शक्ति से हमें (पिपर्तु) पालित पोषित करे । (स्वधा) यह स्वयं अपने को धारण करनेवाली चितिशक्ति (अनुचिकिताम्) उस प्रभु के दिये ज्ञान के अनुसार ही सत्य ज्ञान को प्राप्त करे । और (नः) हमें (सोमः) सोम (अग्निः) अग्नि और (सविता) सविता प्रेरक, (भगः च) और ऐश्वर्यवान् परमात्मा (पातु) सदा पालन करता रहे ।

द्यौः-पृथिवी=उत्तरारणि और अधरारणि या सूर्य पृथिवी के समान ऊपर नीचे की दोनों शक्तियाँ प्राण, अपान ।

पुनः प्राणः पुनरात्मा न ऐतु पुनश्चक्षुः पुनरसुर्न ऐतु ।
वैश्वानरो नो अदब्धस्तनूपा अन्तस्तिष्ठाति दुरितानि विश्वा ॥२॥

भा०—(नः) हमारा (प्राणः) प्राण (पुनः) फिर भी (एतु) प्राप्त हो जाता है (आत्मा पुनः एतु) हमारा (आत्मा) जीव हमें (पुनः एतु) पुनः भी प्राप्त हो जाता है । (चक्षुः पुनः) यह आँख और उसके सहयोगी अन्य इन्द्रिय भी फिर २ प्राप्त हो जाती हैं । (नः पुनः एतु) यह प्राण भी हमें पुनः प्राप्त हो जाता है । क्यों ? क्योंकि (नः) हमारा (वैश्वानरः) समस्त नेता प्राणों का स्वामी वैश्वानर, आत्मा (अदब्धः) कभी भी नहीं मरता । प्रत्युत वही (तनूपाः) समस्त शरीर की रक्षा करता है और (विश्वा दुरितानि) समस्त पाप कर्मों को जानता हुआ भी निराश न होकर (अन्तः तिष्ठाति) भीतर धैर्यवान् हो कर विराजता है ।

२—'पुनर्मनः पुनरायुर्म आगत्' इति पैप्प० सं० ।

जीवस्य चेन्धनाग्नेश्च सदा नाशो न विद्यते ।
समिधामुपयोगान्ते सन्नेवाग्निर्न दृश्यते ॥
प्राणान् धारयते योऽग्निः स जीव उपधार्यताम् ।
न जीवनाशोऽस्ति हि देहमध्ये मिथ्यैतदाहुर्मृत इत्यबुद्धाः ॥
जीवस्तु देहान्तरितः प्रयाति दशार्धतैवास्य शरीरभेदः ॥२७॥

(महाभारते, शान्ति० अ० १८५)

सं वर्च॑सा पय॑सा सं त॒नूभि॒रग॑न्महि॒ मन॑सा सं शि॒वेन॑ ।
त्वष्टा॑ नो॒ अत्र॒ वरी॑यः कृणो॒त्वनु॑ नो मार्ष्टु त॒न्वो॒३॒॑ यद् विरि॑ष्टम् ॥३॥

यजु० २ । २४ ॥

भा०—हम लोग (वर्चसा) तेज और ब्रह्मवर्चस से, (पयसा) उत्तम पुष्टिकारक बल से, (तनूभिः) उत्तम शरीरों से और (शिवेन) शुभ (मनसा) मन से (सं, सं, सं अगन्महि) भली प्रकार युक्त रहें । (त्वष्टा) सर्वोत्पादक प्रभु (अत्र) इस लोक में (नः) हमें (वरीयः) सब से उत्तम, वरण करने योग्य धन, ज्ञान, यश (कृणोतु) प्राप्त करावे और (यत्) जो (न तन्वः) हमारे शरीर का (विरिष्टम्) विशेष प्रकार से पीड़ित भाग हो उसको (अनु मार्ष्टु) स्वयं अनुमार्जन करे, अनुकूलता से रोग रहित करे । अर्थात् प्रथम हम अपने अंगों को साफ़ रखें और तब ईश्वर भी हमारे शरीरों को रोग से मुक्त रखे ।



३–(द्वि० च०) 'त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम्' इति यजुः० । 'त्वष्टा सुदत्रा वरिवः कृ'—इति पैप्प० सं० ।

[५४] राजा की नियुक्ति और कर्त्तव्य ।

ब्रह्मा ऋषिः । अग्नीषोमौ देवते । अनुष्टुभः । तृच सूक्तम् ॥

इदं तद् युज उत्तरमिन्द्रं शुम्भाम्यष्टये ।
अस्य क्षत्रं श्रियं महीं वृष्टिरिव वर्धया तृणम् ॥ १ ॥

भा०—(वृष्टिः तृणम् इव) जिस प्रकार वर्षा तृण=घास को बढ़ाती है उसी प्रकार हे इन्द्र ! राजन् ! (अस्य) इस राष्ट्र के (क्षत्रम्) क्षात्र-बल को और (महीम्) बड़ी भारी (श्रियं) श्री, लक्ष्मी को बढ़ा। (इदम्) इसी प्रयोजन से (तत्) उस उत्तम पद पर (उत्तरम्) अन्य मनुष्यसमाज से उत्कृष्ट (इन्द्रम्) इन्द्र, राजा को (युजे) राज्यकार्य में नियुक्त करता हूँ और (अष्टये) उत्तम फलों को प्राप्त करने और उत्तम रूप से राष्ट्र पर वश करने के लिये (इन्द्रम्) राजा को (शुम्भामि) अलंकृत करता हूँ।

अस्मै क्षत्रमग्नीषोमावस्मै धारयतं रयिम् ।
इमं राष्ट्रस्याभीवर्गे कृणुत युज उत्तरम् ॥ २ ॥

भा०—हे (अग्नि-सोमौ) अग्नि-सेनापति, और सोम=पुरोहित ब्राह्मण गण (अस्मै) इसी राजा के उपयोग के लिये (रयिम्) अपने ज्ञान और बल को (धारयतम्) धारण करो और (इमम्) इस राजा को (राष्ट्रस्य अभीवर्गे) राष्ट्र की रक्षा के कार्य में (कृणुतम्) समर्थ करो और इसी प्रयोजन के लिए मैं राष्ट्र का पुरोहित उसको (उत्तरम्) अन्यों से उत्कृष्ट जान कर (युजे) इस पद पर नियुक्त करता हूँ।

[५४] १–(प्र०) 'इद तम्' इति ह्विटनिकामितः। 'युज' इति पैप्प० सं०।
२–(प्र०) 'यस्य क्षत्र'–(द्वि०) 'वर्धयन्' (तृ०) 'अहो राष्ट्र' इति पैप्प० सं०।

सर्वन्धुश्चासंबन्धुश्च यो अस्माँ अभिदासति ।
सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते ॥ ३ ॥

प्र० द्वि० अथर्व० १५ । २ ॥ प्र० द्वि०, ६ तृ० च० ॥

भा०—हे पुरोहित ! (सबन्धुः च असबन्धुः च) चाहे सगोत्री या कोई असगोत्री (यः अस्मान् अभि-दासति) जो हमको विनाश करना चाहता है तू (मे सुन्वते) मेरे राष्ट्र का संचालन करते हुए (यजमानाय) सबको सुव्यवस्थित करनेवाले राजा के लिये (तं सर्वम्) उस सब को (रन्धयासि) वश कर । इसी प्रकार पुरोहित राजा के प्रति भी ऐसा ही कहे ।



[५५] उत्तम मार्गों से जाने और सुखसे जीवन व्यतीत करने का उपदेश ।

ब्रह्मा ऋषिः । १ विश्वेदेवा देवताः, २, ३ रुद्रः । २ त्रिष्टुप् । १, ३ जगत्यौ ।

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति ।
तेषामज्यानिं यतमो वहाति तस्मै मा देवाः परि धत्तेह सर्वे ॥१॥

प्र० द्वि० अथर्व० ३ । १५ । २ प्र० द्वि० ॥

भा०—(ये) जो (देवयानाः) विद्वानों के जाने योग्य (बहवः) बहुत से (पन्थानः) ज्ञानमार्ग (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, ज्ञान और कर्म, परलोक और इहलोक, ब्रह्म और प्रकृति और राजा प्रजा के

[५५] १–(प्र०) 'ये चत्वारः पथयो' (द्वि०) 'वियन्ति' (तृ०) 'तेषां-प्रज्यानिमाजितिमावहात्' (च०) 'नो देवाः परिदत्तेह' इति तै० सं० । 'दत्तेह' इति सायणः ।

(अन्तरा) बीच में (सं-चरन्ति) चल रहे हैं (तेषां) उनमें से (यतमः) जो भी (अज्यानिं) हानिरहित सम्वृद्धि, आत्म रक्षाको (वहाति) प्राप्त कराता है (तस्मै) उस मार्ग के लिये (सर्वे देवाः) सब विद्वान् लोग (मा) मुझे (इह) संसार में (परि धत्त) पुष्ट करें, बल दें, उस उत्तम मार्ग में चलने को कटिबद्ध करें।

ब्रह्मज्ञान का मार्ग सबसे उत्तम है। "इहचेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदवेदीन्महती विनष्टिः।" इसी शरीर में रह कर आत्मज्ञान कर लिया तो ठीक, नहीं तो बड़ा भारी विनाश हो जाता है! क० प०।

ग्रीष्मो हेमन्तः शिशिरो वसन्तः शरद् वर्षाः स्विते नो दधात।
आ नो गोषु भजता प्रजायां निवात इद् वः शरणे स्याम ॥ २ ॥

भा०—काल पर विचार करके उससे उपस्थित वि-पत्तियों से बच कर सुखपूर्वक जीवन निर्वाह करने का उपदेश करते हैं। (ग्रीष्मः हेमन्तः शिशिरः वसन्तः शरद् वर्षाः) ग्रीष्म, हेमन्त, शिशिर, वसन्त और वर्षाकाल ये छः ऋतु हैं। हे छहों ऋतुओ! आप (नः) हमें (स्विते) सुख से गुजरनेवाले जीवन में ही (दधातु) रखो। कभी कष्ट में न डालो। (नः) और हमारे (गोषु) गवादि पशुओं और (प्रजायां) प्रजा-पुत्र आदि में भी (आ भजत) सुख का वितरण करो। हम सदा (वः निवाते) प्रबल वायु के झंकोरों या उपद्रवों से रहित (शरणे) छहों ऋतुओं के अनुकूल घर में (स्याम) रहें, निवास करें।

२–'हेमन्त उत नो वसन्तः'। (द्वि०) 'सुवितं नो अस्तु'। (तृ० च०) 'तेषां ऋतूनां शतशारदानां निवात एषामभये स्याम'। इति तैत्ति० सं०। (द्वि०) 'शिवा वर्षा अभया चरन् नः'। (च०) 'शरणे वसेम' इति पा० गृ० सू०।

इ॒द्वा॒वत्स॒राय॑ परिवत्स॒राय॑ संवत्स॒राय॑ कृणुता बृ॒हन्नमः॑ ।
तेषां॑ व॒यं सु॑म॒तौ य॒ज्ञिया॑ना॒मपि॑ भ॒द्रे सौ॑मन॒से स्या॑म ॥ ३ ॥

(तृ० च०) ऋ० ३ । १ । १२ तृ० च० ॥

भा०—(इदावत्सराय परिवत्सराय संवत्सराय) इदावत्सर, परिवत्सर और संवत्सर के लिये (बृहत् नमः कृणुत) बहुत, प्रचुर अन्न उत्पन्न करो । (तेषां) उन (यज्ञियानां) यज्ञ करने वाले पुरुषों की (सु-मतौ) शुभ कल्याणकारिणी बुद्धि में और (सौमनसे) उत्तम मनः संकल्प से उत्पन्न होनेवाले (भद्रे अपि) कल्याण सुख में (स्याम) सदा रहें ।

प्रभव से आदि लेकर प्रत्येक पंचयुगी के, वर्षों में क्रम से संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर और इद्वत्सर ये पांच संज्ञाएं होती हैं । अथवा— अग्निर्वा संवत्सरः । आदित्यः परिवत्सरः । चन्द्रमा इद्वत्सरः । वायुरनुवत्सरः । तै० ब्रा० १ । ४ । १० । १ ॥ अग्नि, आदित्य और चन्द्रमा इनके लिये हम नमः करते हैं अर्थात् सदा ध्यान रखते हैं । जिससे ठीक ठीक काल का ज्ञान हो और ठीक ठीक समय पर उचित यज्ञों का विधान कर सकें । और विद्वानों की शुभ मति और उत्तम कल्याणकारी सुख में हम सदा रहें ।



[५६] सर्प का दमन और सर्पविष-चिकित्सा ।

शंतातिर्ऋषिः । १ विश्वेदेवाः २, ३ रुद्रो देवता । १३ उष्णिग्-गर्भा २ अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

मा नो॑ देवा॒ अहि॑र्वधी॒त् सतो॑कान्त्स॒हपू॑रुषान् ।
संय॑तं॒ न वि ष्प॑रद् व्यात्तं॒ न सं य॑म॒न्नमो॑ देवज॒नेभ्यः॑ ॥ १ ॥

३–(प्र०) 'इद्वत्सराय' । (च०) ज्योगजीता अहताः स्याम' इति तै० सं० ।

१–(द्वि०) 'सहपारुषान्' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'विस्फुरत्' इति सायणाभिमतः ।

भा०—हे (देवाः) विष को दूर करनेवाले विद्वान् लोगों ! (अहिः) सांप (स-तोकान्) हमारी सन्तानों और (सह-पूरुषान्) अपने पुरुषों सहित (नः) हमें (मा वधीत्) न मारे, हमें न काटे या हमारी मृत्यु का कारण न हो। (देव-जनेभ्यः नमः) देवजन—विषवैद्य या सर्प विष के निकालनेवाले चतुर पुरुषों के इस शिल्प का बड़ा आदर करते हैं कि जब वेसांप का मुख (संयतं) बन्द करते हैं तब (न विष्परत्) वह उसे खोल नहीं सकता और यदि (व्यात्तं) सांपने मुंह खोल लिया तो फिर वह (न सं-यमत्) बन्द नहीं कर सकता।

नमो॑स्त्वसि॒ताय॒ नम॒स्तिर॑श्चिराजये ।
स्व॒जाय॑ ब॒भ्रवे॒ नमो॒ नमो॑ देवज॒नेभ्यः॑ ॥ २ ॥

भा०—(असिताय नमः) असित—कालेनाग का भी वश करने का उपाय है। (तिरश्चि-राजये नमः) पीठ पर तिरछी धारियोंवाले सर्प का भी वश करने का उपाय है। (स्वजाय बभ्रवे नमः) स्वज=शरीर से लिपट जानेवाले या स्वयं ही माता के पेट से जीवित शिशु के रूप में निकलने वाले सर्प का भी वश करने का उपाय है। इन विशेष हुनरों के लिये (देवजनेभ्यः नमः) ऐसे उन सर्पों के वशोपाय जानने हारे विद्वानों का हम स्वयं आदर करें।

सं ते॑ हन्मि द॒ता द॒तः सम॑ु ते॒ हन्वा॒ हनू॑ ।
सं ते॑ जि॒ह्वया॑ जि॒ह्वां सम्वा॒स्नाह॑ आ॒स्य॑म् ॥ ३ ॥

भा०—सांप को पकड़ने का उपाय बतलाते हैं। हे सर्प ! (ते दता दतः सं हन्मि) तेरे ऊपर के दांतों को नीचे के दांतों से सटा दूं। और

२—'नमोऽहये' इति पैप्प० सं० ।
३—'सं ते ददामि दद्भिर्दतः', (द्वि०) 'सं ते' इति पैप्प० सं० ।

(ते हन्वा हनू सम्) तेरे ठोड़ी को ठोड़ी से सटा दूं । (जिह्वया ते जिह्वाम् सम्) तेरी जीभ से जीभ को सटा दूं, इस प्रकार की रीति से मैं (आस्ना) मुख से (आस्यम्) सांप के मुख को (सम् हन्मि) अच्छी प्रकार भींचूं और इस प्रकार सर्प को वश कर लेता हूं ।



[५७.] व्रणचिकित्सा ।

शंताति ऋषिः । १-२ रुद्रो देवता । १,२ अनुष्टुभौ । ३ पथ्या बृहती । तृचं सूक्तम् ॥

इदमिद् वा उं भेषजमिदं रुद्रस्य भेषजम् ।
येनेषुमेकतेजनां शतशल्यामपब्रवत् ॥ १ ॥

भा०—(इदम् इत्) यह ही (वा उ) निश्चय से वह (भेषजम्) ओषधि है, (इदम्) यह (रुद्रस्य भेषजम्) रुद्र=वैद्य की उपदेश की हुई औषध है (येन) जिससे (एक-तेजनम् इषुम्) एक काण्डवाले और (शत-शल्याम्) सैकड़ों फलेवाले (इषुम्) वाण को भी (अप ब्रवत्) बाहर खैंच लिया जाता है ।

अध्यात्म में रुद्र=परमात्मा का उपदिष्ट ब्रह्मज्ञान ही इस भव रोग की एकमात्र औषध है जिससे एकतेजना—एक काण्डवाले और शतशल्य तीर को दूर किया जा सकता है । यह देह या जीवन ही एक काण्डवाला वाण है । जिसमें सैकड़ों व्याधियां ही शतशल्य हैं अथवा जीवन के सौ वर्ष ही शतशल्य हैं । उस जन्म या भवरोग की ओषधि भगवान् का उपदिष्ट ब्रह्मज्ञान ही ओषधि है ।

---

[५७] १-(च०) 'उपब्रवत्' इति सायणाभिमतः ।

जालापेणाभि षिञ्चत जालापेणोप सिञ्चत ।
जालाषमुग्रं भेषजं तेन नो मृड जीवसे ॥ २ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! (जालापेण) जल से (अभि सिञ्चत) स्नान कराओ (जालापेण उपसिञ्चत) जल से ही व्रण आदि को धोओ । (जलाषम्) जल ही (उग्र-भेषजम्) तीव्र रोगनाशक पदार्थ है । हे परमात्मन् ! (तेन) उस जल के द्वारा ही (जीवसे) सुखमय जीवन के लिये (नः) हमें (मृड) सुखी कर । अध्यात्म में—'ज-लाप' प्राणियों का एकमात्र अभिलाषा का विषय=परम ब्रह्मसुख ।

शं च नो मयश्च नो मा च नः किं चनाममत् ।
क्षमा रपो विश्वं नो अस्तु भेषजं सर्वं नो अस्तु भेषजम् ॥३॥

ऋ० १० । ५९ । ८ । प० च० (एपं० पं०) १० पं० पं० ॥

भा०—(नः शं च) हमें शान्ति प्राप्त हो और (मयः च) सुख प्राप्त हो । (नः) हमारा (किं चन) कोई भी अंग (मा आममत्) रोग पीड़ित न हो । (रपः) पाप और पाप का फल दुःख, सब को हम (क्षमा) सहन करने और उसको वश करने में समर्थ हों । (नः) हमारे (विश्वम्) समस्त पदार्थ (भेषजम् अस्तु) दुःखनिवारक हों । (सर्वं नः भेषजम् अस्तु) हमारे सब पदार्थ रोगनाशक हों । अथवा विश्वं=विश्वमय और (सर्वं) सर्वमय (शर्व) परमात्मा सब भव रोगों को शान्त करे ।



२–(तृ० च०) 'जालाशे भद्रं भेषजं तस्यो नो धेहि जीवसे' इति पैप्प० सं० ।

३–(द्वि०) 'मो षु ते' । द्यौः पृथिवी क्षमा रपा' इति ऋ० ।

[५८] यश की प्रार्थना ।

यशस्कामोऽथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ता देवता बृहस्पतिश्च । १ जगती । २ प्रस्तार-पंक्तिः । ३ अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

यशसं मेन्द्रो मघवान् कृणोतु यशसं द्यावापृथिवी उभे इमे ।
यशसं मा देवः सविता कृणोतु प्रियो दातुर्दक्षिणाया इह स्याम् ॥१॥

भा०—(इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान्, परमेश्वर (मघवान्) सब विभूतियों का स्वामी है, वह (मा) मुझे (यशसं कृणोतु) यशस्वी बनावे। (उभे द्यावापृथिवी) दोनों सूर्य और पृथिवी, ज़मीन और आस्मान (मा यशसं कृणोतु) मुझे यशस्वी बनावें। (देवः सविता) सब का प्रेरक सूर्य देव भी (मा यशसं कृणोतु) मुझे यक्षस्वी बनावे। और (अहम्) मैं (दक्षिणायाः) दक्षिणा के (दातुः) देनेवाले पुरुष का (प्रियः स्याम) प्रिय होकर रहूँ।

यथेन्द्रो द्यावापृथिव्योर्यशस्वान् यथाप ओषधीषु यशस्वतीः ।
एवा विश्वेषु देवेषु वयं सर्वेषु यशसः स्याम ॥ २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (इन्द्रः) परमेश्वर (द्यावापृथिव्योः) आकाश और पृथिवी के बीच (यशस्वान्) सर्व शक्तिमान है और (यथा) जिस प्रकार (आपः ओषधीषु) जल सब ओषधियों में (यशस्वतीः) बल-शालिनी

(प्र०) 'मे इन्द्रो मघवा'। (द्वि०) यशसं समा वरुणो वायुरग्निः। 'दक्षिणाया स्यामहम्'। (च०) 'धातु' इति सायणाभिमतः। इति पैप्प० सं०।

२-(तृ० च०) 'यथा विश्वेषु देवेषु एवं देवेषु यशसः स्याम' इति पैप्प० सं०।

हैं। (एवा) इसी प्रकार (विश्वेषु देवेषु) समस्त विद्वानों में और (सर्वेषु) सब जीवों में (वयं) हम (यशसः) यशस्वी और बलवान् (स्याम) हों।

यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत।
यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः ॥ ३ ॥

अथर्व० ६ । ३९ । ३ ॥

भा०—देखो [का० ६ । सू० ३९ । मं० ३ ।]



[५९] गृह-पत्नी के कर्त्तव्य और पशुरक्षा और गोपालन।

अथर्वा ऋषिः । रुद्र उत मन्त्रोक्ता देवता । अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ।

अनुडुद्भ्यस्त्वं प्रथमं धेनुभ्यस्त्वमरुन्धति।
अधेनवे वयसे शर्म यच्छ चतुष्पदे ॥ १ ॥

भा०—हे (अरुन्धति) अरुन्धति ! अरोधनशीले ! सब को मुक्त करनेहारी, सुखकारिणी गृहपत्नि ! (प्रथमम्) पहले (त्वं) तू (अनडुद्भ्यः) बैलों (धेनुभ्यः) गायों और (अधेनवे वयसे) गाय के अतिरिक्त पांच बरसतक के बड़े बछड़ों और (चतुष्पदे) और चौपायों के लिये (शर्म यच्छ) सुख या सुखदायी रहने का घर या शाला बना दे। और उनको पृथक् २ शालाओं में रख। बैलों, गौओं, बड़े बछड़ों और अन्य पशुओं की अलग २ शालाएं बनायें। छोटे बछड़े तो माता के साथ रह सकते हैं।

---

[५९] १–(प्र०) '-भ्यो नः', इति पैप्प० सं०।

शर्म॑ यच्छत्वोष॑धिः स॒ह दे॒वीर॑रुन्ध॒ती ।
कर॑त् पय॑स्वन्तं गो॒ष्ठम॑य॒क्ष्माँ उ॒त पूरु॑षान् ॥ २ ॥

भा०—(अरुन्धती) घर की स्वामिनी (देवीः सह) और घर की सहेली स्त्रियों के साथ मिल कर (ओषधिः) ओषधि=अन्न आदि जड़ी बूटियों के प्रयोग से (शर्म यच्छतु) सब को सुख प्रदान करे। और पशुओं को भी हरा चारा दे। और (गोष्ठम्) गोशाला को (पयस्वन्तं करत्) पुष्टिकारक दूध और जल से सम्पन्न करे। (उत) और सब पदार्थ स्वच्छ रखे जिससे (पूरुषान्) घर के और पुरुषों को भी (अयक्ष्मान् करत्) राजयक्ष्मा से रहित नीरोग करे। अर्थात् घर की स्त्री ही घर के पशुओं और मनुष्यों, बालकों के लिये भोजन आच्छादन और ओषधि आदि का उपचार करे।

वि॒श्वरू॑पां सु॒भगा॑म॒च्छाव॑दामि जीव॒लाम् ।
सा नो॑ रु॒द्रस्या॒स्तां हे॒तिं दू॒रं न॑यतु॒ गोभ्यः॑ ॥ ३ ॥

भा०—हम (विश्व-रूपाम्) नाना प्रकार से समस्त पदार्थों को उत्तम रूप से बनानेवाली वा उनको निरीक्षण करनेवाली (जीवलाम्) सब को जीवन प्रदान करनेवाली (सुभगाम्) सौभाग्यशील, ऐश्वर्यवाली स्त्री को हम लोग (अच्छा वदामसि) बड़ा उत्तम कहते हैं। (सा) वह आनेवाले (रुद्रस्य हेतिम्) रुलानेवाले, रोग आदि कष्टदायक और हिंसक पदार्थों के (हेतिं) शस्त्र, आघातकारी आयुध को (नः (गोभ्यः) हमारी गौओं से (दूरं नयतु) दूर करे।



२–'सहदेवी' इति ह्विटनिकामितः ।

[६०] कन्यादान और स्वयंवर ।

अथर्वा ऋषिः । अर्यमा देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

अयमायात्यर्यमा पुरस्ताद् विषितस्तुपः ।
अस्या इच्छन्नग्रुवै पतिमुत जायामजानये ॥ १ ॥

भा०—(अयम्) यह (अर्यमा) कन्या का दान करनेवाला पुरुष (पुरस्तात्) अपने समक्ष (विपित-स्तुपः) नाना स्तुति योग्य गुणों को प्रकट करता हुआ (अस्यै) इस अपनी (अग्रुवै) कन्या के लिये (पतिम् इच्छन्) पति के प्राप्त करने की इच्छा करता हुआ (उत) और (अजानये) विना पत्नी के पुरुष के लिये योग्य (जायाम्) पुत्रोत्पादक भार्या को प्राप्त कराने की इच्छा करता हुआ (आयाति) आता है ।

इस सूक्त में—'अर्यमा इति तम् आहुर्यो ददाति। तै० १ । १। २ । ४ ॥ दाता या कन्या का प्रदाता पुरुष अर्यमा कहाता है ।

अश्रमदियमर्यमन्नन्यासां समनं यती ।
अङ्गो न्वर्यमन्नस्या अन्याः समनमायति ॥ २ ॥

भा०—हे (अर्यमन्) हे कन्या के दान करने हारे ! उसके पिता भ्राता आदि पुरुष ! (इयम्) यह कन्या (अन्यासां) अन्य अपनी सखी, बहनों आदि के (समनं) सम्मान को (यती) प्राप्त करती हुई (अश्रमत्) विद्या आदि के अभ्यास और ब्रह्मचर्य व्रतपालन में श्रम करती रही है । (अङ्ग उ) हे (अर्यमन्) अर्यमन् ! कन्यादातः ! (अन्याः) और

[६०] –१(द्वि०) 'विषितस्तुपः (=विषतस्तुकः) इति पैप्प० सं० । 'तस्तुपः' इति क्वचित् । (तृ०) 'सर्वेच्छायद् (=सर्वेच्छेद्) इति पैप्प० सं० ।
२–'शमन'-इति सायणाभिमतः पाठः । ('तृ०)–'न्वस्यार्यमन्' इति पैप्प० सं० ।

अन्य सखियां भी (अस्याः) इसके (समनम्) संमान को (आयति) प्राप्त होती हैं ।

अथवा—(इयम् अन्यासं । समनं यती अभ्रमत्) यह अन्यों के समन=पति संगमन, पति मिलाप के अवसर पर जाती रहीं और अब (अन्याः अस्याः समनम् आयति) और सखियां इसके पति-लाभ के अवसर पर आवें ।

समनं, संमननात् सम्माननाद्वा । (निरु० अ० ७ । ४ । ३ ॥)

धाता दाधार पृथिवीं धाता द्यामुत सूर्यम् ।
धातास्या अग्रुवे पतिं दधातु प्रतिकाम्य/म् ॥ ३ ॥

भा०—(धाता) धारण, पालन करने वाला या उत्पादक परमेश्वर जिस प्रकार (पृथिवीम्) पृथिवी को धारण करता है और (उत धाता) और धाता ही (द्याम् सूर्यम्) प्रकाशमान सूर्य को भी धारण करता है । इसी प्रकार (धाता) परिपालक, संरक्षक पिता (अस्यै अग्रुवै) इस स्वयंवरा कन्या के लिये (प्रति-काम्यम्) इसके प्रति अभिलाषा करनेवाले, इसके प्रिय (पतिम्) पति को (दधातु) प्रदान करे ।



[६१] ईश्वर का स्वतः विभूति-परिदर्शन ।

अथर्वा ऋषिः । रुद्रोदेवता । त्रिष्टुभः, २-३ भुरिजौ । तृचं सूक्तम् ॥

मह्यमापो मधुमदेरयन्तां मह्यं सूरो अभरज्ज्योतिषे कम् ।
मह्यं देवा उत विश्वे तपोजा मह्यं देवः सविता व्यचो धात् ॥१॥

३–(तृ०) 'धातास्याग्रुवै पतिं ददातु' इति पैप्प० सं० ।

[६१] १–'मह्यं सूर्योऽभरत् ज्योतिषा गाम्' (तृ०) 'मां देवा अनु विश्वे समोता' (च०) 'व्यचो धात्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(आपः) सब लोक या समस्त प्रजाएं या जल (मह्यम्) मेरे निमित्त (मधुमत्) मधुरता-अमृत युक्त रस को (आ-ईरयन्तां) प्राप्त करावें अथवा (आपः) आप्त पुरुष मेरे निमित्त (मधुमत्) ब्रह्ममय ज्ञान का उपदेश करें। और (सूरः) सबका उत्पादक, प्रेरक सूर्य या परमात्मा और विद्वान् (मह्यम्) मेरे निमित्त (ज्योतिषे) सर्व पदार्थों के प्रकाशित करने के लिये अपनी ज्योति को (अभरत् कम्) निश्चय से धारण करें। (उत) और (विश्वे) समस्त (तपोजाः) तप से उत्पन्न होने वाले तपस्वी, (देवाः) विद्वान् पुरुष और (सविता) सूर्य के समान (देवः) विद्वान् आचार्य (मह्यं) मुझे (व्यचः) सर्वव्यापक, ब्रह्मज्ञान का या विशेष ज्ञातव्य ज्ञान का (धात्) प्रदान करें या धारण करावें।

अहं विवेच पृथिवीमुत द्यामहमृतूँरजनयं सप्त साकम्।
अहं सत्यमनृतं यद् वदाम्यहं दैवीं परि वाचं विशश्च ॥ २ ॥

भा०—(अहम्) मैं ही (पृथिवीम्) इस विशाल पृथिवी को (उत द्याम्) और द्यौलोक को (विवेच) पृथक् २ थामें रखता हूं। और (अहम्) मैं (साकम्) एक साथ ही (सप्त) सात (ऋतून्) गतिशील प्राणों को (अजनयम्) अपने सामर्थ्य से इस शरीर में उत्पन्न करता हूं। (सत्यम् अनृतं यत्) सत्य क्या है और असत्य क्या है, यह जो कुछ भी है उसको (अहं वदामि) मैं ही ठीक २ बतलाता हूँ। और (दैवीम्) ज्ञानमयी, विद्वानों की (वाचं) वाणी को (परि विशः) प्रजा के भीतर भी (अहं) मैं ही बतलाता हूं, उपदेश करता हूं। अर्थात् यह सब परमात्मा ही करता है। वही इन सब सामर्थ्यों का धारक है।

२–(प्र०) 'अहं दाधार' इति पैप्प० सं०। 'अहमस्तम्भाम्' इति का० सं०। (द्वि०)'अहं सिन्धून् ससृजे' इति पैप्प० सं०। (तृ० च०) 'अहं वाचं परि सर्वां बभूव य इन्द्राग्नी असनं सखायौ' इति काठ०।

अहं जंजान पृथिवीमुत द्यामहमृतूँरजनयं सप्त सिन्धून् ।
अहं सत्यमनृतं यद् वदामि यो अग्नीषोमावजुषे सखाया ॥ ३ ॥

भा०—(अहं) मैं ईश्वर ही (पृथिवीम्) पृथिवी को (जजान) प्रकट करता हूं, उत्पन्न करता हूं। (उत) और (द्याम्) द्यौःलोक को भी (जजान) प्रकट करता हूं। (अहं) मैं ही (ऋतून्) गतिशील (सप्त सिन्धून्) सात प्राण, प्रवाहों को भी (अजनयम्) प्रकट करता हूँ, उत्पन्न करता हूं।[1] और (सत्यम् यद्) सत्य, परमार्थ सत् क्या है ? और (अनृतम्) व्यवहार में असत् एवं विनश्वर, अध्रुव ध्वंसयोग्य असत्य क्या है यह सब भी ठीक २ (अहं वदामि) मैं ही उपदेश करता हूं। और (सखायौ) समानख्यान, समान रूप से ख=इन्द्रियों में अय=गति करने वाले (अग्निषोमौ) अग्नि और सोम, सूर्य और चन्द्र, प्राण और अपान इन दोनों को मैं आत्मा ही (अजुषे) सेवन करता हूं। इस सूक्त की गीता के 'विभूति-योग' नाम अध्याय से तुलना करनी चाहिये।

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तानि दश, ऋचश्च त्रिंशत्]



[६२] आभ्यन्तर शुद्धि का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । रुद्र उत मन्त्रोक्ता देवता । त्रिष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

वैश्वानरो रश्मिभिर्नः पुनातु वातः प्राणेनेपिरो नभोभिः ।
द्यावापृथिवी पयसा पयस्वती ऋतावरी यज्ञिये नः पुनीताम् ॥१॥

३–(द्वि०) 'अहं वाचस्पतिः सर्वाभि षिञ्च अह विनाज्म पृथिवामुत द्यां अह ऋतून् सृजे सप्त साकम् । अह वाचं परि सर्वा बभूव यांऽग्निषोमा विदुषे सखायुः । इति पैप्प० सं० ।

[६२] १–'रश्मिभिर्मा' इति तै० ब्रा० ।

भा०—(वैश्वानरः) वैश्वानर, सूर्य और अग्नि (रश्मिभिः) अपनी किरणों से (नः) हमें (पुनातु) पवित्र करे। और (वातः प्राणेन) वात, वायु या प्राण क्रिया द्वारा हमारे शरीर को पवित्र करे। और (इषिरः) सबका प्रेरक वायु अपने (नभोभिः) अन्तरिक्ष प्रदेशस्थ वायुगत मेघों द्वारा हमें पवित्र करे। और (ऋतावरीः) जल से पूर्ण (पयस्वतीः) पुष्टिकारक रससे पूर्ण (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, आस्मान और ज़मीन दोनों (यज्ञिये) यज्ञ=दान क्रिया में या परस्पर संगत होकर उपकार करने में समर्थ होकर (नः) हमें (पुनीताम्) पवित्र करें।

वैश्वानरीं सूनृतामा रभध्वं यस्या आशास्तन्वो/ वीतपृष्ठाः।
तया गृणन्तः सधमादेषु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ २ ॥

यजु० १६ । ४४ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो! (वैश्वानरीम्) उस ईश्वर विषयक (सूनृताम्) शुभ सत्यमयी वाणी देवी को (आरभध्वम्) प्रारम्भ करो उसका नित्य अभ्यास करो (यस्याः) जिसकी (वीतपृष्ठाः) प्रकाशमय पृष्ठवाली (आशाः) दिशाएं, (तन्वः) उसके शरीर हैं अर्थात् जिनका ज्ञान सर्वत्र व्यापक है। (तया) उस वेदवाणी से ही (सधमादेषु) एकत्र आनन्द प्राप्त करने के अवसरों में (गृणन्तः) उपदेश करते हुए ही (वयं) हम लोग (रयीणाम्) सर्व सम्पत्तियों के (पतयः) स्वामी (स्याम) हों।

२–(प्र०, द्वि०) 'वैश्वदेवी पुनती देव्यागाद् यस्यामिमा बह्व्यः स्तन्वो वीतपृष्ठाः तया मदन्तः सधमादेषु' इति यजु०। (द्वि०) 'यस्य', 'इमावह्वयस्तन्वो वीत–' इति-तै० ब्रा०। (तृ०) 'मदन्तः' इति तै० सं०। (प्र०) 'वैश्वदेव्यम्' (द्वि०) 'शुन्धा भवन्त शुचयः पावकाः',–'न्त ससद आदयेम' [?] इति पैप्प० सं०।

वैश्वानरीं वर्चस आ रभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः ।
इहेडया सधमादं मदन्तो ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तम् ॥ ३ ॥

अथर्व० १२ । २ । २८ प्र० द्वि ॥

भा०—(वैश्वानरीं) उस परमात्मा सम्बन्धी वेदवाणी को हे विद्वान् पुरुषो! (शुचयः) मन और शरीर से शुचि=पवित्र होकर (पावकाः) और भी को पवित्र करने में समर्थ होकर (शुद्धा भवन्तः) और शुद्ध होकर (वर्चसे आ रभध्वम्) बल वीर्य प्राप्त करने के लिये अभ्यास किया करो। और (इह) इस संसार में (इडया) अन्न से (सध-मादं मदन्तः) एक ही साथ हर्ष उत्सव का आनन्द लेते हुए हम सब (ज्योक्) चिरकाल तक (उत्-चरन्तम्) ऊपर उठते हुए (सूर्यम्) सूर्य को (पश्येम) देखते रहें। शुद्ध पवित्र होकर वेद का अभ्यास करें परस्पर मिलकर अन्न का भोग करें। और दीर्घजीवन वितावें।



[६३] अविद्या-पाश का छेदन ।

द्रुहण ऋषिः । निर्ऋतिर्देवता । अग्निः । १ अतिजगतीगर्भा, ४ अनुष्टुप्, २-३ जगत्यौ । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

यत् ते देवी निर्ऋतिराबबन्ध दाम ग्रीवास्वविमोक्यं यत् ।
तत् ते वि ष्याम्यायुषे वर्चसे बलायादोमदमन्नमद्धि प्रसूतः ॥१॥

यजु० १२ । ६५ ॥

३—'वैश्वदेवीं सूनृतामारभध्वम्' इति यास्क दुर्गा०। (प्र०) 'वैश्वानर्यै'—'वर्चसारभध्वं' (तृ०) 'हेडसध' इति पैप्प० सं० ।

[६३] १—(द्वि०) 'अविचृत्यम्' (च०) 'अनमीवं पितुमद्धि प्रसूतः' इति पैप्प० सं० । (प्र० द्वि०) 'य......पाशं' (द्वि०) 'अविचर्त्यं' (तृ०) 'तं ते', 'आयुषो न मध्यात्—' (च०) 'अथैतं पितुमद्धि प्रसूतः' इति यजु० । '—षो नोमध्ये' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे पापी पुरुष ! (ने निर्ऋतिः) निरुद्ध-ऋति अर्थात् सत्यगति या ज्ञानमय आचरण से शून्य, अविद्याने (देवी) तुझे लुभानेवाली होकर (यत् दाम) जिस बन्धन को (ते) तेरी (ग्रीवासु) गर्दनों में (आ बबन्ध) बांध रखा है और (यत्) जो (अ-विमोक्यं) सहज में नहीं छूटता। उसको भी मैं (ते) तेरी (आयुषे) आयु (वर्चसे) तेज और (बलाय) बल वृद्धि के लिये (वि स्यामि) काटकर दूर करता हूं। तू इस प्रकार (प्रसूतः) उत्कृष्ट मार्ग में प्रेरित होकर अथवा उत्कृष्ट विद्यायोनि से उत्पन्न होकर (अदो-मदम्) अमुक-परलोक में हर्ष सुखदायक (अन्नम्) इस ज्ञानमय अन्न, परम सुख का (अद्धि) उपभोग कर।

सायण ने—'अदः । मदम् ।' इस प्रकार छेद किया सो असंगत है। अविद्या के पाशों को काटने के लिये गुरु के पास व्रती होकर विद्याभ्यास करे और ब्रह्म का ज्ञान करे।

नमो॑ऽस्तु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽय॒स्मया॒न् वि चृ॑ता ब॒न्धपा॒शान्।
य॒मो मह्यं॒ पुन॒रित् त्वां द॑दाति॒ तस्मै॑ य॒माय॒ नमो॑ अस्तु मृ॒त्यवे॑॥२॥

(प्र० द्वि०) यजु० १२ । ६३ प्र० द्वि० ॥

भा०—हे (निर्ऋते) सत्य विद्या से विपरीत अविद्ये ! (ते नमः अस्तु) तुझे दूर से नमस्कार है। अथवा तेरा नमः—वशीकार किया जायगा। हम तुझे वश करेंगे। किस प्रकार ? हे (तिग्मतेजः) तीक्ष्ण तेज वाले सूर्य समान परमात्मन् ! (अयस्मयान्) लोहे के बने या आवागमन से बने इन (बन्ध-पाशान्) बन्ध के पाशों को (वि चृत) काट डाल। हे निर्ऋते ! अविद्ये ! (यमः) वह सर्वनियन्ता परमात्मा (त्वां) तुझको

२—(प्र०) 'नमःसु' इति यजु० । 'निर्ऋते विश्वरूपे' इति तै० सं० । 'विश्ववारे' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'अयस्मयं विचृता बन्धमेतम्' इति यजु० । 'यान् प्र मुमुग्धि पाशान्' इति पैप्प० सं० ।

पुनः इत्) फिर भी (मह्यं) मेरे लिये (ददाति) प्रदान करता है अर्थात् तुझे ईश्वर ने मेरे अधीन कर रक्खा है। अर्थात् जब चाहूं तुझमें फसूं, और जब चाहूं न फसूं। तो भी (तस्मै) उस (मृत्यवे) देहबन्धन से मुक्त करने वाले (यमाय) सर्व नियामक परमेश्वर के लिये (नमः) हम नमस्कार करते हैं।

अ॒य॒स्मये॑ द्रु॒प॒दे बे॑धिष इ॒हाभिहि॑तो मृ॒त्युभि॒र्ये स॒हस्र॑म् ।
य॒मेन॒ त्वं पि॒तृभिः॑ संविदा॒न उ॑त्त॒मं नाक॒मधि॑ रोहये॒मम् ॥ ३ ॥

यजु० २ । ६३ तृ० च० ॥

भा०—हे अविद्ये ! बन्धकारिणि ! जब तू (अयस्मये) आवागमनस्वरूप लोहमय (द्रु-पदे) विनाशशील शरीर द्वारा प्राप्य इस वृक्ष के खूंटे के समान कठोर देह के साथ जीवको (बेधिषे) बांध लेती है तब (इह) इस लोक में वह जीव (मृत्युभिः) नाना प्रकार के शरीरनाशक ज्वर आदि कारणों से (ये सहस्रम्) जो सैकड़ों संख्या में हैं (अभि-हितः) बँध जाता है। हे पुरुष ! (त्वं) तू (पितृभिः) अपने परिपालक आचार्य आदि गुरुओं और (यमेन) उस अन्तर्यामी परमात्मा से (सं-विदानः) उत्तम रीति से ज्ञान लाभ करता हुआ (उत्तमम्) उत्कृष्ट (इमम्) उस (नाकम्) सुखमय परम ब्रह्मलोक को (अधि रोहय) प्राप्त हो। सायण ने (संविदाना) पाठ मानकर उत्तरार्ध को भी 'निर्ऋति' के पक्ष में लगाया है। पापमय देवता कभी उत्तम लोक को नहीं पहुंचा सकती, इसलिये सायणकृत योजना असंगत है।

३—'पितृभिः संविदाना' इति सायणाभिमतः। 'यमेन त्वं यम्या संविदानोत्तमे', 'नाके अधिरोहयेनम्' इति यजु०। 'उत्तमे नाके...... येमम्' इति तै० सं०। 'त्तमे नाके' इति पैप्प० सं०।

सं समिद् युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ ।
इडस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ॥ ४ ॥

ऋ० १० । १९१ । १ ॥ यजु० १५ । ३० ॥

भा०—हे (वृषन्) सब सुखों के वर्षक ! हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप ! आप (अर्यः) सबके प्रेरक हैं । आप (आ) सब तरफ (विश्वानि) सब पदार्थों को (सं सं युवसे इत्) चला रहे हैं और (इडस्पदे) इला= अन्न के आश्रयभूत भूतल पर, अथवा इडा=श्रद्धा के पद, आश्रयस्थान हृदय में अथवा इडा=चेतना मनन शक्ति के पद, आश्रय, आत्मा में (समिध्यसे) प्रकाशित होते हो (सः) वह आप (नः) हमें (वसूनि) नाना जीवनोपयोगी धनों को (आ भर) प्राप्त कराओ ।

'इडस्पदे'—इडा श० ११ । २ । ७ । २० ॥ इडावै मानवी यज्ञानु-काशिनी आसीत् । तै० १ । १ । ४।४॥ सा वै इडा पञ्चावत्ता भवति श० १ । ८ । १ । १२ ॥ (१) श्रद्धा इडा है । (२) मनु=मननशील के यज्ञ आत्मा या देह में अनुप्रकाश करने वाली चितिशक्ति इडा है । वह इडा पांच विभाग में बांटी जाती है । यही पांच भाग पांच चैतन्य ज्ञानेन्द्रिय हैं । उस इडा का पद आश्रय, आवास आत्मा है । राजा के पक्ष में इडा पृथिवी और अग्नि राजा है ।



[६४] एकचित्त होने का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । सांमनस्यं देवता । १, २ अनुष्टुभौ । ३ त्रिष्टुप् ।
तृचं सूक्तम् ॥

४–ऋग्वेदेऽस्याः संवनन ऋषिः । अग्निर्देवता ।

सं जानीध्वं सं पृच्यध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वं संजानाना उपासते ॥ १ ॥

ऋ० १० । १६१ । २ ॥

भा०—हे पुरुषो ! (यथा) जिस प्रकार (पूर्वे) पूर्व के विद्यमान (देवाः) विद्वान् लोग (संजानानाः) समान रूपसे एकत्र होकर ज्ञान प्राप्त करते हुए (भागं) अपने भजन करने योग्य, फल को (उपासते) प्राप्त करते हैं । उसी प्रकार (सं जानीध्वम्) आप लोग एकत्र होकर समान रूप से सब ज्ञान प्राप्त करो । (सं पृच्यध्वम्) आप सब एकत्र होकर, एक दूसरे से सम्पर्क रक्खो । (वः) आप लोगों के (मनांसि) मन, चित्त (सं जानताम्) प्रत्येक पदार्थ को समान रूप से ही जानें ।

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं व्रतं सह चित्तमेषाम् ।
समानेन वो हविषा जुहोमि समानं चेतो अभि सं विशध्वम् ॥२॥

ऋ० १० । १६१ । ३ ॥

भा०—(एषाम्) इन समस्त लोगों का (मन्त्रः समानः) मन्त्र-मनन भी समान हो, (समितिः समानी) एकत्र होकर बैठने की सभा भी समान, एक ही हो, (समानं व्रतम्) व्रत आचार कर्त्तव्य भी समान= एक ही हो और (चित्तं सह) सबका चित्त भी एक साथ ही हो । हे

---

[६४] १–(प्र०) 'संगच्छध्वं संवदध्वं' इति ऋ० । ऋग्वेदे संवनन ऋषिः । संज्ञानं देवता । (च०) 'उपासते' इति तै० ब्रा० ।

२–(द्वि०) 'समानं मनः' (च०) 'समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः । इति ऋ० । समानः क्रतुमभिमन्त्रयध्वम्' इति मै० सं० । (द्वि०) 'समानं चित्तं सह वो मनांसि' इति पैप्प० सं० । (तृ०) संज्ञानेन वो हविषा यजामः' (च०) 'केतोऽसि संरभध्वं' इति तै० ब्रा० ।

लोगो ! (वः) तुम सबको (समानेन हविषा) मैं समान प्रकार के एक ही हवि=मार्ग से (जुहोमि) प्रेरित करता हूं। आप लोग (समानं चेतः) एक चित्त होकर (अभि संविशध्वम्) नगर में निवास करो।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ ३ ॥
ऋ० १० । १९१ । ४ ॥

भा०—हे पुरुषो ! (वः) आप लोगों की (आकूतिम्) संकल्प, कामना भी (समानी) एक समान हो। और (वः) आप लोगों के (हृदयानि) हृदय भी (समा) समान हों। (वः मनः) आप लोगों के मन (समानम्) समान (अस्तु) हों। (यथा) जिससे (वः) आप लोगों के सब कार्य (सह) एक साथ मिलकर (सु असति) उत्तम रूपसे हुआ करें।



[६५] विजयी, दमनकारी राजा का शत्रुओं को निःशस्त्रीकरण।

अथर्वा ऋषिः। चन्द्र उत इन्द्रः पराशरो देवता। १ पथ्यापंक्तिः, २-३ अनुष्टुभौ। तृचं सूक्तम् ॥

अव मन्युरवायताव बाहू मनोयुजा ।
पराशर त्वं तेषां पराञ्चं शुष्ममर्दयाधा नो रयिमा कृधि ॥ १ ॥

भा०—हे राजन् ! (मन्युः) तेरा क्रोध (अव) नीचे अर्थात् शान्त रहे (आयता) उठे हुए शस्त्र भी (अव) नीचे होजायं। (मनो-युजा बाहू) मनके संकल्प के साथ उठने वाली बाहुएं भी (अव) नीचे

३–'समाना व आकूतानि' इति मै० सं०।
[६५] १–(प्र०) 'अर्वाञ्चं रयिम्' इति पैप्प०सं०। 'अथा' इति सायणाभिमतः।

ही रहें। तिस पर भी हे (पराशर) दूर के शत्रुओं के नाशक इन्द्र ! (त्वं) तू (तेषां) शत्रुओं के (पराञ्चं) दूर से दूर वर्त्तमान (शुष्मम्) बल या सेना विभाग को (अर्दय) विनाश कर। (अध) और (नः) हमें (रयिम्) धन (आ कृधि) प्राप्त करा।

अथवा शत्रुओं को क्रोध, उद्यत शस्त्र और बाहुएं नीची हों और हे इन्द्र ! तू उनके दूरके सेनादल को भी पीड़ित कर, हमें धन प्राप्त करा।

निर्हस्तेभ्यो नैर्हस्तं यं देवाः शरुमस्यथ।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम् ॥ २ ॥

भा०—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! शासक पुरुषो ! (निर्हस्तेभ्यः) हस्त=हनन साधन या सामर्थ्य से रहित पुरुषों के लिये (नैर्हस्तं) सदा निहत्थापन रूप (यं शरुम्) जिस शस्त्र को आप (अस्यथ) फेंकते हो-प्रयोग करते हो। (अनेन हविषा) उसी उपाय से (अहम्) मैं देश-विजयी राजा (शत्रूणां बाहून्) शत्रुओं के बाहुओं को=बाधाकारी उपायों को भी (वृश्चामि) काटता हूं निर्मूल करता हूं। अर्थात् निर्बल प्रजाओं को सदा निर्बल बनाये रखने के लिये विद्वान् लोग जिस निःशस्त्रीकरण उपाय का प्रयोग करते हैं राजा उसी उपाय का प्रयोग अपने शत्रु को निर्बल करने का भी करे अर्थात् उनको निःशस्त्र ही करदे।

इन्द्रश्चकार प्रथमं नैर्हस्तमसुरेभ्यः।
जयन्तु सत्वानो मम स्थिरेणेन्द्रेण मेदिना ॥ ३ ॥

भा०—(इन्द्रः) इन्द्र राजा (प्रथमं) सबसे पहले (असुरेभ्यः) असुरों, निर्दय बलवान, शत्रुओं पर (नैर्हस्तम्) निहत्थापन के उपाय को (चकार) करो। तब (मम) मेरे (सत्वानः) वीर्यवान् भट (स्थिरेण) स्थायी (मेदिना) बलशाली (इन्द्रेण) सेनापति राजा के साथ (जयन्तु) विजय करें।

[६६] शत्रुओं का निःशस्त्रीकरण ।

अथर्वा ऋषिः । चन्द्र उत इन्द्रो देवता । १ त्रिष्टुप् । २—३ अनुष्टुप् ।
तृचं सूक्तम् ॥

निर्हस्तः शत्रुरभिदासन्नस्तु ये सेनाभिर्युधमायन्त्यस्मान् ।
समर्पयेन्द्र महता वधेन द्रात्वेषामघहारो विविद्धः ॥ १ ॥

भा०—(अभिदासन्) हमें विनाश करने वाला (शत्रुः) शत्रु (निर्हस्तः अस्तु) निहत्था होकर रहे । और (ये) जो (अस्मान्) हम पर (सेनाभिः) सेनाओं सहित (युधम् आयन्ति) युद्ध करने के लिये चढ़ आते हैं उनको हे इन्द्र ! सेनापते ! तू (महता वधेन) बड़े भारी शक्तिशाली हथियार से (समर्पय) उन पर प्रहार कर । जिससे (एषां) उनमें से (अघ-हारः) सबसे प्रबल आघातकारी पुरुष (वि-विद्धः) नाना प्रकार से पीड़ित होकर (द्रातु) भाग जाय ।

आतन्वाना आयच्छन्तोस्यन्तो ये च धावथ ।
निर्हस्ताः शत्रवः स्थनेन्द्रो वोद्य पराशरीत् ॥ २ ॥

भा०—निःशस्त्र किनको किया जाय । (ये) जो शत्रुगण (आ-तन्वानाः) धनुष पर चिल्ला चढ़ाते हैं, (आ-यच्छन्तः) उनको खैंचते हैं । और (अस्यन्तः) बाण फेंकते हैं और (ये च) जो (धावथ) वेग से आक्रमण करते हैं । ऐसे हे (शत्रवः) शत्रु लोगो ! तुम ही (निर्हस्ताः) निहत्थे (स्थन) होकर रहो । नहीं तो (इन्द्रः) हमारा सेनापति राजा (वः) तुमको (अद्य) आज (पराशरीत्) मार डालेगा । आक्रमणकारी, मारने की चेष्टा करने वालों को निहत्था कर दें । नहीं तो सेनापति उनका वध कर दे ।

[६६] २—'पराशरैत्' इति क्वचित् ।

निर्हस्ताः सन्तु शत्रवोऽङ्गैषां म्लापयामसि ।
अथैषामिन्द्र वेदांसि शतशो वि भंजामहै ॥ ३ ॥

भा०—(शत्रवः) शत्रु लोग (निर्हस्ताः सन्तु निहत्थे होकर रहें और हम (एषां अङ्गा) उनके अङ्गों को (म्लापयामसि) लुंजा पुंजा करदें और हे इन्द्र ! (एषां) इनके (वेदांसि) धनों को हम (शतशः) सैकड़ों प्रकार से (विभजामहै) आपस में बांट लिया करें ।



[६७] शत्रु विजय ।

अथर्वा ऋषिः । चन्द्र उत इन्द्रो देवता । अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

परि वर्त्मानि सर्वत इन्द्रः पूषा च सस्रतुः ।
मुह्यन्त्वद्यामूः सेना अमित्राणां परस्तराम् ॥ १ ॥

भा०—(इन्द्रः) इन्द्र, मुख्य सेनापति और (पूषा च) पुष्टि-कारक अन्न आदि सामग्री का प्राप्त कराने वाला अथवा सहायक सेनापति (सर्वतः) सब प्रकार के (वर्त्मानि) मार्गों में (परि सस्रतुः) प्रयाण करें । जिससे (अमूः) वे (अमित्राणां) शत्रुओं की (सेनाः) सेनाएं परः-स्तराम्) सर्वथा (मुह्यन्तु) निराश होकर पछाड़ खावें और किसी भी रास्ते से आगे न बढ़ सकें ।

मूढा अमित्राश्चरताशीर्षाण इवाहयः ।
तेषां वो अग्निमूढानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम् ॥ २ ॥

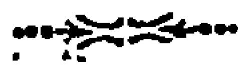
भा०—हे (अमित्राः) शत्रुओ ! तुम लोग (मूढाः) मूढ़ कि-

[६७] २–(प्र० द्वि०) 'अन्धा अमित्रा भवता शीर्षाणो हय इव' (तृ०) 'अग्निलुब्धानाम्' इति साम० । 'शीर्षाणा अह–' (तृ०) अग्नि-दग्धानामग्निमूढानां' इति ऋ० ।

कर्त्तव्यविमूढ़ होकर, विना मार्ग प्राप्त किये, भटकते हुए (अशीर्षाणः) बिना सिर के (अहयः इव) सर्पों के समान अन्धे होकर (चरत) विचरो, (अग्नि-मूढ़ानां) हमारे अग्रणी सेनापति के प्रयाण से मोहित मार्ग छोड़कर भटकते हुए (तेषां वः) उन तुम्हारे में से (इन्द्रः) वीर सेनापति राजा (वरं-वरं हन्तु) अच्छे २ चुने वीर पुरुष को मार डाले।

ऐषु नह्य वृषाजिनं हरिणस्या भियं कृधि।
पराङ्मित्र एषत्वर्वाची गौरुपेषतु ॥ ३ ॥

भा०—हे इन्द्र ! राजन् ! (एषु) इन वीर भटों में तू (वृषा) सब सुखों को वर्षक होकर (हरिणस्य) हरिण की (अजिनं) खाल को (आ नह्य) कवचरूप में बंधवा दें। इस प्रकार शत्रु के लिये (भियं कृधि) भय उत्पन्न कर। (अमित्रः) शत्रु लोग (पराङ्) परे (एषतु) भाग जाय। (गौः) पृथ्वी (अर्वाची) हमारे समीप (उप-एषतु) हमें प्राप्त हो।



[६८] केश-मुण्डन और नापित कर्म का उपदेश।

अथर्वा ऋषिः। मन्त्रोक्ता देवता। १ पुरोविराडतिशक्करीगर्भा चतुष्पदा जगती, २ अनुष्टुप्, ३ अति जगतीगर्भा त्रिष्टुप्। तृचं सूक्तम् ॥

आयमगन्त्सविता क्षुरेणोष्णेन वाय उदकेनेहि।
आदित्या रुद्रा वसव उन्दन्तु सचेतसः सोमस्य राज्ञो वपत प्रचेतसः ॥ १ ॥

भा०—विद्वान् पुरुषों को नापित बनकर केश मूंडने का उपदेश करते हैं। यह (सविता) सूर्य जिस प्रकार तीक्ष्ण किरणों से काले अन्धकार

[६८] १–(प्र०) 'अगात्' (द्वि०) 'उदकेनैधि' गो० गृ० सू०। (तृ०) 'वसवः सचेतसः' इति पैप्प० सं०।

को दूर कर देता है उसी प्रकार (अयम्) यह नापित (क्षुरेण) अपने छुरे से काले केशों को भी दूर देता है । वही (अयम् आअन्) यह आता है । और हे (वायो) जिस प्रकार वायु मेघ द्वारा जल लाकर जंगल पर बरसाता है उसी प्रकार हे वायो ! ज्ञानवन् ! तू भी (उष्णेन उदकेन आ-इहि) गरम जल के सहित यहां आ । और जिस प्रकार (आदित्याः) आदित्य, बारहमास, (रुद्राः) वायुगण, (वसवः) पृथिवी आदि पदार्थ सब जंगलों को हरा भरा कर देते हैं उसी प्रकार आप लोग (सचेतसः) एक चित्त और ज्ञानवान् होकर केशों को (उन्दन्तु) गीला करें और तब (प्रचेतसः) हे उत्कृष्ट ज्ञान वाले पुरुषो ! (राज्ञः सोमस्य) सोम्य गुण वाले राजा के (वपत) केशों को छुरे से मूंड दो। अथवा (राज्ञः सोमस्य) सुन्दर सोमशिष्य बालक के केशों को मूंड दो । उपनिषत् की परिभाषा में सोम राजा=जीव । उसके अज्ञान को दूर करने के लिये सविता आचार्य या परमात्मा तीक्ष्ण ज्ञानरूप क्षुर सहित उसको साक्षात् होता है । वायु प्राण उसको उष्ण जल से आर्द्र करता है मानों तपस्या और योग समाधि का उपदेश करता है, आदित्य, रुद्र, वसु ये विद्वान्‌गण साधारण जीव को उपदेश करते हैं और इस प्रकार सब विद्वान् उसके अज्ञान का नाश करते हैं ।

अदि॑तिः श्मश्रु॑ वप॒त्वाप॑ उन्दन्तु॒ वर्च॑साः ।
चिकि॑त्सतु प्र॒जाप॑तिर्दीर्घायु॒त्वाय॒ चक्ष॑से ॥ २ ॥

भा०—(अदितिः) आदित्य=सूर्य जिस प्रकार अन्धकार को काट डालता है उसी प्रकार अदिति=अखण्ड, तीक्ष्ण छुरे की धार (श्मश्रु) शरीर के बालों को (वपतु) काट दे । और ज्ञानी (आपः) आप्तः

२-(तृ० च०) 'धारयतु प्रजापतिः पुनः पुनः सुवपतवे' इति पैप्प० सं० । (प्र०) आदितिः केशान्' इति पा० गृ० सू० ।

पुरुष जिस प्रकार (वर्चसा) तेज से हृदय को आर्द्र कर देते हैं उसी प्रकार (आपः) ये जल केशों को गीला कर दें। (प्रजापतिः) प्रजा का स्वामी परमात्मा जिस प्रकार सबको चक्षु देता और दीर्घ-जीवन देता है उसी प्रकार (प्रजापतिः) नाई, राजा भी वैद्य के समान जर्राही द्वारा अथवा फोड़ा फुंसी के रोग से बचाये रखने के लिये (चक्षसे) चक्षु की दर्शनशक्ति की वृद्धि और (दीर्घायुत्वाय) दीर्घजीवन के लिये (चिकित्सतु) रोग से बचाये रक्खे।

येनावपत् सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान्।
तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्य गोमानश्ववानयमस्तु प्रजावान् ॥ ३ ॥

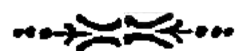
भा०—(सविता) सूर्य (येन) जिस प्रकार के (क्षुरेण) ज्योतिर्मय छुरे से (राज्ञः सोमस्य) राजा, प्रकाशमान सोम चन्द्र के अन्धकार को (अवयत्) छिन्न भिन्न करता है और (विद्वान्) विद्यावान् आचार्य (येन क्षुरेण)[१] जिस उपदेशमय क्षुर=उपदेश से और सञ्चय के उपाय

३–'अश्यामो दीयुरयमस्तु वीरः' इति पैप्प० सं०। (च०) 'आयुष्मान् जरदष्टिर्यथासत्' इति पा० गृ० सू०। 'ऊर्जेमं रय्या वर्चसा संसृजाथ' इति तै० ब्रा०। येनावपत् सविताश्मश्रुवग्रे क्षुरेणराज्ञो वरुणस्य विद्वान्। येन धाता बृहस्पतिरिन्द्रस्य चावपन् शिरः तेन ब्रह्मणो वपतेदमद्यायुष्मान् दीर्घायुरयमस्तु वीरः' इति शा० गृ० सू०। येनपूषा बृहस्पतेर्वायोरिन्द्रस्य चावपत्। तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय दीर्घायुष्ट्वाय वर्चसे इति मै० ब्रा०।

१. क्षुरः—क्षुशब्दे इत्यस्मात् औणादिको रक् निपात्यते (उणा० २। २८॥) अथवा क्षुर विलेखने (अदादिः) क्षुर संश्चये (भ्वादिः) इत्येताभ्यां पचाद्यच्। क्षुरः उपदेशः विलेखनोपकरणं, लोमशातनोपकरणं छूरा इति प्रसिद्धम्। संश्चयोपायो वा। इति दया०।

से (वरुणस्य) राजा के अज्ञान को (अवपत्) छिन्न भिन्न करता है (तेन) उसी ज्ञान और ज्योतिर्मय उपदेश और प्रकाश के छुरे से, हे (ब्रह्माणः) ब्राह्मण, विद्वान् पुरुषो ! (अस्य) इस अपने शिष्य के (इदम्) इस अज्ञान अन्धकार को भी (वपत) छिन्न भिन्न करो । उसी के साथ २ छूरे से आरोग्य और दीर्घ जीवन के लिये वालों को भी काटा करो जिससे (अयम्) यह राजा और शिष्य (गोमान्) गो=ज्ञानेन्द्रियों से युक्त और (अश्ववान्) अश्व=प्राणेन्द्रियों से युक्त और (प्रजावान्) उत्तम सन्तान से भी युक्त हो ।

जिस प्रकार सूर्य चन्द्र का अन्धकार दूर करता है और उसमें ज्योतिर्मय धन का वितरण करता है या जिस प्रकार विद्वान् मन्त्री राजा के ऊपर के संकटों को दूर करता है और विशेष उपाय से सावधान होकर उसकी समृद्धि बढ़ाता है उसी प्रकार आचार्य शिष्य के अज्ञान को हटाये छुरे से वालों को दूर करे उसके ज्ञान आरोग्य और दीर्घ जीवन की वृद्धि करे ।



[६९] यश और तेज की प्रार्थना ।

वर्चस्कामो यशस्कामश्चाथर्वा ऋषिः । बृहस्पतिरुताश्विनौ देवता । अनुष्टुप् ।

तृचं सूक्तम् ॥

गिरावरगराटेषु हिरण्ये गोषु यद् यशः ।
सुरायां सिच्यमानायां कीलाले मधु तन्मयि ॥ १ ॥
अथर्व ६ । १ । १८ ॥

भा०—(यद् यशः) जो यश कीर्त्ति और धन (गिरौ) पर्वत में (अरगराटेषु) अरगराट=रथों या यन्त्रों से विचरने वाले शिल्पी लोगों में (हिरण्ये) सुवर्ण में और (गोषु) गाय बैलों में विद्यमान है और जो (मधु)

मधुर रस (सिच्यमानायां) पात्रों में पड़नेवाली (सुरायां) सुरा=जलधारा में और (कीलाले) अन्न में है (तत्) वह यश इस (मयि) मेरे आत्मा में विद्यमान है ।

अरगराट=सायण के मत में (१) अराः रथचक्रावयवाः कीलकाः, तान् गिरति आत्मना संश्लेषयति इति अरगराः रथाः । तेन अटन्ति संचरन्तीति अरगराटाः रथिनः । (२) यद्वा अरा अरयः तान् गच्छन्ति इति अरगाः वीराः । तेषांराटाः जयघोषाः । अर्थात् अरगराटाः=रथी या वीरों के जयघोष । क्षेमकरण के मत में—"अरस्य ज्ञानस्य गरेषु विज्ञापकेषु अटन्ति इति ।" अर्थात् गुरुओं के पास जाने वाले शिष्य । इस मतभेद में सायण ने लिखा है "व्युत्पत्त्यनवधारणाद् नावगृह्यते । साफ २ अर्थ नहीं खुलने से इसका अर्थ ठीक तरह से विदित नहीं होता । ग्रीफ़िथ के मत में अरगराट=घाटियां । अथवा—"अरम् अत्यर्थं गर् गर् शब्देन अटन्ति इति अरगराटाः=महानदाः अथवा अरघट्टाः जलयन्त्राणि, धान्यपेषणार्थं जलधारया प्रवर्त्तितं पेषणीयन्त्रं घराट् इति प्रसिद्धं तादृशो वा अन्यो विद्युदादियन्त्रविशेषः ।

अश्विना सारघेण मा मधुनाङ्क्तं शुभस्पती ।
यथा भर्गस्वतीं वाचमावदानि जनाँ अनु ॥ २ ॥

अथर्व० ६ । १ । १६ ॥

भा०—(शुभस्पती) शुभ—उत्तम शोभा को पालन करने वाले (अश्विनौ) माता और पिता (सारघेण) मधुमक्षिका के तैयार किये हुए (मधुना) शहद से (मा) मुझे (अङ्क्तम्) आंजें, मुझे खिलावें (यथा) जिससे (जनान् अनु) समस्त लोगों के प्रति मैं बालक बड़ा होकर (भर्गस्वतीम्) दीप्ति, चमत्कार और ओजस्विनी, (वाचम्) वाणी को (आवदानि) बोलूं ।

२–(तृ०). 'वर्चस्वती' इति अथर्व० । (च०) 'आवदामि' इति सायणाभिमतः ।

मां बाप बालकों को शहद खिलाया करें जिससे उनकी वाक्-शक्ति बढ़े और कफ़ आदि का नाश हो ।

मयि वर्चो अथो यशोथो यज्ञस्य यत् पयः ।
तन्मयि प्रजापतिर्दिवि द्यामिव दृंहतु ॥ ३ ॥ साम० १ । ६ । ३ ॥

भा०—(प्रजापतिः) प्रजा का पालक परमेश्वर जिस प्रकार (दिवि-द्याम् इव) द्यौलोक में सूर्य को दृढ़ता से स्थापित करता है उसी प्रकार वह प्रजापति पिता (मयि) मेरे शरीर में (वर्चः) तेज (यशः) बल और (यत्) जो (यज्ञस्य) यज्ञ=आत्मा का (पयः) सारभूत बल ज्ञान है (तत्) उसको (मयि) मेरे में धारण करावे ।



[७०] गौओं को सुशील बनाने का उपदेश ।

कांकायन ऋषिः । अघ्न्या देवता । जगती । तृचं सूक्तम् ॥

यथा मांसं यथा सुरा यथाक्षा अधिदेवने ।
यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः ।
एवा ते अघ्न्ये मनोधि वत्से नि हन्यताम् ॥ १ ॥

भा०—गायों को सुशील बनाने का उपदेश करते हैं । हे (अघ्न्ये) कभी भी न मारने योग्य गौ ! (यथा) जिस प्रकार (मांसम्) मांस= उत्तम अन्न रस मनुष्यों के मनको लुभा लेता है । और (यथा सुरा) जिस प्रकार सुरा=शराब मनुष्य के मनको खेंच लेती है और (यथा अधि-देवने) जिस प्रकार खेलने के समय (अक्षाः) पासे मनुष्य के मन को हरते हैं । और जिस प्रकार (वृषण्यतः) हृष्ट पुष्ट (पुंसः) पुरुष का (मनः) मन

३–(तृ०) 'परमेष्ठी प्रजा–' इति साम० ।

(स्त्रियाम्) स्त्री में (नि-हन्यते) रत हो जाता है इसी प्रकार हे (अघ्न्ये) गौ ! (ते) तेरा (मनः) मन (अधि वत्से) अपने बच्छड़े पर (नि-हन्य-ताम्) लगा रहे ।

अर्थात् गाय को सुशील बनाने के लिये उसका प्रेम उसके बच्चे पर बनाये रखना चाहिये । उसके बच्छे को प्रेम करने से वह भी सुशील हो जायगी । इसी प्रकार मांस-लोभी को मांस द्वारा, शराबी को शराब से, जुएखोर को जुए से, कामी को स्त्री के द्वारा वश करना चाहिए ।

यथा हस्ती हस्तिन्याः पदेन पदमुद्युजे । यथा पुंसो ० । ० ॥२॥

भा०—उसी विषय को और भी स्पष्ट करते हैं । (यथा) जिस प्रकार (हस्ती) हाथी (हस्तिन्याः) हथिनी के (पदेन) पैर के साथ अपना (पदम्) पांव (उद्-युजे) जोड़कर ऊपर उठता है । और (यथा पुंसः वृषण्यतः मनः स्त्रियां निहन्यते) और जिस प्रकार कामी पुरुष का मन स्त्री पर चलता है । (एवा अघ्न्ये ते मनः वत्से अधि निहन्यताम्) उसी प्रकार हे गौ ! तेरा मन अपने बच्छे के साथ लगा रहे ।

उसी प्रकार के प्रेमबंधन से हम हथिनी के द्वारा हाथी तक को सधा सकते हैं ।

यथा प्रधिर्यथोपधिर्यथा नभ्यं प्रधावधि ।
यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः ।
एवा ते अघ्न्ये मनोधि वत्से नि हन्यताम् ॥ ३ ॥

भा०—और भी उसी विषय को स्पष्ट करते हैं । (यथा) जिस प्रकार (प्रधिः) लोहे का हाल भीतरी लकड़ी के बने चक्र पर रहता है और (यथा) जिस प्रकार (उपधिः) लकड़ी का चक्र अरों द्वारा बीचके धुरे पर रहता है और (यथा) जिस प्रकार (नभ्यं) बीचका धुरा (अधि प्रधौ) क्रम से अरों और लकड़ी के चक्र सहित हाल पर आ जाता

है और (यथा वृषण्यतः पुंसः मनः स्त्रियां निहन्यताम्) जिस प्रकार कामीपुरुष का मन स्त्री पर चलता है उसी प्रकार हे (अघ्न्ये ते मनः अधि वत्से निहन्यताम्) गौ ! तेरा मन अपने बच्चे पर जुड़ा रहे ।



[७१] दुष्ट अन्न का त्याग और उत्तम अन्न आदि पदार्थों को ग्रहण करने का उपदेश ।

ब्रह्मा ऋषिः । अग्निर्देवता । ३ विश्वेदेवाः । १–२ जगत्यौ । ३ त्रिष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

यदन्नमद्मि बहुधा विरूपं हिरण्यमश्वमुत गामजामविम् ।
यदेव किं च प्रतिजग्रहाहमग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु ॥ १ ॥

भा०—(बहुधा) प्रायः (यत्) जो (अन्नम्) अन्न मैं (विरूपम्) विरूप, गला सड़ा या बुरा (अद्मि) खालूं (हिरण्यम् अश्वम् उत गाम् अजाम् अविम्) और सोना, घोड़ा, गाय, बकरी और भेड़ और (यत् एव किं च) और जो कुछ भी (अहम्) मैं (प्रतिजग्राह) दूसरे से ले लूं (तत्) उसको (होता अग्निः) देने वाला, सर्वप्रद परमेश्वर (सुहुतं कृणोतु) उत्तम आहुति के समान दान देने और स्वीकार करने योग्य बना दे । अर्थात् जो खा लिया जाय उसको जाठर अग्नि पचाले और वह सुहुत हो जाय, जो द्रव्य मैं स्वीकार करूँ उसे अग्नि परमेश्वर उत्तम दान रूप बना दे वह भी हमें हानि न पहुँचावे ।

---

[७१] १–(तृ०) 'किंचित्' (च०) 'अग्निस्तद्विश्वादगदं कृ–' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'विरूपं वासो हिरण्यमुत' (तृ०) यद्देवानां चक्षुष्यागो अस्ति यदेव किंच प्रतिजग्राहम् अग्निर्मा तस्मादनृणं करोतु' इति तै० आ० ।

यन्मा हुतमहुतमाजगाम दत्तं पितृभिरनुमतं मनुष्यैः।
यस्मान्मे मन उदिव रारजीत्यग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु ॥ २ ॥

भा०—(यत्) जो (हुतम्) श्रद्धापूर्वक न दिया गया और (पितृभिः) पालक पिता माता गुरु भाई आदि से (दत्तम्) दिया गया था (मनुष्यैः अनुमतम्) मनुष्यों से, मननशील विद्वानों द्वारा अनुमत, स्वीकृत पदार्थ (आ-जगाम) मेरे पास आ गया हो और (यस्मात्) जिससे (मे मनः) मेरा मन (उद् रारजीति इव) ऊपर उठता हुआ प्रसन्न सा होता हो (तत्) उसको (होता अग्निः) सर्व पदार्थों का दाता परमेश्वर (सुहुतं कृणोतु) उत्तम दान अर्थात् स्वीकार करने योग्य पदार्थ बना दे।

यदन्नमद्म्यनृतेन देवा दास्यन्नदास्यन्नुत संगृणामि।
वैश्वानरस्य महतो महिम्ना शिवं मह्यं मधुमदस्त्वन्नम् ॥३॥

भा०—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! (यद् अन्नम् अद्मि) जो अन्न मैं खाऊँ (उत) और (दास्यन्) जो पदार्थ मैंने दूसरे का देना है पर उसे (अदास्यन्) दे नहीं रहा हूँ (उत) और जिसको मैं (सं गृणामि) स्वीकार करता हूं (महतः वैश्वानरस्य) बड़े भारी, समस्त आत्माओं के अन्तर्यामी महान् परमेश्वर की (महिम्ना) महिमा से, महान् शक्ति से (अन्नम्) वह अन्न (मह्यं) मेरे लिये (शिवं) कल्याणकारी और (मधुमत्) अमृतमय मधुर रस देने वाला (अस्तु) हो।

२-(तृ०) 'रारजीत्वग्निः' इति सायणाभिमतः। (प्र०) 'हुतं यदहुतं' (द्वि०) 'यस्मादन्नमतसोद्रारजीमि' (तृ०) यद्देवानां चक्षुषा कर्णा-नाग्नि-' इति पैप्प० सं०।

३-(द्वि०) 'उतव करिष्यन्' इति तै० आ०।

[७२] प्रजनन अंगों की पूर्ण वृद्धि ।

अथर्वाङ्गिरा ऋषिः । शेपोऽर्को देवता । १ जगती । २ अनुष्टुप् । ३ भुरिक् ।

तृचं सूक्तम् ॥

यथा॑सि॒तः प्र॒थय॑ते व॒शाँ अनु॒ वपूं॑षि कृ॒ण्वन्नसु॑रस्य मा॒यया॑ ।
ए॒वा ते॒ शेपः॒ सह॑साय॒मर्को॒ऽङ्गेनाङ्गं॒ संस॑मकं कृणोतु ॥ १ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (असितः) बन्धन रहित आत्मा (असुरस्य) असुर, मन की (मायया) माया=निर्माण-शक्ति या बुद्धि से (वपूंषि कृण्वन्) अपने देहों को रचता हुआ (वशान् अनु) अपने वश हुए अंगों को या प्राणों को देह में (प्रथयते) विस्तृत करता है, फैलाता है, प्रेरित करता है (एवा) उसी प्रकार (अंगेन अङ्गम्) जिस प्रकार एक अंग से दूसरे अंग को समता प्राप्त है (अयम्) यह (अर्कः) आत्मा पुरुष (ते) तेरे (शेपः) ज्ञान सामर्थ्य या प्रजननाङ्ग को (सहसा) बल से (सं-समकम्) ठीक ठीक अनुपात में (कृणोतु) करे ।

यथा॒ पस॑स्ताया॒दरं॒ वाते॑न स्थूल॒भं कृ॒तम् ।
याव॑त् पर॑स्वतः॒ पस॑स्ताव॑त् ते वर्धतां॒ पसः॑ ॥ २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (पसः) पुरुष का प्रजननाङ्ग (वातेन) प्राण के बल से (स्थूलभं कृतम्) स्थूलरूप किया जाकर (तावादरम्) सन्तान उत्पादक अंग योनि भाग में प्रवेश योग्य हो जाता है । और (यावत्) जितना (परस्वतः) पूर्णता प्राप्त पुरुष का (पसः) प्रजन-

[७२] १—(प्र०) 'सित' (च०) 'संसमगं' इति सायणाभिमतः ।
२—'तायोदरं' इति सायणाभिमतः ।

नाङ्ग होना चाहिये (तावत्) उतना हे पुरुष! (ते पसः) तेरा प्रजनाङ्ग भी (वर्धताम्) वृद्धि को प्राप्त हो।

यावदङ्गीनं पारस्वतं हास्तिनं गार्दभं च यत्।
यावदश्वस्य वाजिनस्तावत् ते वर्धतां पसः॥ ३॥

भा०—(यावत् अंङ्गीनं) जितने अंगों वाला शरीर (पारस्वतम्) पूर्ण पुरुष का होता है और (यत्) जितना (हास्तिनं गार्दभं च) हाथी का या गधे का अथवा (वाजिनः अश्वस्य यावत्) वेगवान्, बलवान् अश्व का अंग दृढ़, हृष्ट पुष्ट, अमोघवीर्य होता है (तावत् ते पसः वर्धताम्), हे पुरुष! उतना ही तेरा भी प्रजननांग पुष्ट हो।

पं० ग्रीफ़िथ ने इस सूक्त को अश्लील समझ कर छोड़ दिया है। पं० क्षेमकरणजी ने इस सूक्त में शेपः और पसः आदि शब्दों के अर्थ 'राष्ट्र' किया है। पर हमारी सम्मति में शरीर के जिस अंग से मानव-सृष्टि उत्पन्न होती है उसके परिपक्व और पुष्ट होने का उपदेश करना कोई असंगत अश्लील और अनुचित बात नहीं है। कुछ की सम्मति में 'तयादर' और 'परस्वान्' कोई विशेष पशु हैं। सम्भव है। उनके अंग की उपमा भी होना अनुचित नहीं।

राष्ट्र पक्ष में—(२) (यथा तायादरं पसः) जितना पालने योग्य राष्ट्र (वातेन स्थूलभं कृतम्) यज्ञ द्वारा परस्पर संगति, संगठन द्वारा विशाल बना लिया जाय और (यवत् परस्वतः पसः) और जितना राष्ट्र पालक शक्ति में युक्त राजा का होना चाहिये (तावत्) उतना (ते पसः वर्धताम्) तेरा राष्ट्र भी बढ़े।

(३) (यावत् अंगीनं) जितने अंगों से युक्त (पारस्वतं) वीर भटों का बना, (हास्तिनं) हाथियों का (गार्दभं) गधों खच्चरों का और (अश्वस्य वाजिनः) वेगवान् अश्वों का बना हुआ (पसः) राष्ट्र-बल होना सम्भव है (तावत् ते वर्धताम्) उतना ही तेरा भी बढ़े।

राजा के वीर्य का प्रतिनिधि राष्ट्र और सेनाबल है शरीर में यह हृष्ट पुष्ट शरीर और हृष्ट पुष्ट प्रजनेन्द्रिय है इसलिये वेद में दोनों को समान ही परिभाषा शब्दों से वर्णन किया जाता है ।

॥ इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

[तत्रैकादश सूक्तानि, ऋचश्च चतुस्त्रिंशत्]



[७३] एकचित्त होने का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । सांमनस्यमुत मन्त्रोक्ता नाना देवताः । १–३ भुरिजौ, त्रिष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

एह यातु वरुणः सोमो अग्निर्बृहस्पतिर्वसुभिरेह यातु ।
अस्य श्रियमुपसंयात सर्व उग्रस्य चेत्तुः संमनसः सजाताः ॥१॥

भा०—(इह) इस प्रदेश में या राजसभा के स्थान में (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ वरुण, राजा (सोमः) सोम, शान्त स्वभाव (अग्निः) सबका अग्रणी और (बृहस्पतिः) वेदवाणी का पालक या बृहत् राष्ट्र का पालक राजा बनकर (आ यातु) आवे और (इह) यहां वह (वसुभिः) आठ वसु, प्रजा के प्रतिनिधि या विद्वान् अमात्यों सहित आवे । हे अमात्यो ! (सर्वे) तुम सब लोग (अस्य श्रियम्) इस राजा की श्री, लक्ष्मी, शोभा को (उप-संयात) तुम भी स्वीकार करो, प्राप्त होओ । क्योंकि (उग्रस्य) उग्र स्वभाव, बलशाली, सदा न्यायपूर्वक दण्ड देने वाले (चेत्तुः) सबको चेताने वाले और स्वयं सावधान रहने वाले विवेकी राजा के (सं-मनसः) मनके साथ एक मन होकर रहते हुए (स-जाताः) एक ही माता के गर्भ से उत्पन्न भाइयों के समान बन्धु होकर रहो ।

[७३] १–(तृ०) 'श्रियममि' । (च०) 'सुजाताः' इति पैप्प० सं० ।

यो वः शुष्मो हृदयेष्वन्तराकूतिर्या वो मनसि प्रविष्टा ।
तान्त्सीवयामि हविषा घृतेन मयि सजाता रमतिर्वो अस्तु ॥२॥

भा०—राजा अपने सचिवों और अधीन शासकों के प्रति कहे कि—हे सचिवो और मेरे अधीन शासको ! (यः) जो (वः) तुम्हारा (शुष्मः) बल है और (या) जो (वः मनसि) तुम्हारे मन में और (हृदयेषु) हृदयों में (आकूतिः) प्रबल इच्छा या कामना (अन्तः प्रविष्टा) भीतर घर किये बैठी है (तान्) उन सब बलों को और आप लोगों की उन २ इच्छाओं को (घृतेन) अपने स्नेह और तेज और (हविषा) अन्न और आजीविका प्रदान द्वारा (सीवयामि) अपने साथ बांधता हूँ । हे (स-जाताः) बन्धुओ ! (वः) तुम लोगों की (रमतिः) आनन्द विनोद और अनुकूल प्रवृत्ति या पक्षपात (मयि अस्तु) मेरे ऊपर रहे ।

इहैव स्तमाप याताध्यस्मत् पूषा परस्तादपथं वः कृणोतु ।
वास्तोष्पतिरनु वो जोहवीतु मयि सजाता रमतिर्वो अस्तु ॥३॥

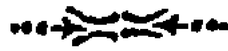
भा०—हे अधीन मन्त्रियो ! और शासक लोगो ! (इह एव स्त) आप लोग मेरे इस राष्ट्र में ही रहो । (अस्मत् अधि मा अप यातम्) हम से परे, हमें छोड़कर तुम मत जाओ । (परस्तात्) नहीं तो अन्य स्थानों में (पूषा) राष्ट्र के पोषक मित्र राजा (वः) आपके लिये (अपथं कृणोतु) रास्ता न दे । (वास्तोष्पतिः) राजसभा के भवन का पालक (अनु) मेरे अनुकूल मेरी अनुपस्थिति में (वः) आप लोगों को (जोहवीतु) पुनः पुनः हमारे कार्य के लिये आह्वान करे और आप

२—(तृ०) 'तां सीव—' इति सायणाभिमतः । 'सीवयामि', 'श्रीवयामि' इति क्वचित् । 'श्रेवयामि' इति पैप्प० सं० ।

३—(प्र०) 'एह यात माप' । (तृ०) 'अनुयमहुवन्' इति पैप्प० सं० ।

लोगों की सम्मति लिया करे। हे (स-जाताः) बन्धुजनो! हे भाइयो! (वः) आप लोगों की (रमतिः) प्रवृत्ति (मयि अस्तु) मेरे प्रति ही झुकी रहे।

(१) राजा अपने अधीन लोगों को उनकी वृत्ति सदा देता रहे। इस प्रकार उनको सदा अपने साथ गांठे रहे। (२) उनको स्थिर रूप से रखकर अपने को छोड़कर न जाने दे। यदि द्वेषवश छोड़कर जावें तो मित्रवर्गों से उनको परराष्ट्र में जाने का मार्ग न देने दे। राजसभा में प्रथम अपने समक्ष उनसे कार्य ले, अपनी अनुपस्थिति में अपना प्रतिनिधि नियुक्त करे और वही मन्त्रियों से कार्य ले।



[७४] एकचित्त होकर रहने का उपदेश।

अथर्वा ऋषिः। सांमनस्यं देवता। १,२ अनुष्टुभौ, ३, त्रिष्टुप्। तृचं सूक्तम्॥

सं वः पृच्यन्तां तन्वः सं मनांसि समु व्रता।
सं वोयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत्॥ १॥

भा०—हे लोगो! (वः) तुम लोगों के (तन्वः) शरीर परस्पर (सं पृच्यन्ताम्) एक दूसरे के प्रेम से मिला करें, आप लोग एक दूसरे का प्रेम से आलिङ्गन किया करो और (मनांसि सं) आपस में मन भी मिले करें। (व्रता उ सम्) कृषि वाणिज्य आदि कर्म भी मिलकर हुआ करें। या एक दूसरे के कर्म व्यवसाय एक दूसरे के व्यवसायों के सहायक हों। (अयम्) यह (ब्रह्मणः पतिः) ब्रह्मवेदवाणी का पालक प्रधान विद्वान् ब्राह्मण वः (सम् अजीगमत्) सदा जोड़े रक्खे। और (भगः) ऐश्वर्यवान् धन सम्पत्ति का स्वामी राजा भी तुमको (सम् अजीगमत्) सदा मिलाये रक्खे।

[७४] १–(च०) 'सोमः संस्पर्शयातु माम्' इति पैप्प० सं०।

संज्ञपनं वो मनसोथो संज्ञपनं हृदः ।
अथो भगस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः ॥ २ ॥

भा०—(वः) आप लोगों के (मनसः) चित्त को (सं-ज्ञपनम्) उत्तम रीति से ज्ञान सम्पन्न करता हूं। (अथो) और (हृदः) हृदयों को (सं-ज्ञपनम्) उत्तम ज्ञानवान् करता हूं। (अथो) और (भगस्य) ऐश्वर्यशील राजाका (यत्) जो (श्रान्तम्) परिश्रम है (तेन) उससे भी (वः) आप लोगों को (सं-ज्ञपयामि) अच्छी तरह से परिचित कराता हूं। अर्थात् राजा के प्रतिनिधि गण प्रजा के चित्तों को शिक्षित करें उनको राष्ट्र के हितों को विचारने का अवसर दें, हृदयों में एक दूसरे के प्रति सच्चे भाव उत्पन्न करें और राजा के उत्तम भावों को जानें। इस प्रकार प्रजा शिक्षित, संगठित होकर राजा के अधीन रहे। मूर्ख और फुटैल प्रजा पर असत्य से राजा शासन न करे।

यथादित्या वसुभिः संबभूवुर्मरुद्भिरुग्रा अहृणीयमानाः ।
एवा त्रिणामन्नहृणीयमान इमान् जनान्त्संमनसस्कृधीह ॥ ३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (आदित्याः) आदित्य, विद्वान् लोग (वसुभिः) राष्ट्र निवासी प्रजाओं और (मरुद्भिः) वैश्य लोगों के साथ मिलकर (उग्राः) बलवान् होकर (अहृणीयमानाः) किसी से नहीं दबते हैं उसी प्रकार हे (त्रिणामन्=त्रिणामन्) तीन प्रकार की शक्तियों से प्रजा को वश करने वाले राजन्! तू भी (अहृणीयमानः) किसी से

२—(च०) 'संज्ञपयाति माम्' इति पैप्प० सं०। (तृ०) 'यच्छ्रान्तं' इति ह्विटनिकामितः।

३—(प्र०) 'वसुवः' (तृ०च०) '—यमानासिम जना संम्मनसं कृणुत्वं' इति पैप्प० सं०। (द्वि०) मरुद्भीरुद्राः संजानताभि (तृ० च०) '—यमावा विश्वेदेवा संमनसो भवन्तु' इति तै० सं०।

भी न दबकर ही (इमान् जनान्) इन प्रजाजनों को (इह) इस राष्ट्र में (संमनसः कृधि) अपने अनुकूल एक चित्त वाले बनाये रख। कोई राजा अपनी प्रजाको अपने विपरीत रखकर उन पर शासन नहीं कर सकता।

त्रिनामन्=तीनों शक्तियों से प्रजाको वश करने वाला। तीन शक्तियां, प्रज्ञा, उत्साह और वीर्य अथवा अमात्य, कोश और दण्ड।



[७५] शत्रु को मार भगाने का उपदेश।

सपत्नक्षयकामः कबन्ध ऋषिः। मन्त्रोक्ता इन्द्रश्च देवताः। १-२ अनुष्टुभौ, ३ षट्पदा जगती। तृचं सूक्तम्॥

निर॒मुं नु॑द॒ ओक॑सः स॒पत्नो॒ यः पृ॑त॒न्यति॑।
नै॒र्बा॒ध्ये॑न ह॒विषेन्द्र॑ ए॒नं परा॑शरीत्॥ १॥

भा०—हे वीर पुरुष! (यः) जो (सपत्नः) हमारे राष्ट्र पर हमारे बराबर अपना प्रभुत्व दिखाने वाला शत्रु (पृतन्यति) हमपर सेना द्वारा आक्रमण करता है। (अमुम्) उसको (ओकसः) हमारे घर से, देश से (निर्-नुद) निकाल डाल। हे इन्द्र, राजन्! (एनम्) इस शत्रु को तो (नैर्बाध्येन हविषा) निर्बाध=बाधा से रहित हवि=आज्ञा और उपाय से (पराशरीत्) मार डाल। अर्थात् उक्त प्रकार के शत्रु को मार डालने की ऐसी आज्ञा और उपाय करे जिसमें कोई बाधा न डाल सके।

प॒र॒मां तं प॑रा॒वत॒मिन्द्रो॑ नुदतु वृत्र॒हा।
यतो॒ न पुन॒राय॑ति शश्व॒तीभ्य॒ः समा॑भ्यः॥ २॥

[७५] १-(च०) 'पराशरैत्' इति क्वचित्। (तृ०) 'निर्बा'-इति पैप्प० सं० 'एणं' इति तै० ब्रा०।
२-(प्र०) 'परमां त्वां' इति पैप्प० सं०। (द्वि०) 'नयतु' इति तै०

भा०—(वृत्रहा इन्द्रः) वृत्र=नगर को घेरने वाले शत्रु को मारने वाला इन्द्र=राजा सेनापति (तम्) उस शत्रु को (परमां परावतम्) खूब दूर तक (नुदतु) खदेड़ आवे । इतना दूर तक खदेड़ दे कि (यतः) जहां से (शश्वतीभ्यः समाभ्यः) अनन्त वर्षों तक (पुनः) फिर (न (आयति) लौटकर न आवे ।

एतु तिस्रः परावत एतु पञ्च जनाँ अति ।
एतु तिस्रोति रोचना यतो न पुनरायति ।
शश्वतीभ्यः समाभ्यो यावत् सूर्यो असद् दिवि ॥ ३ ॥
(प्र० द्वि०) ऋ० ८ । ३२ । २२ प्र० द्वि० ॥

भा०—हमारे से मार भगाया हुआ शत्रु (तिस्रः परावतः अति एतु) तीन दूरस्थ सीमाओं को पार कर जाय । और (पञ्च जनान् अति एतु) पांचों प्रकार की प्रजाओं को लांघ जाय । अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र निषाद् इन पांचों प्रकारकी प्रजा में भी स्थान न पा सके । (तिस्रः रोचना अति एतु) तीनों प्रकाशमान ज्योतियों से भी वञ्चित हो अर्थात् वह न सूर्य का प्रकाश पा सके, न दीपक का और न चन्द्र का, प्रत्युत अंधेरी कोठड़ी में मारे भयके छिपा रहे । ऐसी जगह और ऐसी दुरवस्था में रहे कि (यतः) जहां से (पुनः) फिर (शश्वतीभ्यः समाभ्यः) अनन्त वर्षों तक (यावत् दिवि सूर्यः) जब तक आकाश में यह सूर्य (असत्) विद्यमान है तब तक (न आयति) वह लौटकर न आवे ।



ब्रा० । (द्वि०) 'इन्द्रो देवो अचीक्लृपत्' (तृ०) 'पुनरायसि' इति पैप्प० सं० ।

३–(प्र० द्वि० तृ०) 'इहि' इति तै० ब्रा० । (द्वि०) 'जनां अनु' । (तृ०) 'इह चत्वातु रोचना' इति पैप्प० सं० ।

[७६] ब्राह्मणरूप सांतपन अग्नि का वर्णन ।

कबन्धऋषिः । सांतपनोऽग्निर्देवता । १, २, ४ अनुष्टुभः । ३ ककुम्मती । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

य एनं परिषीदन्ति समादधति चक्षसे ।
संप्रेद्धो अग्निर्जिह्वाभिरुदेतु हृदयादधि ॥ १ ॥

भा०—ब्राह्मणरूप अग्नि का वर्णन करते हैं । (ये) जो लोग (एवम्) इस ब्राह्मणरूप सांतपन अग्नि के (परिषीदन्ति) चारों ओर बैठते हैं और उससे उपदेश लेते हैं और (चक्षसे) सम्यग् दर्शन के लिये (सम्-आदधति) उस ब्राह्मण को उत्तम रीति से आधान करते हैं उसकी प्रतिष्ठा करते हैं । साक्षात् (अग्निः) अग्नि=आग जिस प्रकार अपनी ज्वालाओं से प्रकाशित होता है उसी प्रकार वह भी (सं-प्र-इद्धः) उत्तम रीति से उत्कृष्ट ज्ञान से प्रकाशित होकर (हृदयाद् अधि) अपने शुद्ध अन्तःकरण से निकलने वाली (जिह्वाभिः) ज्ञानमय वाणियों से (उत् एतु) उदित हो, प्रकट हो । सबको ज्ञान का उपदेश करे ।

अग्नेः सांतपनस्याहमायुषे पदमा रभे ।
अद्धातिर्यस्य पश्यति धूमसुद्यन्तमास्यतः ॥ २ ॥

भा०—(सांतपनस्य) उत्तम तपस्याशील (अग्नेः) ज्ञानी ब्राह्मण के (पदम्) ज्ञानस्वरूप को (अहम्) मैं अपनी (आयुषे) आयुवृद्धि के लिये (आरभे) प्राप्त करने का यत्न करूं । (यस्य) जिसके (आस्यतः) मुख से (उद्-यन्तम्) उठते हुए (धूमम्) धूम के समान निकलते हुए उद्गार को (अद्धातिः) प्रत्यक्षदर्शी विद्वान् स्वयं (पश्यति) साक्षात् करता है ।

[७६] १-(प्र०) 'येनेदंपरि' । इति पैप्प० सं० ।
२-(तृ० च०) धातुर्यस्य पश्यत मम हृद्यन्तःश्रितः' इति पैप्प० सं० ।

"एष ह वै सान्तपनो अग्निर्यद् ब्राह्मणः। यस्य गर्भाधान-पुंसवन सीमन्तोन्नयन-जातकर्म-नामकरण-निष्क्रमणान्नप्राशन-गोदान-चूड़ाकरणोपनयनाप्लावनाग्निहोत्रव्रतचर्यादीनि कृतानि भवन्ति स सान्तपनः। गो० पू० २। ३॥ धूमो वा अस्य अग्नेः श्रवो वयः। सहि एनम् श्रावयति। श० ७। ३। १। २॥ अर्थात् गर्भाधान से लेकर व्रतचर्यादित संस्कार शील ब्राह्मण सान्तपन अग्नि कहाता है, उसके ज्ञानोपदेश धूम हैं।

यो अस्य समिधं वेद क्षत्रियेण समाहिताम्।
नाभिह्वारे पदं नि दधाति स मृत्यवे ॥ ३ ॥

भा०—(यः) जो विद्वान् (अस्य) इस पूर्वोक्त अग्नि की (क्षत्रियेण) क्षत्रिय द्वारा (सम्-आहितां) प्रतिष्ठित की हुई (समिधम्) समिधा को (वेद) जान लेता है (सः) वह (मृत्यवे) अपने मौत के लिये (अभिह्वारम्) कुटिल मार्ग में (पदं न निदधाति) पैर नहीं रखता। अर्थात् जो यह जानता है कि ब्राह्मणों की रक्षा और उनका उत्तेजन क्षत्रिय=राजा के द्वारा है वह ब्राह्मण के अपमान आदि अनुचित कार्य में पैर नहीं रखता। वैसा करने से राजा स्वयं ब्रह्मनिन्दक को दण्ड देता है।

नैनं घ्नन्ति पर्यायिणो न सन्नाँ अव गच्छति।
अग्नेर्यः क्षत्रियो विद्वान्नाम गृह्णात्यायुषे ॥ ४ ॥

भा०—(एनम्) पूर्वोक्त अग्नि रूप विद्वान्, निष्ठ ब्राह्मण के (पर्यायिणः) समीप आने वाले पुरुष भी (न घ्नन्ति) उसकी हिंसा नहीं करते, क्योंकि वह भी (सन्नान्) समीप बैठों को (न अवगच्छति) कुछ नहीं कहता। (यः क्षत्रियः) जो क्षत्रिय होकर भी (विद्वान्)

३-(प्र०) 'योऽस्य', (तृ०) 'मा विह्वरे' इति पैप्प० सं०। 'अभिह्वरे' इति सायणाभिमतः।

४-(द्वि०) 'एनं गच्छाति'। (तृ०) विश्वा नाम' इति पैप्प० सं०।

ज्ञानवान् होकर (अग्नेः नाम) अग्रिणी रूप ब्राह्मण का (नाम गृह्णाति) नाम उच्चारण करता है वह भी (आयुषे) उसके दीर्घ जीवन के लिये होता है। प्रसिद्ध विद्वान् का आश्रय लेकर क्षत्रिय भी चिरकाल तक विनष्ट नहीं होता।



[७७] ईश्वर से रक्षा की प्रार्थना।

कबन्ध ऋषिः। जातवेदो देवता। १-३ अनुष्टुभः। तृचं सूक्तम् ॥

अस्थाद् द्यौरस्थात् पृथिव्यस्थाद् विश्वमिदं जगत्।
आस्थाने पर्वता अस्थु स्थाम्न्यश्वाँ अतिष्ठिपम् ॥ १ ॥

भा०—सर्वनियन्ता ईश्वर की शक्ति से (द्यौः अस्थात्) यह द्यौः आकाश समस्त तारों सहित स्थिर है (पृथिवी अस्थात्) पृथिवी भी अपने स्थान में स्थिर है। (इदम्) यह (विश्वम्) समस्त (जगत्) जगत् भी (अस्थात्) स्थित, व्यवस्थित है। अपने २(आ-स्थाने) स्थान में (पर्वताः अस्थुः) पर्वत भी स्थिर हैं, इसी प्रकार मैं अपने (अश्वान्) अश्वों के समान गमनशील व्यापक, विषयों तक पहुंचने वाले प्राणों को भी (स्थाम्नि) इस स्थिर देह में (अतिष्ठिपम्) व्यवस्थित करूं।

य उदानंद् परायणं य उदानुण्न्यायनम्।
आवर्तनं निवर्तनं यो गोपा अपि तं हुवे ॥ २ ॥

(प्र० द्वि०) ऋ० । १६ । ५ ॥ (तृ० च०) ऋ० १० । १६ । ४ तृ०चं० ॥

भा०—(यः) जो महान् आत्मा (परायणम्) परम स्थान, मोक्ष

[७७] १-(तृ० च०) 'तिष्ठ······इमे स्थामन्नश्वा रंसत' इति पप्पै० सं०।
२-(प्र०) 'यउदानड् व्ययनं' (द्वि०) 'यंउदानट् परायणम्' इति ऋ०।
ऋग्वेदे मथितो यामायनो भृगुर्वारुणिश्च्यवनो वा ऋषिः। आपो गावो वा देवता।

में (उद् आनट्) व्यापक है। और (यः) जो (न्यायनम्) नीचे अयन तामस लोक को भी (उद्-आनट्) उन्नत करता है और (यः) जो जीव के (आ-वर्त्तनम्) यहां आगमन और (निवर्त्तनम्) यहां से गमन, मुक्ति इन दोनों को वश करता है। ऐसा जो (गोपाः) लोकों का पालक है (तम् अपि हुवे) उसको भी मैं स्मरण करता हूं।

जातवेदो नि वर्तय शतं ते सन्त्वावृतः ।
सहस्रं त उपावृतस्ताभिर्नः पुनरा कृधि ॥ ३ ॥

(द्वि० तृ०) यजु० १२ । ८ । ऋ० १० । १९ । ५ ॥

भा०—हे (जात-वेदः) सर्वज्ञ, सर्वव्यापक ईश्वर ! (ते) तेरे रचे हुए (शतम्) सैकड़ों (आ-वृतः) आवरण, देह, व्यवस्थाएं हैं। तो भी हमें (नि वर्त्तय) उन सब बंधनों से दूर कर। (ते उप-आ-वृतः सहस्रम्) तेरे बनाए कर्मबन्धन भी असंख्य हैं (ताभिः) उनसे (नः) हमें (पुनः) फिर (आ कृधि) अपने ही साक्षात् करने में समर्थ कर।



[७८] स्त्री पुरुष का परस्पर व्यवहार।

अथर्वा ऋषिः । १,२ चन्द्रमा त्वष्टा देवता । १—३ अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

तेन भूतेन हविषायमा प्यायतां पुनः ।
जायां यामस्मा आवाक्षुस्तां रसेनाभि वर्धताम् ॥ १ ॥

भा०—(तेन) उस (भूतेन) प्रभूत, प्रचुर, परिपक्व (हविषा)

३—(च०) 'ताभिरेनं निवर्त्तय' । इति पैप्प० सं० । 'पुनर्नो नष्टमाकृधि' 'पुनर्नो रयिमाकृधि' इति यजु० ।

[७८] १—(प्र०) 'भूतस्य' (तृ० च०) 'जायां यामस्या विदं सा रसेनाभिवर्धताम्' इति पैप्प० सं० ।

अन्न से (अयम्) यह पति (पुनः) वार २ (आप्यायताम्) पुष्ट हो और (याम्) जिस (जायाम्) स्त्री को (अस्मै) इस पुरुष के साथ (आ-अवाक्षुः) विवाह किया है (तां) उसको भी (रसेन) रस, पोपक पदार्थ से (अभिवर्धताम्) पुष्ट करे। पति अपनी स्त्री को भी वही पुष्टिकारक अन्न खिलावे जिससे वह स्वयं पुष्ट होता है।

अभि वर्धतां पर्यसाभि राष्ट्रेण वर्धताम् ।
रय्या सहस्रवर्चसेमौ स्तामनुपक्षितौ ॥ २ ॥

भा०—मनुष्य (पयसा) पुष्टिकारक पदार्थ से (अभि वर्धताम्) बढ़े और (राष्ट्रेण) राष्ट्र से भी बढ़े। (इमौ) ये दोनों स्त्री और पुरुष (सहस्र-वर्चसा) सहस्रों प्रकार से बल देने वाले (रय्या) धन से (अनुपक्षितौ) कभी दरिद्र न (स्ताम्) हों।

त्वष्टा जायामजनयत् त्वष्टास्यै त्वां पतिम् ।
त्वष्टा सहस्रमायूंषि दीर्घमायुः कृणोतु वाम् ॥ ३ ॥

भा०—(त्वष्टा) परमात्मा (जायाम्) पुत्र उत्पन्न करनेवाली स्त्री को उत्पन्न करता है। और (अस्यै) इस स्त्री के लिये हे पुरुष ! (त्वष्टा) त्वष्टा, परमात्मा ही (त्वाम् पतिम्) तुझ पति को भी उत्पन्न करता है। (त्वष्टा) परमात्मा ही (वाम्) तुम दोनों को (सहस्रम्) हज़ारों (आयूंषि) वर्षों तक की (दीर्घम्-आयुः) दीर्घ जीवन (कृणोतु) करे।



२—(प्र०) 'वर्धतां प्रजया' इति पैप्प० सं० ।

३—(द्वि०) 'त्वां पतिमदधौ', (तृ०) 'सहस्रआयू—' (च०) 'कृणोतु माम्' इति पैप्प० सं० ।

[७९] प्रचुर अन्न की प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । संस्फानो देवता । १–२ गायत्र्यौ, ३ त्रिपदा प्राजापत्या जगती ।
तृचं सूक्तम् ॥

अयं नो नभसस्पतिः संस्फानो अभि रक्षतु । असमातिं गृहेषु नः ॥१॥

भा०—(अयं) यह ही प्रत्यक्ष सूर्य, मेघ या वायु (सं-स्फानः) अन्न को बढ़ानेवाला (नभसः) अन्तरिक्ष का या वर्ष के प्रथम मास श्रावण का पति, पालक है। वह (नः) हमारी (अभि रक्षतु) सब प्रकार से रक्षा करे। और (नः) हमारे (गृहेषु) घरों में (असमातिम्) इतना अन्न आद समृद्धि प्रदान करे जो समा भी न सके।

त्वं नो नभसस्पत ऊर्जं गृहेषु धारय । आ पुष्टमेत्वा वसु ॥ २ ॥

भा०—हे (नभसः पते) नभः, अन्तरिक्ष के स्वामिन् ! (त्वं) तू (नः) हमारे (गृहेषु) घरों में (ऊर्जम्) पुष्टिकारक अन्न को (धारय) भर। और (पुष्टम्) हृष्ट, पुष्ट, (वसु) सम्पन्न धन प्राप्त करा।

देवे संस्फान सहस्रापोषस्येशिषे । तस्य नो रास्व तस्य नो धेहि भक्तिवांसः स्याम ॥ ३ ॥

भा०—हे (देव) प्रकाशस्वरूप (संस्फान) अन्न के वृद्धिकारक ! तू (सहस्र-पोषस्य) हज़ारों जीवों के पोषण करने में समर्थ धनधान्य का

---

[७९] १–'गृहाणामसमत्यै भव बहवो नो गृहा असन्' इति तै० सं० । (प्र०) नभसः पुरः' इति तै० सं० ।

२–(प्र०) 'स त्वं '–। (द्वि०) 'ऊर्जं नो धेहि भद्रया' इति तै० सं० ।

३–(द्वि०) 'सहास्रपोषिषे' 'तस्य नो धेहि तस्य ते भक्तीमहि' इति पैप्प० सं० । (च०) 'भक्तिवानो भूयास्म', 'तस्यास्ते भक्तिवानाः स्याम' इति तै० ब्रा० ।

(ईशिषे) स्वामी है । (तस्य) उसे (नः) हमें भी (रास्व) प्रदान कर और (नः) हमें (तस्य) वही (धेहि) दे । (ते) तेरे (तस्य) उसी अपरिमित धन के हम भी (भक्तिवांसः स्याम) भागी हों ।



[८०] कालकञ्ज नक्षत्रों के दृष्टान्त से प्राणों का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । चन्द्रमा देवता । भुरिक् । अनुष्टुप् १,२ प्रस्तार पंक्तिः तृचं सूक्तम् ॥

अन्तरिक्षेण पतति विश्वा भूतावचाकशत् ।
शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेना ते हविषा विधेम ॥ १ ॥

(प्र०, द्वि०) ऋ० १० । १३६ । ४ प्र०, द्वि० ॥

भा०—दिव्य श्वा के दृष्टान्त से प्राण का वर्णन करते हैं । जिस प्रकार दिव्य श्वा (अन्तरिक्षेण पतति) अन्तरिक्ष मार्ग से गमन करता है उसी प्रकार यह दिव्य श्वा—देव-इन्द्रियों के लिये हितकारी प्राणमय आत्मा अन्तरिक्ष=देह के भीतरी भाग में गति कर रहा है । और जिस प्रकार वह (विश्वा भूता) समस्त नक्षत्रों में (अव चाकशत्) अधिक प्रकाशमान है उसी प्रकार यह प्राणमय आत्मा (विश्वा भूता) समस्त पञ्चभूत के विकार तन्मात्र इन्द्रियां और समस्त जीवों को प्रकाशित करता है, जीवित चैतन्य बना देता है । उस (दिव्यस्य) दिव्य, क्रीड़नकारी, तेजोमय (शुनः) चेतनामय गतिशील प्राणमय आत्मा का (यत् महः) जो चेतनास्वरूप तेज है, हे अग्ने ! आत्मन् ! (तेन हविषा) उस अन्न जीवन रूप शक्ति से (ते विधेम) तेरी अर्चना करें, तेरा ज्ञान करें ।

[८०] १–(द्वि०) 'विश्वरूपा' । (द्वि० तृ० च०) 'स्वर्भूता व्यचाकशत्' सनी दिव्यस्येदं महस्तस्मा, एतेन हविषा जुहोमि, इति पैप्प० सं० ।

ये त्रयः कालकाञ्जा दिवि देवा इव श्रिताः ।
तान्त्सर्वानह्व ऊतयेऽस्मा अरिष्टतातये ॥ २ ॥

भा०—(ये) जो (त्रयः) तीन (कालकञ्जाः) कालकंज नामक तारे, मृगशिरा नक्षत्र मण्डल में (दिवि) द्यौ लोक में (श्रिताः) आश्रय पाये हुए हैं। वे (देवाः, इव) इस मूर्धास्थल शिरोभाग में विद्यमान तीन प्राणों की शक्तियों अर्थात् चक्षु, वाणी और श्रोत्र के समान हैं। इसी प्रकार आत्मा में और भी प्राण गुंथे हुए हैं। वे सब भी कालकाञ्ज अर्थात् कलना, चेतनाशील कञ्ज पद्म=सहस्रकमल रूप मूर्धागत मस्तिष्क शक्ति के पुत्र हैं (तान् सर्वान्) उन सबको (अस्मै) इस पुरुषस्वरूप आत्मा के (अरिष्टतातये) कल्याण के लिये और (ऊतये) रक्षा के लिये (अह्वे) पुकारता हूं उनका उपदेश करता हूं।

मृगशिरा नक्षत्र मंडल, कालपुरुष मण्डल भी कहाता है। उसके बीच के तीन तारे कालकञ्ज कहाते हैं।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में—"कालकञ्जा वै नामासुरा आसन्। ते सुवर्गाय लोकाय अग्निमचिन्वत" इत्यादि आख्यायिका में लिखा है—स इन्द्रस्य इष्टकामावृहत्। ते अवाकीर्यन्त। ये अवाकीर्यन्त त उर्णनाभयोऽभवन्। द्वावुदपतताम्। तौ दिव्यौश्वानावभवताम्॥ इत्यादि। यह ऐतिह्य सृष्टिक्रम के सिद्धान्त को स्पष्ट करता हुआ अध्यात्म में पंच प्राणों को स्पष्ट करता है। अर्थात् कालपुरुष मण्डल के 'मृगशिरा' भाग में तीनों तारे कालकञ्ज हैं, उनमें से बहुतसे तारे एक नेबुला या मूलमेघ या निहारिका से आवृत हैं। जिनको तैत्तिरीय ब्राह्मण के शब्दों में 'ऊर्णनाभि' शब्द से कहा है। और उनमें दो 'श्वा' एक कैनिस मेजर और दूसरा कैनिस माइनर' सब मिलकर 'कालकाञ्ज' कहलाते हैं उसी प्रकार अध्यात्म में शिरो भाग में या इस काल=चेतनमय देह में कान, आंख, मुख ये तीन 'कालकञ्ज' हैं और इनके साथ दोनों प्राण दो श्वान हैं।

अप्सु ते जन्म दिवि ते सधस्थं समुद्रे अन्तर्महिमा ते पृथिव्याम् ।
शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेना ते हविषा विधेम ॥ ३ ॥

भा०—हे अग्ने ! (अप्सु) समस्त संसार के मूल कारणरूप निहारिकाओं में से (ते जन्म) तेरा जन्म हुआ है और (दिवि) द्यौलोक में (ते) तेरी (सधस्थम्) अन्यतेरे जैसे सहस्रों प्रकाशमान पिण्डों के साथ स्थिति है। और तू (समुद्रे अन्तः) इस विशाल आकाश के भीतर है। और (ते महिमा) तेरी महिमा, विशाल कार्यक्षमता (पृथिव्याम्) पृथिवी पर प्रकट होती है। वास्तव में (दिव्यस्य) दिव्य आकाशस्थ (शुनः) श्वा='कैनिस मेजर का (यत् महः) जो नील प्रखर तीव्र प्रकाश है (तेन हविषा) उस रूप से हम (ते विधेम) तेरे रूपको भी जानते हैं।

यह बात वेद ने बड़े महत्व की बतलाई है। यह इस पृथ्वी का सूर्य आकाश के अति-प्रकाशवान् व्याध तारे के समान ही है। उसका भी नीला तेज ही है। वैज्ञानिकों का मत है कि पृथ्वी तथा सूर्य के निजी वातावरण के कारण सूर्य पीला दीखता है वास्तविक रूप उज्वल नील है।

अध्यात्म में—अग्निस्वरूप आत्मा आपः=प्राणों के भीतर लिपटकर या जलों में जीवन ग्रहण करता है। प्राणों, इन्द्रियों के बीच में रहता है, इस हृदय-समुद्र में व्यापक होकर भी पृथिवी=पार्थिव देह में अपनी चेतनामय महिमा को प्रकट करता है। दिव्य श्वा=मुख्य प्राण की शक्ति अहंकार से हम उस आत्मा की अर्चना करते हैं। इस सूक्त का रहस्य देखो कौपीतकी उपनिषत् (अ० ३)



[८१] पति-पत्नी का पाणि-ग्रहण, सन्तानोत्पादन कर्त्तव्यों का उपदेश।

त्वष्टा ऋषिः। मन्त्रोक्ता उत आदित्यो देवता। अनुष्टुभः। तृचं सूक्तम्।

३—'स नो दिव्यस्य' इति पैप्प० सं०।

यन्तासि यच्छसे हस्तावप रक्षांसि सेधसि ।
प्रजां धनं च गृह्णानः परिहस्तो अभूदयम् ॥ १ ॥

भा०—इस सूक्त में कंकण या रक्षासूत्र के दृष्टांत से पति के कर्त्तव्यों का जायापति संवाद रूप में उपदेश करते हैं । पत्नी कहती है—हे पते ! (यन्ता असि) तू यन्ता, नियामक, मुझे विवाह बन्धन में बांधने वाला है । इसलिये (हस्तौ) मेरे दोनों हाथों को कङ्कण या रक्षा सूत्र से (यच्छसे) बांधता है । और इस प्रकार (रक्षांसि) हमारे गृहस्थ के विघ्नकारी पुरुषों को (अप सेधसि) दूर करता है । इसी कार्य से (अयम्) यह मेरा पति (परिहस्तः) मेरे हाथों को बांधने या ग्रहण करने वाला होकर ही (प्रजां) मेरी सन्तान और (धनं च) धनको (गृह्णानः) स्वीकार करने का अधिकारी (अभूत्) हो जाता है ।

परिहस्त वि धारय योनिं गर्भाय धातवे ।
मर्यादे पुत्रमा धेहि तं त्वमा गमयागमे ॥ २ ॥

भा०—हे (परि-हस्त) जाया या पत्नी का हस्त ग्रहण करने वाले पते ! तू (योनिं) पुरुषों के उत्पन्न करने वाली स्त्री को (गर्भाय) गर्भगत सन्तान के (धातवे) धारण कराने और पोषण करने के लिये (विधारय) विशेष रूप से पालन कर । पति अपनी पत्नी को आज्ञा देता है कि हे (मर्यादे) मर्य=पुरुषों को पति रूप में स्वीकार करने हारी पत्नि ! तू (पुत्रम्) पुत्रको (आधेहि) धारण कर । (तम्) और उस पुत्रको (आगमे) मेरे सहवास में (आगमय) उत्पन्न कर अथवा (तं आगमे आगमय) उस पुत्रको आगम=उत्पन्न होने के उचित अवसर पर जब शरीर की स्वाभाविक प्रवृत्ति उत्पन्न करने की आज्ञा दे तब उत्पन्न कर ।

[८१] १—(तृ०-) 'कृण्वानः' इति सायणाभिमतः ।
२, उत्पादयेत्यर्थः इति सायणः ।

यं परि॑ह॒स्तमबि॑भ॒रदि॑तिः पुत्रका॒म्या ।
त्वष्टा॒ तम॑स्या॒ आ ब॑ध्न॒ाद् यथा॑ पु॒त्रं जना॒दिति॑ ॥ ३ ॥

भा०—(अदितिः) अखण्डित, ब्रह्मचारिणी स्त्री (पुत्रकाम्या) पुत्र की अभिलाषा वाली होकर (यम् परिहस्तम्) निज पाणिग्रहण करने वाले जिस पति को (अविभः) धारण करती है । (तम्) उसको (अस्याः) इस पत्नी के संग (त्वष्टा) परमात्मा (इति) इसलिये (आवध्नात्) सब प्रकार से बांधता है कि (यथा) जिससे वह स्त्री (पुत्रं जनात्) पुत्र को उत्पन्न करे ।

पति स्त्री के हाथ में कंकण पहनाता या अपना रक्षासूत्र केवल इस बातको सूचित करने के लिये बांधता है कि वह उसका पति है । वह कंकण ही सधवापन का चिह्न है । वह पति पुत्रको उत्पन्न करता है । केवल कंकणपरक अर्थ करना असंगत है, क्योंकि जड़ कंकण पुत्रको उत्पन्न करने में असमर्थ है ।



[८२] वर-वरण का उपदेश ।

जायाकामो भग ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

आ॒गच्छ॑त॒ आग॑तस्य॒ नाम॑ गृह्णा॒म्याय॒तः ।
इन्द्र॑स्य वृत्र॒घ्नो व॑न्वे वास॒वस्य॑ श॒तक्र॑तोः ॥ १ ॥

भा०—विवाह करने वाले वरका स्वागत करने का उपदेश करते हैं । कन्या के पिता आदि लोग वर-पक्ष के लोगों को या स्वयं वरार्थी पुरुषों

३-(च०) 'सुवादिति' इति पैप्प० सं० ।
[८२] १-'आगच्छता गतस्य' इति पैप्प० सं० । (च०) 'शतक्रतो' इति सायणाभिमतः ।

को कहें। हे विद्वान्, योग्य पुरुषो ! (आगच्छत) आओ और विराजो। मैं (आगतस्य) कन्या को प्राप्त करने के लिये मेरे द्वार पर आये पुरुष के (नाम) नाम को (गृह्णामि) लेता हूँ, स्पष्ट रूप से सबके सामने उच्चारण करता हूं जिससे आप लोग सब जान जायँ कि मैं अपनी कन्या का विवाह कितने उत्तम पुरुष से कर रहा हूं। और (आयतः) आये हुए (वृत्रघ्नः) विघ्नों के नाशक, (वासवस्य) धन, ऐश्वर्य के स्वामी (शतक्रतोः) सैकड़ों प्रज्ञाओं और कर्मों के साधक विद्वान् क्रियाशील (इन्द्रस्य) इन्द्र राजा के समान प्रतिष्ठाशील पुरुषको अपनी कन्या के लिये (वन्वे) वरता हूं, स्वीकार करता हूं।

वर या बींद को राजा के। समान सजाकर लेजाने की आज्ञा वेद के आदेश के अनुसार है। परन्तु जो ब्राह्मण हैं उनका इन्द्रत्व विद्या के आचार्य होने से ही जानना चाहिये। जैसा उपनयन एवं वेदारम्भ में लिखा है:—कस्य ब्रह्मचार्यसि। बालकः—भवतः। गुरुः—इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यसि। अग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तव।

येन सूर्यां सावित्रीमश्विनोहतुः पथा।
तेन मामब्रवीद् भगो जायामा वहतादिति ॥ २ ॥

भा०—(अश्विनौ) दिन और रात (येन पथा) जिस मार्ग से, जिस विधि से (सावित्रीं सूर्याम्) प्रकाश उत्पन्न करने वाली प्रभाको (ऊहतुः) बड़े आदर से समस्त विश्व में फैलाते हैं उसी प्रकार (अश्विनौ) वर के माता पिता (सावित्रीम्) पुत्र उत्पन्न करने में समर्थ नवयुवति, नवोढ़ा कन्या को उसी मान आदर से (ऊहतुः) अपने घर लेजावें। इसलिये वर कहता है कि (भगः) भग=ऐश्वर्यवान् मेरा पिता (माम् इति अब्रवीत्) मुझे यह उपदेश करता है कि (जायाम्) अपनी स्त्री को भी (तेन) उसी आदार से (आवहतात्) बड़े आदर से रथ पर

बैठाकर लेजाओ । इस विवाह प्रकरण का विशेष विव
सू० १५) में देखो । उसका विवरण (ऐ० ब्रा० ४

यस्तेऽङ्कुशो वसुदानो बृहन्निन्द्र हिरण्ययः ।
तेना जनीयते जायां मह्यं धेहि शचीपते ॥ ३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमात्मन्! (यः) जो (ते) तेरा (अंकुशः) अंकुश, शासन (वसुदानः) बहुत धन वितरण करने वाला (हिरण्ययः) सुवर्णमय (बृहन्) बहुत बड़ा है। हे (शचीपते) समस्त शक्तियों के स्वामिन्! (तेन) उसी अंकुश या शासन से (जनीयते) पुत्रोत्पादन करने योग्य पत्नी की कामना करने वाले (मह्यं) मुझे भी (जायां धेहि) जाया, स्त्री का प्रदान कर ।

॥ इति अष्टमोऽनुवाकः ॥

[तत्र दश सूक्तानि ऋचश्चैकत्रिंशत् ।]



[८३] अपची या गण्डमाला रोग की चिकित्सा ।

अंगिरा ऋषिः । मन्त्रोक्ता देवता । १ अनुष्टुप् । ४ एकावसाना द्विपदा निचृद् आर्ची अनुष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

अपचितः प्र पतत सुपर्णो वसतेरिव ।
सूर्यः कृणोतु भेषजं चन्द्रमा वोपोच्छतु ॥ १ ॥

भा०—गण्डमाला की चिकित्सा का उपदेश करते हैं। हे (अपचितः) गण्डमाला अपची रोग के विना पके फोड़ो! (वसतेः) अपने वास स्थान से (सुपर्ण इव) पक्षी श्येन के समान (प्र पतत) शीघ्र ही विनष्ट हो

३-(च०) 'त्वं धेहि शतक्रतो' इति पैप्प० सं० ।

जाओ। (सूर्यः) सूर्य (भेषजम्) चिकित्सा (कृणोत) करे (वा) अथवा (चन्द्रमाः) चन्द्र (अप उच्छतु) इनको दूर करे। सूर्य की किरणों से या चन्द्र की किरणों से गण्डमाला की चिकित्सा करनी चाहिये। नीले रंग की बोतल से रक्तविकार के विस्फोटक दूर होते हैं। यही प्रभाव चन्द्रालोक का भी है। रात्रि के चन्द्रातप में पड़े, जल से प्रातः विस्फोटकों को धोने से उनकी जलन शान्त होती और विषनाश होता है। यह लेखक का निजी अनुभव है।

एन्येका श्येन्येका कृष्णैका रोहिणी द्वे।
सर्वासामग्रभं नामावीरघ्नीरपेतन ॥ २ ॥

भा०—उक्त गण्डमालाओं में से (एका) एक (एनी) हलकी लाल श्वेत रंग की स्फोटमाला होती है और (एका) दूसरी एक (श्येनी) श्वेत फुन्सी वाली होती है। (एका) तीसरी एक (कृष्णा) काली फुन्सियों वाली होती है। और (द्वे) दो प्रकार (रोहिणी) लाल रंग की होती हैं। उनको क्रम से ऐनी, श्येनी, कृष्णा और रोहिणी नाम से कहा जाता है। इस प्रकार (अहम्) मैं (सर्वासाम्) इन सबके (नाम) नाम और लक्षणों का अथवा इनके नमन या दमन या वश करने के उपाय का (अग्रभम्) उपदेश करता हूं। जिससे ये (अवीरघ्नीः) पुरुष का जीवन विनाश किये विना ही (अपेतन) दूर होजाया करें।

असूतिका रामायण्य/पचित् प्र पतिष्यति।
ग्लौरितः प्र पतिष्यति स गलुन्तो नशिष्यति ॥ ३ ॥

भा०—(असूतिका) जो गण्डमाला पीप पैदा नहीं करती वह (रामायणी) रामा=रक्तनाड़ी में ही छिपी रहती है, ऐसी (अपचित्)

३—(च०) 'गलन्तः' इति क्वचित्।

अपची या गण्डमाला भी पूर्वोक्त उपचार से (प्र पतिष्यति) विनष्ट हो जायगी । (इतः) इस स्थान से (ग्लौः) व्रणकी पीड़ा भी (प्र पतिष्यति) विनष्ट हो जायगी । (सः) वह (गलुन्तः) गलने से, परिपक्व होजाने से (नशिष्यति[१]) विनष्ट हो जायगी ।

वीहि स्वामाहुतिं जुषाणो मनसा स्वाहा मनसा यदिदं जुहोमि ॥४॥

भा०—हे पुरुष ! रोगिन् ! तू (स्वाम्) अपनी (आहुतिम्) भोजन सामग्री को (मनसा जुषाणः) अपने मन से प्रेम करते हुए (वीहि) खाया कर । (यद्) जो कुछ भी (इदम्) यह कटु ओषधि भी (जुहोमि) मैं तुझे दूं उसको (मनसा) मन से (स्वाहा) उत्तम जानकर सेवन कर । तभी रोग नष्ट होगा और खाये हुए औषध और अन्न का फल होगा । अथवा अपने (मनसा) मननपूर्वक भोजन करो और जो मैं ईश्वर (जुहोमि) तुम लोगों को देता हूं उसको भी मननपूर्वक (स्वाहा) स्वीकार करो। अविवेक से किसी पदार्थ को न खाओ और न उपयोग में लो।



[८४] आपत्ति और कष्टों के पापों से मुक्त होने की प्रार्थना ।

अङ्गिरा ऋषिः । निर्ऋतिर्देवता । १ भुरिक् जगती । २ त्रिपदा आर्ची बृहती ३ जगती ४ भुरिक् त्रिष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

यस्यास्त आसनि घोरे जुहोम्येषां बद्धानामवसर्जनाय कम् ।
भूमिरिति त्वाभिप्रमन्वते जना निर्ऋतिरिति त्वाहं परि वेद सर्वतः ॥ १ ॥   यजु० १२ । ६४ ॥

१. 'न, शिष्यासि' इति सायणसम्मतः पदच्छेदः ।
४–'सकलं तेन शुष्यति [शुष्याति]' इति पैप्प० सं० ।
१–(प्र०) 'घोर आसन्' इति यजु० । 'क्रूर आसन्' इति पैप्प० सं०। 'यदयंत आसनि' इति मै० सं० । (द्वि०) 'बन्धनाम्' यजु०, तै०

भा०—हे निर्ऋते ! पापमय, असत्यमय, आलस्यमय प्रवृत्ते ! (यस्याः (ते) जिस तेरे (घोरे आसनि) घोर मुख में (एषाम्) इन (बद्धानाम्) विषयों में बंधी हुई इन्द्रियों के (अव-सर्जनाय) सुख पूर्वक विचरण के लिये (जुहोमि) अपने आपको आहुति करता हूं। उस (त्वा) तुझको (जनाः) प्राणी लोग (भूमिः इति) अपने जीवन का आश्रय, सुख-भूमि रूप से या जीव को जन्मदात्री (अभि-प्रमन्वते) मानते हैं परन्तु (अहं) मैं ज्ञानवान् पुरुष तो (त्वा) तुझको (सर्वतः) सब प्रकार से (निर्ऋतिः) आनन्द रहित, निःसुख, कष्टकारिणी ही (परि वेद) जानता हूं।

दुनियां इन्द्रियों के विषय-सुखों को जीवन का आश्रय समझती है। परन्तु आत्मज्ञानी विषय-सुखों को ही हेय पदार्थ समझता है। निर्ऋतिः निरमणात् (निरु०)।

भूते ह॒विष्म॑ती भवै॒ष ते॑ भा॒गो यो अ॒स्मासु॑।
मु॒ञ्चेमान॒मूनेन॑सः॒ स्वाहा॑ ॥ २ ॥

भा०—हे भूते ! संभूते ! आत्मा के देह में उत्पन्न होने के कारण-रूप ! तू (हविष्मती भवः) हवि=अन्न=भोग्य पदार्थों से सम्पन्न (भव) हो। (एषः) यही (ते) तेरा (भागः) भाग=सेवन करने योग्य पदार्थ है (यः) जो (अस्मासु) हम प्राणियों में विद्यमान है (इमान्) इन इहलोक के वासी और (अमून्) उन इस लोक में शरीर छोड़कर जाने वाले सब जीवों को (एनसः) पाप से (मुञ्च) मुक्त कर (स्वाहा) हमारी यही उत्तम प्रार्थना है। प्राणी उत्पन्न हों तो उनको उत्तम

सं०। 'बन्धानां प्रमोचनाय' इति मै० सं०। (तृ० च०) 'यंत्वा-जनो भूमिरिति प्रमन्दते निर्ऋतिं त्वाहं परिवेद विश्वतः' इति यजु०।
२–(प्र०) 'भूमे हवि–' इति लडविग्कामितः।

उत्तम अन्न आदि भोग्य पदार्थ प्राप्त हों । और वे सब जीव कुप्रवृत्ति से मुक्त होकर पाप से दूर रहें ।

एवो ष्व१स्मन्निर्ऋते नेहा त्वमयस्मयान् वि चृता बन्धपाशान् ।
यमो मह्यं पुनरित् त्वा ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे॥३॥

अथर्व० ६ । ६३ । २ (द्वि० तृ० च०)

भा०—हे (निर्ऋते) दुष्प्रवृत्ते ! ज्ञानशून्ये ! अविद्ये ! दुःखकारिणि ! (अनेहा) निश्चेष्ट अथवा आघात रहित होकर (एव उ) ही (त्वम्) तू हमारे (अयस्मयान्) आवागमन के बने हुए मानो लोहे से बने (बन्धपाशान्) कर्मबन्धन के फन्दों को (अस्मत्) हमसे (विचृत) खोलदे दूर कर । (यमः) वह सर्वनियन्ता प्रभु (पुनः इत्) फिर भी (त्वा) तुझको (मह्यम्) भोग निमित्त मुझे (ददाति) प्रदान करता है । मैं (तस्मै) उस(यमाय) सर्व नियन्ता को (नमः) नमस्कार करता हूं । (मृत्यवे) जो देह को आत्मा से और आत्मा को बन्धनों से मुक्त करता है ।

भोगापवर्गार्थं दृश्यम् । सांख्य । प्रकृति का बना संसार या कर्म अविद्या भोग के लिये है और यही तत्व ज्ञानी के लिये अपवर्ग का कारण होती है ।

अयस्मये द्रुपदे बेधिष इहाभिहितो मृत्युभिर्ये सहस्रम् ।
यमेन त्वं पितृभिः संविदान उत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥४॥

भा०—व्याख्या देखो [६ । ६३ । ३]



[८५] यक्ष्मा रोग की चिकित्सा ।

अथर्वा ऋषिः । यक्ष्मनाशनकामो । वनस्पतिर्देवता । अनुष्टुभः । तृच सूक्तम् ॥

वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः ।
यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमु देवा अवीवरन् ॥ १ ॥

अथर्व० १० । ३ । ५ ॥

भा०—यक्ष्मा दोष के नाश का उपदेश करते हैं। (अयं) यह (वरणः) वरण नाम का (देवः) दिव्य गुण वाला (वनस्पतिः) वृक्ष (वारयतै) बहुतसे दोषों को नाश करता है । (अस्मिन्) इस पुरुष में (यः) जो (यक्ष्मः) रोगकारी कीटाणु (आविष्टः) प्रवेश कर गये हैं (तम् उ) उनको भी (देवाः) विद्वान् लोग (अवीवरन्) वरण नामक औषध के बलसे ही दूर करदें। वरण=वरुण=जीरक, इसके तीन भेद हैं। शुक्ल जीरक, कृष्ण जीरक और बृहत्पाली। जिनमें बृहत्पाली। जीर्ण ज्वर का भी नाशक है। कृमिघ्न तो सभी हैं। वरुण तमाल वृक्ष का भी नाम है। वह सुगन्ध होने से कदाचित् यक्ष्मदोष को दूर करने में सहायक हो।

इन्द्र॑स्य वच॑सा व॒यं मि॒त्रस्य॒ वरु॑णस्य च ।
दे॒वाना॒ं सर्वे॑षां वा॒चा यक्ष्मं॑ ते वारयामहे ॥ २ ॥

भा०—(इन्द्रस्य) सूर्य (मित्रस्य) मरण से त्राण=रक्षा करने वाली शुद्ध वायु और (वरुणस्य) सर्वश्रेष्ठ या व्यापक विद्युत् सम्बन्धी (वचसा) उत्तम उपदेशों द्वारा और (सर्वेषां देवानाम्) समस्त देव विद्वानों की वाणी, सत्-शिक्षा से हम (ते यक्ष्मं) तेरे राजरोग को भी (वारयामहे) दूर करें।

यथा॑ वृ॒त्र इ॒मा आप॑स्त॒स्तम्भ॑ वि॒श्वधा॑ य॒तीः ।
ए॒वा ते॑ अ॒ग्निना॒ यक्ष्मं॑ वैश्वान॒रेण॑ वारये ॥ ३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (वृत्रः) मेघः (विश्वधा यतीः) सब ओर बहने वाले (इमाः, आपः) इन जलों को (तस्तम्भ) अपने भीतर रोक रखता है उसी प्रकार वैद्य रोगी की धातुओं को क्षीण होने से

३–(द्वि०) 'विश्वधायतीः' इति सायणाभिमतः। (प्र०) 'वृत्रैमापः' इति पैप्प० सं०।

रोके और (एवा) इस प्रकार (वैश्वानरेण) सब मनुष्यों के हितकारी (अग्निना) अग्नि से (ते यक्ष्मम्) तेरे राज-रोग को (वारये) दूर करूं।



[८६] सर्वश्रेष्ठ होने का उपदेश ।

वृषकामोऽथर्वा ऋषिः । एकवृषो देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

वृषेन्द्रस्य वृषा दिवो वृषा पृथिव्या अयम् ।
वृषा विश्वस्य भूतस्य त्वमेकवृषो भव ॥ १ ॥

भा०—सब से श्रेष्ठ होने के लिये वेद उपदेश करता है । हे पुरुष ! (इन्द्रस्य) उस परम ऐश्वर्य से तू भी (वृषा) सब काम्यसुखों का वर्षक (भव) हो । (दिवः) द्यौः सूर्य के तेज से जिस प्रकार मेघ पानी बरसाता है उसी प्रकार तू भी तेज से युक्त होकर (वृषा भव) सब पर सुखों की वर्षा करने वाला हो । (अयम्) यह मेघ (पृथिव्याः वृषाः) पृथिवी पर जिस प्रकार सब वृष्टियां करता और अन्न उत्पन्न करता है उसी प्रकार तू भी सब पदार्थ दूसरों पर न्योछावर करके उनके सुखों को उत्पन्न कर । (विश्वस्य भूतस्य वृषा) समस्त चर अचर प्राणियों के लिये सुखों का वर्षक होकर हे पुरुष ! (त्वम्) तू भी (एक-वृषः भव) एकमात्र सर्वश्रेष्ठ हो ।

समुद्र ईशे स्रवतामग्निः पृथिव्या वशी ।
चन्द्रमा नक्षत्राणामीशे त्वमेकवृषो भव ॥ २ ॥

भा०—जिस प्रकार (स्रवताम्) बहने वाले जलों, नदी नालों पर (समुद्रः) समुद्र ही (ईशे) वश करता है । और जिस प्रकार (पृथिव्याः)

[८६] १–'ऐन्द्रस्य','ईश्रस्य' वा इति ह्विटनिकामितः ।
२–(तृ०) 'सूर्यो नक्षत्राणाम्' इति पैप्प० सं० ।

पृथिवी के तल पर उत्पन्न होने वाले सब वनस्पतियों पर (अग्निः) अग्नि उनको भस्म करने वाली होने के कारण (वशी) उन पर वश किये हुए है और जिस प्रकार (नक्षत्राणाम्) नक्षत्रों में से (चन्द्रमाः ईशे) चन्द्र ही अपने तेज से सब के प्रकाशों को दबा लेता है, उसी प्रकार हे पुरुष ! तू समस्त प्रजाजनों के बीच में (एकवृषः) एकमात्र सर्वश्रेष्ठ (भव) हो, होने का यत्न कर ।

सम्राडस्यसुराणां ककुन्मनुष्याणाम् ।
देवानामर्धभागसि त्वमेकवृषो भव ॥ ३ ॥

भा०—हे उत्तम पुरुष ! तू (असुराणाम्) बलवान् पुरुषों का भी (सम्राट् असि) सम्राट् है । (मनुष्याणाम्) साधारण मनुष्यों में अथवा मननशील पुरुषों में भी (ककुत्) सबके ऊपर विराजमान है । (देवानाम्) दिव्य शक्तियों के धारण करनेवाले विज्ञानी पुरुषों में (अर्ध-भाक् असि) श्रेष्ठ पद को पाने वाला है । अतः (त्वम्) तू ही (एक-वृषः भव) एकमात्र सर्वश्रेष्ठ हो ।



[८७] राजा को स्थायी और दृढ़ शासक होने का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । ध्रुवो देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलत् ।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत् ॥ १ ॥

ऋ० १० । १७३ । १ ॥

[८७] १–'अन्तरेधि' (द्वि०) 'चावालिः' इति ऋ० । (च०) 'अस्मिन् राष्ट्रमधिश्रय' इति तै० सं० । 'अस्मे राष्ट्राणि धारय' इति तै०सं०। ऋग्वेदे ध्रुव ऋषिः । राज्ञः स्तुतिर्देवता ।

भा०—राजा को प्रजा का स्थायी शासक होने का उपदेश करते हैं। हे राजन्! मैं समस्त प्रजाजनों का प्रतिनिधि, पुरोहित (त्वा) तुझको (आहार्षम्) यहां राजसभा के मुख्य पद पर लाता हूं। तू (अन्तः अभूः) हम सब के बीच में शक्तिमान् होकर रह। तू (ध्रुवः) स्थिर (अविचाचलत्) कभी भी प्रलोभन, भय और स्वार्थ के झकोरों से भी न डिगता हुआ (तिष्ठ) इस आसन, राज्य-सिंहासन पर बैठ। (त्वा) तुझको (सर्वाः विशः) समस्त नगर में बसने वाली प्रजाएं (वाञ्छन्तु) हृदय से चाहें। देख, कहीं किसी तेरे दोष से यह (राष्ट्रम्) तेरा राष्ट्र (त्वत्) तेरे अधिकार से (मा अधिभ्रशत्) न फिसल जाय। अर्थात् जब तक प्रजा तुझको चाहेगी तब तक ही तू इस पद पर राष्ट्र का शासन कर पायेगा और जब वह प्रजाएं न चाहेंगी तो यह राष्ट्र तेरे शासन से निकल जायगा।

इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वत इवाविचाचलत् ।
इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय ॥ २ ॥

ऋ० १० । १७३ । २ ॥

भा०—हे राजन्! (इह एव एधि) इस राष्ट्र में तू सत्तावान् होकर रह। (मा अप च्योष्ठाः) तू कभी च्युत मत हो, अपने कर्त्तव्य से मत गिर। और (पर्वत इव) पर्वत के समान (अविचाचलत्) किसी प्रकार विचलित न होता हुआ (इन्द्र इव) सूर्य के समान (ध्रुवः) स्थिर होकर (इह) इस राजपद पर (तिष्ठ) विराज और (राष्ट्रम् उ धारय) राष्ट्र को पालन कर।

२—(द्वि०) 'चाचलिः' इति ऋ०। (प्र०) 'माव्यथिष्ठाः' इति तै० ब्रा०। (च०) 'राष्ट्रम्' इति आप० श्रौ० सू०। 'राष्ट्रं निधा—' इति पैप्प० सं०।

इन्द्र एतमदीधरद् ध्रुवं ध्रुवेण हविषा ।
तस्मै सोमो अधि ब्रवदयं च ब्रह्मणस्पतिः ॥ ३ ॥
ऋ० १० । १७३ । ३ ॥

भा०—जिस प्रकार (इन्द्रः) परमेश्वर (एतम्) इस ब्रह्माण्ड को (ध्रुवेण) अपनी स्थिर, सदा वर्त्तमान (हविषा) आदान शक्ति से (ध्रुवम्) स्थिर रूप में (अदीधरत्) धारण कर रहा है। उसी प्रकार राजा भी इस राष्ट्र को (इन्द्रः) अधिपति होकर अपनी (ध्रुवेण हविषा) स्थिर प्रतिष्ठापक शक्ति से (अदीधरत्) धारण करे। (तस्मै) उस इन्द्ररूप राजा को (सोमः) यह शान्त प्रकृति या सबका प्रेरक धर्माध्यक्ष और (ब्रह्मणस्पतिः च) वेद का विद्वान् आचार्य भी (अधि ब्रवत्) उपदेश करे।



[८८] राजा को ध्रुव होने का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । ध्रुवो देवता । १-२ अनुष्टुभौ । ३ त्रिष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत् ।
ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवो राजा विशामयम् ॥ १ ॥
ऋ० १० । १७३ । ४ ॥

भा०—जिस प्रकार (द्यौः ध्रुवा) यह द्यौः लोक ध्रुव स्थिर है। जिस प्रकार (पृथिवी ध्रुवा) पृथिवी भी स्थिर है वह अपने क्रान्ति-मार्ग से विचलित नहीं होती। (इदं विश्वं जगत्) यह समस्त संसार

३-(प्र०) 'इममिन्द्रो अदी' (तृ०) 'तस्मा उ' इति ऋ० । 'तस्मै देवा अधिब्रुवन्' इति तै० ब्रा० ।
[८८] १-प्र० तृ० द्वि० च० इति पादक्रमः ऋ० । (तृ०) 'ध्रुवा इ–' इति तै० ब्रा० ।

(ध्रुवम्) ध्रुव, अपने नियमों में स्थिर है । जिस प्रकार (इमे पर्वताः ध्रुवासः) ये पर्वत भी ध्रुव हैं । उसी प्रकार (अयम् राजा) यह राजा भी (विशाम्) प्रजाओं में (ध्रुवः) स्थिर हो ।

ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः ।
ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम् ॥ २ ॥

ऋ० १० । १७३ । ५ ॥

भा०—हे राजन्! (ते) तेरे (राष्ट्रम्) राष्ट्र को (राजा वरुणः) सब का राजा, वह सर्वश्रेष्ठ प्रभु (ध्रुवम्) ध्रुव स्थिर करे । (देवः बृहस्पतिः) वही समस्त विशाल लोकों का पालक परम देव तेरे राष्ट्र को (ध्रुवम्) स्थिर करे । (इन्द्रः च) वह ऐश्वर्यशील और (अग्निः च) ज्ञानस्वरूप प्रभु (ते) तेरे राष्ट्र को (ध्रुवं धारयताम्) स्थिर रूप से धारण करे ।

अथवा वरुण, बृहस्पति, इन्द्र, अग्नि ये राष्ट्र के विशेष शासकों के पद हैं । वरुण—पोलीस विभाग का अध्यक्ष । बृहस्पति–मुख्य सचिव इन्द्र । सेनापति, अग्नि–नायक ।

ध्रुवोच्युतः प्र मृणीहि शत्रूञ्छत्रूयतोधरान् पादयस्व ।
सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीर्ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह॥३॥

भा०—हे राजन्! तू (अच्युतः) अपने कर्त्तव्यों से न चूक कर (ध्रुवः) स्थिर रहता हुआ (शत्रून्) राष्ट्र का नाश करने वाले पुरुषों को (प्र मृणीहि) खूब कुचल डाल । और (शत्रूयतः) शत्रु पुरुषों के समान आचरण करने वाले पुरुषों को (अधरान्) नीचे (पादयस्व) गिरा दे । (सर्वाः दिशः) सब दिशाएं, सब दिशाओं की निवासी प्रजाएं

३–(द्वि०) 'पातयस्व' इति सायणाभिमतः ।

(सध्रीचीः) एक साथ रहती हुईं (सं-मनसः) एक चित्त होकर रहें। (समितिः) प्रजाओं की महासभा (इह) इस राष्ट्र में (ते ध्रुवाय) तेरे स्थिरता के लिये (कल्पताम्) बनी रहें।



[८९] पति का कर्त्तव्य पत्नीसंरक्षण।

अथर्वा ऋषिः। मन्त्रोक्ता देवता। अनुष्टुभः। तृचं सूक्तम् ॥

इदं यत् प्रेण्यः शिरो दत्तं सोमेन वृष्ण्यम्।
ततः परि प्रजातेन हार्दिं ते शोचयामसि ॥ १ ॥

भा०—(यत्) जो (इदम्) यह (प्रेण्याः) प्रियतमा पत्नी का (वृष्ण्यम्) बलप्रद (शिरः) शिर-इज़्ज़त, कीर्त्ति (सोमेन) सर्व जगत् के प्रेरक परमात्मा ने हे पुरुष! तेरे हाथ में (दत्तम्) दी है। (ततः) उस स्त्री की कीर्त्ति से (प्र-जातेन) उत्पन्न हुए उत्कृष्ट तेरे यश या कर्त्तव्य से (ते) तेरे (हार्दिम्) हृदय के भावों को (परि शोचयामसि) हम उद्दीप्त करते हैं। मनुष्य स्त्रियों की कीर्त्ति की रक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझे और उनकी बे-इज्जती होती देखे तो अपने हृदय में मन्यु धारण करे। इसी प्रकार स्त्रियें भी अपने पतियों के यश की रक्षा करें।

शोचयामसि ते हार्दिं शोचयामसि ते मनः।
वातं धूम इव सध्र्य१ङ् मामेवान्वेतु ते मनः ॥ २ ॥

भा०—हे मित्र! उसी कर्त्तव्य से (ते) तेरे (हार्दिम्) हृदय के भावों को हम (शोचयामसि) उद्दीप्त करते हैं। (ते मनः) तेरे मन को (शोचयामः) उद्दीप्त करते हैं। हे स्त्री! (ते मनः) तेरा संकल्प विकल्प करने वाला मन, अंतःकरण (वातं धूम इव) जिस प्रकार वायु

[८९] १-'परिप्रजातेन' इत्येकं पदमिति सायणः।
२-(तृ०) 'सध्रिं' इति सायणाभिमतः।

के झकोरे के साथ धूआं उड़ा चला जाता है उसी प्रकार (माम् एव) मेरे ही (सध्यङ्) साथ २ (अनु एतु) पीछे २ चले। इसी प्रकार स्त्री भी पुरुष के प्रति भावना करे।

मह्यं त्वा मित्रावरुणौ मह्यं देवी सरस्वती ।
मह्यं त्वा मध्यं भूम्या उभावन्तौ समस्यताम् ॥ ३ ॥

भा०—हे स्त्री ! (त्वा) तुझको (मित्रावरुणौ) मित्र=मरण से बचाने वाला और वरुण=सर्वशरीरव्यापी प्राण और अपान (समस्यताम्) मिलाएं। (देवी सरस्वती त्वा मह्यं समस्यताम्) देवी सरस्वती यह वाणी तुझे मेरे साथ मिलाए रक्खे। (भूम्या मध्यम्) भूमि का मध्य भाग जहां हमारा घर बना है और (उभौ अन्तौ) उसके दोनों छोर भी (त्वा मह्यं समस्यताम्) तुझे मेरे साथ जोड़े रक्खें। अर्थात् प्राण अपान, जीवन, और वाणी से हम दोनों स्त्री पुरुष परस्पर प्रेम करें भूमि के बीच में और देश देशान्तरों में भी एक दूसरे का त्याग न करें।



[९०] रोग पीड़ाओं को दूर करने के उपायों का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः। रुद्रो देवता। १–२ अनुष्टुभौ। ३ आसुरी भुरिग् उष्णिक्।
तृचं सूक्तम् ॥

यां ते रुद्र इषुमास्यदङ्गेभ्यो हृदयाय च ।
इदं तामद्य त्वद् वयं विषूचीं वि वृहामसि ॥ १ ॥

भा०—हे पुरुष ! (रुद्रः) सर्व शरीरस्थ आत्माओं को रुलाने वाले रुद्र (याम्) जिस (इषुम्) बाण को तेरे (अंगेभ्यः) शरीर के अंगों और (हृदयाय च) हृदय के प्रति (आस्यत्) फेंकता है (अद्य) आज,

१–(तृ०) इमां त्वामद्य ते वयं' इति पैप्प० सं० ।

अब (ताम्) उस पीड़ाकारी बाण को (त्वत्) तुझसे (विषूची) परे, विपरीत दिशा में (वि वृहामसि) दूर कर देते हैं । हृदय और शरीर में आने वाले पीड़ा और दुःख के कारणों का पहले ही से उपाय करना चाहिये।

यास्ते॑ श॒तं ध॒मन॒योऽङ्गा॒न्यनु॒ विष्ठि॑ताः ।
तासां॑ ते॒ सर्वा॑सां व॒यं निर्वि॒षाणि॑ ह्वयामसि ॥ २ ॥

भा०—(याः) जो (ते) तेरे शरीर की (शतं धमनयः) सैंकड़ों नाड़ियां (अङ्गानि) शरीर के अंगों २ में (अनु-विष्ठिताः) व्यापक हो रही हैं (ते) तेरी (तासां सर्वासाम्) उन सबों के (निर्विषाणि) अंगों को विषरहित, शुद्ध करने के उपाय (ह्वयामसि) करें ।' शरीर में विष (Poison) बैठ जाने से अंगों में दर्द होता है इसलिये पीड़ा को दूर करने के लिये शरीर के विषों को दूर करना चाहिये। दर्द आप से आप दूर हो जायगा ।

नम॑स्ते रुद्रास्य॑ते॒ नमः॒ प्रति॑हितायै ।
नमो॑ विसृ॒ज्यमा॑नायै॒ नमो॒ निप॑तितायै ॥ ३ ॥

भा०—रोगपीड़ा को चारों दिशाओं में चिकित्सा का उपदेश करते हैं । हे रुद्र ! रुलाने वाले कारण ! (ते) तेरे (अस्यते) फेंकते हुए तुझे (नमः) हम वश करें । यदि उस समय तुझे न वश कर सकें तो (प्रतिहितायै नमः) तेरे फेंकने के लिये तैयार बाण या शूलकरी तीक्ष्ण धार को (नमः) हम वश करें । यदि उसे भी न रोक सकें तो (विसृज्यमानायै नमः) जब छोड़ ही दिया हो ऐसे बाण को मध्य में वश करें अथवा (निपतितायै) जब गिर पड़े तब उसको (नमः) वश करें ।

२–(प्र०) 'यास्ते हिरा' (तृ०) 'सर्वासां साकं' इति पैप्प० सं० ।
३–(द्वि०) 'प्रतिहिताभ्यः' (तृ० च०) 'विसृज्यमानाभ्यो नमस्त्वय ताभ्यः' इति पैप्प० सं० ।

पीड़ाजनक रोग को बाण से उपमा देकर उसके वश करने का उपदेश किया है। प्रथम रोग कारणों को दूर करें और दूसरे जब रोग के कारणों से रोग उत्पन्न होने को हों तब उनको रोकें और तीसरे जब उत्पन्न हो रहे हों तब रोकें और चौथे जब रोग आ भी जाय तब भी उसको वश करें।



[९१] भवरोग-विनाश के उपाय।

भृग्वङ्गिराः ऋषिः । यक्ष्मा देवता । त्रिष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

इ॒मं यव॑मष्टायो॒गैः ष॑ड्यो॒गेभि॑रच॒र्कृषुः।
तेना॑ ते त॒न्वो॒३॑ रपो॑ऽपा॒चीन॒मप॑ व्यये ॥ १ ॥

भा०—भव-रोग के विनाश का उपाय बतलाते हैं। (इमम्) इस (यवम्) शरीर इन्द्रिय आदि संघात को मिलाये रखने वाले आत्मा को (अष्टायोगैः) यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि, इन आठ प्रकार के योगों द्वारा और (षड्-योगैः) शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और मुमुक्षत्व इन छः के योग, सम्पत्ति से (अचर्कृषुः) कर्षण करते हैं अर्थात् आत्म-भूमि को शोधन करते हैं। (तेन) इस योगाभ्यास से (ते) तेरे (तन्वः) आत्मा और शरीर का (रपः) पाप और रोग (अपाचीनम्) दूर (अप व्यये) करने का उपदेश करता हूं।

न्य१॒ग् वातो॑ वाति॒ न्य॑क् तपति॒ सूर्यः॑।
नी॒चीन॑म॒घ्न्या दु॑हे॒ न्य॑ग् भवतु ते॒ रपः॑ ॥ २ ॥
ऋ० १० । ६० । ११ ॥

---

[९१] १—(च०) 'अर्वाचीन अपहयता' इति पैप्प० सं०।
२—(प्र०) 'वातो अवबाति' इति ऋ०। तत्र बन्ध्वादयो गौपायना ऋषयः। सुबन्धो जीविताह्वानं देवता।

भा०—हे पुरुष ! (वातः) प्राण वायु (न्यग्) शरीर के नीचे के मार्ग में भी (वाति) गति करता है । (सूर्यः) साधक का चेतनामय सूर्य (न्यक्) नीचे के मूल भाग में भी (तपति) प्रकाशित होता है । (अघ्न्या) कभी न नाश होने वाली चेतना (नीचीनम्) नीचे के मूल भाग में विशेष रूप में प्रकट होती है, साथ ही (ते रपः) तेरा पाप भी (न्यग् भवतु) स्वयं दब कर दूर हो जाय । अथवा—जिस प्रकार (वातः न्यग् वाति) वायु नीचे की तरफ़ वेग से जाता है (सूर्यः न्यक् तपति) सूर्य जिस प्रकार नीचे भूमि पर तपता है, जैसे (अघ्न्या नीचीनम् दुहे) जैसे गाय नीचे झुक कर दूध देती है उसी प्रकार तेरा (रपः) पाप भी (न्यग्) नीचे (भवतु) हो जाय ।

आप इद् वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः ।
आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम् ॥ ३ ॥
ऋ० १० । १३७ । ६ ॥ अथर्व० ३ । ७ । ५ ॥

भा०—अथवा (आपः इत् वा) जल ही (भेषजीः) सब रोगों की चिकित्सा है, क्योंकि (आपः) जल ही (अमीव-चातनीः) रोगों को नाशक हैं । (आपः) जल ही (विश्वस्य) समस्त प्राणियों के (भेषजीः) रोग दूर करती हैं, वही (भेषजम्) रोग को दूर (कृण्वन्तु) करें ।

इस सूक्त में तीन प्रकार से मल और पापों को नाश करने का उपदेश किया है (१) योगाभ्यास से चित्त के पापों को दूर करे । (२) क्रिया-योग से कायिक दोषों को दूर करे और (३) जल-स्नान से शरीर के बाह्य मलों को दूर करे ।



३–(तृ०) 'सर्वस्य भेष–' इति ऋ० । (तृ० च०) 'आपः समुद्रार्थीयतीः परावहतु ते रपः' इति पैप्प०सं० । ऋग्वेदे सप्त ऋषय ऋषयः ।

[९२] प्राणरूप अश्व का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । वाजी देवता । २, ३ त्रिष्टुभौ । १ जगती । तृचं सूक्तम् ॥

वार्तरंहा भव वाजिन् युज्यमान इन्द्रस्य याहि प्रसवे मनोजवाः ।
युञ्जन्तु त्वा मुरुतो विश्ववेदस आ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु ॥१॥

यजु० ६ । ८ ॥

भा०—हे (वाजिन्) वाज, बल, ज्ञान से युक्त प्राण ! (युज्यमानः) तू इस देह में नियुक्त होकर (वात-रंहाः भव) वायु के वेग वाला हो । और (मनोजवाः) मानसिक वेग से गतिमान् होकर तू (इन्द्रस्य) इस आत्मा के (प्रसवे) उत्तम ज्ञान-सम्पादन और इन्द्रियों के और शरीर के संचालन के कार्य में (याहि) गति कर । (त्वा) तुझे (मरुतः) ज्ञानी पुरुष (विश्व-वेदसः) सब धनों को प्राप्त करनेवाले, तपस्वी (युञ्जन्तु) योगाभ्यास द्वारा नियुक्त करें । अथवा इन्द्रियगण सब पदार्थों को ज्ञान करने और प्राप्त करने में अपने भीतर लें (त्वष्टा) स्वयं इन्द्र आत्मा (ते) तेरे (पत्सु) समस्त चरणों में, गमन साधनों में (जवम्) वेग का (दधातु) आधान करे ।

इन्द्रो वै त्वष्टा । (ऐ० ६ । १०) शरीर का प्राण; प्राण वायु के वेगसे चलता है । परन्तु मानसिक बल से प्रेरित होकर वह शरीर के सब कार्यों को चलाता है। विद्वान् लोग उन प्राणों को वश करते हैं । वह आत्मा स्वयं उस प्राण में वेग उत्पन्न करता है । अथवा इन्द्रियगण उस प्राण को अपने ज्ञान और कर्म करने में लगाती हैं ।

अश्वपक्ष में—हे (वाजिन् युज्यमान त्वं वात-रंहाः भव) हे वेगवान् अश्व ! गतिमान् यन्त्र-रथ में जुड़ा हुआ तू वायु के वेगवाला हो ।

---

[९२] १–(द्वि०) 'इन्द्रस्येव दक्षिणः श्रियैधि' इति यजु० । (तृ०) 'मरुतो दव्यस्य' इति पैप्प० सं० ।

और (इन्द्रस्य प्रसवे मनोजवाः याहि) राजा की प्रेरणा में आकर तू मन के वेगवाला होकर चल। (विश्ववेदसः मरुतः त्वा युञ्जन्तु) समस्त साधनों के और ज्ञानों के स्वामी मरुत् वेगवान् तीव्रगामी वीरभट तुझे अपने रथों में लगावें। और (त्वष्टा) त्वष्टा, गढ़ने वाला, कारीगर (ते पत्सु जवं दधातु) तेरे पैरों में वेग को उत्पन्न करे।

जवस्ते अर्वन् निहितो गुहा यः श्येने वात उत योऽचरत् परीत्तः।
तेन त्वं वाजिन् बलवान् बलेनाजिं जय समने पारयिष्णुः ॥ २ ॥

यजु० ९ । ९ प्र० ॥

भा०—हे (अर्वन्) गतिशील प्राण ! (ते) तेरा (जवः) वेग (यः) जो (गुहा) गुहा, भीतरी अन्तःकरण में (निहितः) रक्खा है और (यः) जो (श्येने) श्येन, ज्ञान के कर्त्ता आत्मा में (परीत्तः) सुरक्षित है (उत) और (यः) जो वेग (वाते) वायु में, प्राण वायुमें (परीत्तः) व्याप्त होकर (अचरत्) शरीर भर में फैल जाता और इन्द्रियों में विचरण करता है हे (वाजिन्) बलवन् ! प्राण ! (तेन) उस सब (बलेन) बल से (बलवान्) बलवान् होकर (समने) इस जीवन-संग्राम अथवा समन, इन्द्रिय-देहादि संघात में (पारयिष्णुः) सब बन्धनों को पार करता हुआ सबको वश करता हुआ (आजिम्) चरम पद को (जय) विजय कर, प्राप्त कर।

गौण रूप से अश्व=घोड़े की तरफ भी लगता है—हे अश्व ! जो वेग हृदय में, बाज़ में और वायु में है उससे तू बलवान् होकर समन=संग्राम में सबको पार करता हुआ राज्य लक्ष्मी को प्राप्त कर।

२—(प्र०) 'जवो यस्ते वाजिन्' (द्वि०) श्येने परितो अचरच्च वाते (तृ०) 'तेन नः' (च०) 'वाजजिच्च भव शमने च पार–' इति यजु०। (द्वि०) 'श्येने चरति यश्च वाते' इति पैप्प० सं०।

तनूष्टे वाजिन् तन्वं नयन्ती वाममस्मभ्यं धावतु शर्म तुभ्यम् ।
अह्रुतो महो धरुणाय देवो दिवीव ज्योतिः स्वमामिमीयात् ॥३॥

ऋ० १० ५६ । २ ॥

भा०—हे वाजिन् ! प्राणात्मन् ! (ते तनूः) तेरा व्यापार या तेरी गति (तन्वम्) इस देह को (नयन्ती) चलाती हुई (अस्मभ्यम्) हमें (वामम्) उस प्राण आत्मा को (धावतु) प्राप्त करावे या शुद्ध करे और (तुभ्यम्) तुझे (शर्म) सुख, शान्ति, अनुद्वेग प्राप्त करावे । तूही (देवः) प्रकाशात्मक या शरीर के भीतर सब क्रीड़ाएं करने वाला होकर (धरुणाय) इस शरीर के धारण करने के लिये (अह्रुतः) कभी मूर्छित न होने वाला (महः) महान् शक्ति है । (ज्योतिः) जिस प्रकार सूर्य (दिवि) आकाश में स्वयं प्रकाशमान होता है उसी प्रकार (देवः) तू भी स्वतः प्रकाशमान होकर (स्वम्) अपने इस आत्मा को (आमिमीयात्) प्राप्त हो, प्राप्त करा । अथ पक्ष में स्पष्ट है ।

॥ इति नवमोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तानि दश, ऋचश्च द्वात्रिंशत्]



[९३] सेनाओं से रक्षा ।

शंतातिर्ऋषिः । रुद्रो देवता । १-३ त्रिष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

यमो मृत्युरघमारो निर्ऋथो बभ्रुः शर्वोऽस्ता नीलशिखण्डः ।
देवजनाः सेनयोत्तस्थिवांसस्ते अस्माकं परि वृञ्जन्तु वीरान् ॥१॥

३–(द्वि०) 'धातु शर्म' (तृ०) 'देवान्' (च०) 'मिमीयाः' इति ऋ० । (तृ०) 'दिवो' इति सायणाभिमतः ।

[९३] १–(द्वि०) 'अस्त्रा' इति प्रायः । 'अस्ता' इति सायणाभिमतः । (द्वि०) 'भवः श–', 'शितिपर्दी' । (च०) 'वृञ्जन्ति' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(यमः) सब का नियन्ता, व्यवस्था रखनेवाला, (मृत्युः) सबका मारनेवाला, (अघमारः) दुष्टों को पाप अपराधों के कारण दण्ड देनेवाला, (निर्ऋथः) भरसक पीड़ा देने वाला (बभ्रुः) सबका पालक, या पीली वर्दी पहननेवाला (शर्वः) हिंसा करनेवाला, (अस्ता) बाणों का फेंकनेवाला (नील-शिखण्डः) सिर पर नीला तुर्रा लगा कर चलने वाला ये सब (देव-जनाः) देव=राजा के भिन्न भिन्न प्रकार के अधिकारी पुरुष हैं। ये (सेनया) कप्तान सहित सेना बनाकर (उत्-तस्थिवांसः) दूसरे राष्ट्रों पर चढ़ाई करते हुए भी (अस्माकम्) हम प्रजाओं के (वीरान्) वीर पुरुषों को (परि-वृञ्जन्तु) हानि से बचाये रक्खें।

मनसा होमैर्हरसा घृतेन शर्वायास्त्र उत राज्ञे भवाय ।
नमस्ये/भ्यो नम एभ्यः कृणोम्यन्यत्रास्मदघविषा नयन्तु ॥ २ ॥

भा०—(शर्वाय) शत्रुहिंसक, (अस्त्रे) शत्रुओं पर बाणों को फेंकनेवाले और (राज्ञे) राजा और (भवाय) सामर्थ्यवान् सब कार्यों के उत्पादक पुरुषों के लिये (मनसा) अपने चित्त से (होमैः) दानों, धन राशियों से, (हरसा) अपनी शक्ति से (घृतेन) और अपने तेज या स्नेह-मय पुष्टिकारक पदार्थों से हम सहायता करें। (एभ्यः) इन (नमस्येभ्यः) आदर योग्यपुरुषों के लिये (नमः) मैं आदर (कृणोमि) करता हूँ। और चाहता हूँ कि ये लोग (अघविषः) पापों के जहर या विष से पूर्ण या पापों से पूर्ण, नीच व्यक्तियों को (अस्मत् अन्यत्र) हम से अलग (नयन्तु) करें, हममें पापियों को न रहने दें।

त्रायध्वं नो अघविषाभ्यो वधाद् विश्वे देवा मरुतो विश्ववेदसः।
अग्नीषोमा वरुणः पूतदक्षा वातापर्जन्ययोः सुमतौ स्याम ॥ ३ ॥

२—(द्वि० तृ०) अग्निषोमामरुतः पूतदक्षाः । विश्वदेवा मरुतो वैश्वदेवाः ।' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(विश्वे देवाः) सब शक्तिशाली विद्वान् लोग और (विश्व-वेदसः) सब कुछ जाननेवाले (मरुतः) शीघ्रगामी, सेनानायक लोग (नः) हमें (अघ-विषाभ्यः) पाप से पूर्ण हत्याकारी सेनाओं से और (वधात्) हत्याकारी शस्त्रों से (त्रायध्वम्) बचावें । (अग्नीषोमौ) अग्नि=सेनानायक और सोम=प्रेरक राजा, और (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ महाराज होकर हमें पूर्वोक्त पापियों और हत्याकारों से बचावें । और हम (वातापर्जन्योः) वात=तीव्र वायु के समान शत्रु को उड़ा देनेवाले अथवा राष्ट्र के प्राणस्वरूप और राष्ट्र पर सुखों की वर्षा करनेवाले सेनापति और राजा के (सुमतौ) शुभ संकल्प में (स्याम) सदा रहें ।



[६४] एकचित्त रहने का उपदेश ।

अथर्वाङ्गिरा ऋषिः । सरस्वती देवता । अनुष्टुभौ । २ विराड् जगती ।
तृचं सूक्तम् ॥

सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि ।
अमी ये विव्रता स्थन तान् वः सं नमयामसि ॥ १ ॥

भा०—व्याख्या देखो [३।८।५] ।

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत ।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ॥२॥
अथर्व० ३ । ८ । ६ ॥

भा०—(अहं) मैं (मनसा) मन से (मनांसि) आप लोगोंके मनों को (गृभ्णामि)ग्रहण करता हूँ, अपने अनुकूल करता हूँ । आप लोग (चित्तेभिः) अपने ज्ञानवान् चित्तों के साथ (मम) मेरे (चित्तम्

एत) चित्त के प्रति आकर्षित होकर आओ। (वः) आप लोगों के (हृदयानि) हृदयों को मैं (मम वशेषु) अपने वशों में, अपने अभिलाषित कार्यों में (कृणोमि) लगाता हूँ। आप लोग (अनु वर्त्मानः) सब मेरे अनुकूल मार्ग चलते हुए होकर (यातम्) पूर्व आप्त पुरुषों द्वारा चले गये मार्ग पर या (मम यातम्) मेरे चले हुए मार्ग पर, मेरे पीछे (एत) गमन करो।

ओते मे द्यावापृथिवी ओता देवी सरस्वती ।
ओतौ म इन्द्रश्चाग्निश्चर्ध्यास्मेदं सरस्वति ॥३॥ अथर्व ५।२३।१॥

भा०—(मे) मेरी शक्ति से (द्यावापृथिवी) द्यौलोक और पृथिवी लोक (ओते) डरोये पिरोये हुए हैं। (देवी सरस्वती) दिव्य, ज्ञानमयी, वेदवाणी (ओता) ओत-प्रोत है। (मे) मेरे साथ (इन्द्रः च) इन्द्र और (अग्निः च) और अग्नि (ओतौ) ओतप्रोत हैं। हे (सरस्वती !) वेदवाणि ! (इदं) इस प्रकार मैं (ऋध्यासम्) समृद्ध होऊँ।

प्रत्येक व्यक्ति इसी प्रकार विचार करे कि मैं राजा प्रजा, प्राण अपान, स्त्री पुरुष इनमें ओत प्रोत रहूं। ये सब मुझ से प्रेम करें मैं ज्ञान में मग्न रहूं। राजा और सेनापति मेरे अनुकूल रहें। इस प्रकार शिक्षित समुदाय होकर ज्ञान के बल पर हम समृद्ध हों।



[९५] कुष्ठ ओषधि और सर्वव्यापक परमात्मा का वर्णन।

भृग्वङ्गिरा ऋषिः। वनस्पतिर्मन्त्रोक्ता च देवता। अनुष्टुभः तृचं सूक्तम् ॥

अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि ।
तत्रामृतस्य चक्षणं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ १ ॥

भा०—व्याख्या देखो [५ । ४ । ३]।

हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि ।
तत्रामृतस्य पुष्पं देवाः कुष्ठमबन्वत ॥ २ ॥

भा०—व्याख्या देखो [५।४।४] ।

गर्भो अस्योषधीनां गर्भो हिमवतामुत ।
गर्भो विश्वस्य भूतस्येमं मे अगदं कृधि ॥ ३ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमात्मन् ! तू (ओषधीनां गर्भः) ओष=ताप, परिपाक शक्ति का धारण करनेवाले लोकों का (गर्भः) उत्पत्तिस्थान (उत) और (हिमवताम्) हिमवाले अतिशीत लोकों का भी (गर्भः) उत्पत्ति स्थान है । (विश्वस्य गर्भस्य) और तू तो समस्त उत्पन्न विश्व का (गर्भः) उत्पत्ति स्थान है तू (मे) मेरे (इमम्) इस आत्मा को (अगदम्) गद=रोग, जरा, जन्म, मरण आदि भव-बाधाओं से रहित (कृधि) कर ।



[९६] पापमोचन की प्रार्थना ।

या ओषधयः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः ।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥

(प्र०द्वि०) यजु० १२।९२ प्र०द्वि० ॥ (तृ०च०) यजु० १२।८९ तृ०च० ।
(प्र०द्वि०) ऋ० १०।९७।१८ प्र० द्वि० ॥ (तृ०च०)ऋ० १०।९७।१५ तृ०च० ॥

भा०—(याः) जो (ओषधयः) परिपाक योग्य या उष्णता या सामर्थ्य को धारण करनेवाली ओषधियाँ=प्रजाएँ (सोम-राज्ञीः) सोम=चन्द्र की रानियों के समान सोम=राजा ही से अपना सामर्थ्य ग्रहण करने वाली (वह्वीः) वहुत सी (शत-विचक्षणाः) सैकड़ों कार्यों के

१–(प्र०) 'या ओषधीः' इति ऋ० ।

सम्पादन में समर्थ, व्यवहार-कुशल प्रजाएँ हैं (बृहस्पति-प्रसूताः) बृहती—वेद-वाणी के पालक विद्वान् द्वारा प्रेरित होकर (ताः) वे (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें।

मुञ्चन्तु मा शपथ्या३दथो वरुण्या/दुत ।
अथो यमस्य पड्वीशाद् विश्वस्माद् देवकिल्बिषात् ॥२॥

ऋ० १० ९७ । १६ अथर्व० ७१ । ११२ । २ ॥ यजु० १२ । ९०॥

भा०—वे पापों को सन्तापित और दग्ध करनेवाली प्रजाएँ (मा) मुझको (शपथ्यात्) वाणी द्वारा दूसरे के प्रति दुर्वचन करने से उत्पन्न हुए अपराध (उत) और (वरुण्याद्) झूठ बोलने आदि के दमन करने योग्य अपराध से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें। (अथो) और (यमस्य) नियन्ता राजा की (पड्वीशात्) डाली हुई पैरों पड़ी-बेड़ियों से और (विश्वस्मात्) सब प्रकार के (देव-किल्बिषात्) देव=राजा, विद्वान् और अधिकारीगण के प्रति किये अपराध से मुक्त करें।

यच्चक्षुषा मनसा यच्च वाचोपारिम जाग्रतो यत् स्वपन्तः ।
सोमस्तानि स्वधया नः पुनातु ॥ ३ ॥

भा०—(जाग्रतः) जागते हुए हम लोग (यत्) जो कुछ (चक्षुषा) आँख से और (यत् च मनसा) जो कुछ मन से और (वाचा) वाणी से (उपारिम) प्राप्त करें और (यत् स्वपन्तः) जो कुछ सोते हुए भी मन आदि से संकल्प विकल्प करें या वाणी से बात कहें (तानि) उन सब ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों के गृहीत ज्ञानों और किये कामों को

२—(च०) 'सर्वस्मात्' इति ऋ० । पड्वीशात्' इति क्वचित्।

३—(प्र०) 'यन्मनसा' । (तृ०च०) 'सोमा तस्मादेनसः स्वधया पुनाति विद्वान्' इति पैप्प० सं० ।

(नः) हमारा (सोमः) सब का प्रेरक आत्मा या विद्वान पुरुष (स्वधया) अपनी धारणा, मनन, विवेक शक्ति से (पुनातु) पवित्र करे ।

आंख आदि बाह्येन्द्रिय, वाणी आदि कर्मेन्द्रिय और मन, अन्तःकरण इनके किये पर मनुष्य स्वयं अपनी बुद्धि से विवेक करे तो उसके आत्मा पर बुरा पाप संकल्प नहीं रहता । स्वधा शब्द के संग से सायण ने सोम शब्द से पितृ-लोकाधिपति देव-विशेष का ग्रहण किया है । ग्रीफ़िथ, स्वधा=His godlike nature=दैव-स्वभाव ।



[९७] विजय प्राप्ति का उपाय ।

अथर्वा ऋषिः । मित्रावरुणौ देवते । १ त्रिष्टुप् । २ जगती । ३ भुरिक् । तृचं सूक्तम् ॥

अ॒भि॒भूर्य॒ज्ञो अ॒भि॒भूर॒ग्निर॑भि॒भूः सोमो॑ अ॒भि॒भूरिन्द्रः॑ ।
अ॒भ्य॒१॒॑हं विश्वाः॒ पृत॑ना॒ यथासा॑न्ये॒वा वि॑धेमा॒ग्निहो॑त्रा इ॒दं ह॒विः ॥ १ ॥

भा०—(यज्ञः) एकत्र होकर मिल कर किया हुआ कार्य (अभिभूः) सब का पराजय करता है । (अग्निः) आगे चलने और सेना को ठीक २ मार्ग पर ले जानेवाला विद्वान् पथ-प्रदर्शक (अभि-भूः) विजय दिलाता और संकटों को दूर करता है । (सोमः अभि-भूः) सबका प्रेरक, और कार्य-सम्पादक पुरुष या विद्वान् पुरुष विजय कराता और सब शत्रुओं का दमन करता है । (इन्द्रः अभिभूः) ऐश्वर्य और शक्तिमान राजा शत्रुओं पर दमन करता है । हे पुरुषो ! आप लोग (अग्नि-होत्राः) जिस प्रकार अग्नि में घृताहुति को देकर तीव्र करते हैं उसी प्रकार अपने

[९७] १-(प्र० द्वि०) 'प्रजापतिः त्व'- (तृ०) वाधेथां द्वेषः । (च०) 'अस्मै क्षत्रं वचाधत्तमोजः । इति पैप्प सं० । (द्वि०) 'वाधस्व' इति तै० सं०, मै० सं० । दूरे इति ऋ० । 'ओर' इति मै० सं० ।

अग्रणी के कार्य में अपनी आहुतियाँ देकर उसकी शक्ति बढ़ानेवाले वीर पुरुषो ! हम सब लोग मिल कर (एवा) इस रीति से (हविः) परस्पर मन्त्रणा करके (विधेम) कार्य करें (यथा) जिससे (अहम्) मैं राजा (विश्वाः पृतनाः) समस्त सेनाओं को या समस्त मनुष्यों को (अभि-असानि) अपने वश करूँ और उनका पराजय करूँ ।

स्वधास्तु मित्रावरुणा विपश्चिता प्रजावत् क्षत्रं मधुनेह पिन्वतम् ।
बाधेथां दूरं निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्रमुमुक्तमस्मत् ॥२॥

(तृ०च०) ऋ० १ । १४ । ६ तृ० च० ॥

भा०—हे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण ! मित्र=न्यायाधीश और वरुण–राजन् ! आप दोनों (विपश्चितौ) मेधावी, बुद्धिमान् पुरुष हैं। आपके लिये (स्वधा अस्तु) अन्न, जो आपके अपने ही धारण करने के योग्य आपका षष्ठांश भाग है आपको प्राप्त हो । और (प्रजावत्) उत्तम प्रजा से युक्त (क्षत्रम्) क्षत्रिय बल को (इह) इस राष्ट्र में (मधुना) मधु से अमृत या अन्न या राजबल से (पिन्वतम्) युक्त करो । (निर्ऋतिम्) पाप या संकट डालनेवाली निर्ऋति, शत्रु की सेना या विपत्ति को (दूरे) दूर से ही (पराचैः) परे करते हुए (बाधेथाम्) विनष्ट करो । और (कृतम्) किये हुए (चित्) भी (एनः) हमारे अपराध को (अस्मत्) हमसे (प्र मुमुक्तम्) दूर करो ।

इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम् ।
ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १०३ । ६ ॥ अथर्व० १९ । १३ । ६ ॥ यजु० १८ । ३२ ॥

३–(तृ०) 'गोत्रभिदं गोविदं' इति ऋ० । पूर्वोत्तरयोरर्धयोर्विपर्ययः ।
(प्र०) 'इमं सजाता अनुवीरयध्वम्' इति ऋ० ।

भा०—हे (सखायः) मित्र लोगो! आप लोग (उग्रम्) उग्रस्वभाव नित्य दण्ड देनेवाले, बलवान् (वीरम्) वीर्यवान् (ग्राम-जितम्) ग्राम को जीतने वाले (गोजितम्) इन्द्रिय को वश करने वाले (वज्र-बाहुम्) वज्र=खड्ग को बाहु में धारण करने वाले और (ओजसा) अपने बल से ही (अजम) शत्रु के बल को (प्रमृणन्तम्) विध्वंस करने और (जयन्तम्) विजय प्राप्त करने वाले (इन्द्रम्) ऐश्वर्यशील राजा को मुख्य मान कर (अनु सं रभध्वम्) उसकी अनुमति के अनुकूल सब कार्य करो।

अध्यात्म पक्ष में सखायः=इन्द्रियगण, इन्द्र=आत्मा, ग्राम=मानस वोपगण, गो=इन्द्रिय, वज्र=ज्ञान, अजन=काम-विकार।



[९८] विजयशील राजा का वर्णन।

अथर्वा ऋषिः। इन्द्रो देवता। ३,१ त्रिष्टुभौ। २ बृहतीगर्भा पंक्तिः।

तृचं सूक्तम्॥

इन्द्रो॑ जयाति॒ न परा॑ जयाता अधिरा॒जो राज॑सु राजयातै।
च॒र्कृत्य॒ ईड्यो॒ वन्द्य॑श्चोप॒सद्यो॑ नम॒स्यो॑ भवे॒ह॥ १॥

भा—(इन्द्रः) वह पुरुष, इन्द्र, है जो (जयाति) विजय करता है; (न पराजयाते) कभी पराजित नहीं होता और (राजसु) जो राजाओं में (अधिराजः) सब के ऊपर महाराज होकर (राजयातै) शोभा देता है। (इह) इस राष्ट्र में हे इन्द्र तू! (चर्कृत्यः) सब अपने विरोधियों के दलों को बराबर काटता है इसी कारण वह (ईड्यः) सब के

[९८] १-(तृ०) 'विश्वा हि भूया पृतना अभिष्टी' इति तै० सं०। विश्वा अभिष्टीः पृतना जयते'। (च०) उपसद्यो नमस्यो यथासत् इति मै० सं०।

स्तुति योग्य (वन्द्यः) सब के नमस्कार करने योग्य (उप-सद्यः) अपनी दुःख-कथा कहने के लिये प्राप्त करने योग्य और (नमस्यः) झुक कर आदर करने योग्य (भव) होता है । परमात्मा पक्ष में स्पष्ट है ।

त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युस्त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम् ।
त्वं दैवीर्विश इमा वि राजायुष्मत् क्षत्रमजरं ते अस्तु ॥२॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् (त्वम्) तू (अधि-राजः) सब प्रजाओं का अधिराज और (श्रवस्युः) कीर्तिमान है । (त्वं) तू (जनानाम्) सब प्रजाओं का (अभि-भूतिः) वश करनेवाला (भूः) हो । (त्वं) तू (दैवीः) विद्वान् क्रियाशाल (इमाः विशः) इन सब प्रजाओं पर (विराज) राजा रूप से विराजमान रह, जिससे (ते) तेरा (क्षत्रम्) क्षात्र बल (आयुष्मत्) दीर्घायु युक्त, (अजरम्) कभी कम न होनेवाला (अस्तु) रहे ।

प्राच्या दिशस्त्वमिन्द्रासि राजोतोदीच्या दिशो वृत्रहञ्छत्रुहोऽसि ।
यत्र यन्ति स्रोत्यास्तज्जितं ते दक्षिणतो वृषभ एषि हव्यः ॥३॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र राजन् ! (त्वम्) तू (प्राच्याः दिशः) प्राची दिशाका और पश्चिम दिशा का भी (राजा असि) राजा है । (उत) और (उदीच्याः दिशः) उत्तर और दक्षिण दिशा का भी राजा है । और हे (वृत्रहन्) सब आवरणकारी राष्ट्र को घेरने वाले शत्रुओं को मारने वाले ! तू ही (शत्रुहः असि) शत्रुओं का नाश करने वाला है । (यत्र) जिस देश में (स्रोत्याः) स्रोत से सदा बहने वाली नदियां (यन्ति) जाती हैं (तत्) वह राष्ट्र (ते) तेरे लिये (जितम्) वश करके रखने योग्य है । तभी (वृषभः) अपनी प्रजापर सब सुखों

३–(प्र०) 'प्राच्यां दिशि', 'उदीच्यां दिशो वृहन् वृत्रहासि' इति तै० सं०, मै० सं० । (च०) 'एधि हव्यः' इति तै० सं० ।

की वर्षा करने वाला (हव्यः) प्रजा से कर संग्रह करने का अधिकारी होकर तू (दक्षिणतः) राष्ट्र के दक्षिण दिशा के भाग से या वड़ कार्य से सदा (एधि) आ ।



[९९] राष्ट्ररक्षा का उपाय ।

भृग्वङ्गिरा ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । सोमः सविता च देवते । १,२ अनुष्टुभौ । ३ त्रिपदा नाम गायत्री । तृचं सूक्तम् ॥

अभि त्वेन्द्र वरिमतः पुरा त्वांहूरणाद्धुवे ।
ह्वयाम्युग्रं चेत्तारं पुरुणामानमेकजम् ॥ १ ॥

भा०—हे इन्द्र ! राजन् ! विद्वन् आचार्य ! (वरिमतः) तेरे महान् होने के कारण ही मैं (त्वा अभि) तेरे समीप रहता हूं और (पुरा अंहूरणात्) किसी घोर पाप या संकट के पूर्व ही (त्वां हुवे) तुझे पुकारता हूं, क्योंकि मैं चाहता हूं कि सदा (उग्रम्) बलवान् (चेत्तारम्) स्वयं ज्ञानी (पुरु नामानम्) बहुत प्रकार के वशीकरण साधनों से सम्पन्न (एकजम्) अकेले, स्वयं सामर्थ्यवान् पुरुषको (ह्वयामि) संकट में बुलाऊं ।

यो अद्य सेन्यो वधो जिघांसन् न उदीरते ।
इन्द्रस्य तत्र बाहू समन्तं परि दद्मः ॥ २ ॥

भा०—(यः) जो (अद्य) अब भी तुरन्त (सेन्यः वधः) सेना का हथियार (नः जिघांसन्) हमें मारने की कामना से (उद् ईरते) उठे (तत्र) वहां ही उसी समय (इन्द्रस्य बाहू) राजा की भुजाएं (समन्तम्) हम अपने चारों तरफ (परि दद्मः) अपनी रक्षार्थ खड़ी पावें ।

२-(च०) 'दध्मः' इति सायणाभिमतः । (प्र०) 'योऽद्य' (च०) 'परिदद्महे' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'जिघांसम्' इति पदपाठः ।

शत्रु के आक्रमण होते ही हमारा राजा अपनी सेनाओं से हमारी रक्षा के लिये तैयार रहे ।

परि दद्म इन्द्रस्य बाहू संमन्तं त्रातुस्त्रायतां नः ।
देव सवितः सोम राजन्त्सुमनसं मा कृणु स्वस्तये ॥ ३ ॥

भा०—हम प्रजागण (इन्द्रस्य) राजा की (बाहू) शत्रु को रोकने वाली सेनाएं (परि दद्मः) अपने चारों ओर खड़ी पावें । (त्रातुः) देश के पालक राजा की (बाहू) बाधक सेनाएं (नः) हमें (समन्तं) सब ओरों से (त्रायताम्) रक्षा करें । हे (देव) राजन् ! हे (सवितः) सब राष्ट्र के कार्यों के संचालक ! हे (सोम) सब उत्तम कार्यों के प्रवर्त्तक! (राजन्) राजन् ! (मा) मुझे (स्वस्तये) कल्याण के लिये (सुमनसम्) शुभ चित्त वाला (कृणु) बनाये रख ।

[१००] विष-चिकित्सा ।

गरुत्मान् ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

देवा अदुः सूर्यो अदाद् द्यौरदात् पृथिव्यदात् ।
तिस्रः सरस्वतीरदुः सचित्ता विषदूषणम् ॥ १ ॥

भा०—(देवाः) विद्वान् लोग या दिव्य-पदार्थ (विष-दूषणम्) विष को निवारण करने का उपाय (सचित्ता) एक चित्त होकर (अदुः) सबको प्रदान करते हैं क्योंकि (सूर्यः) सूर्य अपना प्रकाश (अदात्) देता है और उससे विषैले जन्तु नष्ट होते हैं और विष का नाश होता है ।

३—(प्र०) 'दध्मः' इति क्वचित् । 'दद्मन्' (च०) 'कृणुतम्' इति पैप्प० सं० ।

[१००] १—(प्र०) 'देवाहुः' (तृ०) 'सर्वाःस—' इति पैप्प० सं० ।

(द्यौः) यह विशाल आकाश रात्रि काल में ओस (अदात्) प्रदान करती है। वह भी विषका शमन करती है। (पृथिवी अदात्) पृथिवी भी अपनी शक्ति (अदात्) देती है जिससे मिट्टी का लेप भी विष का नाश करता है। और (तिस्रः सरस्वतीः) तीनों सरस्वतिएं, तीनों वेद-वाणियां भी (अदुः) समानरूप से विष के नाश का उपदेश करती हैं।

यद् वो देवा उपजीका आसिञ्चन् धन्वन्युदकम् ।
तेन देवप्रसूतेनेदं दूषयता विषम् ॥ २ ॥

भा०—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो! (यत्) जिस (उदकम्) जल को (उपजीकाः) दीमक नाम की श्वेत कीड़ियां (धन्वनि) मरु, जलरहित देश में भी (आ-असिञ्चन्) अपने मुखसे जल उत्पन्न करती हैं वह भी (वः) आप लोगों के बड़ा उपयोगी है। (तेन) उस (देव-प्रसूतेन) दिव्य पदार्थों से या ईश्वरप्रदत्त शक्ति से उत्पन्न जल से (विषम्) विषको (दूषयत) निवारण करो। पं० ग्रीफिथ के मत से हे (उपजीकाः) दीमको! (वः) तुमको (देवाः) देव लोगों ने (धन्वनि यद् उदकम् असिञ्चन्) निर्जल देश में भी जो जल दिया है। (तेन देवप्रसूतेन विषम् दूषयत) देवों से उत्पादित उस जल से विषका निवारण करो।

देखो अथर्व का० २। ३। ४।—"उपजीकाः उद्भरन्ति समुद्राद्-अधिभेषजम्। तद् आस्रावस्य भेषजम् तदु रोगमशीशमत्।" श्वेत कीड़ियां या दीमकें समुद्र अर्थात् अपने जलोत्पादन सामर्थ्य से ओषधि उत्पन्न करती हैं। वह अतिमूत्र और नाड़ीव्रण की उत्तम औषध है। उससे रोग शान्त हो जाता है। सायण ने इस स्थल पर वल्मीक या

२-(द्वि०) 'उपचीका सिञ्चन्', 'धन्वन्नु' इति पैप्प० सं०।
१-'उपजीकाः, उपदीकाः, उपजिह्विकाः, उपजिकाः' इत्येते सर्वे पर्यायाः वम्रीवाचकाः।

दीमकों की निकाली मिट्टी को उस रोग की औषध कहा है। कौशिक सूत्र में—"देवाः ॐ दुरिति दल्मीकेन बन्धनपायनाचमनप्रदेहनमुदकेन। (कौ० ४।७) इस सूक्त से वल्मीक मृत्तिका को जल से बांधने, पिलाने, आचमन करने और लेप करने का विधान किया है इससे स्थावर और जंगम विषका प्रतिकार होता है। वेद ने वल्मीक कीड़ी के मुख से निकले जल में विष नाश करने के गुण का उपदेश किया है। अत्यन्त शुष्क स्थान में भी दीमक लग जाती है और वहां भी वे अपने मुँह में जल कहाँ से लाती हैं यह एक आश्चर्यजनक बात है। वेद उस जल को 'देव प्रसूत' कहता है। 'देव' का तात्पर्य वह मूलशक्ति है जिससे स्वयं जल बना है। इस सम्बन्ध में डा० लिविंगस्टोन का कथन है कि "सम्भव है कि वे अपनी शक्ति से अपने वानस्पतिक भोजन में विद्यमान उद्‌जन, ओषजन को मिलाकर जल बना लेती हैं।" इस जल बनने की अद्भुत शक्ति का हमारे प्राचीन आर्यों ने भी अनुभव किया था। शतपथ में लिखा है—आपो वै सर्वमन्नं। ताभिर्हि इदमभिक्नूयमिवादन्ति (वव्रयः) श० १४ । १ । १४ ॥ यह सब अन्न स्वयं जल है। अन्न में विद्यमान जलों से ही ये दीमकें उसको गला कर २ के खाती हैं।

असुराणां दुहितासि सा देवानामसि स्वसा।
दिवस्पृथिव्याः संभूता सा चकर्थारसं विषम् ॥ ३ ॥

भा०—हे ओषधे! तू (असुराणां) बलशाली प्राणवान् पुरुषों के लिये (दुहिता) बल रस का दोहन करने वाली है, (सा) वह तू (देवानाम्) देव विद्वान् पुरुषों की (स्वसा) उत्तम रूप से गुण

३–(प्र०) 'हितासि देवा'– (तृ०) –'व्याः जज्ञिषे' इति पैप्प० सं०। (च०) 'चकर्षारसं' इति सायणाभिमतः।

प्रकाश करने वाली है । तू (दिवः) द्यौलोक के जल और (पृथिव्याः) पृथिवी के जल से (सं-भूता) उत्पन्न हुई है (सा) वह तू (विषम्) विषको (अरसं चकर्थ) निर्बल करती है ।

ग्रीफ़िथ के मत से यह शिलाची नाम ओषधि है । सायण के मत से यह वल्मीक की मिट्टी है । (अथर्व—५ । ५ । १) में—"शिलाची नाम वा असि देवानामसि स्वसा ।" इसी ओषधि के इस सूक्त में स्परणी, अरुन्धती, निष्कृति, कानी, कन्यला, आदि दिया है । उस प्रसंग में कौशिक ने लाखको दूध में पकाकर शस्त्र-व्रण आदि की चिकित्सार्थ पान करने की विधि लिखी है ।



[१०१] पुष्ट प्रजनन अंग होने का उपदेश ।

शेपप्रथनकामोथर्वाङ्गिरा ऋषिः । ब्रह्मणस्पतिर्देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ।

आ वृ॑षायस्व श्वसि॒हि वर्ध॑स्व प्र॒थय॑स्व च ।
य॒था॒ङ्गं व॑र्धतां॒ शेप॒ स्तेन॑ यो॒षित॒मिज्ज॑हि ॥ १ ॥

भा०—हे पुरुष तू (वृषायस्व) सब प्रकार से वीर्यसेचन में समर्थ हो । (श्वसिहि) प्राण को ऊपर खैंच और (वर्धस्व) शरीर में खूब पुष्ट हो, (प्रथयस्व च) और अपने अंगों को भी बड़ा कर । इतना हृष्ट पुष्ट हो कि (यथा) जिससे (शेपः, अङ्गम्) कामांग भी (वर्धताम्) वृद्धि को प्राप्त हो । (तेन) उस अंग से (योषितम्) अपनी स्त्री के पास (इत्) भी (जहि) जा, सेचनसमर्थ हो । ऊपर श्वास लेकर अंगों को पुष्ट करो, जब कामांगों को पर्याप्त वृद्धि हो चुके तब युवकों को गृहस्थ धर्म से पुत्रोत्पत्ति करनी चाहिये ।

येन॑ कृ॒शं वा॒जय॑न्ति॒ येन॑ हि॒न्वन्त्या॒तु॑रम् ।
तेना॒स्य ब्र॑ह्मणस्पते॒ धनु॑रि॒वा ता॑नया॒ पसः॑ ॥ २ ॥

(तृ० च०) अथर्व० ४ । ६ । ४ तृ० च० ॥

भा०—पुष्टांग होने के उपाय का उपदेश करते हैं—(येन) जिस उपाय से (कृश) कृश पुरुष को (वाजयन्ति) बलवान् करते हैं और (येन) जिस उपाय से (आतुरम्) रोगी निर्बल पुरुष को (हिन्वन्ति) समर्थ बनाते हैं, हे (ब्रह्मणस्पते) ब्रह्म=अन्न को पालन करने वाले पुरुष ! (अस्य) इस निर्वीर्य पुरुष के (पसः) कामांग को भी उसी पौष्टिक उपाय से (धनुः, इव) धनुष के समान (आ तानय) पुष्ट कर। कृशों को और रोगियों को पुष्ट करने की ओषधियां ही निर्वीर्य पुरुष को वीर्यवान् बनाने की होती हैं ।

आहं त॑नोमि ते॒ पसो॒ अधि॒ ज्यामि॑व॒ धन्व॑नि ।
क्रम॒स्वर्श॑ इव॒ रोहि॑त॒मन॑वग्लायता॒ सदा॑ ॥ ३ ॥

भा०—व्याख्या देखो (अथर्व का० ४ । ४ । ७) । (अहं ते पसः) मैं सद्-वैद्य तेरे कामांग को (तनोमि) दोष रहित करके सुधारता हूँ (धन्वनि अधिज्याम् इव) जिस प्रकार शिकारी अपने धनुष पर डोरी चढ़ाता है (अर्शः रोहितम् इव) और जिस प्रकार शिकारी प्रसन्नचित्त से मृग पर दौड़ता है उसी प्रकार (अनवग्लायता) सदा ग्लानिरहित चित्त से (क्रमस्व) अपनी पत्नी के पास जाओ। इससे चित्त में ग्लानि न रहकर सम्भोग काल में असफलता नहीं होती। ग्लानि होजाने से अकारण नपुंसकत्व उत्पन्न हो जाता है ।

जिस ईश्वर ने समस्त संसार को उत्पन्न किया और जिसने निरन्तर उत्पन्न सृष्टि करने वाले अंगों को भी रचा उसकी दृष्टि में कोई पदार्थ अश्लील

२—'वशं वाजयन्ति' इति सायणसम्मतः पाठः ।

नहीं । उसका भी अपना विज्ञान है । उसका वेद में उपदेश होना आवश्यक है । ग्रीफ़िथ ने यह तत्त्व न समझकर इस सूक्त को अश्लील जान-कर इसका अनुवाद नहीं किया ।



[१०२] दाम्पत्य प्रेम का उपदेश ।

अभिसम्मननकामो जमदग्निर्ऋषिः । अश्विनौ देवते । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

यथायं वाहो अश्विना समैति सं च वर्तते ।
एवा मामभि ते मनः समैतु सं च वर्त्तताम् ॥ १ ॥

भा०—स्त्री पुरुषों में परस्पर प्रेम उत्पन्न करने का उपदेश करते हैं । हे (अश्विनौ) एक दूसरे के हृदयों में व्याप्त स्त्री पुरुषो ! तुम दोनों एक दूसरे के प्रेमी होकर यह कहो कि (यथा) जिस प्रकार (अयं वाहः) यह अश्व सवारी (अश्विना सम् एति) घुड़सवार के साथ ही साथ जाता है (सं वर्त्तते च) और उसके साथ ही रहता है । (एवा) उसी प्रकार हे प्रियतम ! हे प्रियतमे ! (माम् अभि ते मनः) मेरे प्रति तेरा चित्त (सुसम् आ एतु) आवे (सं वर्त्तताम् च) और सदा साथ ही रहे ।

आहं खिदामि ते मनो राजाश्वः पृष्ट्यामिव ।
रेष्मच्छिन्नं यथा तृणं मयि ते वेष्टतां मनः ॥ २ ॥

भा०—दोनों स्त्री पुरुष एक दूसरे से यही आशा करें और कहें कि—हे प्रियतम ! हे प्रियतमे ! (अहं) मैं (ते मनः) तेरे चित्तको (आ खिदामि) ऐसे खैंचूं जैसे (पृष्ट्याम् राजाश्व इव) जैसे पीठ पीछे बंधी गाड़ी को घोड़ा खींचता है । और यथा (रेष्म-च्छिन्नं) रेष्मा=प्रचण्ड वायु से टूटा हुआ (तृणं) घास उसी में लिपटकर उसके

साथ ही चला जाता है उसी प्रकार हे प्रियतमे ! (ते मनः) तेरा चित्त (मयि) मुझमें (वेष्टताम्) लिपट जाय। मुझमें आसक्त होकर मेरे साथ ही लगा रहे।

आञ्जनस्य मदुघस्य कुष्ठस्य नलदस्य च।
तुरो भगस्य हस्ताभ्यामनुरोधनमुद्भरे ॥ ३ ॥

भा०—स्त्री अपने पति को स्वीकार करने के निमित्त पति के हाथों दिये हुए अञ्जन, मुलैठी या अन्य हर्षोत्पादक कूठ और अन्य सुगन्ध पदार्थों को स्वीकार करे। इसी का उपदेश करते हैं। स्त्री उक्त पदार्थों का स्वीकार करती हुई कहती है—मैं (तुरः) शीघ्र ही प्राप्त होनेवाले (भगस्य) सौभाग्यशील पुरुष के (हस्ताभ्याम्) हाथों से (आञ्जनस्य) अंजन (मदुघस्य) मदतृप्ति हर्षोत्पादक पदार्थ, (कुष्ठस्य) कूठ और (नलदस्य) खस आदि पदार्थ के बने (अनुरोधनम्) प्रेम=अभिलाषा और कामना के अनुकूल पदार्थ को (उद्-भरे) स्वीकार करती हूँ।

॥ इति दशमोऽनुवाकः ॥

[तत्र दश सूक्तानि, त्रिंशच्चर्चः]



[१०३] राष्ट्र-रक्षा और शत्रु-दमन।

उच्छोचन ऋषिः। इन्द्राग्नी उत बहवो देवताः। अनुष्टुभः। तृचं सूक्तम् ॥

संदानं वो बृहस्पतिः संदानं सविता करत्।
संदानं मित्रो अर्यमा संदानं भगो अश्विना ॥ १ ॥

३—(प्र०) 'मधुघस्य' इति सायणसम्मतः। 'मधुगस्य' (च०) 'आभरे' इति पैप्प० सं०।

[१०३] १—'संदानमिन्द्रश्चाग्निश्च' इति पैप्प० सं०।

भा०—(बृहस्पतिः) बृहस्पति (वः) तुम्हारा (संदानम्) बन्धन (करत्) करे । (सविता संदानं करत्) सविता तुम्हारा बन्धन करे (मित्रः) मित्र भी (संदानम्) तुमारा बन्धन करे। (अर्यमा संदानम्) अर्यमा तुम्हारा बंधन करे (भगः अश्विनौ) भग, और अश्विन् दोनों तुम्हारा बन्धन करें ।

बृहस्पति, सविता, मित्र, अर्यमा, भग, अश्विन् ये सब राष्ट्र के भिन्न अधिकारी लोग हैं । संग्राम छिड़ जाने पर सभी अधिकारी शत्रु के आदमियों पर विशेष बन्धन, रोक टोक रक्खें, उन पर पूरा २ वश रक्खें ।

सं पर॒मान्त्सम॑व॒मानथो॒ सं द्या॑मि मध्य॒मान् ।
इन्द्र॒स्तान् पर्य॑हा॒र्दाम्ना॒ तान॑ग्ने॒ सं द्या त्वम् ॥ २ ॥

भा०—मैं राजा अपने शत्रुओं में से (परमान्) ऊँचे श्रेणी के लोगों को (सं द्यामि) बन्धन में रखूं (अवमान् सं द्यामि) नीचे श्रेणी के लोगों को भी बन्धन में रखूँ और (मध्यमान् सं द्यामि) मध्यम श्रेणी के लोगों को भी बन्धन में रखूँ । (इन्द्रः) राजा (तान्) उन सबको (परि अहाः) दूर से ही निवारण करे और हे (अग्ने) अग्ने, सेनापते ! (त्वं) तू (तान्) उनको (दाम्ना) रस्सी या पाश से (सं द्य) अच्छी प्रकार बांधे रख, वश किये रख, आगे मत बढ़ने दे ।

अ॒मी ये युध॑मा॒यन्ति॑ के॒तून् कृ॒त्वानी॑क॒शः ।
इन्द्र॒स्तान् पर्य॑हा॒र्दाम्ना॒ तान॑ग्ने॒ सं द्या त्वम् ॥ ३ ॥

भा०—(अमी) वे दूर देश में स्थित शत्रु लोग (ये) जो (अनीकशः) अपनी सेना के प्रत्येक दस्ते या टुकड़ी पर (केतून् कृत्वा) अपने भिन्न २ झण्डे लगा २ कर (युधम् आयन्ति) संग्राम करने के लिये आवें (तान्) उनको (इन्द्रः परि अहाः) राजा या शक्तिशाली

२—'परमां, अवमां, मध्यमाम्' इति सायणाभिमताः ।

पुरुष दूर से ही विनाश करे। हे (अग्ने) अग्ने! सेनापते (त्वम्) तू उनको भली प्रकार (दाम्ना) रस्सी से या रस्सी के बने पाश से या रस्सी के समान बंटी हुई दुगनी तिगुनी सेना से (सं-द्य) बाँध ले, जकड़ ले।



[१०४] शत्रुओं को पराजय और बन्धन।

प्रशोचन ऋषिः। इन्द्राग्नी उत बहवो देवता। अनुष्टुभः। तृचं सूक्तम्॥

आदानेन संदानेनामित्राना द्यामसि।
अपाना ये चैषां प्राणा असुनासून्त्समच्छिदन्॥ १॥

भा०—हम वीर लोग (आ-दानेन) शत्रु को पकड़ लेने के उपाय और (सं-दानेन) बाँध लेने के उपाय से (अमित्रान्) शत्रु लोगों को (आ द्यामसि) अपने वश कर लेते हैं। और वीर भट (ये च) जो भी (एषाम्) इनके (अपानाः) अपान और (प्राणाः) प्राण हैं उन सब (असून्) प्राणवृत्तियों को (असुना) मुख्य जीवनशक्ति के द्वारा (समच्छिदन्) काट डालें। अथवा (ये च एषां प्राणाः) जो इन शत्रुओं के प्राणरूप मुख्य नेता लोग और (अपानाः) अपानरूप निम्न पदाधिकारी हैं उन सब को (आ द्यामसि) हम वश कर लें और जिस प्रकार (असुना) मुख्य प्राण से प्राणित (असून्) शेष प्राण इन्द्रियगण को काट कर विनाश कर दिया जाता है उसी प्रकार इन मुख्य लोगों के आश्रय पर जीनेवाले लोगों को भी (सम् अच्छिदन्) काट गिराया जाय। अर्थात् मुख्य २ नेता लोगों को पकड़ कर क़ैद में डाल दिया जाय और शेषों को काट डाला जाय।

---

[१०४] १–(च०) 'अच्छिदम्' इति ह्विटनिकामितः प्रायिकश्च। (तृ० च०)-'तेषां प्राणान् समासून् असमसुतम् [?]' इत्यादि पैप्प० सं०।

इदमादानमकरं तपसेन्द्रेण संशितम् ।
अमित्रा येऽत्र नः सन्ति तानग्न आ द्या त्वम् ॥ २ ॥

भा०—(तपसा) तप द्वारा (इन्द्रेण सं शितम्) और इन्द्र=विद्युत् द्वारा अत्यन्त तीक्ष्ण (इदम्) यह ऐसा (आदानम्) बन्धनपाश मैं शिल्पी (अकरं) बनाऊँ कि जिससे (अत्र) यहाँ इस युद्धभूमिमें (ये नः अमित्राः) जो हमारे शत्रु हैं, हे (अग्ने) सेनापति ! (तान्) उनको (त्वम् आ द्य) तू उस पाश से बाँध ले ।

ऐनान् द्यतामिन्द्राग्नी सोमो राजा च मेदिनौ ।
इन्द्रो मरुत्वानादानममित्रेभ्यः कृणोतु नः ॥ ३ ॥

भा०—(इन्द्राग्नी) राजा और सेनापति (एनान्) उक्त शत्रुओं को (आद्यताम्) बाँध ले । (सोमः राजा च) सोम और राजा दोनों ही (मेदिनौ) इस कार्य के लिये बलवान् हैं । और (इन्द्रः) इन्द्र (मरुत्वान्) मरुत्=वीरभटों के साथ (नः) हमारे (अमित्रेभ्यः) शत्रुओं के लिये (आदानम्) बन्धन पाश (कृणोतु) तैयार करे ।



[१०५] 'कासा' चित्ति-शक्ति की एकाग्रता का उपदेश ।

उन्मोचन ऋषिः । कासा देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

यथा मनो मनस्केतैः परापतत्याशुमत् ।
एवा त्वं कासे प्र पत मनसोऽनु प्रवाय्य/म् ॥ १ ॥

२–(द्वि०) 'इन्द्रियेण शंसितम्' (च०) 'मतानादान् द्विषतामय', इति पैप्प० स० ।

३–(द्वि०) 'राज्ञा सोमेन मेदिना ।' (च०) 'कृणोतु मे' (प्र०) 'एनां घ–' इति क्वचित् ।

भा०—'कासा' नाम चितिशक्ति को एकाग्र करने के क्रियात्मक उपाय बतलाते हैं —(यथा) जिस प्रकार (मनः) संकल्प विकल्प करने वाला मन (आशुमत्) अति वेगवान् होकर (मनस्केतैः) मन द्वारा चिन्तन करने योग्य विषयों के साथ (परा पतति) दूर चला जाता है। (एवा) उसी प्रकार हे (कासे) प्रकाशमान चितिशक्ते! (त्वं) तू भी (मनसः) मनके (प्र-वाय्यम्) चिन्तनीय विषयों के (अनु प्र-पत) साथ ही साथ जा।

यथा बाणः सुसंशितः परापतत्याशुमत्।
एवा त्वं कासे प्र पत पृथिव्या अनु संवतम् ॥ २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (सु-संशितः बाणः) तीक्ष्ण बाण, (आशुमत्) वेगवान् होकर (परा पतति) दूर जा गिरता है हे (कासे) चितिशक्ते! (त्वम्) तू भी (एवा) उसी प्रकार (पृथिव्याः संवतम्) पृथिवी=देह के उत्तम प्रदेश की ओर (अनु प्र पत) गति कर, धारणा द्वारा विशेष देश में स्थिर हो।

यथा सूर्यस्य रश्मयः परापतन्त्याशुमत्।
एवा त्वं कासे प्र पत समुद्रस्यानु विक्षरम् ॥ ३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (सूर्यस्य रश्मयः) सूर्य की किरणें, (आशुमत्) अति वेगवान् होकर (परा पतन्ति) दूर तक फैल जाती हैं उसी प्रकार हे (कासे) प्रकाशमान चितिशक्ते! तू (समुद्रस्य) समुद्ररूप परम आत्मा के (वि-क्षरम् अनु प्रपत) विशेष प्रवाह के अनुकूल होकर गति कर। 'कासे' इस सम्बोधन से कौशिक ने इस सूक्त को कास-रोगनिवृत्ति-परक माना है। सायण भी उसके पीछे चला है, परन्तु कौशिक ने इस सूक्त को सूर्योपस्थान के लिये भी लिखा है। यह वास्तव में आत्म-ध्यान या ब्रह्मोपासना का मन्त्र है। इसका देवता 'पुरुष' है। कासा=चकास्ति इति कासा, प्रकाशमयो ज्योतिष्मती चेतना, चितिशक्तिर्वा।

उस चितिशक्ति की तीन साधनाओं का उपदेश किया है। १. मन की गति के अनुकूल उसको यथाभिमत विषय पर लगावे। २. पृथिवी या मूल भाग में, किसी अधिष्ठान में स्थिर करे। ३. फिर परम आत्मा के विशाल गुणों में लगा दे।

[१०६] गृहों की रक्षा और शोभा।

प्रमोचन ऋषिः । दूर्वाशाला देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ।

आयने ते परायणे दूर्वा रोहन्तु पुष्पिणीः ।
उत्सो वा तत्र जायतां ह्रदो वा पुण्डरीकवान् ॥ १ ॥

ऋ० १० । १४२ । ८ ॥

भा०—गृहों की रक्षा, और सुन्दरता के लिये उत्तम उपायों का उपदेश करते हैं। हे शाले! (ते) तेरे (आ-अयने) अंगों के आने के स्थान में और (परा-अयने) पीछे के या दूर के स्थानों में भी (पुष्पिणीः) फूलों वाली (दूर्वाः) दूब और नाना वनस्पतियाँ (रोहन्तु) खूब उगें। और (तत्र) वहाँ (उत्सः वा) कूआ भी (जायताम्) हो। (वा) और (पुण्डरीकवान्) कमलों वाला (ह्रदः) तालाब भी हो। रहने के घर के समीप और दूर तक भी घास से हरा भरा मैदान, फुलवाड़ी, कूँआ और पुखरिया होनी चाहिये। ऐसे घरों में अग्नि आदि का भी भय नहीं रहता।

अपामिदं न्ययनं समुद्रस्य निवेशनम् ।
मध्ये ह्रदस्य नो गृहाः पराचीना मुखा कृधि ॥ २ ॥

(प्र० द्वि०) ऋ० १० । १४२ । ७ प्र० द्वि० ॥ यजु० १७ । ७ प्र० द्वि० ॥

[१०६]-(तृ० च०) 'ह्रदा वा पुण्डरीकाणि समुद्रस्य गृहा इमे' इति ऋ० ।
२—(द्वि०) 'अग्ने परि' इति यजु० । (च०) 'ददातु भेषजं' इति ऋ०

भा०—गृहों के बनाने के लिये उचित स्थान के निर्णय करने का उपदेश करते हैं। (इदं अपां न्ययनम्) यह इधर जलों के नीचे वह आने का स्थान हो और (समुद्रस्य निवेशनम्) इधर समुद्र, जल भण्डार का स्थान हो। (ह्रदस्य मध्ये) तालाब के बीच में (नः) हमारे (गृहाः) घर हों। हे अग्ने! तू अपने (मुखा) मुखों को पराचीना (कृधि) दूर रख। अथवा हे शाले! तू अपने (मुखा) द्वारों को (पराचीना) दूर तक फैले हुए विशाल बना, अथवा, हे शिल्पिन् द्वारों को बड़ा बना।

हिमस्य॑ त्वा जरायु॑णा शाले॒ परि॑ व्ययामसि।
शीतह्र॑दा हि नो॑ भुवो॒ऽग्निष्कृ॑णोतु भेष॒जम् ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १४२ खिले ॥ प्र० द्वि० यजु० १७ । ५ द्वि० ॥

भा०—हे शाले! गृह! (त्वा) तुझे (हिमस्य) हिम, शीतलजल के (जरायुणा) वेष्टन या आवरण पदार्थ से (परि व्ययामः) चारों ओर से घेर लें जिससे तू (नः) हमारे लिये (शीतह्रदा भुवः) शीतल तालाबों से युक्त हो। इस प्रकार (अग्निः) गृह में स्थित अग्नि भी हमारे पास (भेषजम्) हमारे रोगों और दुःखों के निवारण करने का साधन होकर हमारे रोगों को दूर (कृणोतु) करे।

गृह को शीतल तालाब आदि से घेर लेना चाहिये जिससे बाहर के जंगलों की आग घर को न सतावे। अग्नि भी उसमें जल के कारण आनेवाले रोगों को दूर करे।



[१०७] विश्व-विजयिनी राजशक्ति का वर्णन।

शंतातिर्ऋषिः। विश्वजिद् देवता। अनुष्टुभः। चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

खि० । (तृ०) 'ह्रदाहि' (च०) 'ददातु' इति पैप्प० स०।

विश्वजित् त्रायमाणायै मा परि देहि।
त्रायमाणे द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥१॥

भा०—हे (विश्व-जित्) सब पर विजय करने वाले राजन् या परमेश्वर! (मा) मुझे (त्रायमाणायै) त्रायमाणा=रक्षा करनेवाली अपनी शक्ति के अधीन (परि-देहि) रख। हे (त्रायमाणे) रक्षा करनेवाली शक्ति! (नः) हमारे (चतुष्पात्) चौपाये और (द्विपात् च) दोपाये, मनुष्य पक्षी आदि (यत् च नः) और जो भी हमारा (स्वम्) धन है उसकी (रक्ष) रक्षा कर।

त्रायमाणे विश्वजिते मा परि देहि। विश्वजिद् द्विपाच्च० ॥ २ ॥

भा०—हे (त्रायमाणे) राजा की रक्षाकारिणी शक्ति! तू (मा) मुझे, मुझ प्रजाको (विश्वजिते परिदेहि) विश्वजित् राजा के अधीन रख और इस नाते हे (विश्वजित्) सर्व विजयी राजन्! तू (नः) हमारे (द्विपात् च) दोपाये, भृत्य आदि और (चतुष्पात्) पशु चौपाये (यत् च नः स्वम्) और जो हमारा धन है उस (सर्वं रक्ष) सबकी रक्षा कर।

विश्वजित् कल्याण्यै मा परि देहि। कल्याणि द्विपाच्च० ॥ ३ ॥

भा०—हे (विश्वजित्) सर्वविजयी राजन्! (मा) मुझे (कल्याण्यै परि देहि) देश की कल्याणकारिणी परिषद् के आधीन रख। हे (कल्याणि) कल्याणकारिणि परिषद्! (द्विपात् चतुष्पात् च) दोपाये और चौपाये (यत् च नः सर्वम् स्वम्) और जो भी हमारा सब धन है उसकी (रक्ष) रक्षा कर।

---

[१०७]१–(प्र०) 'त्रायमाणे सर्वविदं मां' इति पैप्प० सं०।
२–(प्र०) 'त्रायमाणे सर्वविदे' इति पैप्प० सं०।
३–(प्र०) 'सर्वविद् विश्वविद् कल्याण्यै' इति पैप्प० सं०।

कल्याणि सर्वविदे मा परि देहि ।
सर्वविद् द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥ ४ ॥

भा०—हे (कल्याणि) देश के हित, कल्याण, सुख की सामग्री को उपस्थित करने वाली परिषद् ! तू (मा) मुझको (सर्वविदे परिदेहि) सब वस्तुओं को जानने वाले के आधीन कर । हे (सर्वविद्) सर्वज्ञ परिषद् ! तू (नः) हमारे (द्विपात् चतुष्पात् च यत् च नः स्वम् सर्वं रक्ष) दो पाये और चौपाये और भी जो हमारा धन है उस सबकी रक्षा कर । राज्य के चार विभाग होने आवश्यक हैं (१) विश्व-जित्, देशों के विजय करने वाला विभाग, (२) त्रायमाणा, विजित देशों को रक्षा करने वाली, (३) कल्याणी, नगरों और देशों की प्रजा के सुख आराम, जीवन सुधार का प्रबन्ध करने वाली, (४) सर्ववित्, राष्ट्र, परराष्ट्र आदि सबके विषय में ज्ञान प्राप्त करने वाली और तदनुसार अपने अन्य विभागों को उन उनके विषयक बातों की जानकारी रखने वाली । विजय करने वाला विभाग जिस देश को विजय करे उसे रक्षाकारी विभाग के हाथ देदें । और वह रक्षाकारी विभाग भी विजेता विभाग की आज्ञा से ही उसकी रक्षा करे और वह कल्याणी परिषद् को सौंपदे, कल्याणी परिषद् कल्याण करने के लिये सर्ववित् परिषद् के अधीन राष्ट्र को वहां के सब पदार्थों को जांच पड़ताल करने के लिये लगादें । जिससे राष्ट्र के सब प्रकार शिल्प, कारीगरी और व्यापार के उपयोगी पदार्थों का ज्ञान करके राष्ट्र में व्यापार और कारीगरी शुरू करावे ।

४–(प्र०) 'कल्याणि त्रायमाणायै' (तृ०) 'सर्वं रक्षत' इति पैप्प० सं० ।

[१०८] मेधा का वर्णन ।

शौनक ऋषिः । मेधा देवता । ४ अग्निर्देवता । १,४,५ अनुष्टुप् । २ उरोबृहती । ३ पथ्या बृहती । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

त्वं नो॑ मेधे प्रथमा गोभि॒रश्वे॑भि॒रा ग॑हि ।
त्वं सूर्य॑स्य र॒श्मिभि॒स्त्वं नो॑ असि य॒ज्ञिया॑ ॥ १ ॥

भा०—हे (मेधे) आत्मा को धारण करने वाली चितिशक्ते ! ज्ञानधारण-समर्थे ! (त्वं) तू (नः) हमें (गोभिः) ज्ञानेन्द्रियों और (अश्वेभिः) कर्मेन्द्रियों सहित (आ गहि) प्राप्त हो । (त्वं) तू (सूर्यस्य) सबके प्रेरक परमात्मा रूप सूर्य की (रश्मिभिः) ज्ञानमय किरणों सहित हमें प्राप्त हो । (त्वं) तू ही (नः) हमारे (यज्ञिया असि) यज्ञ आत्मा की शक्ति है । अथवा तू ही जीवन यज्ञ की सम्पादन करने वाली है ।

मे॒धाम॒हं प्र॑थ॒मां ब्रह्म॑ण्वतीं॒ ब्रह्म॑जूता॒मृषि॑ष्टुताम् ।
प्रपी॑तां ब्रह्मचा॒रिभि॑र्दे॒वाना॒मव॑से हुवे ॥ २ ॥

भा०—(अहं) मैं मेधा चाहने वाला ब्रह्मचारी (प्रथमाम्) श्रेष्ठ सबसे प्रथम, उत्तम गुणवाली, (ब्रह्मण्वतो) वेद ज्ञान से युक्त (ब्रह्म-जूताम्) ब्रह्मज्ञानियों से सेवित, (ऋषि-स्तुताम्) ऋषियों द्वारा प्रशंसा की गई (ब्रह्म-चारिभिः) ब्रह्मचारियों द्वारा (प्र-पीताम्) खूब उत्तम रीति से पान की गई, (मेधाम्) धारणावती चितिशक्ति को (अवसे) अपनी रक्षा के लिये (हुवे) ध्यान करता हूं और उसको अपने पास बुलाता हूं, उसकी प्रार्थना करता हूं ।

---

[१०८] २–(द्वि०) 'ब्रह्मण्वतीमृषि–' (तृ०) 'प्रणिहितां ब्रह्म–' (च०) 'अवसा वृणे' इति पैप्प० सं० ।

यां मेधामृभवो विदुर्यां मेधामसुरा विदुः ।
ऋषयो भद्रां मेधां यां विदुस्तां मय्यावेशयामसि ॥३॥

भा०—(यां) जिस (मेधाम्) मेधा बुद्धि का (ऋभवः विदुः) ऋत सत्य ज्ञान और वेद से प्रकाशित होने वाले विद्वान् और शिल्पी लोग (विदुः) लाभ करते हैं और (यां मेधाम्) जिस मेधा बुद्धि का (असुराः विदुः) प्राण विद्या के जानने वाले, प्राणायाम के अभ्यासी लाभ करते हैं। और (यां मेधाम्) जिस (भद्राम्) कल्याणकारिणी, सुखप्रद मेधा बुद्धि को (ऋषयः) मन्त्रार्थ के साक्षात् करने वाले ऋषिगण (विदुः) प्राप्त करते हैं। (ताम्) उसको हम (मयि) अपने आत्मा में (आ वेशयामसि) धारण करें।

यामृषयो भूतकृतो मेधां मेधाविनो विदुः ।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कृणु ॥ ४ ॥

(तृ० च०) यजु० ३२ । १४ तृ० च० ॥ ऋ० १०. १५१ खि० ॥

भा०—(याम्) जिस (मेधाम्) मेधा को (भूत-कृतः) उत्पन्न समस्त पदार्थों का उपयोग करने वाले अथवा पञ्चभूतों की साधना करने वाले, उन पर वशीकारसाधना करने वाले, (मेधाविनः) मेधावी, विद्वान्, मतिमान पुरुष (विदुः) प्राप्त करते हैं हे (अग्ने) आचार्यरूप अग्ने ! परमेश्वर ! (तया) उस (मेधया) मेधा से (अद्य) आज, अब (माम् मेधाविनं कृणु) मुझ ब्रह्मचारी को भी मेधावी बनाओ।

मेधां सायं मेधां प्रातर्मेधां मध्यन्दिनं परि ।
मेधां सूर्यस्य रश्मिभिर्वचसा वेशयामहे ॥ ५ ॥

४-(प्र० द्वि०) 'यां मेधां देवगणाःपितरश्च उपासते' (च०) 'कुरु' इति यजु० ।

५-(तृ० च०) 'मेधां सूर्योघोतो धीराणा उतस्त्वम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हम लोग (सायम्) सायं, सूर्यास्त के समय में (मेधाम्) मेधा बुद्धि का ध्यान करें (प्रातः मेधाम्) प्रातः, सूर्योदय काल में हम मेधा बुद्धि प्राप्त करने की प्रार्थना करें। (मध्यन्दिनं परि मेधाम्) मध्याह्न काल में भी मेधा बुद्धि को प्राप्त करने की प्रार्थना करें। हम (सूर्यस्य रश्मिभिः) सूर्य और उसके समान ज्ञानवान् आचार्य और ईश्वर के (वचसा) उपदेश-वचनों से उस मेधा बुद्धि को हम अपने में (आ वेशयामहे) स्थापित करें।

[१०९] पिप्पली ओषधि का वर्णन।

अथर्वा ऋषिः। मन्त्रोक्ता पिप्पली भेषजं देवता। अनुष्टुभः। तृचं सूक्तम्॥

पिप्पली क्षिप्तभेषज्यू३तातिविद्धभेषजी।
तां देवाः समकल्पयन्नियं जीवितवा अलम्॥ १॥

भा०—(पिप्पली) पिप्पली नामक ओषधि (क्षिप्त-भेषजी) क्षिप्त रोग की उत्तम ओषधि है (उत) और (अति-विद्ध भेषजी) अति-विद्ध अर्थात् गहरी पीड़ा की भी उत्तम ओषधि है (ताम्) उसको (देवाः) विद्वान् लोग (जीवितवै) जीवन को जीवित रखने के लिये ही (अलम्) पर्याप्त (अकल्पन्) सामर्थ्यवाला बना लेते हैं। जाँघ में तीव्र वेदना के चलने के रोग को 'अतिविद्ध' कहते हैं। वेदना से हाथ पैर पटकने के रोग को 'क्षिप्त' कहते हैं।

सायण के मत से पिप्पली से गजपिप्पली आदि सोंठ, मिरच, पीपली, इस 'त्र्योष' में पठित ओषधि का ग्रहण उचित है। ग्रीफ़िथ के मत में 'पिप्पली' शब्द से पीपल की गुलरी लेना उचित है।

[१०९] १-(प्र०) 'क्षुप्त' (द्वि०) 'उतं च विश्वभे-' (च०) 'अलं जीवातवायति' इति पैप्प० सं०। (प्र०) 'ऊ १ ता' इति क्वचित्।

राजनिघण्टु में "अश्वत्थी, लघुपत्री स्यात् पत्रिका ह्रस्वपत्रिका, पिप्पलिका वनस्था च क्षुद्रा चाश्वत्थसंनिभा" इस प्रकार अश्वत्थी पिप्पलिका का उल्लेख किया है जिसके गुण मधुर, कषाय, रक्तपित्तनाशक, विष, दाहनाशक और गर्भिणी के लिये हितकारी है। इसके अतिरिक्त पिप्पली, तृड् ज्वर, उदर रोग, जन्तु, आमरोग, वातरोग, श्वास, कास, श्लेष्मा, क्षय इनका भी नाशक है।' वेद में प्रदर्शित गुण कटुगण की पिप्पली के प्रतीत होते हैं। इसकी मूल पिप्पलीमूल है, वह भी वात नाशक और श्लेष्मा और कृमि का नाशक है। इसके दो भेद हैं श्रेयसी, और गजपिप्पली, वह भी श्लेष्मा और वायु का नाश करती है, माता का दूध बढ़ाती है। इसका एक भेद 'सैहली' है वह कफ, श्वास, पीड़ा का नाश करती है पेट को साफ़ करती है। सामान्यतः पिप्पली सर्वरोग नाशक रसायण कहाती है।

पिप्पल्य[१]ः समवदन्तायतीर्जननादधि ।
यं जीवमश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः ॥ २ ॥

यजु० १२ । ९१ । तृ० च० ॥ (तृ० च०) १० । ९७ । १७ तृ० च० ॥

भा०—(पिप्पल्यः) पिप्पली के पूर्वोक्त सब प्रकार के भेदवाली ओषधियाँ जो पिप्पली नाम से कहाती हैं (आयतीः) आती हुई (सम् आ वदन्त) परस्पर ऐसा कहती हैं कि (जननाद् अधि) जन्म से लेकर हम (यम्) जिस (जीवम्) जीव या प्राणधारी शरीर को (अश्नवामहै) व्याप लेती हैं (सः) वह (पुरुषः) पुरुष (न रिष्याति) कभी वात आदि रोग से पीड़ित नहीं होता।

असुरास्त्वा न्य/खनन् देवास्त्वोदवपन् पुनः।
वातीकृतस्य भेषजीमथो क्षिप्तस्य भेषजीम् ॥ ३ ॥

१—'पिप्पल्यः' इति क्वचित्।

भा०—हे पिप्पलि ! (वातीकृतस्य) तीव्र वात द्वारा पैदा हुए रोग की (भेषजीम्) ओषधि और (क्षिप्तस्य) क्षिप्त—'अलाउठा' नामक रोग की (भेषजीम्) उत्तम औषध (त्वा असुराः नि-अखनन्) तुझको असुर= प्राण विद्या के जानने वाले वैद्य लोग निरन्तर खोद लेते हैं और (देवाः) विद्वान् लोग (पुनः) वार २ (उद् अवपन्) उखाड़ लेते हैं ।

[११०] सन्तान की रक्षा और सुशिक्षा ।

अथर्वा ऋषिः । अग्निर्देवता । १ पंक्तिः । २—३ त्रिष्टुभौ । तृच सूक्तम् ॥

प्रत्नो हि कमीड्यो अध्वरेषु सनाच्च होता नव्यश्च सत्सि ।
स्वां चाग्ने तन्वं/पिप्रायस्वास्मभ्यं च सौभगमा यजस्व ॥१॥

ऋ० ८ । ११ । १० ॥

भा०—(प्रत्नः) अति पुरातन, पुराण पुरुष (हि कम्) ही निश्चय से (अध्वरेषु) हिंसारहित यज्ञों में, देवपूजा के अवसरों में (ईड्यः) स्तुति करने योग्य है । हे परमात्मन् ! और तू (सनात्) चिरकाल से (च) ही (होता) सब का दाता है (च) और (नव्यः च) सदा नवीन, अजर, अमर अथवा सदा स्तुति करने योग्य होकर (सत्सि) हमारे हृदयों में विराजता है । हे अग्ने ! परमेश्वर ! आप (स्वाम्) अपने (तन्वम्) विशाल ब्रह्माण्ड को (पिप्राय) पूर्ण कर रहे हो, उसमें व्यापक हो, आप (अस्मभ्यं च) हमारे लिये (सौभगम्) उत्तम समृद्धि (आ यजस्व) प्रदान करें ।

ज्येष्ठघ्न्यां जातो विचृतोर्यमस्य मूलबर्हणात् परि पाह्येनम् ।
अत्येनं नेषद् दुरितानि विश्वा दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ २ ॥

भा०—जिस स्त्री के प्रथम बालक उत्पन्न होकर मर जाय उसकी अन्य सन्तति की रक्षा करने का उपदेश करते हैं । (ज्येष्ठघ्न्यां) ज्येष्ठ=

प्रथम बालक को खो चुकनेवाली मृतवत्सा स्त्री में यह बालक (जातः) उत्पन्न हुआ है, अथवा (विचृतोः) विशेष रूप से परस्पर मिले हुए दोनों बालकों में से या (यमस्य) युगल रूप से उत्पन्न हुए (एनम्) इस बालक को (मूल-बर्हणात्) नाभि में लगी नाड़ी के काटने के समय से ही (परि पाहि) रक्षा करो । (विश्वा दुरितानि) सब प्रकार के दुरित, दुष्ट उपचार, जो माँ बाप या धाई की ओर से किये गये हों बालक को दुःख देने वाले पीड़ाकर कार्यों से (अति नेषत्) पार कर दो । जिससे वह (शत-शारदाय दीर्घायुत्वाय) सौ बरस की लम्बी आयु जीवे ।

सायण ने 'ज्येष्ठघ्नी' शब्द से ज्येष्ठा नक्षत्र 'विचृत्' से मूल नक्षत्र का ग्रहण किया है और मूल नक्षत्र या ज्येष्ठानक्षत्र में उत्पन्न बालक की रक्षा करने परक अर्थ किया है। सो असंगत है। वेद में फलित आदि असत्य बातों का होना सम्भव नहीं है।

व्याघ्रेऽह्न्यजनिष्ट वीरो नक्षत्रजा जायमानः सुवीरः ।
स मा वधीत् पितरं वर्धमानो मा मातरं प्र मिनीज्जनित्रीम् ॥३॥

भा०—(व्याघ्रे) व्याघ्र के समान प्रबल, क्रूर (अह्नि) अहन्=न घात किये जाने वाले, कठोर दिन में (वीरः अजनिष्ट) जो पुत्र उत्पन्न हो वह वीर होता है और (जायमानः) उत्पन्न होता हुआ (सु-वीरः) उत्तम बालक वही है जो (नक्षत्र-जाः) अस्खलित वीर्यवान्, ब्रह्मचारी गृहस्थ से उत्पन्न होता है। (सः) वह पुत्र बड़ा (सु-वीरः) बलवान् हो जाता है। (सः) वह (वर्धमानः) बड़ा होकर (पितरं) अपने पालक पिता को (मा वधीत्) कभी न मारे और (मातरं) मान्य (जनित्रीम्) जिसने उसको पैदा किया है उसको भी (मा प्रमिनीत्)

३—'वैयाघ्रे व्याघ्रो, इति वा ह्विटनिकामितः । (च०) 'स मा मातरम्' इति ह्विटनिकामितः ।

कष्ट न दे । प्रायः मदोद्धत बलवान् पुत्र सम्पत्ति और बल के गर्व में आकर माँ बाप को भी कष्ट देते हैं इसलिये पुत्रों को माँ बाप की रक्षा का उपदेश वेद करता है ।

सायण—(व्याघ्रेऽह्नि) क्रूर दिन में (नक्षत्रजाः) पाप-नक्षत्र में उत्पन्न हुआ ।



[१११] बद्ध जीव की मुक्ति और उन्माद की चिकित्सा ।

अथर्वा ऋषिः । अग्निर्देवता । २—३ अनुष्टुभौ । परानुष्टुप् त्रिष्टुप् ।

चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

इमं मे अग्ने पुरुषं मुमुग्ध्ययं यो बद्धः सुयतो लालपीति ।
अतोऽधि ते कृणवद् भागधेयं यदानुन्मदितोऽसति ॥ १ ॥

भा०—बद्ध जीव की मुक्ति के साथ २ पागलपन रोगनिवृत्ति का भी उपाय बतलाते हैं—हे (अग्ने) अग्ने परमात्मन् ! या विद्वन् ! आचार्य ! (यः) जो (बद्धः) बन्धन में बँधा हुआ यह आत्मा (सुयतः) अपने कर्म वासनाओं में खूब फँसा हुआ होने के कारण (लालपीति) बहुत बकता झकता है उस (इमम्) इस (मे) मेरे (पुरुषम्) पुरुष, आत्मा को (मुमुग्धि) बन्धन से मुक्त कर । (अतः) इसी प्रयोजन से हे अग्ने परमात्मन् ! विद्वन् ! यह जीव (यदा) जिस समय (अनुन्मदितम्) उन्माद=पागलपन, अविवेक से रहित (असति) हो जाय तब (ते) तेरा (भाग-धेयम्) भजन (अधि कृणवत्) करे । कर्म बन्धन में फँसा जीव बौराये हुए पागल के समान भटकता और बकता है । ईश्वर करे वह जीव मुक्त हो और जब उसको कभी अपने चित्त में शान्ति प्राप्त हो वह ईश्वर का अधिक भजन किया करे ।

[१११] १—'यथानुऽन्मदितोसति' इति सायणाभिमतः ।

अग्निष्टे नि शमयतु यदि ते मन उद्युतम्।
कृणोमि विद्वान् भेषजं यथानुन्मदितोससि ॥ २ ॥

भा०—हे आत्मन्! हे जीव! (यदि) यदि (ते) तेरा (मनः) मन संकल्प विकल्प और मनन करनेवाला अन्तःकरण (उद्युतम्) उचाट हो जाय, किसी स्थान पर भी न लगे, तब मैं (विद्वान्) ज्ञानवान् आचार्य (ते) तेरी (भेषजम्) ऐसी उत्तम चिकित्सा (कृणोमि) करूँ जिससे तू (अनुन्मदितः) उन्माद रहित (असंसि) हो जाय। तब उस तेरे मन को (अग्निः नि शमयतु) अग्नि, ज्ञानी रूप शान्त करे।

देवैनसादुन्मदितमुन्मत्तं रक्षसस्परि।
कृणोमि विद्वान् भेषजं यदानुन्मदितोसति ॥ ३ ॥

भा०—(देव-एनसात्) देव=विद्वान् पुरुषों या दिव्य पदार्थों के प्रति किये पाप या अनाचार के कारण (उन्मदितम्) हुआ उन्माद हो या (रक्षसः परि उन्मत्तम्) मानस क्रिया को रोकनेवाले कारण या ज्ञानविघायक रोग से उत्पन्न उन्माद हो, उसकी मैं (विद्वान्) विद्वान् पुरुष (भेषजं कृणोमि) ऐसी चिकित्सा करूँ। (यदा अनुन्मदितः असति) जिससे पुरुष उन्माद रहित हो जाय।

पुनस्त्वा दुरप्सरसः पुनरिन्द्रः पुनर्भगः।
पुनस्त्वा दुर्विश्वे देवा यथानुन्मदितोससि ॥ ४ ॥

भा०—(अप्सरसः) उत्तम स्त्रियें या जलधाराएँ (त्वां) तुझे (पुनः) बार २ (दुः) चेतना प्रदान करें। (इन्द्रः) इन्द्र सूर्य या वायु (पुनः) चेतना प्रदान करे। (भगः पुनः) भग, पुष्टिकारक अन्न तुझे पुनः चेतना प्रदान करे। (विश्वे देवाः पुनः त्वा) सब देव, इन्द्रियगण या

२–(द्वि०) 'उद्यतं' इति सायणाभिमतः।

विद्वान् लोग तुझे चेतना दें (यथा) जिससे तू (अनुन्मदितः असत्ति) उन्माद रहित हो जाय ।

[११२] सन्तान की उत्तम शिक्षा और विनय ।

अथर्वा ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

मा ज्येष्ठं वधीदयमग्न एषां मूलबर्हणात् परि पाह्येनम् ।
स ग्राह्याः पाशान् वि चृत प्रजानन् तुभ्यं देवा अनु जानन्तु विश्वे ॥१॥

भा०—(अयम्) यह पुरुष (ज्येष्ठं मा वधीत्) अपने बड़े भाई को न मारे । हे (अग्ने) अग्ने ! परमात्मन् ! अथवा हे राष्ट्रपते ! (एषां) इनके (मूल-बर्हणात्) मूल-विनाश के बुरे कार्य से या मूल नाड़ी के कटने के समय से (एनम्) इस पुरुष को (परिपाहि) रक्षा कर (सः) वह तू हे अग्ने ! (प्रजानन्) भली प्रकार विद्वान् ! तू (ग्राह्याः) पकड़ने वाली कैद के (पाशान्) पाशों को (विचृत) खोल दे । तब (देवाः) अन्य विद्वान् पुरुष भी (विश्वे) सब (तुभ्यम्) तुझे इस कार्य की (अनु जानन्तु) अनुमति दें ।

कोई छोटा भाई होकर स्वार्थ या लोभ और कामवश अपने बड़े को न मारे, राजा उस पुरुष को अपना वंश नाश न करने दे, और ऐसे अपराधी को तभी बन्धन या कारागार से मुक्त करे जब कि और विद्वान् लोग उसको छोड़ देने की अनुमति दें अन्यथा उस अपराधी को कैद में ही रक्खे ।

---

[११२] १–(तृ०) 'प्रजानः' (च०) 'पिता पुत्रौ मातरं मुञ्च सर्वान् ।' इति पैप्प० सं० ।

उन्मुञ्च पाशांस्त्वमग्न एषां त्रयस्त्रिभिरुत्सिता येभिरासन् ।
स ग्राह्याः पाशान् वि चृत प्रजानन् पितापुत्रौ मातरं मुञ्च सर्वान् ॥२॥

भा०—हे अग्ने ! राजन् ! (त्वम्) तू (एषाम्) इनके माता-पिता और भाई के (पाशान्) उन पाशों को (उन्मुञ्च) खोल दे । (येभिः) जिन (त्रिभिः) तीन या सब लोगों से (एषां) बड़े भाई के अधिकारों पर आघात करनेवाले इनमें से (त्रयः) मां, बाप और छोटा भाई तीनों (उत्सिताः) बँधे हुए (आसन्) हों । (सः) वह अग्नि, राजा (प्रजानन्) उत्तम रूप से सब व्यवस्था को जानता हुआ (ग्राह्याः) कैद के (पाशान्) पाशों को (वि चृत) खोल दे और (पितापुत्रौ) बाप, बेटे और (मातरं) माता को और इस निमित्त फँसे (सर्वान्) सब को (मुञ्च) छोड़ दे ।

यदि बड़े भाई के अधिकारों पर आघात हो राजा इस दोष में सब को पकड़े और जाँच पड़ताल करके जो निर्दोष हों उनको बन्धन से मुक्त करे । अन्यथा नहीं ।

येभिः पाशैः परिवित्तो विबद्धोऽङ्गेअङ्ग आर्पित उत्सितश्च ।
वि ते मुच्यन्तां विमुचो हि सन्ति भ्रूणघ्नि पूषन् दुरितानि मृक्ष्व ॥३॥

भा०—(येभिः) जिन (पाशैः) बन्धनों से (परि-वित्तः) अपने ज्येष्ठ भाई का अधिकार हड़पने वाला पुरुष (वि-बद्धः) बाँधा जाय और (अंगे अंगे) अंग २ में (आर्पितः) जकड़ा और (उत्सितः च) बँधा रहे (ते) वे पाश (वि मुच्यन्तां) खोल दिये जायँ (हि) यदि (विमुचः)

२—(द्वि०) 'उत्थितः' इति सायणाभिमतः ।

३—(द्वि०) 'उत्थितः' इति सायणाभिमतः । (प्र०तृ०) एभिः पाशैः मुदुर्या पतिर्निबद्ध परोपरार्पिता अंगे अंगे । विते चृत्यन्तां विचृतां हि सन्ति' इत्यादि पैप्प० सं० ।

वे खोल देने योग्य ही (सन्ति) हों । तब हे (पूषन्) राजन् (भ्रूणघ्नि) भ्रूणघाती पुरुष पर (दुरितानि) इन अपराधों को (मृक्ष्व) जानो । 'भ्रूण' का अर्थ कोषकार 'गर्भ' करते हैं परन्तु बोधायन ने लिखा है कि— "कल्पप्रवचनाध्यायी भ्रूणः ।" कल्प प्रवचन सहित साङ्ग वेद का विद्वान् भ्रूण कहाता है । अर्थात् उक्त दोष से सभी तब मुक्त हो सकते हैं यदि उनके कार्य के नीचे किसी और पापी हत्यारे (Outlow) का हाथ हो तब उसको पकड़ कर ही दण्ड दिया जाय ।



[११३] पाप अपराध का विवेचन और दण्ड ।

अथर्वा ऋषिः । पूषा देवता । १-२ त्रिष्टुभौ । पंक्तिः । तृचं सूक्तम् ॥

त्रिते देवा अमृजतैतदेनस्त्रित एनन्मनुष्येषु ममृजे ।
ततो यदि त्वा ग्राहिरानशे तां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु ॥ १ ॥

भा०—पूर्व ज्येष्ठ भाई की हत्या के पाप की विवेचना करते हैं— (देवाः) विद्वान् व्यवहाराधिकारी शासक लोग (एतद् एनः) उस ज्येष्ठ भ्राता की हत्या के अपराध को (त्रिते अमृजत) प्रथम उक्त तीनों व्यक्तियों—छोटा भाई, पिता और माता इन तीनों पर ही (अमृजत) लगाते हैं । (त्रितः) ये तीनों (एतत्) इस अपराध को (मनुष्येषु) अन्य मनुष्यों पर (ममृजे) लगाने का यत्न करते हैं । तो हे अपराधियो ! (यदि) अगर (त्वा) तुझ पर (ग्राहिः आनशे) इस अपराध के कारण क़ैद आ जाय तो (तां) उस क़ैद को (ते देवाः) वे विद्वान् (ब्रह्मणा) ब्रह्म=सत्य व्यवस्था के द्वारा ही (नाशयन्तु) दूर

[११३] १-' तृत ' इति प्रायः । (तृ०) 'ततो मायदि किंचिदानशे' इति तै० ब्रा० ।

करें। अर्थात् वे ही यथार्थ अपराधी का पता लगा कर अपराधी को पकड़ें और निरपराधी लोगों को मुक्त करें।

सायण ने इस प्रसंग पर त्रित आप्त्य की कथा का उल्लेख किया है कि देवों ने पुरोडाश आदि के लेप के पाप को एकत द्वित, त्रित इन तीन पुरुषों पर लगाया। उन्होंने क्रम से सूर्याभ्युदित पर लगाया, सूर्याभ्युदित ने सूर्यनिम्रुक्त पर, उसने कुनखी पर, उसने अग्रदीधिषु पर, उसने परिवित्त पर, उसने वीरहा पर, उसने ब्रह्मघाती पर। पूर्व मन्त्र में भ्रूणघाती वही प्रतीत होता है जो इस कथा में ब्रह्मघाती है। 'ब्रह्मघाती' में यदि ब्रह्म शब्द से वेद मर्यादा या वैदिक व्यवस्था को लें तो उसके विनाशक (out-law) कानून-भंगकारी को अपराध होना ही उचित है।

मरीचीर्धूमान् प्र विशानु पाप्मन्नुदारान् गच्छोत वा नीहारान्।
नदीनां फेनाँ अनु तान् वि नश्य भ्रूणघ्नि पूषन् दुरितानि मृक्ष्व॥२॥

भा०—हे (पाप्मन्) पाप ! तू (मरीचीः) चाहे सूर्य की किरणों में छिप जा, चाहे (धूमान् प्रविश) धूओं में घुस जा, (अनु) और वहाँ से जाकर चाहे (उदारान्) उससे भी ऊपर उठे हुए मेघों में (गच्छ) चला जा, (उत वा) और चाहे (नीहारान्) उससे भी सूक्ष्म मेघमय वाष्प, कुहरा में विलीन हो जा और या (नदीनां) नदियों की (फेनान्) झागों में घुसकर (तान् अनु-विनश्य) उनके बीच में छुप जा तो भी तू छूट नहीं सकता। क्योंकि हे पूषन् ! सूर्य के समान राजन् ! तू (दुरितानि) बुरे कर्मों को (भ्रूण-घ्नि) भ्रूण=वेदाज्ञा के भंग करने वाले पापी पुरुष में ही (मृक्ष्व) भांप लेता है।

द्वादशधा निहितं त्रितस्यापमृष्टं मनुष्यैनसानि।
ततो यदि त्वा ग्राहिरानशे तां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु॥३॥

२—(तृ०) 'नश्यन्' इति क्वचित् 'विद्वे' इति सायणाभिमतः।

भा०—(त्रितस्य) मन वाणी और कार्य दोनों में बद्ध पुरुष या जीवात्मा का पाप उससे (अपमृष्टं) दूर रह कर भी (द्वादशधा निहितम्) बारह प्रकार से बंट जाता है। जिनको (मनुष्य-एनसानि) मनुष्य विचारशील पुरुष के एनस=पाप कहा जाता है। (ततः) उन कारणों से भी हे जीव (यदि) अगर (त्वा) तुझे (ग्राहिः) बन्धनमय अविद्या (आनशे) लग जाय (ते) तेरे (तां) उस बन्धन को (ब्रह्मणा) ब्रह्म वेद के द्वारा (देवाः) विद्वान् पुरुष (नाशयन्तु) दूर करें। पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच ज्ञानेन्द्रिय और मन और बुद्धि ये १२ स्थान पाप के हो सकते हैं। इसलिये ये पाप मनुष्य-पाप हैं। इनके अनुसार जीव कर्म-बन्धन में फँसता है।

मरीची, धूम, उदार नीहार, नदी फेन और भ्रूणघ्न में नीचयोनियों में जानेवाले जीवों के लिये पितृयाण मार्ग है।

॥ इति एकादशोऽनुवाकः ॥

[तत्रैकादश सूक्तानि ऋचश्च सप्तत्रिंशच्चः ।]



[११४] पाप त्याग और मुक्ति का उपाय।

ब्रह्मा ऋषिः । विश्वे देवा देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

यद् देवा देवहेडनं देवासश्चकृमा वयम् ।
आदित्यास्तस्मान्नो यूयमृतस्यर्तेन मुञ्चत ॥ १ ॥

यजु० २२ । १४ ॥

१–(तृ०च०) 'अग्निर्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वंहसः ।' इति आदित्यास्तस्मान्मा मुञ्चत-ऋतेनर्तस्य मा उत' इति वा तै०ब्रा०। 'मा इत' इति तै० आ० ।

भा०—पाप त्याग करने का प्रकार बतलाते हैं—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! (वयम्) हम (देव-सः) देव स्वतः विद्वान्, इन्द्रिय क्रीड़ा व्यसनी होकर भी (यद्) जो (देव-हेडनं) देव, विद्वानों के अनादर और क्रोधजनक कार्य (चकृम) करें तो (हे आदित्याः) सूर्य के समान तेजस्वी या पापात्माओं को पकड़नेवाले पुरुषो ! (तस्मात्) उस पाप के निमित्त (यूयम्) आप लोग (नः) हमें (ऋतस्य) सत्यमय ईश्वर के (ऋतेन) सत्यज्ञान, वेद व्यवस्था के अनुसार (मुञ्चत) हमें मुक्त करो।

ऋतस्यर्तेनादित्या यजत्रा मुञ्चतेह नः ।
यज्ञं यद्यंज्ञवाहसः शिक्षन्तो नोपशेकिम ॥ २ ॥

भा०—हे (आदित्याः) विद्वान्, ज्ञानी पुरुषो ! (यजत्राः) दानशील, यज्ञशील संगतिकारी सभासद् लोगो ! आप लोग (नः) हमें (ऋतस्य ऋतेन) सत्यमय परब्रह्म के सत्यज्ञान द्वारा (इह) इस लोक में (मुञ्चत) मुक्त करो, पापों के बन्धन से मुक्त होने का उपदेश करो। हे (यज्ञ-वाहसः) यज्ञ-मय महान् आत्मा परमब्रह्म को अपने अपने हृदय में धारण करने वाले विद्वानो ! हम लोग (यद्) जब (यज्ञम् शिक्षन्तः) उस ब्रह्म की शिक्षा प्राप्त करते हुए अथवा (यज्ञं शिक्षन्तः) उस महान् आत्मा को प्राप्त करने में यत्न करते हुए भी (न उपशेकिम) उसको प्राप्त न कर सकें तो भी आप (ऋतस्य ऋतेन नः मुञ्चत) उस सत्यमय ब्रह्म के सत्यज्ञान का उपदेश करके हमें मुक्ति का मार्ग बतलावें।

मेदस्वता यजमानाः स्रुचाज्यानि जुह्वतः ।
अकामा विश्वे वो देवाः शिक्षन्तो नोप शेकिम ॥ ३ ॥

२-(च०) 'शिक्षन्तु उपारिम' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'इह मा', (तृ०) 'यज्ञैर्वः', (च०) 'आशिक्षन्तो नशेकिम' इति तै० ब्रा० ।
३-(द्वि०) 'आज्येन' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(यजमानाः) ब्रह्म की उपासना करते हुए हम लोग (मेदस्वता) मेद=मेध=आत्मा और शरीर को धारण करनेवाले अन्न से युक्त (स्रुचा) बलप्रदाता प्राण से (आज्यानि) अपने तेजोमय इन्द्रिय रूप प्राणों को (जुह्वतः) आत्मा में लीन करते हुए (अकामाः) निष्काम, कामना रहित होकर और (शिक्षन्तः) ब्रह्म को प्राप्त करने का यत्न करके भी (न उपशेकिम) बन्धन से मुक्त न हो सकें तो हे (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान पुरुषो ! (वः) तुम लोग हमें ब्रह्म के सत्य ज्ञान के उपदेश द्वारा, कर्म-बन्धन से मुक्त करो ।

सायण ने (मेदस्वता यजमानाः स्रुचा) इसका अर्थ करते हुए पशु-बलिमय यज्ञपरक अर्थ किया है । सो असंगत है ।

शतपथ में—मेदो वै मेधः । श० ३ । ८ । ४ । ६ ॥ मेधाय अन्नाय इत्येतत् । श० ७ । ५ । २ । ३३ ॥ ऐतरेय में—मेधो देवैरनुगतो व्रीहिरभवत् । ऐ० । ८ ॥—ताविमौ व्रीहियवौ मेधः । श० १ । २ । ३ । ६,७ ॥ व्रीहि, यव आदि धान्य और पुरोडाश का नाम मेधः=मेदः है, अन्न से उत्पन्न प्राण की साधना से भी यत्न करनेवाले अभ्यासी लोग जब कर्मबन्धन से मुक्त न हों तो पहुँचे हुए ज्ञानी पुरुष उनको ब्रह्म का उपदेश करें । ब्रह्मज्ञान के उपदेश के लिये ब्रह्मचर्य और अष्टांग-साधना आवश्यक है ।



[११५] पाप-मोचन और मोक्ष ।

ब्रह्मा ऋषिः । विश्वे देवा, देवताः । अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

यद् विद्वांसो यदविद्वांस एनांसि चकृमा वयम् ।
यूयं नस्तस्मान्मुञ्चत विश्वे देवाः सजोषसः ॥ १ ॥

[११५] १–(प्र०) 'यदि वा यद् नक्तं' (द्वि०) 'आकरत्' (च०), 'मुञ्चतः' इति तै० ब्रा० । (प्र०) 'स्वप्ने' (द्वि०) 'एनांसि चकृमा वयम्' इति यजु० ।

भा०—(वयम्) हम (यद्) जब जब (विद्वांसः) ज्ञानवान् होकर या (अविद्वांसः) विना जाने हुए (एनांसि) अपराध या पाप-कर्म (चकृम) करें हे (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (स-जोषसः) एक मत होकर, सप्रेम, होकर (तस्मात्) उस पाप से (नः) हमें (मुञ्चत) मुक्त कराओ, छुड़ाओ ।

यदि जाग्रद् यदि स्वपन्नेन एनस्योऽकरम् ।
भूतं मा तस्माद् भव्यं च द्रुपदादिव मुञ्चताम् ॥ २ ॥

(प्र० द्वि०) यजु० २० । १६ । प्र० द्वि० ॥

भा०—(यदि) मैं (एनस्यः) पापकारी होकर भी (जाग्रद्) जागते हुए (यदि) या (स्वपन्) सोते हुए (एनः) पाप (अकरम्) करूँ तो जिस प्रकार (द्रुपदात् इव) द्रुपद=खूँटे से बँधे पशु को जिस प्रकार छुड़ा कर मुक्त कर दिया जाता है उसी प्रकार मेरे साथ लगे (भूतम्) भूतकाल के और (भव्यम् च) भविष्यत् काल के पाप को (तस्मात्) उक्त प्रकार से मुझे (मुञ्चताम्) छुड़ाओ । अथवा (द्रुपदात् इव भव्यं भूतं च मुञ्चताम्) खूँटे के समान मुझसे भूत=इस लोक और भव्य=अमुक लोक दोनों के कर्म-बन्धन को छुड़ाओ ।

द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नात्वा मलादिव ।
पूतं पवित्रेणेवाज्यं विश्वे शुम्भन्तु मैनसः ॥ ३ ॥

यजु० २० । २० ॥

भा०—(द्रुपदात् मुमुचानः, इव) जिस प्रकार पशु खूंटे से मुक्त हो जाता है और (स्विन्नः) पसीने से भीगा पुरुष (स्नात्वा)

३–(द्वि०) 'स्नातो' (च०) 'शुन्धन्तु' इति यजु० । (प्र०) 'द्रुपदादिह' (द्वि०) 'स्नात्वी' (च०) 'मुञ्चन्तु' इति मै० सं० । 'विश्वान् मुञ्चन्तु' (द्वि०) 'सिन्धुःस्ना–' इति पैप्प० सं० ।

नहाकर (मलात् इव) जिस प्रकार मल से रहित होजाता है और जिस प्रकार (पवित्रेण) पवित्र=कुश के बने, अथवा पवित्र अर्थात् कम्बल या छानने के कपड़े से (पूतम्) छान लिया गया (आज्यम्) घृत या जल जिस प्रकार शुद्ध पवित्र होजाता है उसी प्रकार (विश्वे) समस्त विद्वान् पुरुष या (विश्वे देवाः) समस्त दिव्य गुण के पदार्थ जल, भूमि, चन्द्र, वायु आदि (मा) मुझे (एनसः) पाप से (शुम्भन्तु) शुद्ध करें ।

उक्त दोनों मन्त्रों में 'द्रुपदात् इव' द्रुपद से छूटने की उपमा आई है। सायण के मत से "पादबन्धनार्थो द्रुमो द्रुपदः [६।११५।२] द्रुपदात् इव काष्ठमयात् पादबन्धनात् इव [६।११५।३]" द्रुपद शब्द का अर्थ लकड़ी का बना पैरों का बन्धन (अर्थात् खूँटा) है। यजुर्वेद भाष्यकार उव्वट और महीधर दोनों ने द्रुपद शब्द का अर्थ 'पादुका' किया है। कदाचित् 'पादुका'=खड़ाऊँ सायण को भी अभिमत हो । ग्रीफ़िथ के मत में द्रुपद्=stake, खूँटा, बल्ला । इसका वास्तविक अर्थ बृहदाण्यक के नीचे लिखे उद्धरण से स्पष्ट होता है—

"अथ ह प्राण उत्क्रमिष्यन् यथा महा-सुहयः पड्वीश-शङ्कून् संवृहेदेवं ह वै इमान् प्राणान् संववर्ह ।" इत्यादि । इसमें 'पड्वीशशङ्कु' वही पदार्थ है जिसे वेद 'द्रुपद' शब्द से कहता है । अथवा ऋग्वेद में—

"शुनःशेपो ह्यह्वद् गृभीतस्त्रिष्वादित्यं द्रुपदेषु बद्धः" [ऋ० १ । २४ । १३] शुनःशेप तीन खूंटों में बँधा हुआ आदित्य को पुकारता है।



[११६] पाप से मुक्त होने का उपदेश ।

जारिकायन ऋषिः । विवस्वान् देवता । १–३ जगत्यौ । २ त्रिष्टुप् ।
तृचं सूक्तम् ॥

यद् यामं चक्रुर्निखनन्तो अग्रे कार्षीवणा अन्नविदो न विद्यया ।
वैवस्वते राजनि तज्जुहोम्यथ यज्ञियं मधुमदस्तु नोऽन्नम् ॥ १ ॥

भा०—(कार्षीवणाः) कृषि करनेवाले (अन्नविदः, न) अन्न विद्या के ज्ञानी पुरुषों के समान (विद्यया) ज्ञान या कृषिविद्या के अनुसार (अग्रे) पूर्व ही (निखनन्तः) भूमि को खोदते हुए (यत्) जिस (यामन्) राजनियम को स्थिर (चक्रुः) करते हैं (तत्) उसके अनुसार ही मैं अन्नपति, भूमिपति (वैवस्वते राजनि) विवस्वान=विशेष धन या राष्ट्र के पति राजा के पास (जुहोमि) कररूप में दूं। (अथ) और (यज्ञियम्) यज्ञ के योग्य, यज्ञ=राष्ट्र के हितकारी (नः) हमारा (मधुमत्) दुग्ध आदि, बल, वीर्य, रससम्पन्न (अन्नम् अस्तु) अन्न हो ।

सायण—यामं=क्रूर कर्म । ग्रीफिथ—यामं=धनं बीजमयं धान्यम् । यमः=राजा, तत्सम्बन्धिकरदानादिसमयो यामं कर्म । यामः कर्म [श० ६ । ३ । २ । ३] याम=नियम, व्यवस्था ।

अर्थात् किसानों के खेती करते समय जो राजा का नियत कर है सबसे प्रथम उसको भूपति लोग चुकाया करें । उसके अनन्तर शेष अन्न स्वयं ग्रहण करें ।

वैवस्वतः कृणवद् भागधेयं मधुभागो मधुना सं सृजाति ।
मातुर्यदेन इषितं न आगन् यद् वा पितापराद्धो जिहीडे ॥ २ ॥

भा०—(वैवस्वतः) राष्ट्र का स्वामी (भागधेयं कृणवत्) सबके हिस्सों का विभाग करता है । और (मधुभागः) अन्न का भाग ग्रहण करनेवाला राजा ही सबको (मधुना सं सृजाति) अन्न से सम्पन्न करता

[११६] १–(द्वि०) 'न विदो न विद्यया' इति सायणसम्मतः पाठः । 'यदि । आमं ' इति ब्लूमफील्डकामितः पदच्छेदः ।
२–(प्र०) 'कृणवद् भेषजानि' इति पैप्प० सं० ।

है। अर्थात् यदि राजा अन्न का भाग न ले तो लोग अन्न उत्पन्न न करें, प्रत्युत, राजा जिस वस्तु को चाहता है वही प्रजा उत्पन्न करती हैं। राजा को हम राजा का भाग इसलिये दें कि उसको उसका भाग न देने से दो अनर्थ उत्पन्न होते हैं—(१) (यत्) प्रथम तो (मातुः) माता पृथिवी या प्रजा का (इषितम्) अभिलषित पदार्थ अन्न (नः) हमारे पास (एनः) पाप रूप में या अपराध रूप में (आ अगन्) आ जाता है, (२) (च) और दूसरा यह (यद्) कि (पिता) पालन करनेवाला राजा (अप-राद्धः) कसूर करने पर (जिहोडे) क्रोध करता है। इसलिये जिसका जो भाग हो वह उसको अवश्य दे देना चाहिये। उसको उसका हिस्सा न देने से जो पाप (एनः) होता है, उसका स्वरूप अगले मन्त्रों में स्पष्ट हो जाता है।

यदीदं मातुर्यदि वा पितुर्नः परि भ्रातुः पुत्राच्चेतस एन आगन्।
यावन्तो अस्मान् पितरः सचन्ते तेषां सर्वेषां शिवो अस्तु मन्युः॥३॥

भा०—(यदि) यदि (इदं एनः) यह पाप, दोष (मातुः) माता के (यदि वा) अथवा (पितुः) पिता के या (नः) हमारे (भ्रातुः) भाई के (चेतसः) चित्त से या (पुत्रात्) पुत्र की तरफ़ से (परि आ-अगन्) हम पर आवें तो (यावन्तः) जितने भी (पितरः) पालक, पिता लोग, पिता, माता, गुरु आचार्य, राजा आदि आद-रणीय पुरुष और जो भी (अस्मान्) हम पर (सचन्ते) आश्रित होकर रहते हैं (तेषां सर्वेषाम्) उन सब का (मन्युः) क्रोध या चित्त (शिवः अस्तु) हमारे लिये शान्त होकर हमें कल्याणकारी हो।

जिसको भाग नहीं प्राप्त होता वही हम पर अपने भाग को हड़प जाने का दोष लगावेगा और हम पर क्रोध करेगा, वही वेद में 'एनः' कहा गया है। ऐसा 'एनः', दोष इनके चित्त से हम पर आ लगता है। अर्थात् उनका चित्त हम पर दोष आरोपण करता है। तब हिस्सा न

थाकर जब कलह हो तो हमारे बड़े वृद्ध पुरुष ही उसको शान्त करें और हमारा फैसला करा दिया करें ।



[११७] ऋण-रहित होने का उपदेश ।

अनृणकामः कौशिक ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

अपमित्यमप्रतीत्तं यदस्मि यमस्य येन बलिना चरामि ।
इदं तदग्ने अनृणो भवामि त्वं पाशान् विचृतं वेत्थ सर्वान् ॥१॥

भा०—ऋणपरिशोध का उपदेश करते हैं—(यद्) जिस (अपमित्यम्) अपमान योग्य या प्रदान करने योग्य (अप्रतीत्तं) न चुकाये हुए धनको (अस्मि) लेता हूँ और (यमस्य) नियन्ता राजा के राज्य में (येन) जिस (बलिना) बलि, कर से (चरामि) मैं स्वयं अपना भोजन प्राप्त करूं (इदं तत्) उसको मैं यह । हे (अग्ने) राजन् तेरे समक्ष ही चुका दूं और इस प्रकार उससे मैं (अनृणः) ऋणरहित (भवामि) होजाऊं । हे अग्ने ! राजन् ! (त्वं) तू ही (सर्वान् पाशान्)

[११७] १–(प्र०) 'यदस्मि' इति लडविग्कामितः । 'यत् कुसीदं यदप्रतीतम्' मयेह । (द्वि०) 'येन यमस्य निधिना चरावः' । (तृ०) एतत् जीवन्नेव प्रति हस्ता नृणानि' इति मै० सं० । (तृ०) 'इहैव सन्निरवदये तत्' इति तै० सं० । 'जीवन्नेव प्रति तत्ते दधामि' इति तै० ब्रा० । 'यानपमित्यान्यप्रतीतान्यस्मि यमस्य बलिना चरामि' इति तै० ब्रा० । 'यत्कुसीदमप्रदत्तं मयेह येन यमस्य निधिना चरामि । इदं तदग्ने अनृणो भवामि जीवन्नेव प्रतिदत्ते ददानि' इति मै० ब्रा० । 'यत् कुसीदमपामित्यमप्रतीतम्' इति गो० ब्रा० । (प्र०) 'अपमृत्युमप्रतीतं यदस्मिन्नस्येन' । (च०) 'जीवन्नेव प्रतिददामि सर्वं' इति पैप्प० सं० ।

सब बन्धनों को (विचृतम्) नाना प्रकार से बांधना और खोलना भी (वेत्थ) जानता है।

राजा की साक्षी में जिसका ऋण देना हो दो और राजा का कर भी चुकाओ, नहीं तो वह न चुकाने वाले कर्ज़दार को नाना प्रकार के दण्ड देगा।

इहैव सन्तः प्रति दद्म एनज्जीवा जीवेभ्यो नि हराम एनत्।
अपमित्य धान्यं१ यज्जघसाहमिदं तदग्ने अनृणो भवामि ॥ २ ॥

भा०—हम लोग (इह एव) इस लोक में ही (सन्तः) वर्त्तमान रहते २ (एनत्) उस ऋणको (प्रतिदद्मः) चुका दिया करें। और (जीवाः) हम जीते जी (जीवेभ्यः) जीते हुए पुरुषों के (एनत्) इस ऋण को (निहरामः) सर्वथा साफ़ कर दिया करें, बेबाक कर दिया करें। (यत् धान्यम्) जो धान्य आदि ऋण लेकर भी (अहं जघस) मैं खाऊं, उसको भी (अपमित्य) वापिस देकर हे (अग्ने) न्यायाधीश! (इदं तत्) यह इस प्रकार मैं (अनृणः) ऋण रहित (भवामि) होऊं।

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम।
ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम ॥ ३ ॥

भा०—लौकिक और पारमार्थिक दोनों ऋणों की विवेचना करते हैं— हम लोग (अस्मिन्) इस (लोके) लोक में और (परस्मिन्) परलोक में और (तृतीये लोके) तृतीय लोक में भी (अनृणाः) ऋण रहित

२–(प्र०) 'प्रतितद् यातयाम' इति तै० ब्रा०। 'एतत्' इति पैप्प० सं०। 'अपमृत्युं' 'जघास अग्निर्मा तस्मादनृणं कृणोतु' इति पैप्प० सं०।
३–(तृ०) 'उत पितृयाणा सर्वान्' इति तै० ब्रा०।

(स्याम) हो जायँ। (ये देवयानाः) जो देवों, विद्वानों के जीवन-यापन के योग्य देवयान लोक हैं और जो (पितृयाणाः च लोकाः) पितृयाण लोक हैं (सर्वान्) समस्त (पथः) मार्गों में हम (अनृणाः) ऋण रहित होकर ही (आ क्षियेम) रहा करें। इस लोक के दो प्रकार ऋण हैं एक तो जो अधमर्ण होकर उत्तमर्णों से सुवर्ण, रजत धान्य वस्त्रादि लिया जाता है; दूसरा पितृऋण, देवऋण, और ऋषिऋण हैं। जैसे तैत्तिरीय संहिता में लिखा है "जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते, ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो, यज्ञेन देवेभ्यः, प्रजया पितृभ्यः। तै० सं० ६।३।१०।५]। ऋणं ह वै जायते, योऽस्ति स जायमान एव देवेभ्यः ऋषिभ्यः पितृभ्यो मनुष्येभ्यः। स यदेव यजते तेन देवेभ्य ऋणं जायते, तद्ध्येभ्यः एतत्करोति यदेनान् यजते यदेभ्यो जुहोति। अथ यदेवानुब्रुवीत तेन ऋषिभ्य ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत्करोति ऋषीणान्निधिगोपा इति ह्यनूचानमाहुः। अथ यदेव प्रजामिच्छेत तेन पितृभ्य ऋणमिच्छते तद्ध्येभ्य एतत्करोति यदेषां सन्तताऽव्यवच्छिन्ना प्रजा भवति। अथ यदेव वासयत तेन मनुष्येभ्यः ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत्करोति यदेनान् वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति स य एतानि सर्वाणि करोति स कृतकर्मा; तस्य सर्वमाप्तं सर्वं जितम्।" शत० का० १।७।२।१-५॥ ब्राह्मण उत्पन्न होते ही तीन ऋणों से ऋणवान् होजाता है ब्रह्मचर्य से विद्याभ्यास करके ऋषियों का, यज्ञों से देवों का और प्रजा से पितृ लोगों का ऋण होता है। (तै० सं०) जो भी उत्पन्न होता है उत्पन्न होते ही उस पर देव, ऋषि, पितर और मनुष्य चारों के ऋण हो जाते हैं। यज्ञों से देवों का ऋण उतरता है, अनुप्रवचन, अध्ययन कार्य से ऋषियों का ऋण उतरता है, विद्यावान् पुरुष ऋषियों का 'निधिगोपा' खजानची कहाता है। प्रजाओं से ऋषियों का ऋण उतरता है इससे प्रजातन्तु टूटता नहीं। मनुष्यों के घरों में अतिथि रूप से रहने और भोजन करने से मनुष्यों का ऋण होता है।

घर पर अतिथियों को वास देने और भोजन वस्त्र देने से मनुष्यों का ऋण चुकता है। जो इन सब कार्यों को करता है वह 'कृतकर्मा' है उसको सब प्राप्त होता है वह सब पर विजय प्राप्त करता है।

[११८] ऋण के आदान और शोध की व्यवस्था।

अनृणकामः कौशिक ऋषिः। अग्निर्देवता त्रिष्टुभः। तृचं सूक्तम् ॥

यद्धस्ताभ्यां चकृम किल्विषाण्यक्षाणां गत्नुमुपलिप्समानाः।
उग्रंपश्ये उग्रजितौ तदद्याप्सरसावनु दत्तामृणं नः ॥ १ ॥

भा०—कुमार्ग में या जूआ आदि व्यसनों में ऋण लेने और देने की व्यवस्था करते हैं—(अक्षाणाम्) अक्ष=जुए के पासों की (गत्नुं) क्रीड़ा को अथवा उनके द्वारा प्राप्त होनेवाले अर्थलाभों को (उपलिप्समानाः) प्राप्त करने का लाभ करते हुए (हस्ताभ्याम्) हाथों से (यत्) जब (किल्बिषाणि) पाप (चकृम) करें (तत्) तब (अद्य) तत्काल ही (उग्रं-पश्ये) उग्र, उद्यत दण्ड होकर देखने वाली और (उग्र-जितौ) उग्रता से सब को वश करने वाली (अप्सरसौ) दोनों राजा और प्रजा की संस्थाएं (नः) हमारे (ऋणम्) ऋण, अर्थदण्ड को (अनु-दत्ताम्) हम से दिलादें। अर्थात् धनके लोभ से जब २ हम जूआ आदि कामों में हाथ डालें तब २ प्रजा की व्यवस्थापक संस्थाएं हमें पकड़ लें और दण्ड-पूर्वक हमारा ऋण हमसे चुकवावें। प्रजा पर निगरानी करने वाली दो

[११८] १-'गणमुप' इति अजमेरमुद्रितसंहिता पाठः, ग्रीफिथसम्मतश्च, 'गत्युं' 'गत्तुं' 'गन्तुं' इति क्वचित्। (प्र०) 'चकर' (द्वि०) 'वग्नुमुपजिघ्नमानः'। इति तै० आ०, मै०सं०। 'अवजिघ्रमाणः'। (तृ०च०) 'दूरेपश्या च राष्ट्रभृच्च तान्यप्सरसमनुदत्तानृणानि' इति तै० आ०। "किल्विषमक्षमकभावीलिप्समानाः इति पैप्प० सं०। (तृ० च०)

संस्थाएं एक उग्रंपश्या दूसरी, उग्रजित्, एक C. I. D. 'क्रिमिनल इनवेस्टिगेटिंग डिपार्टमेंट' पापियों को खोज २ कर पता लगाने वाली दूसरी 'उग्रजित्' पोलिस अपराधियों को खोज २ कर दण्ड देने वाली। ये दोनों संस्थाएं प्रजा में (अप्सरसौ) गुप्त रूपसे विचरें, अपराधियों का पता लगावें और उनको दण्ड दें। यहां सायण, ग्रीफ़िथ और क्षेमकरण तीनों भाष्यकारों के भाष्य अस्पष्ट हैं। इसी विषय का स्पष्टीकरण अगले मन्त्र में देखो।

उग्रंपश्ये राष्ट्रंभृत् किल्विषाणि यदुक्षवृत्तमनु दत्तं न एतत्।
ऋणान्नो नर्णमेर्त्समानो यमस्य लोके अधिरज्जुरायत्॥ २॥

भा०—हे (उग्रं-पश्ये) उग्र होकर प्रजा के अपराधियों को देखने वाली संस्थे! और हे (राष्ट्र-भृत्) राष्ट्र को अपराधी पुरुषों से बचाकर उसका पालन करने वाली संस्थे! हे पूर्वोक्त दोनों संस्थाओ! (यद्) जो (अक्ष-वृत्तम्) जुआखोरी में होने वाला पाप और जो २ (किल्विषाणि) पाप हैं उन सब को (एतत्) इस प्रकार से (अनु-दत्तम्)[१] उनके अनुकूल हमें दण्ड दें और हमें जुआखोरी आदि व्यसनों से कर्ज़दार होने से बचावें जिससे ('ऋणात्) ऋणवान् पुरुष से (ऋणम्) अपने दिये ऋण को (न) नहीं (एर्त्समानः=आ ईर्त्समानः) प्राप्त करें

२—'नेत्रर्णान् ऋणवा इत्समाना', '—रज्जुराय' इति तै० आ०। 'नेम्नर्णात्नृणवानींप्समानो'—'निधिराजराय' इति मै० सं०। (तृ०) ऋणवानोऽनृणवायदायच्छमानो' इति पैप्प० सं०। (तृ०) 'नर्णमेच्छमानः' इति सायणाभिमतः। 'ऋणान् । न'। 'ऋणात् न' इति सायणाभिमतः पदपाठः।

१ 'निवारयतम् इत्यर्थः' इति सायणः (प्र०)'उग्रं पश्येद्राष्ट्रभृतक' इति तै० आ०। राष्ट्रभृतः किल्विषं 'दत्तं वस्तत्' इति पैप्प० सं०।

तो उत्तमर्ण हम पर (अधि-रज्जुः) रस्सी या हथकड़ी लगाता हुआ (यमस्य लोके) नियन्ता राजा के दर्बार में (नः) हमें (आयत्) ले आवे।

'अथवा उग्रंपश्या और राष्ट्रभृत् संस्थाएं हमें जुआखोरी के पाप से बचावें, क्योंकि कहीं ऋणी पुरुष से ऋण चुकाना चाहता हुआ पुरुष हम पर हथकड़ी लगाकर हमें राज दर्बार में न घसीट लावें।

यस्मा॑ ऋ॒णं यस्य॑ जा॒याम् उ॒पैमि॑ यं याच॑मानो अ॒भ्यैमि॑ देवाः ।
ते वाचं॑ वादिषु॒र्मोत्त॑रां म॒द्देव॑पत्नी अप्स॑रसा॒वधी॑तम् ॥ ३ ॥

भा०—(यस्मै) जिसके (ऋणम्) ऋण को मैं धारूँ और (यस्य) जिस पुरुष की (जायाम्) स्त्री को (उप-एमि) अनधिकार से उपभोग करूँ और या (यम्) जिसके पास (याचमानः) धन की या ऋण की याचना करता हुआ (अभि-एमि) पहुँच जाऊँ (हे देवाः) हे देवगण विद्वान् राजपुरुषो ! (ते) वे लोग (मत्) मुझ से (उत्तराम्) उत्कृष्ट, अधिक या दूसरी (वाचम्) वाणी को (मा वादिषुः) न बोलें। हे (देवपत्नी अप्सरसौ) विद्वानों की पालन करने और रखने वाली प्रजा की संस्थाओ ! यह बात (अधीतम्) सदा स्मरण रक्खो। अर्थात् मुद्दई और मुद्दाला दोनों की एक बात होनी चाहिए। अपराधी उस दोष को स्वीकार करे जो दोष उसके ऊपर आरोपक लगाता है यदि मुद्दई मुद्दाला दोनों की बातों में फर्क हो तो विद्वत्-संस्थाएं—पञ्चायतें या ज्यूरियें इस पर विचार करें और साथ ही अन्वेषण करें। वेदमन्त्र में यही बात लिखी है कि अपराधी का जितना दोष हो आरोपक उससे अधिक दोष धर्माधिकारियों के सामने उस पर न लगावें।



३—(द्वि० तृ० च०) 'यं याजमानो अभ्येमहे । वांत वाजिन् वाजिमोत्त-राम्मद्दनपत्नी अप्सरसापदीतम्' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'अभ्येमि' इति सायणाभिमतः ।

[११९] ऋण और दोष का स्वीकार करना ।

अनृणकामः । कौशिक ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

यदर्दीव्यन्नृणम॒हं कृ॒णोम्यदा॑स्यन्नग्न उ॒त सं॑गृ॒णामि॑ ।
वै॒श्वा॒न॒रो नो॑ अधि॒पा वसि॑ष्ठ॒ उदिन्न॑याति सुकृ॒तस्य॑ लो॒कम् ॥१॥

भा०—(अहं) मैं (यद्) जो (ऋणम्) ऋण (अदीव्यन्) जूआ खेले विना, या विना व्यसन-क्रीड़ा किये, अपने आप कर लूँ और (उत) और (अदास्यन्) उसको न चुका कर भी (सं-गृणामि) चुका देने की प्रतिज्ञा कर लूँ तो हे (अग्ने) राजन् ! तू (वैश्वानरः) सब पुरुषों का हितकारी (वसिष्ठः) सब में वास करने वाले सब के भीतर समान रूप से आदर प्राप्त; (अधि-पाः) सब का स्वामी, राजा होकर (नः) हमें (सुकृतस्य) पुण्य के (लोकम्) लोक में (इत्) ही (उत् नयाति) ऊपर उठा ले । अर्थात् यदि कोई ऋग के कारण क़ैद पड़ा हो और वह ऋण जुआखोरी आदि बुरे काम से न हुआ हो तो उसको ऋण दे देने की सत्य प्रतिज्ञा कराके पुनः निरपराध के समान मुक्त कर दिया जाय ।

वै॒श्वा॒न॒राय॒ प्रति॑ वेदयामि॒ यद्यृ॒णं सं॑ग॒रो दे॒वता॑सु ।
स ए॒तान् पाशा॑न् वि॒चृतं॒ वेद॒ सर्वा॒नथ॑ प॒क्वेन॑ स॒ह सं भ॑वेम ॥२॥

[११९] १–(प्र०) 'यददीव्यन्नहमृणं' (च०) 'उरुन्नयाति' इति पै प० सं० । (प्र०) 'अहं चकार' इति तै० आ० । (द्वि०) यद्वा दास्यन्त्संमजगार जनेभ्यः' इति तै० आ० ।

२–'वेदयामो यदी नृणम्' (तृ०) 'पाशान् प्रमुचं प्रवेद' इति तै० आ० । (तृ०) 'विचृतं वेद सर्वान्' इति पैप्प० सं० । (च०) 'स नो मुञ्चतु दुरितादवद्यात्' इति तै० आ० ।

भा०—मैं ऋणी या दोषी पुरुष (वैश्वानराय) समस्त पुरुषों के हितकारी जज मजिस्ट्रेट या धर्माध्यक्ष के समक्ष (यद् ऋणम्) जो मेरे ऊपर ऋण है उसको (प्रति-वेदयामि) स्पष्टरूपसे स्वीकार करता हूं। और (देवतासु) देव-विद्वान् पंचों के बीच (यः संगरः) जो मेरी प्रतिज्ञा है उसको भी निवेदन करता हूं। (सः) वह धर्माध्यक्ष ही (एतान् सर्वान् पाशान्) इन सब दण्डव्यवस्थाओं को (विचृतम्) स्पष्टरूप से (वेद) जानता है (अथ) और हम सब प्रजागण (पक्वेन सह) परिपक्व, सुविचारित परिणाम के साथ (सं भवेम) संहमत हों।

वैश्वानरः पविता मा पुनातु यत् संगरमभिधावाम्याशाम्।
अनाजानन् मनसा याचमानो यत् तत्रैनो अप तत् सुवामि॥३॥

भा०—(पविता) सत्य और असत्य दोनों का विवेक करने वाला (वैश्वानरः) सर्वहितकारी धर्माध्यक्ष अपने सत्य विवेक से (मा) मुझे (पुनातु) पवित्र करे, मेरे दोष को दूर करे। (यद्) जब मैं (संगरम्) सत्य प्रतिज्ञा को (आशाम्) कालान्तर से पूर्ण करने की इच्छा (अभिधावामि) करूँ और (अनाजानन्) विना जाने (मनसा) मन से (याचमानः) दया, क्षमा, याचना करता हुआ भी (तत्र) उस काम में (यत् एनः) जितना या जो अपराध है (तत्) उसको (अप-सुवामि) दूर करूँ।

[१२०] पापों का त्याग कर उत्तम लोक को प्राप्त होना।

कौशिक ऋषिः। मन्त्रोक्ता देवता। १ जगती। २ पंक्तिः। ३ त्रिष्टुप्। तृचं सूक्तम्॥

३-(प्र०) 'पवमान् नः पवित्रैः'। (च०) 'अत्रैनो अव तत्' इति तै० आ०। (द्वि०)-'धावान्या' इति सायणाभिमतः।

यद॒न्तरि॑क्षं पृथि॒वीमु॒त द्यां यन्मा॒तरं॑ पि॒तरं॑ वा जिहिंसि॒म ।
अ॒यं तस्मा॒द् गार्ह॑पत्यो नो अ॒ग्निरुदिन्न॑याति सुकृ॒तस्य॑ लो॒कम् ॥१॥

भा०—(यद्) यदि हम (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, अन्तरिक्षगत प्राणियों को (पृथिवीम्) पृथिवी, पृथिवीगत प्राणियों को, (द्याम्) द्यौलोक, द्यौलोक के, विद्वान् प्राणियों को और (यत् मातरम्) जो माता (वा पितरम्) या पिता, अपने परिपालक को (जिहिंसिम) मारें, पीड़ा दें तो (गार्हपत्यः अग्निः) गार्हपत्य अग्नि, गृहों का स्वामी, नेता या भूलोक का स्वामी राजा या परमेश्वर (नः) हमें (तस्मात्) उस बुरे कार्य से (इत्) अवश्य (उत् नयाति) उन्नत करे और (सुकृतस्य लोकम्) सुकृत, उत्तम पुण्यलोक में प्राप्त करावे ।

पृथिवी, आकाश और उससे भी ऊँचे द्यौः में विचरने वाले या उनका ज्ञान प्राप्त करनेवाले प्राणियों का नाश करना या पृथिवी, अन्तरिक्ष, वायु और द्यौः सूर्य के उपकारक पदार्थों का नाश करना और माता पिता को दुःख देना यह जंगलीपन का जीवन है । घर बसा कर उसमें अग्निस्थापन करना, प्रत्येक घर में ज्ञानाग्नि के स्थापन एवं अपने राजा के स्थापन का प्रतिनिधि है, अर्थात् मनुष्य उस बर्बरता के जीवन से उठ कर गृहपति, सरकार या राजशासन का स्थापन करे और उन्नत जीवन व्यतीत करे ।

भूमि॑र्मा॒तादि॑ति॒र्नो॒ ज॒नित्रं॒ भ्राता॒न्तरि॑क्षम॒भिश॑स्त्या नः ।
द्यौर्नः॑ पि॒ता पित्र्या॒च्छं भ॑वाति जा॒मिमृ॒त्वा माव॑ पत्सि
लो॒कात् ॥ २ ॥

[१२०] १–(तृ० च०) 'अग्निर्मा तस्मादेनसो गार्हपत्यः प्रमुञ्चतु' इति पैप्प० सं० ।

२–(प्र०) 'अभिशस्त एनः' । (तृ० च०) भवासि जामिमित्वा मा विविष्टि लोकान् । (द्वि०) 'अभिशस्त्याः । नः' इति सायणाभिमतः

भा०—पूर्व मन्त्र में कही परिभाषाओं को और भी स्पष्ट करते हैं—(भूमिः) भूमि, सब का उत्पत्तिस्थान (अदितिः) अखंण्डित या अदीन होकर (नः) हमारी (माता) माता के समान ही (जनित्रम्) हमें उत्पन्न करने वाली है। और (अन्तरिक्षम्) उसमें विचरने वाला वायु (भ्राता) हमारे भाई के समान हमें भरण पोषण करनेवाला है। और (द्यौः) यह आकाश या सूर्य (नः पिता) हमारा वीर्य सेक्ता पिता के सामान ऊपर से जलवर्षक और प्रकाशप्रद जीवनप्रद है। ये (नः) हमें (अभिशस्त्याः) अपवाद से अथवा अभिशस्ति=चारों तरफ़ से आनेवाली पीड़ाजनक विपत्तियों से दूर करें और उनमें से प्रत्येक (शं भवाति) कल्याण और सुखकारी हो, और मैं (जामिम् ऋत्वा) दोष या रोग को प्राप्त होकर अथवा (पित्र्यात्) पालकों के योग्य (लोकात्) इस लोक से (मा अव पत्सि) न गिरूँ। अथवा—(जामिम्) अपनी भगिनी का (ऋत्वा) संग करके (पित्र्यात् लोकात्) पिता के घरसे, पितृकुल से (मा अव पत्सि) न गिर जाऊँ। अर्थात् मा बाप, भाई हमारा कल्याण करें और हम दोष या, भगिनी आदि निषिद्ध स्त्रियों से संग करके उनके अपवाद के पात्र न हों। प्रत्युत पुण्याचरण से अपने उत्तम कृत्य में प्रतिष्ठित बने रहें।

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः।
अश्लोणा अङ्गैरहुताः स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान् ॥३॥
अथर्व० (प्र० द्वि०) ३।२८।५॥

पदच्छेदः। 'जामि। मृत्वा', जामिम्। ऋत्वा' इत्युभयथा पदच्छेदः सायणाभिमतः। (द्वि०) 'भ्रातान्तरि' इति पैप्प० सं० इति ग्रिलः।

३–(प्र०) 'मदन्ते', (द्वि०) 'तन्वां स्वायाम्'। (तृ०) 'अश्लोणाङ्गैर्धृताः'। (च०) 'पितरं च पुत्रम्'–इति तै० आ०। (द्वि०) 'तन्वाः' तृ० 'अश्रोणा' इति सायणाभिमतः।

भा०—(यत्र) जहां, (सुहार्दः) उत्तम हृदयवाले (सुकृतः) पुण्याचारी पुरुष (स्वायाः तन्वः) अपने शरीर के (रोगं विहाय) रोगों से मुक्त होकर, आरोग्य होकर (अंगैः) अंगों से (अश्लोणाः) अविकृत (अह्रुताः) कुटिलता से रहित, सरलस्वभाव होकर (मदन्ति) आनन्द से जीवन व्यतीत करते हैं हम भी (तत्र) वहां उन लोगों के बीच (स्वर्गे) उसी सुखमय, स्वर्गसमान देश में (पितरौ) अपने मां बाप और (पुत्रान् च) पुत्रों को आनन्द प्रसन्नरूप में विचरते हुए (पश्येम) देखें।

[१२१] त्रिविध बन्धन से मुक्ति।

कौशिक ऋषिः। मन्त्रोक्ता–दैवत्यम्। १–२ त्रिष्टुभौ। ३, ४ अनुष्टुभौ। चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

विषाणा पाशान् वि ष्याध्यस्मद् य उत्तमा अधमा वारुणा ये।
दुष्वप्न्यं दुरितं नि ष्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम् ॥ १ ॥

भा०—हे अग्ने! परमेश्वर! (ये उत्तमाः) जो उत्तम, सात्विक, और (अधमाः) जो अधम, नीच तामस (वारुणाः) वरुण, परमात्मा के बनाये हुए पाश हैं उन (पाशान्) पाशों को (अस्मत्) हमसे (विषाणा[1]=वि-साना) मुक्त करता (अधि वि स्य) उन पाशों का अन्त कर दे। और (अस्मद्) हम से (दुस्वःप्न्यं) दुष्ट काम विकारों से उत्पन्न होनेवाले बुरे स्वप्नों और (दुरितम्) बुरी चेष्टाओं को (निः स्व= निः सुव) दूर कर। (अथ) और उसके बाद हम (सु-कृतस्य) उत्तम पुण्य के (लोकम्) लोक=जन्म या अवस्था को (गच्छेम) प्राप्त हों।

१–सुपां आत्वम्।
[१२१] १–(तृ०) 'निः ष्व' इति क्वचित्।

यद् दारुणि बध्यसे यच्च रज्ज्वां यद् भूम्यां बध्यसे यच्च वाचा ।
अयं तस्माद् गार्हपत्यो नो अग्निरुदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम् ॥२॥

(तृ० च०) अथर्व० ६।१२०।१॥

भा०—हे जीव ! (यत् च) जो तू (दारुणि) काष्ठ में (यत् च रज्ज्वां) और जो तू रस्सी में और (यद् भूम्यां) जो तू भूमि में (बध्यसे) बांधा जाता है और (यत् च वाचा) जो तू वाणी से बांधा जाता है (तस्मात्) उस बंधन से (नः गार्हपत्यः) हमारे गृहों का स्वामी (अग्निः) परमेश्वर या राजा (अयम्) यह साक्षात् (इत्) ही (सुकृतस्य लोकम्) पुण्य, शुभ कर्म से प्राप्त होनेवाले (लोकम्) प्रकाशमय लोक को (उत् नयाति) ले जाता है । दारु=काष्ठ=शरीर, रज्जू=रस्सी, गुणमयी प्रकृति, भूमि=योनि, मनुष्यादि जन्म, वाक्, वाणी, वेदाभ्यास, शिक्षा, उपनयनादि द्वारा वेदादिकृत धर्माधर्म की व्यवस्था, इन सब बन्धनों से जीव को उन्नत लोकों में प्राप्त कराता है । इसी प्रकार राजा के ये दण्ड अपराधी की उन्नति के लिये होने चाहियें ।

उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके ।
प्रेहामृतस्य यच्छतां प्रैतु बद्धकमोचनम् ॥ ३ ॥

(प्र० द्वि०) अथर्व० २ । ८ । १ प्र० द्वि० ।

भा०—(भगवती) ऐश्वर्य, बल से सम्पन्न (विचृतौ) विशेष रूप से परस्पर सम्बद्ध प्राण और अपान नामक (तारके) जीव को शरीर से तराने वाले (उद् अगाताम्) ऊर्ध्व गति करते हैं तब वे दोनों (अमृतस्य) अमृत आत्मा का अमृत स्वरूप (प्रयच्छताम्) प्रदान करें तब (बद्धक-मोचनम्) वह आत्मा बद्ध अवस्था से मुक्त अवस्था को (प्रैतु) प्राप्त करे ।

२–(प्र०) 'दारुणा', 'रज्ज्वा' इति पैप्प० सं० ।
३–(प्र०) 'अमीये सुभगे दिवे' (च०) 'एतद् बद्धक–' इति तै० आ०

१५

वि जिहीष्व लोकं कृणु बन्धान्मुञ्चासि बद्धकम् ।
योन्या इव प्रच्युतो गर्भः पथः सर्वां अनु क्षिय ॥ ४ ॥

भा०—हे जीव ! इस बन्धनमय लोक=शरीर को (वि जिहीष्व) विशेष ज्ञानपूर्वक निःसंग होकर परित्याग कर अथवा (वि जिहीष्व) नाना शरीरों में गति कर (लोकं कृणु) और अपने प्राप्त होने योग्य उत्तम लोक को स्वयं अपने कर्मचक्र से सम्पादन कर (बद्धकम्) अपने आप बँधे हुए अपने को ही तू (बन्धात्) बन्धन से (मुञ्चासि) छुड़ा । और (योन्या) योनि से (प्रच्युतः) पूर्ण रूप से बाहर आए हुए (गर्भः इव) बालक के समान (सर्वान्) सब (पथः) मार्गों में, लोकों में (अनु) अपने इच्छा अनुकूल (क्षिय) निवास कर, उनमें विचर । मुक्तात्मा यथासंकल्प लोकों में विचरते हैं ।

[१२२] देवयान, पितृयाण और मोक्ष प्राप्ति ।

भृगुर्ऋषिः । विश्वकर्मा देवता । १-३ त्रिष्टुभः, ४-५ जगत्यौ । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

एतं भागं परि ददामि विद्वान् विश्वकर्मन् प्रथमजा ऋतस्य ।
अस्माभिर्दत्तं जरसः परस्तादच्छिन्नं तन्तुमनु सं तरेम ॥ १ ॥

भा०—हे विश्वकर्मन् ! हे परमात्मन् ! समस्त विश्व=जगत् के बनाने वाले जगदीश्वर ! तू (ऋतस्य) ऋत=सत्यज्ञान अथवा इस गतिमान् जगत्

४–(प्र०) 'वि जिहीष्व लोकान् कृधि' । (च०) 'अनुस्व' इति तै० आ० (च०) 'अनुगच्छ इति पैप्प० सं० ।

[१२२] १–'अनु संचरेम' इति सायणाभिमतः । 'त प्रजानन् प्रतिगृभ्णीत विद्वान् प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य' इति तै० आ० । 'तं प्रजानन्नित्येका' इति पैप्प० सं० ।

के भी (प्रथमजाः) प्रथम-पूर्व ही तू उसके मूलकारण रूप से विद्यमान रहता है । (विद्वान्) इस प्रकार जानता हुआ मैं मुमुक्षु (एतं भागम्) इस शरीर भाग को भी (परि ददामि) तेरे ही अर्पण करता हूँ । (अस्माभिः) हम लोगों द्वारा (जरसः परस्तात्) जरा=बुढ़ापा के बाद (दत्तम्) तेरे अर्पण किये इस (अच्छिन्नम्) विच्छेद रहित अमर, अविनाशी (तन्तुम्) व्यापक यज्ञरूप प्राणमय आत्मा के (अनु) खोज में ही (संतरेम) भली प्रकार लग कर उसको प्राप्त हों, इस भवसागर को तर जायँ । अथवा (जरसः परस्तात् दत्तं=परित्यक्तं अच्छिन्नं तन्तुं अनुसंतरेम) वार्धक्य के बाद त्याग किये, कभी न टूटते हुए सन्तान रूप प्राकृतिक तन्तु=सिलसिले से हम संतरण करें, उसे सदा बनाये रखें ।

मोक्षमय तन्तु संतरण का प्रकार बृहदारण्यक उप० (२।१।२०) में "हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयात् पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते । ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते। स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वा अतिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते ॥ १९ ॥ स यथोर्णनाभिः तन्तुना उच्चरेत् ।" हृदय से पुरीतत् प्रदेश तक ७२ हजार या १०७२ नाड़ियाँ जाती हैं उनसे ऊर्ध्व जाकर पुरीतत्=ब्रह्मरन्ध्र में वह सो जाता है, वहाँ अत्यन्त आनन्द की सीमा में ऐसा निःसंग होकर मग्न हो जाता है जैसे मकड़ी अपने जाले की तांत से ही स्वयं निःसंग रह कर उसमें नहीं फँसता। उसको यही उपनिषद् वाक्य है 'सत्यस्य सत्यम्' इति। सत्य अर्थात् प्राणों का भी वही सत्य अर्थात् वास्तविक मूल आत्मा है। यथा क्षुरिकोपनिषद् (९) में—

तत्र नाडी सुषुम्ना तु नाडीभिर्बहुभिर्वृता ।
अणुरक्ताश्च पीताश्च कृष्णास्ताम्रा विलोहिताः ॥
अतिसूक्ष्मां च तन्वीं च शुक्लां नाडीं समाश्रयेत् ।
तत्र संचारयेत् प्राणान् ऊर्णनाभीव तन्तुना ॥

अथवा—पाशं छित्वा यथा हंसो निर्विशङ्कः खमुत्पतेत् ।
छिन्नपाशस्तथाजीवः संसारं तरते सदा ॥२३॥

अथवा—प्राणायामसुतीक्ष्णेन मात्राधारेण योगवित् ।
वैराग्योपलघृष्टेन छित्वा तन्तुं न बध्यते ॥२४॥
अमृतत्वं समाप्नोति यदा कामात्स मुच्यते ।
सर्वैषणाविनिर्मुक्तश्छित्वा तन्तुं न बध्यते ॥२५॥

प्रजातन्तु का संतरण स्पष्ट ही है ।

ततं तन्तुमन्वेके तरन्ति येषां दत्तं पित्र्यमायनेन ।
अबन्ध्वेके ददतः प्रयच्छन्तो दातुं चेच्छिक्षान्त्स स्वर्ग एव ॥ २ ॥

भा०—(येषाम्) जिन्होंने (आयनेन) शरीर में पुनः आगमन द्वारा अथवा (आयनेन) सन्तान की प्राप्ति से (पित्र्यं) पितृऋण को (दत्तम्) दे दिया या चुका दिया है । (एके) वे कुछ लोग (ततं तन्तुम् अनु) इस अविच्छिन्न तन्तु, प्रजा सन्तति को उत्पन्न करके ही (तरन्ति) इस संसार के कर्तव्य मार्ग को पार कर जाते हैं । और (एके) दूसरे लोग (अबन्धु) बन्धु अर्थात् सन्तान रहित होकर भी (ददतः) अपने प्रदान करने वाले महाजन को (दातुं शिक्षान्) ऋण देने में समर्थ व्यक्तियों के समान ही (प्रयच्छन्तः) अपनी विद्या, धन आदि का प्रदान करते हुए (चेत्) यदि (ददतः दातुं शिक्षान्) सब के प्रदाता महादानी ईश्वर के ही निमित्त सब कुछ अर्पण करने में समर्थ हो जायँ तो उनके लिये (सः एव स्वर्गः) वही परम त्यागमय निःसंगता ही परम सुखप्रद दशा है ।

२–(प्र०) अनुसंचरन्ति (द्वि०) 'आयन्वत्' (तृ०) 'प्रयच्छात्' (च०) 'शक्नुवांसः स्वर्ग एषाम्' इति तै० आ० ।

अन्वारभेथामनुसंरभेथामेतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते ।
यद् वां पक्वं परिविष्टमग्नौ तस्य गुप्तये दम्पती सं श्रयेथाम् ॥३॥

भा०—पितृयाण से मुक्त होने का उपाय बतलाते हैं—हे (दम्पती) स्त्री पुरुषो ! आप दोनों (एतं लोकं अनु आरभेथाम्) इस लोक के अनुकूल अपना गृहस्थ धर्म पालन करो और (श्रत्-दधानाः) इस लोक के लिये कर्म द्वारा प्राप्त फल को भी श्रत्=सत्य रूप से श्रमपूर्वक धारण पोषण करते हुए (अनु संरभेथाम्) तदनुसार उत्तम रीति से सब कार्य सम्पादन करो । और (यत्) जो भी (वाम्) तुम दोनों का (पक्वम्) सुपक्व उत्तम परिणाम, फल पुत्ररूप आदि (अग्नौ परिविष्टम्) अग्नि रूप गृहस्थाश्रम में (परिविष्टम्) प्राप्त हो (तस्य गुप्तये) उसकी रक्षा करने के लिये (सं श्रयेथाम्) परस्पर एक दूसरे का आश्रय लो ।

यज्ञं यन्तं मनसा बृहन्तमन्वारोहामि तपसा सयोनिः ।
उपहूता अग्ने जरसः परस्तात् तृतीये नाके सधमादं मदेम ॥४॥

भा०—देवयान मार्ग का उपदेश करते हैं—मैं (तपसा) तपस्या द्वारा (मनसा) मनःशक्ति से (यन्तं) प्राप्त होनेवाले (बृहन्तम्) उस महान् (यज्ञम्) पूजनीय प्राप्य, परम वेद्य, वेदनीय ईश्वर को (सयोनिः) उसके समान ही एक मात्र उसका अनन्य आश्रय लेकर (अनु आरोहामि) उस तक पहुँच जाऊँ । तब हे अग्ने ! प्रकाशस्वरूप प्रभो ! (जरसः परस्तात्) इस जरा, बुढ़ापे के गुज़रने के बाद दीर्घायु होकर हम लोग (उपहूताः) मानो ईश्वर से बुलाये हुए होकर ही (तृतीये नाके) तृतीय, परम, तीर्णतम, सुखमय लोक में (सधमादम्) सब मुक्त आत्माएँ ब्रह्म के साथ परम आनन्द का अनुभव करते हुए (मदेम) परम सुख का लाभ करें ।

३–(प्र०) 'आरभे–' (द्वि०) 'समाण पन्थामवथो घृतेन' (तृ०) 'वां पुत्र', 'यदग्नौ' (च०) 'तस्मै गोत्रायेह जायापती संरभेथाम्' इति तै० आ० । (तृ०) 'वां पुत्र' इति पैप्प० सं० ।

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि।
यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददातु तन्मे ॥५॥

अथर्व० ११ । १ २७ ॥ १० ६ २७ ॥

भा०—(इमाः) इन (यज्ञियाः) यज्ञ अर्थात् दान करने योग्य (शुद्धाः पूताः) शुद्ध पवित्र, (योषितः) स्त्रियों को (ब्रह्मणाम्) ब्रह्म ज्ञानी विद्वान् ब्राह्मणों के (हस्तेषु) हाथों (प्र-पृथक्) पृथक् २ (सादयामि) प्रदान करता हूँ। (अहम्) मैं कन्या का पिता (यत्कामः) जिस मनोरथ से (इदम्) इस प्रकार (वः) स्त्री पुरुषों के जोड़े बने हुए तुम दम्पतियों को (अभिषिञ्चामि) जल से छिड़कता हूं। (सः, इन्द्रः) वह परमात्मा (मरुत्वान्) समस्त शक्तियों का स्वामी (मे) मेरे (तत्) उस प्रयोजन को (ददातु) प्रदान करे, पूर्ण करे।

कन्या के पिता का प्रयोजन योग्य विद्वान के हाथ कन्यादान करने का यही होता है यदि कन्या के पिता की दूसरी पुत्र सन्तान नहीं है तो पुत्र पुत्रिका विधान से पुत्र प्राप्त हो। दूसरा, कन्या यशस्विनी होकर प्रजा उत्पन्न करे, सुख से रहे।

[१२३] मुक्ति की साधना।

भृगुर्ऋषिः। विश्वेदेवा देवताः। १-२ त्रिष्टुभौ, ३ द्विपदा साम्नी अनुष्टुप्, ४ एकावसाना द्विपदा प्राजापत्या भुरिगनुष्टुप्। पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

५-(च०) 'सददादर्दमे' इति अथर्व० ११ । १ । २७ ॥ (प्र०) अपो-देवीर्घृतमतीर्घृतश्चुतो ब्रह्मणां' (च०) तन्मे सर्वं सम्पद्यतां वयं स्याम पतयो रयीणाम्' इति अथर्व० १० । ६ । २७ ॥

[१२३]१-(द्वि०) 'सधस्थ' 'ते' (द्वि०) 'आवहान् शेवधिं' (तृ०) 'यज्ञपतिर्वो अत्र' इति यजु०।

एतं संधस्थाः परि वो ददामि यं शेवधिमावहाज्जातवेदाः।
अन्वागन्ता यजमानः स्वस्ति तं स्म जानीत परमे व्योमन् ॥१॥

यजु० १८। ५९॥

भा०—ईश्वर उपदेश करता है हे (सधस्थाः) सदा साथ रहने वाले देवगण! (वः) तुम लोगों को (एतम्) इस (शेवधिम्) खज़ाने को मैं (परि ददामि) सौंपता हूं (यम्) जिसको (जातवेदाः) सर्वज्ञ जातवेदा, अग्नि, ऋषि (आवहात्) तुम तक पहुँचता है। हे विद्वान् पुरुषो! (यजमानः) यज्ञ करने वाला पुरुष जो (स्वस्ति) कुशल क्षेम सहित (अनु आगन्ता) इस ज्ञानमय खजाने का अनुसरण करता है (तम्) उसको (परमे व्योमन्) परम उत्कृष्ट, विशेष सुरक्षित, मुक्तिधाम में प्राप्त हुआ (जानीत) जानो।

जानीत स्मैनं परमे व्योमन् देवाः सधस्था विद लोकमत्र।
अन्वागन्ता यजमानः स्वस्तीष्टापूर्तं स्म कृणुताविरस्मै ॥ २॥

यजु० १८। ६०॥

भा०—हे (सधस्थाः देवाः) सदा साथ रहने वाले देवगण! विद्वान् पुरुषो! (एनम्) इस यज्ञकर्त्ता पुरुष को भी (परमे व्योमन्) परम उत्कृष्ट रक्षा स्थान में प्राप्त हुआ (जानीत) जानो (अत्र) इसी ही स्थान पर (लोकम्) इसका लोक=स्थान या भोग्य भोग जानो। (यजमानः) दान देने और देवार्चन, ईश्वर-भजन करने वाला पुरुष ही यहां (स्वस्ति) कुशल पूर्वक (अनु आगन्ता) पहुँच सकता है। आप

२—(प्र०) 'एतं जानाथ' (द्वि०) 'विद रूपमस्य' (तृ०) 'यदागच्छात् पथिभिर्देवयानैः' (च०) 'इष्टापूर्ते कृणुताथ' इति यजु०। (द्वि०) 'वृत्ताः सध-' (च०) कृणुतात्' इति तै० ब्रा०।

लोग (अस्मै) इस जीव के लिये (इष्टापूर्तम्) इष्ट=यज्ञ आदि ईश्वर पूजा के और आपूर्त=कूपतडागादि उपकार जनक कार्यों का (आविःकृणुत स्म) उसको उपदेश करो। उन कार्यों को करके यह उत्तमगति प्राप्त करे।

देवाः पितरः पितरो देवाः। यो अस्मि सो अस्मि ॥ ३ ॥

भा०—(देवाः) देव, विद्वान् पुरुष ही (पितरः) मेरे पालनकर्त्ता हैं और (पितरः) पालकगण ही (देवाः) सब गूढ़ रहस्यों के प्रकाशक देव है। और मैं आप लोगों का शिष्य (यः, अस्मि) जो वास्तव में हूँ (सः अस्मि) वही आत्मा हूँ। मुझे यथार्थरूप से उपदेश करो।

स पचामि स ददामि स यजे स दत्तान्मा यूषम् ॥ ४ ॥

भा०—प्रजापतिर्देवता। (सः) वही आत्मा चैतन्य ज्ञानी मैं (पचामि) कर्म-फलों को परिपाक करता हूँ, (सः) वही मैं (ददामि) दान करता हूं। (सः यजे) वही मैं ईश्वर की आराधना करता हूं। (सः) वही मैं (दत्तात्) अपने दानभाव, त्याग-भाव या आहुतिरूप उत्तम कर्म से (मा यूषम्) पृथक् न होऊँगा।

नाके राजन् प्रति तिष्ठ तत्रैतत् प्रति तिष्ठतु।
विद्धि पूर्तस्य नो राजन्त्स देव सुमना भव ॥ ५ ॥

भा०—हे राजन्! परमेश्वर! (नाके) स्वर्गमय, सुखमय, दुःख-रहित लोक में (प्रतितिष्ठ) तू प्रतिष्ठा को प्राप्त हो (तत्र) वहाँ यह हमारा किया सब कार्य (प्रति तिष्ठतु) प्रतिष्ठा को प्राप्त हो। हे राजन्! परमात्मन्! देव! ईश्वर! (नः) हमारे (पूर्तस्य) आत्मा को पूर्ण बनाने की साधना को (विद्धि) तू जान और (सः) वह आप हमारे प्रति (सुमनाः भव) शुभ संकल्पवान् हों।

[१२४] शौच-साधन।

निर्ऋत्यपसरणकामोऽथर्वाऋषिः। मन्त्रोक्ता उत दिव्या आपो देवताः। त्रिष्टुभः। तृचं सूक्तम्॥

दिवो नु मां बृहतो अन्तरिक्षादपां स्तोको अभ्यपप्तद् रसेन।
समिन्द्रियेण पयसाहमग्ने छन्दोभिर्यज्ञैः सुकृतां कृतेन॥ १॥

भा०—ईश्वर की स्वल्प शक्ति और कृपा से जीव को बड़ा सुख प्राप्त होता है, मुक्त जीव कहता है। (बृहतः दिवः) विशाल प्रकाशमान द्यौलोक और (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से जिस प्रकार जल का छोटा २ बिन्दु बरसता है और उससे जीवों को बल, जीवन, ज्ञान और सुख प्राप्त होता है उसी प्रकार (दिवः) प्रकाशमान (बृहतः) महान, सब से बड़े (अन्तरिक्षात्) अन्तर्यामी परमेश्वर से (अपाम्) समस्त ज्ञान और कर्म शक्ति का (स्तोकः) स्वल्प लवलेश-अंश (रसेन) आनन्द सहित (माम् अभिपप्तत्) मुझ पर बरसता है। और उसी के बल से (अहम्) मैं मुक्त जीव (इन्द्रियेण) इन्द्र=आत्मा के बल से (पयसा) ज्ञानरूप रस से (हे अग्ने) परमात्मन् (छन्दोभिः) वेदमन्त्रों से और (यज्ञैः) नाना प्रकार के शुभ कर्मों से और (सुकृताम्) पुण्य कार्यों के फल से (सम्) युक्त हो जाता हूँ।

यदि वृक्षादभ्यपप्तत् फलं तद् यद्यन्तरिक्षात् स उ वायुरेव।
यत्रास्पृक्षत् तन्वो३ यच्च वाससु आपो नुदन्तु निर्ऋतिं पराचैः॥२॥

[१२४]१—(प्र०) 'मा' (द्वि०) 'अपतच्छित्राय' (तृ० च०) 'मनसाहमागां ब्रह्मणा गुप्तः सुकृता कृतेन' इति हि० गृ० सू०।

२—(प्र०) 'वृक्षाग्रादभ्यपतत्' (द्वि०) 'यदि', 'सा' (तृ०) 'यत्र वृक्षः तनुवै यत्र वासः' (च०) 'बाधन्ताम्' इति हि० गृ० सू०।

भा०—(यदि) यदि (वृक्षात्) वृक्ष से (फलं अभि-अ सत्) फल गिरे और (यदि अन्तरिक्षात्) यदि अन्तरिक्ष से जल गिरे तो (सः उ वायरेव) वह भी वायु ही है, वह भी प्राणशक्ति का बढ़ाने वाला जीवनरूप है । (यत्र) जिस (तन्वः) शरीर के भाग पर (अस्पृक्षत्) यदि मल स्पर्श करे और (यत् वाससः) कपड़े के जिस भाग पर वह स्पर्श करे उस स्थान पर से ही (आपः) जल (निर्ऋतिं) घृणाजनक मैल को (पराचैः) दूर (नुदन्तु) हटादें ।

अर्थात् वर्षा का जल, वृक्ष का फल दोनों पवित्र पदार्थ हैं । फल से शरीर पुष्ट होता है, और जल से शरीर और वस्त्र स्वच्छ रहते हैं । इसी प्रकार हमारे कर्म-वृक्ष से फल प्राप्त होता है अन्तरिक्ष अन्तर्यामी परमात्मा से जीवन प्राप्त होता है । वे आत्मा और शरीर दोनों के मलों को दूर करें ।

अभ्यञ्जनं सुरभि सा समृद्धिर्हिरण्यं वर्चस्तदु पूत्रिममेव ।
सर्वा पवित्रा वितताध्यस्मत् तन्मा तारीन्निर्ऋतिर्मो अरातिः ॥३॥

भा०—(अभ्यञ्जनम्) शरीर में तैल आदि का मलना, और आँखों में अञ्जन करना, (सुरभि) सुगन्धित पदार्थ और (हिरण्यम्) सुवर्ण धारण करना और (वर्चः) शरीर में ब्रह्मचर्य तेज (सा) वह सब (समृद्धिः) समृद्धि ही है । और (तद् उ) वह भी (पूत्रिमम्-एव) पवित्र ही है । ये (सर्वा) सब ही (पवित्रा) पवित्र पदार्थ (वितता) इस संसार में नाना प्रकार से फैले हुए हैं । उन में से पवित्र हुए (अधि अस्मत्) हम पर (निर्ऋतिः) अलक्ष्मी या मलिनता या घृणाजनक गन्दगी (मा तारीत्) न आवे । और (अरातिः मा उ) न मानसिक अनुदारता हम पर आवे ।

॥ इति द्वादशोऽनुवाकः ॥

[तत्र एकादश सूक्तानि अष्टात्रिंशदृचः ।]

[१२५] युद्ध का उपकरण रथ और देह ।

अथर्वा ऋषिः वनस्पतिर्देवता । १,३ त्रिष्टुभौ; २ जगती । तृचं सूक्तम् ॥

वनस्पते वीड्व्ङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः ।
गोभिः संनद्धो असि वीडयस्वास्थाता ते जयतु जेत्वानि ॥ १ ॥

ऋ०. ६ । ४६ । २६

भा०—युद्ध के उपकरण रथ का वर्णन करते हैं—हे (वनस्पते) वनस्पति काष्ठ के बने रथ ! तू (वीड्वङ्गः) दृढ़ अंगों वाला (हि) ही (भूयाः) रह । तू (अस्मत्सखा) हमारा मित्र (सुवीरः) उत्तम बलशाली वीर्य से युक्त होकर युद्ध में (प्रतरणः) पार पहुँचाने वाला है । तू (गोभिः) गो-चर्म का बनी रस्सियों से (संनद्धः) खूब अच्छी प्रकार जकड़ा हुआ (असि) है तू (वीडयस्व) पर्याप्त रूप से हमें भी दृढ़ कर और (ते आस्थाता) तुझ पर चढ़ने वाला (जेत्वानि) विजय करने योग्य पदार्थों को (जयतु) विजय करे ।

यास्क ने लिखा है—यज्ञसंयोगाद् राजा स्तुतिं लभते—तत्संयोगाद् युद्धोपकरणानि । तेषां रथः प्रथमगामी भवति । रथो रंहतेर्गतिकर्मणः स्थिरतेर्वा स्याद् विपरीतस्य । रममाणोऽस्मिं स्तिष्ठतीति वा । रमतेर्वा रसतेर्वा तस्यैषा भवति 'वनस्पते वीड्वङ्गः' इत्यादि अर्थात्—यज्ञ के संयोग से राजा की स्तुति होती है, राजा के सयोग से युद्ध के उपकरणां की भी स्तुति की जाती है । उन में रथ सब से प्रथम है । रथ शब्द रंह-गति करना, स्थिर-स्थिर रहना, रम-रमना, रप=बोलना, रस-ग्रहण करना आदि धातुओं से बना है । इससे यास्क ने रथ शब्द के बहुत से अर्थों पर प्रकाश डाला है। रथ आत्मा देह और ईश्वर भी कहाता है । जैसे—तं वा एतं रस सन्तं रथ-इत्याचक्षते, रसतमं ह वै तद्रथन्तरं ॥ श० । ९ । २ । ३६॥ वैश्वानरो वै देवतया रथः । तै० २ । २ । ५ ४ ॥ गो० पू० २ । २१ ॥

अध्यात्म पक्ष में—हे (वनस्पते) वन संभजनीय, सेवनीय पदार्थों के स्वामिन् ! पुरुष या देह ! तू (वीड्वङ्गो हि भूयाः) दृढ़ांग हो (अस्मत्-सखा) हम इन्द्रियों का मित्र (सुवीरः) शुभ वीर्यवान्, (प्रतरणः) इस संसारसागर को पार करने वाला है। तू इस संसार में (गोभिः) इन्द्रियों और वेदवाणियों से (संनद्धः) सम्बद्ध है, तू (वीडयस्व) पराक्रम कर (ते आस्थाता) तेरा अधिष्ठाता इन्द्र आत्मा समस्त (जेत्वानि जयतु) जीतने योग्य पदार्थों पर वश करे।

दिवस्पृथिव्याः पर्योज उद्भृतं वनस्पतिभ्यः पर्याभृतं सहः।
अपामोज्मानं परि गोभिरावृतमिन्द्रस्य वज्रं हविषा रथं यज॥२॥

ऋ० ६ । ४७ । २७ ॥

भा०—(दिवः) द्यौलोक से मेघ की वर्षा रूप से और (पृथिव्याः) पृथिवी से अन्नरूप में (ओजः) तेज, बल को (परि उद्भृतम्) सब ओर से प्राप्त कर संगृहीत किया और (वनस्पतिभ्यः) सब वनस्पतियों से (सहः) सहन या आघातकारी को दबा लेने की शक्ति को भी (पर्याभृतम्) सब पदार्थों से संग्रह किया और उससे यह शरीर रचा गया है अतः (अपाम्) सब रसों के (आत्मानम्) बल स्वरूप (गोभिः) इन्द्रिय शक्तियों से (परि आवृतम्) सम्पन्न (इन्द्रस्य) आत्मा के (वज्रं) सब पापों के वर्जनकारी इस (रथम्) देह को (हविषा) अन्न से (यज) सम्पन्न करो। युद्ध रथ के पक्ष में गौण हैं।

इन्द्रस्यौजो मरुतामनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः।
स इमां नो हव्यदातिं जुषाणो देव रथ प्रति हव्या गृभाय॥३॥

२–(प्र०) 'आभृतं', । (द्वि०) 'परिसम्भृतं' इति पैप्प० सं० ।
३–(प्र०) 'इन्द्रस्य विराजोः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (देव) प्रकाशस्वरूप ! हे (रथ) रथ, रसस्वरूप आनन्द-मय ! तू (इन्द्रस्य ओजः) इन्द्र, आत्मा का बल है (महताम् अनीकम्), सब प्राणों का अनीक=प्रमुख सेनानायक या समूहित बल है (मित्रस्य गर्भः) मरण से रक्षा करने वाले 'मित्र' प्राण को अपने भीतर ग्रहण करने वाला है; (वरुणस्य नाभिः) सब से श्रेष्ठ वरुण परमात्मा का (नाभिः) बन्धु है। वह तू (इमाम्) इस (नः) हमारी (हव्यदातिम्) स्तुतिरूप भेंट को (जुषाणः) सेवन करता हुआ (हव्या) समस्त हव्य, आदान करने योग्य क्रिया सामर्थ्यों को (प्रतिगृभाय) स्वीकार कर।

'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति' इस विशेष अनुभव काल में समाधिगत योगी अपने आत्मा के प्रति कहता है।



[१२६] युद्धोपकरण दुन्दुभि, राजा और परमात्मा।

अथर्वा ऋषिः। वानस्पत्यो दुन्दुभिर्देवता। १,२ भुरिक् त्रिष्टुभौ, ३ पुरो बृहती विराड्गर्भा त्रिष्टुप्। तृचं सूक्तम् ॥

उप॑ श्वासय पृथि॒वीमु॒त द्यां पु॑रु॒त्रा ते॑ वन्वतां॒ विष्ठि॑तं॒ जग॑त्।
स दु॑न्दुभे स॒जूरिन्द्रे॑ण दे॒वैर्दू॒राद् दवी॑यो॒ अप॑ सेध॒ शत्रू॑न् ॥ १ ॥

भा०—हे दुन्दुभे ! तू (पृथिवीम् उप श्वासय) पृथिवी को जीवन, प्राण धारण करा (उत द्याम्) और द्यौलोक को भी प्राण धारण करा। (पुरु-त्रा) नाना, बहुत से रूपों में (वि-ष्ठितं) विद्यमान (जगत्) संसार (ते) तेरा (वन्वताम्) आश्रय ले। तू (इन्द्रेण सजूः) इन्द्र आत्मा के साथ सप्रेम होकर और (देवैः) देव-विद्वान्

[१२६] १-(द्वि०) 'मनुताम्' इति ह्विटनिकामितः। 'सनुताम्' इति पैप्प० सं०। 'वनुताम्' इति सायणाभिमतः। (च०) 'आराद् देवा'—इति मै० सं०।

पुरुषों के साथ (सजूः) सहमत होकर (दूराद् दवीयः) दूर से दूर भी विद्यमान शत्रु को (अपसेध) परे कर । जिस प्रकार नकारा या दुन्दुभि उच्च घोष से सब को सुनाई देता और राजा और भटों सहित दूरस्त शत्रु को भी पराजित करता है इसी प्रकार दुन्दुभि रूप परमेश्वर जो अपने नाद से पृथिवी और आकाश को गुञ्जा रहा है, हमारे आत्मा और विद्वानों पर अनुग्रह कर हमारे दूरस्थ अज्ञात शत्रु काम-क्रोध आदि को भी परे करे ।

आ क्रन्दय बल॒मोजो॑ न॒ आ धा॑ अ॒भि ष्ट॑न दुरि॒ता बाध॑मानः ।
अप॑ सेध दुन्दुभे दु॒च्छुना॑मि॒त इन्द्र॑स्य मु॒ष्टिर॑सि वी॒डय॑स्व ॥२॥

भा०—हे दुन्दुभे ! नकारे ! (बलम् आक्रन्दय) शत्रु की सेना को रुला । (नः) हमारे में (ओजः) बल को (आ धाः) आधान कर और (दुरितानि) दुष्ट चरित्रों को, पापों को (बाधमानः) बाधित करता हुआ (अभि स्तन) सर्वत्र अपना नाद कर । और (दुच्छुनाम्) दुःख देने वाली शत्रु-सेना को (इतः) यहां से (अप सेध) दूर भगादे तू (इन्द्रस्य) इन्द्र राजा की (मुष्टिः असि) आगे बढ़ कर हृदय दहला देने वाली मुष्टि मुक्के या वज्र के समान है । (वीडयस्व) तू दृढ़ रह । अध्यात्म में—दुच्छुना=दुष्प्रवृत्ति, इन्द्रस्य=आत्मा की, मुष्टिः=सर्व दुःख और अज्ञान को हरने वाली शक्ति है, तू आत्मा को वीर बना ।

प्रामूं ज॑या॒भी३मे ज॑यन्तु के॒तुम॒द् दु॑न्दु॒भिर्वा॑वदीतु ।
सम॑श्व॒पर्णाः॑ पतन्तु नो॒ नरो॒ऽस्माक॑मिन्द्र र॒थिनो॑ जयन्तु ॥ ३ ॥

२–(द्वि०) 'निःस्तनीहि,' (तृ०) 'अपश्रोथ' 'दुच्छुना', इति पैप्प०, मै० सं० । 'दुच्छुनानिति' इति तै० सं० ।

३–(प्र) 'आमूरज प्रत्यावर्त्तयेमाः' (द्वि०) 'वावदीति', (तृ०) 'चरन्तिनो' इत्यन्यत्र । 'चरन्तु' इति मै० सं० । 'पतयन्ति' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे इन्द्र ! राजन् (अमूम्) उस दूर देख पड़ने वाली शत्रु सेना को (प्र जय) उत्तम रीति से विजय कर (अभि इमे जयन्तु) और ये हमारे वीर भट विजय करें । यह (दुन्दुभिः) नकारा (केतुमत्) झण्डे वाला (वावदीतु) खूब शब्द करे । (नः नरः) हमारे वीर नेता सैनिक (अश्वपर्णाः) घोड़े सहित दौड़ते हुए (संपतन्तु) एक साथ आक्रमण करें । और हे इन्द्र ! राजन् (अस्माकम् रथिनः) हमारे रथी सवार लोग (जयन्तु) विजय करें ।

अध्यात्म में— हे पुरुष ! (अमूम्) उस दुर्वासना को (प्र जय) खूब जीत । (इमे अभि जयन्तु) ये तेरे इन्द्रियगण सब व्यसनों पर विजय प्राप्त करें । (केतुमत् दुन्दुभिर्वावदीतु) ज्ञानवान् गुरु तुझे उपदेश करें (नः नरः, अश्वपर्णाः संपतन्तु) हमारे नेता इन्द्रियगण अश्व= प्राण से वेगवान होकर पदार्थों तक पहुँचे और वे ही (रथिनः) देह रूप रथ में चढ़ कर या प्राणरूप रथ में या रसरूप आत्मा में विराज कर विजयी हों । केनोपनिषद् की ब्रह्म विजय की कथा को यहां अवश्य परामर्श कर लेना उचित है ।



[१२७] कफ से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा ।

भृग्वङ्गिरा ऋषिः । वनस्पतिरुत यक्ष्मनाशनं देवता । १–२ अनुष्टुभौ त्रिपदा जगती ॥

विद्रधस्य बलासस्य लोहितस्य वनस्पते ।
विसल्पकस्योषधे मोच्छिषः पिशितं चन ॥ १ ॥

भा०—हे (वनस्पते) हे ओषधे ! (बलासस्य) कफ और कफ से उत्पन्न (विद्रधस्य) गिल्टियों के फूल जाने और (लोहितस्य) रुधिर विकार से उत्पन्न लाल चकत्तेवाले रोग (विसल्पकस्य) त्वचा पर फैलने

वाले विसर्प नाम कुष्ठ के (पिशितम्) विकृत मांस को (मा चन उच्छिषः) बिलकुल बचा न रहने दे। नहीं तो वह फिर विकार उत्पन्न करके दुःख का कारण होगा।

यौ ते बलास तिष्ठतः कक्षे मुष्कावपश्रितौ।
वेदाहं तस्य भेषजं चीपुद्रुरभिचक्षणम् ॥ २ ॥

भा०—हे (बलास) कफ से उत्पन्न गिल्टी के रोग! (ते) तेरे से उत्पन्न (यौ मुष्कौ) जो दो गिल्टियां (कक्षे) कांछ या बगल में (अपश्रितौ) बुरी तरह से उठ आती हैं। (तस्य भेषजम्) उसको चंगा करने की ओषधी को (अहम्) मैं जानता हूँ। उसका (अभिचक्षणम्) नाम (चीपुद्रुः) चीपुद्रु या 'चीपु' वृक्ष है। 'चीपुद्रु' या चीपु वृक्ष अज्ञात है। कदाचित् शिफा या जटामांसी यह पदार्थ है।

यो अङ्ग्यो यः कर्ण्यो यो अक्ष्योर्विसल्पकः।
वि वृहामो विसल्पकं विद्रधं हृदयामयम्।
परा तमज्ञातं यक्ष्ममधराञ्चं सुवामसि ॥ ३ ॥

भा०—(यः विसल्पकः) जो विसर्पक रोग (अङ्ग्यः) सारे शरीर में फैल गया हो, (यः कर्ण्यः) या जो केवल कान के भीतर हो या (यः, अक्ष्योः) जो आंखों के बीच में हो ऐसे (विसल्पकम्) विसर्पक या (विद्रधम्) गिल्टी के फूल जाने के रोग को और (हृदयामयम्) हृदय की पीड़ा या रोग को (विवृहामः) विशेष रूप से समूल नाश करें। (तम् अज्ञातं यक्ष्मम्) और उस विना जाने, अलक्षित यक्ष्म= रोगकीटों से उत्पन्न रोग को भी (अधराञ्चम्) नीचे ही दबा कर (परा सुवामसि) दूर करदें।

२—'चीपद्रु' इति सायणाभिमतः पाठः। 'अपिश्रितौ' 'उपश्रितौ' इति 'चीपुद्रु' इति ह्विटनिकामितः।

[१२८] राजा का राज्यारोहण।

अथर्वाङ्गिरा ऋषिः। नक्षत्राणि राजा चन्द्रः सोमः शकधूमश्च देवताः। १-३ अनुष्टुभः। चतुर्ऋचं सूक्तम्॥

शकधूमं नक्षत्राणि यद् राजानमकुर्वत।
भद्राहमस्मै प्रायच्छन्निदं राष्ट्रमसादिति॥ १॥

भा०—(नक्षत्राणि) नक्षत्र जिस प्रकार (राजानम्) चन्द्र को अपने में मुख्य बना लेते हैं उसी प्रकार (नक्षत्राणि) नक्षत्र, निर्वीर्य निर्बल प्रजाएं (शकधूमम्) अपनी शक्ति से सब को कंपाने वाले पुरुष को (राजानं) राजा (अकुर्वत) बना लेते हैं। और (अस्मै) उसको (भद्राहम्) ऐसा कल्याणकारी वह शुभ दिवस (प्रायच्छन्) प्रदान करते हैं जिसमें कि (इदम्) यह (राष्ट्रम्) राष्ट्र उसका ही (असात्) हो जाय (इति) ऐसा घोषित करते हैं। अथवा—(इन्द्रम् राष्ट्रम् अस्मै प्रायच्छन् इति भद्राहम् असात्) वे इस राष्ट्र को उसको सौंप देते हैं इस कारण वह दिन प्रजा के लिये मंगलकारी हो जाता है। अर्थात् प्रजा अपने में शक्तिशाली को राजा बनावे और शुभ दिन में उसका राज्याभिषेक करे। अथवा उसके राज्यारोहण के दिवस को पुण्य माने।

भद्राहं नो मध्यन्दिने भद्राहं सायमस्तु नः।
भद्राहं नो अह्नां प्राता रात्री भद्राहमस्तु नः॥ २॥

---

[१२८] १–'यद् राजानं शकधूमं नक्षत्राण्यकृणुत। भद्राहमस्मै प्रायच्छन्ततो राष्ट्रमजायत' इति पैप्प० सं०।

२–'भद्राहमस्तु नः स्याम् भद्रा प्रातरस्तु नः। भद्रा अस्मभ्यं त्वां शकधूम सदाकृणु।' इति पैप्प० सं०।

भा०—(नः) हमारा (मध्यन्दिने) मध्याह्नकाल में (भद्राहं अस्तु) सुखकर दिन हो। (नः सायं भद्राहम् अस्तु) हमारा दिन सायंकाल के अवसर में भी सुखकारी हो, (नः अह्नां प्रातः भद्राहम्) हमारे दिनों के प्रातःकाल का भाग कल्याणकारी हो, (नः रात्री भद्राहम् अस्तु) हमारा रात्रिकाल में भी शुभ कल्याणकारी दिन हो।

अहोरात्राभ्यां नक्षत्रेभ्यः सूर्याचन्द्रमसाभ्याम्।
भद्राहमस्मभ्यं राजञ्छकधूम त्वं कृधि ॥ ३ ॥

भा०—हे (शकधूम) अपनी शक्ति से सब शत्रु को कंपाने हारे राजन्! (त्वं) तू (अहोरात्राभ्याम्) दिन, रात (नक्षत्रेभ्यः) समस्त नक्षत्रों और (सूर्याचन्द्रमसाभ्याम्) सूर्य और चन्द्रमा द्वारा (अस्मभ्यं) हमारे लिये (भद्राहम् कृधि) कल्याण और सुखकारी दिन को नियत कर। अर्थात् शुभ अवसर दे जिसमें दिन, रात सूर्य और चाँद भी चमकें, नक्षत्र भी खिलें और प्रजाएं आनन्दित हों।

यो नो भद्राहमकरः सायं नक्तमथो दिवा।
तस्मै ते नक्षत्रराज शकधूम सदा नमः ॥ ४ ॥

भा०—हे शकधूम! शक्तिशाली राजन्! हे नक्षत्रराज! नक्षत्रों में चन्द्रमा के समान प्रकाशमान! निर्बलों के राजन्! (यः) जो तू (नः) हम प्रजाओं के लिये (सायम्) सायंकाल, (नक्तम्) रात (अथो दिवा) और दिन सब कालों को (भद्राहम् अकरः) पुण्य, कल्याणकारी बना देता है (तस्मै ते) उस तुझ राजा को (सदा नमः) हम प्रजाएं सदा आदर करती हैं।



४–(प्र०) 'अकरत्', (द्वि०) 'सायं प्रातरथो'।

[१२९] राजा का ऐश्वर्यमय रूप ।

अथर्वाङ्गिरा ऋषिः । भगो देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

भगेन मा शांशुपेन साकमिन्द्रेण मेदिना ।
कृणोमि भगिनं माप द्रान्त्वरातयः ॥ १ ॥

भा०—मैं (शांशपेन) 'शंशपा' नामक वृक्ष के अति शीघ्र वृद्धिशाली और शान्तिदायक (भगेन) ऐश्वर्य और (मेदिना इन्द्रेण) सब के स्नेही इन्द्र=राजा के साथ (मा भगिनं कृणोमि) अपने आपको ऐश्वर्यवान् करूं। (अरातयः) मेरे शत्रु और दुःखकारी, अमनोहर दरिद्रताएँ (अप द्रान्तु) दूर हों।

येन वृक्षाँ अभ्यभवो भगेन वर्चसा सह ।
तेन मा भगिनं कृण्वप द्रान्त्वरातयः ॥ २ ॥

भा०—शंशपा वृक्ष (येन) जिस सामर्थ्य से बढ़ कर (वृक्षान् अभिभवः) और वृक्षों से शक्ति, कठोरता, दृढ़ता, बल और ऊँचाई में बढ़ जाता है और उनको दबा लेता है उसी प्रकार हे राजन् ! जिस ऐश्वर्य और तेज से तू परिपुष्ट होकर सब पुरुषों को अपने अधीन कर लेता-है उस (भगेन वर्चसा सह) ऐश्वर्य और तेज से (मा भगिनं कृणु) मुझे भी ऐश्वर्यवान् कर और (अप द्रान्तु अरातयः) मेरे शत्रु मुझसे दूर हों।

यो अन्धो यः पुनःसरो भगो वृक्षेष्वाहितः ।
तेन मा भगिनं कृण्वप द्रान्त्वरातयः ॥ ३ ॥

[१२९] १–'शांशफेन, शांसपेन, शांशपेन' इति क्वचित् पाठः । 'संशपेन' इति पैप्प० सं० । 'संशफेन' इति सायणाभिमतः पाठः ।
२–'अथा वृक्षान् अद्यभवत् साकं मिन्द्रेण मेदिना एवामा' इति पैप्प०सं०।
३–(द्वि०) 'आहत' इति निरु० । 'वृक्ष सार्पितः' । (तृ०) 'भगे निरामे-

भा०—(यः) जो (भगः) ऐश्वर्य, बल, वीर्य, यश (अन्धः) जीवन को नित्य धारण करने वाला और (यः पुनः सरः) जो वार २, प्रत्येक ऋतु में और वार २ काट लेने पर भी हरा कर देने वाला वीर्य, (वृक्षेषु) वृक्षों में (आहितः) ईश्वरीय शक्ति से रक्खा गया है हे ईश्वर ! (तेन) उस ऐश्वर्य और वीर्य से (मां भगिनं कृणु) मुझको भी ऐवर्यवान् बना । और (अरातयः) शत्रुगण और विपत्तियाँ (अप द्रान्तु) दूर भाग जावें ।

सायण ने यहाँ भग देवको अन्धा और एक ही रास्ते को वार २ चलने और वृक्षों से ठोंकरे खानेवाला मानकर उससे प्रार्थना की है सो हास्यास्पद ।



[१३०] स्त्री पुरुषों का परस्पर प्रेम और स्मरण ।

अथर्वाङ्गिरा ऋषिः । स्मरो देवता । २,३ अनुष्टुभौ । १ विराट् पुरस्ताद् बृहती ।

चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

रथजितां राथजितेयीनामप्सरसामयं स्मरः ।
देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥ १ ॥

भा०—(रथजिताम्) रमण साधनों वा वेगों पर वश करनेवाले पुरुषों और (राथजितेयीनाम्) रमण साधनों वा वेगों पर वश करने वाली (अप्सरसाम्) स्त्रियों को (अयं स्मरः) यह स्मर=परस्पर एक दूसरे को स्मरण करानेवाला सहज प्रेम उत्पन्न होता है । हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! आप लोग मेरी अभिलषित स्त्री के हृदय में (स्मरम्

ऽस्तुशांशपो' इति पैप्प० सं० ।

[१३०] १–'रथजिते यीनाम्' इति सायणाभिमतः । अर्थजितामर्थजितानामिति 'ह्विल' सम्मतः ।

प्रहिणुत) उसी प्रेमवश स्मरण करने के भावको उत्पन्न करो जिससे वह मेरी प्रियतमा वियोग काल में (माम् अनु शोचतु) मुझे ही याद करके दुःख अनुभव करे। वियुक्त होकर भी स्त्री पुरुष परस्पर प्रेम-सम्बद्ध होकर एक दूसरे के गुणों को स्मरण करें और त्याग न किया करें। विद्वान् लोग उनको एक दूसरे के प्रति पतिव्रत और पत्नीव्रत रहने का उपदेश किया करें। और यह परस्पर दृढ़ प्रेम उन स्त्री पुरुषों में ही उत्पन्न होता है जो एक दूसरे के वियोग में भी अपने रमण साधन इन्द्रियों और कामवेगों पर वश करते हैं अन्यथा वे काम में वह कर व्यभिचारी हो जाते और प्रेम को स्थिर नहीं रख सकते।

असौ मे स्मरतादिति प्रियो मे स्मरतादिति । देवाः० ॥२॥

भा०—(असौ) वह प्रियतमा स्त्री (मे) अपने मुझ प्रियतम पति का (स्मरतात्) स्मरण करे (इति) इस प्रकार पति निरन्तर अपनी स्त्री के विषय में चिन्तन करे और (मे प्रियः) मेरा प्रियतम पति (मे स्मरतात्) मेरा स्मरण करे (इति) इस प्रकार पत्नी निरन्तर अपने पति के विषय में चिन्तन करे। हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो! (स्मरं प्रहिणुत) स्त्री पुरुषों में इस प्रकार के परस्पर स्मरण करानेवाले प्रेम भाव को जागृत करो। जिससे (असौ) वह दूरदेशस्थ प्रेमी (माम्) मुझ प्रेमपात्र को (अनु शोचतु) वियोग में भी स्मरण करे और मेरे दुःख से दुखी हो।

यथा मम स्मरादसौ नामुष्याहं कदा चन ।
देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥ ३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (असौ) वह दूर देशस्थ प्रियतम, प्रेमपात्र व्यक्ति (मम स्मरात्) मुझे स्मरण करता है। क्या (अमुष्य) उसका मैं (कदाचन न) कभी स्मरण नहीं करता? करता ही हूँ। तब हे

(देवाः स्मरम् प्रहिणुत) परस्पर याद दिलाने वाले प्रेम के भावों को जागृत करो जिससे (असौ माम् अनुशोचतु) वह दूरस्थ देश का व्यक्ति मेरे प्रेम में दुखी हो और मुझे याद करे ।

उन्मादयत मरुत उदन्तरिक्ष मादय ।

अग्न उन्मादया त्वमसौ मामनु शोचतु ॥ ४ ॥

भा०—हे (मरुतः) विद्वान् पुरुषो ! उस प्रेमी व्यक्ति को मेरे प्रेमाभिलाप में (उन्मादयत) उन्मत्त कर दो, वह मेरे सिवाय किसी और की याद न रख मेरी स्मृति में ही दीवाना हो जाय । हे (अन्तरिक्ष) अन्तर्यामी आत्मन् ! तू ही उस प्रेमपात्र को (उन्मादय) प्रेम में दीवाना कर दे । हे (अग्ने) परमात्मन् ! (त्वम् उन्मादय) तू प्रेम में पागल कर दे । जिससे (असौ माम् अनुशोचतु) वह मेरे प्रेमवियोग में दुखी हो और मुझे स्मरण करे ।

वेद में प्रेमियों को चिरस्थायी प्रेम में निरत रह कर एक दूसरे की अभिलषा करने का उपदेश किया है, न कि विषय-लोलुपता में अन्धे होकर दीवाना होने को कहा है । वह स्थायी प्रेम, परस्परानुचिन्तन और परस्पर प्रेम में उत्पन्न होना भी (रथजित् राथजितेयी) कामवेगों को रोकने वाले जितेन्द्रिय स्त्री पुरुषों में ही सम्भव है । इसके अतिरिक्त अध्यात्मपक्ष में रथजित्=आत्मसाधक, जितेन्द्रिय योगी और 'राथजितेयी' अप्सराएँ उनकी ध्यानवृत्तियाँ हैं । वे अपने प्रियतम उपास्यदेव को स्मरण करते हैं और उसी को अपने प्रेम और लगन के लिये द्रवित करना चाहते हैं उसी का स्मरण करते हैं, उसी के ध्यान में दीवाने हो जाते हैं । जैसे कबीर ने लिखा है—

"प्रीत लगी तुव नाम की पल विसरे नाहीं ।
नजर करो अब मिहर की मोहि मिलो गोसाईं ॥

विरह सतावै मोंहि को जिव तड़पै मेरा।
तुम देखन की चाव है प्रभु मिलो सवेरा॥
नैना तरसे दरस को पल पलक न लागै।
दर्द वंद दीदार का निसिबासर जागै॥
जो अबके प्रीतम मिलैं करूँ निमिष न न्यारा।
अब कबीर गुरु पाइयाँ मिला प्राण पियारा॥

[कबीर शब्दावली भा० २, श० ६]



[१३१] प्रेमियों का परस्पर स्मरण और चिन्तन।

अथर्वाङ्गिरा ऋषिः। स्मरो देवता। अनुष्टुभः। तृचं सूक्तम्॥

नि शीर्षतो नि पत्तत आध्यो३ नि तिरामि ते।
देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु॥ १॥

भा०—मैं तेरा प्रेमी व्यक्ति (नि शीर्षतः) शिर से लेकर (नि पत्ततः) पैरों तक (ते) तेरे शरीर में (आध्यः) प्रेमोन्माद से उत्पन्न होनेवाली मानसी व्यथाएँ (नि तिरामि) उत्पन्न होने का कारण बनूं। हे (देवाः प्रहिणुत स्मरम् माम् असौ अनुशोचतु) विद्वान् पुरुषो! प्रियतम दूरस्थ व्यक्ति में प्रेमपूर्वक स्मरण करने के भाव को जागृत करो जिससे वह मुझे स्मरण करके मेरे लिये वियोग दुःख अनुभव करे।

अनुमतेन्विदं मन्यस्वाकूते समिदं नमः।
देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु॥ २॥

भा०—हे (अनुमते) परस्पर प्रेमपूर्वक पतिपत्नीभाव से रहने के लिये एक दूसरे के प्रति प्राप्त अनुमते! एक दूसरे को स्वीकार करनेवाले भाव! (अनु इदं मन्यस्व) तू ही इस प्रकार परस्पर स्मरण करने और

एक दूसरे के वियोग में दुखी होने के लिये अनुमति देता है । और हे (आकूते) मानस संकल्प ! हार्दिक भाव ! तू भी (इदम्) इसी (नमः) प्रकार के परस्पर के आदर प्रेम के झुकाव को (सं अनुमन्यस्व) स्वीकार करता है । (देवाः प्रहिणुत स्मरम् असौ माम् अनुशोचतु) हे विद्वान् पुरुषो ! मेरे प्रियतम व्यक्ति से प्रेम पूर्वक स्मरण करने के भाव को जागृत करो जिससे वह मुझे स्मरण करके मेरे लिये वियोग दुःख को अनुभव करे।

यद् धावसि त्रियोजनं पञ्चयोजनमाश्विनम् ।
ततस्त्वं पुनरायसि पुत्राणां नो असः पिता ॥ २ ॥

भा०—स्थिर दाम्पत्य प्रेम का फल बतलाते हैं । पत्नी कहती है—हे प्रियतम ! (यद् धावसि त्रियोजनं) यदि तू तीन योजन या १२ कोश या (पञ्चयोजनम्) पाँच योजन या २० कोश या (आश्विनं) घोड़े जैसी शीघ्रगामी सवारी से जाने योग्य दूरी पर भी (धावसि) चला जाय तो भी (ततः) उस दूर देश से (त्वं पुनः आ आयसि) तू फिर लौट आ क्योंकि तू ही (नः) हमारे (पुत्राणां) पुत्रों का (पिता असः) पिता पालक और उत्पादक है ।



[१३२] प्रेम को दृढ़ करने का उपदेश ।

अथर्वाङ्गिरा ऋषिः । स्मरो देवता । १ त्रिपदानुष्टुप् । ३ भुरिग् । २,४,५ त्रिपदा महा बृहत्यः । २,४ विराजौ । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

यं देवाः स्मरमसिञ्चन्नप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या ।
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥ १ ॥

भा०—(देवाः) देवगण, विद्वान् लोग या ईश्वर की दिव्य शक्तियाँ (आध्या सह) मानसी व्यथा, हृदयवेदना के साथ २ (अप्सु अन्तः)

स्त्रियों या प्रजाओं के हृदय के बीच (यं स्मरम्) परस्पर एक दूसरे के प्रेम स्मरण करने और चाहने के जिस भाव को (.असिञ्चन्) भीतर डाल देते हैं हे प्रियतमे ! (तम्) उस (ते) तेरे प्रेम, परस्पराभिलाषा के भाव को (वरुणस्य धर्मणा) वरुण-राजा या सर्वश्रेष्ठ परमात्मा के धर्म धारणं, व्यवस्था या राजनियम द्वारा भी (तपामि) पकाता हूँ, परिपक्व करता हूँ । अर्थात् पारस्परिक दाम्पत्य प्रेम को दृढ़ करने के लिये राजनियम भी ऐसा होना चाहिये कि स्त्रीपुरुष एक दूसरे को आजीवन त्याग न करें ।

यं विश्वे देवाः स्मरमसिंञ्चन्नप्स्व१न्तः० । ० ॥ २ ॥

भा०—(विश्वे देवाः) समस्त देवगण (यं स्मरम् अप्सु अन्तः असिञ्चन्) जिस परस्पर स्मरण रूप परस्पराभिलाप या कामना को मानस व्यथा के सहित समस्त प्रजाओं के चित्त में डालते हैं उसी भाव को वरुण=राजा की व्यवस्था से भी मैं तेरे हृदय में परिपक्व करता हूँ ।

यमिन्द्राणी स्मरमसिंञ्चदप्स्व१न्तः ० । ० ॥ ३ ॥

भा०—(इन्द्राणी०) ईश्वरीय शक्ति जिस परस्पर प्रेमाकर्षण को मानस व्यथा के सहित प्रजाओं के हृदय में डालती है उसी को राज-व्यवस्था से मैं परिपक्क करता हूँ ।

यमिन्द्राग्नी स्मरमसिंञ्चतामप्स्व१न्तः ० । ० ॥ ४ ॥

भा०—(इन्द्राग्नी यम् स्मरम् इत्यादि) इन्द्र=परमेश्वर और अग्नि आचार्य जिस परस्पराभिलाषा को मानस पीड़ा के सहित प्रजाओंके हृदयों में उत्पन्न करते हैं और उसको दृढ़ करते हैं उसको मैं वरुण राजा के कानून से और भी दृढ़ करूँ ।

यं मित्रावरुणौ स्मरमसिंञ्चतामप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या ।
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥ ५ ॥

भा०—(यं मित्रावरुणौ आध्यां शोशुचानम्) मानसी पीड़ा के साथ

उत्पन्न करनेवाले जिस पारस्परिक अभिलाषा को (मित्रावरुणौ) मित्र=प्राण और वरुण=अपान, दोनों एक होकर (अप्सु अन्तः असिञ्चताम्) प्रजाओं के हृदय में सींचते हैं (तम्) उसी परस्पर प्रेम को (वरुणस्य धर्मणा) राजा की व्यवस्था से भी (ते तपामि) तुझमें मैं परिपक्व करता हूँ।

इस सूक्त में वेद ने विवाह बन्धन को और परस्पर के प्रेमाभिलाप को दृढ़ करने के ६ उपाय दर्शाए हैं। १. विद्वानों का उपदेश, (२) सब इष्ट सम्बन्धियों की प्रेरणा, (३) ईश्वरी शक्ति, (४) ईश्वर और आचार्य के समक्ष वार्त्तालाप और उनकी अनुमति, (५) प्राणशक्ति का एक होना, (६) सबके साथ २ राजनियम की सत् व्यवस्था। सायण का इन उक्त तीन सूक्तों का दुष्ट स्त्री के वशीकरण में लगाना वेद के साथ अन्याय है।



[१३३] मेखला बन्धन का विधान।

अगस्त्य ऋषिः। मेखला देवता। १ भुरिक्। २,५ अनुष्टुभौ। ३, त्रिष्टुप्। ४ भुरिक्। पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

य इमां देवो मेखलामाबबन्ध यः संननाह य उ नो युयोज।
यस्य देवस्य प्रशिषा चरामः स पारमिच्छात् स उ नो वि मुञ्चात् ॥१॥

भा०—(यः देवः) जो देव विद्वान् ब्रह्मण, ज्ञानदाता या ज्ञान-प्रकाशक आचार्य (इमाम्) इस (मेखलाम्) मेखला को (आबबन्ध) ब्रह्मचारी के शरीर पर बाँधता है और जो (नः) हम ब्रह्मचारियों को (संननाह) ब्रह्म पालन के लिये संनद्ध करता है और (यः उ नः) जो हमें (युयोज) व्रत पालन में लगाता है और (यस्य देवस्य) जिस ज्ञानदाता गुरु के (प्रशिषा) आज्ञापालन में या शासन में (चरामः)

[१३३]१–(तृ०) 'चरामि' इति पैप्प० सं०।

हम रहते हैं (सः) वही हमारे (पारम्) व्रत को पूर्ण पालन कराके उसकी समाप्ति भी (इच्छात्) चाहता है। (सः उ) और वही (नः) हमें (विमुञ्चात्) सब विघ्नबाधाओं से मुक्त करे।

आहुतास्यभिहुत ऋषीणामस्यायुधम्।
पूर्वा व्रतस्य प्राश्नती वीरघ्नी भव मेखले ॥ २ ॥

भा०—हे (मेखले) (आहुता असि) तू चारों ओर पहनी जाती है और (अभिहुता असि) सब ओर से ग्रहण की जाती है और (ऋषीणाम्) मन्त्र द्रष्टा और वेदज्ञानी पुरुषों की (आयुधम् असि) आयुध, पापों के नाश करने का साधन, कामादि शत्रुओं के नाश का हथियार है। अतः वही (व्रतस्य) ब्रह्मचर्य आदि के व्रत के (पूर्वा) पूर्व में ही ब्रह्मचारी शरीर को (प्राश्नती) व्यापती हुई तू (वीरघ्नी भव) वीरपुरुष-गामिनी हो।

मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात् पुरुषं यमाय।
तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि ॥ ३ ॥

भा०—(यत्) क्योंकि (अहम्) मैं (मृत्योः) आदित्य के समान प्रकाशवान् ज्ञानी पुरुष का या अज्ञान के बन्धन से मुक्त करने वाले आचार्य का (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी हूँ इसलिये (भूतात्) इस पञ्चभूत के देह से (यमाय) उस परब्रह्म सर्वनियन्ता परमेश्वर की प्राप्ति के लिए (पुरुषम्) देहपुरी के वासी आत्मा को (निर्याचन् अस्मि) मुक्त करने के यत्न में हूँ। हे आचार्य! ऐसे (तम्) उस (एनम्) इस आत्मा को (अहम्) मैं शिष्य (ब्रह्मणा) ब्रह्म, वेदोपदेश से, (तपसा) तपसे, (श्रमेण) श्रम से

२–(प्र०) 'आहुतासि ऋषीणां' (च०) 'अवीरघ्नी' इति पैप्प० सं०।
३–(द्वि०) 'भूतो निर्याचन्' इति पैप्प० सं०। 'निर्याचम्' इति सायणाभिमतः।

और (अनया मेखलाया) इस मेखला से (सिनामि) बाँधता हूँ । स एष आदित्यो मृत्युः । श० १०।५।१।४। अग्निर्मृत्युः ॥ कौ० १२ । ३ ॥ योऽग्निर्मृत्युः सः ॥ जै० ३० । १ । २५ । ८ ॥

अथवा—(अहम्) मैं (ब्रह्मचारी) स्वयं ब्रह्मचारी होकर आचार्य (पुरुषं यमाय भूतात् मृत्योः निर्याचन् अस्मि) इस पुरुष को यमनियम पालन कराने के निमित्त भूत=निश्चित मृत्यु से छुड़ा देता हूँ । इसी निमित्त (ब्रह्मणा तपसा श्रमेण अनया मेखलया च अहं सिनामि) वेद, व्रत, तप, श्रम और इस मेखला से पुरुष को बाँधता हूँ और दीक्षित करता हूँ । इस प्रकरण को देखो । गोपथ पू० २ । १ ॥ इस विषयक देखो जै० उ० १ । २५ । ८ ॥ तदनुसार प्रकाशस्वरूप परब्रह्म=समुद्र उसके तीन रूप हैं शुक्ल, कृष्ण और पुरुष शुक्ल रूप=वाणी और अग्नि । कृष्णरूप=आपः, मन या अन्न और यजु । पुरुष=प्राण, साम, ब्रह्म, अमृत ।

श्रद्धाया दुहिता तपसोऽधि जाता स्वसा ऋषीणां भूतकृतां बभूव ।
सा नो मेखले मतिमा धेहि मेधामथो नो धेहि तप इन्द्रियं च ॥४॥

भा०—मेखला का स्वरूप बतलाते हैं—यह मेखला (श्रद्धायाः दुहिता) श्रत्—सत्य के धारण करने वाली बुद्धि की दुहिता=पुत्री अथवा उसको दोहने वाली, देनेवाली है (तपसः अधिजाता) तपरूप ब्रह्म वेद सत्यज्ञान से उत्पन्न हुई है । और (भूत-कृतां) समस्त सत्पदार्थों का उपदेश करने (ऋषीणाम्) वाले ऋषि, मन्त्रद्रष्टाओं की स्वसा= भगिनी, स्वयं उनके पास प्रकट होनेवाली (बभूव) है । हे (मेखले) मेखले (सा) वह तू (नः) हमें (मतिम्) बुद्धि, ज्ञान (आधेहि) प्रदान कर, (अथ नः मेधाम्) और हमें मेधा शक्ति, (तपः) तप और (इन्द्रियं च) इन्द्रियों में बल भी प्रदान कर ।

यां त्वा पूर्वे भूतकृत ऋषयः परिबेधिरे ।
सा त्वं परिष्वजस्व मां दीर्घायुत्वाय मेखले ॥ ५ ॥

भा०—हे मेखले ! (यां त्वा) जिस तुझको (पूर्वे) ज्ञान में पूर्ण (ऋषयः) मन्त्रद्रष्टा ऋषिगण (परि बेधिरे) बाँधते हैं (सा) वह (त्वं) तू (मां) मुझे (दीर्घायुत्वाय) दीर्घायु प्राप्त कराने के लिए (परिष्वजस्व) ग्रहण कर, मेरे शरीर के साथ आलिंगन कर । शतपथ (का० ३।२।१।१।११) में मेखला के विषय में एक ऐतिह्य लिखा है कि आङ्गिरस ऋषि ने दीक्षित बालकों को निर्बल पाया, वे व्रत से अतिरिक्त नहीं खाते थे। उन्होंने इस मेखला को ऊर्ज–अन्न रस के रूप में देखा, उसको उन्होंने अपने शरीर के बीच में धारण किया, उससे वे अपने कार्य में सफल हुए।



[१३४] वज्र द्वारा शत्रु का नाश ।

शुक्र ऋषिः । मन्त्रोक्तो वज्रो देवता । १ परानुष्टुप् त्रिष्टुप् । २ भुरिक् त्रिपदा गायत्री । ३ अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

अयं वज्रस्तर्पयतामृतस्यावास्य राष्ट्रमप हन्तु जीवितम् ।
शृणातु ग्रीवाः प्र शृणातूष्णिहा वृत्रस्येव शचीपतिः ॥ १ ॥

भा०—पापनाशक दण्ड का वर्णन करते हैं—(अयं वज्रः) यह वज्र पापों का वर्जन करनेवाला, दण्ड (ऋतस्य तर्पयताम्) सत्य व्यवस्था को पूर्ण करे और (अस्य) इस अत्याचारी, दुष्ट राजा के (राष्ट्रम्) राष्ट्र को (अप हन्तु) नाश करे और (जीवितम्) जीवन को भी (अव हन्तु)

[१३४] १–'व्रतेनावास्य' इति पैप्प० सं० । 'पॅयतामममृतस्य' इति ह्विटनिकामितः । 'पॅयताममृतस्य' इति लडविग्कामितः । 'हन्तु जीवम्' सायणाभिमतः ।

विनाश करे । (शचीपतिः) समस्त शक्तियों का स्वामी सूर्य जिस प्रकार (वृत्रस्य इव) मेघ के आवरण को छिन्न भिन्न कर देता है । उसी प्रकार यह दण्ड दुष्ट पुरुषों के (ग्रीवाः शृणातु) गर्दनों को काट २ डाले और (उष्णिहां प्र शृणातु) धमनियों को भी काट २ डाले ।

अधरोऽधर उत्तरेभ्यो गूढः पृथिव्या मोत्सृपत् ।
वज्रेणावहतः शयाम् ॥ २ ॥

भा०—(उत्तरेभ्यः) उत्कृष्ट मनुष्यों से (अधरः अधरः) नीचे ही नीचे रह कर (पृथिव्या गूढः) पृथिवी में या भूगर्भ में छुप कर रहने वाला शत्रु (मा उत्सृपत्) कभी ऊपर न आवे । बल्कि (वज्रेण अवहतः) वज्र से ताड़ित होकर (शयाम्) सदा के लिये लेट जाय ।

यो जिनाति तमन्विच्छ यो जिनाति तमिज्जहि ।
जिनतो वज्र त्वं सीमन्तमन्वञ्चमनु पातय ॥ ३ ॥

भा०—हे दण्डधर ! (यः जिनाति) जो हानि पहुँचाता है । (तम् इच्छ अनु) उसी का विनाश कर । हे (वज्र) पापवारक दण्डधर (जिनतः) हानि पहुँचाने वाले पुरुष के (सीमन्तम्) शिर, कपाल पर अपने दण्ड से (अन्वञ्चम्) सीधा (अनुपातय) गिरा डाल, फोड़ डाल ।

[१३५] वज्र द्वारा शत्रु नाश ।

शुक्र ऋषिः । मन्त्रोक्तो वज्रो देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

यदश्नामि बलं कुर्व इत्थं वज्रमा ददे ।
स्कन्धानमुष्य शातयन् वृत्रस्येव शचीपतिः ॥ १ ॥

३–(तृ०) 'वज्रसीयकसीम' इति पैप्प० सं० ।
[१३५] १–(द्वि०) 'वज्रमनुपातयति' इति पैप्प० सं० ।

भा०—मैं (यद् अश्नामि) जो खाऊँ उससे (बलं कुर्वे) अपना बल सम्पादन करूँ। और तब (शचीपतिः) शक्ति का स्वामी सूर्य जिस प्रकार (वृत्रस्य इव) वृत्र, मेघ को छिन्न भिन्न कर देता है या आत्मा अज्ञान का नाश करता है। उसी प्रकार मैं (अमुष्य) उस अमुक शत्रु की (स्कन्धान्) कन्धों को या स्कन्ध अर्थात् सेना-दलों को (शातयन्) विनाश करता हुआ (इत्थं वज्रम् आददे) इस प्रकार वज्र=तलवार या दण्ड को या पापों से मनुष्यों को बचानेवाले शासन-दण्ड को (आददे उठाऊं।

यत् पिबामि सं पिबामि समुद्र इव संपिबः ।
प्राणानमुष्य संपाय सं पिबामो अमुं वयम् ॥ २ ॥

भा०—(यत् पिबामि) जिसको पीऊं (सं पिबामि) अच्छी प्रकार पीऊँ। और ऐसा (संपिबः) पीऊं जैसे (समुद्र इव) समुद्र समस्त नदियों का जल पी जाता है। (वयम्) हम भी (अमुष्य प्राणान्) शत्रु के प्राणों को, जीवन के साधनों को (संपाय) खूब पीकर (अमुं सपिबामः) उसको पी ही जावें, पचा ही जावें अर्थात् शत्रु को मारना ही शत्रु को पी जाना है।

यद् गिरामि सं गिरामि समुद्र इव संगिरः ।
प्राणानमुष्य संगीर्य सं गिरामो अमुं वयम् ॥ ३ ॥

भा०—(यद् गिरामि संगिरामि जिसको मैं निगलूं उसको अच्छी प्रकार निगलूँ। (संगिरः दः इव) ऐसा निगलूँ जैसे समुद्र सब नदियों के जल को निगल ाता है । (अमुष्य प्राणान् संगीर्य)

२-(तृ० च०) 'सम्पिबं सम्पिबाम्यहं पिब' इति पैप्प० सं० ।
३-(तृ० च०) 'प्राणममुष्य संगिरं संगिराम्यहं गिरम्' इति पैप्प० सं० ।

शत्रु के प्राणों को या जीवन के साधनों को (संगीर्य) स्वयं निगल कर अर्थात् हड़प कर हो (वयं) हम (अमुं) उसको (सं गिरामः) हड़प सकते हैं ।



[१३६] केशवर्धनी नितत्नी ओषधि ।

केशवर्धनकामो वीतहव्योऽथर्वा ऋषिः । वनस्पतिर्देवता १–२ अनुष्टुभौ ।
२. एकावसाना द्विपदा साम्नी बृहती । तृचं सूक्तम् ॥

देवी देव्यामधि जाता पृथिव्यामस्योषधे ।
तां त्वा नितत्नि केशेभ्यो दृंहणाय खनामसि ॥ १ ॥

भा०—हे (ओषधे) ओषधे ! तू (देवी) दिव्य गुण वाली है और (देव्याम्) दिव्य गुण वाली (पृथिव्याम्) पृथिवी में (अधि-जाता) उत्पन्न होती (असि) है । हे (नितत्नि) नीचे २ फैलने वाली ओषधे ! (तां त्वा) उस तुझ को (केशेभ्यः दृंहणाय) केशों के दृढ़ करने और बढ़ाने के लिये (खनामसि) खोदते हैं ।

दृंह प्रत्नान् जनयाजातान् जातानु वर्षीयसस्कृधि ॥ २ ॥

भा०—हे ओषधे ! (प्रत्नान्) पुराने केशों को (दृंह) दृढ़ कर और (अजातान्) जिस स्थान पर केश उत्पन्न नहीं होता उस स्थान पर नहीं उत्पन्न हुए केशों को भी (जनय) उत्पन्न कर । और (जातान्) उत्पन्न हुए केशों को (वर्षीयसः, कृधि) बड़ा लम्बा या चिरस्थायी कर ।

यस्ते केशोऽवपद्यते समूलो यश्च वृश्चते ।
इदं तं विश्वभेषज्याभि षिञ्चामि वीरुधा ॥ ३ ॥

भा०—हे केशरोगिन् ! (यः ते केशः) जो तेरा केश (अवपद्यते) झड़ता है, (यः च समूलः वृश्चते) और जो केश मूल सहित टूट आता है,

(इदं तम्) उन सब केशों को (विश्वभेषज्या वीरुधा) केश के सब रोगों को दूर करने वाली लता के रस से (अभिषिञ्चामि) भिगोता हूँ । इससे सब केश के रोग छूट जायँगे । कौशिक एवं सायण ने केशों के रोग की निवृत्ति के लिए काकमाची जीवन्ती और भृंगराज का प्रयोग लिखा है । राजनिघण्टु के अनुसार 'देवी' ओषधि से मूर्वा, स्पृक्का, सहदेवी, देवद्रोणी, केसर और आदित्यभक्ता, ये छः ओषधि ली जाती हैं । काकमाची से काश्मादनी ओषधि लेनी चाहिये क्योंकि वही राजनिघण्टु के अनुसार 'केश्या' है ।



[१३७] केशवर्धन का उपाय ।

केशवर्धनकामो वीतहव्योऽथर्वा ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

यां ज॒मद॑ग्नि॒रख॑नद् दुहि॒त्रे के॑श॒वर्ध॑नीम् ।
तां वी॒तह॑व्य॒ आभ॑र॒दसि॑तस्य गृ॒हेभ्यः॑ ॥ १ ॥

भा०—(जमदग्निः) अग्नि को निरन्तर प्रज्वलित रखने वाला गृहस्थ पुरुष (याम्) जिस (केशवर्धनीम्) केशों को बढ़ाने वाली ओषधि को (दुहित्रे) अपनी कन्या के निमित्त (अखनत्) खोदता है (ताम्) उसको (वीतहव्यः) प्राप्तज्ञान विद्वान्, पुरुष भी (असितस्य) बन्धन रहित प्रभु के (गृहेभ्यः) बनाये नाना स्थानों से (आ भरत्) प्राप्त करता है ।

अ॒भीशु॑ना मेया॑ आसन् व्या॒मेना॑नु॒मेया॑ः ।
केशा॑ न॒डा इ॑व वर्धन्तां शी॒र्ष्णस्ते॑ असि॒ताः परि॑ ॥ २ ॥

भा०—जो केश प्रथम (अभीशुना) अंगुलि से (मेयाः आसन्) मापे जा सकते हैं वे ओषधि सेवन के बाद (व्यामेन अनुमेयाः) बढ़

कर फैले हाथों से मापे जा सकते हैं । वे (ते शीर्ष्णः) तेरे शिर के (असिताः) काले २ (केशाः) केश (नडाः इव) नरकुलों के समान (परि वर्धन्तां) खूब बढ़ें ।

दृंह मूलमाग्रं यच्छ वि मध्यं यामयौषधे ।
केशा नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि ॥ ३ ॥

भा०—हे ओषधे ! केशों के (मूलं दृंह) मूल को दृढ़ करो । (अग्रम्) अग्र भाग को (वियच्छ) विशेष प्रकार से यमन कर, बाँध या मज़बूत कर, और (मध्यं यमय) बीच के भाग को भी दृढ़ कर जिससे केश न आगे से टूटें न बीच से टूट कर झड़ें और न जड़ से उखड़ें । प्रत्युत (नडाः इव) तालाब के किनारे लगे नरकुलों के समान हे रोगी ! (ते शीर्ष्णः) तेरे शिर के (असिताः केशाः) काले बाल (परिवर्धन्ताम्) खूब बढ़ें ।



[१३८] नपुंसक करने के उपाय ।

क्लीवकर्तुकामोऽथर्वा ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । १–२ अनुष्टुभौ । ३ पथ्यापंक्तिः । पंचर्चं सूक्तम् ॥

त्वं वीरुधां श्रेष्ठतमाभिश्रुतास्योषधे ।
इमं मे अद्य पूरुषं क्लीवमोपशिनं कृधि ॥ १ ॥

भा०—हे (ओषधे) ओषधे ! (त्वं) तू (वीरुधाम्) सब लताओं में से (श्रेष्ठतमा) सब से अधिक श्रेष्ठ, गुणकारी (अभिश्रुता) प्रसिद्ध है । (अद्य) शीघ्र ही (इमम्) इस (मे) मेरे (पुरुषम्) शत्रु पुरुष को (क्लीवम्) नपुंसक और (ओपशिनम्) स्त्री के योग्य पोशाक से युक्त (कृधि) कर ।

[१३८] १-(तृ०) 'पौरुषं' इति पैप्प० सं०

क्लीबं कृध्योपशिनमथो कुरीरिणं कृधि ।
अथास्येन्द्रो ग्रावभ्यामुभे भिनत्त्वाण्ड्यौ ॥ २ ॥

भा०—हे ओषधे ! तू इस शत्रु को (क्लीबं कृधि) नपुंसक बना दे । (अथो) और (ओपशिनं) स्त्री के लिबास में, उसके आभरणादि धारण करने वाला कर दे । (अथो कुरीरिणं कृधि) और उसको कुरीर नामक शिर के आभूषण धारण करनेवाला बना दे । (अथ) और (अस्य) इस शत्रु के (उभे) दोनों (आण्ड्यौ) अण्ड कोशों को (इन्द्रः) इन्द्र, राजा (ग्रावभ्यां) पत्थरों से (भिनत्तु) तोड़ दे ।

क्लीब क्लीबं त्वाकरं वध्रे वध्रिं त्वाकरमरसारसं त्वाकरम् ।
कुरीरमस्य शीर्षणि कुम्बं चाधिनिदध्मसि ॥ ३ ॥

भा०—हे (क्लीब) नपुंसक नर ! (त्वा) तुझको (क्लीबम् अकरम्) नपुंसक ही कर देता हूँ । और हे (वध्रे) बधिया, तुझे (वध्रिम् अकरम्) मैं बधिया करता हूँ । और हे (अरस) रस=वीर्यरहित ! नर तुझे मैं (अरसं अकरम्) वीर्य-रहित ही करता हूं । बल्कि साथ ही (अस्य शीर्षणि) ऐसे निर्वीर्य मनुष्य के सिर पर (कुरीरं कुम्बं च) कुरीर और कुम्ब नामक आभूषण भी (अधि नि दध्मसि) धर देते हैं । अर्थात् नपुंसक, बधिया और निर्वीर्य लोग स्त्री के वेश में रहना अच्छा समझते हैं । और यही ओषधि या उपचार पशुओं को बधिया या अखता करने का भी है । इसी प्रकार जो उत्पाती कामोपद्रवी हों उनको राजा नपुंसक करने का दण्ड देकर सौम्य स्वभाव का बना सकता है । दूसरे, वैज्ञानिक

२–(प्र०) 'कृत्वा', 'क्लीबं', 'ओपशु' (तृ० च०) 'उपाभ्यामस्य ग्रावभ्यामिन्द्रोभिनत्त्वा' इति पैप्प० सं० ।

३–(प्र०) 'कुम्भम्' (तृ०) 'अरसं त्वाकरम् अरसारसोसि' इति पैप्प० सं० ।

दृष्टि से यह कोई लज्जाजनक बात नहीं। योरोप के डाक्टर ये सब परीक्षण कीटों, पशुओं पर करते हैं और नर को मादा, मादा को नर आदि बनाते हैं।

ये ते॑ ना॒ड्यौ॑ दे॒वकृ॑ते॒ ययो॒स्तिष्ठ॑ति॒ वृष्ण्य॑म् ।
ते ते॑ भिनद्मि॒ शम्य॑या॒मुष्या॒ अधि॑ मु॒ष्कयोः॑ ॥ ४ ॥

भा०—(ये नाड्यौ) जो दोनों नाड़ियाँ (देवकृते) विधाता, ईश्वर ने बनाई हैं और (ययोः) जिनमें (वृष्ण्यम्) वीर्य (तिष्ठति) रहता है, हे नरपशो ! (ते) तेरी (ते) उन दोनों (अधिमुष्कयोः) अण्डकोशों के ऊपर की नाड़ियों को (शम्यया) लकड़ी के दण्डे से (भिनद्मि) तोड़ डालूँ।

यथा॒ नडं॑ क॒शिपु॑ने॒ स्त्रियो॑ भि॒न्दन्त्यश्म॑ना ।
ए॒वा भि॑नद्मि ते॒ शेपो॒ऽमुष्या॒ अधि॑ मु॒ष्कयोः॑ ॥ ५ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (स्त्रियः) स्त्रियाँ (कशिपुने) चटाई बनाने के लिये (अश्मना) पत्थर से (नडं) नरकुल के नड़े को (भिन्दन्ति) कूट कर नर्म कर लेती हैं (एवा) उसी प्रकार (अमुष्य ते) अमुक पशु रूप (ते) तेरे (मुष्कयोः अधि) अण्डकोशों के ऊपर के (शेपः) प्रजनन इन्द्रिय को (भिनद्मि) कुचल डालूँ।

नपुंसकत्व उत्पन्न करने की प्रेरणा करना यहाँ वेद का उद्देश्य नहीं; अपितु ओषधि का गुणमात्र दिखाया गया है कि (१) उसके सेवन से क्लीब हो जाता है; और (२) पुरुष में स्त्रैण भावों का उदय होता है। और उसको आभूषण आदि अच्छे लगने लगते हैं, (३) विना औषध के भी क्लीब उत्पन्न करना हो तो अण्डकोश भेदन का उपाय भी किया जाना सम्भव है। पशुओं को बधिया या अश्वों को अख्ता करके मनुष्यों ने भारी सभ्यता का कार्य किया है।

[१३९] सौभाग्यकरण और परस्परवरण ।

अथर्वा ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । २-३ अनुष्टुभौ । १ त्र्यवसाना षट्पदा विराड् जगती । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

न्यस्तिका रुरोहिथ सुभगंकरणी मम ।
शतं तव प्रतानास्त्रयस्त्रिंशन्नितानाः ।
तया सहस्रपर्ण्या हृदयं शोषयामि ते ॥ १ ॥

भा०—हे ओषधे! तू (न्यस्तिका) सब अवगुणों को दूर करनेवाली (मम) मेरा (सुभगंकरणी) सौभाग्य उत्पन्न करनेवाली होकर (रुरोहिथ) उत्पन्न होती है। (तव प्रतानाः) तेरे फैलाव (शतं) सौ और (त्रयस्त्रिंशत् नितानाः) नीचे मूल की तरफ़ की शाखाएँ ३३ हैं। (तया) उस (सहस्रपर्ण्या) हजारों पत्तों वाली ओषधि से (ते हृदयं शोषयामि) हे स्त्रि! प्रियतमे! तेरे हृदय को सुखाता हूँ, वियोग से दुःखी करता हूँ।

यह जीवनरूप लता है जिसके ३३ देव, मानस दिव्यभाव वितान और शत वर्ष शतप्रतान हैं और सहस्रों कर्म, संकल्प विकल्प आदि सहस्र पर्ण हैं। जो दम्पती इस पर विचार करें तो वे इन सब जीवन के वर्षों और हृदय के भावों और दुनिया के सुख दुःखों के लिये अपना साथी चुनें और प्रेम से रह कर जीवन को सुखमय बनावें।

शुष्यतु मयि ते हृदयमथो शुष्यत्वास्यम् ।
अथो नि शुष्य मां कामेनाथो शुष्कास्या चर ॥ २ ॥

भा०—हे प्रियतमे! (ते हृदयम्) तेरा हृदय (मयि) मेरे में मग्न होकर, मेरे प्रेम में (शुष्यतु) सूखे, कृश हो जाय, (अथो) और (आस्यम् शुष्यतु) मुख भी सूख जाय, मुख पर दुर्बलता के चिह्न प्रकट

हों, (अथो) और (मां कामेन) मेरे प्रति अपनी प्रबल अभिलाषा, से तू (नि शुष्य) सर्वथा कृश होकर (शुष्कास्या) निर्बल, कृशमुखी होकर (चर) रह । इतने पर भी हे प्रियतमे ! तू अन्य किसी को हृदय से मत चाह।

संवननी समुष्पला बभ्रु कल्याणि सं नुद ।
अमूं च मां च सं नुद समानं हृदयं कृधि ॥ ३ ॥

भा०—हे ओषधे ! तू (संवननी) स्त्री पुरुषों के परस्पर वरण कराने वाली (समुष्पला) स्त्री पुरुष दोनों के सहवास की रक्षा करनेवाली, हे (बभ्रु) पोषण करने वाली ! हे (कल्याणि) सुखदायिनी ! (अमूं) उस प्राणप्रिया स्त्री को (सं नुद) मेरे प्रति प्रेरित कर और (मां च) मुझको उसके प्रति (सं नुद) प्रेरित कर जिससे एक दूसरे के प्रति प्रेम-भाव से आकृष्ट होकर एक दूसरे का पाणिग्रहण करें और हमारे (हृदयम्) दोनों के हृदय को (समानं कृधि) समान, एक दूसरे के प्रति एक जैसा कर ।

यथोदकमपपुषोपशुष्यत्यास्य/म् ।
एवा नि शुष्य मां कामेनाथो शुष्कास्या चर ॥ ४ ॥

भा०—(यथा उदकम् अपपुषः) जिस प्रकार जल को न पीनेवाले पुरुष का (आस्यम् अप शुष्यति) मुँह सूख जाता है (एवा) उसी प्रकार (मां कामेन) मेरे प्रति प्रबल अभिलाषा की प्यास से (नि शुष्य) तू भी प्यासी होकर (शुष्कास्या चर) सूखे मुँह, प्यार की प्यासी होकर रह । अर्थात् मुझे ही अपने हृदय में बसाये रख ।

यथा नकुलो विच्छिद्य संदधात्यहिं पुनः ।
एवा कामस्य विच्छिन्नं सं धेहि वीर्यावति ॥ ५ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (नकुलः) नेवला (अहिम्) सांप

को (विच्छिद्य) काट कर (पुनः संदधाति) फिर जोड़ देता है (एवा) इसी प्रकार हे (वीर्यावति) वीर्यवर्धक ओषधे ! तू भी (कामस्य) परस्पर अभिलाषा के (विच्छिन्नं) टूटे हुए तांते को (पुनः) फिर (सं धेहि) जोड़ और पुष्ट कर । नेवला सांप को काटता है और पुनः ओषधि जड़ी के बल पर उसके घाव भर देता है ऐसा विश्वास है ।



[१४०] दांतों को उत्तम रखने और सात्विक भोजन करने का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । ब्रह्मणस्पतिर्देवता । मन्त्रोक्तौ दन्तौ च देवते । १ उरो बृहती अनुष्टुप्, २ उपरिष्टाज्ज्योतिष्मती त्रिष्टुप् । ३ आस्तारपंक्तिः । तृचं सूक्तम् ॥

यौ व्याघ्रावर्वरूढौ जिघत्सतः पितरं मातरं च ।
तौ दन्तौ ब्रह्मणस्पते शिवौ कृणु जातवेदः ॥ १ ॥

भा०—(यौ) जो (व्याघ्रौ) व्याघ्र नामक दोनों दाँत मुख फाड़ कर भोजन ग्रहण करनेवाले हैं (पितरम् मातरम् च) पिता और माता, अर्थात् ऊपर के और नीचे के जबड़ों को मानो (जिघत्सतः) खाने की इच्छा करते हैं (तौ दन्तौ) उन दोनों दांतों को, हे (ब्रह्मणस्पते) वेद के परिपालक (जातवेदः) जात-उत्पन्न बालक के विज्ञान को जानने वाले विद्वान् ! (शिवौ कृणु) कल्याणकारी, सुखकारी कर ।

बालक के दांतों को निकलने के पूर्व ही सावधानी से निकलने देना चाहिये जिससे वे विकृत होकर मुख में आगे पीछे न जायँ और बाद में बड़े होकर होठों, जबड़ों और जीभ को घायल न करें ।

---

[१४०] १-(च०) 'कृणुहि' इति क्वचित् ।(च०) 'मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च' इति पैप्प० सं० ।

व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम् ।
एष वां भागो निर्हितो रत्नधेयाय दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च ॥ २ ॥

भा०—बालक को अन्नप्राशन कराने का उपदेश—हे बालक के प्रथम उत्पन्न दोनों दांतो ! (व्रीहिम् अत्तम्) तुम भात खाओ, (यवम् अत्तम्) जौ खाओ, (अथो माषम्) और माष, उड़द की दाल और तिल खाओ । हे दाँतो ! (वां) तुम्हारा (एषः भागः) यह भाग खाने योग्य पदार्थ (रत्नधेयाय) उत्तम फल प्राप्त करने के लिये (निहितः) नियत किया गया है । हे (दन्तौ) दांतो ! (पितरं मातरं च) पिता और माता को अर्थात् ऊपर के और नीचे के जबाड़े को (मा हिंसिष्टम्) विनाश मत करो । दांत निकल आने पर बालक को कोमल अन्न खाने का अभ्यास कराना चाहिये, नहीं तो दाँतों से जबाड़े घायल हो जायँगे, या वे माता के स्तनों को काटने और पिता के कोमल शरीर पर काटने के आदी हो जायँगे ।

उपहूतौ सयुजौ स्योनौ दन्तौ सुमङ्गलौ ।
अन्यत्र वां घोरं तन्व१ः परैतु दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च ॥ ३ ॥

भा०—(सयुजौ) साथ जुड़े हुए (स्योनौ) सुखकर बालक के (दन्तौ) दो दाँत (सुमङ्गलौ) शुभ, मंगलजनक (उपहूतौ) कहाते हैं । (वां) तुम्हारे (तन्वः) शरीर के (घोरम्) घोर, काटने की तीक्ष्ण प्रवृत्ति (अन्यत्र परैतु) दूर हो जाय । हे (दन्तौ) दांतों (पितरम्) पिता और (मातरम्) माता दोनों को (मा हिंसिष्टम्) मत दुःख दो । उनको दांत मत मारो ।



२–(द्वि०) 'माषामत्तम्' (तृ०) 'स' (च०) 'भ्रेयं' इति पैप्प० सं० ।
३–'अघोरौ सयुजा संविदानौ' (च०) 'अन्यत्र वां तन्वो घोरमस्तु' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'सुयुजौ' इति ह्विटनिकामितः ।

[१४१] माता पिता का सन्तान के प्रति कर्त्तव्य । नामकरण और कर्णवेध का उपदेश ।

विश्वामित्र ऋषिः । अश्विनौ देवते । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

वायुरेनाः समाकरत् त्वष्टा पोषाय ध्रियताम् ।
इन्द्र आभ्यो अधि ब्रवद् रुद्रो भूम्ने चिकित्सतु ॥ १ ॥

भा०—(वायुः) वायु (एनाः) इन प्रजाओं को (सम् आ-अकरत्) जीवित करे (त्वष्टा) त्वष्टा=अन्न इनकी (पोषाय) पुष्टि के लिये (ध्रियताम्) रक्षा करे, (इन्द्रः) इन्द्र, आचार्य (आभ्यः) इन प्रजाओं के लिये (अधिब्रवत्) विशेष हितकारी नियमों का उपदेश करे और (रुद्रः) रुद्र, चिकित्सक इनको (भूम्ने) बड़ी संख्या में बढ़ाने के लिये (चिकित्सतु) विशेष ज्ञानपूर्वक इनके रोगों को निवृत्त करे ।

लोहितेन स्वधितिना मिथुनं कर्णयोः कृधि ।
अकर्तामश्विना लक्ष्म तदस्तु प्रजया बहु ॥ २ ॥

भा०—हे पुरुष ! तू (लोहितेन) लाल तपे हुए (स्वधितिना) शलाका से (कर्णयोः) दोनों कानों में (मिथुनम्) छिद्र (कृधि) कर । हे (अश्विना) माता पिता, (लक्ष्म अकर्ताम्) ऐसा चिह्न या नाम रक्खो जो (प्रजया) सन्तति के साथ २ (तद् बहु अस्तु) वह बहुत गुणकारी हो । इस मन्त्र में कर्णवेध और नामकरण का उपदेश किया गया है ।

यथा चक्रुर्देवासुरा यथा मनुष्या उत ।
एवा सहस्रपोषाय कृणुतं लक्ष्माश्विना ॥ ३ ॥

[१४१। १-'इन्द्राभ्योऽधिब्रुवत्' (च०) 'भूम्नेऽव चिकित्सतु' इति पैप्प० सं० ।
२-(तृ० 'लक्ष्मि' (द्वि०) 'कृतम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(यथा) जिस प्रकार (देवाः) विद्वान् ज्ञानी पुरुष और (यथा असुराः) जिस प्रकार बलवान् पुरुष और (उत मनुष्याः) जिस प्रकार मननशील पुरुष (चक्रुः) करते हैं। हे (अश्विनौ) माता पिताओ ! (सहस्रपोषाय) तुम भी सहस्रों प्रकार की पुष्टि के लिये प्रजा का (लक्ष्म कृणुतम्) चिह्न उत्तम नाम (कृणुतम्) करो । अथवा (सहस्रपोषाय) बलवान् आत्मा की पुष्टि के लिये नामकरण करो ।



[१४२] यव धान्य, राष्ट्र और क्षत्र बल की वृद्धि ।

विश्वामित्र ऋषिः । वायुर्देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

उच्छ्र्यस्व बहुर्भव स्वेन महसा यव ।
मृणीहि विश्वा पात्राणि मा त्वा दिव्याशनिर्वधीत् ॥ १ ॥

भा०—हे (यव) जौ, अन्न ! प्रजाओ, राष्ट्र और सेनाबल ! तू (स्वेन महसा) अपने तेज, बल से(उच्छ्र्यस्व) ऊपर उठ, ऊंचा हो और (बहुः भव) बहुत मात्रा में उत्पन्न हो । और (विश्वा पात्राणि) समस्त वर्तनों को बन्धनों को; (मृणीहि) पूर्ण करके बाहर निकल । (त्वा) तुझे (दिव्या अशनिः) आकाश से गिरनेवाली, बिजुली घोर शस्त्र (मा वधीत्) विनाश न करे ।

आशृण्वन्तं यवं देवं यत्र त्वाच्छावदामसि ।
तदुच्छ्र्यस्व द्यौरिव समुद्र इवैध्यक्षितः ॥ २ ॥

भा०—(आशृण्वन्तं देवम्) हमारे कहे मनोरथों को सुनने वाले देवरूप (त्वां यवं) तुझ जौ, राष्ट्र, राजा को हम (यत्र) जहां (अच्छा-

[१४२]. १–'वृणीहि' इति सायणाभिमतः । 'मृणीहि' इति लडविगनुमतः ।
२–'तत्र त्वाच्छवदा' इति सायणाभिमतः पाठः ।

वदामसि) उत्तम रीति से बोने आदि का उपदेश करें या तेरी बड़ाई करें (तव) वहां २ तू (द्यौः इव) आकाश के समान (उच्छ्रयस्व) ऊंचा हो और (समुद्र इव) समुद्र के समान (अक्षितः एधि) अक्षय हो ।

अक्षितास्त उपसदोऽक्षिताः सन्तु राशयः ।
पृणन्तो अक्षिताः सन्त्वत्तारः सन्त्वक्षिताः ॥ ३ ॥

भा०—(ते उपसदः) तेरे ऊपर सदा निगरानी के लिये बैठनेवाले खेतिहर (अक्षिताः) कभी विनाश को प्राप्त न हों और (ते राशयः अक्षिताः सन्तु) तेरे ढेर भी कभी समाप्त न हों, अक्षय हों (पृणन्तः) घरों को तुझसे पूरने वाले गृहस्थ लोग भी (अक्षिताः सन्तु) अक्षय हों और (अत्तारः) तेरा भोजन करने वाले पुरुष भी (अक्षिताः सन्तु) कभी विनष्ट न हों । राष्ट्रं यवः ॥ तै० ३ । ९ । ७ । २ ॥ विड्वै यवः । श०॥१३।२।९।८॥ सैन्यान्यं वा एतदोषधीनां यद्यवाः ॥ ऐ० ८।१६॥

॥ इति त्रयोदशोऽनुवाकः ॥

[तत्राष्टादश सूक्तानि ऋचश्च चतुष्षष्टिः ।]



षष्ठं काण्डम् समाप्तम् ॥

षष्ठे काण्डेऽनुवाकाः स्युस्त्रयोदश, शतोत्तरम् ।
सूक्तानि द्वाचत्वारिंशत्, चतुः पञ्चाशदुत्तरम् ।
ऋचां पञ्चशतं प्रोक्तमाथर्वणविशारदैः ॥

वेदवस्वङ्कचन्द्रेऽब्दे वैक्रमेऽश्वयुजः सिते ।
चतुर्थ्यां च भृगौ काण्डं षष्ठमाथर्वणं गतम् ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालंकारमीमांसातीर्थविरुदोपशोभितश्रीमज्जयदेवशर्मणा विरचिते अथर्ववेदस्यालोकभाष्ये षष्ठं काण्डं समाप्तम् ।



॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदसंहिता

सप्तमं काण्डम्

[१] ब्रह्मज्ञानी पुरुष ।

ब्रह्मवर्चसकामोऽथर्वा ऋषिः । आत्मा देवता । १ त्रिष्टुप् । २ विराड्जगती । द्वयृचं सूक्तम् ।

धीती वा ये अनयन् वाचो अग्रं मनसा वा येऽवदन्नृतानि ।
तृतीयेन ब्रह्मणा वावृधानास्तुरीयेणामन्वत नाम धेनोः ॥१॥

(प्र०) ऋ० १०।७१।१॥ च० ४।१।१६॥५।४०।६॥

भा०—(ये वा) जो विद्वान् लोग (धीती) ध्यान, धारणा या अध्ययन द्वारा (वाचः) इस वाणी के (अग्रं) अग्र=उत्पत्ति, कारण, निदान उससे भी पूर्व विद्यमान उस के मूल स्वरूप आत्माको (अनयन्) प्राप्त करते हैं (ये वा) और जो (मनसा) अपनी मननशक्ति से (ऋतानि) सत्य ज्ञानों को प्राप्त करके (अवदन्) उपदेश करते हैं वे (तृतीयेन) परम, तीर्णतम (ब्रह्मणा) ब्रह्म=वेदज्ञान, सामगायन या ईश्वर के तीर्णतमरूप से (वावृधानाः) शक्ति और ज्ञान की वृद्धि करते हुए (तुरीयेण) चतुर्थ, वेद या ब्रह्म के

[१] १—(तृ०) 'ब्रह्मणा संविदाना' (च०) 'मन्वता' इति शां० श्रौ० सू० (द्वि०) 'ये वदेय न्नृतेन' (तृ०) 'तुर्येण' इति पैप्प० सं० ।

तुरीय अति सूक्ष्म, आनन्दमय स्वरूप से (धेनोः) उस समस्त विश्व को रसपान कराने वाले आनन्दमय ब्रह्म का (नाम) स्वरूप (अमन्वत) जान लेते हैं।

उपनिषद् में जैसे—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च' आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए। तभी तुरीय पद की प्राप्ति होती है। आत्मा की चार दशाएं हैं जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय इस का व्याख्यान माण्डूक्य उपनिषद् में देखिये।

स वे॑द पु॒त्रः पि॒तरं॒ स मा॒तरं॒ स सू॒नुर्भु॑व॒त् स भु॑व॒त् पुन॑र्म॒घः ।
स द्यामौ॑र्णो॒द॒न्तरि॑क्षं॒ स्वः स इ॒दं विश्व॑मभव॒त् स आभ॑वत् ॥२॥

भा०—(सः) वह आत्मा (पुत्रः) उस परमेश्वर का पुत्र होकर उस परम आत्मा को अपना (पितरं) पालक (मातरं) और माता के समान बीज धारक (वेद) जानता है। (सः) वह इस (सूनुः) देह में उत्पन्न (भुवत्) होता है और (सः) वही (पुनःमघः) बार २ अपने कर्म फल एवं ऐश्वर्य से सम्पन्न (भुवत्) हो जाता है। और (सः) वह परमात्मा, उत्तम पुरुष जो (द्याम्) द्यौः और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, मध्य आकाश और (स्वः) सुखमय, प्रकाशमय मोक्षपद को भी (और्णोत्) अपने वश किए हुए है (सः) वह (इदं विश्वम्) इस समस्त विश्व को (अभवत्) उत्पन्न करता है और (सः) वही (आभवत्) सब सामर्थ्य रूप से सर्वत्र व्यापक है। इसका विवरण देखो (श्वेताश्वतर उप० अ० ५ । ६ ।)



२—(तृ०) 'और्णोदन्तरिक्षं स सुवः स विश्वा भुवो अभवत्' इति तै० सं०। 'विश्वं भुवो भवत् स्वाभुवत्' इति पैप्प० सं०।

[२] ब्रह्मज्ञानी पुरुष ।

ब्रह्मवर्चसकामोऽथर्वा ऋषिः । आत्मा देवता । त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

'अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं मातुर्गर्भं पितुरसुं युवानम् ।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः ॥ १ ॥

भा०—(यः) जो विद्वान् (इमं) इस (यज्ञम्) यज्ञ=आत्मा को (मनसा) अपने मानस विचार द्वारा (अथर्वाणम्) अथर्वा—कूटस्थ, नित्य, (पितरम्) सब इन्द्रियों और प्राण सामर्थ्यों के पालक, (देवबन्धुम्) देव परमेश्वर के बन्धु अथवा देव इन्द्रियों के मूलकारण, (मातुःगर्भम्) माता के पेट में गर्भ रूप से प्रकट होने वाले और (पितुः) उत्पादक, बीजप्रद पिता के जीवन के अंश, (असुम्) प्राणस्वरूप, (युवानं) सदा नव, अजर अमर या देह इन्द्रिय और उसके सामर्थ्यों को मिलाने वाले या गर्भ में जो स्त्री से स्वयं मिथुनित होने वाले जीव का (चिकेत) पूर्ण ज्ञान कर लेता है ऐसा विद्वान् (नः) हमें भी (प्रवोचः) उस आत्मा का उपदेश करे (तम्) उसको (इह इह) इस इस देह में अर्थात् प्रत्येक देह में (ब्रवः) बतलावे ।

इस शरीर के आत्मा के साथ २ ब्रह्माण्ड व्यापी महान् आत्मा का वर्णन भी समझना चाहिए। इस की व्याख्या अथर्ववेदीय शिर-उपनिषद् में देखनी चाहिये ।

---

[३] अध्यात्म ज्ञान का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । आत्मा देवता । त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ।

अया विष्ठा जनयन् कर्वराणि स हि घृणिरुरुर्वराय गातुः ।

१—(प्र०) 'पितरं विश्वदेवं' (तृ० च०) 'अयं चिकेत मृतस्य धाम नित्यस्य राजः परिधीरपश्यत्' इति पैप्प० सं०

२—(तृ०) 'स प्रत्यैङ् गेत् धरुणे' इति पैप्प० सं०, (च०) 'स्वां यत् तन्वा

स प्रत्युदैद् धरुणं मध्वो अग्रं स्वयां तुन्वा/तन्वं/मैरयत ॥३॥

भा०—(सः) वह आत्मा (वि-स्था) नाना प्रकार से व्यापक (अया) इस प्रकृति के सहयोग से ही निश्चय से (कर्वराणि) नाना प्रकार के जगत् के सर्जन आदि कार्यों को (जनयन्) उत्पन्न करता रहता है। (सः) वही (धृणिः) प्रकाशमान (वराय) वरण करने वाले जीव के लिये (उरुः गातुः) महान् बड़ाभारी, अति श्रेष्ठ गन्तव्य, परम मार्ग है इसलिए (सः) वह जीव इस समस्त (मध्वः) संसार के (अग्रं) सर्व श्रेष्ठ (धरुणं) धारक परमेश्वर के (प्रति-उत्-ऐत्) प्रति गमन करता है जो (स्वया) अपनी (तन्वा) सूक्ष्म शक्ति से उसके (तन्वं) स्वरूप को (ऐरयत) प्रेरित करता है। अपने प्रति आकर्षित करता है।

'तमेव विदित्वा अति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय। यजुः०॥



[४] आत्मज्ञान का उपदेश।

अथर्वा ऋषिः। वायुर्देवता। त्रिष्टुप्। एकर्चं सूक्तम्।

एकया च दुशभिश्चा सुहुते द्वाभ्यांमिष्टये विंशत्या च।
तिसृभिश्च वहसे त्रिंशता च वियुग्भिर्वाय इह ता वि मुञ्च॥१॥

भा०—हे (वायो) देह के प्रेरक, सर्वधारक वायो! आत्मन्! हे (सु-हुते) उत्तम रूप से अपने को देह में अर्पण करने वाले अथवा अपने को योग द्वारा इष्ट देव में समर्पण करने वाले आत्मन्! तू (एकया) एक चिति शक्ति से और (दशभिः) दश प्राणों से इस देह को (वह) धारण कर और इसी प्रकार (द्वाभ्यां) दो प्राण और अपान और (विंशत्या च) उनकी

मैरयत' तै० सं०।

१–(प्र०) 'स्वभूते' (च०) 'नियुद्भि' (द्वि०) 'विंशती' (च०) 'वायविह' इति यजुः 'वियुद्भिः' इति पैप्प० सं०।

वीस अर्थात् १० सूक्ष्म, आभ्यन्तर और १० स्थूल, बाह्य शक्तियों से (इष्टये) अपने इष्टि, इच्छापूर्ति के लिये इस देह को धारण करता है और इसी प्रकार (त्रिंशता) तीस और (तिसृभिः) तीन=३३ (वियुग्भिः) विशेषरूप से जुड़ी दिव्य शक्तियों से इस देह को धारण करता है। तू उन सब बन्धनकारिणी प्रवृत्तियों को (इह) इस लोक में (विमुञ्च) त्याग दे, शिथिल कर दे और मुक्त हो।

पञ्चम सूक्त के भी आत्म देवता के होने से मध्य में पठित चतुर्थ भी यह आत्मदेवताक है 'वायु' तो केवल उस प्राणात्मा का बोधक लिंग-मात्र है।

महान् आत्मा के पक्ष में दश दिशाएं, एक महान् प्रकृति, दो आत्मा, या महान् और अहंकार, २० वैकारिक तत्व, पांच स्थूल भूत, पांच सूक्ष्म भूत, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय अथवा ३३ देव, ८ वसु, ११ रुद्र, द्वादश आदित्य इन्द्र और प्रजापति इनका विशेष प्रकार से योग होकर संसार का महान् यज्ञ चल रहा है। प्रलय काल में वही सूत्रात्मा वायु, परमेश्वर उनको नियुक्त करता है।



[५] आत्मज्ञान का उपदेश।

अथर्वा ऋषिः। आत्मा देवता। त्रिष्टुप्। पञ्चर्चं सूक्तम्।

यज्ञेन॑ यज्ञम॑यजन्त दे॒वास्तानि॒ धर्मा॑णि प्रथ॒मान्या॑सन्।
ते ह॒ नाकं॑ महि॒मानः॑ सचन्त॒ यत्र॒ पूर्वे॑ सा॒ध्याः सन्ति॑ दे॒वाः॥१॥

५—१ ऋग्वेदे दीर्घतमा ऋषिः। साध्याः देवताः। तत्रैव पुरुषसूक्तपाठे नारायण ऋषिः। पुरुषो देवता। यजुषि नारायण ऋषिः। पुरुषो देवता। पुरुष सूक्तस्य नारायण ऋषिः पुरुषो देवता अनुष्टुप्छन्दः। मोक्षे विनियोगः

भा०—(देवाः) देवगण, विद्वान् पुरुष (यज्ञेन) यज्ञ, समाधिरूप आत्मयज्ञ से (यज्ञम्) सब के पूजनीय परम आत्मा को (अयजन्त) उपासना करते हैं। (तानि) वे ही (प्रथमानि) सब से उत्कृष्ट (धर्माणि) मोक्ष प्राप्ति और अभ्युदय के साधन (आसन्) हैं। (ते) वे इन योग समाधि के साधना करने हारे योगिजन (महिमानः) महत्व गुण को प्राप्त करके (नाकम्) दुःखरहित मोक्षाख्य परम पुरुष को (सचन्ते) प्राप्त होते हैं। (यत्र) जहां (पूर्वे) पूर्व मुक्त हुए (साध्याः) साधना सिद्ध (देवाः) ज्योतिर्मय, मुक्त पुरुष (सन्ति) विराजते हैं।

'यज्ञेन'=स्तुतिप्रार्थनोपासनारोग्या पूजनेनेति इति दयानन्दः। अग्निना ज्ञानरूपेण यज्ञेनेति सायणः। ज्योतिष्टोमाख्येन यज्ञेन अथवा यज्ञेन समाधिना इति उव्वटः। मानसेन संकल्पेनेति महीधरः। 'यज्ञम्' होमाधारं आहवनीयमग्निम् विष्णुम् इति वा सायणः। पूजनीयं परमेश्वरं इति दयानन्दः। यज्ञपुरुषं ज्ञानरूपं नारायणाख्यम् इति उव्वटमहीधरौ। 'देवाः'=कर्मणा देवत्वं प्राप्ताः यजमाना इति सायणः, विद्वांसः इति दयानन्दः। इन्द्रादय योगिनो वेति उव्वटः। प्रजापति-प्राण-रूपा इति महीधरः। 'धर्माणि' अग्निसाधनानि कर्माणि इति सायणः। धर्माणि कर्त्तव्यानि इति दयानन्दः। यजनरूपाणि समाधिरूपाणि इति उव्वटः। जगद्रूपविकाराणां धारकाणीति महीधरः। 'साध्याः'= प्राणाभिमानिनो देवाः इति सायणः। प्राणाः वै साध्या देवा इति शतपथः। छन्दोभिमानिदेवा आदित्या अंगिरसश्चेति ऐतरेयः। पूर्वे सुराः विराड्-उपाधि साधकाः इति महीधरः। साधनवन्तः कृतसाधना

अस्य भाष्यं शौनको नाम ऋषिरकरोत्। प्रथमं विच्छेदः क्रियाकारकसम्बन्धः समासः प्रमेयार्थव्याख्येति सर्वमेतज्जनकाय मोक्षार्थं कथयामासेति उव्वटः। नारायणपुरुषदृष्टा जगद् बीजपुरुषदेवत्या षोडश ऋचः इति महीधरः। नारायण ऋषिः, राजेश्वरो देवता इति अजमेरमुद्रितायां यजुःसंहितायाम्।

विद्वांस इति दयानन्दः । अहंगृहोपासकाः, यद्वा साध्यं ज्ञानेन प्राप्यं वस्तु येषां आत्मत्वेनास्ति इति सायणः ।

'नाकं=दुःखेन यन्न संभिन्नं नच ग्रस्तमनन्तरम् ॥
अभिलाषोपनीतं यत् सुखं स्वर्गपदास्पदम् ।
"यत्र देवाः अमृतमानशानाः" इति श्रुतिः ॥

यज्ञो बभूव स आ बभूव स प्र जज्ञे स उ वावृधे पुनः ।
स देवानामधिपतिर्बभूव सो अस्मासु द्रविणमा दधातु ॥ २ ॥

भा०—(यज्ञः) वह सब का परम पूजनीय परमेश्वर, 'यज्ञ' ही (बभूव) सदा काल से रहा है । (सः आ बभूव) वह सर्वत्र व्यापक और समर्थ है । इसलिये (सः प्र जज्ञे) वह समस्त सृष्टि को उत्पन्न करता है । (स उ) वह ही (पुनः) बार २ (वावृधे) इसका प्रलय कर इसका विनाश करता है । (सः) वह (देवानां) प्रकृति और अहं, महत्, पंच-भूतादि वैकारिक दिव्य पदार्थों का (अधिपतिः) अध्यक्ष, स्वामी, उनका मालिक और पालक (बभूव) है, (सः) वह (अस्मासु) हम में (द्रविणम्) ज्ञान और आत्मसामर्थ्य को (आ दधातु) धारण करावे ।

यद् देवा देवान् हविषा यजन्तामर्त्यान् मनसा मर्त्येन ।
मदेम तत्र परमे व्योऽमन् पश्येम तदुदितौ सूर्यस्य ॥ ३ ॥

भा०—(देवाः) देव, ब्रह्म के जिज्ञासु और ज्ञानी पुरुष (यत्) जिस परम पुरुष में निमग्न होकर (मनसा) मनन शक्ति से (अमर्त्यान्) मरण धर्म से रहित, अविनाशी, सदा चेतन, (देवान्) प्रकाशकरूप चेतन प्राणों या इन्द्रियों को (हविषा) मानस संकल्प या आत्म-

२-(द्वि) 'स वावृधे' (च) 'सोऽस्मानधिपतिं करोतु' तै० सं० इति तत्रैव 'वयं स्याम पतयो रयीणाम्' इति अधिक पाठः । (द्वि०) 'स पृथिव्या अधिप तिर्बभूव' इति पैप्प सं० ।

सामर्थ्य से (अयजन्त) पूजा करते हैं, उनको बलवान् करते या अपने में संगत करते उन पर वश करते हैं (तत्र) उस (परमे) परम, उत्कृष्ट (व्योमन्) विशेष रक्षास्थान, अभय, शरणरूप या आकाश के समान महान् और निःसंग परम ब्रह्म में हम (मदेम) आनन्द प्राप्त करें और (सूर्यस्य) सबके प्रेरक और प्रकाशक उस महान् सूर्य के (उदितौ) उदय होने पर (तत्) उस परम प्रकाश को (पश्येम) सदा दर्शन करें। साधक की यह वह दशा है जिसमें वह कहता है:—हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।" इत्यादि। ईश० उप० ॥ सायणने इस मन्त्र को अध्यात्म में भी लगाया है।

यत् पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अतन्वत।
अस्ति नु तस्मादोजीयो यद् विहव्येनेजिरे ॥ ४ ॥

यजु० ३१ । १४ । ऋ० द्वि० ऋ० १० । ९० । ६ प्र० द्वि०॥

भा०—(यद्) क्योंकि (देवाः) आत्मज्ञान से प्रकाशवान् पुरुष (पुरुषेण) पुरुष, इस देह पुरी में निवास करने वाले आत्मारूप (हविषा) हवि=ज्ञान सामर्थ्य द्वारा (यज्ञं) उस परम पूजनीय परमेश्वर की उपासना (अतन्वत) करते हैं, उसका वर्णन किया करते हैं और (यत्) क्योंकि (विहव्येन) विशेष स्तुति, प्रार्थनोपासना द्वारा या बाह्य चरु आदि से अतिरिक्त केवल समाधि या ज्ञानाभ्यास द्वारा (ईजिरे) उसकी संगति करते हैं (तस्मात्) इसलिए ही यह अध्यात्म यज्ञ (नु) निश्चय से (ओजीयः अस्ति) अधिक ओजस्वी, बलशाली होता है। विद्वान् लोग अपने इस आत्मा के अनुसार विश्वव्यापक प्रभु के विराड् देह की कल्पना करके वर्णन किया करते हैं और ध्यानयोग से उसकी उपासना करते हैं इससे वह उपासना बड़ी फलदायक होती है।

मुग्धा देवा उत शुना यजन्तोत गोरङ्गैः पुरुधा यजन्त।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः॥ ५॥

भा०—(मुग्धाः) मोह में पड़कर (देवाः) विद्वान् पुरुष भी (इमं) इस (यज्ञं) यज्ञमय परम पुरुष को (शुना) गतिशील प्राण से (उत) और (गोः, अङ्गैः) गो=चिति शक्ति के अङ्गरूप ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों से या (गोः, अङ्गैः) गौ वेदवाणी के अंग-रूप योगादि दार्शनिक उपायों या वेदमन्त्रों से (पुरुधा) नाना प्रकारों से (अयजन्त) उपासना करते हैं, परन्तु (यः) जो पहुँचा हुआ परमज्ञानी (इयं यज्ञं) इस परम पूजनीय प्रभु को (मनसा चिकेत) अपने मनन साधन, आभ्यन्तर साधन से (चिकेत) ज्ञान कर लेता है वह (नः) हमें (प्रवोचः) उस उत्कृष्ट ज्ञान का उपदेश करे और वही विद्वान् (तम्) उस परम पुरुष के विषय में (इह इह) इन इन शंकास्पद स्थलों में या मोह की दशाओं में (ब्रवः) उपदेश करे। सायण और सायण के पीछे चलने वालों के मत में— 'देवताओं ने मूढ़ होकर कुत्ता और गाय के टुकड़ों से यज्ञ किया।' इत्यादि अर्थ है सो असंगत है। क्योंकि इस प्रकरण में यज्ञ की उपासना के लिये मन को मुख्य साधन बताया है। इसलिये प्राण और चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा केवल प्राणाभ्यास और त्राटकादि धारणा साधनों को गौण बतलाया है। इससे यही अभिप्रेत है। जब देवता आत्मा है तो इसकी साधना में कुत्ते और गाय के मांस आदि का लेना मूर्खता है।



[६ (७)] आत्मज्ञान का उपदेश।

अथर्व-ऋषिः। यजुर्वेदे १ प्रजापतिर्ऋषिः, २ वामदेवः। ऋग्वदे गोतमो।

५. 'मूर्ध्ना देवाः' इति विक्टरहेनरीनामकहरिवर्षीयस्य मतेन पाठभेद इष्टः।

राहूगण ऋषिः । अदितिर्देवता । त्रिष्टुप् । १ भुरिक् । ३, ४ विराड्-जगत्यौ ।
चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

अदि॑ति॒र्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्ष॒मदि॑तिर्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः ।
विश्वे॑ दे॒वा अदि॑तिः॒ पञ्च॒ जना॒ अदि॑तिर्जा॒तमदि॑ति॒र्जनि॑त्वम् ॥ १ ॥

ऋ० १।८९।१०॥ यजु० २५।२३॥

भा०—(द्यौः) द्यौलोक (अदितिः) अदिति, अदीन, अखंडित, अविनाशी प्रकृति की बनी है । (अन्तरिक्षम् अदितिः) यह अन्तरिक्ष भी (अदितिः) उसी अविनाशी प्रकृति का बना है । (माता) सब पदार्थों को बनाने वाली उनकी माता यह पृथिवी भी (अदितिः) वह प्रकृति ही है । (सः पिता) इस संसार का पालन करने वाला सूर्य भी (अदितिः) प्राकृतिक है, (सः पुत्रः) वह पुत्र अर्थात् पृथिवी सूर्य से उत्पन्न मेघ आदि भी प्रकृति के बने हैं । (विश्वेदेवाः अदितिः) समस्त दिव्य शक्तियों से युक्त पदार्थ सूर्य चन्द्र आदि अथवा पृथिवी, अप् , तेज, वायु, आकाश आदि भूत या महत् आदि विकार सब (अदितिः) प्रकृति ही हैं (पंचजनाः अदितिः) पंचजन=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद अथवा देव, मनुष्य, गन्धर्व, अप्सरस्, सर्प और पितर ये सब जीव भी प्रकृति गुणों के भेद से उत्पन्न होते हैं (जातम्)जो पदार्थ उत्पन्न होने वाला है सब (अदितिः) प्रकृति ही है (जनित्वम्) अर्थात् उत्पत्ति का आधार ही (अदितिः) प्रकृति है । अथवा अविनाशशील परमात्मशक्ति को 'अदिति' कहा गया है । यह द्यौ, अन्तरिक्ष, माता, पिता, पुत्र, पंचभूत, पञ्चजन, संसार इत्यादि सब पदार्थ उसी ब्रह्म की त्रिगुण शक्ति का विलास है ।

---

(६) निर्णयसागरमुद्रिते सायणभाष्ये शंकरपाण्डुरंगेनापि द्व्यृचं सूक्तमेवाभिमतम् । अथर्ववेदीयसर्वानुक्रमणीच 'षष्ठं द्व्यृचं' इति पठति । परम ब्रमेरमुद्रितसंहितायां सूक्तमिदं चतुर्ऋचं पठ्यते पञ्चपटलिकानुसारम् ।

मुहीमू षु मातरं सुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हुवामहे ।
तुविक्षत्रामजरन्तीमुरूचीं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ॥ २ ॥

यजु० २१ । ५ ॥

भा०—ब्रह्म की ज्ञानमयी वेदमयी नौका या भवतारिणी शक्ति का वर्णन करते हैं । (सुव्रतानाम्) उत्तम पुण्यकर्मों की (महीम्) पूजनीय, (मातरम्) उत्पन्न करने वाली, (ऋतस्य पत्नीम्) महत्, यज्ञ, सत्य और ज्ञान का पालन करनेवाली, (तुविक्षत्राम्) बहुत प्रकार से क्षति से बचाने वाली, बहुत धन और बल से युक्त, (सुप्रणीतिम्) उत्तम रूप से व्यवस्था करने और शुभ मार्ग में ले जाने वाली, (सुशर्माणम्) शुभ सुख देनेहारी, (उरूचीम्) विशाल ब्रह्म में व्यापक, (अजरन्तीम्) नित्य, अविनश्वर, (अदितिम्) अदीन, सदा नवीन, अखण्डित सत्यमयी वेदवाणी अदिति को हम अपनी (अवसे) रक्षा के निमित्त (हवामहे) स्मरण करते हैं उसका मनन, निदिध्यासन करते हैं । मनु ने प्रलयकाल में सब जीवों के बीजों की रक्षा के निमित्त जिस वेदमयी नौका का आश्रय लिया था उसका वर्णन मत्स्यपुराण में दर्शनीय है ।

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसो अस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये ॥ ३ ॥

ऋ० १०।६३।१०॥ यजु० २१।६॥

भा०—उसीका वर्णन और भी करते हैं । (सुत्रामाणम्) उत्तम रीति से सब का पालन करनेवाली, (पृथिवीम्) विशाल (द्याम्) प्रकाश-स्वरूप (अनेहसं) किसी प्रकार का आघात न पहुँचाने वाली, (सुशर्माणम्) सब जीवों को सुखशान्ति, शरण देनेवाली, (सुप्रणीतिम्)

२—'हुवेम' इति यजु० ।
३—ऋग्वेदे गयप्लात ऋषिः ।(तृ०) 'अनागसम्' इति ऋ० ।

उत्तम रूप से विधान की गई या शुभ मार्ग में ले जाने वाली, (दैवीं) देव ईश्वर की बनाई हुई (सु-अरित्राम्) उत्तम पुण्यकर्म रूप पतवारों वाली, (अस्रवन्तीम्) दोपादि छिद्रों से रहित, कभी न डूबने वाली, (नावम्) संसार के पार उतारने में समर्थ वेदमयी या यज्ञमयी ज्ञान-नौका में हम (अनागसः) निष्पाप (स्वस्तये) अपने ही उत्तम कल्याण साधन के लिए (आरुहेम) सदा चढ़ें । अर्थात् अपने जीवनों को सफल करने के लिये वेद का आश्रय लें। उसकी व्यवस्था में चलें।

वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदितिं नाम वचसा करामहे ।
यस्या उपस्थ उर्व१न्तरिक्षं सा नः शर्म त्रिवरूथं नि यच्छात् ॥४॥

यजु० ९।५॥

भा०—(वाजस्य) अन्न के (प्रसवे) उत्पन्न करने के कार्य में (महीम्) विशाल (अदितिम्) अखण्डित, समस्थलवाली (महीम्) पृथिवी को (वचसा) वेदोपदेश के अनुसार (नाम) ही (करामहे) तैयार करते हैं। (यस्याः) जिसकी (उपस्थे) गोद में (उरु) यह विशाल (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष या मेघ है। (सा) वह (नः) हमें (त्रिवरूथम्) तीन मंजिला (शर्म) गृह (नियच्छात्) बनाने के लिये आज्ञा दे। अध्यात्म में—वाज=ज्ञानबल के उत्पन्न करने में हम उस परम महती अखण्ड ब्रह्मशक्ति की वाणी द्वारा स्तुति करते हैं जिसके आश्रय पर यह विशाल अन्तरिक्ष खड़ा है। वह हमें (त्रिवरूथं) तीनों तापों से बचाने वाला मोक्ष सुख प्रदान करे।



४-(च०) 'सानो देवी सुहवा शर्म यच्छतु' इति पैप्प० सं० ।

१—'यस्यामिदं विश्वं भुवनमाविवेश तस्यां नो देवः सविता धर्म साविषत् ।' इति उत्तरार्धे पाठभेदः यजु० ॥

[७ (८)] आत्मज्ञान का उपदेश

अथर्वा ऋषिः । अदितिर्देवता । आर्षी जगती । एकर्चं सूक्तम् ॥

दितेः पुत्राणामदितेरकारिषमव देवानां बृहतामनर्मणाम् ।
तेषां हि धाम गभिषक्समुद्रियं नैनान् नमसा परो अस्ति कश्चन ॥१॥

भा०—मैं परमात्मा (दितेः) दिति के (पुत्राणाम्) पुत्रों के स्थान को (अदितेः) अखण्डित, अविनाशी चितिशक्ति के पुत्र (बृहताम्) बड़े और (अनर्मणाम्) अव्यथित, अक्षत शरीर, अजर (देवानां) देवों, प्राणरूप इन्द्रिय सामर्थ्यों के (अव अकारिषम्) नीचे, अधीन करता हूँ। क्योंकि (तेषाम्) उनका (धाम) तेज (समुद्रियम्) समुद्र-आत्मा से उत्पन्न होने वाला होने के कारण (गभिषक्) अति गम्भीर है। (एनान्) इनके प्रति (कश्चन) कोई (नमसा) नमन करने वाले अन्न सामर्थ्य से युक्त (परः न) दूसरा नहीं है। अथवा (एनान् पर, नमसा कश्चन न) उस परम आत्मा से बढ़ कर शक्तिशाली कोई नहीं है। कश्यप की दो स्त्रियां दिति और अदिति। दिति के पुत्र दैत्य और अदिति के पुत्र आदित्य, सुर असुर, देव दानवादि के कथानक आलंकारिक हैं। कश्यप, ईश्वर की दो शक्तियां हैं दिति और अदिति, जड़, प्रकृति और चिति शक्ति। जड़-प्रकृति से अचेतन पदार्थ उत्पन्न होते हैं, चिति शक्ति के पुत्र जीव हैं। दिति=प्रकृति के पुत्र जड़ पदार्थ=देहों को परमात्मा ने अदिति-चिति के पुत्र चेतनामय जीवों के अधीन किया। ईश्वर की समष्टि चितिशक्ति समस्त

(द्वि)—'अकारिषमुरुशर्मणाम् । येषां नामानि विहितानिधामशश्चित्तै यर्जन्ति भुवनाय जीवसे।' इति मै० सं०। 'अकारिषम् महाशर्मणां महतामनृम्णाम् त्वेषा युधामि गार्भिणत् समुद्रं नहिषां ये अपस परोस्ति किंचन इति पैप्प० सं०

(च०)'नैनां मनसा' इति ह्विटनिकामितः (प्र०) 'अकार्षम्' इति क्वचित्।

लोकों को प्रेरित करती है । वह सब पदार्थों को गति देती है वही 'फोर्स' परम शक्ति है । उसके अधीन सूर्य, चन्द्र आदि समस्त जड़ पदार्थ हैं उनका धाम=धारण करने वाला वल यह महासमुद्र, महान् आत्मा, परमेश्वर है वह महान् अथवा अनन्त शक्ति का भंडार है उससे परे कोई भी अधिक बलशाली नहीं है ।



[८ (९)] उत्तम मार्गदर्शक ।

उपरिबभ्रव ऋषिः । बृहस्पतिर्देवता । त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

भद्रादधि श्रेयः प्रेहि बृहस्पतिः पुर एता ते अस्तु ।
अथेममस्या वर आ पृथिव्या आरे शत्रुं कृणुहि सर्ववीरम् ॥१॥

भा०—हे पुरुष ! तू (भद्रात्) शारीरिक और इह लोक के सुख से (अधि) भी ऊपर विद्यमान (श्रेयः) परम कल्याण, श्रेष्ठतम पद को (प्रइहि) प्राप्त हो । (बृहस्पतिः) समस्त महान् लोकों का स्वामी, वेद वाणी का विद्वान् पथदर्शक (ते) तेरे (पुरः एता अस्तु) सामने, आगे २ चलने वाला हो । वह तुझे सदा उत्तम २ मार्ग दर्शावे । (अथ) और (इमम्) इस जीव को (अस्याः) इस (पृथिव्याः) पृथिवी के (वरे) उत्तम, वरण करने योग्य, श्रेष्ठ, शान्तियुक्त, परम उच्च स्थान पर (सर्व-वीरम्) सब स्थानों में और प्रजाओं में वीर–सामर्थ्यवान् और (आरे-शत्रुम्) शत्रुओं से रहित, निर्भय (कृणुहि) कर ।

एतावद्वा इदं सर्वं यावदिमे च लोका दिशश्च । श० ६ । ५ । २ । २२ ॥
एतावद्वा इदं सर्वं यावद् ब्रह्मक्षत्रं विट् । श० ४ । २ । २ । १४ ॥



[८] १—'भद्रादभि', (तृ० च०) 'अथेमवस्य वर आ पृथिव्या आरे शत्रून् कृणुहि सर्ववीरः ।' तै० सं० ।

[९ (१०)] उत्तम मार्गदर्शक, पति और पालक से प्रार्थना ।

उपरिबभ्रव ऋषिः, ऋग्वेदे देवश्रवा यामायन ऋषिः । पूषा देवता ।
१,२ त्रिष्टुभौ । ३ त्रिपदा आर्षी गायत्री । ४ अनुष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

प्रपथे पथामजनिष्ट पूषा प्रपथे दिवः प्रपथे पृथिव्याः ।
उभे अभि प्रियतमे सधस्थे आ च परा च चरति प्रजानन् ॥१॥

ऋ० १० ॥ १७ ॥ ६ ॥

भा०—(पूषा) समस्त संसार का पोषक परमात्मा सूर्य के समान (पथाम्) समस्त मार्गों या लोकों के (प्रपथे) उत्कृष्ट, उच्चतर मार्ग में और (दिवः प्रपथे) द्यौ=सूर्य के मार्ग में और (पृथिव्याः प्रपथे) पृथिवी के मार्ग में (अजनिष्ट) विद्यमान है (प्रियतमे) अत्यन्त प्रियतम (सधस्थे) एक ही स्थान पर विद्यमान द्यौ और पृथिवी दोनों के (अभि) सन्मुख उन दोनों को (प्रजानन्) जानता हुआ (आ च चरति परा च) उनके पास और दूर सर्वत्र व्यापक है ।

पूषेमा आशा अनु वेद सर्वाः सो अस्माँ अभयतमेन नेषत् ।
स्वस्तिदा आघृणिः सर्ववीरोऽप्रयुच्छन् पुर एतु प्रजानन् ॥ २ ॥

ऋ० १० । १७ । ५ ॥

भा०—(पूषा) सब का परिपोषण करने वाला परमात्मा (इमाः, सर्वाः, आशाः) इन सब दिशाओं को (अनुवेद) बराबर जानता है । अतः (सः) वह (अस्मान्) हमें (अभयतमेन) सब से अधिक भय रहित, कल्याणकारी मार्गसे (नेषत्) लेजाय । वह परमात्मा (स्वस्तिदाः)

१—'आरे । शत्रुम्' इति सायणाभिमतः पदच्छेदः ।

(द्वि०) 'मेषन्' इति मै० सं० । (त०) 'आघृणीः' (च०) 'प्रविद्वान्' इति तै० आ० ।

सब प्रकार कल्याण मय पदार्थों का देने वाला (आघृणिः) सब प्रकार से प्रकाशमान् (सर्ववीरः) सब स्थानों में और सब से अधिक वीर, वीर्यवान्, सामर्थ्यवान्, (प्रजानन्) सब बातों का जानने हारा, (अप्रयुच्छन्) कभी न प्रमाद करता हुआ (पुरः एतु) हमारे आगे २ मार्गदर्शक हो।

मार्गदर्शक विद्वान् को भी इसी प्रकार का होना चाहिये वह सब दिशाओं के देश जाने, अपने स्वामी का कल्याण करे हृदय में वीर और ज्ञानी और प्रमाद रहित हो।

पूषन् तव व्रते व॒यं न रि॑ष्येम क॒दा च॒न।
स्तो॒तार॑स्त इ॒ह स्म॑सि ॥ ३ ॥

ऋ० ६ । ५४ । ९ ॥ यजु० ३४ । ४१ ॥

भा०—हे पूषन्! सब के परिपोषक प्रभो! (वयं) हम (तव व्रते) तेरे उपासना कार्य में (कदा चन) कभी (न) न (रिष्येम) विनष्ट हों। हम (इह) यहां (ते) तेरे सदा (स्तोतारः) सत्य गुणों का वर्णन करते (स्मसि) रहें।

परि॑ पू॒षा प॒रस्ता॒द्धस्तं॑ दधातु॒ दक्षि॑णम्।
पुन॑र्नो न॒ष्टमाज॑तु सं न॒ष्टेन॑ गमेमहि ॥ ४ ॥

ऋ० ६।५४।१०।

भा०—(पूषा) परिपोषक परमात्मा (परस्तात्) दूर दूर तक (दक्षिणम्) कार्य कुशल दायें हाथ के समान बलवान् (हस्तं) अपना हाथ (परिदधातु) हमें दे। जिससे हम सब ऐश्वर्य प्राप्त करें और (नः) हमारा (नष्टं) विनष्ट पदार्थ (नः) हमें (पुनः) फिर (आजतु) प्राप्त हो। हम (नष्टेन) विनष्ट पदार्थ से पुनः (सं गमेमहि) संगति लाभ करें।

२–(प्र०) 'पुरस्तात्' इति ऋ०।

पूषादेवताक मन्त्रों का अर्थ हमने परमात्म-परक किया है। परन्तु पूषा विशां विट्पतिः । तै० २ । ५ । ७।४ ॥ पूषा वै पथीनामधिपतिः । श० १३ । ४ । १ । १४ ॥ पूषा भगं भगपतिः । श० ११ । ४ । ३ ।१५॥ पथ्या पूष्णः पत्नी । गो० उ० २ । ९ ॥ योषा वै सरस्वती वृषा पूषा । श० २ । ५ । १ । ११ ॥ पूषा भागदुघः अशनं पाणिभ्यामुपनिधाता । श० । ११ । १ । २ । १७ इत्यादि प्रमाणों से राजा, राष्ट्र के सब मार्गों पर चुंगी संग्रह करनेवाला, राष्ट्र का अधिकारी, खज़ानची, अन्नपति, गृहपति और राष्ट्र का कर संग्रहाध्यक्ष ये भी 'पूषा' कहाते हैं। जिनमें गृहपति के पक्ष में यहाँ निम्न-लिखित प्रकार से मन्त्रों के अर्थ जानने चाहियें। स्त्री अपने गृहपति को कहती है—

१—(पूषा पथाम् प्रपथे अजनिष्ट) मेरा पोषक पति सब मार्गों से उत्तम मार्ग में रहे। वह (दिवः प्रपथे, पृथिव्याः प्रपथे) द्यौ और पृथिवी, अमुक लोक और इस लोक दोनों में उत्तम मार्ग में चलें। (उभे प्रियतमे सधस्थे अभि) दोनों सहचारी प्रियतम स्त्री-पुरुष के अभि) सम्बन्ध को (प्रजानन्) अच्छी प्रकार जानता हुआ (आ च परा च चरति) दूर और समीप में विचरे अर्थात् सर्वत्र पति अपनी स्त्री के संग कभी पति-पत्नी के सम्बन्ध को विच्छेद न करे।

२—(पूषा इमाः सर्वा आशाः अनुवेद) मेरा पति मेरी इन सब उत्तम इच्छाओं को अपने अनुकूल जाने है। (सः अस्मान् अभयतमेन नेषत्) वह हमें सब से अधिक भयरहित मार्ग से जीवनपथ पर ले चले। (स्वस्तिदाः आघृणिः सर्ववीरः प्रजानन् अप्रयुच्छन् पुरः एतु) वह कल्याणकारी, तेजस्वी, सर्वत्र वीर, विद्वान्, अप्रमादी होकर मेरे आगे आगे चले।

३—(पूषन् तव व्रते वयं न रिष्येम कदाचन) हे पते ! तेरे पाति-

अत्य में हम कभी अपराध न करें। हम तेरे ही यथार्थ गुणों का वर्णन करने वाले हों।

४—(पूषा) पति (दक्षिणं हस्तं परिदधातु) मेरा दायां हाथ ग्रहण करे। मेरा दायां अंग बने। (नः नष्टं पुनः आजतु) हमारा खोया हुआ आधा भाग पुनः प्राप्त हो। (नष्टेन सं गमेहि) हम अपने पुनः प्राप्त आधे खोये हुये भाग से मिलकर एक होकर गृहस्थ का पालन करें। प्रजापति ने अपने को दो भागों में किया आधे से स्त्री और आधे से पुरुष, इत्यादि उपाख्यान मनु और शतपथ में कई रूप से आया है।



[१० (११)] सरस्वती की उपासना।

शौनक ऋषिः। ऋग्वेदे दीर्घतमा ऋषिः। सरस्वती देवता। त्रिष्टुप्।
एकर्चं सूक्तम्।

यस्ते॒ स्तनः॑ शश॒युर्यो म॑यो॒भूर्यः॑ सुम्न॒युः सु॒हवो॒ यः सु॒दत्रः॑।
येन॒ विश्वा॒ पुष्य॑सि॒ वार्या॑णि॒ सर॑स्वति॒ तमि॒ह धात॑वे कः॥ १॥

ऋ० १। ६४। ४९॥ यजु० ३। ५॥

भा०—हे (सरस्वति) मातः! वाणि अथवा मातः द्यौः! (यः) जो (ते) तेरा (स्तनः) स्तन या शब्द करने वाला गर्जनशील मेघ (शशयुः) अत्यन्त शान्तिदायक, अथवा अतिगूढ रहस्यमय है, (यः मयोभूः) जो सुखका उत्पत्ति स्थान है, (यः सुम्नयुः) जो शुभ मनन=ज्ञानका उत्पादक अथवा सुम्न—सुषुम्ना में योग समाधि का जनक है (यः सुहवः) जो उत्तम रीति से स्मरण करने योग्य और (सुदत्रः) उत्तम दाता है, (येन) जिससे तू (विश्वा वार्याणि) समस्त वरण करने योग्य उत्तम ज्ञानप्रद पदार्थों, अन्नों और ज्ञानियों को, बालकों को, माता के समान (पुष्यसि) पुष्ट करती है। हे सरस्वति! वेदमातः! (तम्) उस स्तन

को (इह) इस लोक में या इस गुरुगृह में (धातवे) हमें ज्ञान-रस पान करने के लिये (कः) हमारे प्रति कर । यज्ञ में गायें का दुग्ध इसी मन्त्र से दुहा जाता है ।



[११ (१२)] सरस्वती की उपासना ।

शौनक ऋषिः । सरस्वती देवता । पर्जन्य इति सायणः । त्रिष्टुप् ।

एकर्चं सूक्तम् ।

यस्ते पृथु स्तनयित्नुर्य ऋष्वो दैवः केतुर्विश्वमाभूषतीदम् ।
मा नो वधीर्विद्युता देव सस्यं मोत वधी रश्मिभिः सूर्यस्य ॥१॥

भा०—हे सरस्वति ! (यः) जो (ते) तेरा (पृथुः) अति विस्तृत (स्तनयित्नुः) गर्जनशील और जो (ऋष्वः) हिंसा-जनक आघातकारी (दैवः) प्रकाशमान (केतुः) ध्वजा के समान विद्युत् और सूर्य (इदम्) इस समस्त (विश्वम्) संसार को (आ-भूषति) सुशोभित करता है, हे देव ! तू उस (विद्युता) विशेष दीप्ति युक्त विद्युत् वज्र से (नः) हमें (मा वधीः) मत मार । (उत) और उससे (सस्यं मा वधीः) हमारे खेत के धान को भी मत मार, और इसी प्रकार (सूर्यस्य रश्मिभिः) सूर्य की तीव्र किरणों से भी हमें न मार और हमारे धान्यों, खेतियों को न मार । पुरुषों को 'सन् स्ट्रोक' न हो और खेती सूख न जाय ।

यत् स्फूर्जयन् वाचमिव वदन् दहति तदस्य अग्नेः सारस्वतं रूपम् गो० ३ । ४ ॥ सरस्वतीति तद् द्वितीयं वज्ररूपम् । कौ० १२ । २१ ।

[११] १–'रुष्व', इति सायणाभिमतः ।

मेघका गर्जन और विद्युद्विलास यह भी अग्नि का सारस्वत रूप है सरस्वती वज्रका द्वितीय रूप है। राष्ट्र पक्षमें राजा, राजदण्ड, राजव्यवस्था क़ानून आदि सरस्वती वज्र आदि के प्रतिनिधि हैं।



[१२ (१३)] सभा समिति बनाने का उपदेश।

शौनक ऋषिः। सभा देवता। १, २ सरस्वती। ३ इन्द्रः। ४ मन्त्रोक्तं मनो देवता। अनुष्टुप्छन्दः। चतुर्ऋचं सूक्तम्।

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।
येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः सङ्गतेषु॥१॥

भा०—(सभा च) सभा जिसमें सब समान हैसियत या पदके होकर विराजें और (समितिः च) और जिसमें समस्त प्रजाएं एकत्र हों अर्थात् एक पदाधिकारियों की सभा दूसरी प्रजाओं के प्रतिनिधियों की समिति ये दोनों (प्रजा-पतेः दुहितरौ) प्रजा के स्वामी राजा की दुहिता कन्या के समान उसकी आज्ञा पालन करने वाली होकर भी अपना हित स्वयं निर्णय करतीं और अपना लाभ सम्पत्ति, भोग यश आदि प्रजापति राजा को ही देती हैं। वे दोनों (सं-विदाने) परस्पर ऐकमत्य करके (मा) मुझ राजा को (अवतां) पालन करें। और हे सभासद् विद्वान् पुरुषो ! मैं (येन) आप लोगों में से जिस किसी से (सम्-गच्छै) मिलकर वार्तालाप करूं या सलाह लूं (सः) वही (मा) मुझको (उप शिक्षात्) मेरे समीप आकर मुझे अपने विभाग का ज्ञान

(तृ० च०) 'येन वदाम उपमा सतिष्ठाऽन्तर्वदामि हृदये जनानाम्।' इति पैप्प सं०। (प्र०) 'चोभे' (द्वि०) 'दुहितरौ सचेतसौ' (तृ० च०) 'या मा न विद्यात् उपमा स तिष्ठेत् सचेतनो भवतु शंसथे जनः।' इति पा० गृ० सू०।

प्राप्त कराये, मुझे सिखावे अथवा मुझे मेरे राज्यकार्य करने में समर्थ करे, मुझे सहायता दे। हे (पितरः) विद्वान् पुरुषो ! राष्ट्र के पालन करने वालो ! आप लोग ही वास्तव में राष्ट्र के पिता हो, आप (संग-तेषु) जब एकत्र हों तो आप लोगों के बीच में (चारु वदानि) मैं उत्तम प्रकार से अपना अभिप्राय प्रकट करूं। आप मित्र भाव से मेरे संग रहें, कुटिल भाव से वर्त्ताव न करें। राजसभा और प्रजा की प्रतिनिधि सभा दोनों के सदस्य राजा को राजकार्य में सहायता करें। उसे राज्य संचालन में समर्थ करें। उसे मार्ग दिखलावें और राजा अपने सब अभिप्राय स्पष्ट रूप से प्रथम सभा के और समितिअधिकारी सभा (State council) और प्रजा-प्रतिनिधि-सभा (Lgislative) के समक्ष रक्खें और उस पर विचार करलें कि राजा के मन्तव्य किस अंश तक प्रजा के लाभकारी और क्रियात्मक हो सकते हैं उनसे क्या हानि सम्भव है। इत्यादि।

मनु प्रोक्त व्यवरा, परिषत् आदि का मूल यही सभा है। इस स्थल पर मनु की उस व्यवस्था को देख लेना चाहिये। सभाओं और समितियों का वर्णन प्राचीन काल के साहित्य में बहुत है। प्रजाओं के विवाद निर्णयार्थ भी सभा, समिति की रचना आवश्यक है।

विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि।
ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः ॥ २ ॥

भा०—(हे सभे) सभास्थ पुरुषो! आप लोगों की यह सभा है इसके (नाम) नमनशील, दूसरों पर बल डाल कर अपनी बात स्वीकार करा लेने के बल को हम (विद्म) जानें। हे सभे ! सभास्थ पुरुषो ! यह सभा (नरिष्टा नाम वा असि) नरिष्टा या अहिंसिता, कभी भी न दबने वाली है,

२—'वेद वै सभे ते नाम सुभद्रासि सरस्वति अथो ये ते सभासदः सुवाचसः'। इति पैप्प० सं०।

इस की आज्ञा को उल्लंघन नहीं किया जा सकता । इसलिए इस सभा के बीच में (ये के च) जो कोई भी-(सभा-सदः) सभासद्, विद्वान् पुरुष विराजमान हैं (ते) वे सब (मे) मुझ, मुख्य सभापति या प्रधान या राजा या राज-प्रतिनिधि के साथ (स-वाचसः) समान वचन, होकर, एक वाणी होकर (सन्तु) रहें । जिससे एक मन होकर बलपूर्वक अपना कार्य करें । सभा एकमत होकर सभापति को अपना वक्तव्य कहे और वह निश्चय बलपूर्वक कार्य में लाया जाय ।

एषामहं समासीनानां वर्चो विज्ञानमा ददे ।
अस्याः सर्वस्याः संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु ॥ ३ ॥

भा०—(एषाम्) इन (सम्-आसीनानाम्) एकत्र होकर सभा में विराजमान विद्वान् पुरुषों, पदाधिकारियों, एवं प्रजा के प्रतिनिधियों के (वि-ज्ञानम्) विशेष ज्ञान और (वर्चः) बलको (अहम्) मैं उनकी सम्मति लेकर (आ ददे) स्वयं प्राप्त करता हूं । हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् परम राजन् प्रभो! (अस्याः सर्वस्याः) इस समस्त (सं-सदः) सभा के (भगिनम्) ऐश्वर्य का स्वामी (माम्) मुझे (कृणु) बना ।

यद् वो मनः परागतं यद् बद्धमिह वेह वा ।
तद् व आ वर्तयामसि मयि वो रमतां मनः ॥ ४ ॥

भा०—सभापति या वक्ता सभासदों के प्रति कहे, हे सभासद् महानुभावो ! (वः) आप लोगों का (यद्) जो (मनः) मन (परा-गतम्) कहीं अन्यत्र गया है या (यद्) जो मन (इह वा इह वा) अमुक २ विषय में (बद्धम्) लगा है (वः) आपके (तद्) उस चित्त को मैं (आ वर्त्तयामसि) पुनः लौटा लेता हूँ, अपनी तरफ खैंचता हूँ, आपका वह (मनः) मन (मयि रमताम्) मेरे ऊपर, मेरी कही बात में लगे । आप मेरे वचनों पर विचार कीजिये ।

[१३ (१४)] शत्रु के दमन की साधना ।

द्विषो वर्चोहर्तुकामोऽथर्वा ऋषिः । सोमो देवता । अनुष्टुप् छंदः । द्वृयचं सूक्तम् ।

यथा सूर्यो नक्षत्राणामुद्यंस्तेजांस्याददे ।
एवा स्त्रीणां च पुंसां च द्विषतां वर्च आ ददे ॥ १ ॥

भा०—शत्रु व्यक्ति चाहे पुरुष हो चाहे स्त्री वह उनको अपने सामर्थ्य से दबाने के लिए अपनी आत्मा की शक्ति इन विचारों से बढ़ावे । (यथा) जिस प्रकार (सूर्यः) सूर्य (उद्यन्) उदय होता हुआ (नक्षत्राणाम्) नक्षत्रों, तारों के (तेजांसि) प्रकाशों के (आ ददे) अपने में मिला कर लुप्त कर लेता है । (एवा) उसी प्रकार (द्विपताम्) द्वेष करने-वालों (स्त्रीणाम्) स्त्रियों और द्वेषी (पुंसाम् च) पुरुषों के (वर्चः) तेज को मैं (आ ददे) दबा लूं, अपने में मिलालूं । अपने से अधिक उनको न चमकने देकर स्वयं अधिक उज्ज्वल कीर्त्तिवाला होऊँ ।

यावन्तो मा सपत्नानामायन्तं प्रतिपश्यथ ।
उद्यन्त्सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आ ददे ॥ २ ॥

भा०—(स-पत्नानाम्) शत्रुओं में से (यावन्तः) जितने आप लोग (मां) मुझ को (आ-यन्तम्) अपने प्रति आते हुए (प्रति-पश्यथ) अपने से प्रतिकूल देख रहे हैं । मैं (सुप्तानां) सोते हुए पुरुषों के तेज को जिस प्रकार (उत्-यन् सूर्यः इव) उदय होता हुआ सूर्य हर लेता है उसी प्रकार (द्विपतां) द्वेष करने वाले आप लोगों का (वर्चः) तेज, वीर्य, बल, यश प्रताप को (आ ददे) हर लूं । सूर्योदय के बाद तक

[१३] २—'वर्चांसि यवर्तेरिव । एवा सपत्नानामहं वर्च इन्द्रियमाददे' इति पैप्प० सं० (द्वि०) 'प्रति पश्यत' इति सायणाभिमतः ।

सोने वाले आलसी पुरुषों का वीर्य, बल, तेज सूर्य ही हर लेता है इसलिये तेजस्वी होने के लिये सूर्योदय के पूर्व ही उठना चाहिये ।

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[तत्र त्रयोदश सूक्तानि ऋचश्चाष्टाविंशतिः ।]



[१४ (१५)] ईश्वर की उपासना ।

अथर्वा ऋषिः । सविता देवता । १, २ अनुष्टुप्छन्दः ३ त्रिष्टुप् ।
चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

अभि त्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतुम् ।
अर्चामि सत्यसवं रत्नधामभि प्रियं मतिम् ॥ १ ॥

यजु० ४ । ५ । प्र० द्वि० ॥

भा०—मैं (ओण्योः) रक्षा करने वाले माता पिताओं और संसार के रक्षक द्यौः सूर्य और पृथिवी दोनों के (सवितारं) प्रेरक और उत्पादक (कवि-क्रतुम्) क्रान्तदर्शी ज्ञानवाले अथवा क्रान्तदर्शी मेधावी लोगों के परम ज्ञान बलरूप सब की बुद्धियों से पहले सर्वातिशायी ज्ञान से सम्पन्न तथा (सत्य-सवं) सत्य, सत् प्रकृति से उत्पन्न, समस्त जगत् को उत्पन्न करने वाले (रत्नधाम्) समस्त रमण करने योग्य परम ज्ञान एवं रमणीय जीवन में आनन्दजनक पदार्थों और सूर्य आदि लोकों को धारण पोषण करने वाले (प्रियं) सब के प्रसन्न करने वाले, प्यारे (मतिम्[1]) सब को मानने या मनन करने योग्य (त्यं देवं) उस प्रकाशमय अथवा परम देव की (अभि अर्चामि) सदा उपासना करूं उसे प्राप्त करूं ।

(१४)—"मतिं कविम्" इति यजुः० । (तृ०) 'सत्यसवसं' इति मै० सं० ।

१—सर्वैर्मन्तव्यम् इति सायणः । मननयोग्यमिति महीधरः ।

ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत् सवीमनि ।
हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपात् स्वः ॥ २ ॥

यजुः ४ । २५ तृ० च०

भा०—(यस्य) जिस परमदेव की (मतिः) अपरिमित आत्म शक्तिमय (भाः) कान्ति (सवीमनि) उसके चलाये इस जगत् में (ऊर्ध्वा) सब से ऊंची, सब पर अधिष्ठातृ भी होकर (अदिद्युतत्) प्रकाशमान है वह (हिरण्य-पाणिः) सबको प्रकाश देने वाला, या प्रकाशमान पिण्डों, सूर्य आदि लोकों को भी अपने हाथ में रखने वाला (सु-क्रतुः) सब से उत्तम ज्ञानवान्, शिल्पी (कृपात्) अपने सामर्थ्य से ही (स्वः) इस सूर्य स्वरूप नक्षत्र संसार को (अमिमित) बनाता है ।

सावीर्हि देव प्रथमाय पित्रे वर्ष्माणमस्मै वरिमाणमस्मै ।
अथास्मभ्यं सवितर्वार्याणि दिवोदिव आ सुवा भूरि पश्वः॥३॥

उत्तरार्धः ऋ० ३ । ५६ । प्र० द्वि० ॥

भा०—हे (देव) परमात्मन् ! प्रकाशस्वरूप देव ! तू (प्रथमाय) सब से प्रथम, सर्वश्रेष्ठ (पित्रे) पिता, सब के पालक हिरण्यगर्भ अथवा जीवात्मा के लिये ही (सावीः) ये सब पदार्थ उत्पन्न करता है । और (अस्मै) इस जीव के लिये तू ही (वर्ष्माणम्) वर्ण, देह या भोग सामर्थ्य और (अस्मै) इस जीव को तू ही (वरिमाणम्) सब पदार्थों से अधिक श्रेष्ठता भी प्रदान करता है । (अथ) इसी प्रकार तू (अस्मभ्यं) हम

२—(च०) 'कृपा स्वः' इति बहुत्र । 'कृपा स्वस्तुपास्वरितिवा' आश्व० श्रौ० सू० ।

३—(प्र०) 'प्रसवाय' (तृ० च०) 'सवितः सर्वताता दिवे दिवे आ' इति तै० ब्रा० । 'त्रिरादिव सवितर्वार्याणि दिवे दिव आसुव त्रिर्नो अह्नः' इति ऋग्वेदे ।

जीवों के लिये, हे (सवितः) सर्वोत्पादक प्रभो ! (वार्याणि) सब अभिलाषा करने योग्य उत्तम पदार्थ और धन और (भूरि) बहुत से (पश्वः) पशुसमूह (दिवः-दिवः) दिनों दिन (आ सुव) प्रदान कर ।

दमूना देवः सविता वरेण्यो दधद् रत्नं दक्षं पितृभ्य आयूंषि ।
पिबात् सोमं ममदंदेनमिष्टे परिज्मा चित् क्रमते अस्य धर्मणि॥४॥

(भा०—(देव) वह प्रकाशमान प्रभु (सविता) सबका प्रेरक और उत्पादक और सर्वैश्वर्यवान् ! (वरेण्यः) सब को वरण करने योग्य, सबका प्रिय, (दमूनाः) और सबको उनके अभिलषित पदार्थों को प्रदान करता है । वह ही (पितृभ्यः) देह इन्द्रिय और मन और अपनी प्रजा, गृह आदि के पालन करने वाले जीवों को (रत्नं) उन के रमण करने योग्य कर्म फल, (दक्षं) ज्ञान और (आयूंषि) दीर्घ जीवन (दधात्) प्रदान करता है । (अस्य) इस साक्षात् प्रभु की (धर्मणि) धारण व्यवस्था में रह कर यह जीव (सोमं पिबात्) सोम स्वरूप परमानन्द रसका पान करता है और वह आनन्द रस (एनं) इस जीव को (ममदत्) मत्त कर देता है, अपने में मग्न और मस्त कर लेता है और वह जीव (परि-ज्मा) सर्वत्र गतिमान्, सर्वाप्तकाम सर्वसामर्थ्य हो कर (इष्टं चित्) उस परम पूज्य, इष्ट, उपास्य प्रभु को (क्रमते) प्राप्त करता, उसमें लीन हो जाता है ।



[१५ (१६)] ईश्वर की उपासना ।

भृगुर्ऋषिः । सविता देवता । त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ।

४—(तृ०) 'सोमममृदक्षेनमिष्टयः' (च०) 'रमते अस्य' (द्वि०) 'दक्ष'—'आयूनि' इति आश्व० श्रौ० सू० ।

तां सवितुः सत्यसवां सुचित्रामाहं वृणे सुमतिं विश्ववाराम् ।
यामस्य कण्वो अदुहत् प्रपीनां सहस्रधारां महिषो भगाय॥१॥
यजु० १७ । ७४ ॥

भा०—हे (सवितः) सब के उत्पादक, प्रेरक प्रभो! सवितः ! (अहम्) मैं (सत्य-सवाम्) सत्यपदार्थों (ज्ञानों) को उत्पन्न करने वाली, (सु-चित्राम्) अति अद्भुत या अति पूजनीय, (विश्व-वाराम्) समस्त संसार की रक्षा करने वाली (तां) उस परम (सु-मतिम्) उत्तम रीति से मनन करने योग्य, दिव्य शक्ति की (आ वृणे) साक्षात् स्तुति करता हूं (अस्य) इसकी (याम्) जिस (सहस्रधाराम्) सहस्रों, लोकों या समस्त विश्व को धारण करने वाली (प्रपीनां) अति पुष्ट गौ के समान आनन्द रस का पान करने वाली, हृष्ट पुष्ट शक्ति को (भगाय) अपने ऐश्वर्यशील आत्म सम्पत् को प्राप्त करने के लिए (महिषः) महा (कण्वः) ज्ञानी पुरुष (अदुहत्) प्राप्त करता है ।



[१६ (१७)] सौभाग्य की प्रार्थना ।

भृगुर्ऋषिः । सविता देवता । त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ।

बृहस्पते सवितर्वर्धयैनं ज्योतयैनं महते सौभगाय ।
संशितं चित् सन्तरं सं शिशाधि विश्व एनमनु मदन्तु देवाः॥१॥
यजु० २७ । ८ ॥

[१५] १—(प्र०) 'तां सवितुर्वरेण्यस्य चित्रम्' (द्वि०) 'विश्वजन्यम्' (च०) 'पयसा महीम् गाम्' इति बहुत्र । (प्र०) 'सत्य सवस्य चित्राम्' (द्वि०) 'वयं देवस्य प्रसवे मनामहे' (तृ०) 'प्रपाणाम्' इति पैप्प० सं० ।

[१६] १—(प्र० द्वि०) 'बोधयेनं' ज्योतैनं इति बहुत्र 'द्योतयेति सायणाभिमतः (तृ०) 'सन्तराम्' इति यजु० ।

भा०—हे (बृहस्पते) बृहती=वेदवाणी और बृहत्=विशाल लोकों के स्वामिन् ! (सवितः) सर्वोत्पादक परमेश्वर एवं आचार्य (एनं) इस व्रती ब्रह्मचारी पुरुप की आत्मा को (वर्धय) बढ़ा, शक्तिशाली बना, और (एनं) इस आत्मा को (महते) बड़े (सौभगाय) सौभाग्य, आत्मसम्पत्ति और विद्यासम्पत् प्राप्त करने के लिये (ज्योतय) ज्ञान से प्रकाशित कर। और (संशितं) अच्छी प्रकार तपस्या से सम्पन्न इस ब्रह्मचारी तपस्वी पुरुप को (सं-तरं चित) खूब ही अच्छी प्रकार (सं-शिशाधि) शासन कर, शिक्षा दे। जिससे (विश्वे) समस्त (देवाः) ज्ञानी, विद्वान् पुरुप (एनम्) इस विद्वान् ब्रह्मचारी को देख कर (अनु मदन्तु) इसकी सफलता पर प्रसन्न हों। राजा अपने राष्ट्र में विद्वानों को इस प्रकार का आदेश करे। पिता आचार्य पुत्र के लिये प्रार्थना करे। आचार्य अपने शिष्य और यजमान के लिये ईश्वर से इसी प्रकार की प्रार्थना करे। मनु ने लिखा है—'आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः।' इस प्रकार यह मन्त्र उभय-पक्ष में लगता है।



[१७ (१८)] ईश्वर से ऐश्वर्य की प्रार्थना।

भृगुर्ऋषिः। धाता सविता देवता। १ त्रिपदा आर्षी गायत्री। २ अनुष्टुप्। ३, ४ त्रिष्टुभौ। चतुर्ऋचं सूक्तम्॥

धाता दधातु नो रयिमीशानो जगतस्पतिः।
स नः पूर्णेन यच्छतु॥ १॥

भा०—(धाता) सब का धारण और पोषण करनेवाला, (जगतः पतिः) समस्त जगत् का पालक, (ईशानः) सब का स्वामी, ईश्वर (नः) हमें (रयिम्) ऐश्वर्य, यश और बल (दधातु) प्रदान करे। और (सः)

[१७] १—(प्र०) 'ददातु' (च०) 'पूर्णेन वावनत्' इति तै० सं०।

वह (नः) हमें (पूर्णेन) हमारी पूर्ण शक्ति और साधना के अनुसार (यच्छतु) हमें बल और धन प्रदान करे। ईश्वर हमें जितना हम प्राप्त कर सकें, रख सकें, उतना हमें दे।

धाता दधातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षिताम्।
वयं देवस्य धीमहि सुमतिं विश्वराधसः ॥ २ ॥

भा०—(धाता) सब का धारणकर्त्ता, पालक, पोषक प्रभु (दाशुषे) अपने को समर्पण करने वाले अथवा सब को दान करनेवाले जीव के लिये (प्राचीम्) अति उत्तम रीति से प्राप्त होनेवाली (अक्षिताम्) अक्षय (जीवातुम्) जीवन शक्ति को (दधातु) दे। (वयं) हम (विश्व-राधसः) समस्त धनों के स्वामी (देवस्य) प्रकाशस्वरूप, प्रभु देव की (सुमतिम्) उत्तम मनन करने योग्य रूप शक्ति का (धीमहि) ध्यान करते हैं।

धाता विश्वा वार्या दधातु प्रजाकामाय दाशुषे दुरोणे।
तस्मै देवा अमृतं सं व्ययन्तु विश्वे देवा अदितिः सजोषाः ॥३॥

भा०—(धाता) पोषक पालक प्रभु (प्रजा-कामाय दाशुषे) प्रजा की अभिलाषा करने वाले दानी गृहपति को (दुरोणे) उसके घर में (विश्वा वार्या) समस्त प्राप्त करने योग्य आवश्यक धान धान्य आदि पदार्थों को (दधातु) प्रदान करे। (विश्वे देवाः) समस्त देव, विद्वान् गण और (स-जोषाः) प्रेम से युक्त स्नेही (अदितिः) अखण्ड शक्तिशाली, माता

२—(प्र०) 'धाता ददातु नोरयिम्' तै० सं०, मै० सं० । (द्वि०) 'अक्षितिम्' गो० तृ० सू० । 'सत्यराधसम्' इति तै० सं० । 'सत्यधर्मणः' इति मै० सं० । 'वाजिनीवतः' आ० श्रौ० सू० ।

३—'धाता ददातु दाशुषे वसूनि' (द्वि०) 'मीढुषे दुरोणे' (तृ०) 'अमृता सं व्ययन्ताम्' (च) 'देवासः' इति तै० सं० मै० सं० (तृ०) तस्मा, प्रजाममृतः संवयन्तु । इति पैप्प० सं० ।

या अदितिः सूर्य ये सब (देवाः) प्रकाशमान लोक (तस्मै) उसके लिये (अमृतं) अमृत, आत्म-शक्ति, जीवन-शक्ति का (सं व्ययन्तु) दान करें।

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपतिर्नो अग्निः।
त्वष्टा विष्णुः प्रजया संरराणो यजमानाय द्रविणं दधातु ॥ ४ ॥
यजु० ८। १७ ॥

भा०—(धाता) सब का स्रष्टा धारक और पालक (रातिः) सब श्रेय कल्याणकारी पदार्थों और ज्ञान और बल का देने वाला और वही (सविता) सब का प्रेरक सब का आज्ञापक है। वही (प्रजा-पतिः) प्रजा का पालक (निधि-पतिः) ज्ञान के निधि, भण्डार और धनों के भण्डारों का स्वामी और (अग्निः) प्रकाशस्वरूप है। उसीके भिन्न २ गुणों और कर्त्तव्यों का पालन करने वाले अधिकारिवर्ग भी राष्ट्र में धाता, राति दानाध्यक्ष, सविता। प्रजापति, निधिपति और अग्नि आदि पदाधिकारी नियत हों, वे अपने को राजा का स्वरूप जानकर (नः) हमारी (इदं) इस प्रजाधन को ईश्वर के समान (जुषन्तां) प्रेम से रक्षा करें, (विष्णुः) व्यापक परमेश्वर के समान राज्य का कर्त्ता धर्त्ता (त्वष्टा) राजा (प्र-जया) अपनी प्रजा के साथ (सं-रराणः) आनन्द पूर्वक जीवन व्यतीत करता हुआ (यजमानाय) ईश्वर के उपासक, प्रजा के दाता, और शुभ कर्म के कर्त्ता उत्तम पुरुष को (द्रविणं दधातु) सब प्रकार द्रव्य रखने की शक्ति दे। उसके द्रव्य की रक्षा करे, उसको द्रव्य सौंपे।

इन मन्त्रों के आधार पर राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि स्मृतिकारों ने कहा है। जिस प्रकार ईश्वर के निमित्त त्याग करने और उसकी पूजा

४—(द्वि०) 'निधिपतिर्देवो अग्निः'। इति यजुः। 'वरुणो मित्रो अग्निः' (तृ०) 'विष्णुस्त्वष्टा' इति मै० सं० (तृ०) 'रराणः' (च०) 'दधात्' इति यजुः।

करने वाला यजमान है इसी प्रकार राजा के निमित्त कर देने वाला उसको अपना राजा मान कर आदर दिखानेवाला प्रत्येक प्रजा का पुरुष यजमान है। राजा उसके धन की रक्षा करे।



[१८ (१९)] अन्न की प्रार्थना।

अथर्वा ऋषिः। पृथिवी पर्जन्यश्च देवते। १ चतुष्पाद् भुरिगुष्णिक्। २ त्रिष्टुप्। द्वयृचं सूक्तम्।

प्र न॑भस्व पृथिवि भि॒न्द्धी३॒॑दं दि॒व्यं नभः॑।
उ॒द्नः दि॒व्यस्य॑ नो धात॒रीशा॑नो॒ वि ष्या॒ दृति॑म् ॥ १ ॥

भा०—हे (पृथिवि) पृथिवी मातः! तू (प्र नभस्व) खूब अच्छी रीति से हल आदि साधनों से खण्डित की जावे। हे (धातः) ईश्वर! (ईशानः) तू सामर्थ्यवान् विद्युत रूप होकर (इदं) इस (दिव्यम्) दिव्य गुणवाले (नभः) मेघ को (भिन्धि) खण्डित कर और (दिव्यस्य) दिव्य (उद्नः) जल के (दृतिम्) भरे बड़े भारी कुप्पे को (वि ष्य) नाना दिशाओं में काट डाल।

---

[१८] १–(प्र) 'उन्नमय पृथिवीम्' (च) 'त्रिष्या बिलम्' (तृ) उभो इति पैप० सं०। 'भिन्ध्यदः' इति मै० सं० (तृ०) 'उद्नः' इति मै० सं० तै० सं०। 'देहीशानो' 'विसृजा' इति तै० सं०।

ऊभो दिव्यस्य इति अजमेरमुद्रितः पाठः। उद्न इति निर्णयसागरीयः पाठः पदपाठसम्मतश्च। सायणाभिमतः 'उद्नः' इति पाठः। 'उत्नो' 'उन्नो', 'ऊस्नो', इति कतिपय हस्तलिपिगताः पाठाः। 'ऊभो' इति ग्रीफिथः।

'धातः। ईशान।' इति सायणाभिमतः पदच्छेदस्तदनुसारं च 'धात देहि प्रयच्छेति' अर्थोल्लेखः।

ईशान यह रुद्र के आठ रूपों में से एक रूप है जिसको 'विद्युत्' कहा जाता है ।

न घ्रंस्तताप न हिमो जघान प्र नभतां पृथिवी जीरदानुः ।
आपश्चिदस्मै घृतमित् क्षरन्ति यत्र सोमः सदमित् तत्र भद्रम् ॥२॥

भा०—(घ्रन्) घाम या ग्रीष्मकाल का प्रचण्ड सूर्य, (न ताप) भूमि को जब अधिक न तपा रहा हो और जब (हिमः) हिम, पाला, अति शीत भी (न जघान) पीड़ित न करे तब (पृथिवी) यह पृथिवी क्षेत्रभूमि (जीरदानुः) जीवनप्रद, अन्न का प्रदान करने योग्य होकर (प्रनभताम्) अच्छी रूप से तैयार की जाय और तभी (आपः) जल-धाराएं (चित्) भी (अस्मै) इस भूमिपति या क्षेत्रपाल को (घृतम्) घी या आयु और बलप्रद अन्न ही मानो (क्षरन्ति) बहाते हैं । ठीक भी है क्योंकि (यत्र) जहां (सोमः) सोम, जल वर्षाने वाला मेघ बरसता है (तत्र) वहां (सदम् इत्) सदा ही (भद्रम्) सुख, कल्याण और सुभिक्ष रहा करता है ।



[१९ (२०)] प्रजापति से पुष्टि की प्रार्थना ।

ब्रह्मा ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । जगती छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

प्रजापतिर्जनयति प्रजा इमा धाता दधातु सुमनस्यमानः ।
सं जानानाः संमनसः सयोनयो मयि पुष्टं पुष्टपतिर्दधातु ॥१॥

भा०—(प्रजापतिः) प्रजाओं का पालक परमेश्वर (इमाः प्रजाः) इन प्रजाओं को (जनयति) प्रथम उत्पन्न करता है और फिर (सुमनस्य-

२—(द्वि०) 'प्र सदस्यते' (तृ०) "अस्मै सदम्' इति पैप्प० सं० ।

[१९] १—(प्र०) 'आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिः'(तृ०) संवत्सर ऋतुभिः संविदानः इति मै० सं० । (तृ०) 'सयोनीः' इति द्वितिकामितः ।

मनः) उन सबके प्रति उत्तम कल्याणमय चित्त होकर वही प्रजापति उनका (धाता) धारण और पोषण करने वाला होकर (इमाः) इन प्रजाओं को (दधातु) पुष्ट करता है और (स-योनयः) एक ही मूल-स्थान, योनिस्थान, गर्भाशय में उत्पन्न होने वाली प्रजाएं (सं-जानानः) समान ज्ञान और (स-मनसः) एक ही चित्त वाली होती हैं। (पुष्ट-पतिः) पोषण क्रिया का स्वामी परमेश्वर (मयि) मुझमें (पुष्टं) पुष्टि (दधातु) दे। राष्ट्रपक्ष में—प्रजापति=गृहस्थ प्रजाओं को उत्पन्न करे उनको, धाता पालक दुग्धादि से पोषण करे, और वे प्रजाएं (सयोनयः) एक ही विद्यायोनि, गुरु के पास रहकर समानज्ञान और समानचित्त होकर रहें और (पुष्ट-पतिः) पोषणकर्त्ता अन्नादि पोषण द्रव्यों का अधिष्ठाता (मयि) मुझमें (पुष्टं) पुष्टि (दधातु) प्रदान करे।



[२० (२१)] 'अनुमति' नाम सभा का वर्णन।

अथर्वा ऋषिः। अनुमतिर्देवता। १,२ अनुष्टुप्। ३ त्रिष्टुप्। ४ भुरिक्। ५,६ अतिशक्करगर्भा अनुष्टुप्। षडर्चं सूक्तम् ॥

अन्वद्य नोऽनुमतिर्यज्ञं देवेषु मन्यताम्।
अग्निश्च हव्यवाहनो भवतां दाशुषे मम ॥ १ ॥
यजु० ३४। ९ ॥

भा०—(अद्य) अब, वर्त्तमान काल में, सदा (नः) हमारी (अनु-मतिः) एक दूसरे के अनुकूल हित साधना की मति, या सभे! (देवेषु) विद्वान् पुरुषों में हमारे (यज्ञं) परस्पर संगति और सत्कर्म अनुष्ठान आदि कार्य की (अनुमन्यताम्) सदा आज्ञा दे। इस प्रकार

[२०] १–(द्वि०) 'मन्यन्ताम्' इति पैप्प० सं०। (च०) 'भवतं', 'दाशुषेमयः' मै० ब्रा०। 'दाशुषः' इति ह्विटनिकामितः।

परस्पर के हित चिन्तन करने वाली संस्था और (हव्य-वाहनः) ग्रहण करने योग्य विचारों को हम तक पहुँचाने वाला, (अग्निः च) अग्नि=हमारा अग्रणी, ज्ञानवान् नेता ये दोनों (मम) मेरे (दाशुषे) दानशील समाज-व्यवस्था के अनुकूल अपना भाग देने वाले पुरुष के लिये (भवताम्) उसको उपयोगी, हितकर पदार्थ प्राप्त कराने वाली होवे ।

अन्विदनुमते त्वं मंससे शं च नस्कृधि ।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः ॥ २ ॥
यजु० ३४ । ६ ॥

भा०—हे (अनु-मते) अनुज्ञा करनेहारी सभे ! (त्वम्) तू (इदम्) इस सब कार्य-व्यवस्था को (अनु मंससे) समाज की व्यवस्था और हित के अनुकूल विचार करती है । और (नः) हमारे लिये (शं च कृधि) कल्याण और सुखदायि कार्यों को करती है । हे (देवि) विद्वानों से बनी सभे ! (आ-हुतं) हमारे दिये (हव्यम्) धन और अन्न आदि पदार्थ को (जुषस्व) तू प्रेमपूर्वक स्वीकार कर और (नः) हमें (प्रजां) उत्तम सत् प्रजा का (ररास्व) प्रदान कर । इयं वा अनुमतिः, स यत्कर्म शक्नोति कर्त्तुम् यच्चिकीर्षति इयं हास्मै तदनुमन्यते । श० ५ । २ । ३ । ४ ॥ इयं वा अनुमतिः । इयमेवास्मै राज्यमनुमन्यते । तै० १ । ६ । १ । ४—५ ॥

जो आदमी जिस प्रकार का काम करने में समर्थ हो या जो कोई जिस काम को करना चाहता है । यह प्रतिनिधि सभा (पृथिवी) या लोकसभा उसकी अनुमति [अनुज्ञा=मंजूरी] देती है । 'अनुमति'

२—(प्र०) 'त्वंमन्यासै' इति यजु० । (त० च०) ईशस्तोकाय नो दधत् प्रण आयूंषि तारिषत् । इति पैप्प० सं० । (प्र०) 'मंसिसे' इति सायणाभिमतः । (तृ०) 'क्रत्वे दक्षाय नः कृधि' इति यजु० ।

नामक लोक सभा भी इस राजा को राज्य के अधिकार प्रदान करती है। अनुमती राकेति देवपत्न्यौ इति नैरुक्ताः। अनुमतिरनुमननात्। निरु० दैवत० ५। ३। ८॥ देवों, विद्वानों को अपने में पालन करनेवाली सभा अनुमति और राका कहाती है। इसी निरुक्ति से, स्त्री भी 'अनुमति' और 'राका' कही जाती है। पुरुष अपने सब घर के कार्य अपनी स्त्री की अनुमति से करे। उसके पक्ष में—हे अनुमते स्त्रि ! तू हमें इन सब गृह कार्य में अनुमति दे और हमें सुख शान्ति प्रदान कर। हम पुरुषों के प्रदान किये धन अन्न वस्त्र आदि को स्वीकार कर और हे देवि ! उत्तम प्रजा को उत्पन्न कर। वेद की दृष्टि में देह, गृह, समाज, और राज्य और समस्त जगत् पांचों की रचना, कार्य और प्रबन्ध समान रूप से होनी उचित है। उन सबकी रचना के सिद्धान्तों का वर्णन भी समान शब्दों में वेद ने किया है।

अनु॑ मन्यतामनु॒मन्य॑मानः प्र॒जाव॑न्तं र॒यिमक्षी॑यमाणम् ।
तस्य॑ व॒यं हेड॑सि॒ मापि॑ भूम सुमृडी॒के अ॑स्य सु॒मतौ॑ स्या॑म॥३॥

भा०—जो (अनु-मन्यमानः) सब को अनुमति देने वाला पुरुष अधिकारी है वह हमें (अक्षीयमाणम्) कभी न नष्ट होने वाले, (प्रजा-वन्तम्) प्रजा से युक्त (रयिम्) धन, बल को प्राप्त करने के लिये (अनु=मन्यताम्) सदा अनुमति दिया करे, इस से विपरीत नहीं। (तस्य) उस पुरुष के (हेडसि) क्रोध के पात्र (वयं) हम प्रजा या स्त्रीजन (मा अपिभूम) कभी न हों (अस्य) उस के (सु-मृडीके) सुखकर कार्य और (सु-मतौ) उत्तम मति के अनुकूल (स्याम) रहें। पूर्व मन्त्रों में 'अनुमति

३—(प्र०) "अनुमन्यमाना" (तृ०) 'तस्यै' इति सायणाभिमतः। 'मानाः' 'तस्या' इति पैप्प० सं० । (च०) 'सा नो देवी सुहवा शर्म यच्छतु' इति तै० सं० ।

देवि' अर्थात् अनुज्ञापक सभा और स्त्री का वर्णन है इस मन्त्र में अनु-ज्ञापक अधिष्ठाता सभापति और गृहस्थ के पति पुरुष का वर्णन है। यजुर्वेद (३८ । ८, ९) में इसी पुमान् विद्वान् सभापति का वर्णन किया गया है (देखो महर्षि दयानन्द कृत यजुर्भाष्य) सायण के मत में इस मन्त्र में अनुमति कोई पुंदेवता है। फलतः पति पत्नी के कर्तव्य-निर्देश में स्त्री भी अपने आज्ञाकारी पति से प्रजा के हितकारी धन को प्राप्त करे और उस के क्रोध का पात्र न होकर उस की सुख-कर शुभ आज्ञा में रहा करे।

यत् ते नाम॑ सु॒हवं॑ सुप्रणी॒तेऽनु॑मते॒ अनु॑मतं सु॒दानु॑ ।
तेना॑ नो य॒ज्ञं पि॑पृहि विश्ववारे र॒यिं नो॑ धेहि सुभगे सु॒वीर॑म् ॥४॥

भा०—उत्तम पत्नी से उत्तम सन्तान प्राप्त करने का उपदेश है। हे (सु-प्रनीते) उत्तम रीति से गृहस्थकार्य में प्रवृत्त (अनु-मते) पति के अनुकूल चित्तवाली स्त्रि ! (यत्) क्योंकि (ते) तेरा (नाम) नाम और रूप (अनु-मतम्) अनुकूल रूप से अभिमत, (सु-दानु) उत्तम भाव प्रदान करनेवाला और (सु-हवम्) शुभ रूप से पुकारने योग्य है अथवा शुभ भाव उत्पन्न करने वाला है। हे (विश्व-वारे) समस्त लोकों से वरण करने योग्य शुभांगि ! (तेन) उस अपने शुभ रूप से (नः) हमारे (यज्ञम्) शुभ, गृहस्थ यज्ञ को (पिपृहि) पूर्ण कर और (नः) हमें, हे (सु-भगे) सौभाग्यवति ! (सु-वीरम्) उत्तम, वीर पुत्र सहित (रयिम्) यश और बल (धेहि) प्रदान कर।

स्त्रियों के शुभ नाम रखने चाहियें, वह गृहस्थ के सब कार्य पूरा करें और उत्तम सन्तान उत्पन्न करें। राष्ट्रपक्ष में—अनुमति सभा, उत्तम

४–(द्वि०) 'सुदावः' (तृ० च०) तेन त्वं सुमतिं देव्यस्म इषं पिन्व विश्ववारं सुवीरम्' । 'इति पैप्प० सं०' ।

रीति से बनायी जाये, उस के उद्देश्य उत्तम और नाम उत्तम हो, यज्ञ=जिसमें सब एकत्र हो उस के सब कार्यों को पूर्ण करें और वीर विद्वान् और यश को बढ़ावें ।

एमं य॒ज्ञमनु॑मतिर्जगाम सुक्षे॒त्रता॑यै सुवी॒रता॑यै सुजा॑तम् ।
भ॒द्रा ह्य॑स्याः प्रम॑तिर्ब॒भूव॒ सेमं य॒ज्ञम॑वतु दे॒वगो॑पा ॥ ५ ॥

भा०—पुनः पत्नी का ही वर्णन करते हैं । (इमम् यज्ञम्) इस गृहस्थरूप यज्ञ को जिस में पति और पत्नी प्रेम से संगत होते हैं उस को (अनु-मतिः) अनुकूल चित्तवाली स्त्री (सु-क्षेत्रतायै) अपने उत्तम क्षेत्र को सफल करने के लिये और (सु-वीरतायै) उत्तम पुत्र उत्पन्न करने के लिये (आ जगाम) प्राप्त हो । तभी (सु-जातम्) यह यज्ञ उत्तम रीति से सुसम्पन्न होता है । (अस्याः) इस स्त्री की (वह) गृहस्थ के सम्पादन करने का (प्र-मतिः) श्रेष्ठ विचार (हि) निश्चय से (भद्रा बभूव) बड़ा कल्याणकारी होता है । (आ) वह स्त्री अवश्य (इमम्) इस (यज्ञम्) गृहस्थ रूप श्रेष्ठ यज्ञ की (देवगोपा) विद्वानों और राजगणों से सुरक्षित रह कर (अवतु) रक्षा करे । राष्ट्रपक्ष में—सभा और राजा और राष्ट्र के अधिकारी कार्यकर्त्ताओं के लिये क्षेत्र तय्यार करें और उत्तम वीर कार्यकर्त्ता तैयार करे, उत्तम कल्याणकारी विचार और कार्य करने की स्कीम तय्यार करे और यज्ञ=राष्ट्र की रक्षा करे ।

अनु॑मतिः॒ सर्व॑मि॒दं ब॑भूव॒ यत् तिष्ठ॑ति॒ चर॑ति॒ यदु॑ च॒ विश्व॒मेज॑ति ।
तस्या॑स्ते देवि सुम॒तौ स्या॒मानु॑मते॒ अनु॒ हि मंस॑से नः ॥ ६ ॥

५–(प्र० द्वि०) 'आ नो देव्यनुमतिर्जगम्यात् सुक्षत्रा विरताया सुजाता' (च०) स इमं यज्ञं भवतु नेवजुष्टा [यज्ञमवतु देवजुष्टम्] इति पैप्प० सं० 'सुक्षेत्रसुवीरतायै सु जाता' इति लैन्मनकामितः । 'अनुमतिर्विश्वमिदं जजान' (द्वि०) 'यदेजति चरति यच्च तिष्ठति' इति पैप्प० सं० ।

भा०—इस ईश्वरीय विराट् अनुमति का स्वरूप दर्शाते हैं—(यत्) जो (तिष्ठति) स्थिर रूप से विद्यमान है। (चरति) जो चल रहा है, गति कर रहा है, (यद् उ च विश्वम् एजति) और जो भी इस समस्त संसार को चला रहा है, (सर्वम् इदम्) यह सब (अनु-मतिः बभूव) 'अनुमति' ही है। उसी की आज्ञा से चलता है और खड़ा है। हे (देवि) दिव्य प्रकाश और गतिदायक शक्ति! (तस्याः ते) उस तेरी (सु-मतौ) शुभ, कल्याणकारी उत्तम गति, ज्ञान, में हम (स्याम) रहें। हे (अनु-मते) सबकी आज्ञापक! (नः) हमें भी तू ही (अनु मंससे) सब कार्य करने की आज्ञा देती है।



[२१ (२२)] प्रभु की उपासना।

ब्रह्मा ऋषिः। आत्मा देवता। शक्वरीविराड्गर्भा जगती। एकर्चं सूक्तम्॥

समेत विश्वे वचसा पतिं दिव एको विभूरतिथिर्जनानाम्।
स पूर्व्यो नूतनमाविवासत् तं वर्तनिरनु वावृत एकमित् पुरु॥१॥

भा०—हे लोगो! (विश्वे) आप सब लोग (दिवः) समस्त प्रकाश और इस महान् द्यौलोक के (पतिं) परिपालक उस प्रभु के पास (वचसा) वाणी द्वारा (सम्-एत) एकत्र होकर शरण में आओ। वह (एकः) एक है, (जनानाम्) समस्त जीवों और प्राणियों में (अतिथिः) व्यापक उनका अतिथि के समान पूजनीय है। (सः) वह सब से (पूर्व्यः) पूर्व विद्यमान, सब का पितामह, उत्पादक पुराण, आदि कारण (नूतनम्) अपने से उत्पन्न कार्यरूप जगत् को (आ-

[२१] १–'समेत विश्वा ओजसा' (द्वि०) 'य एकइद् भूरति–' (तृ०) नूतनम् जीगिषम्' (च०) 'वर्त्तनीर–'। पुरु इति पदं नास्ति साम०।

विवासत्) प्रकट करता और उसको व्याप्त करता है (तम्) उस (एकम्) एकमात्र आदिकारण को ही (पुरु) नाना प्रकार के (वर्त्तनिः) मार्ग या लोक (अनुवावृते) पहुँचते हैं।



[२२ (२३)] ज्ञानदाता ईश्वर।

ब्रह्मा ऋषिः। मन्त्रोक्तो ब्रध्नो देवता। १ द्विपदैकावसाना विराड् गायत्री। २ त्रिपाद् अनुष्टुप्। द्व्यृचं सूक्तम्।

अयं स॒हस्र॒मा नो॑ दृ॒शे क॑वी॒नां म॒तिर्ज्योति॒र्विध॑र्मणि ॥१॥

सास० १ । ४५८ ॥

भा०—(अयं) यह परमेश्वर (सहस्रम्) सहस्र=बलवान्, सर्व शक्तिमान्, (मतिः) मननयोग्य, मति, विचार=ज्ञानस्वरूप, (विधर्मणि ज्योतिः) नाना प्रकार के या विशेष धर्म=आत्मा में ज्योतिरूप से प्रकाशमान होकर (नः) हमें (कवीनां) क्रान्तदर्शी ऋषियों को (दृशे आ) साक्षात् होता है, उनको ज्ञान प्रदान करता है।

ब्र॒ध्नः स॒मीची॑रु॒षसः॒ सम॑ैरयन्।
अ॒रे॒पसः॒ सचे॑तसः॒ स्वस॑रे मन्यु॒मत्त॑माश्चि॒ते गोः ॥२॥

भा०—सूर्य जिस प्रकार अपनी प्रातःकालीन स्वच्छ, उत्तम कान्तियुक्त दिन को प्रकाशित करनेवाली उषाओं को प्रतिदिन प्रेरित करता है उसी प्रकार आत्मा भी अपनी दीप्तियुक्त, निष्पाप, ज्ञानमय, दीप्तियुक्त ज्योतिष्मती प्रज्ञाओं को प्रेरित करता है। जिस प्रकार (ब्रध्नः) सूर्य (अरेपसः) मल, दोष से रहित, (स-चेतसः) ज्ञानसहित, सदृश, मनोहर (स्व-सरे

[२२] १–(प्र०) 'आन्वोदृशः' (च०) 'विधर्मे' इति साम०। 'आनोऋषिः कवीनामादीतिह।' इति पैप्प० सं०।
२–'मन्युमन्ताश्चितागोः' इति साम०।

मन्युमत्-तमाः) दिन के समय अति प्रकाशमय (समीचीः) उत्तम, सुहावनी (उपसः) उषाओं को (गोः चिते) जंगम, पृथिवी के पदार्थ दर्शाने के लिये (सम् एरयन्) उत्तमरीति से प्रकट करता है उसी प्रकार (ब्रह्मः) प्राण, इन्द्रिय और मन को एकत्र बांधने वाला ध्यानवद्ध योगी, (गोः चिते) सर्वप्रेरक, परम प्रभु के दर्शन के लिये (स्व-सरे मन्युमत्-तमाः) अपने में व्यापक प्रभु में अति मननशील (अरेपसः) पाप, मल, विक्षेप से रहित (स-चेतसः) ज्ञान और चितिशक्ति से सम्पन्न, (समीची) उत्तम रीति से आत्मा को प्राप्त होनेवाली (उपसः) पाप या तामस आवरण को जला देने वाली, विशोधका ज्योतिष्मती प्रज्ञाओं को (सम् ऐरयन्) उत्तम रीति से प्रेरित करता है ।

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तानि नव, ऋचश्च द्वाविंशतिः]



[२३ (२४)] बुरे विचार और बुरे आचार का त्याग ।

यम ऋषिः । दुःस्वप्ननाशनो देवता । अनुष्टुप् । एकर्च सूक्तम् ।

दौष्व॑प्न्यं॒ दौर्जी॑वित्यं॒ रक्षो॑ अ॒भ्व॑/मरा॒य्य/ः ।
दु॒र्णाम्नीः॒ सर्वा॑ दु॒र्वाच॒स्ता अ॒स्मन्नाश॑यामसि ॥१॥

अथर्व० ४ । १७ । ५ ॥

भा०—हम (दौः-स्वप्न्यम्) बुरे स्वप्नों का आना (दौः-जीवित्यं) दुःख से जीवन का बीतना, जीवन में बुरे भाव, बुरे आचार और हीनता का होना, और (रक्षः) धर्म-कार्य में विघ्नों का होना, तथा (अभ्वम्) जीवन काल में सामर्थ्य का न रहना और (अराय्यः) समृद्धि सम्पत्ति, और उत्तम गुणों रहित दुष्टवृत्तियां और (दुः-नाम्नीः) बुरे व निन्दित

नाम वाली और (दुः-वाचः) दुष्ट वाणी बोलने वाली सब हीन मानस वृत्तियों को हम (अस्मत्) अपने से (नाशयामसि) दूर करें ।

इसकी व्याख्या (४।१७।५) में भी कर आये हैं । वहां इस ऋचा का शुक्र ऋषि और अपामार्ग देवता है ।



[२४ (२५)] सर्वप्रद प्रभु ।

ब्रह्माऋषिः । सविता देवता । त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

यन्न इन्द्रो अखनद् यदग्निर्विश्वे देवा मरुतो यत् स्वर्काः ।
तदस्मभ्यं सविता सत्यधर्मा प्रजापतिरनुमतिर्नि यच्छात् ॥१॥

भा०—(यत्) जो फल, (नः) हमें (इन्द्रः) इन्द्र, राजा, (अग्निः) ज्ञानवान् राजा का भी अग्रणी, पुरोहित आचार्य, (विश्वे देवाः) राष्ट्र के और समस्त शक्तिधारी, विद्वान् अधिकारी (मरुतः) मरुद्गण, वेगवान् सुभट, वीर पुरुष और (सु-अर्काः) उत्तम ज्ञानी, प्रकाशवान् शक्तिमान् वैज्ञानिक लोग (अखनत्) खोद कर गुप्त २ स्थान से ला ला कर हमें देते हैं (तत्) उस वस्तु को वास्तव में हमें (सत्य-धर्मा) सत्य का धारण करने वाला (प्रजा-पतिः) सब प्रजा का परिपालक स्वामी, (सविता) सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक (अनु-मतिः) सब का अनुज्ञापक प्रभु ही (नि यच्छात्) दिया करता है ।



[२५ (२६)] विष्णु और वरुण रूप परमेश्वर का सबसे पूर्व स्मरण ।

मेधातिथिर्ऋषिः । विष्णुर्वरुणश्च देवते । १, २ त्रिष्टुभौ द्वयृचं सूक्तम् ॥

---

[२४] १–(प्र०) 'असनत्' इति सायणाभिमतः । 'अषनत्' इति क्वचित् ।

ययोरोजसा स्कभिता रजांसि यौ वीर्यैर्वीरतमा शविष्ठा ।
यौ पत्येते अप्रतीतौ सहोभिर्विष्णुमगन् वरुणं पूर्वहूतिः ॥१॥
यजु० ८ । ५६ ॥

भा०—(ययोः) जिन दोनों के (ओजसा) बल से (रजांसि) लोक (स्कभिता) थमे हुए अपने अपने स्थान स्थिर हैं और (यौ) जो दोनों (शविष्ठा) अति बलवान् और (वीर्यैः) नाना बलों से (वीर-तमा) सब में अधिक वीर, वीर्यवान्, सब के प्रेरक हैं, और (यौ) जो दोनों (सहोभिः) अपने दूसरों को दमन करने वाले बलों से (अप्रतीतौ=अप्रति-इतौ) इतने बढ़े हुए हैं कि उनके बराबरी कोई नहीं कर सकता इसीलिये वे ही (पत्येते) समस्त संसार के पालक स्वामी के समान ईश्वर बने हुए हैं उन दोनों (विष्णुम्) विष्णु और (वरुणम्) वरुण को (पूर्वहुतिः अगन्) हमारी सब से प्रथम पुकार स्मरण या नाम कीर्त्तन पहुँचे । अर्थात् सब से प्रथम हम उन दोनों शक्तियों का स्मरण करें ।

यस्येदं प्रदिशि यद् विरोचते प्र चानति वि च चष्टे शचीभिः ।
पुरा देवस्य धर्मणा सहोभिर्विष्णुमगन् वरुणं पूर्वहूतिः ॥ २ ॥

भा०—उक्त दोनों शक्तियों को और अधिक स्पष्ट करते हैं । इस विशाल संसार में (यस्य प्र-दिशि) जिसके शासन में (इदं) यह समस्त विश्व (वि-रोचते) नाना प्रकार से शोभा पा रहा है (प्र अनति च) और उत्तम रूप से प्राण धारण करता है, जीवित रहता है और (शचीभिः च विचष्टे) नाना शक्तियों से प्रेरित होकर नाना प्रकार के पदार्थों को

[२५] १–(द्वि०) 'वीरेभिः' (तृ०) 'या', 'अप्रतीता' इति मै० सं० । (द्वि०) 'शविष्ठा', 'अप्रतीत्ता' इति तै० ब्रा० । (प्र०) 'स्तभिता' (द्वि०) शचीभिः' इति पैप्प० सं० ।
२–(तृ०) 'ययोर्महो ऋतस्य धर्मणा युवाना' । इति पैप्प० सं० ।

देखता, पाता, अनुभव करता है। और जिस (देवस्य) सर्व प्रकाशक, सर्व शक्ति के प्रदाता, प्रभु परमात्मा के (धर्मणा) धारक बल और (सहोभिः) दमनकारी बलों से (पुरा) पूर्व कल्पों में भी यह जगत् उसके शासन में रहा, प्राण लेता रहा, और नाना शक्तियों से नाना फल प्राप्त करता रहा वह शक्ति विष्णु और वरुण हैं ये। दोनों उसी के नाम हैं। उस (विष्णुम् वरुणम्) व्यापक और कष्टनिवारक प्रभु को (पूर्व-हूतिः) सब से प्रथम हमारा स्मरण, नाम ग्रहण (अगन्) प्राप्त हो।



[२६ (२७)] व्यापक प्रभु की स्तुति।

मेधातिथिर्ऋषिः। विष्णुर्देवता। १ त्रिष्टुप्। २ त्रिपदा विराड् गायत्री। ३ त्र्यवसाना षट्पदा विराट् शक्करी। ४–७ गायत्र्यः। ८ त्रिष्टुप्। अष्टर्चं सूक्तम्॥

विष्णोर्नु कं प्रा वोचं वीर्याणि यः पार्थिवानि विममे रजांसि।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः॥१॥
यजु० ५। १८॥ ऋ० १। १५४। १॥

भा०—(विष्णोः) व्यापक परमेश्वर के (वीर्याणि) बल, शक्ति पूर्वक किये विशाल कार्यों को (नु कम्) शीघ्र ही, यथाशक्ति (प्र वोचम्) उत्तम रूपसे विस्तार से कहूं (यः) जो प्रभु (पार्थिवानि) पृथिवी=तीनों लोकों में विदित या तीनों लोकों के घटक (रजांसि) प्रकृति के रजोगुण से युक्त क्रियावान्, दीप्तिमान् सूर्य आदि गतिमान् लोकों को (वि-ममे) नाना प्रकार से बनाता है और (यः) जो (उत्तरम्) उससे भी उत्कृष्ट या उससे पूर्व विद्यमान (सधस्थम्) उन लोकों के साथ नित्य सम्बन्ध से

[२६] १–यजुषि ऋग्वेदे च औतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः। (प्र०) 'वीर्याणि प्रवोचं' इति ऋ०।

रहने वाले, कारणरूप प्रकृति तत्व को या द्यौलोक को (त्रेधा) तीन प्रकार के तीन गुणों द्वारा (वि-चक्रमाणः) व्यापक होकर (अस्कभायत्) वश किये हुए है। वही परमात्मा (उरुगायः) सब बड़े २ महात्माओं से गाया जाता है या वही वेद द्वारा बहुत से पदार्थों का ज्ञानोपदेश करता है।

प्र तद् विष्णुं स्तवते वीर्याणि मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।
परावत आ जगम्यात् परस्याः ॥२॥ यजु० ५। २० प्र० द्वि० ॥
ऋ० १। १५४। २ प्र० द्वि० ॥

भा०—(तत्) उस अलौकिक परमब्रह्म के ही (वीर्याणि) शक्तिशाली कार्यों को देख कर (विष्णुः) उस व्यापक परमेश्वर की (स्तवते) स्तुति की जाती है। वही (भीमः मृगः न) भयानक सिंह के समान (कुचरः) सर्वव्यापक और (गिरिष्ठः) सब वेदवाणियों में विराजमान है। वह (परस्याः परावतः) दूर से दूर देश में विद्यमान हो कर भी वहां से हमारे हृदयों में (आ जगम्यात्) अति समीप ही विराजता है।

यस्योरुषुं त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा।
उरु विष्णो वि क्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि।
घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर ॥ ३ ॥
(प्र०—च०) यजुः ५। १६। ऋ० १। १५४। १ ॥

भा०—(यस्य) जिस परमेश्वर के (उरुषु) विशाल (त्रिषु) तीनों (विक्रमणेषु) विक्रमों में या नाना प्रकार के क्रमों, सर्गों वाले तीनों प्रकार के जगतों में, ईश्वर के पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ इन तीनों प्रकार की रचनाओं में (विश्वा) समस्त (भुवना) लोक (अधि-क्षियन्ति) निवास करते हैं। हे (विष्णो) व्यापक परमेश्वर ! आप (उरु) विशाल जगत् में (वि क्रमस्व) नाना प्रकार से व्यापक हो रहे हो, आप (नः)

२–(प्र०) 'वीर्येण' इति ऋ०।

हम जीवों के (क्षयाय) निवास के लिये ही (उरु) इन विशाल लोकों की (कृधि) रचना करते हो । हे (घृत-योने) समस्त क्षरणशील इस संसार के उत्पत्तिस्थान, आश्रय और आदिकारण अथवा घृत=तेजोमय सूर्यादि लोकों के आश्रय आप (घृतम्) इस समस्त तेजोराशि अथवा इस क्षरणशील विश्व संसार को (पिब) पान करते हो, प्रलय काल में ग्रस लेते हो और (यज्ञ-पतिं) यज्ञ=जीवनमय यज्ञ या देह में क्रतुमय इस जीव को (प्र-प्र तिर) पार करो ।

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदा । समूढमस्य पांसुरे ॥४॥

ऋ० १ । २२ । ७ ॥ यजु० ५ । १५ ॥ साम० उ० २ । २ । ५ ॥

भा०—(विष्णुः) व्यापक परमेश्वर ने (इदम्) यह समस्त जगत् (वि च क्रमे) नाना प्रकार से बनाया और उसमें स्वयं व्याप्त हुआ और (त्रेधा) तीन प्रकार से (पदा) पदों, ज्ञान साधनों या विशेष शक्तियों को (नि दधे) गूढ़ रूप से धारण किया । और (अस्य) इसका परम शक्तिमय रूप (पांसुरे) लोकों से व्याप्त बल में यह समस्त विश्व (सम्-उढम्) स्थित है । इसकी आध्यात्मिक पक्ष में योजना देखो (साम० भाष्य पृ० ९२४) तथा (साम० भाष्य पृ० ७५९) ।

त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ।
इतो धर्माणि धारयन् ॥ ५ ॥

ऋ० १ । २२।१८ यजु० १३।४३॥

भा०—(गोपाः) समस्त गतिशील, लोकों और इन्द्रियों का पालक (अदाभ्यः) अविनाशी, नित्य, (विष्णुः) व्यापक, परमात्मा, (इतः) गति द्वारा ही (धर्माणि) समस्त लोकों को (धारयन्) धारण

४–(द्वि०) 'पदम्' इति ऋ० । 'पांसुले' इति सा० ।
५–(तृ०) 'अतः' इति ऋ० । 'ततः' इति तै० ब्रा० ।

करता हुआ (त्रीणि) तीन (पदा) शक्तियों को (वि चक्रमे) सर्वत्र प्रेरित करता है ।

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ६ ॥

ऋ० १।२२।१९॥

भा०—(विष्णोः) सर्वव्यापक परमात्मा के (कर्माणि) आश्चर्यजनक कामों को (पश्यत) देखो (यतः) जिनसे जीव लोक (व्रतानि) सब ज्ञानों और कर्त्तव्य कर्मों को (पस्पशे) प्राप्त करता है। वह प्रभु ही (इन्द्रस्य) जीवात्मा का (युज्यः) सदा साथ देनेवाला (सखा) परम मित्र है ।

तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुराततम् ॥ ७ ॥

ऋ० १ । २२ । २० यजु । ६ । ५ ॥

भा०—(विष्णोः) सर्वव्यापक ईश्वर के (परमम् पदम्) सबसे उत्कृष्ट, परम मोक्ष पद को (सूरयः) विद्वान् लोग (सदा पश्यन्ति) सदा साक्षात् करते हैं वह परम ज्ञानमय मोक्षपद (दिवि) द्यौलोक, अन्तरिक्ष में (चक्षुः इव) सब पदार्थों के दर्शक सूर्य के समान अथवा (दिवि) प्रकाश में (चक्षुः इव) आँख के समान (आ-ततम्) खुला है । उससे पहुँच कर आत्मा को सब पदार्थों का साक्षात् ज्ञान हो जाता है। निरतिशयं सार्वज्ञबीजम्' । यो० सू० ॥

(त्रेधा नि दधे पदम्) समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसि इत्यौर्णवाभः । नि० ॥ प्राणा वै गयाः । श० १४।७।१।७॥ प्रजायाः शिर उत्तमो भागो यत् कारणं तद्विष्णुपदं विद्यादि धनानां यच्छिरः फलम् आनन्दः सोऽपि विष्णुपदाख्यः । तीन प्रकार का जगत्—(१) प्रकाश रहित पृथिवीमय

७–(द्वि०.) 'शच्या' इति तै० स० ।

स्थूल (२) कारणरूप अदृश्य सूक्ष्म, (३) प्रकाशमय सूर्य आदिक । विष्णोः कर्माणि=जगत् का रचन, पालन और प्रलय आदि कर्म ।

दिवो विष्ण उत वा पृथिव्या महो विष्ण उरोरन्तरिक्षात् ।
हस्तौ पृणस्व बहुभिर्वसव्यैराप्रयच्छ दक्षिणादोत सव्यात् ॥८॥

यजु० ५ । १० ॥

भा०—हे (विष्णो) व्यापक परमेश्वर ! आप (दिवः) द्यौलोक से (उत वा) और (पृथिव्याः) पृथिवी लोक से और (महः) बड़े (उरोः) विशाल (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष लोक से प्राप्त होने योग्य (बहुभिः) बहुत से (वसव्यैः) धनों से (हस्तौ) अपने ज्ञान और कर्म के दोनों हस्तों को (पृणस्व) भर लें और (दक्षिणात्) दायें (उत) और (सव्यात्) वायें, दोनों हाथों से (आ प्रयच्छ) हमें प्रदान करें ।



[२७ (२८)] बुद्धिरूप कामधेनु का वर्णन ।

मेधातिथिर्ऋषिः । इडा देवता । त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

इडैवास्माँ अनु वस्तां व्रतेन यस्याः पदे पुनते देवयन्तः ।
घृतपदी शक्वरी सोमपृष्ठोप यज्ञमस्थित वैश्वदेवी ॥१॥

भा०—(इडा) श्रद्धा बुद्धि, सत्य धारण करने वाली बुद्धि रूप कामधेनु (एव) ही (अस्मान्) हमें (व्रतेन) ज्ञान और कर्म से

८–(प्र०) 'दिवोवा विष्ण' (द्वि०) 'महोवा' इति यजु० । (द्वि०) उरोर्वा विष्णो बृहतोऽन्तरिक्षात्' इति मै० सं० । 'उभा हि हस्ता वसुना पृणस्व' इति यजु० ।

[२७] १–(प्र०) 'अनुघृतेन' (तृ०) 'वैश्वानरी शक्वरी वावृधाना ।' इति आप० श्रौ० सू० ।

(अनु वस्ताम्) आच्छादित करे, सुशोभित करे, (यस्याः) जिसके (पदे) पद अर्थात् चरण, प्राप्ति और ज्ञान में (देवयन्तः) अपने को देव, उत्तम गुण सम्पन्न बनाने की चेष्टा करने वाले अथवा देव, ईश्वर और विद्वानों की उपासना करनेवाले लोग अपने को (पुनते) पवित्र कर लेते हैं । वह (घृतपदी) तेजोमय स्वरूप वाली, ज्ञानमयी, पद पद पर घृत के समान पुष्टिकारक, बुद्धिवर्धक पदार्थ को करनेवाली कामधेनु के समान (शक्वरी) सब प्रकार से शक्तिमती, (सोम-पृष्ठा) सोम–आत्मा, और ब्रह्म को अपने पीठ पर धारण करनेवाली, आत्मा और ब्रह्मज्ञान की पोषक होकर (वैश्वदेवी) समस्त विद्वानों को हितकारक और आत्मा के सब इन्द्रियगण के लिये सुखकारी होकर (यज्ञम्) यज्ञ, शुभकर्म या परमात्मा में (अस्थित) स्थित है ।



[२८ (२९)] कुशल की प्रार्थना ।

मेधातिथिर्ऋषिः । वेदादयो देवताः । त्रिष्टुप् एकर्चं सूक्तम् ॥

वेदः स्वस्तिर्द्रुघणः स्वस्तिः परशुर्वेदिः परशुर्नः स्वस्ति ।
हविष्कृतो यज्ञिया यज्ञकामास्ते देवासो यज्ञमिमं जुषन्ताम् ॥१॥

भा०—(वेदः) वेद, पुरुष और दर्भमुष्टि (स्वस्तिः) हमें शुभ कल्याणकारी हो, (द्रुघणः) जिस पर बढ़ई लकड़ी रख कर काटता है वह लकड़ी का मुड़ भी (स्वस्ति) शुभकारी हो । (परशुः) लकड़ी काटने का फरसा और (वेदिः) यज्ञकी वेदी और (परशुः) घास काटने की दात्री ये पदार्थ भी (नः) हमें (स्वस्ति) शुभ और सुखकारी हों । (हविः-कृतः) अन्न हवि को तैयार करने वाले(यज्ञ-कामाः) यज्ञ के

[२८] १–(प्र० द्वि०) 'स्फ्यः स्वस्तिर्घनः स्वस्तिः परशुर्वेदिः पाशुर्नः स्वस्तिः' इति तै० सं० ।

अभिलाषी (यज्ञियाः) यज्ञ करने में कुशल (देवासः) विद्वान् लोग आकर (इमं यज्ञं जुषन्ताम्) इस यज्ञ को प्रेमपूर्वक सेवन करें ।

अध्यात्म में—वेद=पुरुष । द्रुघण=प्राण, परशु=ज्ञानवज्र, वेदि=चिति-शक्ति । यज्ञिय=इन्द्रियें । यज्ञ=आत्मा ।



[२९ (३०)] अग्नि और विष्णु की स्तुति ।

मेधातिथिर्ऋषिः । अग्नाविष्णू देवते । १, २ त्रिष्टुभौ । द्व्यृचं सूक्तम् ।

अग्नाविष्णू महि तद् वां महित्वं पाथो घृतस्य गुह्यस्य नाम ।
दमेदमे सप्त रत्ना दधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमा चरण्यात् ॥१॥

भा०—हे (अग्नाविष्णू) अग्ने ! और हे विष्णो ! (वां) तुम दोनों का (तद्) वह अपूर्व (महि) बड़ा (महित्वं) यश है कि आप दोनों (गुह्यस्य) गुहा में स्थित, सुगूढ़ (घृतस्य) प्रस्रवण करने वाले, तेजोमय, सार पदार्थ के (नाम) स्वरूप को (पाथः) पान करते हो, अपने भीतर उसको धारण करते हो । आप दोनों (दमे-दमे) घर २ में (सप्त) सात (रत्ना) रमण करने योग्य शक्तियों को (दधानौ) धारण करते हो । (वां) तुम दोनों की (जिह्वा) जीभ (प्रति घृतम्) प्रत्येक घृत को (आचरण्यात्) आस्वादन करती है ।

अग्नाविष्णू महि धाम प्रियं वां वीथो घृतस्य गुह्या जुषाणौ ।
दमेदमे सुष्टुत्या वावृधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमुच्चरण्यात् ॥ २ ॥

भा०—हे (अग्नाविष्णू) अग्ने और विष्णो ! (वां) आप दोनों का (महि) बड़ा (प्रियम्) मनोहर (धाम) तेज और धारण सामर्थ्य है । और आप दोनों (घृतस्य) ज्योतिर्मय आत्मा के (गुह्या) गुह्य, गूढ़

(द्वि०) 'पातम्' इति शा० श्रौ० सू० । 'महित्वं वीताम्', 'गुह्यानि' (च०) 'चरण्येत्' इति तै० सं० । 'चरण्यत्', 'उपवां' शां० श्रौ० सू० ।

रहस्यमय तत्वों को, ज्ञानमय और कर्ममय रहस्यों को (जुषाणौ) सेवन करते हुए (वीथः) उनको प्राप्त करते हो । (दमे-दमे) प्रत्येक घर या देह में (सु-स्तुत्या) उत्तम स्तुति, ज्ञानशक्ति से (वव्रृधानौ) वृद्धि को प्राप्त होते रहते हो । (वां) आप दोनों की (जिह्वा) जिह्वा, आदान शक्ति (प्रति घृतम्) प्रत्येक घृत, तेजोमय उल्लास को (उत् चरण्यात्) प्राप्त करे । राष्ट्र में अग्नि-विष्णु=राजा, मन्त्री, राजा सेनापति, गृहस्थ में अग्नि-विष्णु=यजमान और पुरोहित । आधिदैविक में अग्नि-विष्णु=अग्नि और सूर्य ।



[३० (३१)] ज्ञानाञ्जन ।

भृग्वंगिरा ऋषिः । द्यावापृथिव्यौ, मित्रो ब्रह्मणस्पतिः, सविता च देवताः । बृहती छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

स्वा॒क्तं मे॒ द्यावा॑पृथि॒वी स्वा॒क्तं मि॒त्रो अ॑करय॒म् ।
स्वा॒क्तं मे॒ ब्रह्म॑ण॒स्पति॒ः स्वा॒क्तं स॑वि॒ता क॑रत् ॥ १ ॥

भा०—(द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी माता और पिता (मे) मेरी आंखों को (सु-आक्तम्) उत्तम रीति से अंजन करें, मुझे सब बातें खोल कर स्पष्ट रूप से बतलावें । (मित्रः) स्नेह करने वाला (अयम्) यह लोक भी (मे सु-आक्तं) मेरे आँखों में ज्ञान का उत्तम अञ्जन लगावें । वे भी मेरे आगे सब बातें स्पष्ट रखें । (ब्रह्मणस्पतिः) ब्रह्मवेदका परिपालक आचार्य भी (मे सु-आक्तं) मेरे आँखों में ज्ञान का अञ्जन करे, मुझे सब ज्ञान स्पष्ट रीति से उपदेश करे । (सविता) सब का उत्पादक प्रेरक

(द्वि०) 'जुषाणा' इति बहुत्र । (तृ०) 'वावृधाना' इति त० सं० । 'सुष्टुती' इति मै० सं० । 'सुष्टुतीर्वामियाना' इति आ० श्रौ० सू० । (द्वि०) 'पातं घृतस्य गुह्यां जुषाणः' इति पैप्प० सं० । (तृ० च०) 'दमे दमे समिधं यद्यग्ने प्रति ते जिह्वा घृतमुच्चरण्यत् ।' इति यजु० ८ । २४ ।

परमात्मा भी (मे सु-आक्त) मेरे हृदय के नेत्रों में अञ्जन लगा कर उनको दीर्घदर्शी करे। इस मन्त्र से ब्रह्मचारी की आँख में अंजन लगाने का विनियोग है।



[३१ (३२)] अपनी उन्नति के साथ द्वेषी के क्षय की प्रार्थना।

भृग्वं गिरा ऋषिः। आयुर्देवता। अनुष्टुप् छन्दः। एकर्चं सूक्तम्॥

इन्द्रो॒तिभि॑र्बहु॒लाभि॑र्नो अ॒द्य या॑वच्छ्रे॒ष्ठाभि॑र्मघवञ्छूर जिन्व।
यो नो॒ द्वेष्ट्यध॑रः सस्पदी॒ष्ट यमु॑ द्वि॒ष्मस्तमु॑ प्रा॒णो ज॑हातु॥१॥

ऋ० ३। ५३। २१॥

भा०—हे इन्द्र राजन्! हे (शूर) बलवान् शक्तिमन्! (यावत्-श्रेष्ठाभिः) अति अधिक श्रेष्ठ, समस्त (बहुलाभिः) नाना प्रकार की (ऊतिभिः) रक्षा करने की विधियों से (नः) हमें (अद्य) आज, सदा ही (जिन्व) जीवित रख, हमारे जीवन की रक्षा कर। और (नः) हमसे (यः) जो (द्वेष्टि) द्वेष करे, प्रेम का वर्त्ताव न करे (सः) वह (अधरः) नीचे ही नीचे (पदीष्ट) चलता चला जावे। और (यम् उ) जिसको (द्विष्मः) हम द्वेष करें (तम् उ) उसको (प्राणः जहातु) प्राण छोड़ दे, वह जीवित न रहे।



[३२ (३३)] दीर्घ आयु प्राप्ति की प्रार्थना।

ब्रह्मा ऋषिः। आयुर्देवता। अनुष्टुप् छन्दः। एकर्चं सूक्तम्॥

उप॑ प्रि॒यं पनि॑प्नतं॒ युवा॑नमाहुती॒वृध॑म्।
अग॑न्म॒ बिभ्र॑तो॒ नमो॑ दी॒र्घमायुः॑ कृणोतु मे॥१॥

ऋ० ६। ६७। २॥

[३१] १–(द्वि०)'याच्छ्रष्ठाभिर्म' इति ऋ०।

[३२] १–'दीर्घमायुः कृणोतु मे' इति चतुर्थः पादो ऋग्वेदे नास्ति।

भा०—हम (प्रियं) अपने को प्रिय लगने वाले (पनिप्नतम्) सदा क्रियाशील, नित्य प्रयोग में आने वाले (युवानम्) सदा तरुण, नित्य नये, प्रबल (आहुती-वृधम्) आहुति पड़ने पर बढ़ने वाले हम लोग (नमः बिभ्रतः) अन्न को धारण करके अग्नि, जाठर अग्नि के (उप अगन्म) समीप प्राप्त हों। इससे वह प्रबल जाठर अग्नि (मे) मेरी (दीर्घम् आयुः) दीर्घ आयु (कृणोतु) करे। मन्दाग्नि में अन्न का भोजन करना आयुनाशक है। प्रबल जाठर अग्नि के होते हुए भूख लगने पर अन्न खाने से आयुष्य बढ़ता है।



[३३ (३४)] दीर्घायु की प्रार्थना।

ब्रह्मा ऋषिः। मरुतः पूषा अग्निश्च मन्त्रोक्ता देवताः। पथ्यापंक्तिश्छन्दः। एकर्चं सूक्तम् ॥

सं मा॑ सिञ्चन्तु म॒रुत॒: सं पू॒षा सं बृह॒स्पति॑ः।
सं मा॒यम॒ग्निः सि॑ञ्चतु प्र॒जया॑ च॒ धने॑न च दी॒र्घमायु॑: कृणोतु मे ॥१॥

भा०—(मरुतः) प्राण अपान, व्यान समान, उदान आदि शरीर-व्यापी मरुत्गण और शुद्ध वायुएं (पूषा) पुष्टिकारक मन और सूर्य, (बृहस्पतिः) बृहती वाणी का पति आत्मा या परमात्मा और (अयम्) यह (अग्निः) अग्नि=अग्नि जाठर अग्नि (मां) मुझे (प्र-जया) प्रजा से और (धनेन च) धन से (सं सिञ्चन्तु, सं, सं, सं सिञ्च) अच्छी प्रकार सेचें मुझे प्रदान करें और (मे) मेरी (आयुः) आयु को भी (दीर्घम्) लम्बा (कृणोतु) करें, बढ़ावें।



[३३] १–(द्वि०) 'स इन्द्रः' (प्र०) 'सं वः' (तृ०) 'सिञ्च आयुषा च बलेन च' इति तै० आ०।

[३४ (३५)] शत्रु पराजय की प्रार्थना ।

अथर्वा परमेष्ठी च ऋषिः । जातवेदो देवता । जगती छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ।

अग्ने जातान् प्र णुदा मे सपत्नान् प्रत्यजातान् जातवेदो नुदस्व ।
अधस्पदं कृणुष्व ये पृतन्यवोनागसस्ते वयमदितये स्याम ॥१॥

पूर्वार्धः, यजु० १५ । १ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने! विद्वन्! राजन्! प्रभो! तू (मे) मेरे (जातान्) उत्पन्न हुए (स-पत्नान्) शत्रुओं को (प्रणुद) दूर कर। और हे (जात-वेदः) समस्त उत्पन्न हुए पदार्थों को जानने हारे विद्वन्! (अजातान्) तू उन को भी जो अभी शत्रु बने नहीं हुए प्रत्युत उनके शत्रु बन जाने के लक्षण दीख रहे हों उन को भी (प्रति नुदस्व) दूर कर। और (ये) जो (पृतन्यवः) पृतना=सेना लेकर मुझ पर चढ़ाई करने के उद्योग में हैं उनको (अधः पदम्) मेरे चरण के नीचे, या मेरे से नीचे स्थान पर, मेरे से कम योग्यता और कम मान, प्रतिष्ठा वाला (कृणुष्व) कर। (ते अदितये) तुझ अखण्डनीय शासन करने वाले राजा के लिये (वयम्) हम प्रजागण सदा (अनागसः) निरपराध (स्याम) रहें।



[३५ (३६)] शत्रु पराजय की प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । जातवेदा देवता । १ जगती छन्दः । २,३ त्रिष्टुभौ ।
तृचं सूक्तम् ॥

[३४] १–"प्रणुद नः सपत्नान्", 'नुद जातवेद' इति यजु०। उत्तरार्धस्तु यजुषि 'अधि नो ब्रूहि सुमना अहेडंस्तवस्याम शर्मस्त्रिवरूथ उद्भौ।' इति यजु०।

प्रान्यान्त्सपत्नान्त्सहसा सहस्व प्रत्यजातान् जातवेदो नुदस्व ।
इदं राष्ट्रं पिपृहि सौभगाय विश्वं एनमनु मदन्तु देवाः ॥१॥

पूर्वार्धः यजु० १५ । २ ॥

भा०—हे अग्निस्वरूप (जात-वेदः) अपने उत्पन्न शत्रु और मित्र सब को भली प्रकार से जानने वाले प्रभो ! राजन् ! तू (अन्यान्) अपने राष्ट्र के प्रजाजनों से भिन्न (स-पत्नान्) तेरे समान तेरे राष्ट्र पर अपना आधिपत्य जनाने का दावा करने वाले शत्रुगण को (सहसा) बलपूर्वक (प्रहस्व) अच्छी प्रकार दबा और (अजातान्) और अप्रकट शत्रुओं को (प्रनुदस्व) दूर कर दे और (सौभगाय) और उत्तम धन धान्य समृद्धि के लिये (राष्ट्रं) इस राष्ट्र को (पिपृहि) पालन कर और सब को सन्तुष्ट कर । जिससे (एनं) इस राजा को (देवाः) समस्त विद्वान् लोग शिल्पी गण, विद्या, शिल्प, धन धान्य से सम्पन्न शक्तिमान् लोग (विश्वे) सब प्रजाएं भी (अनु मदन्तु) इसके उत्तम शासन से प्रसन्न होकर इसे आशीर्वाद दें ।

इमा यास्ते शतं हिराः सहस्रं धमनीरुत ।
तासां ते सर्वासामहमश्मना बिलमप्यधाम् ॥२॥

भा०—(इमाः) ये (याः) जो (ते) तेरी (शतं) सौ सैकड़ों (उत) और (सहस्रम्) हजारों (धमनीः) धमनी, स्थूल नाड़ियां हैं (तासां) उन (सर्वासां) सबके (बिलम्) मुख, छिद्र को (अहम्) मैं (अश्मना) पत्थर से, पत्थर के समान कठोर प्रतिबन्ध से (अपि अधाम्) बन्द करता हूं । शरीर की नाड़ियों और धमनियों के समान राजा के शक्ति

[३५]—'सहसा जातान् प्रणुदा नः सपत्नान्' इति यजु० ॥ (च०) अनु त्वा देवाः सर्वे जुषन्ताम्' इति पैप्प० सं० ।

२—(तृ०) 'सर्वासां साकम्' इति पैप्प० सं० ।

प्राप्ति करने और प्रजा को चूसने के सैकड़ों, छोटे बड़े साधन हैं उनको कठोर प्रतिबन्ध से रोकना चाहिये ।

परं योनेरवरं ते कृणोमि मा त्वां प्रजाभि भून्मोत सूनुः ।
अस्वं[३] त्वाप्रजसं कृणोम्यश्मानं ते अपिधानं कृणोमि ॥३॥

भा०—(ते) तेरे (योनेः) पद या स्थान या आश्रय के (परं) उत्कृष्ट, सबसे उन्नत पदको मैं प्रजा का मुख्य प्रतिनिधि (अवरम्) कुछ नीचा (कृणोमि) करता हूं और फिर भी (त्वा) मुझे (प्र-जा) प्रजा (उत) और (सूनुः) तेरा पुत्रः अथवा तेरा प्रेरक मन्त्री आदि भी (मा मा अभि भून्) तेरा तिरस्कार न करे । (त्वां) तुझको मैं (अस्वं) स्व-धनसे रहित और (प्रजसं) प्रजा पुत्र आदि से रहित (कृणोमि) करता हूं । (ते) तेरे (अपि-धानं) चारों तरफ़ का आवरण (अश्मानं) पत्थर का (कृणोमि) बनाता हूं ।

राजा की सर्वोत्कृष्ट पदवी पुरोहित से नीचे रहे । प्रजा और मन्त्रि और राजकुमार आदि राजा का अपमान न करें । राजा का अपना कोई धन या जायदाद नहीं । प्रजा और राष्ट्र ही उसकी सार्वजनिक जायदाद है । उसका पुत्र कोई उसका निजी पुत्र नहीं, प्रत्युत वह भी उसकी सामान्य प्रजा के समान है । वह राजा पुत्र होने से राज्य का स्वामी नहीं हो सकता । राजा का पुत्र राजा नहीं इसमें एक पत्थर के समान दृढ़ या अभेद्य है अर्थात् यह नियम खूब कठोर होना चाहिये । २, ३ इन दोनों मन्त्रों को सायण ने प्रद्वेषिणी स्त्री के गर्भ-निरोध-परक लगाया है । ग्रीफ़िथ ने इन दोनों मन्त्रों को अश्लील जानकर अर्थ नहीं किया । परन्तु अथर्व-सर्वानुक्रमणी के अनुसार इन दोनों का देवता पूर्वमन्त्रानुसार जात-वेदाः [राजा] है ।



३—'अश्मां त्वा अप्रजसं' इति सायणाभिमतः ।

[३६ (३७)] पति पत्नी की परस्पर प्रेम-वृद्धि की साधना ।

अथर्वा ऋषिः । अक्षि देवता । अनुष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

अक्ष्यौ॑ नौ॒ मधु॑संकाशे॒ अनी॑कं नौ॒ स॒मञ्ज॑नम् ।
अ॒न्तः कृ॑णुष्व॒ मां हृ॒दि मन॒ इन्नौ॑ स॒हास॑ति ॥१॥

भा०—वर वधू, पति पत्नी परस्पर प्रेम-व्यवहार बढ़ाने के लिए उक्त विचार सदा अपने चित्त में करें। हम पति और पत्नी हैं (नौ) हमारी (अक्ष्यौ) आँखें (मधु-संकाशे) मधुर मधु के समान प्रेममय अमृत से सिंची है। (नौ) हमारा (सम्-अञ्जनं) एक दूसरे के प्रति निःसंकोच व्यवहार और चित्त के भावों का स्पष्ट रूप में प्रकाश करना और परस्पर मिलना भी (अनीकम्) सुखपूर्ण, जीवन-दायक हो। हे प्रियतम! और प्रियतमे! (मां) मुझको तू (अन्तः हृदि) भीतर हृदय में (कृणुष्व) रख ले और (नौ) हम दोनों का (मनः इत्) मन भी (सह असति) सदा साथ रहे।



[३७ (३८)] पतिपत्नी के परस्पर प्रेम-वृद्धि की साधना ।

अथर्वा ऋषिः । पतिर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

अ॒भि त्वा॒ मनु॑जातेन॒ दधा॑मि॒ मम॒ वास॑सा ।
यथासो॒ मम॒ केव॑लो॒ नान्यासां॑ की॒र्तया॑श्च॒न ॥१॥

भा०—हे प्रियतम! हे मेरी प्रियतमा स्त्री! (मम) अपने (मनु-जातेन) मनु=मनन, दृढ़ संकल्प से बने, (वाससाः) अपने अच्छादन करने वाले वस्त्र से (त्वा) तुझको (अभि दधामि) बांधती हूं। (यथा) जिस से तू (केवलः) केवल, एकमात्र पति (मम असः) मेरे अतिरिक्त दूसरी स्त्रियों के विषय में (न चन कीर्त्तयाः) कभी बात भी न किया कर।

[३६] (प्र०) 'अक्षौ' इति सायणाभिमतः।

[३८ (३९)] स्वयंवर-विधान ।

अथर्वा ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । १, २, ४, ५ अनुष्टुप् ।
३ चतुष्पादुष्णिक् । पञ्चर्चं सूक्तम् ।

इ॒दं ख॑नामि भेष॒जं मां॑प॒श्यम॑भिरो॒रुद॑म् ।
प॒रा॒य॒तो नि॒वर्त॑नमाय॒तः प्र॑ति॒नन्द॑नम् ॥१॥

भा०—मैं स्त्री (इदं) इस (भेषजं) रोग और अपने दुःख को दूर करने वाली औषध को (खनामि) खोदती हूं। यह औषध ऐसी है कि (मां-पश्यम्) जो पुरुष मुझे देखेगा यह ओषधि इसी (अभि-रोरुदम्[1]) दूर जाने से रोक कर खड़ा कर लेगी और यदि वह दूर भी चला जाय तो (परायतः) दूर के देश से भी (निवर्त्तनम्) उसे लौटा लेगी, (आयतः) और मेरे प्रति आते हुए पुरुष को (प्रति नन्दनम्) प्रसन्न कर देगी। स्वयंवरात कन्या आसुरी नामक दिव्य ओषधि को इस कल्प से स्वयं धारण करती है।

येना॑ निच॒क्र आ॑सु॒रीन्द्रं॑ दे॒वेभ्य॒स्परि॑ ।
तेना॒ नि कु॑र्वे॒ त्वाम॒हं यथा॒ तेऽसा॑नि सुप्रि॒या ॥२॥

भा०—(आसुरी) आसुरी नामक ओषधि या प्राणशक्ति (येन) जिस प्रभाव से (देवेभ्यः) इन्द्रियों के (परि) ऊपर (इन्द्रं) इन्द्र=आत्मा को (नि चक्रे) बलशाली करती है। हे पुरुष ! (तेन) उसी बलसे (अहं) मैं स्वयंवरा कन्या स्वयं (त्वाम्) तुझ को (नि कुर्वे) सर्वथा अपने पर अधिकारी बनाती हूं। (यथा) जिससे (ते) तेरी मैं (सु-प्रिया) बहुत प्यारी (असानि) हो जाऊं।

---

[३८] १—'साम्पश्यम्' इति क्वचित्, वेबरकामितश्च ।
२—पत्याः अन्यनारी संसर्गमभितोनिरुन्धदिति सायणः ।

प्रतीची सोममसि प्रतीच्युत सूर्यम् ।
प्रतीची विश्वान्देवान् तां त्वाच्छावदामसि ॥३॥

भा०—पुरुष कन्या के प्रति कहते हैं । (सोमं प्रतीची असि) तू सौम्यगुण युक्त पुरुष के प्रति पत्नी भाव से आना चाहती है और तू (सूर्यम् प्रतीची) सूर्य=विद्वान्, या उत्तम सन्तानोत्पन्न करने में समर्थ पुरुष के प्रति जाना चाहती है । और (विश्वान् देवान् प्रतीची) समस्त देव विद्वानों के सन्मुख आना चाहती है । (तां) ऐसी उत्तम चरित्रवती (त्वाम्) तुझको हम (अच्छा वदामः) उत्तम कहते हैं ।

अहं वदामि नेत् त्वं सभायामह त्वं वद ।
ममेदसस्त्वं केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन ॥४॥

भा०—स्वयंवरा कन्या पुरुष के प्रति कहती है । (अहम्) और (सभायाम्) विद्वानों की सभा में (अहम् वदामि) जब मैं भाषण करूँ तब (न इत् त्वम्) तू भाषण मत कर । (अह) और बाद मेरे बोल चुकने पर (त्वम् वद) तू भी अपनी अभिलाषा, और योग्यता प्रकट कर इस प्रकार दोनों का परस्पर अभिप्राय प्रकट हो जाने के उपरान्त यदि तुम्हारी अभिलाषा गृहस्थ में मेरे संग रहने की दृढ़ हो तो (त्वम्) तू (मम इत्) मेरा ही होकर (असः) रह, (अन्यासाम्) उसके बाद और स्त्रियों के विषय (न चन कीर्तयः) का नाम भी मत लेना ।

यदि वासि तिरोजनं यदि वा नद्यस्तिरः ।
इयं ह मह्यं त्वामोषधिर्बद्ध्वेव न्यानयत् ॥५॥

भा०—हे मेरे अभिलाषी पुरुष ! (यदि वा) चाहे तू (तिरः

४—'अहं वदानि मह त्त्वम्' इति पैप्प० सं० ।

५—(प्र०) 'तिरोचनम्' इति सायणाभिमतः । (तृ०) 'इयं त्वा मह्यमोषधिः' इति पैप्प० सं० ।

जनम्) जनों के भीतर, अरण्यों में (यदि वा) और चाहे (नद्यः) नदी के भी (तिरः) पार हो। (इयम्) यह (ओषधिः) ओषधि जिसको मैं स्वयंवरा कन्या धारण करती हूँ वह (त्वाम्) तुझको (मह्यम्) मेरे लिये, मुझे प्राप्त होने के लिए (बद्ध्वा इव) मानों बाँध कर इस जन सभा में (नि आनयत्) अवश्य लायेगी।

सायण ने यह सूक्त पति वशीकरण के लिये आसुरी ओषधि को बाँध कर पत्नी के मुख से कहलाया है। परन्तु चतुर्थ मन्त्र हमें स्वयंवरा-कन्या-परक लगाने की प्रेरणा करता है।

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

[तत्र षोडश सूक्तानि, ऋचश्चैकत्रिंशत्]



[३९ (४०)] रससागर व ईश्वर का स्मरण।

प्रस्कण्व ऋषिः। मन्त्रोक्तः सुपर्णो देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। एकर्चं सूक्तम् ॥

दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तमपां गर्भं वृषभमोषधीनाम्।
अभीपतो वृष्ट्या तर्पयन्तमा नो गोष्ठे रयिष्ठां स्थापयाति ॥१॥

ऋ० १ । १६४ । ५२ ॥

भा०—(दिव्यम्) द्यौलोक में या दिव्=मोक्ष में विद्यमान् (सुपर्णम्) शोभन रूप से पतनशील, पालन और ज्ञान से युक्त (पयसम्) ज्ञानमय आत्मबल से युक्त (बृहताम्) महान् (अपाम् गर्भम्) कर्मों

[३६] —'ऋग्वेदे दीर्घतमा ऋषिः। सरस्वान् सूर्यो वा देवता। (प्र०) 'वायसं' (द्वि०) 'दर्शतमोषधीनां।' (तृ०) 'तर्पयन्तं सरस्वन्तमवसे जोहवीमि' इति ऋ०। (तृ०) 'वृष्टिभिः' इति तै० सं०। (प्र०). 'दिव्यं समुद्रं' (तृ० चं०) 'अभीतं रय्या तपन्ति सरस्वन्तं रहिष्ठया (रयिष्ठां) सादये' इति पैप्प० सं०।

और विज्ञानों को ग्रहण करने वाले (ओषधीनाम्) ओषधी वनस्पतियों के प्रति (वृषभम्) जल वृष्टि करके उनको बढ़ाने वाले मेघ या सूर्य के समान ज्ञान-जलों और आनन्द वृष्टि के करनेवाले और (अभीपतः) और अपने शरण में आनेवाले जीवों को (वृष्ट्या) आनन्द और अमृत की वर्षा से (तर्पयन्तम्) तृप्त करते हुए उस परम पुरुष, परमेश्वर को हम स्मरण करें जो (नः) हमारे (गोष्ठे) गौ=इन्द्रियों के निवासस्थान देह में (रयिस्थाम्) रयि=बल=प्राणियों में भी अधिष्ठाता रूप से स्थापित करता है ।



[४० (४१)] रससागर ईश्वर का स्मरण ।

प्रस्कण्व ऋषिः । सरस्वान् देवता । १ भुरिक् । २ त्रिष्टुप् । द्व्यृचं सूक्तम् ।

यस्य॑ व्र॒तं प॒शवो॒ यन्ति॒ सर्वे॒ यस्य॑ व्र॒त उ॑प॒तिष्ठ॑न्त॒ आपः॑ ।
यस्य॑ व्र॒ते पु॑ष्टप॒तिर्निवि॑ष्ट॒स्तं सर॑स्वन्त॒मव॑से हवामहे ॥१॥

भा०—(यस्य) जिसके (व्रतं) किये, कर्म को (सर्वे पशवः) समस्त पशु, बद्ध जीव (यन्ति) अनुगमन करते हैं, अनुकरण करते हैं । (यस्य) जिसके (व्रते) ज्ञान में (आपः) आपः=आप्तकाम, जीवन्मुक्त, कृतार्थ पुरुष (उप-तिष्ठन्ते) उपस्थित हैं, विद्यमान हैं और (यस्य व्रते) जिसके अपने किये कर्म में (पुष्ट-पतिः) उन २ नाना प्रकार के पुष्टिकारक पदार्थों का स्वामी, पूषा, परमेश्वर स्वयं (नि-विष्टः) विराजमान है । (तं) उस (सरस्वन्तं) महान्, समुद्र के समान, समस्त ज्ञान और कर्मों के विशाल स्वामी, प्रभु को हम (अवसे) अपनी रक्षा के लिये (हवामहे) स्मरण करते हैं ।

---

[४०] १-(द्वि०) 'व्रतं' (तृ०) 'पुष्टिपतिः' (च०) 'हुवेम' इति तै० सं० । (प्र०) 'व्रतं' इति पैप्प० सं० ।

आ प्रत्यञ्चं दाशुषे दाश्वंसं सरस्वन्तं पुष्टपतिं रयिष्ठाम् ।
रायस्पोषं श्रवस्युं वसाना इह हुवेम सदनं रयीणाम् ॥२॥

भा०—(इह) इस संसार में और इस मानव देह में (वसानाः) रहते हुए हम (प्रत्यञ्चः) उस प्रत्यक् आत्मा, भीतर विराजमान देह के अधिष्ठाता, साक्षात् आत्मास्वरूप (दाशुषे) अपने को उसके अधीन समर्पण करने वाले साधक को (दाश्वंसम्) बल, ज्ञान, प्रदान करते हुए (सरस्वन्तं) शक्ति क्रिया और ज्ञान के सागर (पुष्ट-पतिम्) सब पुष्टियों के स्वामी, सबके पोषक, (रयि-स्थाम्) रयि-बल और प्राणों में अधिष्ठाता रूप से स्थित (रायस्पोषं) धनों और प्राणों के पोषक (श्रवस्युम्) देह-धारियों को अन्न प्रदान न करने हारे, (रयीणां सदनं) समस्त ऐश्वर्यों और बलों के आश्रय स्थान उस (प्रत्यञ्चं) प्रत्यक्, समाधि काल में साक्षात् होने वाले विशुद्ध आत्मा को हम सदा (आ हुवेम) स्मरण करें और उस को पुकारें ।



[४१ (४२)] मुक्ति की प्रार्थना ।

प्रस्कण्व ऋषिः । श्येनो देवता । १ जगती । २ त्रिष्टुप् । द्व्यृचं सूक्तम् ॥

अति धन्वान्यत्यपस्ततर्द श्येनो नृचक्षा अवसानदर्शः ।
तरन् विश्वान्यवरा रजांसीन्द्रेण सख्या शिव आ जगम्यात् ॥१॥

भा०—जिस प्रकार सूर्य मरुस्थलों में भी जलों की वर्षा करता है और इन्द्र=मेघ के रूप में सर्वत्र कल्याणस्वरूप होकर प्राप्त होता है उसी प्रकार (श्येनः) ज्ञानवान् या सर्व-व्यापक प्रभु (नृ-चक्षाः) सब मनुष्यों

२-(तृ०) 'श्रवस्यं' (द्वि०) 'रयीणाम्' (तृ०) 'वसानां' (प्र०) 'दाश्वासं' इति सायणाभिमतः ।

[४१] १-(द्वि०) 'नृचक्षावसाना' (च०) 'शिवा जगाम' इति पैप्प० सं०

का द्रष्टा (अवसान-दर्शः) अवसान–प्रलयकाल में भी सब पदार्थों और कर्म, कर्मफलों का द्रष्टा होकर (धन्वानि) धन्व – भोगभूमियों को (अति) अतिक्रमण करके (अपः) ज्ञान-जलों को (ततर्द) वर्षाता है। और (विश्वानि) समस्त (अवरा) नीचे के (रजांसि) लोकों को (तरन्) पार करता हुआ (इन्द्रेण सख्या) अपने मित्र जीव के साथ २ (शिवः) स्वयं साक्षात् कल्याण और सुखमय आनन्दमय, तुरीयपद, मोक्षरूप होकर (आ जगम्यात्) प्राप्त होता है, साक्षात् होता है।

श्येनो नृचक्षा दिव्यः सुपर्णः सहस्रपाच्छतयोनिर्वयोधाः।
स नो नि यच्छाद् वसु यत् पराभृतमस्माकमस्तु पितृषु स्वधावत् २

भा०—(श्येनः) सर्वज्ञ, सर्वव्यापक (नृचक्षः) सब जीवों को द्रष्टा, (दिव्यः) मोक्षधाम का स्वामी, प्रकाशस्वरूप, (सुपर्णः) सुख-पूर्वक उत्तम रीति से सब का पालक, (सहस्रपात्) सहस्रों चरणों वाला सर्वज्ञ, सर्वगति, (शतयोनिः) अपरिमित, सैकड़ों पदार्थों का कारण और आश्रय, (वयोधाः) समस्त अन्न, कर्मफल को स्वतः अपने भीतर धारण करने वाला, (सः) वह परमात्मा (नः) हमें (यत्) जो (पराभृतम्) धन ज्ञान और सुख पर-आत्मा से अतिरिक्त इन्द्रिय मन, शरीर आदि कारणों द्वारा प्राप्त हो सके उस (वसु) जीवनोपयोगी ज्ञान को (नः) हमें (नियच्छात्) पूर्ण रीति से प्रदान करे। और वही सब सुख (अस्माकं) हमारे (पितृषु) पालकों या प्राणों में भी (स्वधावत्) अन्न या ग्राह्य विषय होकर स्वतः (अस्तु) प्राप्त हो।



[४२ (४३)] पापमोचन की प्रार्थना।

प्रस्कण्व ऋषिः। सोमरुद्रौ देवता। १, २ त्रिष्टुभौ। द्वृचं सूक्तम्।

२–(द्वि०) 'मयोधान्' इति पैप्प० सं०।

सोमारुद्रा वि वृहतं विषूचीममीवा या नो गयमाविवेशं ।
बाधेथां दूरं निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुक्तमस्मत् ॥१॥
ऋ० ६ । ७४ । २ प्र० द्वि० तृ० १ । २४ । ६ तृ० च० ॥

भा०—हे (सोमरुद्रा) सोम और रुद्र, जल और अग्नि (या) जो (अमीवा) रोगकारी पदार्थ (नः) हमारे (गयम्) गय प्राण में, घर में या शरीर में (आविवेश) प्रविष्ट हो गया है उस (विपूचीम्) नाना प्रकार से शरीर में या घर में या देश में फैलनेवाले रोग को (वि वृहतम्) नाना प्रकार के उपायों से नाश करो । और आप दोनों (निः-ऋतिम्) सब अप्रिय पदार्थ और पापमय प्रवृत्ति को (पराचैः) दूर ही (बाधेथाम्) रोको, दूर ही उसका विनाश करो । और (अस्मत्) हमसे (कृतम् चित्) किये हुए भी (एनः) पाप को दूर करो ।

सोम शब्द से—राजा, वायु, चन्द्र, क्षत्रिय, अन्न, प्राण, वीर्य, अमृत, आत्मा, ब्राह्मण आदि का ग्रहण होता है । रुद्र शब्द से अग्नि, घोर, प्रतिहर्त्ता, प्राण आदि लिये जाते हैं। यहाँ रोग निवारण का और पापनाशन का प्रकरण है । रोगनाशन में सोम और रुद्र दो प्रकार के चिकित्सक हैं एक सोम=जलीय शान्त गुण औषधियों से चिकित्सा करने वाले, दूसरे रुद्र= तीक्ष्ण औषधियों द्वारा चिकित्सा करने वाले । पापनाशन में उपदेशक और दण्डकर्त्ता, आधिदैविक में जल और अग्नि । अध्यात्म में प्राण और अपान, या प्राण और उदान ।

सोमारुद्रा युवमेतान्यस्मद् विश्वा तनूषु भेषजानि धत्तम् ।
अव स्यतं मुञ्चतं यन्नो असत् तनूषु बद्धं कृतमेनो अस्मत् ॥२॥
ऋ० ६ । ७४ । ३ ॥

---

[४२] १–'ऋग्वेदे भारद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः' (तृ०) 'आरे बाधेथां निर्ऋतिं' (च०) 'मुमुग्ध्यस्मत्' इति ऋ० । 'बाधेथां द्वेषो निर्ऋतिं च' (च०) 'अस्मात्' इति पैप्प० सं० ।
२–(प्र०) 'एतान्यस्मे' (द्वि०) 'यन्नो अस्ति' इति बहुत्र ।

भा०—हे पूर्वोक्त (सोमारुद्रा) सोम और रुद्र (युवम्) आप दोनों (अस्मत्) हमारे (तनूषु) शरीरों में (विश्वा भेषजानि) सब प्रकार की ओषधियों का (धत्तम्) प्रयोग करो। और (यत्) जो कुछ (नः) हमारे (तनूषु) शरीर में (कृतम् एनः) हमारा ही किया पाप या कुपथ्य (असत्) है उसको (अवस्यतम्) दूर मार भगाओ और (अस्मत्) हम से उसे (अव मुञ्चतम्) छुड़ाओ।



[४३ (४४)] चार प्रकार की वाणी।

प्रस्कण्व ऋषिः। वाग् देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। एकर्चं सूक्तम्॥

शिवास्त एका अशिवास्त एकाः सर्वा बिभर्षि सुमनस्यमानः।
तिस्रो वाचो निहिता अन्तरस्मिन् तासामेका वि पपातानु घोषम्॥१॥

भा०—हे पुरुष! (ते) तेरे प्रति (एकाः) एक प्रकार की वाणियां (शिवाः) शिव-कल्याणकारिणी सुखप्रद हैं, और (एकाः) एक प्रकार की दूसरी (ते) तेरी (अशिवाः) अशिव, अमंगलकारी, निन्दामय वाणियाँ हैं। तू उन सब को (सुमनस्यमानः) अपने चित्त को शुभ, सुन्दर, अविकृत भाव से रखते हुए ही (बिभर्षि) धारण कर, सुन। अर्थात् स्तुति और निन्दा दोनों को प्रसन्न चित्त होकर सुना कर, स्तुतियों से प्रसन्न मत हो और निन्दा के वाक्यों से उद्विग्न मत हो। क्योंकि (अस्मिन्) इस पुरुष के (अन्तः) भीतर (तिस्रः वाचः) तीन प्रकार की वाणियाँ (निहिताः) रक्खी हैं। (१) परा जो आत्मा में बीज रूप से विद्यमान् रहती है, (२) पश्यन्ती जो वक्ता के प्रयोग के पूर्व मन में संकल्प रूप से आती हैं। (३) मध्यमा, जो इच्छापूर्वक मानस संकल्पों में रह कर ही शरीर के हर्ष विषाद आदि मुख विकारों को प्रकट करती है, (तासाम्) उनमें से ही (एका) एक और, चौथी वैखरी

(घोषम् अनु) शब्द के स्वरूप में आकर (विपपात) नाना रूप से बाहर आती है । प्रयोक्ता के भीतर ही निन्दात्मक वाणी के भी तीन रूप रहते हैं और केवल एक चतुर्थ भाग ही बाहर आता है । इससे वही अधिक उसके पाप से युक्त है, न कि श्रोता ।



[४४ (४५)] इन्द्र और विष्णु ।

प्रस्कण्व ऋषिः । इन्द्रो विष्णुश्च देवते । भुरिक् त्रिष्टुप् छन्दः ।

एकर्चं सूक्तम् ॥

उभा जिग्यथुर्न परा जयेथे न परा जिग्ये कतरश्चनैनयोः ।
इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम् ॥१॥

ऋ० ६ । ६६ । ८ ॥

भा०—(उभा) दोनों इन्द्र और विष्णु (जिग्यथुः) विजय करते हैं (न परा जयेथे) कभी शत्रुओं से हारते नहीं हैं । (एनयोः) उन दोनों में से (कतरः चन) कोई एक भी (न परा जिग्ये) नहीं हारता । (इन्द्रः) इन्द्र (च) और हे (विष्णो) विष्णु ! तुम दोनों (यत्) जब भी अपने विरोधी असुरों के साथ (अप स्पृधेथाम्) होड़ करते हो, युद्ध करते हो (तत्) तब २ (सहस्रं) समस्त संसार को (त्रेधा) तीनों प्रकार से (वि ऐरयेथाम्) व्याप्त करते और वश कर लेते, विजय कर लेते और उन में वीर सामर्थ्यवान् होकर शासन करते हो ।



[४४] १–'ऋग्वेदेऽस्याः भारद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः ।' (द्वि०) 'कतरश्च नैनोः' इति ऋ० । (च०) 'सहस्रं यदधीरयेथाम्' इति पैप्प० सं० ।

[४५ (४६, ४७)] ईर्ष्या के दूर करने का उपाय ।

प्रस्कण्व ऋषिः । ईर्ष्यापनयनम् भेषजं देवता । १, २ अनुष्टुभौ ।

द्व्यृचं सूक्तम् ॥

जनाद् विश्वजनीनात् सिन्धुतस्पर्याभृतम् ।
दूरात् त्वा मन्य उद्भृतमीर्ष्याया नाम भेषजम् ॥ १ ॥

भा०—ईर्ष्या, दाह या दूसरे की उन्नति को देखकर जलने के बुरे स्वभाव को दूर करने के उपाय का उपदेश करते हैं। हे ईर्ष्या के उपाय रूप ओषधे ! तू (ईर्ष्यायाः नाम) ईर्ष्या को झुकाने या दबाने का उत्तम साधन है, इसी से उसका (भेषजम्) इलाज या ईर्ष्या नाम के मानस रोग की उत्तम चिकित्सा है। (त्वा) तुझको मानो (दूरात्) दूर से (उद्-भृ-तम्) उखाड़ कर लाया गया (मन्ये) मानता हूं। तुझको (विश्व-जनी-नात्) समस्त जनों के हितकारी (सिन्धुतः) नदी या समुद्र के समान विशाल, उपकारी सबके प्रति उदार (जनात्) मनुष्य से (परि आभृतम्) प्राप्त किया जाता है।

जब हृदय में ईर्षा के भाव उदय हों उन को दबाने के लिये या दूर करने के लिये उन लोकोपकारी महापुरुषों का ध्यान करना चाहिये जो अपनी सर्वस्व सम्पत्ति को नदी के समान परोपकार में बहा देते हैं और अपने आप उसका भोग नहीं करते। दूसरे के बढ़ते यश और कीर्त्ति से न जल कर स्वयं परोपकार में लगे और स्वयं यशस्वी और सच्चे परोपकारी बने। केवल ईर्ष्या में जलने से कोई बड़ा नहीं हो सकता।

[४५]— पञ्चपटलिकायां द्व्यृचं सूक्तम्। अनुक्रमणिकायां एकर्चं सूक्तम्। सायणोल्लिखितेन विनियोगेनापि एकर्चमेव सूक्तम्। प्रायसंहितासु द्व्यृचमुपलभ्यते। विषयभेदाच्च द्व्यृचमेव ज्ञायते।
(प्र०) 'जनानां वाचामरुन्धतीनां [मुरुचितानां ?]' इति पैप्प० सं०।

अग्नेरि॑वास्य दह॑तो दा॒वस्य॒ दह॑तः॒ पृथ॑क् ।
ए॒तामे॒तस्ये॒र्ष्यामु॒द्नाग्निमि॑व शमय ॥ २ ॥

भा०—(उद्ना) जलसे (अग्निम्-इव) जिस प्रकार जलती आग को शान्त कर दिया जाता है उसी प्रकार (अग्नेः-इव) आग के समान या (दावस्य) जंगल की भड़कती आग के समान (दहतः) जलते, कुढ़ते हुए या भयानक रूप में भड़कते हुए (एतस्य) इस ईर्षालु, द्रोह वाले चित्त की (ईर्ष्याम्) ईर्ष्या को प्रेम से या दूसरों के सच्चरित्र गुणों से (शमय) शान्त कर ।



[४६ (४८)] सभा, पृथिवी और स्त्री का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । विश्पत्नी देवता । १, २ अनुष्टुप् । ३ त्रिष्टुप् ।
तृचं सूक्तम् ॥

सिनी॑वालि॒ पृथु॑ष्टुके॒ या दे॒वाना॒मसि॒ स्वसा॑ ।
जु॒षस्व॑ ह॒व्यमाहु॑तं प्र॒जां दे॑वि दिदिड्ढि नः ॥ १ ॥
ऋ० २ । ३२ । ६ ॥ यजु० ३४ । १० ॥

भा०—हे देवि ! विश्पत्नि ! दिव्य गुणों वाली प्रजाओं की पालन करने वाली ! हे (सिनीवालि) अन्न का प्रदान करने वाली । अथ प्रेम-

२—'अग्नेरिवास्य' इति मन्त्रोऽनुक्रमणिकानुसारं पृथक् सूक्तमुपचर्यते । अस्य ईर्ष्यापनयनो देवता । (च०) 'उला, उन्ता, उन्ना, उत्ता' इति बहवो वर्णविकाराः । 'तन् संवेगस्य भेपजं तदसुनामं गृभाहितम्' इति पैप्प० सं० ।

[४६] १—ऋग्वेदे गृत्समद ऋषिः स्तुकः केशभारः, स्तुतिः, कामो वा इति महीधरः । पृथुसंयमितकेशभारा इति उव्वटः, २. उपचयार्थस्य वा दिहिर्दिशेतेर्वा लोटि शपः श्लुः ।

बद्धे ! हे स्त्रि ! हे (पृथुस्तुके) वहुत से पुत्रों वाली ! या वहुतों से प्रशंसित ! या विशाल मध्यभाग वाली ! या अतिकामनावति ! या पृथु=द्यौलोक के प्रति सदा खुली रहने वाली ! तू (देवानाम्) देव=वायु, सूर्य, जल, मेघ आदि दिव्य पदार्थों के साथ (स्वसा) स्वयं स्वभावतः नैसर्गिक रूप में संगत है । तू (आ-हुतम्) आहुति किये हुए (हव्यम्) अन्न को या वीर्य को जो बीज रूप से तेरे में बोते हैं उसे (जुषस्व) प्रेम से स्वीकार कर और (नः) हमें (प्रजां) प्रजाको उत्कृष्ट रूपसे उत्पन्न हो जाने पर (दिदिड्ढि) प्रदान कर । या (प्रजां दिदिड्ढि) अपने ऊपर रहने वाली जीव प्रजा को और अधिक वढ़ा । महर्षि दयानन्द ने मन्त्र को स्त्री के वर्णन में लगाया है ।

या सुबाहुः स्वङ्गुरिः सुषूमा बहुसूवरी ।
तस्यै विश्पत्न्यै हविः सिनीवाल्यै जुहोतन ॥ २ ॥

ऋ० २ । ३२ । ७ ॥

भा०—पूर्व मन्त्र में कही विश्पत्नी-सार्वजनिक सभा, पृथिवी और स्त्री तीनों का श्लेष से वर्णन करते हैं । (या) जो स्त्री (सुवाहुः) उत्तम बाहुओं वाली, (सु-अङ्गुरिः) उत्तम अंगुलियों वाली, (सु-सूमा) उत्तम उत्पादक अंगों वाली, सुभगा, पृथुजघना, (बहु-सूवरी) बहुत से, अधिक दश पुत्रों को उत्पन्न करने में समर्थ है । (तस्यै) उस (सिनीवाल्यै) स्त्रीरूप पत्नी के लिये (हविः जुहोतन) हवि=अन्न नित्य प्रदान करो । सार्वजनिक सभा के पक्ष में (या सुबाहुः) जो उत्तम वीर भटों द्वारा सब विघ्नों को बांधने वाली, (सु-अङ्गुरिः) सब उत्तम अंगों वाली, (सू-सूमा) उत्तम रीति से प्रसव करने वाली (बहु-सूवरी) बहुत सन्तान उत्पन्न करने वाली है (तस्यै विश्पत्न्यै) सार्वजनिक सभा के लिये सब लोग (हविः जुहोतन) अपना २ भाग प्रदान करें । पृथिवी

२—(प्र०) 'सुमंगलिः सुषूमा' इति पैप्प० सं० ।

भी क्षत्रियों द्वारा, 'सुबाहू' देशवासियों द्वारा, उत्तम देशों द्वारा 'सुअ-ङ्गुरि' नाना पुरुषों, अन्नों वनस्पतियों के उत्पादन से 'सुपूमा' और 'वहुसूवरी' है ।

या वि॒श्पत्नीन्द्र॒मसि॑ प्र॒तीची॑ स॒हस्र॑स्तुकाभि॒यन्ती॑ दे॒वी ।
विष्णोः॑ पत्नि॒ तुभ्यं॑ रा॒ता ह॒वींषि॒ पतिं॑ देवि॒ राध॑से चोदयस्व ॥३॥

भा०—हे (देवि) देवि ! पति की कामना करने वाली ! तू अपने (पतिम्) पति को (राधसे) धन और यश प्राप्त करने के लिये (चोदयस्व) प्रेरित कर । उसी प्रकार हे (विष्णोः पत्नि) व्यापक सार्वभौम राजा या तेरे हृदय में व्यापक प्रियतम की (पत्नि) पालिके! राजसभे! (तुभ्यम्) तेरे निमित्त तुझे (हवींषि) पर्याप्त साधन और अधिकार (राता) प्रदान किये गये हैं । यह (विश्पत्नी) पूर्वोक्त प्रजातन्त्र शासन की वह प्रति-निधि सभा है (या) जो (देवी) विद्वानों की वनी हुई है और (सह-स्र-स्तुका) सहस्रों संघों को अपने भीतर मिलाये हुए (अभि-यन्ती) प्रकट होती हुई (इन्द्रं) राजा या पति के भी (प्रतीची) सन्मुख उसके समान शक्ति वाली (असि) है । ऐसी हे (पत्नि) गृहपालिके, राष्ट्रपालिके, जन राजसभे ! तू अपने (पतिं) पति, सभापति या राष्ट्रपति को (राधसे) पुत्र, यश और अर्थ-प्राप्ति के लिये न्यायमार्ग में (चोदयस्व) प्रेरित कर ।

'नाविष्णुः पृथिवीपतिः' इस पुरानी किंवदन्ती का यही मन्त्र मूल है। राजा को वेद 'विष्णु' कहता है । वह 'विश्पत्नी' का पति है । इन्द्र राजा है और विष्णु राष्ट्रसभा का सभापति है । वह पूर्व अमावास्या का वर्णन हुआ । अमावास्या नाम स्त्री का है अमा=सह वसते पत्या इति अमावा-स्या जो पति के साथ रहे । 'अमा' एक साथ जिसमें सब प्रजाएं 'वास्या' बैठ सकें । जनरल कान्फ्रेंस, महासभा, साधारण सभा ।



३—'या विश्वतः' (द्वि०) 'सहस्रस्तुता' (च०) 'राधसा' इति पैप्प० सं० ।

[४७ (४९)] कुहू नामक अन्तरंगसभा का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । कुहुर्देवी देवता । १ जगती । २ त्रिष्टुप् ।
द्वयृचं सूक्तम् ॥

कुहूं देवीं सुकृतं विद्मनापसमस्मिन् यज्ञे सुहवा जोहवीमि ।
सा नो रयिं विश्ववारं नि यच्छाद् ददातु वीरं शतदायमुक्थ्य/म् ॥१॥

भा०—अब उत्तरा अमावस्या का वर्णन करते हैं, जो उस साधारण महासभा की अन्तरंग सभा है। (मैं) (सु-हवा) उत्तम रीति से आह्वान करने में समर्थ उत्तम आज्ञापक, उत्तम मन्त्र देने में समर्थ, सभापति (अस्मिन् यज्ञे) इस राष्ट्रमय यज्ञ में (देवीं) विद्वानों की बनी, (विद्मना-अपसम्) समस्त उचित कर्त्तव्यों को जानने वाली, (सु-कृतं) उत्तम कार्य सम्पादन करने वाली, (कुहूं) कुहू नामक गुप्तसभा, अन्तरंग सभा को (जोहवीमि) आह्वान करता हूं, बुलाता हूं। (सा) वह (नः) हमें हम राष्ट्र के शासकों को (विश्व-वारं) समस्त राष्ट्र के वरण करने योग्य, उनके अभिमत अथवा राष्ट्र की रक्षा करनेवाले (रयिं) धन, यश, उत्तम कर्म का (नियच्छात्) उपदेश करे या उत्तम रयि=व्यवस्था पत्र को प्रदान करें और (उक्थ्यम्) प्रशंसनीय या वेद के अनुसार (शत-दायं) सैकड़ों सुखों के देने वाले (वीरम्) सामर्थ्यवान् पुरुष को (ददातु) राष्ट्र के कार्य में प्रदान करे, नियुक्त करे।

राष्ट्रपति या मन्त्री (सुहवा) जिसको अन्तरंग सभा बुलाने का अधिकार हो। वह (विद्मनापसम्) अन्तरंग के सभासदों को पूर्व में

[४७] १–(प्र०) 'कुहूमहम्' इति प्रायः'। 'सुवृत' आ० श्रौ० सू०। 'सुभगा' इति तै० सं०। 'अमृतं' इति पैप्प० सं०। (द्वि०) 'सुहवं' (तृ० च०) सा नो ददातु श्रावणं पितृणां तस्यै ते देवि हविषा विधेम' इति पैप्प० सं०।

विचारणीय विषय जना देवे और फिर बुलावे। उसमें सर्व हितकारी उत्तम निर्णयों या प्रस्तावों को स्वीकृत करावें और उनको कार्य रूप में लाने के लिये उत्तम शासक को नियत करे।

कुहूर्देवानाममृतस्य पत्नी हव्या नो अस्य हविषो जुषेत।
शृणोतु यज्ञमुशती नो अद्य रायस्पोषं चिकितुषी दधातु ॥ २ ॥

भा०—(देवानां) देवगण, विद्वानों के बीच में (अमृतस्य पत्नी) कभी न विनाश होने वाली, सत्य सिद्धान्त या नियम का पालन करने वाली (अस्य हविषः) इस हविर्मन्त्र या विचार को (जुषेत) सेवन करे, विचार करे। और (यज्ञं) राष्ट्र के हित को या परस्पर के संग साहाय्य को (उशती) चाहती हुई (शृणोतु) सब सभासदों के मत को भली प्रकार सुने। और (अद्य) अब (चिकितुषी) सब बात यथार्थ रूप से जानती हुई (नः) हमारे राष्ट्र के (रायस्पोषं) धन की सम्पत्ति वृद्धि को (दधातु) करे। कुहू के वर्णन के साथ २ गृहपत्नी के कर्त्तव्यों का भी वर्णन हो गया है। जैसे (१) मैं सुहवा पति (कुहू) जितेन्द्रिय विदुषी पत्नी को यज्ञ में बुलाता हूं। वह हमें सब प्रकार से हृष्ट पुष्ट पुत्र प्रदान करे। (२) वह अपने अमृत दीर्घायु पति की पत्नी पूजा के योग्य है। वह अपने पति की कामना करती हुई भी हमारे बीच में विदुषी होकर बड़ों की आज्ञा सुने और प्रजाओं को पुष्ट करे।



[४८ (५०)] राका नाम राजसभा और स्त्री के कर्त्तव्यों का वर्णन।

अथर्वा ऋषिः । राका देवता । जगती छन्दः । द्वयृचं सूक्तम् ॥

२–(प्र०) 'पत्नीर्हव्या' (तृ०) 'कृणोतु' इति शां० श्रौ० सू० (तृ०) 'सा दाशुषे किरतु भूरि वामम्' इति मै० सं०। 'सा दाशुषे किरते भूरिपुष्टा' इति पैप्प० सं०। (च०) 'चिकितुषे' सू० इति तै० सं०। 'यजमाने दधातु, इति आ० श्रौ० सू०।

राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना ।
सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम् ॥१॥
ऋ० २ । ३२ । ४ ॥

भा०—(अहं) मैं पुरुष (राकाम्) पूर्ण चन्द्रवाली पूर्णिमा के समान शोभना, षोडश कलायुक्त गुणवती स्त्री का (सु-हवा) उत्तम ज्ञान और (सुस्तुती) उत्तम गुण वर्णन युक्त वाणी से (हुवे) वर्णन करता हूं । वह (सुभगा) शुभ सौभाग्य सम्पन्न स्त्री (नः) हमारे उपदेशों को (शृणोतु) श्रवण करे । और (त्मना बोधतु) अपने भीतरी अन्तःकरण से उसको समझे, विचार करे कि वह (अच्छिद्यमानया) कभी न टूटने वाली (सूच्या) सूची से (अपः) सन्तति कर्म को (सीव्यतु) सीये । अर्थात् न टूटते हुए प्रजातन्तु को बनाये रखे । और (शत-दायम्) सैकड़ों दाय धन को प्राप्त करने वाले (उक्थ्यम्) प्रशंसनीय (वीरम्) पुत्र को (ददातु) उत्पन्न करे । अर्थात् सर्वांग गुणसम्पन्ना महिलाएं वीर, उत्तम राजा होने योग्य यशस्वी पुत्रों को उत्पन्न करें ।

यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि ।
ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रापोषं सुभगे रराणा ॥२॥
ऋ० २ । ३२ । ५ ॥

भा०—हे (राके) सुखप्रदे ! पूर्ण प्रकाशयुक्त स्त्रि ! (याः) जो (ते) तेरी (सु-पेशसः) सुन्दर कान्ति वाली (सु-मतयः) उत्तम बुद्धियां उत्तम विचार हैं (याभिः) जिन्हों से (दाशुषे) अपने सर्वस्व अर्पण करने वाले प्रियतम पति को (वसूनि) नाना प्रकार के जीवन के सुख और नाना धन (ददासि) प्रदान करती है (ताभिः) उन उत्तम विचारों से

[४८] १–(प्र०) 'सुहवाम्' इति पैप्प० सं०, ऋ० ।
२–(च०) 'सहस्रपोषम्' इति ऋ० ।

(सु-मनाः) सदा प्रसन्नचित्त होकर (-नः) हम, प्रजावासियों को हे (सु-भगे) सौभाग्यवति ! (रराणा) नाना प्रकार के आनन्द प्रदान करती हुई या नाना प्रकार से आनन्द प्रसन्न होकर (सहस्र-पोपम्) सब प्रकार के पुष्टि, धन धान्य सम्पत्ति को (उप-आ-गहि) प्राप्त कराओ। उत्तम महिलाएं जिन उत्तम विचारों से अपने पतियों के सुखकारी होती हैं उन विचारों और सत् कर्मों से अपने सम्बन्धी और पड़ोसियों को भी सुखकारी हों।

विश्पत्नी पक्ष में—राका भी उस राजसभा का नाम है जिसमें राजा स्वयं १६ या २० अमात्यों सहित राष्ट्र के कार्यों को विचार करता है। कार्यों की प्रारम्भिक अनुमति प्राप्त करने के लिये 'अनुमति' नामक सभा का वर्णन पूर्व आ चुका है। यह 'उत्तरा' उससे भी उत्कृष्ट राज सभा है जिससे अन्तिम निर्णय प्राप्त करके राजा अपने राष्ट्र में कार्य करे। इस पक्ष में मन्त्रों की योजना निम्नलिखित रूप से जाननी चाहिये।

(१) (राकाम् अहं सुहवां सुस्तुत्या हुवे) राजसभा को मैं स्वयं बुलाता हूं (शृणोतु नः सुभगा) वह श्रीमती राजसभा मेरे निर्णय को सुने। (बोधतु त्मना) स्वयं विचारे। (अच्छिद्यमानया सूच्या सीव्यतु) न टूटती सूई से जैसे फटे वस्त्रों को सिया जाता है उसी प्रकार वह विचार के योग्य सब अंगों को क्रम से सूक्ष्म बुद्धि से विचार उनको सम्बन्धित करे और (शतदायम्) सैकड़ों लाभप्रद (उक्थ्यं वीरं ददातु) प्रशंसनीय वीर, कार्यकर्त्ता को नियुक्त करे।

(२) हे (राके याः ते सुपेशसः सुमतयः) राजसभे ! जो तेरी उत्तम सम्मतियें हैं (ताभिः दाशुषे वसूनि ददासि) जिनके द्वारा राजा को नाना धन प्रदान करती हैं (ताभिः नः सुमना: सहस्रं रराणा सुभगे उपागहि) हे श्रीमति ! उनसे ही सुचित्त होकर सहस्रगुण द्रव्य देती हुई प्राप्त हो।



[४९ (५१)] विद्वान् पुरुषों की स्त्रियों के कर्त्तव्य ।

अथर्वा ऋषिः । देवपत्न्यो देवताः । १ आर्षी जगती । २ चतुष्पदा पंक्तिः । द्वयृचं सूक्तम् ॥

देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजये वाजसातये ।
याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते ता नो देवीः सुहवाः शर्म यच्छन्तु ॥ १ ॥ ऋ० ५ । ४६ । ७ ॥

भा०—विद्वान् पुरुषों की विद्वान् स्त्रियों को और ऊंचे कर्मों का उपदेश करते हैं—(देवानां पत्नीः) देव=विद्वान् या राज्यशासक अधिकारी लोगों की विद्वान् स्त्रियें भी (उशतीः) सुप्रसन्न, इच्छापूर्वक (नः) हम प्रजा के लोगों की (अवन्तु) रक्षा करें । और विशेष कर (वाज-सातये) संग्राम यज्ञ और ज्ञानप्राप्ति, शिक्षा के कार्य के लिये और (तुजये)[१] बालकों की रक्षा और राष्ट्र में वल या जोष उत्पन्न करने के लिये वे (नः) हम में (अवन्तु) आदरपूर्वक आवें । और (याः जो पार्थिवासः) राज्य-घराने की उन्नत पदाधिकार पर स्थित रानियां हैं और (याः) जो (अपाम्) प्रजाओं के (व्रते) पालन या शासन के कार्य में या सदाचार शिक्षण में नियुक्त हैं (ताः) वे (देवीः) विदुषी स्त्रियां भी (सु-हवाः) उत्तम उपदेश करने में समर्थ होकर प्रजाओं में (शर्म) सुख शान्ति (यच्छन्तु) प्रदान करें ।

उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्य१ग्नाय्यश्विनी राट् ।
आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम् ॥ २ ॥

भा०—(उत) और (देव-पत्नीः) देव=विद्वान् पुरुषों की स्त्रियां भी (ग्नाः) छन्दोमय वेदवाणियों का (व्यन्तु) अभ्यास किया करें । और

[४९] १–'यच्छत' इति ऋ० । अस्य सूक्तस्य प्रतिक्षत्र आत्रेय ऋषिः । 'यच्छतु' इति सायणाभिमतः पाठः ।

२–तोकाय अपत्याय इति सायणः; बलायेति दयानन्दः ।

(इन्द्राणी) इन्द्र, महाराज की स्त्री, (अग्नायी) और सेनापति की स्त्री (अश्विनी) अश्वी, वेगवान् रथ, विद्युत आदि के प्रणेता शिल्पी पुरुषों की और (राट्) राजा की स्त्री, रानी (रोदसी) रुद्र, दुष्टों के रुलाने वाले राष्ट्र के दमनकारी विभाग के अध्यक्ष की स्त्री, (वरुणानी) और वरुण राजनियम विधानकारी न्यायाधीश की स्त्री, ये सब (आशृणोतु) कार्य-व्यवहार और स्त्री-संसार के कार्यव्यवहारों को सुना करें। और (जनीनां) प्रजा की स्त्रियों को (यः ऋतुः) जो काल नियत हो उस अवसर में ये (देव्याः) विदुषी स्त्रियां (व्यन्तु) प्राप्त हों। और स्त्रियों की व्यवस्था किया करें।

स्त्रियों के साक्षी आदि स्त्रिये हों। स्त्रियों के सामाजिक, नैतिक और चिकित्सा आदि कार्य स्त्रियां ही करें और जब २ उत्सव आदि के अवसरों पर भी स्त्रियों के उठने बैठने स्नान तीर्थादि की व्यवस्था उचित हो तब तब स्त्रियां प्रबन्धक हों यह वेद की आज्ञा है।



[५० (५२)] आत्म-संयम।

कितववधनकामोंगिरा ऋषिः। इन्द्रो देवता। १, २, ५, ८ अनुष्टुप्। ३, ७ त्रिष्टुप्। ४, जगती। ६ भुरिक् त्रिष्टुप् नवर्चं सूक्तम्।

यथा वृक्षमशनिर्विश्वाहा हन्त्यप्रति।
एवाहमद्य कितवानक्षैर्बध्यासमप्रति॥ १॥

---

[५०] —अनुक्रमणिकाहस्तलिपिपुस्तकेषु प्रायः सर्वत्र 'कितवद्रन्धनकामः', 'बन्धनकाम' इति ब्लूमफील्डः, 'द्वन्द्वधन' इति रीडरः, 'वध्यासम्' इतिपदनिर्देशात् 'बाधन' इति व्हिट्निः, वध्यासम्' इति पाठ स्वीकारान् 'वध' इति सायणः। सार्वत्रिकपाठानुसारं 'बध्यासम्' इति सायणसम्मतः पाठः। 'कितवबधनकाम' इति पाठः शुद्धः।

१–(द्वि०) 'विश्वहं' (तृ०) 'एवाहममुं कितवं' इति पैप्प० सं०।

भा०-(यथा) जिस प्रकार (अशनिः) मेघकी बिजुली (विश्वाहा) सब दिन, सदा ही (अप्रति) बिना किसी अन्य को प्रतिनिधि बनाए; स्वयं ही (हन्ति) विनाश करती है (एवा) इस प्रकार ही (अहम्) मैं इन्द्र, आत्मा (अद्य) आज (कितवान्) चतुर जुआड़ी जिस प्रकार जुआड़ियों को स्वयं पासों से मारता है उसी प्रकार इन (कितवान्) जिनके पास कुछ नहीं ऐसे निःस्व, अचेतन जड़ विषयों को (अक्षैः) अपने अक्षों इन्द्रिय गण से (अप्रति) बिना अन्य किसी को प्रतिनिधि किये, स्वयं अपने बल से (वध्यासम्) मारूं, या ज्ञान और कर्म का विषय करूं। अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय और प्राणेन्द्रियों से इन निश्चेतन जड़ पदार्थों का जो जीवन में बाधा उत्पन्न करें उनको दबाकर अपने वश करलूं। अध्यात्म विषय को 'कितव' या जुआरियों की क्रीड़ा के समान 'अक्ष' आदि द्व्यर्थक पदों से श्लेष द्वारा वर्णन किया गया है।

तुराणामतुराणां विशामवर्जुषीणाम् ।
समैतु विश्वतो भगो अन्तर्हस्तं कृतं मम ॥ २ ॥

भा०—(तुराणां) अति शीघ्रता करने वाली चञ्चल, अविवेकी, (अतुराणाम्) मन्द, जो शीघ्रता न कर सकें, तामस, (अवर्जुषीणाम्) जो अपने दोषों को या प्रकृति सिद्ध स्वभावों को परित्याग नहीं सकतीं ऐसी (विशाम्)[1] प्रजाओं, प्राणेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय रूप अध्यात्म प्रजाओं में से (विश्वतः) जो सब से अधिक (भगः) सम्पत्तिमान, ऐश्वर्यवान् है वह आत्मा (सम्-आ-एतु) मुझे प्राप्त हो। क्योंकि (कृतं) समस्त मेरी क्रिया शक्ति अथवा पुरुषार्थ धर्म, अर्थ काम और मोक्ष कर्म और कर्मफल सब (मम) मेरे (अन्तर्हस्तम्) अपने हाथ के भीतर हैं। सायण, ग्रीफ़िथ, ह्विटने आदिने यह मन्त्र जुआरियों पर लगाया है। कि "जुए में, जल्दबाज और मन्दे जो जुए को छोड़ न सकें ऐसे लोगों का सब धन मेरे

२-(च०) "अन्तर्हस्त्यं कृतंमनः" इति पैप्प० सं०।

पास आ जाय क्योंकि कृत (नाम के चार पासे) मेरे हाथ में है।" ऐसे जुआखोरी परक अर्थ वेदमन्त्र को शोभा नहीं देते क्योंकि अंगिरा ऋषि अथवा वेदप्रवक्ता ईश्वर कभी ऐसा नहीं कह सकता। वह जुआ खोर नहीं हैं। ऋषि 'अंगिराः' अर्थात् वह ऋषि हैं जो अपने को ज्योतिष्मान् आत्मा रूप से अंगों में रस के समान अनुभव कर रहा है और इन्द्र देवता है। इन्द्र आत्मा को कहा जाता है।

ईडे अ॒ग्निं स्वाव॑सुं॒ नमो॑भिरि॒ह प्र॑स॒क्तो वि च॑यत् कृ॒तं नः।
रथै॑रिव॒ प्र भ॑रे वाज॒यद्भि॑ः प्रदक्षि॒णं म॒रुतां॒ स्तोम॑मृध्याम् ॥ ३ ॥
ऋ० ५ । ६ । १० ॥

भा०—मैं (अग्निं) प्रकाशस्वरूप (स्व-वसुम्) स्व=अपने देह के या आत्मा के भी भीतर वसने वाले उस प्रभु को (नमोभिः) नमस्कारों द्वारा (ईडे) स्तुति करता हूं। वह (इह) इस लोक में (प्र-सक्तः) अपनी उत्तम शक्ति से सर्वत्र व्यापक रहकर (नः) हमारा (कृतं) किया पुरुषार्थ हमें ही (वि चयत्) नाना प्रकार से प्रदान करता है। संग्राम में (वाजयद्भिः) बल पकड़ते हुए या वेग से जाते हुए (रथैः-इव) रथों से जिस प्रकार नाना देशों को जाता हूं और उन को वश करता हूं उसी प्रकार मैं आत्मा का साधक योगी (प्र-दक्षिणं) स्वयं अति उत्कृष्ट बलशाली (स्तोमं) समूह, इन्द्रियगण को (ऋध्याम्) अपने वश करूँ। और उन की शक्ति को बढ़ाऊँ। विजयशील सेनापति के पक्ष में भी उपमा के बल से लगता है। मन्त्र तैत्तिरीयब्राह्मण, मैत्रायणी संहिता में भी आता है वहां कहीं भी इस मन्त्र का द्यूतक्रीड़ा से सम्बन्ध नहीं है। इसलिये जूए के पक्ष में सायणकृत अर्थ असंगत है।

३–ऋग्वेदे श्यावाश्व आत्रेय ऋषिः । (द्वि०) 'इह प्रसत्तो' । 'प्रदक्षिणिन् मरुताम्' इति ऋ० । (प्र०) 'स्ववसम्' इति तै० ब्रा० मै० सं०। 'प्रदक्षिणित्' इति पैप्प० सं०। 'ऋन्ध्याम्' इति क्वचित्।

वयं जयेम त्वया युजा वृतमस्माकमंशमुदवा भरेभरे ।
अस्मभ्यमिन्द्र वरीयः सुगं कृधि प्र शत्रूणां मघवन् वृष्ण्या रुज ॥४॥
ऋ० १ । १०२ । ४ ॥

भा०—हे इन्द्र परमेश्वर ! (त्वया) तुझ (युजा) सहायक की सहायता से (वयं) हम (वृतं) आवरणकारी, घेरने वाले तामस आवरण को (जयेम) विजय करें । जिस प्रकार ऐश्वर्यवान् राजा की सहायता से उसके सैनिक अपने नगर को घेरने वाले पर विजय प्राप्त करते हैं उसी प्रकार ईश्वर की सहायता से हम साधक गण आत्मा को घेरने वाले तामस आवरण अथवा राजस इन्द्रियगण को अपने वश करें । हे प्रभो ! (भरे-भरे) प्रत्येक संग्राम में (अस्माकम्) हमारे (अंशम्) व्यापक आत्मा को (उत् अव) उन्नति की तरफ ले जाओ । हे इन्द्र ! (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (वरीयः) सबसे उत्कृष्ट और महान् मोक्षपद को भी (सुगम्) सुखसे प्राप्त करने योग्य (कृधि) कर । और (शत्रूणां) हमारे बल और ज्ञान का नाश, शातन=नाश करने वाले काम क्रोध आदि शत्रुओं के (वृष्ण्या) बलों को (प्ररुज) अच्छी प्रकार तोड़ डाल । इस मन्त्र का भी द्यूतक्रीड़ा से कोई सम्बन्ध नहीं । अतः सायण आदि का द्यूतपरक अर्थ असंगत है ।

अजैषं त्वा संलिखितमजैषमुत संरुधम् ।
अविं वृको यथा मथदेवा मथ्नामि ते कृतम् ॥ ५ ॥

भा०—हे प्रतिपक्ष ! राजस और तामसभाव (सं-लिखितम्) खूब अच्छी प्रकार शिला पर खुदे हुए लेख के समान हृदय पटल पर अंकित अथवा भूमिमानचित्र के समान आलिखित (उत) और (सं-रुधम्) हरेक उन्नति के कार्य में मुझे आगे बढ़ने से रोकने वाले,

४-(तृ०) 'वरिवः' इति ऋ० । ऋग्वेदे कुत्स आंगिरस ऋषिः । इन्द्रो देवता ।

विघ्नकारी बाधक को मैंने अपने आत्मा के बल से (अजैषम्) जीत लिया है। और (यथा) जिस प्रकार (अविम्) भेड़ को (वृकः) भेड़िया (मथद्) पकड़ कर झंझोट डालता है उस प्रकार (ते) तेरे (कृतम्) किये दुष्फल को (मन्थामि) मैं भी मथ डालूं। अध्यात्म वेदी के लिये दो ही पदार्थ हैं। एक अस्मद्-विषय आत्मा और दूसरा 'युष्मद्-विषय' संसार। यहां संसार के प्रवर्त्तक अविद्या कृत आवरण को मथ कर तम या वृत्र पर जिसको पूर्व मन्त्र में 'वृत' कहा है विजय का प्रत्यक्ष रूप दर्शाया है।

उत प्रहामतिदीवा जयति कृतमिव श्वघ्नी वि चिनोति काले।
यो देवकामो न धनं रुणद्धि समित् तं रायः सृजति स्वधाभिः॥६॥
ऋ० १० । ४२ । ६॥

भा०—(उत) और (इन्द्रः) इन्द्र ही ईश्वर या राजा ऐश्वर्यवान् जीव ही समस्त प्राणों में (अति-दीवा) अत्यन्त अधिक तेजस्वी क्रियावान्, व्यवहारवान्, आनन्दी, हर्षवान् होने के कारण (प्र-हाम् जयति) अपने मारने वाले को भी जीत लेता है। (काले) उचित समय पर (श्व-घ्नी) चतुर द्यूतकार जिस प्रकार (कृतम्-इव) अपने जयप्रद 'कृत' नामक अक्ष को खोज लेता है उसी प्रकार वह आत्मा (काले) अपने उचित अवसर में अपने (कृतम्) किये कर्म इष्ट और आपूर्त्त उपकार के कर्मों के (विचिनोति) अपने सुख प्राप्ति के निमित्त चुनता है और करता है। (यः) जो पुरुष (देव-कामः) विद्वान् महात्मा देवतुल्य पुरुषों के निमित्त अपने (धनं) धनको (न रुणद्धि) रोके नहीं रखता प्रत्युत उत्तम सज्जन पुरुषों के उपकार तथा उस की अभिलाषा के अनुकूल व्यय करता है इन्द्र परमेश्वर (तम् इत्) उसको ही (स्वधाभिः) अपने दानशा-

६–(प्र०) "अतिदिव्यो जयाति' इति ऋ०। (प्र०) 'जयाति' (च०) 'स्वधावान्' इति सायणाभिमतौ।

लियों से (रायः) धन, सम्पत्तियां (सं सृजति) प्रदान करता है। ऋग्वेद में यह मन्त्र इन्द्र की स्तुति में है। सायण ने वहां उत्तम अर्थ करके भी इस स्थल पर इस मन्त्र को भारी जुआरिये पर लगा दिया है। 'श्वघ्नी' उपमान होने से उपमेय को भी कितव मानना असंगत है। ह्विटनी आदि सायण के उत्पादित भारी भ्रम में पड़ गये हैं।

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन वा क्षुधं पुरुहूत विश्वे ।
वयं राजसु प्रथमा धनान्यरिष्टासो वृजनीभिर्जयेम ॥ ७ ॥

ऋ० १० । ४२ । १० ॥

भा०—हम (दुःएवाम्) दुःख प्राप्त कराने वाली (अमतिम्) दुर्गति या दरिद्रता को (गोभिः) गौ आदि पशुओं को पालन करके (तरेम) पार करें, अर्थात् गोपालन से हम अपनी दरिद्रता को नाश करें। हे (पुरु-हूत) बहुत प्रजाओं से पूजित इन्द्र ! राजन् ! (यवेन) जौ आदि धान्यों से (विश्वे) हम सब (क्षुधम्) भूख को (तरेम) पार करें। अन्न से भूख को शान्त करें और (राजसु) राजाओं के बीच में (प्रथमाः) उत्कृष्ट पद प्राप्त करके (वयं) हम लोग (अरिष्टासः) परस्पर की हिंसा न करते हुए, स्वयं भी सदा सुरक्षित रहकर (वृजनीभिः) बल-वती शक्तियों द्वारा (धनानि) नाना प्रकार की धन[1] सम्पत्तियों को (जयेम) जीतें, प्राप्त करें।

सायण ने इस मन्त्र में भी 'वृजनी' शब्द से बलकारिणी पासे की रमल की दण्डियां ली हैं। यदि वे ऋ० १० । ४२ । १० ॥ में अपने ही किये इस मन्त्र का अर्थ देख लेते तो अथर्ववेद में यह अनर्थ न करते।

७–(द्वि०) 'पुरुहूत विश्वाम्' (तृ०) 'वयं राजभिः' (च०) 'धनान्यस्माकेन वृजनेनाजयेम' इति ऋ०। १. वृजनेन बलेन इति सायण ऋग्वेदभाष्ये। बलकारिणीभिरिति अथर्वभाष्ये। अक्षशलाकाभिरिति विशेष्यपदं सायणस्य स्वकपोलकल्पितम्।

अध्यात्म पक्ष में-(गोभिः) वेद वाणियों से दुर्गम (अमतिम्) अविद्या को पार करें, हे पुरुहूत परमात्मन् ! हम सब सात्विक होकर यव आदि अन्नों से भूख को दूर करें। राजमान, विद्वानों में श्रेष्ठ होकर हम परस्पर हिंसा न करके प्रेम से रक्षा करते हुए अपनी (वृजनीभिः) बाधाओं और विषय प्रलोभनों का वर्जन कर देने वाली त्याग-वृत्तियों और वैराग्य साधनाओं से (धनानि) धारणीय बलों को प्राप्त करें।

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः ।
गोजिद् भूयासमश्वजिद् धनंजयो हिरण्यजित् ॥ ८ ॥

भा०—(मे) मेरे (दक्षिणे) दायें (हस्ते) हाथ में (कृतं) मेरा अपना किया हुआ कर्म, पुरुषार्थ है और (मे सव्ये) मेरे बायें हाथ में (जयः) जय, विजय (आ-हितः) रक्खी है। मैं अपने परिश्रम से (गो-जित्) गोधन का विजेता, (अश्व-जित्) अश्वों का विजेता और (धनं-जयः) धनका विजेता और (हिरण्य-जित्) स्वर्ण का विजेता (भूयासम्) होऊं। अध्यात्म में—कृत=साधना या तपस्या एक हाथ में है तो दूसरे हाथ में सब विषयों पर विजय है। तप के बल से गो=इन्द्रियां, अश्व=कर्मेन्द्रिय और मन और धन=अष्ट सिद्धियां और (हिरण्य) आत्मा और नवनिधियों पर भी वश हो जाता है।

अक्षाः फलवतीं द्युवं दत्त गां क्षीरिणीमिव ।
सं मा कृतस्य धारया धनुः स्नाव्नेव नह्यत ॥ ९ ॥

भा०—हे (अक्षाः) इन्द्रिय गण ! जिस प्रकार धनी पुरुष (क्षीरिणीम्-इव) दूध वाली दुधार (गां) गौ को दान देते हैं उसी प्रकार तुम (फल-वतीं) उत्तम फलवाली (द्युवं) क्रिया को या ज्ञानव्यवहार को (दत्त)

८—(प्र०) 'दिवं' इति पैप्प० सं० ।

प्रदान करो। और (मां) मुझ को (कृतस्य) अपने किये उत्तम कर्म की (धारया) परम्परा से (स्नाव्ना-इव) तांत से (धनुः) धनुष के समान (सं नह्यत) और प्रबल रूप से, भली प्रकार बांध लो।



[५१ (५३)] रक्षा की प्रार्थना।

अंगिरा ऋषिः। इन्द्रबृहस्पती देवते। त्रिष्टुप्। एकर्चं सूक्तम् ॥

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरीयः कृणोतु॥१॥

भा०—(बृहस्पतिः) बृहस्पति बड़े बड़ों का स्वामी, (नः) हमें (पश्चात्) पीछे से या पश्चिम दिशा से (उत) और (उत्-तरस्मात्) उत्तर दिशा या ऊपर से, (अधरात्) नीचे से या दक्षिण दिशा से (अघयोः) पापी हत्यारे पुरुष के हाथ से (पातु) बचावे। (इन्द्रः) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् राजा, (पुरस्तात्) आगे से या पूर्व दिशा से और (मध्यतः) बीच में से बचावे। और (नः) हमारा सखा परमात्मा या इन्द्र (सखिभ्यः) हम मित्रों के लिये (वरीयः) श्रेष्ठ पदार्थ या उत्तम कार्य (कृणोतु) करे अथवा (सखा सखिभ्यः नः वरीयः कृणोतु) हममें से प्रत्येक मित्र-भाव से अन्यों को मित्र जान कर उनके लिये अपनी शक्ति से उत्तम से उत्तम कार्य करे या आश्रय दे।

इन्द्र और बृहस्पति राष्ट्रपक्ष में राजा के वाचक हैं, अध्यात्म में प्राण के या परमेश्वर के।

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तानि त्रयोदश त्रिंशच्चर्चः]

[५१] १–वरीवः कृणोतु इति पैप्प० सं० ऋ०।

[५२ (५४)] परस्पर मिलकर रहने का उपदेश।

अथर्वा ऋषिः। सांमनस्यकारिणावश्विनौ देवते। १ ककुम्मती अनुष्टुप् जगती।

ऋचं सूक्तम्॥

संज्ञानं नः स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः।
संज्ञानमश्विना युवमिहास्मासु नि यच्छतम्॥१॥

भा०—हे (अश्विनौ) अश्वियो! स्त्रीपुरुषो! (नः) हमारा (स्वेभिः) अपने बन्धुओं के साथ (सं-ज्ञानं) उत्तम संमति, एकमति, मेलजोल रहे और (अरणेभिः) जो लोग हमें प्रिय नहीं लगते उनके साथ भी (सं-ज्ञानम्) हमारा मेलजोल बना रहे, (इह) इस समाज में (अस्मासु) हमारे बीच में (युवम्) तुम दोनों गृहस्थ में नव प्रविष्ट स्त्री-पुरुष पति-पत्नी होकर आये हो तुम भी हम में (सं-ज्ञानम्) परस्पर मेलजोल (नियच्छतम्) बनाये रक्खो। नये सम्बन्ध होने से, नव-वधुओं के घर में आने ही बहुत से कलह उत्पन्न होते हैं अतः नवप्रविष्ट गृहस्थों को यह उपदेश है।

सं जानामहै मनसा सं चिकित्वा मा युष्महि मनसा दैव्येन।
मा घोषा उत् स्थुर्बहुले विनिर्हते मेषुः पप्तदिन्द्रस्याहन्यागते॥२॥

भा०—हम लोग (मनसा) चित्त से सदा (सं जानामहै) आपस में मिल कर, सम्मति करके रहा करें, और (सं चिकित्वा) उत्तम रीति से आपस के सब मामलों को समझ बूझ कर (दैव्येन) विद्वानों के

[५२] १—(प्र० द्वि०) 'स्वः संज्ञानमरणैः', 'स्वभ्यः संज्ञानमरणेभ्यः', (च०) 'अस्मास्वनियच्छतु' इति क्वचित् पाठ।

२—(द्वि०) 'मा युत्स्महि' इति ह्विटनि सम्मतः। (तृ०) 'विनिर्हतम्' इति सायणाभिमतः।

(मनसा) मननशील चित्त के अनुसार होकर आपस में (मा युष्महि) फूट २ कर, जुदा जुदा न रहें और (ऽहुले) अन्धकार के (वि-निर्हते) आ जाने पर हमारी वस्तियों में (घोषाः) हाहाकार के शब्द (मा उत्-तस्थुः) न उठा करें और (अहनि आ-गते) दिन के आते ही प्रातःकाल ही (इन्द्रस्य) इन्द्र, ईश्वर का (इषुः) वाण या दैवी विपत्ति (मा पप्तत्) हम पर न आ पड़े । या (इन्द्रस्य इषुः) राजा के वाण, ऐश्वर्यवानों के वाण गरीबों पर न पड़ें । हम मिल कर रहें, समझ बूझ कर, विचार कर आपस में न फूटें, रात्रि में चोरी डाके, हत्या आदि कुकर्म न हों, दिन में दैवी विपत्ति या राजकीय अत्याचार या ऐश्वर्यवान् पुरुषों के गरीबों पर आक्रमण न हों ।



[५३ (५५)] दीर्घायु की प्रार्थना ।

ब्रह्मा ऋषिः । आयुष्यकारिणो बृहस्पतिरश्विनौ यमश्च देवताः । १ त्रिष्टुप् । ३ भुरिक् । ४. उष्णिग्गर्भा आर्षी पंक्तिः । ५ अनुष्टुप् । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

अमुत्रभूयादधि यद् यमस्य बृहस्पतेरभिशस्तेरमुञ्चः ।
प्रत्यौहतामश्विनौ मृत्युमस्मद् देवानामग्ने भिषजा शचीभिः ॥१॥

यजु० २७ । ९ ॥

भा०—हे (बृहस्पते)[१] बड़े २ लोकों के स्वामिन् ! वा इंद्रियों के पालक ! हे (अग्ने) ज्ञानवान् ! सर्वप्रकाशक ! (यद्) जब आप मुख्य

[५३] १–(द्वि०) 'बृहस्पति रभिशस्त्यामुञ्चात्' इति पैप्प० सं० । 'प्रतिमर्त्यमूहतामश्विना त' इत्यपि क्वचित् । 'बृहस्पते अभिशस्ते' 'मृत्युमस्माद्' (प्र०) अमुत्रभूयादध' इति यजु० ।

१–सम्बुद्धावपि छान्दसः सोर्लोपाभावः इति सायणः ।

प्राण जीव (अमुत्र-भूयात्)[२] परलोक या परकालमें होनेवाले (यमस्य) सर्वनियामक यमस्वरूप प्रभु की दी (अभि-शस्तेः) मरणवेदना से तू अपने को (अमुञ्चः) मुक्त कर लेता है और (अश्विना) अश्विगण प्राण अपान, (देवानां भिषजा) देवगण, इन्द्रियों या विद्वज्जनों के चिकित्सक होकर (शचीभिः) अपनी शक्तियों के द्वारा (अस्मत्) हम से (मृत्युम्) देह और आत्मा के छूट जाने की घटना को (प्रति औहताम्) दूर करें । अथवा (अश्विनौ) शल्यतन्त्र और औषधतन्त्र के ज्ञाता दोनों प्रकार के चिकित्सक लोगोंके मृत्यु के भय कोदूर करें ।

सं क्रामतं मा जहीतं शरीरं प्राणापानौ ते सयुजाविह स्ताम् ।
शतं जीव शरदो वर्धमानोऽग्निष्टे गोपा अधिपा वसिष्ठः ॥ २ ॥

भा०—हे (प्राणापानौ) प्राण और अपान ! (सं क्रामतम्) तुम दोनों समान रूपसे बराबर चलते रहो। (शरीरं) शरीर को (मा जहीतम्) कभी मत छोड़ो । हे बालक ! (ते) तेरे प्राण और अपान दोनों (इह) इस शरीर में (स-युजौ) सदा साथ सहयोगी होकर (स्ताम्) रहें। और हे बालक ! तू (वर्धमानः) निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होता हुआ (शरदः शतं) सौ बरस (जीव) जीवित रह। (अधि-पाः) सब प्राणों का अधिपति (वसिष्ठः) शरीर में सब से मुख्य रूप में वास करता हुआ श्रेष्ठ वसु (अग्निः) प्राणरूप मुख्य जीव=अग्नि (ते) तेरा सब से उत्तम (गोपाः) रक्षक है ।

प्राणरूप अग्नि का वर्णन आथर्वण प्रश्नोपनिषत् में—'स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते।' इत्यादि छान्दोग्य उपनिषत् में भी प्राण-अग्निका वर्णन है । वसिष्ठ-प्राण का वर्णन बृहदारण्यक उप० (६ । १ । ७)—"ते हेमे प्राणा अहंश्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुः । तद् होचुः-

२—अमुत्र । भूयात् । इति पदच्छेदः इति उव्वटः ।

[५३] २—(तृ०) 'संरभ्य जीव शरदः सुवर्चाग्नि' इति पैप्प० सं० ।

को नो वसिष्ठ इति । तद् होवाच । यस्मिन् वः उत्क्रान्ते इदं शरीरं पापीयो मन्यते स वो वसिष्ठ इति ।" जिसके उत्क्रमण होने पर यह शरीर शव हो जाता है वही वसिष्ठ अग्नि मुख्य प्राण जीव है । पूर्व मन्त्र में पठित 'अश्विनौ' इस मंत्र में 'प्राणापानौ' कहे गये हैं और पूर्व मंत्र में पठित 'अग्नि' को इस मंत्र में 'अधिपा वसिष्ठः' पद से कहा गया है ।

आयुर्यत् ते अतिहितं पराचैरपानः प्राणः पुनरा ताविताम् ।
अग्निष्टदाहार्निर्ऋतेरुपस्थात् तदात्मनि पुनरा वेशयामि ते ॥३॥

भा०—हे बालक ! (ते) तेरी (यत्) यदि (आयुः) जीवन-काल (पराचैः) दूर भी (अति-हितं) कर दिया हो तो भी (प्राणः अपानः) प्राण और अपान (तौ) दोनों (पुनः) फिर भी (आइताम्) इस देह में आजावें । (अग्निः) मुख्य प्राण रूप जीवन की अग्नि ही (निर्ऋतेः) अति कष्टमय मृत्यु अथवा अविद्या के (उप-स्थात्) समीप से (तत्) उस आयु को (पुनः) फिर (आहाः) ले आता है । (तत्) उस आयु को (ते) तेरे (आत्मनि) देह में (पुनः) फिर भी (आ-वेशयामि) प्रवेश करा दूं ।

यदि शरीर में से प्राण अपान के रुकजाने से जीवन की आशा दूर भी होजाय तो भी प्राण और अपान, श्वास और उच्छ्वास दोनों की गति ठीक कर देने पर जीवन पुनः अपने को सम्भाल ले सकता है । देह में इस प्रकार योग्य प्राणाचार्य पुनः जीवन प्रवेश करा सकता है ।

मेमं प्राणो हासीन्मो अपानोऽवहाय परा गात् ।
सप्तर्षिभ्य एनं परि ददामि त एनं स्वस्ति जरसे वहन्तु ॥ ४ ॥

४–(प्र०) 'मा त्वा प्राणोदासीद् यस्मे प्रविष्टो' मा त्वाऽपानो वहाय 'परिदद्दहे' 'नयन्तु' इति पाठभेदाः । पैप्प० सं० । 'मो आपानो' 'मोव्यानो ऽवहायेति' हेनरी कामितः पाठः ।

भा०—(इमं) इस बालक के शरीर को (प्राणः) प्राण (मा हासीत्) न छोड़े, और (अपानः उ) अपान वायु भी इसको (अव-हाय) छोड़कर (परा) दूर (मा गात्) न जाय। मैं पिता और आचार्य अपने बालक को (सप्तर्षिभ्यः) सात ऋषि, ज्ञान द्रष्टा प्राणों के अधीन (परि ददामि) सौंपता हूं। (ते) वे सातों प्राण (एनं) इस जीव को (जरसे) बुढ़ापे के काल तक (स्वस्ति) सुखपूर्वक (वहन्तु) पहुंचा दें।

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम् ।
अयं जरिम्णः शेवधिररिष्ट इह वर्धताम् ॥५॥

भा०—हे (प्राणापानौ) प्राण और अपान ! तुम दोनों (व्रजम्) पशुशाला में (अनड्वाहौ-इव) दो बैलों के समान इस देह में (प्रविशतम्) प्रवेश करो। (अयं) यह बालक (जरिम्णः) वार्धक कालका भी (शेवधिः) पात्र, खज़ाना, हो, अर्थात् वह बुढ़ापा भी लम्बा भोगे। और (अरिष्टः) विना किसी प्राणबाधा के कुशलपूर्वक (इह) इस लोक में (वर्धताम्) वृद्धि को प्राप्त हो।

आ ते प्राणं सुवामसि परा यक्ष्मं सुवामि ते ।
आयुर्नो विश्वतो दधदयमग्निर्वरेण्यः ॥६॥

भा०—हे बालक ! (ते) तेरे (प्राणं) प्राण शक्तिको (आ सुवामसि) समस्त शरीर में प्रेरित करें। और (ते) तेरे (यक्ष्मम्) रोग को (परा सुवामसि) दूर करते हैं। (अयम्) यह (अग्निः) मुख्य प्राण ही (नः) हमें (विश्वतः) सब प्रकार से (दधत्) भरण-पोषण करता है और इसी लिये (वरेण्यः) सब से श्रेष्ठ और सबके वरण करने योग्य है।

उद् वयं तमसस्परि रोहन्तो नाकमुत्तमम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥७॥

ऋ० १ । ५० । १० ॥ यजु० २७ । १० । २० । २१ ॥

भा०—(वयं) हम (तमसः) तमस; अन्धकार, अविद्या, अज्ञान, दुःख, इसके मूल पाप से (परि) दूर, ऊपर (उत्) ऊंचे होवें और (उत्-तमम्) सबसे श्रेष्ठ (नाकम्) सुखमय परम पदको (उद्-रोहन्तः) प्राप्त होते हुए (देव-त्रा) प्रकाशमान् , ज्ञानवान् लोकों और पुरुषों के भीतर (सूर्यम्) सूर्य के समान प्रकाशक प्रेरक (उत्-तमं ज्योतिः) सर्वोत्कृष्ट परम ज्योतिःस्वरूप (देवम्) उस परम देव प्रभु को (अगन्म) प्राप्त करें ।

इस सूक्तमें दीर्घ जीवन प्राप्त करने और उसमें परम प्रभु को प्राप्त कर मोक्ष पालेने का उपदेश किया गया है। वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।



[५४ (५६, ५७-१)] ज्ञान के भण्डार वेद ।

भृगुर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप् । द्व्यृचं सूक्तम् ॥

ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते ।
एते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु यच्छतः ॥१॥

भा०—हम विद्वान् लोग (ऋचं) ऋग्वेद और (साम) सामवेद मन्त्र पाठ और उनके गायन प्रकार दोनों का (यजामहे) अपने शिष्यों को उपदेश करते हैं। (याभ्यां) जिन दोनों के द्वारा

७—'उद्वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम् । इति ऋ० । (च०) 'स्वः पश्यन्त उत्तरम्' । इति यजु० ।

(कर्माणि) समस्त यज्ञ कर्म और लौकिक और पारमार्थिक कर्म (कुर्वते) लोग किया करते हैं । (सदसि) इस संसार में (एते) ये ऋग्वेद और सामवेद दोनों ही (राजतः) प्रकाशमान हैं, आदर से देखे जाते हैं । और ये दोनों और (देवेषु) विद्वानों के भीतर (यज्ञं) यज्ञ को या प्रभु परमात्मा के स्वरूप को (यच्छतः) उपदेश करते हैं । उदरमेवाऽस्य यज्ञस्य सदः । श० ३ । ५ । ३ । ५ । प्रजापतेर्वा एतदुदरं यत्सदः । तां० ६ । ४ । ११ । तस्मात् सदसि ऋक्सामभ्यां कुर्वन्ति । ऐन्द्रं हि सदः । श० ४ । ६ । ७ । ३ ॥ तस्य पृथिवी सदः । तै० २ । १ । ५ । १ । अर्थात् यज्ञका उदर भाग 'सदः' स्थान होता है । वह प्रजापति का उदर भाग है । वह इन्द्र विषयक है । उसमें ऋग्वेद और साम का पाठ होता है । यह पृथिवी ही 'सदः' है । इसमें प्राणी विराजते हैं ।

ऋचं साम यदप्राक्षं हविरोजो यजुर्बलम् ।
एष मा तस्मान्मा हिंसीद् वेदः पृष्टः शचीपते ॥२॥

भा०—मैं (यद्) जब (ऋचम्) ऋग्वेद से (हविः) ज्ञानमय साधन और (साम) साम से (ओजः) आत्मिक बल और (यजुः) यजुर्वेद से बाह्य क्रियामय, शारीरिक बल को (अप्राक्षम्) प्राप्त करने या जानने की इच्छा करूं तब हे (शची-पते) शक्तियों के और वाणी के स्वामी इन्द्र ! आचार्य ! (एषः) यह (वेदः) ज्ञानमय वेद ईश्वरीय ज्ञानभण्डार (पृष्टः) इस प्रकार पूछा गया (तस्मात्) इस कारण से (मा) मुझे (मा हिंसीत्) विनाश न करे । ऋग्वेद से व्यवहार के साधनों का ज्ञान करे, साम से आत्मबल या ब्रह्मबल प्राप्त करे यजुर्वेद से कर्मकाण्ड और क्षात्रबल का सम्पादन करे इस प्रकार वेद या ईश्वरीय ज्ञान किसी के विनाश का कारण नहीं होता ।



[५५ (५७-२)] आनन्द की प्रार्थना ।

भृगुर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । विराट् परा उष्णिक् । एकर्चं सूक्तम् ॥

ये ते पन्थानोऽव दिवो येभिर्विश्वमैरयः ।
तेभिः सुम्नया धेहि नो वसो ॥ १ ॥ साम० प्र० २ । ८ । ८ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमात्मन् ! (ते) तेरे (ये) जो (पन्थानः) मार्ग या प्रेरक शक्तियां (दिवः) प्रकाशमान सूर्य के समान शक्तिपुञ्ज या द्यौलोक के (अव) अधीन हैं (येभिः) जिन्हों से (विश्वम्) समस्त संसारको (ऐरयः) चला रहा है। (तेभिः) उन शक्तियों से हे (वसो) समस्त संसार को वसाने हारे प्रभो ! (नः) हमें (सुम्न या) सुखकारी दशा में (आधेहि) रख । अध्यात्म में-द्यौ=ब्रह्माण्ड कपाल के नीचे जो प्राणमार्ग हैं जिन से (विश्वम्) समस्त देह प्रेरित, संचलित होता है उन इन्द्रियों या प्राणों सहित हे वसो ! आत्मन् हमें (सुम्नया) सुम्ना=सुमना=सुषुम्ना नाड़ि के द्वारा समाधि दशा में प्राप्त करा। विशेष देखो सामवेद भाष्य पृ० १०२ सं० [१७२]



[५६ (५८)] विषचिकित्सा ।

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ताः वृश्चिकादयो देवताः । २ वनस्पतिर्देवता । ४ ब्रह्मणस्पतिर्देवता । १-३, ५-८ अनुष्टुप् । ४ विराट् प्रस्तार पंक्तिः । एकर्चं सूक्तम् ॥

---

[५५] १-'ये ते पन्था अधो दिवो येभिर्व्यश्वमैरयः । उत श्रोषन्तु नो भुवः ॥' इति साम० । तत्र वामदेव ऋषिः । इन्द्रो देवता ।

१. 'सुम्ने । आ' इति सायणाभिमतः पदच्छेदः ।

तिरश्चिराजेरसितात् पृदाकोः परि संभृतम् ।
तत् कङ्कपर्वणो विषमियं वीरुदनीनशत् ॥ १ ॥

भा०—(इयं) यह (वीरुत्) लता, ओषधि (तिरश्चि-राजेः) तिरछी धारियों वाले, (असितात्) काले नाग और (पृदाकोः) महानाग से (परि सम्-भृतम्) शरीर में प्रवेश कराये हुए (विषम्) विषको और (कङ्क-पर्वणः) कौवे के समान पोरुओं वाले उड़ने सांप के (विषम्) विष को भी (अनीनशत्) विनाश करती है ।

इयं वीरुन्मधुजाता मधुश्चुन्मधुला मधूः ।
सा विहुतस्य भेषज्यथो मशकजम्भनी ॥ २ ॥

भा०—(इयम्) यह (विरुत्) लता ओषधि (मधु-जाता) मधु=पृथिवी से उत्पन्न है (मधु-ला) मधु=मदकारी गुण को प्राप्त कराने वाली; (मधु-श्चुत्) मधुर रस को चुआने वाली (मधूः) मधु ही है वह (वि-ह्रुतस्य) विशेष रूप से कुटिलगामी सर्पों के विषम विषकी भी (भेषजी) उत्तम चिकित्सा है (अथो) और (मशक-जम्भनी) मच्छर आदि विषैले कीटों को भी नाश करती है ।

सायण ने 'मधु' शब्द से मधुक ओषधि ली है वह क्या है इस में संदेह है । क्योंकि वह बहुतों का नाम है । परन्तु हमारी सम्मति में यह स्वतः 'मधु'=शहद है । मधु के गुण राजनिघण्टु में—

'छर्दिर्हिक्का विषश्वास कासशोषातिसारजित्'

मधु वमन, हिचकी, विषवेग, सांस, दमा, खांसी और तपेदिक अतिसार आदि नाश करता है ।

उष्णैर्विरुध्यते सर्वं विषान्वयतया लघु ।
'उष्णार्त्तरुष्णैरुष्णैर्वा तन्निहन्ति तथा विषम् ।'

[५६] १–(तृ०) 'तदङ्गपर्वणो विषम्' इति पैप्प० सं० ।

मधुऊष्ण स्वभाव के पदार्थों से मिलकर हानि उत्पन्न करता है, वह स्वयं विष हो जाता है, इसलिये वह उस समय विष का भी नाश करता है ।

यतो॑ दृष्टं यतो॑ धी॒तं तत॑स्ते॒ निर्ह्व॑यामसि ।
अ॒र्भस्य॑ तृप्रदं॒शिनो॑ म॒शक॑स्यार॒सं वि॒षम् ॥३॥

भा०—हे विषार्त्त नाग से काटे हुए पुरुष ! तेरे शरीर में (यतः) जिस स्थान से (दष्टम्) नाग ने या विषैले जीव ने काटा है (यतः) और जिस स्थान से (धीतं) रक्तपान किया है । (ततः) उसी स्थान से हम उसके विष को (निर्ह्वयामसि) बाहर कर दें । इस प्रकार (तृप्र-दंशिनः) भरपेट या अति शीघ्र काट लेने वाले, तेज़ काढ़ने वाले (अर्भस्य) बालक सर्प के और (मशकस्य) मच्छरों का भ (विषं) विष (अरसम्) निर्बल होजाता है ।

अ॒यं यो व॒क्रो विप॑रु॒र्व्य॑ङ्गो मुखा॑नि व॒क्रा वृ॑जि॒ना कृ॒णोषि॑ ।
तानि॒ त्वं ब्र॑ह्मणस्पत इ॒षीका॑मिव॒ सं न॑मः ॥ ४ ॥

भा०—विषों को वश करने की रीति लिखते हैं— हे (ब्रह्मणस्पते) वेदविद्या के विद्वान् ! (यः) जो (अयं) यह (वक्रः) टेढ़ा मेढ़ा (वि-परुः) सन्धिस्थानों में नाना प्रकार की चेष्टा करता हुआ । (वि-अङ्गः) अङ्गों में विकार दिखाता हुआ, छटपटाता हुआ, काले नाग से काटा हुआ

३—'यतो दष्टं यतः प्रतं ततस्ते निर्नयामसि । अर्भस्य तृप्तदंश्मनो मशकस्यारसं विषम्' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'निर्वयामसि' (तृ०) 'त्रिप्रदंशिनः' इति पाठौ सायणाभिमतौ । तत्र 'त्रि-प्रदं-शिनः इति च्छेदः ।

४—'अयं यो विकरो विकटो विपर्वा अह मुखानि वृजिना कृणोषि । तानि त्वं देव सवित रिषीकामिव संनमः ।' इति पैप्प० सं० ।

पुरुष (वृजिना) वर्जन करने योग्य या बलपूर्वक, असाध्य रूप से (मुखानि) मुखों को (वक्रा) टेढ़े मेढ़े (कृणोषि) करता है। (तानि) उनको (त्वं) तू (इषीकाम्-इव) सीख के समान (सं नमः) झुका दे, या सीधा कर दे।

अथवा —यह सर्प काटे पुरुष पर न लगकर सर्प भी पर लगता है। (अयं-यः) यह जो सर्प, (विपरुः) नाना पोरुओं वाला, (विअंङ्गः) विचित्र शरीर का (वृजिना) दुःखदायी प्रहार करने वाले (मुखानि) मुखों को (वक्रा) टेढे करता है। फुंफकार २कर मारता है। हे (ब्रह्मणस्पते) विद्वन्! (त्वं) तू (तानि) उसके इन सब कुटिल मुखों को (इषीकामिव सं नमः) सीख के समान झुका देता है। अर्थात् तेरे मन्त्र और ओषधिबल से वह नाग अपने फन को धरती पर झुका लेता है। सायणादि भाष्यकारों ने उक्त मन्त्र की पूर्व रीति से व्याख्या की है। हमें दूसरी सहमत है।

अ॒र॒सस्य॑ श॒र्कोट॑स्य नी॒चीन॑स्यो॒प॒सर्प॑तः।
वि॒षं ह्या॒३॑स्या॒दि॒ष्यथो॑ ए॒न॒म॒जी॒ज॒भ॒म् ॥ ५ ॥

भा०—नाग-दमन का उपदेश करके अब उनके विष-संग्रह का उपदेश करते हैं। पूर्वोक्त रीति से (अरसस्य) मन्त्र और औषध के बल से निर्बल हुए और (नीचीनस्य) नीचे पड़े २ (उपसर्पतः) सरकते हुए (अस्य) इस (शर्कोटस्य) शर्कोट या कर्कोट नामक भयंकर महानाग के भी (विषं) विष को मैं विषविद्या का वेत्ता पुरुष (आ-अदिषि) तोड़ डालता हूँ या ले लेता हूँ। उसको पकड़ कर उसके मुख से निकाल सकता हूँ और फिर (एनम्) उस नाग को (अजीजभम्) मार डालूं या पकड़ कर अपने बन्धन में रखलूं।

न ते॑ बा॒ह्वोर्बल॑मस्ति॒ न शी॒र्षे नो॒त म॑ध्य॒तः।
अथ॒ किं पा॒पया॑मु॒या पुच्छे॑ बिभर्ष्यर्भ॒कम् ॥ ६ ॥

भा०—हे वृश्चिक आदि कीट (ते) (तेरी (वाह्वोः) वाहुओं में (वलं न अस्ति) वल नहीं है (न शीर्षे) न सिर में वल है, (उत) और (मध्यतः नः) वीच भाग में भी वल नहीं है। (अथ) तो फिर (अमुया) इस (पापया) पापमय, दूसरे को कष्ट पहुंचाने वाली वृत्ति से (किं) क्या (पुच्छे) पूछ में (अर्भकम्) छोटासा विपैला कांटा या थोड़ा सा विप (विभर्षि) रक्खे हुए है।

जिनकी पूछ में विप है वे कीट सब उसी जाति के हैं जिनके वाहु, सिर और वीच के भाग में वल नहीं होता, प्रत्युत पापवुद्धि से प्रेरित होकर वे अपने भी पूंछ के थोड़े से विप से भी वहुतसा विनाश किया करते हैं। इसके अतिरिक्त, सर्प के भी शिर, वाहू और वीच में वल नहीं होता प्रत्युत पूंछ में विप होता है। लोग उसके मुंह, पूंछ काट कर पकाकर खा जाते हैं। कदाचित् उस विप-पुच्छ वाले सर्प का ही यह वर्णन है। अगले मन्त्र में 'शर्कोट' का पुनः वर्णन है।

अदन्ति त्वा पिपीलिका वि वृश्चन्ति मयूर्यः।
सर्वे भल ब्रवाथ शार्कोटमरसं विपम् ॥ ७ ॥

भा०—हे सर्प! (त्वा) तुझे (पिपीलिकाः) कीड़ियां (अदन्ति) खा जाती हैं। और (मयूर्यः) मोरनियां, मोरनियों और मुर्गियों को सभी जातें (वि वृश्चन्ति) तुझे नाना प्रकार से काट डालती हैं। हे पिपीलिकाओ तु और मोरनियो! तुम जीव गण जो सर्प को खा जाती और काट फाट डालती हो! (सर्वे) तुम सव (भल)[1] भली प्रकार (ब्रवाथ) बतलारही हो कि (शार्कोटम्) शर्कोट या कर्कोटक नाग का (विपम्) विप (अरसम्) निर्वल है। अर्थात् उसके विप का प्रवल प्रतिकार भी उपस्थित है।

१—'भल ब्रवाथ' इत्येकं पदं सहइति योगविभागात् तिङन्तेन समासः इति सायणः। 'भल ब्रवाथ।' इति पदद्वयमिति पदपाठः।

य उभाभ्यां प्रहरसि पुच्छेन चास्ये/न च ।
आस्ये॒ न ते विषं किमु ते पुच्छधावसत् ॥ ८ ॥

भा०—(यः) जो तू (पुच्छेन च) पूंछ से भी और (आस्येन च) मुख से भी (प्रहरसि) प्रहार करता है, काटता है, (ते) तेरे (आस्ये) मुख में (विषं न) विष नहीं है (किम् उ) तो क्या वह (पुच्छ-धौ) पूंछड़ी में (असत्) है।

(पुच्छधि) 'पुच्छवत् आधीयते इति पुच्छधिः भावे धेः' पुच्छ के समान जिस अंग को धारण किया है वह 'पुच्छधि' कहाता है। हिन्दी में 'पूंछड़ी' है।



[५७ (५९)] सरस्वती रूप ईश्वर से प्रार्थना।

वामदेव ऋषिः । सरस्वती देवता । जागतं छन्दः । द्वृचं सूक्तम् ॥

यद्वाशसा वदतो मे विचुक्षुभे यद् याचमानस्य चरतो जनाँ अनु ।
यदात्मनि तन्वो/मे विरिष्टं सरस्वती तदा पृणद् घृतेन ॥ १ ॥

भा०—(जनान्) सर्वसाधारण लोगों के (अनु) हित के लिये उनके (मे वदतना) मेरे बोलते हुए (आशसा) उनके घात प्रतिघात, पीड़ाकारी प्रयत्न, हिंसन आदि द्वारा मेरा (यत्) जो मन (वि-चुक्षुभे) विक्षोभ या व्याकुलता को प्राप्त हो, और (जनान् अनु चरतः) लोगों के हित के लिये उनके पास जा २ कर (याचमानस्य) भिक्षा करते हुए (यत् मे विचुक्षुभे) जो मेरा मन विक्षोभ, व्याकुलता या बेचैनी को प्राप्त हो और (मे तन्वः)

८—(तृ०) 'आस्ये च नते विषं' इति पैप्प० सं० ।

[५७] १—यदाशसा मे चरतो जनान् अनु यद्याचमानस्य वदतो विचुक्षुभे । यन्मे तन्वो रजसि प्रविष्टं सरस्वती तदा पृणाद् घृतेन । इति पैप्प० सं० । 'तदात्मनि' इति सायणसम्मतः । 'सरस्वति' इत्यपि क्वचित् ।

शरीर में और (आत्मनि) आत्मा और मनमें (यत् विरिष्टं) जो विशेष रूप से क्षति आयी हो, चोट पहुंची हो (सरस्वती) विद्या देवी, (घृतेन) अपने ज्ञानमय और स्नेहमय घृत=मरहम से (तत्) उस घावको (आ-पृणात्) पूरदे, भरदे, आरोग्य करदे। लोकहित के व्याख्यान देने और लोकहित के कामों में भिक्षा करने में शतशः लोकप्रवाद और दुरपवादों से जो मानस विक्षोभ, आघात और व्यथाएं हृदय की चोटें उत्पन्न हों उनको आन्तरिक विज्ञानमयी हृदय देवता सरस्वती भरदे। वह ज्ञानमय देवी वह परमात्मा ही है।

वाक् वै सरस्वती। श० ५।५।४।२५॥ योपा वै सरस्वती पूषा वृषा श० ५।५।१।११॥ ऋक् सामे वै सारस्वतावुत्सौ तै० १।४।४।९॥ सरस्वतीति तद् द्वितीयं वज्ररूपम्। कौ० १२।२॥ वाणी सरस्वती है। घर की स्त्री भी सरस्वती है। ज्ञानमय प्रभु की ऋग्वेद सामवेद ये दोनों सरस्वती के दो स्रोत हैं। सरस्वती ज्ञानमय वज्र है, वह पुष्टिकार देवी है जो आत्मा में बल उत्पन्न करती है।

सप्त क्षरन्ति शिशवे मरुत्वते पित्रे पुत्रासो अप्यवीवृतन्नृतानि।
उभे इदस्योभे अस्य राजत उभे यतेते उभे अस्य पुष्यतः॥ २॥
ऋ० १०। १३। ५॥

भा०—(मरुत्वते शिशवे) मरुत, सात मरुतों से युक्त, सात शिरोगत प्राणों से युक्त (शिशवे) इस शरीर में शयन करने वाले, अथवा, अपने आत्मबल से शरीरपिण्ड में प्राणों के सातों मार्गों को बनाने वाले शिशु नाम आत्मा के लिये या उसके निमित्त (सप्त) सातों प्राण (क्षरन्ति) गति करते हैं। ठीक ही है। क्योंकि (पित्रे) पिता के लिये (पुत्रासः) उसके लड़के (अपि) भी (ऋतानि) नाना कर्मों को (अवीवृतन्) किया करते हैं। इसी प्रकार वह शिशु आत्मा प्राणों का पालक और उत्पादक होने से पिता है, उस (पित्रे) पिता के लिये ये

उससे उत्पन्न प्राण उसके पुत्र हैं और 'पुरु त्रायते इति पुत्रः' इस निरुक्त वचन के अनुसार आत्मा की नाना प्रकार से रक्षा करने से भी ये पुत्र हैं, इस प्रकार ये (पुत्रासः) प्राण रूप पुत्रगण (ऋतानि) सत्य, यथार्थ ज्ञान प्राप्तिरूप व्यापारों को (अपि) भी (अवीवृतन्) किया करते हैं । और (अस्य) इस आत्मा के (इत्) ही (उभे) ये दोनों प्राण और अपान, हैं और (अस्य) इसके ही बल पर ये (उभे) दोनों (राजतः) सदा प्रकाशमान; जीवित जागृत हैं और अन्य सब प्राणों के ऊपर विराजमान हैं । (अस्य) इसके ही निमित्त (उभे यतेते) दोनों प्रयत्न करते हैं । और (उभे) दोनों ही (अस्य) इसको ही (पुष्यतः) पुष्ट करते हैं, इसको सबल बनाये रखते हैं । अथवा–इस मन्त्र में ३ वार उभे आया है अतः । (अस्य इत् उभे) ये दोनों कान उसी के हैं, (अस्य उभे राजतः) दोनों आँखें उसी की चमकती हैं (उभे अस्य यतेते) दोनो नाकें उसके लिये गति करते हैं (उभे अस्य पुष्यतः) रसना और मुख दोनों उसको पुष्ट करते हैं । सातों शीर्षण्य प्राणों का इस प्रकार वर्णन कर दिया है । पूर्वमन्त्र में इसी आत्मा रूप सरस्वती का वर्णन है । "पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः ।" कठवल्ली २ । १ । 'अपांशिशुर्मातृतमास्वन्तः'। तै० सं० १८ । १२ । १ ॥ "सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः । ऋ० ८ । ६९ । १२ । 'मरुत्वत् । पद के सामर्थ्य से मरुत्वान् इन्द्र है । "इन्द्रोऽस्मान् अरदद् वज्रबाहुः अपाहन् वृत्रं परिधिं नदीनाम् । (ऋ० २ । ३३ । ६) ये सब मन्त्रगण उसी इन्द्र आत्मा के वर्णन करते हैं जो उपनिषद् में प्रजा-

२–सप्त स्रवन्ति शिशवो मरुत्वते पिता पुत्रेभ्यो अप्यवीवत् पद्वतः ।
उभये पिप्रते उभयेऽस्य राजहि उभे उभे उभयेऽस्य पिश्यकः ।"
इति पैप्प सं० ।

(द्वि०)-'अप्यवीवतन्नृतम्' (तृ०) 'उभे इदस्योभयस्य', (च०) 'उभयस्य पुष्यतः' इति ऋ० ।

पति रूप होकर अण्ड में ७ प्राणों से सात छिद्र करता हुआ वर्णन किया गया है। 'सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्छयत् । तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत मुखाद्वाग् । वाचोऽग्निर्नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः । प्राणाद्वायुरक्षिणी निरभिद्येतां अक्षीभ्यां चक्षुषी चक्षुष आदित्य कर्णौ निरभिद्येतामित्यादि समस्त प्रकरण 'शिशुआत्मा' और 'अपांशिशु' का अध्यात्म वर्णन किया है। इसीके लिये वृहदारण्यक में लिखा है। 'अयं वाव शिशुर्योयंमध्यमः प्राणः (आत्मा) तमेताः सप्त अक्षितयः उपतिष्ठते ।.........तदेष श्लोको भवति । "अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम् । तस्यासत ऋषयः, सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना । इत्यादि (बृ० उ० २ । २ । १-४)

[५८ (६०)] अध्यात्म सोमरस-पान ।

कौरुपथिर्ऋषिः । मन्त्रोक्ताविन्द्र वरुणौ देवते । १ जगती । २ त्रिष्टुप् ।

द्वयृचं सूक्तम् ॥

इन्द्रा॑वरुणा सुतपा॒विमं सु॒तं सोमं॑ पिबतं॒ मद्यं॑ धृतव्रतौ ।
युवो रथो॑ अध्व॒रो दे॑ववी॑तये॒ प्रति॒ स्वस॑र॒मुप॑ यातु पी॒तये॑ ॥१॥
ऋ० ६ । ६६ । १० ॥

भा०—हे (इन्द्रावरुणा) इन्द्र और वरुण आप दोनों (सुत-पौ) सोम ज्ञान का और आभ्यन्तर आनन्द का पान करने हारे हो । अतः (मद्यं) हर्ष और तृप्ति जनक (सुतं) इस उत्पादित (सोमम्) ज्ञान और आनन्द रस को (धृत-व्रतौ) स्थिर, नियत, कर्मनिष्ठ और समस्त

---

[५८] १-(द्वि०) 'धृतव्रता' । (तृ०) 'अध्वरं' । (च०) 'याति' इति ऋ० । अस्य ऋग्द्वयस्य ऋग्वेदे भरद्वाजो वार्हस्पत्य ऋषिः ।

कर्मों को धारण करने में समर्थ होकर (पिबतं) पान करो, (युवोः) तुम दोनों के भीतर (रथः) रमण करने वाला (अध्वरः) कभी न हिंसित, सदा जीवित, अमर, यज्ञमय आत्मा (देव-वीतये) देव=इन्द्रियगणों के प्राप्त ज्ञान का भोग करने के लिये और (पीतये) विचार धारण में प्रतिदिन आनन्द रस पान करने के लिये (प्रति स्व-सरम्) प्रति देह-रूप घट में (उप यातु) प्राप्त हो अथवा (प्रति स्व-सरम् उप यातु) देह के प्रत्येक स्वयं सरण करने योग्य इन्द्रियों में व्याप्त हो ।

इन्द्रावरुणा मधुमत्तमस्य वृष्णः सोमस्य वृषणा वृषेथाम् ।
इदं वामन्धः परिषिक्तमासद्यास्मिन् बर्हिषि मादयेथाम् ॥ २ ॥
ऋ० ६ । ६८ । ११ ॥

भा०—(इन्द्रावरुणा) इन्द्र और वरुण, प्राण और अपान तुम (मधुमत्-तमस्य) सब से अधिक आनन्दमय (वृष्णः) वीर्यवान् (सोमस्य) रसों के रस एवं सब प्राणों के प्रेरक आत्मा के आप दोनों (वृषणौ) सेचक हो । आप दोनों (वृषेथाम्) भीतर सब प्रकार के सुखों का वर्षण करो । (इदं) यह (वाम्) तुम दोनों के लिये (अन्धः) जीवन धारण करने में समर्थ अन्न आदि भोग्य पदार्थ (परि-सिक्तम्) सब ग्रह या पात्र रूप इन्द्रियों के मुखों में रक्खा है । आप दोनों (अस्मिन्) इस (बर्हिषि) वृद्धिशील, उद्यमशील, श्रमयुक्त देहरूप यज्ञ में कुशासन पर विराजमान ब्राह्मणों के समान (आ-सद्य) विराज कर (मादयेथाम्) आनन्दित, हर्षित एवं तृप्त होओ । यज्ञ में ग्रह पात्रों में सोम भर कर इन्द्र वरुण को आह्वान करना प्रतिनिधिवाद से आत्मा की देहमय वेदि और इन्द्रिय रूप यज्ञ पात्रों में ज्ञान कर्ममय सोमरस को भर कर आत्मगत प्राण अपान को तृप्त करने का ही तात्पर्य है ।

२—(तृ०) 'परिषिक्तमस्मे आसद्य' इति ऋ० । 'इदं वामस्मे परिषिक्तमन्ध आसद्य' इति पैप्प० सं० ।

तं सोमं अघ्नन्। तस्य यशो व्यगृह्णत। ते ग्रहा अभवन्। तद् ग्रहाणां ग्रहत्वम्। तै० २। २। ८। ६॥ तद्यदेनं पात्रैर्व्यगृह्णत तस्माद् ग्रहा नाम। श० ४। १। ३। ५॥ ते देवाः (इन्द्रियमात्राः) सोममन्वविन्दन्। तमघ्नन्। तस्य यथाभिज्ञायं तनूर्व्यगृह्णत ते ग्रहा अभवन्। तद् ग्रहाणां ग्रहत्वन्। श० ४। ६। ५। १॥ अष्टौ ग्रहाः। श० १४। ६। २। १॥ प्राणा वै ग्रहाः। श० ४। २। ४। १३॥



[५९ (६१)] निन्दा का प्रतिवाद।

बादरायणिर्ऋषिः। मन्त्रोक्तोऽरिनाशना देवता। अनुष्टुप् छन्दः।

एकर्चं सूक्तम्॥

यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात्।
वृक्ष इव विद्युता हत आ मूलादनु शुष्यतु॥ १॥

भा०—(यः) जो (अशपतः) निन्दा न करते हुए भी (नः) हमें (शपात्) बुरा भला कहे। और (यः च) जो (शपतः) बुरा भला कहते हुए भी (नः) हमें (शपात्) बुरा भला कहे वह (वि-द्युता हतः) बिजली की मार से मरे हुए (वृक्ष-इव) वृक्ष के समान (आ मूलात्) चोटी से जड़ तक (अनु शुष्यतु) सूख जाय। व्यर्थ का निन्दक और प्रतिनिन्दक दोनों ही असत्य और मानस पाप से सूख जाते हैं।

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तान्यष्टौ ऋचश्च पञ्चविंशतिः।]



[५६] १–(तृ०) 'वृक्षेव' इति पैप्प० सं०।

[६० (६२)] गृह-स्वामि और गृह-बन्धुओं के कर्त्तव्य ।

ब्रह्मा ऋषिः । रम्या गृहाः वास्तोष्पतयश्च देवताः । पराऽनुष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

ऊर्जं बिभ्रद्वसुवनिः सुमेधा अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण ।
गृहानैमि सुमना वन्दमानो रमध्वं मा बिभीत मत् ॥ १ ॥

यजु० ३ । ४१ ॥

भा०—मैं गृहपति जब (गृहान्) अपने घर, स्त्री, पुत्र आदि के पास (एमि) आऊं तब (ऊर्जम्) पुष्टिकारक अन्न को (बिभ्रत्) लिये हुए आऊं । और आकर (वसु-वनिः) आवासयोग्य अन्न, वस्त्र, धन आदि को सब में बाटूं और (सु-मेधाः) उत्तम शुभ बुद्धि से युक्त होकर (अघोरेण) अघोर, सौम्य, प्रसन्न (मित्रियेण) स्नेहपूर्ण (चक्षुषा) दृष्टि से सब को देखूं और (सु-मनाः) शुभ प्रसन्नचित्त होकर सब को (वन्दमानः) नमस्कार करूं । हे गृह के वासियो ! और स्त्रियो ! भाइयो ! (रमध्वं) आप लोग आनन्द प्रसन्न रहो (मत्) मुझसे (मा बिभीत) किसी प्रकार का भय मत करो ।

इमे गृहा मयोभुव ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्तः ।
पूर्णा वामेन तिष्ठन्तस्ते नो जानन्त्वायतः ॥ २ ॥

भा०—(इमे गृहाः) ये हमारे घर परिवार (मयः-भुवः) सुख

[६०] १—"गृहान् एमि मनसा मोदमान ऊर्जं बिभ्रद् वसुमतिः सुमेधाऽघोरेण चक्षुषा मित्रियेण गृहाणाम् पश्यान् पय उत्तरामि ।" इति पैप्प० सं० ॥
२—"गृहा मा बिभीत, मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि । ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः" इति यजु० (तृ०) वामस्य (च०) 'जानन्तु जानतः' इति पैप्प० सं० ।

आनन्द के उत्पादक (ऊर्जस्वन्तः) धन धान्य आदि से पूर्ण (पयस्वन्तः) घी दूध मक्खन से भरपूर (वामेन) धन से (पूर्णाः) भरे पूरे (तिष्ठन्तः) रहकर (ते) वे (आयतः) वाहर से आते हुए (नः) हम लोगों का अभ्युत्थान द्वारा (जानन्तु) जानें, सत्कार करें ।

येषा॑मध्येति॑ प्रवस॑न् येषु॑ सौमन॒सो ब॒हुः ।
गृ॒हानुप॑ ह्वयामहे॒ ते नो॑ जानन्त्वाय॒तः ॥ ३ ॥

यजु० ३ । ४२ ॥

भा०—(प्र-वसन्) प्रवास में गया हुआ पुरुष (येषाम्) अपने जिन सम्बन्धियों का (अधि एति) नित्य स्मरण किया करता है और (येषु) जिनके प्रति या जिन पर वह (वहुः) वहुत वार, वहुधा, (सौमनसः) उत्तम चित्तवाला, सुप्रसन्न एवं कृपालु या जिनके विषय में वह वहुत वार नाना प्रकार के शुभ संकल्प किया करता है उन (गृहान्) घर परिवार के वन्धुओं को हम सदा (उप ह्वयामहे) याद करें, बुलावें, जिससे (ते) वे (नः) हमें (आ-यतः) पुनः घर पर आते हुवों को (जानन्तु) जानें और हमें प्रेम से मिलें ।

उप॑हूता भूरि॑धनाः सखा॑यः स्वा॒दुसं॑मुदः ।
अ॒क्षुध्या अ॑तृ॒ष्या स्त॒ गृ॑हा॒ मास्मद् बि॑भीतन ॥ ४ ॥

भा०—(भूरि-धनाः) वहुत धनाढ्य (स्वादु-संमुदः) स्वादु, सुखकारी, मिष्टान्न आदि पदार्थों में एकत्र होकर आनन्द लेने वाले (सखायः) मित्रगण (उप-हूताः) नाना अवसरों पर बुलाये जाया करें । और हे (गृहाः) घर के सम्वन्धी लोगो ! आप लोग (अक्षुध्याः) भूख से

३–(च०) 'जानन्तु जानतः' इति यजु० ।

४–(द्वि०) 'स्वादुसंनरः' 'अरिष्टाः सर्वपूर्णा गृहा नः सन्तु सर्वदा ।' इति पैप्प० सं० ।

पीड़ित न होकर सदा तृप्त रहो, और (अतृष्याः स्त) कभी प्यासे न रह कर सदा तृप्त, भरे पूरे रहो, (अस्मत्) हम से (मा विभीतन) भय मत करो ।

उप॑हूता इह गाव॒ उप॑हूता अजाव॒यः ।
अथो॒ अन्न॑स्य की॒लाल॒ उप॑हूतो गृ॒हेषु॑ नः ॥ ५ ॥

यजु० ३ । ४३ ॥

भा०—(इह) इस घर में (गावः) गौएं (उप-हूताः,) लाई जावें, (अज-अवयः) बकरियां और भेड़ें भी (उप-हूताः) लाई जावें, (अथो) और (अन्नस्य) अन्न का (कीलालः) सारभूत अंश अर्थात् अन्नों में से भी उत्तम २ बलकारी सारवान् अन्न (नः) हमारे (गृहेषु) घरों में (उप-हूतः) लाया जावे ।

सू॒नृता॑वन्तः सु॒भगा॒ इरा॑वन्तो हसामु॒दाः ।
अ॒तृ॒ष्या अ॑क्षु॒ध्या स्त॒ गृहा॒ मास्मद् बि॑भीतन ॥ ६ ॥

भा०—हे (गृहाः) हमारे गृह और परिवार के बन्धुजनो ! आप लोग सदा (सूनृत-वन्तः) सत्यभाषण किया करो, (सु-भगाः) सदा उत्तम भाग्यशाली, सम्पन्न और (इरा-वन्तः) धन धान्य से युक्त रहो । नित्य (हसा-मुदाः) हंसमुख, प्रसन्न रहो । सदा (अतृष्याः) तृष्णा रहित और (अक्षुध्याः) बिना भूख के, सदा तृप्त (स्त) रहो । और (अस्मद्) हमसे मा (विभीतन) भय मत करो ।

इ॒हैव स्त॒ मानु॑ गात॒ विश्वा॑ रू॒पाणि॑ पुष्यत ।
ऐष्या॑मि भ॒द्रेणा॑ स॒ह भूयां॑सो भवता॒ मया॑ ॥ ७ ॥

५—(तृ०) 'अथो अन्नस्य यो रसः' इति ला० श्रौ० सू० । (च०) 'गृहेषु णः' इति क्वचित् ।

६—(तृ०) 'अक्षुध्याऽतृष्यास्त' इति पैप्प० सं० । 'अनश्या अतृष्या' इति हि० गृ० सू० ।

भा०—हे गृह के बन्धुजनो ! आप लोग (इह एव) इस गृह में ही (स्त) सुख से रहो (मा अनु गात) जब हम विदेश जायं तो हमारे पीछे २ मत जाओ, यहां ही (विश्वा) समस्त (रूपाणि) धन और गौ आदि पशुओं को (पुष्यत) पुष्ट करो । मैं विदेश से (भद्रेण सह) कल्याण और सुखकारी पदार्थों सहित (आ-एष्यामि) लौट आऊँगा और (मया) मेरे द्वारा ही आप लोग (भूयांसः) खूब सम्पन्न (भवत) होकर रहो । गृह, परिवार, पुत्र भाई, स्त्री बन्धुओं के संग सदा ऐसा ही व्यव हार करते रहें जिससे सब को सुख हो, सम्पत्ति और परस्पर प्रेम बढ़े ।



[६१ (६२)] तपस्या का व्रत ।

अथर्वा ऋषिः । अग्निर्देवता । अनुष्टुभौ । द्व्यृचं सूक्तम् ॥

यद॑ग्ने॒ तप॑सा॒ तप॑ उपत॒प्याम॑हे॒ तपः॑ ।
प्रि॒याः श्रु॒तस्य॑ भूया॒स्मायु॑ष्मन्तः सुमे॒धसः॑ ॥१॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! परमात्मन् और तत्प्रतिनिधे ब्रह्मन् ! आचार्य ! (यत्) जो (तपः) तप (तपसा) ब्रह्मज्ञान द्वारा किया जाता है उसी (तपः) तप को हम भी (उप-तप्यामहे) करना चाहते हैं । (श्रुतस्य) ब्रह्म, वेदज्ञान के (प्रियाः) प्यारे (भूयास्म) हों और (आयुष्मन्तः) आयुष्मान्, दीर्घजीवी और (सु-मेधसः) उत्तम पवित्र धारणावती बुद्धि से युक्त हों ।

अग्ने॒ तप॑स्तप्यामह॒ उप॑ तप्यामहे॒ तपः॑ ।
श्रु॒तानि॑ शृ॒ण्वन्तो॑ व॒यमायु॑ष्मन्तः सुमे॒धसः॑ ॥ २ ॥

भा०—हे (अग्ने) ब्रह्मन् ! आचार्य ! ज्ञानमय, ज्ञानप्रकाशक ! हम (तपः) तप (तप्यामहे) करें और (तपः) तपस्वरूप आत्मा और ब्रह्म की ही (उप तप्यामहे) उपासना या ज्ञान करें । हम (श्रुतानि)

[६१]—'प्रेतामहे तपः' इति पैप्प० सं० ।

वेदवाक्यों को (शृण्वन्तः) श्रवण करते हुए (सु-मेधसः) उत्तम बुद्धि सम्पन्न और (आयुष्मन्तः) दीर्घायु होकर रहें ।

'तप पर्यालोचने' इति धातुपाठः । वेद का पर्यालोचन, साक्षात्कार और अनुशीलन करना तप है । ऋतं, सत्य, तप, शम, दम, यज्ञ, मनुष्य-सेवा, प्रजोत्पादन, प्रजारक्षण, प्रजावर्धन और सबके साथ स्वाध्याय और प्रवचन करना यही तप है। राथीतर आचार्य सत्यपालन को तप कहते हैं, पौरुशिष्ट आचार्य 'तप' को ही तप कहते हैं। मौद्गल्य नाक आचार्य स्वाध्याय और प्रवचन को ही तप कहते हैं, वास्तव में ऋत आदि सभी 'तप' हैं । ऋतं तपः, सत्यंतपः, श्रुतं तपः, शान्तं तपो, दमस्तपः, शमस्तपः, दानं तपो यज्ञस्तपो भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः । (तैत्तरीय आरण्यक प्रपा १० । अनु० ८) तैत्तिरीयारण्यक में ऋत आदि क्यों तप हैं इसकी विस्तृत व्याख्या देखने योग्य है । 'मनसश्चेन्द्रियाणां चैकाग्र्यं तप उच्यते' । मन और इन्द्रियों का दमन ही तप है ।



[६२ (६४)]

कश्यप मारीच ऋषिः । अग्निर्देवता । जगती छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

अ॒यम॒ग्निः सत्प॑तिर्वृ॒द्धवृ॑ष्णो र॒थीव॑ प॒त्तीन॑जयत् पु॒रोहि॑तः ।
नाभा॑ पृथि॒व्यां निहि॑तो॒ दवि॑द्युतदधस्प॒दं कृ॑णुतां॒ ये पृ॑त॒न्यवः॑ ॥१॥

यजु० १५ । ५१ ॥

भा०—(अयम्) यह (अग्निः) ज्ञानवान् परमेश्वर और आचार्य, राजा, (सत्-पतिः) सज्जन पुरुषों को, स्वामी, पालक, (वृद्ध-वृष्णः)-महा बलशाली, वृद्ध-ज्ञान वृद्ध पुरुषों द्वारा बलवान् (पुरः-हितः) सब के आगे प्रधान पद पर स्थापित होकर (रथी इव) रथी जिस प्रकार (पत्तीन्) पैदल सैनिकों को (अजयत्) जीत कर उनसे अधिक बलशाली रहता है उसी प्रकार यह भी (रथी) रथ=देह रूप रथ में चढ़े

आत्मा (पत्तीन्) ज्ञान करने के साधन जो ग्राह्य विषयों तक गति करते हैं उन इन्द्रियों पर (अजयत्) वश किये हुए है वह जितेन्द्रिय है। (पृथिव्यां) पृथिवी=अन्तरिक्ष स्थान में (निहित) स्थापित सूर्य जिस प्रकार (दविद्युतत्) निरन्तर प्रकाशमान रहता हुआ उन लोगों को (ये) जो (पृतन्यवः) पृतना=सेना लेकर हम पर चढ़ आवें, (अधः-पदं) निचले पद=स्थान में (कृणुताम्) करें। अर्थात् उनको वश करके हमारे नीचे रक्खें। हम शासन करे और वे हमारे शासित होकर रहें।



[६३ (६५)] राजा का आमन्त्रण।

मरीचिः काश्यप ऋषिः । जातवेदा देवता । जगती छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

पृतनाजितं सहमानमग्निमुक्थैर्हवामहे परमात् सधस्थात्।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा क्षामद् देवोऽति दुरितान्यग्निः॥१॥

भा०—(पृतना-जितम्) सेनाओं द्वारा संग्राम का विजय करनेवाले (सहमानम्) शत्रु को दबानेवाले (अग्निम्) अग्नि के समान तेजस्वी परन्तप राजा को उसके (परमात्) परम, सबसे उत्कृष्ट होकर हमारे बीच में (सध-स्थात्) हमारे साथ रहने के कारण अर्थात् हमारे साथ रह कर भी सबसे उत्कृष्ट रहने के कारण (हवामहे) हम उसकी स्तुति करते हैं, उसको अपनी रक्षा और शिक्षा के लिये आदर से बुलाते हैं। क्योंकि (सः) वह (नः) हमें (विश्वा) समस्त (दुःगानि) दुर्गम स्थानों को (अति पर्षत्) पार करा देता है। और वही (देवः) सर्व

[६३] १–(च०) 'विश्वा क्षामाद् देवोऽधि' इति पैप्प० सं०। हैनरी-ह्विटनि आदयः 'क्षामद्' इत्यस्यस्थानं 'क्रामद्' इति वाञ्छन्ति। तदयुक्तम्। क्वापि तथानुपलम्भात्। 'क्षामद्' इति नाशकरणार्थस्य क्षियः क्तान्तस्य णिचि रूपम्।

व्यवहार कुशल; राजा (अग्निः) अग्नि के समान समस्त पापों को भस्म करने हारा, दुष्टों का तापकारी, (दुः-इतानि) सब दुष्ट कर्मों को (अति क्रामद्) सर्वथा नाश करे ।



[६४ (६६)] पाप से छूटने के दो उपाय ।

यम ऋषिः । कृष्णः शकुनिर्निर्ऋतिर्वा मन्त्रोक्ता देवता । १ भुरिग् अनुष्टुप्, २ न्यंकुसारिणी बृहती छन्दः । द्व्यृचं सूक्तम् ॥

इदं यत् कृष्णः शकुनिरभिनिष्पतन्नपीपतत् ।
आपो मा तस्मात् सर्वस्माद् दुरितात् पान्त्वंहसः ॥१॥

भा०—(इदं) यह (यत्) जो (कृष्णः) काला, या मनको अपनी तरफ़ आकर्षण करनेवाला (शकुनिः) शक्तिमान् प्रबल पाप या पाप की वासना (अभि निः-पतन्) चारों ओर से बड़े वेग से हमारे आत्मा पर आवरण करता हुआ, मंडराता हुआ, झपटता हुआ (अपीपतत्) हमको गिराता है हमारे ऊपर आक्रमण करके हमें पाप के मार्गों में ढकेलता है । (आपः) परमात्मा की व्यापक शक्तियाँ जो मुझे प्राप्त हैं वही (तस्मात्) उस (सर्वस्मात्) सब प्रकार के (दुः-इतात्) दुष्ट कर्म मय (अंहसः) प्रबल पाप से (पान्तु) बचावें । काले काक के स्पर्श से उत्पन्न पाप से बचने के लिये जलों से प्रार्थना मान कर सायण और तदनुयायी पाश्चात्य पण्डितों ने व्याख्या की है वह असंगत है । उन्होंने यम ऋषि निर्ऋति पाप देवता पर विचार नहीं किया ।

---

[६६] १–यदस्मान् कृष्णशकुनिर्निष्पतन्नानशे आपो मा तस्मादेनसो दुरितात् पातु विश्वतः ।" इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'अभिनिपतन्' इति 'ह्विटनि'कामितः ॥

इदं यत् कृष्णः शकुनिरवामृक्षन्निर्ऋते ते मुखेन ।
अग्निर्मा तस्मादेनसो गार्हपत्यः प्र मुञ्चतु ॥ २ ॥

भा०—हे (निः-ऋते) आत्मा को नीचे ले जाने, प्रिय न लगने वाली, निर्ऋते ! पाप प्रवृत्ते ! जन्ममरणकारिणि मृत्युदेवते ! (इदं यत्) यह जो (कृष्णः) काला, तामस, मन को अपहरण करने वाला, (शकुनिः) अतिप्रबल विषय विक्षेप हमें (ते) तेरे (मुखेन) स्वरूप से (अव-अमृक्षन्[1]) नीचे गिरा देता है, या हम से बन्धन रूप में संसक्त हो जाता है, (तस्मात्) उस (एनसः) पाप से (गार्ह-पत्यः) गार्हपत्य, गृहपति आत्माका हितकारी प्राणरूप अग्नि ही (मां) मुझको (प्र मुञ्चतु) भली प्रकार मुक्त करे, प्राणायाम के बल से पाप से छूटने का उद्योग करे। पाप का संकल्प चित्त में आते ही यदि प्राणायाम करें तो प्रबल पापवासना निर्मूल हो जाती है और मृत्यु का भय भी दूर होता है। प्रथम मन्त्र में प्रभु की शक्तियां के स्मरण से और दूसरे मन्त्र में देह रूप गृह के पति आत्मा की मुख्य शक्ति प्राणमय अग्नि की साधना से पाप से मुक्त होने का उपदेश है।

प्रजापतिः गार्हपत्याः । ऐ० ८ । २४ ॥ एष एव (आत्मा) गार्हपत्यो यमो राजा (श० २ । ३ । २ । २) ।



२—"यदि वा मृचते कृष्णाशकुनिर्मुखेन निर्ऋते तव अग्निस्तत्सर्वं शुन्धतु हव्यवान् घृतसूदनः" इति पैप्प० सं०। 'यदपामार्त्तच्छकुनि'-इत्यादि आप० श्रौ० सू० 'यत्तु कृष्ण शकुनः' 'अवमृशेत्' इत्यादि तै० सं० ॥

[1] मृश अवमर्शने (तुदादिः०) मृच संघाते (भ्वादिः) इत्यनयो रेकतरस्य रूपम् ॥

[६५ (६७)] पाप निवारक 'अपामार्ग' का स्वरूपवर्णन ।

दुरितापमृष्टिप्रार्थी शुक्र ऋषिः । अपामार्गवीरुद् देवता । अनुष्टुप् छन्दः । तृचं सूक्तम् ॥

प्रतीचीनंफलो हि त्वमपामार्ग रुरोहिथ ।
सर्वान् मच्छपथाँ अधि वरीयो यावया इतः ॥ १ ॥

भा०—हे (अपामार्ग) अपामार्ग लते ! (त्वम्) तू जिस प्रकार (प्रतीचीनफलः) अपने फलों को अपने से छूने वाले के प्रति कष्टदायी होकर अपने फलों के उसके वस्त्रों से चिपटा देता है इसलिये 'प्रतीचीन फल' वाला होकर (रुरोहिथ) उगा करता है । इसलिये तेरे पास कोई नहीं जाता । इसी प्रकार हे (अपामार्ग) पाप लेशों को दूर से परे रखने वाले पुरुष ! तू भी (प्रतीचीनफलः) अपने शत्रुओं के लिये विपरीत फल उत्पन्न करने वाले काम करता हुआ (रुरोहिथ) वृद्धि को प्राप्त हो । और (मत्) मुझ से (सर्वान्) समस्त (शपथान्) आक्रोश या निन्दाजनक भावों को (इतः) अभी इसी काल से (वरीयः) सर्वथा (अधि यवय) परे कर । अथवा अपामार्ग शब्द से आत्मा को ही सम्बोधन किया गया है । हे अपामार्ग कर्म-परिशोधक, आत्मन् ! तू (प्रतीचीनफलः) प्रत्यक्, साक्षात् होकर ही फलने हारा या स्वतः फल-रूप होकर (रुरोहिथ) अधिक बलवान् पुष्ट होता है । तू मुझसे (शपथान्) सब पाप भावों को (इतः) यहां इस देह से (अधि यवय) दूर कर । देखो अथर्व ४ । १९ । ७ ॥

यद् दुष्कृतं यच्छमलं यद् वा चेरिम पापया ।
त्वया तद् विश्वतोमुखापामार्गापं मृज्महे ॥ २ ॥

भा०—हम (पापया) पापकारिणी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर (यद्) जो (दुष्कृतं) दुष्ट काम और (यत् शमलं) जो मलिन, कलंक-जनक, घृणित कार्य (यद् वा) अथवा जो कुछ भी (चेरिम) करते हैं, हे

(अपामार्ग) पापों को दूरने हारे प्राण ! (तत्) उसको (त्वया) तेरे बलसे, हे (विश्वतः-मुख) सर्वतोमुख ! (अप मृज्महे) दूर करते हैं ।

श्यावदता कुनखिना बण्डेन यत्सहासिम ।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥ ३ ॥

भा०—(यत्) और जो (श्याव-दता) काले दाँत वाले, मलिन मुख, दन्तधावन न करने वाले, व्यसन से मलिन पदार्थ, मांस आदि खाने वाले (कु-नखिना) बुरे नखों वाले, (बण्डेन [1]) और लड़ाके या परस्पर फूट डालने वाले, चुगलखोर के साथ (आसिम) बैठें तो हे (अपामार्ग) पापों को दूर करने हारे (त्वया) तेरे बल पर (तत् सर्वं) उस सब दुष्प्रभाव को (अप मृज्महे) दूर करें ।

[६६ (६८)] ब्रह्मज्ञान के धारण का यत्न ।

ब्रह्मा ऋषिः । ब्राह्मणं ब्रह्म वा देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

यद्यन्तरिक्षे यदि वात आस यदि वृक्षेषु यदि वोलपेषु ।
यदस्रवन् पशव उद्यमानं तद् ब्राह्मणं पुनरस्मानुपैतु ॥ १ ॥

भा०—(यदि) जो (उद्यमानम्) अध्ययन के समय में गुरुमुख से बहता हुआ ब्रह्मज्ञान या वेदाध्ययन करते समय उसका तात्विक श्रवण (अन्तरिक्षे) मेघ के होने पर (यदि वातम्) जो प्रचण्ड वायु के चलने

[६५] ३–'वन्डेन' इति सायणाभिमतः ।

१. बण्डेन नपुंसक नेति सायणः । भग्नाङ्ग इति ह्विटनिः, वडि विभाजने इति धातोः पचाद्यच् । बण्डो विभाजकः ।

[६६] १–"यदन्तरिक्षम् यदि वा रजांसि, तत् वृक्षेषु भयनलपेषु । अजस्रवन पशव" इत्यादि पैप्प० सं० । (तृ०) 'यदस्रवन् पशवः' इति प्रायः । 'अश्रवन्' इति बहुत्र । 'अश्रवन्' इति सायणाभिमतः ।

पर (यदि वृक्षेषु) और जो वृक्षों के भीतर पक्षि आदि के विघ्न करने से (यदि वा उलपेषु) या तृण घास, धान के खेत आदि के वीच में इधर उधर के दृश्यों या कीट पतङ्गों के विघ्नों से और (यत्) जो (पशवः=पशुषु) पशुओं के बीच में उनकी चपलता के कारण (अस्रवन्) मेरे कान में आकर भी निकल गया है—विस्मृत हो गया है (तत्) वह (ब्राह्मणम्) ब्रह्मज्ञान (पुनः) फिर (अस्मान्) हमें (उपैतु) प्राप्त हो ।

हमने जिन विघ्नों का निर्देश किया है उनको ही देख कर आपस्तम्बमें वेदाध्ययन और अध्यापन का निम्न-लिखित स्थानों और अवसरों पर निषेध किया है। "नाभ्रे न च्छायायां, न पर्यावृत्ते, आदित्ये, न हरितयवान् प्रेक्षमाणो न ग्राम्यस्य पशोरन्ते, नारण्यस्य, नापामन्ते।(आप० १५ । २१ ८)

सायण आदि ने अमुक अवसरों पर वेदाध्ययन करना पाप जनक कहा । तृतोय में (यत् पशव उद्यमानं आश्रवन्) जो पशुओं ने सुन लिया है ऐसा अर्थ किया है ' पशुओं के श्रवण में कोई दोष न होने से यह अर्थ निरर्थक है ।



[६७ (६८)] शरीरस्थ अग्नियें ।

ब्रह्मा ऋषिः । आत्मा देवता । पुरः परोष्णिग् बृहती । एकर्चं सूक्तम् ॥

पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च ।
पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पयातामिहैव ॥ १ ॥

भा०—(मा) मुझे (इन्द्रियं) इन्द्रियों का सामर्थ्य, बल (पुनः, प्राप्त हो । अथवा मुझे इन्द्र परमेश्वर का बल अथवा चक्षु आदि इन्द्रियगण पुनः २ प्राप्त हों । (आत्मा) मन, जीव और देह (द्रविणम्) धन और (ब्राह्मणं च) ब्रह्म-ज्ञान भी पुनः २ प्राप्त हो । (धिष्ण्याः) आधान के स्थान में विहरण करने वाले (अग्नयः) अग्नियां, आहवनीय, गार्हपत्य और अन्वाहार्यपचन आदि (यथा-स्थाम) अपने २ स्थानों पर

(इह एव) इस लोक में, देह में, गृह में भी (पुनः) वार २ (कल्पयन्ताम्) प्रज्वलित हों, समर्थ हों। शरीरस्थ अग्नियों का विवरण प्राणाग्नि-होत्र उपनिषद् के अनुसार इस प्रकार है। (१) सूर्य-अग्नि 'एक ऋषि' होकर मूर्धा स्थान पर विराजती है। (२) दर्शनाग्नि आहवनीयाग्नि होकर मुख में बैठती है। (३) शारीर अग्नि, जठर में हवि प्राप्त करती है, वही दक्षिणाग्नि होकर हृदय में बैठती है। (४) कोष्ठाग्नि गार्हपत्य होकर नाभि में रहती है। (५) उससे नीचे प्रायश्चित्ती अग्नियें प्रजननांग में रहती हैं। ये पांचों शरीर धारण करने से 'धिषण,' शरीर में विद्यमान रहने से 'धिष्ण्य' कहाती हैं। अथवा 'धिषणा' बुद्धि द्वारा प्रेरित होने से 'धिष्ण्य' कहाती हैं।

[६८ (७०, ७१)] स्त्री के कर्त्तव्य।

शंतातिर्ऋषिः । सरस्वती देवता । १ अनुष्टुप् । २ त्रिष्टुप् । ३ गायत्री ।
तृचं सूक्तम् ॥

सरस्वति व्रतेषु ते दिव्येषु देवि धामसु ।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः ॥ १ ॥

भा०—हे (सरस्वति) सरस्वती रस-अन्न आदि से गृह भर को पुष्ट करनेहारी स्त्रि ! (ते) तेरे कार्यों में और (दिव्येषु) दिव्य, रमण करने योग्य, या व्यवहार करने योग्य (धामसु) तेजों में, सामर्थ्यों में हमारा (आहुतम्) दिया हुआ (हव्यम्) स्वीकार करने योग्य पदार्थ ही (जुषस्व) प्रेम से स्वीकार कर और (नः) हम गृहपतियों को हे (देवि) (प्रजां) प्रजा का (ररास्व) प्रदान कर। स्त्रियाँ पतियों के प्रदान किये समस्त पदार्थों को प्रेम से स्वीकार करें और गृह में उत्तम सन्तान उत्पन्न करें। विद्या को लक्ष्य करके—हे सरस्वति ! हम तेरे (व्रतेषु) नियमपूर्वक अध्ययन-अध्यापन, दिव्य सामर्थ्यों में अपना 'आहुत'

मनोयोग प्रदान करते हैं उसे स्वीकार कर, हमें प्रज्ञा का प्रदान कर। दो ही प्रकार के पुत्र हैं एक विद्यासम्बन्ध से, और दूसरे योनिसम्बन्ध से विद्यासम्बन्ध से भी गोत्र चलते हैं और योनिसम्बन्ध से भी।

इदं ते हव्यं घृतवत् सरस्वतीदं पितृणां हविरास्यं१यत्।
इमानि त उदिता शंतमानि तेभिर्वयं मधुमन्तः स्याम ॥२॥

भा०—हे (सरस्वती) सरस्वती देवि ! प्रियतमे ! (ते हव्यम्) तेरा भोज्य पदार्थ (इदम्) यह (घृतवत्) घृत आदि पुष्टिकारक, गर्भ-पोषक पदार्थों से युक्त हो। इदम् यही (पितृणां) बालकों के उत्पादक पिता लोगों का भी (हविः) अन्न है (यत्) जो (आस्यम्=आश्यम्) खाने योग्य है। (ते) तेरे (इमानि) ये (उदितानि) उच्चारण किये वाक्य (शं-तमानि) बहुत कल्याणकारी और सुखकारी हों। और (वयम्) हम (तेभिः) उन तेरे मधुर वचनों से ही (मधुमन्तः) हृदय में आनन्द और हर्षयुक्त (स्याम) हो जांय।

विद्यापक्ष में—हे विद्ये ! सरस्वति ! यह तेरा प्राप्त करने योग्य तेजोमय रूप है जिसको पितृ=पालक गुरु आदि भी प्राप्त करते हैं (यत् आस्यम्) और जो शिष्यों के प्रति देने योग्य है। तेरे समस्त वचन कल्याणकारी हों और उनसे हम मधुमान् या ज्ञानी और आनन्दमय रहें।

शिवा नः शंतमा भव सुमृडीका सरस्वति।
मा ते युयोम संदृशः ॥ ३ ॥

भा०—हे (सरस्वति) स्त्रि ! या विद्ये ! तू (नः) हमारे लिये (शिवा) शुभ और (शं-तमा) अति कल्याण और सुखकारिणी

[६८] २–(द्वि०) 'पितृणां हविराज्यं यत्' इति 'रोथ'आदिसम्मतः।
३–(तृ०) 'माते व्योम संदृशि' इति तै० आ०।

(सु-मृडीका) अति आनन्द और हर्षजनक (भव) हो (ते) तेरी (सं-दृशः) प्रेममय दृष्टि से (मा युयोम) कभी वञ्चित न हों। अर्थात् तू सदा हम पर अपनी प्रेम दृष्टि रख, हमसे कभी मुख न फेर ।



[६९ (७२)] कल्याण, सुख की प्रार्थना ।

शंतातिर्ऋषिः। सुखं देवता। पथ्यापंक्तिश्छन्दः। एकर्चं सूक्तम् ॥

शं नो वातो वातु शं नस्तपतु सूर्यः ।
अहानि शं भवन्तु नः शं रात्री प्रति धीयतां शमुषा
नो व्युच्छतु ॥ १ ॥ यजु० ३६ । १० । ११ ।

भा०—(वातः) वायु (नः) हमारे लिये (शं) सुखकारी होकर (वातु) वहे । (सूर्यः) सूर्य (नः) हमारे लिये (शं) सुखकारी होकर (तपतु) तपे । (नः) हमारे (अहानि) दिन (शं) सुखकारी हों। (रात्री) रात्रिमें (शं) सुखकारी (प्रति धीयताम्) रहें। (उषा) प्रातःकाल (नः) हमें (शम्) सुखकारी होकर (व्युच्छतु) प्रकट हो ।



[७० (७३)] दुष्ट पुरुषों का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः। श्येन उत मन्त्रोक्ता देवता। १ त्रिष्टुप्। अति जगतीगर्भा जगती, ३-५ अनुष्टुभः (३ पुरःककुम्मती)। पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

[६९] १-(प्र०) "शं मे वातो निवाते शं मे तपति सूर्यः" इति पैप्प० सं०। "शं नो वातः पवतां।" (च०) 'शं रात्रीः' इति यजु० ।

यत् किं चासौ मनसा यच्च वाचा यज्ञैर्जुहोति हविषा यजुषा ।
तन्मृत्युना निर्ऋतिः संविदाना पुरा सत्यादाहुतिं हन्त्वस्य ॥१॥
पैप्प लाद० १६ का० ।

भा०—(असौ) यह पुरुष, (मनसा) अपने मन से विचारता है। (यत् किंच) जो कुछ और (यत् च) जो भी (वाचा) अपनी वाणी मे बोलता है। और जो कुछ (यजुषा) यजुर्वेद के अनुसार (हविषा) अन्नादि पदार्थों को (यज्ञैः) यज्ञादि कर्मों के द्वारा (जुहोति) त्याग करता है (निःऋतिः) पाप प्रवृत्ति (मृत्युना) मौत के साथ (सं-विदाना) एक होकर (सत्यात् पुरा) उसके सत्य अर्थात् कर्म फल के सत् रूप में आने के पूर्व ही (अस्य) इस पुरुष का (आ-हुतिम्) त्याग आदि कर्मों का (हन्तु) विनाश करती है। आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः। यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्। तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु। गीता०। १६। १६,१९। अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्। असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ गीता० १७। २८। गर्व, मद-मान (निर्ऋति) से प्रेरित होकर नामयज्ञों से जो दम्भपूर्वक यज्ञ करता है क्रूर अशुभ पापी पुरुषों को ईश्वर आसुरि योनियों में भेजता है। श्रद्धा रहित होकर किये यज्ञ, दान, तप सब दोनों लोकों में असत्, निष्फल होते हैं।

यातुधाना निर्ऋतिरादु रक्षस्ते अस्य घ्नन्त्वनृतेन सत्यम्।
इन्द्रेषिता देवा आज्यमस्य मथ्नन्तु मा तत् सं पादि यदसौ जुहोति ॥ २ ॥

[७०] १–'यजुषा हविर्भिः'। (तृ०) मृत्युर्निर्ऋत्या संविदानः पुरादिष्टादाहुतिरस्य हन्तु।" इति तै० सं०। (द्वि०) यजुषा हविर्भिः, (च०) पुरा दिष्टां राज्यो हन्त्वस्य।" इति पैप्प० सं० ॥

२–(प्र०) 'यातुधाना' इति सायणाभिमतः ।

भा०—आसुर भाव वाले पुरुषों के कार्यों के विनाश के कारणों का उपदेश करते हैं । (यातुधानाः) पीड़ाकारी रोग, (निःऋतिः) पाप की चाल, (आत् उ) और (रक्षः) बाधक विघ्नकारी लोग ही (अस्य सत्यम्) उसके सत्य, सत्, इष्ट फल को अपने (अनृतेन) असत्य व्यवहार से (घ्नन्तु) नाश करें । और (इन्द्र-इषिताः) इन्द्र परमेश्वर से प्रेरित (देवाः) विद्वान् व्यवहारज्ञ, पुरुष भी (अस्य) उक्त प्रकार के नीच पुरुष के (आज्यम्) सामर्थ्य, बल को (मथ्नन्तु) मथ डालें, और फल यह हो कि (यद्) जो कुछ भी (असौ जुहोति) यह त्याग करता है (तत्) वह (मा सं-पादि) कभी फल न दे ।

अजिराधिराजौ श्येनौ संपातिनाविव ।
आज्यं पृतन्यतो हतां यो नः कश्चाभ्यघायति ॥ ३ ॥

भा०—दूसरे पर पाप से अत्याचार करने वाले का और क्या हो सो भी बतलाते हैं (नः) हमारे (यः) जो (कः च) कोई भी पुरुष (अभि-अघायति) साक्षात् रूप में हम पर पापकर्म, अत्याचार, क्रूरता और असत्य दम्भ गर्व आदि में आकर अपनी बुरी स्वार्थ भरी चेष्टाएं करना चाहता है उस (पृतन्यतः) सेना बल से हम पर आक्रमण करते हुए उसके युद्ध के सामर्थ्य सेना बल को (अजिर-अधिराजौ) अजिर और अधिराज अर्थात् शत्रुका प्रतिस्पर्द्धी राजा और इससे भी अधिक बलशाली मध्यस्थ राजा, मित्र राजा और पार्ष्णिग्रह दोनों मिलकर (सम्-पातिनौ) झपटते हुए दो (श्येने इव) बाजों के समान (हतां) विनाश करें ।

अपाञ्चौ त उभौ बाहू अपि नह्याम्यास्य/म् ।
अग्नेर्देवस्य मन्युना तेन तेवधिषं हविः ॥ ४ ॥

३-'अघायन्ति' इति क्वचित् ।
४-(द्वि०) 'अप नह्यामि' (तृ०च०) 'अग्निर्देवस्य मन्युना सर्वं तेऽवधिषं-कृतम्' इति तै० ब्रा० ।

भा०—शत्रु के बल को नाश करके उसे कैद करें। हे शत्रो! (ते) तेरे (उभौ) दोनों (बाहू) बाहुओं को (अपाञ्ची) नीचे करके (अपिनह्यामि) बांध दूं जिससे तू फिर हमारे विरुद्ध न उठ सके। और तेरे (आस्यम्) मुंह को भी बांध दूं, जिससे तू कुवाच्य भी न कहे। (देवस्य) देव महाराज (अग्ने) अग्रगामी, नेता और शत्रुओं को भून डालने वाले परंतप प्रतापी राजा के (मन्युना) क्रोध से (ते) तेरे (हविः) बल वीर्य और अन्न और कर को मैं (अवधिपम्) विनाश करूं।

अपि॑ नह्यामि ते बा॒हू अपि॑ नह्याम्या॒स्य॑म् ।
अ॒ग्नेर्घो॒रस्य॑ म॒न्युना॒ तेन॑ तेवधिषं ह॒विः ॥ ५ ॥

भा०—हे शत्रो! (ते बाहू आस्यम् अपि नह्यामि) तेरी बाहुओं और मुखको बांध दूं। और (घोरस्य अग्नेः मन्युना, तेन ते हविः अवधिपम्) भयंकर अग्निः नेता, राजा के क्रोध से तेरे अन्न, बल का नाश करूं।



[७१ (७४)] दुष्ट पुरुषों के नाश का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । अग्निर्देवता । अनुष्टुप्छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

परि॑ त्वाग्ने पुरं॑ व॒यं विप्रं॑ सहस्य धीमहि ।
धृ॒षद्व॑र्णं दि॒वेदि॑वे ह॒न्तारं॑ भङ्गु॒राव॑तः ॥ १ ॥

भा०—हे (अग्ने) हे सहस्य! बल से उत्पन्न राजन्! (वयं) हम लोग (पुरं) सर्व मनोरथों के पूरक (विप्रं) विद्वान् मेधावी, (धृषद्वर्णम्) सब शत्रुओं को पराजय करने में प्रसिद्ध, (भङ्गुरावतः)

[७१] १–(च०) 'भंगरावतम्' इति ऋ०, यजु० । ' भेत्तारं भंगुरावतः' इति तै० सं० । (द्वि०) 'विप्र सहस्व' इति पैप्प० सं० । ह्विटनेरोथादिभिर्हरिवर्पायैः (द्वि०) 'वप्रं', (तृ०) 'दृषद्वर्णं' इति पाठ इष्यते ।

राष्ट्र को तोड़ फोड़ डालने वाले लोगों को (हन्तारं) विनाश करने हारे (त्वा) तुझको (दिवे दिवे) प्रति दिन, सदा (धीमहि) अपने राष्ट्र में पुष्ट करके स्थापित किये रहें ।

देहस्वरूप राष्ट्र में आत्मा को, हृदय में और ब्रह्माण्ड में ईश्वर को भी इसी प्रकार हम धारण करें और ध्यान करें ।



[७२ (७५, ७६)] योग द्वारा आत्मा का तप ।

अथर्वा ऋषिः । इन्द्रोदेवता । १ अनुष्टुप्, २,३ त्रिष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

उत् तिष्ठतावं पश्यतेन्द्रस्य भागमृत्वियम् ।
यदिं श्रातं जुहोतन यद्यश्रांतं ममत्तन ॥ १ ॥

ऋ० १० । १७६ । १ ॥

भा०—हे लोगो ! (उत् तिष्ठत) उठो, (अव पश्यत) देखो, (इन्द्रस्य) इन्द्र राजा का (ऋत्वियम्) ऋतु अनुकूल (भागम्) भाग (यदि श्रातं) यदि परिपक्व होगया है तो (जुहोतन) दे दो (यदि अश्रातं) यदि नहीं पका है तो (ममत्तन) पकाओ ।

अध्यात्म में—हे साधक नेता, उठो इन्द्र आत्मा के (भागं) सेवन करने योग्य (ऋत्वियं) सत्य ज्ञान, ब्रह्ममय, प्राप्तव्य मोक्ष पदको देखो, (यदि श्रातं) उसका परिपाक होगया है तो उसको आत्मा के निमित्त अर्पण करो । यदि नहीं पक हुआ उसको परिपक्व कर लो अथवा (ऋत्वियं,

---

[७२] —ऋग्वेदे प्रथमस्य शिविरौशीनर ऋषिः । द्वितीयस्य प्रतर्दनः काशिराजः, तृतीयस्य वसुमना रोहिदश्व ऋषिः ।

१–(तृ०) 'यदिश्रातो', (च०) 'यद्यश्रातो' इति ऋ० ।

भाग) ऋतु=प्राण सम्बन्धि भाग अंश इन्द्रिय गणका निरीक्षण करो, यदि वह ज्ञान और तप द्वारा पक्क हैं तो उनको आत्मा में लीन करलो यदि नहीं तो उनको तप से पक्क करलो।

श्रातं ह॒विरो ष्वि॑न्द्र॒ प्र याहि॑ ज॒गाम॒ सूरो॒ अध्व॑नो॒ वि मध्य॑म्।
परि॑ त्वासते नि॒धिभि॒ः सखा॑यः कुल॒पा न व्रा॒जप॑तिं॒ चर॑न्तम्॥२॥

भा०—हे इन्द्र! आत्मन्! प्रभो! (श्रातं हविः) आदान योग्य वह ब्रह्म समाधि रस परिपक्क हो गया है, (उ प्र याहि) और समक्ष आओ, प्रकट होओ। वही (सूरः) सब का प्रेरक आत्मा (अध्वनः) हृदय आकाश के मध्यभाग में (वि) विशेष रूप से (जगाम) आ गया है। हे आत्मन्! (त्वा) तेरे (परि) चारों ओर (सखायः) तेरे मित्र प्राण या समाहित मुक्तजन (निधिभिः) नाना प्रकार की सिद्धियों द्वारा प्राप्त ज्ञान, शक्तिरूप रत्नों से भरे स्वजनों सहित अथवा विशेष धारणाओं सहित (अ-सते) तेरी उपासना उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार (कुल-पाः न) कुलके पालक पुत्र या शिष्य गण (व्राज-पतिं) गृह के स्वामी पिता या आचार्य को (चरन्तं) विचरण करते समय या भोजन करते समय उसके चारों ओर रहते हैं।

यज्ञपक्ष में—हवि अन्न पक गया है, हे इन्द्र! आगे आओ, सूर्य आकाश के मध्य भाग में आगया है, तेरे मित्र (ऋत्विग्-गण) अपने मन्त्रस्तोमों सहित तेरी उपासना उसी प्रकार करते हैं जैसे पुत्रगण कुल-पिताकी।

श्रातं म॑न्य॒ ऊध॑नि श्रा॒तम॒ग्नौ सुश्रा॑तं मन्ये॒ तदृ॒तं नवी॑यः।
माध्य॑न्दिनस्य॒ सव॑नस्य द॒ध्नः पिबे॑न्द्र वज्रिन् पुरु॒कृज्जु॑षा॒णः॥३॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र! आत्मन्! (तत्) उस अलौकिक, परम (नवीयः) सबसे अधिक प्रशंसनीय; स्तुति के योग्य, अति नवीन सदा

३—(प्र०) 'सुश्रातं मन्ये तदृतं' (च०) 'पुरुकृत्' इति ऋ०।

उज्वल (ऋतं) सत्य ज्ञानमय परम ब्रह्मरस को (ऊधनि) ऊर्ध्व, स्वर्गमय परम मोक्षाख्य पद में (श्रातं) सुपरिपक्व रूप से ही (मन्ये) मनन करता हूं, जानता हूं। और (अग्नौ) फिर अग्नि, ज्ञानमय गुरुके समीप वास करने पर भी (श्रातं) तपस्या द्वारा, तपरूप से उसी को पकाया, उसीका अभ्यास किया है। और इस प्रकार अब समाधियोग होने पर उसको (सु-शृतं मन्ये) उत्तम रीति से परिपक्व हुआ जानता हूं। (माध्यन्दिनस्य) दिन के मध्य भाग मध्याह्न काल, ब्रह्म-प्रकाश के हृदयाकाश में अति उज्वलरूप में प्रकाशमान होने के (सवनस्य) सवन काल में उत्पन्न (दध्नः) ध्यानाभ्यास-रसका (पिब) पान कर। हे (वज्रिन्) ज्ञानवज्र के धारण करनेहारे आत्मन्! तू (जुषाणः) उसका सेवन करता हुआ उस रसका प्रेमी होकर (पुरु-कृत्) नाना इन्द्रियगण को अपने वश करके ध्यानाभ्यास रसका पान कर।



[७३ (७७)] ब्रह्मानन्द रस।

अथर्वा ऋषिः। अश्विनौ देवते। घर्मसूक्तम्। १, ४, ६ जगत्यः।
२ पथ्या बृहती। शेषा अनुष्टुभः। एकादशर्चं सूक्तम्।

समिद्धो अग्निर्वृषणा रथी दिवस्तप्तो घर्मो दुह्यते वामिषे मधु।
वयं हि वां पुरुदमासो अश्विना हवामहे सधमादेषु कारवः ॥१॥

भा०—हे (अश्विना) दोनों अश्वियो! स्त्री पुरुषो! (दिवः) द्यौलोक आकाश का (रथी) रथवाला, विजयी, रमणकारी, प्रकाशमान

---

[७३] १–(प्र०) 'समिद्धो अग्नि रश्विनौ' इति पैप्प० सं०। (तृ०) 'वयं हि वां पुरुतमासः', 'वृषणारातिर्दिव', 'वृषणारथिर्दिवः' इत्यपि आश्व० श्रौ० सू०, शां० श्रौ० सू०॥

(अग्निः) सूर्य (सम्-इद्धः) खूब प्रकाशमान होरहा है। (घर्मः) घर्म, घाम (तप्तः) तप गया है। (वाम्) तुम दोनों के लिये (इषे) अन्न के उपभोग के लिये (मधु) मधुर दुग्ध (दुह्यते) दुहा जाता है। हे (अश्विनौ) दोनों स्त्री पुरुषो ! (पुरु-दमासः) इन्द्रियों को दमन करने वाले अथवा बहुत से घरों वाले धनाढ्य (वयं) हम (कारवः) कार्य करने में समर्थ पुरुष (सध-मादेषु) एक साथ आनन्द हर्ष के अवसरों पर (वयं) तुम दोनों को (हवामहे) आमन्त्रित करते हैं। जब सूर्य उग आवे, गाय दुही जायं, सम्पन्न लोग विद्वान् स्त्री पुरुषों को अपने यहां आमन्त्रित करें। अध्यात्म में—साधक आत्मज्ञान होने पर साक्षात् करता है, वह (दिवः रथी) मोक्षाख्य प्रकाश का रमणकर्ता आत्मा अग्नि अब चेत गया है। घर्म=तेजोमय रस प्राप्त होगया है। प्राण और अपान दोनों के निमित्त मधुर रसका दोहन किया जाता है। इन्द्रियों के विजेता जितेन्द्रिय जन उन अश्वियों प्राणों को समाधि काल के आनन्द प्राप्ति के कालों में उनका आगमन करते हैं।

समिद्धो अग्निर्वृषणा र॒थी दि॒वस्त॒प्तो घ॒र्मो दु॑ह्यते वामि॒षे मधु॑।
व॒यं हि वां॑ पुरु॒दमा॑सो अश्विना॒ हवा॑महे सध॒मादे॑षु का॒रवः॑ ॥१॥

स॒मिद्धो॑ अ॒ग्निर॑श्विना त॒प्तो वां॑ घ॒र्म आ ग॑तम्।
दु॒ह्यन्ते॑ नू॒नं वृ॑षणे॒ह धे॒नवो॒ दस्रा॒ मद॑न्ति वे॒धसः॑ ॥२॥

यजु० २० । ५५ ॥

भा०—हे (अश्विना) अश्वियो ! (अग्निः) अग्नि सूर्य या यज्ञ की अग्नि (सम्-इद्धः) प्रदीप्त होगई और (वां) तुम दोनों के लिये (घर्मः) तेजस्स्वरूप रस (तप्तः) प्रतप्त परिपक्व होगया। (आगतम्) तुम दोनों प्रकट होओ। हे (वृषणा) सुखों और बलोंके वर्षक तुम दोनों (इह) इस देह और गेह में (धेनवः) रसका पान कराने वाली प्राण

२—(द्वि०) 'तप्तो घर्मो विराड्सुतः' (तृ० च०) 'दुहे धेनुः सरस्वती सोमं शुक्रमिहेन्द्रियम्' इति यजु० ॥ (तृ०) 'दुह्यन्ते गावो', शाखा (च०) 'मदन्ति कारवः' इति शांखा०, आश्व० श्रौ० सू०।

वृत्तियाँ और गौवें (दुह्रन्ते, दुही जाती हैं । हे (दस्रा) दर्शनीयरूप तुम दोनों ! हे सब दुःखों के विनाशक तुम दोनों के बल पर ही (वेधसः) देह का कार्य करने वाले इन्द्रियगण, गृहका कार्य सम्पादन करने वाले भृत्यगण, यज्ञ का कार्य सम्पादन करने वाले ऋत्विग्गण (मदन्ति) आनन्द प्रसन्न होते हैं या तुमको प्रसन्न करते हैं। अध्यात्म में आत्मा के प्रकाशित होने पर वही आत्मा का आनन्द उन प्राण और अपान के लिये परम है जो जीवन का वास्तविक आनन्द है। उस समय ये इन्द्रियें भी परमरस-युक्त संवित् ज्ञान प्राप्त करती हैं और (वेधसः) कर्मेन्द्रियें भी स्वयं प्रसन्न रहती और आत्मा को प्रसन्न करती हैं।

स्वाहाकृतः शुचिर्देवेषु यज्ञो यो अश्विनोश्चमसो देवपानः ।
तमु विश्वे अमृतासो जुषाणा गन्धर्वस्य प्रत्यास्ना रिहन्ति ॥३॥

भा०—(यज्ञ) यज्ञस्वरूप आत्मस्वरूप (शुचिः) सब तामस आवरणों से रहित होकर (देवेषु) विषयों में क्रीडाशील इन्द्रियों, विद्वानों, दिव्य पदार्थों या अन्य प्राणों के भीतर (स्वाहा-कृतः) स्वयम् अपने शक्ति से प्रविष्ट होकर विराजमान हैं। (यः) जो (अश्विनोः) अश्वि=प्राण और अपान दोनों के (चमसः) शक्ति प्राप्त करने के या अन्नरस खाने के चमस रूप हैं वही (देव-पानः) देव इन्द्रियों के रसपान करने का स्थान है। (विश्वे) समस्त (अमृतासः) आत्मा या मुक्तजन (तम् उ) उसका ही (जुषाणाः) सेवन करते हुए (गन्धर्वस्य) गौ वाणी को धारण करने हारे मुख्य प्राण रूप सूर्य के (आस्ना) मुख या प्रेरक शक्ति के द्वारा (प्रति-हन्ति) जिसको प्राप्त होते हैं, जिसका रसास्वादन करते हैं।

यदुस्रियास्वाहुतं घृतं पयोयं स वामश्विना भाग आ गतम् ।
माध्वी धर्तारा विदथस्य सत्पती तप्तं घर्मं पिबतं रोचने दिवः ॥४॥

३–(द्वि०) 'देवेषु घर्मः'। (तृ०) 'तमाप् विश्वे' इति पैप्प० सं०।
४–(च०) 'पिबतं सोम्यं मधु' इति, आश्व० श्रौ० सू० ॥

भा०—(यत्) जो शक्तिरस (उस्रियासु) उत्सर्पणशील इन्द्रिय रूप गौओं में (घृतं) आत्माको तेजोमय चेतनांश (आ-हुतं) प्रदान किया गया है (पयः) वह पुष्टिकारक अंश वास्तव में है (अश्विनौ) प्राण और अपान (सः) वह (वां भागः) तुम दोनों का भाग है। उसको प्राप्त करने के लिये तुम इस देह में, यज्ञमें (आगतम्) आओ, निरन्तर रहो । हे (विदथस्य) इस वेदना चेतनामय जीवनरूप यज्ञके (धर्त्तारौ) धारण करने हारो ! आप (माध्वी) मधुरूप आत्माको धारण करने हारे और (सत्पती) सत्स्वरूप आत्माके पालक हो । आप उस (तप्तम्) तपे हुए, तप, स्वाध्याय, प्रवचन, शम, दम कृत, तितिक्षा, मुमुक्षा आदि साधनों से प्रतप्त, परिपक्क (घर्मम्) तेजोमय आत्मरस को (पिबतम्) पान करो, प्राप्त करो । जो (दिवः) द्यौ मूर्धास्थान के प्रति (रोचने) प्रकाशमान भाग में विराजता है ।

तुप्तो वां घुर्मो नक्षतु स्वहो॑ता प्र वामध्वर्युश्चरतु पय॑स्वान् ।
मधो॑र्दुग्धस्या॑श्विना तुनाया॑ वीतं पातं पय॑स उस्रिया॑याः ॥ ५ ॥

भा०—हे (अश्विनौ) अश्वियो ! (वां) तुम्हें (घर्मः) ज्योतिर्मय आत्मानन्दरस (नक्षतु) व्याप्त करे । (स्व-होता) स्वयं तुम्हारा होता=आदान प्रतिदान करने हारा (अध्वर्युः) कभी विनाश न होने वाला आत्मा (वाम्) तुम्हारे बल पर (पयस्वान्) पुष्टिप्रद पदार्थों और ज्ञान और आनन्दरस से युक्त होकर (प्र चरतु) उत्तम, श्रेयोमार्ग में विचरण करे । हे अश्विनौ ! (तनायाः) देह के सब कार्यों का विस्तार करने वाली (उस्रियायाः) उत्सर्पणशील चेतना शक्ति के (मधोः) मधुमय, अमृत

५-(तृ०) 'प्रयस्वान्' इति सायणाभिमतः । (प्र०) 'नक्षति' (द्वि०) 'करति प्रयस्वान्' इति आश्व० शांख० श्रौ० सूत्र । (प्र०) नक्षतुस्म होता, (तृ०) 'तनाय वीतं' इति पैप्प० सं० ।

(दुग्धस्य) दुहे गये, प्राप्त हुए (पयसः) ज्ञान राशिको (वीतं) और प्रकाशित करो । प्राणायाम के बल से आत्मा के आनन्द को प्राप्त करो । चिति शक्ति की ऋतम्भरा प्रज्ञाको प्राप्त करके परमानन्द का सुख उपभोग करो ।

उप॑ द्रव॒ पय॑सा गोधुगो॒षमा घ॒र्मे सि॑ञ्च॒ पय॑ उ॒स्रिया॑याः ।
वि नाक॑मख्यत् सवि॒ता वरे॑ण्योनुप्र॒याण॑मु॒षसो॒ वि रा॑जति ॥६॥

प्र० द्वि० मृ० ५ । ८१ । २ ॥

भा०—हे (गोधुक्) चितिशक्ति रूप कामधेनु को दोहन करने वाले अभ्यासिन् आत्मन् ! (ओषम्) उष=दाहकारी, अन्धकारनाशक तेजको (पयसा) आत्मा के बल-सम्पादक तृप्तिकर आनन्दरस के साथ मिलाकर (उप द्रव) उस रसमय परब्रह्म के अति निकट पहुंचने का यत्न कर । और (उस्रियायाः) ऊर्ध्व ब्रह्माण्ड मूर्धा भाग की ओर ऊर्ध्व-गामी वीर्य के बल से सर्पण करने वाली क्रम से मूल भाग से प्रारम्भ कर के ऊपर की ओर चेतना होती हुई चिति शक्ति के उस (पयः) आनन्द रसको (घर्मे) उस ज्योतिर्मय साक्षात् रसमें (सिञ्च) मिला । (सविता) सबका प्रेरक, प्रभु स्वतः साक्षात् ज्योतिर्मय, सब पदार्थों का प्रकाशक, (वरेण्यः) सब योगियों का परम वरणीय, श्रेष्ठ, उस दशा में आत्मा में (नाकम्) दुःख से सर्वथा रहित आनन्द ही आनन्दमय स्वरूप को (विख्यत्) विशेष रूप से प्रकाशित करता है । और अभ्यासी की यह

६–'गोधुगोषुम्' (तृ०) 'नाकमख्यद्दमूनाव्रेरेण्यं' (च०) अनुधावा पृथिवी सुप्रणीति' इति च शा० श्रौ० मू० । 'पयसा गोधुमा घर्मे ' इति आश्व० श्रौ सू० ॥ विनाकम ख्यत् सविता वरेण्योऽनुघावा पृथिवी सुप्रणीतिः' इति पैप्प० सं० ॥

(प्र०, द्वि०) विश्वा रूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः, प्रासावीद् भद्रं द्विपदे चतुष्पदे' इति प्रथम द्वितीयौ पादौ भिद्येते ॥ ऋ० ॥

दशा आजाने पर (उषसः) तामस आवरण के विनाशक विशोका, ज्योतिष्मती या ऋतम्भरा प्रज्ञाके उदय होने के (अनुप्रयाणं) अनन्तर ही वह ज्योतिर्मय सविता साक्षात् तेजोमय ःब्रह्मका स्वरूप (वि राजति) प्रकाशित होता है ।

उप॑ ह्वये सुदुघां॑ धेनुमे॒तां सु॒हस्तो॑ गो॒धुगु॒त दो॑हदेनाम् ।
श्रेष्ठं॑ स॒वं स॑वि॒ता सा॑विषन्नो॒ऽभी॑द्धो घ॒र्मस्तदु॒ षु प्र वो॑चत् ॥७॥

ऋ० १ । १६४ । २६ ॥ अथर्व० ९ । १० । ४ ॥

भा०—मैं (एताम्) इस (सु-दुघाम्) सुख से दोहन करने योग्य (धेनुम्) आनन्द रस पान कराने वाली, ब्रह्ममयी, चिन्मयी, आनन्दघन कामधेनु को (उप ह्वये) स्मरण करता हूं । (एनाम्) इसको कोई (सु-हस्तः) कुशल (गो-धुक्) गोरूप आत्माका दोहन करने हारा (उत) ही (दोहत्) दुह सकता है । (सविता) सबका प्रेरक प्रभु (नः) हमें (श्रेष्ठं) सबसे अधिक श्रेय कल्याणकारी परम मंगलमय (सवम्) ज्ञान, परम प्रेरणा का (साविषत्) प्रदान करता है और तब (अभीद्धः) सब प्रकारों और सब तरफों से प्रकाशमान तेजोमय (घर्मः) परम रस, आनन्दस्वरूप ब्रह्म साक्षात् होता है । और (तत् उ) उस परमरूप का ही (सु) उपनिषद् आदि ग्रन्थों में ध्यानी ज्ञानी ऋषिगण, उत्तम रीति से (प्र वोचत्) प्रवचन करते हैं, शिष्यों का उसका उपदेश करते हैं ।

आधिभौतिक में वर्षा से सब प्रजाओं को जीवन देने हारी मेघरूप धेनु का मैं उपदेश करता हूं । सुहस्तः दोहनकुशल दोग्धा वायु उसका दोहन करता है । सूर्य उसको प्रेरित करता है । जब (घर्म) घाम खूब तपता है तभी यह वर्षा होती है । अथवा (एतासां सुदुघां अहं धेनुम् उपह्वये) उत्तम पदार्थ उत्पन्न करते हुए इस (गौ, पृथिवी, मेघ धर्ममेघ-सिद्ध, आत्मा) को मैं 'धेनु' कहता हूं । (सुहस्तः गोधुक् एनां दोहत्)

७—'दीर्घतमा ऋषिर्ऋग्वेदे ।' (च०) 'तदु षु प्रवोचम्' इति ऋ० ।

कुशल दोग्धा इसको दुह पाता है। (सविता श्रेष्ठं सवं साविषत्) प्रेरक मय आत्मा, सूर्य, यजमान श्रेष्ठ यज्ञ करता है। (अभीद्धः घर्मः) घाम, रस, श्रेष्ठ; पदार्थ, तेजो युक्त रत्न आदि तपता है, प्रचलित होता है, चमकता है (तद् उ सुप्रवोचत्) उसीका उत्तम रीति से उपदेश किया जाता है।

हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसा न्यागन्।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय ॥ ८ ॥
ऋ० १ । १६४ । २७ ॥

भा०—जिस प्रकार (वत्सम्) बछड़े को (इच्छन्ती) चाहती हुई गाय (हिंकृण्वती) 'घिं घिं' इस प्रकार शब्द करती हुई, भंभारती हुई बछड़े के पास आजाती है उसी प्रकार (वसुपत्नी) देह में मुख्य रूप से वास करने वाले आत्मारूप वसुकी 'पत्नी' शक्तिस्वरूप चिति शक्ति (वसूनां) अपने पुत्ररूप अन्य प्राणरूप वसुओं के निमित्त (मनसा) मनो बल से (नि-आगन्) उनको प्राप्त करती है। उनतक पहुंचती है। और जिस प्रकार (इयम्) यह (अघ्न्या) कभी न मारने योग्य, सुशीला, गोमाता (अश्विभ्यां) स्त्री पुरुषों, गृह के निवासी जनों को (पयः दुहाम्) दूध प्रदान कराती है, उसी प्रकार यह चिति शक्ति या ब्रह्ममयी धेनु (अश्विभ्यां) प्राण और अपान या आत्मा और अन्तःकरण दोनों के लिये (पयः) पुष्टिकारक और तृप्तिकारक ज्ञान तौर बल रूप रसको (दुहाम्) प्रदान करती है। (सा) इसलिये वह अघ्न्या गौ (महते सौभगाय) बड़े सौभाग्य सम्रद्धि और सुख के लिये (वर्धताम्) बढ़े। वर्षा के पक्ष में मेघरूप गौ गर्जन करती हुई अन्न आदि वसुका पालन करती है। चर अचर प्राणियों के लिये तृप्तिकारक जल प्रदान करती है। अध्यात्म में धर्म मेघ समाधि की दशा में चितिशक्ति (वसुपत्नी) वसु।

१—'ऋग्वेदे दीर्घतमा ऋषिः।' (द्वि०) 'मनसाऽभ्यागात्' इति ऋ०॥

इन्द्रियों की पालिका है वह (वत्सम् इच्छन्ती) वत्स मनको चाहती है, और (मनसा अभ्यागत्) मनन शक्ति द्वारा ही उसको प्राप्त करती है। (अश्विभ्यां पयः दुहाम्) प्राण और अपान जीव या अन्तःकरण या सिद्ध और साधक दोनों को रस प्रदान करती हुई, (अघ्न्या) अमर अविनाशी होकर (महते सौभागाय) बड़े भारी परम उत्कृष्ट सेवनीय मोक्षधाम के लिये (वर्धताम्) बढ़े, शक्तिशाली हो ।

जुष्टो दमूना अतिथिर्दुरोण इमं नो यज्ञमुप याहि विद्वान्।
विश्वा अग्ने अभियुजो विहत्यं शत्रूयतामा भरा भोजनानि ॥६॥

ऋ० ५ । ४ । ५ ॥ ५ । २८ । ३ ॥

भा०—(दमूनाः) जितेन्द्रिय, जितचित्त (अतिथिः) अतिथि के समान पूजायोग्य सर्वत्र व्यापक या निरन्तर गतिशील, ज्ञानवान् (दुरोणे) देहरूप गृह में (जुष्टः) अति प्रसन्न, अपने कर्म फलों को करने हारा आत्मा (नः) हमारे इस इन्द्रियगण के (इमं यज्ञम्) इस यज्ञको, परस्पर संगत हुए प्राणों के परस्पर आदानप्रतिदानमय व्यवस्थित जीवनमय यज्ञ को (उप याहि) प्राप्त हो। हे (अग्ने) सबके अग्रणी सेनापति या राजा जिस प्रकार परन्तप होकर (विश्वाः) समस्त (अभि-युजः) आक्रमणकारी सेनाओं को (विहत्य) विनाश करके (शत्रूयताम्) अपना बल नाश करने वाले, अपने पर आक्रमणकारी शत्रुओं के (भोजनानि) भोजन सामग्री को छीनकर अपने लोगों का ला देता है, उसी प्रकार हे आत्मन् ! तू (विश्वाः) समस्त (अभियुजः) प्रत्यक्ष रूपसे इन्द्रियों से योग करने वाले पदार्थों को (विहत्य) प्राप्त कर उनको अपने अधीन करके (शत्रूयताम्) अपने शत्रु के समान 'त्वं' कारास्पद आत्मा से भिन्न पदार्थों के (भोजनानि). भोग योग्य फलों को प्राप्त कर, हमें इन्द्रियों के निमित्त प्राप्त करा। इन्द्रियगण का

६—'अस्या ऋग्वेदे वसुश्रुत आत्रेय ऋषिः ॥

आत्मा के प्रति वचन है । प्रजा या सेनानायक का अपने सेनापति या राजा के प्रति वचन भी स्पष्ट है । आत्मा के अतिथि आदि नाम उपनिषद् में स्पष्ट कहे हैं ।

हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद् होता वेदिषद् अतिथिर्दुरोणसत् ॥

(क० उप० वल्ली ५ । क० २)

अग्ने शर्धं महते सौभगाय तवं द्युम्नान्युत्तमानि सन्तु ।
सं जास्पत्यं सुयममा कृणुष्व शत्रूयतामभि तिष्ठा महांसि ॥१०॥

ऋ० ५ । २८ । ३ ॥ यजु० ३३ । १२ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! अग्रणी ! ज्ञानवान् तू (महते सौभगाय) बड़े भारी सौभाग्य, उत्तम यश और सुखसंपत्ति प्राप्त करने के लिये (शर्ध)[1] उत्साह कर, इस प्रकार के (तव) तेरे (उत्तमानि) उत्तम, उत्कृष्ट कोटिके (द्युम्नानि) यश और धन (सन्तु) हों । हे राजन् ! तू (जास्पत्यं)[2] पति पत्नी के परस्पर के दाम्पत्य सम्बन्ध को (सुयमम्) उत्तम रीति से सुदृढ़ (सम् आकृणुष्व) कर । और (शत्रूयताम्) शत्रु के समान आचरण करनेवाले पुरुषों के (महांसि) सब तेजों, बलों को (अभि तिष्ठ) दबा । राजा अपने पराक्रम से राज्य सम्पत्ति बढ़ावे, राष्ट्र में पतिपत्नी के सम्बन्ध को सुदृढ़ करे । और शत्रु के समान व्यवहार करनेवाले राजद्रोहियों के बलों को दबावे ।

१०—ऋग्यजुषोर्विश्ववारा आत्रेयी ऋषिका ।

१. शर्धद् उत्सहता मिति निरुक्तं (नै० अ० ४ । ख० १६) आर्द्र-हृदयो भवतु इति सायणस्तच्चिन्त्यम् । 'जास्पत्यं' जाया च पतिश्च जास्पती, तयोः कर्म इति सायणः । दाम्पत्यमित्यर्थः ।

सूयवसाद् भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम ।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ॥११॥

भा०—पुनः उसी गौ का वर्णन करते हैं। हे (अघ्न्ये) न मारने योग्य अघ्न्या गौ ! तू (सु-यवस-अत्) उत्तम जौ की भुस खाकर (ही) निश्चय से (भग-वती) दूध आदि सौभाग्यशाली पदार्थों से युक्त (भूयाः) हो। (अथा) और (वयं) हम भी (भग-वन्तः) सुख सम्पत्तिमान् (स्याम) हों। हे (अघ्न्ये) गौ ! तू (विश्व-दानीम्) सदा ही (तृणम्) घास (अद्धि) खा और (आ-चरन्ती) सब तरफ विचरती हुई (शुद्धम्) स्वच्छ (उदकम्) जलका (पिब) पान कर। अध्यात्म पक्ष में-विड् वै यवः। राष्ट्रं यवः। तै० ३।९०।७।२। यवस कभी जुदा न होनेवाले प्राण सामर्थ्यों का ही भोग करती हुई आन्तरिक शक्तियों के ही चमत्कारिक विभूतियों का भोग करती हुई चितिशक्ति (भग-वती) ऐश्वर्यवती हो। और इस प्रकार हम साधक भी ऐश्वर्यवान् हों। वह ज्योतिष्मती मुक्तिदायिनी चिति शक्ति या ज्ञानमयी, ब्रह्मगवी, या साधक की ज्ञानमुद्रा (अद्धि तृणम्) उस समय तृण=विनाश योग्य इस शरीर को खा जाती है, देह को अपने में लीन कर लेती है, और साधक विदेहप्रकृतिलय होने की चेष्टा करता है। और चिति शक्ति स्वतः शुद्ध उदक=स्वच्छज्ञान 'ऋत' का पालन करती हुई विचरती है वही ऋतम्भरा प्रज्ञाका उदय है। (तत्र निरतिशयं सार्वज्ञबीजम्। यो० सू० ॥) उस समय चितिशक्ति की सर्वज्ञशक्ति का उदय होता है।

राष्ट्र पक्ष में यवस=राष्ट्रकी आय उसको खाकर राज की ईश्वरी शक्ति

११–'अथो वयम्' इति आप०, कात्या० श्रौ० सू० अस्या ऋग्वेदे दीर्घतमा ऋषिः

सर्वत्र अघ्न्या=अविनाशी होकर रहे, राष्ट्रवासी हम भी प्रभु के समान ऐश्वर्यवान् हों। वह तृण=शत्रु को खाय और शुद्ध उदक 'राष्ट्र का' पालन करे।

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तानि चतुर्दश, ऋचो द्वाचत्वारिंशत् ।]

[७४ (७८)] गण्डमाला की चिकित्सा ।

अथर्वा ऋषिः । १, २ अपचित्-नाशनो देवता, ३ त्वष्टा देवता, ४ जातवेदा देवता । अनुष्टुप् छन्दः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

अपचितां लोहिनीनां कृष्णा मातेति शुश्रुम ।
मुनेर्देवस्य मूलेन सर्वा विध्यामि ता अहम् ॥१॥

भा०—(लोहिनीनां) लाल वर्ण की (अप-चिताम्) गण्डमाला की फोड़ियों की (माता) उत्पादक जननी (कृष्णा) कृष्ण वा नीले रंग की नाड़ियां होती हैं। (इति) इस प्रकार (शुश्रुम) हम अपने गुरुओं से सुनते हैं। (अहम्) मैं (ताः सर्वाः) उन सब को (देवस्य) प्रकाशमान (मुनेः) मुनि, तेजस्वी अग्नि के (मूलेन) प्रतिष्ठास्थान, आ-भूत, तीव्र जलन पैदा करनेवाले पदार्थ से (विध्यामि) वेधता हूँ।

कौशिक सूत्र में गण्डमाला के रोग की चिकित्सा के लिये कुछ प्रयोग इस प्रकार लिखे हैं १–तीखी शलाका (शर) से गण्डमालों की फोड़ियों को फोड़कर उनका रक्त निकालना। २–प्रातःकाल गरम जल से धोना। ३–ऊपर काली ऊनको जलाकर उसको घी में मिलाकर मल्लम बनाकर लगाना, ४–कुत्ते से चटाना, ५–गले पर गन्दा खून निकालने के लिये गोह या जोंक लगाना, ६–सेंधा नमक पीस कर उन पर छिड़ककर मिट्टी लगा कर मलना। ७–तांत से गण्डमाला के मस्सों को बांधना।

विध्याम्यासां प्रथमां विध्याम्युत मध्यमाम् ।
इदं जघन्या/मासामा च्छिनद्मि स्तुकामिव ॥ २ ॥

भा०—(आसाम्) इन गण्डमालाओं में से (प्रथमाम्) प्रथम हुई आपची को (विध्यामि) तेज़ शलाका से या नस्तर से वेंधता हूँ। (उत्) और (मध्याम्) बीचकी को भी छेदता हूं। (इदम्) और इसी प्रकार से (आसाम्) इनमें से (जघन्याम्) सबसे निकृष्ट कोटि की अपची को भी (स्तुकाम्) फुनसी के समान (आ छिनद्मि) काट डालता हूं। दोष की अधिकता, समता और न्यूनता से अपची के तीन भेद हैं, १ म, जिसमें अधिक मवाद हो, २ य, जिसमें कम, ३ य, जिसमें बहुत सामान्य। तीनों की उत्तम रीति से चिकित्सा करे।

ईर्ष्या का उपाय ।

त्वाष्ट्रेणाहं वचसा वि त ईर्ष्याममीमदम् ।
अथो यो मन्युष्टे पते तमु ते शमयामसि ॥ ३ ॥

भा०—पति कहता है। हे पत्नी ! मैं (ते) तेरे हृदय की (ईर्ष्याम्) ईर्ष्या के भाव या दूसरे की उन्नति और कीर्ति देखकर दिलमें पैदा हुई जलन को (त्वाष्ट्रेण) त्वष्टा इन्द्र परमेश्वर या पति के (वचसा) वचनों से, अर्थात् पति पद पर रहकर उसीके पदके योग्य अपने मधुर वचनों से (वि अमीमदम्)[1] तृप्त करता हूं या दूर करता हूं, शान्त करता हूं। स्त्री कहती है। हे (पते) स्वामिन् ! पालक ! नाथ ! प्राणपते ! (अथ) इसके बाद भी (यः) जो (ते) तेरा (मन्युः) क्रोध मेरे प्रति हो। (तम् उ) उसको भी (शमयामसि) हम शांत करें।

[७४] ३–१. मद तृप्तियोगे (चुरादिः), मदी हर्षग्लेपनयोः (दिवादिः) मदि मोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु (भ्वादिः), मदी हर्षे (भ्वादिः)।

इस ऋचाके पूर्वार्ध में पत्नि के प्रति पतिका वचन और उत्तरार्ध में पति के प्रति पत्नीका वचन है।

त्वष्टा पशूनां, मिथुनानां रूपकृद्रूपपतिः । तै० २ । ८ । ११ । २ ॥ त्वष्टा वै रेतःसिक्तं विकरोति । कौ० ३ । ९ ॥ रेतः सिक्तिर्वै त्वाष्ट्रः ॥ कौ० ११ । ६ ॥ त्वष्टा, पशुओं का या दम्पति जोड़ों का बनाने वाला रूपपति (सब जातियों का स्वामी) है । वही प्रभु माता के गर्भों में समानरूप से सिक्त वीर्य को नाना प्रकार से परिपक्व करके भिन्न रूपका बनाता है। अथवा रेतःसेचन का कार्य त्वष्टा का है अतः त्वष्टा=प्रजापति और पति ।

ज्ञानवान् की उपासना ।

व्रतेन॒ त्वं व्र॑तपते॒ सम॑क्तो वि॒श्वाहा॑ सु॒मना॑ दीदिही॒ह ।
तं त्वा॑ व॒यं जा॑तवेदः॒ समि॑द्धं प्र॒जाव॑न्त॒ उप॑ सदेम॒ सर्वे॑ ॥४॥

भा०—हे (व्रतपते) व्रतका पालन कराने हारे कर्मों के आचार्य, हे (जातवेदः) जातवेदा ! जातप्रज्ञ विद्वन् ! (त्वं) तू (व्रतेन) अपने महान् व्रत नियत कर्त्तव्य पालन के कार्य से (सम्-अक्तः) भली प्रकार सुशोभित हो (विश्वाहा) सदा ही (सु-मनाः) उत्तम हृदय और सुचित्त, शुभ संकल्प होकर या उत्तम विद्वान्, ज्ञानवान् होकर (इह) इस लोक में प्रकाशित हो और अन्यों को प्रकाशित कर । और हे (जात-वेदः) जातप्रज्ञ, विद्वन् ! (तं) उस प्रसिद्ध (सम्-इद्धम्) प्रकाशवान (त्वाम्) तुझको हम (सर्वे प्रजा-वन्तः) सब प्रजा वाले राजगण और गृहस्थी लोग (उप सदेम) तेरे समीप आवें, तेरी उपासना और सत्संग करें, तेरे ज्ञानोपदेश से लाभ उठाएं ।

[७५ (७९)] गो-पालन ।

उपरिबभ्रव ऋषिः । अघ्न्या देवता, अघ्न्या स्तुतिः । १ त्रिष्टुप् ।
२ त्र्यवसाना पञ्चपदा, भुरिक् पथ्यापंक्तिः । द्वृचं सूक्तम् ॥

प्र॒जाव॑तीः सू॒यव॑से रु॒शन्तीः॑ शु॒द्धा अ॒पः सु॑प्रपा॒णे पिब॑न्तीः ।
मा व॑ स्ते॒न ई॑शत॒ माघशं॑सः॒ परि॑ वो रु॒द्रस्य॑ हे॒तिर्वृ॑णक्तु ॥ १ ॥

ऋ० ६ । २८ । ७ ॥

भा०—हे गौवो ! तुम (प्रजा-वतीः) बछड़ों वाली होकर (सु-यवसे रुशन्तीः) उत्तम तृण आदि भोजन के लिये चरती हुई और (सु-प्रपाने) उत्तम जलपान के स्थान पर (शुद्धाः अपः पिबन्तीः) शुद्ध जलोंका पान करती हुई विचरो । (स्तेनः) चोर (वः) तुम पर (मा ईशत) शासन न करे । (अघ-शंसः) पापी और दूसरों को पाप करने की शिक्षा देने वाले व्यक्ति भी तुम पर (मा ईशत) स्वामी न रहें । बल्कि (रुद्रस्य) दुष्टों के रुलाने वाले राजा का (हेतिः) शस्त्र-बल (वः) तुम्हारी (परि-वृणक्तु) सब ओर से रक्षा करे ।

गौएं शुद्ध जलपान करें, उत्तम घास खावें, राजा उनकी रक्षा का प्रबन्ध करे । और चोर हत्यारों और हत्या करने के लिये दूसरों को प्रेरित करने वालों को अपने पास गौएं रखने का अधिकार न हो ।

अध्यात्म में—(प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः) उत्तम ज्ञान से सम्पन्न होकर उस परमब्रह्म में विचरती हुई (सु-प्रपाणे शुद्धाः अपः पिबन्तीः) उत्तम आनन्द रससे भरे ब्रह्मधाम में ही शुद्ध स्वच्छ, निर्मल, अपःअमृत जलों का पान करती हुई विचरें । (स्तेनः अघशंसः मा ईशत) चोर

[७५] १—(प्र०) 'प्रजावतीः सूयवसं रिशन्तीः' (च०) 'परि वो रुद्रस्य हेती वृज्याः ।' इति ऋ० ॥ अस्या ऋग्वेदे भारद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः ॥

अतपस्वी और पापी इनको नहीं पावें। और (रुद्रस्य हेतिः वः परि वृणक्तु) रुद्र की आघातकारिणी शक्ति तुम पर आघात न करे। प्रत्युत रक्षा करे।

पदज्ञा स्थ रमतयः संहिता विश्वनाम्नीः।
उप मा देवीर्देवेभिरेत। इमं गोष्ठमिदं सदो।
घृतेनास्मान्त्समुक्षत ॥ २ ॥

भा०—हे (रमतयः) सर्वत्र आनन्द प्रसन्न रहने हारी गौओ! तुम (पद-ज्ञाः स्थ) अपने निवासस्थान को जानने वाली हो। और तुम (विश्व-नाम्नीः) विश्व-बहुत से नामोंवाली (सं-हिताः) एक ही स्थान पर रहती हुई (देवीः) दिव्य गुणों से युक्त होकर अथवा इधर उधर नित्य क्रीड़ा करती, विचरण करती हुई (देवेभिः) खेलते हुए अपने बछड़ों सहित (मा) मेरे पास (उप एत) आओ। (इमं) इस (गो-स्थम्) गोशाला में निवास करो (इदं सदः) यह घर है। इसमें रहो और (घृतेन) घी दूध मक्खन से (अस्मान्) हमें (सम् उक्षत) अच्छी प्रकार सेचन करो, प्रदान करो।

गौओं के विश्वनाम—"चित् असि, मनासि, धीरसि रन्तीरमतिः सूनुः सूनरी इत्युच्चैरुपह्वये सप्त मनुष्यगवीः। आप० ४। १०। ४॥ इडेरन्तेऽदिते सरस्वति प्रिये प्रेयसि महि विश्रुते इत्येतानि ते अघ्न्ये नामानि। तै० सं० ७। १। ८॥ इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योते ऽदिति सरस्वति महि विश्रुति इति ते अघ्न्ये (देवत्रा) नामानि॥ श० ४। ५। ८। १०॥ उक्त आपस्तम्ब और शतपथ के वचनानुसार गौओं के दृष्टान्त से पुरुष देहों की चित्ति शक्तियों का वर्णन प्रतीत होता है। अध्यात्म में—(रमतयः) सर्वत्र विषयों में अथवा भीतरी आत्मा में ज्योतिष्मती प्रज्ञा रूपसे रमण करने वाली चितिशक्तियो! तुम (पदज्ञाः स्थ) परमपद, आनन्द धामको जानती हो। तुम (विश्वनाम्नीः) विश्व=परमेश्वर को

प्राप्त होने वाली (सं-हिताः) भली प्रकार उससे संगत हो जाती हो । तुम (देवेभिः) इन्द्रियों में प्रविष्ट प्राणों के साथ स्वतः (देवीः) प्रकाशमान होकर (मा उप आ इत) मुझ साधक को भी प्राप्त होओ । (इमं गोष्ठं इदं सदः) इस गौओं, इन्द्रियों के आश्रयभूत मुझ आत्मा में आओ इस आश्रय स्थान आत्मा में विराजो । और (अस्मान् घृतेन उक्षत) हमें तेजोमय रससे आप्लावित करो ।



[७६ (८०, ८१)] गण्डमाला की चिकित्सा और सुसाध्य के लक्षण ।

अथर्वा ऋषिः । अपचित्-भिषग् देवता । १ विराड् अनुष्टुप् । ३,४ अनुष्टुप् । २ परा उष्णिक् । ५ भुरिग् अनुष्टुप् । ६ त्रिष्टुप् । षडर्चं सूक्तम् ॥

आ सुस्रसः सुस्रसो असतीभ्यो असत्तराः ।
सेहोररसतरा लवणाद् विक्लेदीयसीः ॥ १ ॥

भा०—(असतीभ्यः) बुरी से भी (असत्-तराः) बुरी बिगड़ी हुई अपची या गण्डमाला की फ़ोड़ियां यदि (सु-स्रसः) अच्छी प्रकार वह रही हैं तो (आ सु-स्रसः)[1] वे शीघ्र ही सुगम रीति से विनष्ट होजाती हैं । और

[७६] १–(प्र०, द्वि०) 'नामन्नसं स्वयंस्रसंन्नसतीभ्योऽवसत्तराः ।' इति पैप्प० सं० ॥ 'आसुस्रसः सुस्रस्तराः' इति ह्विट्निकामितः पाठः । 'आऽसुस्रस' इति सायणाभिमतः पदच्छेदः पदपाठविरुद्धः । 'आसुस्रसो सुस्रस्तरा' इति ब्लूमफील्डकामितः पाठः । 'आसि-स्रसः' इति 'हेनरी'कामितः पाठः ।

१. 'मन्त्रौषधिप्रयोगेण निःशेषं स्रवणेन विनश्यन्तु' इति सायणः ॥ इदं सूक्तं चतुर्ऋचं 'विद्मवै' इत्यादि त्र्यृचं सूक्तमित्यनुक्रमणिका ।

यदि (सेहोः) वे शुष्क पदार्थ से भी अधिक (अरस-तरा) रसहीन, सूखी हैं तो वे (लवणात्) नमक छिड़ककर मलने से (वि-क्लेदीयसीः) विशेष रूप से जल छोड़ने लग जाती हैं।

नमक का प्रयोग हम पूर्व लिख आये हैं। रस छोड़ती हुई गण्डमालाएं शीघ्र आराम होजाती हैं यह वैद्यक का सिद्धान्त है। 'सु-स्रसः' पदको विदेशियों ने बहुत बदलने की चेष्टा की है, वह मन्त्रका तात्पर्य न समझने के कारण है।

या ग्रैव्या॑ अप॒चितो॒थो या उ॑पप॒क्ष्या॑ः ।
वि॒जाम्नि॒ या अ॑प॒चित॑ः स्वयं॒स्रस॑ः ॥ २ ॥

भा०—(याः) जो (अप-चितः) अपची या गण्डमाला फोड़ियां (ग्रैव्याः) गर्दन पर हों (अथो) और (याः) जो (उप-पक्ष्याः) कन्धों, पीठ और बगलों में हो और (याः) जो (अप-चितः) फोड़ियां (वि-जाम्नि) पेट या नाभि के नीचे पेड़ू पर हों वे भी (स्वयं-स्रसः) अपने आप जल बहाने वाली होकर (आ-सु-स्रसः) शीघ्र ही सुख से दूर हो जाती हैं।

विजामन्=पेट। अंग्रज़ी में 'विजामन' शब्द अपभ्रष्ट होकर (Ab, domen) 'एब-डोमन्' कहलाता है।

स्त्री भोग से प्राप्त राजयक्ष्मा का उपाय।

यः की॒कसा॑ः प्रशृ॒णाति॑ तली॒द्य॑मव॒तिष्ठ॑ति ।
निर्हा॒स्तं सर्वं॑ जा॒यान्यं॒ यः कश्च॑ क॒कुदि॑ श्रि॒तः ॥३॥

उपलब्धसंहितासु उभयं संभूय षडर्चं पठ्यते । अर्थभेदात् विनियोगभेदाच्च आद्ययोरेकं सूक्तम्, ततस्तिसृणामेकम्, तत एकस्या एकमिति विवेकः ॥

३–(च०) 'कश्चित् ककुधि श्रितः ।' (द्वि०) 'तलीम्य [-द्य] म्' इति

भा०—(यः) जो रोग (कीकसाः) पसुलियों को (प्र-श्रृणाति) तोड़ डालता है। और (तलीद्यम्) समीप के फैफड़ों में जाकर (अव-तिष्ठति) जा बैठता है। और (यः कः च) जो कोई रोग (ककुदि) गर्दन के नीचे कन्धों और पीठ के बीच में भी (श्रितः) जमजाता है (तं सर्वं) उस सब (जायान्यं) स्त्री द्वारा प्राप्त होने वाले राजयक्ष्मा के रोगको (निर्-हाः) शरीर से प्राण के बल से निकाल दो।

'यज्जायान्योऽविन्दत् तज्जायेन्यस्य' इति (तै० सं० २ । ३ । ५ ॥)

प॒क्षी जा॒यान्यः॑ पतति॒ स आ वि॑शति॒ पूरु॑षम् ।
तदक्षि॑तस्य भेष॒जमु॒भयोः॒ सुक्ष॑तस्य च ॥ ४ ॥

भा०—(जायान्यः) स्त्रियों के अतिभोग से प्राप्त होनेवाला क्षय, शोष आदि रोग (पक्षी) पक्षी के समान (पतति) एक शरीर से दूसरे शरीर में संचार कर जाता है। (सः) वही (पूरुषम्) भोग के समय पुरुष के शरीर में (आ विशति) पहले थोड़ी मात्रा में ही या शनैः प्रवेश कर जाता है। (तत्) वह निम्नलिखित उपचार (अक्षितस्य) १ म अभी जिसने चिरकाल से जड़ न पकड़ा हो और (सु-क्षतस्य=सु-क्षितस्य) २ य, जिसने खूब जड़ पकड़ भी ली हो (उभयोः) दोनों की (भेषजम्) उत्तम चिकित्सा है। अथवा (अक्षतस्य उभयोः भेषजम्) अक्षत—जिसमें छाती

पैप्प सं० ॥ 'निरास्थं' इति लडविगकामितः पाठः । 'तलीम्यां' इति रोथकामितः पाठः । 'उपतिष्ठति' इत्यपि रोथकामितः पाठः । (प्र०) 'प्रसृणाति' इति सायणाभिमतः पाठः । 'निरास्त', 'निः-अस्तं' इति च क्वचित् पाठः ॥

४–सुक्षितस्येति सायणसम्मतः पाठः । (द्वि०) 'याविशति पौरुषम्' इति पैप्प० सं० ॥ अक्षतस्य...सुक्षतस्येति वा केचित् । 'अक्षतस्येति कौशिक स० ॥

का खून न आता हो, दूसरा जिसमें छाती से कट कट कर खून आने लग गया हो, दोनों की वही चिकित्सा है। अर्थात् शरीर में प्रवेश होने-वाले विषैले कीड़ों का दूर भगा देना ही इस रोग से बचने का उत्तम उपाय है।

विद्म वै ते जायान्य जानं यतो जायान्य जायसे।
कथं ह तत्र त्वं हनो यस्य कृण्मो हविर्गृहे ॥ ५ ॥

भा०—हे (जयान्य) क्षय रोग ! (ते जानं) तेरे उत्पन्न होने के विषय में (विद्म वै) हम निश्चय से जानते हैं कि तू हे (जायान्य) क्षय ! (यतः) जहां से (जायसे) उत्पन्न होता है । (त्वं) तू (तत्र) वहां (कथं) किस प्रकार (हनः) हानि कर सकता है (यस्य) जिसके (गृहे) घर में हम विद्वान् लोग (हविः) नाना ओषधियों से या रोग नाशक हवि या चरु को बनाकर उससे (कृण्मः) अग्निहोत्र करते हैं अर्थात् रोग नाशक हवि=चरु या अन्न द्वारा इस क्षय रोग को निकाल डालने पर सब प्रकार से क्षय दूर हो जाते हैं।

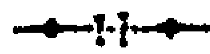
वृषत् पिब कलशे सोममिन्द्र वृत्रहा शूर समरे वसूनाम्।
माध्यन्दिने सवन आ वृषस्व रयिष्ठानो रयिमस्मासु धेहि ॥६॥
ऋ० ६ । ४७ । ६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) बलवान् जीव ! तू (कलशे) अपने देह के कलश भाग अर्थात् ग्रीवा से लेकर नाभि तक के भाग में (वृषत्) बाह्य रोगों को विनाशकारी बल से युक्त होकर (वसूनाम्) देह में बसनेवाले प्राणों के (सम्-अरे) संग्राम में (वृत्र-हा) जीवन के विघ्नभूत रोग

५—(तृ० च०) 'कथं ह तत्र त्वं हन्यात् यत्र कुर्यान्महम् हविः' इति पैप्प० सं० ॥

६—'रयि स्थानो' इति पाठः, ऋ० ॥

के नाशकारी (सोमम्) स्वच्छ वायु रूप अमृत का (पिब) पान कर। और हे (शूर) रोगनाशक जीव ! तू (माध्यन्दिने) दिन के मध्य काल के (सवने) सवन में बलिवैश्वदेव अतिथियज्ञ आदिके अवसर पर स्वयं भी (आ-वृषस्व) सब प्रकार अन्न आदि खाकर पुष्ट हो। और (रयि-स्थानः) शरीरके धनस्वरूप रयि=प्राण में स्थिति प्राप्त करके (अस्मासु) हम इन्द्रियगण में भी (रयिम्) उस प्राण को (आ धेहि) प्रदान कर। इससे हम सब बलवान् नीरोग रहेंगे।



[७७ (८२)] राष्ट्रवासियों के कर्त्तव्य ।

अंगिरा ऋषिः । मरुतः सांतपना मन्त्रोक्ताः देवताः । १ त्रिपदा गायत्री । २ त्रिष्टुप् । ३ जगती । तृचात्मकं सूक्तम् ॥

सांतपना इदं हविर्मरुतस्तज्जुजुष्टन । अस्माकोती रिशादसः ॥१॥
ऋ० ७ । ५६ । ६ ॥

भा०—हे (सांतपनाः) भली प्रकार तपश्चरण करनेवाले (मरुतः) विद्वान् पुरुषो ! अथवा हे शत्रुओं को अच्छी प्रकार तपानेवाले (मरुतः) वायु के समान तीव्र गति वाले सैनिक भटो ! (इदं हविः) तुम लोगों के निमित्त यह अन्न पर्याप्त रूप में विद्यमान है। (तत्) उसको (जुजुष्टन) प्रेम से स्वीकार करो। और हे (रिशादसः) हिंसक शत्रुओं के विनाशक आप लोग (अस्माकम्) हमारी (ऊती) रक्षा के लिये रहो।

यो नो मर्तो मरुतो दुर्हृणायुस्तिरश्चित्तानि वसवो जिघांसति ।
द्रुहः पाशान् प्रति मुञ्चतां सस्तपिष्ठेन तपसा हन्तना तम् ॥२॥
ऋ० ७ । ५१ । ८ ॥

[७७] १–'युष्माकोती रिशादसः' इति ऋ० ।
२–(प्र०) 'यो नो मरुतोऽभिदुर्हृणायुः' (तृ०,च०) द्रुहः पाशान् प्रति

भा०—हे (मरुतः) वीर पुरुषो ! वायु के समान तीव्र गतिवाले प्रजागणो ! और हे (वसवः) राष्ट्र के, देह के प्राण रूप या जीवन के हेतु रूप वसुगणो ! देशवासियो ! (नः) हममें से भी (यः) जो (मर्त्तः) अज्ञानी पुरुष (दुः-हृणायुः) दुष्ट, दुःसाध्य क्रोध के वश होकर (तिरः) कुटिलता से (नः) हमारे (चित्तानि) चित्तों को या सत्य मनोरथों या धर्मों को (जिघांसति) आघात पहुँचाना चाहता है (सः) वह (द्रुहः) द्रोही के योग्य (पाशान्) राजदण्ड रूप पाशों को (प्रति मुञ्चतम्) प्राप्त हो, उनमें बांधा जाय और (तम्) उसको (तपिष्ठेन) अति कष्टदायी (तपसा) यन्त्रणा से (हन्तन) मारो ।

संवत्सरीणा मरुतः स्वर्का उरुक्षयाः सगणा मानुषासः ।
ते अस्मत् पाशान् प्र मुञ्चन्त्वेनसः सांतपना मत्सरा मादयिष्णवः ॥ ३ ॥

भा०—(सं-वत्सरीणाः) एक एक वर्ष के लिये नियुक्त हुए (सु-अर्काः) उत्तम ज्ञानवान्, पूज्य, मननशील, श्रेष्ठ (उरु-क्षयाः) बड़े बड़े महलों में या भवनों में निवास करनेवाले (स-गणाः) अपने सहायकारी साथियों सहित (मानुषासः) मननशील विचारवान (मरुतः) जो देश के प्राण स्वरूप विद्वान् धनाढ्य पुरुष हैं (ते) वे (अस्मत्) हमारे (एनसः)

समुचीष्टे', 'तपिष्ठेन हन्मना हन्तना तम्' इति ऋ० ॥ 'यो नो मर्त्तो वसवो दुर्हृणायुस्तिरः सत्यानि मरुतो जिघांसात् ॥' इति तै० सं० । तस्मिन् तान् पाशान् प्रतिमुञ्चत यूयम् तपिष्ठेन तपसामश्विना शम् । इति पैप्प० सं० ।

(द्वि०) 'सगणा मानुषेषु' (तृ० च०) 'तेऽस्मत्पाशान् प्रमुञ्चन्त्वंहसः सान्तपनाः मदिराः मादयिष्णवः' इति तै० सं० । (तृ०) पाशान् प्रतिमुञ्चन्तु सर्वान्' इति पैप्प० सं० ॥

पाप के (पाशात्) पाशों को (प्र मुञ्चन्तु) उत्तम रीति से दूर करें। वे ही उस पापकारी पुरुष के (सांतपनाः) अच्छी प्रकार तपानेवाले, उसको दण्ड करनेवाले होने से (मत्सराः) स्वयं प्रसन्न होते और (मादयिष्णवः) दूसरों को भी हर्षित किया करते हैं। गर्भाधान से लेकर उपनयन, विवाह अग्निहोत्र, व्रताचार आदि करनेवाले गृहस्थ लोग 'सांतपन अग्नि' कहाते हैं। वे देश में अपनी व्यवस्था उक्त रूप से रखें और प्रतिवर्ष अपनी व्यवस्था को सुधार लिया करें।



[७८ (८३)] मुक्ति-साधना ।

अथर्वा ऋषिः । अग्निर्देवता । १ परोष्णिग् । २ त्रिष्टुप् । द्व्यृचं सूक्तम् ॥

वि ते मुञ्चामि रशनां वि योक्त्रं वि नियोजनम् ।
इहैव त्वमजस्र एध्यग्ने ॥ १ ॥

भा०—हे (अग्ने) जीव ज्ञानवन्, आत्मन्! मैं परमात्मा या आचार्य (ते) तेरी (रशनाम्) बन्धन की रस्सी कर्म-परम्परा को (मुञ्चामि) छोड़ता हूँ, तुझे मुक्त करता हूँ। और (योक्त्रम्) तुझे बांधनेवाले देह को भी (वि) तुझ से दूर करता हूँ। और (नि योजनम्) तुझे बांधनेवाले कर्मफल को भी तुझ से (वि) पृथक् करता हूँ। (त्वम्) तू अब (अजस्रः) [1] अहिंसित, अविनाशी स्वरूप होकर (इह एव) इस मुक्त परम पद ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप में ही (एधि) रह।

'अग्निरजस्रः' (आत्मा पुरुषविधः) श० ६ । ७ । ४ । ३ ॥

[७८] १–'वि ते मुञ्चामि रशनां विरश्मीन् वियोक्ता (वि) यानि परिचर्त्तनानि।' इति मै० सं० (तृ०) 'इहैव त्वमजस्रेध्यग्ने' इति पैप्प० सं० ॥

अस्मै क्षत्राणि धारयन्तमग्ने युनज्मि त्वा ब्रह्मणा दैव्येन ।
दीदिह्य१स्मभ्यं द्रविणेह भद्रं प्रेमं वोचो हविर्दां देवतासु ॥ २ ॥

भा०—हे (अग्ने) प्राणरूप अग्ने ! (अस्मै) इस आत्मा के निमित्त ही (क्षत्राणि) समस्त वीर्यों को (धारयन्तम्) धारण करते हुए (त्वा) तुझको (दैव्येन) देव, आत्मसम्बन्धी (ब्रह्मणा) ब्रह्म बलसे (युनज्मि) युक्त करता हूँ, उसमें समाहित करता हूँ। तू (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (इह) इस लोक में ही (द्रविणा) नाना ज्ञानों और बलों और विभूतियों को (दीदिहि) प्रदान कर । और (इमम्) इस आत्मा को वह प्राण (देवतासु) इन इंद्रियगणों में (भद्रम्) सुख-कारी (हविर्दाम्) अन्न और बलशक्ति तथा उनके भोग्य शक्ति को देने-वाला (प्रवोचः) उपदेश किया जाता है । पुरोहित राजा के प्रति भी (अस्मै) इस राष्ट्र के लिये (क्षत्राणि धारयन्तम् हे अग्ने त्वा दैव्येन ब्रह्मणा युनज्मि) क्षत्र बलों को धारण करनेवाले तुझ परंतप राजा को ईश्वरीय वेदज्ञान से युक्त करता हूँ । (इह अस्मभ्यं द्रविणा दीदिहि) इस राष्ट्र में हमें श्रेष्ठ धन प्राप्त करा और (देवतासु इमं भद्रं हविर्दाम् प्रवोचः) विद्वान्, उत्तम देवसदृश पुरुषों में इस पुरुषको सुखकारी उत्तम अन्नदाता होनेका उपदेश कर ।



[७९ (८४)] स्त्री के कर्त्तव्य ।

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ता अमावास्या देवता । १ जगती । २,४ त्रिष्टुभः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

२—'धत्तादस्मासु द्रविणं यच्च भद्रं प्राणो ब्रूताद् भागधान् देवतासु । इति तै० सं० ॥ 'धत्तादस्मभ्यम् द्रविणेह भद्रं' इति तैत्तरीय पाठाद् विशेषः । मै० सं० ॥ प्रथम द्वितीययो पादयोर्विपर्ययः । पैप्प० सं० ॥

यत् ते देवा अकृण्वन् भागधेयममावास्ये संवसन्तो महित्वा ।
तेना नो यज्ञं पिपृहि विश्ववारे रयिं नो धेहि सुभगे सुवीरम् ॥१॥

भा०—हे (अमा-वास्ये) सहवास करनेहारी स्त्री ! (ते महित्वा) तेरे महत्व या गौरव या आदरभाव के कारण (सं-वसन्तः) एकत्र एक देश में निवास करनेवाले (देवाः) विद्वान् लोग (यत्) जो (भाग-धेयम्) भाग, अधिकार (ते) तेरे निमित्त (अकृण्वन्) नियत कर देते हैं (तेन) उसीसे तू (नः) हमारे (यज्ञं) यज्ञ, गृहस्थ यज्ञ, जो परस्पर-संगत रहने से हो रहा है उसको (पिपृहि) पूर्ण कर, पालन कर । और हे (विश्व-वारे) सबके वरण करने योग्य अनवद्याङ्गि ! पत्नि ! और (सु-भगे) सौभाग्यवति ! तू ही (नः) हमें (सु-वीरं) उत्तम बलवान् पुत्ररूप (रयिम्) धन को (धेहि) प्रदान कर या धारण कर ।

अध्यात्म पक्ष में—(अमावास्ये) एकत्र सबको आवास देनेहारी ब्रह्म शक्ते ! तेरी महिमा से देव-विद्वान् ज्ञानी पुरुषों ने जो तेरा भाग नियत किया है उससे इस यज्ञ आत्मा को पूर्ण कर । हे विश्ववारे ! सर्व वरणीये, सर्वोत्तमे ! तू हममें सुवीर रयि आत्मस्वरूप या ब्रह्म ज्ञान प्रदान कर ।

अहमेवास्म्यमावास्या३ मामा वसन्ति सुकृतो मयीमे ।
मयि देवा उभये साध्याश्चेन्द्रज्येष्ठाः समगच्छन्त सर्वे ॥ २ ॥

भा०—स्त्री कहती है-(अहम्) मैं (एव) ही (अमा-वास्या) अमावास्या (अस्मि) हूँ । (माम्) मुझे लक्ष्य करके ही (इमे) ये (सु-कृतः) उत्तम पुण्यचरित्र पुरुष (मयि) मेरा आश्रय लेकर ही

[७६] १-(प्र०) 'यत् ते देवा अदधुः' (तृ०) 'सा नो यज्ञं ।' इति तै० सं० ॥ (प्र०) 'देवा कृण्वन्' (द्वि०) 'संवदन्तो महित्वा' (तृ०) 'सं इमं यज्ञं' इति पैप्प० सं० ॥

(आ वसन्ति) निवास करते हैं। (इन्द्र-ज्येष्ठाः) इन्द्र ईश्वर को ही सर्वश्रेष्ठ माननेहारे (देवाः) विद्वान्‌गण और (साध्याः) साधना करनेवाले (उभे) ये दोनों ज्ञानी और कर्मवान् दोनों (मयि) मेरे आश्रय पर ही (सर्वे) सब (सम् अगच्छन्त) एकत्र होते हैं। इससे गृहस्थ आश्रम की ज्येष्ठता दर्शायी गयी है।

अध्यात्म पक्ष में—मैं ब्रह्मशक्ति ही अमावास्या हूँ। मुझको लक्ष्य करके ही सब पुण्यात्म जन मेरे आश्रय पर एकत्र निवास करते हैं (देवाः) मुक्त पुरुष और (साध्याः) मुक्तिपथ के अभ्यासी साधक लोग सब एकत्र होते हैं।

आगन् रात्री संगमनी वसूनामूर्जं पुष्टं वस्वावेशयन्ती।
अमावास्यायै हविषा विधेमोर्जं दुहाना पयसा न आगन् ॥ ३ ॥

भा०—(वसूनां) वास करने हारे गृह के प्राणियों को (सं-गमनी) एकत्र मिलाकर रखनेवाली (पुष्टम्) पुष्टिकारक (ऊर्जम्) अन्नरस को और (वसु) धन को और (आ वेशयन्ती) प्रदान करती हुई (रात्री) रमण, आनन्द हर्ष को प्रदान करने वाली गृहपत्नी (आअन्) आती है। उस (अमा-वास्यायै) सहवास करनेहारी गृहपत्नी के निमित्त हम (हविषा) अन्न आदि उत्तम पदार्थों से उसको (विधेम) प्रसन्न करें। वह (ऊर्जं दुहाना) अन्नरस को प्रदान करती हुई (पयसा) दूध के पुष्टिकारक पदार्थों के साथ (नः) हमें (आ गन्) प्राप्त हो।

अध्यात्म पक्षमें—योगियों को रमण करानेवाली (वसूनां संगमनी) मुक्त जीवों को एकत्र वास देनेवाली मुक्तिरूप रात्रि सब (ऊर्जम्) रस रूप धन का प्रदान करती हुई प्राप्त होती है। उस अमावास्या को जिसमें जीव और ब्रह्म एकत्र वास करते हैं अपने ज्ञान हवि से परिचर्या कर (पयसा) ब्रह्मज्ञान के साथ (ऊर्जम्) ब्रह्मरस प्रदान करती हुई प्राप्त होती है।

अमावास्ये न त्वदे॒तान्य॒न्यो विश्वा॑ रू॒पाणि॑ परि॒भूर्जजान ।
यत्का॑मास्ते जुहु॒मस्तन्नो॑ अस्तु व॒यं स्या॑म॒ पत॑यो रयी॒णाम् ॥४॥
ऋ० १० । १२१ । १० ॥ यजु० १० । २० ॥

भा०—हे (अमा-वास्ये) सहवासशीले गृहपत्नि ! (त्वद्) तुझसे (अन्यः) दूसरा कोई (एतानि) इन (विश्वा रूपाणि) समस्त पुत्र आदि पदार्थों को (परि-भूः) शक्तिमती होकर (न) नहीं (जजान) पैदा करता। (यत्कामा) जो कामना रख कर हम (जुहुमः) वीर्य आदि का त्याग करते हैं। हे परमशक्ते ! (तत् नः) वह पुत्र आदि हमें (अस्तु) प्राप्त हो। और (वयं) हम (रयीणाम्) समस्त धन सम्पत्तियों के (पतयः) स्वामी (स्याम) हों।

परम ब्रह्मशक्ति के पक्ष में—हे अमावास्ये ! सब के साथ विद्यमान (न त्वद् अन्यः एतानि विश्वा रूपाणि परिभूर्जजान) तेरे से अतिरिक्त कोई भी दूसरी शक्ति सर्वव्यापक हो कर इन समस्त नाना लोकों को उत्पन्न नहीं करती। (यत्कामाः ते जुहुमः तत् नः अस्तु) जिस मोक्ष पद के लाभ की आकांक्षा करके तेरे प्रति हम आत्मत्याग करते हैं वह हमारी अभिलाषा पूर्ण हो। (वयं स्याम पतयो रयीणाम्) हम रयि—वीर्य, बल और धनों के स्वामी हों।



[८० (८५)] परमपूर्ण ब्रह्मशक्ति ।

अथर्वा ऋषिः । पौर्णमासी प्रजापतिर्देवता । १, ३, ४ त्रिष्टुप् । ४ अनुष्टुप् ।
चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

४–(प्र०) 'प्रजापते' (द्वि०) 'विश्वा जातानि परिता बभूव' इति ऋ० । 'नहि त्वन् तानि' (तृ०) 'यस्मै कामास्ते' इति मै० सं० ॥ अग्रिमे सूक्ते तृतीयाऽपि 'प्रजापते' इति पदेन विभिद्यते ॥

पूर्णा पश्चादुत पूर्णा पुरस्तादुन्मध्यतः पौर्णमासी जिगाय ।
तस्यां देवैः संवसन्तो महित्वा नाकस्य पृष्ठे समिषा मदेम ॥१॥

भा०—वह ब्रह्मशक्ति (पश्चात्) इस संसार के प्रलय के अनन्तर भी (पूर्णा) पूर्ण ही है और (पुरस्तात्) संसार के बनने के पूर्व भी वह (पूर्णा) पूर्ण ही थी और (मध्यतः) इन दोनों कालों के बीच के संसार के रचना काल में भी वह (पौर्णमासी) पूर्णरूप से समस्त जगत् को अपने भीतर मापने या बनाने वाली, महती शक्ति (उत् जिगाय) सब से अधिक उच्चता पर विराजमान है । (तस्यां) उसमें (देवैः) विद्वान् मुक्तात्माओं सहित (सं-वसन्तः) निवास करते हुए (महित्वा) हम लोग अपनी शक्ति और उसकी महिमा से (नाकस्य) सर्वथा दुःखरहित, परम सुखमय मोक्ष के (पृष्ठे) धाम में (इषा) अपनी इच्छा के अनुसार (सं मदेम) आनन्द का उपभोग करें ।

वृषभं वाजिनं वयं पौर्णमासं यजामहे ।
स नो ददात्वक्षितां रयिमनुपदस्वतीम् ॥२॥

भा०—(पौर्णमासम्) समस्त संसार के रचयिता (वाजिनम्) सर्व शक्तिमान् (वृषभम्) सब सुखों के वर्षक प्रभु परमेश्वर की (वयं) हम (यजामहे) उपासना करते हैं । (सः) वह (नः) हमें (अनु-पदस्वतीम्) कभी किसी के प्रयत्न से भी न क्षीण होनेवाली और स्वयं भी (अक्षिताम्) अक्षय (रयिम्) शक्ति का (ददातु) प्रदान करे ।

---

[८०] १–(तृ० च०) 'तस्यां देवा अधि संवसन्त उत्तमे नाक अधि मादयन्ताम्।' तै० ब्रा० । (द्वि०) 'पौर्णमासी मध्यतो जिगाय' इति पैप्प० सं० ॥
२–(प्र०) 'ऋषभं'...(द्वि०) 'पूर्णमास' (तृ० च०) 'स नो देहि तां सुवीर्यं रायस्पोषं सहस्रिणम्' इति तै० ब्रा० । (तृ०) 'दधात्व-क्षितां' इति सायणाभिमतः पाठः ।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिभूर्जजान ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥३॥

भा०—हे (प्रजापते) समस्त प्रजाओं के परिपालक प्रभो ! (त्वत्) तुझ से (अन्यः) दूसरा कोई (एतानि) इन (विश्वा रूपाणि) समस्त प्रकाशमान् कान्तिमान् नाना रूपवान् लोकों और पदार्थों को (परि-भूः) सर्वव्यापक सर्वसामर्थ्यवान् होकर (न) नहीं (जजान) उत्पन्न करता, प्रत्युत तू ही सब का पालक, सर्वव्यापक, सर्व-शक्तिमान् और सबको उत्पन्न करने हारा है । हम लोग (यत्कामाः) जिस कामना से प्रेरित होकर भी (ते) तेरे निमित्त (जुहुमः) आत्म त्याग करते हैं (तत् नः अस्तु) भगवन् ! वह हमें प्राप्त हो । और (वयं) हम (रयीणाम्) सब धनों के (पतयः) पालक (स्याम) हों । इसी मन्त्र-लिंग से पौर्णमासी आदि शब्द परमेश्वर के वाचक हैं, प्रसिद्ध पौर्णमासी या पूनम आदि पदार्थ प्रस्तुत होनेसे 'अप्रस्तुतप्रशंसा' अलंकार से ब्रह्मका ही वर्णन किया जाता है ।

पौर्णमासी प्रथमा यज्ञियासीदह्नां रात्रीणामतिशर्वरेषु ।
ये त्वां यज्ञैर्यज्ञिये अर्धयन्त्यमी ते नाके सुकृतः प्रविष्टाः ॥ ४ ॥

भा०—(पौर्णमासी) पूर्ण ब्रह्म की सर्वव्यापिनी और सबकी उत्पादिका शक्ति (प्रथमा) सबसे पूर्ण और सबसे अधिक श्रेष्ठ (यज्ञिया) यज्ञ परमात्मा की वह शक्ति (आसीत्) है जो (अह्नाम्) दिनों और (रात्रीणाम्) रातों के समय में (अतिशर्वरेषु) और शर्वरी=महाप्रलय कालों को भी अति क्रमण करके वर्तमान रहती है । हे (यज्ञिये) यज्ञ में

४-(तृ०) 'अर्दयन्त्यमी' इति सायणाभिमतः पाठः ॥ (द्वि०) 'रात्रीणामुत शर्वरेषु' (च०) 'अमी ते नाकं सुकृतं परेताः' इति पैप्प० सं० ॥

परमेश्वर की उत्पादक शक्ते ! (ये) जो (त्वां) तुझको (यज्ञैः) यज्ञों, प्रजापति के नाना शक्तियों के अनुकरणों द्वारा (अर्धयन्ति) समृद्ध करते, ब्रह्म की ही महिमा को बढ़ाते हैं (ते) वे (सुकृतः) पुण्यात्मा लोग (नाके) परम सुखमय लोक में (प्रविष्टाः) प्रविष्ट होते हैं । ईश्वर के गुणों को अपने भीतर धारण कर अपने आत्मा को उन्नत करके परोपकार के कार्य करनेवाले महात्मा लोग उस उत्पादक प्रभु का साक्षात् करते और मुक्ति लाभ करते हैं ।



[८१ (८६)] सूर्य और चन्द्र ।

अथर्वा ऋषिः । सावित्री सूर्याचन्द्रमसौ च देवताः । १,६ त्रिष्टुप् । २ सम्राट् । ३ अनुष्टुप् । ४,५ आस्तार पंक्तिः । षडृचं सूक्तम् ॥

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोर्णवम् ।
विश्वान्यो भुवना विचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायसे नवः ॥ १ ॥

ऋ० १० । ८५ । १८ ॥

भा०—(एतौ) ये दोनों सूर्य और चन्द्र (क्रीडन्तौ) खेलते हुए शिशू दो बालकों के समान (मायया) उस प्रभु की निर्माण शक्ति से प्रेरित होकर (पूर्वापरम्) एक दूसरे के आगे पीछे (चरतः) विचरते हैं और (अर्णवम्) इस महान् अन्तरिक्ष को (परि यातः) पार करते हैं । (अन्यः) उनमें से एक सूर्य (विश्वा) समस्त (भुवना) लोकों को (वि चष्टे) प्रकाशित करता है और हे चन्द्र ! (अन्यः) दूसरा है जो (ऋतून्) ऋतुओं को (विदधत्) उत्पन्न करता हुआ (नवः) नये रूप से (जायसे) प्रकट हुआ करता है ।

[८१] १–(द्वि०) 'यातोऽध्वरम्' (तृ०) 'विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्टे', 'विदधज्जायते' इति पाठभेदाः ऋ० ॥ 'विदधज्जायते' इति सायणाभिमतः पाठः । (तृ०) 'विचष्टे' इति मै० सं० ॥

नवोनवो भवसि जायमानोह्नां केतुरुपसामेष्यग्रम् ।
भागं देवेभ्यो वि दधास्यायन् प्र चन्द्रमास्तिरसे दीर्घमायुः ॥२॥
ऋ० १० । ८५ । १९ ॥

भा०—चन्द्र का वर्णन करते हैं । (जायमानः) प्रकट होता हुआ तू हे चन्द्र! सदा (नवः नवः) नया ही नया (भवसि) हो जाता है । प्रतिदिन कला के घटने या बढ़ने से प्रतिदिन चन्द्र बिम्ब में नवीनपन ही दीखता है । और (अह्नाम्) दिनों का तू (केतुः) ज्ञापक है । चन्द्रमाकी कलाओं के अनुसार दिनों की गणना की जाती है, प्रथमा, द्वितीया, तृतीया इत्यादि । हे चन्द्र तू (उषसाम्) रात्रियों के समाप्ति और सूर्योदय कालों के (अग्रम्) पूर्व काल में ही (एषि) आया करता है । और (आयन्) आता हुआ ही (देवेभ्यः) देवगण पृथिवी, जल, समुद्र, वायु इनको और इन्द्रियों को (भागम्) इन २ का विशेष भाग (वि दधासि) विशेष रूप से प्रदान करता है । चन्द्रोदय के अवसर पर समुद्र वेला, आदि आना नाना प्रकार के वायु परिवर्त्तन, ओषधियों का पोषण, ओस आदि का पड़ना आदि क्रियाएं होती हैं । और इस प्रकार हे (चन्द्रमः) चन्द्रमः ! आल्हादकारी शक्तिवाले ! तू (दीर्घम्) लम्बा (आयुः) जीवन (तिरसे) प्रदान करता है ।

सोमस्यांशो युधां पतेऽनूनो नाम वा असि ।
अनूनं दर्श मा कृधि प्रजया च धनेन च ॥ ३ ॥

भा०—सूर्य और चन्द्र का वर्णन हो चुका अब चन्द्र की उपमा लेकर राजा और ईश्वर का वर्णन करते हैं । हे (युधां पते) समस्त योद्धा सैनिकों क्षत्रियों के स्वामिन् सेनापते ! तथा योगियों के पालक प्रभो ! हे (सोमस्य) सबके प्रेरक, आल्हादक, अनुरंजक बल के (अंशो) व्यापक भण्डार तू भी (अनूनः नाम असि) 'अनून' नामवाला है । तू

२-(द्वि०) 'उपसामेष्यग्रे' (च०) 'तिरति दीर्घमायुः' इति क्वचित् ।

किसी प्रकार कम नहीं है । हे (दर्शः) दर्शनीय ! अथवा सर्व प्रजा के द्रष्टः ! आप (मा) मुझको (प्रजया) प्रजा और (धनेन) धन से (च) भी (अनूनं) पूर्ण (कृधि) कर ।

द॒र्शो॒॑ऽसि द॒र्श॒तो॒॑ऽसि स॒म॑ग्रो॒ऽसि स॒म॑न्तः ।
स॒म॑ग्रः स॒म॑न्तो भूयासं॒ गोभि॒रश्वैः॑ प्र॒जया॑ प॒शुभि॑र्गृ॒हैर्धने॑न ॥४॥

भा०—पूर्व मन्त्र में 'दर्श' से कहे पदार्थ की व्याख्या करते हैं । हे दर्श ! (दर्शः) तू दर्श है अर्थात् (दर्शतः) तू दर्शत=दर्शनीय है और भक्ति और योग द्वारा साक्षात् करने योग्य है । आप (सम्-अग्रः) सब प्रकार से और सब कामों में सब पदार्थों के आगे, सबके पूर्व विद्यमान, सबके कारणस्वरूप, और सबके अग्रणी नेतास्वरूप (असि) हो । और (सम्-अन्तः) सब प्रकार से समस्त संसार के अन्त अर्थात् प्रलय-काल में सबको अपने भीतर प्रलीन करने हारे हो । हे प्रभो मैं भी (गोभिः) गौओं, (अश्वैः) अश्वों, (प्रजया) प्रजा और (पशुभिः) पशुओं (गृहैः) गृहों, और (धनेन) धन सम्पत्तियों से (सम्-अग्रः) सबका अग्रणी और (सम्-अन्तः) सब से पिछला अर्थात् सब से उत्कृष्ट (भूयासम्) होऊँ । "अहमादिर्हि भूतानां प्रभवः प्रलयस्तथा।" गीता ।

यो॒३॑ऽस्मान् द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मस्तस्य॒ त्वं प्रा॒णेना प्या॑यस्व ।
आ व॒यं प्या॑सिषीमहि॒ गोभि॒रश्वैः॑ प्र॒जया॑ प॒शुभि॑र्गृ॒हैर्धने॑न ॥ ५ ॥

भा०—हे प्रभो ! (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) द्वेष

५–(तृ०) 'प्याशिषीमहि', 'प्यायिषीमहि' इति च शं० पा० । बहुविधादर्शपुस्तकेषु 'प्याशिषीमहि' इति पाठः । वाजसनेये, तैत्तिरीये, शांखायने श्रौतगृह्यसूत्रयोश्च 'प्यासिषीमहि' इत्येव पाठः । आपस्तम्ब श्रौतसूत्रे च 'प्यायिषीमहि' इति, सायणसम्मतश्च 'प्यासिषीमहि' इति पाठः । स एवास्माभिरादृतः ।

करता है, प्रेम का व्यवहार नहीं करता और (यं च:) जिसको (वयं द्विष्मः) हम भी स्नेह से नहीं देखते, (तस्य) उसके (प्राणेन) प्राण= जीवन के साधनों से हमें (प्यायस्व) बढ़ा और (वयं) हम (गोभिः, अश्वैः, प्रजया, पशुभिः, गृहैः धनेन) गौओं, घोड़ों, प्रजाओं, पशुओं, गृहों और धनों से (आ प्यासिषीमहि) सब प्रकार से वृद्धि को प्राप्त हों ।

यं देवा अंशुमाप्याययन्ति यमक्षितमक्षिता भक्षयन्ति ।
तेनास्मानिन्द्रो वरुणो बृहस्पतिराप्याययन्तु भुवनस्य गोपाः ॥६॥

भा०—(यं) जिस (अंशुम्) व्यापक प्रभु की (देवाः) देव गण, तेजोमय सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि लोक और दिव्य गुणी, विद्वान् लोग (आप्याययन्ति) महिमा को बढ़ाते हैं अथवा (यं अंशुम् [प्राप्य] देवा [आत्मानं] आप्याययन्ति) जिस व्यापक प्रभुकी शरण लेकर विद्वान्, शक्तिमान् लोग अपने आपको पुष्ट करते और बढ़ाते हैं । और (यम्) जिस (अक्षितम्) अविनाशी, रसरूप प्रभुको या उसकी दी हुई समृद्धि को (अक्षितः) अविनाशी जीव (भक्षयन्ति) अन्न, जल वायु और आनन्द रूप में उपभोग करते हैं । (तेन) उस ब्रह्मज्ञान से ही (इन्द्रः) ज्ञानवान्, अज्ञाननाशक, (वरुणः) दुःखों का और पापों का निवारक, (बृहस्पतिः) वेद वाणी का पालक, आचार्य, राजा और अन्य विशाल विद्वान् लोग (भुवनस्य गोपाः) इस संसार के रक्षक होकर (अस्मान्) हमें भी (आप्याययन्तु) पुष्ट करें, बढ़ावें । आचार्य, राजा, पुरोहित आदि सभी लोग परब्रह्म की समस्त उपकारक शक्तियों से प्रजा को पुष्ट करें ।

॥ इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तान्यष्टौ, ऋचश्चैकत्रिंशत्]

६-(प्र०) 'यमादित्याः अंश' इति (तै० सं०) ॥ 'यथादित्या' (द्वि०) 'यथाक्षितिम् क्षितयः पिबन्ति' (तृ०) 'एवास्मान्' इति मै० सं० ॥ (तृ०) 'तेन नो राजा वरुणो' इति तै० सं० ॥

[८२ (८७)] ईश्वर से बलों की याचना ।

सम्पत्कामः शौनक ऋषिः । अग्निर्देवता । १, ४, ५, ६ त्रिष्टुप्, २ ककुम्मती बृहती, ३ जगती । षड्‌ऋचं सूक्तम् ॥

अभ्य॑र्चत सुष्टु॒तिं गव्य॑मा॒जिम॒स्मासु॑ भ॒द्रा द्रवि॑णानि धत्त ।
इ॒मं य॒ज्ञं न॑यत दे॒वता॑ नो घृ॒तस्य॒ धारा॒ मधु॑मत् पवन्ताम् ॥ १ ॥

ऋ० ४ । ५८ । १० ॥ यजु० २७ । ६८ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (सु-स्तुतिं) उत्तम स्तुति करने योग्य (गव्यम्) गौ, गतिशील आत्मा, जीवों के लिये हितकारी अथवा इन्द्रियगण के लिये प्राप्त करने योग्य (आजिम्) अन्तिम लक्ष्य, परम आत्म रूप का (अभि अर्चत) साक्षात् करके उसका यथार्थ वर्णन करो । और (अस्मासु) हम मनुष्यों के बीच (भद्रा) सुख और कल्याणकारी (द्रविणानि) ज्ञान और धन सम्पत्तियों को (धत्त) अपने पास रखो अर्थात् उन सम्पत्तियों को अपने जन-समाज में मत रखो जिससे परस्पर हानि, कलह और कष्ट उत्पन्न हो । (नः) हमारे (इयम्) इस (यज्ञम्) यज्ञ या आत्मा को (देवता) देव भाव को (नयत) प्राप्त कराओ । और सर्वत्र (घृतस्य) तेजोमय, प्रकाशमय ज्ञान या स्नेह की (मधुमत्) आनन्दरस से युक्त या मधुर (धाराः) धरायें, शक्तियें (पवन्ताम्) बहें ।

मय्यग्रे॑ अ॒ग्निं गृ॑ह्णामि स॒ह क्ष॒त्रेण॒ वर्च॑सा बले॑न ।
मयि॑ प्र॒जां मय्यायु॒र्द॑धामि॒ स्वाहा॒ मय्य॒ग्निम् ॥ २ ॥

[८२] १-(प्र०) 'अभ्यर्षत सुष्टुति', (च०) 'मधुमतपवन्ते' इति ऋ०, य० ॥ (तृ०) 'नयत देवताः' इति सायणाभिमतः पदच्छेदः ।
२-" स्वाहामय्यग्निः " इति पैप्प० सं० ॥ मयि गृह्णाम्यग्रे अग्निं सह प्रजया वर्चसा बलेन । मयि क्षत्रं मयि रायो दधामि स्वामय्याग्निम्' इति पैप्प० स० ॥

भा०—(अग्ने) प्रथम मैं (मयि) अपने आत्मा में (अग्निम्) उस प्रकाशस्वरूप अग्नि, तेजस्वी आत्मा को (क्षत्रेण) वीर्य, (वर्चसा) तेज और (बलेन) बल के धारण करने के (सह) साथ २ (गृह्णामि) धारण करता हूँ। मैं (मयि) अपने में (प्रजां) प्रजाको और (मयि) अपने में (आयुः) और दीर्घ जीवन को (दधामि) धारण करता हूँ। (स्वाहा) सबसे अच्छे रूप में, यों कहना ही उत्तम है कि मैं (मयि) अपने में (अग्निम्) 'अग्नि' को धारण करता हूँ। अर्थात् 'अग्नि' को धारण करने का तात्पर्य वेद के वचनानुसार अपने में क्षत्र=वीर्य, वर्च, तेज और बल=शारीरिक शक्ति को ज्ञान के साथ धारण करना और प्रजाओं के साथ दीर्घ जीवन को धारण करना ही है।

इ॒हैवाग्ने॒ अधि॑ धारया र॒यिं मा त्वा॒ नि क्र॑न् पूर्व॑चित्ता निका॒रिणः॑।
क्ष॒त्रेणा॑ग्ने सु॒यम॑मस्तु॒ तुभ्य॑मुपस॒त्ता व॑र्धतां ते॒ अनि॑ष्टृतः ॥ ३ ॥

यजु० २७ । ४ ।

भा०—हे (अग्ने) अग्नि या सूर्य या विद्युत् के समान तेजस्वी नेतः! राजन्! तू (इह एव) इस राष्ट्र में ही (रयिं) धन सम्पत्ति को (अधिधारय) धारण कर (पूर्व-चित्ताः) पूर्व राजाओं के कार्यों को जानने वाले, (नि-कारिणः) तुझे गद्दी से उतार देने में समर्थ, अथवा तुझसे अपमानित या तिरस्कृत लोग (त्वा) तुझको (मा निक्रन्) तुझे तेरे पद से नीचे न करें या तेरा अपमान न करें। हे (अग्ने) राजन्! सभापते यह राष्ट्र (तुभ्यम्) तेरे लिये (क्षत्रेण) क्षात्रबल से (सु-यमम्) सुखपूर्वक व्यवस्था करने योग्य (अस्तु) रहे। (उप-सत्ता) तेरी आश्रय लेने वाली प्रजा (अनि-स्तृतः) कभी मारी न जाकर सदा (वर्धताम्) वृद्धि को प्राप्त हो।

३–द्वि० 'पूर्वचितो निकारिणः' (तृ०) 'क्षत्रमग्नेसुयम' इति यजु०।
अत्र यजुर्वेदे अग्निः प्रजापतिर्ऋषिः।

निकारिणः=ज्ञान कर्म समुच्चय से नाना जन्मों को नीचे करने वाले नितरां यज्ञ करणशील, इत्यादि अर्थ संगत नहीं क्योंकि स्वयं वेद 'मा निक्रन्' इस प्रयोग में 'नि' पूर्वक 'कृ' धातु को पद से नीचे उतार देने अर्थ में प्रयोग करता है। नये पदाधिष्ठित राजा को चाहिये कि वह १. सब रयि (कोष, सम्पत्ति) को अपने वश कर ले जिसे 'निकारी' लोग जो राजा को उसके राजपद से च्युत करने में सशक्त हों और पूर्व राजाओं के राज्य कार्यों से पूर्ण परिचित या पूर्व राजाओं के पक्षकर्त्ता हों और उसके नवीन राज्य के संचालन में बाधा उपस्थित कर सकें, वे भी उसको राज पद से नीचा न कर सकें। २. फिर वह क्षत्र-बल या सेना-बल से राज्य को अपने वश करे। ३. वह अपने आश्रित लोगों की रक्षा करे कि उनको दूसरे विरोधी पक्ष को लोग न मार सकें।

अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः ।
अनु सूर्य उषसो अनु रश्मीननु द्यावापृथिवी आ विवेश ॥४॥
यजु० ११ । १७ ॥

भा०—(अग्निः) जो प्रकाशमान, प्रजापति (उषसाम्) उषा-कालों के भी (अग्रम्) पूर्व भाग को (अनु अख्यत्) क्रम से प्रकाशित करता है। और वही (जातवेदाः) समस्त पदार्थों का ज्ञाता और सर्वज्ञ प्रभु (प्रथमः) सबसे प्रथम, सबका आदि मूल (अनु) पश्चात् भी (अहानि) सब दिनों (अख्यत्) प्रकाश किया करता है। वही (सूर्य अनु) सूर्य को प्रकाशित करता । वही (उषसः अनु) उषा-कालों को प्रकाशित करता और (रश्मीन् अनु) समस्त ज्योतिर्मय प्रकाशमान तारों को प्रकाशित करता है और वही (द्यावा पृथिवी अनु) द्यौ और पृथिवी इन दोनों लोकों में भी (आविवेश) सर्वत्र व्यापक है।

४–पुरोधा ऋषिर्यजुर्वेदे। (तृ० च०) "अनू सूर्यस्य पुरुत्रा च रश्मीननुद्यावा पृथिवी आततन्थ" इति यजु० ॥

प्रत्युग्निरुषसामग्रंमख्यत् प्रत्यहानि प्रथमो जातवेदाः ।
प्रति सूर्यस्य पुरुधा च रश्मीन् प्रति द्यावापृथिवी आ ततान ॥५॥

ऋ० ४ । १३ । १३ त्यत्र प्रथमः पादः ।

भा०—(अग्निः) वही प्रकाशक प्रभु (उषसाम् अग्रम्) उषाओं के मुख भाग को (प्रति अख्यत्) प्रति बार प्रकाशित करता है । वही (प्रथमः) सब का आदिमूल (जातवेदाः) सर्वज्ञ (अहानि प्रति अख्यत्) सब दिनों को प्रकाशित करता है (सूर्यस्य प्रति) सूर्य की (रश्मीन् च) रश्मियों को भी वही (पुरुधा) नाना प्रकार से (प्रति अख्यत्) प्रकाशित करता है (द्यावापृथिवी प्रति आततान) और वही द्यौ और पृथिवी ज़मीन और आकाश दोनों के प्रत्येक पदार्थ में व्यापक है ।

घृतं ते अग्ने दिव्ये सधस्थे घृतेन त्वां मनुरद्या समिन्धे ।
घृतं ते देवीर्नप्त्य१ आ वहन्तु घृतं तुभ्यं दुह्रतां गावो अग्ने ॥६॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! प्रकाशस्वरूप आत्मन् ! (ते) तेरा (घृतम्) परम तेज (दिव्ये) दिव्य तेजोमय या इन्द्रियों के (सधस्थे) सह-स्थान इस शरीर में विद्यमान है । और (मनुः) मननशील मन या मननाभ्यासी साधक (त्वां) तुझको (घृतेन) तेजोरूप से ही (अद्य) सदा, काल (सम्-इन्धे) भली प्रकार प्रकाशित करता है अर्थात् अपने भीतरी आत्मा में तेरे ज्योतिर्मय रूप को ही प्रज्वलित कर उसका साक्षात्कार करता है । (ते) तुझे (देवीः) दिव्यगुणों से सम्पन्न कान्तिमती (नप्त्यः) सम्बन्ध करनेवाली, अर्थगामिनी ज्ञानेन्द्रियाँ (ते) तेरे लिये ही (घृतम्) ज्ञानमय घृत को (आवहन्तु) धारण करें । और हे (अग्ने) आत्मन् ! (गावः) गमनशील इन्द्रियगण (तुभ्यम्) तेरे लिये ही (घृतम्) सुखरूप घृत को (दुहताम्) प्रदान करें । यज्ञाग्नि के पक्ष में स्पष्ट है ।

[८३] बन्धन-मोचन की प्रार्थना ।

शुनःशेप ऋषिः । वरुणो देवता । १ अनुष्टुप्, २ पथ्यापंक्तिः, ३ त्रिष्टुप्, ४ बृहतीगर्भा त्रिष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

अप्सु ते राजन् वरुण गृहो हिरण्ययो मिथः ।
ततो धृतव्रतो राजा सर्वा धामानि मुञ्चतु ॥ १ ॥

भा०—हे (वरुण) वरुण ! सर्वश्रेष्ठ, सब पापों के निवारक, सब के वरण करने योग्य परमात्मन् ! (राजन्) राजा के समान सर्वोपरि (ते) तेरा (गृहः) सबको ग्रहण करनेवाला, सब देहों का शासक धाम, (अप्सु) जीवों में समस्त लोकों में (हिरण्ययः) सुवर्ण के समान तेजोमय (मिथः=मितः) जाना गया है । (ततः) वहां ही विराजमान (धृत-व्रतः) समस्त ज्ञान और कर्मों को धारण करनेहारा (राजा) प्रकाशस्वरूप राजा के समान सब का अनुरंजनकारी तू (सर्वा धामानि=दामानि) बन्धनों को (मुञ्चतु) छुड़ा । वरुण वही परमात्मा ब्रह्म है जिसके "मित हिरण्ययगृह" की तुलना उपनिषद् के तत्वज्ञों को उपनिषत् के निम्नलिखित स्थलों से करनी चाहिये ।

"ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि तदैरंमदीयं सरः । तदश्वत्थः सोमसवनः । तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः । प्रभु विमितं हिरण्मयम् । इति छान्दो०उप०।५।३॥

[८३] १–(द्वि०) 'हिरण्ययो मितः' (च०) 'सर्वथा दामानि' इति क्वाचित्को द्विटनिकामितश्च । द्वीपे राज्ञो वरुणस्यगृहो मितोहिरण्ययः । सनो धृतव्रतो राजा धाम्नोधाम्ना इहमुञ्चतु इति । आश्व० श्रौ० सू० ॥ (द्वि०) 'हिरण्ययो मितः' (च०) 'धामानिनोमुञ्चे' इति च० पैप्प० सं० ॥

धाम्नो धाम्नो राजन्नितो वरुण मुञ्च नः ।
यदापो अघ्न्या इति वरुणेति यदूचिम ततो वरुण मुञ्च नः ॥२॥

भा०—हे (राजन्) राजन् ! हे (वरुण) सर्वश्रेष्ठ प्रभो ! आप (धाम्नः धाम्नः) प्रत्येक बन्धन से (इतः) इस लोक में (नः) हमें (मुञ्च) मुक्त कर । (यद्) जब हम (ऊचिम) कहें कि (आपः) ये जल या आप्त हैं, (अघ्न्या इति) ये गौओं के समान पवित्र, न मारने योग्य हैं, (वरुण इति) यह सर्वश्रेष्ठ राजा है, ये हमारे कार्य के साक्षी हैं, (ततः) तब हे (वरुण) राजन् हे प्रभो ! हमें (मुञ्च) मुक्त कर । अर्थात् अपराध के निमित्त जल, गौ और ईश्वर का नाम लेकर प्रायश्चित्त करने वाले को राजा दण्ड से मुक्त करे । आप, अघ्न्या और वरुण अर्थात् जल, गौ और ईश्वर इनके नामस्मरण और आराधन से प्रायश्चित्त करने वाले के प्राण नष्ट न हों ।

यही मन्त्र राजा के पक्ष में भी लगता है । इसी मन्त्र के मूल आशय को लेकर अब तक भी गंगाजल, गौ और ईश्वर के नाम पर शपथें लेकर सत्य प्रमाणित करने की रीति प्रचलित है ।

उदुत्तमं वरुणपाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय ।
अधा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ॥३॥
ऋ० १ । २४ । १५ ॥ यजु० १२ । १२ ॥

२–(प्र०) 'धाम्नो धाम्नो' (द्वि० तृ०) 'वरुण नो मुञ्च' इति पैप्प० सं० ॥ (प्र०) 'धाम्नो धाम्नो राजंस्ततो वरुण नो मुञ्च । यदाहुरघ्न्या इति वरुणेति शपामहे ततो वरुण नो मुञ्च ॥' इति यजुषि तैत्तिरीये, आश्व०,शां०, लाट्या० श्रौतसूत्रेषु च ॥ यजुर्वेदेऽस्य दीर्घतमा ऋषिः ॥ 'दाम्नो दाम्न' इति ह्विटनिकामितः क्वाचित्कश्च पाठः ॥

३–(तृ०) 'अथा वयमा' इति ऋ० ॥ (च०) 'व्रते वयमना-' इति मै० आ० ॥

भा०—हे (वरुण) वरुण ! सर्वश्रेष्ठ प्रभो ! (उत्तमं) उत्तम, उत्कृष्ट, दृढ़ (पाशम्) फांसे को (उत् श्रथाय) मुक्त कर (अधमं पाशम् अव श्रथाय) अधम निकृष्ट वन्धन को भी दूर कर और (मध्यमं वि श्रथाय) दोनों के मध्य के बंधन को भी दूर कर अथवा शरीर, मन, वाणी तीनों प्रकार के कर्मों से प्राप्त तीनों प्रकार के बंधनों से हमें मुक्त कर। अथवा शरीर के ऊपर के भाग के बंधन को, मध्य के बंधन को और अधोभाग के बंधन को भी दूर कर (अधा) और (वयम्) हम हे (आदित्य) सूर्य के समान तेजस्विन् ! (तव) तेरे उपदिष्ट (व्रते) सत्य आचरण आदि वैदिक नियमों में अथवा प्रजाके हितार्थ वनाये राजनियमों में विचरण करते हुए (अदितये) तेरे अखण्ड नियमव्यवस्था के निमित्त, अथवा तेरे अखण्ड सुख प्राप्त करने के लिये हम (अनागसः) निष्पाप, निरपराध (स्याम) रहें।

प्रास्मत् पाशान् वरुण मुञ्च सर्वान् य उत्तमा अधमा वारुणा ये।
दुष्वप्न्यं दुरितं नि ष्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम् ॥ ४ ॥

भा०—हे (वरुण) सर्वपापनिवारक प्रभो ! (अस्मत्) हमसे (ये) जो (उत्तमाः) ऊंचे २ बड़े, कठोर २ (अधमाः) नीचे और (ये वारुणाः) जो वरुण परमात्मा के दैवी या राजा के मानुषी वन्धन है उन (सर्वान् पाशान्) समस्त बंधनों को (प्र मुञ्च) भली प्रकार छुड़ा, दूर कर। और (दुरितं) दुष्टाचरण और (दुःस्वप्न्यं) मन के उस दुष्ट संस्कार को जो हमारे स्वप्न काल में बुरे रूप में प्रकट होता हो (अस्मत्) हमसे (निः स्व=निः सुव) दूर कर (अथ) और हम लोग (सु-कृतस्य) पुण्य चरित्र से प्राप्त होने योग्य (लोकम्) लोक या जन्म को (गच्छेम) प्राप्त हों।

'दुरित दुःस्वप्न्य' के दूर होने की प्रार्थना से ऐहिक दुष्टाचरण और शरीर के छोड़ने के अनन्तर आत्मा की दुःखमय स्वप्नावस्था के समान जो

दशा है उससे भी मुक्ति पाने की प्रार्थना की गयी है। 'यथा स्वप्नलोके तथा पितृलोके' इस उपनिषत् सिद्धान्त के अनुसार शरीर से पृथक् जीव की दशा स्वप्न-कालकी स्थिति के समान होती है।



[८४] राजा के कर्त्तव्य।

भृगुर्ऋषिः । १ जातवेदा अग्निर्देवता । २, ३ इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् । जगती । तृचं सूक्तम् ।

अनाधृष्यो जातवेदा अमर्त्यो विराडग्ने क्षत्रभृद् दीदिहीह ।
विश्वा अमीवाः प्रमुञ्चन् मानुषीभिः शिवाभिरद्य परिपाहि नो गयम् ॥ १ ॥　　यजु० २७ । ७ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी ! अग्नि के समान शत्रुओं को पीड़ा करनेहारे राजन् ! तू (जातवेदाः) धन सम्पत्ति प्राप्त करके (अनाधृष्यः) किसी से भी पराजित न होकर (अमर्त्यः) अविनाशी, अमरणधर्मा (विराट्) सर्वोपरि राजा और (क्षत्र-भृद्) क्षत्र बलको पुष्ट करके (इह) इस राष्ट्र में (दीदिहीह) प्रकाशित हो। और (विश्वाः) समस्त (अमीवाः) रोगों को प्रजासे (प्र मुञ्चन्) दूर करके (मानुषीभिः) मनुष्यों के हितकारी, (शिवाभिः) कल्याणकारी रक्षा के उपायों से (नः) हमारे (गयम्) गृह और प्राणों की (अद्य) आज सदा काल (परि पाहि) रक्षा कर।

---

[८४] १–(प्र०) 'जातवेदा अनिष्टृतो' (तृ०) 'विश्वा आशा प्रमुञ्चन् मानुषीभिर्यः शिवेभिरद्य परिपाहि नो वृधे।' इति याजुषः । 'तस्याः ऋच अग्निः प्रजापतिर्ऋषिः । (प्र०) 'जातवेदा अनिष्टतः' (च०) 'नो गयेः' (तृ०) 'मनुष्येभ्यः शिवेभिः' इति पैप्प० सं० ॥ (तृ०) 'वि अमीवाः प्रमुञ्चन् मानुषाणाम् शिवेभिः' इति मै० सं० ॥

इन्द्रं क्षत्रमभि वाममोजोऽजायथा वृषभ चर्षणीनाम् ।
अपानुदो जनममित्रायन्तमुरुं देवेभ्यो अकृणोरु लोकम् ॥ २ ॥
ऋ० १६ । १८० । ३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यशील राजन ! और (चर्षणीनाम्) समस्त प्रजा के मनुष्यों में से (वृषभ) सर्वश्रेष्ठ ! नरर्षभ ! तू (क्षत्रम्) समस्त क्षत्रियबल और (वामम्) सुन्दर, दर्शनीय (ओजः अभि) तेज पराक्रम को स्वयं प्राप्त करके (अजायथाः) राजारूप में प्रकट हुआ है । इसलिये अपने पराक्रम और क्षत्रबल से (अमित्रायन्तं) शत्रु के समान आचरण करने वाले (जनम्) लोगों को (अप नुदः) दूर मार भगा । और (उरु) इस विस्तृत (लोकम्) लोक को (देवेभ्यः) विद्वान् श्रेष्ठ पुरुषों के लिये (उ) ही (अकृणोः) रहने योग्य बना ।

मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत आ जगम्यात् परस्याः ।
सृकं संशाय पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून्ताढि वि मृधो नुदस्व ॥३॥
ऋ० १० । १८० । २ ॥ यजु० १८ । ७१ ॥

भा०—(भीमः) भयंकर (गिरि-स्थाः) पर्वतनिवासी (भीमः) भयानक (मृगः न) पशु, सिंह जिस प्रकार वीरता से अपने शिकार पर टूटता है उसी प्रकार इन्द्र शत्रुओं पर (परस्याः परावतः) दूरसे भी दूर से (आ जगम्यात्) आ टूटता है । हे (इन्द्र) इन्द्र राजन् ! तू अपने (सृकं) दूर तक जाने वाले, प्रसरणशील (पविम्) वज्रको (सं-शाय) खूब तीक्ष्ण करके उस (तिग्मं) तीक्ष्ण शस्त्र से (शत्रून्) शत्रुओं को (वि ताढि) खूब अच्छी तरह मार और (मृधः) संग्रामकारी लोगों को (वि नुदस्व) विनाश कर ।



२–(तृ०) 'जनमामित्रयन्तम्' इति ऋ० । तत्रास्या ऋषिर्जयः ।

[८५ (९०)] ईश्वर का स्मरण ।

स्वस्त्ययनकामोऽथर्वा ऋषिः । तार्क्ष्यो देवता । त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहोवानं तरुतारं रथानाम् ।
अरिष्टनेमिं पृतनाजिमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम ॥१॥

ऋ० १० । १७८ । १ ॥

भा०—(त्यम्) उस ही (वाजिनं) ज्ञान, वेग, बलसे युक्त (देव-जूतम्)[1] विद्वान् श्रेष्ठ पुरुषों से पूजित, सेवित (सहःवानम्) सर्वशक्तिमान्, (रथानाम्) रथरूप देहों या आत्माओं के रमण-स्थान इन लोकों में (तरुतारम्) व्यापक, प्रेरक (अरिष्ट-नेमिम्) सबको शुभ मार्ग में झुकाने वाले (पृतना-जिम्) समस्त मनुष्य आदि प्रजाओं के भीतर उत्कृष्ट रूपसे विद्यमान, उनके विजेता, उनको अपने वश करने हारे (आशुम्) व्यापक (तार्क्ष्यम्) बलवान् परमात्मा को हम लोग अपने (स्वस्तये) कल्याण के लिये (आ हुवेम) स्मरण करते हैं, पुकारते हैं ।

[८६ (९१)] इन्द्र, ईश्वरका स्मरण ।

स्वस्त्ययनकामोऽथर्वा ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवेहवे सुहवं शूरमिन्द्रम् ।
हुवे नु शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं स्वस्ति न इन्द्रो मघवान् कृणोतु ॥१॥

साम० प्र० ४ । ५ १ ॥ ऋ० ६ । ४७ । ११ ॥ यजु० २० । ५० ॥

[८५] १–अरिष्टनेमिस्तार्क्ष्य ऋषिर्ऋग्वेदे ॥ (द्वि०) 'सहावानं' (तृ०) 'पृतनाजमाशुं' इति ऋ० । 'पृतनाजमाशुं' इति सायणाभिमतः पाठः ।
२–(तृ०) 'ह्वयामि शक्रं' (च०) 'स्वस्तिनो मघवा धात्विन्द्रः' इति पाठः यजु० ऋ०। वेत्विन्द्रः इति साम० । ऋग्वेदेऽस्या ऋचो गर्ग ऋषिः । यजुर्वेदे च प्रजापतिर्ऋषिः, भरद्वाज इत्यपि क्वचित् ।

भा०—मैं (इन्द्रम्) इन्द्र को (हुवे) बुलाता हूँ। (अवितारम् इन्द्रम्) रक्षाकारी शत्रुओं से बचाने वाले (इन्द्रं) इन्द्र को (हुवे) बुलाता हूं। (हवे-हवे) प्रत्येक यज्ञ में या जब २ बुलाया जाय तब २ (सु-हवं) सुखपूर्वं स्मरण करने योग्य, स्वयमेव सहायतार्थ उपस्थित होने वाले (शूरं) शूरवीर (इन्द्रं हुवे) इन्द्र को बुलाता हूं। (नु) और (शक्रं) शक्तिमान् (पुरु-हूतं) इन्द्रियों से पूजित आत्मा और प्रजाओं से सत्कृत राजा (इन्द्रं) इन्द्र को मैं बुलाता हूं। (इन्द्रः) वह इन्द्र (मघवान्) धन ऐश्वर्य आदि से सम्पन्न होकर (नः) हमारा (स्वस्ति) कल्याण (कृणोतु) करे।



[८७ (९२)] रुद्र, ईश्वर का स्मरण।

अथर्वा ऋषिः। रुद्रो देवता। जगती छन्दः। एकर्चं सूक्तम्॥

यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्व१न्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश।
य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये॥१॥

भा०—(यः) जो (रुद्रः) रोदनकारी, तीक्ष्ण शक्ति (अग्नौ) अग्नि में प्रविष्ट है और (यः) जो (अप्सु अन्तः) जलों के भीतर है और (यः) जो (ओषधीः) ओषधियों और (वीरुधः) लताओं में (आ-विवेश) प्रविष्ट है। और (यः) जो (इमाः) इन (विश्वा) समस्त (भुवनानि) भुवनों को (चाक्लृपे) बनाता है। उस (अग्नये) अग्निस्वरूप (रुद्राय) रुद्र के लिये (नमः) हमारा नमस्कार और आदरभाव है। अर्थात् जिस प्रभु की शक्तियां अग्नि में तेजोरूप से जल में

[८७] १–'यो रुद्रो अग्नौ, यो अप्सु य ओषधीषु यो रुद्रो विश्वा भुवना विवेश तस्मै रुद्राय नमोऽस्तु।' इत्येव तै० सं०। (प्र०) 'यो रुद्रो अग्नौ' (च०) 'नमो अस्त्वग्ने' इति पैप्प० सं०।

स्नेहरूपसे ओषधियों में रस और पुष्टिरूपसे, और लता वनस्पतियों में रोग दूर करने की शक्तिरूपसे विद्यमान है और जो समस्त भुवनों को नाना रूप और सामर्थ्यों से युक्त बनाता है हम उस प्रभु को सदा स्मरण करें ।



[८८ (९३)] सर्पविष की चिकित्सा ।

गरुत्मान् ऋषिः । तक्षको देवता । त्र्यवसाना बृहती छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

अपेह्यरिरस्यरिर्वा असि । विषे विषमपृक्था विषमिद् वा अपृक्थाः । अहिमेवाभ्यपेहि तं जहि ॥ १ ॥

भा०—हे सर्प ! तू (अप इहि) दूर चला जा । क्योंकि तू (अरिः असि) शत्रु है । तू सबको कष्ट देता है । (वा) निश्चय से तू (अरिः असि) दुःखकारी शत्रु है । हे पुरुष ! यदि सर्प परे न जाय और काट ही ले तो उसकी चिकित्सा के लिये (विषे) विष के ऊपर (विषम्) विष को ही (अपृक्थाः) लगाओ । विष को दूर करने के लिये विष का ही प्रयोग करो (वा) अथवा (विषम् इत्) उसी सर्प के विष को (अपृक्थाः) पुनः ओषधि रूप से प्रयोग करो । अथवा (अहिम्) उसी सांप के पास (एव) ही (अभि-अप-इहि) फिर पहुंचो और (तं जहि) उसको मारो । और उसीका विष लेकर उससे पूर्व विष को शान्त करो ।

प्रसिद्ध भारतीय वैद्य विद्या के विद्वान् वाग्भट ने अष्टांग हृदय में सर्प के काटने पर उसकी चिकित्सा के लिये पुनः उसी सर्प को पकड़ कर काटने का उपदेश किया । इसका यही रहस्य है कि सर्प का विष ही सर्प के विष का उत्तम उपाय है । और तिस पर भी उसी जाति के सर्प का विष सर्प विष की नाचूक दवा है । "डा० वैडल तथा अन्य विद्वानों ने

१–'अरिर्वासि' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'अहिमेवाम्युपेहि' इति सायणाभिमतः पाठः ।

चिरकाल तक परिश्रम करके यह जाना है कि विषधर सर्प जब किसी को काटता है तो उसका विष ज़ख़्म के भीतर तो जाता ही है परन्तु थोड़ा-सा विष का भाग उस सर्प के पेट में भी जाता है। इससे उस सर्प के शरीर में विष के सहन करने की शक्ति उत्पन्न होती है। सर्प से कटा आदमी यदि पुनः उस सर्प को दांतों से काट ले तो सर्प की विष-सहिष्णुता शक्ति से उसके शरीर में चढ़ा विष शान्त हो जाता है। अब भी सरकारी हस्पतालों में सर्प-चिकित्सा के लिये ८० प्रति शतक फणधर सर्प के विष के साथ २० प्रतिशत अन्य सर्पों का विष मिला कर सीरम तैयार करते हैं। वेद ने संक्षेप में उसी सिद्धान्त को स्पष्ट शब्दों में दर्शाया है।



[८९ (९४)] ब्रह्मचर्यपालन।

सिन्धुद्वीप ऋषिः। अग्निर्देवता। अनुष्टुप् छन्दः। चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

अपो दिव्या अचायिषम् रसेन समपृक्ष्महि।
पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा ॥ १ ॥

ऋ० १ । २३ । २३ ॥

भा०—मैं (दिव्याः) दिव्य, प्रकाशमय, ज्ञानमय, ईश्वरीय (अपः) कर्म और ज्ञान कणों को (सम् अचायिषम्) संग्रह करूं; और उनके (रसेन) सारभूत बल से अपने को (सम् अपृक्ष्महि) संयुक्त करें। हे (अग्ने) ज्ञानवन् प्रभो! इस प्रकार ईश्वरीय ज्ञानकर्म से मैं (पयस्वान्) 'पयस्वान', ज्ञानवान् और कर्मवान् होकर (आगमम्) प्राप्त हुआ हूं

[८६] १–'आपो अद्यान्वचारिषं रसेन समगंस्महि। पयस्वानग्न आगहि तं मां संसृज वर्चसा।' इति ऋ०। ऋग्वेदेऽस्य सूक्तस्य काण्वो मेधातिथिर्ऋषिः। (द्वि०) 'रसेन समसृक्ष्महि' (च०) 'वर्चसा प्रजया च धनेन च' इति ऋग्वेदाद्विशिष्टः पाठभेदो यजु० ॥

(तम् मा) उस मुझको (वर्चसा) ब्रह्मतेज से (संसृज) युक्त कर। जिस प्रकार मेघ (दिव्यः) दिव्य जलों को संग्रह करके विद्युत् अग्नि से मिल कर प्रकाशवान् भी हो जाता है उसी प्रकार मनुष्य ईश्वरीय ज्ञान और कर्म में निष्ठ होकर शरीर में हृष्ट पुष्ट होकर आचार्य और ईश्वर की साक्षिता में ब्रह्मचर्य का पालन करे ।

सं मा॑ग्ने॒ वर्च॑सा सृज॒ सं प्र॒जया॒ समायु॑षा ।
वि॒द्युर्मे॑ अ॒स्य दे॒वा इन्द्रो॑ विद्यात् स॒ह ऋषि॑भिः ॥ २ ॥

अथर्व० ६ । १ १५ ॥ १० । ५ । ४७ ॥ ऋ० १ । २३ । २४ ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवन् गुरो ! (मा) मुझे (वर्चसा) तेज से (सं सृज) युक्त कर (प्रजया सं) प्रजा से युक्त कर (आयुषा सं) दीर्घ आयु से युक्त कर । (अस्य) इस प्रकार के तेज और आयु से सम्पन्न इस (मे) मुझको (देवाः) ज्ञानवान् विद्वान् पुरुष (विद्युः) जानें और (ऋषिभिः) मन्त्र द्रष्टाओं, वेद के विद्वान् योगियों सहित (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् प्रभु भी (विद्यात्) मुझे वैसा जाने । अर्थात् विद्वानों, अधिकारियों, ऋषियों और ईश्वर के साक्षिता में गुरु के अधीन ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य का पालन करें ।

इ॒दमा॑पः॒ प्र व॑हतावद्यं॑ च॒ मलं॑ च॒ यत् ।
यच्चा॑भिदु॒द्रोहानृ॑तं॒ यच्च॑ शे॒पे अ॑भी॒रुण॑म् ॥ ३ ॥

ऋ० १ । २३ । २२ ॥ यजु० ६ । १७ ॥

भा०—जिस प्रकार जलों से मल धोकर बहा दिया जाता है उसी प्रकार हे (आपः) उत्तम ज्ञान और कर्मनिष्ठ आप्तपुरुषो ! आप लोग (इदं) यह (अवद्यम्) निन्दायोग्य मेरे अन्तःकरण के नीच भाव और (मलं च) मैल,

३–'इदमापः प्रवहत यत्किञ्च दुरितं मयि । यद्वाहमभि दुद्रोह यद्वा शेपे उतानृतम्' । इति ऋ० ॥

मलिन विचारों को (प्रवहत) वहा डालो और अन्तःकरण को स्वच्छ कर दो । मेरे मन का अवद्य=निन्दनीय और मलिन कार्य यही है कि (यत्) जो मैं (च) प्रायः (अभि-दुद्रोह) दूसरों के प्रति द्वेष और द्रोह किया करता हूं और (अनृतम्) असत्य भाषण करता हूं और (यत् च) जो कुछ मैं (अभीरुणम्)[1] निर्भय, निरपराधी पुरुष को (शेपे) कठोर वचन कहता हूं अथवा निर्भय होकर मैं स्वयं दूसरों को बुरा भला कहता हूं उस मल को (आपः) आप्त वचन और आप्त पुरुष दूर करें ।

एधोस्येधिषीय समिदसि समेधिषीय ।
तेजोसि तेजो मयि धेहि ॥ ४ ॥ यजु० ३८ । २५ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! आप (एधः असि) प्रकाशस्वरूप हो और मैं भी (एधिषीय) प्रकाशित होऊँ । हे परमेश्वर आप (सम्-इत् असि) अच्छी प्रकार दीप्तिमान् तेजस्वी हो और मैं भी (सम् इधिषीय) दीप्तिमान तेजस्वी होऊँ । हे भगवन् (तेजः असि) आप तेजस्वरूप हो आप कृपा करके (मयि) मुझमें (तेजः) तेज को (धेहि) धारण कराइये ।



[९० (९५)] नीच पुरुषों का दमन ।

अंगिरा ऋषिः । मन्त्रोक्ताः देवताः । १ गायत्री । २ विराट् पुरस्माद् बृहती । ३ त्र्यवसाना षट्पदाभुरिग् जगती । तृचं सूक्तम् ॥

---

१. 'उत्तमर्णाय देयं वस्तु ऋणमित्युच्यते तद् ऋणमभिप्राप्य' इति सायणः । 'अभीरुण मनपराधिनं, अनपराधी हि न बिभेति । यद्वा अभिलुनाति छिनत्ति कर्माणि, यदुच्चरितं सत् तदभीरुणम्' इति उव्वटः । निर्भयः' इति सन्दिग्धो ह्विटनिः । 'निर्भयः' इति दयानन्दः ।

४—'समेधिषीय' इति पदं यजुषि नास्ति । 'एधोऽस्येधिषीमहि' इति यजु० ॥ अस्या ऋचो यजुर्वेदे प्रजापति दीर्घतमाश्च ऋषी ।

अपि॑ वृश्च पुराणवद् व्रततेरिव गुष्पितम् ।
ओजो॑ दासस्य॑ दम्भय ॥ १ ॥ ऋ० ७ । ४० । ६ प्र० द्वि० ॥

भा०—हे राजन् अग्ने ! (व्रततेः इव) जिस प्रकार लताओं के (पुराण-वत्) पुराने (गुष्पितं) झाड़ झंकाड़ बने हुए सूखी डालियों को माली खोज २ कर काट डालता है उसी प्रकार तू (दासस्य) सदाचार और सत्पुरुषों और सभी साध्वी स्त्रियों का नाश करने वाले दुष्ट पुरुष के अंग को (अपि वृश्च) काट डाल या उसके (ओजः) बल या वीर्य का (दम्भय) विनाश कर । उसको नपुंसक कर डाल ।

व॒यं तद॑स्य॒ संभृ॑तं॒ वस्विन्द्रे॑ण॒ वि भ॑जामहै ।
म्ला॒पया॑मि भ्र॒जः शि॒भ्रं वरु॑णस्य व्र॒तेन॑ ते ॥ २ ॥

भा०—(वयम्) हम राष्ट्रवासी प्रजाजन (अस्य) इस दुष्ट पुरुष के (संभृतम्) इकट्ठे किये (वसु) धन को (इन्द्रेण) राजा के साथ मिल कर (वि भजामहै) विशेष रूप से बांट ले। हे दुष्ट पुरुष ! मैं (वरुणस्य) सर्वश्रेष्ठ राजा के (व्रतेन) बनाई शासनव्यवस्था के अनुसार (ते) तेरे (भ्रजः) चमचमाते धन सम्पत्ति के (शिभ्रम्) गर्व को अभी (म्लापयामि) विनष्ट किये देता हूँ। जो दुष्ट पुरुष अपनी धन के गर्व से दूसरों पर अत्याचार करे और औरों के परिवारों की इज़्ज़त ले राजा अपने क़ानून से उसका धन हर ले उसके सम्पत्ति का एक भाग राजा अपने कोष में ले और एक भाग समाज के हितकारी कार्य में लगाये ।

[६०] २—'वस्विन्द्रेण वि भजेमहि नभन्तामन्यके समे' इति विशिष्टः पाठभेदः ऋ०। प्रथमद्वितीययोर्ऋचो ऋग्वेदे ना० ६: । काण्व ऋषिः । इन्द्राग्नी देवते ।

यथा शेपो अपायांतै स्त्रीषु चासदनांवयाः ।
अवस्थस्य क्नदीवतः शाङ्कुरस्य नितोदिनः ।
यदाततमव तत्तनु यदुत्ततं नि तत्तनु ॥ ३ ॥

भा०—हे राजन् ! (अवस्थस्य) नीचे दर्जे के (क्नदीवतः) गंवारों की तरह बकने और सब को कलह और लड़ाई, दंगा, फ़साद के लिये ललकारने वाले; (शाङ्कुरस्य) कील के समान सब के दिल में चुभनेवाले और (नि-तोदिनः) सब को हर प्रकार से पीड़ा या व्यथा देनेवाले का (यत्) जो धन, मकान आदि सम्पत्ति अथवा बल (आ-ततम्) फैला हो, (तत्) उसको (अव तनु) घटा दो, और (यत् उत्-ततम्) जो पद या मान उन्नत अवस्था तक पहुंचा हो उसको (नि तनु) नीचा कर दे । जिससे उसका (शेपः) काम सम्बन्धी मद, दुराचार करने का बल (अप-अयातै) दूर हो जाय और वह (स्त्रीषु) जनसमाज में रहने वाली स्त्रियों तक (अनावयाः असत्) न पहुंच सके और उनको प्रलोभन में फांस कर या बल, पद या अधिकार से दबाकर स्त्रियों की इज़्ज़त न ले सके । जो पुरुष दुराचारी अपने दुराचार से स्त्रियों पर बलात्कार करे और आचार में हीन, लोगों से कलहकारी होकर और लोगों को अपने दुराचार के कारण कष्ट देता है उसकी धन सम्पत्ति छीन ली जाय, उसका मान, पद, अधिकार घटा दिया जाय और समाज से बाहर कर दिया जाय जिससे उसके हाथों स्त्रियों का मान नष्ट न हो । ग्रीफिथ ने तीसरा मन्त्र अश्लील जानकर छोड़ दिया है । कारण, सायण ने इस सूक्त को कौशिक सूत्र का विनियोग देखकर व्यभिचारी 'जार' के पक्ष में बड़ी निर्लज्जता से लगाया है । ह्विटनी भी उसी प्रवाह में बह गया है । कौशिक ने केवल यह लिखा है कि इस सूक्त से 'बाधकं धनुर्विष्यति आशयेऽश्मानं प्रहरति ।' व्यभिचारी को न आने देने के लिये धनुष से बाण फेंके या उसके संकेत स्थान पर पत्थरों से ठोके । कदाचित् कौशिक का यह अभिप्राय

है कि व्यभिचारी आदमी को वेद के इस मन्त्रकी रुह से धनुष बाण से मारने और पत्थरों से उसको 'संगसार' करने का दण्ड देना चाहिये। यह उचित भी जान पड़ता है। मनु ने स्त्रीसंग्रह प्रकरण में—[मनु० २ । ३५२-३७२] दुराचारी स्त्री-व्यसनी पुरुष के कठोर दमन का विधान लिखा है।

॥ इति अष्टमोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तानि नव, ऋचश्च चतुर्विंशतिः]



[९१ (९६)] राजा के कर्त्तव्य ।

अथर्वा ऋषिः । चन्द्रमाः (राजा) देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

इन्द्रः॑ सुत्रामा॒ स्ववाँ॒ अवो॑भिः सुमृडी॒को भ॑वतु वि॒श्ववे॑दाः ।
बाध॑तां॒ द्वेषो॒ अभ॑यं नः कृणोतु सु॒वीर्य॑स्य॒ पत॑यः स्याम ॥ १ ॥

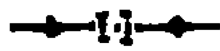
ऋ० ६ । ४७ । १२ ॥ १० । १३१ । ६ ॥ यजु० २० । ५१ ॥

भा०—(सु-त्रामा) प्रजा की उत्तम रीति से रक्षा करने हारा (इन्द्रः) राजा भी (अवोभिः) रक्षा करने के नाना उपायों से ही (सु-अवान्)[1]

इतः परसुधियः प्रमाणम् ॥

[९१] १. 'स्वऽवान्' इति पादपाठः । तत्र स्ववान् धनवानिति सायणादयः 'बहवः स्वे विद्यन्ते यस्य सः' इति दयानन्दः। परन्तु 'सुत्रामा, सुमृडीक, सुवीर्यस्य इति सर्वत्र 'सु' प्रयोगे स्वपात् इत्यत्रापि 'सुऽअवान्' इत्येव सन्धिच्छेदः साधीयान् । तथाच ह्विटनि 'इन्द्रः सुत्रामा स्ववान्'='well saving, well aiding' इत्यादि । 'सु' उपपदादवतेर्बहुशः प्रयोगाः । यथा—'सुशर्माणं स्ववसं जरद्विषम्' इति ऋग्वेदे (५ । ८ । २) अग्नेर्विशेषणम् । ईळेऽग्निं स्ववसं नमोभिः' (ऋ० ५ । ६० । १) 'स्वायुधं स्ववसं

प्रजा की उत्तम रीति से रक्षा करने में समर्थ होता है। अथवा (अवोभिः) रक्षा के साधनों से (स्वऽवान्) राजा स्व=धन सम्पत्ति और राष्ट्र सें सम्पन्न हो जाता है अथवा रक्षा के उपायों से ही बहुत से जन उसके अपने हो जाते हैं। (विश्व-वेदाः) और वह समस्त प्रकारों के धनसञ्चय कर के राष्ट्र के लिये (सु-मृडीकः) उत्तम रीति से सुखकारी (भवतु) हो। राजा (द्वेषः) आपस में द्वेषकारी, अप्रीतिं करने या प्रेम का नाश करनेवाले कलहकारी लोगों को (बाधताम्) पीड़ित या दण्डित करे। और (नः) हमें (अभयं) समस्त राष्ट्रों में भय रहित (कृणोतु) कर दे जिससे हम निर्भय विचरते और व्यापार करते हुए भी (सु-वीर्यस्य) उत्तम बल सामर्थ्य के (पतयः) पति, स्वामी, (स्याम) बने रहे। परमात्मपक्ष में स्पष्ट है।



[९२ (९७)] उत्तम राष्ट्रपालक राजा।

अथर्वा ऋषिः। चन्द्रमाः (राजा) देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। एकर्चं सूक्तम् ॥

स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मदाराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु ।
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ १ ॥

ऋ० ६ । ४७ । १३ ॥ १० । १३१ । ७ ॥ यजु० २० ॥

भा०—(सः) वह (सु-त्रामा) राष्ट्रका उत्तम रक्षक, (सु-अवान्,

सुनीथं' इति (ऋ० १० । ४७ । २ ॥) इन्द्र विशेषणम् । तत्र सूपपदादवतेरसुन्नौणादिकः इति 'स्ववान्' अन्यच्च, 'अवोभिः' स्ववान् इत्यत्र 'सु-अवान्' इत्येव पदच्छेदः सूपयोगः । अस्याः ऋग्वेदे सुकीर्त्तिः कात्तीवत ऋषिः ॥

[९२] १–ऋग्वेदेऽस्याऋचः पूर्वार्धपरार्धयोर्विपर्ययेण पाठः । अस्या ऋग्वेदे सुकीर्त्तिः कात्तीवत ऋषिः ॥

स्व-गान्) उत्तम रक्षा साधनों से सम्पन्न अर्थशक्ति से सम्पन्न या बहुत से सहायकों से युक्त होकर (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान्, प्रतापी राजा (द्वेषः) हमारे शत्रुओं को (अस्मत्) हम से (आरात्) दूर से (चित्) ही (सनुतः) गुप्त अप्रत्यक्ष, साम, दाम, भेद आदि सुगूढ उपायों द्वारा (युयोत) भेद डाले । (वयम्) ऐसे गुणवान्, बुद्धिमान् (यज्ञियस्य) यज्ञ=पूजा और सत्कार के योग्य राजा के (सु-मतौ) उत्तम शासन या सन्मति में रहते हुए हम (भद्रे) कल्याण और सुखकारी (सौमनसे) शुभ-मनोभाव में (स्याम) रहें अर्थात् उनके प्रति सदा अच्छा मनोभाव बनाये रक्खें । यदि राजा शत्रुओं से प्रजा की रक्षा न करके उनसे प्रजा को नाश करता और निर्धन करता है या प्रजा को व्यर्थ शत्रु से युद्ध कलह करके नाश कराता है तो प्रजा तंग आकर राजा का सत्कार नहीं करती और उसके प्रति दुर्भाव से रहती और द्रोह करती है ।



[९३ (९५)] राजा के पराक्रम से शत्रुओं का विजय ।

भृग्वङ्गिरा ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

इन्द्रे॑ण म॒न्युना॑ व॒यम॒भि ष्या॑म पृतन्य॒तः । घ्नन्तो॑ वृ॒त्राण्य॑प्र॒ति ॥१॥

भा०—(मन्युना) ज्ञान दीप्ति और विवेक और असह्य तेज या प्रताप से युक्त मन्युस्वरूप (इन्द्रेण) इन्द्र राजा के साथ (वयम्) हम (पृतन्यतः) सेना से युद्ध करनेहारे शत्रुओं को और (वृत्राणि) सब प्रकार के विघ्नों और उपद्रवों को (अप्रति) सर्वथा, निःशेष रूप से (घ्नन्तः) विनाश करते हुए (अभि स्याम) जीत लें ।



[९३] १-'इन्द्रेण सयुजा वयं सासह्याम' इति तै० सं० । 'मन्युना युजा वयं सवह्याम पृतन्यतः घ्नता वृत्राण्यप्रति' इति मै० सं० ॥

[९४ (९८)] राजा का कर्त्तव्य, प्रजाओं में प्रेम उत्पन्न करना ।

अथर्वा ऋषिः । सोमो देवता । अनुष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

ध्रुवं ध्रुवेण हविषाव सोमं नयामसि ।
यथा न इन्द्रः केवलीर्विशः संमनसस्करत् ॥ १ ॥

ऋ० १० । १७३ । ६ यजु० ७ । २५ ॥

भा०—हम लोग (ध्रुवेण) ध्रुव, स्थिर (हविषा) अन्न आदि के अंश से (ध्रुवम्) स्थिर, दृढ़ (सोमम्) प्रजा के सन्मार्ग में प्रेरक शासक को (अव नयामसि) अपने अधीन करते या स्वीकार करते हैं, अपनाते हैं। (यथा) जिससे (नः) हमारा (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान्, दर्शनीय, विघ्न-नाशक राजा (केवलीः) अपनी अनन्य साधारण (विशः) प्रजाओं को (सं-मनसः) अपने साथ मनोयोग देनेवाली, एकचित्त, समानचित्त परस्पर का प्रेमी (करत्) बनावे, उनको संगठित और सुदृढ़ करे ।



[९५ (१००)] जीव के आत्मा और मनका वर्णन ।

कपिञ्जल ऋषिः । गृध्रौ देवते । अनुष्टुप् छन्दः । तृचं सूक्तम् ॥

उदस्य श्यावौ विथुरौ गृध्रौ द्यामिव पेततुः ।
उच्छोचनप्रशोचनावस्योच्छोचनौ हृदः ॥ १ ॥

भा०—(अस्य) इस जीव के (विथुरौ) व्यथादायी या व्यथित

[९४] १–'ध्रुवं ध्रुवेण मनसा वाचा सोममवनयामि । अथा न इन्द्र इद्विशोऽसपत्नाः समनस्करत्' । इति पाठभेदाः, यजु० । (द्वि०) आभिसोमंमृशामसि । 'अथोत इन्द्रः केवलीर्विशो बलिहृतस्करत्' इति पाठः ऋ० । तत्र यजुर्वेदे भरद्वाज ऋषिः । ऋग्वेदेऽस्याः ध्रुव ऋषिः । राज्ञः स्तुतिर्देवता ।

(गृध्रौ) लोकान्तर की आकांक्षा करनेवाले आत्मा और मन अथवा आत्मा और प्राण (श्यावौ गृध्रौ इव) दो श्यामरंग के गीध जिस प्रकार (द्याम्) आकाश में उड़ते हैं उस प्रकार अत्यन्त गतिशील, तीव्र वेगवान् होकर (उत् पेततुः) ऊपर उठते हैं । दोनों उस समय उसके (हृदः) हृदय को अपने तीव्रवेग और ताप से (उत्-शोचनौ) अति अधिक कान्ति देने वाले होते हैं इसलिये उनका नाम भी (उच्छोचन-प्रशोचनौ) उत्शोचन और प्रशोचन हैं । वे दोनों उस समय हृदय के अग्रभाग को प्रदीप्त करते हैं । और शरीर को संतप्त करते हैं ।

"तस्यहैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति । चक्षुषो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति । प्राणमनु उत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति इत्यादि ।" बृहदारण्यकोपनिषत् ४ । ४ । २ ॥

देहावसानकालमें आत्मा की समस्त शक्तियां आत्मा में लीन होकर एक हो जाती हैं । और तब हृदय का अग्रभाग प्रकाशित होता है । वह आत्मपुंज हृदय या आंख या ब्रह्माण्ड भाग से निकल जाता है । और आत्मा के साथ इन्द्रिय गण भी शरीर को छोड़ देते हैं । बृहदारण्यक का वह स्थल विशेष दर्शनीय है ।

अहमेनावुदतिष्ठिपं गावौ श्रान्तसदाविव ।
कुर्कुराविव कूजन्तावुदवन्तौ वृकाविव ॥ २ ॥

भा०—(श्रान्त सदौ गावौ इव) थककर या हारकर बैठे हुए बैलों को जिस प्रकार उनका गाड़ीवान पुनः उनकी पूंछ मरोड़कर फिर उठाता है और जिस प्रकार (कूजन्तौ) गुर्राते हुए (कुर्कुरौ-इव) कुत्ते ऊपर को उछलते हैं और जिस प्रकार (उत्-अवन्तौ) ऊपर को झपटते हुए

(वृकौ-इव) भेड़िये उछलते हैं उसी प्रकार (अहं) मैं परमात्मा शरीर के जीर्ण हो जाने पर (एनौ) इन दोनों जीव और मन को (उत्-अतिष्ठिपम्) ऊपर को खैंच लेता हूं ।

आतोदिनौ नितोदिनावथो संतोदिनावुत ।
अपि नह्याम्यस्य मेढ्रं य इतः स्त्री पुमान् जभार ॥३॥

भा०—ये दोनों मरण काल में शरीर से निकलते समय इस शरीर में (आ-तोदिनौ) सर्वत्र व्यथा उत्पन्न करते हैं । (नि-तोदिनौ) खूब ही तीव्र वेदना उत्पन्न करते हैं, (सं-तोदिनौ) समस्त अंगों में व्यथा उत्पन्न किया करते हैं । (यः) जो भी जीव (स्त्री) चाहे वह स्त्री हो और (पुमान्) चाहे वह पुरुष हो तो भी (इतः) इस लोक से (जभार१) दूसरे लोक में जाता है । मैं मृत्यु रूप व्यवस्थापक ईश्वर (अस्य) इस शरीरधारी प्राणि के (मेढ्रम्) लिंग भाग को (अपि नह्यामि) बांध देता हूं । मरणासन्न जीव को पाखाना तो आ जाता है, पर मूत्र जीवन के अन्तिम दो दिनों में नहीं आता ।

'तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवतः इदं च परलोकस्थानं च । सन्ध्यं तृतीयं स्थानं तस्मिन् सन्ध्ये स्थाने पश्यति' इत्यादि बृहदारण्यक प० ४ । ३ । ६ ॥ कौशिक सूत्रकारने मण्डूक का शिर काटने में इस मन्त्र का विनियोग किया है । ठीक है । मनोविज्ञान और जीवनविज्ञान के जानने के लिये मेंडक का शिर काट कर नाड़ी और प्राणों की गति के उत्तम निरीक्षण करने की विधि वर्तमान के वैज्ञानिकों के अनुसार प्राचीन काल में थी । जिसको सायणादि ने नहीं समझा ।



३–'स्त्रीम्' इति ह्विटनिकामितः पाठः । (सच तस्याज्ञानविलासः ।)

१. हृगतौ इत्यस्या 'जभार' गच्छामीत्यर्थः ॥

[९६ (१०१)] जीव की शरीरप्राप्तिका वर्णन ।

कपिंजल ऋषिः । वयो देवता । अनुष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

असंदन् गावः सदनेऽपप्तद् वसतिं वयः ।
आस्थाने पर्वता अस्थुः स्थाम्नि वृक्कावतिष्ठिपम् ॥ १ ॥

भा०—(गावः) जिस प्रकार गौवें अपने (सदने) घर में (असदन्) आकर बैठती हैं उसी प्रकार (गावः) इन्द्रिय गण (सदने) अपने आयतन, भोगाश्रय शरीर में (असदन्) आकर बैठ जाती हैं। और जिस प्रकार (वयः) पक्षी (वसतिम्) अपने घोंसले में आकर बैठता है उसी प्रकार यह जीवात्मा अपने (वसतिम्) वासस्थान देह को (उपपसत्) प्राप्त कर लेता है। और उस देह में (पर्वताः) पोरु वाले अंगों में स्थित हड्डियां भी (आ-स्थाने) ठीक २ स्थान पर (तस्थुः) स्थिर हो जाती हैं और (स्थाम्नि) ठीक २ स्थान पर मैं परमेश्वर जीव के शरीर में (वृक्कौ) गुर्दे आदि अंगों को (अतिष्ठिपम्) स्थापित करता हूँ।

गर्भाशय में प्रथम इन्द्रियें फिर जीव आता है और फिर हड्डियें और उसके पश्चात् गुर्दे और फेफड़े आदि बनते हैं।



[९७ (१०२)] ऋत्विजों का वरण ।

यज्ञसम्पूर्णकामोऽथर्वा ऋषिः । इन्द्राग्नी देवते । १-४ त्रिष्टुभः । ५ त्रिपदार्षी भुरिग् गायत्री । त्रिपात् प्राजापत्या बृहती, ७ त्रिपदा साम्नी भुरिक् जगती । ८ उपरिष्टाद् बृहती । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

---

[९६] १—'वृक्कावतिष्ठिपम्' इति सायणाभिमतः पाठः। तत्र सायणकृतोऽर्थो हास्यजनकः।

यदद्य त्वा प्रयति यज्ञे अस्मिन् होतश्चिकित्वन्नवृणीमहीह ।
ध्रुवमयो ध्रुवमुता शविष्ठ प्रविद्वान् यज्ञमुप याहि सोमम् ॥१॥
ऋ० ३ । २९ । १६ ॥ यजु० ८ । २० ॥

भा०—हे (चिकित्वन्) ज्ञानवान्, विद्वान्, ब्रह्मन् ! हे (होतः) ज्ञान प्रदान करने हारे देव, विद्वान् पुरुषों को उपदेश करने और उनको अपने उपदेशों के प्रति आकर्षण करने में समर्थ ! (यत्) क्योंकि हम यजमान लोग (इह) इस अवसर पर (अद्य) आज (अस्मिन्) इस (यज्ञे) यज्ञ के (प्रयति) प्रारम्भ होने के समय (अवृणीमहि) ऋत्विक् रूप से वरण करते हैं । इसलिये आप (ध्रुवम्) निश्चय पूर्वक (अयः) यज्ञ करें या यज्ञ में आवें (उत) और, हे (शविष्ठ) शक्तिमन् ! आप (प्र-विद्वान्) उत्तम कोटि के विद्वान् होकर (सोमम् यज्ञम्) सोम यज्ञ में (ध्रुवम्) अवश्य (आ उप याहि) आइये, पधारिये । अथवा (हे शविष्ठ ! यज्ञं प्रविद्वान् ध्रुवं सोमम् उपयाहि) हे शक्तिमन् ! आप यज्ञ को भली प्रकार जानते हुए सोम यज्ञ में पधारें । अथवा सोम-रस का पान अवश्य करें ।

अध्यात्म पक्ष में; परमात्मा के प्रति सम्बोधन करके लगाता है ।

समिन्द्र नो मनसा नेष गोभिः सं सूरिभिर्हरिवन्त्सं स्वस्त्या ।
सं ब्रह्मणा देवहितं यदस्ति सं देवानां सुमतौ यज्ञियानाम् ॥ २ ॥

[६७] १–(तृ०) 'ध्रुवमयो ध्रुवमशमिष्ठाः प्रविद्वान्' इति सायणाभिमतः पाठः । (द्वि०, तृ०) 'चिकित्वोऽवृणीमहीह । ध्रुवमया ध्रुवमुता शमिष्ठाः' इति ऋग्वेदे पाठभेदः । 'वयं हि त्वा प्रयति यज्ञे अस्मिन्नग्ने होतारमवृणीमहीह । ऋधगया ऋधगुता शमिष्ठाः प्रजानन् यज्ञमुपयाहि विद्वान् ॥ इति याजुषः पाठः । (तृ०) ऋधगयाट्' (च०) विद्वान् प्रजानन्नुपयाहि यज्ञम् । ऋग्वेदेऽस्या विश्वामित्र ऋषिः ।

२–(प्र०) 'समिन्द्र णो' (द्वि०) 'सं सूरिभिर्वः सं स्वस्ति' (च०) 'सुमत्या

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! परमेश्वर ! (नः) हमें (मनसा) मननशील चित्त और (गोभिः) इन्द्रियों सहित या वेदवाणियों द्वारा (सं नेप) समान रूप से उत्तम मार्ग में ले चल। हे इन्द्र ! राजन् ! हमें (सूरिभिः) ज्ञानी विद्वानों के साथ (सं नेप) मिला, हे (हरिवन्) दुःखहारी ज्ञान और कर्मनिष्ट विद्वन् ! हमें (स्वस्त्या) कल्याणमय उत्तम फल से (सं नेप) युक्त कर । और (ब्रह्मणा) ब्रह्म, वेद, ज्ञान द्वारा (यत्) जो कुछ (देवहितं) विद्वानों और शिल्पज्ञ श्रेष्ठ पुरुषों को हितकारी या देव=दिव्य पदार्थों में स्थित गुण या ज्ञानी पुरुषों में विद्यमान ज्ञान और तप है उसको भी हमें (सं नेप) प्राप्त करा और (यज्ञियानां) यज्ञ के योग्य, यज्ञशील (देवानाम्) देव विद्वान् पुरुषों के (सु-मतौ) शुभ सम्मति में हमें (सं नेप) चला । गौण रूप से धनैश्वर्य्य आदि सम्पन्न विद्वान् सत्तावान् गृहस्थ के प्रति प्रजाओं का यह वचन भी उपयुक्त है ।

यानावह उशतो देव देवांस्तान् प्रेरय स्वे अग्ने सधस्थे ।
जक्षिवांसः पपिवांसो मधून्यस्मै धत्त वसवो वसूनि ॥३॥
यजु० ८ । १९ ॥

भा०—हे अग्ने ! अग्नि के समान दुष्टों के संतापक (देव) राजन् ! तू (यान्) जिनको (उशतः) नाना पदार्थों धन, गौ, आजीविका दान दक्षिणा आदि के अभिलाषा करने वाले (देवान्) विद्वान् शिल्पी और

यज्ञियानाम्' इति ऋग्वेदीयः पाठभेदः । (प्र०) 'समिन्द्र णो', (द्वि०) संसूरिभिर्मघवन्' (तृ०) 'सं ब्रह्मणा देवकृतं' (च०) 'यज्ञियानां स्वाहा' इति याजुषाः पाठभेदाः ऋग्वेदेऽस्या अत्रिः ऋषिः ॥

३–(प्र०) 'याँ आवह' (द्वि० तृ०) 'पपिवांसश्च विश्वेऽसुंघर्मं स्वरातिष्ठताऽनु' इति यजु० ॥ (द्वि०) 'प्रेरय पुनरग्ने स्वे सधस्थे' इति पैप्प० सं० ॥

गुणी विज्ञ पुरुषों को (आ-अवहः) स्वयं अपने समीप या अपने राज्य में बुलाता है (तान्) उनको (स्वे) अपने २ (सधस्थे) संघों में रहने की (प्रेरय) प्रेरणा कर। हे (वसवः) राष्ट्र में निवास करने हारे विद्वान् शिल्पी गुणी विज्ञ पुरुषो ! तुम लोग इस राजा के राष्ट्र में (जक्षि-वांसः) उत्तम अन्नों को खाते हुए और (मधूनि) मधुर दुग्ध आदि पदार्थों का (पपि-वांसः) पान करते हुए (वसूनि) नाना प्रकार के वासयोग्य धन, रत्न, सुवर्ण और मकान आदि को (धत्त) स्वयं धारण करो और राजा को भी प्रदान करो।

सुगा वो देवाः सदना अकर्म य आजग्म सवने मा जुषाणाः ।
वहमाना भरमाणाः स्वा वसूनि वसुं घर्मं दिवमा रोहतानु ॥४॥

यजु० ८ । १८ ॥

भा०—राजा का विद्वान् गुणज्ञों के प्रति वचन। हे (देवाः) विद्वान् गुणज्ञ पुरुषो ! (वः) आप लोगों के लिये (सुगा) सुख से प्राप्त करने, एवं निवास करने योग्य (सदना) घर (अकर्म) बना देते हैं। (ये) जो आप लोग (जुषाणाः) प्रेम से युक्त होकर (सदने) इस राष्ट्रमय यज्ञ या मेरी प्रेरणा में आप लोग (आ-जग्म) आते हैं वे आप लोग (स्वा) अपने २ योग्य (वसूनि) वास करने के निमित्त उचित वेतन-आदि धनों को (भरमाणाः) लेते हुए (वसु) अपने विज्ञान और शिल्प रूप (घर्मम्) प्रकाशमान (दिवम्) हुनर को (अनु आ रोहत) मेरे राष्ट्र के अनुकूल या आवश्यकतानुकूल प्रादुर्भाव करो। अथवा (वसु घर्मं दिवं आ रोहत अनु) वास योग्य, प्रकाश से युक्त स्वर्ग समान उत्तम पद पर आरूढ़

४—'य आजग्मेदं सवनं जुषाणाः' (तृ०) 'वहमाना हवींष्यस्मे धत्त-वसवो वसूनि स्वाहा' इति यजु०। (प्र०) 'स्वगा वै देवा सदनं कृणोमि' इति तै० सं०। 'कृणोमि य आचष्टेदं सवनंजुषाण', 'दुघास्त्वं घर्मं तमु तिष्ठतानु' इति पैप्प० सं० ॥

होओ। तीसरा चौथा दोनों मन्त्र अध्यात्म पक्ष में बड़े स्पष्ट हैं। (१) (यान् उशतः आवह हे देव तान् अग्ने स्वे सधस्थे प्रेरय) हे देव आत्मन्! अग्ने मुख्य प्राण! सबके नेतः! विषयों की अभिलाषा करने वाले जिन इन्द्रियों को तुम धारण करते हो उनको शरीरप्रवेशकाल में अपने २ स्थान में प्रेरित करते हो। (सः वः जक्षिवांसः पपिवांसो मधूनि अस्मै वसूनि धत्त) हे वासकारी प्राणो! तुम इस देह में कर्म फल भोगते और विषय रस का पान करते हुए भी मधुर ज्ञानों को आत्मा को प्रदान करो। (२) (हे देवाः वःसुगा सदनानि अकर्म ये मे सर्वं जुषाणाः आजग्म) हे प्राणगण! देवो! जो आप मुझ आत्मा के जीवनमय यज्ञ में मेरे से प्रीति रखते हुए आ गये हो तो तुम्हारे लिये सुख से गमन करने योग्य इन्द्रिय आयतनों को मैंने बना दिया है। (स्वा वसूनि वहमानाः भरमाणाः वसु घर्मं दिवम् अनु आरोहत) अपने २ प्राणों को धारण करते हुए और ज्ञान को धारण करते हुए पुनः प्रकाशस्वरूप मोक्षानन्द को प्राप्त करो। इसी शैली पर यह वचन ईश्वर का मुक्त और भक्त आत्माओं के प्रति भी जानना चाहिये।

यज्ञं-यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं गच्छ। स्वां योनिं गच्छ स्वाहा ॥ ५ ॥
यजु० ८ । २२ ॥

भा०—हे (यज्ञ) आत्मन्, समाधि द्वारा ईश्वर के साथ संगति लाभ करनेहारे आत्मन्! तू (यज्ञम्[१]) उस पूज्य यज्ञरूप परमेश्वर को (गच्छ) जा, प्राप्त हो। हे आत्मन्! तू तो उसी (यज्ञ-पतिम्) समस्त यज्ञों, जीवों के पालक प्रभु को (गच्छ) प्राप्त कर। (स्वाहा) यह कितना अच्छा आदेश है कि तू (स्वां) अपने (योनिम्) परम आश्रयस्थान, स्वयोनि, आत्मभू स्वयम्भू, प्रभु को ही (गच्छ) प्राप्त हो। बस यही (स्वाहा) सबसे उत्तम आहुति है कि आत्मा को परमात्मा में समर्पण करे।

५—१ यज्ञं परमात्मानं विष्णुमिति सायणः।

एष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः । सुवीर्यः स्वाहा ॥ ६ ॥
यजु० ८ । २२ ॥

भा०—हे (यज्ञ-पते) समस्त यज्ञों के स्वामिन् ! (एप) यह भी महान् (यज्ञः) ब्रह्माण्ड और यह देह और यह आत्मा जिसमें इन्द्रिय मन प्राण आदि संगत है अथवा यह यज्ञ जो समाधि काल में तेरा संग लाभ हुआ है यह (ते) तेरा ही है । यही स्वतः (सह-सूक्तवाकः) सुन्दर २ स्तुति वचनों, मन्त्रों द्वारा वर्णन किया जाता है और (सु-वीर्यः) यही बड़ा बल आत्मबलशाली दृढ़ आत्मा है । (स्वाहा) बस, इसमें यह आत्मा हे परमात्मन् ! तेरे भीतर अपने को लीन कर देता है ।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ गीता ॥

दोनों मन्त्रों का याज्ञिक पक्ष स्पष्ट है ।

वषड्ढुतेभ्यो वषडहुतेभ्यः ।
देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित ॥ ७ ॥
यजु० २ । २० । अस्या उत्तरार्धः यजु० ८ । २१ । अस्या० पूर्वार्धः ॥

भा०—यज्ञ में (हुतेभ्यः) हवन करने हारे विद्वानों को (वषट्) दान दिया जाय और (अहुतेभ्यः) जो विद्वान् होता न भी बनें उनको भी सत्कारार्थ (वषट्) दान किया जाय । और इसके पश्चात् यजमान कहे—हे (देवाः) विद्वान पुरुषो ! आप लोग (गातुविदः) सब मार्गों को जानते हैं । आप लोग (गातुं) मार्ग को (वित्त्वा) भली प्रकार

६—'सुवीरः स्वाहा' इति तै० सं० । सुवीरस्तेन सम्भव भ्राजं गच्छ इति मै० सं० । 'सर्ववीरस्तं जुषस्व स्वाहा' इति यजु० । 'एष ते यज्ञो यजमानः स्वाहा सूक्तनमो वाकः सुवीरः स्वाहा' इति पैप्प सं० ॥
७—५, ६, ७ एषां त्रयाणां मन्त्राणामत्रिर्मनसस्पतिर्वा ऋषिः । यजु० ।

जानकर (गातुम् इत) अपने घरके मार्ग में पधारो । अर्थात् यज्ञ में आये विद्वानों को दान दक्षिणा देकर यजमान आदर पूर्वक उनको उत्तम मार्ग बतलाकर मार्ग की सुविधाएं करके उनको विदा करे ।

अध्यात्म पक्ष में—हुत और अहुत दोनों प्रकार के साधकों के लिये 'वषट्' वही आत्मसमर्पण का मार्ग है । हे (देवाः) विद्वान योगिजनों ! आप लोग (गातुविदः) गन्तव्य परमपद को जानने हारे हो, इसलिये (गातुं वित्वा) उस गन्तव्य मोक्ष पद को जानकर (गातुम् इत) उस परम गन्तव्य मोक्ष पद को प्राप्त करो । अध्वा, मार्ग, गातु, सेतु इत्यादि सब शब्द परम देवमार्ग परायण; मोक्ष ब्रह्मके वाचक हैं ।

मनसस्पत इमं नो दिवि देवेषु यज्ञम् ।
स्वाहा दिवि स्वाहा पृथिव्यां स्वाहान्तरिक्षे स्वाहा वाते धां स्वाहा ॥८॥

यजु० ८ । २१ उत्तरार्धः ॥

भा०—(मनसस्पते) हे मननशील आत्मा और चित्त के स्वामिन् परमात्मन् ! अन्तर्यामिन् ! मैंने (देवेषु) देव इन्द्रियगणों में व्यापक (इमं यज्ञम्) इस यज्ञस्वरूप आत्मा के (दिवि) तेजस्वरूप परम मोक्षपद में (धां) धर दिया, उसी में अर्पित कर दिया । यह उसी (दिवि) परम तेजोमय ब्रह्म में (स्वाहा) अच्छी प्रकार आहुत (स्वाहा) लीन हो जाय (पृथिव्यां स्वाहा) उस सर्वाधार महान् ब्रह्म में यह आत्मा (स्वाहा) स्वयं लीन हो (अन्तरिक्षे) सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक परब्रह्म में (स्वाहा) यह स्वयं लीन हो (वाते) सर्व प्राणरूप सर्वाधार प्रभु में (स्वाहा) यह आत्मा लीन हो ।

८—'मनसस्पते इमं देव यज्ञं स्वाहा वाते धाः' इति याजुषः पाठः । 'मनसस्पते देवा देवेषु यज्ञं स्वाहा वाचि स्वाहा वातेधाः' इति तै० सं० । 'मनसस्पते सुधात्विमं यज्ञं दिवि देवेषु वातेधाः स्वाहा' इति मै० सं० ॥

[९८ (१०४)] अध्यात्म यज्ञ ।

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ता बर्हिर्देवता । विराट् त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

सं बर्हिर॒क्तं ह॒विषा॑ घृ॒तेन॒ समिन्द्रे॑ण॒ वसु॑ना॒ सं म॒रुद्भिः॑ ।
सं दे॒वैर्वि॒श्वदे॑वेभिर॒क्तमिन्द्रं॑ गच्छतु ह॒विः स्वाहा॑ ॥ १ ॥

यजु० २ । २२ ॥

भा०—(हविषा) ज्ञान और (घृतेन) तेज से (सम् अक्तं) सम्पन्न होगया है, तेजोमय या प्रकाशित होगया है। वह (इन्द्रेण) ऐश्वर्यवान् मुख्य (वसुना) प्राण और (मरुद्भिः) अन्य गौण प्राणों से भी (सम् अक्तं) सम्पन्न होगया है। वह (देवैः विश्वदेवेभिः) देव विद्वानों और समस्त दिव्य शक्ति और समस्त कामनाओं से (सम् अक्तम्) सम्पन्न होकर यज्ञ में आहुति के निमित्त (बर्हिः) धान्य के समान बीजभूत मूल एवं शमदम आदि से वृद्धिशील आत्मा (हविः) स्वयं ज्ञानमय हवि होकर (इन्द्रम्) उस ऐश्वर्यमय परमेश्वर को (गच्छतु) प्राप्त हो। (स्वाहा) यह आत्मा स्वयं अपने प्रति इस प्रकार कहता है या यही सबसे उत्तम आहुति है।



[९९ (१०५)] गृहस्थ को उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । जाभिभूता वेदिर्मन्त्रोक्ता देवता । उत्तरा भुरिक् त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

---

[९८] १—(प्र०) 'संबर्हिरङ्क्तां' (द्वि०) 'समादित्यैर्वसुभिः सं:' (तृ०) समिन्द्रो विश्वदेवेभिरङ्क्तां (च०) दिव्यं नभो गच्छतु स्वाहा'' इति याजुषाः पाठभेदाः ।

परि॑ स्तृणीहि॒ परि॑ धेहि॒ वेदिं॒ मा जा॒मिं मो॑षीरमु॒या शया॑नाम्।
हो॒तृ॒षद॑नं॒ हरि॑तं हिर॒ण्ययं॑ नि॒ष्का ए॒ते यज॑मानस्य लो॒के ॥ १ ॥

भा०—हे यजमान गृहस्थ ! जिस प्रकार यज्ञकी वेदि को कुशाओं से आच्छादित किया जाता है उसी प्रकार (वेदिम्) पुत्र आदि सन्मान प्राप्त करने के साधन स्वरूप इस स्त्री को (परि स्तृणीहि) सब प्रकार से आच्छादित कर और (परि धेहि) सब प्रकार से उसे धारण और पोषण कर। (अमुया[1]) इस (शयानां) सोती हुई (जामिं) सन्तान उत्पन्न करने हारी स्त्री को (मा मोषीः) कभी मत छल, उससे कुछ मत छिपा, उससे चोरी करके कुछ मत कर। (होतृ-सदनं) होता, सब के देने वाले परमेश्वर या प्रजापति का सदन, स्थान (हरितम्) बड़ा मनोहर, हरियाले धान्यों से पूर्ण और (हिरण्ययम्) सुवर्ण से भरपूर है। और (यजमानस्य) यज्ञ करने हारे, गृहस्थ सम्पादन करने वाले पुरुष के (लोके) स्थान में भी (एते) ये नाना प्रकार के (निष्काः) सुवर्ण के सिक्के हैं। जब सब धन धान्य संपूर्ण और सुवर्ण से भर पूर ईश्वर के खज़ाने हैं और गृहस्थ के घर में भी नाना धन हैं तो उसे चाहिये कि अपनी स्त्री को अच्छे वस्त्र पहनावे और उत्तम भोजन खिलावे, पुष्ट करे।

'योषा वै वेदिः वृषा अग्निः' श० १। २। ५। १२॥



[१०० (१०५)] दुःस्वप्न का नाश करना।

यम ऋषिः। दुःस्वप्ननाशनो देवता। अनुष्टुप् छन्दः। एकर्चं सूक्तम्॥

---

[९९] १–(प्र०) 'अभिस्तृणीहि' (द्वि०) 'जामि' माहिंसीरमुया शयाना' (तृ०) होतृषदना हरितः सुवर्णा निष्काइमे यजमानस्य ब्रध्ने। इति तै० ब्रा० ॥

१. अमुया इत्यत्र द्वितीयायाः स्थाने 'याच्' आदेशः इति सायणः।

पर्यावर्ते दुष्वप्न्यात् पापात् स्वप्न्यादभूत्याः ।
ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे परा स्वप्नमुखाः शुचः ॥ १ ॥

भा०—मैं (दुःस्वप्न्यात्) बुरे स्वप्न से उत्पन्न हुए (पापात्) पाप से (परि आवर्त्ते) परे रहूँ। और (अभूत्याः) अनिष्ट के (स्वप्न्यात्) स्वप्न से उत्पन्न (पापात्) पाप से भी परे रहूँ। (अहम्) मैं (अन्तरं) पाप और अपने बीच में (ब्रह्म) पवित्र ईश्वर के नाम स्मरण या पवित्र मन्त्र को (कृण्वे) पाप का बाधक बना लेता हूँ इससे (स्वप्न-मुखाः) स्वप्न से उत्पन्न होने वाली (शुचः) हृदय की संतापजनक प्रवृत्तियाँ (परा कृण्वे) दूर कर दूं। अथवा उस पवित्र संकल्प द्वारा (स्वप्न-मुखा) स्वप्न के उत्पन्नकारी (शुचः) दुर्विचारों को (परा) दूर कर दूं।



[१०१ (१०६)] दुःस्वप्न को दूर करने का उपाय।

यम ऋषिः । स्वप्ननाशनो देवता । अनुष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

यत् स्वप्ने अन्नमश्नामि न प्रातरधिगम्यते ।
सर्वं तदस्तु मे शिवं नहि तद् दृश्यते दिवा ॥ १ ॥

भा०—(यत्) जो कुछ (स्वप्ने) स्वप्न में मैं (अन्नम्) अन्न आदि पदार्थ (अश्नामि) भोग करता हूँ, खाता हूँ वह (प्रातः) सवेरे उठ कर (न अधि-गम्यते) सत्य नहीं पाया जाता। इसलिये मैं संकल्प करता हूँ कि (तत् सर्वं) वह सब जो मैं स्वप्न में भी देखूं या करूँ (मे) मेरे लिये (शिवं) कल्याणकारी (अस्तु) हो, क्योंकि (तत्) वह

[१००] १–(प्र०) 'दुःस्वप्नात्' (च०) 'स्वप्नमुखा सुव' इति पैप्प० सं०। 'पापः स्वप्नादभूत्यै', 'ब्रह्माहमन्तरं करवे पराः स्वप्नमुखा कृधि' इति का० श्रौ० सू० ॥

स्वप्न का देखा या किया (दिवा) जागने पर दिन के समय (नहि दृश्यते) दीखता भी नहीं । इसलिये व्यर्थ स्वप्न के देखे सुने पर शोक न करे, प्रत्युत अपने चित्त को दृढ़ करके और उसे 'असत्' समझे ।



[१०२ (१०७)] विचार पूर्वक उन्नति का संकल्प ।

प्रजापतिर्ऋषिः । द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं मृत्युश्च देवताः । विराट् पुरस्ताद् बृहती । एकर्चं सूक्तम् ॥

नमस्कृत्य द्यावापृथिवीभ्यामन्तरिक्षाय मृत्यवे ।
मेक्षाम्यूर्ध्वस्तिष्ठन् मा मा हिंसिषुरीश्वराः ॥ १ ॥

भा०—(द्यावापृथिवीभ्याम्) द्यौ और पृथिवी माता और पिता, इनको (नमःस्कृत्य) नमस्कार करके और (अन्तरिक्षाय) अन्तर्यामी परमेश्वर और (मृत्यवे) सब के संहारक परमेश्वर को (नमस्कृत्य) नमस्कार करके (ऊर्ध्वः) ऊँचे, सीधा (तिष्ठन्) खड़ा होकर (मेक्षामि) चलूँ । (ईश्वराः) ये मेरे ईश्वर, मेरे स्वामी (मा) मुझको (मा हिंसिषुः) विनाश न करें ।

ह्विटनी की सम्मति में—(मेक्ष्यामि ऊर्ध्वः तिष्ठन्) "मैं ऊँचे खड़ा रह कर मूतता हूँ ।" उनके सम्पादक चार्लस राकवेल लैन्मन् के विचार में "अभी तक भारतवर्षी खड़े होकर मूतते हैं ।" यह कैसा भद्दा, उलटा और अश्लील अर्थ लिया है । अथवा प्रजापति ऋषि हैं अतः पर्जन्य प्रजापति कहता है—(द्यावापृथिवीभ्यां) द्यौ और पृथिवी इनको (नमःकृत्य) अपने वश करके अथवा इनके अनुकूल होकर (अन्तरिक्षाय) द्यौ अन्तरिक्ष को भी (नमः) अर्थात् उनके भीतर -

[१०२] १–'मेप्यामि' इति सायणसम्मतः पाठः । मेदयामि, मेप्यामि इत्यादि पाठो क्वचित् । मेदयामि इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

स्थित सूर्य्य, पृथिवी और वायु तीनों को अपने में अनुकूल करके (मृत्यवे) प्राणियों को मृत्यु से बचाने के लिए (ऊर्ध्वः) सब से ऊपर (तिष्ठन्) होकर (मेक्ष्यामि) जल सेचन करता हूँ, वर्षा करता हूँ। जिससे (ईश्वराः) सामर्थ्यवान् सूर्य्य; जलवायु; पृथिवी आदि शक्तियाँ (मा) मुझको (मा हिंसिषुः) विनाश न करें।

॥ इति नवमोऽनुवाकः ॥

[तत्र द्वादश सूक्तानि, ऋचश्चैकविंशतिः]



[१०३ (१०८)] प्रजापति ईश्वर का वर्णन।

ब्रह्मा ऋषिः । आत्मा देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

को अस्या नो द्रुहोऽवद्यवंत्या उन्नेष्यति क्षत्रियो वस्यं इच्छन्।
को यज्ञकामः क उ पूर्तिकामः को देवेषु वनुते दीर्घमायुः ॥ १ ॥

भा०—(कः) प्रजापति राजा और परमेश्वर के कौन (क्षत्रियः) क्षत्रिय, बलवान् (वस्यः)[1] उत्तम फल की (इच्छत्) अभिलाषा करता हुआ (नः) हमें (अस्याः) इस अद्भुत (अवद्यवत्याः) निन्दा योग्य, घृणित (द्रुहः) पारस्परिक द्रोह से हमें (उत्नेष्यति) ऊपर उठाएगा। ईश्वर या प्रजापति के सिवाय कौन दूसरा (यज्ञकामः) इस महान् यज्ञ को जिसमें लक्षों जीव परस्पर संगति किये जी रहे हैं चलाने की इच्छा करता है और इस महा प्रभु के सिवाय (कः) कौन दूसरा है जो (पूर्त्तिकामः) इस समस्त संसाररूप यज्ञ को पूर्ण करने की अभिलाषा रखता है और (कः) प्रजापति ईश्वर के सिवाय और कौन है

[१०३] १–(च०) 'वनते दीर्घमायुः' इति सायणाभिमतः पाठः। (प्र०) 'कोनोऽस्य द्रुहो' (तृ०) 'कः पूर्त्तिकामः को यज्ञकाम' इति पैप्प० सं० ॥

१. 'वस्यःवसीयः प्रशस्तं फलम्' इति सायणः।

जो (देवेषु) सूर्य चन्द्र आदि दिव्य तेजोमय पदार्थों में विद्वान् तपस्वी पुरुषों में (दीर्घम्) दीर्घ (आयुः) जीवन को (वनुते) प्रदान करता है। इस प्रकार समस्त जीवों में प्रेमभाव उत्पन्न करके परस्पर के घात प्रतिघात को मिटाने वाला, जीव संसार को हिंसा-प्रतिहिंसा से उन्नत करने वाला, संसार को चलाने हारा, पूर्ण करनेहारा और दीर्घ जीवन का दाता विश्व का आत्मा वही प्रभु है। इसी प्रकार प्रजाओं में परस्पर के झगड़े मिटाने वाला, एक दूसरे की प्रतिहिंसा के भाव से उन्नत करनेवाला राष्ट्रयज्ञके चलाने और पूर्ण करने वाला राष्ट्र का आत्मा राजा प्रजापति है। शरीर में वीर्यवान् आत्मा ही वैसा प्रजापति है।



[१०४ (१०९)] प्रजापति ईश्वर ।

ब्रह्मा ऋषिः । आत्मा देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

कः पृश्निं धेनुं वरुणेन दत्तामथर्वणे सुदुघां नित्यवत्साम् ।
बृहस्पतिना सख्यं/जुषाणो यथावशं तन्वः कल्पयाति ॥ १ ॥

भा०—(कः) प्रजापति के सिवाय और कौन है जो (पृश्निम्) श्वेत वर्ण, उज्ज्वल अथवा ब्रह्मानन्द के भीतरी रस का आस्वादन करने वाली (वरुणेन) सर्व विघ्ननिवारक परम राजा प्रभु ईश्वर की (अथर्वणे) ज्ञानवान्, अहिंसित नित्य आत्मा को (दत्ताम्) प्रदान की हुई दुधारी सुशील गाय के समान (सु-दुघाम्) आत्म-सुख प्रदान करने और (धेनुम्) रसपान करनेवाली (नित्यवत्सां) नित्य मनोरूप वत्स के साथ जुड़ी हुई अथवा (नित्य-वत्सां) नित्य निवास करनेहारी अविनाशिनी शक्ति को (बृहस्पतिना) बृहती वाणी के पालक प्राण के साथ

[१०४] १-(प्र०) 'कं पृश्निं', 'सुदुघां धेनुमेताम्' (तृ०) 'तां बृहस्पत्या सख्या' इति पाठः पैप्प० सं० ॥

(सख्यम्) मैत्रीभाव को (जुषाणः) रखता हुआ या परस्पर प्रजा के साथ उस शक्ति से प्रेम ममत्व का सम्बन्ध कराता हुआ, (यथा-वशम्) अभिलाषा या इच्छा के अनुसार (तन्वः) इस शरीर के भीतर (कल्पयाति) सामर्थ्यवान् बनाती है। अर्थात् इस शरीर में नित्य चेतनाशक्ति को प्राण के साथ जोड़ कर शरीर के भीतर इच्छानुसार कार्य करने को समर्थ कौन बनाता है ? वह प्रभु ही बनाता है। वरुण देवने अथर्वा को गाय दी इत्यादि कथा प्ररोचनामात्र है।



[१०५ (११०)] वेद के शासनों पर आचरण करो।

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ता आत्मा देवता । अनुष्टुप् छन्दः । एकर्च सूक्तम् ॥

अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः ।
प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह ॥ १ ॥

भा०—(पौरुषेयाद्) पुरुषों या सामान्य लोगों की स्तुति और निन्दा की कथाओं से (अपक्रामन्) परे रहते हुए हे ज्ञानवान् साधक तुम (दैव्यं) देव परमेश्वर की (वचः) पवित्र वाणी वेद को (वृणानः) सबसे उत्कृष्ट रूप में स्वीकार कर अपने (विश्वेभिः) समस्त (सखिभिः) मित्रों सहित (प्रणीतीः) वेद के प्रतिपादित, उत्तम न्यायानुकूल मार्गों और सत् शिक्षाओं पर और वेद के आदेशों पर (अभि-आवर्त्तस्व) आचरण करो। गुरु उपनयन और समावर्त्तन के अवसरों पर अपने शिष्यों का इस मन्त्र का उपदेश किया करते थे।



---

[१०५] १–(द्वि० तृ०, च०) 'वृणोनो दैव्यं सह,' 'प्रणीतिरभ्यावर्त्तस्व देवा देवानां सख्यं जुषाणः' इति पैप्प० सं० ॥

[१०६ (१११)] ज्ञानवान् विद्वान् और ईश्वर से अपनी भूल चूक पर रक्षा की प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ता अग्निर्जातवेदा वरुणश्च देवते । बृहती गर्भा त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

यदस्मृति चकृम किं चिदग्न उपारिम चरणे जातवेदः ।
ततः पाहि त्वं नः प्रचेतः शुभे सखिभ्यो अमृतत्वमस्तु नः ॥१॥

भा०—हे अग्ने ! ज्ञानवान् ! विद्वन् ! अपराधियों को अग्नि के समान पीड़क राजन् ! हम (यद्) जो कुछ (अस्मृति) विना विचारे, विना जाने भूल चूक से (किंचित्) कुछ भी (चकृम) कर जायं और हे (जात-वेदः) वेदज्ञान के जानने और अन्यों को जनानेहारे विद्वन् ! और राजन् ! और जो कुछ (चरणे) सत् आचरण में (अस्मृति) विना विचारे, भूलचूक से (उपारिम) चूक जाय, सत् आचरण न कर सकें, हे (प्रचेतः) सब से उत्कृष्ट ज्ञान से सम्पन्न प्रभो विद्वन् ! (त्वं) तू (ततः) उससे होनेवाले अनर्थ से (नः) हमें (पाहि) बचा । और (शुभे) शुभ, कल्याणकारी, मनुष्य को शोभा देनेवाले और परम निश्रेयस पद में प्राप्त होकर (नः) हमें और हमारे (सखिभ्यः) समान अन्य मित्र बन्धुजनों को भी (अमृतत्वम्) हमारे संग अमृत, मोक्षपद, परमानन्द का (अस्तु) लाभ हो ।

[१०७ (११२)] सूर्य की किरणों का कार्य ।

भृगुर्ऋषिः । सूर्य आपश्च देवताः । अनुष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

अव दिवस्तारयन्ति सप्त सूर्यस्य रश्मयः ।
आपः समुद्रिया धारास्तास्ते शल्यमसिस्रसन् ॥ १ ॥

[१०६]–१(तृ०) 'तस्मात् पाहि', (च०) 'सखे सखिभ्यो' इति पैप्प० सं० ॥

भा०—(दिवः) द्योतमान प्रकाशस्वरूप (सूर्यस्य) सूर्य के (सप्त) सात प्रकार के (रश्मयः) किरण (समुद्रियाः) समुद्र के या अन्तरिक्ष या मेघ के (आपः) जलों को (धाराः) धारारूप में (अवतारयन्ति) नीचे भूमि पर लाते हैं। (ताः) वे धाराएं ही, हे पुरुष ! (ते) तेरे (शल्यं) सब कष्टों को (असिस्रसन्) सदा नाश किया करती हैं। समुद्र का जल सूर्य की किरणों से मेघ रूप होकर जल रूप से बरसता है उससे समस्त प्राणी अन्न प्राप्त कर सुखी होते हैं और कष्टों को भुला देते हैं।

त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वंज्योतिषांपतिः ॥ ९ ॥
यदा त्वमभिवर्षसि अथेमाः प्राणते प्रजाः ।
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायाऽन्नं भविष्यति ॥१०॥
प्रश्नोप० २ । १० ॥



[१०८ (११३)] हत्याकारी अपराधियों को दण्ड ।

भृगुर्ऋषिः । अग्निर्देवता । १ बृहतीगर्भा त्रिष्टुप् । २ त्रिष्टुप् । द्व्यृचं सूक्तम् ॥

यो नस्तायद् दिप्सति यो न आविः स्वो विद्वानरणो वा नो अग्ने। प्रतीच्येत्वरणी दत्वती तान् मैषामग्ने वास्तु भून्मो अपत्यम् ॥१॥

भा०—(यः) जो (नः) हममें से (तायत्) छुपकर चोर के समान (दिप्सति) दूसरे की हत्या करना चाहता है और (यः) जो (नः) हममें से कोई (आविः) प्रत्यक्ष रूप में दूसरे को मारना चाहता है वह (स्वः) चाहे अपना बन्धु हो या (विद्वान्) ज्ञानवान् भारी पण्डित हो, यदि वह (नः) हममें से, हमारे जनसमुदाय के लिये (अरणः) दुःखदायी है तो (दत्वती) दांतोंवाली (अरणिः) [1] कष्टदायिनी, उसे

[१०८] १—अरणि=आर्तिकारिणी, कष्टदायिनी बेड़ियां । सम्भवतः लोहे की

या जानेवाली पीड़ा या पीड़ाकर यन्त्रणा (प्रतीची) जो उसके इच्छा के प्रतिकूल हो वह (तान्) उनको (एतु) अवश्य प्राप्त हो । हे अग्ने ! शत्रुसंतापक राजन् ! (एषां) ऐसे हत्याकारी षड्यन्त्री घातक लोगों के पास (वास्तु) निवास के लिये अपना स्वतन्त्र घर न हो प्रत्युत वे सरकार की क़ैद में रहें और (मा उ अपत्यम् भूत) ऐसे नीच हिंसक लोगों का कोई सन्तान भी न हो । यदि ऐसे पुरुषों की सन्तान उनकी ही दायभागिनी बनती जावेगी तो उनका हत्या द्वारा धन प्राप्त करने का पेशा परम्परा में फैलेगा । इसलिये ऐसा हत्याकारी पुरुष सन्तान का पिता के होने का हकदार नहीं । और न वे पुत्र अपने हत्याकारी पिता के हत्या से प्राप्त धन के उत्तराधिकारी बन सकते हैं ।

यो नः सुप्तान् जाग्रतो वाभिदासात् तिष्ठतो वा चरतो जातवेदः ।
वैश्वानरेण सयुजा सजोषास्तान् प्रतीचो निर्दह जातवेदः ॥२॥

भा०—(यः) जो मनुष्य या प्राणी (नः) हमें (सुप्तान्) सोते हुओं को या (जाग्रतः) जागते हुओं को (तिष्ठतः) खड़े हुओं को या (चरतः) चलते हुओं को (अभि-दासात्) विनाश करे या आक्रमण करे तो हे (जात-वेदः) प्रज्ञावान् विद्वान् न्यायाधीश आप (वैश्वानरेण) समस्त प्रजाओं के नेता या उनके हितकारी राजा को (स-युजा) साथ लेकर (स-जोषाः) प्रजा के प्रति प्रेमभाव से उन (प्रतीचः) प्रतिकूल चलने वालों को (निः-दह) सर्वथा अग्नि में भस्म कर डाल, उनका विनाश कर ।



शृंखला को अरणि कहा जाता है और अंग्रेजी का Iron=आयरन शब्द इसी का अपभ्रंश है ।

२–'नः सुप्तम्' इति क्वचित् । 'वैश्वानरेण सयुजा' इति लड्विग्-कामितः ।

[१०९ (११४)] ब्रह्मचारी का इन्द्रियजय और राजा का अपने चरों पर वशीकरण ।

बादरायणिर्ऋषिः । अग्निर्मन्त्रोक्ताश्च देवताः । १ विराट् पुरस्ताद्बृहती अनुष्टुप्, ४, ७ अनुष्टुभौ, २, ३, ५, ६ त्रिष्टुप् । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

इदमुग्राय बभ्रवे नमो यो अक्षेषु तनूवशी ।
घृतेन कलिं शिक्षामि स नो मृडातीदृशे ॥१॥

भा०—(उग्राय) तीव्र बलवान् (बभ्रवे) बभ्रु, सब के भरण-पोषण करनेवाले ब्रह्मचारी और राजा को (इदं नमः) यह आदर भाव प्राप्त हो (यः) जो कि (अक्षेषु) अपने इन्द्रियों पर और जो राजा अपने चरों पर (तनू-वशी) अपने शरीर में स्थित उन पर वश करने में समर्थ है । मैं ब्रह्मचारी (घृतेन) प्रकाशमय ज्ञान या स्नेहमय घृतसे (कलिं) अपने ज्ञान करनेवाले मन को (शिक्षामि) सधा लेता हूं, और (सः) वह (नः) हमें (ईदृशे) इस रूप में (मृडाति) सुखी करता है । जो राजा स्नेह से अपने लोगों सधाता है वह सुखी रहता है ।

घृतमप्सराभ्यो वह त्वमग्ने पांसूनक्षेभ्यः सिकता अपश्च ।
यथाभागं हव्यदातिं जुषाणा मदन्ति देवा उभयानि हव्या ॥२॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान् तेजस्विन् ! तपस्विन् ! (त्वम्) तू (अप्सराभ्यः) ज्ञान मार्गों में सरण करनेहारी इन्द्रियों के लिये (घृतम्) घृत पुष्टिकारक घृत और प्रकाशस्वरूप ज्ञान को (वह).

[१०९] १–(द्वि०) 'योऽक्षेषु' (तृ०) 'घृतं न कल्यं' इति पैप्प० सं० ॥
२–(प्र० द्वि०) अप्सरोभ्यो वह त्वमग्ने घृतम् पांसूनखेभ्यः' (तृ०) 'यथाभागः हव्यदातिं जुषाणः, 'मदन्तु' इति पैप्प० सं० । 'पांशून' इति क्वचित् ।

प्राप्त कर और (अक्षेभ्यः)' क्रीड़ाशील कर्मेन्द्रियों के लिये (पांसून्) भूमि प्रदेश, (सिकताः) सेचनद्रव्य या बालू के समान रूक्ष पदार्थ और (अपः च) शोधन पदार्थ, जल को प्राप्त कर। इस प्रकार (देवाः) शरीर में क्रीड़ा करनेहारे, हर्षशील या गतिशील इन्द्रियगण (यथा-भागम्) अपने सेवन शक्ति के अनुसार (हव्यदातिम्) भोग्य अन्न के भाग को (जुषाणाः) प्राप्त करते हुए (उभयानि) वनस्पतियों से उत्पन्न अन्न, और पशुओं से उत्पन्न घृत, दूध आदि दोनों प्रकार के, (हव्या) हव्य=भोग योग्य अन्न पदार्थों को प्राप्त कर (मदन्ति) प्रसन्न रहते हैं। अर्थात् ज्ञानशील पदार्थों को घृत आदि स्निग्ध पदार्थ कर्मेन्द्रियों को धूलि, मिट्टी, रेता और जल स्पर्श से कठोर पुष्ट और शुद्ध द्वन्द्वसहिष्णु बनाना चाहिये।

राजा के पक्ष में—राजा (अप्सराभ्यः) प्रजाओं को घृत आदि स्निग्ध एवं पुष्टिकारक पदार्थ अनायास प्राप्त करावे। और अक्ष=अपने नर पुरुषों को भूमि के स्थलों में, मरुओं में और जल प्रदेशों में कार्य के लिये भेजे। इस प्रकार समस्त राष्ट्रवासी लोग देवतुल्य रहकर अपने अधिकार के सदृश अपना वेतन भोगते हुए आनन्द प्रसन्न रहें।

अप्सरसः सधमादं मदन्ति हविर्धानमन्तरा सूर्यं च ॥
ता मे हस्तौ सं सृजन्तु घृतेन सपत्नं मे कितवं रन्धयन्तु ॥३॥

भा०—(हविर्धानम्) हविर्धान अन्न का आगार यह लोक (च) और (सूर्यम्) सूर्य इन दोनों के (अन्तरा) बीच में (अप्सरसः) इन्द्रिय (सध-मादं) अपने साथ साथ हर्षित होनेवाले आत्मा को (मदन्ति) हर्षित करती हैं। वे ही (ये) मुझ ब्रह्मचारी के (हस्तौ)

३–(प्र०) 'याप्सरसः सधमादं', (द्वि०) 'अन्तरा हविर्धानं', (तृ०) 'ता नो हस्तौ कृतेन संसृजन्तु', (च०) 'सपत्नः कितवं मे रन्धयन्तु' इति पैप्प० सं०।

हाथों को, क्रियाशक्ति को (घृतेन) ज्ञान से (सं सृजन्तु) युक्त करें और (मे) मुझ आत्मा के (सपत्नम्) शत्रु, काम, क्रोध आदि (कितवं) जो मुझको (तेरा क्या) २ इस प्रकार तुच्छ करना चाहता है उसको (रन्धयन्तु) विनाश करें ।

राजा पक्ष में—(अप्सरसः) प्रजाएं एकत्र होकर आनन्द उत्सव करें । राजा के हाथों को वे (घृत) पुष्टिकारक कोष और सेना द्वारा पुष्ट करें और राजा के (सपत्नं कितवं) भूमि पर समान अधिकार का दावा करनेवाले, उसको ललकारने वाले शत्रु को विनाश करें ।

आ॒दि॒न॒वं प्र॑ति॒दीव्ने॑ घृ॒तेना॒स्माँ अ॒भि क्ष॑र ।
वृ॒क्षमि॑वा॒शन्या॑ जहि॒ यो अ॒स्मान् प्र॑ति॒दीव्य॑ति ॥४॥

भा०—(प्रतिदीव्ने) प्रतिपक्षी होकर मुझे विजय करनेवाले अपने शत्रु के लिये मैं योद्धा ((आदिनवम्) आगे आकर विजय करता हूं और युद्ध करता हूं । हे ब्रह्मन् परमेश्वर ! राजन् ! (अस्मान्) हम वीर भटों को (घृतेन) तेजोमय द्रव्य से (अभिक्षर) युक्त कर और (यः) जो (अस्मान्) हमारे विरुद्ध (प्रतिदीव्यति) प्रतिपक्षी होकर युद्ध करे उसको (अशन्या वृक्षम् इव) जैसे विजली वृक्ष पर पड़ कर उसको मार डालती है उस प्रकार (जहि) विनाश कर ।

यो नो॑ ध्रु॒वे धन॑मि॒दं च॒कार॒ यो अ॒क्षाणां॒ ग्लह॑नं॒ शेष॑णं च ।
स नो॑ दे॒वो ह॒विरि॒दं जु॑षा॒णो ग॑न्ध॒र्वेभिः॑ सध॒मादं॑ मदेम ॥ ५ ॥

भा०—(यः) जो (नः) हममें से (देवः) देव विद्वान् ब्रह्मचारी (ध्रुवे) दिव्य व्रत, ब्रह्मचर्य के पालक के निमित्त (इदं) इस प्रकार के

४—'आदिऽनवम्' इत्यपि क्वचित् पदपाठः ।

५—यो नो देवा धनमिदं दिदेश योऽक्षाणां ग्रहणं श [शे] षणं च ।
सनोऽवतु हविरिदं जुषाणो गन्धर्वैः सधमादं मदेम' इति पैप्प० सं० ।

अक्षय (धनं) धन, बल, सामर्थ्य को (चकार) उत्पन्न करता है और (यः) जो (अक्षाणां) इन्द्रियों का (गहनं) ग्रहण और (शेपणं) वशीकरण (च) भी करता है वह (नः) हममें से (देवः) विद्वान् इन्द्रियविजयी पुरुष (इदं हविः) इस उत्तम उपादेय सुख, ज्ञान और अन्न को (जुषाणः) स्वीकार करता है । ऐसे (गन्धर्वेभिः) गौ-वेदवाणी के धारणशील या गौ-इन्द्रियों के वशीकर्त्ता जितेन्द्रियों के सहित (सधमादं) आनन्द प्रसन्न होकर हम (मदेम) अपने जीवन को सुखी करें ।

राजा के पक्ष में—जो हमारे योद्धा को भरणपोषण का धन देता है, और जो चरों और भटों को वश करता है और उनको अन्यों से अतिरिक्त मानपद प्रदान करता है वह हमारा देव=राजा इस हवि मानपद और बलिभूत कर को प्राप्त करे और ऐसे (गन्धर्वों) गौ-पृथिवी के स्वामी राजाओं के संग हम प्रजावासी सुखी रहें ।

संवसव इति वो नामधेयमुग्रंपश्या राष्ट्रभृतो ह्यक्षाः ।
तेभ्यो व इन्दवो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥६॥

भा०—हे (अक्षाः) राजा के आंख स्वरूप चर लोगों, सुभटो ! (वः) तुम्हारा (नामधेयम्) नाम (सं-वसवः) 'सं-वसु' है, तुम एकत्र, सेना और संस्था बनाकर, संगठित होकर छावनियों या सेनादलों या संस्थाओं में रहने से 'संवसु' कहाते हो । तुम (राष्ट्र-भृतः) राष्ट्र को धारण करनेवाले राजा के (उग्रं-पश्याः) उग्रतासे शत्रु पर देखनेवाले, या देखने में भयानक (अक्षाः) 'अक्ष' राजा के इन्द्रियरूप हो । हे (इन्दवः) तेजस्वी पुरुषो ! हम (तेभ्यः) उन (वः) आप लोगों का (हविषा) अन्न आदि द्रव्यों से (विधेम) सत्कार करें और आपके राष्ट्ररक्षा के सम्पादन करने के कारण (वयं) हम प्रजागण (रयीणाम्) धनों और बलों के (पतयः) स्वामी (स्याम) हों ।

६–(तृ०) 'तस्मै त इन्दो' इति पैप्प० सं ॥

देवान् यन्नाथितो हुवे ब्रह्मचर्यं यदूषिम ।
अक्षान् यद् बभ्रूनालभे ते नो मृडन्त्वीदृशे ॥ ७ ॥

भा०—(यत्) जो (मैं) राष्ट्रपति (नाथितः) तपस्या करके (देवान्) देव, विद्वान् पुरुषों को (हुवे) अपने समीप बुलाता हूं । और हम सब मिलकर राष्ट्र की रक्षा के लिये (यत्) जो (बभ्रून्) बभ्रु, भूरे-लाल मिले, ख़ाकी रंग की पोशाक पहने (अक्षान्) तीव्र गतिशील योद्धाओं को (आ-हुवे) प्राप्त करता हूं (ते) वे (नः) हम सब राजा प्रजाओं को (ईदृशे) ऐसे विजय लाभ के अवसर पर (मृडन्तु) सुखी करें ।

ब्रह्मचारी के पक्ष में—हम जो तपस्यापूर्वक विद्वानों की सेवा करते हैं, ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं और तीव्र वेगवान् इन्द्रियों पर वश करते हैं तब ऐसे मोक्षपद में ये प्राण हमें सुख प्राप्त कराते हैं । अन्यथा ये ही नाना सांसारिक दुःखों का कारण होते हैं ।



[११० (११५)] राजा और सेनापति का लक्षण ।

अग्न इन्द्रश्च दाशुषे हतो वृत्राण्यप्रति । उभा हि वृत्रहन्तमा ॥१॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! राजन् ! और (इन्द्रः च) इन्द्र सेनापति ये दोनों ही (दाशुषे) कर आदि देनेवाले प्रजाजन के लिये (अप्रति) अपने मुकाबले में किसी को न ठहरने देकर (वृत्राणि) कार्य में विघ्न डालने वाले समस्त शत्रुओं को (हतः) विनाश करते हैं । इसलिये (उभा हि) दोनों ही (वृहन्तमा) वृत्रों को नाश करनेवालों में श्रेष्ठ है ।

७–'यद् देवान्नाथितो' इति पैप्प० सं० ।

[११०] १–'हथो वृत्राणि' इति ह्विटनिकामितः पाठः । (प्र०) इन्द्रश्चमेदिना' (तृ०) 'युवेहि' इति तै० आ० । 'हथो वृत्राण्यप्रति ।' 'उग्राय वृत्र'–इति पैप्प० सं० । अग्ना 'इन्द्रश्च दाशुषो' इति मै० सं० ।

याभ्यामजयन्त्स्वरग्र एव यावातस्थतुर्भुवनानि विश्वा ।
प्रचर्षणी वृषणा वज्रबाहू अग्निमिन्द्रं वृत्रहणा हुवेहम् ॥ २ ॥

भा०—(याभ्याम्) जिन दोनों के बल से (अग्रे एव) पहले ही (स्वः) स्वर्गलोक, प्रकाशमय परमपद को (अजयन्) देव=विद्वानों ने प्राप्त किया । और (यौ) जो दोनों (विश्वा) समस्त (भुवनानि) लोकों और प्राणियों को (आतस्थतुः) अपने वश किये हुए हैं उन (प्र-चर्षणी) उत्कृष्ट द्रष्टा, अतएव उत्कृष्ट कोटि के पुरुषपुंगव (वृषणा) सुखों के वर्षक, बलवान्, (वज्र-बाहू) अपने हाथों में तलवार लिये हुए, (वृत्र-हणौ) राष्ट्र को घेरनेवाले राजा के विघ्नरूप शत्रुओं को नाश करने वाले दोनों को (अग्निम् इन्द्रम्) अग्नि और इंद्र नाम से (अहम्) मैं (हुवे) स्मरण करता हूं । अध्यात्म में अग्नि और इन्द्र ईश्वर और जीव हैं ।

उप त्वा देवो अग्रभीच्चमसेन बृहस्पतिः ।
इन्द्र गीर्भिर्न आ विश यजमानाय सुन्वते ॥ ३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! राजन् ! (त्वा) तुझको (बृहस्पतिः) वेद ज्ञानका स्वामी अथवा बड़े २ लोकों का पालक (देवः) देव विद्वान् पुरोहित (त्वा) तुझे (चमसेन) चमसरूप से (उप-अग्रभीत्) तेरा आदर करता है, सोमपात्र तुझे प्रदान करता है । तू (सुन्वते)

२-(प्र०) 'याभ्यां स्वरजयनयन्', (द्वि०) 'भुवनस्य मध्ये' (च०) 'अग्नीन्द्रा वृत्रहणा हुवे वाम्' इति तै० ब्रा० ॥ (प्र०) 'याभ्यां-स्वारेयत्यग्रे यावतस्थ', (च०)–'हणा हुवेम' इति पैप्प० सं० ॥ (प्र०) 'आभ्यां स्वरजनन्' मै० सं० ॥

३-(प्र०) 'उपनं देवाः', 'सर्वतं रीरधासि नः' इति पञ्चमः पादोऽधिकः पैप्प० सं० ॥

सोमसवन करनेवाले (यजमानाय) यजमान, तेरी संगति करनेहारे पुरुष के निमित्त (गीर्भिः) स्तुति, वाणियों सहित (नः) हम प्रजाओं के भीतर (आ-विश) आ, प्रवेश कर ।

अध्यात्म में—बृहस्पति प्रभु ने इस आत्मा को शीर्ष कपाल में सोम रस पान करने का सौभाग्य दिया है जो साधक उसकी साधना करे उसके लिये ही वहइन्द्र आत्मा (नः) हम इन्द्रिय रूप प्रजाओं के भीतर अध्यात्म स्तुतियों सहित प्रवेश करे ।



[१११ (११६)] वीर्यवान् युवा पुरुष को उपदेश ।

ब्रह्मा ऋषिः । वृषभो देवता । पराबृहती त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

इन्द्र॑स्य कु॒क्षिर॑सि सोम॒धान॑ आ॒त्मा दे॒वाना॑मु॒त मानु॑षाणाम् ।
इ॒ह प्र॒जा ज॑नय॒ यास्त॑ आ॒सु या अ॒न्यत्रे॒ह तास्ते॑ रमन्ताम् ॥१॥

भा०—हे युवा पुरुष ! तू (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यशील, सर्वोत्पादक परमेश्वर का (कुक्षिः) सृष्टि उत्पादन करने का कोष खज़ाना है । तू (सोम-धानः) सोम, उत्पादक वीर्य को धारण करनेवाला (देवानाम्) देव विद्वान् जनों और (मानुषाणाम्) साधारण मनुष्यों के बीच में (आत्मा) प्रेरक आत्मा के समान है । तू नर श्रेष्ठ हे नरपुंगव ! (इह) इस गृहस्थ आश्रम में रह कर (प्रजाः जनय) प्रजाओं को उत्पन्न कर । (याः) जो प्रजाएं (ते) तेरी (आसु) इन भूमियों में निवास करती हों और (याः) जो (अन्यत्र) अन्य देशों में भी हों (ताः) वे सब (ते) तेरी प्रजाएं (रमन्ताम्) सुखपूर्वक जीवन यापन करें ।



[१११] १–(प्र०) 'सोमधानात्मा' (द्वि०) 'देवानामस्य विश्वरूपः' (च०) 'ग्रास्ते स्वधितो गृणन्तु' ॥

[११२ (११७)] पाप से मुक्त होने की प्रार्थना ।

ब्रह्मात्र्यषिः । आपः वरुणश्चदेवताः । १ भुरिक् । २ अनुष्टुप् । द्व्यृचं सूक्तम्

शुम्भ॑नी द्यावा॑पृथि॒वी अन्ति॑सुम्ने॒ महि॑व्रते ।
आप॑: स॒प्त सु॑स्रुवु॒र्दे॒वीस्ता नो॑ मुञ्च॒न्त्वंह॑सः ॥ १ ॥

भा०—(शुम्भनी) शोभादायक विराजमान (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, दोनों (महि-व्रते) विशाल कार्य को करनेवाली और (अन्ति-सुम्ने) भीतरी सुख उत्पन्न करती हैं । उनके बीच में (सप्त) सर्पणशील, निरन्तर गति करनेहारे (देवीः) तेजोमय, प्रकाशमय, ज्ञानस्वभाव, (आपः) प्राप्त करने योग्य ज्ञानधारायें जलधाराओं के समान (सुस्रुवुः) स्रवण करती हैं, वहा करती हैं । (ताः) वे ईश्वर की परम दिव्य शक्तियां (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें ।

अध्यात्म में—द्यौ और पृथिवी प्राण और अपान शरीर में महाकार्य करनेवाले सुखप्राप्ति के साधन हैं । उनके आश्रय पर सात (देवीः आपः) ज्ञानधाराएं, सात शीर्षण्य प्राण विचरते हैं वे सन्मार्ग में रह कर हमें पाप से मुक्त करें ।

मु॒ञ्चन्तु॑ मा शप॒थ्या॒३दथो॑ वरु॒ण्या॒दु॒त ।
अथो॑ य॒मस्य॒ पड्वी॑शाद् विश्व॑स्माद् देवकिल्बि॒षात् ॥ २ ॥

भा०—व्याख्या देखो (का० ६ सू० ९६ । २ ॥) वे ही पूर्वोक्त दिव्य प्राणधाराएं (मा) मुझको (शपथ्यात्) परनिन्दा से उत्पन्न और (अथो वारुण्यात्) वरुण ईश्वर के प्रति दुर्विचार आदि से उत्पन्न पाप से (मुञ्चन्तु) दूर करें (अथो) और वे ही (यमस्य पड्वीशात्)

[११२] १–'अन्तः स्वप्ने' इति सायणाभिमतः ॥

यम मृत्यु की बेड़ियों से और (विश्वस्मात्) सब प्रकार के (देव-किल्बिषात्) विद्वानों के प्रति किये अपराध अथवा इन्द्रियों के बुरे आचरण से उत्पन्न पापसे मुक्त करें ।



[११३ (११८) स्त्री पुरुषों में कलह के कारण ।

भार्गव ऋषिः । तृष्टिका देवता । १ विराट् अनुष्टुप् । शङ्कुमती, चतुष्पदा भुरिक् उष्णिक् । द्व्यृचं सूक्तम् ॥

तृष्टि॑के॒ तृष्ट॑वन्दन॒ उद॒मूं छि॑न्धि तृष्टिके ।
यथा॑ कृ॒तद्वि॑ष्टा॒सो॒ऽमुष्मै॑ शे॒प्याव॑ते ॥ १ ॥

भा०—हे (तृष्टिके)[१] कामतृष्णा से आतुर स्त्री ! हे (तृष्ट-वन्दने) कामातुर, तृष्णातुर पुरुषों की चाहनेवाली, पुनः हे (तृष्टिके) बुरी धन-तृष्णातुर स्त्रि ! (यथा) जिस प्रकार से (शेप्यावते) भोग साधन युक्त वीर्यवान् अपने (अमुष्मै) अमुक=पति के लिये तू (कृत-द्विष्टा) द्वेष किये (असः) बैठी है । तू अपनी तृष्णा के कारण ही (अमूं) अमुक पति पुरुष को (छिन्धि) विनाश कर रही है । अर्थात् स्त्री पुरुषों में काम तृष्णा और धन तृष्णा से ही परस्पर कलह उत्पन्न होते हैं ।

तृ॒ष्टासि॑ तृष्टि॒का वि॒षा वि॑षात॒क्य॑सि ।
परि॑वृक्ता॒ यथास॑स्यृष॒भस्य॑ व॒शेव॑ ॥ २ ॥

भा०—हे कामातुर तृष्णालु स्त्रि ! तू (तृष्टा) तृष्णावाली हो

[११३] १–(प्र०) 'तृष्टि वन्दने' (तृ०, च०) 'अधाग्रदष्ट यथमस्तमस्मै शेप्यावतः' इति पैप्प० सं० ॥

१. 'कुत्सिता तृष्टा तृष्टिका' इति सायणः ॥

२–'तृष्टासि तृष्टकासि वृषा वृषातकसि' इति पैप्प० सं० ॥

कर ही (तृष्टिका असि) कुत्सित तृष्णावाली हो जाती है । तू (विषा) विषैली वेल के समान ही (विषातकी) अपने हृदय के द्वेष के विष से पति को ऐसी आतंक या दुःख देनेवाली (असि) हो जाती है कि (यथा) जिससे (वशा इव) जिस प्रकार वन्ध्या गौ (वृषभस्य) सन्तानोत्पादक वीर्यवान् महा सांड के भी छोड़ने योग्य होती है उसी प्रकार तू भी (परि-वृक्ता) वीर्यवान् पुत्रोत्पादन में समर्थ पति के भी (परि-वृक्ता) छोड़ने योग्य (असति) हो जाती है । अर्थात् जो स्त्री काम तृष्णा में फंस जाती है वह तृष्णा के कारण ही वदनाम हो जाती है ।



[११४ (११९)

भार्गव ऋषिः । अग्नीषोमौ देवते । अनुष्टुप् छन्दः । ब्यृचं सूक्तम् ॥

आ ते॑ ददे व॒क्षणा॑भ्य॒ आ ते॒ऽहं हृद॑याद् ददे ।
आ ते॒ मुख॑स्य॒ संका॑शात् सर्वं॑ ते॒ वर्च॒ आ द॑दे ॥ १ ॥

भा०—हे द्वेपकारिणि अधम नारि ! (ते वक्षणाभ्यः) तेरे कटि और कुक्षि के भागों से (वर्चः) उस परम पातिव्रत्य रूप तेज को (आददे) मैं ले लेता हूं और (अहं) मैं (ते हृदयात्) तेरे हृदय से भी (वर्च आददे) उस तेज को हर लेता हूं । (ते मुखस्य सं-काशात्) तेरे मुख से भी उस तेज को हर लेता हूं । (ते सर्वं वर्च आ ददे) तेरा समस्त सौभाग्य, मैं (आ ददे) स्वयं लेता हूं । अर्थात् दुराचारिणी कामातुरा स्त्री का सोम=सौम्य स्वभाव वाला पति उसके शरीर से अपने दिये समस्त सौभाग्य के चिह्न अलंकार आदि उतार ले, यदि वह दुराचार से वाज़ न आवे। इस मन्त्र का पूर्व सूक्त से सम्बन्ध है ।

[११४] १-(द्वि०) 'आददे हृदयादधि' (तृ०, च०) 'आते मुखस्य यद्वर्च आशं मा अभ्यतृप्सासि' इति पैप्प० सं० ॥

प्रेतो यन्तु व्याध्यः प्रानुध्याः प्रो अशस्तयः ।
अग्नी रक्षस्विनीर्हन्तु सोमो हन्तु दुरस्यतीः ॥ २ ॥

भा०—(व्याध्यः) नाना प्रकार की पीड़ाएं (इतः) इस हमारे घर से (प्र यन्तु) दूर हो जायँ। (प्र अनुध्याः) और उनके पीछे आने वाले दुष्परिणाम भी दूर हों और उनके कारण होनेवाली (अशस्तयः) निन्दायें भी (प्रउ) दूर हों। (अग्निः) अग्नि के स्वभाव का होकर पुरुष (रक्षस्विनीः) कार्य में विघ्न करने वाली दुष्टाचारिणी स्त्रियों का (हन्तु) दमन करे और (सोमः) सौम्यभाव का पुरुष (दुरस्यतीः) और दूसरों का बुरा चाहनेवाली दुष्ट प्रवृत्तियों को भी विनाश करे। अपने घरों में इस प्रकार के बुरे रोग, बुरे विचार, उनसे उत्पन्न होने वाले कुपरिणाम, निन्दाएं, परकार्य में विघ्न डालने और दूसरों का बुरा चाहने की सब बुरी आदतों को पुरुष अग्नि के समान तीक्ष्ण और चन्द्र के समान प्रेममय होकर न आने दे। और बुरी आदतों वालों को भय दिखावे और प्रेम से समझावे।



[११५ (१२०)] पापी लक्ष्मी को दूर करना।

प्र पतेतः पापि लक्ष्मि नश्येतः प्रामुतः पत ।
अयस्मयेनाङ्केन द्विषते त्वा सजामसि ॥ १ ॥

भा०—हे (पापि) पापकारिणि (लक्ष्मि) कलङ्कदायिनि ! दुष्टाचारिणि ! तू (इतः) इस घर से (प्र-पत) परे भाग, (इतः) यहां से (नश्य) भाग जा, (अमुतः) उस दूर देश से भी (प्र पत) परे

[११५] १–(प्र०) 'प्रपतेतः पापलक्ष्मि', 'यं द्विष्मस्तस्मिन् त्वा सज्जामः ।' इति पैप्प० सं० ॥

चली जा । (त्वा) तुझ कुलक्षणा को (अयस्मयेन) तपे लोहे के (अङ्केन) दाग़ से दाग़ कर (द्विषते) अपने से द्वेष करने वाले के लिये (सजामसि) छोड़ते हैं । जा शत्रु के पास ही रह ।

या मा॑ ल॒क्ष्मीः प॑तया॒लूरजु॑ष्टाभि॒चस्क॑न्द॒ वन्द॑नेव वृ॒क्षम् ।
अ॒न्यत्रा॒स्मत् स॑वित॒स्तामि॒तो धा॒ हिर॑ण्यहस्तो॒ वसु॑ नो॒ ररा॑णः ॥२॥

भा०—(या) जो (लक्ष्मीः) लक्ष्मी घर की लक्ष्मी होकर भी (पतयालूः) नीचे दुराचार में गिरने वाली (अजुष्टा) प्रेम से रहित होकर (मा) मुझे (अभि-चस्कन्द) ऐसे चिपटे हुई है जैसे (वृक्षम्) वृक्ष को (वन्दनः[1] इव) वन्दन नामक विष बेल चिपट जाती है और उस पर छाकर वृक्षको सुखा डालती है और उसको बढ़ने नहीं देती । हे (सवितः) सबके प्रेरक राजन् ! न्यायकरिन् ! (ताम्) उस ऐसी नागिन के समान लक्ष्मी को भी (इतः अन्यत्र) यहां से दूसरे स्थान पर (अस्मत्) हमसे पृथक् (धाः) रख । और (हिरण्यहस्तः) सुवर्णादि धनों से सम्पन्न तू (नः) हमें (वसु) उत्तम धन (रराणः) प्रदान कर ।

एक॑शतं ल॒क्ष्म्यो॒३ मर्त्य॑स्य सा॒कं त॒न्वा॒ ज॒नुषोऽधि॑ जा॒ताः ।
तासां॒ पापि॑ष्ठा॒ निरि॒तः प्र हि॑ण्मः शि॒वा अ॒स्मभ्यं॑ जातवेदो॒ नि य॑च्छ ॥ ३ ॥

भा०—(एक-शतं) १०१ एक सौ एक (लक्ष्म्यः) मनुष्य के स्वरूप को दर्शाने वाली मानस वृत्तियां (मर्त्यस्य) इस मरणधर्मा प्राणी के (तन्वा) शरीर के (साकं) साथ (जनुषः अधिः) जन्मते ही (जाताः) उत्पन्न होती है । (तासां) उनमें से (पापिष्ठाः) पाप से

२—१, 'वन्दनःऽइव' इति पदपाठोऽपि बहुश उपलभ्यते, प्रातिशाख्यानुसारी च । सायणस्तु 'वन्दनाइव' इति पदच्छेदं चकार तथैव च शंकरपाण्डुरंगः ॥

युक्त प्रवृत्तियों को (इतः) इस मनुष्य से (निः प्र हिण्मः) सर्वथा हम प्रयत्न पूर्वक दूर करें और हे (जातवेदः) विज्ञान सम्पन्न गुरो ! और आदि गुरो परमात्मन या गृहपते ! (शिवाः) कल्याणकारिणी लक्ष्मियों, शुभ मानसवृत्तियों को (अस्मभ्यम्) हमें (नि यच्छ) प्रदान कर । हमें उनकी शिक्षा कर ।

एता एना व्याकरं खिले गा विष्ठिता इव ।
रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम् ॥ ४ ॥

भा०—(खिले) वाड़े में (विष्ठिताः) एकत्र बैठी हुई (गाः) गौओं को (इव) जिस प्रकार गवाला अलग २ पहचानता है उसी प्रकार मैं भी (एताः) अपने भीतर बैठी हुई इन २ (एना) नाना प्रकार की मानस वृत्तियों को (वि-आकरम्) पृथक् २ कार्य-कारण रूप से विवेक पूर्वक जाचूं । (याः) जो (पुण्याः) पुण्य पवित्र (लक्ष्मीः) लक्ष्मियां या मेरे स्वभाव को दर्शाने वाली उत्तम प्रवृत्तियां हैं वे मेरे जीवन में (रमन्ताम्) वार २ प्रकट हों और (याः) जो (पापीः) पापजनक, बुरी प्रवृत्तियां हैं (ताः) उनको अपने में से (अनीनशम्) निकाल कर दूर कर दूं ।

[११६ (१२१)] ज्वर निदान ।

अथर्वाङ्गिरा ऋषिः । चन्द्रमाः देवता । १ परा उष्णिक् । २ एकावसाना-द्विपदा आर्ची अनुष्टुप् । द्व्यृचं सूक्तम् ॥

नमो रूराय च्यवनाय नोदनाय धृष्णवे ।
नमः शीताय पूर्वकामकृत्वने ॥ १ ॥

भा०—(रूराय) रोगी को तड़पाने वाले (च्यवनाय) बल वीर्य

४—'अनीनशम्' इति सायणाभिमतः पाठः ॥

के नाशक, (नोदनाय) धक्का लगाने वाले (धृष्णवे) मनुष्य को निराश करने वाले (पूर्वकाम-कृत्वने) मनुष्य की पूर्व की अभिलाषाओं या पूर्णकार्य, वीर्य, बलको काट डालनेवाले (शीताय) शीतज्वर के (नमः नमः) उपाय करो ।

यो अ॑न्ये॒द्युरु॑भय॒द्युर॒भ्येती॒मं म॒ण्डूक॑म॒भ्ये॒/त्वव्रतः ॥ २ ॥

भा०—और (यः) जो (अन्येद्युः) एक दिन छोड़कर अगले दिन आवे, (उभयेद्युः) दो दिन छोड़कर (अभ्येति) आवे या दो दिन आकर एक दिन छोड़े और (अव्रतः) जो विना किसी नियम के आवे वह सब ज्वर (इमं) मण्डूकम्) इस मेंढक पर (अभि-एति) आता है और निर्बल हो जाता है ।

दल दलकी जगहों में उत्पन्न ज्वर आदि रोगों को सहन करने की क्षमता दल दलकी ओषधियों और जीवों को है । इसलिये उनके शरीर का भीतरी विष अवश्य ज्वर के विष का शमनकारी होगा इस सिद्धान्त से ज्वर के लिये मेंडक का प्रयोग बतलाया गया है । ऐसा ही प्रयोग सर्प काटे का भी पूर्व लिख आये हैं । ज्वर प्रकरण देखो (का० १ सू० २६)



[११७ (१२२)] सेनापति का कर्त्तव्य ।

अथर्वाङ्गिरा ऋषिः । इन्द्रो देवता । पथ्या बृहती । एकर्चं सूक्तम् ॥

आ म॒न्द्रैरि॑न्द्र॒ हरि॑भिर्या॒हि म॒यूर॑रोमभिः ।
मा त्वा॒ के चि॒द् वि य॑म॒न् विं न पा॒शिनो॑ऽति॒ धन्वे॑व॒ ताँ इ॑हि ॥१॥

ऋ० ३ । ४५ । १ ॥ साम० पू० सं० २२६ ॥ यजु० २० । ५३ ॥

[११७] १–(तृ०) 'मा त्वा केचिन्नियेमुरिन्न पाशिनो' इति साम० । तत्र विश्वामित्र ऋषिः ।

भा०—हे (इन्द्र) राजन् सेनापते ! (मन्द्रैः) उत्तम (मयूर-रोमभिः) मोर के समान नीले २ बालों वाले (हरिभिः) तेज़ घोड़ों से तू (आयाहि) शत्रु पर चढ़ाई कर । (त्वा) तुझको (केचित्) कोई भी विरोधी लोग (पाशिनः विं न) पक्षीको जालियों के समान (मा वि यमन्) न पकड़ सकें । यदि वे मुकावले पर भी आवें तो भी (धन्व इव) वीर धनुर्धारी के समान (तान्) उनको (अति इहि) अतिक्रमण करके अपने देश को चला आ ।

सायण आदि ने इस स्थल पर 'धन्व इव तान् इहि' इसका अर्थ किता है, मरुस्थल के समान उनको पारकर आ । इस अर्थ में कोई प्रासंगिकता और इन्द्र के बल पराक्रम का पोषक भी नहीं है । ईश्वर पक्षमें—देखो सामवेद पूर्वार्ध सं० २२६ ।



[११८ (१२३)] कवचधारण ।

अथर्वाऽङ्गिरा ऋषिः । बहव उत चन्द्रमा देवता । त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

मर्माणि ते वर्मणा छादयामि सोमस्त्वा राजामृतेनानु वस्ताम् ।
उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वानु देवा मदन्तु ॥ १ ॥

- ऋ० ६ । ७५ । १८ ॥ यजु० २७ । ४६ ॥

भा०—हे जयाभिलाषिन् राजन् ! (ते मर्माणि) तेरे मर्म स्थानों को मैं (वर्मणा) कवच से (छादयामि) ढकता हूं । (सोमः) सबका

१. अतिधन्व इव महेश्वासा इव इति दयानन्दो यजुर्भाष्ये । तत्र पद-पाठः अति धन्वेति अतिऽधन्व इति । धन्व इति शस्त्र विशेषः। इति दयानन्द ऋग्भाष्ये । उपचाराच्च धनुर्धरे धन्वं इति प्रयोगो द्रष्टव्यः ।

[११८] १-(प्र०) 'वर्मभिः छादयामि' (तृ०) 'वरोवरीयो वरिवसेऽस्तु' इति तै० सं० ॥

प्रेरक (राजा) सबका स्वामी (त्वा) तुझे (अमृतेन) अमर शक्ति से (अनु वस्ताम्) आच्छादित करे । (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर (उरो) बड़े से भी (वरीयः) बड़ा राज्य और जीवन (कृणोतु) करे और (त्वां) तुझको (जयन्तम्) विजय करते हुए देखकर (देवाः) देव, विद्वान् लोग (अनु मदन्तु) खूब प्रसन्न हों और तुझे उत्साहित करें ।

॥ इति दशमोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तानि षोडश, ऋचश्च चतुर्विंशतिः]

॥ इति सप्तमं काण्डं समाप्तम् ॥

दशानुवाका अष्टौ च दश चैव शतोत्तरम् ।
सूक्तानि सप्तमेऽथर्वः षडशीति शतद्वयम् ।

वेदवस्वङ्कचन्द्रेऽब्दे पौषशुक्ले द्वितीयके ।
वासरेऽथविधौ काण्डं सप्तमं च समाप्यते ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालंकारमीमांसातीर्थविरुदोपशोभित श्रीमज्जयदेवशर्मणा विरचितेऽथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्ये सप्तमं काण्डं समाप्तम् ।



ओ३म्

अथर्ववेदसंहिता

अथाष्टमं काण्डम्

[१] दीर्घजीवन-विद्या

ब्रह्मा ऋषिः। आयुर्देवता। १,५,६,१०,११ त्रिष्टुभः। २,३,१७,२१ अनुष्टुभः। ४,६,१५,१६ प्रस्तारपंक्तयः। त्रिपाद् विराड् गायत्री। ८ विराट् पथ्याबृहती। १२ त्र्यवसाना पञ्चपदा जगती। १३ त्रिपाद् भुरिक् महाबृहती। १४ एकावसाना द्विपदा साम्नी भुरिग् बृहती।

अन्तकाय मृत्यवे नमः प्राणा अपाना इह ते रमन्ताम्।
इहायमस्तु पुरुषः सहासुना सूर्यस्य भागे अमृतस्य लोके॥१॥

भा०—मृत्यु का उपाय बतलाते हैं। (अन्तकाय) शरीर का अन्त करने और (मृत्यवे) देह को आत्मा से जुदा करने वाले कारण को (नमः) दूर करने का उपाय करो। इससे हे पुरुष ! (ते) तेरे (प्राणाः) प्राण और (अपानाः) अपान (इह) इस शरीर में (रमन्ताम्) सुखपूर्वक आवें और जावें। (अयम्) यह (पुरुषः) देहपुरी में वसनेवाला जीव (इह) इस देह में (असुना सह) जीवन के बाधक विघ्नों को परे फेंकने वाले प्राण के साथ (सूर्यस्य) सब के प्रेरक सूर्य के (भागे) सेवनीय अंश भूत (अमृतस्य लोके) अमृत, नित्य, अविनाशी, पूर्ण आयु के जीवन में (अस्तु) विद्यमान रहे।

---

[१] १—द्वितीयचतुर्थयोः पादयोर्विपर्ययः पैप्पलादसंहितायां विशेषः।

बाहर आने वाला श्वास प्राण और भीतर जाने वाले उच्छ्वास अपान कहाता है। दक्षिण नासा का प्राण सूर्य और वाम नासा का प्राण अमृत कहाता है अथवा ब्रह्मचर्य से वीर्यरक्षा करना सूर्य का भाग है और प्रजा का वीर्य द्वारा उत्पन्न करना, गृहस्थ करना यह अमृत का लोक है।

'प्रजाम् अनु प्रजायसे तदु ते मर्त्यामृतम्'। तै० ब्रा० १।५।५।६॥

अथवा (सूर्यस्य भागे अमृतस्य लोक इह पुरुषः अस्तु) सूर्य, समस्त प्राणों के प्रेरक आत्मा के सेवन करने और अमृत=जीव के लोक=निवास-स्थान इस देह में यह जीव रहे।

अमृतम्=अमृतात् मृत्युर्निवर्त्तते। श० १०।२।६।१७॥ एतद्वै मनुष्य-स्यामृतम् यत् सर्वमायुरेति॥ श० ९।५।१।१०॥ य एवं शतं वर्षाणि यो वा भूयांसि जीवति सहैवैतदमृतमाप्नोति॥श० १०।२।६।८॥एते उ वाव लोकाः यदहोरात्राणि अर्धमासाः मासाः ऋतवः संवत्सरः। १०।२।६।७॥ अमृतम् उ वै प्राणाः॥ श० ९।३।३।१२॥ प्रजापतिर्वा अमृतः। श० ६।३।१।१७॥ ते देवा होचुर्नातो ऽपरः कश्चन इह शरीरेणामृतोऽसद्। यदैव त्वमेतं भागं हरासा अथ व्यावृत्य शरीरेण अमृतोऽसद्। योऽमृतोऽसद् विद्यया वा कर्मणा वा॥

अमृत से मृत्यु दूर होती है। समस्त आयु का भोगना अमृत प्राप्त करना है। १०० वर्ष तक का जीवन प्राप्त करना अमृत है। दिन, रात्र, पक्ष, मास, ऋतु, वर्ष ये अमृत के लोक हैं और सूर्य की परिक्रमा के भाग हैं। प्राण अमृत है। प्रजापति होना अमृत है। देव विद्वानों ने देखा कि शरीर के साथ कोई अमर नहीं, तो भी यह आत्मा अपने शरीर को पलट कर अमृत रहता है। वह नित्य अमृत, विद्या और कर्म से होता है।

उदे॑नं॒ भगो॑ अग्रभी॒दुदे॑नं॒ सोमो॑ अंशु॒मान्।
उदे॑नं म॒रुतो॑ दे॒वा उदि॑न्द्रा॒ग्नी स्व॒स्तये॑॥ २॥

भा०—मनुष्य के जीवन के आधार बतलाते हैं। (एनं) इस पुरुष

को (भगः) भजन या सेवन करने योग्य भक्त=अन्न में (उत् अग्रभीत्) शरीर के रूप में ग्रहण किया है (एनं) और इसको (अंशुमान्) व्यापन शक्ति या रस से युक्त (सोमः) जल ने (उत्) ग्रहण किया है। (एनम्) और इसको (देवाः) गतिशील (मरुतः) प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, कृकल, देवदत्त, नाग, कूर्म, धनंजय नामक वायुरूप जीवन के साधन प्राणों ने इसे (उत्) ग्रहण किया है और (इन्द्राग्नी) इन्द्र मुख्यप्राण और अग्नि-जाठर अग्नि, वैश्वानर इन्होंने इस देहमय पुरुष को (उत्) धारण किया है। क्यों ? (स्वस्तये) जिस से यह जीव शरीर में सुखपूर्वक जीवन सत्ता का उपभोग करे।

इह तेऽसुरिह प्राण इहायुरिह ते मनः।
उत् त्वा निर्ऋत्याः पाशेभ्यो दैव्या वाचा भरामसि ॥ ३ ॥

भा०—मृत्यु से दूर होने का उपाय। हे पुरुष ! (इह) इस शरीर में (ते) तेरे (असुः) जीवन के बाधक कारणों को दूर करने की भी शक्ति विद्यमान है और (इह प्राणः) और इसी शरीर में उत्कृष्ट रूप से प्राण लेने की शक्ति भी है और (इह आयुः) इसी में तेरी आयु-दीर्घ जीवन है, (इह ते मनः) और यही तेरा मननशील अन्तःकरण विद्यमान है। तो सब जीवन के साधन यहाँ ही इस शरीर में विद्यमान हैं तो फिर केवल अज्ञान से तू उन साधनों का उपयोग नहीं करता इसलिए (त्वा) तुझ पुरुष को हम विद्वान् लोग (दैव्या वाचा) देव परमेश्वर की ज्ञानमय वाणी से, वेदोपदेश से (निर्ऋत्याः) सर्वथा दुःख देने वाली तामस प्रवृत्ति या मृत्यु या अज्ञान या अविद्या के (पाशेभ्यः) फांसों से (उत् भरामसि) ऊपर उठाते हैं।

उत् क्रामातः पुरुष माव पत्था मृत्योः पड्वीशमवमुञ्चमानः।
मा च्छित्था अस्माल्लोकादग्नेः सूर्यस्य संदृशः ॥ ४ ॥

४—'पड्वीशम्' इति सायणाभिमतः पाठः।

भा०—हे (पुरुष) इस देहरूप पुरी में वास करनेवाले जीव! (अतः) इस अविद्या के पाश से तू (उत्क्राम) ऊपर उठ (मा अवपन्थाः) नीचे मत गिर। (मृत्योः) मृत्यु की (पड्वीशम्) पैरों में बँधी बेड़ियों को (अवमुञ्चमानः) छुड़ाता हुआ भी (अस्मात्) इस (लोकात्) लोक या जीवन से (मा छित्थाः) सम्बन्ध मत तोड़, जीवन से वियुक्त मत हो और (अग्नेः) अग्नि, आचार्य और (सूर्यस्य च) सूर्य, सब के प्रेरक परमेश्वर की शक्तियों का (संदृशः) भली प्रकार दर्शन कर।

तुभ्यं वातः पवतां मातरिश्वा तुभ्यं वर्षन्त्वमृतान्यापः।
सूर्यस्ते तन्वे३ शं तपाति त्वां मृत्युर्दयतां मा प्र मेष्ठाः॥ ५॥

भा०—हे जीव! (तुभ्यं) तेरे लिये (मातरिश्वा) अन्तरिक्ष में गति करने वाला (वातः) वायु (पवताम्) सदा बहता रहे, तू सदा स्वच्छ वायु का सेवन कर। और (तुभ्यम्) तेरे लिये (आपः) जल (अमृतानि) अमृत, जीवन के प्राणरूप सूक्ष्म अंशों को (वर्षन्तु) बरसावें, प्रदान करें। तू स्वच्छ जीवन की वृद्धि करने वाले जलों का पान कर (ते तन्वम्) तेरे शरीर के लिये (सूर्यः) यह सूर्य सब सौर-जगत् का और प्राणियों का प्रेरक (शम्) कल्याणकारी होकर (तपाति) तपे। और (मृत्युः) मृत्यु शरीर से जीव को पृथक् करने वाली शक्ति भी इस प्रकार (त्वां) तेरी (दयता) रक्षा करे और तू (मा प्र मेष्ठाः) मत मर, चिरजीवन धारण कर।

उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि।
आ हि रोहेममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि॥ ६॥

भा०—हे (पुरुष) जीव! मनुष्य! (ते) तेरी (उद्यानम्) ऊपर

६–'रथमाजिर्विं' इति सायणाभिमतः पाठः। ऋग्वेदेषु 'जिव्रि' शब्द उपलभ्यते। 'तोग्रयो न जिव्रिः' [ऋ० ११८०।५]

की गति हो, तू अपने जीवन में ऊपर को उठ (न अवयानत्) नीचे को मत गिर । (ते) तेरे (जीवातुम्) जीवन को भी मैं (दक्षतातिम्) बल से युक्त करता हूँ । तू (इमम्) इस (अमृतम्) अमृतरूप सौ वर्ष के जीवन से युक्त (रथम्) रमण साधन, भोगों के आयतन रूप इस देह को (सुखम्) सुखपूर्वक (हि) निश्चय से (अरोह) धारण कर और तू (जिर्विः) जीर्ण होकर बुढ़ापे में भी (विदथम्) अपने जीवन के ज्ञानमय अनुभव को (आवदासि) सर्वत्र उपदेश कर ।

मा ते मनस्तत्र गान्मा तिरो भून्मा जीवेभ्यः प्र मदो मानु गाः पितॄन् । विश्वे देवा अभि रक्षन्तु त्वेह ॥ ७ ॥

भा०—हे पुरुष ! (ते मनः) तेरा चित्त (तत्र) उस निषिद्ध कर्म में (मा गात्) न जाय । (मा तिरः भूत्) तेरा चित्त तिरछा, कुपथ में भी न हो । (जीवेभ्यः) जीवों के हित के लिए (मा प्रमदः) तू प्रमाद मत कर । (पितॄन्) अपने बूढ़े पालकों के पीछे २ मृत्यु के मुख में (मा अनुगाः) मत जा । प्रत्युत (त्वा) तुझ को (विश्वे देवाः) समस्त देव, विद्वान् गण और हृष्ट पुष्ट इन्द्रियें (इह) यहां, इस शरीर में चिरकाल तक (अभि रक्षन्तु) सब प्रकार से सुरक्षित रखें ।

मा गतानामा दीधीथा ये नयन्ति परावतम् ।
आ रोह तमसो ज्योतिरेह्या ते हस्तौ रभामहे ॥ ८ ॥

भा०—हे पुरुष ! (गतानाम्) गये गुज़रे, शरीर को छोड़ कर जाने वाले उन लोगों के लिए (मा आदीधीथाः) विलाप मत कर (ये) जो (परावतम्) दूसरे लोक में या दूसरे शरीर में (नयन्ति) पहुँच जाते हैं अथवा तुझ को या तेरी मनोवृत्ति को दूसरे लोक में ले जाते हैं तू

८–(तृ०) 'उदारोहत्तमसो' । (च०) 'हस्तं रभामहे' इति पैप्प० सं० । 'ज्योतिरेहि ते' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

(तमसः) मृत्यु रूप या पापरूप तम अन्धकार से निकल कर (ज्योतिः) अमृत पुण्यरूप प्रकाश की तरफ (आरोह) चढ़। हम विद्वान् लोग (ते हस्तौ) तेरे हाथों को (रभामहे) पकड़ते हैं। तू हमारे हाथों का सहारा लेकर अन्धकार के गढ़े से निकल कर ऊपर आजा।

मृत्युर्वै तमः। गो० ३० । २५ । १ ॥ पाप्मा वै तमः ॥ श० १२ । ९ । २ । ८ ॥ ज्योतिरमृतम् ॥ श० १४ । ४ । १ । ३२ ॥ प्राणो वै ज्योतिः ॥ श० ८ । ३ । २ । १४ ॥

श्यामश्च त्वा मा शबलश्च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी श्वानौ ।
अर्वाङेहि मा वि दीध्यो मात्र तिष्ठ पराङ्मनाः ॥ ९ ॥

भा०—(श्यामः च) श्याम और (शबलः) शबल, रात और दिन ये दोनों (यमस्य) सर्वनियन्ता परमेश्वर के (प्रेषितौ) भेजे हुए (पथिरक्षौ) जीवन मार्ग की या काल की रक्षा करने वाले (श्वानौ) सदा गतिशील हैं। तू (अर्वाङ्) सामने आगे की ओर (एहि) बढ़ (मा विदीध्यः) विलाप और पछतावा मत कर। (अत्र) इस लोक में (पराङ्मनाः) पूर्व के गुज़रे हुए की चिन्ता करते हुए (मा तिष्ठः) मत बैठ। अहर्वै शबलो रात्रिः श्यामः। कौ० २।९॥

मैतं पन्थामनु गा भीम एष येन पूर्वं नेयथ तं ब्रवीमि।
तम एतत् पुरुष मा प्र पत्था भयं परस्तादभयं ते अर्वाक् ॥१०॥

भा०—हे मोहवश अपने मरों के साथ ममता करके उनके साथ मरने की इच्छा करने वाले मूढ़ पुरुष! (एतम्) इस (पन्थानम्) मार्ग

९–(तृ०) 'मा वि दीध्यो' इति पैप्प० सं०। 'शबलश्च यमस्य' इति सायणाभिमतः पाठः। 'प्रेषितो' इति सायणभाष्ये पदं नोपलभ्यते।
१०–(च०) 'पुरस्ताद्' इति सायणाभिमतः पाठः। (तृ०) 'तम् एतत्' इति पैप्प० सं०।

का (मा अनुगाः) अनुसरण मत कर । (भीमः, एषः) यह मार्ग बहुत भयपूर्ण है। (येन) जिस मार्ग से (पूर्वम्) नियत समय से पूर्व तुम कभी (न इयथ) नहीं चले (तम्) उस अज्ञान मार्ग के विषय में मैं (ब्रवीमि) तुम्हें उपदेश करता हूँ कि (एतत्) वह मार्ग (तमः) अन्धकारमय मृत्यु है। हे (पुरुष) पुरुष ! उसकी तरफ़ (मा प्र पत्थाः) तू मत जा, क्योंकि (परस्तात्) उसके परे अतीत काल में जाने से (भयम्) भय है कि भटक जाय । (ते) तेरे लिए तो (अर्वाक्) आगे बढ़ना ही (अभयम्) भय रहित है ।

रक्षन्तु त्वाग्नयो ये अप्स्व१न्ता रक्षतु त्वा मनुष्या३ यमिन्धते ।
वैश्वानरो रक्षतु जातवेदा दिव्यस्त्वा मा प्र धाग् विद्युता सह ॥११॥

भा०—हे पुरुष! (ये) जो (अप्सु अन्तः) प्रजाओं में या लोकों में रहने वाले (अग्नयः) अग्नि, प्रकाशमान सूर्य चन्द्र, तारे अथवा प्रजाओं में रहने वाले विद्वान् गण हैं (त्वा रक्षन्तु) वे तेरी रक्षा करें। और (यम्) जिसको (मनुष्याः) मननशील पुरुष (इन्धते) प्रदीप्त करते हैं वह अग्नि भी (त्वा रक्षतु) तेरी रक्षा करे । और (जातवेदाः) सब प्राणियों में व्यापक या सर्वज्ञ (वैश्वानरः) सब का हितकारक, जाठर अग्नि या ईश्वर भी (रक्षतु) तेरी रक्षा करे (दिव्यः) दिव्य आकाश में उत्पन्न होने वाला अग्नि भी (विद्युता सह) विद्युत् के सहित तुझे (मा प्र धाग्) न जलावे।

मा त्वा क्रव्यादभि मंस्तारात् संकसुकाच्चर ।
रक्षतु त्वा द्यौ रक्षतु पृथिवी सूर्यश्च त्वा रक्षतां चन्द्रमाश्च ।
अन्तरिक्षं रक्षतु देवहेत्याः ॥ १२ ॥

११–(च०) 'मा धाग्' इति ह्विटनिप्रकाशितपुस्तकगतः प्रामादिकः पाठः । 'मा प्र दहात्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे पुरुष! (त्वा) तुझ को (क्रव्यात्) कच्चा माँस खाने वाला जन्तु (मा अभिमंस्त) न आ दबोचे। (संकसुकात्) नाश करने वाले, लोभी जीव से तू (आरात्) दूर रह कर (चर) चल। (द्यौः) आकाश (त्वा) तेरी (रक्षतु) रक्षा करे। (पृथिवी रक्षतु) पृथिवी तेरी रक्षा करे। (सूर्यः च चन्द्रमाः च) सूर्य और चन्द्रमा (त्वा रक्षताम्) तेरी रक्षा करें। और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, वायुमण्डल तेरी (देवहेत्याः) देवी आघातकारी पदार्थ से (रक्षतु) रक्षा करें।

बोधश्च त्वा प्रतीबोधश्च रक्षतामस्वप्नश्च त्वानवद्राणश्च रक्षताम्।
गोपायंश्च त्वा जागृविश्च रक्षताम्॥ १३॥

भा०—(बोधः) तुझे ज्ञान का बोध कराने वाला तेरा गुरु और (प्रतिबोधः) प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान कराने वाला उपदेशक ये दोनों (त्वा रक्षताम्) तेरी रक्षा करें। (अस्वप्नः) न सोने वाला, पहरेदार और (अनवद्राणः) कभी कुत्सित आचरण न करने वाला सदाचारी आचार्य (गोपायन्) तेरा रक्षक, और (जागृविः) तेरी रक्षा में सदा जागरणशील सन्तरी ये सब तेरी रक्षा करें। या तेरे रक्षक लोग ज्ञानी, दूसरों के ज्ञानदाता, अप्रमादी, सदाचारी, रक्षक सदा सावधान होकर तेरी रक्षा करें।

ते त्वा रक्षन्तु ते त्वा गोपायन्तु तेभ्यो नमस्तेभ्यः स्वाहा॥१४॥

भा०—(ते) ऊपर कहे पदार्थ या उपरोक्त गुण के रक्षक पुरुष

१२–(द्वि०) 'संकुसुकाच्चर' इति सायणाभिमतः पाठः। प्रथमद्वितीययो स्तृतीयचतुर्थाभ्यां पादाभ्यां स्थानविपर्ययः पैप्प० सं०।

१३–(द्वि०) 'त्वा अनवद्राणिश्च' इति पैप्प० सं०। 'अस्वप्नस्त्वानवद्राण' इति राक्रेवलेन्मनकाभितः पाठः।

१४–(द्वि०) गोपायन्तु ते त्वां हसरसायतु तेभ्यो' इति पैप्प० सं०।

(त्वा रक्षन्तु) तेरी रक्षा करें (ते त्वा गोपायन्तु) वे तेरी पहरेदारी करें (तेभ्यो नमः) उनका आदर करो या उनको अन्न दो और (तेभ्यः स्वाहा) उनको उत्तम आदर के वचन कहो ।

जीवेभ्यस्त्वा समुदे वायुरिन्द्रो धाता दधातु सविता त्रायमाणः ।
मा त्वा प्राणो बलं हासीदसुं तेनु ह्वयामसि ॥ १५ ॥

भा०—(धाता) पालक, पोषक और (त्रायमाणः) रक्षक और (सविता) उत्पादक (वायुः) सबका प्रेरक या सर्वव्यापक (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् परमात्मा (त्वा) तुझको (जीवेभ्यः) अन्य तेरे आश्रय पर जीने वाले प्राणियों के लिये (समुदे)[1] और सबके साथ आनन्द प्रसन्न रहने के लिये (त्वा दधातु) तेरा पोषण करे। (प्राणः) प्राण और (बलम्) बल (त्वा) तुझे (मा हासीत्) न छोड़े । (ते असुम्) तेरे प्राण बल को हम (अनु) अनुकूल रूप से (ह्वयामसि) बुलाते हैं ।

मा त्वा जम्भः संहनुर्मा तमो विदन्मा
जिह्वा बर्हिः प्रमयुः कथा स्याः ।
उत् त्वादित्या वसवो भरन्तूदिन्द्राग्नी स्वस्तये ॥ १६ ॥

भा०—(त्वा) तुझे (जम्भः) अंगों को जकड़ने वाला, (संहनुः) जबाड़ों को पकड़ने वाला दांत लगने का रोग (मा विदत्) कभी न पकड़े । और (तमः) आंखों के आगे अन्धेरा सा ला देने वाला शिरोरोग या तमक रोग भी तुझे न पकड़े और (जिह्वा) जीभ भी कभी तुझे रोग में न आ पकड़े । तू (बर्हिः) सदा वृद्धिशील रह कर

[१५] १–'सम्ऽउदे' इति पदपाठः

१६–'कथा स्याः' इत्यन्ताः पञ्चदशीऋग् सायणाभिमता । (द्वि०) जिह्वा-बर्हप्रमयुः' इति ह्विटनिकामितः पाठः । 'माजिह्वाचर्य प्रमयुः कथा स्थ' इति पैप्प० सं० ।

(कथा) किस प्रकार (प्रमयुः) मरणोन्मुख (स्याः) हो सकता है ? और (त्वा) तुझ को (आदित्याः) ज्ञानयोगी, बाल ब्रह्मचारी, (वसवः) वसु ब्रह्मचारी और (इन्द्राग्नी) राजा और आचार्य ये (स्वस्तये) कल्याण के लिये (त्वा) तुझ को (उद् भरन्तु) मृत्यु से उन्नति के पथ पर ले जावें ।

उत् त्वा द्यौरुत् पृथिव्युत् प्रजापतिरग्रभीत् ।
उत् त्वां मृत्योरोषधयः सोमराज्ञीरपीपरन् ॥ १७ ॥

भा०—(द्यौः) यह महान् आकाश या सूर्य (त्वा) तुझ को (मृत्योः) मृत्यु से (उद् अग्रभीत्) ऊपर उठाये रहे, बचावे । (पृथिवी उत् अग्रभीत्) यह पृथिवी तुझे मृत्यु से बचावे । (प्रजापतिः) प्रजा का स्वामी, परमेश्वर (त्वा उत् अग्रभीत्) तुझ को बचावे । और (ओषधयः) वे ओषधियां (सोमराज्ञीः) जिनका राजा सोम है अर्थात् जिन में सब से अधिक गुणकारी ओषधि सोमलता है ये भी (त्वा मृत्योः) तुझ को मृत्यु से (उत् अपीपरन्) ऊपर उठावें, बचावें ।

अयं देवा इहैवास्त्वयं मामुत्र गादितः ।
इमं सहस्रवीर्येण मृत्योरुत् पारयामसि ॥ १८ ॥

भा०—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! (अयम्) यह पुरुष (इह एव अस्तु) इस देह में ही पूर्ण आयु तक रहे । (इतः) इस देह को छोड़ कर वह (अमुत्र) दूसरे लोक में (मा गात्) शत वर्ष के पूर्व न जावे । हम विद्वान् लोग (सहस्रवीर्येण) हज़ारों उपायों से, अपरिमित सामर्थ्यप्रद विधियों से, (सहस्रवीर्येण) बलयुक्त, सहनशील वीर्य-रक्षा ब्रह्मचर्य के उपाय से इस पुरुष को (मृत्योः) मृत्यु से (उत् पारयामसि) ऊंचा उठावें, मृत्यु से बचावें ।

सहः सहस्वद् इति निरुक्तम् ।

उत् त्वा मृत्योरपीपरं सं धमन्तु वयोधसः ।
मा त्वा व्यस्तकेश्यो३ मा त्वाघरुदो रुदन् ॥ १९ ॥

भा०—हे पुरुष ! मैं विद्वान् या ईश्वर (मृत्योः) मृत्यु के पाश से (त्वा) तुझ को (उत् अपीपरम्) ऊपर करता हूँ । (वयोधसः) अन्न, आयु का धारण और प्रदान करने वाले लोग तुझ को पुष्ट करें । (व्यस्तकेश्यः) स्त्रियें बाल खोल २ कर तेरे लिये (मा रुदन्) न रोया करें और (अघरुदः) बुरी तरह से रोने वाले बन्धुजन भी (त्वा) तेरे लिये (मा रुदन्) न रोवें । अर्थात् तू पूर्ण आयु होकर वृद्ध दशा में शरीर छोड़ । इससे किसी के विलाप दुःख का तू कारण न होगा ।

आहार्षमविदं त्वा पुनरागाः पुनर्णवः ।
सर्वाङ्ग सर्वं ते चक्षुः सर्वमायुश्च तेविदम् ॥ २० ॥
ऋ० १० । १६१ । ५ ॥

भा०—हे पुरुष ! जीव ! (अहार्षम्) मैं परमेश्वर तुझ को इस शरीर में प्राप्त कराता हूँ । और (त्वा अविदम्) और तुझ को स्वयं लिये रहता हूँ या तेरी खबर रखता हूँ । तू इस शरीर में (पुनः आगाः) बार २ आता है । और (पुनः नवः) पुनः २ नया होता है । हे (सर्वाङ्ग) समस्त अंगों से युक्त पुरुष ! (ते) तेरी (सर्वम्) सब (चक्षुः) देखने या ज्ञान करने की इन्द्रियें और (सर्वम्) समस्त (आयुः च) आयु (ते) तुझे (अविदम्) प्राप्त कराता हूं । ईश्वर हमें इस देह में लाता हमारी खबर रखता है । जीवन के योग्य सब पदार्थ देता है, हम सदा नये होकर उत्पन्न होते हैं और शरीर को भी प्रतिदिन वह नया बनाये रखता है, हमें इन्द्रियें ज्ञान करने के लिये देता है और वह दीर्घ जीवन का प्रदान करता है ।

२०—(द्वि०) 'पुनर्नवं' इति सायणाभिमतः पाठः । (प्र०) 'आहार्ष त्वाविदं त्वा पुनरागाः पुनर्नवः' इति ऋ० ।

व्य१वात् ते ज्योतिरभूदप त्वत् तमो अक्रमीत्।
अप त्वन्मृत्युं निर्ऋतिमप यक्ष्मं नि दध्मसि ॥ २१ ॥ (२)

भा०—(ते) तेरे लिये (ज्योतिः) जीवन का प्रकाश प्रति दिन सूर्य रूप से और आत्मा में ज्ञान रूप से (व्यवात्) विशेष रूपसे प्रकट होता हुआ (अभूत्) आता है। और (त्वत्) तुझ से (तमः) अन्धकार और मृत्यु (अप अक्रमीत्) दूर हो जाता है। और हम भी (त्वत्) तुझ से (निर्ऋतिम् मृत्युम्) पाप और पाप से होने वाली निःशेष दुःखकारी मृत्यु को (अप निदध्मसि) दूर करते हैं और (यक्ष्मम्) यक्ष्म नामक तपेदिक रोग को भी (अप नि दध्मसि) दूर करते हैं।



[२] दीर्घ जीवन का उपदेश।

ब्रह्मा ऋषिः। आयुर्देवता। १,२,७ भुरिजः। ३,२६ आस्तार पंक्तिः, ४। प्रस्तार पंक्तिः, ६-१५ पथ्या पंक्तिः। ८ पुरस्ताज्ज्योतिष्मती जगती। ९ पञ्चपदा जगती। ११ विष्टारपंक्तिः। १२,२२,२८ पुरस्ताद् बृहत्यः। १४ त्र्यवसाना षट्पदा जगती, १६ उपरिष्टाद् बृहती, २१ सतः पंक्तिः। ५,१०,१९-१८,२०,२३-२५,२७ अनुष्टुभः। १७ त्रिपाद् ॥

आ रभस्वेमाममृतस्य श्नुष्टिमच्छिद्यमाना जरदष्टिरस्तु ते।
असुं त आयुः पुनरा भरामि रजस्तमो मोप गा मा प्र मेष्ठाः ॥१॥

भा०—हे पुरुष! (इमाम्) इस (अमृतस्य) अमृत, पूर्ण १०० वर्ष की के आयु (श्नुष्टिम्)[1]भोग प्राप्त करने का (आरभस्व) उद्योग कर। (ते) तेरी (जरदष्टिः) जरा अवस्था तक की जीवन यात्रा, और

[२] १—'स्नुष्टिरिति' क्वचित् पाठः।

१. श्नुष्टिः, श्नुसु अदनं आदान इत्येके।

जीवन पर्यन्त उपभोग करने के निमित्त अन्न आदि सामग्री सदा (अविच्छि-द्यमाना) विना विच्छेद के निरन्तर जुटी (अस्तु) रहे। (ते) तेरे (असुम्) असु, प्राण को और (आयुः) दीर्घ जीवन को (पुनः) फिर (आभरामि) प्रदान करता हूं। हे पुरुष! तू (रजः तमः) राजस और तामस भोगों और विलासों में (मा उप गाः) मत जा और इस प्रकार (मा प्रमेष्ठाः) तू मृत्यु को प्राप्त न हो। अर्थात् सात्विक वृत्ति से जीवन निर्वाह करने से दीर्घजीवन प्राप्त होता है।

जीवतां ज्योतिर॒भ्येह्य॒र्वाङा त्वा॑ हरामि श॒तशा॑रदाय।
अ॒व॒मु॒ञ्चन् मृ॑त्युपा॒शानश॑स्ति॒ द्राघी॑य॒ आयुः॑ प्रत॒रं ते॑ दधामि ॥२॥

भा०—हे पुरुष! तू (जीवताम्) प्राण धारण करने वाले जीते जागते लोगों की (ज्योतिः) ज्योति, प्रकाश या कान्ति को (अर्वाङ्) साक्षात् (अभि-एहि) प्राप्त कर। (त्वा) तुझको मैं ईश्वर (शत शारदाय) सौ वर्ष की आयु भोगने के लिये इस जीव लोक में (आह-रामि) पुनः लाता हूं। और (मृत्यु-पाशान्) मृत्यु के बन्धनों को और (अशस्तिम्) निन्दाजनक अपकीर्ति या अप्रशंसनीय निन्दनीय गति को (अव-मुञ्चन्) दूर करता हुआ (ते) तुझे (प्र-तरं) उत्कृष्ट, (द्राघीयः) दीर्घ (आयुः) आयु (दधामि) प्रदान करता हूँ।

वाता॑त् ते प्रा॒णम॑विदं॒ सूर्या॒च्चक्षु॑र॒हं तव॑।
यत् ते॒ मन॒स्त्वयि॒ तद् धा॑रयामि॒ सं वि॒त्स्वाङ्गै॒र्वद॑ जि॒ह्वया॑लपन् ॥३॥

भा०—(ते) तेरे लिये (प्राणम्) प्राण को हे पुरुष! मैं (वातात्) इस वायु से (अविदम्) उत्पन्न करता हूँ। और (अहम्)

२—'तृतीयचतुर्थचरणयोर्विपर्ययः पैप्पलाद'। 'ज्योतिरभ्येहि लोकम्' इति पैप्प० सं०।

३—(च०) 'विश्वाङ्गैर्वद जिह्वयाऽऽलपन्' इति सायणाभिमतः पाठः।

मैं प्रजापति (तव) तेरी (चक्षुः) दर्शनशक्ति को (सूर्यात्) सूर्य से उत्पन्न करता हूँ। और (यत्) जो (ते) तेरा (मनः) संकल्प-कारी अन्तःकरण है उसको (त्वयि) तेरे भीतर (धारयामि) स्थापित करता हूं। (अंगैः) अपने सब अंगों से या इन्द्रियों या ज्ञानेन्द्रियों से (संविद्य) भली प्रकार ज्ञान कर और (जिह्वया) जीभ या वाणी से (लपन्) स्पष्ट वाणी का उच्चारण करता हुआ (वद) बोल।

प्राणेन॑ त्वा द्विपदां॒ चतु॑ष्पदाम॒ग्निमि॑व जा॒तम॒भि सं ध॑मामि।
नम॑स्ते मृत्यो॒ चक्षु॑षे॒ नमः॑ प्रा॒णाय॑ तेकर॒म् ॥ ४ ॥

भा०—हे पुरुष ! जीवात्मन् ! (अग्निम् इव) जिस प्रकार आग को फूँक लगा कर या वायु द्वारा पंखे से जिया लिया जाता है। उसी प्रकार (द्विपदाम्) दोपाये मनुष्य-शरीर और पक्षि शरीरों में और (चतु-ष्पदाम्) चौपायों में (जातम्) उत्पन्न होकर शरीर धारण किये हुए तुझको मैं ईश्वर (प्राणेन) प्राण द्वारा (अभि सं धमामि) स्वयं प्रत्यक्षरूप में तुझे चैतन्य किये रहता हूँ। उत्तर में जीव कहता है। हे भगवन् ! (मृत्यो) सब प्राणियों को देह से पृथक् करने वाले मृत्यो ! (ते चक्षुषे) तेरे प्रदान किये चक्षु आदि इन्द्रिय साधनों के लिये (नमः) उनका भोग्य विषय और (ते प्राणाय) तेरे दिये प्राण के लिये भी मैं (नमः) अन्न (अकरम्) उत्पन्न करूँ। अशनाया वै मृत्युः। भूख और अपान मृत्यु है।

अ॒यं जी॑वतु॒ मा मृ॑ते॒मं समी॑रयामसि।
कृ॒णोम्य॑स्मै भेष॒जं मृत्यो॒ मा पुरु॑षं वधीः ॥ ५ ॥

भा०—(अयम्) यह पुरुष (जीवतु) जीवे, सदा जीवे, (मा मृत) कभी न मरे। हम विद्वान्गण इसको (सम् ईरयामः) उत्तम रीति से जीवन गति प्रदान करते हैं। मैं (अस्मै) इस पुरुष के लिये (भेषजं

कृणोमि) सब दुःख दूर करने का उपाय करता हूँ । हे (मृत्यो) मौत ! तू (पुरुषम्) पुरुष को (मा वधीः) मत मार । उत्तम रूप से प्राण शक्ति को प्रेरित करने से और रोग की तुरन्त चिकित्सा कर लेने से शरीर मृत्यु के भय से बच जाता है ।

जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम् ।
त्रायमाणां सहमानां सहस्वतीमिह हुवेऽस्मा अरिष्टतातये ॥ ६ ॥

भा०—(अहम्) मैं परमेश्वर (अस्मै) इस पुरुष के लिये (जीवलाम्) जीवनप्रद, प्राणप्रद (नघरिषाम्) कभी प्राण पर आघात न करने वाली (जीवन्तीम्) जीवन्ती नामक, ओषधि को, (त्रायमाणाम्) त्रायमाणा ओषधि को और (सहस्वतीम्) सब रोगों के आक्रमणों को दबाने वाली (सहमानाम्) बलवती, रोगनाशक पापनाशक ओषधि या सहदेवी ओषधि को (अरिष्टतातये) नीरोग होने के लिये (हुवे) जीवों को प्रदान करता हूँ ।

अधि ब्रूहि मा रभथाः सृजेमं तवैव सन्त्सर्वहाया इहास्तु ।
भवाशर्वौ मृडतं शर्म यच्छतमपसिध्य दुरितं धत्तमायुः ॥ ७ ॥

भा०—हे मृत्यो ! (अधि ब्रूहि) तू ही इस जीव को जीवन प्राप्त करने का उपदेश कर । (मा रभथाः) इस को मार मत । बल्कि (इमं सृज) इस पुरुष को उत्पन्न कर, रच और आगे बढ़ा । यह पुरुष (तव-एव) तेरा हो (सन्) होकर (इह) इस लोक में (सर्वहायाः) समस्त जीवन के शतवर्ष पर्यन्त (अस्तु) रहे । (भवाशर्वौ) हे भव और शर्व ! सर्वोत्पादक और सर्वविनाशक शक्तियो ! तुम दोनों अपने २

६–'नघरुषां' इति सायणाभिमतः पाठः । (प्र०) 'नघारिषं' (च०) 'सहस्वतीमरुन्धतीम् ह्वये' इति पैप्प० सं० ।

७–'सं । सर्वहायाः' इति सायणाभिमतः पदच्छेदः ।

अवसर पर इस जीव को (मृडतम्) सुखी करो और (शर्म यच्छतम्) सुखमय कल्याण प्रदान करो । इस पुरुष के (दुरितम्) दुष्कर्म, पाप, दुष्ट आचरण को (अपसिध्य) दूर करके (आयुः धत्तम्) दीर्घ जीवन प्रदान करो ।

उत्पत्ति काल में जीव में दुश्चेष्टाओं को दूर करने और वार्धक काल में तपस्या करने से भी दीर्घ जीवन प्राप्त होता और जीवन में सुख होता है । नहीं तो बाल्यकाल के कुसंग और वार्धक काल की भोगतृष्णा ही जीवन को रोगमय और जीर्ण कर देती है ।

अस्मै मृत्यो अधि ब्रूहीमं दयस्वोदितो३ऽयमेतु ।
अरिष्टः सर्वाङ्गः सुश्रुज्जरसा शतहायन आत्मना भुजमश्नुताम् ॥८॥

भा०—हे (मृत्यो) मृत्यो ! (अस्मै) इस जीव को (अधि-ब्रूहि) तू उपदेश कर ! (इमम्) इस पुरुष को (दयस्व) पालन कर । (उदितः) यह दुखों से ऊपर उठ कर, अभ्युदय को प्राप्त करके (अयम्) यह पुरुष (एतु) जीवनपथ में आवे । और (अरिष्टः) किसी प्रकार भी पीड़ित न होकर, मंगलमय होकर, (सर्वांगः) सब अंगों से पूर्ण, हृष्ट पुष्ट (सुश्रुत्) उत्तम श्रवण शक्ति से युक्त रह कर (जरसा) बुढ़ापे में (शतहायनः) सौ वर्ष पूर्ण करके (आत्मना) अपने देह से (भुजम्) अपने भोग्य, कर्म फल को (अश्नुताम्) भोग करे ।

देवानां हेतिः परि त्वा वृणक्तु पारयामि त्वा रजस उत् त्वा मृत्योरपीपरम् ।
आरादग्निं क्रव्यादं निरूहं जीवातवे ते परिधिं दधामि ॥ ९ ॥

८—(द्वि०) 'दयस्वोदितोहि मे तु' (च०) 'शतहायनात्मना' इति पैप्प० सं० ।

९—'क्रव्यादं निरोहं' इति सायणाभिमतः पाठः ।

भा०—(देवानाम्) दिव्य पदार्थ अग्नि, वायु, विद्युत्, वर्षा, उल्का आदि पदार्थों का और राष्ट्र के शासक, विद्वान् और शक्तिशाली अधिकारी पुरुषों का (हेतिः) आघातकारी शस्त्र या दण्ड (त्वा) तुझे (परि-वृणक्तु) आघात न करे, अपने आघात से बचाये रखे। मैं (त्वा) तुझ जीव को (रजसः) रजस् या राजस प्रलोभनों से (पारयामि) पार करता हूँ। (त्वा) तुझको (मृत्योः) मृत्यु से (उत् अपीपरम्) ऊपर उठाता हूँ। (क्रव्यादम्) मांस खाने वाले पशु को और प्राणनाशक (अग्निम्) अग्नि को अथवा (क्रव्यादम् अग्निम्) नर शरीर के मांस को स्वीकार करने वाले शवाग्नि को (आरात्) दूर (निरूहम्) करता हूँ। और (ते) तेरे (जीवातवे) जीवन के लिये (परिधिम्) उत्तम सुरक्षा (दधामि) स्थापन करता हूँ।

यत् ते नियानं रजसं मृत्यो अनवधर्ष्यम्।
पथ इमं तस्माद् रक्षन्तो ब्रह्मास्मै वर्म कृण्मसि ॥ १० ॥

भा०—हे (मृत्यो) मृत्यो ! आत्मा को शरीर से पृथक् करने हारे तमःस्वरूप मृत्यो ! (यत्) जो (ते) तेरा (अनवधर्ष्यम्) असह्य और अजेय (रजसं=राजसम्) रजो गुण का बना हुआ (नियानम्) नीचे जाने का मार्ग है। (तस्मात्) उस (पथः) मार्ग से (रक्षन्तः) इस जीव की रक्षा करते हुए हम (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञान या वेदोपदिष्ट ज्ञान को (अस्मै) इस जीव की रक्षा के लिये (वर्म) आवरणकारी कवच (कृण्मसि) करें। राजस कार्य और विचार मनुष्य को नीचे गिराते हैं। वे मौत की तरफ़ ले जाते हैं, उनसे बचने के लिये सात्विक मार्ग, वेदोपदिष्ट ब्रह्मज्ञान एक भारी कवच है।

१०–(द्वि०) 'अनवधृष्यम्' इति सायणाभिमतः पाठः। (प्र०) 'यत् ते नियानं रजसो मृत्योनव' इति पैप्प० सं०।

कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति ।
वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतांश्चरतोऽप सेधामि सर्वान् ॥ ११ ॥

भा०—(ते प्राणापानौ) हे पुरुष ! तेरे प्राण और अपान, भीतर से बाहर और बाहर से भीतर चलने वाले श्वासों को (कृणोमि) उचित रूप से सुधार देता हूँ । और इस प्रकार (जराम्) बुढ़ापे और (मृत्युम्) मौत दोनों को (अपसेधामि) दूर कर देता हूँ । इस प्रकार (दीर्घम्) दीर्घ (आयुः) जीवन (स्वस्ति) तेरे लिये कल्याणकारी सुखजनक और अविनाशी हो । इसी प्राण और अपान की उचित गति से (वैवस्वतेन) विवस्वान सूर्य से उत्पन्न काल के (प्रहितान्) भेजे (चरतः) निरन्तर गतिशील, परिवर्त्तनशील (यम-दूतान्) यम के दूत रूप काल के दण्ड, दिन, मास, पक्ष, ऋतु वर्ष आदि (सर्वान्) सब को (अपसेधामि) जीवन विनाश करने के कार्य से दूर करता हूँ ।

आरादरातिं निर्ऋतिं परो ग्राहिं क्रव्यादः पिशाचान् ।
रक्षो यत् सर्वं दुर्भूतं तत् तम इवाप हन्मसि ॥ १२ ॥

भा०—(तमः इव) जिस प्रकार प्रकाश द्वारा अन्धकार को दूर कर दिया जाता है उसी प्रकार हम (निर्ऋतिम्) अविद्यामय पाप की प्रवृत्ति को, (अरातिम्) दान न देने वाली, कंजूसी, कृपणता को, (ग्राहिम्) हाथ पैर जकड़ देने वाली अथवा सब की सुख संम्पत् चाट जाने वाली लोभवृत्ति को (क्रव्यादः) मांसाहारी जन्तुओं को और (पिशाचान्) घृणित शव मांस के खाने वाले पिशाचों को और (रक्षः) धर्म कार्य से परे हटाये रखने वाले, विघ्नकारी पुरुषों को और (यत्) जो कुछ

११–(द्वि०) 'जरामृत्युं' (च०) 'चरतारान् (द) अप' इति पैप्प० सं० ।
१२–(द्वि०) 'पुरोग्राहिं' (च०) 'तम एवाप' इति सायणाभिमतः पाठः । 'तमेवाप' इति पैप्प० सं० ।

भी (दुर्भूतम्) दुष्ट या दुःखकारी पदार्थ है (तत्) उस सब को (परः) परे (अरात्) दूर ही (अप हन्मसि) मार भगावें ।

अ॒ग्नेष्टे॑ प्रा॒णम॒मृता॒दायु॑ष्मतो वन्वे जा॒तवे॑दसः ।
यथा॒ न रिष्या॑ अ॒मृतः॑ स॒जूरस॒स्तत् ते॑ कृणोमि॒ तदु॑ ते॒ सम॑ृध्यताम् ॥१३॥

भा०—हे पुरुष ! (ते) तेरे (प्राणम्) प्राण को (अग्नेः) प्रकाशस्वरूप (अमृतात्) अमृतमय, अमर (आयुष्मतः) दीर्घ आयु से सम्पन्न (जातवेदसः) वेद, ज्ञानमय, सर्वज्ञ प्रभु या सूर्य से (वन्वे) ऐसे प्राप्त करता हूँ । (यथा) जिससे तू भी (अमृतः) अमृतमय होकर (न रिष्याः) विनाश को प्राप्त न हो । (सजूः असः) तू उस अमृतमय के साथ प्रेम करता रह । (तत्) उस परमपद का (ते) तेरा ब्रह्मज्ञान तेरे लिये (समृध्यताम्) समृद्धिकारक, सर्वफलप्रद हो ।

शि॒वे ते॑ स्तां॒ द्यावा॑पृथि॒वी अ॑संता॒पे अ॑भि॒श्रियौ॑ ।
शं ते॒ सूर्य॒ आ त॑पतु॒ शं वातो॑ वातु ते हृ॒दे ।
शि॒वा अ॒भि क्ष॑रन्तु॒ त्वापो॑ दि॒व्याः पय॑स्वतीः ॥ १४ ॥

भा०—हे पुरुष ! (ते) तेरे लिये (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, (अभिश्रियौ) सब तरफ़ से शोभायमान या सब तरफ से आश्रय देनेवाली, (असन्तापे) संताप, क्लेश से रहित, सुखकारी (शिवे) शुभ, कल्याणकारी (स्ताम्) हों । हे पुरुष ! (ते) तेरे लिये (सूर्यः) सूर्य (शम्) कल्याण, सुखकारीरूप में (आ तपतु) तपे, प्रकाशित हो, और पृथ्वी को संतप्त करे । और (ते हृदे) तेरे हृदय के अनुकूल

१३–(तृ०) 'यथा न ऋष्या' इति क्वचित् पाठः । (द्वि०) 'वनेव जातवेदसः' इति पैप्प० सं० ।

१४–(तृ०) 'सूर्या तपतु' (ष०) 'अभि क्षरन्ति', 'त्वा शिवास्ते सन्त्वोषधीः' इति पैप्प० सं० । 'असंतापे अधिश्रियौ' इति सायणाभिमतः पाठः ।

(वातः) वायु भी (शम्) कल्याण और सुखकारी होकर (वातु) बहे। (शिवाः) शुभ, सुखकारी (दिव्याः) आकाश से उत्पन्न, दिव्य, गुणकारी, (पयस्वतीः) पुष्टिकारक अन्नों से समृद्ध (आपः) वर्षा की जलधाराएँ (त्वा) तेरे देश के प्रति (अभि क्षरन्तु) सब ओर से आवें और भूमि पर पड़ें और भूमियों को सींचें।

शिवास्ते सन्त्वोषधय उत् त्वाहार्षमधरस्या उत्तरां पृथिवीमभि।
तत्र त्वादित्यौ रक्षतां सूर्याचन्द्रमसावुभा ॥ १५ ॥

भा०—(ते) तेरे लिये (ओषधयः) ओषधियाँ (शिवाः) कल्याणकारी (सन्तु) हों। मैं तुझ रोगी एवं अस्वस्थ पुरुष को स्वस्थ और रोग रहित करने के लिये (अधरस्याः) नीची और हीनगुणवाली भूमि से (उत्तरां पृथिवीम् अभि) उत्कृष्ट गुणवाली ऊँची, स्वच्छ वायु से पूर्ण पर्वत की भूमि में (उद् अहार्षम्) ऊपर ले जाऊँ। (तत्र) वहाँ (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य और चन्द्रमा दोनों (आदित्यौ) प्रकाशमय पुञ्ज, अदिति=अखण्ड सामर्थ्यवान् शक्ति के पुञ्ज (उभौ) दोनों ही (त्वा) तेरी (रक्षताम्) रक्षा करें। तेरे जीवन को दीर्घ करें। ओषधि का सेवन और ऊँचे स्थल पर सूर्य और चन्द्र के प्रकाश का सेवन दीर्घ जीवन का कारण है।

यत् ते वासः परिधानं यां नीविं कृणुषे त्वम्।
शिवं ते तन्वे३ तत् कृण्मः संस्पर्शेऽद्रूक्ष्णमस्तु ते ॥१६॥

भा०—हे पुरुष ! (यत् ते) जो तेरा (परिधानम्) शरीर को ढांपने का ऊपरी (वासः) वस्त्र है और (याम्) जिसको तू (नीविम्)

१५–(प्र०) 'उत्त्वा हारिपम्', (द्वि०) 'पृथिवीमति' (च०) 'चन्द्रमसा उभा' इति पैप्प० सं०।

१६–'अद्रूक्ष्णमस्तुत' इति सायणाभिमतः पाठः। 'अरूक्ष्णम्', 'अद्रूक्ष्ण' 'अद्रूक्ष्ण' इति क्वचित् दस्पष्टो लेखः।

शरीर के कटिभाग में धोती या पाजामा या लंगोटी (कृणुपे) बना कर तेड़ लगा लेता है (तत्) उस वस्त्र को भी हम (ते तन्वे) तेरे शरीर के लिये (शिवम्) सुखकारी कल्याणकारी (कृण्मः) करें। जिससे वह वस्त्र (ते) तेरे लिये (संस्पर्शे) स्पर्श में (अद्रूक्ष्णम्) रूखा और कठोर, क्लेशकारी न (अस्तु) हो, प्रत्युत सुखकारी, कोमल हो जो शरीर में न चुभे।

यत् क्षुरेण मर्चयता सुतेजसा वप्ता वपसि केशश्मश्रु।

शुभं मुखं मा न आयुः प्र मोषीः ॥ १७ ॥

भा०—हे पुरुषो ! तुम लोग (यत्) चाहे (सुतेजसा) खूब चमकते, तेज़ धार वाले तीक्ष्ण (क्षुरेण) छुरा से (मर्चयत) बालों को साफ़ करा दो, क्षौर कर्म करा दो। हे नापित पुरुष ? तू (वप्ता) केशों को काटनेवाला नाई होकर (केशश्मश्रु) शिर के बालों और मुख पर के मूँछ आदि बालों को भी (वपसि) मूंड़ डाल। हे पुरुष ! (तव) तेरा (मुखम्) मुख (शुभम्) सुन्दर, शोभायुक्त हो। इस अवसर पर हे नापित ! तू (नः) हमारे (आयुः) जीवन को (मा) मत (प्रमोषीः) नाश कर। अर्थात् हे लोगो ! तीक्ष्ण धार वाले छुरे से बाल बनवाओ, सिर के और मुख के बाल साफ़ कराओ, सुन्दर मुख से रहो, परन्तु नाई असावधानी से किसी के प्राण न ले, उस्तरे निर्विष हों और उनको सावधानी से प्रयोग करे।

१७–(प्र०) 'मर्चयन्ता सुतेजसा' (तृ०) 'शुभन् मुखं' इति च ह्विटनेकामितौ पाठौ। (द्वि०) 'केशश्मश्रू' (तृ०) 'मैनमायुः' इति पैप्प० सं०। 'मर्चमता सुपेशसा' प्रा० गृ० सू०, हि० गृ० सू०, आ० गृ० सू०। 'वसर्वपसि' इति हि० गृ० सू०। 'वप्ता वपति केशान्' पा० गृ० सू०। (तृ०) 'शुन्धि शिरोमा' इति पा० गृ० सू०। 'वर्चमा मुखं' इति हि० गृ० सू०। 'मास्य आयुः' पा० गृ० सू०।

शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदोमधौ ।
एतौ यक्ष्मं वि बाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः ॥ १८ ॥

भा०—हे पुरुष ! (व्रीहियवौ) धान्य और जौ दोनों (ते) तेरे लिये (शिवौ) शिव, कल्याणकारी, सुखकारी (स्ताम्) हों । वे दोनों तेरे (अबलासौ) बल के विनाशक या कफकारी न हों और वे दोनों (अदोमधौ) खाने में सुखकारी, मधुर प्रतीत हों । (एतौ) ये दोनों (यक्ष्मम्) राजयक्ष्मा और अन्य रोगों को (वि बाधेते) नाना प्रकार से नाश करें (एतौ) वे दोनों (अंहसः) मानस और शरीर के पाप और पीड़ाओं से भी पुरुष को (मुञ्चतः) छुड़ाते हैं ।

यदश्नासि यत् पिबसि धान्यं कृष्याः पयः ।
यदाद्यं यदनाद्यं सर्वं ते अन्नमविषं कृणोमि ॥१९॥

भा०—हे पुरुष ! तू (यत्) जिस (धान्यम्) धान्य, अन्न को (कृष्याः) कृषि, खेती से उत्पन्न करके (अश्नासि) खाता है और (यत्) जिस (पयः) पुष्टिकारक दूध और जल का (पिबसि) पान करता है और (यत्) जो पदार्थ भी (आद्यम्) खाने योग्य है और (यद् अनाद्यम्) जो पदार्थ खाने योग्य नहीं भी है उस (सर्वम्) सब (अन्नम्) अन्न को (ते) तेरे लिये (अविषं कृणोमि) विष रहित करता हूं ।

अह्ने च त्वा रात्रये चोभाभ्यां परि दद्मसि ।
अरायेभ्यो जिघत्सुभ्य इमं मे परि रक्षत ॥ २० ॥

१८—(द्वि०) 'अदोमधू' इति सायणाभिमतः पाठः । 'अधोमधो' इति पैप्प० सं० ।

१९—(द्वि०) 'धान्यं कृच्छ्रात् पयः' इति सायणाभिमतः पाठः ।

२०—'परिदध्मसि' इति सायणाभिमतः पाठः । (द्वि०) 'परिदध्मसि' (तृ०) 'रायेभ्यः' (च०) 'इमं नः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे पुरुष ! (त्वा) तुझे मैं (अह्ने) दिन के समय और (रात्रये च) और रात्रि के समय (उभाभ्याम्) दोनों के सुखपूर्वक उपभोग के लिये (परि दद्मसि) हम स्वतन्त्रता देते हैं। और हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (मे) मेरे (इमम्) इस शरीर और धन को (अरायेभ्यः) निर्धन और (जिवत्सुभ्यः) भुक्खड़ों से (परि रक्षत) रक्षा करो।

प्रत्येक व्यक्ति को दिन और रात विचरने की स्वतन्त्रता है। और राजकर्मचारी लोग प्रजाजन की 'अराय' अर्थात् निर्धन, बिना सम्पत्ति के जरायमपेशा डाकुओं से और जिवत्सु अर्थात् दूसरों को खा जाने वाले हिंसक जन्तुओं से रक्षा करें।

शतं तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनु मन्यन्तामहृणीयमानाः ॥ २१ ॥

भा०—हे पुरुष ! (ते) तेरी आयु के (शतं हायनान्) सौ वर्षों को हम बढ़ा कर (अयुतं हायनान्) एक सहस्र वर्ष तक बढ़ावें। और (द्वे युगे) दो युगों के जीवन को (त्रीणि चत्वारि) तीन और चार युगों तक का लम्बा जीवन (कृण्मः) करते हैं। (इन्द्राग्नी) इन्द्र परमेश्वर और अग्नि, ज्ञानी पुरुष और (विश्वे देवाः) समस्त देव विद्वान् लोग (अहृणीयमानाः) विना संकोच, लज्जा और रोष के (ते) तेरी इतनी लम्बी आयु को (अनु मन्यन्ताम्) स्वीकार करें।

शरदे त्वा हेमन्ताय वसन्ताय ग्रीष्माय परि दद्मसि।
वर्षाणि तुभ्यं स्योनानि येषु वर्धन्त ओषधीः ॥ २२ ॥

भा०—हे पुरुष ! हम (शरदे) शरद् (हेमन्ताय) हेमन्त (वसन्ताय) वसन्त (ग्रीष्माय) और ग्रीष्म ऋतु के उपभोग के लिये

२१–(द्वि०) 'चत्वारि सन्तु'. (तृ०) 'विश्वे देवा अनु' इति पैप्प० सं०।
२२–(द्वि०) 'परिदध्मसि' इति पैप्प० सं०।

(त्वा) तुझको (परिदद्मसि) सब प्रकार से स्वतन्त्र करते हैं। और (येषु) जिन कालों में (ओषधीः) ओषधियां (वर्धन्ते) बढ़ती हैं सर्वत्र हरियाली ही हरियाली छा जाती हैं वे (वर्षाणि) वर्षा काल के दृश्य भी (तुभ्यम्) तेरे लिये (स्योनानि) सुखकारी हों।

मृत्युरीशे द्विपदां मृत्युरीशे चतुष्पदाम्।

तस्मात् त्वां मृत्योर्गोपतेरुद्भरामि स मा बिभेः ॥ २३ ॥

भा०—(मृत्युः) मृत्यु (द्विपदाम्) दुपायों पर भी (ईशे) बलशाली है और (मृत्युः) मृत्यु (चतुष्पदाम् ईशे) चौपायों पर भी बलशाली है, उन पर भी वह शासन करता है। इसलिये हे पुरुष ! (गोपतेः) पशुओं के और उनके समान भयातुर अज्ञानी प्राणियों के स्वामी (तस्मात्) उस (मृत्योः) मृत्यु के पाश से मैं (त्वा) तुझे (उद्-भरामि) ऊपर उठाता हूँ। (सः) वह तू ज्ञानवान् होकर मृत्यु से (मा बिभेः) मत डर।

सो॑ऽरिष्ट न म॑रिष्यसि न म॑रिष्यसि मा बि॑भेः।

न वै तत्र॑ म्रियन्ते नो य॑न्त्यधमं तमः॑ ॥ २४ ॥

भा०—हे (अरिष्ट) हिंसा से मुक्त अविनाशी आत्मन्! पुरुष ! (सः) तू वह, इस शरीर से सर्वथा पृथक्, चैतन्य आत्मा है। तू (न मरिष्यसि) कभी नहीं मरेगा। (न मरिष्यसि) तू निश्चय से कभी न मरेगा। अतः (मा बिभेः) तू भय मत कर। (तत्र) उस परम पद चैतन्य रूप में प्राप्त होकर ज्ञानी मुक्त पुरुष (न वै म्रियन्ते) निश्चय से नहीं मरते (नो) और न (अधमं तमः) अधम, नीचे के अन्धकारमय नरक लोक को ही (यन्ति) जाते हैं।

२३–(च०) 'उद्भरामि स मा मृताः [थाः]' इति पैप्प० सं०।

२४–'न वै प्र म्रियन्ते' इति पैप्प० सं०।

सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्वः पुरुषः पशुः ।
यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीवनाय कम् ॥ २५ ॥

भा०—(यत्र) जिस देश और जिस काल में (इदम्) यह (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञान (जीवनाय) जीवन को रक्षा के लिये (परिधिः) अपना प्रकोट या दुर्ग के समान (क्रियते) बना लिया जाता है (तत्र) वहां (वै) निश्चय से (गौः अश्वः पुरुषः पशुः) गौ, अश्व, मनुष्य और पशु सब जीव (जीवति) जीते रहते हैं ।

परि त्वा पातु समानेभ्योऽभिचारात् सबन्धुभ्यः ।
अमम्रिर्भवामृतोऽतिजीवो मा ते हासिषुरसवः शरीरम् ॥ २६ ॥

भा०—हे पुरुष ! पूर्व मन्त्र में कहा हुआ ब्रह्मज्ञानमय दुर्ग (त्वा) तुझको (समानेभ्यः) तेरे समान बल, विद्या और आयु वाले पुरुषों और (सबन्धुभ्यः) साथ रहने वाले बन्धुजनों की ओर से होने वाले (अभिचारात्) आक्रमण से (परि पातु) रक्षा करे । तू (अमम्रिः) कभी न मरनेवाला अविनाशी (अमृतः वा) और अमृत, अमर जीवात्मा है तू (अतिजीवः) अन्य सामान्य जीवों की दशा को अपने ज्ञानबल से पार कर लेता है अतः (ते शरीरम्) तेरे शरीर को (असवः) प्राण (मा हासिषुः) कभी परित्याग न करें ।

ये मृत्यव एकशतं या नाष्ट्रा अतितार्याः ।
मुञ्चन्तु तस्मात् त्वां देवा अग्नेर्वैश्वानरादधि ॥ २७ ॥

भा०—(ये) जो (एक-शतम्) एक सौ एक (मृत्यवः) मृत्युएं हैं और (याः) जो (अति-तार्याः) पार करने योग्य (नाष्ट्राः) नाशकारिणी

२६–(द्वि०) सुगन्तुभ्यः' इति पैप्प० सं० ।
२७–(द्वि०) 'नाष्ट्राचा' (तु–) जीव्याः' इति पैप्प० सं० ।

अविद्या ग्रन्थियां हैं (वैश्वानरात्) समस्त जीवों के भीतर व्यापक (अग्नेः) प्रकाशमय प्रभु के (अधि) बल पर या उसकी तरफ से प्रतिनिधि होकर (देवाः) ज्ञानी पुरुष (त्वा) तुझे (तस्मात्) उनसे (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ।

अग्नेः शरीरमसि पारयिष्णु रक्षोहासि सपत्नहा ।
अथो अमीवचातनः पूतुद्रुर्नाम भेषजम् ॥ २८ ॥ [४]

भा०—हे ब्रह्मन् ! या हे आत्मन् ! पुरुष ! तू स्वयं (अग्नेः) उस ज्ञानमय आत्मा का (शरीरम् असि) शरीर है । तू स्वयं (पारयिष्णु) इस क्लेशमय संसार के पार करने में समर्थ, (रक्षोहा) समस्त विघ्नों और विघ्नकारी दुष्टों का नाशक और (सपत्नहा) शत्रुओं का नाशक (असि) है (अथो) और तू (अमीव-चातनः) समस्त रोगों, क्लेशों का नाशक है। तू ही (पूतुद्रुः) इस शरीर रूप वृक्ष को सदा पवित्र करनेवाला (भेषजम्) सब भव रोगों का परम औषध है ।

ब्रह्म के विषय में—(पूतुद्रुः) इस महान् ब्रह्माण्डमय वृक्ष को पवित्र करने वाला है । अथवा "ऊर्ध्वं मूलो अवाक्शाखः एषोऽश्वत्थः सनातनः," इत्यादि प्रतिपादित पवित्र वृक्षस्वरूप ब्रह्म ही भवरोग का परम औषध है ।

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[तत्र द्वे सूक्ते, एकोनपञ्चाशदृचः]



[३] प्रजा-पीड़कों का दमन ।

चातन ऋषिः । अग्निर्देवता, रक्षोहणम् सूक्तम् । १,६,८,१३,१५,१६,१८,२०, २४ जगत्यः, ७,१४,१७,२१,१२ भुरिक्, २५ बृहतीगर्भा जगती । २२,२३ अनुष्टुभौ । २६ गायत्री । षड्विंशर्चं सूक्तम् ॥

रक्षोहणं वाजिनमा जिघर्मि मित्रं प्रथिष्ठमुपयामि शर्म ।
शिशानो अग्निः क्रतुभिः समिद्धः स नो दिवा स रिषः पातु नक्तम् ॥ १ ॥ ऋ० १० । ८७ । १ ॥

भा०—मैं (वाजिनम्) बलवान् (रक्षोहणम्) राक्षस, विघ्नकारी पुरुषों के नाशक पुरुष को (आजिघर्मि) और भी अधिक प्रबल करता हूँ । और (प्रथिष्ठम्) उस महान् से भी महान् (मित्रम्) मरण से बचाने वाले प्रजा के पालक, प्रजा के मित्र राजा की (शर्म) शरण को (उपयामि) प्राप्त होता हूँ । वह (अग्निः) अग्नि के समान शत्रु का तापक परंतप, (शिशानः) निरन्तर तीक्ष्ण स्वभाव का होकर (क्रतुभिः) अपने कर्मों द्वारा (समिद्धः) प्रदीप्त, उज्ज्वल, कीर्त्तिमान् होकर (सः) वह (नः) हमें (रिषः) हिंसक पुरुष से (दिवा नक्तम्) दिन और रात (पातु) रक्षा करे ।

अयोदंष्ट्रो अर्चिषा यातुधानानुप स्पृश जातवेदः समिद्धः ।
आ जिह्वया मूरदेवान् रभस्व क्रव्यादो वृष्ट्वापि धत्स्वासन् ॥२॥ ऋ० १० । ८७ । ८ ॥

भा०—हे (जातवेदः) समस्त प्रजाजनों के जानने हारे अग्नि के समान राजन् ! तू (समिद्धः) भड़कती आग के समान राज्य आदि ऐश्वर्य और उसके उचित तेज और सामर्थ्य से प्रदीप्त होकर (अयोदंष्ट्रः) अपनी लोहों की दाढ़ों से, शस्त्रों से सुसज्जित होकर (अर्चिषा) अपने तेज से (यातु-धानान्) प्रजा के पीड़क एवं दण्डनीय पुरुषों को (उपस्पृश) छू, उनको ही ज्वाला से जला और (मूरदेवान्) मूढ़ अज्ञानी विषय भोगों

[३] १–ऋग्वेदेऽस्य सूक्तस्य पायुर्ऋषिः । अग्नी रक्षोहा देवता ।
२–(च०) 'क्रव्यादो वृक्त्व्यपिधत्स्वासन्' इति ऋ०। 'क्रव्यादो धृष्ट्वा' इति सायणाभिमतः पाठः । (च०) 'आपिदत्स्वासन्' इति पैप्प० सं० ।

के व्यसनी लोगों या जुआखोर लोगों को (जिह्वया) पकड़ने वाली शक्ति से या लोभ भरी जीभ के रस से (आरभस्व) उनको फांस, अपने वश कर और (क्रव्यादः) कच्चा मांस खा जाने वाले हिंसक, पुरुषों और पशुओं के (आसनि) मुखों पर (वृष्ट्वा)[1] बांधकर (अपि-धत्स्व) उनको कैदखाने में बन्द करके रख।

मूरदेवाः—मारकव्यापाराः राक्षसाः इति सायण ऋ० भाष्ये। मूलेन औपधेन दीव्यन्ति परेषां हननाय क्रीडन्ति अथवा मूढाः कार्याकार्यविभागबुद्धिशून्याः सन्तो ये दीव्यन्ति इति सायणोऽथर्वभाष्ये। अर्थात् हिंसक राक्षस या विष औषधों से दूसरों को मार के मज़ा लूटने वाले या कार्याकार्य को न जानकर विवेक रहित होकर जूआ खेलने वाले। ग्रीफ़िथ के मत में 'Foolish Gods' adorers' मूर्ख देवों के पूजने वाले। वस्तुतः—'मूरदेवान् क्रव्यादः जिह्वया आरभस्व' और 'आसन् वृष्ट्वा अपिधत्स्व।' अर्थात् मूढ होकर व्यसनों में खेलने वाले जीवों को जिह्वा के रस से फांस ले और जब वे मांस पर लपकें तब उनका मुख बांधकर कटघरे में बंद करदे। इसी विधि से शेर आदि मांसखोर जन्तु पकड़े जाते हैं। इसी विधि से लोभी क्रूर लोगों को वश करना चाहिये। अन्य भाष्यकारों ने जिह्वा और मुख का सम्बन्ध अग्नि से माना है सो असंगत है।

ऋग्वेद में—'वृक्त्वी अपिधत्स्व आसन्' पाठ है अर्थात् उनके मुख में छेद करके उनको बांध ले। जैसे पशुओं को हरा घास दिखाकर नाक छेद लिया जाता या रीछ को काबू किया जाता है।

उभोभयाविन्नुप धेहि दंष्ट्रौ हिंस्रः शिशानोवरं परं च।
उतान्तरिक्षे परि याह्यग्ने जम्भैः सं धेह्यभि यातुधानान्॥ ३॥
ऋ० १०। ८७। ३॥

---

१. वृष शक्तिबन्धने (चुरादिः)।

३–(प्र०) 'उपधेहि दंष्ट्रा' (तृ०) 'परिपाहि राजन्' इति ऋ०। (प्र०)

भा०—हे अग्ने ! राजन् ! हे (उभयाविन्) अच्छे और बुरे, उत्तम और अधम सबकी प्रजा रूप से रक्षा करनेहारे राजन् ! तू स्वयं (हिंस्रः) दुष्टों का हिंसक होकर (शिशानः) अति तीक्ष्ण स्वभाव होकर उस दुष्ट पुरुष के (वरं परं च) नीचे और ऊपर के (उभा) दोनों (दंष्ट्रौ) दाढ़ों को (उपधेहि) अपने वश कर (उत) और (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (परि याहि) विचरण कर और (यातुधानान्) पीड़ाकारी दुष्ट पुरुषों को (जम्भैः) हननकारी, पीड़क या उनको फांस लेने वाले उपायों से (अभि संधेहि) पकड़, अपने वश कर ।

अग्ने त्वचं यातुधानस्य भिन्धि हिंस्राशनिर्हरसा हन्त्वेनम् ।
प्र पर्वाणि जातवेदः शृणीहि क्रव्यात् क्रविष्णुर्वि चिनोत्वेनम् ॥४॥
ऋ० १० । ८७ । ५ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! शत्रुनाशक राजन् ! तू (यातुधानस्य) प्रजा को पीड़ा देने वाले दुष्ट डाकू पुरुष की (त्वचम्) खाल को (भिन्धि) शरीर से कटवा २ कर छिलवा दे । (हिंस्राशनिः) उसको मार डालने वाली विद्युत् (हरसा) प्राण हरण करने वाले धक्कों से (एनं हन्तु) उसको मार डाले । और उसके (पर्वाणि) पोरु २ को हे (जातवेदः) प्रज्ञावन् राजन् ! (शृणीहि) कटवा डाल । और (क्रविष्णुः) मांस का भूखा (क्रव्यात्) मांसाहारी जन्तु (एनम्) दुष्ट पुरुष को (विचिनोतु) नाना प्रकार से नोच २ कर खा जाय ।

प्रजापीड़कों को राजा विचित्र दण्ड दे जैसे—उसकी खाल छिलवा दे, बिजली के धक्कों से मरवा दे, पोरू २ कटवादे या भूखे शेर चीतों से फड़वा दे । जिससे उसको अपने किये अत्याचारों का प्रतिफल मिले और अपने से पीड़ितों के कष्टों का भी ज्ञान हो ।

'उपदेहि' (च०) 'अपि यातु' इति पैप्प० सं० ।
४–(प्र०) 'विचिनोतु वृक्णम्' इति ऋ० ।

यत्रेदानीं पश्यसि जातवेदस्तिष्ठन्तमग्न उत वा चरन्तम् ।
उतान्तरिक्षे पतन्तं यातुधानं तमस्ता विध्य शर्वा शिशानः ॥ ५ ॥

ऋ० १० । ८७ । ६ ॥

भा०—हे (जातवेदः) विद्वान् राजन् ! (यत्र इदानीम्) जहाँ कहीं भी और जब कभी भी (तिष्ठन्तम्) खड़े हुए, (चरन्तम्) विचरते हुए (उत) और (अन्तरिक्षे पतन्तम्) अन्तरिक्ष में, आकाश मार्ग से जाते हुए (यातुधानम्) पीड़ाकारी दुष्ट पुरुष को (पश्यसि) देखे. तभी और उसी स्थान पर तू (शिशानः) अतितीक्ष्ण (अस्ता) शरों के फेंकने में सावधान और (शर्वा) हिंसक, घातक अस्त्र, बाण या गोली से (तम्) उसको (विध्य) बेध डाल, मार डाल, यदि किसी प्रकार वश में न आता हो और छिपता फिरता हो तो जहाँ भी मिले वहां ही उसको गोली का शिकार किया जाय । राजा स्वयं तो क्या करेगा ? वह (अस्ता) धनुर्धर बाण फेंकने और गोली चलाने वाले पुरुषों या (शर्वा, शिशानः) तीक्ष्ण हिंसक पुरुषों को लगा कर उनसे मरवा डाले ।

यज्ञैरिषूः संनममानो अग्ने वाचा शल्याँ अशनिभिर्दिहानः ।
ताभिर्विध्य हृदये यातुधानान् प्रतीचो बाहून् प्रति भङ्ध्येषाम् ॥ ६ ॥

ऋ० १० । ८७ । ४ ॥

भा०—यदि दुष्ट पुरुष बहुत से मिल कर गिरोह बना कर प्रजा का पीड़न करें तो हे (अग्ने) अग्नि के समान शत्रुपीड़क राजन् ! तू भी (यज्ञैः) संगति करके एकत्र हुए सैनिकों द्वारा (इषूः) बाणों को (संनममानः) उन पर फेंकता हुआ और (वाचा) अपनी वाणी से या

५—(तृ०) 'यद् वान्तरिक्षेपथिभिः पतन्त' इति ऋ० । (च०) 'त्रिद्धि-शर्वा' इति पैप्प० सं० ।

६—(द्वि०) 'शल्यम् अश' इति पैप्प० सं० ।

हुक्म से (शल्यान्) तीक्ष्ण शल्य, कांटों, कीलों और लोहे के तीखे टुकड़ों को (अशनिभिः) बिजली के समान बल से फूटने वाले अशनि नाम आग्नेयास्त्र या बारुद के गोलों द्वारा (दिहानः) खूब प्रबल, वेगवान करके (ताभिः) उन से (प्रतीचः) अपने विरुद्ध युद्ध में आये (यातुधानान्) दुष्ट राक्षस पुरुषों को (हृदये विध्य) उनके छाती में वेध डाल। और (एषाम्) उनके (बाहून्) हाथों और बाजुओं को (प्रति भङ्ग्धि) तोड़ डाल।

उतारब्धान्स्पृणुहि जातवेद उतारेभाणाँ ऋष्टिभिर्यातुधानान्।
अग्ने पूर्वो नि जहि शोशुचान आमादः क्ष्विङ्कास्तमदन्त्वेनीः ॥७॥

ऋ० १० । ८७ । ७ ॥

भा०—हे (जातवेदः) अग्ने ! प्रजाजनों के जानने हारे विद्वान् राजन् ! (उत) और तू (आरब्धान्) पकड़े हुए (उत) और (आरेभाणान्) सर्वत्र कोलाहल करते हुए (यातुधाना) प्रजापीड़क पुरुषों को (ऋष्टिभिः) ऋष्टि नामक तीक्ष्ण धार वाले शस्त्रों द्वारा, संगीनधारी सिपाहियों की रखवाली में (स्पृणुहि) उनको रख। और हे (अग्ने) अग्नि के समान दुष्टपीड़क ! (पूर्वः) सब से श्रेष्ठ तू (शोशुचानः) अपनी दीप्ति से प्रकाशमान होकर उन प्रजापीड़कों को (नि जहि) सर्वथा मार डाल। और (आमादः) कच्चा मांस खाने वाली (एनीः) लाल काली (क्ष्विङ्काः) चीलें (एनम्) इसको (अदन्तु) खाजाएं। राजा दुष्टों को संगीनों के पहरे में रक्खे, या उन को तुरन्त ही विनाश करे या चीलों से नुचवा डाले।

७–(प्र०, द्वि०) 'उतालब्धं स्पृणुहि' 'जातवेद आलेभानादृष्टिभिर्यातुधानात्' इति ऋग्वेदे ॥ (च०) 'ध्वङ्कास्तम्' इति सायणाभिमतः पाठः। (प्र०) 'उतालब्धान्', (द्वि०) 'जातवेद आरेभाणान्' इति पैप्प० सं०।

इह प्र ब्रूहि यतमः सो अग्ने यातुधानो य इदं कृणोति ।
तमा रभस्व समिधा यविष्ठ नृचक्षसश्चक्षुषे रन्धयैनम् ॥ ८ ॥
ऋ० १० । ८७ । ८ ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! (यः) जो भी (यातुधानः) प्रजा को पीड़ा पहुँचाने वाला पुरुष (इदम्) इस प्रकार का पीड़ाजनक कार्य (कृणोति) करे तू (इह) इस राष्ट्र में (प्र ब्रूहि) भली प्रकार सब को बतादे कि (यतमः सः) वह अमुक दुष्ट पुरुष है। जिससे लोग उसके बुरे काम को जान कर उससे सावधान रहें और वह लोगों के सामने अपने बुरे काम के लिये लज्जित हो। और (तम्) उसको (आरभस्व) पकड़ ले। (समिधा) और हे बलशालिन् ! तू अपने अति प्रदीप्त अग्नि को ज्वाला के समान तेज से और (नृचक्षसः) सब मनुष्यों के ऊपर देखने वाले न्यायशील राजा की (चक्षुषा) दृष्टि से प्रजा पर उसके अत्याचारों को तोल कर प्रजा के हित के लिये (एनम्) उस दुष्ट पुरुष को (रन्धय) विनाश कर, दण्ड दे, जला डाल।

तीक्ष्णेनाग्ने चक्षुषा रक्ष यज्ञं प्राञ्चं वसुभ्यः प्र णय प्रचेतः ।
हिंस्रं रक्षांस्यभि शोशुचानं मा त्वा दभन् यातुधाना नृचक्षः ॥ ९ ॥
ऋ० १० । ८७ । ९ ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! तू अपने (तीक्ष्णेन) तीखी (चक्षुषा) आँख से अपने तीक्ष्ण निरीक्षण से (यज्ञम्) इस यज्ञ को जिसमें लक्षों करोड़ों प्राणी संगठित रूप में रहते हैं उसकी (रक्ष) रक्षा कर, और हे (प्रचेतः) उत्कृष्ट ज्ञानसम्पन्न राजन् ! (वसुभ्यः) इसमें बसनेवाली प्रजाओं के

८—(द्वि०) 'य इदं कृणोपि' (तृ०) 'समिधायविष्ठ्य' इति सायणा-भिमतौ पाठौ । (द्वि०) 'यो यातुधानो' इति ऋ० पैप्प० सं० ।
९—(तृ०) 'हिंस्रा रक्षांसि' इति पैप्प० सं० ।

लिये (प्राञ्चम्) उत्कृष्ट, उत्तम श्रेणी का राष्ट्र (प्र णय) बना अथवा इस यज्ञमय राष्ट्र को या राज्यव्यवस्था को (प्राञ्चम् प्रणय) उन्नत दशा पर, ज्ञानमय मार्ग पर ले चल। (हिंस्रम्) हिंसक, प्रजा के प्राण घातक पुरुषों और (रक्षांसि) प्रजा के कार्यों में और प्रजाओं को उत्तम फल प्राप्त करने में विघ्नकारी लोगों को (अभि शोशुचानम्) सब प्रकार से संताप देते हुए (त्वा) तुझको हे (नृचक्षः) प्रजा के निरीक्षक! राजन्! (यातुधानाः) वे पीड़ाजनक दुष्ट लोग (मा दभन्) विनाश न करें।

नृचक्षाः रक्षः परि पश्य विक्षु तस्य त्रीणि प्रति शृणीह्यग्रा।
तस्याग्ने पृष्टीर्हरसा शृणीहि त्रेधा मूलं यातुधानस्य वृश्च॥१०॥(६)
ऋ० १० । ८७ । १० ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन्! परन्तप! तू (नृचक्षाः) प्रजा के हित पर निरन्तर दृष्टि रखता हुआ (विक्षु) अपनी प्रजा में विचरते हुए (रक्षः) प्रजा के सुख और उन्नति के कार्य में विघ्न डालने और प्रजा को पीड़ा देनेवाले दुष्ट पुरुष को अवश्य (परि पश्य) देख, उस पर सदा चक्षु रख। और (तस्य त्रीणि अग्रा) उसके तीन अग्रगामी लोगों को (प्रति शृणीहि) विनाश कर। हे (अग्ने) राजन्! और (तस्याः) उसके पीठ की पृष्टीः पसुलियों को अर्थात् उसके पास के सहयोगी जो सदा उसके पक्ष पोषक हैं उनको (हरसा) अपने हरण सामर्थ्य से अर्थात् कैद में डालनेवाले पोलिस विभाग से भयभीत करके या पकड़ कर (शृणीहि) विनाश कर। और इसी प्रकार (यातुधानस्य) प्रजापीड़क लोगों के (त्रेधा) तीन प्रकार के (मूलम्) मूल को, अड्डे को (त्रेधा) तीन प्रकार से ही (वृश्च) काट डाल।

पीड़ादायी दुष्ट आदमी के तीन अग्र-शक्ति, धन और जन।

११-(च०) 'मृणते नितृङ्धि' इति ऋ०, सायणाभिमतश्च।

त्रिर्यातुधानः प्रसितिं त एत्वृतं यो अग्ने अनृतेन हन्ति ।
तमर्चिषा स्फूर्जयन् जातवेदः समक्षमेनं गृणते नि युङ्ग्धि ॥११॥
ऋ० १० । ८७ । १० ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! (यः) जो दुष्ट पुरुष (अनृतेन) असत्य से (ऋतम्) सत्य को (हन्ति) मारता है वह (यातुधानः) प्रजा का पीड़क दुष्ट पुरुष 'यातुधान', राक्षस है । वह (ते) तेरे (प्रसितिम्) बन्धन में (त्रिः) तीनों प्रकार से या तीन बार (एतु) आवे यदि फिर भी बाज न आवे तो हे (जातवेदः) अग्ने ज्ञानवान् राजन् ! (तम्) उसको (अर्चिषा) आग से (स्फूर्जयन्) तड़पाता हुआ, (समक्षम्) सबके सामने (एनम्) उसको (गृणते) अपनी पीड़ा प्रकट करनेवाले प्रजाजन के हित के लिये (नि युङ्ग्धि) दण्ड दे, उसका निग्रह कर।

यदग्ने अद्य मिथुना शपातो यद् वाचस्तृष्टं जनयन्त रेभाः ।
मन्योर्मनसः शरव्या जायते या तया विध्य हृदये यातुधानान् ॥१२॥
ऋ० १० । ८७ । १३ ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! (यत् अद्य) जब कभी (मिथुना) दोनों स्त्री पुरुष, गृहस्थ लोग (शपातः) दुःखित होकर किसी को गालियाँ देवें, बुरा भला कहें, रोवें चीखें और (यत्) जब (रेभाः) विद्वान् लोग भी (वाचः) वाणी का (तृष्टम्) कटु रूप (जनयन्त) उत्पन्न करें अर्थात् तीखी हृदयवेधी वाणियें बोलें तब उन गृहस्थों और विद्वान् पुरुषों की दयनीय दुःखवेदना देखकर हे राजन् ! (या) जो (मन्योः) मन्यु रूप तेरे (मनसः) मन से जो (शरव्या) तीव्र बाण के समान क्रोध की ज्वाला (जायते) प्रकट होती है (तया) उससे (यातुधानम्) प्रजा के पीड़क पुरुषों को (विध्य) विनाश कर।

१२–(च०) 'तया विद्धि' इति पैप्प० सं० ।

राज्य में गृहस्थ, नरनारी और विद्वान् पुरुषों के आर्त्तनाद पर राजा ध्यान दे और उनको दुःख देनेवाले दुष्ट लोगों को पकड़ कर मनमाना दण्ड दे।

परा शृणीहि तपसा यातुधानान् पराग्ने रक्षो हरसा शृणीहि।
परार्चिषा मूरदेवान् छृणीहि परासुतृपः शोशुचतः शृणीहि ॥१३॥
ऋ० १० । ८७ । १४ ॥

भा०—हे अग्ने ! राजन् ! (यातुधानान्) प्रजापीड़क पुरुषों को (तपसा) अपने संतापकारी तेज या शस्त्र से (परा शृणीहि) अच्छी प्रकार विनाश कर और (हरसा) विनाशक बल से (रक्षः) राक्षस, दुष्ट पुरुष को (परा शृणीहि) अच्छी प्रकार विनाश कर। और (मूर-देवान्) मूढ़ देवों को माननेवाले, प्रतिमापूजक, पाखण्डी, या दूसरों को मारने के व्यसनी अथवा मूढ़ होकर व्यसनों में मजा लेनेवाले लोगों को (अर्चिषा) आग की ज्वाला से (परा शृणीहि) अच्छी प्रकार विनाश कर और (असु-तृपः) दूसरों का प्राण लेकर अपना पेट भरनेवाले प्राणघातक डाकुओं को (शोशुचतः) शोक विलाप करते हुए भी (पराशृणीहि) खूब अच्छी प्रकार विनाश कर कि वे फिर अपनी दुष्टता न करें। अथवा 'अर्चिः' 'हरः' और 'तपः' ये तीन प्रकार के शस्त्र, अस्त्र हैं जिनसे दूर से ही प्रहार कर दिया जाता है उन तीनों प्रकार के अस्त्रों से उनको (परा-शृणीहि) इतना अधिक दण्ड दिया जाय कि 'परा' अर्थात् हद हो जाय और वे फिर भी दुष्टता को त्याग कर सन्मार्ग पर लौट आवें।

पराद्य देवा वृजिनं शृणन्तु प्रत्यगेनं शपथा यन्तु सृष्टाः।
वाचास्तेनं शरव ऋच्छन्तु मर्मन् विश्वस्यैतु प्रसितिं यातुधानः ॥१४॥
ऋ० १० । ८७ । १५ ॥

१३–(च०) 'परासुतृपो अभिशोशुचानः' इति ऋ०।
१४–'तृष्टाः' इति सायणाभिमतः।

भा०—(अद्य) आज सदा ही (देवाः) विद्वान्, अधिकारीगण या राजा लोग (वृजिनम्) पाप और पापी प्राणघातक और सत्कार्य-विनाशक राक्षस को (परा शृणन्तु) अच्छी प्रकार मारें। और (सृष्टाः) किये गये अथवा (तृष्टाः) तीखे (शपथाः) निन्दावचन (एनम्) उस दुष्ट (प्रत्यग्) पर ही (यन्तु) जाएँ। और (वाचा स्तेनं) वाणी द्वारा छल कर चोरी करनेवाले को (शरवः) हिंसक बाण (मर्मन्) उस के मर्मस्थानों में (ऋच्छन्तु) लगें, मारे जावें। और (यातुधानः) प्रजापीड़क आदमी (विश्वस्य) सबके (प्रसितिम्) बन्धन को (एतु) प्राप्त हो अर्थात् ऐसे पुरुष को सब कोई बाँध लें।

यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः।
यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च ॥१५॥

ऋ० १० । ८७ । १६ ॥

भा०—(यः) जो आदमी (पौरुषेयेण) आदमी के (क्रविषा) माँस से (सम् अङ्क्ते) अपने को पुष्ट करता है, और (यः) जो (यातु-धान) पीड़ादायक पुरुष (अश्व्येन) घोड़े आदि पशु के माँस से या (पशुना) पशु के माँस से अपने को पुष्ट करता है। और (यः) जो (अघ्न्यायाः) न मारने योग्य गाय के (क्षीरम्) दूध को (भरति) चुरा लेता है ऐसे २ (तेषाम्) उन प्रजापीड़क लोगों के (शीर्षाणि) सिरों को (हरसा) अपने हरणशील शस्त्र या क्रोध से (अपि वृश्च) काट ले।

विषं गवां यातुधाना भरन्तामा वृश्चन्तामदितये दुरेवाः।
परैणान् देवः सविता ददातु परा भागमोषधीनां जयन्ताम् ॥१६

ऋ० १० । ८७ । १८ ॥

१५–'अघ्न्याया भरत' इति पैप्प० सं०।

१६–'यातुधानाः पिबन्तु' इति पैप्प० सं०। (द्वि०) 'वृश्च्यन्ताम्' (तृ०)

भा०—यदि (यातुधानाः) प्रजापीड़क लोग (गवाम्) गौ आदि पशुओं को (विषम्) विष (भरन्ताम्) दें और उनको मार डालें और यदि (दुरेवाः) दुष्ट चालचलन के लोग (अदितये) गाय को (आ वृश्चन्ताम्) काटें तब (देवः) राजा (सविता) सबका प्रेरक (एनान्) इनको (परा ददातु) राज्य से दूर करे या इनका सर्वस्व हर ले और वे (ओषधीनाम्) अन्न आदि और रोगनाशक ओषधियों के (भागम्) भाग जीवनोपयोगी अंश को भी (परा जयन्ताम्) न पा सकें। अर्थात् पशुनाशक लोगों का सर्वस्व लेकर राजा देश से निकाल दे और वे अन्न और औषध न पा सकें और रोगों से मरें।

सं॒व॒त्स॒रीणं॒ पय॑ उ॒स्रिया॑या॒स्तस्य॒ माशी॑द् यातु॒धानो॑ नृचक्षः।
पी॒यूष॑मग्ने यत॒मस्तितृ॑प्सा॒त् तं प्र॒त्यञ्च॑म॒र्चिषा॑ विध्य॒ मर्म॑णि ॥ १७ ॥

ऋ० १० । ८७ । १७ ॥

भा०—हे (नृचक्षः) समस्त प्रजाओं के ऊपर अपनी कृपादृष्टि से देखने हारे राजन्! (यातुधानः) प्रजापीड़क आदमी (उस्रियायाः) गाय का (संवत्सरीणम्) वर्ष भर में उत्पन्न होनेवाला जितना (पयः) दूध है (तस्य) उसके किसी अंश को भी (मा आशीत्) वह न खा सके। हे (अग्ने) राजन्! और (यतमः) दुष्ट पुरुषों में से कोई भी (पीयूषम्) गोदुग्ध रूप अमृत को (तितृप्सात्) भरपेट पावे तो (तम्) उसको (प्रत्यञ्चम्) सबके सामने (अर्चिषा) अग्नि की जलती लपट से (मर्मणि विध्य) उसके मर्मस्थान में मार, उसको तपे लोहे के छड़ों से मर्म स्थानों में मारा जाय।

'परैनान्देवः' इति० ऋ० । (द्वि०) 'मृद्ध्यन्ताम्' इति पैप्प० सं०।
१७–(च०) 'विध्य मर्मन्' इति ऋ० । विधि (द्धि) मर्मन् इति पैप्प० सं०।

सनादग्ने मृणसि यातुधानान् न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः ।
सहमूरानुनु दह क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥ १८ ॥

ऋ० १० । ८७ । १९ ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! तू (यातुधानान्) प्रजापीड़कों को (सनात्) सदा से ही (मृणसि) विनाश करता आता है (त्वा) तुझे (रक्षांसि) राक्षस लोग (पृतनासु) संग्रामों में भी (न जिग्युः) न जीत पावें । (क्रव्यादः) माँसखोर (सहमूरान्) मूढ़ लोगों, घातक अज्ञानी लोगों के साथ ही (अनु दह) अपने वश में करके भस्म कर डाल (ते दैव्यायाः) तेरे दिव्य गुणयुक्त और राजकीय (हेत्याः) दण्डकारी शस्त्र से (ते) वे दुष्ट पुरुष (मा मुक्षत) बचने न पावें ।

त्वं नो अग्ने अधरादुदक्तस्त्वं पश्चादुत रक्षा पुरस्तात् ।
प्रति त्ये ते अजरासस्तपिष्ठा अघशंसं शोशुचतो दहन्तु ॥ १९ ॥

ऋ० १० । ८७ । २० ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! (त्वम्) तू (नः) हमें (अधरात्) नीचे से, (उदक्तः) ऊपर से, (पश्चात्) पीछे से (उत) और (पुरस्तात्) आगे से (रक्ष) रक्षा कर । (ते) तेरे (त्ये) वे नाना प्रकार के (शोशुचतः) अति दीप्त, चमचमाते, प्रकाशमान (अजरासः) कभी क्षीण न होने वाले (तपिष्ठाः) संतापकारी अस्त्र शस्त्र (अघशंसम्) पाप की बात कहने वाले निन्दक, पापप्रचारक पुरुष को (प्रति दहन्तु) जला डालें ।

१८–(तृ०) 'अनुदह सहमूरान्' इति ऋ० ।

१९–(प्र०) 'अधरादुदक्तात्' (तृ०) 'प्रति ते ते' इति ऋ० ।

पश्चात् पुरस्तादधरादुतोत्तरात् कविः काव्येन परि पाह्यग्ने ।
सखा सखायमजरो जरिम्णे अग्ने मर्त्ताँ अमर्त्यस्त्वं नः ॥२०॥ (७)

ऋ० १० । ८७ । २१ ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! (काव्येन) विद्वान्, क्रान्तदर्शी पुरुष या परमेश्वर के बताये ज्ञान के व्यवस्थापुस्तक या दण्डविधान के कानून ग्रन्थ से स्वयं (कविः) क्रान्तदर्शी विद्वान् होकर (पश्चात्) पीछे से, (पुरस्तात्) आगे से, (अधरात् उत उत्तरात्) नीचे और ऊपर से (परिपाहि) हमारी रक्षा कर । तू समस्त प्रजा का (सखा) मित्र होकर हे (अग्ने) राजन् ! (जरिम्णे) अति वृद्धावस्था के काल तक (सखायम्) अपने मित्र रूप प्रजाजन को (पाहि) बचा । और (अमर्त्यः) अविनाशी होकर तू (नः) हम (मर्त्तान्) मरणधर्मा मनुष्यों को (परि पाहि) सब प्रकार से परिपालन कर ।

तदग्ने चक्षुः प्रति धेहि रेभे शफारुजो येन पश्यसि यातुधानान् ।
अथर्ववज्ज्योतिषा दैव्येन सत्यं धूर्वन्तमचितं न्योष ॥२१॥

भा०—हे (अग्ने) हे अग्ने ! राजन् ! तू (येन) जिससे (शफारुजः=शपारुजः) प्रजाजन को गालियों और निन्दाजनक वचनों से पीड़ित करनेवाले (यातुधानान्) दुष्ट प्रजापीड़क पुरुषों को (पश्यसि) देखता है । (रेभे) व्यर्थ कोलाहल करनेवाले बकवादी, पागल के समान बकने वाले पुरुष पर भी (तत्) वही (चक्षुः) सूक्ष्मदर्शी आँख (प्रतिधेहि) रख । और तू (अथर्ववत्) अहिंसक रक्षक प्रजापति के समान (दैव्येन ज्योतिषा) दैव्य, दिव्य विद्वानों के ज्ञानमय ज्योति या तेज से (सत्यम्)

२०–(प्र०) 'अधरादुदक्तात्', (द्वि०) 'परिपाहिराजन्' (तृ०) 'सखे सखाय' (च०) 'जरिम्णेऽग्ने' इति ऋ० ।

२१–(द्वि०) शफारुं जयेन' इति ऋ० ।

ठीक २ यथार्थ रूप से (अचितम्) अपुष्ट, निर्बल या मूर्ख, ज्ञानरहित (धूर्वन्तम्) धूर्तता करनेवाले, छली, कपटी, असत्यवादी या हिंसक पुरुष को (नि ओष) सब प्रकार से जला, संतप्त कर ।

परि॑ त्वाग्ने॒ पुरं॑ व॒यं विप्रं॑ सहस्य धीमहि ।
धृ॒षद्व॑र्णं दि॒वेदि॑वे ह॒न्तारं॑ भङ्गु॒राव॑तः ॥ २२ ॥
ऋ० १० । ८७ । २२॥

भा०—हे (अग्ने) शत्रुसंतापक ! हे (सहस्य) शत्रु को या दुष्टों को दमन करनेवाले बल से उत्पन्न राजन् ! (वयम्) हम लोग (पुरम्) सबके पालक (विप्रम्) मेधावी, ज्ञानवान्. (धृषद्वर्णम्) प्रगल्भ, उन्नत वर्ण या पदपर अधिष्ठित शत्रु के धर्षक, (भंगुरावतः) प्रजा के पीड़क लोगों के (हन्तारम्) विनाशक (त्वा) तुझको (दिवे दिवे) प्रति दिन (परिधीमहि) घेरे रहें, आश्रय करें । [देखो का० ७ । ७१ । १]

वि॒षेण॑ भङ्गु॒राव॑तः॒ प्रति॑ स्म र॒क्षसो॑ जहि ।
अग्ने॑ ति॒ग्मेन॑ शो॒चिषा॒ तपु॑रग्राभिर॒र्चिभिः॑ ॥ २३ ॥
ऋ० १० । ८७ । २३ ॥

भा०—(विषेण) विष से (भंगुरावतः) प्रजा को पीड़न करने वाले (रक्षसः) दुष्ट पुरुषों को, हे (अग्ने) राजन् ! अपने (तिग्मेन) तीक्ष्ण (शोचिषा) तेज से स्वयं (तपुरग्राभिः) अग्नि से संतप्त अगले फलों वाले, अति भयंकर (अर्चिभिः) दीप्त ज्वालाओं से (प्रति जहि स्म) विनाश कर । (भंगुरावतः विषेण प्रतिजहि स्म) दुष्ट पुरुषों को विषसे मार ।

२२–'भंगुरावताम्' इति ऋ०, पैप्प० सं० । विशेषा पाठभेदा अथर्व० ७ । ७१।१ 'अस्याष्टिप्पण्यां द्रष्टव्याः ।

२३–(द्वि०) 'प्रति ष्म रक्षसो दह,–'ग्राभिर्ऋष्टिभिः' इति ऋ० । 'अग्ने शुक्रेण' इति पैप्प० सं० ।

वि ज्योतिषा बृहता भात्यग्निराविर्विश्वानि कृणुते महित्वा ।
प्रादेवीर्मायाः सहते दुरेवाः शिशीते शृङ्गे रक्षोभ्यो विनिक्षे ॥२४॥
ऋ० ५ । २ । ९ ॥

भा०—(अग्निः) प्रकाशमान सूर्य जिस प्रकार (बृहता) बड़े विशाल (ज्योतिषा) तेज से (विभाति) विविध रूप से प्रकाशमान होता है और (महित्वा) अपने महान् सामर्थ्य से (विश्वानि) संसार के समस्त पदार्थों को (आविः कृणुते) प्रकाश से प्रकाशित करता और प्रकट करता है और जिस प्रकार परमेश्वर अपने बड़े भारी तेज से नाना सूर्यों में प्रकाशमान है और सब पदार्थों को अपने सामर्थ्य से प्रकट करता है उसी प्रकार यह (अग्निः) राजा भी अपने (बृहता ज्योतिषा) बड़े भारी तेज से (विभाति) नाना प्रकार से प्रकाशित होता है और (महित्वा) अपने बड़े सामर्थ्य से सब प्रकार के प्रजा के हितकारी कार्यों को (आविः कृणुते) प्रकट करता है । और (अदेवीः) देवों से विपरीत असुरों की (दुरेवाः) दुःखदायिनी या दुःसाध्य (मायाः) मायाओं को (प्रसहते) वश करता है और (रक्षोभ्यः) राक्षसों के (विनिक्षे) विनाश के लिये (शृङ्गे) अपने सींग के समान तीखे हिंसा के साधन शस्त्र और अस्त्रों को (शिशीते) सदा तेज, तीखे बनाये रहता है ।

ये ते शृङ्गे अजरे जातवेदस्तिग्महेती ब्रह्मसंशिते ।
ताभ्यां दुर्हार्दमभिदासन्तं किमीदिनं प्रत्यञ्चमर्चिषा जातवेदो
वि निक्ष्व ॥ २५ ॥

भा०—हे (जातवेदः) विद्वान् राजन् ! (ये) जो (ते) तेरे (अजरे) अविनाशी (ब्रह्मसंशिते) ब्रह्म वेद के ज्ञान से तीक्ष्ण हुए

२४–(च०) 'रक्षसे विनिक्षे' इति ऋ० । तत्रास्याः वृषो जार ऋषिः ।
२५–(च०) 'प्रत्यञ्चं यातुधानं जातवेदो नृचक्षः ।' इति पैप्प० सं० ।

(तिग्महेती) दो प्रकार के शस्त्र और अस्त्र, तीखे हथियार हैं (ताभ्याम्) उनसे (दुर्हार्दम्) दुष्ट हृदयवाले (किमीदिनम्) दूसरों के जान और माल को तुच्छ समझने वाले (अभिदासन्तम्) विनाशकारी (प्रत्यञ्चम्) अपने से विपरीतकारी पुरुष को (अर्चिषा) तीव्र ज्वाला से हे (जातवेदः) अग्नि के समान प्रतापी राजन्! (वि निक्ष्व) विनाश कर ।

अग्नी रक्षांसि सेधति शुक्रशोचिरमर्त्यः ।
शुचिः पावक ईड्यः ॥ २६ ॥ (८)　　ऋ० ७ । १५ । १० ॥

भा०—(अग्निः) अग्नि के समान शत्रु का तापक (शुक्रशोचिः) शुद्ध, प्रदीप्त कान्ति से युक्त (अमर्त्यः) अविनाशी, ध्रुव, कभी न मरने वाला, सदा प्रतिष्ठित होकर (रक्षांसि) प्रजापीड़क दुष्ट पुरुषों को (सेधति) निवारण करता है, विनाश करता है । वह (शुचिः) काम, अर्थ और धर्म कार्यों में शुद्ध, हृदय, ईमानदार (पावकः) प्रजा के पापों को दूर कर उनको पवित्र करनेवाला होकर (ईड्यः) स्तुति के योग्य होता है ।



[४] दुष्ट प्रजाओं का दमन ।

चातन ऋषिः । इन्द्रासोमौ देवते । रक्षोहणं सूक्तम् । १–३,५,७, ८, २१, २४ विराट् जगती, ८–१७, १९, २२, २४ त्रिष्टुभः २०, २३, भुरिजौ, २५, अनुष्टुप् । पञ्चविंशर्चं सूक्तम् ॥

इन्द्रासोमा तपतं रक्ष उब्जतं न्यर्पयतं वृषणा तमोवृधः ।
परा शृणीतमचितो न्योषतं हतं नुदेथां नि शिशीतमत्रिणः ॥१॥
ऋ० ७ । १०४ । १ ॥

[४] १–अस्य सूक्तस्य ऋग्वेदे वासिष्ठऋषिः इन्द्रासोमौ रक्षोहणौ देवते ।

भा०—हे (इन्द्रासोमा) इन्द्र और सोम ! सेनापते और राजन् ! (रक्षः) राक्षसों को (तपतम्) संतप्त और पीड़ित करो (उब्जतम्) और मारो। हे (वृषणा) शत्रुओं की शक्ति को बांधने में समर्थ आप दोनों (तमोवृधः) अन्धकार में शक्ति से बढ़ने वाले और माया, छल कपट से अपनी शक्ति को बढ़ाने वाले अथवा 'तमः' तामस नीच कार्मों से बढ़ने वाले लोगों को (नि अर्पयतम्) नीचे गिरा दो। और (अचितः) चेतना रहित, चित्त रहित, निर्दय लोगों को (परा शृणीतम्) अच्छी प्रकार विनाश करो, (नि ओषतम्) सर्वथा मूल सहित जला दो, (हतम्) मारो (नुदेथाम्) और परे भगादो। और (अत्रिणः) दूसरों का माल मार खा जाने वालों को (नि शिशीतम्) सर्वथा क्षीण, निर्बल करदो।

इन्द्रा॑सोमा॒ सम॒घशं॑सम॒भ्य१॒॑घं तपु॑र्ययस्तु च॒रुर॒ग्नि॒माँ इ॑व।
ब्र॒ह्म॒द्विषे॑ क्र॒व्यादे॑ घो॒रच॑क्षसे॒ द्वेषो॑ धत्तमनवा॒यं कि॑मी॒दिने॑ ॥२॥

ऋ० ७ । १०४ । २ ॥

भा०—(इन्द्रासोमा) हे इन्द्र और सोम ! (अघशंसम्) पाप का उपदेश करने वाले, पाप की कथा कहने वाले (अघम्) पाप का या पापी का (सम् अभि) अच्छी प्रकार मुक़ाबला करो। (अग्निमान् चरुः इव) आग पर चढ़े हुए हाण्डी के समान वह पाप और पापी (तपुः ययस्तु) संताप को प्राप्त हो और पीड़ा अनुभव करे। और (घोरचक्षसे) घोर चक्षुवाले, क्रूर (ब्रह्मद्विषे) ब्रह्म वेद को जानने वाले विद्वान् ब्राह्मणों के द्वेषी (क्रव्यादे) मांसभोजी और (किमीदिने) दूसरों के जान माल को तुच्छ समझने वाले या 'अब क्या, अब क्या'

२–(द्वि०) 'चरुरग्निवाँ इव' इति ऋ० ।

इस प्रकार काल को मूर्खता से व्यसनों में लगाने वाले के (अनवायम्) निरन्तर (द्वेषः धत्तम्) अप्रेम, उपेक्षा करो, उसको कभी मत चाहो।

'परोपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि' अथर्व० ६।४५।१॥

इन्द्रासोमा दुष्कृतो वव्रे अन्तरनारम्भणे तमसि प्र विध्यतम्।
यतो नैषां पुनरेकश्चनोदयत् तद् वामस्तु सहसे मन्युमच्छवः ॥३॥

ऋ० ७ । १०४ । ३ ॥

भा०—हे (इन्द्रासोमा) इन्द्र और सोम वोक्त सेनापते ! और राजन् ! (दुष्कृतान्) दूसरों के लिये दुःखदायी कार्य करने वाले दुष्टाचारियों को (अनारम्भणे) बे सहारे के, अनाश्रय, घोर (तमसि) अन्धकार के (अन्तः) भीतर (वव्रे) बन्द करदो और (प्र विध्यतम्) अच्छी प्रकार उनको ताड़ना कर, उन्हें दण्ड दो। (यतः) जिससे (एषाम्) उन में से (एकः चन) एक भी (न उत् अयत्) फिर ऊपर न उठे। (वाम्) तुम दोनों का (शवः) वह प्रसिद्ध सामर्थ्य, बल (तत् सहसे) उनको दबाने के लिये सदा (मन्युमत्) क्रोध या विवेक से पूर्ण (अस्तु) हो।

इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवो वधं सं पृथिव्या अघशंसाय तर्हणम्।
उत् तक्षतं स्वर्यं पर्वतेभ्यो येन रक्षो वावृधानं निजूर्वथः ॥ ४ ॥

ऋ० ७ । १०४ । ४ ॥

भा०—हे (इन्द्रासोमा) इन्द्र और सोम ! आप दोनों (अघशंसाय) पाप की कथा वार्त्ता कहने वाले पुरुष के लिये (दिवः) द्यौलोक, या आकाश से और (पृथिव्याः) पृथिवी से भी (तर्हणम्) विनाशक (वधम्) शस्त्र को (सं वर्त्तयतम्) चलाओ। और (पर्वतेभ्यः) पर्वत

३-(तृ०) 'यथा नातः पुन' इति ऋ०।
४-(प्र०) 'इन्द्रा सोमा प्रहरतं दिवो' इति पैप्प० सं०।

अर्थात् मेघों या पर्वतों से चमकने वाले वज्र के समान (स्वर्यम्) गड़ गड़ाते हुए, या अति तीव्र उपतापक विद्युत् दल को तुम दोनों (उत् तक्षतम्) स्वयं उत्पन्न करो। (येन) जिससे (वावृधानं रक्षः) बल और शक्ति से बराबर बढ़ते हुए (रक्षः) प्रजा के पीड़क राक्षसों को (निजूर्वथः) विनाश करो।

इन्द्रा॑सोमा व॒र्तय॑तं दि॒वस्पर्य॑ग्नित॒प्तेभि॑र्यु॒वमश्म॑हन्मभिः।
त॒पु॒र्व॒धेभि॑र॒जरे॑भिर॒त्रिणो॒ नि पर्शा॑ने विध्यतं॒ यन्तु॑ निस्व॒रम् ॥५॥

ऋ० ७। १०४। ५॥

भा०— हे (इन्द्रासोमा) पूर्वोक्त इन्द्र और सोम! (युवम्) आप दोनों (दिवः) आकाश की ओर से (अग्नितप्तेभिः) आग में तपे हुए, चमचमाते, विजुली के समान प्रज्वलित (अश्महन्मभिः) अश्मा-लोहसार, फौलाद के आघातकारी गोलियों, फलों से युक्त शस्त्रों से (अत्रिणः) राष्ट्र के प्रजाओं को हड़पने वालों को (परिवर्त्तयतम्) घेर लो। और (अजरेभिः) कभी विनाश न होने वाले, सदा तय्यार (तपुर्वधेभिः) संतापकारी, आग्नेय बाणों से (पर्शाने) उन दुष्टों के पासों पर, कोखों में, ऐसे (विध्यतम्) मारो कि वे (निस्वरम्) बहुत अधिक पीड़ा, वेदना (यन्तु) प्राप्त करें अथवा (निस्वरं यन्तुम्) वे चीखने भी न पावें।

इन्द्रा॑सोमा॒ परि॑ वां भूतु वि॒श्वत॑ इ॒यं म॒तिः क॒क्ष्याश्वे॑व वा॒जिना॑।
यां वां॒ होत्रां॑ परिहि॒नोमि॑ मे॒धये॒मा ब्रह्मा॑णि नृ॒पती॑ इव जिन्वतम् ॥६॥

ऋ० ७। १०४। ६॥

५–(द्वि०) 'तप्तेभिर्दिवो अश्महन्मभिः' इति पैप्प० सं०। (च०) 'निःऽस्वरम्' इति सायणाभिमतः पदच्छेदः।

६–(च०) 'नृपतीव जिन्वतम्' इति ऋ०, पैप्प० सं०। 'नृपतीऽइव' इति पदपाठः। (तृ०) 'होत्रां प्रहिणोमि' इति पैप्प० सं०।

भा०—हे (इन्द्रासोमा) पूर्वोक्त इन्द्र और सोम ! (वाजिना) बलवान् (अश्वा) दोनों घोड़ों को जिस प्रकार (कक्ष्या इव) साज की चमड़े की पट्टियां शोभा देती हैं और उनको नियम में रखती हैं उसी प्रकार (इयम्) यह (मतिः) मनन करने योग्य (वाम्) तुम को (परि भूतु) शोभा दे और राष्ट्र व्यवस्था के कार्य में नियम में रक्खे। मैं राज-पुरोहित या ईश्वर, मुख्य मन्त्री (वाम्) तुम दोनों के लिये (मेधया) परम विवेक बुद्धि से (यां होत्राम्) जिस वाणी को प्रेरित करता हूँ तुम दोनों (ब्रह्माणि) उन वेदवचनों को (नृपती इव) प्रजापालक नरेशों के समान ही (आ जिन्वतम्) प्रेम से स्वीकार करो और पालन करो।

प्रति॑ स्मरेथां तु॒जय॑द्भि॒रेवै॑र्ह॒तं द्रु॒हो र॒क्षसो॒ भङ्गु॑रावतः ।
इन्द्रा॑सोमा दु॒ष्कृते॒ मा सु॒गं भू॑द् यो मा॑ क॒दा चि॑दभि॒दास॑ति द्रु॒हुः ॥७॥

ऋ० ७ । १०४ । ७ ॥

भा०—हे (इन्द्रासोमा) पूर्वोक्त इन्द्र और सोम ! आप दोनों (तुजयद्भिः) बलवान्, तीव्र (एवैः) गति साधनों, रथों से (प्रति-स्मरेथां, दुष्टों के मुकाबले पर आ जाओ। (भङ्गुरावतः) प्रजापीड़क, या तुम्हारी आज्ञा के भंग करने वाले या राष्ट्रव्यवस्था के विनाशक (द्रुहः-रक्षसः) द्रोही प्रजापीड़क लोगों को (हतम्) विनाश करो। (यः) जो कोई भी (कदाचित्) कभी भी (मा द्रुहः) मेरा द्रोह करता है वह (दुष्कृते) अपने इस दुष्ट कार्य के निमित्त (सुगम्) कभी सुख या सुगम उपाय को (मा भूत्) प्राप्त न हो।

यो मा॒ पाके॑न॒ मन॑सा॒ चर॑न्तमभि॒चष्टे॒ अनृ॑तेभि॒र्वचो॑भिः ।
आप॑ इव का॒शिना॒ संगृ॑भीता॒ अस॑न्न॒स्त्वास॑त इन्द्र व॒क्ता ॥ ८ ॥

ऋ० ७ । १०४ । ८ ॥

७–(च०) 'यो नः कदा', 'द्रुहा' इति ऋ० ।

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र राजन् ! (यः) जो (पाकेन) परिपक्व, सत्य (मनसा) मन से (चरन्तम्) आचरण करते हुए (मा) मुझको भी (अनृतैः) असत्य (वचोभिः) वाक्यों से (अभिचष्टे) आक्षेप करता है, (काशिना) मुट्ठी में (संगृभीताः) पकड़े हुए (आपः, इव) जलों के समान वह (असतः) असत्य का (वक्ता) कहने वाला मिथ्यावादी स्वयं (असन् अस्तु) आप से आप मिट जाय, शून्य होजाय । जिस प्रकार मुट्ठी में लिया पानी आप से आप निकल कर गिर जाता है उस प्रकार असत्य-वादी स्वयं नाश को प्राप्त हो ।

ये पा॑कशं॒सं वि॒हर॑न्त॒ एवै॒र्ये वा॑ भ॒द्रं दू॒षय॑न्ति स्व॒धाभिः॑ ।
अह॑ये वा॒ तान् प्र॒ददा॑तु॒ सोम॒ आ वा॑ दधातु॒ निर्ऋ॑तेरु॒पस्थे॑ ॥ ९ ॥

ऋ० ७ । १०४ । ९ ॥

भा०—(एवैः) अभिलषित अभिप्रायों से (विहरतः) विचरते हुए (ये) जो लोग (पाकशंसम्) परिपक्व सत्य, यथार्थ बात के उपदेश करने वाले पुरुष को (दूषयन्ति) बदनाम करते या उस पर दोषारोप करते हैं और (ये) जो लोग (भद्रम्) अन्यों के कल्याणकारी साधु पुरुष को (स्वधाभिः) अपने स्वार्थों से प्रेरित होकर (दूषयन्ति) निन्दा करते हैं (सोमः) सौम्यगुण युक्त राजा या शान्तस्वभाव का व्यवस्थापक धर्माधिकारी (तान्) उन असत्य दोषारोपकों को (अहये) सांप के या सांप के समान क्रूर स्वभाव वाले जल्लाद, दण्डकारी को (प्रददातु) सौंप दे । (वा) या (निर्ऋतेः) निर्ऋति (मृत्यु दण्डकारी विभाग) के (उप स्थे) वश में (आ दधातु) कर दें ।

यो नो॒ रसं॒ दिप्स॑ति पि॒त्वो अ॑ग्ने॒ अश्वा॑नां॒ गवां॒ यस्त॒नूना॑म् ।
रि॒पु स्ते॒न स्ते॑य॒कृद् द॒भ्रमे॑तु॒ नि ष ही॑यतां त॒न्वा॒३ तना॑ च ॥१०॥ (६)

ऋ० ७ । १०४ । १० ।

१०—'यो अश्वानां यो गवां' इति ऋ०, सायणाभिमतश्च । 'ये अश्वानां ये

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान शत्रु के तापकारिन् राजन् ! (यः) जो पुरुष (नः) हमारे (रसम्) जल को और (पित्वः) अन्न के अंश को (दिप्सति) हम से छीन लेना चाहता है और जो (अश्वानाम्) अश्वों, (गवाम्) गौओं और (तनूनाम्) हमारे शरीरों को हम से काट लेना चाहता है, चुरा या छीन लेना चाहता है (स्तेयकृत्) चोरी करने वाला (तेन) उपरोक्त दुष्ट कार्य से ही (रिपुः) पापी, अपराधी हो जाता है । वह भी (दभ्रम्) दण्ड को (एतु) प्राप्त हो और (सः) वह (तन्वा) अपने शरीर से और (तना) अपने पुत्र आदि से (नि-हीयताम्) वियुक्त किया जाय, वञ्चित किया जाय ।

पुरः सो अस्तु तन्वा३ तना च तिस्रः पृथिवीरधो अस्तु विश्वाः ।
प्रति शुष्यतु यशो अस्य देवा यो मा दिवा दिप्सति यश्च नक्तम् ॥११॥
ऋ० ७ । १०४ । ११ ॥

भा०—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! धर्माधिकारियों या शासन-कारो और राजसभासदो ! या प्रजाजनो ! (यः) जो पुरुष (मा) मुझ प्रजा पुरुष को (दिवा) दिन के समय में और (यः च) जो (नक्तम्) रात के समय में (दिप्सति) मारता है, घात करता है (सः) वह (तन्वा) अपने शरीर से और (तना च) पुत्र से भी (परः अस्तु) वियुक्त किया जाय । वह (विश्वा) समस्त प्रजाओं में (तिस्रः) तीन (पृथिवीः) पृथिविएँ तीन मंजिलें अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों से नीचे शूद्र रूप में (अधः अस्तु) उस निचले पद पर रहे अथवा तीन मंजिल गहरे तहखाने में कैद करके डाला जाय और (अस्य) उसका (यशः) मान और कीर्त्ति (प्रति शुष्यतु) उसके पाप के कारण सूख जाय । उसको नीचे गिरा कर अपमानित किया जाय ।

गवां' इत्यपि क्वचित् । (च०) वि प हीयतां इति क्वचित् ।

११–(च०) 'यो नो दिवा' इति ऋ० ।

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते ।
तयोर्यत् सत्यं यतरदृजीयस्तदित् सोमोऽवति हन्त्यासत् ॥१२॥

ऋ० ७ । १०४ । १२ ॥

भा०—(सु-विज्ञानम्) उत्तम विशेष ज्ञान की (चिकितुषे) मीमांसा या विवेचना करने वाले, विवेकशील (जनाय) पुरुष के लिये (सत् च) सत्, सत्य वचन और (असत्) असत्, असत्य (वचसी) वचन (पस्पृधाते) परस्पर स्वयं स्पर्धा करते हैं आपस में एक दूसरे से कलह करते हैं । विवेकी पुरुष के समक्ष सत्य और असत्य दोनों एक दूसरे का खण्डन करते, एक दूसरे से विवाद करते और एक दूसरे से प्रबल होना चाहते हैं । तो भी (तयोः) उन दोनों में से (यत् सत्यम्) जो सत्य है और (यतरत्) उन दोनों में से जो (ऋजीयः) सरल और श्रेष्ठ, छलहीन है (सोमः) न्यायाधीश (तत् इत्) उसकी ही (अवति) रक्षा करता है वा उसकी ओर झुकता है और (असत्) असत्य को (हन्ति) विनाश करता है ।

न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम् ।
हन्ति रक्षो हन्त्यासद् वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते ॥१३॥

ऋ० ७ । १०४ । १३ ॥

भा०— (सोमः) सत्य का परिपालक राजा यथार्थ न्यायकारी (वृजिनम्) त्याग देने योग्य, पाप को या पापी को (नवा उ) कभी भी नहीं (हिनोति) समर्थन करता और (मिथुया) मिथ्या, झूठ के पक्ष को (धारयन्तम्) धारण करने वाले (क्षत्रियम्) बलवान् पुरुष का भी वह (न हिनोति) पक्ष नहीं करता । प्रत्युत वह (रक्षः) ऐसे दुष्ट

१२–(द्वि०) 'पस्पृशाते' इति पैप्प० सं० ।

राक्षस को (हन्ति) मारता है और ऐसे (असत्) असत्य (वदन्तं) बोलने हारे को भी (हन्ति) मारता है। वे दोनों ही (इन्द्रस्य) इन्द्र राजा के (प्रसितौ) बन्धन में (शयाते) पड़ जाते हैं।

यदि वाहमनृतदेवो अस्मि मोघं वा देवाँ अप्यूहे अग्ने।
किमस्मभ्यं जातवेदो हृणीषे द्रोघवाचस्ते निर्ऋथं सचन्ताम् ॥१४॥

ऋ० ७ । १०४ । १४ ॥

भा०—(यदि वा) यदि मैं (अनृतदेवः) असत्य को अपना इष्ट मानने वाला, असत्य का उपासक होऊं (अपि वा) और यदि (मोघम्) व्यर्थ ही (देवान्) नाना उपासकों की झूठ मूठ (ऊहे) कल्पना करूं तो हे (अग्ने) ज्ञानवन्! या पापियों के संतापक! मैं अवश्य दण्ड का भागी हूँ। परन्तु हम वैसे नहीं हैं। अतः हे (जातवेदः) विद्वन्! (अस्मभ्यम्) हमारे प्रति फिर (किम्) क्यों कर आप (हृणीषे) क्रोध करेंगे। प्रत्युत जो लोग (द्रोघवाचः) आप के शासन के विरुद्ध द्रोह की चर्चा करने वाले, द्रोही लोग हों (ते) वे (निर्ऋथम्) मृत्यु या दण्ड को (सचन्ताम्) प्राप्त हों।

अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि यदि वायुस्ततप पूरुषस्य।
अधा स वीरैर्दशभिर्वि यूया यो मा मोघं यातुधानेत्याह ॥१५॥

ऋ० ७ । १०४ । १५ ॥

भा०—(यदि) यदि मैं (यातुधानः) प्रजा को पीड़ा देने वाला (अस्मि) होऊं और (यदि वा) यदि (पुरुषस्य) किसी पुरुष के (आयुः) जीवन को (ततप) पीड़ा दूँ तो (अद्या) आज ही, शीघ्र ही (मुरीय) मृत्यु का दण्ड भागी होऊँ। (अधा) और (यः) जो (मा) मुझे (मोघम्) व्यर्थ, विना कारण (यातुधान इति आह) प्रजा का

१४–(प्र०) 'देवा ग्रास' इति ऋ०।

पीड़क बतलाये (सः) वह (दशभिः वीरैः) दसों प्राणों से (वि यूयाः) वियुक्त किया जाय । अथवा (दशभिः वीरैः वि यूयाः) दसों पुत्रों से वियुक्त किया जाय ।

प्राणा वै दशवीराः । श० १२।८।१।२२॥

यो मायांतु यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह ।
इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेन विश्वस्य जन्तोरधमस्पदीष्ट ॥ १६ ॥

ऋ० ७ । १०४ । १६ ॥

भा०—(यः) जो (माम्) मुझ को (अयातुम्) प्रजा पीड़क या अदण्ड्य न होते हुए भी (यातुधान इति आह) प्रजापीड़क दण्डनीय इस प्रकार बतलावे (वा) और (यः) जो (रक्षाः) स्वयं राक्षस प्रजा का पीड़क होकर भी अपने को (शुचिः अस्मि) मैं शुचि-निर्दोष हूँ (इति आह) ऐसा कहे (इन्द्रः) राजा (तम्) उसको (महता) बड़े भारी (वधेन) दण्ड से (हन्तु) दण्डित करे । और वह (विश्वस्य जन्तोः) समस्त प्राणियों से (अधम पदीष्ट) नीचा समझा जाय ।

प्र या जिगाति खर्गलेव नक्तमप द्रुहुस्तन्वं गूहमाना ।
वव्रमनन्तमव सा पदीष्ट ग्रावाणो घ्नन्तु रक्षस उपब्दैः ॥१७॥

ऋ० ७ । १०४ । १६ ॥

भा०—अपराधिनी स्त्रियों को दण्ड । (या) जो स्त्री (खर्गला इव) उल्लुनी के समान (नक्तम्) रात को (तन्वम्) अपने शरीर को अन्धकार में (गूहमाना) छिपाती हुई (प्रजिगाति) घूमा करे या (द्रुहुः) अपने सम्बन्धियों से लड़ कर (अप जिगाति) घर छोड़ कर भाग जाय । (सा) वह स्त्री (अनन्तम्) अनन्त काल के लिये (वव्रम्) कैद, आवृत स्थान या गढ़े में (पदीष्ट) प्राप्त हो । और

१७–(द्वि०) 'नक्तमपद्रहातन्वं' (तृ०) 'वव्राँ अनन्ताँ अव, इति ऋ० ।

यदि स्त्री न होकर पुरुष उपरोक्त दोष करें तो ऐसे (रक्षसः) दुष्टों को (ग्रावाणः) विद्वान् लोग (उपब्दैः) अपने वाक्-प्रहारों से या तीक्ष्ण दण्डाज्ञाओं से (घ्नन्तु) दण्डित करें। अथवा (ग्रावाणः) पत्थर (उपब्दैः) अपने घरघराते शब्दों सहित उन राक्षसों को विनाश करें।

सायण—(ग्रावाणः उपब्दैः घ्नन्तु) सोम कूटने के पत्थर राक्षसों को अपनी सोम कूटने की ध्वनियों से मारें। ग्रीफ़िथ—कूटने वाले पत्थर अपनी ऊँची ध्वनियों सहित राक्षसों को मारें।

वि तिष्ठध्वं मरुतो विक्ष्वी१च्छत गृभायत रक्षसः सं पिनष्टन ।
वयो ये भूत्वा पतयन्ति नक्तभिर्ये वा रिपो दधिरे देवे अध्वरे ॥१८॥
ऋ० ७ । १०४ । १८ ॥

भा०—हे (मरुतः) विद्वान् पुरुषो ! या वेगवान्सिपाहियो ! आप लोग (विक्षु) प्रजाओं में (वि तिष्ठध्वं) विशेष २ रूपों में अधिकारीहो कर शासनपदों पर स्थिर होवो या स्थान २ पर पहरेदार रूप में खड़े रहो और (इच्छत) प्रजाओं का हित करने की इच्छा करो। (रक्षसः) राक्षसों को (गृभायत) पकड़ो और उनको (सं पिनष्टन) अच्छी प्रकार पीसदो, पीड़ित करो, दण्डित करो। (ये) जो राक्षस लोग (वयः) तीव्रगति वाले होकर (नक्तभिः) रातों में (पतयन्ति) घूमा करें और जो (देवे) देव=राजा के (अध्वरे) यज्ञ या राष्ट्र के प्रजापालन के कार्य में (रिपः) पाप कर्म, हिंसा आदि कार्य (दधिरे) करते हैं उन (रक्षसः) राक्षसों को (गृभायत) पकड़ो और (सं पिनष्टन) खूब दण्ड दो।

१८-(प्र०) 'विदिव१च्छत', (तृ०) 'वयो ये भूत्वी' इति ऋ०। 'विदिव१-च्छत', विद्वी १च्छत इत्यादयः पाठा अपि। विद्वी। इच्छत इति शं० पा० ॥

प्र वर्त्तय दिवोऽश्मानमिन्द्र सोमशितं मघवन्त्सं शिशाधि ।
प्राक्तो अपाक्तो अधराडुदक्तोऽभि जहि रक्षसः पर्वतेन ॥ १९ ॥

ऋ० ७ । १०४ । १९ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! (दिवः) आकाश से जिस प्रकार विजुली तीव्रता से नीचे आती है उसी प्रकार तू (अश्मानम्) अश्मा, लोहसार या फौलाद के बने तलवार या शस्त्र को (प्रवर्त्तय) भली प्रकार प्रयोग में ला । और हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! (सोम-शितं) सोम—न्यायाधीश से तीक्ष्ण किये, दण्डनीय रूप से निर्धारित दण्डनीय पुरुष को (सं शिशाधि) अच्छी प्रकार से दण्डित कर । और (पर्वतेन) पोरुओं वाले वज्र से या धनुष् से (प्राक्तः) आगे से (अपाक्तः) पीछे से (अधराक्तः) नीचे और (उदक्तः) ऊपर से भी (रक्षसः) राक्षसों को (अभिजहि) विनाश कर ।

एत उ त्ये पतयन्ति श्वयातव इन्द्रं दिप्सन्ति दिप्सवोऽदाभ्यम् ।
शिशीते शक्रः पिशुनेभ्यो वधं नूनं सृजदशनिं यातुमद्भ्यः ॥२०॥

ऋ० ७ । १०४ । २० ॥

भा० - (एते उ त्ये) ये वे (श्वयातवः) कुत्ते को साथ लिये या कुत्तों के समान चाल चलने वाले, टुकड़ेखोर, या पागल कुत्तों के समान प्रजा को फाड़ खाने वाले, प्रजा पीड़क या (अश्वयातवः) अश्वों पर चढ़ कर जाने वाले (दिप्सवः) हिंसक लुटेरे लोग (पतयन्ति) जारहे हैं, ये (अदाभ्यम्) अहिंसनीय बलवान् (इन्द्रम्) इन्द्र को (दिप्सन्ति) मारना चाहते हैं । ऐसे (पिशुनेभ्यः) कुक्कुरों के समान क्षुद्राचारी (यातुमद्भ्यः) प्रजा पीड़कों के लिये (शक्रः) शक्तिमान् राजा (नूनम्) निश्चय से (अशनिं)

१९—'दिवो अश्मा', (तृ०) 'प्राक्तादपाक्तादधरादुदक्तादभि' इति ऋ० ।
२०—'दिप्सवो अदाभ्यम्' इति पैप्प० सं० ।

वज्र के समान तीव्र प्रहार करने हारे अशनि नाम महास्त्र को (सृजंत) बनाओ और (शिशीते) उसको खूब तीव्र सदा काम आने योग्य बनावे। डाकुओं के गिरोहों से बचाने के लिये राजा सदा अशनि नामक अस्त्रों को तैयार रक्खे।

इन्द्रो यातूनामभवत् पराशरो हविर्मथीनामभ्याऽविवासताम् ।
अभीदु शक्रः परशुर्यथा वनं पात्रेव भिन्दन्त्सत एतु रक्षसः ॥२१॥

ऋ० ७ । १०४ । २१ ॥

भा०— (इन्द्रः) इन्द्र, राजा (यातूनाम्) पीड़ाकारियों का और (अभि आविवासताम्) रण में अभिमुख होकर मुकाबले में लड़ने वाले (हविर्मथीनाम्) हविः—राजा की आज्ञा का मथन, विनाश करने वाले (यातूनाम्) प्रजापीड़िकों का (पराशरः) प्रबल विनाशक (अभवत्) है। (वनम्) वन को (यथा) जिस प्रकार (परशुः) कुल्हाड़ा काट डालता है और (पात्रा इव) मट्टी के वर्त्तनों को जिस प्रकार पत्थर फोड़ डालता है उसी प्रकार (सतः) देश पर चढ़ आये (रक्षसः) दुष्ट पुरुषों को (शक्रः) शक्तिमान् राजा (इत्) भी (अभि भिन्दन् एतु) काटता, फाटता हुआ पहुँचे।

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम् ।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र ॥ २२ ॥

ऋ० ७ । १०४ । २२ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! (दृषदा) जिस प्रकार पत्थर से मिट्टी का वर्त्तन तोड़ डाला जाता है उसी प्रकार तू (उलूकयातुम्)

२१–(च०) 'सत एति' इति ऋ०
२२–'शिशुलूकयातु' इति ऋ० । 'शलूकयातुं' इति पैप्प० सं० ।

उल्लुओं के समान चाल चलनेवाले, रात के समय लोगों पर छापा मारने वाले (शुशुलूकयातुम्) छोटे उल्लू के समान चाल चलने वाले, अप्रत्यक्ष में कर्ण कटु बोलने वाले और जन्तुओं की आँखें निकालने वाले या उनकी आंखों में धूल झोंकने वाले, चुगलखोर, (श्वयातुम्) कुत्तों के समान चाल चलने वाले, कमज़ोरों पर गुर्रा २ कर उनको फाड़ खा जाने वाले (उत) और (कोकयातुम्) भेड़िये के समान चाल चलने वाले, पीछे से आक्रमण करके निर्दयता से लूटने पाटने वाले, (सुपर्णयातुम्) बाज के समान चाल चलनेवाले, अपने से कमज़ोरों पर टूटकर उनके बच्चों और जान माल को लूट खसोटने वाले और (गृध्रयातुम्) गीध के समान चाल चलने वाले, मरते सिसकतों की भी खाल खैंचने या उनपर अत्याचार करके उनका धनापहरण करने वालों को (प्र मृण) अच्छी प्रकार विनाश कर, उनको दण्ड दे और उनका बल तोड़ डाल ।

मा नो रक्षो अभि नड् यातुमावदपोच्छन्तु मिथुना ये किमीदिनः।
पृथिवी नः पार्थिवात्पात्वंहसोन्तरिक्षं दिव्यात् पात्वस्मान् ॥२३॥

ऋ० ७ । १०४ । २३ ॥

भा०—(यातुमावत्) पीड़ादायक (रक्षः) दुष्ट पुरुष (नः) हम तक (मा) कभी न (अभि नट्) पहुँचे । (ये) जो (किमीदिनः) दूसरों के जान माल को कुछ भी न जानने वाले (मिथुना) स्त्री पुरुष हैं वे (अप उच्छन्तु) हमसे दूर रहें । (पार्थिवात् अंहसः) पृथिवी सम्बन्धी कष्ट से (पृथिवी) पृथिवी और (दिव्यात्) आकाश सम्बन्धी (अंहसः) कष्ट से (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (अस्मान्) हमारी (पातु) रक्षा करे ।

इन्द्र जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियं मायया शाशदानाम् ।

२३—'यातुमावतामपोच्छतु मिथुना या किमीदिना' इति ऋ० ।

विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु मा ते दृशन्त्सूर्यमुच्चरन्तम् ॥ २४ ॥

ऋ० ७ । १०४ । २४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! (यातुधानम्) परपीड़ादायी (पुमांसम्) पुरुष को और (मायया) माया, छल कपट से (शाशदानाम्) दूसरों का विनाश करने वाली, अर्थलोलुपा (स्त्रियम्) स्त्री को भी (जहि) विनाश कर, उसको दण्ड दे । (मूरदेवाः) दूसरों के प्राणघात करके अपना विनोद करनेवाले लोग, (विग्रीवासः) गर्दन रहित या झुकी, विकृत गर्दनवाले होकर (ऋदन्तु) नाश को प्राप्त हों, कष्ट पावें कि (ते) वे (उत्-चरन्तम्) ऊपर उठते हुए सूर्य को भी (मा दृशन्) न देख सकें। उक्त प्रकार के दुष्ट स्त्री पुरुषों की गर्दनें मरोड़ कर ऐसी झुका दी जावें कि वे सूर्य को देख भी न सकें ।

प्रति चक्ष्व वि चक्ष्वेन्द्रश्च सोम जागृतम् ।
रक्षोभ्यो वधमस्यतमशनिं यातुमद्भ्यः ॥ २५ ॥ (११)

भा०—हे इन्द्र और हे (सोम) सोम ! आप दोनों में से (इन्द्रः) इन्द्र राजा (प्रति चक्ष्व) सदा अपने प्रतिकूल पुरुषों का निरीक्षण करे और हे सोम ! आप (वि चक्ष्व) उनके नाना कार्यों की विवेचना किया करो । दोनों ही अपने २ कार्यों में (जागृतम्) जागृत, सावधान रहो । और (रक्षोभ्यः) राक्षस, दुष्ट पुरुषों के लिये (वधम्) वधकारी दण्ड (अस्यतम्) विधान किया करो और (यातुमद्भ्यः) पीड़ाकारी लोगों के लिये (अशनिम्) विद्युत् के समान घातक अस्त्रों का भी प्रयोग करो ।

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥



२४-(च०) 'मूरदेवा रुजन्तु' इति पैप्प० सं० ।

[५] शत्रुनाशक सेनापति की नियुक्ति ।

शुक्र ऋषिः । कृत्यादूषणमुत मन्त्रोक्ता देवताः । १, ६ उपरिष्टाद् बृहतीं, २ त्रिपाद् विराड् गायत्री, ३ चतुष्पाद भुरिग् जगती, ७,८ ककुम्मती, ५ संस्तारपंक्तिर्भुरिक्, ६ पुरस्कृतिर्जगती, १० त्रिष्टुप्, २१ विराट् त्रिष्टुप्, ११ पथ्या पंक्तिः, १२, १३, १६-१८ अनुष्टुप्, १४ त्र्यवसाना षट्पदा जगती, १५ पुरस्ताद् बृहती, १६ जगतीगर्भा त्रिष्टुप्, २० विराड्गर्भा आस्तारपंक्तिः, २२ त्र्यवसाना सप्तपदा विराड्गर्भा भुरिक् शक्करी । द्वात्रिंशर्चं सूक्तम् ॥

अयं प्रतिसरो मणिर्वीरो वीराय बध्यते ।

वीर्य/वान्त्सपत्नहा शूरवीरः परिपाणः सुमङ्गलः ॥ १ ॥

भा०—(अयं मणिः) [1]यह शिरोमणि या शत्रुओं को स्तम्भन करने वाला अपने समाज का अलंकार भूत पुरुष (प्रतिसरः) शत्रु के प्रति वीरता से आक्रमण करने में कुशल और (वीरः) वीर है। इसी बात को दर्शाने वाला पदक भी उसी नाम से कहा गया कि वह (मणिः) मणि, पदक (वीराय) वीर्यवान् को ही (बध्यते) बाँधा जाता है। उसके लगानेवाले के ये गुण प्रकट होते हैं कि वह (वीर्यवान्) वीर्यवान्, सामर्थ्यवान् , (सपत्नहा) शत्रुओं को मारने वाला, (शूरवीरः) शूरवीर, या शौर्यसम्पन्न वीरों से घिरा हुआ उनका मुखिया, (परिपाणः) सब ओर से सुरक्षित, (सुमंगलः) शोभन राष्ट्र का मंगलकारी है। विशेष वीर सेनापतियों को विशेष पदकों से सुशोभित करना चाहिये जिससे उनके बल, सामर्थ्य, साहसगुण प्रकट हों। तुलना करो (अथर्व० २ । ११ । १-५) 'स्रक्त्योऽसि, प्रतिसरोऽसि, प्रत्यभिचरणोऽसि । अश्नुहि श्रेयांसमतिसमं क्राम ॥' इत्यादि ।

[५] १-पैप्पलादे द्वितीय पादो नास्ति । १. मन स्तम्भे इत्यतः ।

अयं मणिः सपत्नहा सुवीरः सहस्वान् वाजी सहमान उग्रः ।
प्रत्यक् कृत्या दूषयन्नेति वीरः ॥ २ ॥

भा०—सब अगले मन्त्रों में भी मणि शब्द से मणिवान् या शत्रु स्तम्भनकारी का बोध होता है। (अयं) यह (मणिः) शूरवीरता के पदक से सुशोभित सेनापति (सपत्नहा) अपने शत्रुओं का नाशक, (सुवीरः) स्वयं उत्तम वीर और उत्तम २ वीर पुरुषों को अपने शासन में रखने वाला, (सहस्वान्) बलवान्, भारी शत्रु बल को भी थामने वाला, (वाजी) वेगवान् अश्व के समान बलवान् , (सहमानः) शत्रुओं को दबाता हुआ, (उग्रः) रण में बड़ा भयकारी है। वही (वीरः) वीर (कृत्याः) शत्रुओं के गुप्त घातक प्रयोगों को, शत्रु की चालों को (दूषयन्) बेकार करता हुआ (एति) आता है।

सायण तथा ग्रीफ़िथ आदि विद्वानों ने यह सूक्त समस्त 'स्राक्त्यमणि' की स्तुति में लगा दिया है। परन्तु मणि या पदक पदार्थ जड होने से वे विशेषण उस में संगत नहीं हैं। प्रत्युत लक्षणा से उसके धारण करने वाले सेनापति में संगत होते हैं।

अनेनेन्द्रो मणिना वृत्रमहन्ननेनासुरान् पराभावयन्मनीषी ।
अनेनाजयद् द्यावापृथिवी उभे इमे अनेना जयत् प्रदिशश्चतस्रः ॥ ३ ॥

भा०—मणि से सुशोभित पुरुष का इस प्रकार परिचय दिया जाता है—(अनेन) इस (मणिना) पदक से विभूषित या शिरोमणि सेनापति के बल से (इन्द्रः) राजा (वृत्रम् अहन्) राष्ट्र के घेरने वाले शत्रु का नाश करता है (मनीषी) अपने मन्त्र या मनोबल से समस्त राष्ट्र को प्रेरित या संचालित करने वाला राजा (असुरान्) असुर, बलवान्, बल के गर्वी

२–(तृ० 'दूषयन्नेतु' इति पैप्प० सं० ।

३–(तृ०) 'अनेन द्यावापृथिवी उभे अजयत्' इति पैप्प० सं० ।

उपद्रवी लोगों को (परा अभावयत्) पराजित करता है । (अनेन) इस के बल से (इमे) इन (द्यावापृथिवी उभे) द्यौ और पृथिवी, भूमिपतियों और भूमियों दोनों को (अजयत्) विजय करता है और (अनेन) इस के बल से (चतस्रः प्रदिशः) चारों दिशाओं का (अजयत्) विजय करता है ।

अयं स्राक्त्यो मणिः प्रतीवर्तः प्रतिसरः ।
ओजस्वान् विमृधो वशी सो अस्मान् पातु सर्वतः ॥ ४ ॥

भा०—(अयम्) वह (मणिः) मणि जिस प्रकार (स्राक्त्यः) स्रक्ति नामक तिलक वृक्ष से बना है, उसी प्रकार यह (मणिः) मणि को धारण करने वाला वीर भी (स्राक्त्यः) समस्त सेना के बीच तिलक के योग्य है । अथवा माला आदि से सुशोभित करने योग्य है । वही (प्रतीवर्त्तः) शत्रुओं के अभिमुख खड़ा होने वाला और (प्रतिसरः) शत्रुओं पर चढ़ाई करने में समर्थ है । वह (ओजस्वान्) ओजस्वी (विमृधः) नाना प्रकार से युद्ध करने में समर्थ (वशी) शत्रुओं पर और अपने सेनासमूह और अपने इन्द्रियगणों पर भी वशकारी होकर (सर्वतः) सब प्रकार से (अस्मान्) हमारी (पातु) रक्षा करे ।

तदग्निराह तदु सोम आह बृहस्पतिः सविता तदिन्द्रः ।
ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु ॥ ५ ॥

भा०—(अग्निः) अग्नि (तत् आह) उसी बात का उपदेश करता है । (तत् उ) और उसी का उपदेश (सोमः आह) सोम न्यायशील राजा, करता है । (बृहस्पतिः) वेद के विद्वान् या सब वेदों के स्वामी (सविता) सब के प्रेरक (इन्द्रः) इन्द्र, महाराज भी वही बात कहता

४–(तृ०) 'विमृधोमणिः' इति पैप्प० सं० ।
५–(च०) 'प्रतिसरेणाजन्तु' इति पैप्प० सं० ।

है इसलिये (मे) मुझ शासक की आज्ञा में विद्यमान (ते) वे (पुरोहिताः) अगले मुख्य स्थान पर नियुक्त सेनानायक लोग अपने (प्रतिसरैः) शत्रु पर तीव्र आक्रमण करने वाले सुभटों द्वारा (कृत्याः) शत्रु से प्रयुक्त दुष्प्रयोगों को (प्रतीचीः) विपरीतगामी, निष्फल (अजन्तु) करदें।

अन्तर्दधे द्यावापृथिवी उताहरुत सूर्यम्।
ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु ॥६॥

भा०—चाहे शत्रु का आक्रमणकारी उत्पात (द्यावा पृथिवी अन्तः दधे) आकाश और पृथिवी दोनों को घेरलें (उत अहः, उत सूर्यम्) और चाहे दिन और सूर्य को भी घेरलें। तो भी (मे) मेरे (ते देवाः) वे विद्वान् (पुरोहिताः) मुख्य स्थान पर नियुक्त सेनापति लोग (प्रतिसरैः) शत्रु के प्रतिकूल आगे आगे बढ़ने वाले साहसी वीर भटों के साथ आगे बढ़ते हुए (कृत्याः) शत्रु के कामों को (प्रतीचीः) विपरीत (अजन्तु) करदें।

ये स्राक्त्यं मणिं जना वर्माणि कृण्वते।
सूर्य इव दिवमारुह्य वि कृत्या बाधते वशी ॥ ७ ॥

भा०—(ये जनाः) जो लोग (स्राक्त्यं मणिम्) स्राक्त्य मणिधारी पुरुष को (वर्माणि कृण्वते) अपना कवच, रक्षक बना लेते हैं वे (सूर्य इव) सूर्य जिस प्रकार (दिवम् आरुह्य) आकाश में सर्वोपरि विराजमान है उसी प्रकार वे भी उच्च पद को प्राप्त होकर (वशी) सब राष्ट्र को वश करके (कृत्याः) शत्रुओं की नाना चालों को (विबाधते) नाना प्रकार से नाश करते हैं।

६–(च०) 'प्रतिसरेणाजन्तु' इति पैप्प० सं०।
७–(तृ०) 'सूर्यो दिवमिवमा' इति पैप्प० सं०।

स्राक्त्येन मणिन ऋषिणेव मनीषिणा।
अजैषं सर्वाः पृतना वि मृधो हन्मि रक्षसः ॥ ८ ॥

भा०— (स्राक्त्येन मणिना) स्राक्त्यमणि के धारण करने वाले (ऋषिणा इव) क्रान्तदर्शी योग्य मन्त्री के समान (मनीषिणा) बुद्धिमान् सुभट द्वारा (सर्वा पृतनाः) समस्त शत्रु सेनाओं को (अजेषम्) मैं राजा विजय करूँ और (रक्षसः) सब राक्षसों को भी (मृधः) सब युद्धों को भी (अजैषम्) जीतूँ।

याः कृत्या आङ्गिरसीर्याः कृत्या आसुरीर्याः कृत्याः
स्वयंकृता या उ चान्येभिराभृताः।
उभयीस्ताः परा यन्तु परावतो नवतिं नाव्या३ अति ॥९॥

भा०—(याः) जो (कृत्याः) जन संहारकारी क्रियाएं (आङ्गिरसीः) आङ्गिरस वेद, अथर्ववेद के विद्वान् वैज्ञानिकों द्वारा बतलाई जाती हैं और (याः कृत्याः आसुरीः) जो बलवन्, शक्तिशाली पुरुषों द्वारा संहारकारी क्रियाएं की जाती हैं (याः कृत्याः) जो हिंसाकारी कार्य (स्वयंकृताः) प्रजा अपने आप कर लेती है और (या उ) जो (अन्येभिः) अन्य, शत्रु लोगों द्वारा (आभृताः) लाई जाती हैं। (ताः) वे (उभयीः) दोनों प्रकार की दैवी और मानुषी विपत्तियां (परावतः) दूर (नवतिं नाव्याः अति) ९० नदियों को पार करके (परा यन्तु) दूर चली जावें।

अस्मै मणिं वर्म बध्नन्तु देवा इन्द्रो विष्णुः सविता रुद्रो अग्निः।
प्रजापतिः परमेष्ठी विराड् वैश्वानर ऋषयश्च सर्वे ॥१०॥ (१२)

भा०—(इन्द्रः) इन्द्र (विष्णुः) विष्णु (सविता) सविता (रुद्रः) रुद्र (अग्निः) अग्नि (प्रजापतिः) प्रजापति, (परिमेष्ठी)

९–'या कृत्याङ्गिरसीर्याकृत्यासुरीरुत' (च०) 'नाव्याति' इति पैप्प० सं०।

परमेष्ठी, (विराट्) विराट्, (वैश्वानरः) वैश्वानर ये सब (देवाः) राष्ट्र के बड़े २ अधिकारी लोग और (सर्वे) सब (ऋषयः च) क्रान्तदर्शी ऋषिगण (अस्मै) इस महा शूरवीर पुरुष के शरीर पर (मणिम्) शोभाजनक पदक और (वर्म) कवच को उसकी प्रतिष्ठा के निमित्त (बध्नन्तु) बांधे ।

उत्तमो अस्योषधीनामनड्वान् जगतामिव व्याघ्रः श्वपदामिव ।
यमैच्छामाविदाम तं प्रतिस्पाशनमन्तितम् ॥ ११ ॥

भा०—हे पुरुष ! तू जो मणि को धारण करता है वह (ओषधीनाम्) रोग को नाश करने वाली दवाओं में उत्तम ओषधि के समान उत्तम (जगताम्) गति करने वाले पदार्थों में (अनड्वान् इव) उसको उठा ले चलने वाले वाहक शक्ति के समान मूल आधार और (श्वपदाम्) कुत्ते के से नखों वाले मांसाहारी जन्तुओं में से (व्याघ्र इव) बाघ के समान सब से अधिक वीर है । हम (यम्) जिस अभिलषित पुरुष को (ऐच्छाम) प्राप्त करना चाहें (तम्) उसको और (प्रतिस्पाशनम्) अपने बाधना करने वाले पीड़ाकारी को (अन्तितम्) अन्त हुआ या विनष्ट हुआ ही (अविदाम) देखें, प्राप्त करें ।

स इद् व्याघ्रो भवत्यथो सिंहो अथो वृषा ।
अथो सपत्नकर्शनो यो बिभर्तीमं मणिम् ॥ १२ ॥

भा०—(यः) जो (इमम्) इस (मणिम्) मणि, प्रतिष्ठा और वीरता के सूचक चिह्न को (बिभर्त्ति) धारण करता है वह (सः) वह (व्याघ्रो भवति) व्याघ्र के समान शूरवीर (अथो सिंहः) और सिंह के समान पराक्रमी (अथो वृषा) बैल के समान प्रजा के भार को अपने

११–'प्रतिस्पाशिनन्' इति सायणाभिमतः पाठः । 'प्रतिस्पाशनम् ध्रुवम्' इति पैप्प० सं० ।

कन्धों पर उठाने वाला और (अथो सपत्न कर्शनः) अपने शत्रुओं को जीतने वाला होता है। अर्थात् इन गुणों के धारण करने वाले धीर, वीर पराक्रमी आश्रय पुरुष को उस मणि या पदक को धारण करने का अधिकार है।

नैनं घ्नन्त्यप्सरसो न गन्धर्वा न मर्त्याः।
सर्वा दिशो वि राजति यो बिभर्तीमं मणिम् ॥ १३ ॥

भा०—(यः) जो (इमं) इस (मणिम्) मणि को (बिभर्त्ति) धारण करता है वह इतना सामर्थ्यवान् होता है कि (एनम्) इस को (न) न (अप्सरसः) स्त्रियें अपने प्रलोभनों से (न गन्धर्वाः) और न भूमि को धारण करने वाले, भूमिपाल अपना कुटिल नीतियों से और (न मर्त्याः) न साधारण मनुष्य ही (घ्नन्ति) मारने में समर्थ होते हैं। बल्कि वह (सर्वाः दिशः) सब दिशाओं में अपने यश और तेज से (विराजति) नाना प्रकार से सुशोभित होता है।

कश्यपस्त्वामसृजत कश्यपस्त्वा समैरयत्।
अबिभस्त्वेन्द्रो मानुषे बिभ्रत् संश्रेषिणेऽजयत्।
मणिं सहस्रवीर्यं वर्म देवा अकृण्वत ॥ १४ ॥

भा०—(कश्यपः) सब प्रजाओं का द्रष्टा प्रजापति (त्वाम्) तुझ को हे वीर पुरुष ! (असृजत) बनाता है, उत्पन्न करता है, और (कश्यपः) सब का द्रष्टा ज्ञानी ही (त्वा) तुझ को (सम् ऐरयत्) भली प्रकार उत्तम मार्ग में प्रेरित करता है। (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् राजा (त्वा) तुझ को (अबिभः) धारण करता है और विशेष रूप से भृति देकर नियुक्त करता है और तुझ को (बिभ्रत्) विशेष रूप से नियुक्त करके ही महाराजा (सं-श्रेषिणे) परस्पर संघात पूर्वक रहने

१४–'वर्म देवा अबध्नत' इति पैप्प० सं०।

वाले राष्ट्र को (अजयत्) जीतता है । ऐसे (सहस्र-वीर्यम्) अपरिमित सामर्थ्यवान् (मणिम्) पदकधारी शिरोमणि पुरुष को ही (देवाः) राष्ट्र के शासक लोग अथवा उच्च कोटि के पुरुष को अपना (वर्म) रक्षक कवच के समान (अकृण्वत) बना लेते हैं ।

यस्त्वा कृत्याभिर्यस्त्वा दीक्षाभिर्यज्ञैर्यस्त्वा जिघांसति ।
प्रत्यक् त्वमिन्द्र तं जहि वज्रेण शतपर्वणा ॥ १५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! राजन् ! (यः) जो पुरुष (त्वा) तुझ को (कृत्याभिः) अपनी दुष्ट चालों से और (यः त्वा दीक्षाभिः) और जो तुझे विशेष व्रत, नियम और नियन्त्रण व्यवस्थाओं से और (यः त्वा यज्ञैः) जो तुझे यज्ञों अर्थात् परस्पर संगठित संघों द्वारा (जिघांसति) मारता या पीड़ा देना चाहता है (त्वम्) तू हे इन्द्र ! (तम्) उसको (शतपर्वणा) सैकड़ों पर्वों वाले अपरिमित बल वाले अथवा सैकड़ों टुकड़ों वाले (वज्रेण) शत्रु बल के निवारक साधन, सेनाबल या वज्र=तलवार से (प्रत्यक् जहि) पीछे मार भगा ।

'तलवार से ले लिया' इस मुहावरे से जिस प्रकार तलवार सेना का प्रतिनिधि है उसी प्रकार 'वज्र' शब्द भी तलवार का वाचक होकर 'शतपर्वा वज्र' सैकड़ों शस्त्रों वाली सेना का वाचक है ।

अयमिद् वै प्रतीवर्त ओजस्वान् संजयो मणिः ।
प्रजां धनं च रक्षतु परिपाणः सुमङ्गलः ॥ १६ ॥

भा०—(अयम्) यह ही (मणिः) मणि के समान पदक का धारण करने वाला, शिरोमणि पुरुष (प्रतीवर्त्तः) शत्रु का मुख फेर देने में समर्थ (ओजस्वान्) प्रभाव शाली होने के कारण (संजयः) जय लाभ करने में भली प्रकार समर्थ है । वह ही (परिपाणः) राष्ट्र की

१५–(प्र०) 'यस्त्वा' इति पदं द्विटनि–अनभिमतम् ।

१६–'सहस्वान् संजयो मणिः' इति पैप्प० सं० ।

सब प्रकार से रक्षा करता हुआ या स्वयं चारों ओर से सुरक्षित रह कर और (सुमंगलः) उत्तम मंगलजनक अभिषेक और राजतिलक आदि राजोचित संस्कारों से सुशोभित होकर (प्रजा धनम् च) प्रजा और धन की (रक्षतु) रक्षा करे।

असपत्नं नो अधरादसपत्नं न उत्तरात्।
इन्द्रासपत्नं नः पश्चाज्ज्योतिः शूर पुरस्कृधि ॥ १७ ॥

भा०—हमारे (अधरात्) नीचे से अर्थात् हम से नीचे के लोगों की ओर से (असपत्नम्) हमारे कोई विरोधी न उठें। (नः उत्तरात् असपत्नम्) हमारी अपेक्षा ऊंचे पद के लोगों में से भी हमारे शत्रु न रहें। हे (इन्द्र) राजन् ! (नः) हमारे (पश्चात्) पीछे की ओर से (असपत्नम्) हमारे शत्रु न हों और (पुरः) आगे की ओर से हमारे आगे (ज्योतिः कृधि) प्रकाश, ज्ञान और वेदमय आदेश को रख, जिस से हम अँधेरे में न भटकें और निर्भय होकर जीवन व्यतीत करें।

यह राजा का कर्त्तव्य है कि प्रजा को सब ओर से निर्भय करके भी प्रजा को अन्धेरे में न रक्खे, प्रत्युत उनको ज्ञानमय उन्नत मार्ग की ओर आगे बढ़ावे, उनको अन्धेरे में या अज्ञानमय दशा में न रक्खे। यह वेद का उपदेश है।

वर्म मे द्यावापृथिवी वर्माहर्वर्म सूर्यः।
वर्म म इन्द्रश्चाग्निश्च वर्म धाता दधातु मे ॥ १८ ॥

१७–(तृ०) 'इन्द्र पिशाचं नः पश्चात् ज्योतिः' इति पैप्प० सं०।

१. मणिर्वा इन्द्र शब्देन उच्यते इति सायणवचनात्तन्मते ऽपि मणि शब्देन मणिभिन्नं वस्तु सूक्तेन वर्ण्यते इति मणिव्याजेन मणिधारिणो राज्ञ एव वर्णनमिष्यते।

१८–'वर्म इन्द्रश्चाग्निश्च' इति सायणाभिमतः।

भा०—(द्यावापृथिवी) द्यौ, आकाश और पृथिवी (मे वर्म दधातु) मेरे लिये आपत्तियों को वारण करनेवाला कवच या रक्षा-साधन प्रदान करें। (अहः वर्म) दिन का प्रकाशमय काल मुझे आपत्तियों से बचने का उपाय प्रदान करें। (सूर्यः वर्म दधातु) सूर्य, तेजःपुञ्ज अपने प्रखर तेज से मुझे रोगों से बचने का साधन दे। (इन्द्रः च वर्म) इन्द्र, विद्युत् या राजा मुझे वर्म ऐसा साधन दे। और (अग्निः च वर्म) अग्नि और अग्रणी, नेता, सेनापति मुझे रक्षा साधन दे और (धाता वर्म दधातु) सब का पालक पोषक परमात्मा मुझे सब विपत्तियों से बचने का प्रबल साधन प्रदान करे।

ऐन्द्राग्नं वर्म बहुलं यदुग्रं विश्वे देवा नाति विध्यन्ति सर्वे ।
तन्मे तन्वं/ त्रायतां सर्वतो बृहदायुष्मां जरदष्टिर्यथासानि॥१६॥

भा०—(ऐन्द्राग्नम्) इन्द्र और अग्नि राजा और सेनापति का प्रदान किया हुआ (बहुलम्) नाना प्रकार का (यत्) जो (उग्रम्) अति भयंकर (वर्म) रक्षा साधन है उसको (विश्वे देवाः) सब देव, विद्वान् गण और अधिकारी लोग और (सर्वे) सब प्रजा के लोग भी (न अति विध्यन्ति) उसका भंग नहीं करते, उसको नहीं तोड़ते। (तत्) वह प्रबल रक्षा साधन (मे तन्वम्) मेरे शरीर को (सर्वतः) सब प्रकार से (त्रायताम्) रक्षा करे (यथा) जिससे मैं (बृहत्) बड़ा शक्तिमान् और (आयुष्मान्) दीर्घायु होकर (जरदष्टिः) निर्विघ्न बुढ़ापे तक जीवन का भोग करने में समर्थ (असानि) रहूँ।

आ मारुक्षद् देवमणिर्मह्या अरिष्टतातये ।
इमं मेथिमभिसंविशध्वं तनूपानं त्रिवरूथमोजसे ॥ २० ॥

भा०—(देवमणिः) देव विद्वानों के बीच, शिरोमणि के समान

१६–(तृ०) 'तत्ते तन्वं' (च०) 'यथासत्' इति पैप्प० सं० ।

शोभावान् वह राजा (मा) मुझ राष्ट्रवासी जन को (महाम्) बड़े भारी (अरिष्टतातये) विनाश से रक्षा करने के लिये (आरुक्षत्) राजसिंहासन पर आरूढ़ होता है। हे प्रजागणो ! (इमम्) इस (मेधिम्) शत्रुओं के विनाशक और दण्डकारी (तनूपानम्) सबके शरीरों की रक्षा करनेवाले (त्रि-वरूथम्) तीन प्रकार के सेनाबलों से सम्पन्न इस राजा को (ओजसे) इसके प्रभाव के कारण (अभि संविशध्वम्) शरण आओ, इसकी छत्रछाया में आओ।

अस्मिन्निन्द्रो नि दधातु नृम्णमिमं देवासो अभिसंविशध्वम् ।
दीर्घायुत्वार्य शतशारदायायुष्मान् जरदष्टिर्यथासत् ॥ २१ ॥

भा०—(इन्द्रः) सबसे अधिक ऐश्वर्यशील परमात्मा (अस्मिन्) इस राजा में (नृम्णम्) सब मनुष्यों को अभिमत धन, बल, ऐश्वर्य और सुख (विदधातु) स्थापित करे । हे (देवासः) विद्वान्, शक्तियुक्त पुरुषो ! अधिकारियो ! (इमम्) इसके (अभि-संविशध्वम्) चारों ओर आकर विराजमान होओ। (यथा) जिससे यह राजा (शत-शारदाय) सौ वर्ष तक के (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ आयु तक (आयुष्मान्) दीर्घजीवी (जरदष्टिः) जरावस्था तक स्थिर (असत्) रहे ।

स्वस्तिदा विशांपतिर्वृत्रहा विमृधो वशी ।
इन्द्रो बध्नातु ते मणिं जिगीवाँ अपराजितः सोमपा अभयंकरो वृषा ।
स त्वा रक्षतु सर्वतो दिवा नक्तं च विश्वतः ॥ २२ ॥ (१३)

भा०—हे वीर पुरुष ! (स्वस्तिदाः) स्वस्ति, कल्याण, प्रजा को सुख शान्ति और समृद्धि देने वाला (विशांपतिः) प्रजाओं का राजा होता है। वही (वृत्रहा) प्रजा में से विघ्नकारी दुष्टों का नाश करने

२०–(प्र०) 'आत्वा रुक्षत्' (तृ०) 'इम मन्यम्' इति पैप्प० सं० ।
२२–(प०) 'स त्वा रक्षतु सर्वदा' इति पैप्प० सं० ।

वाला (विमृधः) नाना प्रकार से उनको दण्ड देने वाला होकर समस्त प्रजा को (वशी) वश करने में समर्थ होता है। ऐसा ही तू बन। (इन्द्रः) इन्द्र सर्वैश्वर्यवान् , (जिगीवान्) सर्वत्र विजयशील (अपराजितः) कहीं भी पराजित न होने वाला (सोमपः) सोम, राष्ट्र का पालक (अभयंकरः) प्रजा को अभय-प्रदाता (वृषा) सब सुखों का वर्षण करने वाला या सब की शक्तियों का प्रतिबन्ध करने वाला वह (ते) तेरे शरीर पर (मणिम्) वीरताद्योतक मणि या पदक को (बध्नातु) बांधे। और (सः) वह (सर्वतः) सब प्रकार से (दिवा) दिन और (नक्तं च) रात (विश्वतः) सब से (त्वा) तेरी (रक्षतु) रक्षा करे।



[६] कन्या के लिये अयोग्य और वर्जनीय वर और स्त्रियों की रक्षा।

मातृनामा ऋषिः। मातृनामा देवता। उत मन्त्रोक्ता देवताः, १,३,४-६,१३, १८,२६ अनुष्टुभः, २ पुरस्ताद् बृहती, १० त्र्यवसाना षट्पदा जगती, ११, १२, १४, १६ पथ्यापंक्तयः, १५ त्र्यवसाना सप्तपदा शक्वरी, १७ त्र्यवसाना सप्तपदा जगती ॥

यौ ते मातोन्ममार्ज जातायाः पतिवेदनौ।
दुर्णामा तत्र मा गृधदलिंश उत वत्सपः ॥ १ ॥

भा०—हे वरवर्णिनि ! (जातायाः) विवाहयोग्य, शुभगुणमयी, निर्दोष रूप से गुणवती (ते) तुझ कन्या के लिये (पतिवेदनौ) पति के रूप में प्राप्त होने वाले (यौ) जिनको (माता) तेरी माता (उत्-ममार्ज)[1] पति होने से निषेध करदे, उन में से एक (अलिंशः)[2] अगम्य

[६] १–'अर्लांश' इति सायणाभिमतः पाठः।

१. 'उन्ममार्ज' परिहृतपती पत्युः परिग्रहागे तिशेप इति सायणः।

२. 'अलिंशः' लिश अल्पीभावे (भ्वादिः) गतौ च (तुदादिः)

अस्पृश्य, त्वचागत संक्रामक दोष से युक्त (दुर्नामा)[3] कुष्ठी पापरोगी और दूसरा (वत्सपः) बच्चों का पालन करने वाला बड़ी उमर का बूढ़ा या संवर्त्त रोग से पीड़ित है। वे दोनों ही (तत्र) कन्या के साथ विवाह करने के लिये (मा गृधत्) कभी अभिलाषा न करें।

जातः पुत्रोऽनुजातश्च अतिजातस्तथैव च,
अपजातश्च लोकेऽस्मिन् मन्तव्या शास्त्रवेदिभिः।
मातृतुल्यगुणो जातस्त्वनुजातः पितुः समः।
अतिजातोऽधिकस्तस्मात् अपजातोऽधमाधमः।

पञ्च० १।४२६,४२७ ॥

जात, अनुजात, अतिजात और अपजात चार प्रकार की सन्तान होती हैं। माता के गुणों पर उत्पन्न सन्तान 'जात', पिता के गुणों पर अनुजात, उन दोनों से अधिक अतिजात और हीन 'अधम' कहाती हैं। संस्कृत साहित्य में पुत्र पुत्रियों को 'जात', 'जाता' शब्द से व्यवहार किया जाता है। माता पुत्री के विवाह के समय कुष्ठादि रोगों से पीड़ित और वृद्धों को कन्या पति कभी न वरे प्रत्युत इनकार करदे। और न ऐसे रोगियों और अधेड़ लोगों को विवाह की इच्छा करनी चाहिये।

प॒ला॒लानु॑प॒ला॒लौ शर्कुं॒ कोकं॑ मलिम्लु॒चं॑ प॒लीज॑कम्।
आ॒श्रेषं॑ व॒व्रिवा॑सस॒मृक्ष॑ग्रीवं प्रमी॒लिन॑म् ॥ २ ॥

भा०—कन्या की माता (पलालानुपलालौ) पलाल अर्थात् मांसभक्षी

---

३. 'दुर्नामा'—क्रिमिर्भवति पापनामा। क्रिमिः क्रव्ये मेद्यति। क्रमतेर्वा स्यात् सरणकर्मणः, क्रामतेर्वा।

२—'पलीचकं' इति सायणाभिमतः पाठः। (प्र०) शुल्कं कोकं मलीमृतं पलीतकं' (तृ०) आश्लेषं, वव्रिवाससमृक्षग्रीवं प्रमीलिनं मुष्कयोरप हन्मसि' इति पैप्प० सं०।

और अनु-पलाल मांसभक्षियों को सन्तानों की या हीन और हीनों के संगी लोगों को और (शकुं) हिंसक स्वभाव (कोकम्) उल्लू या भेड़िये के स्वभाव के छली या निर्दयी (मलीम्लुचम्) मलिन स्वभाव, चोर और (पलीजकम्) श्वेत बालों वाले या पलित रोगी, (अश्रेषम्) शीघ्र चिपट जाने वाले, संक्रामक रोग से पीड़ित अथवा गर्मी, सुजाक आदि दाहकारी रोग से पीड़ित, (वव्रिवाससम्) रूपविनाशक अथवा रूप या ऊपर के दिखावे के ही वस्त्रों से सजे हुए, (ऋक्ष-ग्रीवम्) रीछ के समान मोटी गर्दन वाले अति लोमश और (प्रमीलिनम्) सदा अपनी आँखें मिचमिचाने वाले, चून्धे आदमी को भी (माता उन्ममार्ज) कन्या की माता अपनी कन्या के विवाह के अवसर पर नकार दे ।

महान्त्यपि समृद्धानि गोजाविधनधान्यतः ।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥
हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम् ।
क्षयामयव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च ॥
(मनु० अ० ३ । ५,६ ॥)

दुराचारी, नीच, नपुंसक, वेदरहित, लोमश, ववासीर, क्षयी, मृगी, कोढ़ आदि के रोगी पुरुषों को विवाह के लिये छोड़ देना चाहिये, चाहे ये कुल बड़े सम्मृद्ध भी क्यों न हों । वेद के कथनानुसार मांसाहारी नीच, उनका संगी, हिंसक, चोर, वृक के समान दम्भी, पलितरोगी, सक्रामक रोगी, रीछ के समान लोभवान्, चूंधे आदमी को त्याग देना चाहिये चाहे वे उत्तम रूप वस्त्रादि पहन कर भी क्यों न आये हों । पैप्पलाद-शाखा में इस मन्त्र में 'मुष्कयोरपहन्मसि' अधिक पाठ है । अर्थात् ऐसे पुरुषों की सन्तान रोकने के लिये इनके अण्डकोश काट देने चाहियें जिन से ये सन्तान उत्पन्न ही न कर सकें ।

मा संवृतो मोप सृप ऊरू मार्व सृपोन्तरा ।
कृणोम्यस्यै भेषजं वजं दुर्णामचातनम् ॥ ३ ॥

भा०—हे दुर्नाम ! कुष्ट रोगी पुरुष या कुष्ट रोग (मा संवृतः) तू कभी वरण न किया जाय । और यदि भूल से किसी प्रकार कन्या के द्वारा वरण भी किया गया हो तो (ऊरू) कन्या के जंघा भागों के (मा उपसृप) समीप स्पर्श मत कर अर्थात् कन्या के साथ संग मत कर और (अन्तरा मा अवसृप) और मकान के भीतर भी मत रह । (अस्यै) इस कन्या के लिये (दुर्नाम-चातनम्) दुष्ट नाम वाले दुष्ट रोग से पीड़ित पुरुष के दूर करने वाले (वजं) अभिगमनीय, सुन्दर पुरुष को ही (भेषजम्) उत्तम उपाय (कृणोमि) करता हूं ।

दुष्ट रोगी पुरुष न वरे जायं और वे कन्याओं का संग न करें । कन्याएं ऐसे रोगियों के हाथ न जायं इसका सब से उत्तम उपाय उनके समक्ष उत्तम, शालीन वरों को स्थापित करना है ।

दुर्णामा च सुनामा चोभा संवृतमिच्छतः ।
अरायानप हन्मः सुनामा स्त्रैणमिच्छताम् ॥४॥

भा०—(दुर्नामा) दुष्ट रोग से बदनाम हुआ घृणित पुरुष और (सुनामा च) उत्तम रूप से युक्त सुन्दर, सुगुण पुरुष (उभा च) दोनों ही (संवृतम्) स्वयंवर के अवसर पर अपने को वरा जाना (इच्छतः) चाहते हैं । हम कन्या के सम्बन्धीगण (अरायान्) उत्तम गुण सम्पत्तियों से रहित निकृष्ट, अधम, कुलक्षणी लोगों को (अप हन्मः) दूर भगादें और (सुनामा) उत्तम गुण, रूप, यशवाला पुरुष (स्त्रैणम्)[१] कन्याओं को या स्त्री के शरीर को (इच्छताम्) प्राप्त करे उसका स्वामी बने ।

३-(च०) 'जत्रं दुर्णामचातनं' इति पैप्प० सं० ।

४-(द्वि०) 'संवृतमिच्छताम्' इति पैप्प० सं० ।

१-'स्त्रैणं' स्त्रियाः सम्बन्धि अङ्गं स्त्रीसमूहं वा इति सायणः ।

यः कृष्णः केश्यसुर स्तम्बज उत तुण्डिकः ।
अरायानस्या मुष्काभ्यां भंससोप हन्मसि ॥ ५ ॥

भा०—(यः) जो (कृष्णः) अति काला या काले कर्मों वाला पापाचारी (केशी) लम्बे २ बालों वाला, असभ्य (असुरः) केवल प्राणपोषी, खाऊ पीऊ, उड़ाऊ; (स्तम्बजः) जंगली और (तुण्डिकः) नाक थोथने वाला, कुरूप वानर के मुख वाला पुरुष हो और भी इसी प्रकार (अरायान्) कुलक्षण वाले पुरुषों को हम (अस्याः मुष्काभ्याम्)[1] इस कन्या के भोगप्रद अंग तथा (भंससः) मूल भागों से (अप हन्मसि) परे रक्खें । अर्थात् ऐसे नीच वृत्ति के पुरुषों के दुर्व्यसनों से कन्या को यत्न से बचाना चाहिये कि कोई उस के कौमार व्रत को खण्डित न करे ।

अनुजिघ्रं प्रमृशन्तं क्रव्यादमुत रेरिहम् ।
अरायाञ्छ्वकिष्किणो बजः पिङ्गो अनीनशत् ॥ ६ ॥

भा०—(अनुजिघ्रम्) गन्ध लेकर (प्रमृशन्तम्) अपने विषय को पता लगाने वाले (उत) और (क्रव्यादम्) मांसखोर, (रेरिहम्) चाटने वाले या कुत्तों के समान जीभ से चाटने वाले नीच लोभी पुरुष को और (श्वकिष्किणः) कुत्तों की चाल चलने वाले, दूसरों की सेवा में लगे (अरायान्) निर्धन, दरिद्र कुलक्षणों और कुलक्षणियों को (बजः) उत्तम, गम्य, तेजस्वी (पिङ्गः)[1] वरण करने योग्य, सम्पन्न, भूमि

५—'अरायानस्या मंससो मुष्कयोरप हन्मसि' इति पैप्प० सं० ।

१—'षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ।'

६—'अरायांश्च किष्किणो' इति सायणाभिमतः पाठः । रायश्चकुष्किणम्' इति पैप्प० सं० ।

१. पिजि भाषार्थः, हिंसाबलादाननिकेतनेषु इति चुरादिः, पिजि वरणे

मकान आदि से सुप्रतिष्ठित और उत्तम वाग्मी पुरुष (अनीनशत्) नाश कर देता है, परास्त कर देता है। अतः उनको त्याग कर उत्तम, सुप्रतिष्ठित एवं विद्वान् को कन्या का वर स्वीकार करना चाहिये।

यस्त्वा स्वप्ने निपद्यते भ्राता भूत्वा पितेव च।
वजस्तान्त्सहतामितः क्लीवरूपांस्तिरीटिनः ॥ ७ ॥

भा०—हे वरवर्णिनि! (यः) जो पुरुष (भ्राता) तेरे भाई (पिता इव च) और पिता का सा रूप बना कर (स्वप्ने) निद्रा के समय (निपद्यते) नीच भाव से तेरे समीप आता है (तान्) उन सब दुष्ट भाव से भरे (क्लीवरूपान्) नपुंसक और (तिरीटिनः) उन्मार्गगामी, टेढ़े रास्ते पर जाने वाले, कुपथगामी पुरुषों को (वजः) वह स्वयंवृत उत्तम तेजस्वी पुरुष (सहताम्) पराजित करे और कन्या को सुख से अपने संग विवाह ले।

यस्त्वां स्वपन्तीं त्सरति यस्त्वा दिप्सति जाग्रतीम्।
छायामिव प्र तान्त्सूर्यः परिक्रामन्ननीनशत् ॥ ८ ॥

भा०—पुरुष हे वरवर्णिनि! (यः) जो दुष्ट पुरुष (त्वा) तुझे स्वपन्तीम्) सोता हुआ जान कर (त्सरति) छल से भेष बदल कर तेरे पति के समान रूप बना कर तेरा सतीत्व नष्ट करना चाहता है और (यः) जो (त्वाम्) तुझ को (जाग्रतीम्) जागती हुई को (दिप्सति) मार पीट कर कष्ट देना चाहता है (छायाम् सूर्य इव) जिस प्रकार सूर्य

(अदादिः) इत्येतेभ्यः पचाद्यच् न्यङ्क्वादित्वात् कुत्वम् निपातनात्।

७–(प्र०) 'यस्त्वा सुप्तां निप–' (तृ० च०) 'वजस्तान्सहतामितः क्लीवरूपं किरीटिनम्' इति पैप्प० सं०।

८–'यस्त्वां सुप्तां छिन्नयश्च दिप्सति' इति पैप्प० सं०। स्वपन्तीं चरति' इति सायणाभिमतः।

छाया या अन्धकार को नष्ट कर देता है उसी प्रकार दुष्टों का परितापक (परिक्रामन्) चारों तरफ़ पहरा देता हुआ रक्षक राजा (तान्) उनको (अनीनशत्) निरन्तर विनाश करे ।

यः कृणोति मृतवत्सामवतोकामिमां स्त्रियम् ।
तमोषधे त्वं नाशयास्याः कमलमञ्जिवम् ॥ ९ ॥

भा०—(यः) जो दुष्ट पुरुष (इमाम्) इस (स्त्रियम्) स्त्री को (मृतवत्साम्) मरे बच्चे वाली और (अवतोकाम्) पतित गर्भ वाली (कृणोति) करे अर्थात् उसके बच्चों को मार दे या गर्भों को गिरा दे हे (ओषधे) दुष्टों के तापदायी राजन् ! (त्वम्) तू (अस्याः) इस स्त्री के (तम्) उस (अञ्जिवम्) प्रकट कामी (कमलम्) जार को (नाशय) विनाश कर दण्ड दे ।

ये शालाः परिनृत्यन्ति सायं गर्दभनादिनः ।
कुसूला ये च कुक्षिलाः ककुभाः करुमाः स्त्रिमाः ।
तानोषधे त्वं गन्धेन विषूचीनान् वि नाशय ॥ १० ॥ (१४)

भा०—(ये) जो (शालाः) आवारागर्द, इधर उधर घूमने वाले या हिंसक (गर्दभनादिनः) गधों के समान खैं खैं करके हँसने और कोलाहल मचाने वाले (सायं) सायंकाल, रात्रि के प्रारम्भ में (परिनृत्यन्ति) इधर उधर नाचते हैं, अश्लील चेष्टायें करते हैं और (ये) जो

९—'यः कृणोत्यवतोकां मृतवत्सामिमां स्त्रियं' (च०) कमलवस्त्युवम्' इति पैप्प० सं० ।

१०—'खरुगाःश्रुमाः', 'खरुमाःश्रमाः' इति वा सायणाभिमतः पाठः । कुकुधाः इत्यपि क्वचित् । (च०) 'स्त्रिमाः' इति क्वचित् पाठः । (तृ० च०) कुशूला यश्च कुक्षुला ककुभा स्वरसा [रमा] रुमा' इति पैप्प० सं० ।

(कुसूलाः) कुत्सित रूप में दूसरों के साथ लगने, विना मतलब दूसरों के सिर हो जाने वाले (कुक्षिलाः) बड़ी २ कोखों वाले, मोटे ताजे, (ककुभाः) कुत्सित, निन्द्य वस्त्र पहने, बदपोशाक, (करुमाः) कुत्सित शब्दों के प्रयोग करने वाले, गाली गलौच बकने वाले, (स्त्रिमाः) लफंगे, लुक छिपकर भागने वाले हैं हे (ओपधे) दुष्ट तापदायक राजन् ! दण्डकारिन् ! उन (विषीचीनान्) नाना प्रकार की पीड़ाएँ देने वाले दुष्ट पुरुषों को (त्वम्) तू (गन्धेन) अपने तीव्र पीड़ाकर दण्ड द्वारा, तीव्र गन्ध वाली औषध जिस प्रकार अपने गन्ध से कीड़ों को नाश करती है उसी प्रकार (विनाशय) नाना प्रकार से नाश कर ।

'शालाः' शल गतौ इत्य स्मात् ण्यन्तादच् । शृणोतेर्वा घञ् छान्दसो लः । 'कुसलाः' कुस श्लेष इत्यतः उणादिरूलच् । 'ककुभाः' कुभि आच्छादने, कुत्सिताच्छादनशीलाः । 'करुमाः' रौतेर्भन् औणादिः । कुत्सितशब्दकारिणः । 'स्त्रिमाः' सरतेर्वामन् । सरणशीलाः । 'गन्धेन' गन्ध अर्दने चुरादिः । अर्दनम् पीड़ाकरणम् दण्डनमिति यावत् ।

ये कुकुन्धाः कुकूरभाः कृत्तीर्दूर्शानि बिभ्रति ।
क्लीबा इव प्रनृत्यन्तो वने ये कुर्वते घोषं तानितो नाशयामसि ॥ ११ ॥

भा०—(ये) जो पुरुष (कुकुन्धाः) कुत्सित २ मांस, हड्डी आदि मलिन पदार्थों को धारण करने वाले (कुकूरभाः) कुत्सित २ पदार्थों को खोजने और गन्दे २ शब्द बोलने वाले और (कृत्तीः) पशुओं की खालों और (दूर्शानि) दुःखदायी जन्तुओं को (बिभ्रति) धारण करते हैं और जो (क्लीवा इव) नपुंसक हीजड़ों और कंजरों के समान (प्रनृत्य-

११–(प्र०) 'ये कुकन्धा कुकूरवाः' (द्वि०) 'कृत्यैर्दूष्याणि बिभ्रति' इति सायणाभिमतः पाठः । 'ये ककुन्धाः करूरमाः कृत्वे दुरिशानि बिभ्रति । क्लीवेव प्रनृत्यन्तो घोषं कुर्वते ,वन' इति पैप्प० सं० ।

न्तः) नाचते कूदते हुए (वने) जंगलों में (घोषम्) शोर (कुर्वते) मचाते हैं या (वने घोषं कुर्वते) वन में अपनी झोपड़ी बना कर रहते हैं। (तान्) उनको (इतः) इस राष्ट्र से (नाशयामसि) परे मार भगावें ।

ये सूर्यं न तितिक्षन्त आतपन्तममुं दिवः ।
अरायान् बस्तवासिनो दुर्गन्धींल्लोहितास्यान् मकंकान् नाशया-मसि ॥ १२ ॥

भा०—(ये) जो (दिवः) आकाश से (आतपन्तम्) सब ओर प्रकाश फेंकते हुए, तपते हुए (सूर्यम्) सूर्य के समान शत्रुओं को परिताप देने वाले (अमुम्) उस राजा के प्रताप को (न तितिक्षन्ते) नहीं सहन करते ऐसे (अरायान्) दरिद्र, नीच (वस्तवासिनः) चाम ओढ़ने वाले (दुर्गन्धीन्) दुर्गन्ध पदार्थों के सेवी (लोहितास्यान्) रुधिर से मुंह लाल किये (मककान्) हीनाचार वाले पुरुषों को हम (नाशयामसि) विनाश करें ।

य आत्मानमतिमात्रमंसं आधाय बिभ्रति ।
स्त्रीणां श्रोणिप्रतोदिन इन्द्र रक्षांसि नाशय ॥ १३ ॥

भा०—(ये) जो (अतिमात्रम् आत्मानम्) अपने भारी रूप को (अंसे) अपने कन्धे पर (आधाय बिभ्रति) रक्खे हुए हैं अर्थात् बड़े डील डौल वाले और बनावटी मुँह बना कर अपने कन्धे पर पहने रहते हैं ऐसे छद्मवेशी लोग रात को (स्त्रीणां) स्त्रियों के संग (श्रोणि-प्रतोदिनः) दुर्व्यवहार करने वाले हैं, हे (इन्द्र) राजन्! (रक्षांसि) उन राक्षसों, कूट रूपधारी लोगों को (नाशय) विनाश कर ।

१२–(तृ०) 'रायान् वस्तवासिनो' (पं०) 'मृशकान्' इति पैप्प० सं० ।
१३–'आहिंमाधाय बिभ्रति' इति पैप्प० सं० ।

ये पूर्वे वध्वो३ यन्ति हस्ते शृङ्गाणि बिभ्रतः ।
आपाकेष्ठाः प्रहासिन स्तम्बे ये कुर्वते ज्योतिस्तानितो नाशया-
मसि ॥ १४ ॥

भा०—(ये) जो दुष्ट, गुण्डे लोग (वध्वः पूर्वे) स्त्री के आगे, स्त्रियों के सामने (हस्ते) हाथ में (शृङ्गाणि) सींगों को या अपने गुह्यांगों को (बिभ्रतः) लिये हुए (यन्ति) आजायें ऐसे बेशर्म नीच गुण्डों को और जो (आपाकेष्ठाः) अकेले, टूटे फूटे, रद्दी भयंकर स्थानों में (प्रहासिनः) अट्टहास करें और (ये) जो ग्राम के लोगों को त्रास देने के लिये (स्तम्बे) झुण्ड में (ज्योतिः) प्रकाश या आग के शोले (कुर्वते) किया करें (तान्) उनको (इतः) यहां से (नाशयामसि) मार भगावें।

येषां पश्चात् प्रपदानि पुरः पार्ष्णीः पुरो मुखा ।
खलजाः शकधूमजा उरुण्डा ये च मट्मटाः कुम्भमुष्का अयाशवः ।
तानस्या ब्रह्मणस्पते प्रतीबोधेन नाशय ॥ १५ ॥

भा०—(येषाम्) जिन के (प्रपदानि) पंजे (पश्चात्) पीछे की ओर और (पार्ष्णीः) एड़ियां (पुरः आगे को और (मुखा पुरः) मुँह आगे हों ऐसे (खलजाः) गुण्डों के छोकरे, (शकधूमजाः) शक्तिमान्, तामस, बड़बड़ाने वाले (कुम्भमुष्काः) और घड़े के समान स्थूल

१४–(श्र०) 'वध्वो यन्ति' इति क्वचित् ।

१. 'पाक' इति प्रशस्यनाम ततो विपरीतं 'अपाकम्' तदेव 'आपाकम्' तत्र तिष्ठन्ति निवसन्ति इति आपाकेष्ठाः, जीर्णभग्नचिरत्यक्तगृह-कूपादिषु कृतावस्थानाः ।

१५–(तृ०) 'शाकधूमजा' (च०) 'ये च मय्यजाः' (पं०) 'कुम्भमुष्का यांशवः' इति पैप्प० सं० । 'अरुण्डा ये च मुट्मुटाः' इति सायणाभिमतः पाठः ।

अण्डकोशों वाले, (अयाशवः) भोग करने में सर्वथा असमर्थ, निर्वीर्य आन्त्रवृद्धि के रोग से पीड़ित (तान्) उनको हे (ब्रह्मणस्पते) वेद के ज्ञानी पुरुष तू (अस्याः) इस स्त्री के (प्रतिबोधेन) ज्ञान बल से (नाशय) नाश कर । अर्थात् पूर्वोक्त विकृत आकृति रूपवाले, दुष्टाचारी, हीन, रोगी, नपुंसक आदि लोगों के हाथ में स्त्रियें न पड़ जावें इसलिये स्त्रियों को उत्तम शिक्षा प्रदान करें जिससे वे उनके फंदों में न फसें । मूर्ख भोली भाली स्त्रियां उपरोक्त कुरंग और बदशकल लोगों को साधु करके पूजती हैं और फंस जाती हैं उनसे सावधान कर दिया जाय ।

पर्यस्ताक्षा अप्रचङ्कशा अस्त्रैणाः सन्तु पण्डगाः ।
अवं भेषज पादय य इमां संविवृत्सत्यपतिः स्वपतिं स्त्रियम् ॥१६॥

भा०—(पर्यस्ताक्षाः) जिनकी आंखें फिरी हुई हों, जो सीधा न देख सकें, ऐसे टेढ़-अंखे आदमी और (अप्रचङ्कशाः) बिलकुल लंगड़े लूले या आँखों से लाचार (पण्डगाः) चूतड़ों के बल सरकने वाले, चूण्डे या नपुंसक लोग सदा (अस्त्रैणाः) स्त्रियों से रहित (सन्तु) रहें । ऐसे लोगों को कभी स्त्री प्राप्त करने का अधिकार न हो । और (यः) जो भी (इमाम्) इस वरवर्णिनी (स्वपतिम्) स्वयं अपना पति वरण करने हारी (स्त्रियम्) स्त्री को (अपतिः) स्वयं उसका पालन करने में समर्थ न होकर भी (संविवृत्सति) प्राप्त करना चाहता है उसको हे (भेषज) चिकित्सक राजवैद्य ! तू (अवपादय) उसको विवाह के अयोग्य ठहरा ।

उद्धर्षिणं मुनिकेशं जम्भयन्तं मरीमृशम् ।
उपेषन्तमुदुम्बलं तुण्डेलमुत शालुडम् ।
पदा प्र विध्य पार्ष्ण्या स्थालीं गौरिव स्पन्दना ॥ १७ ॥

१६–(पं०) 'स्वपतिं स्त्रियम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे स्त्री ! (स्यन्दना) दूध देने वाली (गौः इव) गौ कष्ट पाकर जिस प्रकार (स्थालीम्) दूध दुहने के बर्तन को (पदा) पैर से या (पार्ष्ण्या) एडी से ठुकरा देती है इसी प्रकार हे स्वय अपने पति को वरने वाली स्त्री ! तू भी (उद् हर्षिणम्) अति अधिक कामी, (मुनिकेशम्) मुनि के समान जटा वाले, (जम्भयन्तम्) हिंसक, शरीर को पीड़ा पहुँचाने वाले, (मरीमृशम्) बार २ गुह्यांगों को स्पर्श करने वाले, (टदुम्बलम्) अति अधिक भोगी (तुण्डेलम्) बन्दर के समान आगे को बढ़े हुए मुख वाले या बहुत तोंद वाले (उत) और (शालुडम्) लुच्चे, व्यभिचारी पुरुष को (पदा) पैरों से और (पार्ष्ण्या) एड़ियों से (प्र विध्य) खूब ठोकरें मार, ताड़ । स्त्री ऐसे नीच पुरुष को स्वयं दण्ड दे ।

यस्ते गर्भं प्रतिमृशाज्जातं वा मारयाति ते ।
पिङ्गस्तमुग्रधन्वा कृणोतु हृदयाविधम् ॥ १८ ॥

भा०—हे स्त्रि ! (यः) जो (ते) तेरे (गर्भम्) गर्भ को (प्रतिमृशात्) विनाश करने की चेष्टा करे या (ते जातं वा) तेरे उत्पन्न हुए बालक को (मारयाति) मारे (तम्) उसको (उग्रधन्वा) प्रबल धनुर्धारी शासक (पिंगः) वृत पति या बली राजा (हृदयाविधम्) हृदय में बाण प्रहार (कृणोतु) करे और मार डाले ।

यदि कोई दुष्ट पुरुष स्त्री को उसके वृत पति से जुदा करके उसके पूर्व धारित गर्भ को नाश करे या बालक को मारे तो ऐसे दुष्ट को हृदय में उसका पति बाण मार कर प्राण ले । राजा ऐसा विधान करे ।

१७–(तृ०) 'उपेषन्तमुदुम्बलं तुण्डेलमुत शालडम्' । पदाप्रविध्यप्रास्यात् स्थालीं गौरिवस्यन्दनात् , इति सायणाभिमतः पाठः । 'तुण्डेलमुत-शालूढम् । पदा प्रवृद्धि'. इति पैप्प० सं० ।

ये अम्नो जातान् मारयन्ति सूतिका अनुशेरते ।
स्त्रीभागान् पिङ्गो गन्धर्वान् वातो अभ्रमिवाजतु ॥ १६ ॥

भा०—(ये) जो दुष्ट, कामी लोग (अम्नः) एक साथ उत्पन्न या अचेत, अबोध, नन्हे, बेख़बर या मन के प्रतिकूल (जातान्) उत्पन्न हुए बच्चों को (मारयन्ति) मार डालते हैं और जो कामी लोग (सूतिकाः) नवप्रसूता स्त्रियों के साथ (अनुशेरते) संग करते हैं (तान्) उन (स्त्रीभागान्) स्त्रीसेवी व्यभिचारी (गन्धर्वान्) लुच्चों को (पिंगः) बलवान् राजा (वातः अभ्रम् इव) वायु जिस प्रकार बादलों को छिन्न भिन्न कर देता है उसी प्रकार (अजतु) धुन डाले, कठिन यातनाएं दे देकर उनको धुनवा डाले, उनकी बोटी २ कटवा डाले ।

परिसृष्टं धारयतु यद्धितं मावं पादि तत् ।
गर्भं त उग्रौ रक्षतां भेषजौ नीविभार्यौ ॥ २० ॥ (१५)

भा०—स्त्री (परिसृष्टम्) सब प्रकार से परिपूर्ण गर्भ को अथवा अपने पति द्वारा गर्भ में आहित वीर्य को (धारयतु) धारण करे और (यत्) जो गर्भ में (हितम्) धारण करले (तत्) वह (मा अवपादि) कभी नीचे न गिरे, कभी गर्भ का पात न किया जाय । हे स्त्रि ! (ते गर्भम्) तेरे गर्भ को (उग्रौ) उग्र बलशाली (नीविभार्यौ) धन और स्त्री के गर्भ की रक्षा करने वाले राजा और पति दोनों (भेषजौ) दो ओषधियों के समान होकर (रक्षताम्) रक्षा करें ।

१६–'येस्ता जातान्' (च०) 'गन्धर्वान् अभ्रे [र्] वाते [र्] वा रा [ए] जतु' इति पैप्प० सं० ।

२०–(प्र०) 'परिशिष्टं' सायणाभिमतः पाठः । (प्र० द्वि०) 'परिशिष्टं धारयतु युञ्यतं मावपादि तत्' (च०) 'निवभार्ययौ' इति पैप्प०सं० ।

पवीनसात् तङ्गल्वा३च्छायकादुत नग्नकात् ।
प्रजायै पत्ये त्वा पिङ्गः परि पातु किमीदिनः ॥ २१ ॥

भा०—हे स्त्री ! (पवीनसात्) पूति गन्ध से युक्त, सड़ी नाक वाले, (तङ्गल्वात्) फूली गालों वाले (छायकात्) मुंह से काटने वाले और (नग्नकात्) नंगे, निर्लज्ज इन (किमीदिनः) सब पदार्थों को तुच्छ देखने वाले, मूर्ख असभ्य गुण्डों से (पिंगः) बलवान् पुरुष (प्रजायै) तेरी प्रजा और (पत्यै) तेरे पति के सुख के लिये (त्वा परि पातु) तेरी रक्षा करे ।

द्व्या/स्याच्चतुरक्षात् पञ्चपादादनङ्गुरेः ।
वृन्तादभि प्रसर्पतः परि पाहि वरीवृतात् ॥ २२ ॥

भा०—(द्व्यास्यात्) दोमुँहे (चतुरक्षात्) चार आँखों वाले, (पञ्चपादात्) पांच पैरों वाले (अनगुंरेः) बिना अंगुली वाले या (वरीवृतात्) गोल मठोल गांठ के समान उस बालक से जो (वृन्तात्) गर्भाधानी के मूल से (अभि प्रसर्पतः) आगे को उत्पन्न हो रहा है उस से स्त्री को हे वैद्य ! (परि पाहि) सुरक्षित कर । अर्थात् वैद्य उत्तम उपचार द्वारा स्त्री को दुष्ट पिण्ड के प्रसव से बचावे ।

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः ।
गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि ॥ २३ ॥

भा०—(ये) जो (आमम्) कच्चा (मांसम्) मांस (अदन्ति)

२१–'सायकादुत' इति सायणाभिमतः पाठः । 'पवैनसा तङ्गल्वा' इति पैप्प० सं० ।

२२–'पञ्चपादादनङ्गुलेः' 'वृन्दादभिप्रसर्पतः' इति पैप्प० सं० ।

२३–'यामं मांसं', 'केशवारया', 'तस्य भंससो मुष्कयोरपहन्मासि' इति पैप्प० सं० ।

खाते हैं और (ये च) जो (पौरुषेयम्) पुरुष या मनुष्य का (क्रविः) मांस खाते हैं। और (केशवाः) लम्बे केश वाले, मायावी अघोरी जो लोग (गर्भान्) गर्भों को भी (खादन्ति) खा जाते हैं (तान्) उन दुष्ट प्राणियों को (इतः) यहां से (नाशयामसि) विनष्ट करें ।

ये सूर्यात् परिसर्पन्ति स्नुषेव श्वशुरादधि ।
बजश्च तेषां पिङ्गश्च हृदयेधि नि विध्यताम् ॥ २४ ॥

भा०—(श्वशुराद् अधि) श्वशुर से (स्नुषा इव) जिस प्रकार पुत्रवधू या बहू लज्जायुक्त होकर छिप जाती है उसी प्रकार (ये) जो दुष्ट प्राणी (सूर्यात्) सूर्य के प्रकाश से परे भाग कर अन्धेरे में जा छिपते हैं (बजः च पिंगः च) गतिशील, पराक्रमी और बली पुरुष या ओषधि (तेषाम्) उनके (हृदये अधि) हृदय मर्म में (नि विध्यताम्) खूब प्रहार करे ।

पिङ्ग रक्ष जायमानं मा पुमांसं स्त्रियं क्रन् ।
आण्डादो गर्भान्मा दभन् बाधस्वेतः किमीदिनः ॥ २५ ॥

भा०—हे (पिंग) बलवान् ओषधे तापकारिन् ! (जायमानम्) उत्पन्न होते हुए बालक को (रक्ष) रक्षा कर । (पुमांसम् स्त्रियम्) पुमान् बालक को या स्त्री बालक को भी (मा क्रन्) विक्षिप्त या दुखी न करें । (आण्डादः) स्त्री के या बालक के अण्डकोश भागों को काट कर खाजाने वाला रोगकीट (गर्भान्) गर्भ-गत बालकों को (मा दभन्) विनाश न करे, इसलिये हे वैद्य या ओषधे ! (तान्) उन (किमीदिनः) तुच्छ भुक्खड़ क्षुद्र प्राणियों को (इतः) यहां से (बाधस्व) विनाश कर ।

अप्रजास्त्वं मार्तवत्समाद् रोदमघमावयम् ।
वृक्षादिव स्रजं कृत्वाप्रिये प्रति मुञ्च तत् ॥ २६ ॥ (१५)

२६–क्लोऽत्र प्रातिविधानमर्थः । (प्र० द्वि०) 'मार्त्तवत्सभामाम्रोघमघसा

भा०—(अप्रजास्त्वम्) स्त्रियों को प्रजा न होना, (मार्तवत्सम्) मरा हुआ बालक होना, (आत्) और तिस पर भी बालक के होते समय (आव्रयम्) उत्पन्न होने वाली पीड़ाओं के कारण (रोदम्) बहुत अधिक पीड़ा से (अघम्) कष्ट या बुरे लक्षण दीखना (तत्) इन सब को (वृक्षात् स्रजम् इव) जिस प्रकार वृक्ष से फल तोड़ लिया जाता है उसी प्रकार सुगमता से स्त्री शरीर से (कृत्वा) दूर करके (अप्रिये) प्रिय न लगने वाले बुरे स्थान में (प्रतिमुञ्च) डाल दे ।

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तद्वयम् ऋचश्चाष्टाचत्वारिंशत्]



[७] ओषधि-विज्ञान ।

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ताः ओषधयो देवता । १,७,६,११,१३,१६,२४,२७ अनुष्टुभः । २ उपरिष्टाद् भुरिग् बृहती, ३ पुर उष्णिक्, ४ पञ्चपदा परा अनुष्टुप् अति जगती, ५,६,१०,२५ पथ्या पङ्क्तयः । १२ पञ्चपदा विराड् अतिशक्वरी । १४ उपरिष्टान्निचृद् बृहती । २६ निचृत् । २२भुरिक् । १५ त्रिष्टुप् । अष्टाविंशर्चं सूक्तम् ॥

या ब॒भ्रवो॒ याश्च॑ शु॒क्रा रोहि॑णीरु॒त पृश्न॑यः ।
असि॑क्नीः कृ॒ष्णा ओष॑धीः सर्वा॑ अ॒च्छाव॑दामसि ॥ १ ॥

भा०— (या) जो ओषधियां (बभ्रवः) पुष्टिकारक, मांस बढ़ाने वाली (याः च) और जो (शुक्राः) शुक्र, वीर्यवर्धक (रोहणीः) रोहणी-अर्थात् क्षत आदि को भरने वाली, उत (पृश्नयः) रस पोषण करने वाली,

नयम्' इति पैप्प० सं० । 'सेदमघावयम्' इति सायणाभिमतः पाठः ।

(असिक्नीः) श्याम रंग की (कृष्णाः) कृष्ण वर्ण की या विलेखन करने वाली (ओषधीः) ओषधियें हैं (सर्वाः) उन सबको हम (अच्छा आवदामसि) भली प्रकार उपदेश करते हैं । अथवा (बभ्रवः) भूरे रंग की (शुक्राः) श्वेत रंग की (रोहणीः) पुष्टिकारी (पृश्नयः) चित्र वर्ण की (असिक्नीः) फलियों वाली (कृष्णाः) काली रंग की इत्यादि ओषधियों का हम उपदेश करते हैं ।

त्रायन्तामिमं पुरुषं यक्ष्माद् देवेषितादधि ।
यासां द्यौष्पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव ॥२॥

भा०—(यासाम्) जिन (वीरुधाम्) लताओं या वृक्ष वनस्पति आदि ओषधियों का (द्यौः) सूर्य (पिता) पालक है अर्थात् जिन की धूप लगने से रक्षा होती है, (पृथिवी माता) पृथिवी माता है अर्थात् पृथिवी से रस और पुष्टि प्राप्त करती हैं। और (समुद्रः) मेघ ही (मूलम्) उत्पन्न होने का कारण है अर्थात् वर्षाकाल में वर्षा के जल से उत्पन्न होती हैं वे ओषधियां (इमम्) इस (पुरुषम्) पुरुष को (देवेषितात्) विषय क्रीड़ा द्वारा प्राप्त हुए (यक्ष्मात्) रोग से या देव=मेघ या वर्षा काल में उत्पन्न (यक्ष्मात्) राजयक्ष्मा के रोग से (त्रायन्ताम्) रक्षा करें ।

आपो अग्रं दिव्या ओषधयः ।
तास्ते यक्ष्ममेनस्य[1]मङ्गादङ्गादनीनशन् ॥ ३ ॥

भा०—(अग्रम्) सब से प्रथम और सब से उत्कृष्ट (ओषधयः) ओषधि जो रोग और पाप को नाश करने में समर्थ हैं वे (दिव्याः) दिव्य गुणयुक्त (आपः) आप=जलों के समान पवित्र और अन्यों को

३–(प्र०) 'आपां दिव्या ओषधयः' इति ह्विटनिकामितः पाठः । (तृ०) 'अनीनशम्' इति क्वचित् ।

पवित्र करने वाले आप्त विद्वान् पुरुष हैं। वे शीतल स्वभाव होकर पापों के लिये संतापकारी हैं (ताः) वे (ते) तेरे (एनस्यम्) पाप से उत्पन्न (यक्ष्मम्) राजरोग को (अंगात् अंगात्) शरीर के अंग अंग से (अनीनशन्) विनाश कर देते हैं। जिस प्रकार रोगों को दूर करने में दिव्य जल सब से उत्तम ओषधि हैं और वे विलासादि द्वारा उत्पन्न रोगों को सुलभतया विनाश कर देते हैं उसी प्रकार आप्त पुरुष भी हैं जो ज्ञानोपदेश से पापभावों को दूर करते हैं। समस्त रोग जलों द्वारा दूर करने के उपाय होमियोपैथी चिकित्सा और हाइड्रोपैथी (जल-चिकित्सा) द्वारा जानने चाहिये।

प्रस्तृणती स्तम्बिनीरेकशुङ्गाः प्रतन्वतीरोषधीरा वदामि।
अंशुमतीः काण्डिनीर्या विशाखा ह्वयामि ते वीरुधो वैश्वदेवीरुग्राः पुरुषजीवनीः ॥ ४ ॥

भा०—हे पुरुष! मैं परमेश्वर (ते) तुझे (प्रस्तृणतीः) अच्छी प्रकार फैलने वाली, (स्तम्बिनीः) झुण्डों वाली, (एकशुङ्गाः) एक सरपत वाली (प्रतन्वतीः) खूब बढ़ कर फैलने वालीं, नाना प्रकार की ओषधि लताओं का (आवदामि) उपदेश करता हूँ। और (ते) तुझे (अंशुमतीः) बहुत कोपलों वाली या अंशु सोम के गुणों वाली, (काण्डिनीः) काण्ड या पोरुओं वाली और (या) जो (विशाखाः) शाखाओं से रहित या नाना प्रकार की शाखाओं वाली (वीरुधः) लताओं को जो (वैश्वदेवीः) समस्त विद्वान् पुरुषों के उपयोग की, (उग्राः) अपना प्रभाव करने में तीव्र, (पुरुषजीवनीः) पुरुष शरीर को जीवन प्रदान करने या प्राण धारण कराने में समर्थ हैं उनका (ह्वयामि) उपदेश करता हूँ।

४–(प्र० द्वि०) 'एकशृंगा प्रधन्वती' इति पैप्प० सं०।

यद् वः सहः सहमाना वीर्यं१ यच्च वो बलम् ।
तेनेममस्माद् यक्ष्मात् पुरुषं मुञ्चतौषधीरथो कृणोमि भेषजम् ॥५॥

भा०—हे ओषधियो ! तुम (सहमानाः) रोगों को दूर करने में बलवती हो। (यद्) जो (वः) तुम में (सहः) रोग दूर करने का सामर्थ्य (यत् च) और जो (वः) तुम्हारा (वीर्यम्) पुष्टिकारक रस और (बलम्) बल है। (तेन) उससे (इमम्) इस (पुरुषम्) पुरुष को (अस्माद्) इस (यक्ष्माद्) राजयक्ष्मा आदि रोग से (मुञ्चत) छुड़ाओ। (अथो) और इस प्रकार ओषधियों के बल पर मैं (भेष-जम्) रोगों को दूर करने का कार्य (कृणोमि) करता हूँ।

जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम् ।
अरुन्धतीमुन्नयन्तीं पुष्पां मधुमतीमिह हुवेस्मा अरिष्टतातये ॥६॥

भा०—(अस्मै) इस रोगी पुरुष के (अरिष्टतातये) स्वास्थ्यलाभ कराने के लिये (अहम्) मैं वैद्य (जीवलाम्) आयुप्रद, (नघारिषाम्) किसी प्रकार की हानि न पहुँचानेवाली (जीवन्तीम् ओषधिम्) जीवन्ती नामक ओषधि को और (उन्नमन्तीम्) रोगी की दशा को उत्तम रूप में ला देनेवाली, उसकी दशा को सुधारनेवाली (अरुन्धतीम्) अरुन्धती नामक ओषधि को और (मधुमतीम्) मधुर रस वाली (पुष्पाम्) पुष्पा ओषधि को (हुवे) बतलाता हूँ, उसके सेवन का उपदेश करता हूँ, वैद्य रोगी के रोग दूर करने, पुष्ट करने और चित्त प्रसादन के लिये उचित ओषधियों का नुसख़ा बना कर रोगी को दे।

इहा यन्तु प्रचेतसो मेदिनीर्वचसो मम ।
यथेमं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि ॥ ७ ॥

५–'मुञ्चतोषधीः' इत्यन्तः पाठः। पैप्प० सं०।
६–अथर्व० [८ । २ । ६] इत्यत्रापि द्रष्टव्यम्।

भा०—(इह) इस चिकित्सा के अवसर में (मम) मुझ (प्रचेतसः) उत्कृष्ट ज्ञानवान् वैद्य के (वचसः) वाणी या उपदेश के अनुसार (मेदिनीः)[1] बुद्धिप्रद, रोगनाशक या स्निग्ध गुणयुक्त पौष्टिक ओषधियां (आ यन्तु) प्राप्त हों (यथा) जिनसे (इमम् पुरुषम्) इस पुरुष को (दुरिताद् अधि) दुःखप्रद अवस्था से (पारयामसि) पार कर सकें ।

अग्नेर्घासो अपां गर्भो या रोहन्ति पुनर्णवाः ।
ध्रुवाः सहस्रनाम्नीर्भेषजीः सन्त्वाभृताः ॥ ८ ॥

भा०—(अग्नेः) अग्नि को (घासः) अपने भीतर धारण करनेवाली, (अपां गर्भः) और जलों को अपने भीतर धारण करनेवाली, (याः) जो ओषधियाँ (पुनः नवाः) प्रति वर्ष बार २ नये सिरे से फूट पड़ती हैं ऐसी (ध्रुवाः) सदा स्थितिशील, कभी नाश न होने वाली (सहस्रनाम्नीः) सहस्रों नामवाली अथवा बलप्रद स्वरूप वाली (भेषजीः) रोगहारी ओषधियां (आभृताः) ला लाकर संग्रह की (सन्तु) जावें ।

अवकोल्वा उदकात्मान ओषधयः । व्यृषन्तु दुरितं तीक्ष्णशृङ्ग्यः ॥ ९ ॥

भा०—(अवका-उल्वाः) जलमें उतराने वाले सेवार के भीतर उत्पन्न होनेवाली (उदकात्मानः) जलमय देहवाली, जल के विना न जीनेवाली और (तीक्ष्ण-शृङ्ग्यः) तीखे सींग या कांटोंवाली ओपधियाँ भी (दुरितम्) दुःखदायी रोग को (वि ऋषन्तु) विशेष रूप से दूर करें ।

उन्मुञ्चन्तीर्विवरुणा उग्रा या विषदूषणीः ।
अथो बलासनाशनीः कृत्यादूषणीश्च यास्ता इहायन्त्वोषधीः ॥ १० ॥ (१७)

७—१. 'मद मद्य हिंसनयोः' (भ्वादिः), मिदि स्नेहने (चुरादिः), मिदा स्नेहने (दिवादिः), मिदा स्नेहने भ्वादिः ।

भा०—(उत्-मुञ्चन्तीः) रोग से मुक्त करने हारी (विवरुणाः) विशेष रूप से वरण करने योग्य या (विवरुणाः) वरुण से रहित, निर्जल, (उग्राः) अति बलवाली, (विष-दूषणीः) विषों को नाशक (अथो) और (बलास-नाशनीः) कफ को या शरीर के बलनाशक रोगों को नाश करनेवाली (कृत्या-दूषणीः च) दुष्ट पुरुषों के दुष्ट अपचारों से उत्पन्न पीड़ाओं को नाश करनेवाली (ओषधीः) ओषधियाँ (याः) जो भी हैं (ताः) वे सब (इह) इस वैद्यशाला में (आ यन्तु) प्राप्त हों ।

अपक्रीताः सहीयसीर्वीरुधो या अभिष्टुताः ।
त्रायन्तामस्मिन् ग्रामे गामश्वं पुरुषं पशुम् ॥११॥

भा०—(अपक्रीताः) दूर देश से द्रव्य के बदले प्राप्त की गई, चीनी गई, (सहीयसः) अतिबलशाली (वीरुधः) लताएँ, (याः) जिनकी (अभिष्टुताः) सब तरफ़ प्रशंसा सुनाई दे रही हो वे भी (अस्मिन्) हमारे इस ग्राम में (गाम्, अश्वम्, पशुम्, पुरुषम्) गौ, घोड़े आदि पशु और पुरुषों को भी (त्रायन्ताम्) रोगों से बचावें ।

मधुमन्मूलं मधुमदग्रमासां मधुमन्मध्यं वीरुधां बभूव ।
मधुमत् पर्णं मधुमत् पुष्पमासां मधोः संभक्ता अमृतस्य भक्षो
घृतमन्नं दुह्रतां गोपुरोगवम् ॥ १२ ॥

भा०—(आसाम्) इन (वीरुधाम्) ओषधियों का (मूलम्) मूल (मधुमत्) मधु के समान मधुर रसयुक्त है (आसां अग्रं मधुमत्) इन ओषधियों का अग्रभाग, कोंपल मधुर रस से युक्त है । (आसां मध्यं मधुमत्) इन ओषधियों का मध्यभाग मधुर रस से युक्त (बभूव)

१०–(तृ० च०) 'बलासनाशिनी रक्षोनाशिनीः कृत्यादूषणीश्च यत् ता' इति पैप्प० सं० ।

१२–(द्वि०) वीरुधां बलेन' इति पैप्प० सं० ।

होता है । इसी प्रकार (आसां पर्णं मधुमत्) इन ओषधियों का पत्ता मधुरस से युक्त होता है, (आसां पुष्पं मधुमत्) इनका फूल मधुरस से युक्त होता है, इस कारण से ये सब ओषधियें (मधोः संभक्ताः) मधु, अमृत से सिंची हुई हैं, इनमें मधु का अंश सर्वत्र व्यापक है । इससे ये अमृतमय ओषधियें (अमृतस्य भक्षः) अमृत के बने भोजन के समान दीर्घायुप्रद हैं । हे पुरुषो ये ओषधियां ही (गोपुरोगवम्) खाद्य पदार्थ (घृतम्) घी आदि (अन्नम्) अन्न को (दुहृताम्) पूर्ण करतीं, बढ़ातीं और प्रदान करती हैं, जिन में (गोपुरोगवम्) गाय का दूध सब से मुख्य है । नाना प्रकार की ओषधियां हैं जिन में से किसी की जड़ मधुर, किसी की कोंपल, किसी का पत्ता, किसी का फूल, फलतः इन में मधु मानो नाना प्रकार से प्राप्त है । यही सब अमृत का भोजन है, घी, अन्न और दूध, जिन में दूध सब से मुख्य है । ये ओषधियां ही ये सब भोजन हम को प्राप्त करावें ।

यावतीः कियतीश्चेमाः पृथिव्यामध्योषधीः ।
ता मा सहस्रपर्ण्यो मृत्योर्मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १३ ॥

भा०—(पृथव्याम्) पृथिवी पर (यावतीः) जितनी (कियतीः च) और कितनी भी (इमाः) ये (ओषधीः) ओषधियां हैं (ताः) वे सब (सहस्र-पर्ण्यः) हजारों प्रकार के पत्तों वाली (मा) मुझे (मृत्योः) मृत्यु के (अंहसः) दुःख से (मुञ्चन्तु) दूर करें, बचावें ।

वैयाघ्रो मणिर्वीरुधां त्रायमाणोऽभिशस्तिपाः ।
अमीवाः सर्वा रक्षांस्यप हन्त्वाधि दूरमस्मत् ॥१४॥

भा०—(वीरुधाम्) ओषधियों के रसों से बनाया हुआ (वैयाघ्रः) नाना प्रकार के गन्ध देने वाला (मणिः) मणि, रोगस्तम्भन गुटिका (त्रायमाणः)

१४–(प्र०) 'व्याघ्रोमाणि', (च०) 'दूरमस्मात्' इति पैप्प० सं० ।

रोगों से रक्षाकारी, (अभिशस्तिपाः) निन्दनीय पापमय रोगों से रक्षा करने वाला होता है। वह (सर्वाः) सब प्रकार के (अमीवाः) रोग-जन्तुओं को और (रक्षांसि) बाधक, जीवन के विघ्नकारी रोगादि पीड़ा के कारणों को (अस्मत् दूरम्) हम से दूर (अप अधि हन्तु) मार भगावे। ओषधियों के रस से तीव्र गन्ध की गोलियों या पुटिकाओं को बनावें जो सदा देह में रहने से रोगों और पीड़ाकारी कारणों को तीव्र गन्ध से नाश करें और रोगों से बचावें।

"विविधं विशेषेण वा आघ्रीयते इति व्याघ्रः स एव वैयाघ्रः।" सवासौ मणिश्चेति। तपेदिक्, सिरदर्द आदि रोगों में निरन्तर सूंघने के लिये विशेष ओषधि रसों की शीशी या फायों का प्रयोग और प्लेग आदि के समय फिनाइल आदि गोलियों को जेब में रखने आदि का प्रयोग किया जाता है। पूर्वकाल में ऐसी रोग-हर ओषधियों को कपड़े में बांध कर गले में या बाजू पर बांध लिया जाता था। और अब भी उनको ताबीज़ आदि रूप में रक्खा जाता है।

सिंहस्येव स्तनथोः सं विजन्तेऽग्नेरिव विजन्त आभृताभ्यः।
गवां यक्ष्मः पुरुषाणां वीरुद्भिरतिनुत्तो नाव्या एतु स्रोत्याः ॥१५॥

भा०—जिस प्रकार पशु (सिंहस्य) शेर के (स्तनथोः) गर्जन से (सं विजन्ते) खूब भयभीत हो जाते हैं और जिस प्रकार पशु (अग्नेः) अग्नि से (विजन्ते) व्याकुल हो जाते हैं उसी प्रकार (आभृताभ्यः) संग्रह की हुई ओषधियों से रोग के कीट भी कांपते हैं और भय व्याकुल हो जाते हैं। और इसीलिये (वीरुद्भिः) ओषधि लताओं से (अतिनुत्तः) पराजित हुआ हुआ (गवाम्) गौ आदि पशुओं और (मनुष्याणाम्) मनुष्यों का (यक्ष्मः) पीड़ाकारी रोग (नाव्याः) नावों से तरने योग्य (स्रोत्याः) नदियों से भी परे दूर (एतु) चला जाय।

१५-(प्र०) 'स्तनथोः ओषधीनाम्' इति पैप्प० सं०।

"९०, या ९९ बड़ी नदियों पार चला जाना" यह मुहावरा अति दूर चले जाने के अर्थ में प्रायः प्रयुक्त हुआ है। इसका प्रयोग भाषा में उसी प्रकार समझना चाहिये जैसे 'सात समुद्रों पार' का प्रयोग होता है। अथवा जीवन के वर्ष को एक २ 'नाव्य नदी' से उपमा दी गई है। '९९ नाव्य नदी' जीवन के ९९ वर्ष हैं। रोगादि हमारे ९९ वर्ष के जीवन से परे रहें।

मुमुचाना ओषधयोऽग्नेर्वैश्वानुरादधि ।
भूमिं संतन्वतीरित यासां राजा वनस्पतिः ॥ १६ ॥

भा०—हे ओषधि लताओ ! आप (यासां राजा) जिनका (राजा) राजा, रक्षक (वनस्पतिः) वनस्पति, वनपाल या बड़ा वृक्ष है वे (वैश्वानरात्) सर्व पुरुषों के हितकारी (अग्नेः) अग्नि से (मुमुचानाः) दूर सुरक्षित रह कर (भूमिम्) भूमि को (संतन्वतीः) आच्छादित करती हुई (इत) फैलती जाओ। राज्य में वनपाल ओषधियों की रक्षा करे। वन में ओषधियां खूब अधिक मात्रा में उत्पन्न हों। अग्नि से उन को बचाया जाय।

या रोहन्त्याङ्गिरसीः पर्वतेषु समेषु च ।
ता नः पर्यस्वतीः शिवा ओषधीः सन्तु शं हृदे ॥ १७ ॥

भा०—(याः) जो (आङ्गिरसीः) अंग या शरीर में रस को उत्पन्न करनेहारी, अंगिरा आयुर्वेद के विद्वानों की परिक्षित ओषधियां (पर्वतेषु) पर्वतों और (समेषु च) समस्थलों में (रोहन्ति) उगती हैं (ताः) वे (पयस्वतीः) पुष्टिकारक, वीर्य रसवाली (शिवाः) कल्याण और सुखकारी (ओषधीः) ओषधियां (नः) हमारे (हृदे) हृदय की (शं) शान्ति करने वाली (सन्तु) हों।

१७–'या रोहन्त्याङ्गिरसीर्विरुधो विश्वभेषजीः' 'ता नो मयस्वतीः शिवा ओषधीः सन्तु शं हृदे' इति पैप्प० सं० ।

याश्चाहं वेद वीरुधो याश्च पश्यामि चक्षुषा ।
अज्ञाता जानीमश्च या यासु विद्म च संभृतम् ॥ १८ ॥
सर्वाः समग्रा ओषधीर्बोधन्तु वचसो मम ।
यथेमं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि ॥ १९ ॥

भा०—(अहम्) मैं (याः वीरुधः) जिन लताओं को (वेद) जानता हूँ। और (याः च) जिन लताओं को (चक्षुषा पश्यामि) आंख से देखता हूँ और जो (अज्ञाताः) अभी तक नहीं जानी गयी हैं और (याः च जानीमः) जिन को हम सब प्रायः जाना करते हैं और (यासु) जिन में से (संभृतम्) संग्रह किये हुए भाग को (विद्मः) प्राप्त कर लेते हैं (सर्वाः समग्राः) उन सब, समस्त प्रकार की (ओषधीः) ओषधियों को (मम) मुझ आयुर्वेदज्ञ के (वचसः) वचन से (बोधन्तु) सब मनुष्य जानें, (यथा) कि किस प्रकार (इमं पुरुषम्) इस रोगी पुरुष को (दुरितात् अधि) दुखप्रद रोग से (पारयामसि) छुड़ावें, मुक्त करें ।

अश्वत्थो दर्भो वीरुधां सोमो राजामृतं हविः ।
व्रीहिर्यवश्च भेषजौ दिवस्पुत्रावमर्त्यौ ॥ २० ॥ (१८)

भा०—(अश्वत्थः) पीपल (दर्भः) दाभ, कुशा और (वीरुधाम्) ओषधियों का (राजा) राजा (सोमः) सोमलता और (हविः) अन्न (अमृतम्) अमृत स्वरूप, दीर्घायु प्रदान करने वाला (व्रीहिः यवः च) धान और जौ भी (भेषजौ) रोगों को दूर करने वाले (अमर्त्यौ) कभी विनाश न होने वाले (दिवः पुत्रौ) द्यौलोक से बरसे हुए मेघ के जल और ओस एवं सूर्य की धूप से उत्पन्न होने वाले हैं अथवा (दिवः) द्यौ लोक के रस और सूर्य के प्रकाश के बल से (पुत्रौ) पुत्र अर्थात्, पुरुषों की भी जीवन रक्षा करने में समर्थ हैं ।

२०–(तृ०) 'व्रीहिर्यवस्य भेषजौ' इति पैप्प० सं० ।

व्रीहियव अमर्त्य=अर्थात् न मरने वाले किस प्रकार हैं ? क्योंकि धानों से बीज और बीजों से पुनः धान उत्पन्न होते हैं इस कारण वे कभी पृथ्वीतल से विनष्ट नहीं होते । इसी दृष्टान्त से जीव भी कभी नहीं मरता 'सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ।' कठोप० ।

उज्जिहीध्वे स्तनयत्यभिक्रन्दत्योषधीः ।
यदा वः पृश्निमातरः पर्जन्यो रेतसावति ॥ २१ ॥

भा०—हे (पृश्नि-मातरः) पृश्नि=रसों को अपने भीतर ले लेने में समर्थ, पृथ्वी माता से उत्पन्न (ओषधीः) ओषधियो ! (यदा) जब (पर्जन्यः) रसों, जलों को प्रदान करने वाला मेघ (स्तनयति) गरजता है; (अभिक्रन्दति) खूब ध्वनि करता है तब तुम (उत् जिहीध्वे) ऊपर उठती हो, प्रसन्न होती हो, पुलकित होती हो, उस समय वह तुम्हें (रेतसा) जल से (वः) तुम्हारी (अवति) रक्षा करता है ।

तस्यामृतस्येमं बलं पुरुषं पाययामसि ।
अथो कृणोमि भेषजं यथासच्छतहायनः ॥२२॥

भा०—(तस्य) उस (अमृतस्य) जल के (इमम्) परिवर्तित रूप इस ओषधि और अन्न के रूप में प्राप्त (बलम्) बल को हम लोग (पुरुषम्) इस पुरुष को (पाययामसि) पिला देते हैं । (अथो) और साथ ही (भेषजम्) रोग की निवृत्ति भी (कृणोमि) करते हैं (यथा) जिससे यह पुरुष (शतहायनः) सौ वर्ष तक जीवित (असत्) रहता है ।

वराहो वेद वीरुधं नकुलो वेद भेषजीम् ।
सर्पा गन्धर्वा या विदुस्ता अस्मा अवसे हुवे ॥ २३ ॥

भा०—(वराहः) वराह, सूकर (वीरुधम्) नाना प्रकार की (याः)

२२–'पुरुषं पालयामसि' इति पैप्प० सं० ।
२३–'वेद वीरुधाम्' इति क्वचित् ।

जिन खाद्य और रोगहारी लताओं को (वेद) जानता है और (नकुलः) नेवला (भेषजीम्) रोग और विष दूर करने हारी जिन ओषधियों को (वेद) जानता है और (याः) जिन ओषधियों को (सर्पाः) सर्प, पृथिवी पर पेट के बल सरकने वाले प्राणी (विदुः) जानते हैं और (गन्धर्वाः) गन्ध से अपने खाद्य पदार्थों को प्राप्त करने वाले गौ, वानर आदि पशु लोग तथा गौओं को धारण पालन करने वाले पशुपाल लोग और विद्वान् लोग जिन ओषधियों को जानते हैं (ताः) उनको मैं उत्तम वैद्य (अस्मै) इस पुरुष की (अवसे) प्राणरक्षा के लिये (हुवे) प्राप्त करता हूं। पण्डित ग्रीफिथ ने इस मन्त्र पर टिप्पणी में लिखा है कि जंगली सूकर की खाद्य मूल कन्दों को खोजने और खोदने में असाधारण शक्ति होती है।

याः सुपर्णा आङ्गिरसीर्दिव्या या रघटो विदुः ।
वयांसि हंसा या विदुर्याश्च सर्वे पतत्रिणः ।
मृगा या विदुरोषधीस्ता अस्मा अवसे हुवे ॥ २४ ॥

भा०—(याः) जिन (आंगिरसीः) अंगिरा, शरीर शास्त्र के वेत्ता ऋषि लोगों की उपदेश की हुई ओषधियों को (सुपर्णाः) उत्तम, विशाल पक्ष वाले या बड़ी उड़ान वाले बाज़, शिकरा, गरुड़, गीध आदि (विदुः) जानते हैं और (याः दिव्याः) जिन दिव्य गुणवाली ओषधियां को (रघटः) छोटी उड़ान वाले पक्षी या '[अ] रघट' अति वेग से चलने वाले पक्षी (विदुः) जानते हैं और जिन ओषधियों को (हंसाः) हंस जाति के (वयांसि) पक्षीगण जानते हैं और (सर्वे पतत्रिणः) सब पंखों वाले (याः च) जिन २ ओषधियों को जानते हैं और (याः) जिन (ओषधीः) ओषधियों को (मृगाः) मृग, आरण्य पशु, हस्ति व्याघ्र, गवय, मृग आदि (विदुः) जानते हैं (ताः) उन सबको (अस्मा अवसे) इस पुरुष की रक्षा के लिये (हुवे) प्राप्त करता हूँ, संग्रह करता हूं।

यावतीनामोषधीनां गावः प्राश्नन्त्यघ्न्या यावतीनामजावयः ।
तावतीस्तुभ्यमोषधीः शर्म यच्छन्त्वाभृताः ॥ २५ ॥

भा०—और (यावतीनाम्) जितनी (ओषधीनाम्) ओषधियों को (अघ्न्याः) कभी भी न मारने योग्य (गावः) गौएं (प्राश्नन्ति) खाती हैं और (यावतीनाम्) जितनी ओषधियों को (अजावयः) भेड़ बकरियें खाती हैं (तावतीः ओषधीः) उतनी सभी ओषधियां (अभृताः) संग्रह की जाकर (तुभ्यम्) तुझे (शर्म यच्छन्तु) सुख प्रदान करें ।

यावतीषु मनुष्या भेषजं भिषजो विदुः ।
तावतीर्विश्वभेषजीरा भरामि त्वामभि ॥ २६ ॥

भा०—(यावतीषु) जितनी ओषधियों में (भिषजः मनुष्याः) रोग दूर करने का कार्य करने वाले मनुष्य, वैद्य, डाक्टर लोग (भेषजम्) रोग दूर करने के गुण को (विदुः) जानते हैं (तावतीः) उतनी (विश्व-भेषजीः) सब रोगहारी ओषधियों को (त्वाम्) तेरे लिये हे पुरुष ! (आ भरामि) ले आता हूं ।

पुष्पवतीः प्रसूमतीः फलिनीरफला उत ।
संमातर इव दुह्रामस्मा अरिष्टतातये ॥ २७ ॥

भा०—(पुष्पवतीः) फूलों वाली (प्रसूमतीः) नवपल्लव, नयी शाखाओं, नयी जड़ों को उत्पन्न करने वाली (फलिनीः) फलों वाली (उत) और (अफलाः) फलरहित ओषधियों को (मातरः इव) सम्मान पद पर विराजमान माताओं या गौवों के समान (अस्मा) इस पुरुष के (अरिष्टतातये) कल्याण के लिये (दुह्राम्) दोह लूँ, प्राप्त करूं ।

२४—'सुपर्णाङ्गिरसीः' इति पैप्प० सं० ।

२५—(तृ० च०) तावतीस्तुभ्यमाभृताः शर्मयच्छन्तोषधीः' इति पैप्प० सं० ।

२६—(च०) 'त्वामिति' इति पैप्प० सं० ।

उत् त्वाहार्षं पञ्चशलादथो दशशलादुत ।
अथो यमस्य पड्वीशाद् विश्वस्माद् देवकिल्बिषात् ॥२८॥(१६)

भा०—हे पुरुष ! (त्वा) तुझको मैं (पञ्चशलात्) तुझे संताप करने वाले शल या शर पीड़ाजनक रोग से अथवा पञ्चप्राणों (अथो उत) और (दशशलात्) तुझे काटने और चुभने एवं क्षीण करने वाले दुःख-दायी रोग अथवा दश इन्द्रियों (अथा) और और (यमस्य) शरीर में बांधने वाले या यातना देने वाले कष्ट की (पड्वीशात्) बेड़ियों से और (विश्वस्मात्) सब प्रकार के (देवकिल्बिषात्) देव, ईश्वर द्वारा पाप कर्मों के फलरूप में प्राप्त कष्टों से (उत् अहार्षम्) ऊपर ले आता हूं, तुझे मुक्त करता हूँ ।



[८] शत्रुनाशक उपाय ।

भृग्वंगिरा ऋषिः । इन्द्रः वनस्पति सेना हननश्च देवताः । १, ३,५,१३, १८, २,८–१०,२३ । उपरिष्टाद् बृहती । ३ विराट् बृहती । ४ बृहती पुरस्तात् प्रस्तार-पंक्तिः । ६ आस्तारपंक्तिः । ७ विपरीतपादलक्ष्मा चतुष्पदा अतिजगती । ११ पथ्या बृहती । १२ भुरिक् । १६ विराट् पुरस्ताद् बृहती । २० निचृत् पुरस्ताद् बृहती । २१ त्रिष्टुप् । २२ चतुष्पदा शक्वरी । २४ त्र्यवसाना उष्णिग्गर्भा त्रिष्टुप् । शक्वरी पञ्चपदा जगती । चतुर्विंशर्चं सूक्तम् ॥

इन्द्रो मन्थतु मन्थिता शक्रः शूरः पुरंदरः ।
यथा हनाम सेना अमित्राणां सहस्रशः ॥ १ ॥

२७–१. अत्र द्वितीयार्थे प्रथमा ।

२८–(प्र०) उत् त्वाहारिषम्' (तृ०) 'उत् त्वा यमस्य', (च०) 'ओषधी-भिरपापरम्' इति पैप्प० सं० ।

[८] १–ध्मा शब्दाग्नि संयोगयोः (भ्वादिः) २, पूर्या विशरणे दुर्गन्धे च'

भा०—(मन्थिता) शत्रुओं को क्लेश देने और उनकी हिंसा करने में समर्थ होकर (इन्द्रः) राजा ओर सेनापति (मन्थतु) शत्रुओं को हनन करे। (शक्रः) शक्तिमान् (शूरः) शूरवीर (पुरंदरः) शत्रु के गढ़ को तोड़ने में समर्थ है। (यथा) उस के बल पर हम सुभट लोग (अमित्राणाम्) शत्रुओं की (सहस्रशः) हज़ारों सेनाओं को (हनाम) मारें।

पूतिर॒ज्जुरु॑प॒ध्मानी॒ पूतिं॒ सेनां॑ कृणोत्व॒मूम्।
धू॒मम॒ग्निं प॑रा॒दृश्या॒मित्रा॑ हृ॒त्स्वा द॑धतां भ॒यम् ॥ २ ॥

भा०—(उपध्मानी) अति शब्द करने वाला या आग लगा देने वाला, (पूतिरज्जुः) एक दम विस्फोट उत्पन्न करने वाला पदार्थ (अमुम्) उस (सेनाम्) शत्रु सेना को (पूतिम्) विशीर्ण, तितर बितर (कृणोतु) कर दे। (अमित्राः) शत्रु लोग (धूमम् अग्निम्) धूम और आग को (परा दृश्य) दूर से ही देखकर (हृत्सु) अपने दिलों में (भयं) भय (आदधतां) प्राप्त करें। (पूतिरज्जुः) जीर्ण रस्सी जिस प्रकार (उपध्मानी) आगको जल्दी पकड़ लेती है और स्वयं जल कर खाक हो जाती है इसी प्रकार इन्द्र राजा भी (अमूं सेनां पूतिं कृणोति) इस शत्रुसेना को विशीर्ण करे। और हे राजन्! (अमित्राः धूमम् अग्निम्) शत्रुगण धूम देने या कंपा देनेवाले (अग्निम्) परन्तप अग्नि को (परा दृश्य) दूर से ही देखकर तिनकों के समान अपने आप जलकर खाक हो जाने के भय से (हृत्सु भयं आ दधताम्) चित्तमें भय करें।

अ॒मूनं॑श्वत्थ॒ निः शृ॑णीहि॒ खादा॒मून् खं॑दिराजि॒रम्।
ता॒जद्भ॑ङ्ग इव भज्यन्तां॒ हन्त्वे॑ना॒न् व॑धको॒ व॒धैः ॥३॥

(म्वादिः)। रज्जुः सृजतेरसुन्। पूर्तिं विशरणं सृजति इति पूतिरज्जुः' विस्फोटकपदार्थः।

२–'अग्निधामं परा' इति पैप्प० सं०।

भा०—हे (अश्वत्थ) अश्वों पर सवार वीर पुरुषो! (अमून्) इन शत्रुओं को (निः शृणीहि) सर्वथा विनाश करो। और हे (खदिर) शस्त्र-प्रहार करनेहारे वीर! (अमून्) उन शत्रुओं पर (अजिरम्) अति शीघ्रता से, निरन्तर (खाद) वल प्रहार कर। शत्रु लोग (ताजद् भङ्ग इव)[१] एरण्ड के समान अथवा सूखे सरकाण्डे के समान (भज्यन्ताम्) टूट फूट जायँ और (वधकः) शस्त्रधारी लोग (एनान्) इन शत्रुओं को (वधैः) नाना शस्त्रों से (हन्तु) मारें, 'अश्वत्थ', 'खदिर' और 'वधक' ये तीनों प्रकार के सैनिक लोग अपने २ युद्ध के उपकरणों से शत्रु का नाश करें।

परुषानमून् परुषाह्वः कृणोतु हन्त्वेनान् वधको वधैः।
क्षिप्रं शर इव भज्यन्तां बृहज्जालेन संदिताः॥ ४॥

भा०—(परुषाह्वः) परुष नामक या कठोर शस्त्रों या पुरुषों का सामना करने और उनका मुकावला करने में समर्थ वीर (अमून्) उन (परुषान्) अति कठोर शत्रुओं को भी (कृणोतु)[१] मारे। और (वधकः)[२] बाँधने वाले या शस्त्रधारी 'वधक' लोग (एनान्) उनको (वधैः) रस्सों से बाँध २ कर (हन्तु) मारें, दण्ड दें, शत्रु लोग (बृहत् जालेन)[३] बड़े बड़े जालों से (संदिताः) बाँधे जाकर (शर इव) सरकण्डे के समान

३–(द्वि०) 'खदिराचिरम्', 'ताजद्भङ्गेव' (च०) बृहज्जालेन संचिताः' इति पैप्प० सं०। 'वधको वधः' इति क्वचित्।

१. ऐरण्डद्रुम इति दारिलःकौशिकसूत्रभाष्यकृत्।

४–(तृ०) 'शरेव', (च०) जालेन संचिताः' इति पैप्प० सं०।

१–कृञ् हिंसायाम् (स्वादिः), स्वादिभ्यश्नुः। कृणोति हिनस्ति इत्यर्थः।

२–वध संयमने (चुरादिः), वध वन्धने (भ्वादिः) हन्तेर्वा वधादेशस्य रूपम्।

३–जल अपवारणे (चुरादिः), ४ 'जल घातने' (भ्वादिः)।

(भज्यन्ताम्) टूट फूट जायँ । अथवा (बृहत् जालेन) बड़े भारी आघातकारी अस्त्र से (संदिताः) काटे जाकर (शर इव भज्यन्ताम्) सरों के समान टूट फूट जायँ ।

अन्तरिक्षं जालमासीज्जालदण्डा दिशो महीः ।
तेनाभिधाय दस्यूनां शक्रः सेनामपावपत् ॥ ५ ॥

भा०—ईश्वर की परम विजय का अलंकार स्पष्ट करते हैं । (अन्तरिक्षम्) यह अन्तरिक्ष ही (जालम्) जाल (असीत्) है और जाल लगाने के लिये (महीः दिशः) विशाल दिशाएँ ही (जालदण्डाः) जाल तान कर लगाने के दण्डे हैं । वह (शक्रः) सर्वशक्तिमान् परमेश्वर (तेन) उस महान् (जालेन) अन्तरिक्ष या वायु, प्राण रूप जाल से (अभिधाय) पकड़ कर (दस्यूनाम्) दस्यूओं, पर प्राण विनाशक, पापाचारियों की (सेनाम्) सेना को (अवयत्) काट गिराता है । उसी प्रकार विजिगीषु राजा भी (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष के समान विस्तृत जाल को चारों दिशाओं में विशाल दण्ड लगा कर उनसे (दस्यूनां सेनाम् अभिधाय) शत्रुओं की सेना को पकड़ कर (अप अवपत्) काट गिरावे ।

बृहद्धि जालं बृहतः शक्रस्य वाजिनीवतः ।
तेन शत्रूनभि सर्वान् न्युब्ज यथा न मुच्यातै कतमश्चनैषाम् ॥६॥

भा०—(बृहतः शक्रस्य) बड़े भारी, शक्तिमान् परमेश्वर का जिस प्रकार (बृहत् हि जालम्) विशाल जाल है उसी प्रकार (बृहतः शक्रः) बड़े भारी शक्ति, पराक्रम से युक्त (वाजिनीवतः) बलसम्पन्न, सेनासम्पन्न राजा का भी (बृहत्) बड़ा भारी (जालं हि) जाल शत्रुओं को

५–(तृ० च०) तेनाभिधाय सेनां इन्द्रो दस्यूनपावपन्' इति पैप्प० सं० ।
६–(द्वि०) 'शक्रस्य रोचनावतः' इति पैप्प० स० ।
१. उब्ज आर्जवे (तुदादिः) ।

पकड़ने का साधन है। (तेन) उस जाल से (सर्वान् शत्रून्) समस्त शत्रुओं को (नि उब्ज)[1] अपने अधीन कर, उनको दबा और विनीत कर (यथा) जिससे (एषाम्) इनमें से (कतमः चन) कोई भी (न मुच्यातै) छूटना न पावे।

बृहत् ते जालं बृहत इन्द्र शूर सहस्रार्घस्य शतवीर्यस्य।
तेन शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदं जघान शक्रो दस्यूनामभिधाय सेनया॥७॥

भा०—हे (इन्द्र)[1] शत्रुओं के दलन करने, मार कर भगा देने और विनाश करनेहारे प्रभो ! राजन् ! हे (शूर) शत्रुनाशक शूरवीर (सहस्रार्घस्य) हज़ारों के मुक़ाबला करने में समर्थ (शतवीर्यस्य) सैकड़ों बलों से सम्पन्न (बृहतः) विशाल (ते) तेरा (जालम्) जाल, शत्रुओं को घेरने का साधन भी (बृहत्) बहुत बड़ा है (तेन) उससे (शतम्) सौ, (सहस्रम्) सहस्र, (अर्बुदम्) दस सहस्र (दस्यूनाम्) दस्युओं को भी (सेनया) अपनी सेना की सहायता से (अभिधाय) घेर कर, पकड़ कर (निजघान) मार सकता है।

अयं लोको जालमासीच्छक्रस्य महतो महान्।
तेनाहमिन्द्रजालेनामूंस्तमसाभि दधामि सर्वान्॥८॥

भा०—(महतः) उस महान् (शक्रस्य) शक्तिमान् परमेश्वर का (अयं लोकः) यह लोक (जालम् आसीत्) जाल है। (अहम्) मैं (तेन) उस ही (इन्द्र-जालेन) इन्द्र के आवरणकारी जाल के समान विस्तृत (तमसा)[1] अन्धकारमय, तृष्णामय मृत्यु रूप जाल से (अमून्) उन शत्रुपक्षी (सर्वान्) सब लोगों को (अभि दधामि) घेरता हूँ।

७–(च०) 'अभिधाय सेनाम्' इति पप्प० स०।

१–इन्द्रः शत्रूणां दारयिता वा द्रावयिता वा इति यास्कः। नि० १०।१॥

१–'तमु कांक्षायाम्' (दिवादिः)।

महाभारत में इन्द्रजाल नामक महास्त्र का वर्णन है इसका प्रयोग अर्जुन ने किया है।

सेदिरुग्रा व्यृद्धिरार्तिश्चानपवाचना।
श्रमस्तन्द्रीश्च मोहश्च तैरमूनभि दधामि सर्वान् ॥९॥

भा०—(उग्रा) उग्र तीव्र (सेदिः) थकान (उग्रा व्यृद्धिः) घोर असमर्थता, (उग्रा आर्त्तिः) ऐसी प्रचण्ड वेदना जिसमें (अनपवाचना) मुँह से गाली या क्रोध के वचन भी न निकल सकें, (श्रमः) थकान (तन्द्रीः च) निद्रा और (मोहः च) मूर्च्छा (तैः) इन नाना प्रकार की अवस्थाओं को उत्पन्न करनेवाले अस्त्रों से (अमून् सर्वान्) इन सब शत्रुओं को (अभि दधामि) बाँधता हूँ, अपने वश करता हूँ।

मृत्यवेमून् प्र यच्छामि मृत्युपाशैरमी सिताः।
मृत्योर्ये अघला दूतास्तेभ्य एनान् प्रति नयामि बद्ध्वा ॥१०॥(२०)

भा०—(अमून्) उन शत्रुओं को मैं (मृत्यवे) मृत्यु के (प्रयच्छामि) भेंट करता हूँ। (अमी) ये सब (मृत्युपाशैः) मृत्युकारक, विपाद, दरिद्रता, पीड़ा, थकान, निद्रा और मूर्च्छा आदि पाशों से (सिताः) बँधे हैं। (ये) जो (मृत्योः) मृत्यु के (अघलाः)[1] कष्टों को लाने वाले (दूताः) संतापकारी, पीड़ादायी लोग हैं (तेभ्यः) उन जल्लादों से (एनान्) इन शत्रुओं को (बद्ध्वा) बाँध कर (प्रतिनयामि) ले जाता हूँ। दुष्ट, प्राणदण्ड के योग्य शत्रुओं को मृत्युपाशों से बाँध २ कर राजा अपने हत्याकारी लोगों के हाथ सौंपे, वे उनको प्राणों से वियुक्त करें।

नयतामून् मृत्युदूता यमदूता अपोम्भत।
परःसहस्रा हन्यन्ताम् तृणेढ्वेनान् मत्यं भवस्य ॥ ११ ॥

१०–(तृ०) 'मृत्योर्ये खालादूताः' (च०) 'नयामि बद्धान्' इति पैप्प० सं०।

१. अघि गत्याक्षेपयोः (भ्वादिः)।

भा०—हे (मृत्यु-दूताः) मृत्यु अर्थात् प्राणविच्छेद की पीड़ा देने में समर्थ वीर पुरुषो! (अमून्) इन शत्रु लोगों को (नयत) ले जाओ। हे (यम-दूताः) बन्धन करनेवाले या बन्धनों से शत्रुओं को पीड़ा पहुंचाने वाले नियुक्त पुरुषो! उनको (अप उम्भत)[1] समाप्त करो। (परः सहस्राः) ये हज़ारों (हन्यन्ताम्) मार डाले जायँ। (एनान्) इनको (भवस्य) सामर्थ्यवान् प्रभु राजा का (मत्यम्)[2] शत्रुओं का स्तम्भनकारी सामर्थ्य दण्ड या वज्र (तृणेढु)[3] मारे या स्तम्भन करे।

साध्या एकं जालदण्डमुद्यत्यं यन्त्योजसा।
रुद्रा एकं वसव एकमादित्यैरेक उद्यतः ॥ १२ ॥

भा०—उस महान् ईश्वर का जो भारी जाल है, उसके (एकम्) एक (जालदण्डम्) जालदण्ड को (साध्याः) साधनासम्पन्न, 'साध्य' लोग (उद्यत्य) उठा कर (ओजसा) बल से (यन्ति) जाते हैं और (एकं रुद्राः) एक दण्ड को (रुद्राः) रुद्र, नैष्ठिक ब्रह्मचारी या प्राणगण उठाते हैं और (एकं) एक को (वसवः) वसु ब्रह्मचारी या पृथिवी आदि लोक लिये हुए हैं और (एकः) एक दण्ड को (आदित्यैः) आदित्य ब्रह्मचारी, या १२ मास, या योगी लोगों ने (उद्यतः) उठा रक्खा है। परमेश्वर का महान् जाल जिस में जीवगण या दुष्टाचारी जीव बंधे हैं, वह कर्म व्यवस्था है उसके साधक साध्य, वसु, रुद्र और आदित्य हैं। प्रति शरीर में भिन्न २ कार्यों से युक्त प्राण इन्द्रिय और पञ्च भूत आदि ही साध्य आदि नाम से कर्मफल, भोग, भोगायतनशरीर और मन आदि को संभाले हुए हैं, अध्यात्म में साध्य=कर्म। वसु=जीव। रुद्र=प्राण। आदित्य=कर्मफल या तत्प्रद ईश्वर। इसी प्रकार राजा भी शत्रुओं और दुष्ट पुरुषों को बांधने के लिये अपने जालके दण्ड

११-(तृ०) 'मृत्युदूताः अमूंनयत' इति पैप्प० सं०।

१. उम्भ उम्भ पूरणे (तुदादिः), २. मन स्तम्भे (दिवादिः), ३. तृंहि। हिंसायाम्।

अर्थात् दमन साधनों को साध्य वसु रुद्र और आदित्य इन चार प्रकार के अधिकारियों के हाथ में दे । साध्य साधनसम्पन्न, वसु=प्रजा, रुद्र= रोदनकारी, तीक्ष्ण पुरुष, आदित्य=ज्ञानवान्, मार्गदर्शक विद्वान् । इन चार प्रकार के पुरुषों के हाथों में तन्त्र को दिया जाय ।

विश्वे॑ दे॒वा उ॒परि॑ष्टादु॒ब्जन्तो॑ य॒न्त्वोज॑सा ।
मध्ये॑न॒ घ्नन्तो॑ यन्तु॒ सेना॒मङ्गि॑रसो म॒हीम् ॥ १३ ॥

भा०—(विश्वे देवाः) 'विश्वे देव' समस्त देव, युद्ध क्रीड़ा के करने वाले सामान्य सैनिक (ओजसा) बल से (उपरिष्टाद्) ऊपर से (उब्जन्तः) दुष्टों का दमन करते हुए (यन्तु) चलें । (मध्येन) बीच में (अंगिरसः) विद्वान्, विशेष शास्त्रों के ज्ञानवान्, तेजस्वी पुरुष (महीम्) बड़ी भारी (सेनाम्) सेना को (घ्नन्तः) मारते हुए (यन्तु) जावें ।

व॒न॒स्पती॑न् वानस्प॒त्यानोष॑धीरु॒त वी॒रुधः॑ ।
द्वि॒पाच्चतु॑ष्पादि॒ष्णामि॒ यथा॒ सेना॑म॒मूं हन॑न् ॥ १४ ॥

भा०—(वनस्पतीन्) वनस्पतियों, वृक्षों और (वानस्पत्यान्) वनस्पतियों या वृक्षों या लकड़ी के बने पदार्थों, (ओषधीः) ओषधियों और (वीरुधः) लताओं को और (चतुष्पात्) चौपायों और (द्विपाद्) दोपायों को मैं (इष्णामि) इस रूप से प्रयोग करूं (यथा) जिस प्रकार से (अमूम्) उस दूरस्थ (सेनाम्) सेना को (हनन्) विनाश करें । 'इष्णामि' इषु गतौ (दिवादिः) अत्र विकरणव्यत्ययः ।

ग॒न्ध॒र्वा॒प्स॒रसः॑ स॒र्पान् दे॒वान् पु॑ण्यज॒नान् पि॒तॄन् ।
दृ॒ष्टान॒दृष्टा॑निष्णामि॒ य॒था सेना॑म॒मूं हन॑न् ॥ १५ ॥

१३–'अङ्गिरसो वधैः' इति पैप्प० सं० ।

१४–(च०) अमूं हताम्' इति पैप्प० सं० ।

१५–(प्र०) 'देवान् सर्वान् पुण्यजनान्' (च०) 'अमूं हताम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(गन्धर्वाप्सरसः) गन्धर्व अर्थात् पुरुषों को अप्सरस् अर्थात् स्त्रियों को (सर्पान्) सांपों, (पुण्यजनान) पुण्यात्मा लोगों और (पितृन्) पालक, वृद्ध पुरुषों को (दृष्टान्) देखे, परिचित, और (अदृष्टान्) विना देखे, अपरिचित लोगों को भी मैं (इरणामि) इस प्रकार से प्रेरित करूं (यथा) जिस प्रकार (अमूम्) उस शत्रुभूत, अपने से दूरस्थ (सेनाम्) सेना को (हनन्) विनाश करें।

इम उप्ता मृत्युपाशा यानाक्रम्य न मुच्यसे।
अमुष्या हन्तु सेनाया इदं कूटं सहस्रशः ॥१६॥

भा०—(इमे) ये (मृत्यु-पाशाः) शत्रुगण के मृत्यु करा देने वाले पाश, फांसे (उप्ताः) लगा दिये गये हैं। (यान् आक्रम्य) जिनको लांघ कर हे शत्रुगण तू (न मुच्यसे) कभी छूट कर नहीं जा सकता। (इदं कूटम्) यह कूट अर्थात् शत्रु के फांसने के लिये लगाये हुए फन्दे या कूट अर्थात् पीड़ा देने के निमित्त लगाये हुए जाल (सहस्रशः) हज़ारों की संख्या में (अमुष्याः सेनायाः) शत्रु की उस सेना को (हन्तु) विनाश करे।

घर्मः समिद्धो अग्निनायं होमः सहस्रहः।
भवश्च पृश्निबाहुश्च शर्व सेनाममूं हतम् ॥ १७ ॥

भा०—(अग्निना) शत्रुओं के तापकारी राजा द्वारा (अयम्) यह (सहस्रहः) सहस्रों शत्रुओं का नाश करने हारा (घर्मः) अति प्रदीप्त, प्रचण्ड (होमः) यज्ञ, युद्धरूप (समिद्धः) प्रज्वलित किया है। हे

१६—(प्र०) 'मृत्युपाशा यमायुक्ता' इति पैप्प० सं०।

१७—(द्वि०) 'होमः सहस्रशः' (च०) 'सेनां सहस्रशः' इति पैप्प० सं०।

१. 'पृश्नि बाहुः'—पृश्निः संस्पृष्टो भासां, ज्योतिषां, संस्पृष्टो भासा इति वा, संस्पृष्टाज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च।' [नि० २। ४। २]

भव ! राजन् ! हे पृश्निबाहो ! (भवः) सामर्थ्य युक्त, सत्ताधारी राजा (पृश्निबाहुः) तेजस्वी बाहुवाला, वीरबाहु, सेनापति और (शर्वः) शत्रुघाती योद्धा तुम तीनों (अमूम् सेनाम्) उस शत्रु सेना को (हतम्) मारो ।

मृत्योराप॒मा प॑द्यन्तां॒ क्षुधं॑ से॒दिं व॒धं भ॒यम् ।
इन्द्र॑श्चाक्षुजा॒लाभ्यां॒ शर्व॒ सेना॑म॒मूं ह॑तम् ॥ १८ ॥

भा०—शत्रु लोग (मृत्योः) मृत्यु के (आपम्) ज्वाला या आंच को (आपद्यन्ताम्) प्राप्त हों। वे (क्षुधम्) भूख, (सेदिम्) विषाद, शिथिलता, (वधम्) अपघात या बन्धन और (भयम्) भय को (अपद्यन्ताम्) प्राप्त हों। हे इन्द्र ! और हे (शर्व) शर्व ! शत्रुघाती योद्धा ! (इन्द्रः च) और इन्द्र राजा और शर्व तुम दोनों ही (अक्षुजालाभ्याम्) फन्दों और जालों से (अमूम्) उस (सेनाम्) सेना को (हतम्) मारो ।

परा॑जिताः॒ प्र त्र॑सतामित्रा नु॒त्ता धा॑वत॒ ब्रह्म॑णा ।
बृह॒स्पति॑प्रणुत्ताना॒ं मामीषां॑ मोचि॒ कश्च॒न ॥ १९ ॥

भा०—हे (अमित्राः) शत्रु लोगो ! तुम (पराजिताः) पराजित हो गये, हार गये । अब (प्र त्रसत) खूब भय करो । अब तुम लोग (नुत्ताः) पछाड़ दिये जाकर (ब्रह्मणा) हमारे ब्रह्मबल से या वेदविद्या के बल से या ब्रह्मास्त्र से (धावत) भाग जाओ । (बृहस्पतिप्रणुत्तानाम्) वेद वाणी के परिपालक विद्वानों के आश्चर्यजनक विद्या विज्ञान के चमत्कारों से पछाड़े हुए (अमीषां) इन शत्रुओं में से (कश्चन) कोई भी बचने न पावे ।

१८—'मृत्योरांषमापद्यन्ताम्' इति क्वचित् पाठः, पैप्प० सं० च ।

१. त्रस गतिदीप्ति- त्रसनेषु अघ इत्येके (भ्वादिः), (तृ०) इन्द्रस्याक्षमालाभ्यं शर्व सेनाममूंहतम्' इति पैप्प० सं० ।

१९—'शर्वसेनाममूंहतम्' इति पैप्प० सं० ।

अवं पद्यन्तामेषामायुधानि मा शंकन् प्रतिधामिषुम् ।
अथैषां बहु बिभ्यतामिषवो घ्नन्तु मर्माणि ॥ २० ॥

भा०—(एषाम्) इन शत्रुओं के (आयुधानि) हथियार (अव-पद्यन्ताम्) नीचे हो जायँ । और (इषुम्) वाण को (प्रतिधाम्) प्रतिकूल रूप से धारण (मा शकन्) न कर सकें, न रोक सकें (अथ) और (बहु बिभ्यताम्) खूब डरते हुए (एषाम्) इनके (मर्माणि) मर्म स्थान में (इषवः) वाण (घ्नन्तु) खूब छेदें ।

सं क्रोशतामेनान् द्यावापृथिवी समन्तरिक्षं सह देवताभिः ।
मा ज्ञातारं मा प्रतिष्ठां विदन्त मिथो विघ्नाना उप यन्तु मृत्युम् ॥२१॥

(तृ० च०) अथर्व० ६ । ३२ । ३ ॥ तृ० च० ॥

भा०—(द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी दोनों (एनान्) इनकी (सं क्रोशताम्) निन्दा करें और (देवताभिः) देवता और श्रेष्ठ पुरुषों तथा उत्तम दिव्य पदार्थों सहित (अन्तरिक्षं सम्) अन्तरिक्ष और वायु भी इनकी निन्दा करें अर्थात् भूमि, आकाश और वायु, जल, मेघ आदि सभी पदार्थ इनके अनुकूल न होकर प्रतिकूल हों । उनको इन से सुख प्राप्त न हो । ये (ज्ञातारम्) किसी विद्वान् ज्ञानी पुरुष को (मा-विदन्त) प्राप्त न करें और (प्रतिष्ठां मा विदन्त) प्रतिष्ठा प्राप्त न करें । बल्कि (मिथः) परस्पर (विघ्नाना) एक दूसरे का नाश करते हुए (मृत्युम् उप यन्तु) मृत्यु को प्राप्त हों ।

दिशश्चतस्रोश्वतर्यो देवरथस्य पुरोडाशाः शफा अन्तरिक्षमुद्धिः ।
द्यावापृथिवी पक्षसी ऋतवोभीशवोन्तर्देशाः किंकरा वाक् परि-रथ्यम् ॥ २२ ॥

२१–(प्र०) 'समेनान् क्रोशतां द्यावापृथिवी उभे' इति पैप्प० सं० ।

भा०—वह परम ऐश्वर्यवान् परमेश्वर जब इस महान् विश्वरूप त्रिपुर या त्रिलोक का विजय करता है तब अलंकार रूप से (चतस्रः) चारों (दिशः) दिशाएं (देवरथस्य) देव उस परमेश्वर के महान् रथ, रमण स्थान ब्रह्माण्डरूप रथ की (अश्वतर्यः) अति अधिक व्यास, चार घोड़ियों के समान हैं, (पुरोडाशाः) यज्ञ में चरु द्रव्य या पुरोडाश (शफाः) घोड़ों के खुर हैं। (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष यह वातावरण (उद्धिः) रथ के ऊपर का मुख्य शरीर भाग है । (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी (पक्षसी) उसके दोनों पासे हैं। (ऋतवः) ऋतुएं (अभीशवः) रासें हैं (अन्तर्देशाः) बीच के प्रदेश या लोक (किंकराः) रथ के पीछे खड़े होने वाले चाकर हैं और (वाक्) वाणी (परिरथ्यम्) रथ के ऊपर का पर्दा है।

सं॒व॒त्स॒रो रथः॑ परिवत्स॒रो र॑थोप॒स्थो वि॒राडी॒षाग्नी र॑थमु॒खम् ।
इन्द्रः॑ सव्य॒ष्ठाश्च॒न्द्रमाः॒ सार॑थिः ॥ २३ ॥

भा०—(संवत्सरः) संवत्सर अर्थात् वर्ष (रथः) रथ है। (परिवत्सरः) परिवत्सर (रथोपस्थः) रथ का उपस्थ अर्थात् रथी के बैठने का स्थान है। (विराट् ईषा) विराट् शक्ति उस रथ की 'ईषा' अर्थात् वह दण्ड हैं जिसके आगे घोड़े जुड़े होते हैं। और (अग्निःरथमुखम्) अग्नि रथ का मुख अर्थात् जिस में घोड़े जुड़ते हैं वह भाग हैं। (इन्द्रः सव्यष्ठाः) इन्द्र सूर्य रथ में बैठने वाला साथी है और (चन्द्रमाः सारथिः) चन्द्र सारथी है। इस प्रकार का रथ बनाकर स्वयं कालरूप भगवान् समस्त त्रैलोक्य को विजय कर रहे हैं। हे पुरुषो ! तुम भी इस महान संवत्सर मय देवरथ का अनुकरण करके रथ बनाओ और विजय करो।

२२—'शफान्तरिक्षं मुद्धिः' (च०) 'अभीशवो वाक् परिरथ्यम्' इति पैप्प० सं० ।

२३—(प्र०) 'अहोरात्रे चक्रे मासारात् संवत्सरोऽधिष्ठानं विराडीषाग्नी रथमुखम्' इति पैप्प० सं० ।

सूर्योपासक सूर्य का रथ, विष्णु के उपासक विष्णु के जगन्नाथ के रथ और शैव शिव के त्रिपुरदहन के समय के रथ का इसी प्रकार वर्णन करते हैं। वहां कल्पना भेद से वर्णनों में यत्किञ्चित् भेद है। पुराणों में इसका विस्तार से वर्णन किया गया है। देखो हमारा बनाया पुराणमत-पर्यालोचन [पृ० २७९—८२]

इतो जयेतो वि जंय सं जंय जय स्वाहा ।
इमे जंयन्तु परामी जंयन्तां स्वाहैभ्यो दुराहामीभ्यः ।
नीललोहितेनामूनभ्यवंतनोमि ॥ २४ ॥ (२१)

भा०—हे राजन् ! (इतः जय) इधर जय प्राप्त कर, (इतः विजय) इधर विजय प्राप्त कर, (संजय) अच्छी प्रकार विजय प्राप्त कर, (जय) विजयी हो, (स्वाहा) लोक में तुम्हें सुकीर्त्ति, सुख्याति प्राप्त हो। (इमे) ये हमारे योद्धागण (जयन्तु) जय प्राप्त करें, (अमी परा जयन्तु) ये शत्रु लोग पराजित हों। (एभ्यः) इन योद्धाओं को उत्तम कीर्त्ति प्राप्त हो, (अमीभ्यः) उन शत्रुओं की (दुर् आहा) अपकीर्त्ति हो। (अमून्) उन शत्रुओं को (नीललोहितेन) नीले और लाल रंग की वर्दी पहनने वाले योद्धा के बल से (अभि अवतनोमि) उनका मुकाबला करके उन को अपने नीचे दबा दूं।

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्ते द्वे ऋचश्च द्वापञ्चाशत् ।]

---

[९] सर्वोत्पादक, सर्वाश्रय परम शक्ति 'विराट्' ।

अथर्वा कश्यपः सर्वे वा ऋषयो ऋषयः । विराट् देवता । ब्रह्मोद्यम् । १, ६, ७, १०, १३, १५, २२, २४, २६ त्रिष्टुभः, २ पंक्तिः, ३ आस्तारपंक्तिः, ४, ५, २३, २५, अनुष्टुभौ, ८, ११, १२, २२ जगत्यौ, ९ भुरिक्, १४ चतुष्पदा जगती षड्-विंशर्चं सूक्तम् ॥

कुतस्तौ जातौ कतमः सो अर्धः कस्माँल्लोकात् कतमस्याः पृथिव्याः
वत्सौ विराजः सलिलादुदैतां तौ त्वा पृच्छामि कतरेण दुग्धा॥१॥

भा०—[प्रश्न] (तौ) वे दोनों जीव और ब्रह्म कुतः (जातौ) कहां से प्रादुर्भाव हुए प्रकट हुए, ? (सः) वह (कतमः) कौनसा सर्वश्रेष्ठ (अर्धः) परम सम्पन्नतम पद या स्वरूप है ? (कस्माल्लोकात्) किस लोक से, (कतमस्याः पृथिव्याः) कौनसी पृथिवी से वे दोनों प्रकट हुए ? [उत्तर] (विराजः) विराड् नाना रूपों से प्रकट होने वाली प्रकृति रूप (सलिलात्) 'सलिल' सर्वव्यापक पदार्थ से (वत्सौ) दोनों बच्चों के समान (उत् ऐताम्) उदय हुए, प्रकट हुए। [प्रश्न] (तौ) उन दोनों के विषय में हे ब्रह्मज्ञानिन्! मैं (त्वा) तुझसे (पृच्छामि) प्रश्न करता हूँ कि वह विराड् गौ (कतरेण) उन दोनों बछड़ों में से किससे (दुग्धा) दुही जाती है।

तौ=पं० ग्रीफिथ के मत से सूर्य और विद्युत्। इसका रहस्य आगे स्वयं स्पष्ट होगा।

यो अक्रन्दयत् सलिलं महित्वा योनिं कृत्वा त्रिभुजं शयानः।
वत्सः कामदुघो विराजः स गुहा चक्रे तन्वः पराचैः ॥ २ ॥

भा०—(यः) जो (महित्वा) अपने महान् सामर्थ्य से (सलिलम्) पूर्वोक्त प्रकृतिमय 'सलिल' को (अक्रन्दयत्) विक्षुब्ध करता है। और (त्रिभुजम्) तीन प्रकार से भोग करने योग्य सत्व, रजः, तमः रूप (योनी) मिश्रण, अमिश्रण या संयोग विभाग आदि परिणाम (कृत्वा) करके (शयानः) सब में अप्रकटरूप से या अव्यक्त रूप से व्यापक है। (सः) उसी ही (कामदुघः) समस्त काम अर्थात् संकल्पों को पूर्ण करने हारा (विराजः) विराट् प्रकृति का (वत्सः)[1] व्यापक, आच्छादक परम शक्तिमान् (पराचैः)

[६] १–(द्वि०) 'कतरस्याः पृथिव्याः' इति पैप्प० सं०।
२–'योऽक्रन्दद्' इति पैप्प० सं०।

दूर २ तक (सन्त्रः) नाना विस्तृत लोकों को इस (गुहा) महान् सबको आवरण करने हारे आकाश में (चक्रे) बनाता है।

यानि त्रीणि बृहन्ति येषां चतुर्थं वियुनक्ति वाचम् ।
ब्रह्मैनद् विद्यात् तपसा विपश्चिद् यस्मिन्नेकं युज्यते यस्मिन्नेकम् ॥३॥

भा०—(यानि) जो (बृहन्ति) विशाल, (त्रीणि) तीन गुण सत्व, रजस और तमस् हैं (येषाम्) जिनकी अपेक्षा से (चतुर्थम्) चौथा (वाचम्) वाणी वेदमयी वाक् को (वियुनक्ति) प्रकट करता है। (विपश्चित्) कर्म और ज्ञानों का संचयी, विद्वान् ब्रह्मवेत्ता (तपसा) अपने तप से (एनत्) उसको (ब्रह्म विद्यात्) 'ब्रह्म' जाने। (यस्मिन्) जिसमें (एकम्) एकमात्र वही (युज्यते) समाधि द्वारा साक्षात् किया जाता है (यस्मिन् एकम्) जिसके विषय में 'एक' अद्वितीय, ऐसा ही समाधि में साक्षात् ज्ञान होता है या जिसको 'एक अद्वितीय' कहना उचित है 'तमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' इति माण्डूक्योप०।

बृहतः परि सामानि षष्ठात् पञ्चाधि निर्मिता ।
बृहद् बृहत्या निर्मितं कुतोऽधि बृहती मिता ॥ ४ ॥

भा०—(पञ्च[1] सामानि[2]) 'पञ्च अर्थात् परिणाम स्वरूप, 'विस्तृत' या व्यक्त रूप पञ्च भूत् (षष्ठात् [3]) उस षष्ठ अर्थात् सर्वव्यापक, उनमें लीन (बृहतः) बृहत् उस महान् तत्व में से (परि) पृथक् (अधि निर्मिता) बने और (बृहत्) वह 'बृहत्' महान् तत्व (बृहत्याः)

१. 'क्रादिक्लादि वैकल्ये' (भ्वादिः)

३–(प्र०) यानि चत्वारि 'बृहन्ति' इति पैप्प० सं०।

४–(प्र०) 'सामानि षष्ठः' इति पैप्प० सं०।

१. 'डुपचप् पाके' (भ्वादिः) पचि विस्तारवचने (चुरादिः) पचि व्यक्ति करणे (भ्वादिः) २. समी परिणामे (दिवादिः), ३. 'षप्नृ षस्ति स्वप्ने' (अदादिः)

उस 'बृहती' प्रकृति से (निर्मितम्) बना या प्रकट हुआ । [प्रश्न] अब प्रश्न यह है कि (बृहती) वह 'बृहती' प्रकृति (कुतः अधि निर्मिता) कहाँ से बन गयी, प्रकट हुई ।

बृहती परि मात्राया मातुर्मात्राधि निर्मिता ।
माया ह जज्ञे मायाया मायाया मातली परि ॥ ५ ॥

भा०—(बृहती) वह 'बृहती' स्थूल प्रकृति (मात्रायाः परि) 'मात्रा', परम सूक्ष्म प्रकृति से प्रकट हुई और वह (मात्रा) 'मात्रा', परम सूक्ष्म प्रकृति (मातुः अधि निर्मिता) माता, सर्वज्ञ, सर्व विधाता ब्रह्म से (निर्मिता) प्रकट हुई । (माया) वह परम ज्ञानरूपी विधात्री शक्ति कहाँ से आयी ? (माया ह मायायाः जज्ञे) वह 'माया' विधात्री निश्चय से 'माया' अर्थात् धात्री शक्ति से ही प्रादुर्भूत हुई । अर्थात् वह स्वयम्भू है । और (मायायाः) 'माया' उस विधात्री शक्ति के (परि) वश में (मातली) 'मातली' 'इन्द्र' 'जीव' है ।

यद्वेव मिमीते तस्मात् मात्रा [श० ३।९।४।८]

वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि द्यौर्यावद् रोदसी विबबाधे अग्निः ।
ततः षष्ठादामुतो यन्ति स्तोमा उदितो यन्त्यभि षष्ठमह्नः ॥ ६ ॥

भा०—(वैश्वानरस्य) वैश्वानर सर्वव्यापक ईश्वर की (प्रतिमा) प्रतिमान अर्थात् परिमाण, लम्बाई चौड़ाई इतनी बड़ी है जितनी (उपरि द्यौः) ऊपर यह 'द्यौ' द्यौलोक या महान् आकाश है। और (अग्निः) दीप्तिमान् सूर्य के समान परमेश्वर (रोदसी यावत्) द्यौ और पृथिवी भर में (वि बबाधे[1]) व्यापक है । (ततः) उस (अमुतः) दूरतम, विप्रकृष्ट

५–(तृ०) 'मायाहि जज्ञे' इति पैप्प० सं० ।

६–'सतःषष्ठादमित्रो' इति पैप्प० सं० ।

१. बाधृ विलोडने (भ्वादिः)

(षष्ठात्) पूर्वोक्त षष्ठ अर्थात् सर्वव्यापक निगूढ़ शक्ति से (स्तोमाः) स्तोम प्राणधारी जीव (आ यन्ति) आते हैं और (इतः) यहाँ से (अह्नः) परम व्यापक शक्ति के (षष्ठम् अभि) षष्ठ, सर्वव्यापी निगूढ़, परम रूप के प्रति (उत् यन्ति) पुनः चले जाते हैं उसी में लीन होकर मुक्त हो जाते हैं।

सप्त स्तोमाः श० ९।५।२।८। त्रिवृत्, पञ्चदशः, सप्तदशः एकविंश एते वै स्तोमानां वीर्यवत्तमाः। श० ८।४।२।२। प्राणा वै स्तोमाः। श० ८।४।१।३। स्तोमाः वै परमाः स्वर्गा लोकाः। ऐ० ४। १८॥ सात स्तोम हैं। त्रिवृत, १५वाँ, १७वाँ, और २१वाँ यही स्तोमों में अधिक बलशाली हैं। प्राण स्तोम हैं। सुखमय लोक स्तोम हैं। तं पञ्चदशं स्तोमं वोजो बलमित्याहुः। प्राणो वै त्रिवृदात्मा पञ्चदशः। तां० १९।११।३। चतुर्दश हि एवैतस्यां करूकराणि भवन्ति वीर्यम् पञ्चदशम्। गो० पू० ५।३॥ प्रजापतिः सप्तदशः। गो०उ० २।१३।५। सप्तदशो वै पुरुषो दश प्राणाश्चत्वार्यंगानि आत्मा पञ्चदशो ग्रीवाः षोडश शिरः सप्तदशम्। श० ६।२।२।९॥ तद्वै लोमेति द्वे अक्षरे, त्वग् इति द्वे, असृग् इति द्वे, मेद इति द्वे, मज्जेति द्वे, मांसमिति द्वे, स्नावेति द्वे, अस्थीति द्वे, ताः उ शकलाः। अथ य एतदन्तरेण प्राणः सञ्चरति स एव सप्तदशः प्रजापतिः। श०, १०।४।१।१७॥ सप्तदश एष स्तोमो भवति प्रतिष्ठायै प्रजात्यै। तां० १२।६।१३॥ एकविंशोऽयं पुरुषो दशहस्ता अंगुलयो दश पाद्या आत्मा एकविंशः। ऐ० ३।१९॥ तं (एकविंशस्तोमम्) देवतल्प इत्याहुः। तां० १०।१।१२॥ 'पञ्चदश स्तोम' ओज और बल है, प्राण त्रिवृत् है, आत्मा का नाम 'पञ्चदश' है, इस मेरुयष्टि या रीढ़ में १५ करूक मोहरे होते हैं, उनका धारक बल 'पञ्चदश' है। प्रजापति 'सप्तदश' है। दश प्राण, चार अंग ग्रीवा, सिर और १७ वां 'सप्तदश आत्मा है। लोम, त्वचा, रुधिर मेदस मज्जा, मांस, स्नायु, हड्डी इन में दो दो कला हैं सत्रहवीं, 'सप्तदश आत्मा है। वही १७ वां स्तोम प्रतिष्ठा और प्रजोत्पत्तिका निमित्त है। 'एकविंश स्तोम भी यह पुरुष है, वही देव इन्द्रियों का तल्प=सेज है अर्थात् उस में दश प्राण सोते हैं।

'षष्ठम् अहः'—देवायतनं वै षष्ठमहः। कौ० २३।५॥ प्राजापत्यं वै षष्ठमहः। कौ० २३।८॥ पुरुषो वै षष्ठमहः । अन्नं षष्ठमहः । कौ० २३।४।७॥ 'षष्ठ अहः' देवों का, प्राणों का, विद्वानों का, मुक्त जीवों का आयतन अर्थात् आश्रय स्थान है, वह प्रजापति का रूप है, वह पुरुष, परम पुरुष है, वह सबका अन्त, परम चरम धाम है अर्थात् प्रलयकाल में वही शेष है । इति दिक् ।

षट् त्वा॑ पृच्छाम॒ ऋष॑यः कश्यपे॒मे त्वं हि यु॒क्तं यु॑यु॒क्षे योग्यं॑ च ।
वि॒राज॑माहु॒र्ब्रह्म॑णः पि॒तरं॒ तां नो॒ वि धे॑हि यति॒धा सखि॑भ्यः ॥७॥

भा०— हे (कश्यप) कश्यप, पश्यक ! सर्वद्रष्टः आत्मन् ! (षट् इमे ऋषयः) छः ये ऋषि हम (त्वा) तुझ से (पृच्छामः) प्रश्न करते हैं, क्योंकि (त्वम्) तू (युक्तम्) समाधि में स्थित योगी को और (योग्यं च) समाधि द्वारा प्राप्त करने योग्य ब्रह्म को (युयुक्षे) परस्पर मिलाता हैं, उनका संग और साक्षात् कराता है। (विराजम्) 'विराड्' को (ब्रह्मणः) ब्रह्म, इस बृहत् जगत् का (पितरम्) पिता (आहुः) बतलाते हैं। (ताम्) उस विराड् शक्ति को (यतिधाः) वह जितने प्रकार की है। (नः) हम (सखिभ्यः) मित्रों को (विधेहि) विशेष रूप से उपदेश कर ।

यां प्र॒च्यु॑ता॒मनु॑ य॒ज्ञाः प्र॒च्यव॑न्त उप॒तिष्ठ॑न्त उप॒तिष्ठ॑मानाम् ।
यस्या॑ व्र॒ते प्र॑स॒वे य॒क्षमेज॑ति॒ सा वि॒राडृ॑षयः पर॒मे व्यो॑मन् ॥८॥

भा०—विराट् के स्वरूपों का उपदेश करते हैं। (यां प्रच्युताम्) जिसके प्रच्युत नष्ट होने पर (यज्ञाः) यज्ञ अर्थात् लोक भी (प्रच्यवन्ते) विनष्ट हो जाते हैं और (उपतिष्ठमानाम्) स्थिर होने पर (उपतिष्ठन्ते) यज्ञ स्थिर हो जाते हैं, या व्यवस्थित रहते हैं । (यस्याः) जिसके (प्रसवे) विशेष, उत्कृष्ट रूप से लोकोत्पादन रूप (व्रते) कार्य में

७–(प्र) 'पृच्छामि' इति पैप्प० सं० ।

(यक्षम्) वह उपासनीय देव (एजति) चेष्टा करता है। हे (ऋषयः) ऋषिगण! (सा विराट्) वह 'विराट्' (परमे) सर्वोत्कृष्ट (व्योमनि) व्योम, विशेष रूप से सब जगत् की रक्षा करने के कार्य या पद पर विराजमान है।

अप्राणैति प्राणेन प्राणतीनां विराट् स्वराजमभ्येति पश्चात् ।
विश्वं मृशन्तीमभिरूपां विराजं पश्यन्ति त्वे न त्वे पश्यन्त्येनाम् ॥ ९ ॥

भा०—'विराट' (अप्राण्) विना प्राण की है। तो भी (प्राणतीनाम्) प्राण लेने वाली चेतना शक्तियों के (प्राणेन) प्राण जीवन शक्ति के साथ (एति) रहती है। वह (विराट) विराट् स्वयं अप्रकाशमान, जड़ होकर (पश्चात्) पीछे (स्वराजम्) 'स्वराट्' स्वयंप्रकाश ब्रह्म के (अभिएति) पास आती है। उसका संग करती है, उसके साथ मिल कर इस प्रकार (विश्वम्) सर्वव्यापक ब्रह्म को (मृशन्तीम्) सम्पर्क, सन्धि या स्पर्श करती हुई, (अभिरूपाम्) सब प्रकार से नाना रूपों को धारण करती हुई, अभिव्यक्त रूप से प्रकट हुई उस 'विराट्' को (त्वे) कुछ विद्वान् सूक्ष्मदर्शी लोग (पश्यन्ति) तत्व रूप से साक्षात् करते हैं और (त्वे) कुछ अज्ञानी लोग (एनाम्) इसको (न पश्यन्ति) नहीं देखते।

को विराजो मिथुनत्वं प्र वेद क ऋतून् क उ कल्पमस्याः ।
क्रमान् को अस्याः कतिधा विदुग्धान् को अस्या धाम कतिधा व्युष्टीः ॥ १० ॥ (२२)

भा०—(कः) कौन (विराजः) उस विराट् प्रकृति का (मिथुनत्वम्) परम पुरुष के साथ हुए मैथुन, एकभाव या जगत् की उत्पत्ति के कार्य को (प्र वेद) भली प्रकार जानता है? कोई नहीं। (ऋतून्) ऋतुओं को अर्थात् गर्भधारण समर्थ या विशेष रूप से जगत् सृष्टि के

तीन शक्तियां—१ परस्पर प्रेम, २ अन्न, ३ राजशक्ति । अथवा आत्मिक शक्ति आधिभौतिक और आधिदैविक शक्ति । आत्मिक शक्ति से सब जीवों पर प्रेम उत्पन्न होता है, आधिभौतिक शक्ति से प्राकृतिक अन्न और पशु आदि बल ऊर्ज बढ़ता है, आधिदैविक शक्तियों से विशाल विशाल राष्ट्रों की रक्षा होती है ।

अग्नीषोमावदधुर्या तुरीयासीद् यज्ञस्य पक्षावृषयः कल्पयन्तः ।
गायत्रीं त्रिष्टुभं जगतीमनुष्टुभं बृहदर्कीं यजमानाय स्वराभरन्तीम् ॥ १४ ॥

भा०—(अग्नीषोमौ) अग्नि और सोम दोनों को (यज्ञस्य) यज्ञ के (पक्षौ) दो पक्ष (कल्पयन्तः) बनाते हुए (ऋषयः) ऋषि गण (गायत्रीम्) गायत्री (त्रिष्टुभं) त्रिष्टुभ् (जगतीम्) जगती (अनुष्टुभम्) अनुष्टुभ् (यजमानाय) यज्ञ करने हारे यजमान आत्मा को (स्वः) परम सुख मोक्षप्रद (आभरन्तीम्) प्राप्त कराती हुई (बृहदर्कीम्) महती स्तुति के योग्य उस ब्रह्म या ब्रह्मशक्ति को (अदधुः) धारण करते हैं (या) जो (तुरीया) जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं से परे शिवरूप (आसीत्) है ।

१३–(द्वि०) 'त्रयो घर्मासो अनुरेतस' (च०) 'क्षत्रमेका' इति मै० सं० । 'त्रयो घर्मासो अनुज्योतिषा' (च०) 'क्षत्रमेका' इति (तृ०) 'प्रजामेका रक्षति' इति तै० सं० ।

१४–'अग्नीषोमावदधात्' इति ह्विटनिकामितः पाठः । (च०) 'चतुष्टोमोऽभवद्या' इति तै० सं० । 'चतुष्टोमामदधात्' इति मै० सं० । 'तुरीया यज्ञस्य' तै० सं०, मै० सं० । 'यज्ञस्य पक्षसौ ऋषयो भवन्ति' इति मै० सं० । (तृ०) 'जगतीं विराजं' इति मै० सं० । (च०) 'बृहदर्कं युञ्जानाः स्वराभरन्निदम्' इति तै० सं० । तत्र 'अर्कं युजाना स्वराभरन्निदम्' इति मै० सं० । 'बृहदर्कीयेज' इति पैप्प० सं० ।

गायत्री—'गयांस्तत्रे' प्राणों की रक्षा करने वाली 'त्रिष्टुभ्' तीनों लोकों से स्तुति करने योग्य, त्रिभुवनधारिणी शक्ति। 'जगती' निरन्तर गतिशील ज्ञानमयी। 'अनुष्टुप' सदा स्तुत्य, ये सब विशेष उस 'तुरीया' ब्रह्मशक्ति के रूपान्तर हैं। 'बृहदर्की' बृहत् अर्कवाली, ब्रह्मतेजोरूपा। इसी को 'तुरीयपद' अमात्र चतुर्थपाद शिव, परम शक्ति आदि नाम से कहते हैं। व्याख्यान देखो 'माण्डूक्योपनिषत्' में तुरीयपद का वर्णन।

पञ्च व्यु/ष्टीरनु पञ्च दोहा गां पञ्चनाम्नीमृतवोनु पञ्च ।
पञ्च दिशः पञ्चदशेन क्लृप्तास्ता एकमूर्ध्नीरभि लोकमेकम् ॥१५॥

भा०—प्रहेलिका। (पञ्च व्युष्टीः अनु) पाँच व्युष्टियों के साथ (पञ्च दोहाः) पाँच दोह हैं और (पञ्च नाम्नीम् गाम् अनु) पाँच नाम वाली गौ के अनुसार (ऋतवः पञ्च) पाँच ऋतु हैं। (पञ्चदशेन) पन्द्रहवें ने (पञ्च दिशः क्लृप्ताः) पाँच दिशों को वश किया। (ताः) और ये सब (एकमूर्ध्नीः) एक ही शिर वाली (एकम्) एक (लोकम् अभि) लोक के चारों ओर आश्रय लिये हैं।

'पञ्च व्युष्टीः'=पाँच प्राण हैं उनके साथ पाँच प्रकार के दोह अर्थात् ग्राह्य विषय हैं। इसी प्रकार आधिदैविक में पाँच प्रकृति के विशेष विकार पञ्चभूत हैं। उनके साथ उनके पाँच दोह अर्थात् तन्मात्राएँ उनमें विद्यमान गन्ध आदि विशेष धर्म हैं। 'पञ्चनाम्नी गौ' अध्यात्म में चिति शक्ति या जिसमें पाँच ऋतु, गतिमान् पाँच प्राण हैं। शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रिय पाँच दिशा हैं उन पर अधिकार उस पञ्चदश=आत्मा का है। प्राणो वै त्रि वृदात्मा पञ्चदशः। तां० १९। ११। ३॥ वे पाँचों दिश्=ज्ञानेन्द्रियें (एकमूर्ध्नीः) एक ही मूर्धास्थान में लगी हैं। अर्थात् उनका एक ही मूल [एक मूल-धनी=एक मूलधारिणी=एक-मूर्ध्नी] आत्मा या मुख्य प्राण है। वे सब एक ही लोक=

१५–(च०) 'समान मूर्ध्नीरभि' मै० सं०, तै० सं०, पा० गृ० सू०।

आत्मा में आश्रित हैं। आधिदैविक पक्ष में पाँच प्रकृति के विकार पञ्च-भूत पाँच 'व्युष्टि' हैं उनके पाँच द्रोह पाँच तन्मात्राएं या गन्धादि पाँच गुण हैं। वे पाँचों के नाम को धारण करनेवाली गौ आदित्य या पृथ्वी के आश्रय ये पाँच ऋतु वसन्तादि प्रवृद्ध हैं। पाँच दिशा प्राची आदि हैं। उनको 'पञ्चदश'=तेजस्वरूप सूर्य वश में किये हुए है। वे दिशाएं (एक मूर्धीः) एक ही आकाश रूप मूल में बद्ध होकर एक मात्र लोक=आलोक-कारी परब्रह्म में आश्रित हैं । तस्मिन् लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। (कठ० उ०)

षड् जाता भूता प्रथमजर्तस्य षडु सामानि षडहं वहन्ति ।
षड्योगं सीरमनु सामसाम षडाहुर्द्यावापृथिवीः षडुर्वीः ॥१८॥

भा०—(ऋतस्य) उस 'ऋत' सत्य सामर्थ्यवान्, परमेश्वर के सामर्थ्य से (प्रथमजाः) सबसे प्रथम उत्पन्न, व्यक्त हुए (षट्) छः (भूता) 'भूत' सत् पदार्थ (जाताः) उत्पन्न हुए और (षट् उ) वे छहों भी (सामानि) अपनी शक्तियों सहित मिश्रित होकर, संयुक्त होकर, परस्पर एक दूसरे के सहायक होकर (षडहम्) समस्त ब्रह्माण्ड और पुरुष देह को (वहन्ति) धारण करते हैं। (षड्योगम्) छः प्राणों के साथ योग करनेहारे (सीरम् अनु) सीर=शरीर के साथ (साम-साम) प्राण ही सहायक है इसी कारण (द्यावापृथिवीः षट् आहुः) द्यौ और पृथिवी को छः प्रकार की कहा जाता है और (ऊर्वीः) य विशाल पृथ्वी भी (षट्) छः प्रकार की कही जाती है।

'सेरं ह्येतद्यत् सीरम्। इरामेवाऽस्मिन्नेतद् धाति। श० ७।२।२॥ इन्द्र आसीत् सीरपतिः शतक्रतुः। तै० २।४।८।७॥

षडाहुः शीतान् षडु मास उष्णानृतुं नो ब्रूत यतमोऽतिरिक्तः।

भा०—(षट्) छः (मासाः) मासों को (शीतान् आहुः) शीत कहते हैं। और (षट् उ मासान्) छः ही मासों को उष्ण कहते हैं। हे

विद्वान् पुरुषो ! (ऋतुम्) उस ऋतु को (नः ब्रूहि) हमें बतलाओ (यतमः) जो इन ऋतुओं से (अतिरिक्तः) अतिरिक्त, अर्थात् बड़ा है। इति पूर्वार्धः ।

सप्त सुपर्णाः कवयो नि षेदुः सप्त च्छन्दांस्यनु सप्त दीक्षाः ॥१७॥

भा०—(सप्त सुपर्णाः) सात सुपर्ण अर्थात् पक्षियों के समान, शोभन ज्ञान प्राप्त करने में कुशल (कवयः) क्रान्तदर्शी इस देह के शिरोभाग में (निषेदुः) विराजते हैं। (सप्त छन्दांसि अनु) सात छन्दों=प्राणों के साथ (सप्तदीक्षाः) सात दीक्षाएँ=नियत कर्म या ज्ञानसाधन के सामर्थ्य भी हैं। इति उत्तरार्धः ।

सप्त होमाः समिधो ह सप्त मधूनि सप्तर्तवो ह सप्त ।
सप्ताज्यानि परि भूतमायन् ताः सप्तगृध्रा इति शुश्रुमा वयम् ॥१८॥

भा०—(सप्त होमाः) सात होम (सप्त ह समिधः) सात समिधाएँ, (सप्त मधूनि) सात मधु, (सप्त ह ऋतवः) सात ऋतु या (सप्त आज्यानि) सात आज्य (भूतम्) सत् पदार्थ आत्मा को (परि आयन्) प्राप्त हैं। (ताः) उनको ही (सप्त गृध्राः) सात गृध्र अर्थात् विषयों की आकांक्षा करने वाले इन्द्रियगण के नाम से (वयम्) हम (शुश्रुम) सुनते हैं।

होम, मधु, समिध, ऋतु, आज्य और गृध्र ये सब सात शीर्षण्य प्राणों के नाम भेद हैं।

सप्त च्छन्दांसि चतुरुत्तराण्यन्यो अन्यस्मिन्नध्यार्पितानि ।
कथं स्तोमाः प्रति तिष्ठन्ति तेषु तानि स्तोमेषु कथमार्पितानि ॥१९॥

१७–(प्र०) शीतान्त्षड्' इति क्वचित् पाठः ।

१८–(प्र० द्वि०) 'समिधोऽनु सप्त', 'ऋतवोऽनु सप्त' (तृ० च०) सप्त ज्यायो पुरुहूत आयं सप्त होता ऋनुदत्र जेताः सप्तगृध्रा इति शुश्रा-वाहम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(सप्तच्छन्दांसि) सात छन्दः=प्राण तो ये शिरोभाग में विराजमान हैं। (उत्तराणि) इन से भी उत्कृष्ट कोटि के (चतुः) और चार हैं। और वे (अन्यः अन्यस्मिन्) एक दूसरे में (अधि आ अर्पितानि) अर्पित हैं, एक दूसरे में आश्रित हैं। अब प्रश्न यह है कि (स्तोमाः) स्तोम अर्थात् छन्दः या प्राणगण (तेषु) उन उत्कृष्ट चार अन्तःकरण—चतुष्टयों में (कथं प्रति तिष्ठन्ति) किस प्रकार प्रतिष्ठित या आश्रित हैं और (तानि) वे उत्कृष्ट कोटि के चारों (स्तोमेषु) स्तोम या प्राणों में (कथम्) किस प्रकार (आ अर्पितानि) आश्रय लिये हुए हैं ?

कथं गायत्री त्रिवृतं व्या/प कथं त्रिष्टुप् पञ्चदशेन कल्पते।
त्रयस्त्रिंशेन जगती कथमनुष्टुप् कथमेकविंशः ॥ २० ॥ (२३)

भा०—(गायत्री) गायत्री नामक प्राणशक्ति (त्रिवृत्) त्रिवृत नाम अन्न को (कथं व्याप) किस प्रकार व्याप्त करता है। और (त्रिष्टुप्) त्रिष्टुप् नामक प्राणशक्ति (पञ्चदशेन) पञ्चदश नाम आत्मा के साथ (कथम्) किस प्रकार (कल्पते) देह व्यापार करने में समर्थ होता है ? (जगती) जगती नामक चितिशक्ति या प्राणशक्ति (त्रयस्त्रिंशेन कथम्) त्रयस्त्रिंश नाम परम आत्मा के साथ किस प्रकार जगत् को चला रही है ? और (अनुष्टुप्) अनुष्टुप् नामक शक्ति और (एकं विंशः) एकविंश नाम आत्मा के साथ किस प्रकार देह व्यापार करने में समर्थ है।

त्रिवृत्, पञ्चदश, एकविंश आदि की व्याख्या देखो इसी सूक्त की ऋचा ६ में। गायत्री आदि नामों की व्याख्या इसी सूक्त की ऋचा १४ में देखो।

त्रयस्त्रिंशः स्तोमानामधिपतिः। ता० ६। २। ७॥ ज्योतिः त्रयस्त्रिंशः स्तोमानाम्। ता० १३। ७। २॥ सत् त्रयस्त्रिंशः स्तोमानाम्। ता० १५। १२। २॥ अन्तो वै त्रयस्त्रिंश स्तोमानाम्। ता० ३। ३। २॥ तम् उ नाक इत्याहुः। ता० १०। १। १८॥ देवता एव त्रयस्त्रिंशस्यायत-

नम् । ता० १० । १ । ६ ॥ सब स्तोमों=प्राणों का अधिष्ठाता, वही ज्योति है, वही सत् और वही सबका चरम सुख है जिस में सब प्राण लीन होते हैं । ये अन्य शरीर के घटक देव उसके आश्रय स्थान हैं ।

अष्ट जाता भूता प्रथमजर्तस्याष्टेन्द्रर्त्विजो दैव्या ये ।

अष्टयोनिरदितिरष्टपुत्राष्टमीं रात्रिमभि हव्यमेति ॥ २१ ॥

भा०— (ऋतस्य) ऋत अर्थात् आदि सत् पदार्थ के (प्रथमजाः) प्रथम प्रादुर्भूत (अष्ट) आठ (भूता जाता) भूत अर्थात् भाव पदार्थ उत्पन्न हुए । हे (इन्द्र) इन्द्र आत्मन् ! (ये) जो (अष्ट) आठों (दैव्याः) देव गणों के या देव, परम पुरुष के उत्पत्ति स्थिति प्रलयरूप यज्ञ के (ऋत्विजः) 'ऋत्विग्' हैं वे यथाकाल परस्पर मिलते और सर्ग रचते हैं । उन से ही (अदितिः) अविनाशिनी प्रकृति 'अदिति' भी (अष्टयोनिः) अष्ट-योनि, आठ स्वरूपों वाली और (अष्ट-पुत्रा) मानो आठ पुत्रों वाली है । वह (अष्टमीं रात्रीम्) अष्टमी रात्रि अर्थात् संसार की व्यक्त दशा को (हव्यम्) हव्य अर्थात् संसार रूप में (अभि एति) प्राप्त करती है ।

अष्टरात्रेण वै देवाः सर्वमाप्नुवन् । तां० २२।११।६॥ प्रजापत्यमेतदहः यदष्टका । रात्रिर्व्युष्टिः । श० १३।२।१।६॥ 'अष्टरात्र' से देवगण ईश्वरीयशक्ति से युक्त प्राकृत विकार, सर्व अर्थात् संसार में व्यापक हैं । अष्टका यह प्रजापति सम्बन्धी दिन है अर्थात् परमेश्वर के सर्वव्यापक शक्ति का प्रतिनिधि है । सर्वव्यापक शक्तियों के परस्पर संयोग से जो संसार की व्यक्त होने की विशेष दशा है वही 'अष्टमी रात्रि' कहाती है । उसी दशा में वह 'अदिति' हव्य-समस्त संसार को अपने में धारण करती है । "सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वम् । श० १०।६।५।५॥ सब संसार को अपने

२१–'अष्टौ धामानि प्रथमजा ऋतस्याऽऽनेन्द्रवर्तिजो' इति पैप्प० सं० ।

में लीन करती है अतः 'अदिति' कहाती है। शिव की आठ मूर्तियों का यही आधार है। प्रजापति की आठ मूर्तियां शतपथ में-१ आपः, फेन, सिकता, शर्करा, अश्मा, अयः, हिरण्य और स्वयं प्रजापति आठवीं। यह अक्षर का आठ रूपों से क्षरण है। रुद्र के आठ नाम-रुद्र, सर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महादेव, ईशान और नवम कुमार है इन के प्राकृतिक नाम क्रम से अग्नि, आपः, ओषधि, वायु, विद्युत्, पर्जन्य, चन्द्रमा, आदित्य हैं। और अग्नि का त्रिवृद्भाव देखो शत० ६।१।२।१८॥

इत्थं श्रेयो मन्यमानेदमागमं युष्माकं सख्ये अहमस्मि शेवा ।
समानजन्मा क्रतुरस्ति वः शिवः स वः सर्वाः सं चरति प्रजानन् २२॥

भा०—(इत्थम्) इस प्रकार (श्रेयः) परम 'श्रेय' कल्याण रूप परमपद को (मन्यमाना) ज्ञान करती हुई, मैं 'विराट्' रूप में (इदम्) इस चराचर जगत् को (आगमम्) प्राप्त हूं । और (अहम्) मैं (शेवा) अति कल्याणमयी होकर (युष्माकम्) तुम प्राणियों के (सख्ये) सख्य प्रेमभाव, सहयोग में (अस्मि) प्राप्त हूं। (वः) तुम्हारा (समानजन्मा) तुम्हारे साथ ही उत्पन्न होने वाला (क्रतुः) सर्वकर्त्ता प्रभु भी (वः) तुम्हारा (शिवः) कल्याणकारी है। (सः) वह (वः) तुम्हारे (सर्वाः) समस्त क्रियाओं और चेष्टाओं को (प्रजानन्) जानता हुआ, (संचरति) विचरता है या व्यापक है।

अष्टेन्द्रस्य षड् यमस्य ऋषीणां सप्त सप्तधा ।
अपो मनुष्या३नोषधीस्ताँ उ पञ्चानु सेचिरे ॥ २३ ॥

भा०—(इन्द्रस्य) इन्द्र ऐश्वर्यवान् उस परमात्मा के (अष्ट) आठ

२२–(प्र०) 'मन्थमानेदमागं' । (तृ०) 'क्रतुरस्ति नः शिवः सनः' इति पैप्प० सं० ।

२३–'यमस्यर्षीणां' इतिक्वचित् पाठः ।

रूप और (यमस्य) संयम में रहने वाले जीव के (षट्) छः मन सहित छः इन्द्रियें अथवा (यमस्य षट्) यम नियामक कालरूप संवत्सर की छः ऋतुएं और (ऋषीणाम्) विषयों के द्रष्टा इन्द्रियों के (सप्तधा) सात प्रकार से गति करने वाले (सप्त) सात प्राण (अपः) समस्त कर्मों, ज्ञानों को, (मनुष्यान्) मनुष्यों और (ओषधीः) ओषधियों (तान्) उन सबको भी (पञ्च) पांच भूत ही (अनुसेचिरे)[1] रच रहे हैं, रूपवान् और सत्तावान् वना रहे हैं ।

केवलीन्द्राय दुदुहे हि गृष्टिर्वशं पीयूषं प्रथमं दुहाना ।
अथांतर्पयच्चतुरश्चतुर्धा देवान् मनुष्याँ३ असुरानुत ऋषीन् ॥२४॥

भा०—(गृष्टिः) प्रथम प्रसूता गौ जिस प्रकार मधुर दुग्ध अपने केवल प्रथम वत्स के लिये ही देती है उसी प्रकार यह 'विराट्' भी (केवली)[1] केवल मात्र परमपदभागी मुक्त (इन्द्राय) जीव के लिये ही (प्रथमम्) सब से प्रथम २ (दुहाना) दुही जाकर (वशं) अति कमनीय (पीयूषम्) पान करने योग्य अमृत को (दुदुहे) प्रदान करती है । और वही इस प्रकार (चतुर्धा) चार प्रकार से (देवान्) देव, (मनुष्यान्) मनुष्य, (असुरान्) असुर, (उत) और (ऋषीन्) ऋषि इन (चतुरः) चारों को (अतर्पयत्) तृप्त करती है ।

भोगापवर्गार्थं दृश्यम् । सां० सू० । किस प्रकार प्रकृति स्वयं मोक्ष का कारण है और वह सब के भोग का भी कारण है । इस की व्याख्या सांख्यदर्शन से जाननी चाहिये ।

को नु गौः क एकऋषिः किमु धाम का आशिषः ।
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुः कतमो नु सः ॥ २५ ॥

---

१. षच समवाये (भ्वादिः) ।

२४–(च०) 'अथर्षीन्' इति पैप्प० सं० ।

१. चतुर्थ्यर्थे प्रथमा ।

भा०—प्रश्न यह है कि (कः नु गौः) वह महान् 'गौः' सब का चलाने वाला, ब्रह्माण्ड या जगत्‌रूप गाड़े का खैंचने वाला बैल कौन है,? और इस समस्त चराचर का (ऋषिः) द्रष्टा, उसका निरीक्षक, (एकः) एकमात्र सर्वाध्यक्ष (कः) कौन है ? (किम् उ धाम) इस सब को धारण करने वाला सर्वाश्रय क्या है ? (आशिषः) सब पदार्थों को शासन करने वाली, सब को नियम में रखने वाली शक्तियां (काः) कौनसी हैं ? (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (एकवृत्) एकमात्र वरण करने और पूजने योग्य (एक ऋतुः) एक मात्र ऋतु के समान संवत्सर रूप काल (यक्षम्) सब पदार्थों को परस्पर संगति कराने और उनको व्यवस्थित करने वाला (सः) वह (नु) भी (कतमः) कौनसा है ?

एको॒ गौरेक॑ ऋ॒षिरेकं॒ धामै॑क॒धाशिषः॑ ।
य॒क्षं पृ॑थि॒व्यामे॑क॒वृदे॑क॒र्तुर्नाति॑ रिच्यते ॥ २६ ॥ (२४)

भा०—उत्तर यह है कि-(एकः गौः) वह एकमात्र परमात्मा ही (गौः) इस चराचर को चलाने वाला महा वृषभ है । और वही (एकः) एकमात्र (ऋषिः) सर्वाध्यक्ष है । वही (एकं धाम) एकमात्र सब के धारण करने वाला 'बल' है और सब का आश्रय है । (एकधा आशिषः) वे सब नियामक शक्तियां भी एक ही रूप की ब्रह्ममयी हैं (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (एकवृत्) एकमात्र वरणीय, सब से श्रेष्ठ (एक ऋतुः) एक ऋतु के समान या एकमात्र सब का प्रेरक प्राणरूप (यक्षम्) सब को परस्पर संगत और व्यवस्थित करने वाला बल भी वही एक है (न अतिरिच्यते) उससे बढ़ कर दूसरा नियामक भी कोई नहीं है ।



२५-(द्वि०) 'किमु साम' इति पैप्प० सं० ।

[१० (१)] 'विराड्' के ६ स्वरूप गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि, सभा समिति और आमन्त्रण ।

अथर्वाचार्य ऋषिः। विराड् देवता । १ त्रिपदार्ची पंक्तिः । २,७ याजुष्यो जगत्यः । ३,९ साम्न्यनुष्टुभौ । ५ आर्ची अनुष्टुप् । ७,१३ विराड्गायत्र्यौ । ११ साम्नी बृहती । त्रयोदशर्चं पर्यायसूक्तम् ॥

विराड् वा इदमग्र आसीत् तस्या जातायाः सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति ॥ १ ॥

भा०—(इदम्) यह जगत् (अग्रे) पहले, अपने पूर्व रूप में (विराट्) विराट् ही (आसीत्) था। (तस्याः) उसके (जातायाः) प्रादुर्भाव अर्थात् अव्यक्त से व्यक्त होते हुए (सर्वम्) सब चराचर (अबिभेत्) भयभीत हुआ, शंकित हुआ कि (इयम्) यह विराट् ही (इदम्) इस जगत्‌रूप को (भविष्यति) धारण करेगी अर्थात् वही जगत् रूप में प्रकट होगी ।

सोदक्रामत् सा गार्हपत्ये न्यक्रामत् ॥ २ ॥

भा०—(सा) वह विराट् (उत् अक्रामत्) ऊपर उठी और (सा) वह (गार्हपत्ये) गार्हपत्य में (नि अक्रामत्) नीचे आगयी ।

'प्रजापतिर्हि गार्हपत्यः' कौ० २७।७॥ अयं वै भूलको गार्हपत्यः । श० ७।१।१।६॥ जाया गार्हपत्यः । ऐ० ८।२४॥ कर्मेति गार्हपत्यः । जै० ३।४।२६।२५॥ अपगो वै गार्हपत्यः। कौ० २।१॥ अन्नं वै गार्हपत्यः कौ०। २।१॥ वह विराट् उत्क्रमण करके अर्थात् विशालरूप में प्रकट होकर भी प्रजापति के वश में रही, अथवा इस भूलोक, स्त्री, अन्न, कर्म आदि के स्वल्प परिमित रूप में भी प्रकट हुई ।

[१० (१)] १—विराड् वा इदमग्रेऽजायत तस्या जाताया बिभेदक सर्वम् । यमेवेदं भविष्यति न वयम् इति ।

गृहमेधी गृहपतिर्भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

भा०—(यः) जो (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है। वह (गृहमेधी) गृह मेधी=गृहस्थ (गृहपति) गृह अर्थात् जाया का पति=पालक होता है।

सोदक्रामत् साहवनीये न्य/क्रामत् ॥ ४ ॥

भा०—(सा) वह जब (उद् अक्रामत्) ऊपर उठी, विशालरूप में प्रकट हुई तब (सा आहवनीये) वह अहवनीय या द्यौरूप में (नि अक्रमत्) उतर आई अर्थात् प्रकट हुई।

द्यौराहवनीयः। श० ८।६।३।११॥ इन्द्रोऽग्नाहवनीयः। श० २।७।१। ३८॥ यजमान आहवनीयः। पुरुषस्य मुखमेव आहवनीयः कौ०। १७।७॥ यज्ञस्य शिर आहवनीयः। श० ६।५।२।१॥ प्राणोदानावेवाहवनीयश्च गार्हपत्यः। श० २।२।२।१८॥ द्यौ, इन्द्र, जीव, यजमान, पुरुष, पुरुष का मुख, यज्ञ का मुख, प्राण ये आहवनीय के रूप हैं।

यन्त्यस्य देवा देवहूतिं प्रियो देवानां भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥

भा०—(यः) जो (एवम्) इस प्रकार 'विराट्' के स्वरूपों का (वेद) ज्ञान कर लेता है वह (देवानां प्रियः) देवों का प्रिय (भवति) हो जाता है और (अस्य) उसके (देवहूतिं) दिव्य पदार्थों और विद्वानों की हूति पुकार या आमन्त्रण को (देवाः) देवगण (यन्ति) प्राप्त होते हैं।

सोदक्रामत् सा दक्षिणाग्नौ न्य/क्रामत् ॥६॥
यज्ञर्तो दक्षिणीयो वासतेयो भवति य एवं वेद ॥७॥

भा०—(सा) वह विराट् (उत् अक्रामत्) ऊपर को उठी अर्थात् प्रकट हुई और (दक्षिणाग्नौ नि अक्रामत्) दक्षिणाग्नि रूप में उतर आयी। (य एवं वेद) जो पुरुष इस रहस्य को जानता है वह (यज्ञर्तः)

यज्ञ में पूजनीय (वासतेयः) वसति=गृह में वसने योग्य उत्तम अतिथि (भवति) होता है । वह (दक्षिणीयः) दक्षिणा प्राप्त करने योग्य, कुशल (भवति) हो जाता है ।

सोदक्रामत् सा सभायां न्य/क्रामत् ॥ ८ ॥
यन्त्यस्य सभां सभ्यो भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

भा०—(सा उद् अक्रामत्) वह ऊपर उठी और (सा सभायां नि अक्रामत्) वह विराट् पुनः सभा के रूप में (नि अक्रामत्) उतर आयी, प्रकट हुई । (य एवं वेद) जो इस प्रकार के रहस्य को जानता है वह (सभ्यः) सभा में पूजा योग्य (भवति) हो जाता है और विद्वान्गण (अस्य सभां यन्ति) इसकी सभा में आते हैं ।

सोदक्रामत् सा समितौ न्य/क्रामत् ॥ १० ॥
यन्त्यस्य समितिं सामित्यो भवति य एवं वेद ॥ ११ ॥

भा०—(सा उत् अक्रामत्) वह ऊपर उठी और (सा समितौ नि अक्रामत्) वह समिति, सर्व साधारण विशाल सभा के रूप में आ उतरी, प्रकट हुई । (य एवं वेद सामित्यो भवति) जो विराट् के इस प्रकार के स्वरूपों को जान लेता है वह समिति या जनसमाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। (अस्य समितिं यन्ति) लोग उसकी समिति या संगति को प्राप्त होते हैं ।

सोदक्रामत् सामन्त्रणे न्यक्रामत् ॥ १२ ॥
यन्त्यस्यामन्त्रमामन्त्रणीयो भवति य एवं वेद ॥ १३ ॥ (२५)

भा०—(सा उद् अक्रामत्) वह ऊपर उठी और फिर (सा आमन्त्रणे नि अक्रामत्) वह 'आमन्त्रण', परस्पर प्रेम और सम्मानपूर्वक बुलाने के रूप में आ उतरी, प्रकट हुई । (यः एवं वेद आमन्त्रणीयः भवति । अस्य आमन्त्रणं यन्ति) जो विराट् के इस प्रकार के रूप को जान लेता है वह अन्यों द्वारा सन्मानपूर्वक आमन्त्रण पाता है और उस के आमन्त्रण को दूसरे स्वीकार करते हैं ।

[२] विराट के ४ रूप ऊर्ग्, स्वधा, सूनृता, इरावती, उसका ४ स्तनोंवाली गौ का स्वरूप ।

अथर्वाचार्य ऋषिः । विराड् देवता । १ त्रिपदा अनुष्टुप् । २ उष्णिग्गर्भा चतुष्पदा उपरिष्टाद् विराड् बृहती । ३ एकपदा याजुषी गायत्री । ४ एकपदा साम्नी पंक्तिः । ५ विराड् गायत्री । ६ आर्ची अनुष्टुप् । ८ आसुरी गायत्री । ९ साम्नी अनुष्टुप् । १० साम्नी बृहती । ७ साम्नी पंक्तिः । दशर्चं सूक्तम् ॥

सोदक्रामत् सान्तरिक्षे चतुर्धा विक्रान्तातिष्ठत् ॥ १ ॥

भा०—(सा) वह विराट् (उद् अक्रामत्) ऊपर उठी, प्रकट हुई (सा) वह (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में, वायुमण्डल में, (चतुर्धा) चार प्रकार से (विक्रान्ता) विभक्त होकर (अतिष्ठत्) विराजमान है।

तां देवमनुष्या/ अब्रुवन्नियमेव तद् वेद यदुभयं उपजीवेमेमामुप ह्वयामहा इति ॥ २ ॥

भा०—(ताम्) उसके विषय में (देव-मनुष्याः) देवगण विद्वान् जन, (अब्रुवन्) बोले कि (इयम् एव) वह विराट् ही (तत् वेद) उस परम तत्व को जानती है (यत्) जिस के आधार पर हम (उप जीवेम) आजीविका करते, एवं प्राण धारण करते हैं। (इमाम् उपह्वयामहे इति) बस हम इसी को बुलावें।

तामुपाह्वयन्त ॥ ३ ॥

भा०—(ताम्) उस विराड् को उन्होंने (उपाह्वयन्त) बुलाया।

ऊर्ज एहि स्वध एहि सूनृत एहीरावत्येहीति ॥ ४ ॥

भा०—(ऊर्जे) हे ऊर्जे ! अन्नमयि ! (आ इहि) आ। हे (स्वधे) स्वधे, अन्नमयि शरीर धारण करने में समर्थ (आ इहि) आ। हे (सूनृते) सूनृते ! उत्तम शब्दमयी वाणी ! (आ इहि) आ। हे (इरावति) इरावति ! अन्नवति ! (आ इहि) आ।

तस्या इन्द्रो वत्स आसीद् गायत्र्यभिधान्यभ्रमूधः ॥ ५ ॥

भा०—(तस्याः) उस अन्नमयी 'विराट् रूप गौ का (इन्द्रः वत्सः आसीत्) इन्द्र वत्स=बछड़े के समान है और (गायत्री अभिधानी) गायत्री बांधने की रस्सी है. (अभ्रम् ऊधः) और मेघ दूध के भरे ऊधस के समान है ।

बृहच्च रथन्तरं च द्वौ स्तनावास्तां यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च द्वौ ॥६॥

भा०—उस विराड् रूप गौ के (बृहत् च) बृहत् और रथन्तर (यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च) यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य (द्वौ द्वौ स्तनौ) दो २ स्तन (आस्ताम्) थे ।

ओषधीरेव रथन्तरेण देवा अदुह्रन् व्यचो बृहता ॥ ७ ॥

भा०—(देवाः) देवगण (रथन्तरेण) 'रथन्तर' नामक स्तन से (ओषधीः अदुह्रन्) ओषधियों को दुहते हैं प्राप्त करते हैं । और (बृहता) 'बृहत्' नामक स्तन से (व्यचः) 'व्यचस्' अन्तरिक्षको दुहते उसका रस प्राप्त करते हैं ।

अपो वामदेव्येन यज्ञं यज्ञायज्ञियेन ॥ ८ ॥

भा०—और (वामदेव्येन) वामदेव्य नामक स्तन से (अपः) अप जलों को दुहा और (यज्ञायज्ञियेन) 'यज्ञायज्ञिय' नामक स्तन से (यज्ञम्) यज्ञ को दुहा, प्राप्त किया ।

ओषधीरेवास्मै रथन्तरं दुहे व्यचो बृहत् ॥ ९ ॥

अपो वामदेव्यं यज्ञं यज्ञायज्ञियं य एवं वेद ॥ १० ॥ (२६)

भा०—(यः एवं वेद) जो इस प्रकार विराड् के गूढ़ रहस्य को जानता है (अस्मै) उसके लिये (रथन्तरं ओषधीः एव दुहे) 'रथन्तर' नाम स्तन ओषधियों को ही प्रदान और पूर्ण करता है, (बृहत् व्यचः) 'बृहत्' नाम स्तन 'व्यचस्' को प्रदान और पूर्ण करता है, (वामदेव्यं अपः) वामदेव्य स्तन अपः=जलों को प्रदान और पूर्ण करता है । और

(यज्ञायज्ञियं) 'यज्ञायज्ञिय' नाम का स्तन यज्ञ को प्रदान करता और पूर्ण करता है। संक्षेप से देवों और मनुष्यों के उपजीवक विराड् के अन्तरिक्ष में चार रूप हैं। ऊर्ज्, स्वधा, सूनृता, इरावती। उनका वत्स इन्द्र, रस्सी गायत्री, स्तनमण्डल मेघ है। उस विराड् रूप गौ के ४ स्तन हैं बृहत्, रथन्तर यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य, उनसे चार प्रकार का दूध प्राप्त किया ओषधि, व्यचस्, अपः और यज्ञ। विराड् शक्ति के या द्यौ=आदित्य के अन्तरिक्ष में चार रूप ऊर्ज=अन्न, स्वधा=प्राण और अन्न, सूनृता, उत्तम वाणि, वाक् विद्युद्गर्जना और इरावती, जलों या अन्नों से पूर्ण पृथिवी। वत्स इन्द्र=वायु या स्वतः जीव है। गायत्री पृथिवी, अपने साथ उसे बाँधे है। मेघ उसके स्तन मण्डल है मेघों के ४ स्तन हैं १. बृहत्=द्यौः उससे व्यचः=अन्न उत्पन्न है। जैसा कालिदास ने लिखा है "दुरोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम्" (रघु०)। २. दूसरा स्तन रथन्तर है। रसतमं ह वै रथन्तरम् इत्याचक्षते परोक्षम्। श० ९।१।२।३॥ इयं वै पृथिवी रथन्तरम्। ऐ० ८।१॥ रथन्तर यह पृथिवी है। इससे नाना ओषधियाँ उत्पन्न हुईं। (३) तीसरा स्तन 'यज्ञायज्ञिय' है। पशवोऽन्नाद्यं यज्ञायज्ञीयं। तां० १५।९।१२॥ पशु और अन्नादि खानेवाले जन्तु 'यज्ञायज्ञिय' हैं। उनसे 'यज्ञ' उत्पन्न हुआ। (४) वामदेव्य चौथा स्तन अन्तरिक्ष है। अन्तरिक्षं वै वामदेव्यम्। ता० १५। १२। ५॥ उससे अपः जलों की वर्षा हुई।



[३] विराड् के ४। रूप, वनस्पति, पितृ, देव और मनुष्यों के बीच में क्रम से रस, वेतन, तेज और अन्न।

अथर्वाचार्य ऋषिः। विराड् देवता। १ चतुष्पदा विराड् अनुष्टुप्। २ आर्ची त्रिष्टुप्। ३,५,७ चतुष्पदः प्राजापत्याः पंक्तयः। ४,६,८ आर्च्योबृहत्यः।

सोदंक्रामत् सा वनस्पतीनागच्छत् तां वनस्पतयोघ्नत सा संवत्सरे समभवत् ॥ १ ॥

भा०—(सा उद् अक्रामत्) वह विराट् उठी, प्रकट हुई। (सा वनस्पतीन् आगच्छत्) वह वनस्पति वृक्ष लताओं के समीप आगयी। (ताम्) उसको (वनस्पतयः) वृक्ष आदि वनस्पतियों ने (अघ्नत) भोग किया। (सा) वह (संवत्सरे) एक वर्ष भर (सम् अभवत्) उनके साथ संयुक्त रही।

तस्माद् वनस्पतीनां संवत्सरे वृक्णमपि रोहति वृश्चतेऽस्याप्रियो भ्रातृव्यो य एवं वेद ॥ २ ॥

भा०— (तस्मात्) इसी कारण से (वनस्पतीनां) वनस्पतियों में वर्ष भर में (वृक्णम् अपि) काटा हुआ भी (रोहति) पुनः अपनी नयी शाखाएं उत्पन्न=पैदा करता है। (यः एवं वेद) जो इस रहस्य को जानता है (अस्य यः भ्रातृव्यः) उसका जो शत्रु है वह भी (वृश्चते) कट जाता है।

सोदक्रामत् सा पितॄनागच्छत् तां पितरोऽघ्नत सा मासि समभवत् ॥३॥

तस्मात् पितृभ्यो मास्युपमास्यं ददति प्र पितृयाणं पन्थां जानाति य एवं वेद ॥ ४ ॥

भा०—(सा उत् अक्रामत्) वह विराट् उठी। (सा पितॄन् अगच्छत्) वह 'पितृ' लोगों के पास आई। (तां पितरः अघ्नत) उस के साथ पितृ लोग रहे। (सा मासि सम् अभवत्) वह मास भर उनके साथ लगी रही ॥ ३ ॥ (तस्मात्) इस लिये (पितृभ्यः) पितृ लोगों को (मासि) एक मास पर (उपमास्यम्) मासिक वृत्ति या वेतन (ददति) देते हैं। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार के रहस्य को (जानाति) जान लेता है वह (पितृयाणं पन्थाम्) पितृयाण मार्ग को (प्रजानाति) भली प्रकार जान लेता है।

---

[३] २. 'संवत्सरे वनस्पतीनां' इति पैप्प० सं०।

प्रजा के शासक और घर के बूढ़े व्यवस्थापक लोग 'पितृ' शब्द से कहे जाते हैं। उन को प्रति मास वेतन और मासिक व्यय देना चाहिये। वही उनकी 'स्वधा' अर्थात् शरीर के धारणोपयोगी भेंट है। और यही उनका पितृत्व है कि वे पिता के समान आप शरीर पोषण मात्र लेकर प्रजा को पिता के समान पालते हैं।

सोद॑क्रामत् सा दे॒वाना॑गच्छत् तां दे॒वा अ॑घ्नत सा॑र्धमा॒से सम॑भवत् ॥ ५ ॥

तस्मा॑द् दे॒वेभ्यो॑ऽर्धमा॒से वष॑ट् कुर्वन्ति॒ प्र दे॑व॒यानं॒ पन्थां॑ जानाति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ६ ॥

भा०—(सा उद् अक्रामत्) वह विराट् ऊपर उठी, (सा देवान् आगच्छत्) वह देव विद्वानों के पास प्राप्त हुई। (तां देवाः अघ्नत) उसको देवगण प्राप्त हुए। (सा अर्धमासे सम् अभवत्) वह आधे मास भर उनके संग रही। (तस्मात्) इसलिये (देवेभ्यः अर्धमासे वषट् कुर्वन्ति) देवगण विद्वान् लोगों को आधे मास पर प्रति पक्ष, पर्व के दिन 'वषट्' दान रूप से अन्न आदि दिया जाता है। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार के रहस्य को जान लेता है वह (देवयानं पन्थां प्र जानाति) देवयान मार्ग को भली प्रकार जान लेता है।

सोद॑क्रामत् सा म॑नु॒ष्या॒३॑नाग॑च्छत् तां म॑नु॒ष्या॑ अघ्नत सा स॒द्यः सम॑भवत् ॥ ७ ॥

४–,तस्मात् मासि पितृभ्यः','दधतस्स्वधावान् पितृषु भवति पितृयाणं०' इति पैप्प० सं०।

५–'तस्मादर्धमासे देवेभ्यो जुहोति जुहोति अग्निहोत्रं प्रदेवयानं०' इति पैप्प० सं०।

तस्मान्मनुष्ये/भ्य उभयद्युरुप हरन्त्युपास्य गृहे हरन्ति य एवं वेद ॥ ८ ॥ (२७)

भा०—(सा उत् अक्रामत्) वह ऊपर उठी। (सा मनुष्यान् आगच्छत्) वह मनुष्यों के पास आयी । (तां मनुष्याः अघ्नत) मनुष्य उसके संग रहे । (सा सद्यः सम् अभवत्) वह एक ही दिन उनके संग रही । (तस्मात्) इसलिये (मनुष्येभ्यः उभयद्युः उपहरन्ति)[1] मनुष्यों के लिये हर दूसरे दिन अन्न आदि देते हैं । (यः एवं वेद) जो इस प्रकार के रहस्य को जान लेता है (अस्य गृहे उपहरन्ति) उसके घर में लोग आवश्यक पदार्थ ले आते हैं अर्थात् अन्य साधारण मनुष्यों में दैनिक वेतन का नियम है ।



[४] विराट् गौ से माया, स्वधा, कृषि, सस्य, ब्रह्म और तप का दोहन।

अथर्वाचार्य ऋषिः । विराड् देवता । १, ५ साम्नांजगत्यौ । २,६, १० साम्नां बृहत्यौ। ३,४,८ आर्च्यनुष्टुभः । ६,१३ चतुष्पादुउष्णिहौ । ७ आसुरी गायत्री । ११ प्राजापत्यानुष्टुप् । १२, १६ आर्चीत्रिष्टुभौ ।। १४, १५ विराड्गायत्र्यौ ।

षोडशर्चं पर्यायसूक्तम् ॥

सोदक्रामत् सासुरानागच्छत् तामसुरा उपाह्वयन्त माय एहीति ॥ १ ॥

तस्या विरोचनः प्राह्लादिर्वत्स आसीदयस्पात्रं पात्रम् ॥ २ ॥

तां द्विमूर्धार्त्व्यो/धोक् तां मायामेवाधोक् ॥ ३ ॥

तां मायामसुरा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

८—'तस्माद् अहरहर्मनुष्याणां मुप०' इति पैप्प० सं० ।

१. 'उपाहरन्ति भोजनमिति शेषः' इति ह्विटनिः ।

भा०—(सा उद् अक्रामत्) वह विराट् ऊपर उठी । (सा असुरान्) वह असुरों के समीप (आगच्छत्) आयी ॥१॥ (ताम्) उस को (असुराः) असुर लोगों ने (उपाह्वयन्त) बुलाया—हे (माये) माये ! (एहि इति) आ ॥ २ ॥ (तस्याः) उसका (प्राह्रादिः) प्रह्लाद से उत्पन्न (विरोचनः) विरोचन (वत्सः) वत्स (आसीत्) था । और (अयः पात्रं) लोहे का पात्र (पात्रम्) पात्र था । (ताम्) उस माया को (द्विमूर्धा) दो शिरों वाले, बुद्धिमान् (आर्त्व्यः) ऋतु से उत्पन्न ने (अधोक्) दुहा ॥३॥ (ताम्) उस माया रूप विराट् के आश्रय (असुराः उपजीवन्ति) असुर लोग अपना जीवन निर्वाह करते हैं । (यः एवं वेद) जो इस प्रकार के तत्व को जानते हैं वह (उपजीवनीयो भवति) औरों के आजीविका निर्वाह कराने में समर्थ होता है ।

असितो धान्वो राजा इत्याह तस्यासुरा विशः । त इमे आसत । इति कुसीदिन उपसमेता भवन्ति । तान् उपदिशति माया वेदः सो यम् इति । श० १३।४।३।११॥ असुर, शिल्पीगण प्राह्रादि अर्थात् प्रभूत शब्द करने वाली विरोचन, विशेष दीप्तियुक्त विद्युत् । 'अयः' धातुमय, पदार्थ, द्विमूर्धा-दो मूल धारण करने वाला, आर्त्व्यः-गतिक्रियाशास्त्र, का विद्वान्, कला कौशलवित्, एन्जीनियर ।

सोद॑क्राम॒त् सा पि॒तॄनाग॑च्छ॒त् तां पि॒तर॒ उपा॑ह्वयन्त॒ स्वध॒ एहीति॑॥५॥
तस्या॑ य॒मो राजा॑ व॒त्स आसी॑द् रजतपा॒त्रं पात्र॑म् ॥ ६ ॥
तामन्त॑को मार्त्य॒वोऽधो॑क् तां स्व॒धाम॒ेवाधो॑क् ॥ ७ ॥
तां स्व॒धां पि॒तर॒ उप॑ जीवन्त्युपजीव॒नीयो॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥८॥

भा०— (सा) वह विराट (उद् अक्रामत्) ऊपर उठी (सा पितॄन् आगच्छत्) वह पितृलोगों के पास आयी । (तां पितर उपाह्वयन्त स्वधे एहि इति) 'पितृ' लोगों ने उसे 'स्वधे आओ' इस प्रकार आदर-पूर्वक अपने समीप बुलाया । (तस्याः यमः राजः वत्सः आसीत्) उस

का राष्ट्रनियामक राजा ही 'वत्स' था और (रजतपात्रं पात्रम्) रजत चाँदी और सोना के पदार्थ ही पात्र था। (ताम्) उस विराट् रूप गौ को मृत्यु के अधिष्ठाता अन्तक ने (अधोक्) दुहा। (तां स्वधां एव अधोक्) उस से 'स्वधा' को ही प्राप्त किया। (तां स्वधां पितर उप जीवन्ति) उस स्वधा पर पितृगण अपनी आजीविका करते हैं। (यः एवं वेद उपजीवनीयो भवति) जो इस प्रकार जानता है वह प्रजाओं की जीविका का आधार हो जाता है।

'यमः—राजा'=राष्ट्रनियामक राजा। पितरः=शालक, राष्ट्र के रक्षक वृद्धजन, 'स्वधा' अपने शरीर पोषणयोग्य वेतन, या कर। रजतपात्र=सोने आदि के सिक्के। 'मार्त्यवः' अन्तकः। अर्थात् मृत्युदण्डकारी अन्तिम शासक राजा। 'यमो वैवस्वतो राजेत्याह। तस्य पितरो विशः। त इम आसते। इति स्थविराः उपसमेता भवन्ति। तान् उपदिशति यजूंषि वेद इति' श० १३। ४। ३। ६॥

सोद॑क्राम॒त् सा म॑नु॒ष्या॒३॒॑ नाग॑च्छ॒त् तां म॑नु॒ष्या॒३॒॑ उपा॑ह्वय॒न्तेरा॑वत्ये॒हीति॑ ॥ ९ ॥
तस्या॒ मनु॑र्वैवस्व॒तो व॒त्स आसी॑त् पृथि॒वी पात्र॑म् ॥ १० ॥
तां पृथी॑ वै॒न्यो॒ऽधो॒क् तां कृ॒षिं च॑ स॒स्यं चा॑धो॒क् ॥ ११ ॥
ते कृ॒षिं च॑ स॒स्यं च॑ मनु॒ष्या॒३॒॑ उप॑ जीवन्ति कृ॒ष्टरा॑धिरुपजीव॒नीयो॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ १२ ॥

भा०—(सा उत् अक्रामत्) वह विराट् ऊपर उठी, (सा मनुष्यान् आगच्छत्) वह मनुष्यों के पास आई। (तां मनुष्याः उपाह्वयन्त इरावति एहि इति) उसको मनुष्यों ने हे इरावति! आओ इस प्रकार आदर पूर्वक बुलाया। (तस्याः) उस विराट् का (मनुः वैवस्वतः वत्सः आसीत्) वैवस्वत मनु वत्स था और (पृथिवी पात्रम्) पृथिवी पात्र

था। (ताम्) उस विराट् रूप गौ को (पृथी वैन्यः अधोक) पृथी वैन्य ने दोहन किया। (तां कृषिं च सस्यं च अधोक्) उससे कृषि और धान्य प्राप्त किये। (ते मनुष्याः कृषिं च सस्यं च उपजीवन्ति) वे मनुष्य कृषि और सस्य पर ही प्राण धारण करते हैं। (यः एवं वेद) जो इस रहस्य को जानता है वह (कृष्टराधिः) कृषि द्वारा ही बहुत धन धान्य सम्पन्न और (उपजीवनीयः भवति) मनुष्यों को जीविका देने में समर्थ होता है

विराट्=इरावती पृथिवी। वैवस्वतो मनुः। विविध प्रकार से प्रजाओं को बसाने हारा मनीषी पुरुष। (वैन्यः पृथीः) नाना काम्य पदार्थों का स्वामी, महान् राजा, ।

सोदक्रामत् सा सप्तऋषीनागच्छत् तां सप्तऋषय उपाह्वयन्त ब्रह्मण्वत्येहीति ॥ १३ ॥

तस्याः सोमो राजा वत्स आसीच्छन्दः पात्रम् ॥ १४ ॥

तां बृहस्पतिराङ्गिरसोऽधोक् तां ब्रह्म च तपश्चाधोक् ॥ १५ ॥

तद् ब्रह्म च तपश्च सप्तऋषय उप जीवन्ति ब्रह्मवर्चस्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १६ ॥ (२८)

भा०—(सा उद् अक्रामत्) वह ऊपर उठी। (सा सप्तऋषीन् आगच्छत्) वह सात ऋषियों के पास आयी। (तां सप्तऋषयः उपह्वयन्त ब्रह्मण्वति एहि इति) उन सात ऋषियों ने ब्रह्मण्वति आओ इस प्रकार आदरपूर्वक बुलाया। (तस्याः सोमः राजा वत्सः आसीत्) उसका सोम राजा वत्स था। (छन्दः पात्रम्) छन्दस् पात्र था। (तां बृहस्पतिः आंगिरसः अधोक्) उसको आंगिरस बृहस्पति ने दोहन किया। (तां ब्रह्म च तपः च अधोक्) उसने ब्रह्मज्ञान, वेद और तपश्चर्या का दोहन किया। (तत्) उस (ब्रह्म च तपः च) ब्रह्म ज्ञान और तप के आधार पर (सप्त ऋषयः उपजीवन्ति) सात ऋषिगण प्राण धारण करते हैं। (यः एवं

वेद) जो इस रहस्य को जानता है वह (ब्रह्मवर्चस्वी उपजीवनीयः भवति) ब्रह्मवर्चस्वी और अन्यों को जीविका देने में समर्थ होता है । विराट्= ब्रह्मण्वती से ब्रह्मज्ञानमयी होकर ऋषियों को प्राप्त हुई उस का सोम राजा-ज्ञानपिपासु वत्स के समान है । वेदवक्ता ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति उसका दोहन करता है । ब्रह्म ज्ञान वेद और तप उसका दोहन का सार है । ऋषि उसी पर जीते हैं दोहन का पात्र 'छन्द' वेद है ।



[५] विराड् रूप गौ से ऊर्जा, पुण्य गन्ध, तिरोधा और विष का दोहन ।

अथर्वाचार्य ऋषिः। विराट् देवता । १,१३ चतुष्पादे साम्नां जगत्यौ। १०,१४ साम्नां बृहत्यौ । १ साम्नी उष्णिक् । ४ १६ आर्च्यावनुष्टुभौ । ९ उष्णिक् । ८ आर्ची त्रिष्टुप्। २ साम्नी उष्णिक् । ७, ११ विराड्गायत्र्यौ। ५ चतुष्पदा प्राजापत्या जगती। ६ साम्नां बृहती त्रिष्टुप्। १५ साम्नी अनुष्टुप् । षोडशर्चं सूक्तम् ॥

सोदक्रामत् सा देवानागच्छत् तां देवा उपाह्वयन्तोर्ज एहीति ॥१॥
तस्या इन्द्रो वत्स आसीच्चमसः पात्रम् ॥
तां देवः सविताधोक् तामूर्जामेवाधोक् ॥ ३ ॥
तामूर्जां देवा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

भा०—(सा उत् अक्रामत्) वह विराट् उठी, (सा देवान् आगच्छत्) वह देवों के पास आगयी, (तां देवाः) उसको देवों ने (ऊर्जे एहि इति उप अह्वयन्त) ऊर्जे ! आओ इस प्रकार सादर बुलाया। (तस्याः इन्द्रः वत्स असीत्) उसका इन्द्र=विद्युत् वत्स था । और (चमसः पात्रम्) चमस पात्र था । (तां देवाः सविता अधोक्) उसको देव सविता ने दुहा। (ताम् ऊर्जाम् एव अधोक्) उससे ऊर्ज तेजोमय वीर्य ही प्राप्त किया । (ताम्

ऊर्जम् देवाः उपजीवन्ति) उस 'ऊर्ज तेजोमय वीर्य पदार्थ पर देवगण जीवन धारण करते हैं । (यः एवं वेद) जो इस प्रकार का रहस्य जानता है वह (उपजीवनीयः भवति) देवों को भी जीवन देने में समर्थ होता है । देव प्राण हैं, इन्द्र आत्मा है शिरोभाग चमस पात्र है । सविता मुख्य प्राण ने विराट् अन्न में से ऊर्ज बल का दोहन किया । देव, प्राण उसी ऊर्ज, वीर्य से अनुप्राणित है । महाब्रह्माण्ड में दिव्य पदार्थ अग्नि आदि देव हैं, इन्द्र विद्युत वत्स है । आकाश चमस पात्र है । उस ब्रह्ममयी विराट् शक्ति से सूर्य ने तेज प्राप्त किया उससे ही समस्त पदार्थ अनुप्राणित हैं ।

सोदक्रामत् सा गन्धर्वाप्सरस आगच्छत् तां गन्धर्वाप्सरस उपाह्वयन्त पुण्यगन्ध एहीति ॥ ५ ॥
तस्याश्चित्ररथः सौर्यवर्चसो वत्स आसीत् पुष्करपर्णं पात्रम् ॥ ६ ॥
तां वसुरुचिः सौर्यवर्चसोऽधोक् तां पुण्यमेव गन्धमधोक् ॥ ७ ॥
तं पुण्यं गन्धं गन्धर्वाप्सरस उप जीवन्ति पुण्यगन्धिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ८ ॥

भा०—(सा उत् अक्रामत्) वह विराट् ऊपर उठी (सा गन्धर्वाप्सरसः) वह गन्धर्व और अप्सराओं के पास (आगच्छत्) आयी । (ताम्) उसको (गन्धर्वाप्सरसः) गन्धर्व और अप्सरा गण ने (पुण्यगन्धे एहि इति उपाह्वयन्त) 'हे पुण्यगन्धे ! आओ' इस प्रकार सादर बुलाया । (तस्याः) उसका (सौर्यवर्चसः) सूर्य के समान कान्तिमान (चित्ररथः) चित्ररथ (वत्स आसीत्) वत्स था । (पुष्करपर्णं) 'पुष्कर पर्ण' (पात्रम्) पात्र था । (ताम्) उसको (सौर्यवर्चसः वसुरुचिः) सूर्य के तेज से तेजस्वी वसुरुचि ने (अधोक्) दोहन किया (ताम् पुण्यमेव गन्धम् अधोक्) उससे पुण्य गन्ध को ही प्राप्त किया ।

(तं पुण्यं गन्धम्) उस पुण्य गन्ध से (गन्धर्वाप्सरसः उपजीवन्ति) गन्धर्व और अप्सरा गण जीवन धारण कर रहे हैं। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार रहस्य को जानता है वह (पुण्यगन्धिः उपजीवनीयभवति) स्वयं पुण्यगन्धवाला और उनको जीवन देने में समर्थ हो जाता है।

वरुण आदित्यो राजा इत्याह। तस्य गन्धर्वा विशः त इम आसते। इति युवानः शोभनाः उपसमेता भवन्ति। तान् उपदिशति आथर्वणो वेदः। श० १३।४।३।७ "सोमो वैष्णवो राजेत्याह। तस्याप्सरसो विशः।' त इम आसते। इति युवतयः शोभनाः उपसमेता भवन्ति। ता उपदिशति आंगिरसो वेदः। श० १३।४।३।८॥ अर्थात् देश के युवक पुरुष ही 'गन्धर्व' हैं और नवयुवतियां 'अप्सरा' कहाती हैं। सूर्यवर्चस् तेजस्वी चित्ररथ यह शरीर है। प्राणों का तृप्त करनेहारे आत्मा ने उस पुण्य गन्धर्व को दोहन किया। वह युवा युवतियों में ही विद्यमान होता है जिससे दाम्पत्य आकर्षण होता है।

सोदक्रामत् सेतरजनानागच्छत् तामितरजना उपाह्वयन्त तिरोध एहीति ॥ ९ ॥
तस्याः कुबेरो वैश्रवणो वत्स आसीदामपात्रं पात्रम् ॥ १० ॥
तां रजतनाभिः काबेरकोऽधोक् तां तिरोधामेवाधोक् ॥ ११ ॥
तां तिरोधामितरजना उप जीवन्ति तिरो धत्ते सर्वं पाप्मानमुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १२ ॥

भा०—(सा उत् अक्रामत्) वह विराट् ऊपर उठी। (सा इतर जनान्) वह 'इतर जनों' के पास आयी। (ताम् इतरजनाः तिरोधे एहि इति उपाह्वयन्त) उसको इतरजनों ने 'हे तिरोधे। आओ' इस प्रकार सादर बुलाया। (तस्याः कुबेरः वैश्रवणः वत्सः आसीत्) उसका कुबेर वैश्रवण वत्स था। (आमपात्रं पात्रम्) आमपात्र पात्र था।

(तां रजतनाभिः कौवेरकः अधोक्) उसको 'कौवेरक रजतनाभि' ने दुहा (तां तिरोधाम् एव अधोक्) उससे 'तिरोधा'=छिपाने की कला को ही प्राप्त किया। (तां तिरोधां इतरजनाः उपजीवन्ति) उस 'तिरोधा' से इतरजन जीवन धारण करते हैं। (यः एवं वेद तिरोधत्ते सर्वम् पाप्मानम्) जो इस प्रकार के रहस्य को जान लेता है वह सब पापों को दूर कर देता है। (उपजीवनीयो भवति) और जनों को जीवन धारण कराने में समर्थ होता है।

"कुबेरो वैश्रवणो राजा इत्याह। तस्य रक्षांसि विशः। तानि इमान्यासते। इति सेलगाः पापकृतः उपसमेता भवन्ति। तान् उपदिशति देवजनविद्या वेदः।" श० १३।४।३। १०॥ आर्यजनों से जो इतर अनार्य हैं वे इतरजन हैं। जो चोरी डकैती आदि का जीवन विताते हैं। वे स्वर्णरजत से ही बंधे रहते हैं। उस पर ही उनका मन रहता है। वे हरेक वस्तु को छिपा लेने की विद्या में निपुण होते हैं। उनका राजा कुबेर है जो पृथ्वी में गड़े खज़ानों का मालिक समझा जाता है। जो इस रहस्य विद्या को जानता है वह सब पाप कार्यों को छिपा देता है। और लोग उसके बल पर भी वृत्ति करते हैं।

सोदक्रामत् सा सर्पानागच्छत् तां सर्पा उपाह्वयन्त विषवत्येहीति ॥ १३ ॥
तस्यास्तक्षको वैशालेयो वत्स आसीदलाबुपात्रं पात्रम् ॥ १४ ॥
तां धृतराष्ट्र ऐरावतोधोक् तां विषमेवाधोक् ॥ १५ ॥
तद् विषं सर्पा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १६ ॥ (२६)

भा०—(सा उद् अक्रामत्) वह ऊपर उठी। (सा सर्पान् आगच्छत्) वह सर्पों के पास आई। (तां सर्पाः विषवति एहि इति उपाह्वयन्त) सर्पों ने उसे 'हे विषवति आओ' इस प्रकार सादर बुलाया। (तस्याः) उसका (तक्षकः वैशालेयः वत्स आसीत्) 'वैशालेय तक्षक'

वत्स था । (अलाबुंपात्रम् पात्रम्) अलाबु पात्र पात्र था । (तां धृतराष्ट्रः ऐरावतः अधोक्) उसको धृतराष्ट्र ऐरावत ने दोहन किया । ताम् विषम् एव, अधोक्) उससे विष ही प्राप्त किया (तत् विषम् सर्पाः उपजीवन्ति) उस विष के आधार पर सर्प प्राण धारण करते हैं । (यः एवं वेद उपजीवनीयो भवति) जो इस रहस्य को जानता है वह भी दूसरों को जीवन देने में समर्थ—योग्य होता है ।

"काद्रवेयो राजा इत्याह । तस्य सर्पाः विशः । त इम आसते । इति सर्पाश्च सर्वविदश्चोपसमेता भवन्ति । तान् उपदिशति सर्पविद्या वेदः । श०. १३।४।३।९॥ उसी विराट् का एक रूप विष है जिसको महा नाग प्राप्त करते हैं जो कटुतुम्बी आदि वनस्पतियों या सर्प की विष की थैलियों में प्राप्त होता है । चमकीले शरीर वाले सांप उस विष को प्राप्त करते हैं, सर्प उस पर जीते हैं ।



[६] विषनिवारण की साधना ।

अथर्वाचार्य ऋषिः । विराड् देवता । १ विराड् गायत्री । २ साम्नी त्रिष्टुप् । ३ प्राजापत्या अनुष्टुप् । ४ आर्ची उष्णिक् अनुक्तपदा द्विपदा । चतुर्ऋचं पर्यायसूक्तम् ॥

तद् यस्मा एवं विदुषेऽलाबुनाभिषिञ्चेत् प्रत्याहन्यात् ॥ १ ॥
न च प्रत्याहन्यान्मनसा त्वा प्रत्याहन्मीति प्रत्याहन्यात् ॥२॥
यत् प्रत्याहन्ति विषमेव तत् प्रत्याहन्ति ॥ ३ ॥
विषमेवास्याप्रियं भ्रातृव्यमनुविषिच्यते य एवं वेद ॥४॥ (३०)

भा०—(तत्) इसलिये (एवं विदुषे) इस प्रकार के पूर्व सूक्त में कहे विषदोहन विद्या के रहस्य को जानने वाले (यस्मै) जिस विद्वान् के प्रति सर्प आदि जन्तु (अलाबुना) अपनी विष की थैली में से विष

(अभिषिञ्चेत्) फेंके तो वह विद्वान् (प्रत्याहन्यात्) उसका प्रतिकार करने में समर्थ होता है और यदि (न च प्रत्याहन्यात्) वह उसको मारना न चाहे तो (मनसा) मानस बल, संकल्प बल से ही (त्वा प्रति आहन्मि) 'तेरा प्रतिघात करता हूँ' (इति) ऐसी प्रबल भावना से ही वह (प्रति आहन्यात्) उसके हानिकारक प्रभाव का निराकरण करे। (यत्) जब (प्रति आहन्ति) वह प्रतिघात करता है (तत्) तब वह (विषम् एव प्रति आहन्ति) विष का ही प्रतिघात किया करता है, विष के घातक प्रभाव को ही नष्ट किया करता है। (य एवं वेद) जो इस प्रकार के रहस्य को जान लेता है (विषम् एव अस्य अप्रियम् भ्रातृव्यम् अनु विषिच्यते) विष ही उसके अप्रिय शत्रु पर जा पड़ता है।

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्ते द्वे, ऋचश्च त्रिणवतिस्तथा च षड्विंशर्चमेकमर्थसूक्तम्,

षड्भिः पर्यायैर्युक्तं सप्तषष्ट्यर्चं सूक्तम्]



अष्टमं काण्डं समाप्तम्



[अष्टमे सूक्तदशकं सप्तोनत्रिशतं ऋचः ।]

वेदस्वङ्कचन्द्राब्दफाल्गुणासितपञ्चमी-

भृगावथर्वणः काण्डमष्टमं पूर्त्तिमागमत् ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालंकारमीमांसातीर्थविरुदोपशोभितश्रीमज्जयदेवशर्मणा विरचिते अथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्येऽष्टमं काण्डं समाप्तम् ।



॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदसंहिता

अथ नवमं काण्डम् ।

[१] मधुकशा ब्रह्म-शक्ति का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । मधुकशा, अश्विनौ च देवताः । मधुसूक्तम् । १, ४, ५ त्रिष्टुभः । २ त्रिष्टुब्गर्भापंक्तिः । ३ पराऽनुष्टुप् । ६ यवमध्या अतिशाक्वरगर्भा महाबृहती । ७ यवमध्यो अति जागतगर्भा महाबृहती । ८ बृहतीगर्भा संस्तारपंक्तिः । १० परा-उष्णिक् पंक्तिः । ११, १३, १५, १६, १८, १९ अनुष्टुभः । १४ पुर उष्णिक् । १७ उपरिष्टाद् बृहती । २० भुरिग् विस्तारपंक्तिः । २१ एकावसाना द्विपदा आर्ची अनुष्टुप् । २२ त्रिपदा ब्राह्मी पुर उष्णिक् । २३ द्विपदा आर्ची पंक्तिः । २४ त्र्यवसाना षट्पदा अष्टिः । ९ पराबृहती प्रस्तारपंक्तिः ॥

दिवस्पृथिव्या अन्तरिक्षात् समुद्रादग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे ।
तां चायित्वामृतं वसानां हृद्भिः प्रजाः प्रति नन्दन्ति सर्वाः ॥१॥

भा०—(दिवः) द्यौः, आकाश से, (पृथिव्याः) पृथिवी से, (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से (समुद्रात्) समुद्र से (अग्नेः) अग्नि से और (वातात्) वात से (हि) भी निश्चयपूर्वक (मधुकशा) अमृतमय, परम रसमयी सर्वोपरि शासक, व्यापक ब्रह्मशक्ति (जज्ञे) प्रकट होती

[१] १–(प्र०) 'दिवस्पृथिव्यान्तर' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

है। (अमृतं वसानाम्) अमृत जीवन शक्ति, परम आनन्द धारण करने वाली (ताम्) उस परम शक्ति की (चायित्वा) उपासना करके (सर्वाः प्रजाः) समस्त प्रजाएँ, समस्त जीव (हृद्भिः) हृदयों में (प्रतिनन्दन्ति) आनन्द अनुभव करते हैं।

मुहत् पयो विश्वरूपमस्याः समुद्रस्यं त्वोत रेतं आहुः ।
यत् ऐति मधुकुशा ररांणा तत् प्राणस्तदमृतं निविष्टम् ॥ २ ॥

भा०—(अस्याः) इस मधुकशा का (वयः) आनन्दमय, रस (महत्) बड़ा भारी, अनन्त, असीम और (विश्वरूपम्) समस्त रूपों में प्रादुर्भूत है। हे मधुकशे! (त्वा) तुझे (समुद्रस्य) समुद्र अर्थात् सब आनन्द रसों के प्रदान करनेहारे परम रससागर ब्रह्म का (रेतः) परम रेतस् वीर्य या परम तेज (आहुः) कहा करते हैं। (यतः) जहाँ से या जिस से (मधुकशा) वह मधुमयी, शासक प्रभु-शक्ति (रराणा) सब सुखों को प्रदान करने और सबको रमाने, एवं स्वयं सर्वत्र रमनेवाली, परम रमणीय शक्ति (एति) आती है, प्रकट होती है (तत्) वह (प्राणः) प्राण, सर्वोत्कृष्ट चेतन (तत्) वही (निविष्टम्) गूढ़ (अमृतम्) अमृत ब्रह्म है। अथवा (तत् अमृतम्) उसी में अमृत और (तत् प्राणः) उसी में प्राण (निविष्टम्) आश्रित है। इसका प्रकरण देखो प्रश्नोपनिषद् प्रश्न १।७८॥ तथा श्वेताश्वतर उप० १।९॥

पश्यन्त्यस्याश्चरितं पृथिव्यां पृथङ्नरो बहुधा मीमांसमानाः ।
अग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे मरुतामुग्रा नप्तिः ॥ ३ ॥

भा०—(अस्याः) इस मधुकशा के (चरितम्) कर्म को (बहुधा)

२–(प्र०) 'महत् विश्वरूपं पयो', 'समुद्रस्यात त्वा', 'तदमृतं दिविष्टम्' इति पैप्प० सं० ।

३–(प्र०) 'चरितं पृथिव्याः' (च०) 'उग्रा अनपति' इति पैप्प० सं० ।

बहुत प्रकार से (पृथक्) भिन्न २ दृष्टियों से (मीमांसमानाः) विवेचना करते हुए (नरः) मनुष्य, विद्वान् जन (पृथिव्याम्) इस पृथिवी में (पश्यन्ति) साक्षात् करते हैं । (अग्नेः) अग्नि से और (वातात्) वात-वायु से (मधुकशा हि) जो मधुकशा (जज्ञे) प्रादुर्भूत हुई वही (मरुताम्) मरुतों, प्राणों की (उग्रा) बड़ी प्रबल, भीषण (नप्तिः) बन्धन ग्रन्थि है ।

अग्नि=जीव या जाठर अग्नि, वात=वायु और प्राण वायु । इनके अलौकिक सम्बन्धों से शरीर में प्राणों के मेल से ये शरीर और, अग्नि और वायु के प्रबल सम्बन्ध से इस ब्रह्माण्ड में नाना प्रकार की वायुओं (मरुतों) या गैसों के अद्भुत मेल होकर यह संसार बना है ।

मातादित्यानां दुहिता वसूनां प्राणः प्रजानाममृतस्य नाभिः ।
हिरण्यवर्णा मधुकशा घृताची महान् भर्गश्चरति मर्त्येषु ॥ ४ ॥

ऋ० ८ । १०१ । १५ ॥

भा०—(आदित्यानाम्) आदित्यों, सूर्यों की (माता) रचना करने-हारी, (वसूनाम्) वसुओं या वास करनेहारे जीवों की (दुहिता) समस्त कामनापूर्ण करनेहारी, (प्रजानाम् प्राणः) प्रजाओं, शरीरधारियों का प्राण, जीवनशक्ति, (अमृतस्य नाभिः) अमृत, मोक्ष पद का नाभि आश्रय-स्थान, (हिरण्यवर्णा) समस्त हिरण्य=सूर्यादि प्रकाशमान पिण्डों को आवरण करने, घेरने, उनमें व्यापक रहनेवाली (घृताची) तेजःसम्पन्न (मधुकशा) मधुकशा है । वही (मर्त्येषु) मरणधर्मा जीवों में स्वयं (महान्) बड़ा भारी (भर्गः) चैतन्यमय तेजरूप होकर (चरति) व्याप्त है ।

४—(च०) 'महान्गर्भश्चरति' इति क्वचित् पाठः । (प्र०) 'माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानां ममृतस्य नाभिः' इति ऋग्वेदे गोदेवताका ऋक् ।

मधोः कशा॑मजनयन्त दे॒वास्तस्या॒ गर्भो॑ अभवद्वि॒श्वरू॑पः ।
तं जा॒तं तरु॑णं पिपर्ति मा॒ता स जा॒तो विश्वा॒ भुव॑ना॒ वि च॑ष्टे ॥५॥

भा०—(देवाः) दिव्य पदार्थ अग्नि, जल, वायु, आकाश, पृथिवी, सूर्य, चन्द्र आदि देव शब्द से कहे गये पदार्थ ही (मधोः) सर्वप्रेरक ज्ञान की (कशाम्) शासन, प्रभुशक्ति को (अजनयन्त) प्रकट करते हैं। (तस्याः) उसका (गर्भः) गर्भ (विश्वरूपः) यह हिरण्यगर्भ हुआ। (माता) माता जिस प्रकार (जातम्) उत्पन्न बालक को पालन करती है उसी प्रकार वह मधुकशा परम प्रभु की शक्ति भी (माता) सर्व जगत् का निर्माण करनेहारी होकर (तम्) उस (जातम्) प्रकट हुए हिरण्यगर्भ नामक (तरुणम्) अति तीव्र प्रकाशमान पिण्ड को (पिपर्त्ति) पालन करती है। (सः जातः) वह उत्पन्न होकर (विश्वा भुवनानि) समस्त लोकों को (विचष्टे) प्रकाशित करती है।

कस्तं प्र वे॑द॒ क उ॒ तं चि॑केत॒ यो अ॑स्या हृ॒दः क॒लशः॑ सोम॒धानो॒ अक्षि॑तः । ब्र॒ह्मा सु॒मे॒धाः सो अ॑स्मिन् मदेत ॥ ६ ॥

भा०—(तं कः प्रवेद) उसको कौन भली प्रकार जान सकता है? (क उ तं चिकेत) और कौन उसकी विवेचना कर सकता है? (यः) जो (अस्याः) इस मधुकशा के (हृदः) हृदय में (सोम-धानः) सोम से भरा हुआ, सोम अर्थात् संसार का प्रेरक, समस्त जीवनशक्ति से पूर्ण (अक्षितः) अक्षय, अविनाशी, अमित (कलशः) सोम रस से भरे कलशे के समान ज्ञान और शक्ति का भण्डार विद्यमान है (अस्मिन्) इस अक्षय भण्डार में जो (सुमेधाः) उत्तम मेधा बुद्धि से सम्पन्न (ब्रह्मा) ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी है (सः) वही (मदेत) परम आनन्द प्राप्त कर सकता है।

५–(च०) 'भुवनाभिवस्ते' इति पैप्प० सं० ।

६–(द्वि०) 'सोमधानो अक्षतः' इति पैप्प० सं० ।

स तौ प्र वेद स उ तौ चिकेत यावस्याः स्तनौ सहस्रधारावक्षितौ ।
ऊर्जं दुहाते अनपस्फुरन्तौ ॥ ७ ॥

भा०—(यौ) जो (अस्याः) इस मधुकशा के (सहस्रधारौ) सहस्रधारा वाले, सहस्रों लोकों के धारण, पालन, पोषण में समर्थ (अक्षितौ) अक्षय (स्तनौ) दो स्तन हैं (तौ) उन दोनों को (सः) यह ब्रह्मवेत्ता (प्र वेद) भली प्रकार से जानता है और (सः उ) वह ही (तौ) उन दोनों को (चिकेत) विवेक से निश्चय पूर्वक प्राप्त करता है । वे दोनों (अनपस्फुरन्तौ) निष्प्रकम्प, निश्चल भाव से विद्यमान, अविनाशी होकर (ऊर्जम्) अन्न और बलकारक रस या शक्ति को (दुहाते) प्रदान करते हैं ।

हिङ्करिक्रती बृहती वयोधा उच्चैर्घोषाभ्येति या व्रतम् ।
त्रीन् घर्मानभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः ॥ ८ ॥

भा०—(या) जो मधुकशा ब्रह्मशक्ति (बृहती) विशाल बृहत् शक्ति (वयोधाः) समस्त प्राणों और अन्नों को और लोकों को धारण करनेहारी या सबको अन्न देनेहारी (उच्चैर्घोषा) उच्च घोष करती हुई (हिङ् करिक्रती) साम गान करती हुई (व्रतम्) व्रत, ज्ञान और कर्म निष्ठ अभ्यासी को (अभि एति) साक्षात् होती है । वह (त्रीन्) तीनों (घर्मान्) घर्मों, ज्योतियों के (अभि वावशाना) निरन्तर वश करनेहारी होकर (मायुम्) ज्ञानी के प्रति (मिमाति) अपना घोष करती और (पयोभिः) पुष्टिकारी रसों एवं ज्ञान-धाराओं से (पयते) उसे तृप्त करती है ।

यामापीनामुपसीदन्त्यापः शाक्वरा वृषभा ये स्वराजः ।
ते वर्षन्ति ते वर्षयन्ति तद्विदे काममूर्जमापः ॥ ९ ॥

७—(द्वि०) 'सहस्रधारावन्तौ' इति पैप्प० स० ।

भा०—(आपः) जल जिस प्रकार महानदी में आकर मिल जाते हैं उसी प्रकार (शाक्कराः) शक्तिशाली (स्वराजः) स्वयं आत्मज्ञान के प्रकाश से प्रकाशमान (ये वृषभाः) जो नाना ज्ञानधाराओं को वर्षण करते हैं वे (आपः) परमपद को प्राप्त हुए आप्त पुरुष (याम्) जिस (आपीनाम्) सर्वतोमुख, रसपान करानेहारी एवं महाशक्ति को (उपसीदन्ति) उपासना करते हैं। वे (आपः) आप्त जन, पारदृश्वा ऋषिगण (वर्षन्ति) स्वयं ज्ञान जल की वर्षा करते और (ते आपः) वे आप्त लोग (तद्विदे) उस परमपद को लाभ करनेवाले के लिए (कामम्) यथेच्छ, यथा संकल्पित (ऊर्जम्) बल और परम ब्रह्मरस को (वर्षयन्ति) बरसवाते हैं, प्राप्त कराते हैं, प्राप्त करने में सहायक होते हैं।

स्तनयित्नुस्ते वाक् प्रजापते वृषा शुष्मं क्षिपसि भूम्यामधि।
अग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे मरुतामुग्रा नप्तिः ॥ १० ॥ (१)

भा०—हे (प्रजापते) प्रजापते परमात्मन् ! (ते वाक्) तेरी वाणी (स्तनयित्नुः) मेघ की गर्जना के समान गम्भीर, पिपासितों के हृदय में शान्तिप्रद और प्रजाजन को आश्वासन देनेवाली है। हे परमात्मन् ! तू ही (वृषा) वर्षणशील मेघ के समान समस्त सुखों को वर्षानेहारा (भूम्याम् अधि) भूमि पर (शुष्मम्) अपने महान् बल को जल और विद्युत् के रूप में (क्षिपसि) नीचे फेंकता है। और वह (मधुकशा) मधुर रससे भरी मधुलता जिस प्रकार (अग्नेः वातात्) अग्नि=विद्युत् और वात=वायु से मेघ जल प्राप्त करके उत्पन्न होती है उसी प्रकार इस हृदयभूमि में हे प्रभो ! आप अपना ज्ञान-बल और प्रेरणाबल फेंकते हो और (अग्नेः वातात्) तेरा ज्ञानमय स्वरूप और प्राणमय बल के ध्यान और प्राणायाम के अभ्यास से वह (मधुकशा) ब्रह्मरस से भरी आनन्द मधुवल्ली (जज्ञे) प्रादुर्भूत होती है। वह ही (मरुताम्) प्राणों की उग्रा अति बलशालिनी (नप्तिः) बांधनेवाली आश्रय है। वही परम चेतना है।

यथा सोमः प्रातःसवने अश्विनोर्भवति प्रियः।
एवा मे अश्विना वर्च आत्मनि ध्रियताम्॥११॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (प्रातःसवने) प्रातः सवन के काल में (सोमः) सोम, सूर्य (अश्विनोः) दो अश्वी, दिन और रात्रि के बीच के लिये (प्रियः) प्रिय होता है (एवा) उसी प्रकार हे (अश्विनौ) हे अश्वियो! दिन और रात के समान मेरे शरीर में व्यापक प्राण और अपान! (मे आत्मनि) मेरे देह और आत्मा में (वर्चः) ब्रह्मतेज (ध्रियताम्) स्थिर रहे। अथवा (सोमः) बालक जिस प्रकार (प्रातःसवने) प्रभात के समान बाल्यकाल में (अश्विनोः) माँ बाप को (प्रियः भवति) प्यारा लगता है उसी प्रकार हे (अश्विनौ) माँ बाप के समान गुरो! और परमात्मन्! (मे आत्मनि वर्चः ध्रियताम्) मेरे आत्मा में तेज, प्रकाश स्थिर रहे और मैं तुम्हारा प्रिय बना रहूँ।

यथा सोमो द्वितीये सवन इन्द्राग्न्योर्भवति प्रियः।
एवा म इन्द्राग्नी वर्च आत्मनि ध्रियताम्॥१२॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (द्वितीये सवने) द्वितीय मध्याह्न सवन के काल में (सोमः) सोमलता (इन्द्राग्न्योः) इन्द्र और अग्नि देवों को (प्रियः भवति) प्रिय होता है (एवा) उसी प्रकार हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्ने! (मे आत्मनि वर्चः ध्रियताम्) मेरे आत्मा में तेज स्थिर रहे। अथवा, (यथा द्वितीय सवने इन्द्राग्न्योः सोमः प्रियो-भवति) जिस प्रकार द्वितीय अवस्था में सोम अर्थात् विद्वान् शिष्य इन्द्र=आचार्य और अग्नि=परम ज्ञानोपदेष्टा ब्रह्मगुरु को प्रिय लगता है उसी प्रकार हे इन्द्र और अग्ने! आपकी कृपा से मेरे आत्मा में तेज और ब्रह्म-वर्चस् सदा स्थिर रहे।

यथा सोमस्तृतीये सवन ऋभूणां भवति प्रियः।
एवा म ऋभवो वर्च आत्मनि ध्रियताम्॥१३॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (तृतीये सवने) तीसरे सवन काल में (सोमः) सोम (ऋभूणां प्रियः भवति) ऋभु देवों अर्थात् विद्वानों का प्रिय होता है अथवा जिस प्रकार सोम, शान्त विद्वान् शिष्य सत्य से प्रकाशित तेजस्वी पुरुषों को प्रिय लगता है (एवा) उसी प्रकार हे (ऋभवः) ऋभु सत्य या ब्रह्म-ज्ञान से प्रकाशमान योगी विद्वान् पुरुषो ! आप लोगों की कृपा से (मे आत्मनि वर्चः ध्रियताम्) मेरे आत्मा में ब्रह्मतेज सदा विराजमान हो ।

मधुं जनिषीय मधुं वंशिषीय ।
पर्यस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा ॥ १४ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! मैं (मधु जनिषीय) मधु 'मधुर वचन' मधुर ज्ञान और मधुर कर्मफल को उत्पन्न करूँ और (मधु) मधु के समान मधुर ज्ञानमय ब्रह्मरस की ही याचना, प्रार्थना करूँ । हे (अग्ने) ज्ञानमय प्रभो ! अथवा आचार्य ! मैं तेरे पास (पयस्वान्) दुग्धाहार का व्रत करके शिष्य के समान (आगमम्) आया हूं । (तं मां) इस आप के शिष्य बनने की इच्छा वाले मुझ को (वर्चसा संसृज) ब्रह्म-वर्चस् से युक्त कर । ब्रह्मचर्य का पालन करा । अथवा आचार्य से शिष्य कहता है (मधु जनिषीय) मैं मधु, ब्रह्मविद्या का लाभ करूं (मधु वंशिषीय) भौंरे के समान विद्वानों के पास जा २ कर मधुर ज्ञानरस का संग्रह करूँ अथवा भिक्षा से प्राप्त अन्न को ग्रहण करूँ । अर्थात् मधुकरी वृत्ति से जीवन निर्वाह करूँ और दुग्धाहार व्रत करके तेरे पास ब्रह्मचर्य की दीक्षा लूं, तू मुझे ब्रह्मवर्चस्वी बना ।

'पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतो राजन्य अभिक्षाव्रतो वैश्यः ।

१४–(प्र०) 'मधुजनिषि मद्य [धु] मम्विकीयः [?]' (तृ०) 'अग्नागमम्' इति पैप्प० सं० ।

सं मा॑ऽग्ने॒ वर्च॑सा सृज॒ सं प्र॒जया॒ समायु॑षा ।
वि॒द्युर्मे॑ अ॒स्य दे॒वा इन्द्रो॑ विद्यात् स॒ह ऋषि॑भिः ॥१५॥
अथर्व० ७ । ८९ । २ ॥

भा०—व्याख्या देखो [अथर्व० । का० ७ । ८९ । २] पृष्ठ ।

यथा॒ मधु॑ मधु॒कृतः॑ सं॒भर॑न्ति॒ मधा॒वधि॑ ।
ए॒वा मे॑ अश्विना॒ वर्च॑ आ॒त्मनि॑ ध्रियताम् ॥ १६ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (मधौ) मधु मास, वसन्त काल में (मधुकृतः) मधुमक्षिकाएं, भौंरे (मधु) मधुरस को (अधि संभरन्ति) संग्रह करते हैं हे (अश्विनौ) आचार्य और परमात्मन् ! (मे आत्मनि वर्चः ध्रियताम्) मेरे आत्मा में ब्रह्मतेज संगृहीत हो ।

यथा॒ मक्षा॑ इ॒दं मधु॑ न्य॒ञ्जन्ति॒ मधा॒वधि॑ ।
ए॒वा मे॑ अश्विना॒ वर्च॒स्तेजो॒ बल॒मोज॑श्च ध्रियताम् ॥१७॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (मक्षाः) मधुमक्षिएं (मधौ अधि) मधुमास या वसन्त काल में (इदम्) इस (मधु) मधुरस को (नि-अञ्जन्ति) संग्रह करते हैं हे (अश्विनौ) आचार्य और परमात्मन् ! (एवा) उसी प्रकार (मे) मेरा (वर्चः ओजः बलम् ध्रियताम्) ब्रह्मवर्चस्, तेज, ओज और बल भी संगृहीत हों ।

यद् गि॒रिषु॒ पर्व॑तेषु॒ गोष्वश्वे॑षु॒ यन्मधु॑ ।
सुरा॑यां सि॒च्यमा॑नायां॒ यत् तत्र॒ मधु॒ तन्मयि॑ ॥ १८ ॥

१६–(द्वि०) 'एवा मेश्विना', 'बलमोजश्च ध्रियताम्' इति पैप्प० सं० ।
१७–'यथा मक्षा मधुन्युजम् दाक्षिणमधि [?] एवा मेश्विना वर्चो ध्रियताम्' इति पैप्प० सं० ।
१८–(प्र०) 'यदि गिरिष्यविपां चित्विषि' [?] इति पैप्प० सं० ।

भा०—(यद्) जो मधुर रस, आनन्दप्रद, मधुर शीतल जल, मन्द सुगन्ध पवन, सुन्दर मनोहारी दृश्य एवं रोगहर जीवनप्रद ओषधियों का रस (गिरिषु) बड़े २ पर्वतों में और (पर्वतेषु) चट्टानों में है और (यत् मधु) जो मधु, उत्तम मधुर रस दूध, घी आदि (गोषु) गौओं में और जो तीव्र वेग और विजयलक्ष्मी आदि (अश्वेषु) अश्वों में है और (सुरायाम्) सुरा, अन्न के सारभूत रस के शरीर में (सिच्यमानायां) व्यापने पर होता है (तत्र) वहां (यत् मधु) जो मधु या मधुर आनन्द या जीवनी शक्ति प्राप्त होती है (तत्) वह (मयि) मुझ में भी प्राप्त हो ।

अश्विना सारघेण मा मधुनाङ्क्तं शुभस्पती ।
यथा वर्चस्वतीं वाचमावदानि जनाँ अनु ॥ १९ ॥

अथर्व० का० ६ । ६९ । २ ॥

भा०—(शुभः पती) प्रकाश, ज्ञान के स्वामी, परिपालक (अश्विनौ) माता पिता और गुरु और परमेश्वर दोनों, (मा) मुझे (सारघेण मधुना) सरघा अर्थात् मधुमक्षिका के संगृहीत मधु के समान मधुर अथवा सार, ज्ञान के निचोड़, परम तत्व को अपने भीतर धरने वाले मधु ब्रह्मज्ञान से (अंक्तम्) युक्त करें । (यथा) जिससे मैं (जनान् अनु) मनुष्यों के प्रति (वर्चस्वतीम्) ज्ञान और बल से युक्त ओजस्विनी (वाचम्) वाणी को (आवदानि) बोला करूँ । देखो व्याख्या [का० ६।६९।२]

स्तनयित्नुस्ते वाक् प्रजापते वृषा शुष्मं क्षिपसि भूम्यां दिवि ।
तां पशव उप जीवन्ति सर्वे तेनो सेषमूर्जं पिपर्ति ॥ २० ॥

१९–(तृ०) 'यथा भर्गस्वतीं' इति अथर्व० [का० ६ । ६९ । २ ॥]
२०–(द्वि०) 'भूम्यां दिवः' इति पैप्प० सं० । (तृ० च०) 'मधोः कशायोः पृथिवीं मनचितं दातारं पशव उपजीवन्ति । सर्वेतेन वो शेषमूर्जं बिभर्ति ।' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (प्रजापते) समस्त जीवलोक के पालक ! प्रजापते ! (स्तनयित्नुः) मेघ के गर्जन के समान गंभीर प्राणियों में जीवन संचार करने वाली (ते) तेरा (वाक्) वाणी है । तू (वृषा) समस्त सुखों का वर्षक (दिवि) द्यौलोक और (भूम्यां) भूमि में भी अपना (शुष्मम्)[1] जल रूप वीर्य या बल को (क्षिपसि) फेंकता है । (ताम्) उस वाणी के आधार पर (सर्वे) समस्त (पशवः) तत्त्वार्थ द्रष्टा देव गण उसी प्रकार जीते हैं जैसे मेघ की गर्जना सहित पृथ्वी पर बरसे जल के आधार पर भूमि पर के नाना पशु जीते हैं। (तेन) इससे (सा) वह मेघमयी वाणी (इषम्) जिस प्रकार अन्न और (ऊर्जम्) बलकारी अन्नरस को (पिपर्ति) पूर्ण करती है उसी प्रकार यह वेदवाणी (इषम्) मन की सत्कर्म में प्रेरणा और (ऊर्जम्) बलकारक तेज या सामर्थ्य को पूर्ण करती है ।

पृथिवी दण्डो॒३॑ऽन्तरि॑क्षं॒ गर्भो॒ द्यौः कशा॑ वि॒द्युत् प्र॑क॒शो हि॑र॒ण्ययो॒ बि॒न्दुः ॥ २१ ॥

भा०—प्रजापति का (दण्डः) दण्ड, दमन करने का बल (पृथिवी) पृथिवी है। सब प्राणी इसी पर अपने कर्म करते और कर्मफल भोगते और व्यवस्थित रहते हैं। (अन्तरिक्षम् गर्भः) अन्तरिक्ष गर्भ है, इस के भीतर समस्त लोक लिपटे हुए हैं । (द्यौः कशा) द्यौः—सूर्य सब में प्रकाश करने और उनको अपने शासन में चलाने वाला पशुओं को हांकने वाले हण्टर के समान प्रेरक बल है। और (विद्युत्) बिजली की शक्ति भी (प्रकशः) एक उत्तम प्रकार की चाबुक या प्रेरक बल है (हिरण्ययः बिन्दुः) तेज से बने हुए तैजस् सूर्य 'नेबुला' आदि पदार्थ उस प्रजापति के वीर्य के बिन्दु के समान है जिनसे ब्रह्माण्ड में लक्षों सृष्टियां उत्पन्न होरही हैं ।

---

१. 'वाजम्' इति पीट० लाक्षि० ।

यो वै कशा॑याः स॒प्त मधू॑नि॒ वेद॒ मधु॑मान् भवति ।
ब्राह्म॒णश्च॒ राजा॑ च धे॒नुश्चा॑न॒ड्वांश्च॑ व्री॒हिश्च॒ यव॑श्च॒ मधु॑ सप्त॒मम् ॥२२॥

भा०—(यः वै) जो पुरुष (कशायाः) समस्त जगत् को अपने शासन में रखने वाली 'कशा' ब्रह्मशक्ति के (सप्त) सात (मधूनि) मधु अर्थात् जीवों को अपनी ओर आकर्षित करनेहारे सप्त पदार्थों को (वेद) जान लेता है वह (मधुमान्) स्वयं मधुमान्, मधु के समान मधुर, मनोहर, चित्ताकर्षक हो जाता है। और शासनकारिणी 'कशा' के सात 'मधु' ये हैं। (१) (ब्राह्मणः च) ब्राह्मण, विद्वान् पुरुष, (२) (राजा च) राजा, (३) (धेनुः च) गौ, (४) (अनड्वान् च) बैल, (५) (व्रीहिः च) और धान्य, (६) (यवः च) और जौं ये छः और (७) (सप्तमं) सातवां (मधु) मधु स्वयं है। ये सातों पदार्थ अपने समान गुण के समस्त पदार्थों के प्रतिनिधि हैं।

मधु॑मान् भवति॒ मधु॑मदस्याहा॒र्यं॑ भवति ।
मधु॑मतो लो॒कान् ज॑यति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ २३ ॥

भा०—(यः एवं वेद) जो इस प्रकार के रहस्य को जान लेता है वह (मधुमान् भवति) मधुमान्, मधुमय, मधुर प्रकृति का हो जाता है। (अस्य) उस पुरुष का (आहार्यम्) भोजन भी (मधुमत्) मधुर पदार्थों से युक्त (भवति) होता है। वह (मधुमतः) मधु के समान आनन्दप्रद, सुखमय (लोकान्) लोकों पर (जयति) वश कर लेता है, उन में यथेच्छ निवास करता है।

यद् वी॒ध्रे स्त॒नय॑ति प्र॒जाप॑तिरे॒व तत् प्र॒जाभ्यः॑ प्रा॒दुर्भ॑वति ।

२१–'प्रकशा मधो कशाचि घृताचीं' इति पैप्प० सं० ।

२२–(प्र० द्वि०) 'यो वै मधुकशायाः सप्त मधूनि वेद सप्त मधुमतीम् मधुमतो लोकान् जयति' इति पैप्प० सं० ।

तस्मात् प्राचीनोपवीतस्तिष्ठे प्रजापतेनु मा बुध्यस्वेति
अन्वेनं प्रजा अनु प्रजापतिर्बुध्यते य एवं वेद ॥ २४ ॥ (२)

भा०—(यत्) जब (वीध्रे) आकाश या अन्तरिक्ष में (स्तनयति) मेघ गर्जता है (तत्) तब (प्रजापतिः) एक रूप में प्रजापालक परमेश्वर ही (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के लिये (प्रादुर्भवति) साक्षात् प्रकट होता है। प्रजापालक प्रभु की शक्ति का वही एक प्रकट रूप है। (तस्मात्) इसलिये हे पुरुष ! उस समय (प्राचीनोपवीतः) जिस प्रकार गुरु के समक्ष शिष्य ज्ञानोपदेश ग्रहण करने के लिये दायें कन्धे पर यज्ञोपवीत पहन कर सावधान होकर विनय से उसके सामने खड़ा होता और सावधान होकर गुरु से ज्ञानोपदेश प्राप्त करने की प्रार्थना करता है उसी प्रकार तू भी सावधान होकर दक्षिण स्कन्ध पर यज्ञोपवीत धारण करके खड़े होने वाले शिष्य के समान (तिष्ठे) खड़ा हो और (इति) इस प्रकार प्रार्थना कर—हे (प्रजापते) प्रजा के पालक प्रभो ! (मा) मुझे (अनुबुध्यस्व) ध्यान में रक्खो, मुझ पर अनुग्रह करो। अपने पुत्रसमान मुझे भुला मत देना। (यः एवं वेद) जो इस रहस्य को जान लेता है (एनम्) उस पर (प्रजाः अनु) प्रजाएं सदा अनुग्रह करतीं और (प्रजापतिः अनु बुध्यते) प्रजापति उस पर कृपा बनाये रहता है।

] प्रजापति परमेश्वर और राजा 'काम' का वर्णन।



अथर्वाऋषिः । कामो देवता । १,४,६,९,१०,१३,१९,२४ त्रिष्टुभः । ५ अति

२४—(च० प०) 'प्रजापते अनु मा बुध्यस्व इति, अनु एनं' ह्विटनिकामितः पाठः । (प्र०) 'तत् प्रजापतिरेव' (प०) अन्वेनं प्रजा अनु प्रजा बुध्यन्ते इति पैप्प० सं० ।

जगती । ८ आर्चीपंक्तिः । ११,२०,२३ भुरिजः । १२ अनुष्टुप् । ७,१४,१५, १७, १८, २१, २२ इति जगत्यः । १६ चतुष्पदा शक्करीगर्भा पराजगती । पञ्चविंशर्चं सूक्तम् ॥

सपत्नहनमृषभं घृतेन कामं शिक्षामि हविषाज्येन ।
नीचैः सपत्नान् मम पादय त्वमभिष्टुतो महता वीर्येण ॥ १ ॥

भा०—मैं (सपत्नहनम्) शत्रुओं के नाशक (ऋषभम्) सर्वश्रेष्ठ (कामम्) काम संकल्पमय अथवा कमनीय, अति मनोहर प्रजापति राजा या ईश्वर को (आज्येन) आजि—युद्ध के योग्य या प्रेमरस रूप (हविषा) सामग्री से (शिक्षामि) पुरस्कृत करता हूं । तू (मम) मेरे (सपत्नान्) शत्रुओं को (नीचैः) ऊंचे पद से नीचे (पादय) करदे । हे काम ! (त्वम्) तू (महता) बड़े भारी (वीर्येण) बल से (अभिस्तुतः) कीर्ति प्राप्त कर चुका है, अर्थात् बल के कारण तेरी सब कीर्ति गाते हैं ।

यन्मे मनसो न प्रियं न चक्षुषो यन्मे बभस्ति नाभिनन्दति ।
तद् दुष्वप्न्यं प्रति मुञ्चामि सपत्ने कामं स्तुत्वोदहं भिदेयम् ॥२॥

भा०—(यत्) जो पदार्थ (मे) मेरे (मनसः) मन को (न प्रियम्) प्रिय नहीं लगता और (यत् चक्षुषः न प्रियम्) जो चक्षु को भी प्रिय नहीं लगता और (यत्) जो (मे) मुझे (बभस्ति) खाता है, काटता है या मेरा तिरस्कार करता, या मेरे प्रति कठोर शब्दों से बोलता, या क्रोध करता है और (न अभिनन्दति) मुझे देख कर प्रसन्न नहीं होता और

२—(द्वि०) 'यस्माद् बीभत्से यच्च नाभिनन्दे' इति पैट० लाक्ष० कामितः पाठः । भस भर्त्सनदीप्त्योः (जुहोत्यादिः) । भर्त्सनं परुषभाषणम्, दीप्तिः द्युतिः क्रोधाभिव्यंजनम् । (द्वि०) यन्मे हृदये नाभिनन्दन्ति (च०) कामं जुष्टं ह्यानुदंभिदेयम् [?]

(दुष्वप्न्यं) कष्ट से सोने, बुरे स्वप्नों या बेचैनी का कारण होता है (तत्) उस सब को (सपत्ने) में अपने शत्रु के लिये (प्रति मुञ्चामि) रहने दूं। और (अहम्) मैं (कामम्) काम, कमनीय, प्रभु की (स्तुत्वा) स्तुति करके अपने संकल्प को दृढ़ करके (उत् भिद्देयम्) शत्रु को बाण या शस्त्र द्वारा भेद दूं। अथवा (कामं स्तुत्वा उद्भिदेयं) अपने संकल्पमय देव, आत्मा की स्तुति करके मैं ऊपर उठूं।

दुष्वप्न्यं काम दुरितं च कामाप्रजस्तामस्वगतामवर्तिम्।
उग्र ईशानः प्रति मुञ्च तस्मिन् यो अस्मभ्यमंहूरणा चिकित्सात्॥३॥

भा०—हे (काम) काम! प्रजापते! देव! (दुःष्वप्न्यं) बुरे दुःखपूर्वक स्वप्न, या शयन की दशा और (दुरितं च) दुष्ट भाव इनको और हे काम (अप्रजस्ताम्) प्रजाहीनता, (अस्वगताम्) सम्पत्तिरहितता या निर्धनता और (अवर्त्तिम्) बेरोजगारी या अरक्षा इन सब को हे (उग्र) बलशालिन्! (ईशानः) सब का ईश्वर स्वामी तू (तस्मिन्) उस पर (प्रति मुञ्च) डाल (यः) जो (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (अंहूरणा) दुःख और विपत्तियां खड़ी कर देने को (चिकित्सात्) सोचा करता है।

नुदस्व काम प्र णुदस्व कामावर्तिं यन्तु मम ये सपत्नाः।
तेषां नुत्तानामधमा तमांस्यग्ने वास्तूनि निर्दह त्वम्॥ ४॥

भा०—हे (काम) कान्तिमान्! कमनीय! (अग्ने) हे अग्ने! (मम) मेरे (ये) जो (सपत्नाः) शत्रु हैं उनको (नुदस्व) परे कर, (प्रणुदस्व) और परे हटा, हे (काम) कान्तिमय! वे (अवर्तिम्) बेरोजगारी या विनाश को (यन्तु) प्राप्त हों और (अधमा तमांसि) नीचे गहरे अन्धकारों में (नुत्तानां) ढकेले हुए उन शत्रुओं के (वास्तूनि) घरों को हे (अग्ने) राजन्! (त्वम्) तू (निर्दह) जला डाल।

३–(च०) 'योऽस्मभ्यम्' इति पैप्प० सं०।

सा ते काम दुहिता धेनुरुच्यते यामाहुर्वाचं कवयो विराजम् ।
तया सपत्नान् परि वृङ्धि ये मम पर्येनान् प्राणः पशवो जीवनं वृणक्तु ॥ ५ ॥

भा०—हे (काम) कान्तिमन् ! राजन् ! (धेनुः) रसों का पान कराने हारी (ते) तेरी (दुहिता) सब अभिलाषाओं को पूर्ण करने हारी (उच्यते) कहाती है (याम्) जिसको (कवयः) क्रान्तदर्शी लोग (विराजम् वाचम्) 'विराड्' 'वाक्' (आहुः) कहते हैं । (तया) उस 'विराड् वाणी' द्वारा (सपत्नान्) शत्रुओं को (परि वृङ्धि) विनाश कर, दूर कर । और (एनान्) इन (मम) मेरे शत्रुओं को (प्राणः) प्राण (पशवः) पशु लोग और (जीवनम्) जीवन भी (परि वृणक्तु) छोड़ दें ।

कामस्येन्द्रस्य वरुणस्य राज्ञो विष्णोर्बलेन सवितुः सवेन ।
अग्नेर्होत्रेण प्र णुदे सपत्नाञ्छम्बीव नावमुदकेषु धीरः ॥ ६ ॥

भा०—(कामस्य) कान्तिमान्, (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान्, (वरुणस्य) सब से श्रेष्ठ, सब के वरण करने योग्य (विष्णोः) प्रजा में व्यापक, प्रजा के हृदयों में व्यापक, उनके प्रिय (सवितुः) सबके प्रेरक (राज्ञः) राजा के (बलेन) बल से और (सवेन) प्रेरणा या आज्ञा से और (अग्ने) अग्नि अर्थात् शत्रुतापक राजा के (होत्रेण) अपने भीतर भस्म कर देने वाले बल से (सपत्नान्) शत्रुओं को मैं (धीरः) धीर होकर (नावम्) नाव को (शम्बी इव) नाव के चलाने वाले कैवट के समान (प्र णुदे) परे हटा दूं ।

अध्यक्षो वाजी मम काम उग्रः कृणोतु मह्यमसपत्नमेव ।
विश्वे देवा मम नाथं भवन्तु सर्वे देवा हवमा यन्तु म इमम् ॥७॥

६—१.'शम्ब संबन्धने' (चुरादिः) । शम्बयति संबध्नाति मत्स्यादिकम् अनेनेति शम्बः जालरश्म्यादिः, तद्वान् शम्बी कैवर्तः ।

भा०—वह (उग्रः कामः) भयंकर, कान्तिमय राजा (वाजी) बलवान् (मम अध्यक्षः) मेरा अध्यक्ष, साक्षी है । वह (मह्यम्) मुझे (असपत्नम् कृणोतु) शत्रु रहित करे । (विश्वे देवाः) समस्त देव गण, विद्वान् पुरुष (मम नाथं भवन्तु) मेरी प्रतिष्ठा के कारण हों और (सर्वे देवाः) सब विद्वान् जन (मे) मेरे (इमम्) इस (हवम्) यज्ञ, राष्ट्रशासन-व्यवस्था या आमन्त्रण में (आयन्तु) आवें ।

इदमाज्यं घृतवज्जुषाणाः कामज्येष्ठा इह मादयध्वम् ।
कृण्वन्तो मह्यमसपत्नमेव ॥ ८ ॥

भा०—हे (कामज्येष्ठाः) कान्तिमान राजा के समान ज्येष्ठ श्रेष्ठ पुरुषो ! (इह) इस राज्य में आप लोग भी (घृतवत्) अतिदीप्ति-युक्त (आज्यम्) आजि संग्राम के योग्य अस्त्र शस्त्रों को (जुषाणाः) धारण करते हुए (मह्यम्) मुझ राष्ट्रनिवासी जन को (असपत्नम्) शत्रु रहित (कृण्वन्तः) करते हुए (मादयध्वम्) प्रसन्नता पूर्वक रहो ।

इन्द्राग्नी काम सरथं हि भूत्वा नीचैः सपत्नान् मम पादयाथः ।
तेषां पन्नानामधमा तमांस्यग्ने वास्तून्यनुनिर्दह त्वम् ॥ ९ ॥

भा०—हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्ने ! राजन् और सेनापते हे दोनो ! हे (काम) कान्तियुक्त उज्वल वेष और पद वाले ! (सरथम्) रथ सहित (भूत्वा) होकर अर्थात् रथ पर चढ़ कर (मम) मुझ राष्ट्र वासी के (सपत्नान्) शत्रुओं को (नीचैः) नीचे (पादयाथः) गिरा दो । और हे (अग्ने) अग्रनेता और परन्तप ! (पन्नानाम्) उन परा

७-(च०) 'मे मम्' इति पैप्प० सं० ।
८-(प्र०) घृतमित् (तृ०) 'कृण्वन्तु' इति पैप्प० सं० । विराड् नाम गायत्रीति ह्विटनिः ।
९-'पादयथ' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

जित हुए, हाय में आए या विपद् में फंसे शत्रुओं के (अधमा तमांसि) निकृष्ट या गहरे गर्भ में बने अति भयंकर अन्धेरे से भरे (वास्तूनि) घरों को (अनु निर्दह) जला डाल । शत्रुओं का नाश किया जाय और उनको पकड़ कर दण्ड दें और उनके छिपने के गहरे अंधेरे स्थानों को जला डाला जाय या नष्ट कर दिया जाय ।

जुहि त्वं काम मम ये सपत्ना अन्धा तमांस्यव पादयैनान् ।
निरिन्द्रिया अरसाः सन्तु सर्वे मा ते जीविषुः कतमच्चनाहः ॥ १० ॥(३

भा०—हे (काम) सर्वाभिमत ! सर्वसम्मत राजन् ! (ये मम सपत्नाः) जो मेरे शत्रु हैं राजन् उनको (अन्धा तमांसि) गहरे अन्धकारों में (अव पादय) डाल दे । (सर्वे) वे सब (निरिन्द्रियाः) इन्द्रियों आँख, नाक, कान हाथ लिंग, पाद आदि अंगों से रहित और (अरसाः) भोग्य विषयों से वञ्चित, निर्बल होकर (सन्तु) रहें । (ते) वे (कतमत् चन) एक भी (अहः) दिन (मा जीविषुः) जीवित न रहें ।

अवधीत् कामो मम ये सपत्ना उरुं लोकमकरन्मह्यमेधतुम् ।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रो मह्यं षडुर्वीर्घृतमा वहन्तु ॥ ११ ॥

भा०—(मम ये सपत्नाः) मेरे जो सपत्न, मेरे द्रव्य पर अपना अधिकार जमानेवाले शत्रुगण हैं उनको (कामः) हमारा अभिलषित राजा या प्रबल संकल्प (अवधीत्) मार डाले । वही (मह्यम्) मेरे (एधतुम्) बढ़ने के लिये (उरुं लोकम्) बड़ा भारी लोक, स्थान (अकरत्) कर दे । (मह्यम्) मेरे आगे (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) उप-दिशाएँ भी (नमन्ताम्) झुक जायँ और (षड् उर्वीः) छहों बड़ी

१०–(द्वि०) 'सपत्नान्धा तमांसि' (तृ०) 'निरिन्द्रियारसाः' 'ययानु जीवेत्कतमच्चनैयान्' इति पैप्प० सं० ।

दिशाएँ मेरे लिए (घृतम्) प्रकाशवान्, पुष्टिकारक पदार्थ (आवहन्तु) प्राप्त कराएँ।

ते ध॒राञ्चः॒ प्र प्ल॑वन्तां छि॒न्ना नौरि॑व॒ बन्ध॑नात् ।
न सा॑यकप्र॑णुत्ता॒नां पुन॑रस्ति नि॒वर्त॑नम् ॥ १२ ॥

अथर्व० ३ । ६ । ७ ॥

भा०—(बन्धनात्) बन्धन से (छिन्ना) कटी हुई (नौः इव) नाव जिस प्रकार नदी के प्रवाह में बह जाती है उसी प्रकार (ते) वे शत्रुगण (अधराञ्चः) नीचे ही नीचे (प्र प्लवन्ताम्) बहते चले जायँ। ठीक भी है कि (सायकप्रणुत्तानाम्) बाणों की मार से पीठ फेर कर भागे हुए शत्रुओं का (पुनः) फिर युद्ध-क्षेत्र में (निवर्त्तनम्) लौट कर आना (न अस्ति) नहीं होता।

अ॒ग्निर्यव॒ इन्द्रो॒ यवः॒ सोमो॒ यवः॑ ।
य॒व॒याव्या॑नो दे॒वा या॑वयन्त्वेनम् ॥ १३ ॥

भा०—(अग्निः) हमारा अग्रणी (यवः) शत्रुओं को मार कर भगा देने से 'यव' कहाता है। (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा भी इसी कारण से (यवः) 'यव' है (सोमः) सोम राजा भी (यवः) इसी प्रकार 'यव' है (यवयावानः)[1] मार कर भगा देने में समर्थ होकर शत्रु पर चढ़ाई करनेवाले अथवा राष्ट्र के चलानेहारे या वीर सेना के नेता (देवाः) विजगीषु सेनापतिगण (एनम्) इस शत्रु को (यावयन्तु)[1] पराजित करें।

१३–'यवयन्त्यमुमसुष्यायणममुष्यपुत्रं जीवलोकं मृतलोकं कतामून्' । इति पैप्प० सं० ।

१. यवयावानः । यौति पृथक् करोति दूरीकरोति इति यवः स इव

राष्ट्रं वै यवः । तै० ३।९।७।२॥ सेनान्यं वा एतद्ग्रामण्यां यद् यवाः ऐ० ८ । १६ ॥ विड् वै यवः । राष्ट्र, प्रजा को सेनाएं और प्रजाएं सभी 'यव' कहाती हैं। उनके चलानेहारे 'यवयावानः' राष्ट्र के नेता, सेना के नेता और प्रजा के नेता अथवा मन्त्र के कथनानुसार अग्नि, इन्द्र, सोम ये स्वयं 'यव' हैं इनके समान इनके साथ या युद्धयात्रा करनेवाले वीरगण 'यवयावा' कहाते हैं ।

असर्ववीरश्चरतु प्रणुत्तो द्वेष्यो मित्राणां परिवर्ग्यः स्वानाम् ।
उत पृथिव्यामव स्यन्ति विद्युत उग्रो वो देवः प्र मृणत् सपत्नान् ॥१४॥

भा०—शत्रु (प्रणुत्तः) पराजित होकर (असर्ववीरः) सब वीरों या सब वीर-भटों से रहित होकर (चरतु) विचरे । वह (मित्राणाम्) मित्र राजाओं के (द्वेष्यः) द्वेष का पात्र हो और वह (स्वानाम्) उसके अपने सम्बन्धियों के भी (परिवर्ग्यः) छोड़ने योग्य हो । (वः सपत्नान्) हे प्रजावर्गो! तुम्हारे शत्रुओं को (विद्युतः) विशेष दीप्तियुक्त बिजली के समान तीव्र प्रहारकारी वाले अस्त्र (उत) भी (अवस्यन्ति) विनाश करें और (वः) तुम्हारा (उग्रः देवः) बलवान् शासकारी राजा उनको (प्र मृणत्) कुचल डाले ।

च्युता चेयं बृहत्यच्युता च विद्युद् बिभर्ति स्तनयित्नूंश्च सर्वान् ।
उद्यन्नादित्यो द्रविणेन तेजसा नीचैः सपत्नान् नुदतां मे सहस्वान् ॥ १५ ॥

भा०—(च्युता च) अपने स्थान से च्युत हुई हुई, चल चुकी हुई, और (अच्युता च) या अपने स्थान से न चली हुई, स्थिर, दोनों प्रकार

यान्तीति यवयावानः। शत्रुनिराकरणसमर्थाः सन्तः शत्रुनभिलक्ष्य यात्राकारिणः ।

१४–(प्र०) 'प्रणुत्तो मित्राणां द्वेष्याः' इति पैप्प० सं० ।

की (विद्युत्) विद्युत (बृहती) बड़ी भारी शक्ति है । वही (सर्वान्) सब (स्तनयित्नून् च) गर्जना करने वाले मेघों को (बिभर्त्ति) धारण करती है अर्थात् वही मेघों को गरजाती है । उसका प्रयोग शत्रुओं के विनाश के लिये किया जाय और साथ ही (उद्यन्) ऊपर उठता हुआ (आदित्यः) सूर्य जिस प्रकार (द्रविणेन) तीव्र गतिशील (तेजसा) तेज से अन्धकारों को नाश करता है उसी प्रकार उदय को प्राप्त होता हुआ अपने प्रखर तेज से (सहस्वान्) शत्रुओं के पराजय करने में समर्थ राजा भी (सपत्नान्) शत्रुओं को (नीचैः) नीचे (नुदतां) करे ।

यत् ते काम शर्म त्रिवरूथमुद्भु ब्रह्म वर्म विततमनतिव्याध्यं/कृ त म् ।
तेन सपत्नान् परि वृङ्धि ये मम पर्येनान् प्राणः पशवो जीवनं वृणक्तु ॥ १६ ॥

भा०—हे (काम) कान्तिमय राजन् ! (ते) तेरा (यत्) जो (त्रिवरूथम्) तीनों प्रकार के कष्टों से बचाने वाला (उद्भु) सब से उत्तम शक्तिसम्पन्न, (ब्रह्म) बड़ा या ज्ञानमय (विततम्) विस्तृत (अनतिव्याध्यम्) अमोघ (वर्म) रक्षासाधन, कवच (कृतम्) बना है (तेन) उससे (ये मम) जो मेरे शत्रु हैं उन (सपत्नान्) शत्रुओं को (परिवृङ्धि) विनाश कर और (एनान्) उन को (प्राणः) प्राण (पशवः) पशु और (जीवनम्) जीवन (परिवृणक्तु) छोड़ दें ।

येन देवा असुरान् प्राणुदन्त येनेन्द्रो दस्यूनधमं तमो निनाय ।
तेन त्वं काम मम ये सपत्नास्तानस्माल्लोकात् प्र णुदस्व दूरम् ॥ १७ ॥

भा०—(येन) जिस बल से (देवाः) देव विद्वान् गण, विजिगीषु (असुरान्) असुरों, दुष्टों को या अपने दुर्दमनीय प्राणों को (प्राणुदन्त)

१७–(द्वि०) 'तमोऽपवाधे' (च०) 'प्रणुदस्व सर्वान्' इति पैप्प० सं० ॥

अपने वश करते हैं और (येन) जिस सामर्थ्य से (इन्द्रः) इन्द्र परमेश्वर या राजा (दस्यून्) विनाशकारी, दुष्ट पुरुषों या डाकुओं को (अधमं तमः) नीचतम, गहरे अन्धकारमय, अज्ञानमय दशा में (निनाय) डाल देता है, हे (काम) राजन् ! (मम) मेरे (ये) जो (सपत्नाः) शत्रु हैं (तेन) उस बल से (तान्) उनको (अस्मात् लोकात्) इस लोक या, स्थान से (दूरम्) दूर (प्रणुदस्व) हटा दे ।

यथा॑ दे॒वा असु॑रा॒न् प्राणु॑दन्त॒ यथेन्द्रो॒ दस्यू॑नध॒मं तमो॑ बबा॒धे ।
तथा॒ त्वं का॑म॒ मम॒ ये स॒पत्ना॒स्ताना॒स्माल्लो॒कात् प्र णु॑दस्व दू॒रम् ।१८

भा०—(यथा देवाः असुरान् प्राणुदन्त) जिस प्रकार देव, विद्वान लोग असुरों, अज्ञानियों को पराजित करते हैं और (यथा इन्द्रः दस्यून्-अधमं तमः बबाधे) जिस प्रकार इन्द्र दस्युओं को नीचे गहरे अन्धकार में डालता है (मम ये सपत्नाः) मेरे जो शत्रु हैं, हे (काम ! तान् अस्मात् लोकात् दूरं प्रणुदस्व) काम ! राजन् ! उनको इस लोक से दूर कर ।

कामो॑ जज्ञे प्रथ॒मो नैनं॑ दे॒वा आ॑पुः पि॒तरो॒ न मर्त्याः॑ ।
तत॒स्त्वम॑सि॒ ज्याया॑न् वि॒श्वहा॑ म॒हांस्तस्मै॑ ते काम॒ नम॒ इत् कृ॑णोमि ॥ १६ ॥

भा०—(कामः) काम, कान्तिमान, सबका अभिलषणीय अथवा वह महान् संकल्पमय ईश्वर (प्रथमः) सब से प्रथम (जज्ञे) प्रकट होता है और (एनम्) उसके समान पद को (देवाः) देवगण विद्वान् पुरुष या सूर्य, चन्द्र आदि पदार्थ (पितरः) पालक मां बाप या ऋतुएं और (मर्त्याः) मनुष्य आदि प्राणि भी (न आपुः) नहीं प्राप्त होते

१८–(द्वि०) 'तमोपबाधे' (च०) 'प्रणुदस्व दूरम्' इति पैप्प० सं० ।
१६–'कामो जज्ञे प्रथमो नान्यत् पुरो नैनं देवासः पितरो नोत मर्त्याः । इति पैप्प० सं० ।

(ततः) इसी कारण हे (काम) काम ! महन् ! (त्वम् ज्यायान् असि) तू सब से श्रेष्ठ (विश्वहा) सर्वव्यापक और (महान्) सब से बड़ा है। (तस्मै ते) उस तुझे मैं (नमः इत्) नमस्कार (कृणोमि) करता हूं।

यावती द्यावापृथिवी वरिम्णा यावदापः सिष्यदुर्यावदग्निः ।
ततस्त्वम्० ॥ २० ॥ (४)

भा०—(द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, आकाश और भूमी (वरिम्णा) अपने विस्तार से (यावती) जितनी बड़ी हैं। और (आपः) जल या संसार के आदि मूल प्रकृति के सूक्ष्म, व्यापक परमाणु (यावत्) जितने विस्तार में (सिष्यदुः) फैले हैं और (अग्निः) तेजोमय पदार्थ अग्नि जितनी दूर तक फैली है हे (काम) कान्तिमान् तेजोमय ! परमेश्वर ! (ततः त्वम् ज्यायान् असि) तू उससे भी बड़ा है। तू (विश्वहा महान् असि) सर्वव्यापक, महान् है। (तस्मै इत् नमः कृणोमि) उस तुझे ही मैं नमस्कार करता हूं।

यावतीर्दिशः प्रदिशो विषूचीर्यावतीराशा अभिचक्षणा दिवः ।
ततस्त्वम्० ॥ २१ ॥

भा०—(दिशः) दिशाएं (प्रदिशः) उपदिशाएं (यावतीः) जितनी भी दूर तक फैल सकती हैं और (दिवः) द्यौः—आकाश-मण्डल को (अभिचक्षणाः) दिखलाने वाली (दिशः) दिशाएं (यावतीः) जितनी दूर तक भी फैली हैं हे (काम) कान्तिमय ! परमात्मन् ! (ततः त्वम् ज्यायान् विश्वहा महान् असि) तू उससे भी अधिक बड़ा, व्यापक और महान् है। (तस्मै ते काम नमः इत् कृणोमि) उस तुझ महान् को मैं नमस्कार करता हूं।

२०—(द्वि०) 'सस्यदुः' इति क्वचित् पाठः ।

यावतीर्भृङ्गा जत्वः कुरूरवो यावतीर्वघा वृक्षसर्प्यो बभूवुः ।
ततस्त्वम्० ॥ २२ ॥

भा०—(भृङ्गाः) भौंरे या मधुमक्खियां, (जत्वः) चिमगादर (कुरूरवः) चीलें (यावतीः) जितनी हैं और (वघाः) टीडी आदि जन्तु और (वृक्षसर्प्यः) वृक्ष पर सरकने वाले कीट (यावतीः) जितने (बभूवुः) हो रहते हैं हे (काम) काममय ! परमेश्वर ! (ततः त्वम् ज्यायान्) उनसे भी तू अधिक है । अर्थात् जिस काममय संकल्प से उक्त नाना प्रकार के लक्षों प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि हो रही है तेरा सामर्थ्य उससे कहीं बढ़ा चढ़ा है । तू (विश्वहा महान्) सर्वव्यापक और महान् है (तस्मै ते काम नमः इत् कृणोमि) उस परम कान्तिमय प्रभु को मैं नमस्कार करता हूं ।

ज्यायान् निमिषतोऽसि तिष्ठतो ज्यायान्त्समुद्रादसि काम मन्यो ।
ततस्त्वम्० ॥ २३ ॥

भा०—हे (काम) संकल्पमय, कान्तिमय प्रभो ! हे (मन्यो) ज्ञानमय ! (निमिषतः) निमेष करने वाले जीव से भी (ज्यायान्) बहुत बड़ा है । अर्थात् जितनी इच्छाशक्ति का कौशल निमेष करने में मनुष्य आदि जन्तु का है उससे भी अधिक कौशल तेरा है । और (तिष्ठतो ज्यायान्) समान-भाव से स्थिरता से खड़े रहने वाले वृक्ष पर्वतादि से भी स्थिरता के सामर्थ्य में तू (ज्यायान्) बहुत बड़ा है । (समुद्रात् ज्यायान् असि) जलों के वर्षाने वाले मेघ और धारण करने वाले महान् समुद्र से भी सामर्थ्य में तू (ज्यायान्) बहुत बड़ा है । (ततः त्वम्) इत्यादि पूर्ववत् ।

न वै वातश्चन काममाप्नोति नाग्निः सूर्यो नोत चन्द्रमाः ।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥ २४ ॥

भा०—(वातः चन) वायु भी (कामं न आप्नोति) 'काम' उस महा संकल्पमय, महान् तेजस्वी परम पुरुष को नहीं व्याप सकता या उस के पद तक नहीं पहुँच सकता। और (न अग्निः) न अग्नि और (सूर्यः) न सूर्य (उत् न चन्द्रमाः) और न चन्द्रमा हो उसको व्याप या उसके पद तक पहुँच सकता है। इसलिये (ततः त्वम् ज्यायान् असि) हे काम ! परमेश्वर ! तू उनसे भी बड़ा है इत्यादि पूर्ववत् ।

यास्ते॑ शि॒वास्त॒न्व॑: काम भ॒द्रा याभि॑: स॒त्यं भव॑ति॒ यद् वृ॑णी॒षे ।
ताभि॒ष्ट्वम॒स्माँ अ॑भि॒संवि॑शस्वा॒न्यत्र॑ पा॒पीरप॑ वेशया॒ धिय॑: ॥२५॥(५)

भा०—हे (काम) काम, प्रभो ! (याः) जो (ते) तेरी (शिवाः) कल्याणकारी (भद्राः) सुखकारी (तन्वः) शक्तियां हैं और (याभिः) जिनसे (सत्यम्) प्रकट रूप से, अभिव्यक्त यह जगत् (भवति) सत्ता को प्राप्त करता है, उत्पन्न होता है (यत्) जिस जगत् की तू स्वयं (वृणीषे) रक्षा करता है। (ताभिः) उनसे (त्वम्) तू (अस्मान्) हमको (अभि संविशस्व) प्राप्त हो और (पापीः) पापमय, दुःख प्रद (धियः) कर्मों और शक्तियों को (अन्यत्र) हम से (अप वेशय) दूर रख।

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[तत्र द्वे सूक्ते, ऋचश्चैकोनपञ्चाशत्]



२४—नावापच्चन काममापुर्नाहोरात्राणि निहतानि यन्ति न वै पुण्यजाच्चन काममापुर्न गन्धर्वाप्सरसो न सर्पाः ।

२५—(द्वि०) 'वृणीते' (तृ०) 'अस्मान् उपसंविश' (च०) 'पापीरभिवेशय' इति पैप्प० सं० ।

[३] शाला, महाभवन का निर्माण और प्रतिष्ठा ।

भृग्वङ्गिरा ऋषिः। शाला देवता। १,५,८,१४,१६,१८,२०,२२,२४ अनुष्टुभः। ६ पथ्यापङ्क्तिः। ७ परा उष्णिक्। १५ त्र्यवसाना पञ्चपदातिशक्वरी। १७ प्रस्तारपंक्तिः। २१ आस्तार पंक्तिः। २५, ३१ त्रिपादौ प्रजापत्ये बृहत्यौ। २६ साम्नी त्रिष्टुप्। २७,२८,२९ प्रतिष्ठा नाम गायत्र्यः। २५,३१ एकावसानाः। एकत्रिंशदृचं सूक्तम् ॥

उपमितां प्रतिमितामथो परिमितामुत ।
शालाया विश्ववाराया नद्धानि वि चृतामसि ॥ १ ॥

भा०—हम (उपमिताम्) सुन्दर रूप से बनी हुई, (प्रतिमिताम्) प्रत्येक अंग में नापी हुई, (परिमिताम्) चारों ओर से पर्याप्त प्रमाण वाली शाला को बनावें। और (विश्ववारायाः) सब ओर से सुरक्षित था आवृत (शालायाः) शाला के चारों ओर (नद्धानि) बंधे बन्धनों को (नि चृतामसि) खोल दें। भवन बन चुकने पर उसके चारों ओर लपेटी घास फूस की चटाइयाँ तथा शिल्पियों के बल्ले आदि खोलने का वर्णन करते हैं।

यत् ते नद्धं विश्ववारे पाशो ग्रन्थिश्च यः कृतः ।
बृहस्पतिरिवाहं बलं वाचा वि स्रंसयामि तत् ॥ २ ॥

भा०—हे (विश्ववारे) समस्त वरणीय उत्तम पदार्थों से सम्पन्न शाले ! (यत्) जो (ते) तेरे (नद्धं) बंधन और (यः) जो (पाशः ग्रन्थिः च) पाश और गांठ बनाया गया है (बृहस्पतिः) बृहस्पति वेद का विद्वान् (इव) जिस प्रकार (वाचा) अपनी वाणी से (बलम्)

[३] १—उपमितः प्रमितोऽथो परिमितश्च यश्शालाया विश्ववाराया ते नद्धान् विचृतामसि इति पैप्प० सं० ।

२—'बृहस्पतिं वहंबलम्' इति पैप्प० सं० । (च०) 'विस्रंशयामि' इति क्वचित् ।

शब्द को या प्राण को सुप्रबद्ध करता है उसी प्रकार (अहम्) मैं (वाचा) वेदमन्त्र द्वारा (वरुम्) शाला के आवरण को (विस्रंसयामि) पृथक् खोल दूं।

आ यया॑म॒ सं ब॑र्ह॒ ग्रन्थीं॑श्च॒कार ते दृ॒ढान्।
परूं॑षि वि॒द्वांछस्ते॒वेन्द्रे॑ण॒ वि चृ॑तामसि ॥ ३ ॥

भा०—शिल्पी (ते) तेरी (ग्रन्थीन्) गांठों को (आ ययाम) बांधता है और (सं बर्ह) तुझे ऊंचा करता है और (दृढान् चकार) तेरे सब भागों को दृढ़ करता है। (विद्वान्) जानकार (शस्ता इव) काटने वाला जिस प्रकार (परूंषि) पोरू २ को काटा करता है उसी प्रकार हम पोरू २ पर लगी गांठों को (वि चृतामसि) खोलें।

वं॒शानां॑ ते॒ नह॑नानां प्राणा॒हस्य॒ तृण॑स्य च।
प॒क्षाणां॑ विश्ववारे ते न॒द्धानि॒ वि चृ॑तामसि ॥ ४ ॥

भा०—हे (विश्ववारे) समस्त पुरुषों के वरण करने योग्य अथवा समस्त वरणीय धनों से युक्त ! (ते) तेरे ऊपर (वंशानाम्) बांसों और (नहनानां) बन्धनों और (प्राणहस्य) ऊपर से बन्धे (तृणस्य च) घास फूस के और (पक्षाणां) पक्षों या पासों पर लगे (नद्धानि) बन्धनों को (वि चृतामसि) खोल दें।

सं॒दं॒शानां॑ प॒लदा॑नां॒ परि॑ष्वञ्ज॒ल्य॑स्य च।
इ॒दं मान॑स्य॒ पत्न्या॑ न॒द्धानि॒ वि चृ॑तामसि ॥ ५ ॥

भा०—(मानस्य) मापने के (पत्न्या) पालन करने वाली

४-(च०) 'बद्धान् वि' इति पैप्प० सं०।

५-(प्र०, द्वि०) 'पलिदानां परिष्वञ्चनदस्य च' (तृ०) 'सर्वामानस्य पत्नि ते' इति पैप्प० सं०।

शाला में लगे (संदंशानाम्) कैंची के आकार के जुड़ी लकड़ियों के और (पलदानां) घास फूस के (परिष्वञ्जल्यस्य च) चारों ओर सटे हुए बन्धन के (नद्धानि) बंधनों को (इदम्) इस प्रकार से (वि चृतामसि) खोल दें ।

यानि तेऽन्तः शिक्यान्याबेधू रण्याय कम् ।

प्र ते तानि चृतामसि शिवा मानस्य पत्नी न उद्धिता तन्वे भव॥६॥

भा०—हे (मानस्य पत्नि) मान, मापन के पालन करनेहारी शाले ! (यानि) जो (ते) तेरे (अन्तः) भीतर (शिक्यानि) छींकें (रण्याय) मनोहर सजावट के लिये (ते) तेरे में (आबेधुः) बांधे गये हों (तानि) वे सब (प्र चृतामसि) अच्छी प्रकार बांधे । तू (शिवा) कल्याणकारिणी (मानस्य पत्नी) हमारे मान पालन करने हारी सद्-गृहिणी के समान (नः तन्वे) हमारे शरीर के लिये (उद्-हिता) अति हितकारी (भव) हो ।

हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः ।
सदो देवानामसि देवि शाले ॥ ७ ॥

भा०—हे (देवि शाले) दिव्य गुणों से युक्त प्रकाश और जल वायु से सुन्दर ! शाले ! तू (हविर्धानम्) हवि अन्न के रखने का स्थान हो, (अग्निशालम्) तुझ में अग्नि के लिये पृथक् गृह, यज्ञशाला और पाकशाला हो । (पत्नीनां सदनम्) घर की स्त्रियों के लिये पृथक् गृह हो (सदः) अतिथियों से मिलने के लिये स्थान व बैठक पृथक् हो । (देवानां सदः) और तू स्वयं विद्वान् पुरुषों के और बड़े अधिकारियों के (सदः) गृह स्वरूप भी हो ।

६—'यानि तेऽन्तश्चिक्यानि आमेधोऽन्त्यायकं' (च०) 'सर्वा मानस्य पत्न्या' इति पैप्प० स० ।

अक्षुमोपशं विततं सहस्राक्षं विषूवति ।
अवनद्धमभिहितं ब्रह्मणा वि चृतामसि ॥ ८ ॥

भा०—हे (विषूवति) उच्च शिखर वाली शाले ! तेरा (ओपशम्) स्त्री के शिर पर लगने वाले सुन्दर आभूषण के समान (अक्षुम्) जालस्वरूप (विततं) विस्तृत (सहस्राक्षम्) हज़ारों अक्षों छिद्रों से युक्त है । वह (ब्रह्मणा) ज्ञानपूर्वक (अभिहितम्) बांधा गया और (अवनद्धम्) कसा है उसको हम (वि चृतामसि) विशेष रूप से खोलते हैं ।

यस्त्वा शाले प्रतिगृह्णाति येन चासि मिता त्वम् ।
उभौ मानस्य पत्नि तौ जीवतां जरदष्टी ॥ ९ ॥

भा०—हे (शाले) शाले ! गृह ! भवन ! (यः) जो पुरुष (त्वा) तुझे (प्रतिगृह्णाति) स्वीकार करता है, अपनाता है और (येन) जिसने (त्वम्) तुझे (मिता असि) बनाया है हे (मानस्य पत्नि) सम्मान के पालन करने हारी ! (उभौ तौ) वे दोनों (जरदष्टी) बुढ़ापे के काल तक (जीवताम्) जीवन निर्वाह करें ।

अमुत्रैनमा गच्छताद् दृढा नद्धा परिष्कृता ।
यस्यास्ते विचृतामस्यङ्गमङ्गं परुष्परुः ॥ १० ॥ (६)

भा०—हे शाले ! (यस्याः) जिस तेरे चारों ओर लगे बन्धन के (अङ्गम् अङ्गम्) अंग २ और (परुः परुः) पोरु २ तक को अब हम (वि चृतामसि) विशेष रूप से जुदा कर रहे हैं (अमुत्र) भविष्य काल में तू वही (दृढ) खूब मजबूत (नद्धा) सुबद्ध (परिष्कृता) सुन्दर सुसज्जित होकर (एनम्) इस स्वामी को (आगच्छात्) प्राप्त हो ।

८—(प्र०) 'यद्दर्मापिश,' अपिनद्धमपि हितं' इति पैप्प० सं० ।

९—(प्र०) 'यश्चिचा[अत्वा] प्रति' इति पैप्प० सं० ।

१०—(द्वि०) 'त्रिधानद्धा', (तृ०) 'तस्यास्त' इति पैप्प० सं० ।

यस्त्वा शाले निमिमाय संजभार वनस्पतीन् ।
प्रजायै चक्रे त्वा शाले परमेष्ठी प्रजापतिः ॥ ११ ॥

भा०—हे (शाले) शाले ! (यः) जो शिल्पी (त्वा) तुझे (निमिमाय) बनाता है और तेरे बनाने के लिये (वनस्पतीन्) वृक्षों को (संजभार) काटता है वह भी (परमेष्ठी) परमेष्ठी, परम पद पर स्थित (प्रजापति) प्रजा के स्वामी के समान होकर ही (त्वा) तुझे (प्रजायै) अपनी प्रजा के लिये ही (चक्रे) बनवाता है ।

नमस्तस्मै नमो दात्रे शालापतये च कृण्मः ।
नमोग्नये प्रचरते पुरुषाय च ते नमः ॥ १२ ॥

भा०—हम (दात्रे तस्मै नमः कृण्मः) शाला को पत्थर ईंट काट काट कर गढ़ने वाले शिल्पी को नमस्कार करते हैं (शालापतये च नमः कृण्मः) और शाला के स्वामी को भी हम नमस्कार, उचित आदर करते हैं । और (अग्नये प्रचरते नमः) अग्नि लेकर उससे संस्कार करने हारे विद्वान् को भी हम नमस्कार करते हैं । और (ते पुरुषाय नमः) तुझ पुरुष को भी नमस्कार है ।

गोभ्यो अश्वेभ्यो नमो यच्छालायां विजायते ।
विजावति प्रजावति वि ते पाशांश्चृतामसि ॥ १३ ॥

भा०—(गोभ्यः) गौओं और (अश्वेभ्यः) घोड़ों के लिये और (यत्) जो भी (शालायां विजायते) शाला या गृह में विविध प्रकार के पदार्थ हैं (नमः) उनको नमस्कार हो, उनका सदुपयोग लिया जाय । हे (विजावति) विशेष पदार्थों को उत्पन्न करने वाली ! हे (प्रजा-

११–(प्र०) 'यस्त्वा पूर्वे निमि' इति पैप्प० सं० ।
१२–(द्वि०) 'च कृण्मसि' इति पैप्प० सं० ।

वति) प्रजा पुत्रादि से सम्पन्न शाले ! (ते पाशान्) तेरे पाशों को हम (विचृतामसि) नाना प्रकार से खोलते हैं।

अ॒ग्निम॒न्तश्छा॒दय॑सि पुरु॑षान् प॒शुभिः॑ स॒ह ।
विजा॑वति॒ प्रजा॑वति॒ वि ते॑ पाशां॑श्चृतामसि ॥ १४ ॥

भा०—हे शाले ! तू (पशुभिः सह) पशुओं सहित (पुरुषान्) पुरुषों को और (अग्निम्) यज्ञाग्नि, गार्हपत्य और आहवनीयाग्नि इन अग्नियों को गार्हपत्य अथवा (अग्निम्) पुरुषों के अग्रणी को भी (अन्तः छादयसि) अपने भीतर विश्राम देता है। हे (विजावति प्रजावति) विविध पदार्थों के उत्पादक और प्रजासम्पन्न शाले (ते पाशान् वि चृतामसि) तेरे पाशों के बन्धनों को खोलें।

अ॒न्त॒रा द्यां च॑ पृथि॒वीं च॒ यद् व्यच॒स्तेन॒ शालां॒ प्रति॑ गृह्णामि त इ॒माम् ।
यद॒न्तरि॑क्षं॒ रज॑सो वि॒मानं॒ तत् कृ॑ण्वे॒ऽहमु॒दरं॑ शेव॒धिभ्यः॑ ।
तेन॒ शालां॒ प्रति॑ गृह्णामि॒ तस्मै॑ ॥ १५ ॥

भा०—(द्यां च पृथिवीं च) द्यौः आकाश और (पृथिवीं च) पृथिवी के बीच में (यत्) जो (व्यचः) विशेष विस्तृत अवकाश है (तेन) उससे (ते) तेरे लिये हे ब्रह्मन् ! (इमाम्) इस (शालाम्) शाला को (प्रतिगृह्णामि) स्वीकार करता हूं। और (यत्) जो (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष का भाग या भीतरी खोखला भाग (रजसः) घर का (विमानम्) विशेष परिमाण है (तत्) उसको (अहम्) मैं (शेवधिभ्यः) सुखप्रद पदार्थों और कक्षाओं के लिये या विशेष सम्पत्तियों के लिये (उदरं कृण्वे) पर्याप्तरूप में अच्छे लम्बे चौड़े बनाऊं (तेन) उस निमित्त से (तस्मै) उस गृहपति के लिये (शालाम्) शाला को (प्रतिगृह्णामि) स्वीकार करता हूं।

१५-(द्वि०) 'प्रतिगृह्णामि तेमान्' इति पैप्प० सं०।

ऊर्जस्वती पयस्वती पृथिव्यां निर्मिता मिता ।
विश्वान्नं बिभ्रती शाले मा हिंसीः प्रतिगृह्णतः ॥१६॥

भा०—हे (शाले) शाले ! गृह ! तू (ऊर्जस्वती) आरोग्य पराक्रम से युक्त एवं धन धान्य से सम्पन्न (पयस्वती) दुग्ध, रस, जल आदि से परिपूर्ण, (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (मिता) माप २ कर (निमिता) बनाई गयी है तू (विश्वान्नम्) सब प्रकार के अन्नों को (बिभ्रती) धारण करती हुई (प्रतिगृह्णतः) स्वीकार करते हुए स्वामी को (मा हिंसीः) विनाश न कर ।

तृणैरावृता पलदान् वसाना रात्रीव शाला जगतो निवेशनी ।
मिता पृथिव्यां तिष्ठसि हस्तिनीव पद्वती ॥ १७ ॥

भा०—(तृणैः) तृण, घास फूस से (आवृता) ढकी हुई और (पलदान्) पलद, फूस के बने टाटियों या चटाइयों को (वसाना) ओढ़े हुए, (रात्री इव) रात्रि के समान (जगतः निवेशनी) जगत् को अपने भीतर सुख से वास देने हारी (पृथिव्या) पृथिवी पर (मिता) मापकर बनाई गई (पद्वती) स्थूल पैरों वाली (हस्तिनी इव) हथिनी के समान (पद्वती) स्थूल स्तम्भों से युक्त होकर (तिष्ठसि) खड़ी है ।

इटस्य ते वि चृताम्य पिनद्धमपोर्णुवन् ।
वरुणेन समुब्जितां मित्रःप्रातर्व्युब्जतु ॥ १८ ॥

भा०—हे शाले ! (ते) तेरे ऊपर लगे (इटस्य) चटाई, घास को (अपिनद्धम्) बँधे हुए पूलों को (अप ऊर्णुवन्) खोलता हुआ मैं (वि चृतामि) उसको खोलता हूं । और (वरुणेन) अन्धकार से (सम् उब्जितां) ढकी हुई को (प्रातः) प्रातःकाल (मित्रः) सूर्य (वि उब्जतु) विशेष रूपसे प्रकाशित करे ।

ब्रह्मणा शालां निमितां कविभिर्निमितां मिताम् ।

इन्द्राग्नी रक्षतां शालाममृतौ सोम्यं सदः ॥ १६ ॥

भा०—(ब्रह्मणा) ज्ञानपूर्वक (निमितां) बनाई गई, और (कविभिः) बुद्धिमान् पुरुषों द्वारा (मिताम्) नापी और (निमितां) बनाई गई (शालाम्) शाला को (इन्द्राग्नी) इन्द्र, वायु और अग्नि दोनों (अमृतौ) अमृत जीवन की वृद्धि करने वाले पदार्थ (सोम्यम्) सुखकारी (सदः) गृह (रक्षताम्) बनाये रक्खें ।

देह रूप शाला का वर्णन।

कुलायेऽधि कुलायं कोशे कोशः समुब्जितः ।
तत्र मर्तो वि जायते यस्माद् विश्वं प्रजायते ॥ २० ॥ (७)

भा०—(कुलाये अधि कुलायम्) घोंसले पर घोंसला अथवा (कोशे कोशः समुब्जितः) कोश पर कोश आवरण करता है (तत्र मर्त्तः विजायते) वहां प्राणधारी जीव का मरणधर्मा शरीर नाना प्रकार से प्रकट होता है (यस्मात् विश्वम् प्रजायते) जिससे समस्त प्राणी उत्पन्न होते है ।

या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते ।
अष्टापक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भ इवा शये ॥२१॥

भा०—(मानस्य पत्नीम्) मान, मातृत्व सामर्थ्य का पालन करने वाली पत्नी स्त्री के (गर्भः) गर्भ रूप (अग्निः इव) जीव जिस प्रकार सोता है उसी प्रकार मैं (अग्निः) गृहपति (अष्टापक्षां दशपक्षां शालां आशये) आठ कोठरियों और दश कोठरियों वाली शाला के बीच

१६–(द्वि०) 'निर्मितां' (च०) 'सौम्यं' इति क्वचित् (प्र०) चतुर्स्रक्तिः परिचक्रां कविभिर्निर्मितां मिताम् । विश्वानारविभ्रती शालाममृतो सोम्यं सदः । इति पैप्प० सं० ।

२०–(तृ०) 'तत्र मर्त्तो वि'-इति पैप्प० सं० ।

में रहूं । (या) जो शाला (द्विपक्षा) दो-कोठरियों वाली, (चतुष्पक्षा) चार कोठों वाली और (या) जो (षट्पक्षा) छः कोठरियों वाली भी (निमीयते) बनाई जाती है ।

पक्ष=कक्षागृह । द्विपक्षा=जिसमें दो कमरे हों । अष्टापक्षा=आठ कमरों वाली । दशपक्षा=दश कमरों वाली ।

प्रतीचीं त्वा प्रतीचीनः शाले प्रैम्यहिंसतीम् ।
अग्निर्ह्यन्तरापश्चर्तस्य प्रथमा द्वाः ॥ २२ ॥

भा०—हे (शाले) शाले ! (प्रतीचीं) अपने समक्ष खड़ी हुई (अहिंसतीम्) किसी प्रकार का कष्ट न देती हुई, सुखकारिणी (त्वा) तेरे प्रति (प्रतीचीनः) प्रतीचीन, तेरे अभिमुख होकर (प्रैमि) आता हूं । और (अत्र) इसके भीतर (अग्निः) आग और (आपः) जल ही (ऋतस्य) जीवन के (प्रथमा) उत्तम (द्वाः) द्वार हैं । अथवा (अन्तः) भीतर (अग्निः) ज्ञानवान् विद्वान् और (आपः) आप्त पुरुष रहें । वे ही (ऋतस्य) सत्यज्ञान के (द्वाः) द्वार हैं ।

इमा आपः प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः ।
गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना ॥ २३ ॥

भा०—मैं (इमाः) इन (यक्ष्मनाशनीः) रोगजनक जन्तुओं के नाश करने वाली (आपः) जलों को (अयक्ष्माम्) रोग रहित शाला में (प्र भरामि) लाता हूं । और (अग्निना) अग्नि और (अमृतेन) जल के (सह) साथ अपने (गृहान्) गृह के बन्धुओं के पास (उप प्र सीदामि) आता हूं ।

२१—पक्ष परिग्रहे (पचाद्यच्) पक्षः कोष्ठः ।
२२—(च०) 'प्रथमो भा' इति पैप्प० स० ।
२३—(प्र०) 'आप० प्रहराम्य' (तृ०) 'गृहानामि' इति पैप्प० सं० ।

मा नः पाशं प्रति मुचो गुरुर्भारो लघुर्भव ।
वधूमिव त्वा शाले यत्रकामं भरामसि ॥ २४ ॥

भा०—हे (शाले) शाले ! (नः) हमारे लगाये (पाशम्) बंधन को (मा प्रति मुचः) धारण मत कर, अब न रख । हे शाले ! (गुरुः भारः) तेरा भार बहुत अधिक है । तू (लघुः भव) हलकी होजा । हे शाले ! हमारी इच्छा है कि (त्वाम्) तुझको (वधूम् इव) वधू, नव विवाहित कन्या के समान (त्वा) सुसज्जित तुझे (यत्र कामं) जहां इच्छा हो (भरामसि) ले जायँ ।

इस मन्त्र में एक स्थान से स्थानान्तर में ले जाने लायक गृह का वर्णन वेद ने किया है ।

प्राच्यां दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहां देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः॥२५॥
दक्षिणाया दिशः० ॥ २६ ॥ प्रतीच्यां दिशः० ॥ २७ ॥
उदीच्या दिशः० ॥२८॥ ध्रुवायां दिशः० ॥२९॥ ऊर्ध्वायां दिशः०॥३०॥
दिशोदिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहां देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः॥ ३१ ॥(८.

भा०—शाला के भीतर प्रवेश करके गृहपति प्रत्येक दिशा से परमात्मा की और देवों की अर्चना किया करे । (शालायाः) शाला के (प्राच्याः दिशः) प्राची, पूर्वाभिमुख दिशा से (महिम्ने नमः) उस महा महिम परमात्मा के शुभ गुणानुवाद करें और (स्वाह्येभ्यः) उत्तम रीति से स्तुति अर्चा करने योग्य (देवेभ्यः) देव, विद्वान् पुरुषों का भी हम गुणानुवाद और आदर सत्कार करें । इसी प्रकार (दक्षिणायाः)

२५–३१–'स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः प्राच्याः दिशः शालाया नमो महिम्ने' इत्यादि २६, २७, २८, २९, ३०, ३१ इत्यादिष्वप्येप एव क्रमः । इति पैप्प० सं० ।

दक्षिण, (प्रतीच्याः) पश्चिम, (उदीच्याः) उत्तर, (ध्रुवायाः) ध्रुवा अर्थात् नीचे की ओर (ऊर्ध्वायाः) ऊपर की (दिशः) दिशाओं से भी हम परमात्मा को नमस्कार और पूज्य विद्वान् पुरुषों की पूजा सत्कार करें । इसी प्रकार (दिशः दिशः) शाला के सब दिशाओं से (नमो महिम्ने देवेभ्यः स्वाहेभ्यः स्वाहा) परमेश्वर और पूजनीय विद्वानों की पूजा हो ।



[४] ऋषभ के दृष्टान्त से परमात्मा का वर्णन ।

ब्रह्मा ऋषिः । ऋषभो देवता । १–५,७,६,२२ त्रिष्टुभः । ८ भुरिक् । ६, १०,२४ जगत्यौ । ११–१७,१६,२०,२३ अनुष्टुभः । १२ उपरिष्टाद् बृहती । २१. आस्तारपंक्तिः । चतुर्विंशर्चं सूक्तम् ॥

साहस्रस्त्वेष ऋषभः पयस्वान् विश्वा रूपाणि वक्षणासु बिभ्रत् ।
भद्रं दात्रे यजमानाय शिक्षन् बार्हस्पत्य उस्रियस्तन्तुमातान् ॥१॥

भा०—(साहस्रः) सहस्रों शिरों, बाहुओं, पादों, चक्षुओं एवम् अनन्त सामर्थ्यों से युक्त (त्वेषः) कान्तिमान्, (ऋषभः) सर्वव्यापक, सर्वप्रकाशक (पयस्वान्) आनन्द रस से परिपूर्ण, वीर्यवान्, परमात्मा (विश्वा रूपाणि) समस्त कान्तिमान लोकों को अपने (वक्षणासु) कोखों में या वहन करने में समर्थ शक्तियों में (बिभ्रत्) धारण करता हुआ (बार्हस्पत्यः) स्वयं बृहत्, महान् लोकों के स्वामी होकर, (उस्रियः) सब के भीतर स्वयं बसने वाला एवम् सबको अपने में वास देने वाला होकर (दात्रे) दानशील, आत्मसमर्पण करने हारे (यजमानाय) यजमान, आत्मा, पुरुष को (भद्रम्) सुखकारी, कल्याणमय लोक या देह को (शिक्षन्) प्रदान करता हुआ (तन्तुम्) इस विस्तृत जगत् मय तन्तु को (आतान्) फैलाता है ।

अपां यो अग्रे॑ प्र॒ति॒मा ब॒भूव॑ प्र॒भूः सर्व॑स्मै पृथि॒वीव॑ दे॒वी ।
पि॒ता व॒त्साना॒ पति॑र॒घ्न्याना॒ सा॒ह॒स्रे पोषे॒ अपि॑ नः कृणोतु ॥२॥

भा०—(यः) जो (अग्रे) पूर्वकाल में (अपां) जगत् के कारण-भूत आपः=सूक्ष्म प्रकृति के परमाणुओं पर भी (प्रतिमा) 'प्रतिमान' मापने और उन में भी व्यापने वाला (बभूव) रहा और (सर्वस्मै प्रभूः) सब संसार का उत्पादक और अधिष्ठाता (देवी पृथिवी इव) देवी पृथिवी के समान सबका आश्रय था और है । और जो (वत्सानाम्) प्रकृति के आगे उत्पन्न होने वाले पञ्चभूत आदि विकृति रूपों के या प्राणियों के आवास हेतु लोकों या मुक्त जीवों का (पिता) जनक और पालक और (अघ्न्यानाम् पतिः) न मारने योग्य गौओं के पति महा वृषभ के समान (अघ्न्यानां पतिः) कभी नाश न होने वाले पञ्चभूतों के सूक्ष्म तन्मात्राओं का भी पालक है वह परमात्मा (नः) हमें (साहस्रे पोषे) सहस्रों प्रकार के पोषण कार्यों में (अपि कृणोतु) समर्थ करे अर्थात् जिस प्रकार वह सहस्रों विश्वों को पुष्ट करता और पालता है उसी प्रकार वह हमें भी समर्थ करे ।

'वत्सानां पिता, अघ्न्यानां पतिः' इत्यादि विशेषणों से साधारण सांड भी उपमान रूप से ज्ञात होता है ।

पुमा॑न॒न्तर्वा॑न्त्स्थवि॒रः पय॑स्वा॒न् वसोः॒ कब॑न्धमृष॒भो बि॑भर्ति ।
तमिन्द्रा॑य प॒थिभि॑र्देव॒यानै॑र्हु॒तम॒ग्निर्व॑हतु जा॒तवे॑दाः ॥ ३ ॥

भा०—(ऋषभः) वह सब संसार को चलाने वाला, सर्वश्रेष्ठ (पुमान्) पुमान् पुरुष, पूर्ण ज्ञानी अथवा समस्त पदार्थों में व्यापक या सब को बढ़ाने वाला या स्वयं सब से महान् (अन्तर्वान्) अतएव

२–१. वत्सा वै देव्या अध्वर्यवः । श० १ । ८ । १ । २७ ॥
३–(द्वि०) 'वसोष्कवन्ध'-इति क्वचित् पाठः ।

समस्त विश्वों को अपने भीतर धारण करने वाला, (स्थविरः) नित्य कूटस्थ, सदा स्थिर, अविनाशी होकर (वसोः) वसु, वसने वाले इस अखिल जगत् के (कबन्धम्) शरीर भाग को अथवा ज्ञानमय, सुखमय, शक्तिमय बन्धन सामर्थ्य को (बिभर्ति) स्वयं धारण करता है (तम्) उस (हुतम्) व्यापक परमात्मा को (जातवेदाः) प्रज्ञावान् (अग्निः) अग्रणी, योगी, ज्ञानी, विद्वान् (देवयानैः) देव विद्वानों से जाने योग्य (पथिभिः) मोक्ष मार्गों से (इन्द्राय) इस जीव को (वहतु) ले जाये।

बैल के पक्ष में पं० ह्विटनी और ग्रीफ़िथ आदि ने इस मन्त्र का निम्नलिखित अर्थ किया है 'नर, गाभिन, बड़ा, दुग्ध वाला, भलाई के धड़ को बैल धारण करता है, जातवेदा अग्नि इन्द्र के लिये बलि किये उस बैल को देवों से चले गये रास्तों से ले जाय।' पं० शंकर पाण्डुरंग ने इस सूक्त के प्रारम्भ में विनियोग लिखा है कि 'ब्राह्मण बैल को मार कर भिन्न २ देवताओंके लिये होम दे।' यह अर्थ इस कारण असंगत है कि बैल के ऊपर 'पयस्वान्, वसोः कबन्धम्' अन्तर्वान् और देवयानैः पथिभिर्वहतु' आदि विशेषण उसमें संगत नहीं हैं।

पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानामथो पिता महतां गर्गराणाम्।
वत्सो जरायु प्रतिधुक् पीयूषं आमिक्षा घृतं तद्वस्य रेतः॥४॥

भा०—(वत्सानां पिता) समस्त लोकों, मुक्तात्माओं या जगत् के घटक पञ्चभूतों का (पिता) पिता, पालक (अघ्न्यानां पतिः) अविनाशी शक्तियों का स्वामी (अथो) और (महतां) बड़े २ (गर्गराणाम्) वेद या ब्रह्मज्ञान के गुरु गणों का भी (पिता) पालक है। (वत्सः) बच्चा, (जरायु) जेर (प्रतिधुक्) नवीन दुहा हुआ

४—(द्वि०) 'उतायं पितर' आमिक्षमस्तु घृतमस्य योनिः' इति (च०) 'आमिक्षा मस्तु घृतमस्य रेतः' इति तै० सं०।

या प्रतिदिन का दुहा हुआ (पीयूषम्) दूध, (आमिक्षा) जमा हुआ दही या फटा दूध और (घृतम्) घी (तत् उ) यह सब जैसे इस प्रत्यक्ष (अस्य) इस सांड के ही (रेतः) वीर्य का परिणाम है उसी प्रकार (वत्सः) वायु या अग्नि या अहंकार, (जरायुः) हिरण्यगर्भ, (आमिक्षा) ब्रह्माण्ड (प्रतिधुक् पीयूषम्) प्रतिकल्प, प्रतिसर्ग में दोहन करने योग्य पीयूष, पयस, रस प्राण या परम सूक्ष्म जगत् का मूलकारण भूत परमाणु रूप 'अपः' और (घृतम्) अन्तरिक्ष या तेजस्तत्व, (तत् उ) वह सब कुछ उस महान् परमेश्वर का (रेतः) वीर्य है।

'वत्सः'—अयमेव वत्सः योयं (वायुः) पवते। श० १२।४।१।१२॥ अग्निर्हं वै ब्रह्मणो वत्सः। जै० ३।२।१३।१॥ मन एव वत्सः। श० ११।३। १।१॥ 'जरायु'—शणा जरायु। श० ६।६।२।१५॥ यत्र वा प्रजापतिरजायत गर्भो भूत्वा तस्माद्यज्ञात्तस्य यन्नेदिष्टमुल्वमासीत् ते शणाः स्तस्मात्ते पूतयो भवन्ति। श० ३।२।१।११॥ 'पीयूष', पयः पीयूषं। यजु० ॥ रसो वै पयः श० ४।४।४।८॥ आपोहि पयः। कौ० ५।४॥ सौर्यं पयः। तै० ३।९।१७।४॥ जागतमयनं भवति। तां० १३।४।१०॥ वायव्यं पयो भवति। श० २।६।३।६॥ 'आमिक्षा'—आण्डस्य वा एतद्रूपं यदामिक्षा। तै० १।६।२।४॥ 'घृतम्' एतद्वा अग्नेः प्रियं धाम यद् घृतम्। तै० १।१।९।६॥ उल्वं घृतम्। श० ६।६। २।१५॥ घृतमन्तरिक्षस्य रूपम्। श० ७।५।१।३॥

वायु 'वत्स' है, ब्रह्म का 'वत्स' अग्नि है। अध्यात्म में मन आत्मा का वत्स है। अथवा प्रकृति का विकृत रूप अहंकार वत्स है। 'जरायु और शणा' वह पदार्थ है जिस में यज्ञमय प्रभु स्वयं हिरण्यगर्भ या विराड् रूप से प्रथम प्रजापति रूप में प्रकट हुआ। 'पीयूष' व 'रस' 'आपः' या सौर्य रस हैं जिनसे अनेक लोकों की रचना हुई है। वह जगत् का मूलकारण है। वह वायुरूप है। 'आमिक्षा' हिरण्यगर्भ के घटक पदार्थ का नाम है। 'घृत' अग्नि का प्रिय तेज है, या हिरण्यगर्भ का

आवरण है। यह अन्तरिक्ष का रूप है। इस प्रकार प्राचीन परिभाषाओं का स्पष्टीकरण जानना चाहिये।

देवानां भाग उपनाह एषो३ऽपां रस ओषधीनां घृतस्य।
सोमस्य भक्षमवृणीत शक्रो बृहन्नद्रिरभवद् यच्छरीरम् ॥ ५ ॥

भा०—(एषः) यह पूर्वोक्त ऋषभ नाम से कहा गया ईश्वर ही (देवानाम्) समस्त देवों का (भागः) भजन करने योग्य, आश्रय स्थान और (उपनाहः) अति समीपतम होकर उनको परस्पर बांधकर वश करने वाले, उनमें पिरोये सूत्र के समान है। और वही (अपां रसः) सूक्ष्म 'आपः' रूप परम प्रकृति के परमाणुओं का सूक्ष्म रस उनके भीतर उनको भी धारण करनेहारा शक्तिरूप होकर उनमें भी व्यापक है। और वही (ओषधीनां रसः) ओषधियों, दिव्य शक्तियों अथवा अन्नमय रेतस् पदार्थ के धारण करने वाले सूर्यों और (घृतस्य रसः) स्रुतः तेजस् द्रव्य के परम रूप का भी स्वयं धारण करनेहारा 'रस' रूप है। वही (शक्रः) सर्व शक्तिमान् होकर (सोमस्य) उत्पन्न इस जगत् के या जीव संसार के (भक्षम्) प्राण को (अवृणीत) वश किये हुए है। और (यत्) जो स्वयं (शरीरम्) सबका आश्रय होकर (बृहत्) सबसे महान् (अद्रिः) अखण्ड, सबको अपने में ग्रस लेने वाला, संहारकारी (अभवत्) होता है।

(१) 'अपां रसः'—'स्वधायै त्वेति रसाय त्वेत्येवैतद् आह' अर्थात् [स्वधा=रसः] इति श० ५।४।३।७॥ (२) 'ओषधयः'—जगत्यः ओषधयः। श० १।२।२।२॥ ओषधयो वै देवानां पत्न्यः। श० ६।५।४।४॥

५-(प्र०) 'देवानामिव उपनाह आसीत्' अपां गर्भ ओषधीषु न्यक्तः। सोमस्यद्रप्सं मवृणीत पूषा बृहन्नाद्रिरभवत् यत्तदेषाम्' इति तै०सं०। तत्र (द्वि०) 'अपां पतिर्वृषभ ओषधीनाम्' (च०) 'यत्तदासीत्' इति विशेषो। मै० सं०।

प्रजापतिस्तां आहुतिं अग्नौ न्यौक्षत् ओषं धयेति । ततः ओषधयः समभवन् तस्मादोषधयो नाम । श० २।२।४।५॥ (३) 'सोमः'—स्वा वै मे एषा [मूर्त्तिः] इति तस्मात् सोमो नाम । श० ३।९।४।२२॥ (४) 'भक्षम्'— प्राणो वै भक्षः । श० ४।२।१।२९॥ (५) 'शरीरम्'—अथ यत् सर्वमस्मिन्नश्रयन्त तस्माद् उ शरीरम् । श० ६।१।१।४॥

(१) रस का अर्थ स्वधा है अर्थात् स्वयं धारण करने हारा । (२) देव, दिव्य पदार्थों की शक्तियां ओषधि कहाती हैं, जिनमें परमात्मा ने अग्नि पदार्थ स्थापित किया है वे सूर्य आदि पदार्थ जगतो, सौरमण्डल आदि 'ओषधि' शब्द से कहे जाते हैं । (३) प्रजापति का अपना व्यक्त शरीर जगत् सोम है । (४) भक्ष प्राण का नाम है । (५) वह इस समस्त जगत् का आश्रय है अतः परमात्मा 'शरीर' कहाता है ।

सोमेन पूर्णं कलशं बिभर्षि त्वष्टा रूपाणां जनिता पशूनाम् ।
शिवास्ते सन्तु प्रजन्व इह या इमा न्यस्मभ्यं स्वधिते यच्छ या असूः ॥ ६ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! तू (सोमेन) संसार को उत्पन्न करने वाले सामर्थ्य जीवनरस, वीर्य एवं अमृत से (पूर्णम्) पूर्ण (कलशम्)[१] कलश के समान ब्रह्माण्ड अथवा गतिशील जगत् को (बिभर्षि) धारण और पोषण करता है । तू (रूपाणाम्) नाना रोचमान, तेजस्वी पदार्थों को और नाना जीव जन्तुओं के लक्षों रूपों को (त्वष्टा) बनाने वाला और (पशूनाम्) समस्त जीवों का (जनिता) उत्पादक है । (ते) तेरी (इह) इस लोक में (याः) जितनी (प्रजन्वः) प्रजाएं हैं अथवा उत्पादक शक्तियां हैं वे (शिवाः) कल्याणकारिणी (सन्तु) हों, और हे (स्वधिते) स्वयं

६—'सोमस्य पूर्णं' इति पैप्प० सं० ॥
१. कलगतां इत्यस्मात् 'अशच्' ।

समस्त जगत् को धारण करनेहारे ! और (याः अमूः) जो वे दूरस्थ तेरी उत्पादक शक्तियां हैं उनको भी (अस्मभ्यम्) हमारे हित के लिये (नि यच्छ) नियम में चला । पशुओं का पालन, उत्पादन, प्रजावर्धन आदि शक्तियां इस लोक के मनुष्य के समीप और वश में भी हो सकती हैं। वे सब कल्याणकारिणी हैं, परन्तु उसके वश से बाहर, सृष्टियों का उत्पन्न होना, ऋतुओं का परिवर्त्तन, धूमकेतुओं का उदय, ग्रहों का संचालन, विद्युतों का प्रपात आदि दैवी शक्तियों को प्रभु नियम में रक्खे। वे उपद्रवकारी न हों।

इस मन्त्र का योरोप के पण्डितों का किया अर्थ बड़ा हास्यास्पद है।

आज्यं॑ बिभर्ति घृतम॑स्य रेतः॑ साहस्रः पोषस्तमु॑ यज्ञमा॑हुः ।
इन्द्र॑स्य रूपमृ॑षभो वसा॑नः सो अस्मान् दे॑वाः शिव ऐतु दत्तः॥७॥

भा०—(अस्य) इस साक्षात् परमेश्वर का (घृतम्) अति देदीप्यमान (रेतः) उत्पादक वीर्य (आज्यं) आज्य=समस्त देवशब्दवाच्य दिव्य पदार्थों को या प्राणों को (बिभर्त्ति) धारण करता है और उनको पुष्ट करता है । वह स्वयं (साहस्रः पोषः) सहस्रों, अनन्त लोकों का सहस्रों प्रकार से पोषक है । (तम् उ) उस परमात्मा को ही (यज्ञम्) 'यज्ञ' प्रजापति, परम पुरुष महान् आत्मा (आहुः) बतलाते हैं । हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! वह (ऋषभः) सर्वश्रेष्ठ, सर्वद्रष्टा, प्रभु (इन्द्रस्य) परमेश्वर के (रूपम्) पद को (वसानः) धारण करता हुआ (दत्तः) सब पदार्थों का देनेहारा (शिवः) कल्याणमय (अस्मान्) हमें (आ एतु) साक्षात् प्राप्त हो ।

(१) 'आज्यम्' एषा हि विश्वेषां देवानां तनूः यदाज्यम् । तै० ३।२।४।६॥ प्राणो वा आज्यम् । तै० ३।८।१५।२॥ दत्त—इति कर्त्तरि क्तः ।

७—(द्वि०) 'सहस्रपोष', (च०) 'अस्मा देवाः शिवैतु' इति पैप्प० ।

इन्द्रस्यौजो वरुणस्य बाहू अश्विनोरंसौ मरुतामियं ककुत् ।
बृहस्पतिं संभृतमेतमाहुर्ये धीरासः कवयो ये मनीषिणः ॥ ८ ॥

भा०—(ये) जो (धीरासः) ध्यान योगी, (कवयः) क्रान्तदर्शी, मेधावी, (मनीषिणः) मननशील, विद्वान् ऋषि हैं वे (बृहस्पतिम्) बृहत् बड़े २ लोकों के स्वामी प्रभु को (एतम्) इस रूप से (संभृतम्) कल्पना किया गया या बलसम्पन्न हुआ (आहुः) उपदेश करते हैं कि इस वृषभ के रूप में (ओजः) बल वीर्य तो (इन्द्रस्य) इन्द्र का बना है (बाहू) बाहुएं (वरुणस्य) वरुण की, (असौ) कन्धे (अश्विनोः) अश्विदेव अर्थात् दिन रात्रि के बने हैं (ककुत्) कोहान का भाग (मरुताम्) मरुद्गण प्राणों और वायुओं का बना है ।

दैवीर्विशः पयस्वाना तनोषि त्वामिन्द्रं त्वां सरस्वन्तमाहुः ।
सहस्रं स एकमुखा ददाति यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति ॥ ९ ॥

भा०—हे ऋषभ! परमेश्वर! तू (पयस्वान्) आनन्दमय, पोषक, अन्न-रस या वीर्य से सम्पन्न होकर (दैवीः) दिव्य गुणवाली (विशः) प्रजाओं को (आतनोषि) बढ़ाता है । विद्वान् लोग (त्वां) तुझको (इन्द्रम् आहुः) इन्द्र, परमेश्वर कहते हैं और (त्वाम्) तुझको (सरस्वान्) 'सरस्वान्' अपार रससागर कहते हैं । (यः) जो (ब्राह्मणः) ब्राह्मण वेद का विद्वान् (ऋषभम्) 'ऋषभ रूप' परमेश्वर के ज्ञान रहस्य को (आजुहोति) प्रदान करता है (सः) वह (सहस्रम्) हजारों (एक मुखाः) एक परमेश्वर के ही मुख्य विषय को प्रतिपादन करने वाली वेद-वाणियों का (ददाति) उपदेश करता है । अर्थात् उस परमात्मा के ज्ञान प्रदान करने के प्रसंग में वह सहस्रों ऋचाओं का व्याख्यान कर देता है ।

गौणवृत्ति से—जो वेदज्ञ विद्वान् के वश होकर एक सांड को धर्मार्थ छोड़ देता है वह मानो सहस्रों गौएं प्रदान करता है । परमात्मा परक यह

'ऋषभ' शब्द है इसके अनुकरण में वृषभोत्सर्ग का वैदिक कर्मकाण्ड खुलता है। जो सम्बन्ध ईश्वर रूप वृषभ का वेदवाणियों से है वही सम्बन्ध सांड का गौओं से हैं। जैसा उपनिषदों में कहा है—

यश्छन्दसां वृषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृतात्

संबभूव। समे इन्द्रो मेधया स्पृणोतु। तै० उप० १।४॥

बृहस्पतिः सविता ते वयो दधौ त्वष्टुर्वायोः पर्यात्मा त आभृतः।
अन्तरिक्षे मनसा त्वा जुहोमि बर्हिष्टे द्यावापृथिवी उभे स्ताम्॥१०॥६

भा०—हे परमेश्वर! (ते वयः) तेरे जीवनमय सामर्थ्य को (बृहस्पतिः) बड़े २ लोकों का पालक (सविता) सूर्य (दधौ) धारण करता है। (ते) तेरा (आत्मा) देह (त्वष्टुः वायोः परि आभृतः) सब के उत्पादक, एवं जीवनप्रद वायु के द्वारा व्याप्त है। (अन्तरिक्षे) इस महान् अन्तरिक्ष आकाश में (त्वा) तुझसे (मनसा) अपने मानस संकल्प द्वारा (जुहोमि) अर्पित करता हूं, कल्पित करता हूं कि (द्यावापृथिवी) ये द्यौ और पृथिवी, आकाश और भूमि (उभे) दोनों (ते) तेरे लिये (बर्हिः) व्याप्त होने के लिये हैं, तेरे आसन रूप हैं।

ऋषभ परमेश्वर के अंगों का वर्णन।

य इन्द्र इव देवेषु गोष्वेति विवावदत्।
तस्य ऋषभस्याङ्गानि ब्रह्मा सं स्तौतु भद्रया॥ ११॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (देवेषु) देव अर्थात् प्राणों में (इन्द्र इव) आत्मा के (गोषु) वेदवाणियों (विवावदत्) नाना प्रकार के ज्ञानोपदेश करता हुआ (एति) स्वयं विराजमान है (तस्य) उस महान् (वृष-

१०—(प्र०) 'सविता ते मनोदधौ' इति पैप्प० सं०।

११—'य ऐन्द्रीव' इति पैप्प० सं०।

भस्य) ऋषभ, परमेश्वर के (अंगानि) अंगों का (ब्रह्मा) चतुर्वेद वक्ता पुरुष (भद्रया) कल्याणमयी वेदवाणी द्वारा (सं स्तौतु) उत्तम रीति से वर्णन करे।

पार्श्वे आस्तामनुमत्या भगस्यास्तामनूवृजौ ।
अष्ठीवन्तावब्रवीन्मित्रो ममैतौ केवलाविति ॥ १२ ॥

भा०—उस महान् परमेश्वर के (पार्श्वे) दोनों पार्श्व, पासे (अनुमत्याः) अनुमति, द्यौ के कल्पित (आस्ताम्) हैं। और (अनुवृजौ) पसुलियों के दोनों भाग (भगस्य) भग, सूर्य के हैं (मित्रः) मित्र=वायु (अब्रवीत्) कहता है कि (अष्टीवन्तौ) अस्थि के बने दोनों घुटने (एतौ) ये दोनों (केवलौ मम) मेरे बने हुए या कल्पित हैं।

भसदासीदादित्यानां श्रोणी आस्तां बृहस्पतेः ।
पुच्छं वातस्य देवस्य तेन धूनोत्योषधीः ॥ १३ ॥

भा०— (भसत्) प्रजनन भाग (आदित्यानाम्) आदित्य, १२ मासों का कल्पित किया गया है और (श्रोणी) कटि के दोनों भाग (बृहस्पतेः) बृहस्पति अग्नि के (आस्तां) कल्पित किये हैं। (पुच्छं वातस्य देवस्य) पुच्छ भाग वात, वायु देव का कल्पित है। (तेन) उससे वह (ओषधीः) ओषधि अर्थात् अग्निमय समस्त लोकों को (धूनोति) निरन्तर चला रहा है।

गुदा आसन्त्सिनीवाल्याः सूर्यायास्त्वचमब्रुवन् ।
उत्थातुरब्रुवन् पद ऋषभं यदकल्पयन् ॥ १४ ॥

१२–(प्र०) 'पार्श्वास्ता' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'अष्टीवन्ताऽब्रवी' इति हेनरिकामितः पाठः ।

१३–(द्वि०) 'श्राण्यास्ताम्' इति पैप्प० सं० ।

१४–(प्र०) 'गुदा सन्' (च०) 'यदो यृद्वषभं व्यकल्पन्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(सिनीवाल्याः) सिनीवाली अर्थात् रात्रि के (गुदाः आसन्) गुदा भाग कल्पित हैं, (त्वचम् सूर्यायाः अब्रुवन्) विद्वान् लोग सूर्या उषा को उसकी त्वचा बतलाते हैं। (यत्) जब विद्वान् लोगों ने परमेश्वर के स्वरूप की (ऋषभम्) ऋषभ रूप से (अकल्पयत्) कल्पना की तब (उत्थातुः) उत्थाता अर्थात् प्राण को (पदः) उसके पद (अब्रुवन्) बतलाया।

क्रोड आसीज्जामिशंसस्य सोमस्य कलशो धृतः।
देवाः संगत्य यत् सर्व ऋषभं व्यकल्पयन् ॥ १५ ॥

भा०—वह परमात्मा (जामिशंसस्य) सब जगत् को उत्पन्न करने वाली माता कहने वाले भक्त के लिये वह (क्रोड आसीत्) माता की गोद ही है। और मानो वह स्वयं (सोमस्य) सोम, आनन्द रस का (कलशः) पूर्ण कलश (धृतः) माना गया है। (देवाः) विद्वान् लोग (यत्) भी (सर्वे) सब (संगत्य) नाना प्रकार से संगति लगाकर (ऋषभं) उस महान् परमेश्वर को (वि अकल्पयन्) विविध प्रकार से कल्पना कर लेते हैं। अथवा (सर्वे देवाः) समस्त दिव्य पदार्थ ही (संगत्य) विविध परस्पर मिलकर स्वयं (ऋषभम्) उस महान् पुरुष को (वि अकल्पयन्) रूपों से कल्पित कर रहे हैं अर्थात् वे ही उसके अंग प्रत्यंग बना रहे हैं।

'जामिशंस' जाम् अपत्यं जायते अस्याम् इति जामिर्माता। जामि इति शंसति स 'जामिशंसः', मातृपदेन भाषमाणो जनः।

ते कुष्ठिकाः सरमायै कूर्मेभ्यो अदधुः शफान्।
ऊबध्यमस्य कीटेभ्यः श्ववर्तेभ्यो अधारयन् ॥ १६ ॥

भा०—(ते) वे विद्वान् जन (कुष्ठिकाः) प्रजापति की कुष्ठियों,

१६–(च०) 'शवर्त्तेभ्यो, शशवर्त्तेभ्यो, शवर्त्तेभ्यो', इत्यादयः क्वचित् पाठः। शिवरभ्यो इति पैप्प० सं०।

सुमों को (सरनायै) सरमा कुत्तों की जाति रूप से कल्पना करते हैं, (शफान्) और वृषभ, प्रजापति के खुर भागों को (कूर्मेभ्यः) कछुआ रूप से (अदधुः) कल्पना करते हैं, (श्ववर्त्तेभ्यः) एक दो दिन जीने वाली (कीटेभ्यः) समस्त कोमल कीटों को (अस्य) उसका (ऊवध्यम्) अपक्व भोजन (अधारयन्) कल्पित किया।

'श्ववर्त्तेभ्यः कीटेभ्यः' 'श्व-वर्त्त' अर्थात् कलतक विद्यमान, एक दिन तक जीने वाले क्षुद्र प्राणी।

शृङ्गाभ्यां रक्ष॑ ऋषत्यवर्तिं हन्ति चक्षुषा ।

शृणोति भद्रं कर्णाभ्यां गवां यः पतिरघ्न्यः ॥ १७ ॥

भा०— (यः) जो (गवां पतिः) गौ=वेदवाणियों और पृथ्वी आदि लोकों का (अघ्न्यः पतिः) अविनाशी, स्वामी, परमात्मा है वह (शृङ्गाभ्यां) सींगों के समान तीक्ष्ण व्यक्त, अव्यक्त दोनों प्रकार के साधनों से (रक्षः) पीड़कों को (ऋषति) मारता है और (चक्षुषा) अपने सूर्य समान दिव्य तेजोमय चक्षु के निमेष उन्मेष से ही (अवर्तिम्) असत्, अविद्यमान अभाव पदार्थ को (हन्ति) विनाश करता और सत् पदार्थों को उत्पन्न करता है। वह (कर्णाभ्यां) कानों से सदा (भद्रम्) कल्याणकारी वचनों को (शृणोति) सुन लेता है।

शतयाजं स यजते नैनं दुन्वन्त्यग्नयः ।

जिन्वन्ति विश्वे तं देवा यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति ॥ १८ ॥

भा०—(यः) जो पुरुष (ब्राह्मणेभ्यः) ब्रह्म के जानने वाले विद्वान् को साक्षी रख कर (ऋषभम्) महान् परमेश्वर का (आजुहोति) यज्ञ करता है (सः) वह मानो (शतयाजम् यजते) सैकड़ों यज्ञ करता है

१७-(प्र०) शृङ्गाभ्यारक्षरिषद् रार्ती इति पैप्प० सं० ।

१८-'जिन्वन्निसवे' इति पैप्प० सं० ।

(एनम्) उसको (अग्नयः) अग्नियें संतापकारी पदार्थ (न दुन्वन्ति) दुःख नहीं देते । (तम्) उसको (विश्वे देवाः) समस्त देवगण, विद्वान् और दिव्य पदार्थ अग्नि, जल आदि (जिन्वन्ति) तृप्त या प्रसन्न करते हैं ।

ऋषभ दान करने का उपदेश ।

ब्राह्मणेभ्यं ऋषभं दत्त्वा वरीयः कृणुते मनः ।
पुष्टिं सो अघ्न्यानां स्वे गोष्ठेवं पश्यते ॥ १९ ॥

भा०—यजमान पुरुष (ब्राह्मणेभ्यः) ब्रह्म को जानने हारे विद्वान् पुरुषों को उस प्रजापति के प्रतिनिधि भूत इस गोपति (ऋषभम्) वृषभ का (दत्त्वा) दान देकर भी अपने (मनः) चित्त को (वरीयः) विशाल (कृणुते) कर लेता है । और (सः) वही (स्वे गोष्ठे) अपने गोशाला में (अघ्न्यानां) गौवों की (पुष्टिं) वृद्धि ही (अव पश्यते) पाता है ।

गावः सन्तु प्रजाः सन्त्वथो अस्तु तनू बलम् ।
तत् सर्वमनु मन्यन्तां देवा ऋषभदायिने ॥ २० ॥

भा०—(गावः सन्तु) हमारे पास गौवें हों, (प्रजाः सन्तु) प्रजा, सन्तानें हों, (अथो) और (तनू बलम् अस्तु) शरीर में बल हो । (देवाः) विद्वान् हितकारी लोग (ऋषभदायिने) महा वृषभ का दान करने वाले के लिये (तत् सर्वम्) गौ, प्रजा और बल सब को प्राप्त करने के लिये (अनु-मन्यन्ताम्) अनुमति दें, उनको प्राप्त करने का आशीर्वाद दें और उसके उपाय दर्शावें ।

अयं पिपान इन्द्र इद् रयिं दधातु चेतनीम् ।

१९–(प्र०) 'ब्राह्मणाय वृषभं' (च०) 'गोष्ठे विपश्यतु' इति पैप्प० सं० ।
२०–(तृ०) 'सर्वं तदनु' इति पैप्प० सं० ।

अयं धेनुं सुदुघां नित्यवत्सां वशं दुहां विपश्चितं परो दिवः ॥ २१ ॥

भा०—(अयम्) यह (पिपानः) अति विशाल काय महावृषभ (इन्द्र इव) साक्षात् इन्द्र ही है । वह हमें (चेतनीम्) चेतना-सम्पन्न, जीती जागती (रयिम्) सम्पत्ति पशुधन और अन्न धन और चेतना और प्राणसम्पत्ति का (दधातु) प्रदान करे । (अयम्) वह (नित्यवत्साम्) नित्य मनो रूप वत्स सहित (सुदुघाम्) उत्तम आनन्द रस देने वाले, सुख से दोहने योग्य (धेनुं) चिति शक्ति रूप गौ को और (वशम्) वशी, जितेन्द्रिय (विपश्चितम्) मेधावी पुरुष को पूर्ण करे ।

पिशङ्गरूपो नभसो वयोधा ऐन्द्रः शुष्मो विश्वरूपो न आगन् ।
आयुरस्मभ्यं दधत् प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सचताम् ॥ २२ ॥

भा०—वह महावृषभ रूप महान् परमात्मा (ऐन्द्रः) साक्षात् स्वयं इन्द्र ऐश्वर्यवान्, परमेश्वर (शुष्मः) शक्तिमान् (विश्वरूपः) समस्त जगत् में व्यापक (नभसः) महान् आकाश के (वयोधाः) गति-शील आकाशी तारों, सूर्यों को धारण करने वाला (पिशङ्गरूपः) अग्नि के समान तेजोमय, परम भास्वरस्वरूप (अस्मभ्यम्) हमें (आयुः) आयु (दधत्) प्रदान करे और (प्रजां च) प्रजा (रायश्च) नाना सम्पत्तियां और (पोषैः) पुष्टिकारक पदार्थों सहित (नः) हमें (अभि सचताम्) प्राप्त हो । सांड के पक्ष में—पीला बैल (इन्द्रः) इन्द्र ईश्वर के नाम पर (शुष्मः) बलवान् हमें प्राप्त हो । वह हमें प्रजा धन पुष्टि-कारक अन्न आदि प्रदान करे ।

उपेहोपपर्चनास्मिन् गोष्ठ उप पृञ्च नः ।

२१–(प्र० द्वि०) 'अयं पिपाना इन्द्रियं गयं बिभर्त्ति तेजनी ।' (च०) विप-श्यतं परोदिवः' इति पैप्प० सं० ।

उपं ऋषभस्य यद् रेत उपेन्द्र तव वीर्यम् ॥ २३ ॥

ऋ० ६ । २८ । ८ ॥

भा०—जिस प्रकार पशुशाला में गोपाल चाहता है कि सांड गोशाला में आकर गौओं को गर्भित करे उसी प्रकार हे (उपपर्चन) अति समीप हम से अनन्यभाव से सम्पृक्त सदा के संगी परमात्मन्! (इह) इस अन्तःकरण में (उपं) तुम सदा निवास करते हो (अस्मिन्) इस (गोष्ठे) गौ इन्द्रियों के स्थिति स्थान, देह या अन्तःकरण में (नः) हमें सदा (उप पृञ्च) प्राप्त हो। (ऋषभस्य) उस व्यापक महा वृषभ और इस वृषभ सांड का (यत्) जो भी (रेतः) तेज या वीर्य उत्पादन सामर्थ्य है हे (इन्द्र) परमेश्वर (उप) साक्षात् वह (तव वीर्यम्) तेरा ही बल है।

एतं वो युवानं प्रति दध्मो अत्र तेन क्रीडन्तीश्चरत वशाँ अनु।
मा नो हासिष्ट जनुषा सुभागा रायश्च पोषैरभि वः सचध्वम् २४॥१०

भा०—इस उपरोक्त पवित्र भावना से प्रजा के हित के लिये वृषभ का उत्सर्ग हो। और (एतम्) इस (युवानम्) जवान, हट्टे कट्टे सांड को (प्रति दध्मः) प्रत्येक के हित के लिये रखते हैं। (अत्र) इस लोक में हे गौओ! (वशान् अनु) तुम अपनी इच्छाओं के अनुसार (तेन) उस सांड के साथ (क्रीडन्तीः) क्रीड़ा करती हुई (चरत) विचरो, विहार करो। हे (सुभागाः) सौभाग्य युक्त गौओ! आप (जनुषा) पुत्रोत्पादन या सन्तानोत्पादन के कार्य से (नः) हमें (मा विहासिष्ट)

२३-(द्वि०) 'गोष्ठो ऋषभः' इति ह्विटनिकामितः पाठः॥ "उपेदमुपपर्चनमासु गोषूपपृच्यताम्। उप ऋषभस्य रतस्युपेन्द्र तव वीर्ये" इति ऋ०।

२४-(प्र०) एतं युवानं परिवोददामि (द्वि०) 'चरत प्रियेण', (तृ०) 'मानोहास' । (च०) 'रायः पोषेण समिषामदेम' इति तै० सं०।

त्याग कभी मत करो और इस बच्चों को जनों और हमारी सम्पत्ति बढ़ाओ। और (रायः च) बहुत से धन धान्य हमें (पोषैः) पुष्टिकारक दूध, घी, अन्न आदि पदार्थों सहित (नः सचन्ताम्) हमें प्राप्त हों।

इस सूक्त में वेद ने सांड की महिमा के साथ ईश्वर की महिमा का वर्णन किया और उसके समान उसका प्रतिनिधि सांड को बतला कर महावृषके उत्सर्ग करके पशु धन धान्य आदि प्राप्त करने का उपदेश किया है।

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

[तत्र द्वे सूक्ते, ऋचश्च पञ्च पञ्चाशत्]



[५] अज के दृष्टान्त से पञ्चौदन आत्मा का वर्णन।

भृगुर्ऋषिः । अजः पञ्चौदनो देवता । १, २, ५, ६, १२, १३, १५, १६, २५, त्रिष्टुभः, ३ चतुष्पात् पुरोऽति शक्वरी जगती, ४, १० जगत्यौ, १४, १७, २७, ३०, अनुष्टुभः, २० ककुम्मती, २३ पुर उष्णिक्, १६ त्रिपाद् अनुष्टुप्, १८, ३७ त्रिपाद विराड् गायत्री, २४ पञ्चपदाऽनुष्टुबुष्णिग्गर्भोपरिष्टाद्बार्हता विराड् जगती २०-२२, २६ पञ्चपदाउष्णिग् गर्भोपरिष्टाद्बार्हता भुरिजः, ३१ सप्तपदा अष्टिः, ३३-३५ दशपदाः प्रकृतयः, ३६ दशपदा प्रकृतिः, ३८ एकावसाना द्विपदा साम्नी त्रिष्टुप्, अष्टात्रिंशदर्चं सूक्तम् ॥

आ नयैतमा रभस्व सुकृतां लोकमपि गच्छतु प्रजानन्।
तीर्त्वा तमांसि बहुधा महान्त्यजो नाकमा क्रमतां तृतीयम् ॥१॥

भा०—हे पुरुष ! (आनय) इस जीवात्मा को वश करके सन्मार्ग पर ले चल। (एतम् आरभस्व) इस व्रत, वानप्रस्थ को आरम्भ कर। तेरा आत्मा (सुकृताम्) पुण्य करने हारे महा पुरुषों के (लोकम् अपि)

[५] १-(तृ०) बहुधा विपश्यन्' इति पैप्प० सं०।

लोक को भी (प्रजानन्) उत्कृष्ट, ज्ञान सम्पन्न होकर (गच्छतु) प्राप्त हो। और वह आत्मा (बहुधा) बहुत तरह के (महान्ति) बड़े बड़े (तमांसि) अज्ञानों को, शोक, मोह, लोभ, काम, क्रोध आदि को (तीर्त्वा) पार करके (अजः) स्वयं अपने को अजन्मा, नित्य जान कर (तृतीयम्) तृतीय, तीर्णतम, इन सब विघ्न बाधाओं से बहुत परे स्थित (नाकम्) सुखमय मोक्षधाम में भी (आक्रमताम्) जाय।

'उभे तीर्त्वा अशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके।' क० उप० १। १२॥ 'महान्ति तमांसि'—बड़े भारी अन्धकारमय मृत्यु के पास, जैसे—स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्ग लोके।' कठ० उप १। १८॥

'नाकम्'—स्वर्गो वै लोको नाकः। श० ६।३।३।१४॥ तम् (त्रय-स्त्रिंशं स्तोमं) उ नाकमित्याहुः। नहि प्रजापतिः कस्मैचन अकम्। तां० १०।१।१८॥ नहि तत्र जग्मुषे कस्मै च न अकं भवति। तां० २१।८।४॥नाकः स्वर्ग लोक है। वह ही ३३ वां देव प्रजापति स्वयं है। प्रजापति किसी के दुःख का कारण नहीं है। उस 'नाक' प्रजापति प्रभु के पास जाने वाले किसी को दुःख नहीं होता। 'तमांसि'—मृत्युर्वै तमः। श० ५।३।२।२॥ 'पाप्मा-वै तमः' श० १२।९।२।८॥ पं० शंकर पाण्डुरंग ने इस सूक्त का विनियोग पञ्चौदन सव में बकरे को बलि करने, मारने उसको मार कर स्वर्ग पहुँचाने के निमित्त किया है।

इन्द्राय भागं परि त्वा नयाम्यस्मिन् यज्ञे यजमानाय सूरिम्।
ये नो द्विषन्त्यनु तान् रभस्वानागसो यजमानस्य वीराः॥ २॥

भा०—(अस्मिन्) इस (यज्ञे) यज्ञ में (त्वाम्) तुझ (सूरिम्) पाप आदि दोषों को तप से नष्ट कर देने वाले विद्वान् तपस्वी (भागम्)

२—(प्र०) 'इन्द्राय भागं शमिता कृणोतु यज्ञ यज्ञपतिश्चसूरिः। (च०) अरिष्टा वीरा यजमानश्च सर्वे। इति पैप्प० सं०।

ईश्वर का सेवन करने वाले पुरुष को (इन्द्राय) ऐश्वर्यशील (यजमानाय) समस्त यज्ञसम्पादन करने वाले के लिये (परि नयामि) प्रस्तुत करता हूँ। हे तपोनिष्ठ आत्मन् ! (नः) हमें (ये) जो (द्विषन्ति) द्वेष भी करते हों तू (तान्) उन को भी (अनु रभस्व) अनुकूल होकर, तू उन्हें प्राप्त कर, उनके भी समीप जा। जिससे (यजमानस्य) सब को संगति कराने वाले परमेश्वर के (वीराः) पुत्र सभी (अनागसः) पाप रहित, निरपराध हों।

प्र पदोऽवं नेनिग्धि दुश्चरितं यच्चचार शुद्धैः शफैरा क्रमतां प्रजानन्।
तीर्त्वा तमांसि बहुधा विपश्यन्नजो नाकमा क्रमतां तृतीयम् ॥३॥

भा०—हे पुरुष ! (पदः) चरणों को (प्र अव नेनिग्धि) भली प्रकार धो डाल अर्थात् (यत् दुश्चरितं चचार) जो तूने दुष्ट आचरण किया है उसे धो डाल। फिर (शुद्धैः) शुद्ध निर्मल (शफैः) आचरणों से (अजः) अजन्मा, आत्मा (प्रजानन्) ज्ञानवान् होकर (आक्रमताम्) आगे बढ़े। और फिर (बहुधा) बहुत से (तमांसि) पापों और मृत्यु के शोक आदि अन्धकारों को (तीर्त्वा) पार करके (विपश्यन्) विशेष रूप से ब्रह्म का दर्शन करता हुआ विवेकी होकर (अजः) अज, आत्मा (तृतीयम्) शोक मोह आदि से पार स्थित (नाकम्) आनन्दमय परम मोक्ष पद को (अक्रमताम्) प्राप्त हो।

अनु च्छ्य श्यामेन त्वचमेतां विशस्तर्यथापर्व॑सिना माभि मंस्थाः।
माभि द्रुहः परुशः कल्पयैनं तृतीये नाके अधि वि श्रयैनम् ॥४॥

भा०—हे (वि-शस्तः) विशेष रूप से ब्रह्म के उपदेश करने हारे

३–(तृ०, च०) 'ते ज्योतिष्मन्तः सुकृतामल्लोकमीप्सन् तृतीये नाकेऽधि-विक्रमस्व' इति पैप्प० सं०।

४–(च०) 'सुकृतां मध्ये अधि विश्रयेमम्' इति पैप्प० सं०।

गुरो ! पुरुष ! अथवा अपने कर्म बन्धनों को काटने में उद्यत ! (एताम्) इस (त्वचम्) आत्मा को ढकने वाली आवरण रूप तामस अविद्यारूप त्वचा को (श्यामेन) ज्ञानमय (असिना) सत् प्रकाश से (यथा-परु) यथाशक्ति (अनुच्छ्य) काट डाल । उतने पर भी स्वयं निष्पाप निर्बन्ध, मुक्त होकर लोकलोकान्तरों में स्वतन्त्र होकर विचरने का अधिकारी होने या उच्च पद प्राप्ति के लिये (मा अभि मंस्थाः) अभिमान मत कर । और (मा अभिद्रुहः) किसी से द्रोह या द्वेष मत कर । प्रत्युत (एनम्) इस आत्मा के (परूंषि) प्रत्येक अंग को प्रत्येक पर्व या शक्ति के भाग को (कल्पय) साधननिष्ठ एवं समर्थ, शक्तिमान् बना । और तब (एनम्) इसको (तृतीये) सब दुःखों से पार स्थित (नाके) परम सुखमय पद में (अधि विश्रय) स्थापित कर ।

ऋचा कुम्भीमध्यग्नौ श्रयाम्या सिञ्चोदकमव धेह्येनम् ।
पर्याधत्ताग्निना शमितारः शृतो गच्छतु सुकृतां यत्र लोकः ॥५॥

भा०—(अग्नौ) जिस प्रकार अग्नि पर (कुम्भीम्) देगची रख कर उसे तपाया जाता है उस प्रकार मैं ज्ञान का पिपासु और मुमुक्षु (ऋचा) ज्ञान की अग्नि द्वारा अपने आप को (अग्नौ) ज्ञानाग्निमय परमात्मा या गुरु के ऊपर रख उस को (अधि श्रयामि) परिपाक करता हूं । हे गुरो ! परम ब्रह्मन् ! (उदकम्) जिस प्रकार तपी हांडी में जल डाला जाता है उसी प्रकार मुझ परितप्त, तपस्वी जिज्ञासु में ज्ञानरूप या 'उत्-अक' उत्तमगति या परम सुख प्राप्ति के उपायभूत ब्रह्मोपदेश को (आसिञ्च) प्रदान कर मुझ में प्रवाहित कर । गुरु इस प्रकार जिज्ञासु के तप से प्रसन्न होकर योग्य पात्र जान कर प्रेम से ब्रह्मचारी, तपस्वी और जितेन्द्रिय, शान्तचित्त के प्रति उपदेश करे । हे प्रिय तपस्विन् !

५–(प्र०) भूम्यां भूमिम् अधि धारया आसिञ्चोदकमभिधेह्येनं इति पैप्प० सं० ।

(एनम्) उस पूर्वोक्त आत्मा का (अवधेहि) सावधान होकर जानकर "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च ।" "तद् विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म" इत्यादि उप० । इस प्रकार जब एक गुरु से ज्ञान प्राप्त करे तब 'तीर्थात् तीर्थान्तरं व्रजेत्' इस न्याय से क्रम से बहुत से ब्रह्म-ज्ञानियों से ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करे। उनसे कहे—हे (शमितारः) शम दमादि गुणों से सम्पन्न गुरुजनो ! (अग्निना) उस ज्ञानमय ब्रह्म से या प्रकाश स्वरूप ब्रह्मज्ञान से (पर्याधत्त) मुझे युक्त करो, मुझ में ब्रह्माग्नि का स्थापन करो । इस प्रकार (शृतः) तपस्या में परिपक्व होकर तपस्वी पुरुष (यत्र) जहां (सुकृताम्) उत्तम ब्रह्मज्ञानी, कृतकृत्य तपस्वी महात्माओं का (लोकः) निवास हो वहां ही (गच्छतु) जावे और उनसे ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करे ।

उत्क्रा॒मात॒: परि॑ चेद॒तप्त॑स्त॒प्ताच्च॒रोरधि॒ नाकं॑ तृ॒तीय॑म् ।
अ॒ग्नेर॒ग्निरधि॒ सं ब॑भूविथ॒ ज्योति॑ष्मन्तम॒भि लो॒कं ज॑यै॒तम् ॥६॥

भा०—हे मुमुक्षो ! इस प्रकार ज्ञानवान् होकर (अतः परि च इत) इस लोक से (उत् क्राम) उत्तम लोक को प्राप्त हो । यदि तैंने (अतप्तः) पर्याप्त तप न कर लिया हो तो (तप्तात् चरोः) जिस प्रकार तपे हांडी से जल तप्त होकर ऊपर वाष्पमय होकर उठता है उसी प्रकार तू भी (तप्तात् चरोः) तपस्या के आचरण से (तृतीयं) उस परम, सब दुःखों के पार (नाकम्) सुखमय मुक्तिधाम को प्राप्त हो। तू (अग्नेः अधि) ज्ञानवान, प्रकाशस्वरूप परम गुरु ब्रह्म से ज्ञान प्राप्त करके स्वयं (अग्निः) ज्ञानवान् प्रकाशस्वरूप (सं बभूविथ) हो जा। और (एतम्) उस (ज्योतिष्मन्तम्) ज्योतिर्मय लोक को (अभिजय) साक्षात् प्राप्त कर ।

६—'परिचेद तप्तास्त पृरुच्च' इति ह्विटनिसम्मतः पाठः । 'अतप्ताः' इति पाठः ह्विटनि प्राप्तदर्शेषु प्रायिकः । (च०) 'ज्योतिष्मो च सुकृतां यत्र लोकः' इति पैप्प० सं० ।

अज के स्वरूप का वर्णन

अजो अग्निरजमु ज्योतिराहुरजं जीवता ब्रह्मणे देयमाहुः ।
अजस्तमांस्यप हन्ति दूरमस्मिँल्लोके श्रद्दधानेन दत्तः ॥ ७ ॥

भा०—(अजः अग्निः) 'अज' आत्मा स्वयं अग्नि, प्रकाशस्वरूप है । (अजम् उ ज्योतिः आहुः) अज, अजन्मा आत्मा को ब्रह्मज्ञानी लोग 'ज्योति' के नाम से पुकारते हैं । (जीवता) प्राणधारी विद्वान को अपने जीवन काल में (ब्रह्मणे) उस परब्रह्म के भेंट (अजम्) इस अजन्मा आत्मा को ही (देयम्) समर्पण करने योग्य उपहार (आहुः) विद्वान् लोग बतलाते हैं । (अस्मिन् लोके) इस लोक में (श्रद्धधानेन) श्रद्धा करने हारे, सत्य धारण में समर्थ जिज्ञासु द्वारा (दत्तः) समर्पित किया हुआ (अजः) यह आत्मा ही (तमांसि) सब अज्ञान अन्धकारों को (दूरम्) दूर (अप हन्ति) मार भगाता है ।

पञ्चौदनः पञ्चधा वि क्रमतामाक्रंस्यमानस्त्रीणि ज्योतींषि ।
ईजानानां सुकृतां प्रेहि मध्यं तृतीये नाके अधि वि श्रयस्व ॥८॥

भा०—(पञ्चौदनः) यह पुरुष पांच ओदनों, पांच वीर्यों, पांच प्राणों से युक्त होकर (त्रीणि ज्योतींषि) तीनों ज्योतियों को (आक्रंस्यमानः) प्राप्त करने की अभिलाषा वाला मुमुक्षु (पञ्चधा) पांचों प्राणों से (वि क्रमताम्) उद्योग करे । हे साधक मुमुक्षो ! तू (ईजानानां) प्राणाग्नि होत्र के यज्ञ करने हारे, ईश्वर संगति के साधक (सुकृताम्) उत्तम पुण्यात्मा, सुचरित्र, निष्ठ, कृतकृत्य विद्वानों के (मध्यम्) बीच में (प्रेहि) जा, उन में निवास कर और तब उन से ज्ञान प्राप्त करके (तृतीये नाके) तीर्णतम, परले पार के परमोक्ष धाम में (अधि वि श्रयस्व) प्राप्त होजा ।

७–(प्र०) 'अजमेवाग्निम्', 'ब्रह्मणे जीवता' इति पैप्प० सं० ।

'पञ्चौदनः'—यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥ कठ उप० ६।१०॥

ये पांच इन्द्रियों के पञ्च ज्ञानसामर्थ्य ओदन हैं। ये भोग्य होने से खाद्य पदार्थ के तुल्य हैं । उनको तपस्या से परिपक्व करले जिनसे ये विषयों में न भागें । वे पांचों जब मन के साथ निगृहीत हों और बुद्धि भी विपरीत मार्ग में न जाए वही परम गति की प्राप्ति है ।

'त्रीणि ज्योतींषि'—तीन ज्योतियां, अग्नि, विद्युत् और सूर्य तथा अध्यात्म में आत्मा इन्द्रिय और मन । उपनिषत् की परिभाषा में, प्राण अपान और व्यान ।

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति अपानं प्रत्यगस्यति । मध्ये वामनमासीनम् विश्वेदेवा उपासते। क०५ ३॥ 'त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी' । प्रश्न०उप०। 'पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः' इत्यादि उपनिषद् वाक्य पञ्चौदन और तीन ज्योतियों की व्याख्या करते हैं ।

अजा रो॑ह सु॒कृतां॒ यत्र॑ लो॒कः श॑र॒भो न च॒त्तोऽति॑ दु॒र्गाण्येषः॑ ।
पञ्चौ॑दनो ब्र॒ह्मणे॑ दी॒यमा॑नः॒ स दा॒तारं॑ तृ॒प्त्या त॑र्पयाति ॥ ९ ॥

भा०—हे (अज) अजन्मा आत्मन् ! तू यह जन्म मरण वाला देह नहीं । तू अमृत और अजन्मा आत्मा है । अतः हे अज ! (यत्र) जहाँ (सुकृताम्) पुण्यात्मा, जीवन्मुक्त लोगों का (लोकः) निवास है तू उस उत्तम लोक को (आरोह) पहुँच जा । (एषः) यह आत्मा (शरभः न) व्याघ्र के समान (चत्तः) अति आह्लादित होकर (दुर्गाणि) दुःख से जाने योग्य दुर्गम भववन्धनों को (अति) पार कर जाता है । (पञ्चौ-

७—(च०) 'ज्योतिष्मान्माभिलोकं जयासम्' इति पैप्प० सं० ।

९—(प्र०) 'अजा क्रमस्व' । (द्वि०) 'शलभो' । (च०) 'धातारं' इति पैप्प० सं० ।

दनः) पूर्वोक्त पांचों प्राणों सहित यह आत्मा जब (ब्रह्मणे) ब्रह्म के निमित्त (दीयमानः) समर्पित कर दिया जाता है (सः) वह समर्पित आत्मा ही (दातारम्) अपने समर्पक पुरुष को (तृप्त्या तर्पयाति) परम आनन्द से पूर्ण काम कर देता है।

संप्राप्यैनं ऋषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः। मुण्डक ३।५॥ मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ॥ गीता० १८।५०॥

अजस्त्रिनाके त्रिदिवे त्रिपृष्ठे नाकस्य पृष्ठे ददिवांसं दधाति ।
पञ्चौदनो ब्रह्मणे दीयमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघास्येका॥१०(११)

भा०—वह (अजः) अज, परमात्मा (ददिवांसम्) अपने को आत्म-समर्पण करने हारे मुमुक्षु को (त्रिनाके) आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों प्रकार के दुःखों से रहित, (त्रिदिवे) तीनों ज्योतियों से पूर्ण, (त्रिपृष्ठे) तीनों प्रकार के रस, आनन्द से सम्पन्न (नाकस्य पृष्ठे) स्वर्गमय परम पद के पीठ पर (दधाति) ले जाता है। ठीक भी है! (ब्रह्मणे दीयमानः पञ्चौदनः) ब्रह्म में समर्पित किया पञ्च प्राण, पञ्च ज्ञान सामर्थ्यों से युक्त आत्मा (विश्वरूपा) 'विश्वरूपा' सब प्रकार के रस देने हारी (धेनुः) गाय है। आः! तू आत्मा के भीतर आनन्द धारा के बहाने वाली अमृत रस के पिलाने वाली, तू सच मुच (एका) एकमात्र (कामदुघा असि) साक्षात् समस्त अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाली कामधेनु है।

एतद् वो ज्योतिः पितरस्तृतीयं पञ्चौदनं ब्रह्मणेजं ददाति ।
अजस्तमांस्यप हन्ति दूरमस्मिँल्लोके श्रद्दधानेन दत्तः ॥ ११ ॥

भा०—हे (पितरः) जीवन के पालक पितृगण! प्राणो! (एतत्)

१०–(द्वि०) 'सुकृतां लोके ददि' (च०) 'विश्वरूपा कामदुघास्येका इति पैप्प० सं०।

यह अज रूप (वः) तुम्हारा (तृतीयम्) परम जो पुरुष (ब्रह्मणे) परम ब्रह्म को अपना (पञ्चौदनम्) पूर्वोक्त पांच ओदन रूप पांचों इन्द्रियों और उनके विषयों सहित अपने (अजम्) अजन्मा आत्मा को (ददाति) समर्पित कर देता है ऐसा (श्रद्धधानेन) श्रद्धा सम्पन्न मुमुक्षु द्वारा (दत्तः) समर्पित वह आत्मा (अजः) अजन्मा चेतन (अस्मिन् लोके) इस लोक में ही, इस जीवन काल में ही (तमांसि) समस्त पापों को, मृत्यु के बन्धनों को (दूरम् अपहन्ति) दूर कर देता है ।

अहंकारम् बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ गीता० १८।५३॥

गीता का ब्रह्म में आत्मसमर्पण का सिद्धान्त अथर्ववेद के इसी सूक्त पर आश्रित है ।

ईजानानां सुकृतां लोकमीप्सन् पञ्चौदनं ब्रह्मणेऽजं ददाति ।
स व्याप्तिमभि लोकं जयैतं शिवोऽस्मभ्यं प्रतिगृहीतो अस्तु॥१२॥

भा० - जो पुरुष (ईजानानाम्) अध्यात्म यज्ञशील (सुकृताम्) शुभ कर्मकारी पुण्यात्माओं के (लोकम् ईप्सन्) लोक को प्राप्त करने की इच्छा करता हुआ अपने (पञ्चौदनं अजम्) पञ्चौदन अज आत्मा को (ब्रह्मणे) ब्रह्म परमात्मा में (ददाति) समर्पित कर देता है (सः) वह (एनम्) इस (लोकम्) लोक को (व्याप्तिम्) व्याप्त करके (अभिजय) साक्षात् करले । वह (प्रतिगृहीतः) ब्रह्मद्वारा स्वीकृत होकर ब्रह्म भाव को प्राप्त होकर भी (अस्मभ्यम्) हम जैसे सामान्य लोगों के लिये (शिवः अस्तु) कल्याणकारी हो जाता है ।

भक्त्या माम् अभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ गीता १८।५५॥

१२-(प्र०) 'अज्योतिष्मन्तं सुकृतां लोकमी०' (तृ० च०) स व्योपोनेनो अभिलोक जयास्मे शिवोऽस्मभ्य प्रतिगृह्यतेऽधि' इति पैप्प० सं० ।

अजो ह्य१ग्नेरजनिष्ट शोकाद् विप्रो विप्रस्य सहसो विपश्चित् ।
इष्टं पूर्तमभिपूर्तं वषट्कृतं तद् देवा ऋतुशः कल्पयन्तु ॥ १३ ॥

भा०—(अजः) अज, आत्मा (विप्रः) मेधावी, पूर्णकाम (सहसः) उस बलशाली परमात्मा से (विपश्चित्) समस्त ज्ञान और कर्मों का संग्रह करने हारा होकर (अग्नेः) उस प्रकाशस्वरूप (विप्रस्य) परम मेधावी परमात्मा के (शोकात्) प्रकाश से (अजनिष्ट) प्रकाशित होता है। इसलिये इस पद को प्राप्त होने के लिये हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! आप लोग अपनी आत्मा की उन्नति के लिये (इष्टम्) यज्ञ, याग (पूर्तम्) प्रजा के पालनार्थ परोपकार के कार्यों (अभिपूर्तम्) आत्माके पालनार्थ सत्य भाषणादि कार्य और (वषट् कृतम्) स्वाहाकार आदि यज्ञों को (ऋतुशः) ठीक २ ऋतुओं के अनुसार (कल्पयन्तु) किया करो। इससे प्रजा में सुख शान्ति होकर ध्यान, तप आदि करने का उत्तम अवसर प्राप्त होगा।

अमोतं वासो दद्याद्धिरण्यमपि दक्षिणाम् ।
तथा लोकान्त्समाप्नोति ये दिव्या ये च पार्थिवाः ॥ १४ ॥

भा०—ब्रह्मज्ञानी अपने उपदेश करनेवाले गुरुको (अमा उतम्) अपने घर में बिना हुआ (वस्त्रः) वस्त्र (दधातु) देवे और (हिरण्यम् अपि) सुवर्ण भी (दक्षिणाम्) दक्षिणा के रूप में दे। अर्थात् ब्रह्मज्ञानी अपने आप से प्राप्त किया आच्छादन यह शरीर और हिरण्य रूप आत्मा दोनों को गुरु-दक्षिणा रूप में परमात्मा के अर्पण करदे। (तथा) उस प्रकार से (ये दिव्याः ये च पार्थिवाः) जो दिव्य और इस पृथिवी के लोक हैं उन (लोकान्) समस्त लोकों को (सम् आप्नोति) प्राप्त हो जाता है।

१३–(द्वि०) इष्टं गूर्तमभिगूर्तम्' इति लड्विग्कामेतः पाठः । (द्वि०) 'सहसोवयोधा', (तृ०) 'पूर्तमिष्टमभि' इति पैप्प० स० ।

एतास्त्वाजोप यन्तु धाराः सोम्या देवीर्घृतपृष्ठा मधुश्चुतः ।
स्तभान पृथिवीमुत द्यां नाकस्य पृष्ठेऽधि सप्तरश्मौ ॥ १५ ॥

भा०—हे (अज) अजन्मा, आत्मन् ! (एताः) ये (सोम्याः) सोम परमात्मा की (देवीः) कमनीय, (घृतपृष्ठाः) प्रकाशस्वरूप (मधुश्चुतः) मधु, आनन्द रस को बहाने वाली (धाराः) धारण शक्तियां या आनन्दरस की धाराएं (त्वा उपयन्तु) तुझे प्राप्त हों । वह परमात्मा (नाकस्य पृष्ठे) स्वर्गमय परमधाम में विराजमान (सप्तरश्मौ) सात इन्द्रियों से युक्त या सर्पणशील व्यापक रश्मियों, आकर्षण शक्तियों से युक्त सूर्य के भी (अधि) ऊपर अधिष्ठातास्वरूप होकर (पृथिवीम् उत द्याम्) पृथिवी और महान् आकाश को (स्तभान) थाम रहा है ।

अजोऽस्यज स्वर्गोऽसि त्वया लोकमङ्गिरसः प्राजानन् ।
तं लोकं पुण्यं प्र ज्ञेषम् ॥ १६ ॥

भा०—हे आत्मन् ! (अजः असि) तू अजन्मा है । हे (अज) अजन्मन् ! आत्मन् ! तू (स्वर्गः असि) स्वय स्वर्ग अर्थात् स्वः=परम तेजोमय परमात्मपद तक प्राप्त होने में समर्थ है । (त्वया) तेरी साधना से (अङ्गिरसः) ज्ञानी पुरुष (लोकम्) परम 'लोक' नाम से विख्यात परमेश्वर का (प्राजानन्) ज्ञान करते हैं । (तम्) उस परम (लोकम्) सब के साक्षी, सर्वद्रष्टा, सब के प्राप्त करने योग्य परमात्मा को मैं मुमुक्षु जन (पुण्यम्) पुण्य, परम पवित्र पद ही (प्र ज्ञेषम्) जानता हूं ।

येना सहस्रं वहसि येनाग्ने सर्ववेदसम् ।

१५–(प्र०) एतास्त्वा दधाराच्छ्रमयन्ति विश्वतः सोम्यं, (तृ० च०) स्तभान पृथिवीं दिव सदस्व नाके तिष्ठस्यधि सप्तरश्मौ' । इति पैप्प० सं० ।

१६–(तृ०) 'तं लोकमनुप्रज्ञेष्म' इति पैप्प० सं० । तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना । इति यजु० २० । २५ तृ० च० ॥

तेनेमं यज्ञं नो वह स्व/र्देवेषु गन्तवे ॥१७॥ यजु० २१।५५॥

भा०—हे परमात्मन् ! (येन) जिस बल और सामर्थ्य से तू (सहस्रम्) इस समस्त संसार को (वहसि) धारण करता और हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप गुरो ! परमात्मन् ! (येन) जिस बल से तू (सर्वं वेदसम् वहसि) समस्त ज्ञान को धारण करता है (तेन) उस बल से (नः) हमारे (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञ रूप आत्मा को (देवेषु) ज्ञानवान् मुक्त पुरुषों के बीच (स्वः) प्रकाशमय मोक्ष धाम (गन्तवे) प्राप्त करने के लिये (वह) लेजा।

अजः पक्वः स्वर्गे लोके दधाति पञ्चौदनो निर्ऋतिं बाधमानः ।
तेन लोकान्त्सूर्यवतो जयेम ॥ १८ ॥

भा०—(पञ्चौदनः) पञ्च प्राणों के सामर्थ्यों से सम्पन्न (पक्वः) परिपक्व ज्ञानी (अजः) अज, अन्मा आत्मा, अपने ज्ञानबल से (निर्ऋतिम्) अविद्या को (बाधमानः) नाश करता हुआ (स्वर्गे लोके) परम सुखमय लोक परमेश्वर में अपने को (दधाति) रखता है। हम (तेन) अज, आत्मा के सामर्थ्य से (सूर्यवतः) प्रकाशमय परब्रह्म से युक्त (लोकान्) लोकों को (जयेम) प्राप्त हों।

यं ब्राह्मणे निदधे यं च विक्षु या विप्रुष ओदनानामजस्य ।
सर्वं तदग्ने सुकृतस्य लोके जानीतान्नः संगमने पथीनाम् ॥१९॥

भा०—(यम्) जिस अज आत्मा को परमेश्वर ने (ब्राह्मणे)

१७–(प्र०) 'येन वहसि सहस्रं' (तृ०) 'यज्ञ नो नय' इति यजु० । (च०) 'देवयानो य उत्तमः' इति तै० सं० । (प्र०) "येन वा सहस्रं' इति पैप्प० सं० ।

१९–१. प्रुष, प्लुष स्नेहनसेचनपूरणेषु (क्र्यादिः) अथवा प्रुष प्लुषं दाहे (भ्वादिः) ।

ब्रह्मवेद के विद्वान् ब्रह्मज्ञानी में (निदधे) रक्खा है और (यं च) जिस आत्मा को उस प्रभु ने (विक्षु निदधे) सर्व साधारण प्रजाओं या प्राण-धारियों में रक्खा है। और (अजस्य) उस अजन्मा आत्मा के (ओदनानाम्) ओदन रूप प्राणों के (याः) जो (विप्रुषः[1]) विशेष स्नेहन, सेचन या पूरण करने वाले सामर्थ्य या शक्तियां या विविध प्रकार की दीप्तियां हैं हे (अग्ने) परमात्मन् ! (सर्वं तत्) उस सब को (सुकृतस्य लोके) पुण्य के उस परम मोक्षलोक में और (पथीनाम्) समस्त पन्थाओं, मार्गों या प्राणशक्तियों के (संगमने) एकत्र प्राप्ति से (नः) हमें (जानीतात्) प्राप्त करने की अनुमति देना। अर्थात् मोक्षधाम में भी ये सब सामर्थ्य हमारे पास रहें, जिससे मोक्ष के परम सुख का हम स्वतन्त्रता से रस ले सकें।

अज परमात्मा के विराट रूप का वर्णन

अजो वा इदमग्रे व्य॑क्रमत तस्योरं इयमभवद् द्यौः पृष्ठम् ।
अन्तरिक्षं मध्यं दिशः पार्श्वे समुद्रौ कुक्षी ॥ २० ॥ (२)

भा०—(अजः वा) निश्चय से अज अनादि अजन्मा परमात्मा ने (इदम्) इस संसार को (अग्रे) सब से प्रथम (व्यक्रमत) नाना प्रकार से रचा था और उस में स्वयं व्याप्त हो गया था। इसलिये संसार के भिन्न २ भागों की इस रूप से कल्पना की जाती है जैसे (तस्य) उस अजन्मा परमात्मा का (उरः) वक्षःस्थल (इयम्) वह पृथिवी (अभवत्) है। (द्यौः पृष्ठम्) द्यौः पीठ है। (अन्तरिक्षम् मध्यम्) अन्तरिक्ष मध्यभाग है। (दिशः पार्श्वे) दिशाएं पार्श्व भाग हैं। (समुद्रौ कुक्षी) समुद्र दोनों, जलसमुद्र और आकाश ये उसकी कोखें हैं।

२०,२१– 'अजः पञ्चौदनो व्यक्रामत, तस्योर इयमभवदुदरमन्तरिक्षम् । द्यौस्ते-पृष्ठं दिशः पार्श्वे । दिशश्चातिदिशश्च शृङ्गे सत्यं च ऋतं च चक्षुषी विश्व-रूपं श्रद्धा' इत्यादि पैप्प० सं०।

सत्यं चर्तं च चक्षुषी विश्वं सत्यं श्रद्धा प्राणो विराट् शिरः ।
एष वा अपरिमितो यज्ञो यदजः पञ्चौदनः ॥ २१ ॥

भा०—(सत्यं च ऋतं च चक्षुषी) सत्य, व्यक्त जगत् और ऋत, अव्यक्त ये दोनों उसकी चक्षुएं हैं। (विश्वं सत्यम्) यह विश्व सत्य अर्थात् उसका प्रकट देह है, (श्रद्धा प्राणः) श्रद्धा सत्य का धारण-बल प्राण है। (विराट् शिरः) विराट् शिरोभाग है। (यत्) और जो यह (पञ्चौदनः) पांच ओदनों वाला, पांच भूतों का पति, पांचों को प्रलय-काल में अपने भीतर भात के समान खा जाने वाला महान् (अजः) अजन्मा परमात्मा है (एष एव) वह ही (अपरिमितः) परिमाणरहित, अनन्त (यज्ञः) यज्ञ अर्थात् महान् आत्मा है। पूर्व मन्त्र और इस मन्त्र से विराट् रूप परमेश्वर में विश्व की स्थिति, छोटे रूप में पुरुष शरीर में विराट् की स्थिति और यज्ञमय प्रजापति तीनों का वर्णन समान पदों से कर दिया गया है।

अपरिमितमेव यज्ञमाप्नोत्यपरिमितं लोकमव रुन्द्धे ।
यो३जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ २२ ॥

भा०—(यः) जो पुरुष (दक्षिणाज्योतिषम्) दक्षिणा, शक्ति रूप ज्योति से युक्त (पञ्चौदनम्) पूर्वोक्त पञ्चौदन (अजम्) आत्मा का जो अपने शिष्यों को या जिज्ञासुओं को उपदेश करता या ब्रह्म को समर्पित कर कर देता है वह (अपरिमितं यज्ञम्) अपरिमित अनन्त यज्ञमय परमात्मा को (आप्नोति) प्राप्त होता है और (अपरिमितम् लोकम्) अपरिमित, अनन्त (लोकम्) लोक को (अवरुन्धे) वश करता है या अपरिमित प्रकाशमय परब्रह्म को ही प्राप्त होता है। इस के प्रतिनिधि लोक में कर्मकाण्ड में अज-बकरे को भी दान किया जाता है। उसी परमात्मा के स्वरूप को प्रत्येक प्राणी में स्मरण करके और उस में पञ्चौदन आत्मा को चेतन रूप से विद्यमान जान कर समस्त प्राणियों पर अनुग्रह करे।

नास्यास्थीनि भिन्द्यान्न मज्ज्ञो निर्धयेत् ।
सर्वमेनं समादायेदमिदं प्र वेशयेत् ॥ २३ ॥

भा०—प्रत्येक प्राणी में उसी चेतन अज आत्मा को जान कर बुद्धिमान पुरुष (अस्य) इस प्राणी के (अस्थीनि) हड्डियों को (न भिन्द्यात्) न तोड़े, (मज्ज्ञः) मज्जाओं को भी (न निः धयेत्) न पीले, प्रत्युत (सर्वम् एनं समादाय) उस सबको लेकर (इदम् इदम्) प्रत्येक प्राणि में उस आत्मा को साक्षात् रूप में (प्रवेशयेत्) व्याप्त जाने, वा उसको व्याप्त देखे, उसकी कल्पना करे ।

इदमिदमेवास्य रूपं भवति तेनैनं सं गमयति ।
इषं मह ऊर्जमस्मै दुहे योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥२४॥

भा०—(इदम् इदम्) 'यह, यह' प्रत्येक प्राणी (एव) ही (अस्य) इस आत्मा का (रूपम्) अभिव्यक्त प्रकट रूप (भवति) है । विद्वान् पुरुष (तेन) उस परम आत्मा से (एनम्) इस प्राणी को (सं गमयति) तुलना करके विचार करता है । (यः) जो पुरुष (दक्षिणाज्योतिषम्, पञ्चौदनं अजं ददाति) जो क्रियाशक्ति रूप चेतना से सम्पन्न पञ्च प्राणमय, अज, चेतन आत्मा को उस परमात्मा के भेट समर्पित कर देता है तब वह परमात्मा उसको (इषम्) अन्न, (महः) तेज और (ऊर्जम्) बल को (दुहे) भरपूर देता है ।

पञ्च रुक्मा पञ्च नवानि वस्त्रा पञ्चास्मै धेनवः कामदुघा भवन्ति ।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ २५ ॥

भा०—(यः अजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति) जो पुरुष

२३–(तृ०) 'सर्वाणि समादाय' इति पैप्प० सं० ।
२४–(तृ० च०) स्वधामूर्जं मचितं महोऽस्मै दुहे । य एवं विदुषेऽजं पञ्चौदनं ददाति ॥ इति पैप्प० सं० ।

दक्षिणाज्योतिःस्वरूप. पञ्चौदन अज को प्रदान कर देता है (अस्मै) उस पुरुष को (पञ्च रुक्मा) पांचों रुचिकर, सुवर्ण रूप पाँचों प्रकार के भोग्य पदार्थ, (पञ्च नवानि वस्त्रा) पांचों नये वस्त्र अर्थात् पाँचों कोश और (अस्मै) उस के लिये (पञ्च धेनवः) पांचों ज्ञानेन्द्रिय रूप धेनुएं (काम-दुघाः) यथेष्ट फल देने वाली कामधेनु के समान (भवन्ति) हो जाती हैं।

पञ्च रुक्मा ज्योतिरस्मै भवन्ति वर्म वासांसि तन्वे/भवन्ति ।
स्वर्गं लोकमश्नुते यो३जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥२६॥

भा०—(यः दक्षिणा ज्योतिषं पञ्चौदनं अजं ददाति) जो दक्षिणा ज्योतिष्, पञ्चौदन अज आत्मा का प्रदान करता है वह (स्वर्गं लोकं अश्नुते) स्वर्गलोक, परम मोक्षधाम का आनन्द प्राप्त करता है (अस्मै) उसको (पञ्च रुक्मा ज्योतिः) पांचों रोचमान इन्द्रियां (ज्योतिः) प्रकाशमय हो जाते हैं और (पञ्चवासांसि) और पांचों आच्छादक कोश उस के (वर्म) कवच (भवन्ति) हो जाते हैं।

या पूर्वं पतिं वित्त्वाथान्यं विन्दते परम् ।
पञ्चौदनं च तावजं ददातो न वि योषतः ॥ २७ ॥

भा०—(या) जो स्त्री (पूर्वं पतिं वित्वा) पूर्व पति को प्राप्त हो कर भी (अथ) बाद में पूर्व पति के वियोग होने पर (अपरम्) दूसरे (अन्य) उससे भिन्न पुरुष को (विन्दते) प्राप्त कर लेती है (च) और वे दोनों (पञ्चौदनम्) पांचों ओदन, पांचों भोग्य पदार्थ युक्त अपने (अजम्) अजन्मा, आत्मा को (ददातः) एक दूसरे को सौंप देते हैं तो वे (न वि योषतः) दोनों कभी वियुक्त नहीं होते ।

समानलोको भवति पुनर्भुवापरः पतिः ।

२७–(तृ०) 'तावजं पवतः' इति पैप्प० सं० ।

योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ २८ ॥

भा०—(यः) जो पुरुष (दक्षिणा ज्योतिषं पञ्चौदनम् अजं ददाति) दक्षिणाज्योतिष, पञ्चौदन अज को (ददाति) परस्पर समर्पित कर देता है वह (अपरः पतिः) दूसरा पति भी (पुनर्भुवा) पुनः विवाह करने हारी, द्वितीय पति को वरण करने वाली स्त्री के साथ (समानलोकः भवति) समान लोक, एक समान आत्मा होकर रहता है ।

अनुपूर्ववत्सां धेनुमनड्वाहमुपबर्हणम् ।
वासो हिरण्यं दत्त्वा ते यन्ति दिवमुत्तमाम् ॥ २९ ॥

भा०—(अनुपूर्व-वत्साम्) प्रति वर्ष क्रम से बछड़ा देने वाली, (धेनुम्) गाय, (अनड्वाहम्) शकट खैंचने में समर्थ बैल, (उपबर्हणम्) एक बड़ा तकिया, (वासः) वस्त्र और (हिरण्यम्) सुवर्ण का (दत्त्वा) दान देकर (ते) वे लोग (उत्तमाम्) उत्कृष्ट (दिवम्) प्रकाशमय मोक्ष पद को (यन्ति) प्राप्त होते हैं । धेनु आदि शब्द यहां सांकेतिक हैं जैसे धेनु—वाणी । उस का वत्स मन है । क्रम से मनोयोग सहित उच्चारण की गई वाणी अनुपूर्ववत्सा धेनु है । प्राण=अनड्वान् या बैल है । उपबर्हण=अन्न है । वासः=शरीर है, हिरण्य=आत्मा है ।

आत्मानं पितरं पुत्रं पौत्रं पितामहम् ।
जायां जनित्रीं मातरं ये प्रियास्तानुप ह्वये ॥ ३० ॥ (१३)

भा०—(आत्मानम्) आत्मा, अपने आपको, (पितरम्) पिता को, (पुत्रम्) पुत्र को, (पौत्रम्) पौत्र को, (पितामहं) पितामह को, (जायां) जाया को और (जनित्रीं मातरम्) उत्पन्न करने हारी माता को और (ये प्रियाः) जो मेरे प्रिय इष्ट बन्धु हैं (तान्) उन सब को मैं (उपह्वये) अपने पास बुलाऊँ और उनको उपदेश करूं ।

२८—(तृ० च०) 'योऽजं च पञ्चौदनं च ददत्' इति पैप्प० सं० ।

पञ्चौदन अज का रूपान्तर

यो वै नैदाघं नामर्तुं वेद । एष वै नैदाघो नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः ।
निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना ।
यो३जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ ३१ ॥

भा०—(यः अजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति) जो दक्षिणा ज्योतिष वाले, पञ्च ओदन वाले अज आत्मा को समर्पित करता है और (यः वै) जो निश्चय से (नैदाघं नाम ऋतुम्) निदाघ-ग्रीष्म नामक ऋतु के समान उस परमात्मा को जानता है और जानता है कि (यद् अजः पञ्चौदनः) जो पञ्चौदन अज है । एष वै (नैदाघः नाम ऋतुः) वह निदाघ नाम ऋतु ही है । अर्थात् जिस प्रकार ग्रीष्म काल का सूर्य सब को संतप्त करता है दक्षिण दिशा में सूर्य की ज्योति प्रखर हो जाती है और पांचों भूत संतप्त हो जाते हैं उसी प्रकार वह अज आत्मा भी दक्षिण दिशा में गये सूर्य के समान प्रखर तेज वाला पांचों इन्द्रियों का वशयिता और पांचों प्रजाजनों पर वशी हो जाता है । इस तत्व को जानने वाला पुरुष (आत्मना भवति) स्वयं उस प्रकार सामर्थ्यवान् हो जाता है और (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं निर्दहति) अपने अप्रिय शत्रु की लक्ष्मी को सर्वथा जला डालता है ।

यो वै कुर्वन्तं नामर्तुं वेद । कुर्वतींकुर्वतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते । एष वै कुर्वन्नामर्तुर्यदजः० । ० । ० ॥ ३२ ॥

भा०—इसी प्रकार (यः) जो पुरुष (कुर्वन्तं नाम ऋतुं वेद) 'कुर्वत्' करनेहारा—इस प्रकार क्रियाशील नाम ऋतु=प्राण को जानता है वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अपने अप्रिय शत्रु की (कुर्वतीं कुर्वतीम्) करनेहारी या क्रियाशील प्रत्येक (श्रियम्) श्री—लक्ष्मी को (आदत्ते) स्वयं हर लेता है (यद् अजः पञ्चौदनः) जो पञ्चौदन अज, पञ्चभूतों से

युक्त अजन्मा आत्मा है (एष एव कुर्वन् अजः) वही 'कुर्वन्' नामक ऋतु क्रियाशील तत्व, कर्त्ता है । उसी की साधना करनी चाहिये । शेष पूर्ववत् ।

यो वै संयन्तं नामर्तुं वेद॑ । संयतींसंयतीमेवाप्रियस्य भ्रातृ॑व्यस्य श्रियमा दत्ते । एष वै संयन्नाम० । ० । ० ॥ ३३ ॥

भा०—(यः वैः संयन्तं नाम ऋतुं वेद) जो पुरुष 'संयत्' नामक ऋतु अर्थात् प्राणदल को जानता है (अप्रियस्य भ्र तृव्यस्य) वह अपने अप्रिय शत्रु की (संयतींसंयतीम् एव) संयमनकारिणी दमन करने में समर्थ (श्रियम् आ दत्ते) लक्ष्मी को हर लेता है ।(एष वै संयत् नाम ऋतुः यद् अजः पञ्चौ- दनतः) जो पञ्चौदन अज आत्मा है वही यह 'संयत् नाम ऋतु है' अर्थात् वह आत्मा ही संयमन करने वाली शक्ति है । उसकी तत्व साधना करने वाला पुरुष अपने शत्रु की संयमन शक्ति पर वश कर लेता है । (निरेवा- प्रियस्य०) इत्यादि पूर्ववत् ।

यो वै पिन्वन्तं नामर्तुं वेद॑ । पिन्वतींपिन्वतीमेवाप्रियस्य भ्रातृ॑व्यस्य श्रियमा दत्ते । एष वै पिन्वन्नाम० । ० । ० ॥ ३४ ॥

भा०—(यः वै पिन्वन्तं नाम ऋतुं वेद) जो 'पिन्वत्' नाम ऋतु को जानता है वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अपने अप्रिय शत्रु की (पिन्वतीं पिन्वतीं श्रियम् एव) संतृप्त करनेहारी प्रत्येक लक्ष्मी को (आदत्ते) हर लेता है । (एष वै पिन्वत् नाम यद् अजः पञ्चौदनः) जो पूर्व पञ्चौदन नामक अज आत्मा बतलाया गया है वह ही यह 'पिन्वत्' नामक है । यह सबको संतृप्त करने में समर्थ 'ऋतु' अर्थात् शक्ति है । (निः एव अप्रियस्य०) इत्यादि पूर्ववत्)

यो वा उद्यन्तं नामर्तुं वेद॑ । उद्यतीमुद्यतीमेवाप्रियस्य भ्रातृ॑व्यस्य श्रियमा दत्ते । एष वा उद्यन्नाम० । ० । ० ॥ ३५ ॥

भा०—(यः वै) जो पुरुष (उद्यन्तं नाम ऋतुं वेद) 'उद्यत्' नाम

ऋतु को जानता है (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अपने अप्रिय शत्रु की (उद्यतीम्-उद्यतीम् श्रियम् एव आदत्ते) प्रत्येक उद्यम करने और उन्नति करने वाली लक्ष्मी को हर लेता है। (एष वा उद्यत् नाम ऋतुः यत् पञ्चौदनः अजः) यह जो पञ्चौदन नामक अज आत्मा है वह ही यह 'उद्यत्' नाम ऋतु है अर्थात् वही उन्नत करनेवाली शक्ति है। (निरे वास्य० इत्यादि) पूर्ववत्।

यो वा अ॒भि॒भुवं॒ नाम॒र्तुं वेद॑ । अ॒भि॒भव॑न्तीमभि॒भव॑न्तीमे॒वा-प्रि॑यस्य॒ भ्रातृ॑व्यस्य॒ श्रिय॒मा द॑त्ते । ए॒ष वा अ॒भि॒भूर्नाम॒र्तुर्य॒द॒जः पञ्चौ॑दनः । निरे॒वाप्रि॑यस्य॒ भ्रातृ॑व्यस्य॒ श्रियं॑ दहति॒ भव॑त्या॒त्मना॑ । यो॒ऽजं पञ्चौ॑दनं॒ दक्षि॑णाज्योतिषं॒ ददा॑ति ॥ ३६ ॥

भा०—(यः वै अभिभुवं नाम ऋतुं वेद) जो पुरुष 'अभिभू' नामक ऋतु अर्थात् आत्मा की शक्ति को जान लेता है वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य अभिभवन्तीम्-अभिभवन्तीम् एव श्रियम् आदत्ते) अपने अप्रिय शत्रु की परास्त करनेवाली प्रत्येक लक्ष्मी को हर लेता है। (यत् अजः पञ्चौदनः एषः वा अभिभूः नाम ऋतुः) जो पञ्चौदन अजन्मा आत्मा है वही 'अभिभू', परास्त करनेवाली परम शक्ति है (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं निर्दहति आत्मना भवति । यः अजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति) जो पुरुष उस 'दक्षिणाज्योतिष' क्रियाशक्ति से चमकने वाले पञ्चप्राणों से युक्त उस अज आत्मा को परब्रह्म में अर्पण करता है वह अपने अप्रिय शत्रु की लक्ष्मी को ही सर्वथा भस्म कर देता है।

अ॒जं च॒ पच॑त॒ पञ्च॑ चौद॒नान् । सर्वा॑ दिशः॒ संम॑नसः स॒ध्रीचीः॒ सान्त॑र्देशाः॒ प्रति॑ गृह्णन्तु त॒ ए॒तम् ॥ ३७ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! (अजं च) इस लिये आप लोग उस अजन्मा नित्य आत्मा को (पचत) परिपक्व करो। और (पञ्च)

पांचों (ओदनान्) प्राणों को भी तपस्या द्वारा परिपक्व करो । हे पुरुष ! (ते) तेरे (एतम्) इस आत्मा को (सर्वाः दिशः) सब दिशाएं, (सान्तर्देशाः) बीच के देशों अर्थात् उपदिशाओं सहित (सध्रीचीः) एक साथ सहमत होकर (संमनसः) एक समान चित्त होकर (प्रति गृह्णन्तु) स्वीकार करें । अर्थात् सब दिशाओं, उपदिशाओं के निवासी लोग उसकी तपस्या से प्रभावित होकर उसको अपनावें, उसका प्रभाव मानें और वश में रहें।

तास्ते॑ रक्षन्तु॒ तव॒ तुभ्य॑मे॒तं ताभ्य॒ आज्यं॑ ह॒विरि॒दं जु॑होमि॥३८(१४)

भा०—हे पुरुष (ताः) वे सब दिशाएं और उपदिशाएं, उनकी निवासी प्रजाएं (ते रक्षन्तु) तेरी रक्षा करें । (तव) तेरी आज्ञा पालन करें । (तुभ्यम्) तेरे लिये हितकारी हों । (एतम्) और इस आत्मा को पुष्ट करें । मैं ब्रह्मज्ञानी होकर (ताभ्यः) उन समस्त प्रजाओं के लिये (इमम्) इस (आज्यम्) अन्न, आत्मा के श्रेयस्कर (हविः) अन्न और ज्ञान का (जुहोमि) प्रदान करता हूं ।



[६ (१)] अतिथि-यज्ञ और देवयज्ञ की तुलना ।

'यो विद्यात्' इति षट्पर्यायाः । एकं सूक्तम् । ब्रह्मा ऋषिः । अतिथिरुत विद्या देवता । तत्र प्रथमे पर्याये १ नागी नाम त्रिपाद् गायत्री, २ त्रिपदा आर्षी गायत्री, ३,७ साम्न्यौ त्रिष्टुभौ, ४ आसुरीगायत्री, ६ त्रिपदा साम्नी जगती, साम्नी त्रिष्टुप्, १० साम्नी भुरिग् बृहती, ११, १४–१६ साम्न्यनुष्टुभः, १२ विराट् गायत्री, १३ साम्नी निचृत् पङ्क्तिः, १७ त्रिपदा विराड् भुरिक् गायत्री । सप्तदशर्चं सूक्तम् ॥

यो वि॒द्याद् ब्रह्म॑ प्र॒त्यक्षं॒ परू॑षि॒ यस्य॑ सं॒भारा॒ ऋचो॒ यस्या॑नू॒क्य॑म्॥१॥

[६ (१)]–'यो वा एक ब्रह्मानुष्ठा विद्यात् सर्वमहद्भुतं' इति पैप्प० स० ।

सामा॑नि॒ यस्य॒ लोमा॑नि॒ यजु॒र्हृद॑यमु॒च्यते॑ परि॒स्तर॑ण॒मिद्ध॒विः ॥२॥

भा०—साक्षात् ब्रह्म यज्ञस्वरूप है। (सम्भाराः) यज्ञोपयोगी पदार्थों का समुदाय (यस्य) जिस के (परूंषि) पोरु २ हैं। (ऋचः) ज्ञानमय वेदमन्त्र (यस्य अनूक्यम्) जिसके पीठ के मोहरे हैं। (सामानि) सामगायन (यस्य लोमानि) जिस के लोम हैं और (यजुः हृदयम् उच्यते) और यजुर्वेद के प्रतिपादित कर्म जिसके हृदय हैं (हविः इत्) हवि अर्थात् अन्न जिस का परिस्तरण=बिछौना है (यः) जो पुरुष (प्रत्यक्षम्) साक्षात् (ब्रह्म) उस ब्रह्म को (विद्यात्) जान लेता है वह विद्वान् पूजा करने के योग्य है।

अतिथि यज्ञकी देवयज्ञ से तुलना

यद् वा अति॑थिपति॒रति॑थीन् प्रति॒पश्य॑ति दे॒वयज॑नं॒ प्रेक्ष॑ते ॥३॥

भा०—(यद् वा) और जब (अतिथिपतिः) अतिथियों का पालक, गृहपति (अतिथीन्) अतिथियों की (प्रतिपश्यति) प्रतीक्षा करता है तब वह (देवयजनं प्रेक्षते) एक प्रकार से देवयज्ञ करने का ही संकल्प करता है।

यद॑भि॒वद॑ति दी॒क्षामु॒पैति॒ यदु॑द॒कं याच॑त्य॒पः प्र ण॑यति ॥ ४ ॥

भा०—वह गृहपति (यद् अभिवदति) जब अतिथियों को अभिवादन, नमस्कार करता है, मानो तब वह अतिथि यज्ञमें (दीक्षाम् उपैति) दीक्षा प्राप्त करता है। और (यत्) जब (उदकं याचति) जल के पात्र लाकर अतिथि को अर्घ्य पाद्य आचमनीय आदि प्रदान करता है तब मानो वह देवयज्ञ में (अपः प्रणयति) जलों को प्रोक्षण करता है।

२—'छन्दांसि यस्य लोमानि परिस्तरणमिद् हविः यजुर्हृदयमुच्यते' इति पैप्प० सं०।

३—'यद् अतिथिपतिः प्रेप्यते' इति पैप्प० सं०।

या एव यज्ञ आपः प्रणीयन्ते ता एव ताः ॥ ५ ॥

भा०—(याः एव यज्ञे आपः) जो जल यज्ञ में (प्रणीयन्ते) प्रोक्षण कार्य में प्रयुक्त होते हैं (ता एव ताः) वे ही जल हैं जो अतिथि यज्ञ में अर्घ्य, पाद्य, आचमनीय आदि के लिये प्रयुक्त होते है ।

यत् तर्पणमाहरन्ति य एवाग्नीषोमीयः पशुर्बध्यते स एव सः ॥६॥

भा०—(यत्) जो (तर्पणम् आहरन्ति) अतिथि को तृप्त करने के लिये मधुपर्क और उत्तम भोजन पदार्थ लाया जाता है मानो वह (यः एव) यज्ञ में वही पदार्थ है जो कि (अग्नीषोमीयः पशुः) अग्निषोमीय पशु को (बध्यते) यूप में बांधा जाता है (स एव सः) वह अन्न ही उस के स्थान में है ।

यदावसथान् कल्पयन्ति सदोहविर्धानान्येव तत् कल्पयन्ति ॥७॥

भा०—और (यत्) जो अतिथि के लिये (आवसथान्) निवास के निमित्त उचित गृह आदि को (कल्पयन्ति) बनाते हैं उसको आदर से नियत घरों में रखते हैं (तत्) वह एक प्रकार से यज्ञ में (सदोहविर्धानानि कल्पयन्ति) सदस्=प्राचीनवंश गृह और हविर्धान नामक शकट और पात्र की रचना करते हैं ।

यदुपस्तृणन्ति बर्हिरेव तत् ॥ ८ ॥

यदुपरिशयनमाहरन्ति स्वर्गमेव तेन लोकमव रुन्द्धे ॥९॥

भा०—(यत् उपस्तृणन्ति) जो अतिथि के लिये चारपाई या टाट बिछाया जाता है (तत्) वह मानो यज्ञ में (बर्हिः एव) बर्हि या कुशाओं के बिछाने के समान ही है । और (यत्) जो (उपरिशयनं आहरन्ति)

६—'यत् स्नातमाहरन्ति पुरोडाश एवते' इत्यधिकः पाठः पैप्प० सं० ।

८—'यत्परिस्तृणन्ति' इति० पैप्प० सं० ।

अतिथि के लिये चारपाई या टाट के ऊपर गद्दा (आहरन्ति) ला कर विछाते हैं (तेन) उस कार्य से मानो (स्वर्गम् लोकम् एव अव रुन्धे) वे यज्ञ में स्वर्ग=सुखप्रद इष्ट=इष्टलोक को ही प्राप्त करते हैं ।

यत् क॑शिपूपब॒र्हण॑मा॒हर॑न्ति परि॒धय॑ ए॒व ते ॥ १० ॥

यदा॑ञ्जनाभ्यञ्ज॒नमा॒हर॒न्त्याज्य॑मे॒व तत् ॥ ११ ॥

भा०—(यत्) जो (कशिपु-उपबर्हणम् आहरन्ति) अतिथि के लिये चादरें और सिरहाना लाकर विछाते हैं (ते परिधयः एव) वे यज्ञ में ' परिधि ' नामक कुशाओं के समान हैं । और (यत्) जो (अञ्जनाभ्यञ्जनम् आहरन्ति) आंखों के लिये अंजन और शरीर के लिये तेल उवटना आदि लाते हैं (तत्) वह यज्ञ में (आज्यम् एव) घृत के ही समान आवश्यक पदार्थ है ।

यत् पु॒रा परि॑वे॒षात् खा॒दमा॒हर॑न्ति पु॒रोडा॒शा॑वे॒व तौ ॥ १२ ॥

यद॑शन॒कृतं॒ ह्वय॑न्ति हवि॒ष्कृत॑मे॒व तद्ध्व॑यन्ति ॥ १३ ॥

भा०—(यत्) जो गृहस्थ के लोगों के लिये (परिवेशात्) भोजन परोसने के (पुरा) पूर्व ही अतिथि के लिये (खादम्) खाने योग्य भोजन (आहरन्ति) लाते हैं वे यज्ञ में (पुरोडाशौ एव तौ) दोनों पुरोडाशों के समान ही है । और (यद् अशनकृतम्) जो अतिथि के लिये विशेष भोजन वनाने में चतुर पुरुष को (ह्वयन्ति) विशेष रूप से बुलाते हैं (तत्) वह एक प्रकार से यज्ञ में (हविष्कृतम् एव) हवि अर्थात यज्ञ में चरु को तय्यार करने हारे पुरुष को ही (ह्वयन्ति) बुलाते हैं ।

१०—'कशिपूपवर्हणानि आहरन्ति परिधे एव ते' इति पैप्प० सं० । अत्रैव यत्पर्शन [यदुपरिशयन] माचरन्ति स्वर्गमेव तेन लोकमवरुन्धे' इति चाधिकः पाठः इति पैप्प० सं० ।

११—'यदभ्यञ्जन'—इति पैप्प० सं० ।

ये व्रीहयो यवा निरुप्यन्तेंशव एव ते ॥ १४ ॥

यान्युलूखलमुसलानि ग्रावाण एव ते ॥ १५ ॥

भा०—(ये) जो अतिथि यज्ञ के अवसर पर (व्रीहयः यवाः) धान और जौ (निरुप्यन्ते) बखेरे जाते हैं (अंशव एव ते) वे यज्ञ में सोमलता के खण्डों के समान हैं। और (यानि) जो अतिथि के भोजनादि तैयार करने के लिये (उलूखल-मुसलानि) ओखली और मूसल धान कूटने के लिये काम में लाये जाते हैं (ग्रावाणः एव ते) वे यज्ञ में सोम कूटने के उपयोगी पत्थरों के समान हैं।

शूर्पं पवित्रं तुषा ऋजीषाभिषवणीरापः ॥ १६ ॥

स्रुग् दर्विर्नेक्षणमायवनं द्रोणकलशाः कुम्भ्यो/
वायव्या/नि पात्राणीयमेव कृष्णाजिनम् ॥ १७ ॥ (१५)

भा०—(शूर्पं पवित्रम्) अतिथि के अन्न साफ करने के लिये जो छाज काम में लाया जाता है वह यज्ञ में 'पवित्र' अर्थात् सोम छानने के लिये 'दशापवित्र' नामक वस्त्र खण्ड के समान जानना चाहिये। (तुषाः ऋजीषाः) छाज से फटकते हुए जो अन्न के तुष अलग हो जाते हैं वह यज्ञ में सोम को छानने के बाद प्राप्त फोक के समान हैं। (अभिषवणीः आपः) अतिथि के भोजन बनाने के लिये जो जल प्रयुक्त होते हैं वह यज्ञ में सोम रस में मिलाने योग्य 'वसतीवरी !' नामक जलधाराओं के समान हैं। (स्रुक् दर्विः) अतिथि का भोजन बनाने के लिये जो कड़छी

१४—'अंशव एव ते न्युप्यन्ते' इति पैप्प० सं० ।

१५—'उलूखलमुसल ग्रावाणः' इति पैप्प० सं० ।

१६—'तुषारजीषः' इति पैप्प० ।

१७—'द्रोणकलशः कुम्भीमेव कृष्णाजिनं वायव्यानि पात्राणि अभिषवणी रपः' इति पैप्प० सं० ।

प्रयुक्त होती है वह यज्ञ में 'स्रुक्' या घृतचमस् के समान है। (आयवनम् नेक्षणम्) भोजन तैयार करते समय जो दाल आदि चलाने का कार्य किया जाता है वह यज्ञ में सोम रस को वार २ मिलाने के समान है। (कुम्भ्यः द्रोणकलशाः) खाना पकाने के लिये जो देगची आदि पात्र हैं वे यज्ञ में सोम रस रखने के लिये द्रोणकलशों के समान हैं। (पात्राणि वायव्यानि) अतिथि को खिलाने के लिये जो थाली कटोरी आदि पात्र हैं वे यज्ञ में सोम पान करने के निमित्त 'वायव्य' पात्रों के समान हैं। और अतिथि के लिये (इयम् एव कृष्णाजिनम्) जो बैठने उठने के लिये यह भूमि है वह यज्ञ में कृष्ण मृगछाला के समान है।



(२) अतिथि-यज्ञ की देव-यज्ञ से तुलना।

ब्रह्मा ऋषिः। अतिथिर्विद्या वा देवता। विराड् पुरस्ताद् बृहती। २, १२ साम्नी त्रिष्टुभौ। ३ आसुरी अनुष्टुभ्। ४ साम्नी उष्णिक्। ५ साम्नी बृहती। ११ साम्नी बृहती भुरिक्। ६ आर्ची अनुष्टुप्। ७ त्रिपात् स्वराड् अनुष्टुप्। ९ साम्नी अनुष्टुप्। १० आर्ची त्रिष्टुप्। १३ आर्ची पङ्क्तिः। त्रयोदशर्चं द्वितीयं पर्यायसूक्तम्।

यजमानब्राह्मणं वा एतदतिथिपतिः कुरुते यदाहार्याणि प्रेक्षत इदं भूया३इदा३मिति ॥ १ ॥

भा०—(यद्) जिस समय (अतिथिपतिः) अतिथि का पालक गृहमेधी पुरुष (आहार्याणि) अतिथि को दान देने और भोजनार्थ उपस्थित करने योग्य पदार्थों पर (प्रेक्षते) दृष्टि करता है और पूछता है, प्रार्थना करता है कि (इदम् भूयः) यह और अधिक है या (इदम्)

१–'अतिथिपतिः कृणुते यदाहार्याणि अवेक्षते०' इति पैप्प० सं०।

यह (इति) इत्यादि तो (एतत्) इस प्रकार वह गृहमेधी उस विद्वान् अतिथि को यज्ञ में दीक्षित यजमान ब्राह्मण के समान (कुरुते) बना लेता है।

यदाह भूय उद्धरेति प्राणमेव तेन वर्षीयांसं कुरुते ॥२॥

उप हरति हवींष्या सादयति ॥ ३ ॥

भा०—और (यद्) जब गृहमेधी (आह) कहता है, प्रार्थना करता है कि भगवन् ! (भूयः उद्हर) इस आहार योग्य पदार्थ में से आप और अधिक ले लीजिये तो (तेन) उस से (प्राणम् एव) अपने प्राण या जीवन शक्ति आयु को (वर्षीयांसम्) और अधिक चिरस्थायी करता है। और जब वह (उपहरति) अन्न आदि पदार्थ उसके समीप लाता है तो वह मानो यज्ञ की अन्नमय हवियें उसके समीप (आसादयति) लाता है।

तेषामासन्नानामतिथिरात्मन् जुहोति ॥ ४ ॥

स्रुचा हस्तेन प्राणे यूपे स्रुक्कारेण वषट्कारेण ॥ ५ ॥

एते वै प्रियाश्चाप्रियाश्चर्त्विजः स्वर्गं लोकं गमयन्ति यदतिथयः॥६॥

भा०—(तेषाम् आसन्नानाम्) गृहस्थ के स्त्री पुत्र भाई आदि गृह के सम्बन्धियों के समीप ही बैठे रहते हुए (अतिथिः) जब अतिथि, विद्वान् उस भोजन को (आत्मन् जुहोति) खालेता है मानो अपने में उसकी आहुति दे लेता है। उस समय वह (हस्तेन स्रुचा) हाथ रूपी स्रुवा

२—"यदाह भूयोद्धर ते प्रजां चैव पशूंश्च वर्धयते—[?] प्राणं कृणुते। यत् सम्पृच्छति काममेव तेनावरुन्धे। कामोह पृष्टो यजति। यद् उदकमुपासिश्चत्यप एव तेनावरुन्धे।" इति पैप्प० सं०।

४—'आत्मनि जुहोति' इति पैप्प० सं०।

५—'शुल्कारेण वषट्कारे यस्तु चाहस्तेन' इति पैप्प० सं०।

से, (प्राणे यूपे) प्राणरूप यूप स्तम्भ के समक्ष, (स्रुक्कारेण वषट्कारेण) खाते के समय 'स्रुक्' २ इस प्रकार के शब्द मानो 'स्वाहा' शब्द के साथ अपनी जाठर अग्नि में अन्न रूप हवि की आहुति करता है। (यत् अतिथयः) ये जो अतिथि हैं चाहे (प्रियाः च) प्रिय मित्र हों और चाहे (अप्रियाः च) अप्रिय, प्रिय न हों तो भी वे (ऋत्विजः) उन यज्ञकर्त्ता ऋत्विजों के समान हैं जो यजमान को (स्वर्गं लोकं गमयन्ति) स्वर्ग प्राप्त कराते हैं।

स य एवं विद्वान् न द्विषन्नश्नीयान्न द्विषतोन्नमश्नीयान्न मीमांसितस्य न मीमांसमानस्य ॥ ७ ॥

भा०—(य एवं विद्वान्) जो इस प्रकार का तत्व जान लेता है (सः) वह (द्विषन्) किसी के प्रति द्वेष करता हुआ (न अश्नीयात्) भोजन न करे। और (द्विषतः) द्वेष करते हुए पुरुष का (अन्नम् न अश्नीयात्) अन्न भी स्वयं न खावे। (न मीमांसितस्य) शंका के पात्र या सन्देहपात्र पुरुष का भी अन्न न खावे और (न मीमांसमानस्य) हम पर शंका कर रहा हो उसका अन्न भी न खावे। अर्थात् जिसके मित्र भाव में सन्देह हो या जो उस पर सन्देह करता हो दोनों एक दूसरे का अन्न न खावें।

सर्वो वा एष जग्धपाप्मा यस्यान्नमश्नन्ति ॥ ८ ॥

सर्वो वा एषोऽजग्धपाप्मा यस्यान्नं नाश्नन्ति ॥ ९ ॥

भा०—(एषः सर्वः वा) वह सब लोग (जग्धपाप्मा) अपना पाप नष्ट कर लेते हैं (यस्य) जिसके (अन्नम्) अन्न को अतिथि लोग

७-'य एवं विद्यात्' इति क्वचित् पाठः। तस्मान् नद्विषन्नद्यान्न द्विषतोऽन्नमद्यान्न मीमांसितस्य इति पैप्प० सं०।

८-९-'सर्वा उपशो जग्धपाप्मानं यस्यान्नमश्नाति' इति पैप्प० सं०।

(अश्नन्ति) खा लेते हैं। और (एषः वा सर्वः अजग्धपाप्मा) उन सब के पाप नहीं नष्ट होते (यस्य अन्नं न अश्नन्ति) जिसका अन्न अतिथि लोग स्वीकार नहीं करते।

सर्वदा वा एष युक्तग्रावार्द्रपवित्रो विततांध्वर आहृतयज्ञक्रतुर्य उपहरति ॥ १० ॥

प्राजापत्यो वा एतस्य यज्ञो विततो य उपहरति ॥ ११ ॥

प्रजापतेर्वा एष विक्रमाननु विक्रमते य उपहरति ॥ १२ ॥

भा०—(यः उपहरति) जो अतिथियों की सेवा करता है और उनका सत्कार करता है (एषः वा) उसके (युक्तग्रावा) सोम रसों के निकालने वाले पत्थरों से (सर्वदा) सदा सोम रस निकलता है, (आर्द्रपवित्रः) और उसके सोम रस नित्य 'दशा पवित्र' नामक वस्त्र पर छनता है (विततांध्वरः) उसका यज्ञ नित्य चला करता है और (आहृतयज्ञक्रतुः) वह सदा यज्ञ कर्म का फल प्राप्त करता है ॥ १० ॥

(यः उपहरति) जो अतिथियों को अर्घ्य पाद्य आदि से सत्कार करता है (एतस्य) उस का सदा (प्रजापत्यः यज्ञः विततः) प्राजापत्य यज्ञ जारी रहता है ॥ ११ ॥

(यः उपहरति) जो अतिथि को अर्घ, अन्न आदि भेंट करता है (एषः) वह (प्रजापतेः विक्रमान् अनु) प्रजापति के महान् कार्यों का (विक्रमते) अनुकरण करता है ॥ १२ ॥

योतिथीनां स आहवनीयो यो वेश्मनि स गार्हपत्यो यस्मिन् पचन्ति स दक्षिणाग्निः ॥ १३ ॥ (१६)

१०—'सर्वदा वा एष सुतसोमे' इति पैप्प० सं०।

१३—साहवनीयो योऽन्नकरणस्य [अन्नकरणः तः] दक्षिणाग्निर्यो वेश्मनि०' इति पैप्प० सं०।

भा०—(यः अतिथीनाम्) जो अतिथियों का शरीर है (सः) वह (आहवनीयः) आहवनीय अग्नि के समान है। (यः) और जो गृहस्थ स्वयं (वेश्मनि) घर में विद्यमान है (सः गार्हपत्यः) वह गार्हपत्य अग्नि के समान है। और (यस्मिन्) जिस अग्नि में गृहमेधी लोग (पचन्ति) अतिथि के लिये अन्न आदि पकाते हैं (सः) वह (दक्षिणाग्निः) दक्षिणाग्नि के तुल्य है।

४ अर्थ मन्त्र में 'अतिथिरात्मन् जुहोति' इस मन्त्रलिंग से अतिथि का शरीर स्वयं आहवनीयाग्नि के तुल्य है।



(३) अतिथि यज्ञ न करने से हानियें।

ब्रह्मा ऋषिः। अतिथिर्विद्यावा देवता, १-६, ९ त्रिपादः पिपीलकमध्या गायत्र्यः, ७. साम्नी बृहती, ८ पिपिलिकमध्या उष्णिक्। नवर्चं पर्यायसूक्तम् ॥

इ॒ष्टं च॒ वा ए॒ष पू॒र्तं च॑ गृ॒हाणा॑मश्नाति॒ यः पूर्वोऽति॑थेर॒श्नाति॑ ॥१॥

भा०—(यः) जो पुरुष (अतिथेः पूर्वः अश्नाति) अतिथि के पहले भोजन कर लेता है (एषः) वह (गृहाणां) अपने गृह के सम्बन्धियों के और (इष्टं च वा) अपने यज्ञों और (पूर्तं च) प्रजा के हितकारी कूप तड़ाग आदि अन्य कार्यों को भी (अश्नाति) स्वयं खा जाता है अर्थात् विनाश कर देता है।

पय॑श्च॒ वा ए॒ष रसं॑ च० ॥२॥ ऊर्जां॑ च॒ वा ए॒ष स्फा॒तिं च॑० ॥३॥

प्र॒जां च॒ वा ए॒ष प॒शूंश्च॑० ॥४॥ की॒र्तिं च॒ वा ए॒ष यश॑श्च० ॥ ५ ॥

श्रियं॑ च॒ वा ए॒ष सं॒विदं॑ च गृ॒हाणा॑मश्नाति॒ यः पूर्वोऽति॑थेर॒श्नाति॑ ॥६॥

(३) १-'चाश्नाति यः' इति पैप्प० सं०।

२-'ऊर्जाच वा एष पयश्च' इति पैप्प० सं०।

भा०—(यः अतिथेः पूर्वं अश्नाति) जो पुरुष अतिथि के भोजन करने के पहले ही स्वयं खा लेता है (एषः) वह (गृहाणाम्) अपने घर वालों के हिस्से के (पयः च, रसं च०) दुग्ध आदि पदार्थ और रसवान् स्वादु पदार्थों को भी स्वयं पी खा लेता है ॥ २ ॥ (एषः वा ऊर्जां च स्फातिं च गृहाणाम्०) वह अपने घर वालों के अन्न सम्पत्ति और समृद्धि को भी स्वयं खा जाता है ॥ ३ ॥ (प्रजां च वा एषः पशून् च०) वह अपने घर वालों की, प्रजाओं और पशुओं को भी आप ही खा जाता है ॥४॥ (कीर्तिम् च एषः यशः च०) अपने घरवालों की कीर्ति यश तक को खा जाता है ॥५॥ (श्रियं च वा एषः संविदं च०) वह अपने घर वालों की लक्ष्मी और सौहार्द भाव को भी खा जाता है, नष्ट कर देता है ॥ ६ ॥

एष वा अतिथिर्यच्छ्रोत्रियस्तस्मात् पूर्वो नाश्नीयात् ॥ ७ ॥

भा०—(एषः वा अतिथिः) यह अतिथि ही निश्चय से (यत् श्रोत्रियः) श्रोत्रिय-वेद के विद्वान् ब्राह्मण के समान पूजनीय है (तस्मात्) इसलिये (पूर्वः) अतिथि से पहले (न अश्नीयात्) कभी भोजन न करे।

अशितावत्यतिथावश्नीयाद् यज्ञस्य सात्मत्वाय यज्ञस्याविच्छेदाय तद् व्रतम् ॥ ८ ॥

भा०—(यज्ञस्य सात्मत्वाय) यज्ञ के सम्पूर्ण सफल करने और (यज्ञस्य अविच्छेदाय) यज्ञ को विच्छेद, विनाश न होने देने के लिये (अतिथौ अशितावति) अतिथि के भोजन कर चुकने पर (अश्नीयात्) गृहस्थ स्वयं भोजन करे। (तत् व्रतम्) यही व्रत कर ले, यही धर्माचरण है।

एतद् वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात् ॥ ९ ॥ (१७)

८—'अशितावत्यश्नीयात् तद् व्रतम् यज्ञस्याविच्छेदाय यज्ञस्य गुप्तये, यज्ञस्य सात्मत्वाय'। इति पैप्प० सं०।

भा०—(एतत् वा उ) वही सब पदार्थ (स्वादीयः) बहुत स्वादिष्ट होता है (यत् अधिगवम्) जो गौ से प्राप्त होता है । (क्षीरं वा) दूध या (मांसं वा) अन्य मनोमोहक दूध से उत्पन्न घी, मलाई, रबड़ी, खोवा, खीर आदि पदार्थ। (तत् एव) उसी पदार्थ को गृहस्थ (न अश्नीयात्) स्वयं न खाये, प्रत्युत अपने अतिथि को खिलावे ।



(४) अतिथियज्ञ का महान् फल ।

ऋषिर्देवता च पूर्वोक्तो । १,३,५,७ प्रजापत्या अनुष्टुभः, ९ भुरिक्, २,४,६, ८ त्रिपदा गायत्र्यः, १० चतुष्पाद् प्रस्तारपंक्तिः । दशर्चं पर्यायसूक्तम् ॥

स य एवं विद्वान् क्षीरमुपसिच्योपहरति ॥ १ ॥

यावदग्निष्टोमेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे ॥२॥

भा०—(यः एवं विद्वान्) जो इस प्रकार अतिथि सत्कार के व्रत को जानता हुआ (क्षीरम् उपसिच्य) दूध को पात्र में डाल कर (उपहरति) अतिथि को तृप्त करने के लिये ले जाता है तो (यावत्) जितना (सुसमृद्धेन) उत्तम रीति से सम्पादित (अग्निष्टोमेन) अग्निष्टोम यज्ञ से (इष्ट्वा) यज्ञ करके (अव रुन्धे) फल प्राप्त करता है (तावत्) उतना (अनेन) इस अतिथि यज्ञ से (अवरुन्धे) प्राप्त कर लेता है ।

स य एवं विद्वान्त्सर्पिरुपसिच्योपहरति ॥ ३ ॥

यावदतिरात्रेणेष्ट्वा० ॥ ४ ॥

भा०—(यः एवं विद्वान्) जो इस प्रकार के अतिथि सत्कार के व्रत को जानता हुआ गृहस्थ (सर्पिः उपसिच्य) घृत आदि पुष्टिकारक

(४) १,२–'यत् क्षीरमुपसिच्य यावदग्निष्टोमेनेष्ट्वा सपृष्ठेन' इति पैप्प० सं० ।
३,४–'यत्सर्पिरुप०', 'यावदान्हेन समृद्धेन' इति पैप्प० सं० ।

पदार्थों को पात्र में रख अतिथि के लिये लाता है (यावत् अतिरात्रेण इष्ट्वा०) तो उत्तम रीति से सम्पादित, 'अतिरात्र' नामक यज्ञ को करके जितना फल प्राप्त करते हैं उतना फल वह गृहस्थ इस अतिथि यज्ञ से प्राप्त कर लेता है।

स य एवं विद्वान् मधूपसिच्योपहरति ॥ ५ ॥
यावत् सत्रसद्येनेष्ट्वा० ॥ ६ ॥

भा०—(यः एवं विद्वान् मधु उपसिच्य उपहरति) जो इस प्रकार अतिथि यज्ञ को जान कर मधु आदि मधुर पदार्थ पात्र में रख कर अतिथि को तृप्त करता है (यावत् सत्रसद्येन इष्ट्वा०) जितना फल उत्तम रीति से सम्पादित 'सत्रसद्य' नाम के यज्ञ को करके प्राप्त करते हैं उतना फल वह अतिथियज्ञ से प्राप्त कर लेता है।

स य एवं विद्वान् मांसमुपसिच्योपहरति ॥ ७ ॥
यावद् द्वादशाहेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे ॥८॥

भा०—(यः एवं विद्वान् मांसम् उपसिच्य उपहरति, यावद् सुसमृद्धेन द्वादशाहेन इष्ट्वा अवरुन्धे सः तावद् एनेन अवरुन्धे) जो इस प्रकार अतिथि यज्ञ के महत्व को जानता हुआ पुरुष और मनको रुचि देने वाले घी, मलाई, फल आदि पदार्थों को अतिथि के भेट करता है तो जितना फल उत्तम रीति से सम्पादित द्वादशाह यज्ञ से प्राप्त करते है उतना फल वह इस अतिथियज्ञ से प्राप्त करता है।

स य एवं विद्वानुदकमुपसिच्योपहरति ॥ ९ ॥
प्रजानां प्रजननाय गच्छति प्रतिष्ठां प्रियः प्रजानां भवति
य एवं विद्वानुदकमुपसिच्योपहरति ॥ १० ॥ (१८)

१–'यावत् रात्रेण समृद्धेन' इति पैप्प० सं०।

भा०—(यः एवं विद्वान् उदकम् उपसिच्य उपहरति) जो इस प्रकार अतिथि यज्ञ के महत्व को जानता हुआ पुरुष अतिथि के निमित केवल जल को भी ले आता है वह (प्रजानां) प्रजाओं के (प्रजननाय) उत्तम रीति से उत्पादन करने में समर्थ होता है। (प्रतिष्ठां गच्छति) प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है और (प्रजानां प्रियः भवति) अपनी प्रजाओं का प्यारा होता है। (यः एवं विद्वान् उदकम् उपसिच्य उपहरति) जो इस प्रकार जानता हुआ जल भी अतिथि को प्रदान करता है वही यह फल प्राप्त करता है, फिर औरों का तो कहना क्या ?



(५) अतिथि यज्ञ की सामगान से तुलना।

ऋषि देवता च पूर्वोक्ते। १ साम्नी उष्णिक्, २ पुर उष्णिक्, ३ साम्नी भुरिग् बृहती, ४,६, ९ साम्न्यनुष्टुभः, ५ त्रिपदा निचृद् विषमागायत्री, ७ त्रिपदा विराड् विषमा गायत्री, ८ त्रिपाद् विराड् अनुष्टुप्। दशर्चं पर्यायसूक्तम् ॥

तस्मा॑ उ॒षा हिङ्कृ॑णोति सवि॒ता प्र स्तौ॑ति ॥ १ ॥

बृह॒स्पति॑रू॒र्जयोद्गा॑यति॒ त्वष्टा॒ पुष्ट्या॒ प्रति॑ हरति॒ विश्वे॑ दे॒वा नि॒धन॑म् ॥ २ ॥

नि॒धन॑ं भूत्याः॑ प्र॒जायाः॑ प॒शूनां॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ३ ॥

भा०—(यः एवं वेद) जो इस प्रकार अतिथि यज्ञ और देवयज्ञ के रहस्य को जानता है (तस्मै) उसके लिये (उषाः हिङ् कृणोति) उषा 'हिं' कार करती है, (सविता प्रस्तौति) सविता-सूर्य प्रस्ताव करता है, (बृहस्पतिः) बृहस्पति अर्थात् प्राण (ऊर्जया) ऊर्जा=बलकारिणी शक्ति से

१०—'गच्छतिसर्वमायुरेति। पुन राजरसः प्रमीयते य एवं विद्वान०' इति पैप्प० सं०।

(५)२—'मध्यान्ददनोद्गाय' इति पैप्प० सं०।

(उद् गायति) गान करता है । (त्वष्टा) त्वष्टा—सब जन्तुओं का उत्पादक परमेश्वर (पुष्टया) अपने पोषक बल से (प्रति हरति) उसके लिये 'प्रतिहार' करता है, (विश्वे देवाः निधनम्) विश्वे देव, समस्त विद्वान् गण उसके लिए 'निधन' करते हैं। वह स्वयं (भूत्याः) भूति, सम्पत्ति, सत्ता का (प्रजायाः) प्रजा का और (पशूनाम्) पशुओं का (निधनम् भवति) निधन अर्थात् परम आश्रय हो जाता है।

हिंकार, प्रस्ताव, उद्गान, प्रतिहार और निधन ये सामगान के पाँच अंग है । अतिथियज्ञ के कर्त्ता पुरुष के यश का उषा, सविता, बृहस्पति त्वष्टा और विश्वेदेव ये अपनी शक्तियों से गान करते हैं । अर्थात् उषा देवी उसके यश को प्रकाशित करती है, सविता सूर्य, उसके यश को उज्ज्वल करता है, बृहस्पति, प्राण अपने बल से उसका गान करता है अर्थात् प्रत्येक प्राणी उसके अन्न के बल से उसका गुण गाता है, (त्वष्टा) प्रजोत्पादक प्रभु अपने पोषणकारी बल से 'निधन' अर्थात् उसे निःशेष सम्पत्तियों का पात्र बनाते हैं । इस प्रकार वह सम्पत्ति, सत्ता, प्रजा और पशुओं का परम आश्रय हो जाता है।

तस्मा॑ उ॒द्यन्त्सूर्यो॒ हिङ्कृ॑णोति संग॒वः प्र स्तौ॑ति ॥ ४ ॥
म॒ध्यन्दि॑न उ॒द्गा॑यत्यपरा॒ह्णः प्रति॑ हरत्यस्तं॒यन्नि॒धन॑म् । नि॒धन॑० ॥५

भा०—(उद् यत् सूर्यः तस्मै हिंकृणोति) उदय होता हुआ सूर्य उसके यशोगान करने के लिये 'हिंकार' करता है (संगवः प्रस्तौति) 'संगव' काल का सूर्य जब पर्याप्त ऊपर आ जाता है वह उसके लिए 'प्रस्ताव' करता है (मध्यन्दिनः उद्गायति) मध्यन्दिन का सूर्य उद्गान करता है, (अपराह्णः प्रतिहरति) अपराह्ण काल का सूर्य उसके लिये 'प्रतिहार' करता है और (अस्तं यन् निधनम्) अस्त जाता हुआ सूर्य 'निधन' करता है । अर्थात् सूर्य दिन की पाँच अवस्थाओं में उसके यश को उज्ज्वल करता, विस्तृत करता, गायन करता, उसको सब पदार्थ प्राप्त कराता और

उसे समस्त पदार्थों से सम्पन्न करता है और इस प्रकार वह (भूत्याः प्रजायाः पशूनां निधनं भवति) सम्पत्ति, प्रजा और पशुओं का परम आश्रय हो जाता है ।

तस्मा॑ अ॒भ्रो भव॑न् हिङ्कृ॑णोति स्त॒नय॑न् प्र स्तौ॑ति ॥ ६ ॥

वि॒द्योत॑मानः॒ प्रति॑ हरति॒ वर्ष॑न्नु॒द्गा॑यत्यु॒द्गृ॒ह्ण॑न् नि॒धन॑म् ।

नि॒धन॑॰ ॥ ७ ॥

भा०—जो अतिथि यज्ञ का रहस्य जानता है उसका यशोगान मेघ भी करता है । अर्थात् (तस्मै) उसके यशोगान करने के लिये सामगान के पांच अंगों में से क्रम से (भवन् अभ्रः हिंकृणोति) उत्पन्न होता हुआ मेघ 'हिंकार' करता है, (स्तनयन् प्रस्तौति) गर्जता हुआ मेघ 'प्रस्ताव' करता है, (विद्योतमानः) बिजुली चमकाता हुआ मेघ 'प्रतिहार' करता है (वर्षन् उद् गायति) वर्षण करता हुआ मेघ 'उद्गान' करता है और (उद् गृह्णन् निधनम्) पुनः जल को ऊपर ग्रहण करता हुआ मेघ 'निधन' को करता है । और इस प्रकार वह पुरुष (भूत्याः प्रजायाः पशूनां निधनं भवति) सम्पत्ति प्रजा और पशुओं का परम आश्रय हो जाता है ।

अति॑थीन् प्रति॑ पश्यति॒ हिङ्कृ॑णोत्य॒भि व॑दति॒ प्र स्तौ॑त्युद॒कं याच॑त्युद्गा॑यति ॥ ८ ॥

उप॑ हरति॒ प्रति॑ हरत्यु॒च्छि॒ष्टं नि॒धन॑म् ॥ ९ ॥

नि॒धनं॒ भूत्याः॑ प्र॒जायाः॑ पशू॒नां भ॑वति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥१०॥ (१६)

भा०—वह स्वयं भी एक प्रकार से अतिथियज्ञ करता हुआ साम गान करता है क्योंकि जब वह (अतिथीन् प्रतिपश्यति) अतिथियों का दर्शन करता है मानो (हिंकृणोति) साम गान के हिंकार को करता है,

७—'विद्योतमानः प्रस्तौति स्तनयन्नुद्गायति अपराह्ण प्रतिहरति अस्तं-यन्निधनम्,' इति पैप्प० सं० ।

(अभिवदति प्रस्तौति) जब वह अभिवादन करता है तो वह मानो प्रस्ताव करता है, (उदकं याचति) जब जल लेकर स्वीकार करने की प्रार्थना करता है तब मानो (उद्गायति) 'उद्गान' करता है, (उपहरति प्रतिहरति) जब खाद्य पदार्थ उसके समक्ष रखता है मानो वह 'प्रतिहार' करता है (उच्छिष्टं निधनम्) और जो उसके भोजन कर चुकने पर शेष अन्न बचता है वह 'निधन' है । उसका उपभोग करता हुआ गृहमेधी (यः एवं वेद) जो इस अतिथियज्ञ को सामगान के तुल्य जानता है वह (भूत्याः प्रजायाः पशूनां निधनं भवति) सम्पत्ति, प्रजाओं और पशुओं का परम आश्रय हो जाता है ।



(६) अतिथि यज्ञ की यज्ञ-काण्ड से तुलना ।

ऋषिर्देवता च पूर्वोक्ते । १ आसुरी गायत्री, २ साम्नी अनुष्टुप् । ३,५ त्रिपदे आर्चीपंक्ती । ४ प्राजापत्या गायत्री, ६–११ आर्च्यो बृहत्यः, १२ एकपदा आसुरी जगती, १३ याजुषी त्रिष्टुप्, १४ आसुरी उष्णिक् । चतुर्दशर्चं पर्याय सूक्तम् ॥

यत् क्षत्तारं ह्वयत्या श्रावयत्येव तत् ॥ १ ॥

यत् प्रतिशृणोति प्रत्याश्रावयत्येव तत् ॥ २ ॥

यत् परिवेष्टारः पात्रहस्ताः पूर्वे चापरे च प्रपद्यन्ते चमसाध्वर्यव एव ते ॥ ३ ॥ तेषां न कश्चनाहोता ॥ ४ ॥

१,२–'आश्रावयति' इत्यन्तः पाठ० पैप्प० सं० ।

३–यत् परिवेष्टारा वमतां प्रेभिम्यन्ते चमसा' इति पैप्पः सं० ।

४–'तेषां वै' इति पैप्प० सं० । यत् प्रातरुपहरति प्रातः सवनमेव तत्, यद् मध्योपहरति माध्यं दिनमेव तत्सवनम् । यत्सायमुपहरति तृतीयमेव तद्यदातिथिपतिरवभृथं मेव तत् प्राह्वयन्ति । इति पैप्प० सं० ।

भा०—अतिथियों का सत्कार करने वाला पुरुष (यत्) जब (क्षत्तारं ह्वयति) अपने कोठारी को बुलाता है वह मानो (तत्) उस समय अध्वर्यु कर्म में (आ-श्रावयति) आ श्रवण कराता है। (यत् प्रति-शृणोति) और जब कोठारी उसकी आज्ञा को स्वीकार करता है तब मानो वह (प्रति आ श्रावयति) आध्वर्यव काण्ड का प्रत्याश्रावण करता है। और (यत्) जब (परिवेष्टारः) रसोई परसने वाले लोग (पात्रहस्ताः) हाथ में भोजन के पात्र लिये (पूर्वे च अपरे च) अगले और पिछले (प्रपद्यन्ते) आ पहुँचते है (चमसाध्वर्यवः एव ते) वे मानो चमसा लेकर यज्ञ करने वाले चमसाध्वर्यव लोग ही हैं। (तेषाम्) उन में से (कश्चन) कोई भी ऐसा (न) नहीं होता जो (अहोता) आहुति न देता हो। वे अतिथि को भोजन परसते हुए मानो हवि की आहुति दे रहे होते हैं।

यद् वा अतिथिपतिरतिथीन् परिविष्य गृहानुपोदैत्यवभृथमेव तदुपावैति ॥ ५ ॥

यत् संभागयति दक्षिणाः सभागयति यदनुतिष्ठत उदवस्यत्येव तत् ॥ ६ ॥

भा०—(यद् वै) और जब (अतिथिपतिः) अतिथियों का पालक, गृहस्थ (अतिथीन्) अतिथियों को (परिविष्य) भोजन परोस कर उनको पूर्णतया तृप्त करके (गृहान् उप उद् आ एति) पुनः अपने गृहों को या अपने गृह के सम्बन्धियों के पास आता है मानो (तत्) तब यज्ञ कर चुकने बाद (अवभृथम् एव उप अव आ एति) अवभृथ स्नान ही कर लेता है। अर्थात् अतिथियों को तृप्त करके पुनः अपने गृह में आना उसके यज्ञ के अन्त में अवभृथ स्नान के समान है ॥ ५ ॥ और

५–'अवभृथमुपावैति' इति पैप्प० सं०।

(यत्) जब वह (सभागयति) उनको कुछ धन द्रव्य भेट करता है तो मानो (दक्षिणाः सभागयति) वह यज्ञ में पुरोहितों को दक्षिणा प्रदान करता है । और (यत्) जब (अनुतिष्ठते) उनके विदाई के लिये कुछ दूर तक उनके साथ आता है (तत्) तब (उद् अवस्यति एव) यज्ञ का उदवसान करता है । यज्ञ के उद्-अवसान में यजमान विधिपूर्वक यज्ञ स्थान से अपने घर लौट आता है ।

स उप॑हूतः पृथि॒व्यां भ॑क्षयत्युप॑हूतस्तस्मि॒न् यत् पृ॑थि॒व्यां वि॒श्वरूपम् ॥ ७ ॥

भा०—(सः) वह विद्वान् अतिथि (पृथिव्यां उपहूतः) इस पृथिवी में निमन्त्रित किया जाता है । (तस्मिन्) उसके आश्रय पर ही वह अतिथिपूजक गृहस्थ भी (उपहूतः) निमन्त्रित होकर (पृथिव्याम्) इस पृथिवी में (यत्) जो (विश्वरूपम्) नाना प्रकार के पदार्थ हैं उन का (भक्षयति) भोग करता है ।

स उप॑हूतोन्तरि॑क्षे भक्षयत्युप॑हूतस्तस्मि॒न् यद॒न्तरि॑क्षे वि॒श्वरू॑पम् ॥ ८ ॥

भा०—(सः उपहूतः अन्तरिक्षे) यदि अन्तरिक्ष लोक में से उस अतिथि को आदर पूर्वक निमन्त्रण दिया गया है तो (तस्मिन्) उसके बल पर वह गृहस्थी भी (उपहूतः) अन्यों द्वारा सादर आमन्त्रित होकर (अन्तरिक्षे यत् विश्वरूपम्) अन्तरिक्ष में जो नाना प्रकार के भोग्य पदार्थ हैं उनका (भक्षयति) भोग करता है ।

स उप॑हूतो दि॒वि भ॑क्षयत्युप॑हूतस्तस्मि॒न् यद् दि॒वि वि॒श्वरू॑पम् ॥ ९ ॥

७—पृथिव्यां, तत् पृथिव्यामाभाति स्वर्गो लोको भवति य एवं वेद । इति पैप्प० सं० ।

८—अन्तरिक्षे पतन्त्यन्तरिक्षाभाति स्वर्गो० इत्यादि पूर्ववत् इति पैप्प०सं० ।

९—दिवि तपति दिवि आभाति स्वर्गो० इत्यादि पूर्ववत् इति पैप्प० सं० ।

भा०—(सः अपहूतः दिवि) वह अतिथि यदि द्यौलोक में से सादर निमन्त्रित किया जाय तो वह गृहस्थ (तस्मिन्) उस अतिथि के बल पर (यद् दिवि विश्वरूपम्) जो द्यौलोक में नाना प्रकार के भोग्य पदार्थ हैं उन सब को वह (भक्षयति) भोग करता है।

स उप॑हूतो दे॒वेषु॑ भ॒क्षय॒त्युप॑हूत॒स्तस्मि॒न् यद् दे॒वेषु॑ वि॒श्वरू॑पम् १०

भा०—यदि (देवेषु) देवों, विद्वानों में से (सः) वह अतिथि (उपहूतः) सादर निमन्त्रित किया जाता है तो (तस्मिन्) उसके बल पर (यद् देवेषु विश्वरूपम्) जो देवों में नाना प्रकार के भोग्य पदार्थ हैं उन सबको वह गृहस्थ (भक्षयति) उपभोग करता है।

स उप॑हूतो लो॒केषु॑ भ॒क्षय॒त्युप॑हूत॒स्तस्मि॒न् यल्लो॒केषु॑ वि॒श्वरू॑पम् ११

भा०—(सः) वह अतिथि यदि (लोकेषु) अन्य साधारण लोगों में से (उपहूतः) सादर निमन्त्रित है तो (तस्मिन्) उस के बल पर वह गृहस्थ भी (लोकेषु यत् विश्वरूपम्) सर्व साधारण लोगों में जो नाना प्रकार के भोग्य पदार्थ हैं उन सब को (उपहूतः) स्वयं निमन्त्रित होकर (भक्षयति) भोग करता है।

स उप॑हूत॒ः उप॑हूतः ॥ १२ ॥

आ॒प्नोती॒मं लो॒कमा॒प्नोत्य॒मुम् ॥ १३ ॥

भा०—(सः) वह अतिथि सादर निमन्त्रित होता हैं इसलिये (उपहूतः) उस गृहस्थी को भी सादर निमन्त्रित किया जाता है ॥१२॥ वह (इमं लोकम् आप्नोति) इस लोक को भी सादर प्राप्त होता है और (अमुम् आप्नोति) दूसरे लोक में भी आदर पूर्वक जाता है।

१०—'देवेषु पतति देवेषु भाति स्वर्गो०' इति पूर्ववत् इति पैप्प० सं०।

११—'लोकेषु पतति [तपति] लोकेषु भाति स्वर्गो०' इति पूर्ववत्। इति पैप्प० सं०।

ज्योतिष्मतो लोकान् जयति य एवं वेद ॥ १४ ॥ (२०)

भा०—(य एवं वेद) जो इस प्रकार जानता है वह (ज्योतिष्मतः) ज्योतिर्मय, प्रकाशवान्, ज्ञानवान् (लोकान्) लोकों, जनों को (जयति) विजय करता है, उन पर वश करता है, उनमें प्रतिष्ठा प्राप्त करता है ।

इति तृतीयोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तद्वयं ऋचश्चैकादशाधिकं शतम्]



[७] विराड् गौ का देवमय स्वरूप ।

ब्रह्मा ऋषिः । गौर्देवता । १. आर्ची उष्णिक्, ३,५, अनुष्टुभौ, ४,१४,१५, १६ साम्न्यौ बृहत्यः, ६,८ आसुर्यौगायत्र्यौ । ७ त्रिपदा पिपीलिकमध्या निचृद्गायत्री । ९, १३ साम्न्यो गायत्र्यौ । १० पुर उष्णिक् । ११,१२,१७,२५, साम्न्युष्णिहः । १८,२२, एकपदे आसुरीजगत्यौ । १९ आसुरी पंक्तिः । २० याजुषी जगती । २१ आसुरी अनुष्टुप् । २३ आसुरी बृहती २४ भुरिग् बृहती । २६ साम्नी त्रिष्टुप् । इह अनुक्तपादा द्विपदा । षड्विंशर्चं एकं पर्यायसूक्तम् ॥

प्रजापतिश्च परमेष्ठी च शृङ्गे इन्द्रः शिरो अग्निर्ललाटं यमः कृकाटम् ॥ १ ॥

भा०—(प्रजापतिः च परमेष्ठी च शृङ्गे) विराड् गौ के दोनों सींग प्रजापति और परमेष्ठी हैं । (इन्द्रः शिरः) इन्द्र शिर है । (अग्निः ललाटं) अग्नि ललाट है (यमः कृकाटम्) कृकाट, गले की घंटी यम है ।

सोमो राजा मस्तिष्को द्यौरुत्तरहनुः पृथिव्यधरहनुः ॥ २ ॥

१—'ललाटमित्यन्तः पाठः पैप्प० सं० ।

२—मस्तिष्कः सत्यं चक्षुर्ऋतं श्रोत्रे प्राणापानौ ना मिवते द्यौरुत्तरहनुः पृथिव्यधरा अग्निरस्याम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(सोमः राजा) सोम राजा उसका (मस्तिष्कः) उसका मस्तिष्क है । (द्यौः उत्तरहनुः) द्यौलोक उसका ऊपर का जबड़ा है। (पृथिवी अधरहनुः) पृथिवी उसका नीचे का जबड़ा है ।

विद्युज्जिह्वा मरुतो दन्ता रेवतीर्ग्रीवाः कृत्तिका स्कन्धा घर्मो वहः॥३॥

भा०—(विद्युत्) विद्युत् उसकी (जिह्वा) जीभ है (मरुतदन्ताः) मरुत् अर्थात् प्राण गण और नाना प्रकार की वायुएं (दन्ताः) उसके दांत हैं (रेवतीः ग्रीवाः) रेवती नक्षत्र उसकी ग्रीवा—गर्दन है (कृत्तिकाः स्कन्धाः) कृत्तिकाएँ उसके कन्धे हैं। (घर्मः) प्रकाशमान सूर्य या ग्रीष्म, उसका (वहः) 'वह' ककुद के पास का स्थान है ।

विश्वं वायुः स्वर्गो लोकः कृष्णद्रं विधरणी निवेष्यः ॥ ४ ॥

भा०—(विश्वं वायुः) विश्व समस्त संसार वायु अर्थात् प्राण है, (स्वर्गः लोकः) स्वर्ग लोक है, (कृष्णद्रम्) कृष्णद्र अर्थात् मेघ उसका [कण्ठ[1]] है, (विधरणी निवेष्यः) विधरणी, लोकों को पृथक् २ स्थापित करनेवाली शक्ति उसका निवेष्य अर्थात् बैठने के कूल्हे या सीमा है ।

श्येनः क्रोडो३न्तरिक्षं पाजस्यं१ बृहस्पतिः ककुद् बृहतीः कीकसाः ५

भा०—(श्येनः क्रोडः) श्येनयाग उसको क्रोड़ भाग है (अन्तरिक्षम् पाजस्यम्) अन्तरिक्ष उसका पाजस्य अर्थात् पेट है (बृहस्पतिः ककुत्) बृहस्पति उसका ककुद् या कोहान भाग है, (बृहतीः कीकसाः) बड़ी दिशाएँ उसके गले के मोहरे हैं ।

देवानां पत्नीः पृष्ठयं उपसदः पर्शवः ॥ ६ ॥

भा०—(देवानां पत्नीः) देवों, विद्वानों की स्त्रियां (पृष्टयः) पृष्टि

३—'दन्ता' पवमानः प्राणः इति पैप्प० सं० । 'ग्रीवाकृति' इति क्वचित् पाठः ।

४—विश्वं वायुः कण्ठः स्वर्गो लोकः कृष्णद्रव्यद्रिणी [विधरणी] विवक्ष्यः । इति पैप्प० सं० ।

अर्थात् पीठ के मोहरे हैं (उपसदः पर्शवः) उपसद् इष्टियाँ उसकी पर्शु=पसुलियां हैं ।

मित्रश्च वरुणश्चांसौ त्वष्टा चार्यमा च दोषणी महादेवो बाहू ॥७॥

भा०—(मित्रः च वरुणः च) मित्र और वरुण (अंसौ) दोनों अंस, बाहुओं के ऊपर के भाग हैं (त्वष्टा च अर्यमा च) त्वष्टा और अर्यमा (दोषणी) दो बाहुओं के ऊपर के भाग हैं । (महादेवः बाहू) महादेव बाहु भाग या अगली टाँगों का निचला भाग है ।

इन्द्राणी भसद् वायुः पुच्छं पवमानो वालाः ॥ ८ ॥

भा०—(इन्द्राणी) इन्द्राणी, इन्द्र विद्युत् की शक्ति (भसत्) गुह्य भाग है, (वायुः पुच्छं) वायु पुच्छ भाग है । (पवमानः बालः) बहता हुआ वायु उसके बाल हैं ।

ब्रह्म च क्षत्रं च श्रोणी बलमूरू ॥ ९ ॥

भा०—(ब्रह्म च क्षत्रं च श्रोणी) ब्रह्म, ब्राह्मण और क्षत्र, क्षत्रिय दोनों श्रोणी, चूतर कूल्हे भाग हैं (बलम् ऊरू) बल सेना ऊरू जाघें हैं ।

धाता च सविता चाष्ठीवन्तौ जङ्घा गन्धर्वा अप्सरसः कुष्ठिका अदितिः शफाः ॥ १० ॥

भा०—(धाता च सविता च) धाता और सविता दोनों (अष्ठीवन्तौ) उस महावृषभ के टखने हैं (गन्धर्वाः जंघाः) गन्धर्व पुरुष जंघाएं हैं (अप्सरसः कुष्ठिकाः) अप्सराएं, स्त्रियां कुष्टिएँ, खुरों के ऊपर पीछे की ओर लगी अंगुलिये हैं । (अदितिः शफाः) अदितिपृथ्वी शफ, खुर हैं ।

चेतो हृदयं यकृन्मेधा व्रतं पुरीतत् ॥ ११ ॥

१०—'गन्धर्वाप्सरसः' इति पैप्प० सं० ।

११—'यकृन्मेधा तरिमा चित्तम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(चेतः हृदयम्) समस्त चेतना उसका हृदय है (मेधा यकृत्) मेधा बुद्धि उसका यकृत् कलेजा भाग है (व्रतम्) व्रत उस के (पुरीतत्) आतें हैं ।

क्षुत् कुक्षिरिरा वनिष्ठुः पर्वताः प्लाशयः ॥ १२ ॥

भा०—(क्षुत् कुक्षिः) भूख उसकी कोख है (इरा वनिष्ठुः) इरा=अन्न या जल उसकी वनिष्ठु गुदा या बड़ी आंत है । (पर्वताः) पर्वत मेघ (प्लाशयः) प्लाशियें छोटी आंतें हैं ।

क्रोधो वृक्कौ मन्युराण्डौ प्रजा शेपः ॥ १३ ॥

भा०—(क्रोधः वृक्कौ) क्रोध उसके वृक्क अर्थात् गुर्दे हैं । (मन्युः आण्डौ) मन्यु अण्डकोश हैं । (प्रजा शेपः) प्रजाएं उसका लिंग भाग है ।

नदी सूत्री वर्षस्य पतय स्तना स्तनयित्नुरूधः ॥ १४ ॥

भा०—(नदी सूत्री) नदी उसकी सूत्री जन्म देने वाली नाडि सूत्री है । और (वर्षस्य पतयः स्तनाः) वर्षा के पालक मेघ उसके स्तन हैं । और (स्तनयित्नुः ऊधः) गर्जनशील मेघ ऊधस्, दूधके भरे थान हैं ।

विश्वव्यचाश्चर्मौषधयो लोमानि नक्षत्राणि रूपम् ॥ १५ ॥

भा०—(विश्वव्यचाः) सर्वव्यापक आकाश उसका (चर्म) चमड़ा है (ओषधयः लोमानि) ओषधियां उसके लोम हैं, (नक्षत्राणि रूपम्) नक्षत्र उसके रूप अर्थात् उसके देह पर चितकबरे चिह्न हैं ।

देवजना गुदा मनुष्या आन्त्राण्यत्रा उदरम् ॥ १६ ॥

१२–'पर्वताः प्राशः' इति पैप्प० सं० ।

१३–'समुद्रो वस्तिस्तनयित्नुरूधः वर्षस्य पतयः स्तनाः' इति पैप्प० सं० ।

१५–'ओषधयो रोमाणि अभ्रं पीवो मज्जानिधनम्' इति पैप्प० सं० ।

१६–'मनुष्यान्त्राण्यत्रा उदरम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(देवजनाः) देव जन (गुदाः) गुदा हैं। (मनुष्याः आन्त्राणि) सामान्य मनुष्य उसके आंतें हैं (अत्रा उदरम्) अन्य भोजन करने वाले प्राणिगण उसके उदर भाग हैं।

रक्षांसि लोहितमितरजना ऊबध्यम् ॥ १७ ॥

भा०—(रक्षांसि) राक्षस लोग (लोहितम्) उसके लोहित, रक्त भाग हैं (इतरजनाः ऊबध्यम्) इतरजन तिर्यग् योनियां ऊबध्य, अनपचा अन्न हैं।

अभ्रं पीबो मज्जा निधनम् ॥ १८ ॥

भा०—(अभ्रं पीवः) मेघ उसके पीवस्=मेद के बराबर है। (निधनं मज्जा) समस्त धन सम्पत्ति उसकी मज्जा भाग है।

अग्निरासीन उत्थितोऽश्विना ॥ १९ ॥

भा०—(अग्निः) अग्नि उसका (आसीनः) बैठने का रूप है और (अश्विनौ) दोनों अश्वी, दिन, रात उसका (उत्थितः) खड़ा होने का रूप हैं।

इन्द्रः प्राङ् तिष्ठन् दक्षिणा तिष्ठन् यमः ॥ २० ॥

भा०—(प्राङ् तिष्ठन्) प्राची दिशा में विराजमान वह स्वयं (इन्द्रः) इन्द्र है। (दक्षिणा तिष्ठन्) दक्षिण दिशा में विराजमान वह (यमः) यम है।

प्रत्यङ् तिष्ठन् धातोदङ् तिष्ठन्त्सविता ॥ २१ ॥

भा०—(प्रत्यङ् तिष्ठन् धाता) प्रतीची अर्थात् पश्चिम में विराजमान वह धाता स्वरूप है। (उदङ् तिष्ठन् सविता) उत्तर दिशा में विराजमान वह सविता स्वरूप है।

१७–'उबध्य' इति पैप्प० सं०।

१८–'भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद' इत्यधिकः पाठः, पैप्प० सं०।

तृणानि प्राप्तः सोमो राजा ॥ २२ ॥

भा०—(तृणानि प्राप्तः) वही ईश्वरीय शक्ति (तृणानि प्राप्तः) तृण, वनस्पतियों में प्राप्त होकर (सोमो राजा) सोम राजा है ।

मित्र ईक्षमाण आवृत्त आनन्दः ॥ २३ ॥

भा०—(ईक्षमाणः मित्रः) जब वह समस्त प्राणियों पर कृपा दृष्टि से देखता है तब वह सबका मित्र है । (आवृत्तः आनन्दः) जब उन को व्याप लेता है तो वही आनन्द रूप हो जाता है ।

युज्यमानो वैश्वदेवो युक्तः प्रजापतिर्विमुक्तः सर्वम् ॥२४॥

भा०—(युज्यमानः) समाधि द्वारा ध्यान किये जाने के अवसर पर वह (वैश्वदेवः) विश्वदेवों के समष्टिरूप है । (युक्तः प्रजापतिः) समाधि प्राप्त कर लेने पर वह प्रजापति हो जाता है । (विमुक्तः) वही सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त रूप में (सर्वम्) सर्व रूप है ।

एतद् वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम् ॥ २५ ॥

भा०—(एतत् वै विश्वरूपम्) यह ही विश्वरूप परमात्मा का विराट् रूप है वही (सर्वरूपम्) सर्वरूप, (गो रूपम्) गौ या वृषभ का रूप है जिसका इस प्रकार वर्णन किया जाता है ।

उपैनं विश्वरूपाः सर्वरूपाः पशवस्तिष्ठन्ति य एवं वेद ॥२६॥(२१)

भा०—(यः एवं वेद) इस प्रकार जो प्रजापति के विराट् रूप को वृषभ रूप में यथार्थ रूप से जान लेता है (एनम्) उसको (विश्व

२२—'तृणान् प्राप्तः सोमोराजा' इति पैप्प० सं० ।

२३—'अनृतानन्द ईक्षमाणो मित्रा वरुणो' इति पैप्प० सं० ।

२४—'युज्यमानो वैश्वानरो' इति पैप्प० सं० ।

२५—'एतद्वैवोरूपम्' इति पैप्प० स० ।

रूपाः) विश्व रूप (सर्वरूपाः) सर्वरूप (पशवः) पशु (उप-तिष्ठन्ति) प्राप्त होते हैं अर्थात् उसको समस्त प्राणियों में विश्व और सर्व का उत्तरूप प्रत्यक्ष दीखने लगता है।

इसकी तुलना ११वें काण्ड के ३रे सूक्त के द्वितीय पर्याय से और नवम के ४र्थ सूक्त मन्त्र ६–१६ तक कहे साहस्र ऋषभ के साथ भी मिलान करो।



[८] शरीर के रोगों का निवारण।

भृग्वङ्गिराः ऋषिः। सर्वशीर्षामयाद्यपाकरणं देवता। १,११,१३,१४,१६,२० अनुष्टुभः। १२ अनुष्टुब्गर्भा ककुम्मती चतुष्पादुष्णिक्। १५ विराड् अनुष्टुप्। २१ विराट् पथ्या बृहती। २२ पथ्यापंक्तिः। द्वाविंशर्चं सूक्तम्॥

शीर्षक्तिं शीर्षामयं कर्णशूलं विलोहितम्।
सर्वं शीर्षण्यं/ ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे॥ १॥

भा०—(शीर्षक्तिम्) शिर में व्यापक (शीर्षामय) शिरो रोग, (कर्णशूल) कान का दर्द, (विलोहितम्) जिसमें विकृत रुधिर बहे (ते) तेरे (सर्व) सारे (शीर्षण्यं रोगम्) सिर के रोग को (बहिः) बाहर (निर्मन्त्रयामहे) विशेष रूप से सर्वथा स्तम्भित करते हैं, रोकते हैं, उसका उपाय करते हैं।

कर्णाभ्यां ते कङ्कूषेभ्यः कर्णशूलं विसल्पकम्। सर्वं० ॥२॥

१–(प्र०) 'शीर्षक्तिं', 'कर्णशूलं तृतीयकम्' इति पैप्प० सं०।

१. मन स्तम्भे (चुरादिः) इत्यतः सार्वधातुकः ष्ट्रन्। मन्त्रः स्तम्भक उपायः।

२–'कङ्कूषेभ्यः', 'शुक्तिवल्शं विलोहितम्' इति पैप्प० सं०।

भा०—(ते कर्णाभ्यां) तेरे कानों से, और तेरे (कंकूषेभ्यः) कंकूष=कर्ण के भीतरी भागों में से (विसल्पकम्) नाना प्रकार से रेंगने वाली, चीस चलाने वाली (कर्णशूलम्) कान की पीड़ा को और (सर्वं ते शीर्षण्यं रोगं निर्मन्त्रयामहे) समस्त सिर के रोग को हम उपाय से रोक दें और दूर करें।

यस्य॑ हे॒तोः प्र॒च्यव॑ते॒ यक्ष्मः॑ कर्ण॒त आ॑स्य॒तः । सर्वं॰ ॥ ३॥

भा०—(यस्य हेतोः) जिस हेतु अर्थात् कारण से (कर्णतः) कान से और (आस्यतः) मुख से (यक्ष्मः) रोगकारी, पीड़ाजनक मुवाद (प्रच्यवते) बहता है (सर्वं॰ इत्यादि) उस समस्त शिर के रोग को हम उपाय से रोकें और दूर करें।

यः कृ॒णोति॑ प्र॒मोत॑म॒न्धं कृ॒णोति॒ पूरु॑षम् । सर्वं॰ ॥ ४ ॥

भा०—जो कान का रोग (पुरुषम्) पुरुष को (प्रमोतम् कृणोति) खूब बांधदे अर्थात् पुरुष के शिर की इन्द्रियां कान आदि की शक्तियों को जो पीड़ा शिथिल करदे उसको गूंगा, बहरा करदे और जो (अन्धम् कृणोति) पीड़ा उसको अन्धा करदे ऐसे (सर्वं॰ इत्यादि) समस्त शिर के रोग को हम उपाय से रोकें और दूर करें।

अ॒ङ्ग॒भे॒दम॑ङ्गज्व॒रं वि॒श्वाङ्ग्यं॑ वि॒सल्प॑कम् ।
सर्वं॑ शीर्ष॒ण्यं॑ ते॒ रोगं॑ ब॒हिर्निर्म॑न्त्रयामहे ॥ ५ ॥

भा०—(अङ्गभेदम्) शरीर के अंगों को तोड़ डालने वाले, (अंग

३—'यक्ष्मोनासतास्यत' इति पैप्प० सं० ।

४—'प्रमोहितमिति कश्चिन् मुग्धोहरिवर्णीयः ।
प्रमोत—मूञ्‌बन्धने क्रयादिः, मूङ्‌बन्धने (भ्वादिः) इतःक्तः । प्रबद्ध-सर्वेन्द्रिय व्यापारमित्यर्थः । मूकबधिरमिति यावत् ।

५—'शीर्षरोगमङ्गरोगं विश्वाङ्गीनं विशल्यकम्' इति पैप्प० सं० ।

ज्वरम्) शरीर के अंगों में ज्वर, संताप उत्पन्न करने वाले (विश्वाङ्ग्यम्) समस्त शरीर में पीड़ा उत्पन्न करने वाले (विसल्पकम्) विशेष रूप से तीव्र वेदना से फैलने वाले (सर्व० इत्यादि) समस्त प्रकार के शिर के रोग को हम बाहर करदें।

यस्य॑ भीमः प्र॑तीकाश उ॒द्वेपय॑ति॒ पूरु॑षम् ।
त॒क्मानं॑ वि॒श्वशा॑रदं ब॒हि० ॥ ६ ॥

भा०—(यस्य) जिसका (भीमः) भयानक (प्रतीकाशः) स्वरूप ही (पुरुषम्) पुरुष को (उद्वेपयति) कपा देता है ऐसे (तक्मानम्) दुःखदायी (विश्वशारदम्) सब वर्षों और ऋतुओं में होने वाले ज्वर को हम शरीर से (बहिः निर्मन्त्रयामहे) बाहर ही रोकदें। उस शरीर में प्रवेश न करने दें।

य ऊ॒रू अ॑नुस॒र्पत्यथो॒ एति॑ ग॒वीनि॑के ।
य॒क्ष्मं ते॑ अ॒न्तर॒ङ्गेभ्यो॑ ब॒हि० ॥ ७ ॥

भा०—(यः) जो रोग (ऊरू) जंघाओं की ओर (अनुसर्पति) बढ़ता है (अथो) और (गवीनिके एति) मूत्राशय के समीप 'गवीनि' नामक नाड़ियों में पहुँच जाता है उस (यक्ष्मम्) रोग को (ते) तेरे (अन्तरङ्गेभ्यः) भीतर अंगों से (बहिः) बाहर (निर्मन्त्रयामहे) निकाल दें।

यदि॒ कामा॑दपका॒माद्धृद॒या॒ज्जाय॑ते॒ परि॑ ।
हृ॒दो ब॒लास॒मङ्गे॑भ्यो ब॒हि० ॥ ८ ॥

भा०—(यदि) यदि (बलासम्) शरीर के बल का नाशक, कफ-रोग (कामात्) हमारे इच्छाकृत कार्य से या (अकामात्) विना

६—(द्वि०) 'पोरुषम्' । (तृ० च०) 'तक्मानं चीतं रूरं च तं त्वे निर्मन्त्र०' इति पैप्प० सं० ।

७—(तृ०) 'बलासं ते' इति पैप्प० सं० ।

कामना के वाह्य जल वायु के विकार से या (हृदयात् परि) हृदय के समीप (जायते) उत्पन्न हो जाय तो उसे (हृदः) हृदय के साथ सम्बन्ध रखने वाले (अंगेभ्यः) सब अंग, छाती, फेफड़े और हृदय के विभागों से (बहिः निर्मन्त्रयामहे) बाहर निकाल दें।

हरिमाणं ते अङ्गेभ्योऽप्वामन्तरोदरात्।
यक्ष्मोधामन्तरात्मनो बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ ९ ॥

भा०—(ते अंगेभ्यः) तेरे अंगों से (हरिमाणम्) हरिमा, पीलिया रोग को और (उदरात् अन्तः) पेट के भीतर (अप्वाम्) उदर रोग को और (आत्मनः) शरीर के (अन्तः) भीतर से (यक्ष्मोधाम्) यक्ष्मा रोग के अंशों को रखने वाले रोग को (बहिः निर्मन्त्रयामहे) बाहर निकालदें।

आसो बलासो भवतु मूत्रं भवत्वामयत्।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥१०॥ (२२)

भा०—(बलासः) शरीर के बल का नाशक, कफ (आसः भवतु) बाहर फेंक दिया जाय और (आमयत्) रोगकारी पदार्थ (मूत्रं भवतु) मूत्र रूप होकर बाहर आजावे (सर्वेषां यक्ष्माणां) समस्त रोगों के (विषम्) विष को (अहम्) मैं (त्वत्) तेरे शरीर से (निर् अवोचम्) निर्मूल करदूं।

बहिर्बिलं निर्द्रवतु काहाबाहं तवोदरात्। यक्ष्माणां० ॥ ११ ॥

भा०—(तव उदरात्) तेरे पेट से (काहाबाहम्) 'काहाबाह' अर्थात् कड़ कड़ाने वाला रोग (बिलं बहिः) भीतर से बाहर (निर्द्रवतु) द्रवीभूत होकर सर्वथा निकल जाय। और इस प्रकार (सर्वेषां यक्ष्माणाम्)

९–(तृ०) 'यक्ष्म ते सर्वमङ्गभ्यो बहि०' इति पैप्प० सं०।
११–'काहावलं त्वन्दरा [?]' इति पैप्प० सं०।

सब रोगों के (विषं अहं त्वत् निर् अवोचम्) विष को तेरे शरीर से बाहर कर दूं ।

उदरात् ते क्लोम्नो नाभ्या हृदयादधि ।

यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥ १२ ॥

भा०—(ते उदरात्) तेरे पेट से, (क्लोम्नः) 'क्लोम' कलेजे से, (नाभ्याः) नाभी से, (हृदयात् अधि) और हृदय से भी (सर्वेषां यक्ष्माणां विषम्) समस्त प्रकार के रोगों के विष को (अहं त्वत् निर अवोचम्) मैं तेरे शरीर से बाहर करदूं ।

याः सीमानं विरुजन्ति मूर्धानं प्रत्यर्षणीः ।

अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १३ ॥

भा०—(याः) जो (अर्षणीः) तीव्र पीड़ाजनक रोगमात्राएं (सीमानम्) सीमा, सिर के ऊपरी भाग, खोपड़ी को (विरुजन्ति) नाना प्रकार से पीड़ित करती हैं और (मूर्धानम् प्रति) शिर के प्रति दौड़ती हैं वे (अनामयाः) रोग शून्य होकर (अहिंसन्तीः) रोगी को बिना कष्ट दिये ही (बहिः बिलम्) शरीर के छिद्रों से बाहर (निर्द्रवन्तु) द्रवीभूत होकर निकल जावें ।

या हृदयमुपर्षन्त्यनुतन्वन्ति कीकसाः । अहिं० ॥ १४ ॥

भा०—और (याः) जो पीड़ाकारी रोगांश (हृदयम् उप ऋषन्ति) हृदय की ओर तीव्र वेदना सहित चढ़ी चली जाती हैं और (कीकसाः अनुतन्वन्ति) गले के मोहरे को बांध या जकड़ लेती हैं वे भी (अहिंसन्तीः अनामयाः बहिर्बिलम् निर्द्रवन्तु) रोग रहित होकर बिना कष्ट दिये ही शरीर के छिद्रों से बाहर हो जायँ ।

१२–(प्र०) 'परिक्लोम्नो' इति पैप्प० सं० ।

याः पार्श्वे उपर्षन्त्यनुनिक्षन्ति पृष्टीः । अहिं० ॥ १५ ॥

भा०—और (याः) जो पीड़ाएं (पार्श्वे उप ऋषन्ति) पासें या दोनों कोखों में तीव्र वेदना करती हैं और (पृष्टीः) पीठ के मोहरों तक (अनुनिक्षन्ति) पहुँच जाती हैं वे भी (अनामयाः अहिंसन्तीः) रोग रहित और कष्ट रहित होकर शरीर से बाहर हो जायँ ।

यास्तिरश्चीरुपर्षन्त्यर्षणीर्वक्षणासु ते । अहिं० ॥ १६ ॥

भा०—(याः) जो रोगमात्राएं (तिरश्चीः उप ऋषन्ति) तिरछी वेदना उत्पन्न करतीं और (ते वक्षणासु) तेरी पसलियों में चली जाती हैं वे भी (अहिंसन्तीः अना०) रोग रहित तुझे कष्टकारी न होकर शरीर से बाहर हो जायँ ।

या गुदा अनुसर्पन्त्यान्त्राणि मोहयन्ति च । अहिं० ॥ १७ ॥

भा०—(याः) जो पीड़ानजक रोगमात्राएं (गुदाः अनुसर्पन्ति) गुदाओं में पहुँच जाती हैं (आन्त्राणि मोहयन्ति च) आन्तों में फैल जाती हैं वे भी (अहिंसन्तीः०) विना कष्ट दिये रोग रहित होकर शरीर से बाहर हो जांय ।

या मज्ज्ञो निर्धयन्ति परूंषि विरुजन्ति च ।
अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १८ ॥

भा०—(याः) जो रोग मात्राएँ (मज्ज्ञः निर्धयन्ति) मज्जाओं को सर्वथा चूस जायँ, सुखा डालें, उन में भी संताप उत्पन्न करदें । और

१४-१५-'उपदिशन्ति' इति पैप्प० सं० ।

१६-(द्वि०) 'वक्षणाभ्यः' इति पैप्प० सं० ।

१७-'यापयन्ति च' इति पैप्प० सं० । 'राथ'मते—'आन्त्राण्यामयन्ति' । अथवा यापयन्ति शकृद्भेद हेतवो भवन्ति इत्यर्थः ।

१८-'मज्ज्ञोऽनुसर्पन्ति' इति पैप्प० सं० ।

(परूंषि विसृजन्ति च) पोरू २, जोड़ २ में तीव्र वेदना, फूटन पैदा करदें वे भी (अहिंसन्तीः) विना कष्ट दिये रोग रहित होकर शरीर से बाहर हो जायँ ।

ये अङ्गानि मदयन्ति यक्ष्मासो रोपणास्तव ।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥ १९ ॥

भा०—(ये) जो (यक्ष्मासः) रोगजनक पदार्थ (तव) तुझे (रोपणाः) मूर्छा उत्पन्न करें और (अंगानि) अंगों में (मदयन्ति) कंप-कंपी पैदा करें उन (सर्वेषां) सब (विषम्) विषको (अहं त्वत् निर अवोचम्) मैं तेरे शरीर से बाहर करदूं ।

विसल्पस्य विद्रधस्य वातीकारस्य वालजेः ।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥ २० ॥

भा०—(विसल्पस्य) नाना प्रकार से फैलने वाले पीड़ाकारी रोग, (विद्रधस्य) गिल्टियों की सूजन और (वातीकारस्य) वाय की पीड़ा (वा अलजेः) और आंख के भीतर दाने या रोहें फूलने आदि (सर्वेषां यक्ष्माणाम्) समस्त रोगों के (विषम्) विष को (अहं त्वत् निर् अवोचम्) मैं तेरे शरीर से निकाल दूं ।

पादाभ्यां ते जानुभ्यां श्रोणिभ्यां परि भंससः ।
अनूकादर्षणीरुष्णिहाभ्यः शीर्ष्णो रोगमनीनशम् ॥२१॥

१९–(द्वि०) 'यक्ष्मासो रोपणा सह' इति पैप्प० सं० । 'येऽङ्गानि' इति क्वचित् ।

२०–'विशल्यस्य','वातीकालस्य' इति पैप्प० सं० ।

२१–(प्र०द्वि०) पादाभ्यां गुल्फाभ्यां जंघाभ्यां जानुभ्यामूरुभ्यां श्रोणिभ्यां' (तृ०) 'आनूक्या दर्पणी रुष्णिहाभ्यो ग्रीवाभ्यः स्कन्धेभ्यः शीर्ष्णो०' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(ते पादाभ्यां) तेरे चरणों से, (जानुभ्यां) गोड़ों से, (श्रोणिभ्याम्) कूल्हों से, (परि भंससः) जघन भाग से, (अनूकाद्) रीढ़ से, (उष्णिहाभ्यः) गर्दन की नाड़ियों से और (शीर्ष्णः) शिर से (अर्पणोः) तीव्र वेदनाओं को और उनके उत्पादक (रोगम्) रोग को (अनीनशम्) नाश करता हूं ।

सं ते॑ शी॒र्ष्णः क॒पाला॑नि॒ हृद॑यस्य च॒ यो वि॒धुः ।
उ॒द्यन्ना॑दित्य र॒श्मिभिः॑ शी॒र्ष्णो रोग॑मनीनशो॒ऽङ्ग॒भेद॑मशीशमः
॥ २२ ॥ (८३)

भा०—(ते) हे रोगी ! तेरे (शीर्ष्णः) सिर के (कपालानि) कपाल भाग और (हृदयस्य च) हृदय की (यः) जो (विधुः) विशेष प्रकार की पीड़ा थी वह (सम्) अब शान्त हो गयी है । हे (आदित्य) सब रोगों के हरने हारे सूर्य ! तू (उद्यन्) उगता हुआ ही अपनी (रश्मिभिः) किरणों से (शीर्ष्णः) शिर के रोग को (अनीनशः) नाश करता है और (अंगभेदम्) शरीर के अंगों को तोड़ने वाली तीव्र वेदना को भी (अशीशमः) शान्त कर देता है ।

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तद्वयम् ऋचश्चाष्टाचत्वारिंशत् ।]



[९] विश्वस्रष्टा परमेश्वर का निरूपण ।

ब्रह्मा ऋषिः । आदित्यो देवता । अध्यात्मकं वामीयं सूक्तम् । १,११,१३,१५,१७, १६,२२ त्रिष्टुभः, १४,१६,१८ जगत्यः । द्वाविंशर्चं सूक्तम् ॥

२२–(द्वि०) 'यो विद्रुः' इति क्वचित् पैप्प० सं० । (तृ०) उद्यन् सूर्या- दित्याङ्गानि रोमनखानि सर्वाणि सदनानि निशत् । इति पैप्प० सं० ।

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः ।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ॥ १ ॥
ऋ० १ । १६४ । १ ॥

भा०—(अस्य) इस (वामस्य) सेवन करने योग्य, सुन्दर, वरणीय, (पलितस्य) समस्त जगत् के पालक (होतुः) स्वयं अपने में उसको लेलेने वाले, प्रलयकारी, (तस्य) उस महान् परमेश्वर का (भ्राता) भ्राता, भरण पोषण समर्थ स्वरूप (मध्यमः) सब सृष्टि के भी भीतर वर्त्तमान, (अश्नः) सर्वव्यापक (अस्ति) है। और (अस्य) इस परमेश्वर का (तृतीयः) सब से उत्कृष्ट, तीर्णतम (भ्राता) सर्वधारक स्वरूप (घृतपृष्ठः) अत्यन्त प्रदीप्त, तेजोमय है (अत्र) उस परम रूप में ही मैं क्रान्तदर्शी योगी (सप्तपुत्रम्) सर्पशील 'पुम्' अर्थात् जीवों और लोकों के त्राण करने वाले (विश्पतिं) सब प्रजाओं के पालक परमेश्वर को (अपश्यम्) साक्षात् करता हूं ।

अध्यात्म में—(अस्य पलितस्य होतुः वामस्य तस्य मध्यमः भ्राता अश्नः अस्ति) इस सर्वव्यापक, परम पुराण, परम वरणीय आत्मा का मध्यम भ्राता 'अश्न' कर्म फल भोक्ता जीव है । (अस्य तृतीयः भ्राता घृतपृष्ठः) इसका तीसरा भाई 'घृतपृष्ठ' जलमय, आपोमय प्रकृति तत्व है (अत्र) वहां ही मैं (सप्तपुत्रम् विश्पतिं अपश्यम्) सर्पणशील लोकों के प्रजापति को साक्षात् करता हूं ।

आदित्यपक्ष में—इस सुन्दर पुण्य, सर्वोदाता, सूर्य का मध्यमः भ्राता (अश्नः) सर्वव्यापक वायु है । उसका तृतीय भ्राता 'घृतपृष्ठ' जल को पीठ पर लिये यह भूलोक है यहां 'सप्तपुत्रम्' सात मरुद्गणों से युक्त सप्त रश्मियों से युक्त या सात ग्रहों या लोकों से युक्त (विश्पतिम्) प्रजापति के समान सूर्य को देखता हूं ।

[६]१—ऋग्वेदेऽस्य सूक्तस्य दीर्घतमाऋषिः ।

भौतिक पक्ष में—इस प्रशंसनीय वृद्ध ज्ञानी के भरण पोषण में समर्थ मध्यम, पृथिवी आदि लोकों में प्रसिद्ध (अश्नः) सब पदार्थों को भस्म कर खा जाने वाला अग्नि विद्यमान है, उसका तीसरा भ्राता मानो (घृतपृष्ठः) जल को पीठ पर लिये विद्युतरूप अग्नि है। और स्वयं (सप्तपुत्रं विश्पतिं) सात प्रकार के तत्वों से उत्पन्न प्रजा के पालक सूर्य को देखता हूं। [महर्षि दयानन्दकृत ऋग्वेदभाष्य के अनुसार]

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः ॥ २ ॥
ऋ० १ । १६४ । २ ॥ अथर्व० १३ । ३ । १८ ॥

भा०—(एकचक्रं रथम्) जिस प्रकार संवत्सर रूप एक चक्र रथ को (सप्त) सर्पग स्वभाव के, सात ऋतु गण (युञ्जन्ति) इस में जुतते हैं तो भी (एकः) एक ही (अश्वः) व्यापक (सप्तनामा) सातों के नामों को धारण करने वाला या स्वयं सर्पणशील ऋतुओं को न माने अर्थात् उनको परिणत करने वाला स्वयं उस काल चक्र को (वहति) धारण करता है। और वह (चक्रम्) चक्र (त्रिनाभि) तीन नाभियों वाला है, (अजरम्) कभी नाश न होने वाला नित्य और (अनर्वम्) कभी शिथिल नहीं होता। (यत्र) जिसमें (इमा) ये (विश्वा भुवनानि) समस्त लोक (तस्थुः) स्थित हैं। उसी प्रकार अध्यात्म में इस (एकचक्रं रथम्) एक चक्र अर्थात् कर्त्ता से युक्त रथ रूप रमणसाधन देह को (सप्त) सर्पणशील या सात शीर्षण्य अथवा इन्द्रिय और मन (युञ्जन्ति) वहन करते हैं। और वही (एकः) एक मात्र (अश्वः) अश्व अर्थात् कर्मफल भोक्ता, स्वयं (सप्तनामा) समस्त सर्पणशील प्राणों का नमन, दमन करने हारा होकर उनको (वहति) धारण करता है। वह (चक्रम्) कर्ता स्वरूप, आत्मा स्वतः (त्रिनाभि) प्रकृति के तीनों गुणों में बँधा

२—'मजरमनर्वं येनेमा' इति तै० आ० ।

हुआ स्वयं (अजरम्) अजर, अविनाशी, (अनर्वम्) स्वयं 'अर्वा' अर्थात् कारण न होकर कर्त्तारूप है। (यत्र) जिसमें (विश्वा) समस्त (भुवनानि) सत् कर्म और ज्ञान (तस्थुः) आश्रित हैं। जिस प्रकार देह में आत्मा उसी प्रकार इस विराट् विश्वमय देह में परमात्मा व्यापक है। यह विश्व एकचक्र रथ है। इसका एक ही कर्त्ता है, इसको नाना सर्पणशील सौर मण्डल एवं पञ्चभूत उठा रहे हैं। एक अश्व व्यापक प्रभु सबको वश करके उनको उठाये हुए है। वह चक्र भूत, भविष्यत् वर्त्तमान या सत्व, रजस, तमस इन तीन में बंधा है। वह अजर, अनादि (अनर्वम्) अविनाशी, अशिथिल है। जिसमें समस्त भुवन लोक स्थिर हैं।

इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः ।
सप्त स्वसारो अभि सं नवन्त यत्र गवां निहिता सप्त नाम ॥३॥
ऋ० १ । १६४ । ३ ॥

भा०—(इमम्) इस (सप्तचक्रम्) सर्पणशील, विषयों तक व्याप्ति करने वाले कर्त्ता, इन्द्रियों से युक्त (रथम्) रमणसाधन, भोगायतन देह में (ये) जो (सप्त) सात, या सर्पणशील प्राण (तस्थुः) स्थित हैं वे भी (अश्वाः) विषयों का भोग करते हैं, या समस्त देह में व्यापक भी हैं। वे उस रथ को (वहन्ति) धारण करते हैं। (सप्त) वे सातों (स्वसारः) स्व अर्थात् आत्मा के बल पर सरण करने वाले (अभि सं नवन्त) देह को भली प्रकार वश करते हैं (यत्र) जहां (गवाम्) गौ इन्द्रियों के सप्त, सात (नामा) स्वरूप (निहिता) रखे हैं।

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिषः, समिधः सप्त सप्त, सप्त। इमे लोका येषु चरन्ति प्राणाः गुहाशयाः निहिता सप्त ॥मु० उप० २।१।८॥

को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति ।
भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित् को विद्वांसमुप गात् प्रष्टुमेतत् ॥४॥
ऋ० १ । १६४ । ४ ॥

३-(तृ०) 'स नवन्ते' (च०) 'सप्तनाम' इति ऋ० ।

भा०—[प्रश्न १] (प्रथमम्) सब से प्रथम (जायमानम्) प्रादुर्भूत, प्रकट होते हुए इस महान् हिरण्यगर्भ को (कः ददर्श) कौन देखता है। [प्र० २] (यद्) और (अनस्था) हड्डी अर्थात् शरीर से रहित आत्मा (अस्थन्वन्तम्) इस अस्थि वाले अर्थात् कठोर शरीर और रूपवान् जगत् को कौन (बिभर्त्ति) धारण करता है [प्र० ३] (भूम्याः) भूमि,-पृथिवी और पृथिवी का यह शरीर और (असुः) वायु का अंश प्राण और (असृक्) जल का अंश रुधिर इन तीनों से बना देह और इस शरीर में रहने वाला (आत्मा) आत्मा, चेतन ये भी (क्व स्वित्) कहां, किस पर आश्रित हैं। [प्र० ४] (कः) कौन पुरुष (एतत्) इस रहस्यमय प्रश्न को सबसे प्रथम (प्रष्टुम्) पूछने के लिये (विद्वांसम्) किसी विद्वान् के पास (उप गात्) पहुँचा होगा। इस मन्त्र में चार प्रश्न हैं। (१) जब सब से प्रथम २ प्रकृति के अव्यक्त रूप से व्यक्त रूप उत्पन्न हुआ तब उसको देखने वाला साक्षी कौन था। (२) शरीर को किस अशरीरी ने धारण किया। (३) शरीर प्राण रुधिर आदि संघात का आत्मा कहां स्थित है। (४) सबसे प्रथम किसने इस प्रश्न को किसी विद्वान् से पूछा।

इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः ।
शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापुः ॥ ५ ॥

ऋ० १ । १६४ । ७ ॥

भा०—(अंग) हे विद्वान् पुरुषो ! (यः) जो (ईम्) भी (अस्य) इस (वेः) गतिशील हंसरूप (वामस्य) सब से सुन्दर, सब से वरणीय और सेवनीय आत्मा के (निहितम् इह) इस देह के भीतर छुपे हुए (पदम्) ज्ञातव्य स्वरूप को (वेद) जानता है वह (इह ब्रवीतु) हमें बतलावे। और जिस प्रकार सूर्य की किरणें उसी आदित्य

५-(तृ०) 'शीर्ष्णो क्षीरं' इति पैप्प० सं०।

का रूप धारण करके अपनी पद भाग से जल पी जाती हैं उसी प्रकार उस आत्मा का भी क्या स्वरूप है जिसकी (गावः) विषयों के प्रति गमन करने वाली इन्द्रियां (अस्य) इस आत्मा के (वव्रिम्) स्वरूप को (वसानाः) धारण करती हुई अर्थात् चेतना के संग से स्वयं चेतन होती हुई (शीर्ष्णः) शिरो भाग से (क्षीरम्) दूध के समान मधुर ज्ञानरूप रस (दुहते) पूर्ण करतीं, प्रदान करती हैं और (पदा) अपने चेतना सामर्थ्य रूप पद या गति से मानो चरण से (उदकम्) जल के समान ग्राह्य विषयों के आनन्दरस का (अपुः) पान करती हैं। यह एक पहेली के समान है कि—'उस सुन्दर पक्षी का स्वरूप बतलाओ जिसकी गौएं पैरों से रस पीएं और सिर से रस बरसावें।' इसके उत्तर दो हैं। एक 'सूर्य' दूसरा 'आत्मा'। सूर्य की किरणें चरणों से भूमि पर से जल पान करती हैं और आकाश रूप सिर से मेघ रूप में बरसाती हैं। दूसरा आत्मा। देह में लगी इन्द्रियां बाह्य विषयों का रस पान करती हैं और शिरोभाग में आनन्द या ज्ञान-रस उत्पन्न करती हैं।

पाकः पृच्छामि मनसा विजानन् देवानामेना निहिता पदानि ।
वत्से बष्कयेधि सप्त तन्तून् वि तत्निरे कवय ओतवा उ ॥ ६ ॥

ऋ० १। १६४। ५ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! (पाकः) परिपक्व होने योग्य, अपक्व ज्ञानवाला, अल्प ज्ञानी मैं (मनसा) अपने मन, संकल्प विकल्पवान् अन्तःकरण से (अविजानन्) विशेष ज्ञान को करने में असमर्थ होकर (पृच्छामि) प्रश्न करता हूं कि (देवानाम्) प्रकाश करने वाले सूर्यादि पदार्थ, ज्ञानों को दिखलाने वाले इन्द्रिय आदि गण के (एना) ये नाना प्रकार के (पदानि) ज्ञातव्य स्वरूप (निहिताः) भीतर छिपे हैं। वे कहां आश्रित हैं और किस प्रकार हैं। और (कवयः) क्रान्तदर्शी विद्वान् ऋषिगण (बष्कये) सत्यस्वरूप (वत्से) सर्वाच्छादक, सर्वव्यापक

या स्तुत्य प्रभु के (अधि) आश्रय पर (ओतवा उ) जगत् को बुनने के लिये या उस में अपने आपको ओत प्रोत करने के लिये (सप्त तन्तून्) सात प्राणमय तन्तुओं को (वि) नाना प्रकार से (तत्निरे) तानते हैं। हे विद्वान् पुरुषो ! बतलाओ वह किस प्रकार करते हैं। यह भी एक समस्या या पहेली है कि— देवों के पद कहां रक्खे हैं। और 'वष्कय वत्स' एक वर्ष के बछड़े पर विद्वानों ने विनने के लिये ही सात सूत ताने तो कैसे ?' । इस अध्यात्म समस्या या पहेली का उत्तर है कि आत्मा में देवों के 'पद' अर्थात् स्वरूप छिपे हैं। इस 'वष्कय वत्स' सत्य स्वरूप जगत् के आच्छादक प्रभु में विद्वानों ने जगत् रूप पट को वयन करने के लिये सात प्राकृतिक विकार पञ्चभूत, महान् और अहंकार इनको तान दिया और अपने को उसमें ओत प्रोत करने के लिये सात प्राणों को वश कर उसमें लगा दिया और अपने आत्मा के सात शीर्षण्य प्राणों को उस में तान दिया ।

अचिकित्वांश्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मनो न विद्वान् ।
वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ॥७॥

ऋ० १ । १६४ । ६ ॥

भा०—(अचिकित्वान् चित्) ज्ञानरहित, (न विद्वान्) इस गूढ़ रहस्य को न जानता हुआ मैं शिष्य (अत्र) इस विषय में (चिकितुषः) पूर्ण रीति से ज्ञानसम्पन्न (विद्मनः) विद्वान् (कवीन्) क्रान्तदर्शी तत्वज्ञ ऋषियों से (पृच्छामि) प्रश्न करता हूं कि (यः) जो (इमाः) इन (षट्) छः (रजांसि) तीन भूमियों तीन द्यौः ये छः, अथवा पांच इन्द्रिय छठा मन, ये छः, संवत्सर की छः,या ऋतुएँ या सत्य लोक को छोड़ कर शेष भू आदि छः लोकों को (तस्तम्भ) थामे हुए हैं उस

७—'विद्मने न विद्वान्' इति ऋ० ।

(अजस्य) अजन्मा आत्मा के (रूपे) निरूपण में (किम् अपि) कोई भी (एकम् स्वित्) एक तत्व है या नाना शक्तियां इस जगत् को चला रही हैं। इसका निर्णय करो।

माता पितरमृत आ बभाज धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे।
सा बीभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुपवाकमीयुः ॥ ८ ॥

ऋ० १ । १६४ । ८ ॥

भा०—(माता) बच्चे की मां जिस प्रकार बालक उत्पन्न करने के पूर्व बालक के (पितरम्) पिता के समीप आती और (मनसा सं जग्मे) एकत्रित होकर उसका संग करती है और वह (गर्भरसा निविद्धा) गर्भजनक वीर्य से सम्पन्न होकर प्रजा उत्पन्न करती है उसी प्रकार (माता) जगत् का निर्माण करने हारी मूलकारण प्रकृति (पितरम्) जगत् के पिता या पालक परमात्मा को (ऋते) उसके सत्यमय सामर्थ्य में आश्रय पाकर (आ बभाज) प्राप्त करती है। और (अग्रे) जगत् के उत्पन्न होने के पूर्व (धीती) क्रिया शक्ति से और (मनसा) परमेश्वर की ज्ञानशक्ति से (सा) वह प्रकृति (हि) भी (सं जग्मे) उस के साथ संगत हुई, मिली और गर्भ धारण किया। और (सा) वह प्रकृति (बीभत्सुः) उस के साथ बन्धने की इच्छा करती हुई अर्थात् सुसंगत होकर (गर्भ-रसा) उसके गर्भधारक रस, तेज से (निविद्धा) अच्छी प्रकार सम्पन्न होकर इस संसार को उत्पन्न करती है। (नमस्वन्तः) ज्ञानवान् पुरुष (इत्) ही (उपवाकम्) इस प्रकार के वचन तत्वज्ञान को (ईयुः) प्राप्त होते हैं। आदित्य पक्ष में—माता पृथिवी पिता सूर्य को प्राप्त होती है, उससे संगत होकर वह उससे वर्षित जल को अपने भीतर लेती है। और प्राणी जन अन्न प्राप्त करके नाना प्रकार की वाणियां उच्चारण करते हैं।

८—'ऋता बभाज' इति पैप्प० सं०।

युक्ता मातासीद्धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद् गर्भो वृजनीष्वन्तः ।
अमीमेद् वत्सो अनु गामपश्यद् विश्वरूप्यं/ त्रिषु योजनेषु ॥ ९ ॥
ऋ० १ । १६४ । ९ ॥

भा०—(माता) सर्व जगत् को निर्माण करनेवाली प्रकृति (दक्षिणायाः) क्रिया या बल से सम्पन्न, बलवती शक्ति के (धुरि) मूल केन्द्र परमेश्वर में (युक्ता) जुड़ी हुई (आसीत्) थी। (वृजनीषु) जलों, 'आपः' या सूक्ष्म प्रकृति के परमाणुओं के (अन्तः) भीतर वह परब्रह्म की सर्गकारिणी शक्ति (गर्भः) परस्पर ग्रहण करने, एक दूसरे को पकड़ लेने या परस्पराकर्षण करनेवाले बल रूप में (अतिष्ठत्) विद्यमान् थी। (वत्सः अनु गाम्) जिस प्रकार गौ को देखकर बछड़ा (अमीमेत्) हम्भारता है उसी प्रकार (वत्सः) वत्सरूप जीव (गाम्) सर्वव्यापक उस परमात्मा (अनु) को देख कर (अमीमेत्) उत्सुक हो कर उसको पुकारता है और (त्रिषु योजनेषु) तीनों लोकों में (विश्वरूप्यम्) समस्त विश्व को रूप देने वाले, ब्रह्माण्ड के कर्त्ता विश्वरूप परमात्मा का (अपश्यत्) दर्शन करता है।

आदित्य के पक्ष में—माता पृथिवी दक्षिणा द्यौ या आदित्य शक्ति के (धुरि) केन्द्र आकर्षणशक्ति से बँधी है (वृजनीषु) उस आदित्य की रश्मियों में जल गर्भित हो जाते हैं। (वत्सः) मेघ पृथिवी के प्रति बरसने के पूर्व ध्वनि करता है और लोग तीन योजनों में सूर्य का पृथिवी से योग, मेघ वायु से योग, पुनः वृष्टि जल का पृथ्वी से योग, इन तीन योजनाओं में 'विश्वरूप' नाना रूप, उत्पन्न सृष्टि को देखते हैं।

तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्त।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदो वाचमविश्वविन्नाम् ॥
१० ॥ (२४) ऋ० १ । १६४ १ ॥

९–(द्वि०) 'वृजनेष्वन्तः' इति पैप्प० स०।

भा०—(एकः) एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर (तिस्रः) तीन (मातृः) जगत् के निर्माणकारिणी शक्तियों और (त्रीन् पितॄन्) पिताओं के समान तीन पालकों को (बिभ्रत्) धारण करता हुआ (ऊर्ध्वः) उनसे भी ऊपर (तस्थौ) अधिष्ठाता रूप से विराजमान है। इसीलिये ये तीनों (ईम्) कभी (न अव ग्लापयन्त) शक्तिहीन, विषादयुक्त, निर्बल नही हो पाते। (अमुष्य दिवः पृष्ठे) इस द्यौः आदित्य या प्रकाशस्वरूप परमात्मा के (पृष्ठे) स्वरूप के विषय में (विश्व वदः) विश्व के तत्व को जानने-वाले विद्वान् (अविश्वविन्नाम्) सबके न समझने योग्य अत्यन्त गूढ़ (वाचम्) वाणी का (मन्त्रयन्ते) विचार करते हैं।

'तिस्रः मातृः'=तीन माताएँ=सूर्य, मेघ, पृथिवी। 'त्रीन् पितॄन्' तीन पिता=तीन लोक या अग्नि, वायु, सूर्य।

पञ्चा॑रे च॒क्रे प॑रि॒वर्त॑माने॒ यस्मि॑न्ना॒तस्थु॒र्भुव॑नानि॒ विश्वा॑ ।
तस्य॒ नाक्ष॑स्तप्यते॒ भूरि॑भारः स॒नादे॒व न च्छि॒द्यते॒ सना॑भिः ॥११॥
ऋ० १ । ११० । १३ ॥

भा०—(पञ्चारे) पाँच तत्व रूप अरों वाले (परिवर्त्तमाने) घूमते हुए (यस्मिन्) जिस (चक्रे) चक्र में (विश्वा भुवनानि) समस्त लोक लोकान्तर (आतस्थुः) स्थिर हैं (भूरि-भारः) बहुत भार वाला (अक्षः) जिस प्रकार साधारण गाड़ी का अक्ष, धुरा गर्म हो जाता है उस प्रकार (तस्य) उसका (अक्षः) धुरा अर्थात् वहन समर्थ व्यापक विभु, प्रभु (न तप्यते) कभी तप्त नहीं होता, कभी पीड़ित नहीं होता। और जिस प्रकार गाड़ी का धुरा चलते २ पुराना होकर घिस जाता है और टूट फूट जाता है उसी प्रकार वह (सनात्) अति पुरातन, सनातन शक्ति (एव)

१०–(द्वि०) ग्लापयन्ति (च०) 'विश्वाविदां वाचमविश्वमिन्वाम्' इति ऋ० । (द्वि०) 'ग्लापयन्ति' (च०) 'विश्वविदां' इति पैप्प० सं०।

ही (सनाभिः) समान रूप से समस्त विश्व की 'नाभि' अर्थात् सबको अपने में बांधने वाला केन्द्र होकर भी (न छिद्यते) कभी नहीं टूटता फूटता, कभी विच्छिन्न नहीं होता, कभी पृथक् नहीं होता ।

आदित्यकृत, काल के पक्ष में—संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, वत्सर आदि पाँच वर्षों के रूप पाँच अरों से युक्त काल चक्र या पाँच ऋतु रूप अरों से बना संवत्सर कालचक्र बराबर घूमता है उसमें समस्त लोक स्थिर हैं उसका अक्ष कभी नहीं तपता और वह कभी छिन्न भी नहीं होता ।

अध्यात्म में—पाँच प्राण रूप पाँच अरों से बना चक्र=कर्त्तारूप आत्मा, उसमें समस्त भुवन=प्राण इन्द्रिय आदि आश्रित हैं उसका अक्ष= दर्शनशक्ति या अध्यक्षता कभी पीड़ित नहीं होती अर्थात् वह आत्मा नित्य अविनाशी सब प्राणों को समान रूप में बाँधे रह कर भी कभी उच्छिन्न नहीं होता ।

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम् ।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणे सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम् ॥ १२ ॥

ऋ० १ । १६४ । १२ ॥

भा०—(दिवः) द्यौलोक, प्रकाशमय परमेश्वर के (परे अर्धे) परम स्वरूप के निरूपण के विषय में विद्वान् ऋषि लोग (पुरीषिणम्) ब्रह्माण्ड रूप पुर में विराजमान परम पुरुष को (पञ्चपादम्) पञ्चपाद और (द्वादशाकृतिम्) १२ आकृति वाला (पितरम्) पिता (आहुः) कहते हैं। जिस प्रकार सूर्य की पाँच ऋतु उसके पाँच पाद या चरण हैं और १२ आकृतियाँ, १२ मास हैं। उसी प्रकार अन्न, प्राण, मन, विज्ञान, और

११–(द्वि०) 'तस्मिन्नातस्थुः' इति पैप्प० सं० । (च०) 'नशीर्यते सनाभिः' इति ऋ० ।

१२–(तृ०) 'उपरि विचक्षणं' इति ऋ०, पैप्प० सं० ।

आनन्द ये ब्रह्म के पाँच पाद हैं। पञ्चभूत, पञ्चतन्मात्रा, महत् और अहंकार इनमें विद्यमान ईश्वरीय शक्ति की १२ आकृतियाँ हैं। शरीर में अध्यात्म उक्त पाँच चरण हैं या पञ्चप्राण पञ्चपाद है और १२ प्राण १२ आकृतियाँ हैं। (अथ) और (उपरे) सबके रमण योग्य (विचक्षणे) सबके साक्षी द्रष्टा परम ब्रह्म के विषय में (इमे) और ये (अन्ये) दूसरे विद्वान् (सप्त चक्रे) सात चक्रमय, सप्तशीर्षण्य प्राणों से बने (षडरे) छः, पाँच इन्द्रिय और छठा मन इन अरों से युक्त चक्र में उस (पुरीषिणम्) पुरुष को (अर्पितम्) अर्पित, स्थित, विराजमान (आहुः) बतलाते हैं।

आदित्य पक्ष में—पञ्चपादः=पाँच ऋतु। द्वादश आकृति=१२ मास। पुरीषी=वृष्टि के उदक से सम्पन्न सूर्य। सप्त चक्र=सात आदित्य रश्मी, यद्वा अयन, ऋतु, मास, पक्ष, अहोरात्र, मुहूर्त्त इनके पुनः आवर्त्तन करनेवाले चक्रों से षड् अर=षट् ऋतु लगो हैं। उस संवत्सर में सूर्य को ही व्यापक मानते हैं। विशेष देखो प्रश्नोपनिषद् [प्रश्न १। ११।]

द्वाद॑शारं न॒हि तज्जरा॑य॒ वर्व॑र्ति च॒क्रं परि॒ द्यामृ॒तस्य॑।
आ पु॒त्रा अ॑ग्ने मिथु॒नासो॒ अत्र॑ स॒प्त श॒तानि॑ विंश॒तिश्च॑ तस्थुः ॥१३॥
ऋ० १। १६४। ११॥

भा०—हे (अग्ने) सूर्य! परमात्मन्! तेरा यह (द्वादशारम्) १२ अरों से युक्त (ऋतस्य) सत्य, व्यक्त ब्रह्माण्ड का (चक्रम्) चक्र (द्याम् परि) द्यौलोक आकाश से (वर्वर्त्ति) घूम रहा है (तत्) वह कभी (नहि जराय) जीर्ण नष्ट नहीं होता। (अत्र) इस में (पुत्राः) मनुष्यों को दुःखों से त्राण करने वाले (सप्त शतानि विंशतिश्च) सात-सौ बीस [७२०] (मिथुनासः) जोड़े, दिन और रात (तस्थुः) स्थिर हैं।

इस चक्र को कोई काल-चक्र और संवत्सर चक्र कोई विष्णु-चक्र इत्यादि नाना रूप से कल्पना करते हैं। अध्यात्म में द्वादश अर=१२

प्राण हैं। संवत्सर के रात दिनों की संख्या ७२० है। ३६० रात्रि और ३६० दिन।

सनेमि चक्रमजरं वि वावृत उत्तानायां दश युक्ता वहन्ति ।
सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं यस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥ १४ ॥
ऋ० १ । १६४ । १४ ॥

भा०—(सनेमि) नेमि अर्थात् चक्रधारा सहित, नमनशक्ति से युक्त सबको वश करने वाला यह (अजरम्) अविनाशी (चक्रम्) चक्र, कालशक्ति, ब्रह्मचक्र (विवावृते) नाना रूप से चल रहा है । उसको (उत्तनायाम्) इस उत्तान जगती में (दश) दश प्राण (युक्ताः) जुत कर (वहन्ति) उठा रहे हैं। (सूर्यस्य) सूर्य, सब के प्रकाशक परमेश्वर की (चक्षुः) चक्षु अर्थात् साक्षात् ज्ञानशक्ति, दर्शन शक्ति जो संसार को उत्पन्न करती है वह (रजसा) रजो गुण से (आवृतम्) युक्त होकर (एति) गति करती है, समस्त संसार को चलाती है। जिस राजस शक्ति में (विश्वा भुवनानि) समस्त भुवन और लोक (आ तस्थुः) स्थिर होते हैं।

स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः ।
कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात् स पितुष्पितासत् ॥ १५ ॥

भा०—(मे) मेरी जो (स्त्रियः) प्रकृति के परमाणुओं में घनीभाव उत्पन्न करने वाली (सतीः) प्रबल शक्तियां हैं (तान् उ) उनको ही विद्वान् लोग (पुंसः आहुः) 'पुं' शक्ति या प्रबल पुरुष रूप से (आहुः) कहा जाता है। उनको (अक्षण्वान्) चक्षुष्मान् विद्वान् (पश्यत्) साक्षात् करता है । (अन्धः) अन्धा मूर्ख पुरुष उन को (न विचेनत्) नहीं जान पाता । (यः) जो (पुत्रः) पुत्र बालक

१४-(द्वि०) 'युक्ता व्रजन्ति' (च०) 'यस्मिन्नार्पिता भुवनान्यार्पिता' इति पैप्प० सं० । 'यस्मिन्नार्पिता' इति ऋ० ।

होकर भी (कविः) क्रान्तदर्शी है (सः) वह (ईम्) इस रहस्य को (आ चिकेत) जानता है, (यः) और जो (ताः) उन शक्तियों को (विजानात्) विशेष रूप से जान लेता है (सः) वह (पितुः पिता असत्) पिता का भी पिता हो जाता है। अथवा—(स्त्रियः सतीः तान् उ मे पुंसः आहुः) जो स्त्रियां हैं मेरे उत्पन्न किये उन स्त्री प्राणियों को भी विद्वान् पुरुष 'जीवात्मा' या 'पुरुष' नाम से पुकारते हैं। आदित्य पक्ष में—सूर्य आदित्य की रश्मियें जलों को गर्भ में धारण करने से स्त्रियां हैं, तो भी वृष्टि के जल सेचन में समर्थ होने और पृथिवी जल सेचन के बाद अन्नो-त्पादन में समर्थ होने से उनको भी पुमान् कहा जाता है। शेष पूर्ववत्।

साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजा इति।
तेषामिष्टानि विहितानि धामश स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः॥१६॥

ऋ० १ । १६४ । १५ ॥

भा०—(साकंजानां) एक ही साथ उत्पन्न हुए प्राणों में से (सप्तथम्) सातवें को (एकजम्) एकज अर्थात् एक रूप से उत्पन्न हुआ (आहुः) बतलाते हैं। (यमाः) दो दो जोड़े रूप से विद्यमान (ऋषयः) प्राण (षट्) छः हैं और वे (देवजा इति) देव अर्थात् आत्मा से उत्पन्न हुए बतलाये जाते हैं। (तेषाम्) उन के (धामशः) धारण सामर्थ्य या ग्रहण शक्ति के अनुसार ही (इष्टानि) इनकी इच्छाएँ या चेष्टाएँ या कार्य (विहितानि) बनाये हैं। वे (स्थात्रे) स्थिर, नित्य, आत्मा के हित के लिये ही (रूपशः) भिन्न २ रूपों में (विकृतानि) विकार को प्राप्त होकर (रेजन्ते) प्रकट होते हैं। अर्थात् कान, नाक, आंख, ये छहों दो-दो के जोड़े हैं। इनमें सातवां मुख का प्राण जोड़ा नहीं, वह एक ही है। वह 'एकज' है। इनमें उक्त छहों ऋषि ज्ञानद्रष्टा हैं ये 'देवज' कहाते हैं। उन सब के अपने ग्राह्य विषय नियत

१५–(प्र०) 'ता उ' (तृ०) 'इमाः' (च०) 'सवितुःपि'–इति तै० आ० ।

हैं और आत्मा के निमित्त ये गति कर रहे हैं। आदित्य पक्ष में—साम ऋतुएँ हैं। जिनमें सातवीं ऋतु एक मलमास से उत्पन्न होने से वह एकज है। शेष ऋतु दो दो मासों से बनते हैं वे यम हैं। वे सूर्य से उत्पन्न होती हैं इसलिये 'देवज' है। उनके अपने २ सामर्थ्य से अपना इष्ट परिणाम होता हैं। वे 'स्थाता' सूर्य के कारण नाना रूपों में प्रकट होते हैं।

अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात्।
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात् क्व स्वित् सूते नहि यूथे अस्मिन् ॥ १७ ॥ ऋ० १ । १६४ । १६ ॥

भा०—(एना गौः) वह ज्ञानमार्ग ब्रह्मशक्ति या प्रजापति की मेघमयी (परेण) पर, परम ब्रह्म लोक से नीचे और (एना अवरेण) इस नीचे के लोक से ऊपर भी (पदा) ज्ञान द्वारा (वत्सं) जगत् को (बिभ्रती) पुष्ट करती हुई (उद् अस्थात्) ऊपर उठती है। (सा) वह (कद्रीची) न जाने कहां से आती और कहां को जाती है और वह (कं स्वित्) किस (अर्धम्) परम श्रेष्ठ प्रभु के पास (परागात्) पुनः लौट जाती है। न जाने वह (कं स्वित् सूते) वह कहां इस सन्तान को उत्पन्न करती है। (नहि यूथे अस्मिन्) वह स्वयं इस यूथ अर्थात् विकृतिगण में नहीं है। वह ब्रह्मशक्ति इस लोक के ऊपर और उस लोक से नीचे समस्त संसार को पालती है। और फिर उसी में लीन होजाती है। इतने जीव कहां से उत्पन्न करती है इसका ज्ञान नहीं है। पर वह प्राकृतिक विकार रूप महत् आदि पदार्थों से अवश्य भिन्न है।

आदित्यपक्ष में—उषा वह गौ जो अपने चरण के समीप सूर्य रूप वत्स को धारण करती है वह कहां से आती कहां जाती है। और कहां अपने सूर्य बालक को प्रसव करती है। पूर्व प्रकाशित तारायूथ में वह उसको नहीं प्रसव करती।

१७—(च०) 'यूथे अन्तः' इति ऋ० । (तृ०) 'पराकात्' इति कठ० सं० ।

अध्यात्म में—(परेण अवः) पर आत्मतत्व से नीचे और (एना अवरेण परः) इस अधोवर्त्ती इन्द्रियगण से ऊपर (पदा) ज्ञानशक्ति से (वत्सम्) अपने वत्स रूप मन को (बिभ्रती गौः उदस्थात्) पुष्ट करती हुई (गौः) चेतना शक्ति प्रकट होती है । (सा कद्रीची) वह कहाँ से आती है (कं स्विद् अर्धं परागत्) किस उत्तम, समृद्ध आत्मा में पुनः लौट जाती है। इस मन को वह कहाँ उत्पन्न करती है जिससे यह वत्स मन इस इन्द्रिय गण में परिगणित नहीं होता ।

अवः परेण पितरं यो अस्य वेदावः परेण पर एनावरेण ।
कवीयमानः क इह प्र वोचद् देवं मनः अधि प्रजातम् ॥ १८ ॥

भा०—(परेण अवः) परम परमेश्वर से उतर कर विराजमान (अस्य) इस पूर्वोक्त मन के (पितरम्) पालक आत्मा को और (परेण अवः एना अवरेण परः) पर आत्मा से नीचे और इस इन्द्रियगण से उत्कृष्ट इस मन के विषय में (यः वेद) जो जानता है वह (कवीयमानः) स्वयं अपने को क्रान्तदर्शी विद्वान् मेधावी के समान बता कर (कः) कोई दुर्लभ ही (इह) इस जगत् में (प्रवोचत्) बतला सकता है कि (देवम्) क्रीड़ाशील या ज्ञान को संकल्प विकल्प द्वारा दर्शाने वाला (मनः) मन अन्तःकरण (कुतः अधि प्रजातम्) कहाँ से प्रकट हुआ है?

ये अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच आहुर्ये पराञ्चस्ताँ उ अर्वाच आहुः ।
इन्द्रश्च या चक्रथुः सोम तानि धुरा न युक्ता रजसो वहन्ति ॥१९॥

भा०—(ये) जो जीवगण (अर्वाञ्चः) इस लोक में शरीरधारी हैं उनको ही (पराचः) परम ब्रह्म से दूर हटा हुआ (आहुः) कहते हैं । और ये

१८–(प्र० द्वि०) 'यो अस्यानुवेद पर एनावरेण' इति ऋ०, पैप्प० सं० ।
१९–(च०) 'धुरा नियुक्ता' इति पैप्प० सं० ।

(पराञ्चः) यहाँ से इस लोक के योग से (पराञ्चः) परे चले गये हैं (तान्) उनको ही (अर्वाचः) परम पद के समीप (आहुः) कहा जाता है। (इन्द्रश्च सोम) हे इन्द्र और सोम! जीव और ब्रह्मन्! (या चक्रथुः) जिन कर्मों को आप दोनों करते हो (तानि) वे कर्म ही (धुरा युक्ता न) धुरे में जुड़े घोड़ों के समान (रजसः) इन जीवों को लोक लोकान्तरों में (वहन्ति) ले जाते हैं।

आदित्य पक्ष में—जो ग्रह अर्वाग् हैं उनको ज्योतिषी पराक् दूरस्थ कहते हैं, गति के वश से जो समीप होते हैं वे ही दूर हो जाते हैं। इन्द्र और सोम गति के वश से जो समीप होते हैं वे ही दूर हो जाते हैं। इन्द्र और सोम सूर्य और चन्द्र जिन चक्रों को लगाते हैं वे ही इस जीव लोक को वहन करते हैं।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥ २० ॥

भा०—(सयुजा) एकत्र रहने वाले (सखाया) एक दूसरे के मित्र (सुपर्णा) उत्तम ज्ञान, पालन और सामर्थ्य से युक्त, दोनों ईश्वर और जीव दो पक्षियों के समान हैं। वे दोनों (समानं वृक्षम्) एक ही संसार रूप वृक्ष को (परि सस्वजाते) चिपटे रहते हैं अर्थात् उस पर आश्रय लेते हैं। (तयोः) उन दोनों में (अन्यः) दूसरा पक्षी जीव (स्वादु) आनन्ददायक (पिप्पलम्) पिप्पल, कर्मफल को (अत्ति) भोग करता है और (अन्यः) दूसरा (अनश्नन्) भोग न करता हुआ भी (अभि चाकशीति) केवल देखा करता है। अर्थात् दूसरा साक्षी रूप से विराजता है। किन्हीं के मत में ये दो पक्षी जीव और मन हैं। जो समान भाव से उच्छेद करने योग्य देह रूप वृक्ष में आश्रित हैं। असङ्ग आत्मा साक्षी है

२०—(प्र०) 'सुयुजा' इति पैप्प० सं०। (तृ०) 'पिप्पलं' इति क्वचित्।

और मन भोग करता है। यह रूपक छत्रि न्याय से दोनों पक्षों में संगत है। देखो श्वेताश्वतर, मुण्डक और कठ उपनिषदें।

यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे।
तस्य यदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद॥ २१॥

ऋ० १। १६४। २२।

भा०—(यस्मिन्) जिस (वृक्षे) ब्रह्ममय वृक्ष पर (मध्वदः) मधु अर्थात् आत्म ज्ञानरस का उपभोग करने हारे (सुपर्णाः) शुभ ज्ञानसम्पन्न मुक्तजन (निविशन्ते) आश्रय लेते हैं और (विश्वे) संसार में (अधि सुवते च) पुनः आते हैं। अर्थात् पुनः मुक्ति से लौट आते हैं (तस्य) उस ब्रह्ममय वृक्ष का (यत्) जो (स्वादु) परम सुखकारी (अग्रे) सर्वश्रेष्ठ (पिप्पलं) फल (आहुः) बतलाते हैं (यः) जो पुरुष (पितरम्) भवतारक, सकल दुःखवारक, परिपालक उस परम पालक प्रभु को (न वेद) नहीं जानता, नहीं उपासना करता (तत्) वह परम स्वादु फल उसको (न नशत्) नहीं प्राप्त होता।

अध्यात्म में—जिस आत्मा रूप वृक्ष पर मधुर धुर फल के भोग करने वाले पक्षियों के समान प्राण या इन्द्रियगण स्वाप काल में लीन हो जाते हैं और पुनः जागरण काल में उत्पन्न हो जाते हैं जिसका वह परम स्वादिष्ट फल है, जो उस पालक आत्मा को नहीं जानते या नहीं उपासना करते उनको वह फल प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार आदित्य पक्ष में—सुपर्ण=किरणें सूर्य रूप वृक्ष में मधु अर्थात् जल ग्रहण करने वाली उसमें लीन होतीं और उषाकाल में पुनः प्रकट होती हैं, उसका पालक आरोग्यप्रद फल है। जो सूर्य की उपासना या सेवन नहीं करते उनको वह फल नहीं मिलता।

२१-(तृ०) 'तस्यः इदाहुः' इति ऋ०।

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भक्षमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति ।
एना विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश
॥ २२ ॥ (२५) ऋ० १ । १६४ । २१ ॥

भा०—(यत्र) जिस ब्रह्म में (सुपर्णाः) उत्तम ब्रह्मज्ञानी, मुक्त पुरुष (अनिमेषम्) निरन्तर एक क्षणक भर सूक्ष्म काल के व्यवच्छेद के भी विना (अमृतस्य) उस अविनाशी नित्य अमृतरस के (भक्षम्) उपभोग को (विदथा) अपने ज्ञान सामर्थ्य से (अभिस्वरन्ति) प्राप्त कर के प्रगान करते हैं, नाना वाणियों द्वारा प्रकट करते हैं । (एना) वह (विश्वस्य) समस्त (भुवनस्य गोपाः) भुवनों का परिपालक परमात्मा (धीरः) धीर सबका धारणकर्त्ता, सर्वज्ञ (मा) मुझ (पाकं) अपक्व या अल्प पक्व, और भी पाक होने योग्य ज्ञानी मुमुक्षु को (अत्र) इस सुखमय पद या इस संसार में (आ विवेश) प्रवेश करता है ।

आदित्य पक्ष में—जिस आदित्य में सुपर्ण=रश्मियें अमृत जल को प्राप्त करके प्रतप्त होती हैं वह समस्त भुवनों का स्वामी मुझे सुख प्रदान करे । अध्यात्म पक्ष में सुपर्णाः=इन्द्रियगण ।



[१०] आत्मा और परमात्मा का ज्ञान ।

ब्रह्मा ऋषिः । गौः, विराड् आत्मा च देवताः । १, ७, १४, १७, १८ जगत्यः । २१ पञ्चपदा शक्वरी । २३, २४ चतुष्पदा पुरस्कृतिर्भुरिक् अतिजगती । २, २६ भुरिजौ । ३,६,८,१३, १५, १६,१९,२०,२२,२५,२७,२८ त्रिष्टुभः । अष्टाविंशर्चं सूक्तम् ॥

२२–(प्र०) 'अमृतस्य भागम्' (तृ०) 'इतो विश्वस्य' इति ऋ० ।
(तृ०) 'यो नो विश्वस्य' इति पैप्प० सं० ।

यद् गा॑य॒त्रे अधि॑ गाय॒त्रमाहि॑तं॒ त्रैष्टु॑भं वा त्रैष्टु॑भान्नि॒रत॑क्षत ।
यद्वा॒ जग॒ज्जग॒त्याहि॑तं प॒दं य इत् तद् वि॒दुस्ते अ॑मृत॒त्वमा॑नशुः ॥१॥
ऋ० १ । १६४ । २४ ॥

भा०—(यद्) जो (१) (गायत्रे) 'गायत्र' में (गायत्रं अधि आहितम्) गायत्र स्थित है (वा) और (२) (त्रैष्टुभात्) त्रैष्टुभ से (त्रैष्टुभं) त्रैष्टुभ की (निर् अतक्षत्) रचना की, कल्पना की । (यद्वा) और (३) जो (जगत्याम्) जगती में (जगत्) जगत् (आहितम्) स्थिर है (तत्) उस रहस्य को (ये विदुः) जो विद्वान् लोग जानते हैं (ते) वे (अमृतत्वम् आनशुः) अमृतत्व, मोक्ष पदका भोग करते हैं ।

(१) 'इमे वै लोका गायत्रम्' । तां० १६।११।११॥ गायत्रोऽयं भूलोकः। कौ० ८।९॥ गायत्रेऽस्मिन् लोके गायत्रोऽयमग्निरध्यूढः। कौ० १४।२ ॥ प्राणो गायत्री प्रजननम् । तां० १६।४।५॥ प्राणः गायत्रम् । जै० उ० ११३७।७॥ अग्निर्वै गायत्री। श० १६ । ११११५ ॥ गायत्रो ब्राह्मणः ऐ० । ११२८॥ तेजो वै ब्रह्मवर्चसी गायत्रम् । कौ० १७।२।९॥ वीर्यं गायत्री । तां० ७।३।१३॥ गायत्रम् हि शिरः । श० ८।६।२।६॥ अष्टाक्षरा गायत्री । ऐ० २।१७॥ चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री। श० ३।५।१।१०॥ गायत्री प्राचीदिक्। श० २।३ ११।१२॥ गायत्री वसूनां पत्नी । गो०उ० २।९॥ वसवो गायत्रीं समभरन् । जै०उ० १।१८।४॥ गायत्रं वै रथन्तरम्। तां० ५।१।१५॥ गायत्रः सप्तदशः स्तोमः । तां० ५।१।१५॥ गायत्रो यज्ञः । गो० पू० ४ । २४ ॥ गायत्रं वै प्रातःसवनम् । गो०उ० ३।१६॥ गायत्रो वै पुरुषः ॥ तै० ३।२१।१॥

गायत्री और गायत्र शब्द से वैदिक परिभाषा में तीनों लोक, भूलोक, प्राण, अग्नि, ब्राह्मण, ब्रह्मवर्चस् तेज, वीर्य, शिर, मुख, अष्टाक्षर छन्द, प्राची दिशा, वसुपत्नी, रथन्तर, सप्तदशस्तोम, यज्ञ, प्रातःसवन, और पुरुष इतने पदार्थ लिये जाते हैं । अर्थात् गायत्र में गायत्र आश्रित है,

[१०] १–(द्वि०) 'त्रैष्टुभाद्वा त्रैष्टुभं' इति ऋ० ।

इस लोक में अग्नि आश्रित है या भूलोक अग्नि पर आश्रित है या ब्राह्मण में ब्रह्मतेज है, पत्नी पुरुष पर आश्रित है, प्रातः सवन यज्ञ में आश्रित है, रथन्तर साम गायत्री छन्द पर आश्रित है, प्राण आत्मा में आश्रित है, यह जीव आत्मा परमात्मा में आश्रित है।

(२) त्रैष्टुभम्— त्रिवृद्वज्रस्तस्य स्तोमम् इवेत्यौपमिकम्। दे० ३।१६॥ वज्रः त्रिष्टुप्, त्रैष्टुभ इन्द्रः। कौ० ३।२॥ त्रैष्टुभो वज्रः। गो०२। १।१८॥ ऐन्द्रं हि त्रैष्टुभं माध्यन्दिनं सवनम्। ऐ० ६। ११॥ एते वै छन्दसां वीर्यवत्तमे यद् गायत्री च त्रिष्टुप् च। ता० २०।१६।८॥ बलं वै वीर्यं त्रिष्टुप्। कौ० ७।२॥ ओजो वा इन्द्रियं वीर्यं त्रिष्टुप्। ऐ० १।५।२८॥ उरः त्रिष्टुप्। श० ८।६। २।७॥ त्रिष्टुप् छन्दो वै राजन्यः। तै० १।२८॥ क्षत्रं वै त्रिष्टुप् कौ० ७।१०॥ या राका सा त्रिष्टुप्। ऐ० ३।४७॥ त्रैष्टुभो हि वायुः। श० ८।७।३।१२॥ त्रैष्टुभेऽन्तरिक्षलोके त्रैष्टुभो वायुरध्यूढः। कौ० १७। ३॥ यजुषां वायुर्देवतं तदेव ज्योतिस्त्रैष्टुभं छन्दोऽन्तरिक्षं स्थानम्। गो० पू० १।२९॥ अपानस्त्रिष्टुप्। तां० ७।३।८॥ यः एवायं प्रजननः प्राण एष त्रिष्टुप्। श० १०।३। १।१॥ त्रैष्टुभं चक्षुः। ता० २०।१६।५॥ आत्मा वै त्रिष्टुप्। श० ६।४।२।६॥ त्रैष्टुभः पञ्चदश स्तोमः। तां०५।२।१४॥ त्रिष्टुप् रुद्राणां पत्नी। गो।०उ०२।९॥ एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप्। कौ० ३।२॥ चतुश्चत्वारिंशदक्षरा वै त्रिष्टुप्। श० ८।५।१।११॥ त्रिष्टुप् इयं पृथ्वीः।२।१।२०॥ त्रिष्टुप् असौ द्यौः। श० १।७।२।१५॥ 'त्रिष्टुप्' और 'त्रैष्टुभ्' शब्द से वैदिक परिभाषा में तीनों लोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौः, वज्र, इन्द्र, माध्यन्दिन सवन, ओज, इन्द्रिय, क्षात्रबल, क्षत्रिय, राका, वायु, अपान, प्रजनन। प्राण, चक्षु, उरःस्थल, आत्मा, पञ्चदश स्तोम रुद्रों की पत्नी ११ अक्षरों का या ४४ अक्षरों का छन्द इतने पदार्थ लिये जाते हैं। 'त्रैष्टुभ की से त्रैष्टुभ रचना की' अर्थात् अन्तरिक्ष से वायु प्रकट हुआ, उरस्थल से बल उत्पन्न हुआ, क्षत्रिय में बाहुबल है, इन्द्र में वज्र आश्रित है, आत्मा में इन्द्रिय हैं, प्रज-

नन या अपान भी मध्यभाग में आश्रित है और ये भी आत्मा में स्थित हैं, रुद्रों की पत्नी शक्ति रुद्रों में आश्रित है। और जीव आत्मा उस परम लोक में आश्रित है।

(३) सर्वं वा इदमात्मा जगत् । श० ४। ५। ९। ८॥ इयं पृथिवी जगती । अस्यां हि इदं सर्वं जगत् । श० १ । ८ । २। ११ ॥ या सिनीवाली सा जगती । ऐ० ३ । ४७ ॥ जागतो वै वैश्यः । ऐ० १।२८॥ ता वा एता जगत्यो यद् द्वादशाक्षराणि पदानि । जगती प्रतीची दिक् । श० ८।३।१।१२॥ जगत्यादित्यानां पत्नी । गो० ३।२।९॥ साम्नां आदित्यं दैवतं तदेवज्योतिर्जागतं छन्दो द्यौः स्थानम् । गो० पू० १।२९॥ श्रोणी जगत्यः । श० ८।६।२।८॥ अवाङ् प्राणः एष जगती । जागतं श्रोत्रम् ता० २० । १६ । ५ ॥ जागतं वै तृतीयसवनम् । ऐ० ६ । २ । १२ ॥ जागता वै ग्रावाणः । कौ० २९ । १ ॥ जगत्येव यशः ।

वैदिक परिभाषा में 'जगती', 'जागत' शब्दों से समस्त संसार, आत्मा, पृथिवी, सिनीवाली, ब्रह्म, पशु, वैश्य, द्वादशाक्षर छन्द, प्रतीची दिशा, आदित्यों की पत्नी, द्यौः स्थान, अवाक् प्राण, श्रोत्र, तृतीय सवन, ग्रावा और यश, ये पदार्थ लिये जाते हैं। 'जगती में जगत् आश्रित है' अर्थात् समस्त जगत् उसके चलाने वाले परमात्मा में आश्रित है, आदित्य द्यौलोक में स्थित हैं, अवाक् प्राण अर्थात् नाभि से नीचे का प्राण, श्रोणी या कूल्हों में स्थित है, पशुगण वैश्यों में या वैश्यवर्ण पशु समृद्धि में स्थित है, आदित्य ब्रह्मचारी तृतीय सवन में स्थित है, ४८ वर्ष की ब्रह्मचर्य शक्ति आदित्य ब्रह्मचारियों में स्थित है। श्रोत्र श्रवण या श्रुतिविद्या का श्रवण पठन, मनन विद्वानों में स्थित है। इत्यादि।

गा॒य॒त्रेण॒ प्रति॑ मिमीते अ॒र्कम॒र्केण॒ साम॒ त्रैष्टु॑भेन वा॒कम् ।
वा॒केन॑ वा॒कं द्वि॒पदा॒ चतु॑ष्पदा॒क्षरे॑ण मिमते स॒प्त वाणीः॑ ॥ २ ॥

भा०—(१) (गायत्रेण) गायत्र से (अर्कम्) अर्क को (प्रति मिमीते)

प्रतिमान करता है, मापता है, ज्ञान करता है, परिमित करता है, प्राप्त करता है। (२) और (अर्केण साम) अर्क से साम को परिमित करता या मापता या ज्ञान करता है। (३) (त्रैष्टुभेन वाकम्) त्रैष्टुभ से 'वाक' को और (४) (वाकेन वाकम्) वाक से वाक को प्रतिमान या मापन करता वा ज्ञान करता है। और (५) (द्विपदा) दो पद के और (चतुष्पदा अक्षरेण) चारपद के अक्षरों से (सप्त वाणीः प्रति मिमीते) सात प्रकार की वाणियों को मापता है।

(१) 'गायत्रेण अर्कम्'—गायत्रं पुरस्तादुक्तम्। अर्कः—अन्नं वै देवाः अर्क इति वदन्ति ता० १५।३।२३॥ आदित्यो वा अर्कः। श० १०।६।२।६॥ अर्कश्चक्षुः तदसौ सूर्यः। अग्निरर्कः। श० २।५।१।४॥ स एषोऽग्निरर्को यत्पुरुषः। श० १०.३।४।५॥ प्राणो वा अर्कः। वेत्थार्कमिति। पुरुषं हैव तदुवाच। वेत्थार्कपर्णे इति कर्णौ हैव तदुवाच। वेत्थार्कपुष्पे इत्यक्षिणी हैव तदुवाच। वेत्थार्ककोश्याविति नासिके हैव तदुवाच। वेत्थार्कसमुद्गकावित्योष्ठौ हैव तदुवाच। वेत्थार्कधाना दन्तान्हैव तदुवाच। वेत्थार्काष्ठीलाविति जिह्वां हैव तदुवाच। वेत्थार्कमूलम् इत्यन्नं हैव तदुवाच। श० १० ३।४।५॥ अन्नं वै देवा अर्क इति वदन्ति। रसमस्य पुष्पम्। तां० १५।३।२३॥

वैदिक परिभाषा में अर्क शब्द से अन्न, आदित्य, चक्षु, अग्नि, जीव, परमपुरुष, प्राण और पुरुष या जीवात्मा कहे जाते हैं। गायत्र से अर्क को पाता है, ज्ञान करता है, या मापता है अर्थात्) पृथ्वी से अन्न प्राप्त करता है, प्राण से आत्मा का ज्ञान करते हैं, आत्मा से परमात्मा का ज्ञान करते हैं इत्यादि योग्य योजनाएँ करनी चाहियें।

(२) 'अर्केण साम'—अर्कः पुरस्तादुक्तः। साम—स प्रजापतिः हैवं षोडशधा आत्मानं विकृत्य सार्धं समैत्। तद् यत्सार्धं समैत् तत् साम्नः सामत्वम्। जै० उ० १।४८।७॥ एष आदित्यः सर्वैर्लोकैः समः, तस्मादेष एव साम। जै० उ० १।१२।५॥ एतं पुरुषं छन्दोगा उपासते। एतस्मिन्

हि इदं सर्वं समानम् । श० १०।५।२।१०॥ तद् यत् सा च अमश्च तत् साम अभवत् । जै० उ० १।५३।५॥ यद्वै तत्सा च अमश्च समवदताम् तत्साम्नः सामत्वं । गो० उ० ३।२०॥ सैव नाम ऋक् अमो नाम सा । गो० उ० ३।२०॥ प्राणो वाव अमः वाक् सा तत्साम । जै० उ० ४।२३।३॥ प्राणो वै साम प्राणे हीमानि भूतानि सम्यञ्चि । श० १४।८।१४।३॥ तद् यदेतत्सर्वं वाचमेवाभिसमापति तस्माद्वागेव साम । जै० उ० १।४०।६॥ स्वर्गो लोकः सामवेदः । प० १ ५॥ साम वै देवानामन्नम् । तां० ६।४।१३॥ साम्राज्यं वै साम । श० १२।८।३।२३॥ क्षत्रं साम । १२।८।३।२३॥ संवत्सर एव साम । जै० उ० १।३५।१॥ बन्धुनस्साम । गो० उ० ३।६।७॥ साम हि सत्याशीः । ता० ११।१०।१०॥ तयोः सदसतोः यत् सत् तत् साम तन् मनः, स प्राणः । जै० उ० १।५३।२॥ धर्मः इन्द्रो राजा । तस्य देवा विशः । सामानि वेदः । श० १३।४।३।१४॥

वैदिक परिभाषा में साम शब्द से षोडशकल प्रजापति, सर्व लोकमय आदित्य=परमेश्वर, सर्वोपास्य पुरुष, ऋग्वेद और सामवेद, प्राण् वाक्, प्राण, स्वर्ग=मोक्षपद, देवों का अन्न=ज्ञान, क्षत्रबल, साम्राज्य, सत्, मनः प्राण, विद्वानों का ब्रह्म ज्ञानमय उपासना काण्ड=सामवेद, इतने अभिप्राय लिये जाते हैं ।

'अर्क से साम' का प्रतिमान, ज्ञान, मापन और प्राप्त किया जाता है अर्थात् अन्न से प्राण और मन प्राप्त किया जाता है, आदित्य से क्षात्रबल की उपमा है, आदित्य से ब्रह्म की उपमा है । अग्नि=जीव या आत्मा से षोडशकला प्रजापति का परिज्ञान किया जाता है, प्राण से वाणी उत्पन्न होती है आत्मा से परमपद या परमात्मा प्राप्त होता है । ऋग्वेद से सामवेद का गान उत्पन्न होता है । इत्यादि नाना सत्य योजना करनी चाहिये ।

(३) 'त्रैष्टुभेन वाकम्' त्रैष्टुभः प्रागुक्तः । वाकम्—वाग् वै गौः । श० ७।२।२।५॥ वाग् वै धेनुः । गो०पू०२।२१॥ वाक् सरस्वती । श० ७।५।१।

३१॥ वाग् वै सरस्वती पावीरवी। ऐ० ३।३७॥ अथ यत् स्फूर्जयन् वाचमिव वदन् दहति तदग्नेः सारस्वतं रूपम् । ऐ० ३।३॥ सा वाक् ऊर्ध्वा उदातनोद् यदपां धारा संतता। ता० २०।१४।२॥ वाग् वै मनः समुद्रस्य चक्षुः। ता० ६।४।७॥ यदाहुः किं सहस्रम् । इति इमे लोकाः इमे वेदाः अथो वाग् इति ब्रूयात् । ऐ० ६।१५॥ वाग् वै सिनीवाली । श० ६।५।१।९॥ वाग् वै सार्पराज्ञी । कौ०२७।४॥ वाग् वै धिषणा । श० ६।५।४।५॥ वाग् वै राष्ट्री । ऐ० १।१९॥ वाग् इति पृथिवी । जै० उ० ४।२२।११॥ वाग् इति अन्तरिक्षम् । जै० उ० ४।२२।११॥ वाग् वै विराट् । श० ३।५।१।३४॥ वाग वै विश्वकर्मा ऋषिः ,वाचा हि इदं सर्वं कृतम्। श० ८।१।२।९॥ मर्हिषी हि वाक्। श० ६।५।३।४॥ वाग् ऋक् । जै० उ० ४।२३।४॥ वाग् हि शस्त्रम् । ऐ० ३।४४॥ वाग् वा इन्द्रः, या वाक् सा अग्निः । गो० उ० ४।११॥ वाग् हि अग्नेः स्वो महिमा । श० १।४।२।१७॥ प्रजापतिर्हि वाक् । तै० १।३।४।५॥ वाग् वै वायुः । तै० १।८।८।१॥ तस्याः वाचः प्राणः स्वरसः । जै० उ० १। १।७॥ मनसः एषा कुल्या यद् वाक् । जै० उ० १।१८।३॥ अपरिमिततरमिव हि मनः परिमिततरेव हि वाक्। श० १।४।४।७॥ मनो ह पूर्वं वाचः यद्धि मनसा अभिगच्छति तद्वाचा वदति । ता० ११।१।३॥ वाग् यज्ञः । श० १।५।२।७॥ वज्र एव वाक् । ऐ० २।२१॥ वाग् इति स्त्री । जै० उ० ४। २२।११॥ वाचो वाव तौ स्तनौ सत्यानृते वाव ते । ऐ० ४।१॥ इत्यादि ।

वैदिक परिभाषा के अनुसार वाक् शब्द से वाणी, धेनु, मेघ, गर्जना, विद्युत्, वेद, सिनीवाली, पृथिवी, बुद्धि, राष्ट्रशक्ति, अन्तरिक्ष, विराट् विश्वकर्मा=परमात्मा, रानी, ऋग्वेद, अग्नि, प्रजापति=परमेश्वर, वायु. यज्ञ; वज्र, स्त्री इत्यादि पदार्थ ग्रहण किये जाते हैं। त्रैष्टुभ से वाक् को प्राप्त किया जाता, परिमित किया तथा ज्ञान किया जाता या मापा जाता है। अर्थात् अन्तरिक्ष से वायु परिमित है, प्राण से वाणी उत्पन्न होती है, मन के भावों को वाणी परिमित करती हैं, वायु से वाक् या शब्द उत्पन्न होता

है, राजा से राष्ट्रशक्ति परिमित है, राष्ट्रशक्ति से पृथिवी शासित है, द्यौ से पृथिवी परिमित है, इत्यादि योजनाएं स्पष्ट हैं ।

(४) 'वाकेन वाकम्'—वाक् इति प्रागुक्तम् । 'वाणी से वाणी' या वाक् से वाक् परिमित है अर्थात् वाक् से ये समस्त वेद प्राप्त हैं, परिमित हैं या वाणी द्वारा प्रजापति जाना जाता है । वाणी से यज्ञ होता है । वाणी से राष्ट्रशक्ति संचालित है वाणी से लोकवेद सीमित, परिज्ञात एवं वर्णित हैं इत्यादि योजनाएं स्पष्ट हैं ।

(५) (द्विपदा चतुष्पदा अक्षरेण सप्तवाणीः मिमते) द्विपाद्, चतुष्पाद् अक्षरों से सातों वाणियों को मापा जाता है अर्थात् अक्षरों की गणना से दो दो चरणों और चार २ चरणों से सात मुख्य छन्द की रचना होती है । गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती, ये सात छन्द हैं । इसी प्रकार सात प्रतिछन्द, सात विच्छन्द गिने जाते हैं । जिनका संक्षिप्त विवरण साम की भूमिका में स्पष्ट है । अथवा—द्विपदाः (ऋचः) पुरुषो द्विपदाः । तै० ३।९।१२।३॥ द्विपदा अयं पुरुषः । श० २।३।४।६३॥ चतुष्पदाः पशवः । गो० उ० १।४॥ चतुष्पाद् वा ब्रह्म । छान्दो० उपनि० । कतमत्तदक्षरमिति यत्क्षरन्नाक्षीयतेति । इन्द्रः । विराजो वा एतद् रूपं यदक्षरम् । तां० ८।६।१४॥ अक्षयं वा नामैतत् तदक्षरं परोक्षम् । अर्थात् द्विपद् पुरुष और चतुष्पाद् ब्रह्म जो अक्षर अविनाशी है उनसे समस्त सातों वाणियों, सातों छन्दों का ज्ञान किया जाता है । या वे सातों छन्द आत्मा परमात्मा के वाचक हैं । जैसा गायत्र, त्रैष्टुभ, जगती आदि की विवेचना में दर्शाया है ।

जगता सिन्धुं दिव्यस्कभायद् रथन्तरे सूर्यं पर्यपश्यत् ।
गायत्रस्य समिधस्तिस्त्र आहुस्ततो मह्ना प्र रिरिचे महित्वा ॥३॥
ऋ० १ । १६४ । २५ ॥

भा०—(१) परमात्मा ने (दिवि) द्यौलोक आकाश में (जगता) 'जगत्'

गतिशक्ति से (सिन्धुम्) सिन्धु गतिशील पदार्थों को (अस्कभायत्) थाम रक्खा है। (२) (रथन्तरे) रथन्तर में (सूर्यम्) 'सूर्य' का (परि अपश्यत्) दर्शन किया है। (३) (गायत्रस्य) गायत्र की (तिस्रः समिधः) तीन समिधा तीन प्रकाशमान अग्नि (आहुः) बतलाते हैं। (४) वह परमात्मा (ततः) उन सबसे भी अधिक (मह्ना महित्वा) बड़े भारी सामर्थ्य से (परिरिचे) सबसे अधिक महान् है।

(१) 'जगता'=जगत् निरन्तर गति से, 'सिन्धु'=गतिशील पदार्थों को थाम रखा है। अथवा। तद् यदेतैरिदं सर्वं सितं तस्मात् सिन्धवः। जै०उ० १।२९।९॥ प्राणो वै सिन्धुश्छन्दः। श० ८।५। २४॥ जगत् अर्थात् अन्य आदित्यों की शक्ति से सब के बन्धक सिन्धु आदित्य को आकाश लोक में थामा है।

(२) रथन्तरं=रसतमं ह वै तद् रथन्तरमित्याचक्षते परोक्षम्। श० ९।१।२।३६॥ अयं पृथिवी लोको रथन्तरम्। ऐ० ८।१॥ वाग् रथन्तरम्। तां० ७।६।१७॥ ब्रह्म वै रथन्तरम्। ऐ० ७।१।१२॥ अपानो रथन्तरम्। तां० ७।६।१४॥ प्रजननं वै रथन्तरम्। तां० ७।७।१६॥ रथन्तरे इति निमित्त सप्तमी।

योगी साधक रसतम परमब्रह्मपद में उस सूर्य=परम ज्योतिर्मय का दर्शन करता है या पृथ्वी के निमित्त सूर्य को बना देखता है।

(३) गायत्रस्य तिस्रः समिध आहुः। समस्त संसार को तीन प्रकाशमान अग्नि हैं। अग्नि, विद्युत् और सूर्य।

(४) परन्तु वह परमात्मा अपने महान् सामर्थ्य से उनसे भी बड़ा है। 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ कठ० उप०।

उप॑ ह्वये सु॒दुघां॑ धे॒नुमे॒तां सु॒हस्तो॑ गो॒धुगु॒त दो॑हदेनाम्।
श्रेष्ठं॑ स॒वं स॑वि॒ता सा॑विषन्नो॒ऽभी॑द्धो घ॒र्मस्तदु॒ षु प्र वो॑चत्॥४॥

ऋ० १।१६४।२६॥ अथर्व० ७।७३।७॥

भा०—व्याख्या देखो [का० ७ । ७३ । ७]

हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात् ।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय ॥ ५ ॥

ऋ० १ । १६४ । २७ ॥ अथर्व० ७ । ७३ । ८ ॥

भा०—व्याख्या देखो [का० ७ । ७३ । ८]

गौरमीमेदभि वत्सं मिषन्तं मूर्धानं हिङ्ङकृणोन्मातवा उ ।
सृक्वाणं घर्ममभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः ॥ ६ ॥

ऋ० १ । १६४ । २८ ॥

भा०—(गौः) जिस प्रकार गौ (मिषन्तं वत्सं अभि) उत्सुकता के कारण छटपटाते या अनिमेष वृत्ति से देखते हुए बछड़े के प्रति (अमीमेत्) हंभारती है और जिस प्रकार (मातवा उ) बछड़ा भी माता के लिये अपने (मूर्धानम्) शिर को (हिङ् अकृणोत्) हिंकार के शब्द से उत्सुकता से हिलाता और हंभारता है उसी प्रकार यह प्रजापति की परम वाणी मेघमयी (सृक्वाणं) अपने सर्जन करने वाले (घर्म) अति तेजस्वी सूर्य के प्रति (वावशाना) अति कामना युक्त होकर शब्द करती या गर्जती हुई (मायुम्) घनघोर शब्द (मिमाति) करती है और स्वयं (पयोभिः) अपने जल वर्षणों द्वारा (पयते) रसों का पान कराती है। अध्यात्म में—गौः=सर्वव्यापक ब्रह्मशक्ति (मिषन्तं वत्सं) अति उत्कण्ठित जीव के प्रति अपना (अमीमेद्) ज्ञान प्रदान करती या अनाहत नाद उत्पन्न करती है। और वह जीव आत्मा भी अपने (मातवा) माता के समान प्रेमी परमात्मा के लिये अपने शिरोभाग द्वारा (हिङ् कृणोति) उत्सुकता प्रकट करता है। वह ब्रह्ममयी ऋतम्भरा अपने (घर्मं सृक्वाणं वावशाना) तेजोमय स्रष्टा के प्रति कामना करती हुई (मायुं मिमाति) शब्द या परमज्ञान

६—(प्र०) 'अनुवत्सं' इति ऋ० । 'अपवत्सं' इति पैप्प० सं० ।

उत्पन्न करती और (पयोभिः पयते) आनन्दमय अमृतों से तृप्त करती है ।

अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसनावधि श्रिता ।
सा चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यान् विद्युद्भवन्ती प्रति वव्रिमौहत ॥७॥
ऋ० १ । १६४ । २९ ॥

भा०—(अयम्) यह मेघ जो ध्वनि करता है (सः) वही परमात्मा प्रजापति (शिङ्क्ते) ध्वनि करता है । (येन) जिससे (अभी-वृता) घिरी हुई (गौः) मध्यम लोक की वाणी (मायुम्) मायु=शब्द को (मिमाति) करती है और वह (ध्वंसनी) मेघ में (अधिश्रिता) आश्रय लिये रहती है । (सा) वह (चित्तिभिः) नाना क्रियाओं से (मर्त्यान्) मनुष्यों को (हि) निश्चय से (नि चकार) उपकार करती है । और (विद्युत् भवन्ती) वह विद्युत् रूप में प्रकट होती हुई (वव्रिम्) रूप को (प्रति औहत) प्राप्त होती है ।

ब्रह्मपक्ष में—(अयं सः शिङ्क्ते) यह वही परमात्मा वेदमय ज्ञान का उपदेश करता है (येन गौः अभीवृता) जिसने समस्त ज्ञानमय वाणी को अपने में धारण किया है । वही (मायुं मिमाति) ज्ञानमय वेद वाणी की रचना करता है । यह वेदवाणी (ध्वंसनौ अधिश्रिता) समस्त संसार के ध्वंस प्रलय के करनेहारे परमात्मा में प्रलयकाल में, भी आश्रित रहती है । (सा) वह वेद वाणी ही (चित्तिभिः) नाना प्रज्ञानों और कर्मों के उपदेशों से (मर्त्यान् नि चकार) सब मरणधर्मा प्राणियों को सब कार्यों के करने में समर्थ करती है । और वही (विद्युत् भवन्ती) विशेष रूप से पदार्थों को द्योतन-प्रकाशन करने में समर्थ होकर (वव्रिम्) प्रत्येक रूप पदार्थ को या ज्ञान को (प्रत्यौहत) धारण करती है ।

शास्त्रयोनित्वात् । वेदान्तसूत्र । १ । ३ ॥ न सोऽस्तिप्रत्ययो लोके यः शब्दादृते ॥

७–(तृ०) 'चकार मर्त्यं' इति ऋ०, पैप्प० सं० ।

परमात्मा वेद का परम कारण है। और कोई ऐसा ज्ञान नहीं जो शब्द ज्ञान के बिना हो ।

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम् ।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ॥ ८ ॥
ऋ० १ । १६४ । ३० ॥

भा०—(पस्त्यानाम्) समस्त गृहों, लोकों और प्रजाओं के (मध्ये) बीच में वह महान् परमेश्वर प्रभु (ध्रुवम्) नित्य, कूटस्थ होकर (एजत्) सबको चलाता हुआ (जीवम्) चेतनस्वरूप (तुरगातु) अति तीव्र गति से सर्वत्र व्यापक (अनत्) प्राणशक्ति का संचार करता हुआ (शये) सर्वत्र प्रशान्त रूप में, अव्यक्तरूप में व्यापक है । और (जीवः) वह जीवात्मा (अमृतस्य) उसी परम अमृत, मोक्षस्वरूप परमेश्वर के दिये (स्वधाभिः) निज कर्मफलों से (चरति) नाना योनियों में फल भोगता हुआ विचरता है । वह जीवात्मा भी (अमर्त्येन) अपने अमरणधर्मा स्वरूप से रह कर भी (मर्त्येन) इस मरणशील अनित्य देह के (सयोनिः) साथ रहने के कारण जन्म लेकर रहता है । इसलिये शरीर के धर्म आत्मा के साथ कहे जाते हैं ।

विधुं दद्राणं सलिलस्य पृष्ठे युवानं सन्तं पलितो जगार ।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान ॥९॥
ऋ० १० । ५५ । ५ ॥ साम० प्र० ४ । ४ । २ ॥

भा०—(सलिलस्य) सर्वव्यापक परमात्मा के (पृष्ठे) आश्रय पर (दद्राणम्) गति करते हुए (विधुम्) धौंकनी के समान प्राण धारण

८-(प्र०) 'अनच्छये' इति राथकामितः पाठः ।
९-(प्र०) 'दद्राणं समने बहूनां' इति ऋ०, साम,० तै० आ० । 'विधु दुद्राणा' इति पैप्प० सं० ।

करनेहारे (युवानम्) युवा, बलशाली (सन्तम्) अपने समीप प्राप्त जीव को (पलितः) सर्वव्यापक, परमपद में प्राप्त मोक्षरूप प्रभु (जगार) अपने भीतर ले लेता है, लीन, मग्न कर लेता है। हे जीव ! वहाँ उस (देवस्य) प्रकाशस्वरूप प्रभु परमात्मा के (काव्यम्) परम ज्ञानमय कौशल को (पश्य) देख, (महित्वा) जिसके महान् सामर्थ्य से (ह्यः) कल (सम-आनः) जो भली प्रकार जीवन धारण किये हुए होता है वह (अद्य) आज (ममार) प्राण त्याग देता है। जो महान् सामर्थ्यवान् जीव परमात्मा तक पहुँचता है, परमात्मा उसे अपनी शरण में रख लेता है और उस परमात्मा के अद्भुत व्यवस्थामय कौशल को देखो जो कल जीता है वह उसी की महिमा से आज प्राण त्याग रहा है। और प्राण आदि बन्धनों से मुक्त होकर वह परमात्मा की शरण में जाता है।

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिरा विवेश ॥१०॥(२६)

ऋ० १ । १६४ । ३२ ॥

भा०—(यः) जो (ईम्) इस जगत् को (चकार) बनाता है (सः) वह जीव (अस्य) इस परमेश्वर के विषय में (न वेद) नहीं जानता। और (यः) जो परमेश्वर (ईं ददर्श) इस समस्त संसार को देखता है, उस पर अध्यक्ष है वह भी (तस्मात्) उस जीव से (हिरुग् इत् नु) छिपा ही हुआ है। (सः) वह परमात्मा (मातुः) निर्माण करनेवाली प्रकृति के (योनौ) परम रूप या आश्रय में (परिवीतः) प्रविष्ट हुआ (बहु प्रजाः) नाना लोकों को उत्पन्न करता हुआ (निर्ऋतिः) ऋति=चेतना से रहित इस जड़ प्रकृति के भीतर (आविवेश) व्याप्त होकर रहता है।

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।

स सधीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥ ११ ॥

ऋ० १ । १६४ । ३१ ॥ १० । १७७ । ३ ॥ यजु० ३७ । १७ ॥

भा०—मैं योगी (गोपाम्) समस्त ज्ञानवाणी या गतिशील जगत् के पालक परमेश्वर को (आ पथिभिः च) समीप के लोकों और (परा पथिभिः च) दूर के लोकों में भी (चरन्तम्) व्यापक (अनिपद्यमानम्) कभी भी न नाश होने वाले, अविनश्वर, नित्य रूप में (अपश्यम्) साक्षात् करता हूँ। (सः) वह परमेश्वर (सध्रीचीः) एक साथ विराजमान् और (वि-षूचीः) नाना प्रकार से एक दूसरे के विपरीत नाना शक्तियों को भी (वसानः) स्वयं धारण करता हुआ (भुवनेषु) समस्त लोकों के (अन्तः) भीतर (आ वरीवर्त्ति) समस्त चेष्टाओं और गतियों को उत्पन्न कर रहा है।

द्यौर्नः पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्नो माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वो३र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ॥ १२ ॥

ऋ० १ । १६४ । ३३ ॥

भा०—(द्यौः) प्रकाशस्वरूप सूर्य के समान परमेश्वर ही (नः पिता) हमारा पालक पिता है। और (जनिता) वही हमारा उत्पादक है। वही (नाभिः) इस सब का उत्पत्ति स्थान, मूल कारण है। वही (इयम् पृथिवी) अति विस्तृत पृथिवी के समान विशाल होकर (नः) हमारी (माता) माता के समान है। वही (नः बन्धुः) हमारा बन्धु है। वही परमेश्वर (उत्तानयोः) ऊपर को विस्तृत, उत्तान रूप से विराजमान (चम्वोः) व्यापनशील, द्यौ, पृथिवी दोनों का (योनिः) परम आश्रय स्थान है। (पिता) सबका पालक परमेश्वर (अत्र) इस संसार में (दुहितुः) समस्त पदार्थों को पूर्ण करने और उत्पन्न करनेहारी पृथिवी

१२–(प्र०) 'द्यौर्मे' (द्वि०) 'बन्धुर्मे' इति ऋ० ।

और द्यौः दोनों के भीतर (गर्भम्) नाना पदार्थों के उत्पादन और ग्रहण करने के सामर्थ्य को (आधात्) धारण कराता है, प्रदान करता है ।

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि वृष्णो अश्वस्य रेतः।
पृच्छामि विश्वस्य भुवनस्य नाभिं पृच्छामि वाचः परमं व्यो॑म॥१३॥
ऋ० १ । १६४ । ३४ ॥

भा०—हे विद्वन् गुरो ! (त्वा) तुझसे मैं जिज्ञासु (पृथिव्याः) इस विस्तृत पृथिवी या जगत् का (परम् अन्तम्) परम अन्त, सबसे परला अन्त, अवस्था के विषय में (पृच्छामि) पूछता हूँ । और (वृष्णः) सब पदार्थों के मेघ के समान वर्षण करनेहारे, परम बलशाली (अश्वस्य) सर्वव्यापक, परमेश्वर के (रेतः) सर्वोत्पादक वीर्य, सामर्थ्य के विषय में (पृच्छामि) प्रश्न करता हूँ । और (विश्वस्य) समस्त (भुवनस्य) संसार के (नाभिम्) नाभि, केन्द्र, परम बन्धन स्थान, उत्पत्तिस्थान, मूलकारण के विषय में (पृच्छामि) प्रश्न करता हूँ । और (वाचः) वेदज्ञान या वाणी के (परमं व्योम) परम आश्रय स्थान के विषय में (पृच्छामि) प्रश्न करता हूँ ।

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतः ।
अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिर्ब्रह्मायं वाचः परमं व्यो॑म॥१४॥
ऋ० १ । १६४ । ३५ ॥ यजु० २३ । ६१ । ६२ ॥

भा०—(इयं) यह (वेदि) ज्ञानमय और सब को प्राप्त करनेवाली या सत्ता स्वरूप प्रभु शक्ति, परमेश्वरी शक्ति (पृथिव्याः परः अन्तः) पृथिवी, इस जगत् का परम आश्रय है । (अयम्) यह (सोमः) सब का प्रेरक सूर्य (वृष्णः अश्वस्य रेतः) जिस प्रकार वर्षणशील अश्व=

१३-(द्वि०, तृ०) 'पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः । पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः ।' इति ऋ०, यजु० । पैप्प० सं० ऋग्वेदवत् पाठः (तृ०) 'पृच्छामि त्वा' इति विशेषः । 'पृच्छामः' इति ला० श्रौ० सू० ।

मेघ का परम उत्पादक है उसी प्रकार वह सूर्य इस बलवान् सर्व वर्षक (अश्वस्य) सर्वव्यापक परमेश्वर का (रेतः) उत्पादक सामर्थ्य, तेज है । (अयं यज्ञः) यह यज्ञमय परमात्मा (विश्वस्य भुवनस्य नाभिः) समस्त भुवन की नाभि, केन्द्र या आश्रय है । (अयं ब्रह्मा) ब्रह्म के समान वह परम महान् परमात्मा ही (वाचः) वेदवाणियों का (परमम्) परम (व्योम) रक्षा स्थान या आश्रय है ।

न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि ।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद् वाचो अश्नुवे भागमस्याः॥१५॥
ऋ० १ । १६४ । ३७ ॥

भा०—मैं जीव (यद् इव इदम् अस्मि) जिस पदार्थ के समान यह जो कुछ भी, शरीरादि संघात रूप हूँ (न विजानामि) इस बात को भी विशेष रूप से नहीं जानता । अर्थात् मैं आत्मा के स्वरूप बतलाने के लिये किसी अन्य पदार्थ को उसके लिये दृष्टान्त के रूप में नहीं रख सकता और न शरीर, इन्द्रिय, मन आदि के संघात के तत्व को बतला सकता हूँ और जब मैं अपने पर विचार करता हूँ तब देखता हूँ कि मैं स्वयं (निण्यः) भीतर छुपा हुआ और (संनद्धः) बन्धनों से बँधा हुआ हूँ और (मनसा) मनस् अर्थात् संकल्प विकल्प शक्ति से (चरामि) कर्म फल भोगता और जीवनयापन करता हूं । और (यदा) जब (ऋतस्य) सत्य ज्ञानमय वेद के (प्रथमजाः) प्रथम २ उत्पन्न, ज्ञान (मा अगन्) मुझे प्राप्त होते हैं (आत् इत्) तभी मैं (अस्याः) इस (वाचः) परम ब्रह्ममय, वेद वाणी के (भागम्) प्राप्त करने योग्य सार का (अश्नुवे) ज्ञान प्राप्त करता हूँ ।

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्य१न्यं चिक्युर्न नि चिक्यु-
रन्यम् ॥ १६ ॥   ऋ० १ । १६४ । ३८ ॥

भा०—(अमर्त्यः) अमरणधर्मा नित्य आत्मा (मर्त्येन) मरणधर्मा अनित्य देह के साथ (सयोनिः) एकत्र होकर (स्वधया) स्वयं धारण किये हुए अपने कर्म बन्धन या कर्मफल से (गृभीतः) बद्ध होकर (अपाङ्) नीचे के लोकों और (प्राङ्) उत्कृष्ट लोकों में (एति) जाता है। (तौ) वे दोनों नित्य और अनित्य देह और आत्मा (विषूचीना) नाना प्रकार के गति करनेहारे (वियन्ता) विशेष रूप से बद्ध होकर रहा करते हैं। इनमें से (अन्यम्) एक को तो (निचिक्युः) लोग साक्षात् जान लेते हैं और (अन्यम्) दूसरे आत्मा के स्वरूप को (न निचिक्युः) नहीं जान पाते हैं।

सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि ।
ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परि भवन्ति विश्वतः ॥१७॥

ऋ० १ । १६४ । ३० ॥

भा०—(सप्तार्ध-गर्भाः) सात या सर्पण स्वभाव, गतिशील, अर्ध -गर्भ अर्थात् परम उत्कृष्ट परमेश्वर की शक्ति को अपने भीतर धारण किये हुए प्रकृति के विकारभूत अहंकार, महत् और पञ्चतन्मात्राएँ, (भुवनस्य) इस समस्त संसार के (विष्णोः) व्यापक परमेश्वर के (रेतः) उत्पादक वीर्य के स्वरूप हैं जो उस (विधर्मणि) विशेष रूप से धारण करने में समर्थ परमेश्वर में ही (प्रदिशा) उसके उत्कृष्ट शासन से (तिष्ठन्ति) विराजते हैं। (ते) वे (विपश्चितः) सब कर्मों और ज्ञानों के स्वामी परमेश्वर के (धीतिभिः) धारणा शक्तियों से सम्पन्न होकर और उसी के (मनसा) मानस संकल्पबल से या स्तम्भन सामर्थ्य से (परिभुवः) सर्वत्र फैल कर (विश्वतः) सब प्रकार से और सब रूपों में (परि भवन्ति) परिणित हो जाते हैं। अध्यात्म में—सप्तार्ध-गर्भाः=सात प्राण, (विष्णोः

१६–(प्र०) 'अप्राङ् प्राङेति' इति कठ० सं० ।

विपश्चितः) व्यापक ज्ञानी आत्मा के कर्म और मन सामर्थ्य से नाना रूपों को धारण करते और कार्य करते हैं ।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्ते अमी समासते ॥ १८ ॥ ऋ० १ । १३४ । ३९ ॥

भा०—(ऋचः) ऋग्=ऋग्वेद आदि चारों वेदों की ऋचाओं के प्रतिपाद्य विषय अथवा अर्चनीय, परम पूजनीय ईश्वर के (यस्मिन्) जिस (परमे) परम (व्योमन्) विशेष रक्षा स्थान में (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान् गण एवं दिव्य पदार्थ, सूर्य, चन्द्र आदि (निषेदुः) आश्रय लेते हैं। (यः) जो पुरुष (तत् न वेद) उसका ज्ञान नहीं करता (ऋचा) ऋग् मन्त्रों से (किम् करिष्यति) क्या फल प्राप्त करेगा और (ये इत् तत् विदुः) जो विद्वान् उस परम तत्व को जान लेते हैं (ते) वे (अमी) ये लोग मोक्ष में (आसते) स्थान प्राप्त करते हैं ।

ऋचः पदं मात्रया कल्पयन्तोऽर्धर्चेन चाक्लृपुर्विश्वमेजत् ।
त्रिपाद् ब्रह्म पुरुरूपं वि तष्ठे तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ॥ १९ ॥

भा०—जिस प्रकार (ऋचः) ऋचा के (पदं मात्रया) एक चरण को ह्रस्व, दीर्घ आदि मात्रा से कल्पित करते हैं उसी प्रकार (ऋचः) परम अर्चनीय, अथवा ऋचाओं के परम प्रतिपाद्य विषय या, परम पूजनीय ब्रह्म की (मात्रया) मात्रा अर्थात् जगत् के निर्माण करनेहारी शक्ति से उसके (पदम्) परम स्वरूप की (कल्पयन्तः) कल्पना करते हुए विद्वान् पुरुष (अर्धर्चेन) उसके तेजोमय समृद्ध ज्ञानमय स्वरूप से इस (एजत्) गतिशील (विश्वम्) विश्व को (चक्लृपुः) बना हुआ मानते

१८–(च०) 'त इमे' इति ऋ० ।
१९–(तृ०) 'परिरूपं विचष्टे' इति पैप्प० सं० ।

हैं। वस्तुतः (त्रिपात्) तीन चरणों वाला, तीन रूपों वाला ब्रह्म ही (पुरुरूपं) नाना रूप धारण करके (वितस्थे) विविध रूप से स्थित है (तेन) उसी के सामर्थ्य से (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) दिशाएँ, दिशाओं के लोक (जीवन्ति) प्राण धारण करते हैं।

सूयवसाद् भगवती हि भूया अथा वयं भगवन्तः स्याम।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती॥२०॥(२७)
ऋ० १ । १३४ । ४० ॥ अथर्व० ७ । ७३ । ११ ॥

भा०—व्याख्या देखो अथर्व० [७ । ७३ । ११]

गौरिन्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा भुवनस्य पङ्क्तिस्तस्याः
समुद्रा अधि वि क्षरन्ति ॥ २१ ॥ ऋ० १ । १३४ । ४१ ॥

भा०—(गौः इत्) वह पूर्वोक्त गौ, व्यापक ब्रह्मशक्ति ही (सलिलानि) जगत् के कारणस्वरूप प्रकृति के सूक्ष्म, आपःस्वरूप परमाणुओं को (तक्षति) विपरिणत करके सृष्टि की रचना करती है। वह (एक-पदी) एक ब्रह्म रूप से जानने योग्य होने से 'एकपदी' है। वह (द्विपदी) चर और अचर रूप से या प्रकृति-पुरुष भेद वर्त्तमान रहने के कारण द्विपदी कहाती है। (चतुष्पदी) चारों दिशाओं में व्यापक होने से अर्थात् चार भूतों में परिणत होने से 'चतुष्पदी' कहाती है। (अष्टापदी) अवान्तर दिशाओं में व्याप्त होने से अथवा वह ब्रह्म की शक्ति प्रकृति के आठ भेदों से आठ रूपों में अभिव्यक्त होने के कारण 'अष्टापदी' कहाती है। (नवपदी) वही उक्त आठों में पुरुष या जीवात्मा की गणना से 'नवपदी' कहाती है। वही (सहस्राक्षरा) सहस्र या बलमयी, शक्तिमयी 'अक्षरा', अविना-

२१–(प्र०) 'गौरीर्मिमाय' (च०) 'सहस्राक्षरा परमे व्योमन्' इति ऋ०। पञ्चमः पादः ऋ० १।१६४।४२॥ इत्यस्याः प्रथमः पादः।

शिनी ब्रह्म शक्ति सहस्रों रूपों में या सहस्र=विश्व के रूपों में प्रादुर्भाव होनेवाली (भुवनस्य) इस समस्त भुवन=ब्रह्माण्ड की (पङ्क्तिः) पकाने या परिपक्व करनेवाली है अर्थात् उसको अपरिपक्व अव्याकृत दशा से परिपक्व अर्थात् व्याकृत दशा में लानेवाली है।

'एकपदी'—'अजः एकपात्' । वेद । जैसे गीता में लिखा है—

'सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरो मुखम्' ।

सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ॥ १७ ॥ [गीता० अ० १३]

'द्विपदी'—प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादी उभावपि । [गी० अ० १३।१९]

'चतुष्पदी'—प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च । [गीता० १३ । १]

'अष्टापदी'—भूमिरापोऽनलोवायुः ख मनो बुद्धिरेव च ।

अहंकार इतीयं मे भिन्नाप्रकृतिरष्टधा । [गी० अ० ७ । ४ ॥]

'नवपदी'—अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धिमे पराम् ।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ [गी० ३ ।७।५॥]

'सहस्राक्षरा—'एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।   [गी० अ० ७ । ६]

(तस्याः) उसी ब्रह्मशक्ति से (समुद्राः) समुद्र, अक्षय भण्डार प्रकृति के अक्षयकोष (अपि) भी (विक्षरन्ति) नाना प्रकार से बह रहे हैं। पाँचों भूत पाँच अक्षय कोष हैं।

एवं सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्त्तिभिः ।

जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत् । इति मनुः १२ । १ । ४ ॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् । [गी० अ० १० ॥]

वाक् पक्ष में—वह सदा ब्रह्ममयी वाणी; घट आदि पदार्थों को प्रकाशित करती हुई, अव्याकृत 'ओम्' रूप एकपदा, सुप्, तिङ् भेद से द्विपदा, नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात भेद से 'चतुष्पदा'; सात विभक्ति और सम्बोधन भेद से 'अष्टापदी' अव्यय भेद से नवपदी, अथवा

नाभि सहित कण्ठ तालु आदि भेद से नवपदी और फिर भी नाना रूप होकर परम व्योम हृदय देश या मूलाधार में सहस्राक्षरा होकर विराजती है, इति दिक् ।

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।
ते आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवीं व्यूदुः ॥ २२॥

ऋ० १।१६४।४७॥ अथर्व० का० ६।२२।१॥

भा०—व्याख्या देखो [अथर्व० का० ६ । २२ । १ ।] (नियानम्) अपने परम आश्रय स्थान (कृष्णम्) कर्षण; आकर्षणशील या सर्व भव-दुःखों के विलेखन या विच्छेदन करनेहारे उस ब्रह्म को (सुपर्णाः) उत्तम ज्ञानसम्पन्न, मुक्त जीव आत्मा (हरयः) रश्मियों के समान प्रदीप्त तेजः-सम्पन्न (अपः वसानाः) कर्म और ज्ञानों से सम्पन्न होकर (दिवम्) प्रकाशमय परम मोक्षपद को (उत्पतन्ति) जाते हैं । (ते) वे पुनः अपना मोक्षानन्द भोग कर (ऋतस्य सनदात्) उस सत्यज्ञान के आश्रय स्थान परमात्मा के पास से (आववृत्रन्) पुनः लौट कर आते हैं और (घृतेन इत्) प्रकाशमय ज्ञान से सूर्य में निकली किरणें जिस प्रकार मेघ जल से पृथिवी को सींचती हैं उसी प्रकार (पृथिवीं व्यूदुः) पृथिवीवासी जनों को तृप्त करते हैं । अर्थात् ज्ञान का प्रकाश करते हैं ।

अपादेति प्रथमा पद्वतीनां कस्तद् वां मित्रावरुणा चिकेत ।
गर्भो भारं भरत्या चिदस्या ऋतं पिपर्त्यनृतं नि पाति ॥ २३ ॥

ऋ० १।१५२।३॥

भा०—(पद्वतीनां प्रथमा) पूर्वोक्त एकपदी, द्विपदी, चतुष्पदी आदि ब्रह्मशक्तियों में से सबसे प्रथम विद्यमान, अव्याकृत ब्रह्मशक्ति (अपाद्) 'अपात्' अविज्ञेय रूप, अमात्र है । वही परम 'तुरीय पद' कहाती है । हे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण, प्राण और अपान ! (वां कः) तुम दोनों में

से कौन (तत्) उस 'अपात्' वाणी के स्वरूप को (चिकेत) जानता है। (अस्याः) इसके (गर्भः) गर्भ, अर्थात् गर्भ में स्थित तेजोमय स्वरूप ज्ञान या इसका धारण करनेहारा ब्रह्म ईश्वर (भारम्) समस्त विश्व के भार को या भरणपोषण के सामर्थ्य को (आभरति चित्) निश्चय से धारण करता है। और वही परमेश्वर (ऋतम्) सत्य ज्ञान और अनन्त बल या जगत् को (पिपर्त्ति) पूर्ण रूप से धारण या पालन करता है और (अनृतम्) असत्य, अज्ञान अन्धकार को नाश करता है।

(तृ०) 'आचित् । अस्याः । ऋतम् ।' इति अथर्वगतमन्त्रस्य पदच्छेदः । 'आचित् । अस्य । ऋतम् ।' इति ऋग्वेदीयः पदच्छेदः ।

विराड् वाग् विराट् पृथिवी विराडन्तरिक्षं विराट् प्रजापतिः । विराण्मृत्युः साध्यानामधिराजो बभूव तस्य भूतं भव्यं वशे स मे भूतं भव्यं वशे कृणोतु ॥ २४ ॥

भा०—(विराट्) विराट् (वाक्) वाणी है। (विराड् पृथिवी) विराट् पृथिवी है। (विराट् अन्तरिक्षम्) विराट् अन्तरिक्ष है। (विराट् प्रजापतिः) विराट् प्रजापति है। (विराट् मृत्युः) विराट् मृत्यु है, वही विराट् (साध्यानाम्) समस्त साध्य अर्थात् वश करने योग्य अथवा संसार के पदार्थों के रचने के लिये विशेष नियम में लाने योग्य प्राकृत विकारों तथा साधनासम्पन्न मुमुक्षु जीवों का (अधिराजः) अधीश्वर (बभूव) है। (तस्य वशे) उसके वश में (भूतम्) भूत, उत्पन्न संसार और (भव्यम्) भविष्यत् कालिक संसार भी है। वह (भूतं भव्यम्) भूतकाल और भविष्यत्काल को (मे वशे कृणोतु) मेरे वश में करे। अर्थात् विराट् शब्द से वाक्, पृथिवी, अन्तरिक्ष, प्रजापति, मृत्यु इनका भी ग्रहण है और इन नामों से भी विराट् परमेश्वर का

२३-(च०) 'अस्य ऋतं', 'नितारीन्' इति ऋ० । 'चिदाद् ऋतस्य इति पैप्प० सं० ।

ही ग्रहण है। इन आठ रूपों को लेकर वाक् और ईश्वरी शक्ति 'अष्टापदा' कही गयी है।

शकमयं धूममारादपश्यं विषूवता पर एनावरेण।
उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ॥२५॥
ऋ० १। १६४। ४३॥

भा०—मैं तत्वदर्शी ऋषि (विषूवता) नाना प्रकार से उत्पत्ति क्रिया से युक्त (एना अवरेण) इस प्रत्यक्ष कार्यरूप जगत् से (परः) परे मैं (शकमयम्) शक्तिमय (धूमम्) इस संसार को गति देने वाले परमेश्वर को कारण रूपसे (आरात्) साक्षात् (अपश्यम्) देख रहा हूं। (वीराः) वीर्यवान्, ब्रह्मचारी विद्वान् लोग उसी (उक्षाणम्) समस्त जगत् को धारण करने में समर्थ (पृश्निम्) आदित्य स्वरूप, तेजोमय समस्त आनन्द-रसों को धारण करने वाले आनन्दघन को (अपचन्त) योग अभ्यास द्वारा परिपक्व करते हैं। (तानि) वे (धर्माणि) धारण करने योग्य यम, नियम आदि के तपोमय आचार (प्रथमानि) सबसे श्रेष्ठ (आसन्) हैं जिनके अभ्यास से उस परम शक्ति का साक्षात् होता है।

त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम्।
विश्वमन्यो अभिचष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम् ॥२६॥

भा०—(त्रयः) तीन (केशिनः) केशी, तेजस्वी पदार्थ (ऋतुथा) ऋतु काल के अनुसार (वि चक्षते) दिखाई देते हैं या इस विश्व को देखते हैं उसपर अपनी दृष्टि रखते हैं। (एषाम्) इनमें से (एकः) एक (संवत्सरे) वर्ष भर (वपते) ओषधि आदि वनस्पतियों के बीज वपन करता है। (अन्यः) दूसरा विश्व को (अभिचष्टे) प्रकाशित करता है, देखता है, रक्षा करता है। और (एकस्य) एक की (ध्राजिः) संहारकारी प्रबलगति (ददृशे) देखी जाती है, (रूपं न) उसका रूप नहीं दिखाई देता।

२६–(तृ०) 'विश्वमेको' इति ऋ०।

सृष्टि, स्थिति, संहारकारी ईश्वर तीनों शक्तियां यहां तेन केशी हैं वे यथाकाल अपना कार्य करती हैं एक शक्ति समस्त जीवों, वनस्पतियों या लोकों को उत्पन्न करती, दूसरी पालन करती और तीसरी संहार करती है। भौतिक पक्षमें अग्नि, आदित्य और वायु अथवा मेघ, आदित्य और वायु हैं।

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥२७॥

ऋ० १ । १६४ । ४५ ॥

भा०—(वाक्) वाणी के (चत्वारि पदानि) चार ज्ञातव्य रूप (परिमितानि) जाने गये हैं। (तानि) उनको (ये मनीषिणः) मनीषी, संकल्प विकल्प चतुर, मननशील (ब्राह्मणाः) ब्रह्मज्ञानी विद्वान् ब्राह्मण लोग (विदुः) जानते हैं। (त्रीणि) तीन रूप तो (गुहा) गुहा में, गूढ़ परमात्मा की शक्ति में (निहिता) गुप्तरूप से रक्खे हैं। वे (न इङ्गयन्ति) अपना रूप प्रकट नहीं करते। और (वाचः) वाणी के (तुरीयम्) चौथे रूप को (मनुष्याः वदन्ति) मनुष्य स्पष्ट बोलते हैं।

'चत्वारि पदानि=' कई विद्वानों के मत से 'भूः, भुवः, स्वः, ओ३म्' ये चार पद हैं। दूसरे वैयाकरण लोगों के मत से नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात, ये चार पद हैं। याज्ञिकों के मत में मन्त्र, कल्प, ब्राह्मण और लौकिक भाषा, ये चार पद हैं। निरुक्तवादियों के मतमें—ऋग्, यजुः, साम और लौकिक भाषा ये चार पद हैं। ऐतिहासिकों के मत में सर्पों की, पक्षियों की, क्षुद्र जन्तुओं की और मनुष्यों की वाणी, ये चार पद हैं। अध्यात्मवादियों के मत से पशुओं में, वाद्य यन्त्रों में, मृगों में और मानव देह में फैली वाणियां चार पद हैं, मान्त्रिक लोगों के मत में—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी ये चार पद हैं। ब्राह्मण ग्रन्थ के अनुसार तीनों लोकों में वाणी के तीन रूप हैं। पृथिवी में अग्निरूप, अन्तरिक्ष में वायु रूप, द्यौ में आदित्यरूप, उससे अतिरिक्त चतुर्थ व्याकृता वाणी ब्राह्मणों में है।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥२८॥(८)

भा०—उस परमेश्वरी शक्ति को (इन्द्रं मित्रं, वरुणम्, अग्निम्, आहुः) इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि नाम से पुकारते हैं । (अथो) और (सः) वही (गरुत्मान्) ज्ञान से सम्पन्न (सुपर्णः) उत्तम पालक होने से 'सुपर्ण' और (गरुत्मान्) ज्ञानमय होने से 'गरुत्मान्' भी कहा जाता है । उसीको (अग्निम्) प्रकाशमान होने से 'अग्नि' (यमं मातरिश्वानम् आहुः) नियन्ता होने से यम और अन्तरिक्ष में या प्रकृति में व्यापक-प्रेरक होने से 'मातरिश्वा' भी कहते हैं (एकं सद्) उस एक सत् सत्य-रूप परमात्मा को (विप्राः) विद्वान् मेधावी लोग (बहुधा) बहुत नामों से (वदन्त) कह लेते हैं ।

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ इति मनु० १२।१२३॥
आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥ इति मनु० १२।११९॥

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तद्वयं ऋचश्च पञ्चाशत्]

नवमं काण्डं समाप्तम्



सू[illegible]नि दश, षष्ठस्य षट् पर्यायाः प्रकीर्त्तिताः ।
[illegible] नवमे काण्डे त्रयोदश शतत्रयम् ॥



वेद[illegible]न्द्राब्दे फाल्गुने सितपक्षके
[illegible]म्यां [illegible] नवमं काण्डं गतमथर्वणः ॥

[illegible]लंकारम[illegible]स[illegible]र्थविरुदोपशोभितश्रीमज्जयदेवशर्
ऽर्थ[illegible] ब्रह्म[illegible]य[illegible]कभाष्ये नवमं काण्ड समाप्तम् ।